

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्या भवन

चौक, वाराणसी-१

१९५७

(पुनर्मुद्रणादिका सर्वेऽधिकारा प्रकाशनाधीना)

The Chowkhamba Vidya Bhawan
Varanasi-1

(INDIA)

1957

मूल्य १२॥)

मुद्रक—

विद्याविलास प्रेस,

वाराणसी-१

स० २०१४



प्राक्कथन

श्रीमान् माननीय पं० कमलापति जी त्रिपाठी

मंत्री—गृह, शिक्षा तथा सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश

स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र-भाषा को सम्पन्न बनाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उच्चतम ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, कला आदि समस्त विषयों के प्रौढ एवं उच्च साहित्य के ग्रन्थों से हिन्दी का माण्डार परिपूर्ण किया जाय। साथ ही यह भी आवश्यक है कि विश्व की समस्त भाषाओं में रचित विशिष्ट कृतियों को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत किया जाय। इन सब दिशाओं में अभी बहुत कार्य करना है। अभी तो भारतीय भाषाओं के सब महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी हिन्दी में नहीं आ सके हैं। संस्कृत के विशाल साहित्य की समस्त महत्त्वपूर्ण कृतियों का हिन्दी-माध्यम से प्रस्तुतीकरण अभी नहीं हो सका है। यह कार्य हिन्दी के सांस्कृतिक चिन्तन-प्रवाह की अनुकूल गतिशीलता के लिये अनिवार्य है। संस्कृतज्ञ हिन्दी प्रेमियों का यह कर्तव्य हो गया है कि इस महान् राष्ट्रीय अनुष्ठान में निष्ठा के साथ योग दें।

डा० सत्यव्रतसिंहजी इस दिशा में कार्य आरम्भ कर चुके हैं। 'हिन्दी-काव्यप्रकाश' के प्रणयन के अनन्तर 'हिन्दी-साहित्यदर्पण' उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में 'साहित्यदर्पण' का अपना विशिष्ट स्थान है। दृश्य एवं श्रव्य—उभयविध काव्यों के तत्त्वमूत अङ्गों का सरल शैली में प्रौढ और पूर्ण विवेचन इस ग्रन्थ की विशिष्टता है। नाट्य-शास्त्रीय तत्त्वों एवं नायक-नायिकादि का चिरूपण उपलब्ध होने से यह ग्रन्थ सर्वांगीण हो गया है। संस्कृत-साहित्य का पठन-पाठन करने वालों में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रिय एवं व्युत्पत्तिदायक माना जाता है। डा० सत्यव्रतजी ने इसमें अनुवाद मात्र नहीं किया है वरन् भाषात्मक व्याख्याशैली में दुरुह एवं विवादास्पद विषयों की समस्या पर शास्त्रीय ढङ्ग से विस्तृत विवेचन करके इस ग्रन्थ को प्रौढ, उपयोगी एवं पूर्ण बना दिया है; यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। मुझे विश्वास है कि डा० सिंह की प्रस्तुत कृति का हिन्दी में समुचित स्वागत होगा और साहित्य शास्त्र की भारतीय दृष्टि का परिचय देने में इस कृति से पर्याप्त सहायता मिलेगी।

विधान भवन, लखनऊ,

जनवरी २५, १९५८

स्वमर्पणम्



पद्मावतीं नमस्कृत्य कृपास्रोतस्विनीं सदा ।
समर्प्यते कृतिरियं पद्मायै परया मुदा ॥

उपोद्घात

‘साहित्यदर्पण’ संस्कृत अलङ्कारशास्त्र का एक आवश्यक अङ्ग है। अलङ्कारशास्त्र के पढ़ने वाले ‘वाग्भटालङ्कार’ अथवा ‘चन्द्रालोक’ से अपना अध्ययन प्रारम्भ करते हैं और उसके बाद ‘साहित्यदर्पण’ के अध्ययन से ही इन प्रारम्भिक ग्रन्थों के विषयों का क्रमवद्ध किंवा प्रौढ़ परिचय प्राप्त करते हैं। ‘कान्यप्रकाश’ और ‘रसगङ्गाधर’ का अध्ययन तो अलङ्कारशास्त्र के विशेष ज्ञान के लिये ही हुआ करता है। काव्य-साहित्य के प्रेमी-जन के लिये तो ‘साहित्यदर्पण’ से बढ़कर और कोई ऐसा अलङ्कार ग्रन्थ है ही नहीं, जिससे सरलता और सरसता के साथ, काव्य-साहित्य के समस्त विषयों का परिचय मिल सके। ‘साहित्यदर्पण’ का जो महत्त्व इसकी रचना के समय था वही आज भी है। ‘साहित्यदर्पण’ के रचयिता ‘विश्वनाथ कविराज’ के आत्मज ‘अनन्तदास’ ने जो यह लिखा था—

‘स्वरूपाक्षर सुबोधार्थ’ प्रध्वस्ताशेषदूषणः ।

साहित्यदर्पणो नाम ग्रन्थः “.....”

वह वस्तुतः आज भी अक्षरशः सत्य है। पहले 'साहित्यदर्पण' 'प्रध्वस्ताशेषदूषण' अवश्य माना गया होगा और इसमें अतिशयोक्ति का कोई बहुत बड़ा पुट भी नहीं। यह एक दूसरी बात है कि 'रसगङ्गाधर' के आविर्भाव के बाद इसमें कुछ कमी दिखायी देने लगी। किन्तु यह बात तो अलङ्कारशास्त्र के सिद्धान्तों के समान उनके प्रतिपादक ग्रन्थों के देश-काल-परिवर्तन आदि से सम्बद्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'साहित्यदर्पण' के अवलोकन से काव्य-साहित्य के समस्त तत्त्वों का साक्षात्कार अनायास सम्भव हो जाता है।

‘साहित्यदर्पण’ की टीकाओं की संख्या ‘काव्यप्रकाश’ की टीकाओं की संख्या से बहुत कम है। इसका एक कारण ‘साहित्यदर्पण’ की सरलता और सुबोधता भी है। अस्तु, ‘साहित्यदर्पण’ की सबसे पहली ‘लोचन टीका’ सम्भवतः साहित्यदर्पणकार के आत्मज अनन्तदास की ही लिखी है। दूसरी ‘विद्यप्रिया’ नाम की टीका भट्टाचार्य महेश्वर तर्कालङ्कार रूढ़ है। श्री रामचरण तर्कवागीश की लिखी ‘साहित्यदर्पणविवृति’ और श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी द्वारा विरचित ‘साहित्यदर्पण-विवृतिपूर्ति’ साहित्यदर्पण की संस्कृत टीकाओं में अधिक प्रसिद्ध हैं। साहित्यदर्पण की चौथी टीका ‘विमला’ श्री जीवानन्द विद्यासागर की लिखी है। महामहोपाध्याय श्री हरिदामसिद्धान्तवागीश की लिखी, ‘कुसुमप्रतिमा’ टीका का भी पूर्व के ग्रन्थों में प्रचलन है। साहित्यदर्पण की इन संस्कृत टीकाओं में आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री की ‘रत्नम्बी’ टीका का प्रचार आजकल सर्वत्र अत्यधिक है।

उपर्युक्त संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त, साहित्याचार्य श्री आर्याभट्ट शास्त्री जी लिखी 'प्रियम्' नामक हिन्दी व्याख्या भी है। अंग्रेजी में 'साहित्यदर्पण' का आर्याभट्ट (सम्पूर्ण वाग्व्यास) महामहोपाध्याय काणे ने किया है जो एक प्रामाणिक और विश्वप्रसिद्ध व्याख्यान है। 'साहित्यदर्पण' का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

इन सब के रहते भी 'साहित्यदर्पण' की इस 'संप्रिय' अध्यायिका' लिखी व्याख्या का क्या आवश्यकता ? ऐसी बात नहीं। 'साहित्यदर्पण' जैसे काव्यशास्त्र के ग्रन्थ की 'व्याख्या' अनारक्ष्य नहीं। अलङ्कारशास्त्र के पूर्वापर अध्ययन में ही किसी भी शास्त्रज्ञ की मान्यताओं और उपादेयताओं का प्रामाणिक मूल्यांकन सम्भव है। इस 'व्याख्या' में क्या दृष्टि अपनाया गया है। विश्वनाथ कविराज ने पूर्वाचार्यों से क्या लिया ? क्या नहीं लिया ? लिखना लिखने के पूर्वसहित अलङ्कारशास्त्र की निधि का कैसा उपयोग किया ? और अपनी ओर से उसमें क्या अपिष्ट किया ? साहित्यदर्पण की मूल धारणायें कहाँ से निकलती हैं ? और किन ओर जाती हैं ? अलङ्कारशास्त्र के प्रधान-ग्रन्थों और अन्य प्रकरण-ग्रन्थों से साहित्यदर्पण का क्या साम्य और क्या वैषम्य है ?—ये और इसी प्रकार के अन्य प्रश्न भी तो 'साहित्यदर्पण' के श्रम के वास्तविक मूल-चिन्तन में उठा ही करते हैं। इस 'व्याख्या' में व्याख्यान और व्याख्यान, इन प्रश्नों के समाधान का प्रयत्न किया गया है। यह प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है इसका चिन्ना लेखक का काम नहीं अपितु विचारक पाठकजन का है।

मैं श्रीमान् माननीय पण्डित कमलापति जी त्रिपाठी (मर्वा-गृह, शिक्षा तथा मूचना विभाग, उत्तरप्रदेश) का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपनी स्वाभाविक साहित्यप्रियता के वशीभूत हो अपना बहुमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ का प्राक्थन लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है।

—सत्यव्रत सिंह

संक्षिप्त ग्रन्थालोचन

(विश्वनाथ कविराज का 'साहित्यदर्पण' जिन-जिन विषयों का विवेचन करता है उनमें परिच्छेदानुसार निम्न विषय मुख्य हैं)

प्रथम परिच्छेद

प्रथम परिच्छेद में 'काव्य क्या है ?' इसका विचार है। काव्यस्वरूप के इस विचार में, साहित्यदर्पणकार ने 'काव्यप्रकाश'कार मम्मट को आड़े हाथों लिया है। यहाँ ध्वनिकार भी विश्वनाथ कविराज को कटु आलोचना से नहीं बच पाये हैं। 'रसात्मक वाक्य काव्य है'—यह निष्कर्ष ध्वनिवादी आलङ्कारिकों को आलोचना के परिणामरूप से ही यहाँ निकाला गया है।

१-३०

द्वितीय परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद का विषय अभिधा-लक्षणा और व्यञ्जना शक्तिओं का विमर्श है। इस विमर्श में भी काव्यप्रकाशकार की भूल-चूक (१) का प्रदर्शन कराया गया है।

३१-९८

तृतीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद में 'रस' और रसास्वाद' का विशद वर्णन है। इसमें काव्य-प्रकाश के साथ-साथ अभिनवभारती के भी रसविषयक विचारों का पर्याप्त स्पष्टीकरण किया हुआ है। इसमें नायक-नायिका-निरूपण का प्रसङ्ग 'दशरूपक' के आधार पर प्रतिपादित है।

९९-२७८

चतुर्थ परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद में 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप के द्विविध रसात्मक वाक्यों अथवा महावाक्यों का विस्तृत निरूपण है। इसमें काव्यप्रकाशकार की 'चित्र-काव्य' सम्वन्धी काव्यभेद-मान्यता पर कटाक्ष किया गया है।

२७९-३३७

पञ्चम परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद 'व्यञ्जना'श्रुति और 'रसनावृत्ति' (रसास्वाद में व्यञ्जना ही रसना कही जाती है) की स्वरूप-मीमांसा का एक महान् और सफल परिश्रम है। इस पर काव्यप्रकाश के 'व्यञ्जना-प्रस्थापन'-प्रकरण की छाप अमिट रूप से पड़ी है।

३३८-३५८

षष्ठ परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद नाट्यशास्त्र के नाट्य-सम्बन्धी विषयों का एक विस्तृत नार-संगोप है। इसमें 'दशरूपक'कार की नाट्यसम्बन्धी मान्यताओं का प्रायः प्रामाणिक रूप में प्रतिपादित की गयी है।

३१९-११८

सप्तम परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद काव्यदोष-निरूपण का परिच्छेद है। उन पर काव्यप्रकाश का पूरा प्रभाव पड़ा है।

४१९-६४१

अष्टम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद गुण-निरूपण करता है। इस परिच्छेद में साहित्यदर्पणकार की गुणविषयक अपनी मान्यताओं भी प्रकाशित की गयी हैं।

६८२-६४७

नवम परिच्छेद

नवम परिच्छेद में 'रीतितत्त्व' का निरूपण है। इसकी विचार-धाराओं के देखते यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि या तो विश्वनाथ कविराज को वकोचिजीवित का 'रीतिनिरूपण' चतुरस्र नहीं लगा या उन्होंने इस ओर दृष्टि भी नहीं घुमायी।

६४८-६६४

दशम परिच्छेद

दशम परिच्छेद अलङ्कार-निरूपण के लिये सुरक्षित है। इसमें रसध्वनिवादी विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व' का आधार लिया है और आचार्य रुप्यक की भाँति एक आध नये अलङ्कारों का भी अविष्कार और रूपनिर्देश किया है। 'रसवत्' आदि को रसध्वनिवाद की दृष्टि से भी अतिरिक्त अलङ्कार सिद्ध करने में विश्वनाथ कविराज ने आचार्य जयरथ (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनीकार) का सहारा लिया है और आचार्य मम्मट की मान्यताओं को तिलाञ्जलि दे दी है।

६६५-८९२

(इस प्रकार साहित्यदर्पण की रचना काव्यप्रकाश की ही भाँति १ से १० परिच्छेद पर्यन्त चलती है किन्तु काव्यप्रकाश की अपेक्षा अधिक साहित्यिक विषयों पर प्रकाश डालती है।)

भ्रमसंशोधन (पृ० १०६, पङ्क्ति ३१)

अशुद्ध

वृद्धप्रपितामह के संरक्षण में

शुद्ध

भूमिका

साहित्यदर्पण : विवेच्य विषय

‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’

‘साहित्यदर्पण’कार की काव्य-परिभाषा है—‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’। इसमें काव्य का लक्षण नहीं अपितु काव्य की प्रशस्ति है। जब कभी हम पढ़ते हैं—‘वाक्यं रसात्मक काव्यम्’ तो ऐसा ही अनुभव करते हैं मानो हम किसी विशिष्ट काव्य-कृति की अनुभूतियों के आनन्द का प्रकाशन कर रहे हों। जैसे किसी सुन्दर दृश्य के देखने अथवा मधुर ध्वनि के सुनने से ‘ओह’ अथवा ‘अहो’ का विस्मयाभिव्यजक शब्द निकल पड़ता है वैसे ही ‘रामायण’ और ‘रघुवंश’, ‘महाभारत’ और ‘किरातार्जुनीय’ आदि सुन्दर और सुमधुर कृतियों के अनुभव से ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ का ‘अहो’कार हो उठता है। इसमें सन्देह नहीं कि जिसे वस्तुतः ‘काव्य’ अथवा ‘कविता’ कहते हैं उसकी आनन्दात्मक अनुभूति के देखते ‘वाक्य रसात्मकं काव्यम्’ की परिभाषा उपनिषद्-वाक्य सी लगती है। इसमें काव्य की रहस्यमयी भावनाएँ छिपी हैं, कवियों की कला के रहस्य का सकेत छिपा है, सहृदयों की सहृदयता की कसौटी छिपी है और अन्त में विश्वनाथ कविराज की वह रसमयी काव्य-सवेदना छिपी है जो बताना तो चाहती है कि ‘काव्य क्या है?’ किन्तु यह न बताकर कविता पर ‘कविता’ करने लगती है। यदि हम विश्वनाथ कविराज के काव्य-लक्षण को ‘काव्य’विषय का ‘ध्वनि’काव्य कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

इसकी सबसे पहली ध्वनि है—

‘तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः कापि ।’ (काव्यप्रकाश : १-४)

कैसे ? ऐसे—यहाँ कहा गया है—‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ अर्थात् ‘काव्य’ वह वाक्य है जो रसात्मक हो अथवा जिसका अन्तस्तत्त्व ‘रस’ हो। किन्तु ऐसा कहने से यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि ‘वाक्य’ क्या वस्तु है जिसमें ‘रस’रूप आत्मा का अस्तित्व रहा करता है। कहना पड़ेगा कि ‘वाक्य’ वह पदकदम्ब है जिसमें आकाक्षा, योग्यता और आसक्ति के तत्त्व विराजमान रहा करते हैं (वाक्यं स्याद् योग्यता-काक्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः—साहित्यदर्पण २-१)। ‘वाक्य’ की इससे विशद परिभाषा क्या होगी ? यह ‘वाक्य’ जब रसात्मक हो तो ‘काव्य’ है। इस प्रकार का ‘वाक्य’ कैसे ‘रसात्मक’ हो ? यह एक समस्या है। ‘वाक्य’ अपने आप ‘रसात्मक’ नहीं हो सकता चाहे वह कैसे भी साक्षात्, योग्य और आसक्तिमय पदों का सन्दर्भ अथवा समूह क्यों न हो। ‘वाक्य’ में ‘रस’रूप आत्मतत्त्व का आधान भी कवि का ही काम है।

कवि ही 'वाक्य' बनाता है और वही उसमें 'रस'रूप अनुभव-परमार्थ का आधान करता है जो कि अन्त में सहृदय के रसानुभव का स्रोत बन जाता है। जब तक कवि वाक्य-रचना न करे तब तक अपनी रसरूप आत्मा को ऊँचा घेरे ! यहाँ से जाय ! इसलिए कवि को 'वाक्य' तो बनाना ही पड़ेगा। कवि का काम प्रतिदिन के व्यवहार-वाले 'वाक्य' की रचना नहीं अपितु ऐसे 'वाक्य' की रचना है जोकि 'रस'रूप आत्मतत्त्व का 'दिव्यमगलविग्रह' बन जाय, ऐसा बन जाय, जिसे रस से रस, 'रस'रूप राष्ट्रपति का धर्मासन कहा जाय। ऐसा वाक्य कवि कैसे बनाता है ? यह तो एक अलग प्रश्न है। किन्तु जब कवि ऐसा 'वाक्य' बना लेता है तब उसके विस्फेपण में यही पता नाल्ता है कि ऐसे 'वाक्य' अथवा 'पदकदम्ब' में अदोषता, सगुणता और औचिन्यपूर्ण अदम्य-योजना के काव्यात्मक तत्वों का हाव्य अवश्य है। तात्पर्य यह है कि अदोष, सगुण और समुचित रूप से अलंकृत शब्दार्थयुगल ही वह 'वाक्य' है जोकि 'रस'रूप आत्मतत्त्व के अभिव्यञ्जन का साधन हो सकता है अथवा जगमें कवि 'रस' का आधान किया करता है। 'रसात्मक' होने के लिए, 'रस'रूप आन्तर तत्त्व का आधार होने के लिए, वाक्य को केवल साकाश, योग्य और संसृष्ट पदों का 'कदम्ब' होना अपेक्षित नहीं अपितु अदोष, सगुण और सुसूचितपूर्ण ढंग से अलंकृत होना अपेक्षित है। निष्कर्ष यही निकलता है कि 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' को काव्य-परिभाषा से 'तददोषी शब्दार्थी सगुणावनलकृती पुन क्वापि' का काव्य-लक्षण ध्वनित होता है जिसमें कवि की वृत्ति के रूप में 'काव्य' का रहस्य निर्दिष्ट है।

कवि की कृति में ही 'रसयोग' की भी कला का स्थान है क्योंकि 'रसयोजना' के अभाव में वाक्य का रसात्मक होना असम्भव है। हम जिसे 'रसात्मक' मान बैठें वह वाक्य काव्य हो या न हो किन्तु कवि जिस वाक्य में 'रसयोजना' करता है वह वाक्य 'रसात्मक' अवश्य है और 'रसात्मक' होने के नाते 'काव्य' तो है ही। वस्तुतः कवि वही है जो 'रससमाहितचित्त' हुआ करता है और 'रससमाहितचित्त' होकर ही शब्दार्थ-रचना में तत्पर हुआ करता है। 'रससमाहितचित्त' रचनाकार की रचना सर्वत्र अलंकार-योजना को अनावश्यक समझती है। माधुर्य आदि गुण तो कवि को 'रससमाधि' के कारण उसकी रचना में अवश्यम्भावी हैं, जिन्हें रस के अपकर्षकारक दोष कहते हैं वे या तो कवि की शक्ति अथवा उसकी रससमाधि के प्रभाव से उसकी रचना के पास फटकते ही नहीं या यदि यदा-कदा लुकते-छिपते आ भी जायें तो उनका पता नहीं चलता और इसलिए वे खटकते भी नहीं। फिर कवि की 'शक्ति' में 'व्युत्पत्ति' को भी तो वश में करने की शक्ति निहित है।

कहने का अभिप्राय यह है कि 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' की काव्य-परिभाषा अपनी उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संकेत करती रहती है जिसमें काव्य अदोष, सगुण और उचित रूप से अलंकृत शब्दार्थ-सन्दर्भ के रूप में दिखायी देता है।

इस काव्य परिभाषा की दूसरी ध्वनि है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (रसगगाधर काव्य-लक्षण)। यह ध्वनि वस्तुतः इस काव्य-परिभाषा के ऐतिहासिक

विकास की सूचना है। बात यह है कि जब रसात्मक 'वाक्य' को काव्य कहा जाय तब 'वाक्य' के रचनात्मक उपकरण तक पहुँचना आवश्यक हो जाता है। 'रस' से बढ़कर रमणीय अर्थ और क्या हो सकता है ? यह रमणीय अर्थ, जिसे 'रस' कहते हैं, काव्य की आत्मा है। इसलिए 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहने से यही अभिप्राय निकलता है कि 'रमणीयार्थप्रतिपादक वाक्य' काव्य है। यह 'वाक्य' पद-समूह है किन्तु समूह तो 'पद' का ही समूह है इसलिए यदि रमणीय अर्थ के प्रतिपादक 'पद' को काव्य कहा जाय तो आपत्ति क्या ? और यदि 'पद' के बदले 'शब्द' कहा जाय, जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा ही है, तब तो सोने में सुगन्ध आ गयी। 'पद' से वर्णध्वनियों के उस संहतकम-स्वरूप का अभिप्राय है जो कि अर्थ-प्रतिपादक हुआ करता है किन्तु 'शब्द' में उन वर्ण-ध्वनियों की सर्गात-माधुरी और चित्र-वैचित्र्य का भी रहस्य छिपा है जिसमें रसाभिव्यञ्जन की तन्मात्रायें रहा करती हैं। और सभी कवि अथवा काव्यालोचक यही मानते हैं कि काव्य का परमाणु शब्द अथवा वर्णध्वनि है जिसके आधार पर रसानुकूल पदरचना अथवा शब्दार्थ-योजना की जाया करती है और जिसके विश्लेषण में, कविता में सङ्गीतात्मकता अथवा चित्रात्मकता की विशेषताओं का विश्लेषण किया जा सकता है।

'रसात्मकता' का विश्लेषण कीजिए। क्या कीजियेगा ? यही कहियेगा कि 'विभावा-दियोजना' की गयी है। 'विभावादियोजना' किस साधन से की गयी ? 'पद' के द्वारा की गयी। 'पद' एक दृष्टि से अर्थ का प्रतिरूप है और दूसरी दृष्टि से वर्ण-ध्वनियों और उनकी विशेषताओं का आधार है, शब्द है। अब यह स्पष्ट है कि 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' की समीक्षा करते-करते 'रमणीयार्थप्रतिपादक' शब्दः काव्यम् के निष्कर्ष तक पहुँच गये। किन्तु क्या काव्य का यही लक्षण किया जाय कि 'काव्य रसात्मक वाक्य है' ? रसिकों की रस-सवेदना की दृष्टि से तो यही काव्य-लक्षण चतुरस्र लगता है। किन्तु कवि की रस-योजना की दृष्टि से इसे समझस नहीं माना जा सकता। कवि की रस-योजना की दृष्टि से तो 'तददोषौ शब्दार्थौ-सगुणावनलकृती पुन क्वापि' को ही काव्य का निर्दुष्ट लक्षण मानना पड़ जाता है और यदि दोनों दृष्टियों की समन्व-यात्मक दृष्टि अपनायी जाय तब 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' के काव्य-लक्षण में ही पूर्णता प्रतीत होती है। वैसे तो भगवान् विष्णु को 'शब्दमूर्तिधर' कहा गया है किन्तु कविजन शब्द-मूर्तिधर विष्णु की उपासना के रूप में काव्य नहीं रचा करते। कविजन की देवी वाग्देवता सरस्वती है और उनकी सबसे बड़ी विशेषता 'वीणा-मन्त्रीत' है। यह वीणा-संज्ञीत वर्ण-ध्वनियों की मधुरता और ओजस्रिता एव प्रसन्नता का एक 'रूपक' है। सरस्वती की कृपा से ही, जैसा कि कवियों का विश्वास है, कविता रची जाती है। सरस्वती की सबसे बड़ी कृपा यही हो सकती है कि वह किसी कवि को अपनी वीणा सुना दे। वैसे तो सरस्वती की वीणाकङ्कार सर्वत्र हो रहा है और सदा से हो रही है किन्तु उसे सुन सकने का भाग्य बिरलों का ही है। किन्तु जो कवि उसे सुना

करता है उसका ध्यान पदों की अपेक्षा वर्णध्वनियों पर ही अधिक जमा रखा करता है सरस्वती की शब्द-वीणा सुनकर कवि उमका स्वयं अभ्यास करता है और उम कविता में उसकी शब्दवीणा की ऐसी मद्धार पैदा हो जाता है जो 'रस' के अवतार की 'माङ्गल्य शङ्ख-ध्वनि' सी लगा करती है ।

इसमें सन्देह नहीं कि 'रसात्मक वाक्य काव्यम्' में कवि ही उम शब्दवीणा 'सकेत' किया जा रहा है जो कि 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' की परिभाषा के रूप में फलक उठता है अथवा शब्दवीणा की उम वादन गैली की मन्त्रना ही रही है जिसे 'तद्दीपौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृता पुनः कापि' के मन्त्र का साधना रूप में समझा जा सकता है । —

खास बात तो यह है कि 'वाक्य रसात्मक वाक्यम्' का काव्य लक्षण कुछ ऐसा विचित्र है कि जब तक इसका भावनात्मक निरूपण करते रहिये तब तक तो क्या भावपू और अर्थ-निर्भर लगता रहेगा किन्तु जब बौद्धिक विश्लेषण के अणुवीक्षण-गन्त्र से गेहि तब इसके तत्त्व कसूर की भोंति उठते दिखायी देने लगेंगे । कारण यह है कि य 'काव्य'लक्षण काव्य के उपकरण-तत्त्वों, जैसे कि अलङ्कार, गुण, दोषाभाव और रीति । वाक्य की 'रसात्मकता' का उपकरण नहीं सिद्ध करता अपितु 'रसात्मक वाक्य' का उत्कर्षाधायक मात्र मान बैठता है—'दोषास्तस्यापकर्षका । उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुण लङ्काररीतयः'—साहित्यदर्पण १-३ । अलङ्कार, गुण और रीति को यदि रसात्मक वाक्य अथवा 'काव्य' का उत्कर्षाधायक तत्त्व ही माना जाय तब 'प्रतिभा' की भी तो काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व ही मानना पड़ेगा न कि उत्पादक तत्त्व अथवा परम तत्त्व । य तो 'कविप्रतिभा' है जो क्या शब्दग्राम, क्या अर्थसार्थ, क्या अलङ्कारतन्त्र और क उक्तिमार्ग—सब कुछ को कवि हृदय में प्रतिभासित किया करती है—

'या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृद प्रतिभासयति सा प्रतिभा । अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावत पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव । यतो मेधाविरुद्ध-कुमारदासादयो जात्यन्धा' कवय श्रूयन्ते, केचन महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्य व्यग्रहृति निबध्नन्तिस्म ।' (राजशेखर काव्यमीमांसा ४र्थ अध्याय)

यह कैसा काव्यलक्षण जिससे कविप्रतिभा भी काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व बना दी जाय ?

इतना ही क्यों ? इस काव्यलक्षण से काव्य के भेदों का निष्कर्ष निकालना असम्भव है । 'लक्षण' ऐसा होना चाहिये जिससे वस्तु का सामान्य स्वरूप पहचान लिया जाय और जो वस्तु के विशेषों अथवा भेदों में भी अनुगत हो सके । यह काव्यलक्षण 'काव्य-सामान्य' का लक्षण कदापि नहीं हो सकता क्योंकि इसमें 'काव्यविशेष' की ही पहचान दी हुई है । यह काव्यविशेष और कोई काव्य नहीं, अपितु रसध्वनिकाव्य ही अथवा

रसादिध्वनिकाव्य ही हो सकता है । तब 'काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्' (साहित्यदर्पण ४. १) कैसे कह दिया गया ? बात यह है कि पहला काव्यप्रकार अर्थात् रसादिध्वनिरूप काव्यप्रकार तो लक्षण में ही आ गया है । उसे लक्षण से बाहर कैसे किया जा सकता है और दूसरे काव्यप्रकार अर्थात् 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'रूप काव्य-प्रकार को 'रसात्मक वाक्य'रूप भी एक सौँस में कैसे कहा जा सकता है । 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य'काव्य का वह भेद और वस्तुतः उस भेद का भी, एक अंश ही रसात्मक कहा जा सकता है जिसे 'इतराङ्ग' व्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य कहा गया है—

(इतराङ्गमितरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम्, यथा—

‘अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्युरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥’

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम्—साहित्यदर्पण ४. १३) ।

फिर कवि-परम्परा से चले आते शब्दचित्र और अर्थचित्र की रचनाओं को कहाँ रखा जायगा ? इन्हें काव्य तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि ये ऐसे वाक्य हैं जो रसात्मक नहीं प्रतीत हुआ करते । इनके लिये अकाव्य की एक नयी श्रेणी बनानी पड़ेगी । यदि यह कहा जाय कि 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' में ही यह भी कह दिया गया है कि 'वाक्यमरसात्मकमकाव्यम्' और इसलिये 'चित्रकाव्य' के लिये कोई चिन्ता नहीं, तब भी इतना तो पूछना ही पड़ेगा कि बड़े-बड़े आलङ्कारिक क्योंकर शब्दचित्र और अर्थचित्र की रचनाओं को 'कविकृति' मानते आये हैं ? 'कवे कर्म काव्यम्'—काव्य वह है जो कवि की कृति है अथवा कविता-कला द्वारा उत्पाद्य कलात्मक वस्तु है । कविकृति के रूप में जैसे 'रसात्मक वाक्य' की पहचान काव्यमर्मज्ञता की एक परीक्षा है वैसे ही 'चित्रात्मक वाक्य' की भी पहचान काव्यमर्मज्ञता की दूसरी परीक्षा है । जो आलङ्कारिक दूसरी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है वही पहली परीक्षा में बैठ सकता है । दूसरी परीक्षा में बैठना ही 'आलङ्कारिकता' का पहला अभ्यास है । इसमें बैठने का अर्थ यह नहीं कि इसे तुच्छ समझा जाय अपितु यह है कि इसकी उपयोगिताओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाय । तभी तो काव्यप्रकाशकार ने अवर, मध्यम और उत्तम काव्य का श्रेणी-विभाग मन में रखते 'तददोषी शब्दार्थौ मगुणावनलकृती पुन क्वापि' के लक्षण में काव्य-सामान्य का स्वरूप-निर्देश किया है । और चालिये—'वाक्य रसात्मक काव्यम्' अवश्य कहिये किन्तु फिर 'साक्षात् रसात्मकम्' और 'परम्परया रसात्मकम्' का भी अभिप्राय मन में रखिये, नहीं तो, इस काव्यलक्षण से 'रसध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'-रूप काव्य-विशेषों अथवा काव्य-भेदों की संगति कैसे बैठ पायेगी ? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का काव्यलक्षण 'ध्वनि'काव्य से तो सर्वथा मगत कदापि नहीं माना जा सकता क्योंकि 'ध्वनि'काव्य का लक्षण है—

‘वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम् । वाच्यादधिकचम-त्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् !’

ऐसा लगता है जैसे अन्य आलम्बारिकों ने 'मुक्तक' की दृष्टि में काव्य की परिभाषा की, और विश्वनाथ कविराज ही ऐसे सर्वप्रथम एक आलम्बारिक हैं जिनकी दृष्टि 'महाकाव्य-प्रबन्ध' के आधार पर 'काव्य' स्वरूप के निरूपण में प्रवृत्त हुई।

काव्यलक्षण करने में किस कवि अथवा रमिक के मन में उद्दिष्टता नहीं पैदा होगी? ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने 'काव्यलक्षण' की ये सम्भावनाएँ निर्दिष्ट की थीं—

(१) 'शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्' (ध्वन्यालोक उद्योत १) । इस काव्य-लक्षण में जो कमी थी उसे भी उन्होंने ही इस प्रकार निर्दिष्ट किया—

'तत्र च शब्दगताश्चास्तुहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोप-
मादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तद्वनतिरिक्तवृत्तयो
वृत्तयोऽपि या कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गता' श्रवणगोचरम् ।
रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः तद्वनतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ।'

यह काव्यलक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (भामह) का गन्धेतर करता है। इसमें काव्यशरीर का निरूपण अवश्य है और काव्यशरीर के सौन्दर्याधायक किंवा सौन्दर्य-वर्धक तत्त्वों का भी सकेत निर्विवाद है किन्तु इसमें एक कमी है और वह है काव्य के 'आत्मतत्त्व' की कमी। इस काव्यलक्षण पर चार्वाकदर्शन का प्रभाव स्पष्ट है किन्तु इसी की दृष्टि से 'काव्य' का स्वरूप परमार्थ नहीं बताया जा सकता।

(२) 'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्' (ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत) । किन्तु यहाँ भी सहृदयहृदय की आह्लादजनकता के रूप में शब्द और अर्थ के ही सौन्दर्य और वैचित्र्य का सकेत है न कि काव्य के किसी अन्तस्तत्त्व का।

(३) 'काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूप-
तया स्थितः सहृदयभ्लाष्यो योऽर्थः' (ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत) । यह 'काव्यलक्षण' रसध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन की मान्य है क्योंकि इसमें 'साररूप से अवस्थित रस-रूप आत्मतत्त्व के अभिव्यञ्जन के आधाररूप में' 'शब्दार्थयुगल' को 'काव्य' माना गया है। विश्वनाथ कविराज का काव्यलक्षण इन सम्भावनाओं की सामने रखकर चल रहा है। 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' और 'काव्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुसहृदयहृदया-ह्लादिसाररूपरसात्मक शब्दार्थयुगलम्' में तात्पर्यत कोई भेद नहीं।

'वाक्य रसात्मक काव्यम्' के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहना पड़ता है कि यह काव्यलक्षण 'रसध्वनिप्रबन्ध' का ही लक्षण है न कि 'काव्यप्रबन्ध' का। ध्वनिकार के लिये तो 'रसध्वनिप्रबन्ध' का ही लक्षण आवश्यक था किन्तु साहित्यदर्पणकार के लिए काव्य-प्रबन्ध का ही लक्षण अपेक्षित प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखते इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'रसध्वनिप्रबन्ध' के लिए तो 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' का लक्षण सर्वथा चतुरस्त्र है किन्तु इस लक्षण के साथ 'साहित्यदर्पण' के अनेक विवेच्य विषयों का सम्बन्ध दृढ़ता दिखाई देता है। इसमें साहित्यदर्पणकार का दोष कम और 'काव्य' स्वरूप की स्वसंवेद्यता और अनिर्वचनीयता का गुण अधिक है।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि । काव्यादेव... ॥

सभी काव्यमर्मज्ञोंने 'काव्य' के प्रयोजन की चिन्ता और चर्चा की है। किन्तु 'अलङ्कारशास्त्र' के प्रयोजन की चिन्ता किसी को न हुई। विश्वनाथ कविराज ने ही सर्वप्रथम स्पष्टतया 'काव्य' और 'काव्यालोचना' अथवा 'कवि' और 'काव्यालोचक' के एकरस प्रयोजन अथवा उद्देश्य का विचार-विमर्श किया है। 'अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह' (साहित्यदर्पणः १म परिच्छेद) की भूमिका के साथ, काव्य-प्रयोजन के रूप में 'चतुर्वर्गप्राप्ति' की प्रतिष्ठा अलङ्कारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र में एक महत्त्व रखती है। यश प्राप्ति, अर्थलाभ, व्यवहारज्ञान, अमङ्गलनिवारण, रसास्वाद और सरसोपदेश के काव्य-प्रयोजनों को 'चतुर्वर्ग' अथवा 'पुरुषार्थचतुष्टय' में अन्तर्भूत करना एक आवश्यक काव्यविषयक विचार है। मनुष्य की सभी क्रियाएँ चतुर्वर्ग के भीतर समा जाती हैं। काव्य भी मनुष्य की क्रिया है और काव्यसमीक्षा काव्य-क्रिया का एक अङ्ग है—इस दृष्टि से काव्य और काव्यसमीक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक और सामाजिक चतुर्वर्गप्राप्ति ही हो सकता है। वैसे 'वक्रोक्ति-जीवितकार' आचार्य कुन्तक ने भी 'चतुर्वर्गप्राप्ति' को ही कवि और सहृदय के प्रयोजनरूप से माना है—

‘धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।’

काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥’

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकः काव्यबन्धः सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः । कस्येत्याकांक्षायामाह—अभिजातानांम् । अभिजाताः खलु राजपुत्रादयः धर्माद्युपेयार्थिनी विजिगीषवः क्लेशभीरवश्च सुकुमाराशयत्वात्तेषाम् । तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह—धर्मादिसाधनोपायः । धर्मादेरुपेयभूतस्य साधने सम्पादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम् । तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपि शास्त्रैः किमपराद्धमित्यभिधीयते—सुकुमारक्रमोदितः । सुकुमारः सुन्दरः सहृदयहृदयहारी क्रमः परिपाटीविन्यासस्तेनोदितः कथितः सन् । अभिजातानामाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात् काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्युपायतां प्रतिपद्यते । शास्त्रेषु पुनः कठोरक्रमाभिहितत्वात् धर्माद्युपदेशो दुरवगाहः । तथाविधे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव । ‘तदेव शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य ।’ (वक्रोक्तिजीवित • १म उन्मेष)

किन्तु अलङ्कारशास्त्र के प्रयोजन के रूप में उन्होंने 'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्य-सिद्धि' का ही संकेत किया है। वक्रोक्तिजीवितकार ने 'चतुर्वर्गप्राप्ति' के बाद काव्य के 'लोकयात्राप्रवर्तननिमित्त' प्रयोजन और 'तदात्वरमणीय' प्रयोजन—क्योंकि चतुर्वर्ग-प्राप्तिरूप प्रयोजन समयान्तरभावी ही प्रयोजन हो सकता है—का अलग परिगणन किया है—

.. 'व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।

सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥

तदिदमुक्तं भवति—महता हि राजादीनां व्यवहारे वर्ण्यमाने तदद्भुता सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतयः समुचितप्रातिस्विककर्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तोपदेशतामापद्यन्ते । ततः सर्वे कश्चित् कमनीयकाव्ये कृतश्रमः समासादितव्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यातिशयः श्लाघनीय फलभाग् भवति ।

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षणः पुरुषार्थस्तदुपाज्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया काव्यस्य पारम्पर्येण प्रयोजनमित्याम्नातः, सोऽपि समयान्तरभावितया तदुपभोगस्य तत्फलभूताह्लादकारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति । ततस्तदतिरिक्तं किमपि सहृदयहृदयसंवादसुभगं तदात्परमणीयं प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतया स्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कारकलामात्रस्य न कामपि साम्यफलानां कर्तुमर्हतीति ।

‘कदुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।

आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥’

(वक्रोक्तिजीवित - १म उन्मेष)

विश्वनाथ कविराज ने आचार्य कुन्तक से बहुत कुछ लिया है किन्तु ‘चतुर्वर्ग’ अथवा ‘पुरुषार्थचतुष्टय’ के बाहर ‘लोक्यात्राप्रवर्तन’रूप किसी अतिरिक्त काव्यप्रयोजन की मान्यता उन्हें खटक जाती है । विश्वनाथ कविराज ‘रसास्वाद’ को ‘तदात्परमणीय’ काव्यप्रयोजन कैसे मान सकते हैं ? उनके लिये काव्य ‘रसात्मक वाक्य’ है । सहृदय का रसास्वाद काव्य के स्वरूप की ही पहचान है । ‘रसास्वाद’ को पृथक् रूप से काव्य का प्रयोजन तो वह माने जो काव्य को अदोष, भगुण तथा समुचित रूप से अलंकृत शब्दार्थ-सन्दर्भ कहे । ‘रसास्वाद’रूप काव्यप्रयोजन तो वस्तुतः काव्य-स्वरूप स्पर्श प्रयोजन है । यह तो काव्य की एक अपनी विशेषता है । काव्य के प्रयोजन रूप से उसी का निर्देश आवश्यक है जो मानव-जीवन का प्रयोजन है, मनुष्य की वृत्तियों का उद्देश्य है । यह उद्देश्य अथवा प्रयोजन ‘पुरुषार्थचतुष्टय’ की प्राप्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? ‘पुरुषार्थचतुष्टय’ में ही ‘लोक्यात्राप्रवर्तन’ समा जाता है । इस दृष्टि से ‘चतुर्वर्ग-प्राप्ति’ को रसात्मक वाक्यरूप काव्य की रचना, रसना और समीक्षा का समान प्रयोजन सिद्ध करना अत्यन्त उपयुक्त है ।

‘रामादिवद्वर्तितव्यम् न रावणादिवत्’—यह काव्य का प्रयोजन चतुर्वर्गप्राप्ति-रूप प्रयोजन का ही एक सकेत है । शास्त्र का भी प्रयोजन चतुर्वर्ग-प्राप्ति है किन्तु ^{११}सि के लिये शास्त्रमार्ग का अवलम्बन कष्टकारक और आयासमय है । काव्य

के द्वारा चतुर्वर्गप्राप्ति में सर्वसाधारण का अधिकार है क्योंकि काव्य के अधिकारी की योग्यता वर्णाश्रम-धर्म का अनुपालन नहीं अपितु सहृदयता की योग्यता है। विश्वनाथ कविराज ने इसीलिये कहा है—

‘चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नोरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव। ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्र करणीय इत्यपि न वाच्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्करापवृत्तिः साधीयसी न स्यात्।’ (साहित्यदर्पण : १म परिच्छेद)

अर्थात् शास्त्र से चतुर्वर्गप्राप्ति दुःखसाध्य है और सभी के लिये सम्भव नहीं। काव्य का स्वरूप ही आनन्दात्मक है जिसके कारण काव्य से चतुर्वर्गप्राप्ति सुखसाध्य है और मनुष्यमात्र के लिये सम्भव है। वेदादिशास्त्र तो मानव-जीवन के ताप-संताप के निवारणार्थ ‘कटु औषध’ हैं किन्तु काव्य वह ‘मीठी खाद’ है जिसके आस्वाद में ही ताप-संताप अनायास शान्त हो जाते हैं।

वैसे काव्य के इस सरस चतुर्वर्गप्राप्तिरूप काव्यप्रयोजन का निर्देश आचार्य रुद्रट का ही किया हुआ है—

‘ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नोरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥’

जिसे आचार्य मम्मट ने इस उक्ति में दुहराया है—

‘कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणा-
दिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।’
(काव्यप्रकाश : १म उल्लास)

किन्तु विश्वनाथ कविराज की यहाँ एक और ही विशेषता दिखाई देती है और वह यह है कि उन्होंने कवि और सहृदय के अतिरिक्त आलङ्कारिक अथवा काव्यसमीक्षक के लिये भी, काव्य के प्रयोजनरूप से ‘चतुर्वर्गप्राप्ति’ का ही उल्लेख किया है।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदर्लभा

प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में, काव्यकृति के हेतुरूप में, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के विचार-विमर्श की परिपाटी-सी चलती आयी है। साहित्यदर्पणकार की साहित्यिक समीक्षाओं के प्रेरक आचार्य मम्मट ने काव्य-हेतु के सम्बन्ध में कहा ही है—

‘शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥’ (काव्यप्रकाश : १. २)

साहित्यदर्पणकार ने इस विषय पर अपना कोई मत नहीं दिया। इसका कोई विशेष कारण समझ में नहीं आता। बहुत सम्भव है साहित्यदर्पणकार इस विषय में काव्य-प्रकाशकार से सहमत रहे हों और इसीलिये इस विषय पर अपना विशेष विचार छोड़

दिया हो। अथवा यह भी सम्भव है कि उन्होंने 'रसास्वाद' के लिये अपेक्षित 'इदानीं तनी' और 'प्राक्तनी' वासना को ही रसात्मकवाक्यरूप काव्य के निर्माण का भी हेतु सोचा हो—

‘न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्’....

वासना चेदानींतनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः । तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि सा स्यात्, यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्वागिणामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तत्र स्यात् ।’ (साहित्यदर्पण : ३५ परिच्छेद)

रत्यादिवासनावासित कवि-हृदय ही रसात्मक वाक्य की रचना करने में समर्थ हो सकता है। विश्वनाथ कविराज ने वस्तुतः अपने गमय के ही पुष्ट काव्यप्रेमियों को लक्ष्य में रखकर यह कहा है कि ‘कुछ लोग ऐसे भी हुआ करते हैं जो इस जन्म में तो बड़े रागी दिखायी देते हैं किन्तु पूर्व जन्म के काव्यास्वाद के अभाव में इस जन्म में भी रसास्वाद से वञ्चित रह जाते हैं।’ इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकल जाता है कि विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में ‘कवि’ और ‘काव्यरसिक’ एक जन्म में कोई नहीं बन पाता। कविता और रसिकता जन्म-जन्मान्तर से आने वाली—ईश्वरीय देन हैं। कविता और रसिकता को विशिष्ट व्यक्तियों की आत्मिक शक्ति मानना ही ठीक है। इस मान्यता की ही पुष्टि के लिये विश्वनाथ कविराज ने अमिपुराण की यह सूक्ति उद्धृत की है—

‘नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥’

जिसका अभिप्राय यह कि ‘कई जन्मों में कोई प्राणी मानवशरीर धारण कर पाता है, मानव होने पर भी कई जन्म विद्याभ्यास के लिये बीत जाते हैं, कई जन्मों में कोई विद्वान् कविता कर पाता है और कवित्व शक्ति के लिये यदि और भी जन्म बीत जाँय तो सन्देह क्या?’

इस सूक्ति के बल पर विश्वनाथ कविराज ने काव्य की उपादेयता सिद्ध की है। ‘काव्य की उपादेयता’ का अभिप्राय प्रत्येक सहृदय को कवि बनने और कवित्व शक्ति की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होने का उपदेश है। साथ ही साथ यहाँ यह संकेत भी है कि केवल विद्या होने से ही ‘कवित्व’ कार्यकर नहीं हुआ करता। ‘कवित्व’ का कार्यकर होना ‘कवित्वशक्ति’ के हाथ में है। यह ‘कवित्वशक्ति’ क्या है? यह कवित्वशक्ति काव्य की उत्पत्ति का बीज है जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है—

‘शक्तिः कवित्वबीजभूतः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृत्योपहसनीयं स्यात् ।’ (काव्यप्रकाश . १म उल्लास)

विश्वनाथ कविराज इस ‘शक्ति’ को ही ‘रसात्मक वाक्य’ रूप काव्य के निर्माण और समुल्लास का हेतु मान सकते हैं, और वस्तुतः इसी दृष्टि धारणासे उन्होंने काव्य-निर्माण के अलग कोई विचार नहीं किया है। ‘शक्ति’ कविता के उद्भव में एकमात्र

हेतु है और काव्यालोचना भी 'शक्ति' का ही कृपा-प्रसाद है। हृदय में, काव्यतत्त्वों के अवभासन के लिये 'शरदिन्दुसुन्दररुचि' वाग्देवी की चन्दना का भी यही संकेत है कि 'वाग्देवी' ही कवित्व और रसिकत्व-शक्ति के प्रदान की अधिष्ठात्री देवी हैं।

तिस्रः शब्दस्य शक्तयः

ध्वनिवादी काव्याचार्यों की भाँति विश्वनाथ कविराज ने भी शब्द की तीन शक्तियों का स्वरूप-निरूपण किया है। शब्द की ये तीन शक्तियाँ उसकी तीन उपाधियाँ हैं जिन्हें 'अभिधा', 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' के रूप में पहचाना जा सकता है और जिनके कारण शब्द 'वाचक', 'लाक्षणिक' और 'व्यञ्जक' रूप से प्रतीत हुआ करता है—

‘अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात् त्रिविधो मतः ।

शब्दोऽपि वाचकस्तद्व्यञ्जको व्यञ्जकस्तथा ॥’ (सा० द० २. १९)

विश्वनाथ कविराज ने 'अभिधा' शक्ति को 'वाच्य-अर्थ की बोधिका' अग्रिमा शक्ति कहा है। (वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यः, अग्रिमाऽभिधा—साहित्यदर्पण . २. ३, ४)। काव्यप्रकाशकार भी 'अभिधा' को शब्द का 'मुख्य व्यापार' कह चुके हैं। दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है। जो कुछ भी थोड़ा भेद है वह अभिधा के प्रतिपादन-प्रकार में है। काव्यप्रकाशकार ने 'संकेतग्रह' के उपायों में केवल 'वृद्धव्यवहार' का ही उल्लेख किया है जो कि अभिहितान्वय और अन्विताभिधान—दोनों वादों में समान रूप से मान्य है। किन्तु विश्वनाथ कविराज ने 'वृद्धव्यवहार' के अतिरिक्त 'आप्तोपदेश' और 'प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहार' को भी 'शक्तिग्रह' के उपाय रूप से प्रतिपादित किया है। यहाँ विश्वनाथ कविराज की दृष्टि वही है जो 'शक्तिग्रह' के उपाय-प्रतिपादक निम्नलिखित श्लोक-वाक्य में दिखायी देती है—

‘शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥’

काव्यप्रकाशकार ने उपाधि-शक्तिवाद के साथ-साथ जाति-शक्तिवाद, जाति-विशिष्ट-व्यक्तिशक्तिवाद और साथ ही साथ अपोहशक्तिवाद का भी निर्देश कर दिया है जिससे काव्यशास्त्र के पाठक, शब्द के अर्थ के सम्वन्ध में, इन विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं से परिचित रहें। किन्तु विश्वनाथ कविराज केवल उपाधि-शक्तिवाद का निरूपण करते हैं जो कि अलङ्कार शास्त्र के लिये विशेषरूप से उपयुक्त है।

‘अभिधा’ के वाद दूसरी शब्दशक्ति 'लक्षणा' है जिसके लक्षण में काव्यप्रकाशकार ने यह कहा है—

‘मुख्यार्थवाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽरोपिता क्रिया ॥’ (का० प्र० : २. ९)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'लक्षणा' के प्रयोजकरूप से 'मुख्यार्थवाध', 'मुख्यार्थयोग', 'रूढि-

‘अथवा प्रयोजन’ का स्पष्ट परिगणन किया हुआ है । किन्तु विश्वनाथ ऋविराज की इस ‘लक्षणा’-परिभाषा अर्थात्—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।

रूढः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ (मा० द० २५)

में, लक्षणा के जिन प्रयोजकों का निर्देश है उनमें ‘मुख्यार्थबाध’ और ‘रूढि अथवा प्रयोजन’ ही आते हैं । यहाँ यही प्रतीत होता है कि वह शब्द, जिसका मुख्य अर्थ अनुपपन्न होने लगता है रूढि अर्थात् प्रयोग-प्रवाह अथवा प्रयोजन-प्रतिपादन के कारण, अपने मुख्य अर्थ से, किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध एक अन्य अर्थ को देने लगता है और ऐसा करने में उसमें जो शक्ति उत्पन्न हो जाया करती है उसका नाम ‘लक्षणा’ है । ‘अभिधा’ तो शब्द की स्वाभाविक शक्ति है और लक्षणा आरोपित अथवा काल्पनिक शक्ति क्योंकि शब्द और उसके लक्ष्यार्थ के बीच अनुपपन्न मुख्यार्थ का व्यवधान अनिवार्य है ।

वैसे काव्यप्रकाश के लक्षणा-लक्षण में ‘मुख्यार्थबाध’ और ‘मुख्यार्थयोग’—दोनों को लक्षणा-प्रयोजक मानने में, गौरव होने पर भी, कुछ स्पष्टता अवश्य है किन्तु साहित्य-दर्पण की लक्षणा-परिभाषा में ‘मुख्यार्थबाध’ होने पर, रूढि या प्रयोजनवश, मुख्यार्थ सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को जो ‘लक्षणा’ माना गया है उसमें ‘लाघव’ होने पर भी कुछ क्लिष्टता दिखायी ही दे जाती है । ‘लाघव’ भी हो तो ऐसा हो जैसा ‘रसगङ्गाधर’ कार के लक्षणा-निरूपण में है—‘शक्यसम्बन्धे लक्षणा’

तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्त्रम् । शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वीकारात् । किन्तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम् । मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेः तन्त्रत्वे तु ‘काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्’ इत्यत्र लक्षणोत्थान न स्यात् । ‘गङ्गाया घोष’ इत्यत्र सामीप्यम्, ‘मुखचन्द्र’ इत्यादौ सादृश्यम्, व्यतिरेकलक्षणाया विरोधः, ‘आयुर्धृत’मित्यादौ कारणत्वादयश्च सम्बन्धा यथायोग लक्षणाशरीराणि ।

(रसगङ्गाधर २५ आनन)

अर्थात् ‘लक्षणा’ के प्रयोजकरूप से मुख्यार्थबाध की मान्यता अनावश्यक है । कारण यह है कि ‘गङ्गाया घोष’ आदि में शैत्य-पावनत्व आदिरूप प्रयोजन की प्रतीति तभी मानी जा सकती है जब कि ‘गङ्गा’ आदि शब्दों के ‘तटादि’ अर्थों को ‘मुख्यार्थतावच्छेदक’ रूप से प्रतीत माना जाय अर्थात् यह समझा जाय कि ‘तटादि’रूप अर्थ मुख्यार्थ (गङ्गात्व अथवा प्रवाह) के बाधक नहीं हैं । लक्षणा का प्रयोजक तो रूढि अथवा प्रयोजन में किसी एक को माना जाना चाहिये या यह माना जाना चाहिये कि ‘लक्षणा’ में मुख्यार्थ अन्वित होने पर भी मुख्यार्थरूप से अन्वित नहीं होता, क्योंकि यदि मुख्यार्थ की अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का प्रयोजक माना जाय, तब ‘काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्’ में लक्षणा नहीं मानी जा सकती, जिसे माना जाया करता है क्योंकि ‘काक’ पद का

मुख्यार्थ 'दधि' की रक्षण-क्रिया में बाधित नहीं, अपितु अबाधित ही प्रतीत होता है ।

विश्वनाथ कविराज ने 'लक्षणा' के सम्बन्ध में कतिपय ऐसी बातों का भी निर्देश किया है जिन्हें 'काव्यप्रकाश'कार ने सोच-समझकर छोड़ दिया है । जैसे कि 'काव्य-प्रकाश'कार ने व्यङ्ग्यार्थगर्भता के आधार पर लक्षणा के दो ही भेद गिनाये हैं— (१) गूढव्यङ्ग्यथा और (२) अगूढव्यङ्ग्यथा । किन्तु विश्वनाथ कविराज ने इनमें भी प्रयोजन के 'धर्मिगत' और 'धर्मगत' भेद निर्दिष्ट कर दिये हैं जिससे प्रयोजनवती लक्षणा की भेद-सख्या बढ़ गयी है । यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा की भेद-सख्या के घटने-बढ़ने का कोई विशेष महत्त्व नहीं, यहाँ तो 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' की स्वरूप-सङ्कीर्णता का प्रश्न है । विश्वनाथ कविराज ने निम्न सूक्ति अर्थात्—

‘स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लङ्घलाका घनाः

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।

कामं सन्तु हृदं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥’

में प्रयुक्त 'राम' शब्द में, धर्मिगत प्रयोजनवती गूढव्यङ्ग्यथा लक्षणा का और 'गङ्गायां घोष' के 'गङ्गा'पद में, धर्मगत प्रयोजनवती गूढव्यङ्ग्यथा लक्षणा का स्वरूप देखा है । 'स्निग्ध-श्यामल' आदि सूक्ति का 'राम' पद ध्वनिकार, लोचनकार और काव्यप्रकाशकार की भी दृष्टि में 'व्यञ्जक' पद है । यह अवश्य है कि इस पद की व्यञ्जना 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यव्यञ्जना' है । लोचनकार का स्पष्ट निर्देश है—

‘रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम् ॥’

(ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

अर्थात् 'कठोरहृदय' पद का प्रयोग 'राम' शब्द के द्वारा उन-उन अर्थों की व्यञ्जना में बड़ा उपकारक है । वस्तुतः इसी दृष्टि से लोचनकार ने यह भी कहा है—

‘रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः । व्यङ्ग्यं धर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयम् । तच्चासंख्यत्वाद्भिधाव्यापारेण शक्यसमर्पणम् । क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावाच्चित्रचर्चणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत् । प्रतीयमानं तु तदसंख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्चणापद भवति ।

यथोक्तम्—

‘उत्तयन्तरेणाशक्य यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।

शब्दो व्यञ्जकतां विभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विप्रीयीभवेत् ॥’

(ध्वन्यालोकलोचन २य उद्योत)

ऐसी परिस्थिति में, 'राम' पद को व्यञ्जक मानने से इस रसात्मक वाक्यरूप काव्य का स्वरूप-विमर्श किया जा सकता है या 'लाक्षणिक' मानने से ? विश्वनाथ कविराज भी यहाँ यही कहेंगे कि 'राम' पद व्यञ्जक है । फिर 'धर्मिगत प्रयोजनवती लक्षणा' की

मान्यता यहाँ किस काम की ? 'गङ्गाया घोष' में भी लक्षणीय अर्थ और व्यापनीय प्रयोजन की प्रतिपत्ति लक्षणा द्वारा ही सम्भव नहीं मानी जाती । फिर 'गङ्गा' पद में 'धर्मगत प्रयोजनवती लक्षणा' के विमर्श का क्या रस्य ?

कहने का तात्पर्य यह है कि 'व्यञ्जना'वादी शब्दाचार्यों के लिये 'लक्षणा'-निरूपण में बाल की खाल निकालना अपेक्षित नहीं क्योंकि तब तो 'व्यञ्जना' का बहुत बड़ा क्षेत्र इसीमें समा जायगा ।

अस्तु, विश्वनाथ कविराज का 'व्यञ्जनाशक्ति'-निरूपण वज्र गुबोध और मारगर्भित बन पड़ा है । इस एक श्लोक में 'वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' अर्थों का परस्पर विपरीत स्तिता स्पष्ट और सुन्दर है—

‘बोद्ध-स्वरूप-सख्या-निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम् ।

आश्रय-विषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥’ (सा० द० ५-२)

अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है—वाच्यार्थ के बोद्धा पद-पदार्थवित् हो सकते हैं किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के बोद्धा मादय हुआ करते हैं, वाच्यार्थ यदि कहीं विधिरूप होता है तो वहाँ व्यङ्ग्यार्थ 'निषेध'रूप हो जाया करता है, वाच्यार्थ यदि एक है तो व्यङ्ग्यार्थ अनेक—अनन्त रूपों का हुआ करता है, वाच्यार्थ का बोध शब्दोच्चारण-मात्र से संभव है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिए भाग्यित्री प्रतिभा की अपेक्षा हुआ करती है, वाच्यार्थ से 'प्रतीति' उत्पन्न होती है और व्यङ्ग्यार्थ से चमत्कार, वाच्यार्थ आपात में प्रतीत होता है और व्यङ्ग्यार्थ अन्त में, वाच्यार्थ का आश्रय शब्द हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ का शब्द के अतिरिक्त वर्ण, अर्थ, रचना आदि-आदि और इतना ही क्यों वाच्यार्थ का विषय कुछ हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ का कुछ ।

काव्य के परम रमणीय अर्थ-रस, भाव आदि 'तट' आदि रूप अर्थों की भोति पूर्ण सिद्ध नहीं, जिससे, व्यञ्जना के माने बिना भी, लक्षणा से काम चल जाय ।

रसभावादिरूप व्यङ्ग्य अर्थ न तो 'अनुमेय'रूप अर्थ है और न 'स्मृति'रूप अर्थ जिससे अनुमान अथवा स्मृति में ही व्यञ्जना अन्तर्भूत कर दी जाय । 'व्यञ्जना' को र मानना ही पड़ेगा चाहे इसके न मानने के लिए जितनी दूर भी जाया जाय और जित भी कष्ट कल्पना की जाय—

‘वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधा-तात्पर्य-लक्षणाख्यानाम् ।

अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥’ (सा० द० ५-१)

रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्

पूरी कारिका है—

‘विभावेनानुभावेन व्यक्त. सचारिणा तथा ।

रसतामेति रत्यादि स्थायिभावः सचेतसाम् ॥’ (सा० द० ३)

इस कारिका में विश्वनाथ कविराज का 'रसध्वनिवाद' स्पष्ट रूप से झलक रहा है

विश्वनाथ कविराज का यह 'रसमत' रसध्वनिवादी काव्याचार्यों की रसविषयक मान्यताओं का सारसन्नेप और पुष्टीकरण है। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव' तथा 'स्थायीभाव' में व्यङ्ग्यव्यञ्जक-संबन्ध माना गया है। विभावादि वर्ग से स्थायीभाव की अभिव्यक्ति, दूध से दही की निष्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति सी मानी जा सकती है न कि दीप से घट की अभिव्यक्ति-सी। वैसे 'घटप्रदीपन्याय' भी व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव में लागू है जैसा कि ध्वनिकार का कथन है—

‘न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययो’ । यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद्विद्वद्भिरास्थितम् यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घट-तदुपादानकारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः । यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पद-तदर्थानाम्, तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत् । न त्वेव वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः । न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति, वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात् । तस्माद् घट-प्रदीपन्यायस्तयोः । यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतौ उत्पन्नायां न प्रदीप-प्रकाशो निवर्तते तद्वत् व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः । यन्तु प्रथमोद्योते—‘यथा पदार्थद्वारेण’ इत्याद्युक्तम्, तदुपायत्वमात्रात् साम्यविवक्षया ।’ (ध्वन्यालोक ३य उद्योत)

अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्यरूप दार्ष्टान्तिक की सिद्धि के लिये ‘पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय’ अथवा ‘पदार्थ और वाक्यार्थ का दृष्टान्त’ ठीक नहीं। वाच्य और व्यङ्ग्यरूप दार्ष्टान्तिक के लिये तो ‘घट-प्रदीपन्याय’ अथवा ‘प्रदीप और घट का ही दृष्टान्त’ ठीक है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट के साक्षात्कार होने पर प्रदीप का प्रकाश विद्यमान रहा करता है वैसे ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर वाच्यार्थ का अवभास निश्चल नहीं हुआ करता। किन्तु ‘घटप्रदीपन्याय’ से ‘विभावादिवर्ग और रसप्रतीति’ का विरलेपण विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में एक खटकनेवाली बात है। बात ठीक भी है क्योंकि जैसे ‘घट’ पूर्वसिद्ध वस्तु है वैसे ‘रस’ को पूर्वसिद्ध मानना रसध्वनिवाद को तिलाञ्जलि दे देने के बराबर ही है। ‘रस’ तो एकमात्र ‘आस्वाद’ अथवा ‘प्रतीतिसार’ है, ‘रस’ कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पहले से हो और जिसे हम न जानते हों तथा जो विभावादि द्वारा प्रकाशित हो उठे। ‘विभावादि-वर्ग’ और ‘रस’ में ‘दधिन्याय’ ही लागू हो सकता है। ‘दधिन्याय’ में ‘रस’ को समझाने का अर्थ यह है कि जैसे दूध का ही रूपान्तर-परिणाम दही है वैसे ही रत्यादिरूप स्थायीभाव का ही रूपान्तर-परिणाम शृंगारादि ‘रस’ है। रत्यादि स्थायी भाव का यह ‘रस’रूप रूपान्तर-परिणाम ‘दधिन्याय’ से सरलता से समझाया तो जा सकता है किन्तु इस ‘दधिन्याय’ को आस्वादमात्र सार ‘रस’ तक नहीं खींचा जा सकता। वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने इसीलिये कहा है कि ‘रस’ एक अलौकिक और सहृदयमात्र-सवेद्य काव्यार्थतत्त्व है। इसे एक ‘अखण्डस्वप्रकाशानन्दबिन्मय’, ‘वेद्यान्तर-संस्पर्शशून्य’, ‘ब्रह्मास्वादसहोदर’, ‘लोकोत्तरचमन्कारप्राण’ किंवा ‘आत्मस्वरूप से अभिन्न’ आनन्दानुभव ही माना जा सकता है। (साहित्यदर्पण ३. २-३)

‘रस’ की प्रतीति का हेतु ‘मत्त्वोद्रेक’ है। ‘सत्त्व’ का अभिप्राय ‘रजस्’ और तमस् से अस्पृष्ट मन’ का अभिप्राय है। रजस् और तमस् से अस्पृष्ट मन आत्मरत हुआ करता है, बाह्य भोग्य पदार्थों के प्रति विमुख रहा करता है। अलौकिक काव्यार्थ का परिशीलन करनेवाले सहृदय सामाजिक के हृदय में यह ‘अनन्योन्मुखता’—यह ‘सत्त्वोद्रेकता’ स्वभावतः उत्पन्न होती है। उम प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज ने यहाँ जिस रसानुभवप्रक्रिया का विश्लेषण किया है उममें काश्मार के शैवदर्शन की विचारधारा की कोई फलक नहीं अपितु गान्धर्व और ‘प्रद्वैतवेदान्त’ के सिद्धान्तों का आधार फलकता है।

कवि-वर्णित विभावादि के ‘व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव’रूप मयोज में रत्यादिभावों का यह रूपान्तर-परिणाम ‘चिदानन्दचमत्कार’-स्वरूप होता है और इनोलिये इसे ‘रग’ कहते हैं। यह रत्यादिभाव जो कि ‘चिदानन्दचमत्कार’रूप में परिणत होता है, काव्य-पुरुष अथवा नाटक पुरुष का रत्यादिभाव नहीं, अपितु ‘साधारणीकृत’ रत्यादिभाव है—

‘व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।

तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः॥

प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः॥

नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति।

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते॥’

(सा० द० ३ ९-११)

अर्थात् ऐसा रत्यादिभाव है जिसे सहृदय सामाजिक की वासना में विराजमान रत्यादि-भाव कहा करते हैं। (सामाजिकाना वागनात्मतया स्थितो रत्यादिभाव - काव्यप्रकाश ४र्थ उल्लास)

यह ‘रस’ अनुकार्यगत नहीं अर्थात् जैसा कि भरत-भाष्यकार आचार्य लोहट का कथन है। उसके अनुसार ‘रस’ को लोकजीवन के राम आदि का ‘रम’ नहीं कहा जा सकता—

‘पारिमित्यालौकिकत्वात् सान्तरायतया तथा।

अनुकार्यस्य रत्यादेस्तद्बोधो न रसो भवेत्॥’ (सा० द० ३. १८)

कारण यह है कि काव्य-नाट्य का जो ‘रस’ है वह तो असंख्य सामाजिकों का ‘आस्वाद’ है और राम आदि का ‘रस’ रामादिगत ही लौकिक सुख दुःख का अनुभवरूप हो सकता है। काव्य-नाट्य का ‘रस’ अलौकिक विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त होता है जब कि रामादिगत रत्यादिभाव की उत्पत्ति उन-उन लौकिक सीतादिरूप कारणों, कार्यों और सहकारी कारणों से हुआ करती है। काव्य-नाट्य के ‘रस’ के लिये काव्यभ्रवण और नाट्यदर्शन की आवश्यकता है और रामादि के रत्यादिभाव के अनुमान के लिये रामादि का समकालीन होना अपेक्षित है। रामादि के रत्यादिभाव के अनुभव से सहृदय सामाजिक में लज्जा-आतङ्क आदि उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु अपने वासनास्थित रत्यादि-के ‘आस्वाद’ में सहृदय चमत्कृत हुआ करता है।

यह 'रस' श्री शङ्कर की मान्यता के अनुसार 'अनुकर्तृ'गर्त भी नहीं—

‘शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः संरूपताम् ।

दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत् ॥

काव्यार्थभावनानायमपि सभ्यपदास्पदम् ।’ (सा० द० ३. १९-२०)

कारण यह है कि अनुकर्ता अथवा नट तो अङ्ग, वाणी, वेश और सत्त्व के अभिनय की कला और अभ्याससिद्धि के ही द्वारा अपने आप को राम के ‘संरूप’ अथवा ‘सदृश’ दिखाया करता है, न कि विभावादि की भावना किया करता है। जो ‘नट’ अथवा अभिनेता विभावादि की भावना में वह जाय, वह अभिनय क्या करेगा ? वह तो नाट्य-प्रदर्शक न रह कर नाट्य-दर्शक बन जायगा।

इस ‘रस’ की निष्पत्ति-सिद्धि के लिये भट्टनायक की सी कल्पना भी अनावश्यक है। ‘काव्य में भावकत्वव्यापार और भोगीकरण-व्यापार रहा करते हैं’—इसके बदले यही मानना युक्तियुक्त है कि ‘काव्य में ‘व्यञ्जना’ शक्ति स्फुरित हुआ करती है’। वस्तुरूप और अलङ्काररूप व्यञ्ज्यार्थ की अपेक्षा रसरूप काव्य-परमार्थ में आनन्दातिरेक के देखते इस ‘व्यञ्जना’ शक्ति को ‘रसना’ कहिये, कोई आपत्ति नहीं—

‘तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया तत्तच्छब्दा-
द्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया चानुमानादिप्रमाणावेद्यतया चाभिधादिवृत्तित्रया-
चोध्यतया च तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति सिद्धम् । तत्किन्नामिकेयं वृत्तिरित्युच्यते—

सा चेय व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।

रसव्यक्तौ पुनर्वृत्ति रसनाख्या परे विदुः ॥’ (सा० द० परिच्छेद ५)

इस ‘रस’ के आस्वाद में विभाव आदि का पृथक्-पृथक् प्रतिभास उसी प्रकार नहीं हुआ करता जिस प्रकार प्रपाणकर-रस के आस्वाद में शर्करा, मरिच, कर्पूर और आमिक्षा का पृथक्-पृथक् आस्वाद नहीं मिला करता। जैसे प्रपाणकर-रस अपने निष्पादक तत्त्वों से निष्पन्न होने पर भी उनके पृथक्-पृथक् स्वाद से सर्वथा विलक्षण ‘आस्वाद’ हुआ करता है वैसे ही काव्य अथवा नाट्य-रस भी विभावादि तत्त्वों से अभिव्यक्त होने पर भी, उनकी पृथक्-पृथक् अभिव्यक्ति से सर्वथा भिन्न एक अपूर्व ‘अभिव्यक्ति’ अथवा आस्वाद-चमत्काररूप रहा करता है—

‘यथा खण्डमरिचादीनां संमेलनादपूर्वं इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे सजायते, विभावादिसंमेलनादिहापि तथेत्यर्थः ।’ (साहित्यदर्पण ३-१६)

विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद् व्यापारः

जब ‘रस’ स्वयंप्रकाश आनन्द-चैतन्य है तब इसकी व्यञ्जना का क्या अर्थ ? ‘रस’ की व्यञ्जना का अर्थ ‘रस’ का आस्वाद है। रसास्वाद का उपाय ‘रसना’-व्यापार अथवा ‘आस्वादन’ व्यापार है। यह ‘आस्वादन’-व्यापार कोई अन्य वस्तु नहीं अपितु ‘व्यञ्जना’-व्यापार है। यह एक अलौकिक व्यापार है जिमके लिए किसी भी लौकिक व्यापार का दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। लोक की वस्तुओं में या तो ‘कृति’ रूप

व्यापार देखा जा सकता है या 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार। विभावादि में 'कृति' रूप व्यापार नहीं जिससे 'रस' उत्पन्न हुआ करे। 'रस' तो 'विभावादि समूहालम्बन' रूप आनन्दा-नुभव है। विभावादि में 'कृति' व्यापार तब कहीं माना जा सकता यदि 'रस' को उत्पन्न करने के बाद विभावादि का अस्तित्व नष्ट हो जाता अथवा यदि 'रस' ही विभावादि-समूह के अतिरिक्त अपना पृथक् अस्तित्व रख सकता। विभावादि में 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार मानने का अभिप्राय यह होगा कि विभावादि के द्वारा पूर्वसिद्ध 'रस' का शापन किया जाता करता है। 'रस' घट-पट आदि की भाँति कोई पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं जो क्रिया अज्ञानावस्था में प्रतीत न हो रही हो और प्रदीप की भाँति विभावादि रूप प्रकाशक के योग में प्रकट हो जाय। इस प्रकार विभावादि-प्रतिपादक काव्य में 'कृति' और 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार की तन्मय अभिव्यक्ति प्रतीत होती है। वस्तुतः इसीलिये 'रस' को न तो 'कार्य' माना जाता है और न 'ज्ञाप्य'—

‘नाय ज्ञाप्य. स्वसत्ताया प्रतीयव्यभिचारतः ।’

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः स सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति न एव तथा प्रतीतिमन्तरेणाऽभावात् ।

यस्मादेव विभावादिसमूहालम्बनात्मक तस्मान्न कार्य ।

यदि रस' कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात् . ततश्च रस-प्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन् । कारणज्ञान-तत्कार्यज्ञानादीना युग-पददर्शनात् । न हि चन्दनस्पर्शज्ञान तज्जन्यसुखज्ञान चैकदा भवति । रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयेव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणकत्वमित्यभि-प्रायः ।' (साहित्यदर्पण ३-२०)

अर्थात् 'रस' न तो 'घट', 'पट' आदि की भाँति कोई 'कार्य'-द्रव्य है और न 'ज्ञाप्य' द्रव्य। रस को 'कार्य' इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभावादि को इसका 'कारण' कहना असंभव है।

ऐसा देखा जाता है कि लोक में कारण-वस्तु और कार्य-वस्तु का एककालिक ज्ञान नहीं हुआ करता। चन्दन के स्पर्श का अनुभव और चन्दनस्पर्शजन्य सुख का अनुभव—एक समय में असंभव है। किन्तु रसादि-प्रतीति विभावादि-प्रतीति के साथ ही हुआ करती है। 'रस' रूप अलौकिक काव्यार्थ 'ज्ञाप्य' भी नहीं क्योंकि यदि यह 'ज्ञाप्य' होता तो 'घट', 'पट' आदि की भाँति हमारी अनुभूति के पहले ही अपना अस्तित्व रख सकता। रस तो प्रतीति-परमार्थ है, प्रतीति के अतिरिक्त, प्रतीति के पहले या पीछे इसका अस्तित्व नहीं रहा करता।

अन्ततः विभावादि में 'कृति' और 'ज्ञप्ति' के व्यापारों से सर्वथा विलक्षण व्यापार की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। 'कृति' और 'ज्ञप्ति' से विलक्षण व्यापार एक अलौकिक व्यापार ही हो सकता है और इसीलिये इसे 'अभिव्यञ्जन' अथवा 'चर्चणा' कहा जाया करता है—

‘अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाण-व्यापारवत् । नाप्युत्पादनम्, हेतु-व्यापारवत् ।

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः तर्हि किमेतत् ? नन्वयमसावलौकिको रसः । ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः उत कारकः ? न ज्ञापको न कारकः, अपितु चर्वणोपयोगी । ननु कैतद् दृष्टमन्यत्र ? यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम् । नन्वेव रसोऽप्रमाण स्यात् ? अस्तु, किं ततः ? तच्चर्वणाद् एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम् । नन्वप्रमाणकमेतत् ? न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मकत्वादित्यलं बहुना ।’

(ध्वन्यालोकलोचन . प्रथम उद्योत)

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः

विभावादियोजनारूप काव्य में लोक-विलक्षण किंवा शास्त्र-विलक्षण (वस्तुतः ललितकला से ही सम्बद्ध) एक ‘शक्ति’ रहा करती है जिसका नाम ‘भावकता’ शक्ति है । सर्वप्रथम इस ‘भावकता-शक्ति’ का विश्लेषण करने वाले काव्याचार्य अथवा नाट्याचार्य ‘भट्टनायक’ हैं जिनके रसविषयक सिद्धान्त के सक्षेप में ‘अभिनवभारती’कार आचार्य अभिनव गुप्त ने यह कहा है—

‘भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते । स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात् । न च सा प्रतीतिर्युक्ता, सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्, देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्, समुद्र-लंघनादेरसाधारण्यात्, न च तत्त्वतो रामस्य स्मृतिः अनुपलब्धत्वात्, न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता युक्ता, प्रत्यक्षादिव नायक-युगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सा-स्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयव्यप्र-तया आभासत्वमथापि स्यात् ; तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता । उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम् । शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विपर्ययजनितारतम्यतापत्तिः । स्वगत-परगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम् । तस्मात्काव्ये दोषाभाव-गुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभि-धातो द्वितीयेनाशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः अनुभवस्मृत्यादि-विलक्षणेन रजस्तमोऽनुबेधवैचित्र्यवलात् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वो-द्रेकप्रकाशानन्दभयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते इति ।’ (अभिनवभारती अध्याय ६)

अर्थात् काव्य-नाट्य में एक अलौकिक शक्ति है जिसे ‘भावकत्व’ व्यापार के रूप में देखा जा सकता है । इस ‘भावकत्व’ व्यापार की ही महिमा से सहृदय सामाजिक कविवर्णित विषयों के प्रति ‘स्वगत-परगत’ का भेदभाव भूल जाया करता है और कवि-वर्णित विषय सर्व-सहृदय-साधारण के विषय बना दिये जाया करते हैं । इस ‘भावकत्व’

व्यापार का स्वरूप 'विभावादि का साधारणीकरण' है। काव्य-नाट्य के 'भावकत्व' व्यापार से ही 'विभावादि के साधारणीकरण' होने पर, गान्ध्या सामाजिक का मनोमोह अथवा काव्यवर्णित विषयों के प्रति 'स्वता-परता' का भेदभाव निवृत्त हो जाया करता है और सामाजिक-हृदय में उस 'भोजकत्व-व्यापार' का अविर्भाव हो उठता है जिनमें रसास्वाद का आनन्द मिलने लगता है।

यहाँ यह देखना है कि विश्वनाथ कविराज ने क्या भट्टनायक-प्रतिपादित 'भावकत्व' व्यापार को विभावादि के व्यापाररूप में माना है या अभिनवगुप्त-वर्णित 'व्यञ्जना'-व्यापार को विभावादि का वह विलक्षण व्यापार माना है जिनमें सादृश्य सामाजिक काव्यवर्णित विभावादिको 'साधारणीकृत' मानने लगता है। विश्वनाथ कविराज काव्य और रस में 'भावकत्व-व्यञ्जकत्व-सम्बन्ध' नहीं मानते। उनकी दृष्टि में काव्य और रस में व्यञ्जकत्व-व्यञ्जकत्व-सम्बन्ध ही मान्य है। इसलिये यहाँ उन्होंने विभावादि में 'भावकत्व व्यापार' का प्रतिपादन नहीं किया है अपितु विभावादि के विभावनादि व्यापार का एक नाम रखा है जिसे 'साधारणीकरण' अथवा 'साधारणीकृति' कहा जा सकता है। किन्तु यह 'साधारणीकृति' 'व्यञ्जना'रूप ही विलक्षण व्यापार है न कि अन्य कुछ जैसा कि विश्वनाथ कविराज के इस 'रससिद्धान्त' से स्पष्ट है—

‘विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।

रसतामेति रत्यादि' स्थायिभावः सचेतन्नाम् ॥' (सा० द० ३.१)

यह सब तो ठीक है किन्तु जैसे काव्य के रसविषयक व्यञ्जनाव्यापार को 'व्यञ्जना' के बदले 'रसना' कहने में विश्वनाथ कविराज को आनन्द मिलता है वैसे ही उसके साधारणीकरण व्यापार को 'व्यञ्जना' के बदले, 'भावना' (साधारणीकृति) कहने में भी वे मन ही मन पुलकित प्रतीत होते हैं। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि विश्वनाथ कविराज रसप्रतीति की सिद्धि के लिये 'व्यञ्जना' के बदले भावना (साधारणीकृति) और 'भुक्ति' के व्यापार को रसध्वनि-विरोधी मान्यता का समर्थन कर रहे हैं। 'व्यञ्जना'पद में 'वस्तु' और 'अलङ्कार' की भी व्यञ्जना का अर्थ अन्तर्गर्भित है। रस 'वस्तु' और 'अलङ्कार' से सर्वथा विलक्षण व्यञ्ज्यार्थ है। इस विलक्षणता के ही प्रतिपादन के लिए विश्वनाथ कविराज ने काव्य के रसविषयक व्यञ्जनाव्यापार का नाम 'भावना' अथवा 'रसना' व्यापार रखा है जो कि उचित ही है।

सर्वत्राप्यद्भुतो रसः

रस का प्राण 'लोकोत्तरचमत्कार' है। यह 'लोकोत्तरचमत्कार' सहृदय सामाजिक के चित्त का विस्तार है। अलौकिक काव्यार्थ के परिशीलन से सहृदय सामाजिक के हृदय में एक ऐसी ज्ञानधारा सी प्रवाहित होने लगती है जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे हृदय विस्तृत हो गया है। यह हृदय का विस्तार ही 'चमत्कार' है जिसे हृदय की 'विस्मयाविष्टता' भी कह सकते हैं। यह 'चमत्कार' अथवा यह 'विस्मयावेश' अद्भुत रस का स्वरूप है। प्रत्येक रस के अनुभव में यह 'विस्मयावेश' हुआ करता है। इसलिये

यदि यह कहा जाय कि अद्भुत रस ही समस्त शृङ्गारादि रसों की 'प्रकृति' है जिसकी अपेक्षा अन्य शृङ्गारादि रस 'विकृति' रूप हैं तो सर्वथा युक्तियुक्त ही होगा। विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह कविपण्डित नारायण की यही मान्यता थी कि—'चमत्कार' के ही रससर्वस्व होने के कारण अद्भुत रस को ही समस्त रसों की 'प्रकृति' मानना रसास्वाद का वास्तविक विश्लेषण है—

‘रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।

तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥

तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।’

(सा० द० . परिच्छेद ३)

अर्थात् यदि रस का सार चमत्कार (हृदयविस्तार अथवा विस्मय) है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'चमत्कार' ही रस का सार है तब यह निःसंदिग्ध है कि समस्त रसों के अनुभवों में 'विस्मय' का ही अनुभव हुआ करता है और 'अद्भुत' ही वह रस है जिसे 'शृङ्गार' आदि सभी रसों का रस माना जा सकता है।

चित्त की 'वृत्ति' और 'दीप्ति' के रूप में रसास्वाद का जो विश्लेषण है उसमें भी 'चित्तविस्तृति' अथवा 'विस्मय' के अनुप्राणन का विश्लेषण किया जा सकता है। शृङ्गार-करण आदि में 'चित्तवृत्ति' और वीर-रौद्र आदि में 'चित्तदीप्ति' वस्तुतः 'चमत्कार' का ही स्वरूप है अथवा 'विस्मय' का ही स्वभावपरिस्पन्द है। सभी रसों के आस्वाद में 'विस्मय' के इस अनुप्राणन के ही कारण, कविपण्डित नारायण ने 'अद्भुत' रस को समस्त रसों में अनुप्रविष्ट, समस्त रसों में अन्तर्व्याप्त, समस्त रसों का अन्तर्नियामक और समस्त रसों का सार माना है। संभवतः कविपण्डित नारायण की ही इस मान्यता का प्रभाव आलङ्कारिक भानुदत्त पर पड़ा है जिससे उन्होंने अपनी 'रसतरङ्गिणी' (१ म) में, शृङ्गारादि रसों के आनन्दचमत्कार में, 'चित्तविस्तृति' अथवा 'विस्मय' को ही अग्ररूप से स्वीकार किया है—

‘शृङ्गारादौ चमत्कारदर्शनाद् यत्र मनोविस्तृतिरङ्गतया भासते तत्र शृङ्गारादयो रसाः । प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्भुत एव रसः ।’

विश्वनाथ कविराज ने यद्यपि स्पष्टतया यह नहीं कहा कि 'अद्भुत' ही सभी रसों का 'प्रकृति'भूत रस है किन्तु जिस उल्लास से उन्होंने अपने प्रपितामह द्वारा प्रतिपादित, समस्त रसों में 'चमत्कार' और 'अद्भुतानुप्राणन' के सिद्धान्त का उल्लेख किया है उसे देखते यह कहना असंगत नहीं कि विश्वनाथ कविराज भी इसी सिद्धान्त के समर्थक अथवा पक्षपाती हैं।

नाट्यशास्त्र के रससिद्धान्त के प्रवर्तन-काल से ही रसों के 'प्रकृतिविकृतिभाव' पर नाट्याचार्यों का विचार-विमर्श चलता आ रहा है। महाकवि लोग भी नव रसों में एकरसता की सूक्ष्म सूचना देते आ रहे हैं। महाकवि भवभूति ने आनन्दातिरेक के साथ 'करण' को ही कूटस्थ रस और अन्य रसों को 'करण' का 'विवर्त' माना है—

‘एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथग्विश्रयते विवर्तान् ।

आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-

नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम् ॥’ (ट० ग० . ३ . ४७)

इस सूक्ति की ‘वीरराघव’ रचित व्याख्या यह है—

‘एक इति । रस्यते स्वाद्यते इति रसः । काव्यानुशीलनाभ्यासयशविशदी-
भूतवर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यसामाजिकमनोमुकुरभाष्यमानतया निर्भरानन्द-
संविद्रूप । करुण इष्टजनवियोगजन्य दुःखातिशयः । एक एव सन्नपि निमित्त-
भेदाद्व्यञ्जकविभावादिविच्छित्तिविशेषात् भिन्नः विलक्षणः । पृथक्पृथग्विव-
र्तान् परस्परविलक्षणशृङ्गाराद्यात्मना परिणामान् । ‘व्यस्तपरिणाम’ स्याद्
विवर्त’ इति कपिल । श्रयते भजते * । इदमत्र कवेर्मतम्—यद्यपि शृङ्गार
एव एको रस इति शृङ्गारप्रकाशकारादिमतम् तथापि प्राचुर्याद्वाग्विरागिमाधा-
रण्यात् करुण एक एव रस , अन्ये तु तद्विकृतमयः । इति ।’

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि भवभूति के अनुसार शृङ्गारादि रस एक
करुण रस के ही ‘विवर्त’ हैं और उसी प्रकार ‘विवर्त’ हैं जिसे प्रकार बुद्बुद-तरङ्ग आदि
एक सलिलरूप तत्त्व के ‘विवर्त’ हुआ करते हैं ।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रकृतिभूत ‘रस’ शान्त हैं और शृङ्गारादि रस
शान्त के ही ‘विकृति’ रूप हैं । भरतनाट्यशास्त्र की ये पक्तियाँ भी इसी ओर निर्देश
करती हैं—

‘भावो विकारा रत्याद्या शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।

विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥’

(नाट्यशास्त्र ६ . ३३४-३३६, गायकवाट सस्करण, प्रथम)

इन धारणाओं के ही कारण आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कहा है—

‘तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः, विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या ।’

(अभिनवभारती . अध्याय ६)

किन्तु शृङ्गार-प्रकाशकार भोजराज ने ‘करुण’ और ‘शान्त’ को रस-‘प्रकृति’ न मानकर
शृङ्गार को ही रसों का प्रकृतिभूत एक रस माना है—

‘आभावनोदयमनन्यधिया जनेन

यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः ।

यो भावनापथ्यमतीत्य विवर्तमानः

साहङ्गकृतौ हृदि पर स्पन्दते रसोऽसौ ॥’

अर्थात् रति, हास आदि तो ‘भाव’रूप हैं जो सहृदय सामाजिक की भावना में भावित
हुआ करते हैं और जो ‘रस’ है वह इन भावों और इनकी भावनाओं से परे, उस
‘र’रूप शृङ्गार का आरवाद है जिसे एक कूटस्थ ‘रस’ग्रहण कहा जा सकता है ।

अग्निपुराण की ये पक्तियों भी इसी शृङ्गाररूप प्रकृतिभूत रस का निर्देश करती हैं—

‘अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभु ।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥
आनन्दस्सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिस्सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः ।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥
अभिमानाद्रतिस्सा च परिपोषमुपैयुषी ।
व्यभिचार्यादिसामान्यात् शृङ्गार इति गीयते ॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ।
स्वस्वस्थायिविशेषोत्थपरिपोषस्वलक्षणाः ॥’

(अग्निपुराण . अध्याय ३३९. १-६)

वस्तुतः विश्वनाथ कविराज के समय में इस रसविषयक ‘प्रकृतिविकृतिभाव’ का विचारविमर्श पर्याप्त रूप से प्रचलित दिखाई देता है । विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह ने करुण, शान्त और शृङ्गार की अपेक्षा ‘अद्भुत’ में ही चमत्कार-रहस्य का दर्शन किया था और उसी को रसास्वाद की कसौटी माना था जो कि क्या चित्त की दृष्टि और क्या चित्त की दीप्ति-दीनों में अन्तर्व्याप्त देखा जा सकता है ।

सम्भवतः ‘अद्भुतदर्पण’ के रचयिता कवि महादेव (१७ वीं शताब्दी) की यह सूक्ति कविपण्डित नारायण के ‘अद्भुत’-रहस्य का ही उन्मीलन करती प्रतीत होती है—

‘यत्सत्यमभितः स्तब्धैरिन्द्रियैरिन्द्रजालवत् ।

अद्भुतैकरसावृत्तिरन्तर्मीलयतीव माम् ॥’ (काव्यमाला ५५. ४८)

‘एकरसवाद’ की यह मर्यादा आचार्य अभिनवगुप्त की इस उक्तिसे सर्वथा प्रमाणित है—

‘ततश्च मुख्यभूतान्महारसात् स्फोटदृशीव असत्यानि वा, अन्विताभिधान-
दृशीव उभयात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयदृशीव तत्समुदायिरूपाणि वा
रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्टानि रूप्यन्ते ।’ (अभिनवभारती १ पृष्ठ २६९)

करुणादिषु च सुखमयत्वमेव

‘रस’ आह्लाद अथवा आनन्दरूप है । रसों में ‘करुण’ की गणना आदिकाव्य रामायण की रचना के बाद से ही होती आ रही है । रामायण को आदिकवि वाल्मीकि की करुणवेदिता का शब्दावतार माना जाता है । महाकवि कालिदास ने स्वयं कहा है—

‘निपादविद्धाण्डजदर्शनोत्थश्श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।’

(रघुवशः : १४. ७०)

अर्थात् कौशद्वन्द्व के वियोग के दुःखद दृश्य से उत्पन्न महर्षि वाल्मीकि का शोक ही

रामायण की कविता बन गया। महाकवि कालिदास की इस धारणा के गमान ही ध्वनिकार आनन्दवर्धन की भी धारणा रही है—

‘काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चाटिकवे’ पुरा।

कौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥’ (ध्वन्यालोक १. ५)

अर्थात् ‘रस’ ही सहृदय-हृदय-सवेद्य काव्य का गारतत्त्व है। महाकवि वाल्मीकि के रामायण-काव्य का जो ‘करुण’रूप परमार्थ है वही उसका ‘रस’ अथवा आह्लाद अथवा आनन्द है।

किन्तु तब भी ‘करुण’ की रसरूपता अथवा आह्लादमयता के गम्यन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रवर्तित हुई हैं। पहली तो वह है जिसे हम आनन्द-वर्धन की विचारधारा के रूप में ऊपर देख चुके हैं और दूसरी वह जिगमगी प्राचीन परम्परा इन उक्तियों में परिपुष्ट प्रतीत होती है—

(१) ‘सुखदुःखात्मको रसः’ (अर्थात् रसों में ‘करुण’ की गणना के देखते यह मानना आवश्यक है कि ‘रस’ केवल सुखात्मक नहीं अपितु दुःखात्मक भी है ।)

(नाट्यदर्पण - पृष्ठ १५८)

(२) ‘द्रवीभावस्य सत्त्वधर्मत्वात्, तं विना च स्थायिभावासम्भवात्, सत्त्वगुणस्य च सुखरूपत्वात्, सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोऽश-मिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम् । अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः ।’

(अर्थात् वैसे समस्त रत्यादि स्थायी भावों का आस्वाद सुखास्वाद है किन्तु शोक आदि कतिपय स्थायी भावों के आस्वाद में सुख का किञ्चिन्मात्र न्यूनत्व अवश्य मानना चाहिये) । (मधुसूदनसरस्वती भक्तिरसायन पृष्ठ २२)

विश्वनाथ कविराज आचार्य आनन्दवर्धन की भरीदा के मानने वाले हैं। साथ ही साथ दशरूपककार की यह ‘करुण’समीक्षा उनके लिये इस बात का प्रमाण है कि ‘करुण’ आह्लादमय है, दुःखात्मक नहीं—

‘ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदा-दानन्दोद्भव इति’ करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ (आनन्दः) प्रादु-ष्यात् ? तथा हि तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद्दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत्, किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगा-वस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः, तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्त्यः । यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्व-मेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत; ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहा-प्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत् । तस्माद्रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दा-त्ममेव ।’ (दशरूपक - ४र्थ प्रकाश)

अर्थात् वैसे तो लोगों ने 'शृङ्गारादि' को प्रमोदात्मक और 'करुण' को दुःखात्मक मान रखा है किन्तु वात वस्तुतः यह है कि 'करुण' भी शृङ्गारादि रसों की ही भाँति 'प्रमोदात्मक' अथवा आनन्दसार रस है। जिन लोगों ने 'करुण' में दुःखात्मकता मान ली है उन्होंने लौकिक 'करुण' से काव्य-नाट्य के 'करुण' का स्पष्टतया विवेक नहीं किया है। यदि काव्य-करुण आनन्दमय न होता तो आदिकाव्य रामायण के प्रति कौन सहृदय सामाजिक उन्मुख होता ? 'करुण' रस है और 'करुण' को लेकर रस की 'दुःखात्मकता' की मान्यता अनुचित है।

विश्वनाथ कविराज ने इसीलिये कहा है—

‘करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ॥

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।

किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ॥

न हि कश्चित् सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते । करुणादिषु च सकल-
स्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनान् सुखमयत्वमेव ।

अनुपपत्त्यन्तरमाह—

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ।

“ननु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ॥

शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ।

अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ॥

सुखं संजायते तेभ्यस्सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ।’

(साहित्यदर्पण : ३. ४-८)

तात्पर्य यह है कि जो काव्य-मर्मज्ञ 'करुण' को आनन्दात्मक नहीं मानते वे या तो 'करुण' के आनन्दचमत्काररूप अनुभव से वंचित हैं या 'करुण' के विभावादि में विभावनादि-व्यापार के बदले कारणत्वादि का ही व्यापार मान लेते हैं जो कि सर्वथा अनुचित है। लोक के 'शोक' से दुःख होना स्वाभाविक है किन्तु काव्य-नाट्य के 'शोक' से तो सुख का ही संवेदन संभव है जिसमें सहृदयों का हृदय साक्षी है और रामायण आदि महाकाव्य का आनन्द-चमत्कार प्रमाण है।

'करुण' की आह्लादात्मकता की इस परम्परागत प्रचल धारणा का प्रवाह 'रस-गङ्गाधर'कार की इस उक्ति में दिखाई दे रहा है—

‘नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदया-ह्लादहेतुत्वम् । प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवोचित्यात् । न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तं न कल्पितस्येति नायकानामेव दुःख, न सहृदयस्येति वाच्यम् । रज्जुसर्पादेर्मयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तेः । सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत् । सत्यम् । शृङ्गारप्रधानकाव्येभ्य इव

करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तरकाव्यव्यापाररयेवाह्लादप्रयोजकत्वमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम् । अथ यथाह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्ध तदा प्रतिबन्धकत्व न कल्पनीयम् । स्व स्वकारणवशाशोभयमपि भविष्यति । अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः ? अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्तेरुचितत्वादिति चेत् । उष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलोपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः । केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहः । अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात्, न तु दुःखान् । अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्दर्शनाकर्णनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते । न हि तत्र जात्यपि दुःखानुभवोऽस्ति । न च करुणरसादौ स्वात्मनि शोकादिमहशरथादितादात्म्यारोपे यथाह्लादस्तदा स्वप्नादौ सनिपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि न स्यात्, आनुभविकं च केवलं तत्र दुःखमितीहापि तदेव युक्तमिति वान्यम् । अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति । विलक्षणो हि कमनीयः काव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात् ।' (रसगङ्गाधर - १म आनन)

अर्थात् 'करुण' रस है—यह मान्यता ही 'लोक' और 'काव्य' के वैलक्षण्य का एक प्रबल प्रमाण है । लोक के 'दुःख्यन्तादि' के हृदय में, दृष्टजन के नाश के कारण उत्पन्न 'शोक' भले ही दुःखात्मक हो, जैसा कि हुआ ही करता है, किन्तु काव्य-नाट्य के 'दुःख्यन्तादि' के हृदय के जिस 'शोक' का अभिव्यञ्जन कवि करता है वह प्रमोदात्मक ही हो सकता है । काव्य-नाट्य की लोकोत्तर शक्ति की ही यह महिमा है कि लोक के दुःखात्मक शोकादिरूप पदार्थ भी काव्य-नाट्य में अवतीर्ण होकर आह्लादात्मक ही प्रतीत होने लगते हैं । भगवद्गुणकीर्तन से साधु-सन्तों की आँखों में आसू वह निकलते हैं किन्तु ये आसू दुःख के आसू नहीं अपि तु आनन्दातिरेक के आसू हुआ करते हैं । 'करुण'-काव्य के श्रवण अथवा 'करुण'-नाट्य के दर्शन से भी सहृदय सामाजिकों के हृदय और नेत्र आर्द्र हो जाते हैं किन्तु इनकी यह आर्द्रता दुःख के कारण नहीं अपि तु सुख के ही कारण हुआ करती है । 'करुण' रस है, आनन्दानुभवरूप काव्यार्थ है । जो करुण को रस अथवा आनन्द-चमत्कार न मान सके वह कला और काव्य के क्षेत्र में विचरण करने का अधिकारी नहीं । जो 'करुण' में दुःख मानता है उसे 'कविता' और 'कला' की कोई पहचान नहीं ।

शान्तः शमस्थायिभावः

विश्वनाथ, कविराज शान्तरस के समर्थक काव्याचार्यों में हैं । आचार्य मम्मट भी शान्तरस का समर्थन कर चुके हैं । किन्तु दोनों आचार्यों में शान्तरस के स्थायीभाव के सम्बन्ध में मतभेद है । आचार्य मम्मट के अनुसार शान्तरस का स्थायीभाव 'निर्वेद' है—
'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।' (काव्यप्रकाश ४र्थ उल्लास)

आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' को शान्त का स्थायीभाव इसलिये माना है क्योंकि नाट्याचार्य भरत ने अमङ्गलास्पद भी 'निर्वेद' शब्द से ३३ व्यभिचारिभावों की गणना प्रारम्भ की थी और ऐसा करने में उनका यही उद्देश्य था कि 'निर्वेद' स्थायीभाव के भी रूप में अभिव्यक्त हो सकता है और जिसे शान्तरस के रूप में नवम रस माना जाया करता है वह यही अभिव्यक्त स्थायीरूप 'निर्वेद' है।

आचार्य मम्मट की इस मान्यता का आधार अभिनवभारती की यह उक्ति है—

‘तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी । एतदर्थमेव उभयधर्मोपजीवित्व(स्थायित्वव्यभिचारित्वरूपधर्मोपजीवित्व)ख्यापनाय अमङ्गलभूतोऽप्यसौ पूर्वं निर्दिष्टः ।’

— (अभिनवभारती • पृष्ठ २६९-७०)

जिसे अभिनवभारती (पृष्ठ ३३४) की यह उक्ति और भी स्पष्ट कर रही है—

‘या चासौ तथाभूता (मोक्षरूपपरमपुरुषार्थोचिता) चित्तवृत्तिः सैवान्न (शान्तरसे) स्थायिभावः । एतच्च चिन्त्यम्—किन्नामाऽसौ ? तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित् । तथा हि दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः ततोऽन्य एव, हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात् । स्थायिसञ्चारिमध्ये च एतदर्थमेवायं पठितः, अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत् ।’

किन्तु विश्वनाथ कविराज ‘निर्वेद’ के स्थान पर ‘शम’ को ही शान्तरस का स्थायीभाव मानने के पक्षपाती हैं—

‘शान्तः शमस्थायिभावः उत्तमप्रकृतिर्मतः ॥’ (साहित्यदर्पण : ३य परिच्छेद)

विश्वनाथ कविराज के मामले ‘अभिनवभारती’ का वह उल्लेख प्रमाण है जिसमें कतिपय नाट्याचार्यों की मान्यता के अनुसार शान्तरस के स्थायीभाव के रूप में, ‘शम’ भी प्रतिपादित किया गया है—

‘शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम् । सिद्धसाध्यतया लौकिकालौकिकत्वेन साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव ।’ (अभिनवभारती पृष्ठ ३३६)

किन्तु उससे भी बढ़कर प्रमाण ‘दशरूपक’कार का यह ‘शान्त’-विमर्श है जिसमें ‘शम’ शान्त के स्थायी रूप से निरूपित किया गया है—

‘निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।’ (द० र० ४. ३६)

‘शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ।’ (द० र० ४. ४५)

यद्यपि विश्वनाथ कविराज ‘शान्तरस के सम्बन्ध में’ ‘दशरूपक’कार के इस मत का खण्डन करते हैं कि शान्त नाट्य का रस नहीं अपितु काव्य का ही ‘ययाकथञ्चित्’ रस हो सकता है किन्तु ‘निर्वेद’ के बदले ‘शम’ को शान्तरस का स्थायीभाव मानने में उन्होंने दशरूपककार का अनुसरण भी किया है।

अस्तु, यहाँ यह देखना है कि ‘शम’ और ‘निर्वेद’ में, शान्तरस के स्थायी—

भाव के रूप में कौन अधिक मान्य है। 'निर्वेद' का अभिप्राय, गाधारणतया, 'स्वावमानन' हुआ करता है। दशरूपककार ने इसीलिये कहा है—

‘तत्त्वज्ञानापदीष्यदिर्निर्वेदः स्वावमाननम्।

तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः॥’ (दशरूपक . ४ . ९)

विश्वनाथ कविराज भी 'दशरूपक'कार का ही अनुसरण करते हुए कहते हैं—

‘तत्त्वज्ञानापदीष्यदिर्निर्वेदः स्वावमाननम्।

दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासितादिकृत्॥’ (गा० द० . ३ . १८२)

और आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार भी 'निर्वेद' की उत्पत्ति में 'तत्त्वज्ञान' के अतिरिक्त दारिद्र्य आदि ही कारणरूप से रहा करते हैं—

‘तत्र निर्वेदो नाम दारिद्र्यव्याध्यवमानाधिज्ञेपाकुष्ठक्रोधताडनेष्टजनवियोग-
तत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।’ (अभिनव भारती . १ भाग, पृष्ठ ३५७)

किन्तु आचार्य मम्मट ने जिस 'निर्वेद' को शान्त का स्थायीभाव माना है वह 'स्वावमानन' नहीं हो सकता, क्योंकि उनके उद्धृत उदाहरण—

‘अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा द्यपदि वा

मणौ वा लोष्ट्रे वा वलवति रिपौ वा सुहृदि वा।

वृणे वा ह्येणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः

क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव ! शिवेति प्रलपतः॥’

(काव्यप्रकाश ४४ वं उल्लास)

में 'स्वावमानन' का कोई अभिप्राय प्रकट नहीं होता। यहाँ तो 'आत्मानात्मविवेक' से भी ऊँची भूमिका में स्थित तत्त्वज्ञानी की वह भावना अभिव्यक्त हो रही है जो सर्वत्र शिवाद्वैत का दर्शन कर रही है। यह शिवाद्वैत की भावना सर्वत्र 'समदर्शिता' का प्रतीक है। 'तत्त्वज्ञान' और 'समदर्शिता' में यहाँ उस एकरसता का अभिप्राय प्रकट हो रहा है जो कि श्रीमद्भगवद्गीता की इस सूक्ति से प्रमाणित है—

‘विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥’

‘इहैव तैर्जितस्सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता॥’

(श्रीमद्भगवद्गीता ५ . १८, १९)

जहाँ 'पण्डितत्व' का अभिप्राय 'आत्मयाथात्म्यवेदन' अथवा 'ज्ञान के द्वारा आत्मविषयक अज्ञान का नाश' है और 'समदर्शिता' का अभिप्राय 'एक अविक्रिय ब्रह्म का दर्शन' है जैसा कि श्रीभगवत्पाद शङ्कर का मत है अथवा 'प्रकृति के विषम आकारों से विलक्षण ज्ञानैकाकाररूप एक आत्मा का दर्शन' है जैसा कि श्री भगवद्रामानुजाचार्य का सिद्धान्त है और जहाँ 'आत्मसाम्य' में स्थिति का अभिप्राय ब्रह्म में स्थिति का अभिप्राय है जो कि ससारविजय के समान है।

अब, यदि यह निर्वेद-स्वावमानन-रूप नहीं, तब इसका क्या स्वरूप है ? वैसे आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' का लक्षण नहीं किया है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शान्तरस का स्थायी यह 'निर्वेद' दारिद्र्य-व्याधि-अवमान-अधिकेप-इष्टजनवियोग आदि-आदि कारणों से उत्पन्न 'निर्वेद' नहीं अपितु तत्त्वज्ञानसम्भूत ही 'निर्वेद' हो सकता है। किन्तु 'तत्त्वज्ञान' से होनेवाला 'निर्वेद' स्वावमानरूप नहीं हुआ करता। यह 'निर्वेद' अभावरूप नहीं अपितु एक भावरूप-पदार्थ है। समदर्शी पुरुष ब्रह्मभूत हुआ करते हैं। समदर्शिता ब्रह्मभाव है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है—

‘ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समस्सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥’

(श्रीमद्भगवद्गीता : १८.५४)

इस 'निर्वेद' का ही नामान्तर 'तृष्णाक्षयसुख' है जिसका उल्लेख आचार्य आनन्द-वर्धन ने किया है—

‘शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव ।
तथा चोक्तम्—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥’ (ध्व० लो० उद्योत ३)

इस 'निर्वेद' और 'तृष्णाक्षयसुख' का समीकरण आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में इस प्रकार है—

‘तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदस्तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषः रस्यमानताकृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः ।’ (ध्वन्यालोकलोचन - ३. २६)

इस प्रकार शान्त के स्थायी भाव के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का 'तृष्णाक्षयसुख' के प्रति पक्षपात और आचार्य मम्मट का 'निर्वेद' के प्रति पक्षपात—एक ही तत्त्व के प्रति पक्षपात है। 'तृष्णाक्षयसुख' के स्थान पर आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' का नाम इसलिये लिया है क्योंकि 'निर्वेद' नाट्यशास्त्र में परिगणित ४९ भावों में आता है किन्तु आचार्य मम्मट का निर्वेद 'न शोचति न कांक्षति' अथवा 'तृष्णाक्षयसुख' का ही अभिप्राय रखता है। ध्वनिकार ने 'निर्वेद' के अभिप्राय के प्रकाशनार्थ 'तृष्णाक्षयसुख' का उल्लेख किया है। जोकि सर्वथा युक्तियुक्त है, जैसा कि लोचनकार की उपर्युक्त धारणा से स्पष्ट है।

अब यह देखना है कि विश्वनाथ कविराज ने जिस 'शम' को शान्त का स्थायी माना है वह 'शम' क्या है ? विश्वनाथ कविराज के अनुसार 'शम' का अभिप्राय 'निरीहावस्थाया स्वात्मविश्रामज सुखम्' का अभिप्राय है न कि 'वैराग्य आदि के द्वारा निर्विकारचित्ता' का। यह 'शम' आत्मस्वभावरूप है, तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञानरूप है और निर्वेदरूप है जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है—

‘शम आत्मस्वभावः स शमशब्देन मुनिना व्यपदिष्टः । यदि तु स एव शमशब्देन व्यपदिश्यते, निर्वेदशब्देन वा, तन्न कश्चिद् बाधः ।’ ‘तद्विद-मात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञानं शमं’ तथा च यत्कालुष्योपरागविशेषा एवात्मनो रत्यादयः । ‘तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिक-चित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति ।’ ‘तत्त्वास्वादोऽयं कीदृशः ? उच्यते— उपरागदायिभिः’ उत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव विरलोम्भित-रन्तान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवद्भाभात्मस्वरूपं सकलेषु रत्यादिषु उपरज्ज-केषु तथाभावेनापि सकृद् विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमानं पराङ्मुख-तात्मकसकलदुःखजालहीनं परमानन्दलाभसविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्यां साधारणतया निर्भासमानं अन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दानयनं तथाविध-हृदयं विधत्ते इति । (अभिनवभारती)

यहाँ आचार्य अभिनवगुप्त ने ‘शम’ और ‘निर्वेद’ का भी समीकरण स्थापित किया है क्योंकि जैसे ‘शम’ आत्मस्वभाव है वैसे ही ‘निर्वेद’ भी आत्मस्वभाव-रूप ही है ।

श्रीमद्भगवद्गीता (२ ५२) की इस सूक्ति अर्थात्—

‘यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥’

की व्याख्या में श्री आचार्य आनन्दतीर्थ ने भी ‘निर्वेद’ का अभिप्राय ‘नितरं लाभ’ अथवा ‘निरतिशयलाभ’ ही लिया है । यह ‘निरतिशयलाभ’ आत्मारामता-रूप महालाभ है ।

इन उपर्युक्त विचारधाराओं के देखते ‘निर्वेद’ अथवा उसके समानार्थक ‘शम’ या ‘तृष्णाक्षयसुख’ या ‘आत्मज्ञान’ आदि को शान्तरस के स्थायी मानने में कोई तात्त्विक भेद नहीं अपितु अन्ततोगत्वा शब्द-भेद ही प्रतीत होता है ।

इस ‘शम’ के दृश्य’ अथवा ‘श्रव्य’ काव्य के बन्ध से अभिव्यञ्जन में कोई वैषम्य नहीं जैसा कि विश्वनाथ कविराज ने स्पष्ट कहा है—

‘युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः ।

रसतामेति तदस्मिन् सचार्यदेः स्थितिश्च न विरुद्धा ॥

यश्चास्मिन् सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः ।’

(साहित्यदर्पण . ३. २५०)

विशिष्टद्वैतदर्शन के आचार्य वेदान्तदेशिक भी यही मानते हैं कि ‘शम’ के अभि-नय अथवा वर्णन में कोई भेद नहीं और न कोई अनुपपत्ति ही है—

‘असंभ्यपरिपाटिकामधिकरोति शृङ्गारिता

परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम् ।

विरुद्धगतिरद्भुतस्तदलमल्पसारैः परैः

शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः ॥

न हि वयमवधूतनिखलधर्माणामलेपकानां मतमभिनेष्यामः ।०० सन्ति खलु भगवता गीताचार्येण सहस्रशः प्रतिपादिताः सात्त्विकेन त्यागेन परिकर्मिता निवृत्तिधर्मपद्धतिनियता विविधा व्यापाराः यदभिनयेन रगोपजीविनामाजीवावकाशः ।' (सङ्कल्पसूर्योदय १. १९)

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः

काव्यप्रकाशकार ने 'वत्सल' रस का स्वरूपनिर्देश डमलिये नहीं किया क्योंकि उनकी दृष्टि में पुत्रादिविषयक रतिभाव की अभिव्यक्ति रसध्वनि नहीं अपितु भावध्वनि है। साहित्यदर्पणकार ने केवल काव्यप्रकाशकार से नवीनता के प्रदर्शनार्थ 'वत्सल' रस का उल्लेख नहीं किया है अपितु अपने समय के सहृदयों की विचारधाराओं के अनुमोदन में 'वात्सल्य' की अभिव्यक्ति को 'वत्सल' रस माना है। नव रसों के अतिरिक्त 'वत्सल' को भी रस मानने की एक प्राचीन ही परम्परा है जिसका उल्लेख विश्वनाथकविराज ने स्वयं इस प्रकार किया है—

‘अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः,

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।

स्थायी वत्सलतास्नेहं पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥०००’

(साहित्यदर्पण . ३. २५१)

‘वत्सल’ रस मुनीन्द्रसम्मत रस है—यह बात नाट्यशास्त्र की इस उक्ति से ही प्रमाणित है—

‘तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः, वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः, करुण-वात्सल्य-भयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयति ।’

(नाट्यशास्त्र काव्यमालासंस्करण पृष्ठ १२७)

‘वत्सल’ रस का एक क्रमिक इतिहास भी है जिसे देखते वत्सल रस के प्रति विश्वनाथ कविराज का अभिनिवेश उचित ही लगता है। कतिपय प्राचीन काव्याचार्य रतिभाव में ‘साप्रयोगिक’ और ‘असाप्रयोगिक’ भेद मानकर, साप्रयोगिक रति की ‘अभिव्यक्ति’ में ‘शृङ्गार’ की भाँति, ‘असाप्रयोगिक’ रति की अभिव्यक्ति में ‘प्रेयान्’ को भी रसरूप में मान चुके हैं जिसका स्थायीभाव ‘स्नेह’ है। ‘स्नेह’रूप स्थायीभाव का अभिप्राय ‘सुहृत्प्रेम’ है। रामायण में राम और सुग्रीव का ‘स्नेह’ अथवा मुद्राराक्षस में राक्षस और चन्दनदास का ‘सुहृत्प्रेम’ साप्रयोगिक रति नहीं अपितु इसमें सर्वथा विलक्षण प्रेमभाव है जिसकी पूर्णाभिव्यक्ति को पृथक् ‘रस’ मानना आवश्यक है। इसी प्रकार ‘वत्सलता’ भी साप्रयोगिक रतिभाव से एक विलक्षण भाव है जिसकी अभिव्यक्ति ‘वात्सल्य’ रस के रूप में स्वाभाविक है। नृपविषयक अथवा गुरुविषयक रतिभाव को साप्रयोगिक रति कैसे माना जाय ! इसे ‘प्रीति’ कहना अधिक उपयुक्त है। इसी भाँति भगवद्विषयक रतिभाव को ‘भक्ति’ कहना उचित है।

रतिभाव के इन विलक्षण रूपों के अभिव्यजन में भिन्न भिन्न रंगों की मान्यता की आलोचना भी होती आयी है जैसा कि अभिनवभारती की उन पक्तियों से स्पष्ट है—

‘आर्द्रतास्थायिक. स्नेहो रस इति त्वसत् । स्नेहो एभिपन्नः । स च रत्युत्सा-
हादावेव पर्यवस्यति । तथा हि बालस्य माता-पित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः,
यूनोः मित्रजने रतौ, भ्रातरि धर्मवीर एव । एवं वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम् ।’

(अभिनवभारती १. ३८२)

जिसका तात्पर्य यह है कि वात्सल्य आदि को पृथक् रस न मानकर शृङ्गारादि में ही अन्तर्भूत मानना नाट्यशास्त्र की मर्यादा का अनुसरण है ।

‘काव्यानुशासन’कार आचार्य हेमचन्द्र का भी यही मत है—

‘स्नेहो भक्तिर्यात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषा । तुल्ययो. या परस्परं रतिः
स स्नेहः । अनुत्तमस्य उत्तमे रति. प्रसक्तिः सैव भक्तिपदवाच्या । उत्तमस्य
अनुत्तमे रतिः वात्सल्यम् । एवमादौ च विषये भावस्यैवास्याद्यत्वम् ।’

‘सगीतरत्नाकर’कार श्री शार्ङ्गदेव भी उपर्युक्त मत के ही समर्थक हैं—

‘भक्तिं स्नेहं तथा लौल्यं केचित् त्रीन् मन्यते रसान् ।

श्रद्धार्द्रताभिलाषांश्च स्थायिनस्तेषु ते विदुः ॥

तदसत्, रतिभेदौ हि भक्तिस्नेहौ नृगोचरौ ।

व्यभिचारित्वमनयोः, नृनार्यो. स्थायिनो तु तौ ॥’

किन्तु इन विचार-धाराओं के रहते हुए भी अनेक काव्यमर्मज्ञ ‘वात्सल्य’ आदि को पृथक् रसरूप में ही मानना उचित मानते हैं । इन काव्यमर्मज्ञों में विश्वनाथ कविराज ‘वात्सल्य’ रस को दशम रस मानने के पक्षपाती हैं । विश्वनाथ कविराज के अनुसार ‘वात्सल्य’ का स्थायी घत्सलतारूप स्नेह है । किन्तु ‘कारुण्य’ को ‘वात्सल्य’ का स्थायी मानने वाले भी लोग हैं । ‘मन्दारमरन्दचम्पू’ के रचयिता ने ‘कारुण्य’ को वात्सल्य का स्थायी कहा है—

‘अन्ये तु करुणास्थायी वात्सल्यं दशमोऽपि च ।’

(मन्दारमरन्दचम्पू पृष्ठ १००)

कवि कर्णपूर के अनुसार ‘वात्सल्य’ का स्थायी ‘ममकार’ है । चाहे ‘वात्सल्य’ के स्थायी के नामों में विवाद क्यों न हो किन्तु विश्वनाथ कविराज द्वारा प्रतिपादित ‘वात्सल्य’ रस दसवें रस के रूप में मान्य अवश्य है ।

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः

रसध्वनिवादी काव्याचार्य ‘रस’-‘भाव’ और ‘रसाभास’-‘भावाभास’ का विवेक आवश्यक मानते हैं । आनन्दवर्धनाचार्य ने ही इस ‘विवेक’ का निर्देश किया है—

‘अनौचित्यादृते नान्यत् रसमङ्गस्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥’ (ध्वन्यालोक)

अर्थात् ‘रसमङ्ग’ का एक ही कारण है और वह ‘अनौचित्यप्रवृत्ति’ है । औचित्य का

अनुसरण तो रसयोजना की सफलता का रहस्य है। किन्तु यह 'अनौचित्य' क्या है जो 'रसभङ्ग' का कारण है ? विश्वनाथ कविराज ने, जैसा कि प्राचीन आलङ्कारिकपरम्परा है, रसभाव के अनौचित्यप्रवृत्त होने से 'रसाभास' और 'भावाभास' की सिद्धि की है— 'अनौचित्यप्रवृत्तत्वाभासो रसभावयोः' (साहित्यदर्पण : ३. २६२) किन्तु साथ ही साथ यह भी कहा है कि रसनात्मकता की दृष्टि से रसाभास और भावाभास—सभी उपचारतः 'रस'रूप हैं 'रसभावौ तदभासौ भावस्य प्रशमोदयौ । सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥ रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः ।' (साहित्यदर्पण ३. २६०) किन्तु क्या इसका यह भी अभिप्राय है कि रसनधर्म के योग से, औचित्य और अनौचित्य-प्रवृत्त काव्यरचनायें 'रसात्मक वाक्य' में ही उपचारतः अन्तर्भूत हैं ? यहाँ सबसे पहले यह देखना है कि रसभङ्ग का कारण-भूत 'अनौचित्य' और 'रसाभास-भावाभास' का कारणभूत 'अनौचित्य' एक ही वस्तु है या भिन्न-भिन्न । विश्वनाथ कविराज ने 'रसाभास-भावाभास'सम्बद्ध 'अनौचित्य' का यह स्वरूप-परिष्कार किया है—

‘अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे त्वेकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम् । तच्च बालव्युत्पत्तये एकदेशतो दृश्यते—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वधमपात्रतिर्यगादिगते ।
शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ॥
शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये ।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे ॥
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र ।’

(साहित्यदर्पण ३ २६३-२६६)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'आभास' का अभिप्राय वही लिया गया है जिसे ध्वनिकार ने माना है । ध्वनिकार के अनुसार 'आभास' का अभिप्राय 'अनुकृति' अथवा 'अमुख्यता' का अभिप्राय है । शुक्ति में रजत के 'आभास' की भोंति हास्य में शृङ्गार का 'आभास' स्वाभाविक है । विभावाद्याभास से रत्याद्याभास की अभिव्यक्ति और उसकी चर्चणाभास में विश्रान्ति जहाँ भी हो, 'रसाभास' ही है ।

रसाभास-भावाभास का कारण यह अनौचित्य विभावादि के बदले विभावाभास आदि के उपनिबन्ध से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है । विश्वनाथ कविराज ने नायक-नायिकादि-निरूपण तथा रसों के वर्ण-दैवतादिनिरूपण का यही अभिप्राय लिया है कि इनके अनुसरण से काव्यरचना होने पर 'विभावाद्याभास' से बचा जा सकता है । यह 'अनौचित्य' रसभङ्ग का कारण नहीं अपितु 'रसाभास' का कारण है । 'रसभङ्ग' का कारण जो अनौचित्य है वह 'ध्वनिकार' के अनुसार अनुचित विभावादि की योजना

से ऐसी रसाभिव्यञ्जना में देखा जा सकता है जो 'ग्राम्य' की प्रतीति होती हो और ऐसी लगती हो जिममें कवि की 'अशक्ति' का पता चल जाय—

‘रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः । तथा हि अधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृते शृङ्गारोपनिवन्धे का भवेन्नोपहास्यता . . . तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतीभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतारामसम्भयम् । तथैवोत्तमदेवतादिविषयम् । यत्त्वेवंविधविषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव । न तु शक्तिरस्कृतत्वात् लक्ष्यत इत्युक्तमेव । . . तथा हि महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यशक्तिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम् ।’ (ध्वन्यालोक ३य उद्योत)

यहाँ यह स्पष्ट निर्देश है कि ‘रसाभास’ तो क्षम्य है किन्तु ‘रसभग्न’ नहीं । ‘रसाभास’ और ‘भावाभास’ में रसभग्न नहीं होता । रसभग्न वहाँ होता है जहाँ असम्भ्यता की प्रतीति होती है । और रस-प्रतीति में सहृदय-हृदय उद्भिन्न हो उठता है । रसाभास और भावाभास में ‘रसना’ हुआ करती है जिसमें यहाँ रसभग्न का प्रश्न नहीं उठता । रसाभासात्मक, भावाभासात्मक काव्य भी ‘रसात्मक वाक्य’ हैं, अरसात्मक नहीं । किन्तु जहाँ ‘रसभग्न’ हो वह काव्य नहीं अपितु काव्याभास हो जायगा । विश्वनाथ का यही मत है जैसाकि निम्नपक्षिओं से स्पष्ट है—

‘प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति । तेषां धीरोदात्तादिता । तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम् । तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः । यथा धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः । यथा वा कुमारसम्भवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगशृङ्गारवर्णनम् । ‘इदं पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितं’मित्याहुः । अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद् वर्णनम् । तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासम्भवः ।’ (साहित्यदर्पण . ७म परिच्छेद)

किन्तु यहाँ विश्वनाथ कविराज ने ‘कुमारसम्भव’ के पार्वतीपरमेश्वर-सम्भोग-वर्णन में ‘प्रकृतिविपर्यय’ का ही दर्शन किया है जिससे यहाँ रसभग्न की ही मान्यता सिद्ध होती है । किन्तु ध्वनिकार ने इस सम्भोगवर्णन को ‘अग्राम्य’ और ‘कविशक्तिरस्कृत’ कहा है क्योंकि यहाँ ‘रसभग्न’ नहीं होता और न ‘रसाभास’ ही सम्भव है ।

‘रसाभास’ के उदाहरणों में, जिन्हें विश्वनाथ कविराज ने उद्धृत किया है, यह स्पष्ट नहीं है कि ‘अनौचित्य’ पुरुषार्थचतुष्टय का विपर्यय है या और कुछ । जिस ‘अनौचित्य’ से पुरुषार्थचतुष्टय के प्रति सहृदय सामाजिक की भ्रान्त धारणा संभव है उसका कारण विश्वनाथ कविराज ने ‘प्रकृतिविपर्यय’ माना है जो कि रसभग्न और काव्य की ‘असत्यता’ में परिणत हो जाता है । इससे यह अनुमान सम्भव है कि

विश्वनाथ कविराज के अनुसार रसाभास-भावाभासविषयक 'अनौचित्य' 'असत्यत्व'-प्रतिपादक अनौचित्य नहीं अपितु 'अयोग्यत्व'-प्रतिपादक अनौचित्य है। 'असत्यत्व'-प्रतिपादक अनौचित्य का सवन्ध 'रसभग' से ही है न कि रस-भावाभासात्मक रचनाओं से।

काव्यं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्

विश्वनाथ कविराज ने अपने काव्य-लक्षण—वाक्य रसात्मक काव्यम्—की दृष्टि से 'चित्र'काव्य को काव्यभेद न मान कर 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को ही काव्य-भेद माना है। उनको दृष्टि में ध्वनिकाव्य का स्वरूप यह है—

‘वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्।

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनि-
र्नामोत्तम काव्यम्।’ (सा० द० : ४. १)

अर्थात् 'ध्वनि' वह काव्य है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यरूप अर्थ अतिशय चमत्कारजनक प्रतीत हुआ करता है। यह काव्य ही 'उत्तम' काव्य है।

यहाँ यदि 'ध्वनि' से 'रसादि' रूप व्यङ्ग्यार्थ का अभिप्राय लिया जाय, क्योंकि सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण अर्थ रसादिरूप ही व्यङ्ग्यार्थ हुआ करता है, तब तो, इसमें 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का सामान्य लक्षण अनुगत हो जाता है, किन्तु यदि इसका वही अभिप्राय लिया जाय जो कि काव्यप्रकाशकार की इस कारिका अर्थात्—

‘इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिः कथितः।’ (का० प्र० . १. ४)
का अभिप्राय है, तब यह स्पष्ट है कि यहाँ वस्तु और अलङ्कृतिरूप व्यङ्ग्यार्थ भी अभिप्रेत हैं जो कि वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक हुआ करते हैं। वस्तुतः विश्वनाथ कविराज भी ऐसा ही मानते हैं—

‘वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा।’ (सा० द० : ४. ७)

किन्तु तब यह मानना आवश्यक हो जाता है कि विश्वनाथ कविराज का यह काव्य-लक्षण तो 'रसध्वनि' काव्य का ही लक्षण है और ध्वनि अथवा उत्तम काव्य के भेद-प्रभेद के निरूपण में, उन्होंने 'न्यग्भावित-वाच्यव्यञ्जनक्षम शब्दार्थयुगल' (काव्य-प्रकाश १. ४) को काव्य का लक्षण मान कर काम चलाया है।

‘रसात्मक वाक्य काव्य है’—यह काव्यलक्षण गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य की दृष्टि से तो और भी अधिक अनुपयुक्त और अनुपपन्न लगता है। कारण यह है कि रस का सस्पर्श तो केवल अपराङ्ग अथवा इतराङ्ग नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के एक रूप के ही साथ दिस्वायी देता है और काष्ठाक्षिप्त, वाच्यसिद्धयन्त, सदिग्ध-प्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, अस्फुट, अगूढ आदि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य-भेद ऐसे हैं जिनमें रसरूप व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभाव का अभिप्राय घटित ही नहीं हो सकता।

ऐसा लगता है जैसे 'साहित्यदर्पण' के शरीरगस्थान में कुछ कमी रह गयी है। विश्वनाथ कविराज की यह कृति अलङ्कारशास्त्र में एक अपूर्व महत्त्व रगती यदि इसके उपक्रम और उपसहार में सामग्र्य रहता। किन्तु ऐसा नहीं हो पाया। 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' के उद्घोष के साथ साहित्यदर्पण प्रारम्भ हुआ, किन्तु कुछ ही दूर आगे चलने पर, इसका यह उद्घोष 'तददोषौ शब्दार्थौ मगुणावनलङ्कृती पुनः कापि' के रूप में परिणत हो गया।

'रसात्मक वाक्य' को 'काव्य' मानकर चलने से, काव्य के भेद-प्रभेदों में, दसों रगों के अभिव्यञ्जक दस प्रकार के 'वाक्य' और इनके समुचयरूप 'दस महामाव्य' का विचार-विमर्श ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यह काव्यालोचन-प्रक्रिया अपनायी जा सकती थी किन्तु इसके अपनाने, पर 'वस्तु-ध्वनि' और 'अलङ्कार-ध्वनि' का क्षेत्र अछूता रह जाता और जब तक इन्हें न अपनाया जाता, तब तक 'ध्वनि' काव्य का स्वरूप-निरूपण भी कैसे किया जाता? वस्तुतः यही सोचकर ध्वनिकार ने काव्य के सामान्य-लक्षण के रूप में 'ललितोचितसनिवेश विशिष्ट-शब्दार्थयुगल' का निरीक्षण किया है और विशेष-लक्षण के रूप में 'रसादिध्वन्यात्मक शब्दार्थयुगल' का दर्शन किया है। यही बात 'तददोषौ शब्दार्थौ मगुणावनलङ्कृती पुनः कापि' के रूप में काव्यलक्षण बनाने वाले आचार्य मम्मट की भी है। इस लक्षण के आधार पर काव्य-कृतिश्रों के तारतम्य का अनुशीलन और उसके आधार पर उनकी विभाग-व्यवस्था संगत बैठ जाती है।

अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्वोधे रसादीनाम्

विश्वनाथ कविराज ने, रसभावादिरूप परम काव्यार्थ के अवबोधन में जिस 'तुर्या' अथवा 'चतुर्थी' वृत्ति या शक्ति का निर्देश किया है वह वृत्ति या शक्ति क्या है? यहाँ यही कहा जा सकता है कि यह वृत्ति 'व्यञ्जना' वृत्ति है क्योंकि विश्वनाथ कविराज की इस उक्ति अर्थात्—

‘वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधा-तात्पर्य-लक्षणाख्यानाम्।

अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्वोधे रसादीनाम् ॥’ (सा० ६० ५. १)

का और कोई स्वारस्य क्या हो सकता है? रसादिवोध में 'अभिधा' व्यापार का प्रवेश असंभव है, क्योंकि रसादिरूप अर्थ सामयिक अथवा संकेतित जात्यादिरूप चतुर्विध अर्थों से सर्वथा विलक्षण प्रकार का ही हुआ करता है। यदि शब्द और रसादिरूप अर्थ में वाच्यवाचकभावसंबन्ध हो सकता तब तो रामायणादि महाकाव्यों में 'करुणरसोऽयम्' का उल्लेख अनिवार्यरूप से रहा करता। किन्तु रसादिरूप अर्थ ऐसा कहाँ कि 'करुण' आदि शब्दों के प्रयोग से प्रतीत हो जाय। 'अभिधा' की भाँति, अभिहिता-न्यवादी मीमांसकों अथवा उनके अनुयायी आलङ्कारिकों की मान्यता की 'तात्पर्यवृत्ति' भी रसादिरूप रम्य काव्यार्थ के अवबोध में असमर्थ ही दिखाई देती है। अभिहिता-न्यवादी लोगों की तात्पर्यवृत्ति केवल अन्वयबोध में ही अपनी सारी शक्ति समाप्त कर

देती है। रसादिरूप अर्थ और अन्वयबोध में क्या संबन्ध ! जिन्हें अन्वयबोध हो सकता है वे रसादिरूप अर्थ की पहचान नहीं रखा करते। 'लक्षणा' शक्ति के साथ भी रसादिरूप रम्य काव्यार्थों का कोई संबन्ध नहीं क्योंकि न तो रसादिरूप रम्य काव्यार्थ की प्रतीति में शब्दों के मुख्यार्थ-बाध की ही कोई सभावना हुआ करती है और न शब्दों के मुख्यार्थ और रसादिरूप रम्य अर्थों में सामीप्य, सादृश्य, वैपरीत्य आदि-आदि संबन्ध ही दिखायी दिया करते हैं। रसादिरूप अर्थों के प्रतिपादन में शब्द की न तो कोई रुढ़ि है और न प्रयोजन। रुढ़ि और प्रयोजन तो व्यावहारिक जीवन के शब्द-प्रयोगों के प्रयोजक हैं और रसादिरूप अर्थ कलात्मक जीवन की प्राप्ति है जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति से उत्तीर्ण आह्लाद अथवा आनन्द ही लक्ष्यरूप से प्रतीत होता है।

'शब्द' और 'रस' के संबन्ध में यह समस्या एक बहुत प्राचीन समस्या है। इस समस्या के समाधान में ही ध्वनिदर्शन का जन्म हुआ। विश्वनाथ कविराज एक ध्वनि-दार्शनिक काव्याचार्य हैं। उन्होंने ध्वनिकार की मान्यता के प्रमाण पर काव्यरूपशब्द और रसादिरूप अर्थों के संबन्ध का निर्धारण किया है। ध्वनिदर्शन की दृष्टि से काव्य और रसादिरूप अर्थों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप संबन्ध ही सर्वतोभद्र प्रतीत होता है। इसीलिये विश्वनाथ कविराज ने इस संबन्ध को न मानने वाले आचार्यों की तीव्र आलोचना भी की है जिनमें 'दशरूपककार' का उल्लेख स्पष्टतया किया हुआ है। दशरूपककार यह मानते हैं—

‘काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशय-सुखास्वाद-व्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः (स्थायिविभावाद्ययोः) प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदनुभूतिनिमित्तत्वञ्च विभावादिसंस्मृतस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादि-प्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संस्मृत्यो रत्यादि-वाक्यार्थः। तदेतत् काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।’

(दशरूपक . ४ ३७)

अर्थात् काव्यशब्दों का प्रयोजन एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति का उत्पादन है। यह प्रवृत्ति सहृदयहृदय का आह्लाद है जो कि विभावादि-संस्मृत रत्यादिरूप स्थायीभावों का कार्य है। काव्य-वाक्य के विग्लेषण में यही दिखायी दे सकता है कि विभावादि पदार्थरूप हैं और रत्यादिरूप स्थायीभाव, वाक्यार्थरूप। इस दृष्टि से काव्यवाक्य और रस अथवा आह्लाद में, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव नामक नये संबन्ध की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि यहाँ भाव्यभावक भावरूप संबन्ध ने ही कार्य चल जाता है जैसा कि नाट्यशास्त्र का सकेत है—

‘भावाभिनयसंबन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।

यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्त्वभिः॥’

विश्वनाथ कविराज ने इस उपर्युक्त मान्यता का युक्तिपूर्वक गण्टन किया है । उनका कहना यह है कि 'यदि रसादिवोध-विषयक वृत्ति को तात्पर्यवृत्ति कहा जाय, तब, यह तो कहा नहीं जा सकता कि यह 'तात्पर्यवृत्ति' अभिहितान्वयवादी मांसागकों की मान्यता की वृत्ति है, इसलिये अन्ततोगत्वा इसे या तो 'भावना' (गहनायक की भावकता) कहना पड़ेगा या 'व्यञ्जना' कहना पड़ेगा । ऐसी परिस्थिति में भावना-व्यञ्जना और रसादि-विषयक तात्पर्यवृत्ति एक ही वृत्ति के तीन नाम होंगे, जिनमें, व्यञ्जनावार को मोटे आपत्ति नहीं । यहाँ दूसरी बात यह भी है कि 'रसभावादि' रूप अर्थ प्रत्ययात्मक नहीं अपि तु ऐसे अर्थ हैं जिनके सम्बन्ध में 'प्रवृत्ति' की चर्चा ही असंगत है । रसभावादि रूप अर्थ यदि प्रवृत्त्यात्मक माने गये तो काव्य और शास्त्र का भेद ही मिट गया । रसभावादि को विलक्षण प्रवृत्ति भी मानना असम्भव है क्योंकि रसभावादि के 'आस्वाद' में 'प्रवृत्ति' भी विश्रान्त हो जाती है । रस अथवा आस्वाद तो ब्रह्मास्वादगतिध तत्त्व है जिसमें 'प्रवृत्ति' का प्रवेश ही असम्भव है ।

यह तुर्या अथवा चतुर्थी वृत्ति 'व्यञ्जना' वृत्ति ही है जिसे विशेषत रसानुभव की दृष्टि से 'रसना' भी कहा गया है । नाम के सम्बन्ध में विवाद का कोई महत्त्व नहीं । आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—

‘तस्मादभिधा-तात्पर्य-लक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽस्ती व्यापारो ध्वनन-चोतन-व्यञ्जन-प्रत्यायन-अवगमनादि-सोढरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः ।’

(ध्वन्यालोक १. ४)

और रसानुभव की दृष्टि से भी व्यञ्जना के विविध नामों का उल्लेख कर दिया है—

‘अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्त्तव्ये लोकोत्तरो ध्वनन-व्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः ।’

‘यथा प्रतीतिमात्रत्वेनावशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था, प्रतिमानकृता, योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरूपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु । सा च रसनारूपा प्रतीतिरूपयते । वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव ।’ (ध्वन्यालोकलोचन २५ उद्योत)

बोध की दृष्टि से जैसे व्यञ्जना और रसना एकरूप हैं वैसे ही व्यापार की दृष्टि से भी इनमें एकरूपता ही रहा करती है । ध्वनिवादी आलङ्कारिक 'चतुर्थी वृत्ति' की मान्यता को अनिवार्य मानते हैं न कि इस वृत्ति के 'नाम' पर उनका कोई वादविवाद अथवा आप्रह है । यह एक दूसरी बात है कि कुछ लोग वस्तुरूप और अलङ्काररूप प्रतीयमान अर्थों की भी प्रतिपत्तिके लिये, जिनमें रसभावादिरूप अर्थों की अपेक्षा चमत्कार की न्यूनता स्वभाविक है, इस चतुर्थी वृत्ति को व्यञ्जना कहें और रसभावादिरूप निरतिशय-सुखास्वादमय काव्यार्थ के लिये, इसे ही 'रसना' कहें—

‘सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।

रसव्यक्तौ पुनर्वृत्ति रसनाख्यां परे विदुः ॥’ (सा० द० ५. ५)

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः

‘दृश्य’ काव्य को ‘अभिनय’ काव्य कहा जाता है और ‘अभिनय’ काव्य को ‘रूपक’ । ‘दृश्य’, ‘अभिनय’ और ‘रूपक’ शब्दों में एक ही वस्तु के तीन दृष्टिकोणों से देखे जाने के अभिप्राय अन्तर्भूत हैं । ‘दृश्य’ शब्द से सामाजिक द्वारा नाट्यरूप वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष का अभिप्राय निकलता है, ‘अभिनय’ शब्द से यह पता चलता है कि नाट्यरूप वस्तु नट की कला के प्रदर्शन का विषय है और ‘रूपक’ शब्द से यह संकेत होता है कि नाट्यरूपवस्तु की सृष्टि तभी होती है जब कि कवि नट पर रामादि का अभेदारोप कर दे । चाहे नाट्यरूप वस्तु ‘दृश्य’ हो या ‘अभिनय’ हो या ‘रूपक’ हो या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखी गयी एक ही वस्तु हो, जो कि वह वस्तु है, इतना निश्चित है कि बिना ‘अभिनय’ के उसका अस्तित्व असंभव है । यह ‘अभिनय’ क्या है ? विश्वनाथ कविराज ने ‘अभिनय’ को ‘अवस्थानुकार’ कहा है—

‘भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः’ (सा० द० ६. २)

यह ‘अवस्थानुकार’ क्या है ? ‘अवस्थानुकार’ का अभिप्राय राम-युधिष्ठिर आदि के साथ नट की ‘तादात्म्यापत्ति’ है जिसका साधन अङ्ग, वाणी, वेश और सत्त्व का अभिनय-चतुष्टय है जो कि नट की कला है । अङ्ग-वाणी-वेश और सत्त्व के अभिनयचतुष्टय का नाम क्रमशः आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय है—

“ : . स चतुर्विधः ।

आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥’ (सा० द० : ६. २)

इनमें पहला अर्थात् ‘आङ्गिक’ अभिनय वह है जिसमें नट अपने सिर, हाथ, उर-स्थल, पार्श्व, कटि और पैर—इन ६ अङ्गों तथा नेत्र, ध्रुकुटि, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक—इन ६ उपाङ्गों द्वारा रामादि के साथ ‘तादात्म्य’ अथवा ‘अभेद’ का अनुसंधान किया करता है । नाट्यशास्त्रकार ने स्पष्ट कहा है—

‘अभिपूर्वस्तु जीवन्धातुरभिमुख्यार्थनिर्णये ।

यस्मात् पदार्थान्नयति तस्मादभिनयः स्मृतः ॥

विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः ।

शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः ॥’ (ना० शा० ८. ६, ७)

दूसरे अभिनय-प्रकार अर्थात् ‘वाचिक’ अभिनय का तात्पर्य ‘संगीतचूडामणि’ के अनुसार यह है—

‘रामानुपङ्गि यद् वाक्य नाट्ये तद् वाचिक स्मृतम् ।’

अर्थात् वाचिकाभिनय वह अभिनय है जिसमें नट, रसोचित राग-लय आदि से समन्वित, ‘वाणी’ द्वारा, रामादि के साथ, तादात्म्यारोप से, सहृदय-हृदय में विभावादि की अभिव्यञ्जना किया करता है ।

तीसरा अभिनय-प्रकार ‘आहार्याभिनय’ है जिसका साधारण लक्षण यह है—

‘आहार्याभिनयो नाट्योचितालङ्कारधारणम् ।’

अर्थात् आहार्याभिनय वह अभिनय है जिसमें नट, वेशभूषा के द्वारा, रामादि के साथ, अपने तादात्म्यारोप को सामाजिकों पर अभिव्यक्त किया करता है ।

चौथा अभिनय-प्रकार 'सात्त्विक' अभिनय है। नाट्याचार्य भरत ने 'सत्त्व' को इस प्रकार समझाया है—

‘किमन्ये भावाः सत्त्वेन नाभिधीयन्ते येनैते सात्त्विका उच्यन्ते ? अत्रोच्यते—इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते । मनःसमाधानाच्च सद्यो निर्वृतिरिति । तस्य योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्चादिकृतः स न शक्यतेऽन्यमनसा कर्तुमिति । लोकस्वभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम् । को दृष्टान्तः ? इह हि नाट्यधर्मप्रवृत्ताः सुखदुःखकृतो भावास्तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्या यथा सरूपा भवन्ति । दुःखं नाम रोदनात्मकम् तत्कथमदुःखितेन, सुखं च प्रहर्षात्मकं तत् कथं दुःखितेनाभिनेयम् । एतदेवास्य सत्त्वं यद् दुःखितेन सुखितेन वाऽश्वुरोमाञ्चौ दर्शयितव्याविति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्या ।’

जिसके देखते 'सात्त्विक' अभिनय में 'स्तम्भ', 'स्वेद' आदि के प्रदर्शन द्वारा, नट में, रामादि के तादात्म्यारोप की सपन्नता का अभिप्राय लिया जाया करता है।

विश्वनाथ कविराज ने इस 'अभिनय'-चतुष्टय का सकेतमात्र किया है क्योंकि उनका उद्देश्य केवल इतना बताना है कि 'अभिनय' रूपक अथवा दृश्यकाव्य के विभावादि के 'अभिनयन' अथवा 'अभिव्यञ्जन' में समर्थ अभिनेता अथवा नट की कला है।

सर्गबन्धो महाकाव्यम्

आचार्य दण्डी ने भी 'महाकाव्य' की परिभाषा की है। उनके अनुसार महाकाव्य का स्वरूप यह है—

‘सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलोपेत चतुरोदात्तनायकम् ॥
नगरार्णवशैलर्त्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंजिभिः ॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तरूपैतं लोकरञ्जकम् ।
काव्य कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति ॥’

(काव्यादर्श १ १४-१९)

अलङ्कार-चाद के आचार्य दण्डी के लिये, 'महाकाव्य' के लक्षणों में, उन सभी विशेषताओं का निर्देश कर देना स्वाभाविक है जो कि 'रघुवश' आदि सर्गबन्धात्मक

रचनाओं की विशेषतायें हैं। किन्तु रसध्वनिवादी कविराज विश्वनाथ ने, अपने महाकाव्य-लक्षण में, उन बातों का भी निर्देश कर दिया है जो कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से ही महाकाव्य में देखी जा सकती हैं। 'रसध्वनि'वाद की दृष्टि से ही, विश्वनाथ कविराज ने, महाकाव्य के लिये, शृङ्गार, वीर और शान्त में से किसी एक को अङ्गी और दूसरे रसों को अङ्गरूप से निर्दिष्ट किया है—

‘शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।

अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः.....।’ (सा० द० • ६. ३१७)

विश्वनाथ कविराज का 'महाकाव्य'लक्षण कई बातों में सर्वमान्य हो चुका है। केवल कुछ थोड़ी सी बातें रह गयी हैं जिनका निर्देश संभवतः इसलिये नहीं किया जा सका, क्योंकि प्राचीन अलङ्कारशास्त्र का प्रभाव रसध्वनिवादी आलङ्कारिकों पर भी प्रायः जमा ही रहा। ये थोड़ी सी बातें वे हैं जिन्हें ध्वनिकार आनन्दवर्धन की इन उक्तिओं में देखा जा सकता है—

‘संधिसंध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।

न तु केवलया शास्त्र-स्थितिसंपादनेच्छया ॥

अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।

प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥’

(ध्वन्यालोक • ३. १२, १४)

अर्थात् इष्ट अथवा श्रव्य काव्य में संधि-संध्यङ्ग-घटना का अभिप्राय शास्त्राज्ञा का पालन नहीं लेना चाहिये। संधि-संध्यङ्ग-घटना का प्रयोजन तो रसभाव की अभिव्यञ्जना है। इस दृष्टि से उतनी ही संधिओं और उतने ही सध्यङ्गों की योजना अपेक्षित है जिससे रसभाव की अभिव्यक्ति में सहायता मिले। इसके अतिरिक्त अलङ्कृति-योजना में भी रसाभिव्यञ्जन की ही अपेक्षा नियामक रूप से रहनी चाहिये।

इस कमी के रहने पर भी, विश्वनाथ कविराज का महाकाव्य-लक्षण, ऐसे महाकाव्य-लक्षण से कई गुना उत्तम और उपादेय है जिसे इन पंक्तिओं में देखा जा सकता है—

‘नगरार्णव-शैलर्तु-चन्द्रार्कोदय-वर्णनम् ।

उद्यान-सलिल-क्रीडा-मधुपान-रतोत्सवाः ॥

विप्रलम्भो विवाहश्च कुमारोदयवर्णनम् ।

मन्त्रद्युतप्रयाणानि नायकाभ्युदया अपि ॥

एतानि यत्र वर्ण्यन्ते तन्महाकाव्यमुच्यते ।’

(विद्याधर • प्रतापकवीय • काव्यप्रकरण)

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यम्

विश्वनाथ कविराज ने 'गद्य' को 'वृत्तगन्धोज्झित' रचना कहा है। ध्वनिकार भी 'गद्य' को 'छन्दोनियमवर्जित' रचना कह चुके हैं। गद्य को 'अपाद-पदसंतान' कहने का भी अभिप्राय यही है कि गद्य कविओं का वह प्रबन्ध-प्रस्थान है जो 'वृत्त' अथवा

‘छन्दोबन्ध’ से भिन्न प्रकार का हुआ करता है। किन्तु इतने से ही ‘गद्यकाव्य’ का स्वरूप-निरूपण संभव नहीं। ‘गद्यकाव्य’ के स्वरूप-निरूपण के लिये तो ध्वनिकार की इस मान्यता का निर्देश करना आवश्यक था—

‘रसबन्धोक्तमौचित्य भाति सर्वत्र संश्रिता ।

रचना विषयापेक्ष तत्तु किञ्चिद्विभेदवत् ॥

‘अथवा पद्यवद्गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भवति । तत्तु विषयापेक्षं किञ्चिद् विशेषवद् भवति, न तु सर्वाकारम् । तथा हि गद्यबन्धेऽप्यतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोरार्यायिकायामपि शोभते । ‘विषयापेक्षे त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च । तथा ह्याख्यायिकाया नात्यन्तमसमासा ।’ (ध्वन्यालोक ३. ९)

जिसका अभिप्राय यह है कि ‘गद्य’ और ‘पद्य’ तो काव्य के माध्यम हैं। गद्यकाव्य में भी रसबन्ध-विषयक उसी औचित्य का अनुसरण आवश्यक है जो कि पद्यकाव्य के लिये अपेक्षित है। यहाँ भी एक रस की श्रुतिरूप में अभिव्यक्ति और उसके उपरुकारक रसों की योजना का वही स्थान और महत्त्व है जो कि पद्यकाव्य में रहा करता है। गद्यकाव्य के विषयों अर्थात् कथा-व्याख्यान-व्याख्यायिका आदि-आदि भेदों की दृष्टि से कुछ थोड़ा रचना-परिवर्तन यदि हो भी तो भी कोई आपत्ति नहीं।

‘गद्य’ के चार भेद, जिन्हें मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक कहा गया है, गद्यकाव्य के भेद नहीं अपितु गद्यबन्ध के भेद हैं। ध्वनिकार ने तो ‘दीर्घ-समासा’, ‘अल्पसमासा’ और ‘असमासा’ रचना को ही गद्य के भेदरूप से निर्दिष्ट किया था, किन्तु बाद की गद्यकाव्यात्मक प्रवृत्तियों के देखते, ‘वृत्तगन्धि’ बन्ध भी गद्य के एक प्रकाररूप में मान लिया गया जिसका विश्वनाथ कविराज ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

‘ गद्य मुक्तकं वृत्तगन्धि च ।

भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ॥ (सा० द० ६. ३३०)

रसापकर्षका दोषाः

विश्वनाथ कविराज का दोष-स्वरूप-निरूपण उनके काव्य-स्वरूप-निरूपण से संगत हो जाता है ‘रसात्मक वाक्य’ काव्य है और जिसे उसका ‘दोष’ कहते हैं वह रसरूप आत्मतत्त्व के अपकर्ष का हेतु है। किन्तु इस दृष्टि से तो उन्हीं दोषों का निरूपण किया जा सकता है जो रसापकर्षक दोष हैं। रसापकर्षक दोषों में विशेषतया इन्हीं की गणना है—

‘रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि ।

परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ॥

आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ।

अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ॥

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ।
 अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ॥
 अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ॥'

(साहित्यदर्पण : ७ १२-१५)

ऐसी परिस्थिति में, पद, पदाश, वाक्य और अर्थ-दोषों का विवेक, जिसे साहित्यदर्पणकार ने किया है, किस प्रकार समझस हो सकता है ? क्या यहाँ आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा का प्रभाव नहीं दिखायी देता ? किन्तु यहाँ यह बात भी है कि जब पद, पदाश, वाक्य और अर्थके दोषों से 'वाक्य' दूषित हो जाय तब 'रस' रूप आत्मतत्त्व के समीचीन अभिव्यञ्जन में भी तो कमी आ ही जायगी । इसलिये पञ्चविध दोषतत्त्व के निरूपण में कोई अनुपपत्ति नहीं । इन दोषों में, कुछ इसलिये 'रसविधातक' हैं क्योंकि उनके द्वारा 'रसादि की प्रतीति' में रुकावट पड़ जाती है, कुछ इसलिये वर्जनीय हैं क्योंकि वे 'रसादि-प्रकर्ष' की प्रतीति में बाधक हैं और कुछ इसलिये रसापकर्षक हैं क्योंकि वे 'रसादि-प्रतीति' में विलम्ब लगा दिया करते हैं ।

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता

विश्वनाथ कविराज ने 'कविसमय' का भी निरूपण किया है । 'कविसमय' का विशद विचार सर्वप्रथम कविराज राजशेखर का किया हुआ है । राजशेखर ने 'कविसमय' का अभिप्राय यह बताया है—

'अशास्त्रीयमलौकिकञ्च परम्परायातं यमर्थमुपनिबन्धन्ति कवयः स कवि-समयः । 'नन्वेप दोषः कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः' ? इत्याचार्याः । 'कवि-मार्गानुग्राही कथमेप दोषः' इति यायावरीयः । 'निमित्तं तर्हि वाच्यम् ?' इति आचार्याः । 'इदमभिधीयत' इति यायावरीयः । पूर्वं हि विद्वांस सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुद्ध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेनान्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः । कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च । तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थितः कवि-समयेनार्थः, कश्चित् परम्परोपक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्तैः प्रवर्तितः । स च त्रिधा स्वर्ग्यो भौमः पातालीयश्च । स्वर्ग्यपातालीययोः भौमः प्रधानः । स हि महा-विषयकः । स च चतुर्धा जाति-द्रव्य-गुण-क्रियारूपार्थतया । तेऽपि प्रत्येकं त्रिधा—असतो निबन्धनात्, सतोऽप्यनिबन्धनात्, नियमतश्च ।'

(काव्यमीमांसा १४वाँ अध्याय)

इससे यह स्पष्ट है कि राजशेखर के पहले 'कविसमय' की मीमांसा समीचीन नहीं हो पायी थी । 'कविसमय' को 'कविपरम्परा' कह सकते हैं । कवि-परम्परा लोक और शास्त्र के अनुसार भी हो सकती है और विरुद्ध भी । लोक अथवा शास्त्र के अनुसार चलने वाली कवि-परम्परा 'कविसमय' में नहीं आती । 'कविसमय' के भीतर अलौकिक

सामाजिक के हृदय में 'द्रुति' उत्पन्न होती है अर्थात् सहृदय सामाजिक का चित्त एक अलौकिक आनन्द से पिघल सा पड़ता है—

‘आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥

(काव्यप्रकाश • ८म उल्लास)

यही ‘माधुर्य’-स्वरूप ध्वनिकार को भी अभीष्ट है । वैसे ध्वनिकार की दृष्टि में इसके उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अनुभव का क्रम बदला हुआ है—

‘शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।

माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिक मन’ ॥’ (ध्वन्या० २८)

विश्वनाथ कविराज के मत में ‘आह्लाद’ और ‘चित्त का द्रव्यभाव’ एक ही वस्तु है न कि भिन्न-भिन्न, जिससे इनमें कार्यकारणभाव की कल्पना, जिसे ध्वनिकार और काव्य-प्रकाशकार ने की है, असंगत मानी जानी चाहिये । विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में माधुर्य को अनुभूति का प्रकर्ष-तारतम्य भी भिन्न है क्योंकि उनके अनुसार सभोगशृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्तरस के आह्लाद में ‘माधुर्य’ अथवा ‘चित्तद्रुति’ का उत्तरोत्तर उत्कर्ष-क्रम अधिक उचित है—

‘चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

सभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिक क्रमात् ॥’ (सा० द० ८.२)

यही बात ‘ओज’ के स्वरूप के सबन्ध में भी दिखायी देती है । आचार्य आनन्दवर्धन और काव्यप्रकाशकार के अनुसार ‘ओज’ का तात्पर्य ‘दीप्ति’ है जिसे वीरादि रसों के अनुभव में अनुभव किया जाया करता है और जिसके द्वारा सहृदय सामाजिक अपने ‘चित्त-विस्तार’ का अनुभव किया करता है—

‘दीप्त्याऽऽत्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।’ (काव्यप्रकाश • ८म उल्लास)
किन्तु विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में ‘चित्तविस्तार’ ही ओज है और ‘दीप्ति’ और ‘चित्तविस्तार’ में कार्यकारणभाव-सबन्ध की मान्यता असंगत है—

‘ओजश्चित्तस्य विस्ताररूप दीप्तत्वमुच्यते ।

वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥’ (सा० द० ८.४)

‘ओज’ के उत्तरोत्तर अनुभव-प्रकर्ष के सबन्ध में भी ध्वनिकार और काव्यप्रकाशकार तथा साहित्यदर्पणकार में मतभेद है । ध्वनिकार के अनुसार रौद्ररस ओजस्वी है किन्तु उसकी अपेक्षा वीर अधिक ओजस्वी है, काव्यप्रकाशकार ने वीर को ओजस्वी और उसकी अपेक्षा बीभत्स और रौद्र को अधिक ओजस्वी माना है । विश्वनाथ काव्यप्रकाश की इस मान्यता से सहमत हैं ।

‘प्रसाद’ गुण के स्वरूप-दर्शन में साहित्यदर्पणकार और काव्यप्रकाशकार में मत नहीं दिखायी देता । काव्यप्रकाशकार के अनुसार ‘प्रसाद’ का स्वरूप यह है—

‘शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः ।

व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥’ (का० प्र० उल्लास८)

और साहित्यदर्पणकार के अनुसार यह—

‘चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥’ (सा० द० ८ ७, ८)

तात्पर्य यह है कि दोनों काव्याचार्यों के मत में ‘प्रसाद’ एक समस्तरससाधारण ‘धर्म’ है जिससे कि उन-उन रसों के आस्वाद में सहृदय सामाजिक का हृदय प्रसन्न तथा निर्मल अथवा तन्मय बना रहा करता है।

अन्त में निष्कर्ष यह निकलना है कि रसध्वनिवाद के अनुसार माधुर्य और ओजस्व गुणद्वय का रहस्य शृङ्गार और वीर आदि रसों की चर्वणा के द्वारा उत्पन्न सहृदय सामाजिक की ‘चित्तद्रुति’ और ‘चित्तदीप्ति’ का रहस्य है और ‘प्रसाद’ सभी रसों में सहृदय सामाजिक के हृदय के ‘विकास’ अथवा ‘तन्मयीभवन’ से संबद्ध है जिसके बिना न तो ‘द्रुति’ संभव है और न ‘दीप्ति’।

यहाँ पण्डितराज जगन्नाथ ने कुछ और ही मर्म प्रकाशित किया है। उनका कहना यह है कि जब कि मधुर और ओजस्वी ‘शृङ्गार’ और ‘वीर’ ही ‘चित्तद्रुति’ और ‘चित्तदीप्ति’ के कारणरूप से दिखायी देते हैं तब ‘द्रुति’ और ‘दीप्ति’ के कारणरूप से ‘माधुर्य’ और ‘ओज’ की मान्यता अनावश्यक मानी जानी चाहिये (प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्—रसगङ्गाधर . १म आनन)। साथ ही साथ ‘माधुर्य’ को ‘द्रुति’ और ‘ओज’ को ‘दीप्ति’ का कारण मानना भी ठीक नहीं क्योंकि मधुरतरता को द्रुततरता और मधुरतमता को द्रुततमता तथा ओजस्वितरता को दीप्ततरता और ओजस्वितमता को दीप्ततमता का भी पृथक् रूप से कारण मानना पड़ जाता है जिसमें ‘गौरव’ स्पष्ट है। शृङ्गार को मधुर और वीर को ओजस्वी मानने का अर्थ शृङ्गार के अनुभव में चित्त की द्रुति और वीर के अनुभव में चित्त की दीप्ति का अनुभव है। अन्ततोगत्वा शब्द और अर्थ में भी द्रुति और दीप्ति की मान्यता औपचारिक नहीं अपि तु वारतविक ही मानी जानी चाहिये। जब-तक शब्द और अर्थ में द्रुति और दीप्ति की प्रयोजकता न मानी जाय तब तक शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यञ्ज्य रस में द्रुति और दीप्ति की प्रयोजकता कैसे मानी जा सकती है।

पदसंघटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्

विश्वनाथ कविराज के अनुसार ध्वनिवाद में ‘रीतितत्त्व’ का भी निरूपण आवश्यक है। ‘रीति’ का अभिप्राय माधुर्यादि गुण के अभिव्यञ्जक पदविन्यास का अभिप्राय है। माधुर्यादि गुण का अभिव्यञ्जन करनेवाली पदरचना इसलिये ‘रीति’ है क्योंकि इसी पदरचना से माधुर्य आदि का स्वरूप-विशेष जाना जाया करता है। रीतितत्त्व के सम्बन्ध में महाकवि राजशेखर ने इसीलिये कहा है—

‘सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति चाङ्मधु ॥’

अर्थात् ‘रीति’ हो वह काव्य-तत्त्व है जिसमें रस-प्रवाह का सामर्थ्य रहा करता है । शब्द और अर्थ रसात्मक वाक्यरूप काव्य के ‘आङ्ग’रूप हैं और शब्दार्थ सघटना अथवा रीति काव्य का शरीरसंस्थान है जिसमें ‘रस’रूप आत्मतत्त्व का स्फुरण सम्भव है । काव्य-प्रकाशकार ने ‘वैदर्भी’ का नामोल्लेख तो नहीं किया किन्तु ‘माधुर्य’ के अभिव्यञ्जन के साधनरूप से असमासा अथवा अल्पसमासा मधुर ‘घटना’ को अवश्य माना है—

‘मूर्ध्नि वर्गान्त्यगा. स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्यं घटना तथा ॥’ (का० प्र० उक्ताव ८)

विश्वनाथ कविराज ने इसी ‘घटना’ को ‘वैदर्भी’रीति के नाम से स्पष्ट निर्दिष्ट किया है—

‘माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥’ (सा० ६० : ९. २)

इसी प्रकार जिस ‘घटना’ को काव्यप्रकाशकार ने श्रोजस्यता का अभिव्यञ्जक माना है—

‘योग आद्यवृत्तीयाभ्यामन्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शपौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत धोजसि ॥’ (का० प्र० उक्ताव ८)

वही साहित्यदर्पणकार के मत में ‘गौड़ी’ रीति है—

‘ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्वन्ध आङ्म्वरः पुनः ।
समासबहुला गौड़ी..... ॥’ (सा० ६० : ९. ३)

काव्यप्रकाशकार के अनुसार प्रसाद गुण का अभिव्यञ्जन करनेवाली ‘घटना’ कोई अलग घटना नहीं क्योंकि ‘प्रसाद’ गुण समस्त प्रकार की सघटना का गुण है । विश्वनाथ कविराज भी यही मानते हैं—

‘स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधका श्रुतिमात्रतः ॥’ (सा० ६० : ८. ८)

किर ‘पाञ्चाली’ और ‘लाटी’ रीतिश्रों की मान्यता का क्या आधार है ? इनमें प्रसाद गुण का अभिव्यञ्जन-सामर्थ्य तो माना नहीं जा सकता क्योंकि प्रसाद तो सर्वसघटना-साधारण गुण है । इसीलिये विश्वनाथ कविराज ने ‘पाञ्चाली’ रीति को वैदर्भी और गौड़ी का सम्मिश्रण और ‘लाटी’ रीति को वैदर्भी और पाञ्चाली का सम्मिश्रण माना है । यहाँ यह स्पष्ट है कि यह रीति-निरूपण रीतिवादी आचार्यों के रीति-निरूपण का अनुसरण कर रहा है क्योंकि ‘पाञ्चाली’ और ‘लाटी’ को किसी रसविशेष का अभिव्यञ्जन करनेवाली ‘पदसघटना’ नहीं माना गया । रसध्वनिवाद और रीतिवाद के समन्वय की इन कठिनाइयों के ही कारण काव्यप्रकाशकार ने रसाभिव्यञ्जक तत्त्व के रूप में ‘रीति’ का विवेचन नहीं किया । विश्वनाथ कविराज ने आधा समन्वय किया और आधा वे न कर सके । अब तक कोई रसध्वनिवादी आलङ्कारिक यह न कहे कि पाञ्चाली रीति शृङ्गारादि

मधुररस और वीरादि दीप्त रसों के 'संकर' का अभिव्यञ्जन-साधन है तब तक 'पाश्वाली' रीति और 'रस' का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो जाय । कोई भी रसध्वनि-वादी काव्याचार्य शृङ्गार और वीर का साङ्ख्य नहीं मान सकता और इसलिये रसध्वनिवाद में पाश्वाली की मान्यता भी निरर्थक सिद्ध हो जाती है । लाटी रीति में तो रसाभिव्यञ्जन की चर्चा और भी असम्भव है क्योंकि यह रीति वैदर्भी, गौड़ी और पाश्वाली का सम्मिश्रण है । जब तक मधुर और दीप्त और मधुर-दीप्त रसों का एकत्र सम्मिश्रण असम्भव है तब तक 'लाटी' रीति की कल्पना रसध्वनिवाद के सर्वथा विपरीत ही मानी जायगी ।

यहाँ स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज रसवाद और रीतिवाद का समन्वय करने चले हैं किन्तु उनके लिये यह कार्य अशक्य हो गया है । विश्वनाथ कविराज का यह 'रस-रीति'समन्वय-प्रयास रसगङ्गाधरकार की इस कल्पना को जन्म देता है कि 'रचना-विशेष को रसाभिव्यञ्जक मानना एक गौरव है और अप्रामाणिक भी है ('वर्णरचना-विशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्माना-भावाच्च' रसगङ्गाधर : १म आनन) ।

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्काराः.....

अलङ्कारवाद के अनुसार काव्य में अलङ्कारतत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक है । आचार्य भामह ने स्पष्ट कहा है—

‘न कान्तमपि निर्भूयं विभाति वनिताननम् ।’ (काव्यालङ्कार : १. १३)

अर्थात् जैसे किसी रमणी का सुन्दर भी मुख विना अलङ्कार के मनोरम नहीं प्रतीत होता वैसे ही सुन्दर भी कविता विना अलङ्कार के मनोहर नहीं लगती । किन्तु रीतिवादी आचार्य वामन ने इसमें कुछ परिवर्तन किया है—

‘युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदत्ते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।

विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥

यदि भवति वचश्च्युत गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।

अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥’

(काव्यालङ्कार : ३. १. २)

अर्थात् जैसे लावण्य आदि गुणों से विशिष्ट रमणी का रूप कटक-कुण्डल आदि अलङ्कारों की सुन्दर योजना से और भी चमक उठता है वैसे ही माधुर्य आदि गुणों से युक्त कविता का स्वरूप अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कारों की समुचित योजना से और भी मनोरम बन जाता है । कविता के माधुर्य आदि गुण तो रमणी के लावण्य आदि गुणों की भाँति हैं जिनके अभाव में अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कार वैसे ही निःशक्ति प्रतीत होते हैं जैसे कि-लावण्य आदि के अभाव में रमणी के कटक-कुण्डल आदि अलङ्कार हतप्रभ लगा करते हैं ।

आचार्य वामन ने, रीतिवाद में, अलङ्कार-प्राधान्य के स्थान पर गुण-प्राधान्य की ओर धारणा प्रवर्तित की वह क्रमशः ध्वनिवाद में, अलङ्कारों की अप्रधानता के सिद्धान्त में

परिणत हो गयी। ध्वनिकार की दृष्टि में काव्य के लिये 'अलङ्कार' का महत्त्व यह है—

‘तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणाः स्मृता ।

अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत् ॥’ (ध्वन्या० • २. ७)

काव्यप्रकाशकार ने इसी का अनुमोदन किया है—

‘ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलरिथतयो गुणाः ॥

उपकुर्वन्ति त सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥’ (का० प्र० • ८ १-२)

विश्वनाथ कविराज की भी यही दृढ़ धारणा है कि ‘गुण’ तो रसरूप काव्यात्मतत्त्व के ‘स्थिर’ धर्म हैं और जिन्हें ‘अलङ्कार’ कहा जाता है वे रसरूप काव्यात्मतत्त्व के आधारभूत शब्दार्थशरीर के ‘अस्थिर’ धर्म हैं।

यहाँ एक बात विचारणीय है और यह यह है कि काव्यप्रकाशकार ने तो धाव्य-साहित्य की सूक्तियों के विचार-विमर्श से यह स्पष्ट कर दिया है कि अलङ्कार क्योंकर काव्य में ‘चलस्थिति’ (अस्थिर) हैं अथवा सर्वदा और सर्वथा उपादेय नहीं हुआ करते। ‘अनलङ्कृती पुन क्वापि’ (शब्दार्था काव्यम्) की मान्यता रसध्वनिवादो काव्यालोचना की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता है। किन्तु विश्वनाथ कविराज ने ‘अनलङ्कृती पुन क्वापि (शब्दार्था काव्यम्)’ का खण्डन किया है और जिम ‘यः कौमारहर’ आदि रचना को, काव्यप्रकाशकार ने, ‘स्फुटालङ्कारविरह’ में भी (स्पष्ट रूप से कवि द्वारा किसी अलङ्कार की योजना के अभाव में भी) रसमयी कविता के रूप में देखा है, उसे ही उन्होंने, दो-दो अलङ्कारों अर्थात् ‘विभावना’ और ‘विशेषोक्ति’ के परस्पर सङ्कर द्वारा अलङ्कृत होने पर ही ‘कविता’ के रूप में देखे जाने का सकेत किया है। विश्वनाथ कविराज को इस धारणा से क्या निष्कर्ष निकल सकता है? यहाँ तो ऐसा समझने के लिये हम विवश हो जाते हैं कि ‘अलङ्कार’ काव्य के अस्थिर धर्म नहीं अपि तु स्थिर धर्म हैं। विश्वनाथ कविराज ने एक भी ऐसी सूक्ति नहीं उद्धृत की जिसमें यह दिखायी दे सके कि अलङ्कार काव्य के ‘अस्थिर’ धर्म हैं।

वैसे काव्यप्रकाश पर भी यह आलोचन किया जा सकता है कि यदि अलङ्कार काव्य के ‘चलस्थिति’ धर्म हैं तो दशम उल्लास में अलङ्कारविचार का इतना विस्तार क्यों किया गया। काव्यप्रकाश के दशम उल्लास के देखने से ध्वनिकार की इस धारणा की पुष्टि नहीं होती कि—

‘रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥

विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथञ्चन ।

काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैपिता ॥

निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।

रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥’ (ध्वन्या० उद्योत २)

किन्तु तब भी काव्यप्रकाशकार के लिये विशद अलङ्कारविचार आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उनका कार्य ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्ररूप से त्रिविध काव्य का स्वरूपनिरूपण है। विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में 'चित्र' काव्य नहीं। फिर दशम परिच्छेद में शब्दचित्र और अर्थचित्ररूप काव्यप्रकार की विविध रूपरेखाओं के प्रदर्शन का क्या अभिप्राय ? साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद की विचारधारार्ये इस ओर भी संकेत नहीं करती कि जिन-जिन अलङ्कारों का विचार-विमर्श किया गया है उन-उन के द्वारा 'रसात्मक वाक्य' की शोभा कैसे बढ़ती दिखायी देती है। यहाँ तो वस्तुतः ऐसा लगता है कि 'ध्वनि' के 'सिद्धान्त' और 'व्यवहार' में कोई संवन्ध नहीं।

साथ ही साथ विश्वनाथ कविराज ने, जैसा कि 'अलङ्कार-सर्वस्व'कार के प्रति उनके पक्षपात के देखते स्वाभाविक प्रतीत होता है, अपने अलङ्कार-परिच्छेद में, अलङ्कारों की विभाग-व्यवस्था का कोई संकेत नहीं किया है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने अर्थालङ्कारों की यह विभाग-व्यवस्था की थी—

- (१) सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार (उपमा, रूपक आदि)
- (२) विरोधमूलक अर्थालङ्कार (विरोध, विभावना आदि)
- (३) काव्यन्यायमूलक अर्थालङ्कार (पर्याय, परिवृत्ति आदि)
- (४) लोकन्यायमूलक अर्थालङ्कार (प्रत्यनीक, मौलित आदि)
- (५) शृङ्खलाबन्धमूलक अर्थालङ्कार (कारणमाला, एकावली आदि)
- (६) तर्कन्यायमूलक अर्थालङ्कार (काव्यलिङ्ग, अनुमान आदि)
- (७) गूढार्थप्रतीतिमूलक अर्थालङ्कार (व्याजोक्ति, सूक्ष्म आदि)

यह विभाग-व्यवस्था ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र के लिए अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि इसके द्वारा अर्थालङ्कारों में यथास्थान और यथासंभव 'अलङ्कार'रूप प्रतीयमान अर्थ का विवेक सरलता से किया जा सकता है। काव्यप्रकाशकार भी इस विषय में चुप हैं। संभवतः काव्यप्रकाशकार के अनुसरण में ही विश्वनाथ कविराज ने इस विषय में चुप्पी साध ली है।

विश्वनाथ कविराज ने 'शब्द-अर्थ' और 'अलङ्कार' में आचार्य रुग्मक के 'आश्रया-अभिभाव'रूप सवन्ध का भी उल्लेख कर दिया है और आचार्य मम्मट के 'अन्वय-व्यतिरेकभाव'रूप सवन्ध का भी निर्देश कर दिया है। दोनों में भेद है। दोनों का एक साथ में मानना ठीक नहीं। वैसे रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानने वाले आलङ्कारिक आचार्य के लिये कुछ इस प्रकार की अर्थालङ्कार-व्यवस्था का प्रतिपादन अधिक अपेक्षित था—

अधालङ्कारों का वर्गत्रयविभाग :—

- (१) प्रतीयमानवस्तुरूप अर्थालङ्कार, जिस श्रेणी में समानोक्ति-पर्यायोक्त-आक्षेप-व्याजस्तुति आदि आदि अर्थालङ्कार अन्तर्भूत दिखायी देते हैं।
- (२) प्रतीयमानौपम्यरूप अर्थालङ्कार, जिस श्रेणी में रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रान्तिमान् आदि-आदि समा जाते हैं। और—

(३) प्रतीयमानरसभावरूप अर्थालङ्कार, जिस श्रेणी में रसवत्, प्रेय आदि की णना की जा सकती है ।

अथवा आचार्य कुन्तक की मान्यता के अनुसार रसभावाद्यात्मक वाक्य के उत्कर्षा-
णायक उपमा आदि का ही 'रसवती उपमा' आदिरूप से प्रतिपादन अच्छा होता ।

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ।

गुणोभूतत्वमायान्ति यदाऽलङ्कृतयस्तदा ॥

विश्वनाथ कविराज 'रसवत्' आदि अलङ्कारों को भी अतिरिक्त अलङ्कार रूप से प्रति-
पादित करते हैं । आचार्य मम्मट ने प्राचीन आलङ्कारिकों के द्वारा प्रतिपादित इन 'रसवत्'
आदि को अलङ्कारश्रेणी में रखना 'रसध्वनिवाद' की दृष्टि से अनुचित और अमंगल
माना है क्योंकि 'रसवत्' आदि अलङ्कार नहीं अपितु अपराज्यव्यग्रय गुणोभूतव्यग्रय
काव्य के रूप हैं । वैसे विश्वनाथ कविराज भी गुणोभूतव्यग्रय काव्य के 'इतराज' (अथवा
अपराज्य) नामक भेद के उदाहरण में 'रसवत्' आदि अलङ्कार-सूक्तियों को ही उदाहरित
करते हैं किन्तु तब भी 'रसवत्' आदि को अतिरिक्त अलङ्काररूप में मान्यता उन्हें
अभीष्ट है । ऐसी बात क्यों ? ऐसा लगता है कि उन्होंने 'अलङ्कारसर्वस्व'कार के अनुसरण
अथवा अनुकरण में ही इन परस्पर विरुद्ध बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और अपने
नवीन मत के रूप में, 'रसवदादि' अलङ्कारों की मान्यता के लिये, ध्वनिकार को प्रमाणरूप
से रख दिया—

'अभियुक्तास्तु-स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरङ्गभूतै रसादिभिरङ्गिनो रसा-
देर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्कृतिव्यपदेशो लभ्यते । समासोक्तौ
तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालङ्कृतिता, न त्वास्वादस्य, तस्योक्तरीतिविरहा-
दिति मन्यन्ते । अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग तु रसादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥' इति

(साहित्यदर्पण : १०.९६)

यहाँ यह देखना है कि ध्वनिकार की 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' आदि उक्ति का तात्पर्य
क्या 'रसवत्' आदि अलङ्कारों की सिद्धि है या 'रसवत्' आदि अलङ्कारों में 'रसध्वनि'
के अन्तर्भाव की असम्भावना की सिद्धि ? आचार्य मम्मट ने भी तो इस उक्ति पर कुछ
सोचा ही होगा ? इस उक्ति के निष्कर्षरूप से ध्वनिकार ने यह कहा है—

'तस्माद् यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वः न रसादेरलङ्कारस्य विषय,
स ध्वने प्रभेद', तस्योपमादयोऽलङ्काराः । यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य
वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चरुत्वनिष्पत्तिः क्रियते, स रसादेरलङ्कारताया विषयः ।'

(ध्वन्यालोक . २.५)

यहाँ 'रसादेरलङ्कारताया विषय' के व्याख्यान में 'लोचन'कार आचार्य अभिनवगुप्त
का यह कथन है—

‘रसादेरलङ्कारताया इति व्यधिकरणपष्ठयौ, रसादेर्योऽलङ्कारता तस्या स एव विषयः । एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योज्यम्, रसादिकर्तृकस्यालङ्कार-क्रियात्मनो विषय इति ।’

इनके देखते तो यही प्रतीत होता है कि ध्वनिकार और ‘लोचन’कार की दृष्टि में एक ‘रस’ के द्वारा दूसरे ‘रस’ के अलङ्कृत करने का अभिप्राय रसों के अज्ञानिभावरूप से अवस्थान-सौन्दर्य का अभिप्राय है । वाक्यार्थीभूत रस-भाव के लिये पदार्थीभूत रस-भाव को ‘अलङ्कार’ कहा जा सकता है किन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से, पदार्थीभूत रस-भाव ‘रसवदादि’ अलङ्काररूप में, मान्य हैं । जब कि ‘अलङ्कार’ का वस्तुतः अभिप्राय काव्य के शब्दार्थरूप शरीर का शोभाधान है तब अज्ञभूत ‘रस’ को उपचारत ही अलंकार माना जा सकता है, मुख्यतः नहीं । यही बात ‘लोचन’कार की इस उक्ति में भी दिखायी देती है—

‘ननु रसेन किं कुर्वता प्रकृतोऽर्थोऽलङ्क्रियते । तर्हि उपमयाऽपि किं कुर्वत्याऽलङ्क्रियते । ननु तयोपमीयते प्रस्तुतोऽर्थः । रसेनाऽपि तर्हि सरसीक्रियते सोऽर्थ इति स्वसंवेद्यमेतत् ।’ (ध्वन्यालोकलोचन : २.५)

और इस उक्ति में भी—

‘यस्मिन् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः, ... तस्य काव्यस्य सम्बन्धिना ये रसादयोऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्य-लङ्कारशब्दस्य विषयाः, स एवालङ्कारशब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः नत्वन्य इति यावत् ।’ (ध्वन्यालोकलोचन : २.५)

तात्पर्य यह है कि ध्वनिकार का यह निर्देश कि ‘रसादिध्वनि, रसवत् आदि अलंकार और उपमादि अलङ्कारों के विषय भिन्न-भिन्न हैं (एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवद-लङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति—ध्वन्यालोक . २.५), इस निष्कर्ष में प्रमाण नहीं माना जा सकता कि ध्वनिकार ने भामहदिसम्मत ‘रसवत्’ आदि को अलङ्कार माना है ।

विश्वनाथ कविराज ने ‘रसवत्’ आदि को अलङ्काररूप से मान्य होने के लिये जो यह कहा है कि ‘रसवत्’ आदि इसलिये अलङ्कार हैं क्योंकि ये अङ्गिभूत रस के वाच्य-वाचकप्रपञ्च के उत्कर्षवर्धक हैं’ वह भी सर्वथा चतुरस्र नहीं लगता । कारण यह है कि यदि ‘अयं स रशनोत्कर्षो’ आदि सूक्ति ही देखी जाय, जिसमें रसयोग के कारण ‘रसवद’लङ्कार (रसयोगाद्रसवदलङ्कार—साहित्यदर्पण १०. ९६) माना गया है, तो यहाँ यह बात तो समझ में आती है कि ‘अङ्गरूप से अवस्थित शृङ्गार के द्वारा प्रधानतया प्रतीयमान कण का सौन्दर्य बढ़ाया जा रहा है’ किन्तु यह बात धम्म में नहीं आती कि अङ्गभूत शृङ्गार जो कि अपने वाच्यवाचकवर्ग से अभिव्यक्त हो रहा है, अङ्गीरूप से अभिव्यक्त कण के वाच्यवाचकवर्ग का शोभावर्धन कर रहा है । यहाँ क्या अङ्ग और क्या अङ्गी—दोनों रसों के अभिव्यक्त वाच्यवाचकप्रपञ्च एकरूप ही हैं, भिन्नरूप नहीं । फिर ‘रस’ को, चाहे वह अङ्गतया ही अभिव्यक्त क्यों न हो, अङ्गी रस के ‘वाच्यवाचकवर्ग का अलङ्कार’ मानना

उस काव्याचार्य के लिये तो अनुचित ही है जो कि 'रस' को वाय या आत्मतत्त्व मानता है। यदि सरस वाक्य को 'रसवत्' आदि श्रलङ्कार माना जाय तब 'रसाभिव्यञ्जक वाक्य' को ही 'रसवत्' आदि श्रलङ्कार मानने में क्या आपत्ति? किन्तु ऐसा मानने पर तो समस्त अनुप्रास-उपमादि शब्दार्थालङ्कारों को एक 'रसवत्' श्रलङ्कार में ही अन्तर्भूत करना उचित होगा। यह सब अनुपपत्ति तभी दूर हो सकती है जब कि या तो 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के 'इतराङ्ग' भेद में 'रसों के अङ्गभाव' का कोई अभिप्राय न लिया जाय या 'रसवत्' आदि को श्रलङ्कार न सिद्ध किया जाय।

साहित्यदर्पणमं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमखिलं सुगमेव वित्त ।

विश्वनाथ कविराज उन श्रलङ्कारिकों में हैं जो 'श्रलङ्कारशास्त्र' का साहित्यशास्त्र मानने के पक्षपाती हैं। 'साहित्यदर्पण' की रचना में उनका यही अभिप्राय है कि काव्य-साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन के लिये, सब को साहित्यशास्त्र का परिचय हो जाय। 'साहित्यदर्पण' में 'काव्यप्रकाश' की सी प्रौढ़ता भले ही न हो किन्तु लोकप्रियता अवश्य है। सरलता, सुबोधता और सरसता के साथ इस ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र के अनेक विषय प्रतिपादित हैं। किन्तु क्या किसी श्रलङ्कारिक के लिये यह सभव है कि वह साहित्यशास्त्र के समस्त विषयों का एक ग्रन्थ में प्रतिपादन कर जाय? विश्वनाथ कविराज ने इस दिशा में महान् प्रयास किया है और बहुत कुछ सफलता भी पाई है किन्तु यदि हम साहित्यशास्त्र के कतिपय निम्नलिखित विषयों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'साहित्यदर्पण' में कितने साहित्यतत्त्व अप्रतिपादित रह गये हैं—

(१) ध्वनिवादी श्रलङ्कारशास्त्र में 'काव्य-सवाद' अथवा 'कविओं की रचनाओं में परस्पर सादृश्य' एक ऐसा विषय है जो कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस विषय को यहाँ कोई भी चर्चा नहीं हुई है।

(२) ध्वनिवादी श्रलङ्कारिक 'श्रौचित्य' सिद्धान्त का प्रतिपादन करते रहे हैं। श्रलङ्कारयोजना में इस 'श्रौचित्य' का नाम रसभावादिविषयक श्रौचित्य है। साहित्यदर्पणकार ने इस विषय को अछूता छोड़ दिया है।

(३) 'रस' सिद्धान्त के साथ साथ 'काव्य-पाक' का सिद्धान्त साहित्यशास्त्र का एक प्राचीन विषय है। कविराज राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' इस पर प्रकाश डाल चुकी है। इस विषय का भी विश्वनाथ कविराज ने कोई संकेत नहीं किया है।

(४) प्राचीन श्रलङ्कारशास्त्र में 'शब्दहरण' और 'अर्थहरण' (काव्य में शब्द की चोरी और अर्थ की चोरी) का एक महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय है। यह विषय भी यहाँ छोड़ दिया गया है।

विश्वनाथ कविराज ने इन्हें जान-बूझकर छोड़ा है क्योंकि उनके समय के कवि और रसिक इन विषयों के प्रति विशेष उन्मुख नहीं थे। 'श्रलङ्कार' और 'गुण', 'वृत्ति' और 'रीति', 'रस' और 'रसना', 'दोष' और 'अदोषता', 'काव्य' और 'नाट्य' आदि-आदि विषय साहित्यशास्त्र के लोकप्रसिद्ध विषय हैं जिनके प्रति सधारण सहृदय सामाजिक की

उन्मुखता स्वाभाविक है । विश्वनाथ कविराज ने वस्तुतः इस दृष्टि से ही 'साहित्यदर्पण' की रचना की थी । 'साहित्यदर्पण' के रचना काल में, जैसा कि साहित्यदर्पण के संकेतों से स्पष्ट है, 'रस' और 'आस्वाद' विषय पर तथा काव्य-साहित्य की अन्य विविध मान्यताओं पर कई काव्याचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थ लिखे थे । किन्तु आज 'साहित्यदर्पण' को छोड़कर इन अन्य ग्रन्थों का कुछ पता नहीं चलता । 'साहित्यदर्पण' अपनी सफलता और प्राणशक्ति के कारण अभी भी जीवित-जागृत है और संस्कृत काव्य-साहित्य और संस्कृत के साहित्यशास्त्र के अध्ययन-अनुशीलन करने वालों के लिये मार्ग-प्रदर्शन का कार्य कर रहा है । विश्वनाथ कविराज की आशा और तदनुरूप सफलता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि 'काव्यप्रकाश' के साथ-साथ 'साहित्यदर्पण' भी अलङ्कारशास्त्र में अमर हो गया है ।

'साहित्यदर्पण'कार विश्वनाथ कविराज : समयनिर्णय

विश्वनाथ कविराज का समयनिर्णय वस्तुतः निःसंदिग्ध है । विश्वनाथ कविराज को १३वीं-१४वीं शताब्दी का कवि और आलंकारिक माना गया है । एक सूक्ति है जिसको विश्वनाथ कविराज ने 'अस्फुट' व्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के स्वरूप-निरूपणार्थ उद्धृत किया है—

‘सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः ।

अल्लावदीननृपतौ न संधिर्न च विग्रहः॥’

यह सूक्ति समवतः विश्वनाथ कविराज के समय के किसी कवि की रचना है । यह इस बात का एक प्रबल प्रमाण है कि विश्वनाथ कविराज का युग १३वीं-१४वीं शताब्दी का पूर्ववर्ती युग नहीं हो सकता । एक और भी सूक्ति है जिसका उद्धरण विश्वनाथ कविराज ने 'विद्योत्प्रेक्षा' के उदाहरणरूप से दिया है—

‘गङ्गाम्भसि सुरत्राण । तव निःशाननिखनः ।

स्नातीवारिवधूर्गर्भपातनपातकी ॥’

इस सूक्ति के भी देखते हुये, विश्वनाथ कविराज को १३वीं-१४वीं शताब्दी का ही कवि और आलंकारिक मानना आवश्यक हो जाता है । सुलतान अलाउद्दीन खिलजी का शासनकाल १२९६-१३१६ ई० है । अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर की दक्षिण-भारत-विजय भी एक ऐतिहासिक घटना है । 'उत्कल' प्रान्त के रहने वाले विश्वनाथ कविराज और उनके समय के कविओं को मलिक काफूर की विजयगाथायें और उनके साथ ही साथ भारत के प्रथम मुसलिम सम्राट् अलाउद्दीन के आतङ्ककारी अत्याचारों की भी कहानी सुनने को मिली होगी । जिस किमी भी कवि ने अलाउद्दीन खिलजी के उग्र स्वभाव के प्रकाशनार्थ 'सन्धौ सर्वस्वहरणम्' आदि सूक्ति रची हो अथवा जिस किमी भी कवि ने सुलतान (सुरत्राण) अलाउद्दीन खिलजी की पराक्रम-गाथाओं की स्मृति में 'गङ्गाम्भसि सुरत्राण' आदि की रचना की हो, वस्तुतः बात यह है कि इन सूक्तियों में ऐतिहासिक

तथ्य का संकेत किया हुआ है और विश्वनाथ कविराज इस ऐतिहासिक तथ्य से पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं ।

इस अन्त साक्ष्य के आधार पर इतना निश्चित है कि साहित्यदर्पण के रचयिता का समय १२९६-१३१६ ई० के पहले कदापि नहीं हो सकता ।

और भी अन्त साक्ष्य इसी समय को प्रमाणित करते हैं—

(१) साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति का समय विक्कम मवत् १४४० (१३८४ ई०) है । इस हस्तलिखित प्रति का उल्लेख टायटर स्टीन द्वारा मंथरीत, जम्मू-काश्मीर दरबार के पुस्तकालय की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में 'अलङ्कारशास्त्र' (पृष्ठ ६४) शीर्षक में किया गया है । 'साहित्यदर्पण' की इस हस्तलिखित प्रति से यह निर्विवाद सिद्ध है कि विश्वनाथ कविराज का समय १३८४ ई० के बाद का नहीं हो सकता ।

(२) साहित्यदर्पण में एक सूक्ति उद्धृत है—

‘हृदि विसलताहारो, नायं भुजंगमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे, न सा गरलद्युति ।
मलयजरजो, नेदं भस्म, प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनङ्ग क्रुधा किमु धावसि ॥’

यह सूक्ति 'गीतगोविन्द' के प्रसिद्ध महाकवि जयदेव की कृति है । महाकवि जयदेव को वंगराज्य के प्रतापी शासक लक्ष्मणसेन के दरबार का एक 'रत्न' माना जाता है । कवि उमापति, आचार्य गोवर्धन और धोयी कवि के समकालीन महाकवि जयदेव का समय विक्कम मवत् ११७३ (ई० १११६) है । गीतगोविन्द की इन पंक्तियों में महाकवि जयदेव और उनके पार्षद कवियों की स्मृति सुरक्षित है—

‘वाचः पल्लवयत्युमापतिधरं सन्दर्भशुद्धि गिरां
जानीते जयदेव एव शरण श्लाघ्यो दुर्लुहद्रुतेः ।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयवचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतधरो धोयी कविदुमापतिः ॥’

इस सूक्ति का उद्धरण विश्वनाथ कविराज के समयनिर्णय का एक बहुत बड़ा प्रमाण है ।

(३) साहित्यदर्पण में एक और उद्धरण है—

‘कदली कदली करमः करमः करिराजकरः करिराजकरः ।
भुवनत्रितयेऽपि बिभक्ति तुलामिदमूरुयुग न चमूरुदृशः ॥’

यह सूक्ति 'प्रसन्नराघव' नाटक के रचयिता जयदेव कवि की रचना है जिनका समय १२००-१२५० के लगभग निश्चित है । इस उद्धरण से विश्वनाथ कविराज के कार्यकाल के सम्बन्ध में सन्देह नहीं रह जाता ।

(४) विश्वनाथ कविराज ने 'नैषध'कार महाकवि श्रीहर्ष (११६७-११७४ ई०) को निम्न सूक्ति उद्धृत की है—

‘धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यद्विधमप्युत्तरलीकरोति ॥’

और साथ ही साथ ‘हनूमदाद्यैर्यशसा सितीकृतः’ आदि उद्धरण भी नैषधीय महाकाव्य की ही सूक्ति का उद्धरण है। इसके देखते भी विश्वनाथ कविराज के कालनिर्णय में अनिश्चय नहीं रह जाता।

(५) विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह कविपण्डितप्रवर नारायण के अनुज श्रीचण्डीदास ने ‘काव्यप्रकाश’ की ‘दीपिका’ टीका लिखी है। इनके और विश्वनाथ कविराज के समय में अधिक से अधिक ५० वर्ष का ही अन्तर पड़ सकता है।

(६) कलिह्ननरेश नरसिंह, (१२७०-१३०३ ई०) जिनके शिलालेखों में उन्हें ‘कविप्रिय’ कहा गया है, के दरबार में विश्वनाथ के प्रपितामह अथवा पितामह ‘नारायण’ और ‘धर्मदत्त’ के शास्त्रार्थ की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। विश्वनाथ कविराज ने कविपण्डित ‘धर्मदत्त’ के नामोल्लेख के साथ उनकी यह सूक्ति भी साहित्यदर्पण में उद्धृत की है—

‘तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।

तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्रात्यद्भुतो रसः ॥

तस्मादद्भुतमेवाह कृत्वा नारायणो रसम् ।’

इस उद्धरण से साहित्यदर्पणकार का कालनिर्णय १३ वीं-१४ वीं शताब्दी ही सिद्ध होता है।

कुछ वहिःसाक्ष्य भी हैं जिनके देखते उपर्युक्त समय के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता—

(१) १५ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध काव्य-व्याख्याकार भक्षिनाथ के पुत्र ‘कुमारस्वामी’ की ‘रत्नापण’ टीका में, जो कि ‘प्रतापसूदीय’ की व्याख्या है, ‘साहित्यदर्पण’ का नामोल्लेख मिलता है—

‘सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः ।

अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति ॥

अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति । इति साहित्यदर्पणे ।’

(प्रतापसूदीय : रत्नापण : रसप्रकरण)

‘मोहो विचित्रता भीतिदुःखवेगानुचिन्तनैः ।

धूर्णनागात्रपत्तनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ इति साहित्यदर्पणे ॥’

(प्रतापसूदीय : रत्नापण : रसप्रकरण)

(२) १५ वीं शताब्दी के ही व्याख्याकार गोविन्द ठकुर की ‘काव्यप्रकाश-प्रदीप’ व्याख्या में साहित्यदर्पण की विचारधाराओं का यह उल्लेख आया है—

‘अर्वाचीनास्तु यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्दिपयं प्रविरलविषयं वा स्यात् । दोषाणां दुर्वारत्वात् । तस्मात् ‘वाक्यं रसात्मकं काव्य’मिति तद्वशः-

णम् । तथा 'च दुष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमरत्येव । पर त्वपकर्षमात्रम् ।' तदुक्तम्—'कीटानुविद्धरत्नादि' इत्यादि । एवमलङ्कारादिसत्त्वे उत्कर्षमात्रम् । नीरसे तु चित्रादौ काव्यव्यवहारो गौणः इत्याहुः ।'

इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रदीपव्याख्याकार की दृष्टि में 'साहित्यदर्पण' अलङ्कारशास्त्र का एक अर्वाचीन (काव्यप्रकाश आदि की अपेक्षा अर्वाचीन) ग्रन्थ है । उममें यह निश्चित है कि विश्वनाथ कविराज का समय न तो १३-वीं १४ वीं शताब्दी के पहले जा सकता है और न बाद में ।

विश्वनाथ कविराज का वंशगौरव और व्यक्तित्व

विश्वनाथ कविराज के पूर्वज उत्कल के 'कविपण्डित' होते आये हैं । उनके प्रपितामह का नाम कविपण्डितप्रवर 'नारायण' था । इनके प्रपितामह साहित्यशास्त्र के पारंगत विद्वान् और अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थप्रणेता रह चुके हैं जैसा कि साहित्यदर्पण की निम्नलिखित उक्ति का संकेत है—

‘चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्याय । तत्प्राणत्वं चास्मद्बृद्ध-
प्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम् ।’

(साहित्यदर्पण : ३ ३)

साथ ही साथ विश्वनाथ कविराज-रचित काव्यप्रकाशदर्पण की यह उक्ति—

‘यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेव सभायां
धर्मदत्त स्थगयन्तः... अस्मत्प्रपितामहश्रीनारायणपादा ’

इसी ओर संकेत करती है कि कविपण्डितप्रवर नारायण का साहित्यशास्त्र पर पर्याप्त अध्ययन-मनन और स्वतन्त्र विचारविमर्श समसामयिक पण्डितसमाज पर प्रसिद्ध था ।

विश्वनाथ कविराज ने अपने पिता का भी नामोल्लेख किया है—

‘श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुश्रीविश्वनाथकविराजकृत प्रबन्धम् ।

साहित्यदर्पणममु सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमखिल सुखमेव वित्त ॥’

(साहित्यदर्पण १०. १००)

विश्वनाथ कविराज के पिता श्रीकविपण्डित चन्द्रशेखर थे । श्रीचन्द्रशेखर कविपण्डित की दो कृतिश्री—‘पुष्पमाला’ और ‘भाषार्णव’ का उल्लेख साहित्यदर्पण में मिलता है । ‘पुष्पमाला’ का यह उद्धरण—

‘द्वादशपदा (नान्दी) यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्—

शिरसि धृतसुरापणे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री ।

अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः ॥’

(साहित्यदर्पण . ६. २५)

इस बात को प्रमाणित करता है कि श्री चन्द्रशेखर नाटककार थे । साहित्यदर्पण में श्रीचन्द्रशेखर के ‘भाषार्णव’ का उल्लेख यह है—

‘भापालक्षणानि मम तातंपादानां भाषार्णवे ।’ (साहित्यदर्पण : ६. १६९)

इससे यह स्पष्ट है कि श्री चन्द्रशेखर कविपण्डित शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी आदि भाषाओं के वैयाकरण थे । साहित्यदर्पण के परिच्छेदों की समाप्ति में विश्वनाथ कविराज के नाम के साथ इन विरुदों का उल्लेख मिलता है—

१—नारायणचरणारविन्दमधुव्रत ।

२—साहित्यार्णवकर्णधार ।

३—ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य ।

४—कविसूक्तिरत्नाकर ।

५—अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग ।

६—साधिविप्रहिक और

७—महापात्र ।

इनमें ‘अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग’ का विरुद (प्रशंसास्पद पद) यह प्रमाणित करता है कि विश्वनाथ कविराज को संस्कृत के अतिरिक्त अन्य समस्त प्राकृत भाषाओं का अध्ययन एक पैतृक देन के रूप में मिला था ।

विश्वनाथ कविराज ने अपने पिता श्री चन्द्रशेखर कविपण्डित की अन्य भी कतिपय सूक्तियों उद्धृत की हैं—

‘मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च, रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति ।
कंदर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्त क्षणा-
दङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठन सुभ्रुव ॥’

(साहित्यदर्पण ३५८)

‘नो चादुश्रवणं कृतं न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः
कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीकृता ।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त सहसा कण्ठे कथं नापित ॥’

(साहित्यदर्पण . ३८२)

‘क्षेमं ते ननु पद्मलाक्षि किस्रं खेमं महङ्गं विदं
एतादृक् कृशता कुतः तुह पुणो पुठ्ठं सरीरं जदो ।
केनाहं पृथुलः प्रिये प्रणइणीदेहस्स सम्मीलणात्
त्वत्तः सुभ्रु न काऽपि मे जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि ॥’

(साहित्यदर्पण : ३.२१३)

‘चिन्ताभिः स्तिमितं मनः, करतले लीना कपोलस्यली
प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डु वदनं श्वासैकसिन्नोऽधरः ।

अम्भःशीकरपद्मिनीकिशलयैर्नापैति तापः शमं
कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदृशीम्॥'

(साहित्यदर्पण ३.२०७)

इन सूक्तियों के देखते, इनके रचनाकार का एक रसिक और शृंगारी कवि होना अनायास सिद्ध हो जाता है ।

विश्वनाथ कविराज के पिता कलिङ्ग राज्य के एक प्रतिष्ठित पदाधिकारी रहे होंगे । विश्वनाथ कविराज भी अपने पिता के उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं । दोनों के नामों के साथ 'साधिविग्रहिक' और 'महापात्र' का विरुद्ध जुड़ा मिलता है ।

वैष्णव धर्म में विश्वनाथ कविराज की आस्था को सूचना साहित्यदर्पण के इस अन्तमङ्गल-श्लोक से मिल जाती है—

'यावत् प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीनारायणस्याङ्गमलङ्करोति ।

तावन्मनः सम्मदयन् कवीनामेप प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके ॥'

साथ ही साथ 'राघवविलास' नामक विश्वनाथ कविराज-रचित 'महाकाव्य' की यह सूक्ति अर्थात्—

'विपिने क जटानिबन्धन तव चेद क मनोहर वपुः ।

अनयोर्घटना विधेः स्फुट ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम् ॥'

भी, जिसका साहित्यदर्पण (३. २२५) में उल्लेख है, यही सिद्ध करती है कि विश्वनाथ कविराज वैष्णव थे ।

साहित्यदर्पण का रचयिता सबसे पहले कवि हो सकता है और बाद में ही आलंकारिक । रसिकता विश्वनाथ कविराज के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है । विश्वनाथ कविराज का पाण्डित्य भी उनकी रसिकता से विरुद्ध नहीं पड़ता । विश्वनाथ कविराज को 'कविसूक्तिरत्नाकर' की जो पदवी मिली थी उससे भी यही स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज अपने समय के उत्कल (उड़िसा) प्रान्त के एक रसिकशिरोमणि हो चुके हैं । विश्वनाथ कविराज की एक सूक्ति है—जो कि साहित्यदर्पण (८. ३) में 'मधुर रचना' के निदर्शन रूप में उद्धृत की गयी है और वह सूक्ति यह है—

'लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्

समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।

मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्

रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥'

इस एक सूक्ति से ही यह निःसदिग्वरूप से माना जा सकता है कि विश्वनाथ कविराज को 'वर्णों के समोदक सगीत' का कितना प्रगाढ़ परिचय था और 'वर्णों की माधुरी' से कितना प्रेम था । विश्वनाथ कविराज का कवित्वमय व्यक्तित्व साहित्यदर्पण की विचार-धाराओं पर भी प्रतिबिम्बित दिखायी देता है ।

विश्वनाथ कविराज की साहित्यिक कृतियाँ

विश्वनाथ कविराज का 'साहित्यदर्पण' तो अलङ्कारशास्त्र के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध ही है किन्तु उनकी और भी कृतियाँ हैं जिनकी स्मृति साहित्यदर्पण के पृष्ठों पर अंकित है। इन कृतिश्रों में 'राघवविलास' का उल्लेख किया जा चुका है जो कि संस्कृत भाषा के एक 'महाकाव्य' के रूप में रचा गया था। 'राघवविलास' की 'विपिने क जटा-निबन्धनम्' आदि उद्धृत सूक्ति के देखते यह अनुमान असंभव नहीं प्रतीत होता कि विश्वनाथ कविराज कालिदास के 'कुमारसंभव' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' के पूरे रसिक थे।

विश्वनाथ कविराज ने प्राकृत भाषा में भी एक काव्य रचा था जिसका नाम 'कुवल्याश्व-चरित' है, जैसा कि साहित्यदर्पण (३. १४८) के इस उद्धरण से स्पष्ट है—

‘अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।

अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णीभावादयस्तत्र ॥

यथा मम कुवल्याश्वचरिते प्राकृतकाव्ये—

‘णवरिअ तं जुअजुअलं अणोएण णिहिदसजलमन्थरदिठ्ठिम् ।

आलेकख ओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ संट्ठिअं मुअ सखणम् ॥’

यह काव्य एक 'शृङ्गाररस' प्रधान काव्य प्रतीत होता है।

विश्वनाथ कविराज की तीसरी कृति एक नाटिका है जिसका नाम 'प्रभावती-परिणय' है जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा 'प्रभावतीपरिणये'—

‘दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्,

नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि ।

किञ्चिद् भावगभीरवकिमलवस्पृष्टं मनाग्भापते,

सभ्रभूङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्ती सखीम् ॥’

यह 'प्रभावतीपरिणय' नाटिका विश्वनाथ कविराज की शृङ्गार-रसिकता की एक देन ही है।

विश्वनाथ कविराज की चौथी रचना 'चन्द्रकला' नाटिका है जिसका उन्होंने साहित्य-दर्पण (३. १६) में इस प्रकार स्मरण किया है—

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ।

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्—

‘तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसंपदो हासः ।

घरणितलस्याभरण युवजनमनसो वशीकरणम् ॥’

इस नाटिका से भी इसके रचयिता का नायिका-भेदविज्ञान और शृङ्गार-रस-प्रेम स्पष्ट प्रतीत होता है।

विश्वनाथ कविराज की पँचवीं रचना 'प्रशस्तिरत्नावली' है जिसमें १६ भाषाओं में समवत कलिङ्गनरेश नरसिंह १म और २य की प्रशस्तियाँ लिखी गयी हैं। इसका उल्लेख विश्वनाथ कविराज ने इन शब्दों में किया है—

‘करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ।

यथा मम—पोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली ॥’ (साहित्यदर्पण ६. ३३७)

कलिङ्गनरेश नरसिंह (समवत नरसिंह २य) के विजयगोविन्दान के रूप में विश्वनाथ कविराज ने 'नरसिंहविजय' नामक काव्य की भी रचना की है जिसका निर्देश विश्वनाथ कविराज के पुत्र अनन्तदाम ने साहित्यदर्पण की 'लोचन' नामक अपनी व्याख्या में इन शब्दों में किया है—

‘यथा मम तातपादाना विजयनरसिंहे ।’

साहित्यदर्पण के निर्माण के बाद 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक 'कव्यप्रकाश' की व्याख्या भी विश्वनाथ कविराज की एक और कृति है।

इन कृतिओं से, जिनमें 'साहित्यदर्पण' और 'काव्यप्रकाशदर्पण' के अतिरिक्त अन्य अप्राप्य हैं, विश्वनाथ कविराज की साहित्य-साधना का सख्त स्पष्ट रूप से मिल जाता है।

साहित्यदर्पण की विशेषता

साहित्यदर्पण अलङ्कारशास्त्र का प्रस्थान-ग्रन्थ नहीं और न इसमें ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश और रसगङ्गाधर की प्रवाहपूर्ण, वैज्ञानिक और विचारात्मक शैली ही अपनायी गयी है। साहित्यदर्पण की एक ही मौलिक विशेषता है और वह उसकी एक महत्वाकांक्षा है जिसका लक्ष्य काव्य-साहित्य-सम्बन्धी समस्त विषयों का एकत्र प्रतिपादन है। इस महत्वाकांक्षा में विश्वनाथ कविराज को पर्याप्त सफलता भी मिली है। वैसे तना निश्चित है कि काव्य साहित्य के समस्त विषय एक अलङ्कार-ग्रन्थ में नहीं आ सकते।

साहित्यदर्पण कोई मौलिक अलङ्कार-ग्रन्थ नहीं क्योंकि आदि से अन्त तक इसमें प्राचीन अलङ्कारिकों की ही मान्यताओं का प्रकाशन है और प्राचीन अलङ्कारग्रन्थों के ही उदाहरणों के उद्धरण भरे पड़े हैं। किन्तु तब भी सरस और सरल भाषा के द्वारा विषय-प्रतिपादन की शैली जैसी इसकी है वैसी दूसरे अलङ्कार-ग्रन्थों की नहीं।

‘साहित्यदर्पण’ बड़ा लोकप्रिय अलङ्कार ग्रन्थ है। 'काव्यप्रकाश' की दुर्दृष्टता से लोग घबड़ा जाते हैं किन्तु 'साहित्यदर्पण' अपनी सुबोधता से साधारण काव्य-प्रेमी को भी आकृष्ट कर लेता है। यदि 'साहित्यदर्पण' न रचा गया होता तो भारत के पूर्वी प्रान्तों के संस्कृत काव्य-नाट्य-प्रेमी नाट्यशास्त्र के विषयों से अपरिचित हो रह जाते। मौलिक न होने पर भी, समग्र-प्रधान होने पर भी, 'साहित्यदर्पण' साधारण सहृदय सामाजिक के लिये, वस्तुतः 'साहित्यदर्पण' है जिसमें साहित्यशास्त्र के तत्त्व प्रतिबिम्बित हैं। साहित्य-दर्पण से साहित्यशास्त्र के विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद, इन विषयों के मौलिक ग्रन्थों का अनुशीलन लाभप्रद माना जाया करता है।

परवर्ती अलङ्कारशास्त्र पर साहित्यदर्पण का प्रभाव

साहित्यदर्पण ने अपने परवर्ती अलङ्कार-शास्त्र को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। साहित्यदर्पण का सबसे बड़ा प्रभाव 'रसगङ्गाधर' की रचना के रूप में देखा जा सकता है। वैसे इसमें कोई सन्देह नहीं कि रसगङ्गाधरकार की आलोचनात्मक प्रतिभा साहित्य-दर्पणकार में नहीं थी किन्तु यह भी निस्सन्देह है कि साहित्यदर्पण की रचना ने ही पण्डित-राज जगन्नाथ को अलङ्कारशास्त्र के पुनरालोचन में प्रेरित किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'वाङ्मय रसात्मक काव्यम्' के काव्यलक्षण की समीक्षा में ही 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' का अपना काव्यलक्षण रचा है—

‘यत्तु ‘रसवदेव काव्यम्’ इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तन्न । वस्त्वलङ्कार-प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुली-भावप्रसङ्गात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिवालादिविलसितानि च । न च तत्रापि यथाकथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽ-स्त्येवेति वाच्यम् । ईदृशरसस्पर्शस्य ‘गौश्चलति’ ‘मृगो धावति’ इत्यादावति-प्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वा-दिति दिक् ।’ (रसगङ्गाधर : १म आनन)

साथ ही साथ विश्वनाथ कविराज ने ‘चित्र’ काव्य को काव्यभेद न मानने का जो तर्क दिया है उसकी समीक्षा ही रसगङ्गाधरकार की चतुर्विध काव्य-भेद-मीमांसा की पूर्वपीठिका है। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के ४ प्रकार सिद्ध किये हैं—

(१) उत्तमोत्तम—‘शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क-स्तदाद्यम् ।’

(२) उत्तम—‘यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारण तद्वितीयम् ।’

(३) मध्यम—‘यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कार-स्तत् तृतीयम् ।’

(४) अधम—‘यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तद्धमं चतुर्थम् ।’ (रसगङ्गाधर : १म आनन)

ये चारों काव्य-प्रकार ‘रमणीयार्थप्रतिपादक’ शब्द. काव्यम् की काव्यपरिभाषा से स्वभावतः राजत हैं। ‘रसात्मक काव्य काव्यम्’ की काव्यपरिभाषा से काव्य-प्रकार का निष्कर्ष नहीं निकल सकता। इस परिभाषा के ही कारण विश्वनाथ कविराज ने ‘चित्र-काव्य’ की मान्यता का खण्डन किया है। इस काव्य-परिभाषा की मीमांसा के रूप में जब ‘रमणीयार्थप्रतिपादक. शब्द. काव्यम्’ की काव्यपरिभाषा बन गयी तब काव्य के प्रकार-चतुर्विध का निरूपण स्वयं सिद्ध हो गया।

विषयानुक्रमणिका



विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रथम परिच्छेद		ध्वनिकार-कृत काव्य लक्षण का खण्डन	१७
आरम्भ-मङ्गल	१	वामनकृत काव्य-लक्षण का खण्डन	२०
वाग्देवी-चन्दना	"	ध्वनिकार-सम्मत काव्यात्मवाद में	
अलङ्कारशास्त्र का प्रयोजन		दोष-दर्शन	२१
काव्य-प्रयोजन से भिन्न	२	स्वसम्मत काव्य-स्वरूप	२३
काव्य-प्रयोजन 'पुरुषार्थचतुष्टय' की प्राप्ति	"	काव्य-रसात्मक वाक्य के निदर्शन	२६
चतुर्वर्ग प्राप्तिरूप काव्य-प्रयोजन		दोष-स्वरूप का सङ्केत	२८
का तात्पर्य	"	रसात्मक वाक्यरूप काव्य और उसके	
चतुर्वर्ग-प्राप्ति का सरल सुखद साधन		अपकर्षकारक दोष का सम्बन्ध	"
काव्य ही है	"	गुण-अलङ्कार और रीति-स्वरूप :	
काव्य-प्रयोजन की प्रामाणिकता	४	एक सकेत	२९
साहित्यदर्पण का अनुबन्ध-चतुष्टय	५	काव्यात्मभूत 'रस' और गुण-अलङ्कार-	
काव्यस्वरूपविवेक की भूमिका काव्य-		रीतितत्त्व परस्पर सम्बन्ध	"
प्रकाशकृत काव्यलक्षण निर्देश	"	द्वितीय परिच्छेद	
उपर्युक्त काव्य-लक्षण का समीक्षण		वाक्य-विचार	३१
दोषरहित शब्दार्थ-युगल को काव्य		वाक्यरूप पदसमूह की विशेषता-	
मानने में 'अन्याप्ति'	"	योग्यता आदि	"
'सगुण' शब्दार्थयुगल को काव्य मानने		महावाक्य का स्वरूप-निरूपण	३६
में अनुपपत्ति	१०	वाक्योच्चयरूप महावाक्य की विशेषता	"
नर्बन्ध अलङ्कृत शब्दार्थयुगल को काव्य		वाक्य-द्वैविध्य	३७
मानने में अनौचित्य	१३	वाक्य-द्वैविध्य की प्रामाणिकता	"
प्रमकानुप्रसक्त्या चक्रोक्तिजीवितकार		वाक्य-द्वैविध्य का उदाहरण	"
का खण्डन	"	वाक्यस्वरूपनिरूपक पदोच्चय का विशेषण	३८
अलङ्कार की अस्फुट प्रतीति में काव्य		अर्थ-प्रकार-निरूपण	३९
को मान्यता-काव्यप्रकाशकार का		त्रिविध अर्थ का स्वरूप-विचार	"
व्यामोहमात्र	१४	अभिधा-शक्ति-निरूपण	४०
नरस्वर्ताकण्ठाभरणसम्मत काव्य-		नकेतप्रह के उपाय	४१
लक्षण उपर्युक्त विचार-विमर्श की		नकेत का क्षेत्र	४३
दृष्टि से स्वयं खण्डित	१७	चतुर्विध नकेत-क्षेत्र का व्यवस्था-निरूपण	"

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
लक्षणाशक्ति-निरूपण	४८	३-लक्षणागूलक व्यञ्जना	८५
लक्षणा-विवेक	८९	आर्थी व्यञ्जना	८७
लक्षणा के भेद-प्रभेद प्रथम उपादान-लक्षणा	५२	आर्थी व्यञ्जना के तीन प्रकार	९२
उदाहरण-निरूपण	५३	उपर्युक्त प्रकारत्रय का निरूपण	"
द्वितीय लक्षणलक्षणा	५८	गच्छी और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ	"
उदाहरण-निरूपण	५५	और गच्छ का समान उपयोग	९३
उपर्युक्त लक्षणाओं के निमित्त भेद से अन्य भेद	५६	व्यञ्जना की दृष्टि में गच्छ और अर्थ	"
तागोपा और साम्यवयाना लक्षणार्थ	५८	की परस्पर सम्बन्धिता की आवश्यकता	"
उपर्युक्त लक्षणा-भेदों के उदाहरण	५९	गच्छ का उपाधि-त्रैविध्य	९८
निमित्तभेद से उपर्युक्त लक्षणा भेदों के अन्य प्रभेद	६२	उपाधि-त्रैविध्य स्पष्टीकरण	"
सुद्धा और गौणी लक्षणार्थों के दृष्टान्त	"	एक अन्य वृत्ति-तान्त्र्य	९५
प्रयोजनमूलक उपर्युक्त लक्षणाओं के अन्य भेद	६८	अभितितान्वयवाद और तात्पर्यवृत्ति	"
गूढव्यङ्ग्या और अगूढव्यङ्ग्या लक्षणार्थों के दृष्टान्त	"	तृतीय परिच्छेद	
उपर्युक्त १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओं के अन्य भेद	७०	काव्यात्मतत्त्व रसस्वरूपनिरूपण	९९
प्रयोजनवती लक्षणाओं में धर्मगत और धर्मगत प्रयोजन के निदर्शन	"	विभावादि द्वारा मातृमन्त्र-मन्त्र में	"
निर्दिष्ट लक्षणाभेद-सकल लक्षणा के ४० भेदों का निरूपण	७२	अभिव्यक्त रत्यादिरूप स्थायी भाव ही 'रस' है	"
एक अन्य निमित्त से लक्षणा का प्रकार-निरूपण	७४	रस प्रक्रिया विभावादियोजना और स्थायी भाव की रसरूप में अभिव्यक्ति	१००
लक्षणा के ८० भेद-उपसंहार	"	रसास्वाद के स्वरूपनिर्णय की प्रतिज्ञा	१०५
व्यञ्जनाशक्ति लक्षण	७५	रस और रस का आस्वाद	"
व्यञ्जनालक्षण-परिष्कार	"	काव्यार्थपरिशीलन सत्त्वोद्रेक रसास्वाद	"
व्यञ्जना के प्रकारों का निरूपण	७६	'रस' और 'आस्वाद' का तादात्म्य	१०९
शान्दी व्यञ्जना	७६	आस्वादस्वरूप रस और व्यञ्जनावृत्ति का तादात्म्य	१११
१-अभिधामूलक व्यञ्जना	"	रस की आनन्दरूपता और शोक-स्थायिभावात्मक कर्षण सामञ्जस्य	११३
२-अभिधानियामक तत्त्व और अभिधामूलक व्यञ्जना -स्वरूप-परिष्कार	७७	कर्षण आदि के 'रस'-आनन्दास्वाद-रूप होने में अन्य प्रमाण	"
		कर्षणादि रसों के दुःखात्मक मानने में महान् अनर्थ	११८
		शोकस्थायिभावात्मक कर्षण में आनन्दानुभव की सिद्धि	११५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
काव्य-नाट्य के औसू आनन्द के औसू हुआ करते हैं ।	११६	रस की स्वप्रकाशता किंवा अखण्डता में मन्देह का निर्मूलन	१३३
रसास्वाद का अधिकार समान		विभावादि वर्ग में विभावरूप तत्त्व .	
अथवा विशिष्ट ?	११७	स्वरूपनिर्देश	१३५
रसास्वाद की भूमिका . साधारणीकरण .		विभाव के दो भेद	१३७
तन्मयीभवन	११८	‘नायक’ का स्वरूप-निरूपण	१३८
काव्य-नाट्य के नायक और सामा- जिक जन का साधारणीकरण	११९	नायक के भेदोपभेद	”
सामाजिकों की रत्यादिवासनाओं और नायकों के रत्यादिभावों का साधा- रणीकरण	”	१-धीरोदात्त	१३९
विभावादि का साधारणीकरण	१२०	२-धीरोद्धत	१४०
लोक से काव्य-नाट्य (कला) का वैलक्षण्य साधारणीकरण	१२१	३-धीरललित	”
विभावादि की कारणता और रसोद्बोध	१२२	४-धीरप्रशान्त	१४१
रसास्वाद में विभावादित्रय का संवलित अनुभव	१२३	शृङ्गाररस में उक्त चतुर्विध नायकों के अन्य चार प्रकार	”
रसोद्बोध में विभावादित्रितय की कार- णता का रहस्य	१२४	१-दक्षिण	१४२
रस अनुकार्य(नायकादि)गत नहीं	१२५	२-धृष्ट	१४३
रस अनुकर्तृ(नटादि)गत भी नहीं	१२६	३-अनुकूल	”
रस कोई ज्ञाप्य वस्तु नहीं	१२८	४-शठ	१४४
रस कार्य(कारणजन्य)रूप वस्तु भी नहीं	”	उपर्युक्त नायक-भेद-परिगणन	१४५
रस ‘नित्य’वस्तु भी नहीं	१२९	नायक के सहायक	”
रस एक अनिर्वचनीय तत्त्व है	”	शृङ्गारी नायक के सहायक	१४६
रस न तो परोक्ष है न प्रत्यक्ष	१३१	१-विट	”
अनिर्वचनीयरूपरूप रस का निरूपण- प्रकार	”	२-चेट	१४७
अनिर्वचनीयरूपरूप रस के अस्तित्व में प्रमाण	”	३-विदूषक	”
नाट्यमृत्तिनिर्दिष्ट ‘रसनिष्पत्ति’ का रहस्य	१३२	नायक के अर्थ-सहायक	”
रस एतन्नात्र ‘व्यक्त’तत्त्व है	१३३	” ” अन्तःपुर-सहायक	१४८
		” ” दण्ड-सहायक	१४९
		” ” धर्म-सहायक	१५०
		उपर्युक्त सहायकों में उत्तमाधम- मध्यम-व्यवस्था	”
		नायक के दूत	१५१
		दूत-भेद-निरूपण	”
		नायक के सात्त्विक गुण	१५२
		१-शोभा	”
		२-विलास	”
		३-माधुर्य	१५३

विषय	पृष्ठ	विषय
४-गाम्भीर्य	११३	पूर्वोक्त नायिका-भेद-सङ्कलन
५-धैर्य	११४	नायिकाओं के यौवनालङ्कार
६-तेज	"	१-भाव
७-ललित	"	२-हास
८-श्रौदार्य	"	३-हेला
नायिका-निरूपण	१५५	८-शोभा
स्वीया नायिका-निरूपण	१५६	५-कान्ति
" " भेद-निर्देश	"	६-दीप्ति
१-मुग्धा	"	७-माधुर्य
२-मध्या	१५९	८-प्रगल्भता
३-प्रगल्भा	१६०	९-श्रौदार्य
मध्या और प्रगल्भा-स्वीया नायिका		१०-धैर्य
के अन्तर्गत भेद	१६०	११-लीला
'मध्या' के त्रिविध भेद - सोदाहरण		१२-विलास
निरूपण	"	१३-विन्दित
प्रगल्भा धीरा नायिका	१६३	१४-विव्वोक
" धीराधीरा नायिका	१६४	१५-किलकिञ्चित
" अधीरा नायिका	"	१६-मोहयित
मध्या-प्रगल्भा नायिकाओं के अन्य-		१७-कुटमित
निमित्तक भेद	१६५	१८-विभ्रम
'स्वीया' भेद-परिगणन	"	१९-ललित
'परकीया' नायिका * भेदनिर्देश	१६६	२०-मद
'सामान्या' नायिका-निरूपण	१६७	२१-विह्वल
उपर्युक्त नायिकाओं के अवस्था-भेद		२२-तपन
से अन्यान्य भेद-अभेद	१ ८	२३-मौग्ध्य
१-स्वाधीनभर्तृका	"	२४-विक्षेप
२-खण्डिता	"	२५-कुतूहल
३-अभिसारिका * स्वरूप किं वा		२६-हसित
प्रकार निरूपण	१६९	२७-चकित
४-कलहान्तरिता	१७१	२८-केलि
५-विप्रलब्धा	१७२	प्रेम-चेष्टायें 'मुग्धा' और
६-प्रोषितभर्तृका	"	नायिकागत प्रेम-चेष्टा-नि

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
दूती	१९६	२६-हर्ष	२२१
दूती के गुण	"	२७-असूया	"
प्रतिनायक-निरूपण	१९८	२८-विपाद	२२२
उद्दीपन-विभाव-निरूपण	१९९	२९-धृति	"
अनुभाव-निरूपण	२००	३०-चपलता	२२३
सात्त्विकभाव-निर्देश	२०१	३१-ग्लानि	२२४
व्यभिचारिभाव . लक्षण-निरूपण	२०३	३२-चिन्ता	"
" प्रकार-संख्यान	२०५	३३-तर्क	२२५
" स्वरूप-विवेक	"	स्थायी भाव-निरूपण	२२६
१-निर्देश	"	स्थायी भावों के प्रकार	२२७
२-आवेग	२०६	स्थायी भावों का क्रमशः	
३-दैन्य	२०७	लक्षण-निरूपण	"
४-श्रम	२०८	भाव : सामान्यलक्षण	२२९
५-मद	"	रसभेद-संख्यान	"
६-जड़ता	२०९	शृङ्गार . स्वरूप-निरूपण	२३०
७-उग्रता	२१०	शृङ्गार के भेद : विप्रलम्भ और संभोग	२३२
८-मोह	२११	विप्रलम्भ-शृङ्गार . स्वरूप और	
९-विबोध	"	प्रकार-निरूपण : प्रथम भेद पूर्वराग	"
१०-स्वप्न	२१२	अभिलाष-दशा का पूर्वराग-विप्रलम्भ	२३३
११-अपस्मार	"	चिन्ता-दशा " "	२३४
१२-गर्व	२१३	स्मृति-दशा " "	"
१३-मरण	"	उद्वेग-दशा " "	"
१४-आलस्य	२१४	प्रलाप-दशा " "	"
१५-श्रमर्ष	२१५	उन्माद-दशा " "	"
१६-निद्रा	"	व्याधि-दशा " "	२३५
१७-अवहित्या	२१६	जड़ता-दशा " "	"
१८-श्रौत्सुक्य	"	गुणकथन की कामदशा	"
१९-उन्माद	२१७	विप्रलम्भ-शृङ्गार में वर्जित काम-	
२०-शस्त्रा	२१८	दशायें	"
२१-स्मृति	"	मानविप्रलम्भ . सप्रभेद निरूपण	२३९
२२-मति	२१९	प्रवास-विप्रलम्भ : सप्रभेद वर्णन	२४३
२३-व्याधि	"	शृङ्गारभेद : सम्भोग-शृङ्गार : सप्रकार	
२४-त्रास	२२०	स्वरूप-निरूपण	२४८
२५-मोटा	"	करुण विप्रलम्भ	२४७
		हास्य स्वरूप और-भेद-निरूपण	२५१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
कंठ रस	२५३	विवक्षितान्यपरवान्ध्वनि के दो भेद	
कण और कण विप्रलम्भ शृङ्गार		अमलक्षयमव्यङ्ग्य और मलक्षय-	
भेद-निर्देश	२५५	मव्यङ्ग्य	२८५
रौद्र रस	"	अमलक्षयमव्यङ्ग्य ध्वनि रसात्मक	
रौद्र और युद्धवीर परस्पर भिन्न रस	२५६	एक प्रकार का ही	२८६
वीररस सप्रभेद-स्वरूप-विवेक	२५७	सलक्षयमव्यङ्ग्यध्वनि 'तीन प्रकार'	
भयानक	२५९	अच्छदशक्युद्धव, अर्थशक्युद्धव और	
बांभन्स	२६०	अच्छदार्थशक्युद्धव	२८८
अदभुत	२६२	अच्छदशक्युद्धवध्वनि दो भेद वस्तु-	
शान्त	२६३	ध्वनि और अलङ्कारध्वनि	२८९
शान्त और दयावीर परस्पर भिन्न		अर्थशक्युद्धव ध्वनि १० भेद	२९१
प्रकार के रस	२६८	रुचिप्रादोत्तिमिद्ध और रुचिनिवद्ध-	
वत्सल रस भरतमुनि की मान्यता	२६६	वस्तुप्रादोत्तिमिद्धव्यङ्ग्य अर्थ का	
रसों का परस्पर विरोध	२६८	स्वरूपविश्लेषण	२९७
परस्पर विरुद्ध रस विरोध-परिणामन-		अलङ्कार-ध्वनि का रहस्य अलङ्करण	
सकेत	"	न कि अलङ्कृत वस्तु	२९८
भावादिप्रधान वाक्य भी काव्य		शब्दार्थशक्युद्धवध्वनि भेद	"
ही है	२६९	व्यङ्ग्यार्थ-विश्लेषण में काव्यप्रकार-	
'भाव' (भावकाव्य) निरूपण	२७०	विश्लेषण	२९९
रसाभास और भावाभास	२७०	उपर्युक्त ध्वनिभेद-सफलन	"
भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि		उपर्युक्त ध्वनि-भेदों के 'पदगत' और	
और भावशबलता	२७६	'वाक्यगत' भेद	३०१
चतुर्थ परिच्छेद		अर्थशक्युद्धवध्वनि की प्रबन्ध-व्यङ्ग्यता	३०८
काव्य-प्रकार-निरूपण	२७९	असलक्षयमव्यङ्ग्यध्वनि की भिन्न-भिन्न	
प्रथम काव्य-प्रकार 'ध्वनि' काव्य	"	व्यञ्जक भूमियाँ	३११
ध्वनिकाव्य के दो भेद अविध्वक्षित-		पूर्वनिष्पित ध्वनि-प्रभेद-सफलन	३१५
वाच्य और विध्वक्षितान्यपरवाच्य	२८०	द्वितीय काव्यप्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य-	
अविध्वक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद	२८१	काव्य	३१९
१-'अर्थान्तरसकमितवाच्य' ध्वनि	"	गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के आठ प्रकार	३२
२-'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' ध्वनिकाव्य	२८३	१-अपराङ्गव्यङ्ग्य	"
'अभिधामूलध्वनि' में लक्षणा मूलध्वनि का		२-काकाक्षिप्तव्यङ्ग्य	३२
भ्रम और उसका निवारण	२८५	३-वाच्यसिद्धव्यङ्ग्य	३३
अर्थान्तरसकमित और अत्यन्ततिर-		४-सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य	"
स्कृत वाच्यध्वनि में परस्पर भेद	२८५	५-तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य	३२
		६-अस्फुटव्यङ्ग्य	३३

पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय
	७-अगूढव्यङ्ग्य	३२६	रसानुभाव के लिए व्यञ्जना की
	८-असुन्दरव्यङ्ग्य	३२७	अनिवार्य मान्यता
१०	गुणीभूतव्यङ्ग्य की अन्यान्य प्रकार-		अनुमिति अथवा स्मृति के द्वारा
	सम्भावनाएँ	३२८	रसास्वाद की असभावना
१६	काव्य की ध्वनिरूपता और गुणीभूत-		व्यक्तिविवेककार(महिमभट्ट)सम्मत
	व्यङ्ग्यता • एक अभिज्ञान	३३०	व्यङ्ग्यार्थानुमितिवाद का खण्डन
१८	काव्यप्रकाशकार-सम्मत तृतीय काव्य-		व्यञ्जनावृत्ति की मान्यता अनिवार्य है
	भेद-चित्रकाव्य-का खण्डन	३३२	व्यञ्जना : रसना • चतुर्थी वृत्ति के दो
			नाम और रूप
४१	पञ्चम परिच्छेद		षष्ठ परिच्छेद
४१	व्यञ्जनावृत्ति • स्वरूप-निर्देश	३३८	काव्य के अन्यनिमित्तक भेद दृश्य-
४२	व्यङ्ग्यार्थविवोध में 'अभिधा' का		काव्य और श्रव्यकाव्य
	असामर्थ्य	"	'दृश्य'काव्य की 'रूपक' संज्ञा
४३	अभिहितान्वयवादसम्मत तात्पर्यवृत्ति		'अभिनय' का स्वरूप-निरूपण
४४	में व्यङ्ग्यविवोधन की अशक्ति	३३९	रूपक के १० भेद
४५	अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार में		'रूपक' के अतिरिक्त 'उपरूपक'
	भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव		सामान्य स्वरूपनिर्देश
४६	असभाव्य	३४०	प्रथम रूपक-प्रकार • नाटक •
४७	दशरूपककार सम्मत धनिक के तात्पर्यवृत्ति		स्वरूपनिरूपण
	में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव असम्भव	३४१	नाटकीय परिच्छेद : अद्भुतस्वरूप और
४८	लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव		महत्त्व
४९	अयुक्तियुक्त	३४३	अद्भुतान्तर्गत अद्भुत : गर्भाद्भुत
५०	वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के मौलिक		नाटक-प्रयोग की प्रक्रिया • पूर्वरङ्गविधान
५१	भेदों में व्यञ्जना की मान्यता		पूर्वरङ्ग • नान्दीगायन
५२	का बीज	३४४	नान्दी क्या है
५३	१-बोद्ध-भेद	"	पूर्वरङ्ग का अङ्ग • नान्दी अथवा रङ्गद्वार
५४	२-स्वरूप-भेद	३४५	स्थापना
५५	३-इयत्ता-भेद	"	स्थापना में भारती वृत्ति
५६	४-निमित्त-भेद	३४६	भारती वृत्ति का स्वरूप-संकीर्तन
५७	५-प्रभाव-भेद	"	भारती वृत्ति के अङ्ग
५८	६-प्रतीति-भेद	"	१ प्ररोचना
५९	७-काल-भेद	३४७	२ वीथी
६०	८-आश्रय-भेद	"	३ प्रहसन
६१	९-विषय-भेद	"	४ आनुज्ञ • प्रस्तावना
			प्रस्तावना के पाँच भेद

विषय	पृष्ठ	विषय	पृ
१-‘उद्घात्यक’	३७७	चतुर्थ अर्थप्रकृति-प्रकरी और उगरी	
२-‘कथोद्घात’	३७८	विधान-व्यवस्था	४०
३-‘प्रयोगातिशय’	३७९	पञ्चम अर्थप्रकृति - कार्य	४०
४-‘प्रवर्तक’	३८०	अवस्थापयक स्वरूप और प्रकार-निर्देश	४०
५-‘अवलम्बित’	३८१	१-आरम्भ	४०
आमुखोपयुक्त वीथ्यग	३८२	२-यत्न	”
नक्षकुट्ट के मत में प्रस्तावना का अन्य		३-प्राप्त्याशा	४०
प्रकार	”	४-नियताप्ति	४०
वस्तु इतिवृत्त आधिकारिक और		५-फलागम	”
प्रासंगिक	”	‘सन्धि’-स्वरूप-निरूपण	४०
पताकास्थानक नाटकीय उपयोग	३८४	सन्धिपञ्चक	”
प्रथम पताकास्थानक	३८५	१-मुखसन्धि	४०
द्वितीय ”	३८६	२-प्रतिमुख	४१
तृतीय ”	३८७	३-गर्भसन्धि	४१
चतुर्थ ”	३८८	४-विमर्शसन्धि	४१
पताकास्थानक की योजना में नाटक-		५-निर्वहणसन्धि	४१
कार का स्वातन्त्र्य	३८९	सन्ध्यङ्ग-निरूपण ‘मुख’सन्धि के	
रूपक की इतिवृत्त-रचना चरित-		१२ अङ्ग	४१
चित्रण अथवा रस के अनुकूल	३९०	१-उपक्षेप	”
अर्थोपक्षेप की योजना - कवि-		२ परिकर	४१
स्वातन्त्र्य का एक प्रकारविशेष	”	३-परिन्त्याम	४१
अर्थोपक्षेपक स्वरूप और प्रकारनिर्देश	३९१	४-विलोभन	”
प्रथम अर्थोपक्षेपक विष्कम्भक दोभेद	३९२	५-युक्ति	४१
द्वितीय अर्थोपक्षेपक प्रवेशक	”	६-प्राप्ति	”
तृतीय ” चूल्का	३९३	७-समाधान	४१
चतुर्थ ” अङ्कावतार	”	८-विधान	४१
पञ्चम ” अङ्कमुख	३९४	९-परिभावना	”
‘अङ्कास्य’ क्या	”	१०-उद्भेद	४२
विष्कम्भक आदि की योजना-व्यवस्था	३९६	११-करण	”
अर्थप्रकृति-पञ्चक नामनिर्देश	३९७	१२-भेद	४२
प्रथम अर्थप्रकृति बीज	३९८	प्रतिमुखसन्धि के १३ अङ्ग निर्देश	”
द्वितीय ” बिन्दु	३९९	१-विलास	४२
तृतीय ” पताका	४००	२-परिसर्प	४२
पताका की नाटकपर्यन्त योजना	”	३-विद्यत	”

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
४-तापन	४२८	११-प्ररोचना	४४३
५-नर्म	"	१२-आदान	"
६-नर्मद्युति	४२५	१३-छादन	४४४
७-प्रगमन	४२६	निर्वहणसन्धि के १४ अङ्ग : निर्देश	"
८-विरोध	"	१-सन्धि	४४५
९-पर्युपासन	४२७	२-विवोध	"
१०-पुष्प	"	३-ग्रथन	४४६
११-वज्र	४२८	४-निर्णय	"
१२-उपन्यास	"	५-परिभाषण	४४७
१३-वर्णसंहार	४२९	६-कृति	४४८
गर्भसन्धि के १३ अङ्ग निर्देश	४३०	७-प्रसाद	"
१-अभूताहरण	४३१	८-आनन्द	"
२-मार्ग	"	९-समय	४४९
३-रूप	४३२	१०-उपगूहन	"
४-उदाहरण	"	११-भाषण	४५०
५-क्रम	४३३	१२-पूर्ववाक्य	"
६-संग्रह	"	१३-काव्यसंहार	"
७-अनुमान	४३४	१४-प्रशस्ति	४५१
८-प्रार्थना	"	सन्ध्यङ्ग-निवेश में मतभेद	"
९-क्षिति	४३५	सन्ध्यङ्गयोजना-विषयक परिनिष्ठित	
१०-घोटक	"	सिद्धान्त	४५२
११-अधिवल	४३६	सन्ध्यङ्गनिवेश की उपयोगिता	४५३
१२-उद्देश	"	रसाभिव्यञ्जन के लिये सन्ध्यङ्गयोजना	४५४
१३-विद्रव	"	श्रुति-विचार	४५५
विमर्शसन्धि के १३ अङ्ग निर्देश	४३७	कैशिकी श्रुति	४५७
१-अपवाद	"	कैशिकी के अङ्ग	"
२-सम्फोट	४३८	१-नर्म	"
३-व्यवसाय	"	२-नर्मस्फूर्ज	४५८
४-द्रव	४३९	३-नर्मस्फोट	४५९
५-द्युति	"	४-नर्म-नर्म	४६०
६-शक्ति	४४०	मात्त्वती श्रुति - अङ्गचतुष्टय रचन- निष्पन्न	"
७-प्रसङ्ग	"	आरभती श्रुति साङ्गोपाङ्ग वर्णन	४६१
८-लेख	४४१	भारती श्रुति	४६७
९-प्रतिबोध	४४२	नाट्योक्तिनिर्देश	"
१०-विरोधन	"		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
नाटकपात्रों का नाम-निर्देश	४६८	२७-गर्हण	१८६
नाटक का नामकरण	४६९	२८-पृच्छा	"
'प्रकरण' का नाम-निरूपण	"	२९-प्रमिद्धि	"
'नाटिकादि' का नामकरण	"	३०-सारूप्य	४८७
नाटक के कतिपय प्रयोग-विशेष 'निर्देश' "	"	३१-सत्तेष	"
नाटक के पात्रों के सम्बोधन-प्रकार	"	३२-गुणकीर्तन	"
रूपकों का भाषा-विभाग	४७१	३३-लेश	४८८
नाट्य-लक्षण' और नाट्य-अलङ्कार'	४७३	३४-मनोरथ	"
३६ लक्षणों का नाम-निर्देश	४७४	३५-अनुक्तनिदि	"
१-लक्षण-प्रकार भूषण	४७५	३६-प्रियोक्ति-प्रियवचन	४८९
२-अक्षरसंघात	४७६	नाट्यालङ्कार ' नामनिर्देश	"
३-शोभा	"	१-आगी	४९०
४-उदाहरण	४७७	२ आकन्द	"
५-हेतु	४७८	३-कपट	४९१
६-सशय	"	४-अक्षमा	४९२
७-दृष्टान्त	"	५-गर्व	"
८-तुल्यतर्क	४७९	६-उद्यम	"
९-पदोच्चय	"	७-आश्रय	"
१०-निदर्शन	४८०	८-उत्प्रासन	४९३
११-अभिप्राय	"	९-आकाक्षा	"
१२-प्राप्ति	"	१०-क्षोभ	"
१३-विचार	४८१	११-पश्चात्ताप	४९४
१४-दिष्ट	"	१२-उपपत्ति	"
१५-उपदिष्ट	४८२	१३-आशसा	"
१६-गुणातिपात	"	१४-अध्यवसाय	"
१७-गुणातिशय	"	१५-विसर्प	४९५
१८-विशेषण	४८३	१६-उल्लेख	"
१९-निरुक्ति	"	१७-उत्तेजन	"
२०-सिद्धि	४८४	१८-परीवाद	४९६
२१-भ्रश	"	१९-नीति	"
२२-विपर्यय	"	२०-अर्थ-विशेषण	"
२३-दाक्षिण्य	"	२१-प्रोत्साहन	४९७
२४-अनुनय	४८५	२२-साहाय्य	"
२५-माला	"	२३-अभिमान	"
२६-अर्थापत्ति	"	२४-अनवर्तन	४९८

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
२५-उत्कीर्तन	४९८	वीथी के १३ अक्ष	५२०
२६-याचना	४९९	१-उद्घात्यक	५२१
२७-परिहार	"	२-अवलगित	"
२८-निवेदन	"	३-प्रपञ्च	"
२९-प्रवर्तन	५००	४-त्रिगत	५२२
३०-आख्यान	"	५-छल	५२३
३१-युक्ति	"	६-वाक्केलि	५२४
३२-प्रहर्ष	५०१	७-अधिवल	५२५
३३-उपदेशन	"	८-गण्ड	"
नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार, उपयोग-		९-अवस्यन्दिता	५२६
मैंद और अनिवार्य योजना	५०२	१०-नालिका	५२७
वीथ्यङ्ग-सकेत	५०४	११-असत्प्रलाप	५२८
लास्य के अङ्ग निर्देश	"	१२-व्याहार	"
१-गेयपद	"	१३ मृदव	५२९
२-स्थितपाठ्य	५०५	रूपकों में वीथ्यङ्गों का निवेश और	
३-आसीन	"	उपयोग	"
४-पुष्पगण्डिका	"	दशम रूपक-प्रकार प्रहसन* सप्रभेद-	
५-प्रच्छेदक	"	निरूपण	५३०
६-त्रिगूढक	५०६	१-भेद - शुद्ध प्रहसन	"
७-सैन्धव	५०७	२-भेद * सङ्कीर्ण प्रहसन	"
८-द्विगूढक	"	'सकीर्ण' प्रहसनविषयक मतभेद तथा	
९-उत्तमोत्तमक	५०८	'विकृत' नामक प्रहसननिरूपण	५३१
१०-उक्तप्रत्युक्त	"	उपरूपक-निरूपण	५३२
महानाटक क्या है ?	"	१-नाटिका	"
१-रूपक-प्रकार * नाटक	३६२	२-त्रोटक	५३३
२- " प्रकरण * समेद-		३-नोष्ठी	५३४
निरूपण	५०९	४-सष्टक	"
३- " भाण	५११	५-नाट्यरासक	५३५
४- " व्यायोग	५१२	६-प्रस्थानक	५३६
५- " समवसार	५१३	७-उत्साप्य	"
६- " लिम	५१६	८-काव्य	५३७
७- " रिहान्त	५१७	९-प्रेक्ष्य	५३८
८- " अरु	५१९	१०-रासक	५३९
९- " वीथी	५२०	११-संलापक	५४०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१२-श्रीगदित	५४०	सप्तम परिच्छेद	
१३-शिल्पक	५४१	काव्य के दोष स्वरूप-निरूपण	५५९
१४-विलासिका	५४२	दोषतत्त्व प्रकार-निरूपण	"
१५-दुर्महिका	५४३	पद-पदांश-चात्यगत दोष-निर्देश	५६०
१६-प्रकरणिका	५४४	पददोष-निरूपण	"
१७-हृत्सीश	"	१-दुःश्रवत्व	"
१८-भाणिका	५४५	२-अश्लीलत्व त्रिविध	"
‘श्रव्य’ काव्य-निरूपण	५४६	क मीठाभिव्यञ्जनरूप	५६१
प्रथम श्रव्यकाव्य-प्रकार पद्यमय		ख जुगुप्साभिव्यञ्जनरूप	"
अथवा पद्य-काव्य	५४७	ग अमन्त्रलाभिव्यञ्जनरूप	"
पद्यात्मक काव्य के भेद	"	३-अनुचितार्थत्व	"
१-मुक्तक	"	१-अप्रयुक्तत्व	"
२-युग्मक	५४८	५-प्राप्त्यत्व	५६२
✓ महाकाव्य स्वरूप-विनिश्चय	५४९	६-अप्रतीतत्व	"
महाकाव्य-सम्बन्धी कतिपय आनु-		७-सन्दिग्धत्व	५६३
षगिक विशेषतायें आर्य-महाकाव्य		८-नेयार्थत्व	"
में ‘सर्ग’ के बदले ‘आख्यान’ रचना	५५३	९-निहतार्थत्व	५६४
प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्य में		१०-अवाचकत्व	"
‘सर्ग’ के बदले ‘आश्वास’ की रचना	५५४	११-क्लिष्टत्व	५६५
अपभ्रंश भाषा में रचित महाकाव्य में		१२-विरुद्धमतिकृत्त्व	"
‘सर्ग’ के बदले ‘कुण्डवक’ की रचना	"	१३-अविमृष्टविधेयाशत्व	"
काव्य स्वरूप-निरूपण	"	नव् का ‘प्रसज्यप्रतिषेध’ रूप अभिप्राय	
खण्डकाव्य लक्षण और उदाहरण	५५५	और समासामाव में इसकी रक्षा	५६७
‘कोष’रूप पद्य-प्रबन्ध स्वरूप-निर्देश	"	क्लिष्टत्व-विरुद्धमतिकारित्व और अवि-	
द्वितीय श्रव्यकाव्य-प्रकार गद्यमय		मृष्टविधेयाशत्व की पदगतता की	
अथवा गद्य-काव्य	"	व्यवस्था	५७०
गद्यकाव्य के अवान्तर भेद	५५६	वाक्यगत दोष-निरूपण	"
१-कथा	"	१-दुःश्रवत्व	"
२-आख्यायिका	५५७	२-अश्लीलत्व	"
गद्यपद्यात्मक काव्य-प्रबन्ध	५५८	३-नेयार्थत्व	"
१-चम्पू	"	४-क्लिष्टत्व	५७१
२-विरुद्ध	"	५-अविमृष्टविधेयाशत्व	"
३-करम्भक	"	अविमृष्टविधेयाशत्व (विधेयाविमर्श)	
अन्यान्य काव्यप्रकारों का निर्दिष्ट		की अन्यान्य सम्माननार्थ	"
काव्यभेदों में अन्तर्भाव	"	१-प्रक्रान्तवाचक ‘तत्’ के प्रयोग में	५७३

विषय	पृष्ठ
२-प्रसिद्धि-चोधक 'तत्' के प्रयोग में ५७३	
३-पूर्वानुभूत पदार्थ के स्मारक- रूप 'तत्' के प्रयोग में "	
मिश्र विभक्ति में, 'यत्' शब्द के संक्षिप्त 'तत्' शब्द की निराकाक्षता ५७४	
पदाशङ्गत दोष ५७५	
१-दुःश्रवत्व स्वरूप तथा निदर्शन "	
२-निहतार्थत्व "	
३-अवाचकत्व ५७६	
४-अश्लीलत्व "	
५-नेयार्थत्व "	
पदाशङ्गत दोष - उपसंहार ५७७	
निरर्थकत्व दोष "	
असमर्थत्व दोष "	
च्युतसंस्कृतित्व दोष "	
कतिपय दोषों के स्वरूप-भेद ५७८	
वाक्यदोष - स्वरूप तथा भेद-निरूपण ५७९	
वाक्यगतदोष ५८०	
१-प्रतिकूलवर्णत्व "	
२-लुप्तविसर्गत्व ५८१	
३-आहतविसर्गत्व "	
४-अधिकपदत्व - विशेष विचार "	
५-न्यूनपदत्व ५८२	
६-कथितपदत्व "	
७-हतवृत्तत्व ५८३	
८-पतत्प्रकर्षत्व ५८५	
९-सन्धिविश्लेष "	
१०-सध्यश्लीलत्व ५८६	
११-सन्धिकष्टत्व "	
१२-अर्धान्तरैकपदत्व ५८७	
१३-समाप्तपुनरात्तत्व "	
१४-अभवन्मतसम्बन्धत्व "	
१५-अक्षमत्व ५९०	
१६-अमतपरार्थत्व ५९१	
१८-वाच्यानभिधान	

विषय	
१८-भग्नप्रक्रमत्व ५९	
१९-प्रसिद्धित्याग ५९	
२०-अस्थानस्थपदत्व ५९	
२१-अस्थानस्थसमासत्व ५९	
२२-सङ्कोर्णत्व ५९	
२३-गर्भितत्व "	
अर्थदोष - स्वरूप तथा भेद ५९	
१-अपुष्टत्व "	
२-दुष्प्रमत्व ६०	
३-प्राम्यत्व "	
४-व्याहतत्व "	
५-अश्लीलत्व ६०	
६-कष्टत्व "	
७-अनवीकृतत्व ६०२	
८-निर्हेतुत्व ६०३	
९-प्रकाशितविरुद्धत्व "	
१०-संदिग्धत्व "	
११-पुनरुक्तत्व ६०४	
१२-प्रसिद्धिविरुद्धत्व ६०५	
१३-विद्याविरुद्धत्व "	
१४-साक्षादक्षत्व ६०६	
१५-सहचरभिन्नत्व "	
१६-अस्थानयुक्तत्व "	
१७-अविशेष में विशेष ६०७	
१८-अनियम में नियम "	
१९-विशेष में अविशेष "	
२०-नियम में अनियम ६०८	
२१-विध्ययुक्तत्व ६०९	
२२-अनुवादायुक्तत्व "	
२३-निर्मुक्तपुनरुक्तत्व ६१०	
रसदोष : स्वरूप तथा प्रकार-निरूपण "	
१-रस की स्वशब्दवाच्यता ६११	
२-स्थायिभाव की " "	
३-व्यभिचारिभाव की " "	
८-प्रकृत रस-विरुद्ध विभाषादि- योजना ६१०	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
५-अनुभाव की कष्ट-कल्पना	६१२	ग्राम्यत्व • अनित्यत्व-व्यवस्था	६२७
६-विभाव की "	६१३	'निर्हेतुत्व' की गुणव्यवस्था	६२८
७-अकाण्ड में रसविस्तार	"	'रसातिविरुद्धत्व' की गुणव्यवस्था,	"
८-अकाण्ड में रसच्छेद	"	'कविममय-कीर्तन'	"
९-पुन. पुन रसदीप्ति	"	'पुनरुक्तत्व' की अदोपता	६३०
१०-अङ्गी रस का अनुसंधान	"	न्यूनपदत्व "	६३१
११-प्रकृत रस के अनुपकारक का	"	अधिकपदत्व "	६३३
विस्तृत वर्णन	६१४	समाप्तपुनरात्तत्व "	"
१२-अङ्गभूत रस-भावादि का	"	गर्भितत्व "	६३४
अतिविस्तार	"	पतत्प्रकर्षत्व "	"
१३-प्रकृतिविपर्यय	"	रसगत दोषों की अनित्यत्व-व्यवस्था	"
१४-अर्थानौचित्य	"	सर्वदोष-प्रतिप्रमव समस्त दोषों की	"
अलङ्कार-दोष पूर्वनिरूपित दोष-वर्ग	"	अनित्यत्वव्यवस्था	६८०
में अन्तर्भाव, उपमादिगत दोष	"	अष्टम परिच्छेद	"
'अनुचितार्थत्व'	६१५	काव्य में गुण-तत्त्व स्वरूप और	"
यमक-दोष अप्रयुक्तत्व	६१६	उपयोग	६४२
उत्प्रेक्षागत दोष अवाचकत्व	"	गुणविभाग माधुर्य, ओज तथा	"
अनुप्रासगत दोष प्रतिकूलवर्णत्व	"	प्रसाद	"
उपमागत दोष अधिकपदत्व, न्यून-	"	माधुर्य-निरूपण	६४३
पदत्व	६१७	माधुर्य का अभिव्यक्ति-क्षेत्र	६४४
उपमागत दोष भ्रमप्रक्रमत्व	"	माधुर्य के अभिव्यञ्जन-साधन	६४५
अनुप्रासगत दोष अपुष्टार्थत्व	६१९	ओजोगुण • स्वरूप तथा क्षेत्र-निरूपण	६४६
समासोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास दोष	"	ओजोगुण के अभिव्यञ्जन-साधन	"
पुनरुक्तत्व	६२०	प्रसादगुण स्वरूप तथा क्षेत्र-निर्देश	६४७
अनुप्रासगत अन्य दोष ख्याति-	"	प्रसाद गुण के अभिव्यञ्जन साधन	६४८
विरुद्धत्व	६२१	माधुर्यादि गुणत्रय की शब्दगुणता •	"
उपर्युक्त दोष • अनित्यत्वव्यवस्था,	"	औपचारिक	"
'दुःश्रवत्व' की अनित्यता	"	प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत श्लेष,	"
अश्लीलत्व की अनित्यत्व-व्यवस्था	६२२	समाधि, औदार्य तथा प्रसाद का	"
निहतार्थत्व-अप्रयुक्तत्व अनित्यत्व-	"	ओजोगुण में अन्तर्भाव	६४९
नियम	६२३	प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'पृथक्-	"
अप्रतीतत्व अनित्यता-नियम	६२४	पदत्व'रूप माधुर्य का 'माधुर्य' गुण	"
कथितपदत्व अनित्यत्व-व्यवस्था	६२५	में अन्तर्भाव	६५१
सन्दिग्धत्व • अनित्यता-नियम	६२६	प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थव्यक्ति	"
कष्टत्व गुणव्यवस्था	"	का 'प्रसाद' में अन्तर्भाव	"

विषय	पृष्ठ
प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'कान्ति'	
तथा 'सुकुमारता' : दोषत्यागरूप	६५२
प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'समता'	
गुणत्रय में श्रान्तभाव	"
प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण	
गुणत्रय में श्रान्तभाव	६५३

नवम परिच्छेद

काव्यमें रीतितत्त्व : स्वरूप और उपयोग	६५८
रीतिभेद : वैदर्भी, गौडी, पाद्याली	
तथा लाटी	"
वैदर्भी : सोदाहरण स्वरूप-निरूपण	६५९
आचार्य रुद्रट-सम्मत वैदर्भी-स्वरूप-निर्देश	६६०
गौडीरीति : सोदाहरण स्वरूप-निर्देश	"
आलङ्कारिक पुरुषोत्तम सम्मत गौडी-स्वरूप-सकेत	"
पाद्याली रीति : सोदाहरण स्वरूप-निरूपण	६६१
भोजराज-सम्मत पाद्याली-स्वरूप	"
लाटी रीति : सोदाहरण स्वरूप-विवेक	"
अन्य काव्याचार्य-सम्मत लाटी-स्वरूप	६६२
अन्य आलङ्कारिक-सम्मत रीतिचतुष्टय-स्वरूप	"
रचना के नियामक	"

दशम परिच्छेद

काव्य में अलङ्कार-तत्त्व : स्वरूप और उपयोगिता	६६५
शब्दालङ्कार	६६६
१-पुनरुक्तवदाभास	"
अनुप्रास : भेद-प्रभेद-निर्देश	६६७
क. छेकानुप्रास	"
ख. वृत्त्यनुप्रास	"
ग. श्रुत्यनुप्रास	६६९
घ. श्रुत्यानुप्रास	६७०
ङ. लाटानुप्रास	६७१

विषय	पृष्ठ
३-यमक	६७२
पदावृत्तिरूप यमक	६७३
४-वक्रोक्ति काकुब्धोक्ति	६७४
५-भाषायमक	६७५
६-श्लेष	"
क. वर्णश्लेष	६७६
ख. प्रत्ययश्लेष	"
ग. लिङ्गश्लेष	६७७
घ. प्रकृतिश्लेष	"
ङ. पदश्लेष	"
च. विभक्तिश्लेष	६७८
छ. वचनश्लेष	"
ज. भाषाश्लेष	६७९
श्लेषगत भेद-प्रभेद	"
श्लेषविषयक शास्त्रार्थ	६८०
७-चित्रालङ्कार	६८७
प्रहेलिका : अलङ्कारत्वखण्डन	६९१
अर्थालंकार :	६९२
१-उपमा	"
उपमा के भेद-प्रभेद : पूर्णोपमा :	
श्रौती और आर्थी	६९३
पूर्णोपमागत भेद : तद्धितगा, समासगा	
और वाक्यगा पूर्णोपमा	६९५
तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा	"
तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा	६९६
लुप्तोपमा : भेद-प्रभेद	"
धर्मलुप्तोपमा के पाँच प्रकार	६९८
आधार और कर्म से विहित 'क्यच्'	
प्रत्यय के प्रयोग में धर्मलुप्तोपमा	"
उपमानलुप्तोपमा : वाक्यगा तथा समासगा	७०१
वाचकलुप्तोपमा : समासगा और फिप्प्रत्ययगा	"
समासगा वाचकलुप्तोपमा	७०२

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
क्लिङ्गा वाचकलुप्तोपमा	७०२	११-निश्चय	७३८
धर्मोपमान लुप्तोपमा भेदद्वय	"	१२-उत्प्रेक्षा सप्रभेदनिरूपण	७३९
धर्मवाचक " "	७०३	वाच्योत्प्रेक्षा	७४०
उपमेय " "	"	वाच्यगुणोत्प्रेक्षा	"
धर्मोपमेय " "	७०८	वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा	७८१
त्रिलुप्तोपमा	७०५	वाच्यद्रव्योत्प्रेक्षा	"
उपमाभेद-संकलन	"	उत्प्रेक्षावैचित्र्य	७४८
उपमा में साधारण धर्म स्वरूप तथा		१३-अतिशयोक्ति सप्रभेद निरूपण	७५३
प्रकार-निर्देश	७०७	१४-तुल्ययोगिता	७५८
उपमा के अन्यान्य वैचित्र्य	७०८	प्रस्तुत पदार्थों में एकक्रियारूप धर्म के	
क एकदेशविवर्तिनी उपमा	"	योग में तुल्ययोगिता	"
ख. रसनोपमा	७०९	दो अप्रस्तुत पदार्थों में एकगुणरूप धर्म	
ग. मालोपमा	"	के योग में तुल्ययोगिता	"
उपमा के अनन्त वैचित्र्य वर्गीकरण		१५-दीपक	७६०
की असंभावना	७१०	१६-प्रतिवस्तूपमा	७६२
२-अनन्वय	"	१७ दृष्टान्त	७६३
३-उपमेयोपमा	७१२	१८-निदर्शना	७६५
४-स्मरण	७१३	१९-व्यतिरेक सप्रभेद निरूपण	७६९
✓ ५-रूपक	७१५	२०-सहोक्ति	७७३
परम्परितरूपक सप्रभेद निरूपण	७१६	२१-विनोक्ति	७७५
साङ्गरूपक समस्तवस्तुविषय और		२२-समासोक्ति	७७७
एकदेशविवर्ति	७१९	२३-परिकर	७८७
निरङ्गरूपक भेदद्वय	७२१	२४-श्लेष	७८८
रूपकभेद संकलन	"	२५ अप्रस्तुतप्रशसा सप्रभेद	
रूपक-वैचित्र्य	७२२	निरूपण	७८९
६-परिणाम	७२६	सामान्य से विशेष की अभिव्यञ्जना में	
७-संदेह सप्रभेदनिरूपण	७२८	'अप्रस्तुतप्रशसा'	"
८-भ्रान्तिमान्	७३०	विशेष से सामान्य की अभिव्यञ्जना	
९-उल्लेख	७३२	में 'अप्रस्तुतप्रशसा'	७९०
ज्ञातृभेदनिबन्धन उल्लेख	"	कार्य से कारण की अभिव्यञ्जना में	
विषयभेदनिबन्धन उल्लेख	७३४	'अप्रस्तुतप्रशसा'	"
१०-अपहृति	७३५	कारण से कार्य की अभिव्यञ्जना में	
अपहृत्वपूर्वक आरोप में 'अपहृति'	"	'अप्रस्तुतप्रशसा'	७९६
आरोपपूर्वक अपहृत्व में "	"	समान वस्तु से समान वस्तु की	
अपहृति का प्रकारान्तर	७३६	अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशसा'	"

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
समासोक्ति की भौति केवल विशेषण		उक्तनिमित्ता विभावना	८१४
की श्लिष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुत- प्रशसा'	७९१	अनुक्तनिमित्ता "	"
श्लेष की भौति विशेष्य की भी श्लिष्टता		३५-विशेषोक्ति	८१५
में श्लेषमूला 'अप्रस्तुतप्रशसा'	७९२	३६-विरोध * सप्रभेद निरूपण	८१८
२६-व्याजस्तुति	७९४	गुण का गुण से विरोधवर्णनरूप विरोध "	"
व्याजेन स्तुति = निन्दा के बहाने		जाति का जाति से "	"
स्तुति	७९५	क्रिया के साथ गुण का "	८१९
व्याजरूपा स्तुति = स्तुति का		गुण का द्रव्य से "	"
बहाना मात्र	"	क्रिया के साथ क्रिया का "	"
२७-पर्यायोक्ति	७९६	क्रिया का द्रव्य के साथ "	"
✓ २८-अर्थान्तरन्यास	७९९	द्रव्य का द्रव्य के साथ "	"
साधर्म्य के द्वारा सामान्य का विशेष		३७-असङ्गति	८२१
से समर्थन "	"	३८-विषम सप्रभेद निरूपण	८२३
" " विशेष का सामान्य		कारणगुण से कार्य-गुण के विरोध में	
से समर्थन "	"	'विषम'	८२४
" " कार्य का कारण से		कारण की क्रिया से कार्य की क्रिया के	
समर्थन "	"	विरोध में 'विषम'	"
" " कारण का कार्य से		आरब्ध कार्य के वैफल्य में अनर्थो-	
समर्थन	८००	त्पत्तिरूप 'विषम'	"
✓ २९-काव्यलिङ्ग	८०२	विरूपसपटना में 'विषम'	"
३०-अनुमाना	८०६	३९-सम	८२६
३१-हेतु	८०७	४०-विचित्र	८२७
३२-अनुकूल	८०८	४१-अधिक	८२८
३३-आक्षेप	८०९	४२-अन्योन्य	८२९
सामान्यतया सूचित वस्तु का सर्वा-		४३-विशेष	"
त्मना निषेधरूप वक्ष्यमाणविषयगत		४४-व्याघात	८३१
आक्षेप	८१०	व्याघात * प्रकारान्तर	"
एक अंश के वर्णन और दूसरे अंश के		✓ ४५-कारणमाला	८३३
निषेधमें वक्ष्यमाण विषयगत आक्षेप "	"	✓ ४६-मालादीपक	८३४
वस्तुस्वरूप के निषेधमें उक्त विषयगत		✓ ४७-एकावली	"
आक्षेप	"	पूर्व-पूर्ववर्णित के विशेषणरूप से उत्त-	
वस्तुकथन के निषेध में उक्त वस्तुगत		रोत्तर वर्ण्य वस्तु के स्थापन में	
आक्षेप	८११	एकावली	८३५
आक्षेप का प्रकारान्तर	"	✓ ४८-मार	८३६
३४-विभावना * भेद-प्रभेद	८१८	✓ ४९-ययान्मस्य	८३७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
५०-पर्याय	८३८	प्रतीप . प्रकारान्तर	८५०
एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय'	"	६०-मीलित	८५८
अनेक वस्तुओं के एकत्र क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय'	"	सद्वज रूप की तुल्यलक्षण वस्तु के द्वारा गोपन में 'मीलित'	"
एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय'	८३९	आगन्तुक रूप की तुल्यलक्षण वस्तु द्वारा गोपन में 'मीलित'	८५९
अनेक वस्तुओं के एकत्र संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय'	"	६१-सामान्य	"
५१-परिवृत्ति	८८०	६२-तद्गुण	८६०
'समान' और 'न्यून' वस्तु के साथ विनिमय में 'परिवृत्ति'	"	६३-अतद्गुण	८६१
अधिक के साथ 'विनिमय' में 'परिवृत्ति'	"	६४-सूक्ष्म	८६२
५२-परिसख्या	८४२	६५-व्याजोक्ति	८६४
शब्दव्यपोह में 'परिसख्या'	"	६६-स्वभावोक्ति	८६५
अर्थव्यपोह में	"	६७-भाषिक	८६७
अर्थलभ्य व्यावृत्ति में	८४३	६८-उदात्त	८७१
५३-उत्तर	८४४	लोकौत्तर वैभव का वर्णनरूप 'उदात्त'	"
५४-अर्थप्राप्ति	८४५	अज्ञभूत उदात्त चरितका	८७२
प्राकरणिक से अप्राकरणिक अर्थ की प्राप्ति में 'अर्थप्राप्ति'	८४६	६९-रसवत्	८७३
अप्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की प्राप्ति में 'अर्थप्राप्ति'	"	७०-प्रेय	"
५५-विकल्प	८४८	७१-ऊर्जस्वि	"
५६-समुच्चय सप्रभेद-निरूपण	८५०	७२-समाहित	"
५७-समाधि	८५३	७३-भावोदय	८७८
५८-प्रत्यनीक	८५४	७४-भावसन्धि	"
५९-प्रतीप	८५५	७५-भावशबलता	"
प्रसिद्ध उपमान की उपमेय-कल्पना में 'प्रतीप'	८५६	भावोदय	"
प्रसिद्ध उपमान की निष्फलता के प्रति- पादन में 'प्रतीप'	"	भावसन्धि	८७९
		भावशबलता	"
		सपर्युक्त अलङ्कार-सम्भिधण और उसके भेद	८८२
		१-सद्यष्टि	"
		२-सङ्कर	८८५
		अन्त्यसमाप्ति	८९१
		उदाहृत श्लोकानुक्रमणिका	८९३

॥ श्रीः ॥

साहित्यदर्पणः

विमर्शाख्य-हिन्दीव्याख्याविभूषितः

प्रथमः परिच्छेदः

(आरम्भ-मञ्जल)

ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया वाग्दे-
तायाः सामुख्यमाधत्ते—

(वाग्देवी-वन्दना)

शरदिन्दुमुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।

अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु ॥ १ ॥

अनुवाद—ग्रन्थकार (साहित्यदर्पण के रचयिता कविराज विश्वनाथ) अपने ग्रन्थ (साहित्यदर्पण) की निर्विघ्नसमाप्ति की कामना से, ग्रन्थारम्भ के पहले, वाङ्मय की एकमात्र अधिकारिणी भगवती वाग्देवी की दया-दीक्षा का ध्यान कर रहा है—

शरच्चन्द्र की कान्ति से भी चढ़ी-चढ़ी कान्ति वाली, वह (त्रिभुवनवन्दिता) वाग्देवी सरस्वती हमारे हृदय का अज्ञानान्धकार दूर करती रहे और उसमें समस्त (काव्यात्मक) अर्थ-तत्त्वों को अवभासित करती रहे ।

विमर्श—साहित्यदर्पण की 'विमर्श', 'तर्कानां शविगचिन्' किंवा 'लक्ष्मा' टीकाओं में 'अग्निहोत्रार्थान्' का अभिप्राय 'वाच्य, लक्ष्य और न्यङ्ग्यरूप त्रय' बताया गया है । किन्तु वस्तुतः यहाँ कविराज विश्वनाथ का अभिप्राय 'वाच्यविषयक विविध तत्त्व' है । 'वाच्यविषयक विविध तत्त्व' का तात्पर्य रस-भाव, गुण-गुण, वृत्ति-रसि, मूलकान्-उपकार आदि-आदि है । वाच्य और लक्ष्यरूप त्रयों के अवबोध के लिये वाग्देवी की दया-दीक्षा का विनम्र अनुरोध नहीं करना जितना कि वाच्य-तत्त्वों के निःसन्देह अवबोध के लिये । सस्कृत का अष्टाङ्गश्याम 'साहित्यदर्पण' के पहले ही रचा जा चुका था । भिन्न-भिन्न आट्टकारिकों की संगीक्षा में वाच्य के भिन्न-भिन्न तत्त्व पढ़ाने जा चुके थे । साहित्यदर्पणकार के लिये इन विविध वाच्य-तत्त्वों का वास्तविक अवबोध आवश्यक ही है जिसके लिये वाग्देवी की प्रार्थना ही उपेक्षित है । 'अखिलानर्थान् प्रकाशयतु' में जिस निम्नोक्त काव्यार्थतत्त्व के प्रकाशन की प्रार्थना है उनका स्वरूप अनिष्टकारक वा इस प्रकार का है निम्न है—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।

अलोकसामान्यमभिव्यक्तं परिष्कुरन्त प्रतिभाविशेषम् ॥ (ध्वनित्योक्त १)

(अलङ्कारशास्त्र का प्रयोजन काव्य-प्रयोजन से अभिन्न
अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह—

(काव्य-प्रयोजन • पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति)

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।

॥ काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥ २ ॥

(चतुर्वर्गप्राप्तिरूप काव्य-प्रयोजन का तात्पर्य)

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि
कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

उक्तं च (भामहेन)—

‘धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्ये कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥’ इति ।

(चतुर्वर्ग-प्राप्ति का सरल सुखद साधन काव्य ही है)

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्वादिना, ‘एकं शब्द
सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति’ इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्र-

अनुवाद—जो काव्य-के-प्रयोजन है वे ही अलङ्कारशास्त्र के भी हैं। यह ग्रन्थ
(साहित्यदर्पण) काव्य का अङ्ग है (क्योंकि काव्य की समीक्षा का शास्त्र-अलङ्कारशास्त्र-
काव्य का अङ्ग हुआ करता है) और इसके भी वे ही प्रयोजन हैं जो काव्य के हुआ करते
हैं । इसलिये यहाँ काव्य-प्रयोजन का निर्देश किया जा रहा है—

काव्य एक ऐसी वस्तु है जिससे अल्पबुद्धि मानव को, बिना किसी कष्ट-साधना के,
धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है । इसलिये ‘काव्य’
क्या है ? इसका निरूपण किया जा रहा है ।

पुरुषार्थचतुष्टय-प्राप्तिरूप काव्य-प्रयोजन वस्तुतः सर्वविदित है क्योंकि यह सभी
जानते हैं कि काव्य उपदेश दिया करता है—‘राम के ऐसा आचार-व्यवहार बनावो,
रावण के ऐसा आचार-व्यवहार न बनावो ।’ काव्य का यह उपदेश ‘कृत्य’-धर्मादिरूप
कर्तव्य-कर्म-की ओर हमारी प्रवृत्ति और ‘अकृत्य’ अधर्मादिरूप अकर्तव्य-अकर्म की ओर
से हमारी निवृत्ति का कारण है (और इस प्रकार चतुर्वर्ग-प्राप्ति का अन्यतम उपाय है) ।

इसीलिये तो कहा गया है—

‘सत्काम्य का अनुशीलन अथवा निर्माण एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ, काम
और मोक्ष का तात्त्विक ज्ञान हुआ करता है, कलाओं में व्युत्पत्ति बढ़ा करती है, विदग्ध
अथवा सद्दय्य होने का सुयश मिलता है और उसकी प्राप्ति हुआ करती है जिसे
हृदय का आह्लाद कहा जाता है । (भामह काव्यालंकार तथा अग्निपुराण) ।’

और वस्तुतः यह बात स्वयंसिद्ध है—काव्य से धर्म-प्राप्ति तो इसलिये सिद्ध है क्योंकि
भगवान् विष्णु के चरणारविन्द की स्तुति (स्तोत्र-काव्य भावना अथवा स्तोत्र
काव्य-रचना) धर्म का ही तो लाभ है । यहाँ ‘एक शब्द’ इत्यादि वेद-वाक्यों का
प्रमाण भी दिया जा सकता है जिसका तात्पर्य है—‘एक ही शब्द (विष्णु-वाचक प्रणव

सिद्धैव । अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा । कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव । मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्य-
धर्मफलाननुसंधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च ।

चतुर्धर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते ।
परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यन्नः करणीय
इत्यपि न वक्तव्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे
कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात् ?

अथवा ओङ्काररूप शब्द-वस्तुतः शब्दमात्र, क्योंकि समस्त शब्द अन्ततोगत्वा भगवद्वाचक
ही हैं) जिसका सोच-समझ कर प्रयोग किया जाय और ठीक-ठीक अर्थ-रहस्य समझा जाय,
क्या इहलोक और क्या परलोक-दोनों से सम्बद्ध हमारे मनोरथों का पूरक हुआ करता है ।

काव्य से अर्थ-प्राप्ति तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है ही । काव्य से कामरूप पुरुषार्थ की सिद्धि
इसलिये संभव है क्योंकि जब काव्य से अर्थ लाभ हुआ तो उसके द्वारा काम-सुख तो
अवश्य ही प्राप्त होगा ।

काव्य मोक्ष-प्राप्ति का भी साधन है क्योंकि काव्य के द्वारा सहृदय सामाजिक के
हृदय में उस अनासक्ति योग की भावना भरी जाया करती है जो काव्य-सम्भूत धर्मादि-
फल-भोग के प्रति स्वाभाविक है (क्योंकि अनासक्ति-योग ही मोक्ष-प्राप्ति है) । काव्य
से मोक्ष-प्राप्ति का एक यह भी अभिप्राय है—काव्य हम में मोक्ष-शास्त्र-सम्यन्धी विषयों
को व्युत्पत्ति उत्पन्न किया करता है । वैसे तो वेदादिशास्त्र पुरुषार्थचतुष्टय के प्रापक माने
गये हैं, किन्तु वेदादिशास्त्रों में कोई रस नहीं मिला करता और इसलिये इनके द्वारा
पुरुषार्थचतुष्टय की जो प्राप्ति है वह एक दुःखद साधना है और प्रौढ़बुद्धि लोगों के लिये ही
संभव है । काव्य तो परमानन्दसंदोह-रस-का जनक है और इसलिये काव्य से जो
पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है वह एक सुखद साधना है और कोमलबुद्धि लोगों
के भी पक्ष में है ।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि परिपक्व बुद्धि वालों के लिये, जब कि उन्हें वेदशास्त्रों
से ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हो सकती है, काव्य की कोई उपयोगिता नहीं । क्योंकि
चात तो वस्तुतः यह है कि जब कि कड़वी-कसेली औषध (वेदशास्त्र मनुष्य के ताप-
सताप की कड़वी-कसेली औषध है) से होने वाली रोग-शान्ति मीठी खाट (काव्य
मानव के ताप-सताप की मीठी खाट सरीखी औषध है) से ही हो सकती हो, तब भला
कौन ऐसा होगा जो अपने ताप-शमन के लिये मीठी खाट (काव्य) के प्रति लालचयित
न हो उठे !

विमर्श—(क) काव्य के प्रयोजनों का निरूपण तो आचार्य पद्मनाभ ने करने आ
रहे हैं किन्तु काव्य-समीक्षा के प्रयोजनों का विचार नभयन सर्वप्रथम विधनाथ कविराज ने ही किया
है । काव्य और काव्य-समीक्षा की विभिन्न दृष्टियों में, कवि और समीक्षक की प्रतिभा की एकता
और एकरसता का अनुसंधान कर, विधनाथ कविराज ने जो प्रयोजनमय मिला किया है वह एक
मौलिक है और काव्य किंवा अल्पाक्षरशास्त्र की अध्ययनविज्ञान की प्रमाणात् करने के
लिये पर्याप्त है ।

(ग) साहित्यदर्पणकार के पूर्वकी आचार्य मन्दार द्वारा निर्दिष्ट काव्य प्रयोजन
तो ये रहे—१-यशप्राप्ति, २-अर्थलाभ, ३-लोक-यशस्यमान, ४-अमङ्गलनाश, ५-रमानन्द

(काव्य-प्रयोजन की प्रामाणिकता)

किञ्च काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्—

‘नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
‘कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तित्वं सुदुर्लभा ॥’ इति ।

‘त्रिवर्गसाधनं नाश्रयम्’ इति च । विष्णुपुराणेऽपि—

‘काव्याल्लापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च ।
‘शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरशा महात्मन ॥’ इति ।

और द-सरसोपदेश । साहित्यदर्पणकार ने इस उपरुक्त प्रयोजन पट्टक का समावेश काव्य और काव्यालोचन के पुरुषार्थप्राप्तिरूप समान प्रयोजन का निष्कर्ष निकाला है । ‘इसे तो मम्मट-निर्दिष्ट ‘पद-प्रयोजना’ में ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति का सार्वत्रिक समाया ५. ११ है और इस दृष्टि से मम्मट प्रतिपादित प्रयोजन पट्टक का खण्डन नहीं हो सकता । किन्तु ‘तना अवश्य है कि जो बात मम्मट के मत में गूढ़ रूप से है वह विश्वनाथ कविराज के समाधान में स्पष्ट हो गयी है ।

(ग) प्राचीन अलंकारशास्त्र में ‘शास्त्र’ के अधिकारियों और ‘काव्य’ के सामाजिकों में कोई बौद्धिक भेद-भाव नहीं बताया गया है । किन्तु विश्वनाथ कविराज ने ‘शास्त्र’ के अधिकारियों को ‘परिणतबुद्धि’ और ‘काव्य’ के सामाजिकों को ‘सुकुमारशक्ति’ मानकर दोनों के व्यक्तित्व का भेद स्वीकार किया है । विश्वनाथ कविराज का इस मान्यता का आधार सभ्यत समानदर्शीय किंवा समानकालीन जन-समाज की प्रवृत्तियों का विश्लेषण है । यह भी समय है कि प्राचीन अलंकारिकों की ये सूक्तियाँ, जैसे कि—

‘अनु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गं ।

‘लघु’ ‘मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि प्रत्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥’ (रघुट. काव्यालङ्कार १० १)

अथवा

‘धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारकमोदितः ।

‘काव्यवन्द्योऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥’ (कुल्लक वक्रोक्तिजीवित १ ४)

इत्यादि, जिनमें ‘शास्त्र’ और ‘काव्य’ का नैसर्गिक भेद-भाव प्रतिपादित है, विश्वनाथ कविराज की समीक्षा में ‘शास्त्र’ और ‘काव्य’ के अधिकारियों के वैयक्तिक भेद-भाव को भी प्रमाणित करती प्रतीत हुई । चाहे जो भी हो, विश्वनाथ कविराज ने ‘शास्त्र’ और ‘काव्य’ के अधिकारियों के व्यक्तित्व का जो भेद प्रतिपादन किया है वह कोई कपोल कल्पना नहीं, किन्तु एक मनोवैज्ञानिक सत्य है । आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्रियों ने भी कवि किंवा सहृदय को Introvert (अन्तर्मुखी वृत्तिवाले) और वैज्ञानिक किंवा विज्ञान-प्रेमी को Extrovert (व्योर्मुखी वृत्तिवाले) सिद्ध किया है । कविराज विश्वनाथ की धारणा में ‘सुकुमारबुद्धि’ और ‘परिणतबुद्धि’ का जो अभिप्राय है उसमें आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्र के उपर्युक्त व्यक्तित्व विश्लेषण का भी रहस्य बहुत कुछ अन्तर्निहित है ।

अनुवाद—इतना ही क्यों ? काव्य की उपयोगिता में तो शास्त्रों और पुराणों का भी प्रमाण है । अग्निपुराण का यह कथन है—

‘सबसे पहले तो ससार में मानव-जन्म दुर्लभ है, इससे भी दुर्लभ है विद्यालाम्, उससे भी दुर्लभ है कवित्व और जिसे कवि-प्रतिभा कहते हैं वह तो अत्यन्त दुर्लभ है ।’

(अग्निपुराण ३२७ १)

और यह भी—

‘नाट्य एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति हुआ करती है ।’ (अग्निपुराण ३३८ ७)

तेन हेतुना तस्य काव्यस्य स्वरूपं निरूप्यते ।

(साहित्यदर्पण का अनुबन्ध-चतुष्टय)

{ एतेनाभिधेयं च प्रदर्शितम् ।

(काव्य-स्वरूप-विशेष की भूमिका 'काव्यप्रकाश'-कृत काव्यलक्षण-निर्देश)

तत्किंस्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायां कश्चिदाह—'तदुपोषां शब्दार्थौ सगु-
णावनलंकृती पुनः कापि' इति ।

(उपर्युक्त काव्य-लक्षण का समीक्षण 'दोषरहित शब्दार्थयुगल को
काव्य मानने में 'अव्याप्ति')

एतच्चिन्त्यम् ।

तथाहि—यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा—

न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः

इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण (१. २२. ८४.) का यह उल्लेख है—

'समस्त काव्य-साहित्य किंवा समस्त संगीत वस्तुतः शब्दमूर्ति भगवान् विष्णु
के ही अंश है ।'

अब जबकि यह सिद्ध है कि काव्य जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी है तब काव्य
क्या है ? इसका विचार-विमर्श तो आवश्यक ही है ।

अनुवाद—इस उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ (साहित्यदर्पण)
का 'अभिधेय' अथवा विषय क्या है (अर्थात् काव्यस्वरूप-विचार इसका विषय है)
और साथ ही साथ यह भी कि इसका 'प्रयोजन' क्या है (अर्थात् चतुर्वर्गप्राप्ति इसका
प्रयोजन है), इसका 'अधिकारी' कौन है (अर्थात् काव्य-प्रेमी सामाजिक जन इसके
अधिकारी हैं) और इसका 'सम्बन्ध' क्या है (अर्थात् साहित्यदर्पण और काव्य में
प्रतिपादक और प्रतिपाद्य का सम्बन्ध है) ।

विमर्श—किन्ती भी विषय के शास्त्रीय ग्रन्थ में 'अनुबन्धचतुष्टय' का गाना अनिवार्य माना
गया है । 'अनुबन्धचतुष्टय' की मर्यादा की रक्षा इत्यादि उद्देश्य से की जा रही है जिनमें किसी भी
विषय का ग्रन्थकार अपने विषय से दूर उतर न जाय । 'अनुबन्धचतुष्टय' का अभिप्राय है—
अधिकारी, विषय, प्रयोजन और प्रयोजन—इन चार तत्वों का (तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषय-
सम्बन्धप्रयोजनानि—वेदान्तसार) । यहाँ साहित्यदर्पण जैसे काव्यालोचनात्मक ग्रन्थ के
'अधिकारी' के लोग बताये गये हैं जो 'काव्यतत्त्व' के विद्वान् हैं । वस्तुतः हमें ही लोगों को ध्यान
में रखकर विद्वान् कविगण ने इस ग्रन्थ लिखा है । इस ग्रन्थ का विषय है—काव्य-साहित्य ।
इस विषय के श्रवण, मनन और निदिध्यासन का मानवजीवन में एक महान् उपयोग है क्योंकि
यह एक 'पुष्पा' है और इनकी 'प्राप्ति' मानव-जीवन की एक पूर्णता है । इस विषय और इसके
प्रयोजन में एक घनिष्ठ 'सम्बन्ध' है क्योंकि इस विषय के जवद्वान् ने पुष्पाप्राप्ति मनन है ।

अनुवाद—'काव्य क्या है ?' इस प्रश्न के समाधान में एक काव्याचार्य (काव्यप्रकाश-
कार आचार्य सम्मत) का यह कथन है—

'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जो दोषरहित हो, गुणसहित हो और यथामभव किंवा
यथास्थान अवनलंकृत भी हो तो कोई छति नहीं ।'

किन्तु काव्य-स्वरूप का उपर्युक्त निरूपण इसलिये युक्तियुक्त नहीं कि यदि
दोषरहित ही शब्दार्थयुगल 'काव्य' हुआ करे तब यह सूक्ति तो 'काव्य' होने से

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुल जीवत्यहो रावण' ।
 धिग्धिक्कृजित प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
 स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥' इति ।

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्व न स्यात् । प्रत्युत ध्वनि-
 (स)त्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता, तस्मादन्यामिर्लक्षणदोषः ।

ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्वोऽपीति चेत्, तर्हि यत्राशो दोषः
 सोऽकाव्यत्वप्रयोजक, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत
 आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्य वा किमपि न स्यात् । न च कचिदेवांश काव्यस्य
 दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, किं तर्हि सर्वमेव काव्यम् । तथाहि—काव्यात्म-

रही—'अपमान तो वस्तुतः सर्वप्रथम यह है मेरा कि मेरे (मुस लोक-विद्राघण रावण के)
 भी शत्रु पैदा होने लगे । इससे बढ़कर मेरा और क्या अपमान कि इन' शत्रुओं में एक
 तापस भी शत्रु बन बैठा । और तो और, यह तापस भी, इस लक्ष्मा में ही, राक्षसवश के
 विनाश में जुट गया । ओह ! क्या रावण मैं जी रहा हूँ । धिक्कार है इन्द्रविजयी मेघनाद
 को ! नींद से उठा कुम्भकर्ण भी अब किस काम का । और, और मेरे ये भुजदण्ड किस
 काम के, जो 'स्वर्ग' कहे जाने वाले किमी छोटे-मोटे टोले की लट-गमोट में व्यर्थ के
 लिये ही फूले बने बैठे हैं ।'

यह सूक्ति इसलिये काव्य नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ 'विधेयाविमर्श' दोष आ पड़ा
 है ('विधेयाविमर्श' दोष इसलिये आ पड़ा है क्योंकि यहाँ कवि ने वाक्य-रचना के सामान्य
 सिद्धान्त-उद्देश्य-विधेयभाव-के पूर्वपश्चाद्भाव के नियम—

अनुवाचमनुक्तैव न विधेयमुच्यते ।

तु ङालव्यास्पद किञ्चित् कञ्चित् प्रतिनिष्ठि ॥'

का स्पष्ट उल्लघन किया है । एक बार तो इस नियम का उल्लघन 'अयमेव न्यङ्कार' के
 स्थान पर 'न्यङ्कारो ह्ययमेव' करके किया गया है और दूसरी बार किया गया है 'अभिर्भुजै
 वृथा' के बदले 'वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः' इत्यादि रूप से वाक्य-विन्यास करके, जहाँ
 'वृथा'रूप विधेयाश, जिसे प्रधानता देनी चाहिये, समास में ढालकर अप्रधान बना दिया
 गया है । होना तो चाहिये इस उपर्युक्त सूक्ति को उत्तम काव्य जैसा कि रसभावादि की
 अभिव्यञ्जना के कारण इसे माना भी गया है । इससे तो यही निष्कर्ष निकला कि
 'दोषरहित शब्दार्थयुगल काव्य है'—यह काव्य-लक्षण 'अव्याप्ति' दोष से दूषित है क्योंकि
 जिस शब्दार्थयुगल, जैसे कि 'न्यङ्कारो ह्ययम्' आदि, को काव्य होना चाहिये वह इस लक्षण
 की कसौटी पर काव्य ही नहीं ठहरता ।) ।

यहाँ यह समाधान भी अकिञ्चित्कर ही रहा कि यह (न्यङ्कारो ह्ययम् आदि) सूक्ति
 जितने अंश में दोषयुक्त है उतने अंश में भले ही काव्य न हो किन्तु अन्यत्र अर्थात्
 रसभावादि की अभिव्यञ्जना के अंश में तो काव्य ही रहेगी क्योंकि समस्त शब्दार्थयुगल
 तो यहाँ दूषित नहीं ठहरा । क्यों ? इसलिये कि एक ओर से तो दोषयुक्त अंश और
 दूसरी ओर से दोषमुक्त अंश से अपनी अपनी ओर खींची गयी यह सूक्ति 'अकाव्य' अथवा
 'काव्य' कुछ भी नहीं हो पायेगी ।

ही साथ यहाँ यह बात भी लो है कि श्रुतिदुष्ट (अथवा विधेयाविमर्श)

भूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते । अन्यथा नित्यदोषा-
नित्यदोषत्वव्यवस्थाऽपि न स्यात् । यदुक्तं ध्वनिकृता—

✓ 'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥' इति ।

किञ्च एषं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैका-
न्तमसंभवात् ।

नन्वीपदर्थं नवः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषदोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्ते
निर्दोषयो काव्यत्वं न स्यात् । सति संभवे 'ईषदोषौ' इति चेत्, एतदपि
काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत् । नहि कीटानु-

वादि दोष किसी शब्दार्थयुगल को अंशतः ही नहीं अपितु पूर्णतया दूषित करने वाले
हुआ करते हैं (और इसलिये 'न्यकारो ण्यम्' आदि में 'विधेयाविमर्श' को आंशिक दोष
कह देने से कोई उद्देश्य नहीं सिद्ध हो जायगा) । ऐसा इसलिये (क्योंकि वस्तुतः ^{रस}
इन दोषों से काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष हुआ करता है) क्योंकि यदि इन दोषों ^न
से काव्य के आत्मभूत रस का कोई विधात नहीं हो पाता तब इन्हें दोष भी तो नहीं
माना गया होता । दोष को तो काव्य के आत्मतत्त्व रस का सर्वात्मना अपकर्षक मानना
ही पड़ेगा क्योंकि बिना ऐसा माने नित्यदोष और अनित्यदोष की विभाग-व्यवस्था कैसे
सिद्ध हो सकेगी जो कि ध्वनि-दार्शनिक आचार्य की इस उक्ति में सिद्ध की जा चुकी है—

— 'श्रुतिकटु आदि जो दोष नित्य और अनित्य-दोनों माने गये हैं इसीलिये माने गये हैं
क्योंकि शृङ्गारादिरस-प्रधान काव्य में तो ये सर्वथा हेय हैं (किन्तु रौद्रादिरस-प्रधान काव्य
में उपादेय भी हैं) ।'

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'दोषरहित शब्दार्थयुगल' को काव्य मानने में
या तो काव्य का क्षेत्र बहुत सङ्कुचित हो जाता है या काव्य का कोई क्षेत्र ही नहीं बच
रहता । क्योंकि ऐसा असंभव है कि कोई भी सूक्ति ऐसी बन पड़े जिसमें दोष का ऐसा
अभाव हो जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दोनों हों ।

अब यदि हम संकट से पिण्ड छुड़ाने के लिये 'अदोषौ' के नञ् (अ) का अभिप्राय
'अभाव' न लेकर 'ईषत्' 'स्वद्व' लिया जाय क्योंकि नञ् (अ) का अभिप्राय 'ईषत्'
भी हुआ करता है तब तो इससे भी भयंकर संकट उपस्थित हो जायगा जिसका रूप
यह होगा कि 'निर्दोष शब्दार्थयुगल' काव्य नहीं कहा जा सकेगा (क्योंकि काव्य तो
उसी शब्दार्थयुगल को कहेंगे जिसमें कुछ थोड़ा दोष अवश्य हो) । हमसे भी झुटकारा
पाने के लिये यदि यह कहा जाय कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें यदि दोष हों
तो बहुत थोड़े हों' तब तो इसका यही सीधा उत्तर होगा कि काव्य-लक्षण में उस प्रकार
की बात कहनी ही नहीं चाहिये (क्योंकि दोष का होना या न होना अथवा यादा होना
या अधिक होना काव्य के स्वरूप का नियामक अथवा अनियामक नहीं अपितु उसकी
उपादेयता के वर्द्धन या अवर्द्धन का ही कारण हो सकता है) । उसे कि जब हमें निर्मा
रस के स्वरूप का विवेचन करना होता है तब यह नहीं कहना होता कि 'रस वह है
जिसमें कीटानुवेध का दोष न लगा हो' । इसी प्रकार काव्य के स्वरूप का विवेचन करते

वेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः किन्तुपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्। तद्व
श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तं च—

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥' इति ॥

हुये यह नहीं कहना चाहिये कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें दोष न है 'कीटानुवेध' होने या न होने से रत्न की 'उपादेयता' में न्यूनाधिक्य भले ही हो 'रत्न में क्योंकि कोई क्षति होने लगी। श्रुतिदुष्टादि दोषों के सन्नाय अथवा अभाव में शब्दार्थयुगलरूप काव्य की उपादेयता में घटती-बढ़ती तो सभ्य है किन्तु 'काव्यता कोई क्षति क्योंकि होने लगी। तभी तो ऐसा कहा गया है—

'जिस प्रकार कोई रत्न कीटानुवेध के होने पर भी रत्न ही रहा करता है, उसी प्रव
कोई काव्य-रसभावाभिव्यञ्जक शब्दार्थयुगल-श्रुतिदुष्टादि दोष के होने पर भी काव्य
रहा करता है।'

विमर्श—(क) काव्यप्रकाशकार के काव्यलक्षण—'तदोपो शब्दार्थौ सगुणावनलज्ज
पुनः क्षापि' की पदश आलोचना विश्वनाथ कविराज ने 'धननिष्ठा' में की है। जिन्होंने उनका अप
काव्यलक्षण—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' जक्षरश नर्गमान्य निरूपित किया। यहाँ नर्गप्र
आक्षेप शब्दार्थयुगलरूप काव्य की पहली विशेषता अर्थात् अनेपता पर किया गया है। मम्मट
'अदोपो शब्दार्थौ काव्यम्' इस कथन में 'अदोपो' का वत् अग्निप्राय लिया गया है जो लिया
जा सकता है किन्तु मम्मट के आशय के प्रतिकूल है। 'यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वानीका
स्तदा 'न्यङ्कारो ह्ययमेव' 'अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शोपदुष्टतया काव्यत्वं न स्या
आदि युक्तियाँ वस्तुतः मम्मट के काव्यलक्षणवाक्य के 'अनेपो' पर भले ही कटाक्ष करें कि
यह निश्चित है कि इनसे मम्मट की 'काव्यभावना' में कोई दोष नहीं निकल पाया। मम्मट
लिये 'न्यङ्कारो ह्ययमेव' आदि सूक्ति 'धनिकाव्य' का एक सुन्दर उदाहरण है क्योंकि यहाँ एक ए
पद व्यञ्जना से ओतप्रोत है। यहाँ क्या वाक्य और क्या व्यञ्जना-दोनों अर्थों के मीन्द्र्य औ
चमत्कार परस्पर स्पर्धा में पड़े एक रमणीय काव्य का रूपरेखा का निर्माण कर रहे हैं। यह
मम्मट की और मम्मट के पूर्ववर्ती ध्वनिदार्शनिक आचार्यों की कोई दोष न दिखाए पड़ा। जहाँ
विश्वनाथ कविराज को यहाँ 'विधेयाविमर्श' का दोष दिखाया पड़ रहा है वहाँ वस्तुतः तो य
दोष है ही नहीं (क्योंकि अनुवाच्य अथवा उद्देश्य के पहले विधेय के प्रयोग में ही कवि अप
प्रस्तावित चरित (रावण) की विशेषता का प्रकाशन उचित समझ रहा है। यहाँ बात यह है कि
'न्यङ्कार' पद के, जो वस्तुतः विधेय है, उद्देश्य-पद (अयमेव) के पहले प्रयोग में ही कवि लोकविद्राव
रावण के उग्र स्वभाव को अभिव्यक्त करना चाहता है। यदि उद्देश्य-विधेय-भाव के सिद्धान्त का
यहाँ अनुसरण किया गया होता तो क्रोधान्ध रावण और किसी पद-वाक्य-प्रमाण-परावारीण
पण्डित का भेद ही क्या रहता। साथ ही साथ समास में पड़ा 'वृथा' पद विधेय क्यों हो।
वह तो उच्छ्वनता का एक सार्थक विशेषण है। 'स्वर्गरूपी छोट से टोले की लूट-रासोट से व्यर्थ के
लिये फूले न समझे इन मेरे मुजदण्डों का भी अब क्या काम?'—यही यहाँ अभिप्राय है। इस
अभिप्राय की दृष्टि से यदि 'वृथोच्छ्वन' पद न प्रयुक्त किया गया होता तो 'स्वर्गग्रामटिका' पद का
क्या स्वारस्य रह जाता। 'स्वर्गग्रामटिका'—विलुण्ठन के ही कारण तो मुजदण्डों को 'वृथोच्छ्वन'
कहा गया है। यदि कहीं स्वर्ग को 'दुर्ग्रह दुर्ग' कहा गया होता तब भले ही 'वृथा' पद व्यर्थ
रूपा करता। यह सब स्वारस्य होने पर भी यदि 'विधेयाविमर्श' दोष के देखने का दुराग्रह
रह ही जाय तब भी मम्मट के अनुसार यह काव्यकृति निर्दुष्ट ही कही जायगी क्योंकि यहाँ के

रमभाव की महिमा में यह दोष भी गुण का ही काम करेगा। इस प्रकार इस काव्यसूक्ति के आधार पर मम्मट के काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'अदोषौ' पद में कोई दोष नहीं निकाला जा सकता। जब तक और कोई उदाहरण न दिया जाय तब तक मम्मट के काव्यलक्षण में 'अव्याप्ति' कहाँ से खटकने लगे। 'न्यवकारो ह्ययमेव' आदि के आधार पर मम्मट की काव्यपरिभाषा अव्याप्त नहीं अपितु सर्वथा निर्दुष्ट प्रतीत हो रही है।

(स) 'दोषरहित' ही 'शब्दार्थयुगल' को काव्य मानने में दूसरी आपत्ति है—काव्य के क्षेत्र का संकुचित हो जाना या सर्वथा लुप्त हो जाना। कविराज विश्वनाथ ने इसीलिये कहा—'किं चवं काव्यं प्रविरलविषय निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्'। जब मम्मट ने अपना काव्य-लक्षण बनाया होगा तब यह सब भी अवश्य सोच लिया होगा। मम्मट के अनुसार उत्तम-मध्यम और अधम—इन तीन प्रकार का काव्यकृतिवों में शब्दार्थयुगल को 'अदोषता' एकरूप नहीं अपितु त्रिविधरूप है। विश्वनाथ कविराज ने इस पर ध्यान न दिया। उनका ध्यान एकमात्र 'अदोष' पद में 'ननु' के अर्थ-अभाव-पर ही गया और काव्यसाहित्य की काश्चनराशि की परस के लिये मम्मट की बनायी काव्यलक्षण की कमौटा एक अनर्थ के रूप में दिखायी देने लगी। किन्तु यह सब एक दुराग्रहमात्र ही है और कुछ नहीं। यदि 'दोषहीन' को काव्य-रचना के लिये अनिवार्य न माना जाय और काव्यसाहित्य की प्रसिद्ध दृष्टियों में 'दोषहीन' की विशेषता को प्रमाणरूप से न प्रस्तुत किया जाय तब तो काव्य-क्षेत्र में ऐसी उच्छृङ्खलता पैदा हो जाय कि 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' का मन्त्रजाप करते हुये जो भी उल्टा-सीधा लिखा जाय, वह सब काव्य ही हो जाय। मम्मट के काव्य-लक्षण में 'शब्दार्थयुगल को अदोषता' पर जो सर्वप्रथम ध्यान रखा गया है वह सस्कृतकाव्यसाहित्य की ऐतिहासिक और वास्तविक-दोनों दृष्टियों से युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। मम्मट ने 'दोषरहित शब्दार्थयुगल' को जो काव्य माना है उसके साथ यह सार्वभौम सिद्धान्त भी समझा रहा है कि समार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सर्वथा निरुप-निर्दुष्ट-हो (नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहर यत्)।

(ग) मम्मट के काव्यलक्षण में 'अदोषौ' के अर्थ के रूप में 'इष्टोपयुक्तौ' की कल्पना विश्वनाथ कविराज की दुराग्रहपूर्ण दृष्टि का ही परिणाम है। इस अभिप्राय में तो मम्मट ने शब्दार्थयुगल को अदोषता कभी भी न मानी थी। विश्वनाथ कविराज की यह आलोचना व्यक्ति-विवेककार आचार्य महिमभट्ट की आलोचना से प्रभावित तो अवश्य प्रतीत हो रही है किन्तु जहाँ महिमभट्ट ने एक सिद्धान्त-विशेष के अनुमधान के लिये ध्वनिकार की पद-योजनाओं पर आक्षेप किया है वहाँ विश्वनाथ कविराज ने बिना किसी मिथ्यानिशेप के प्रणिपादन के ही काव्य-प्रकाशका की पद-योजना पर कटाक्ष किया है।

(घ) 'अदोषौ शब्दार्थौ' में 'सति सम्भवे ईषदोषौ' की कल्पना मम्मट के काव्यलक्षण पर विश्वनाथ कविराज द्वारा किये गये कटाक्षों का वैचित्र्य भले ही प्रकट किया करे किन्तु मम्मट के काव्यमन में जब यह बात ही नहीं तो खण्डन किसका। एक बात तो विश्वनाथ कविराज की यहाँ अन राँ है किन्तु वह उनकी बात नहीं अपितु उनके द्वारा उद्धृत इस सूक्ति अर्थात्—

|| कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रमाधनुगमः स्फुटः ॥

की बात है। बिना कुछ कहे हुये भी यदि इसी सूक्ति को पुरस्कृत कर नास्त्यदर्पणकार ने कहा होता कि काव्य का लक्षण होता नास्ति—'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' तब भी बात कुछ बन गयी होती। 'रस' के लक्षणाकार या कभी नहीं कहा करते कि 'रस' यह है जिनमें काकपट, मक्षिकादृति आदि-आदि दोष न हों। वे तो केवल श्रवण ही काय करने हैं कि जिन रस में

('सगुण' शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनुपपत्ति)

किञ्च । शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम् । गुणानां रसैकधर्मत्वस्य ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः । इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात् । रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत् ? तथाऽप्ययुक्तम् । तथाहि—तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा ? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । अस्ति चेत् ? कथं

काकपद अथवा मक्षिकाकृति आदि कोई दोष हो वा 'शुभ' नाहीं हुआ करता जैसे कि बुद्धिमान्-कार आचार्य बराहमिहिर का ही कथन है—

॥ 'काकपदमक्षिकाकेशधातुयुक्तानि शर्करैर्विद्धम् ।
द्विगुणाश्रिदग्धकलुषस्तविशीर्णानि न शुभानि ॥'

इसी प्रकार काव्य के लक्षणकारों को भी यह कमी नहीं जानना चाहिये कि 'काव्य वा शब्दार्थयुगल है जिसमें कोई दोष न हो' । उनके लिये तो यही कहना उचित है कि 'काव्य वा शब्दार्थयुगल' जो रसात्मक हो' । इसके बाद ही यह कहा जा सकता है कि जिस काव्य में विधेयाविमर्श आदि दोषों में से कोई दोष हो वह काव्य उच्चकोटि का काव्य नहीं हुआ करता । विश्वनाथ कविराज का यह 'साहित्यदर्पण' वस्तुतः व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट की कल्पना में आ चुका है । महिमभट्ट ने स्पष्ट कहा था—

'काव्यमात्रस्य' ... 'रसात्मकत्वोपगमात् । ... अस्य (काव्यस्य) रसात्मकत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । तन्मात्रप्रयुक्तश्च ध्वनिव्यपदेशः । (व्यक्तिविवेक पृष्ठ ९३, ९७) किन्तु 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा एकान्ती ही परिभाषा है । आचार्य मम्मट ने अलङ्कारशास्त्र के ऐतिहासिक और वास्तविक तत्त्वों की पूर्वापर समीक्षा में अपनी काव्य परिभाषा प्रस्तुत की है । इस व्यापक दृष्टि से देखते 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' पर कोई दोष नहीं पड़ता ।

अनुवाद—(काव्यप्रकाश-कृत उपर्युक्त काव्यलक्षण में 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' में तो अन्यासि दोष है ही, किन्तु) साथ ही साथ यहाँ 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' में काव्य-स्वरूप की मान्यता भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि 'शब्दार्थयुगल' को 'सगुण' तब कहा जाय जब कि 'गुण' शब्द और अर्थ के धर्म माने जा सकें । गुण तो एकमात्र रस के धर्म हैं और उपर्युक्त काव्यलक्षणकार (आचार्य मम्मट) ने ही इन्हें रस-धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है—

'जैसे शौर्य आदि आत्मा के अपृथक्सिद्ध गुण अथवा धर्म हुआ करते हैं (न कि शरीर के) वैसे ही माधुर्य आदि रसरूप काव्यात्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध गुण अथवा धर्म हुआ करते हैं (न कि शब्द और अर्थ रूप काव्य-शरीर के) ।' (काव्यप्रकाश ८)

अब यदि इस अद्वचन से छुटकारा पाने के लिये यह कहा जाय कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' का अभिप्राय 'शब्दार्थयुगल की रसाभिव्यञ्जकता' है क्योंकि रसाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ को उपचारत सगुण शब्द और अर्थ कहा ही जा सकता है, तब तो यही कहना पड़ता है कि ऐसी बात यहाँ बहुत ठीक नहीं बैठती । क्यों ? इसलिये कि जिस शब्दार्थयुगल को काव्य रूप मान लिया गया उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि 'उसमें रस है या रस नहीं है ?' यदि इसका उत्तर यह दिया गया कि

नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम् । गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत् ? तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति । नहि प्राणिमन्तो देशा इति केनाऽप्युच्यते ? ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्रायः इति चेत् ? न, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम् । उक्तं हि—'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्' इति ।

तद्गुणौ
'उसमें रस नहीं है' तब तो यही सिद्ध हो गया कि उसमें 'गुणवत्ता' भी नहीं है क्योंकि जहाँ रस रहेगा वहाँ ही गुण रहेंगे और जहाँ रस न होगा वहाँ गुण भी न होंगे ! अब यदि यहाँ यह उत्तर सोचा गया कि 'उसमें रस है (इसलिये गुण भी हैं)' तब तो यह पृथ्ना पड़ेगा कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' के बदले 'शब्दार्थयुगल की रसवत्ता' को काव्यस्वरूप का नियामक क्यों न बताया गया ? यदि यहाँ यह कहा जाय कि 'शब्द और अर्थ की सगुणता' का अभिप्राय 'शब्द और अर्थ की 'सरसता' ही निकलना चाहिये क्योंकि रस के बिना गुण की स्थिति ही असंभव है' तब तो इसका सीधा उत्तर यह दिया जायगा कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' के बदले 'शब्दार्थयुगल की सरसता' को काव्य-स्वरूप का नियामक क्यों न माना जाय ? भला यह कौन सा तुक कि कहना हो 'ये वे भूभाग हैं जहाँ प्राणी रहा करते हैं' और कहा जाय 'ये वे भूभाग हैं जहाँ शौर्यादि (गुण) रहा करते हैं' ! (भला शब्द और अर्थ की 'सरसता' को मन में रख कर शब्द और अर्थ की 'सगुणता' के प्रतिपादन की बुझौचल कोई बुझिमाती हुई !)

यहाँ यह समाधान भी कि 'सरस शब्दार्थयुगल' के बदले 'सगुण शब्दार्थयुगल' का औपचारिक प्रयोग काव्य में गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के प्रयोग पर जोर देने के उद्देश्य से किया गया, कोई समाधान नहीं क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के उत्कर्षवर्द्धक भले ही हों, स्वरूप-नियामक तो कदापि नहीं हो सकते । तभी तो ऐसा कहा गया है—

'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस-भाव आत्मतत्त्व है, माधुर्यादिगुण शौर्यादि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध धर्म हैं, श्रुतिदुष्टादि दोष काणत्व (काना होने) आदि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के सौन्दर्यापकर्षक हैं, चैदभी आदि रीतियाँ शरीर-संस्थान (अङ्गरचना) के समान काव्य-संस्थान हैं और (अनुप्रास-) उपमादि अलङ्कार कटक, कुण्डल आदि आभूषणों की भाँति शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्द्धक हैं ।'

विमर्श—(क) काव्यप्रकाशकार की काव्य-परिभाषा शब्दार्थयुगलरूप काव्य न 'दोषभाव' के वात् 'गुणसंज्ञा' के नन्व का दर्शन करती है । नास्त्यदर्पणकार ने इसे भी अनावश्यक निन्द करने का प्रयत्न किया है । इन नन्वन्व में काव्यप्रकाशकार की 'सगुणौ शब्दार्थौ' की उक्ति और उन्हीं की—

'ये रसस्याग्निनो धर्माः शौर्यादय इवात्मन ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥' (काव्यप्रकाश ८. १)

इत्यादि उक्ति में परस्पर विरोध प्रदर्शन किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि नन्वत की काव्यपरिभाषा सुक्तिमग्न नहीं । किन्तु रस्तुत बात यह है कि यहाँ भी वांछितानी से ही काम निकालने का प्रयत्न दिखायी दे रहा है । नन्वत ने नहीं माधुर्यादि गुणत्व की

मुख्यतः 'रसधर्म' माना है वहाँ यह भी स्वीकार किया है कि उपनाम गुण शब्दावयव भी कह जा सकते हैं—'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' (काव्यप्रकाश, ८६)। इस प्रकार मम्मट के काव्यमत में परस्पर विरोध का देरना-दिमाना कोई युक्तिपूर्ण बात नहीं प्रतीत होती। मम्मट की दृष्टि में शब्द और अर्थ में माधुर्यादि गुणों के होने का अन्तर्भाव अभिप्राय शब्द और अर्थ का मधुर शृङ्गारादि रसों के अभिव्यजन का सामर्थ्य ही है, अन्य कुछ नहीं।

(ख) विश्वनाथ कविराज को एक और युक्ति या है—यदि उपनाम का आशय लेकर 'रसामिव्यञ्जक' शब्द और अर्थ को 'सगुण' शब्द और अर्थ कहा जा सकता है तो इस दृष्टि से उन्हें (शब्द और अर्थ को) 'रसवत्' अथवा 'सरस' कहने में क्या आपत्ति है। युक्ति तो यह ठीक ही है क्योंकि विश्वनाथ कविराज को 'सगुण शब्दार्थयुगल' के रसान पर 'रसानुभव काव्य' को काव्य सिद्ध करना है। मन में क्या भाव—'मन्त्र शब्दार्थयुगल काव्य है' और कहा जाय 'सगुण शब्दार्थयुगल काव्य है'। ऐसा कहना ठीक कैसे है। जैसे कहा तो जाय 'यहाँ शूरता रहा करती है' और समझा जाय 'यहाँ लोग रहा करते हैं'। किन्तु इसा लगता है कि इस वर्तमानार्थ में कहीं कुछ चूक है और वह यह है—'सगुण शब्दार्थयुगल' न 'रसामिव्यञ्जक' शब्दार्थयुगल का अभिप्राय तो अन्तर्निहित है क्योंकि अभिव्यजना का कला 'शब्द और अर्थ—स-गुण' इस रूप से परम्परया जुटी है अर्थात् अनिवार्य आचार्यों को यह मान्यता कि—'शब्दार्थयुगल' तो रस के अभिव्यञ्जक हैं और माधुर्यादि गुण रसानुभव में अभिव्यजना काव्यरसानुभव है—'यहाँ अधुण विराज रही है', किन्तु यदि इसके बदले 'रसवत्' अथवा 'सरस' पद को शब्दार्थयुगल का विशेषण रखा जाय तो इससे 'रसामिव्यञ्जक शब्दार्थयुगल' का भाव भले ही निकल जाय 'रसानुभव में अभिव्यञ्जक गुण' का अभिप्राय तो कदाचित् अनायास ही निकल सकता है। 'सगुणौ शब्दार्थौ' कहने पर तो 'साक्षात् रसामिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ' तथा 'परम्परया गुणामिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ' का रहस्य समझा जा सकता है किन्तु 'सरसौ शब्दार्थौ' अथवा 'रसवन्तौ शब्दार्थौ' कहने से 'रसामिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ' का ही अभिप्राय निकल सकता है न कि 'परम्परया गुणामिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ' का भी। रसध्वनिवादी काव्यालोचना की दृष्टि से यदि काव्यलक्षणा किया जाय तब तो मम्मट का ही काव्यलक्षण एकमात्र निदुष्ट का यलक्षण प्रतीत होता है क्योंकि इसमें 'शब्दार्थ-रस-गुण' का परस्पर सम्बन्ध एकाग्र ही निदुष्ट किया हुआ है। 'रसवत्' अथवा 'सरस' शब्दार्थयुगल कहने पर 'शब्दार्थ-रस' का सम्बन्ध भले ही सूचित हो जाय 'गुण' तो बाहर निकल प्रतीत हो रहा है।

(ग) माधुर्यादि गुणों को काव्य का 'उत्कर्षाधायक' मात्र मानकर विश्वनाथ कविराज ने मम्मट की काव्यपरिभाषा में 'शब्दार्थ की सगुणता' पर जो आक्षेप किया है वह भी सर्वथा समीचीन नहीं प्रतीत होता। गुण काव्य के स्वरूपाधायक नहीं अपितु उत्कर्षाधायकमात्र है (गुणामिव्यञ्जक शब्दार्थवत्स्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वं न तु स्वरूपाधायकत्वम्)—इस युक्ति पर यदि विचार करें तो ऐसा लगता है जैसे रसात्मकवाक्य को काव्यसिद्ध करने वाले आचार्यों ने काव्यप्रकाश के स्रष्टा के आवेश में पटककर गुण और अलङ्कार का भेदभाव ही मुला दिया है। रसध्वनिवादी आचार्यों तो गुणामिव्यञ्जक शब्दार्थयोजना को काव्य का स्वरूपाधायक और उत्कर्षाधायक दोनों माना करते हैं। गुण यदि रस के धर्म हुये—और साहित्यदर्पणकार को भी यही मान्यता है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्मा शौर्यादयो यथा ।

गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥ (साहित्यदर्पण ८१)

तब गुणामिव्यञ्जक शब्दार्थरचना काव्यस्वरूप न हुई तो और क्या हुई ? गुण तो काव्य के स्वरूपाधायक होकर ही उसके उत्कर्षाधायक बनता है।

(सर्वत्र अलङ्कृत शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनौचित्य)

एतेन 'अनलङ्कृती पुनः कापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम् । अस्यार्थः—
सर्वत्र सालङ्कारौ कचित्स्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति । तत्र सालङ्कार-
शब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षाधायकत्वात् ।

(प्रसक्तानुप्रसक्त्या वक्रोक्तिजीवितकार का खण्डन)

एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम् ।
वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात् ।

वे काव्य के स्वरूपाधायक नहीं अपितु यथास्थान किंवा यथामभव एकमात्र उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं । काव्यप्रकाशकार की तभी तो यह स्पष्ट उक्ति है—

‘ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥’ (काव्यप्रकाश ८ १)

अनुवाद—उपर्युक्त उद्धरण की विचारधारा के देखते काव्यप्रकाशकृत काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ को 'अनलङ्कृती पुनः कापि'—सर्वत्र अलङ्कृत किन्तु कदाचित् अनलङ्कृत कहना भी किसी काम का नहीं । 'अनलङ्कृती पुनः कापि' का अर्थ क्या है ? यही न कि सर्वत्र तो अलङ्कारसहित शब्दार्थयुगल काव्य है ही किन्तु कहीं कहीं ऐसा भी शब्दार्थ-युगल काव्य ही समझना चाहिये जहाँ कोई भी अलङ्कार स्फुटतया दिखायी न दे । अब जहाँ तक 'सर्वत्र अलङ्कृत शब्द और अर्थ को' काव्य मानने का आग्रह है उसके सम्बन्ध में तो यही कहा जायगा कि यह आग्रह ठीक नहीं क्योंकि अलङ्कृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूपाधायक नहीं—काव्य-रूप नहीं—अपितु एकमात्र काव्य के उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं—काव्य की उत्कृष्टता के साधन हैं ।

विमर्श—आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा में शब्दार्थयुगल को 'सर्वत्र अलङ्कृतता तथा साथ ही साथ यथास्थान अलङ्कारान्वयता' की जो बात है उसकी आलोचना भी सर्वथा चतुरस्र नहीं । इसका कारण यह है कि विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के अक्षरों को पकड़ कर मम्मट के कान रौंचे हैं न कि उनके आशयों को पकड़ कर । शब्दार्थयुगलरूप काव्य की सर्वत्र अलङ्कृतता का जो मम्मट का मत है उसमें यह निःसन्देह है कि 'रसभावविवक्षा' का रहस्य छिपा है और इसी प्रकार 'शब्दार्थयुगल को चर कुत्रचित् अलङ्कारान्वयता' में भी यहाँ 'रसभावविवक्षा' जाक रही है । तब भला मम्मट के इस गूढ़ाशय को मुखाकर 'सर्वत्र अलङ्कृतता' को दोषोद्घातना किन उद्देश्य की मित्रि हो सकती है ?

अनुवाद—जब कि यह सिद्ध है कि अलङ्कृत शब्द और अर्थ 'काव्य' नहीं तब वक्रोक्तिजीवितकार (कुन्तक) का यह कथन कि 'वक्रोक्ति अथवा भक्तीभणिति (विचित्र अभिधान और अभिधेय) काव्य का जीवन है' स्वयं अविद्ध हो गया । भला 'वक्रोक्ति', तो एक अलङ्कार है, काव्य का आत्मतत्त्व क्योंकर होने लगे !

विमर्श—यह विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के काव्यलक्षण के अर्थ 'शब्दार्थ युगल के सर्वत्र अलङ्कार-योग' की आलोचना करते हुये वक्रोक्तिजीवितकार की जिस दृष्टि से आलोचना कर ली है उसमें जो वस्तुतः कोई भ्रम नान्न है किन्तु देता । यह कहना तो ठीक है कि 'वक्रोक्ति' काव्य का 'जीवन' (जीवन) नहीं है किन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति

(अलङ्कार की अस्फुट प्रतीति में काव्य की मान्यता—काव्यप्रकाशकार का व्यामोहमात्र)

यच्च कचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-

स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयं प्रौढा कदम्बानिलाः ।

सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ

रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतं समुत्कण्ठते ॥ इति ।

एतच्चिन्त्यम् । अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य सदेहसङ्करालङ्कारस्य स्फुटत्वम् ।

विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य सदेहसङ्करालङ्कारस्य स्फुटत्वम् ।

जीवितकार की 'वक्रोक्ति' (मञ्जीभणिति) अलङ्कार रूप ही है । वक्रोक्तिजीवितकार ने न तो 'वक्रोक्ति' को 'इलेपवक्रोक्ति' मान कर ही 'काव्य जीवित' कहा और न 'काकुवक्रोक्ति' ही मानकर । वक्रोक्तिजीवितकार की 'वक्रोक्ति' तो इस रूप की रही—

'वक्रोक्तिजीवितकार पुनर्वैदग्ध्यमञ्जीभणितिस्वभावा बहुविधा वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान् । व्यापारस्य प्राधान्यञ्च काव्यस्य प्रतिपेदे । अभिधानप्रकार-विशेषा एव चालङ्कारा । सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरिव कविसरम्भ-गोचर । उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्च स्वीकृत । केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्य न व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीय दर्शन व्यवस्थितम् ।' (अलङ्कार सर्वस्व. पृ ८)

अर्थात् काव्य तो कलाकार कवि की कृति है । कवि की कला क्या है ? कवि की कला है—वैदग्ध्य-मञ्जीभणिति अथवा उक्तिविचित्रता । यह 'उक्तिविचित्रता' वह कला है जिसके द्वारा कवि ध्वनि-साम्राज्य का संचालन किया करता है । वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, प्रत्ययाश्रयवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता, प्रबन्धवक्रता आदि २ वक्रता-प्रकारों वाली कविकला यदि काव्य का सर्वस्व नहीं जिस पर समस्त काव्यानुभूति अवलम्बित है तो काव्य का सर्वस्व और क्या है ?

वक्रोक्ति के इस उपर्युक्त रहस्योद्घाटन से यह स्पष्ट है कि वक्रोक्तिजीवितकार ने 'वक्रोक्ति' और 'अलङ्कार' को एक नहीं माना है अपितु 'अलङ्कार' को ही वक्रोक्ति का एक प्रकार माना है ।

अनुवाद—काव्यप्रकाशकार ने 'अनलकृती पुन कापि शब्दार्थो काव्यम्' के उदाहरण रूप में जो यह सूक्ति उद्धृत की है—

'पता नहीं क्या बात है कि मेरा पति भी वही जिसने मेरे कुमारीपन में ही मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न किया, वसन्त की रातों भी वही जिनका आनन्द अवतक भोग चुकी हूँ खिली वासन्ती लताओं की सुगन्ध से भीनी भीनी कदम्बवन की उद्दीपक वायु भी वही जिसने मुझे सदा उन्मत्त बनाया है और मैं भी वही जो पहले हो चुकी हूँ, किन्तु ज्यों ही रेवातीर के वेतसनिकुञ्जों की याद आ जाती है त्यों ही चित्त वहाँ राग-रंग के लिये अकस्मात् मचल उठता है !' जिसके लिये यह कहा है कि किसी भी अलङ्कार की यहा स्फुट प्रतीति न होने पर भी यह (शब्दार्थयुगल) काव्य है वह सब वस्तुतः ठीक नहीं । क्यों ? इसलिये कि यहाँ तो विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कारों का 'सदेह संकर' नि सन्दिग्धरूप से दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—(क) वस्तुतः तो काव्यप्रकाशकार की उद्धृत सूक्ति (य. कौमारहर आदि) 'अलङ्कार की अस्फुटप्रतीति' का ही उदाहरण नहीं दिया ।

हो सभालने में लगी उस कविता की मधुर मूर्ति का निदर्शन है जिसे अल्कार का कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु विश्वनाथ कविराज ने यहाँ भी, मम्मट के काव्यलक्षण का अक्षर-विश्लेषण करके ही, मम्मट के काव्यमत का खण्टन करना चाहा है। किसी के चारने से किसी का क्या विगटता है ? मम्मट ने लिखा—‘सर्वत्र सालङ्कारौ कश्चित् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । यथा—
‘यः कौमारहरः ... समुत्कण्ठते ॥ अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः रसस्य च प्राधान्याच्चालङ्का-
रता— (काव्यप्रकाश, पृष्ठ ११-१२) और विश्वनाथ कविराज ने इसका खण्टन किया—

‘यत्र कचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्—‘य कौमारहरः’.....समुत्कण्ठते ॥ इति । एत-
द्विन्त्यम् ।

जन तक 'य कौमारहर' आदि काव्यनूक्ति पर मम्मट की समस्त विचारधारा स्रष्टित नहीं हो जाती तब तक विश्वनाथ कविराज का यह स्रष्टनोद्योग क्योंकि सर्वात्मना सफल माना जाय !

(ख) विश्वनाथ कविराज ने 'य'कौमारहर, आदि काव्यसूक्ति पर यह निर्देश तो कहीं नहीं किया कि यहाँ रसध्वनिसौन्दर्य है किन्तु यह अवश्य कहा कि यहाँ विभावना-विशेषोक्तिमूलक संदेहसंकर का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत होता है। तो क्या 'य' कौमारहर' आदि वाक्य रसात्मक नहीं? या सम्भट ने इसे रसनिर्भर कह दिया इसलिए इसे अछनार-मुन्दर ही मानना पड़ गया? इस काव्यवाक्य की रसमाधुरी के पान में तो विश्वनाथ कविराज भी 'विभावनाविशेषोक्तिमूलक संदेहसंकर' की स्फुट प्रतीति से वञ्चित ही हुये होंगे। यहाँ 'वाद' का आश्रय न लिया गया। 'वितण्डा' के सहारे सिद्धान्त का अपलाप किया गया।

(ग) अब रही 'य कौमारहर.' आदि सूक्ति में 'विभावना-विशेषोक्तिमूलक 'नदेइतकर' की स्फुट प्रतीति की बात । इसका उत्तर काव्यप्रकाश के विंश व्याख्याकारों ने ही बड़े विचार के साथ दिया है जिसका सारसंक्षेप यह है—

‘अत्र हि ‘हरो वर’ इत्याद्यनुप्रासस्य स्फुटस्यापि प्रकृतशृङ्गाररसप्रतिबूलवर्णधटितत्वेन नालङ्कारता । यद्यपि विभावनाविशेषोक्ती तावत् सम्भवत (तथाहि—कारणाभावेऽपि कार्यात्पत्तिकथनं विभावना । अत्र च वरोपकरणादीनामनुपशुक्तत्वस्य कारणस्याभावेऽपि उत्कण्ठारूपस्य कार्यात्पत्तिकथनाद्विभावना । एव कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावकथनं विशेषोक्तिः) तथापि न ते स्फुटे कारणकार्ययोरभावकथनस्य आर्थिकस्य सत्त्वेऽपि तदाचकनश्रादिनाऽनुपात्तत्वात् । यदि चेत्तोऽनुत्कण्ठितनेत्यभिधीयेत तदा विशेषोक्ते, स्फुटत्व भवेदिति बोध्यम् । अनयोरस्फुटत्वेन एतन्मूलकसद्वेहसकरोऽप्यस्फुट इति निर्विवादम् । न चास्मीति क्रियाया विभक्तिविपरिणामेन सर्वत्र वरादायन्वयेन क्रियादीपकमेव स्फुटमिति वाच्यम् । अस्मीत्यस्याहमर्थकाव्ययत्वात् । क्रियापदत्वेऽपि न दीपकत्वम् । तदन्वयिनां संबन्धामेव प्राकरणिकत्वात् । दीपकस्य तु प्राकरणिकाप्राकरणिकविपर्ययत्वात् । विभक्तिविपरिणामकल्पनाया एवास्फुटात्मकत्वाच्च । एवकारस्याभेदपरत्वेनेतरनिषेधपरत्वायोगाच्च न परिसरत्या । वरादीना गुणक्रियायौगपन्नाभावात् समुच्चयः । वरादीनामुपमानोपमेयभावाभावाच्च तुल्ययोगिता । मृदशदृशनाप्रयोज्यत्वाच्च । ‘न एव हि’ इत्यादेः प्रत्यभिज्ञाशरीरत्वाच्च न स्मरणालङ्कारः । यत्तु मुरभयोऽन प्रौढा न्यनार्थनमर्थो इति काव्यलिङ्गमप्यस्फुटम् । अशब्दत्वादिति ।’ (काव्यप्रभास दान्तेनोक्तिं टीका पृष्ठ ८)

अर्थात् 'य कौनान्तर' आदि सूक्ति के बाद-नीत्यर्थ में तो कोई मन्दर ही नहीं क्योंकि यों विप्र-सम्पन्न की स्वर्गीय अभिरक्षा एक कर्मकाण्डमयेव तब है। तथा ही तब इन सूक्ति में एक और भी विनिश्चय है और वह है इसकी शिक्षा अन्तर्गत्योजना (1) इसकी अन्तर्गत्योजना इसकी विधा है जि चारों दिशा में रहे इसमें कोई अग्रहण रह्ये हीन

नहीं पड़ता। ऐसा लगता है जैसे यहाँ कविता किसी भी अलंकार को भार मगस रही है और अनलकृतता में ही निरन्तर सुन्दर लग रही है। यहाँ 'एरो वर' में 'र' वर्ण की रफ़्त आवृत्ति अनुप्रास कही जा सकती थी किन्तु यह आवृत्ति यहाँ अलंकार नहीं मानी जा सकती क्योंकि इसे कवि के रसभाव के अनुकूल कैसे रिद्ध किया जाय ? यहाँ अर्वाङ्कारों में कतिपय अलंकारों की सभावना भी एक निरर्थक कष्ट-कल्पना ही है। जैसे कि यदि यहाँ 'विभावना' मानें अर्थात् याद दखानवीन करें कि कवि ने वर, वसन्त की रात्रि, मलय समार आदि २ त्रिपयों के अनुपभोग रूप कारण के अभाव में भी उत्कण्ठारूप कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया है तब यह बात स्पष्ट उठती है कि इस प्रकार के कारणाभाव और कार्यसम्भाव (अनुपभोग के अभाव और उत्कण्ठा) को एक बुझावले के रूप में क्योंकि बुझाया गया। जब तक अनुपभोग के अभाव का वाच्य कौटुं शब्द न हो तब तक विभावनारूप वाच्यालंकार की गवेषणा काकान्त-पराक्षा के अनिरिक्त और क्या ! विभावना को व्यङ्ग्य मानने में तो हम रसमयी सूक्ति की अस्पृष्टालंकार-योजना ही प्रमाणित हो गयी। इसी प्रकार यदि यहाँ 'विशेषोक्ति' अलंकार को देयना नाएँ तो वा भी ऐसा लगता है जैसे एक बार मृगमरोचिका की भाँति झलक कर गायन हो गया हो। 'विशेषोक्ति' कहते हैं कारण के होने पर भी कार्य के न होने की कल्पना और वर्णन। यहाँ नायिका के द्वारा वर आदि विषयों के उपभोग को कारण रूप से मानकर कार्य अर्थात् अनुत्कण्ठा के अभाव का वर्णन विशेषोक्ति के रेखाचित्र सा दिखलायी दे सकता है, किन्तु कवि को यह पसन्द नहीं। यदि कवि ने यहाँ 'विशेषोक्ति' की योजना की होती तब तो 'चेतोऽनुत्कण्ठित न' इस प्रकार की ही पदयोजना को स्थान दिया होता। यहाँ तो अनुत्कण्ठा का अभाव-वर्णन वाच्य न होकर आक्षिप्त हो गया और तब विशेषोक्ति रूप वाच्यालंकार कहाँ ? और अलंकारों जैसे कि स्मरण, दीपक, तुल्ययोगिता आदि २ की खोज भी अंधेरे में काजल की खोज सी ही है। इन अलंकारों की असभावना में 'सदेह सकर' की सभावना भी सदिग्ध हो क्यों सर्वथा निर्मूल किंवा निष्प्रयोजन ही है।

(घ) साहित्यदर्पणकार का यह विचार-विमर्श वस्तुतः अलंकारमर्वस्वकार रच्यक की इस वक्ति का ऋणी है—

'कार्यानुत्पत्तिश्चात्र (विशेषोक्तौ) क्वचित् कार्यविरोधोत्पत्त्या निवध्यते। एव विभावनायामपि कारणाभाव कारणविरुद्धमुखेन क्वचित् प्रतिपाद्यते। तथा च सति 'य कौमारहर' इत्यत्र विभावनाविशेषोक्तयो संदेहसकरः। तथा उत्कण्ठाकारणं विरुद्ध यः कौमारहर इत्यादि निबद्धमिति विभावना। तथा यः कौमारहर इत्यादेः कारणस्य कार्यं विरुद्ध चेतः समुत्कण्ठत इत्युत्कण्ठाख्य निबद्धमिति विशेषोक्तिः। विरुद्धमुखेनोपनिबन्धाव केवलमस्पष्टत्वम्। साधकबाधकप्रमाणाभावाच्चात्र संदेहसकरः।'।

(अलंकार सर्वस्व, पृष्ठ १६१-१६२)

अर्थात् 'कारण के सद्भाव में कार्य की अनुत्पत्ति' का वर्णन तो 'विशेषोक्ति' है ही किन्तु कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन दो प्रकार से संभव है—(१) कार्य के अविरुद्ध धर्म के द्वारा और (२) कार्य के विरोधक धर्म के उपन्यास के द्वारा। इसी प्रकार 'विभावना' में भी जहाँ 'कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति' का वर्णन हुआ करता है यह आवश्यक नहीं कि कारण का अभाव कारण के अविरुद्ध धर्म के उपन्यास के साथ ही वर्णित हुआ करे। कारण का अभाव तो कारण के विरुद्ध धर्म के उपन्यास में भी वर्णित हो सकता है जिसमें कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जा सकता है और विभावनालंकार की योजना सम्पूर्ण के समर्थ है। तन्मत

(सरस्वतीकण्ठाभरण-सम्मत काव्य-लक्षण उपर्युक्त
विचार-विमर्श की दृष्टि से स्वयं खण्डित)

एतेन—

‘अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥’

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम् ।

(ध्वनिकार-कृत काव्यलक्षण का खण्डन)

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्—‘काव्यस्यात्मा ध्वनिः—’ इति तर्कितं वस्त्वलङ्कार-
रसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा ? नायः—
प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः । द्वितीयश्चेदोमिति श्रूमः ।

विचित्र योजना है । विचित्र इसलिए क्योंकि ये दोनों अलंकार यहाँ स्पष्ट नहीं झलक रहे हैं ।
इन दोनों अलंकारों की अस्पष्टता ही यहाँ ‘सदेहसकर’ की रूपरेखा प्रदर्शित कर रही है ।
यहाँ (विभावना की दृष्टि से) कारण के अभाव का स्वरूप है—‘यः कौमारहरः’ आदि रूप से
उत्कण्ठा के कारण विरुद्ध धर्म का उपन्यास जिनमें कार्य अर्थात् उत्कण्ठा को उत्पत्ति वर्णित है ।
और (विशेषोक्ति की दृष्टि से) कार्य की अनुत्पत्ति के वर्णन का स्वरूप है—‘यः कौमारहरः’ आदि
रूप कारण के कार्य अर्थात् उत्कण्ठाभाव के विरुद्ध धर्म ‘चेतः समुत्कण्ठते’ (चित्त के उत्कण्ठित
होने) का वर्णन ।

किन्तु काव्यप्रकाशकार ने यहाँ इसीलिये सदेहसकर नहीं समझा क्योंकि विभावना और
विशेषोक्ति जब अस्फुट हैं तब विभावना-विशेषोक्तिमूलक ‘सदेह सकर’ क्यों स्पष्ट झलक जाय ।

अनुवाद—उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह भी सिद्ध हो गया है कि कतिपय काव्य-
लक्षण जैसे कि भोजराज (सरस्वतीकण्ठाभरणकार) का यह काव्यलक्षण—

‘काव्यं वह (शब्दार्थयुगल) है जो निर्दुष्ट हो, गुणयुक्त हो, अलङ्कारों से अलङ्कृत
हो और रससमन्वित हो और कवि वह है जो इस प्रकार के काव्य की रचना किया करता
है और कीर्ति किंवा प्रीति पाया करता है । (सरस्वतीकण्ठाभरण)’ और इसी प्रकार के
अन्य काव्य-लक्षण किसी भी काम के नहीं ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने ‘सरस्वतीकण्ठाभरण’ के काव्यलक्षण को यदि स्वतन्त्ररूप में
संक्षिप्त किया होता तब तो कोई आपत्ति न होती क्योंकि ‘अदोषं गुणवत् काव्यम्’ आदि वाक्य
काव्य-लक्षण नहीं अपि तु अलङ्कारशास्त्र की काव्य-सम्बन्धी समस्त मान्यताओं का सूचोपम है ।

तु काव्यप्रकाशकार के काव्यलक्षण को सरस्वतीकण्ठाभरण के काव्यलक्षण का ही मान लेना
वैधा अनुचित है । काव्यप्रकाशकार ने काव्य का लक्षण किया है, कवि और महद्य की दृष्टि से
अप्य के अन्तर्धारण धर्म का निरूपण किया है, यह कहा है कि ‘काव्यं वह शब्दार्थयुगल है जो
परहित हो.....’ । सरस्वतीकण्ठाभरणकार के काव्यलक्षण (?) में यह बात अर्थांशिक
ले ही हो स्पष्ट प्रतिपादित नहीं ।

अनुवाद—अब प्रश्न यह उठता है कि ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) का यह कथन कि
ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है, क्योंकि काव्य का निर्दुष्ट लक्षण न माना जाय ! किन्तु यहाँ
अब से पहले तो यह देखना है कि क्या वस्तु-अलङ्कार और रसरूप से त्रिविध ध्वनि
ने काव्य का आत्मतत्त्व माना गया है ? या केवल रसभावादिरूप ध्वनि को ही ! यदि

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं टिअसअ पलोएहि ।

मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए महं णिमज्जहिसि ॥

[श्वश्रुत्र निमज्जति, अत्राह, दिवस एव प्रलोक्य ।

मा पथिकं रात्र्यन्व, शय्यायां मम निमज्जयमि ॥]

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत् ? न, अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः, अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यवागतेरपि काव्यत्व स्यात् । अस्त्विति चेत् ? न, रसवत् एव काव्यत्वाङ्गीकारात् ।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वाद्यमुगपिण्डवानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां

यहाँ यह कहा जाय कि 'वस्तु-अलङ्कार और रसरूप त्रिविध ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है' तब तो यही उत्तर दिया जायगा कि इस काव्य-लक्षण के अनुसार ऐसे भी शब्दार्थ सन्दर्भ जैसे कि प्रहेलिका बन्ध (पहेली) आदि, जो कि ध्वनिवाद के अनुसार कदापि काव्य नहीं, काव्य-कोटि में स्थान पाने लगेंगे (क्योंकि प्रहेलिकाबन्ध आदि में भी तो वस्तुरूप अर्थ प्रतीत ही हुआ करता है और चमत्कारकारक भी लगा करता है) ! अब यदि इस अद्वचन से पिण्ड छुड़ाने के लिये यह कहा जाय कि 'रसभावादिरूप ध्वनि ही केवल काव्य का आत्मतत्त्व है' तब तो यही कहा जायगा कि इसमें हमारा (साहित्यदर्पणकार) का भी ऐकमत्य है (किन्तु तब काव्य का लक्षण 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' नहीं हो पायगा जिसमें दो सम्भावनायें हों और एक निरर्थक हो जाय) ।

यदि कोई पूछे कि 'यदि रसभावादिरूप ही ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व हो तो इस रचना अर्थात्—

'अरे रतौंधी वाले बरोही ! आँखें खोल कर दिन में ही देख ले कि यहाँ मेरी सास सोया करती है और यहाँ मैं सोया करती हूँ । ऐसा न कर बैठना कि बिना देखे-भाले मेरी खाट पर ही लेट लगाने लग जाओ ।' को क्योंकर 'काव्य' माना जाय जिसमें केवल वस्तुमात्र ही ध्वनित हो रहा है (अर्थात् यह प्रतीत हो रहा है कि ऐसा कहने वाली नायिका आगन्तुक पुरुष को अपनी खाट पर ही अपने साथ लेटने का संकेत कर रही है) न कि रसभावादि !, तब इसका समाधान यह रहा कि 'इस रचना को इसलिये काव्य नहीं मान लिया गया कि यहाँ वस्तु रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है अपि तु इसलिये कि यहाँ भी रसाभास की ही ध्वनि स्पष्ट प्रतीत हो रही है (क्योंकि परपुरुष के साथ किसी नायिका के रतिभाव का प्रकाशन शृंगाररस का आभास नहीं तो और क्या) !, निष्कर्ष यह निकला कि जिस किसी भी शब्दार्थसन्दर्भ को 'काव्य' माना जायगा, रसादिरूप अर्थ के अभिव्यञ्जक होने के ही कारण माना जायगा । क्योंकि यदि वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ के ही अभिव्यञ्जक होने से कोई शब्दार्थयुगल काव्य होने लगे तब तो यह वाक्य भी जैसे कि 'देवदत्त गाँव जा रहा है' काव्य बन बैठेगा क्योंकि यहाँ भी एक वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ जैसे कि 'देवदत्त' के पीछे २ उसका नौकर भी चला जा रहा है' निकल ही सकता है । अब यहाँ यह कह बैठना कि 'देवदत्त गाँव जा रहा है' आदि वाक्य भी काव्य बन जाय तो कोई आपत्ति नहीं, वस्तुतः एक उलटी-पुलटी बात होगी, क्योंकि वही शब्दार्थयुगल काव्य कहे जाने योग्य हो सकता है जो रसमय हो-रसमिव्यञ्जक हो ।

सुकुमारमतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात् ॥ तथा चाग्नेय-पुराणेऽप्युक्तम्—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति ।।

व्यक्तिविवेककारेणाऽप्युक्तं—'काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि, रसादिरूपे न कस्य-चिद्विमतिः' इति । ध्वनिकारेणाऽप्युक्तम्—'नहि कवेरिति वृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मप-
दलाभः', इति द्वासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि ।

ननु तर्हि प्रवन्धान्तर्गतानां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत् ? न, रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन, प्रवन्धरसेनैव तेषां रस-वत्ताद्वीकारात् । यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावादोषाभावादलङ्कारस-द्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यवन्धसाम्यादौण एव ।

तभी तो प्राचीन काव्याचार्यों का यह कथन है कि काव्य का यही उद्देश्य है कि वह कोमल बुद्धिवाले और इसीलिये वेदशास्त्र के अनुशीलन से जी चुराने वाले राजकुमारों और ऐसे ही सुललित अन्य पुरुषों को, जिनके लिये आचार-व्यवहार का ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, पहले तो अपने रसरूप मधुर प्रसाद से लुभाले और तब 'राम जैसे महापुरुषों के समान आचरण करना चाहिये न कि रावण जैसे नीचों के समान' आदि रूप से धर्म-कर्म के प्रति प्रवर्तन और अधर्म-अकर्म से निवर्तन के उपदेश दिया करे ।

'रसादि रूप व्यङ्ग्य' अर्थ के प्रकाशक ही शब्दार्थयुगल काव्य हो सकते हैं (न कि वस्तु और अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ के भी) यह एक ऐसी बात है जिसमें याचात् अग्नि-पुराण (३३६. ३३) का यह वचन प्रमाण है—

'काव्य में, चाहे उसमें जितना भी उक्ति-वैचित्र्य झलका करे, रस ही एक मात्र आत्म-भूत तत्त्व है ।'

इसीलिये तो व्यक्तिविवेककार (आचार्य महिममट्ट) ने कह रखा है—'जहाँ तक काव्य के जीवन-तत्त्व रसभावादि की बात है, कोई भी काव्याचार्य ऐसा नहीं जो किसी प्रकार का मतभेद रखता हो (यहाँ जो भी मतभेद है वह केवल रसभावादिरूप काव्या-त्मतत्त्व की संज्ञाओं जैसे कि 'कार्य', 'अनुमेय', 'भोग', 'व्यङ्ग्य' आदि २ में है न कि इन संज्ञाओं ने सूचित 'रसभावादि' रूप काव्यात्मतत्त्व में है ।),

यही क्यों ? स्वयं ध्वनिकार (आचार्य आनन्दवर्धन) का यह कथन है और हमी भौति अन्य भी कथन है —

'कवि का महान् पद (काव्य के) कथा-शरीर मात्र के निर्माण पर किसी दो नहीं मिला करता (वह तो वस्तुतः रसानुगुण काव्य-प्रवन्ध-निर्माण पर मिला करता है) क्योंकि कथा-शरीर तो इतिहास आदि में ही बना-बनाया रहता है ।'

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है—यदि रसमय काव्य ही काव्य हो तब किसी काव्य-प्रवन्ध के भीतर जो कतिपय नीरस पद्य-वाक्य दृष्टा करते हैं वे तो काव्य नहीं हो सन्ने न ? किन्तु इसका यह समाधान होना—जैसे किसी पद्य-काव्य की रसमयता में उसके भीतर छाने वाले कतिपय नीरस पदों में भी रसमयता झलका करती है वैसे ही किसी काव्य-प्रवन्ध की रसमयता में उसके भीतर यदि कुछ नीरस भी पद्य-वाक्य प्रयुक्त हों, तो वे भी रसमयता ही टपकाने वाले मान लिये जाया करते हैं ।

नामपर्य यह है कि काव्य वस्तुतः यही शब्दार्थ-वन्दन है जो रस हो, रसभाव का

(वामनकृत काव्य-रक्षण का सङ्गन)

यत्तु वामनेनोक्तम्—“रीतिरात्मा काव्यस्य” इति, तन्न; रीतेः सघटनाविशेष-
त्वात् । संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनश्च तद्विन्नत्वात् ।

अभिव्यञ्जक हो । कभी २ नीरस भी शब्दार्थ-मन्दर्भ काव्य कह दिये जाया करते हैं किन्तु ऐसा कहना उपचारत ही होता है न कि मुख्यत, क्योंकि सरस काव्य-बन्ध की भौति इनमें भी ऐसा लगा करता है मानो वर्ण-ध्वनियाँ गुणाभिव्यञ्जक हो रही हैं, दोष फटक नहीं पा रहे हैं और अलङ्कारों की भी छुटा छिटक रही है ।

विमर्श—ध्वनिकार की काव्यसम्बन्धी जिस मान्यता का यहाँ साहित्यदर्पणकार ने गण्टन किया है उसमें कोई नवीनता नहीं । बात यह है कि व्यक्तिविवेककार आचार्य मणिममट्ट को ही सबसे पहले यह सूझी थी कि जो आचार्य ‘ध्वनि’ को एक साम में काव्य का आत्मतत्त्व कह डालते हैं—और ध्वनि को काव्यात्मतत्त्व कहने का अभिप्राय होता है वस्तु, अलंकार और रसादि-रूप त्रिविध ध्वनि में काव्यात्मतत्त्व की भावना का—वे ‘रस’ को क्योंकि काव्यसर्वस्व कह सकते हैं ? अर्थात् ‘काव्यस्यात्मा ध्वनिः’ (ध्वन्यालोक १-१) यह सिद्धान्त और—

‘काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा ।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥’ (ध्वन्यालोक १-५)

यह सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध दिशा की ओर चलते प्रतीत होते हैं । ध्वनिमात्र को काव्यात्म-तत्त्व मानने पर तो प्रहेलिका-बन्ध भी, जिनमें कुछ न कुछ वस्तुरूप ध्वनि अवश्य ही खींची-तानी जा सकती है, ध्वनिकाव्य में ही स्थान पाया करेंगे ! वस्तुतः व्यक्तिविवेककार ने निम्नांकित उक्ति—

‘तदियम् (अनुमेयार्थप्रतिपत्तिः) उपायपरम्परोपारोहनिःसहा न रसास्वादान्ति-
मुपगन्तुमलमिति प्रहेलिकाप्रायमेतत् काव्यमित्यतिव्याप्तिः—’ (व्यक्तिविवेक, पृष्ठ ८६)

इसी ओर निर्देश कर रही है । किन्तु इस आक्षेप के आशय का समाधान भी यह का ही किया हुआ है क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त ने ही इस प्रकार के आक्षेप की कल्पना व उत्तर दिया है—

‘एव प्रतीयमान पुनरन्यदेव’ इतीयता ध्वनिस्वरूप व्याख्यातम् । अधुना काव्यात्मत्वं मितिहासव्याजेन च दर्शयति—काव्यस्यात्मेति । स एव इति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रकान् वृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रकान्तवृत्तिप्रन्थार्थवलाद्य । ते रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्तुलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्याद् कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ‘ध्वनिः काव्यस्यात्मे’ति सामान्येनोक्तम् । (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ८४)

इस प्रकार ध्वनिकार के सिद्धान्त की प्राचीन आलोचना-प्रत्यालोचना के इतिहास की इस पुनरावृत्ति में न तो कोई विशेषता ही है और न कोई मौलिकता ही ।

अनुवाद—उपर्युक्त काव्य-स्वरूप-विवेक से यह भी स्पष्ट है कि आचार्य वामन (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिकार) का यह कथन कि ‘रीति (गुणविशिष्ट पदरचना) ही काव्य का आत्मतत्त्व-सारतम पदार्थ-है’ कदापि युक्तियुक्त नहीं ।

‘रीति’ क्या है ? ‘रीति’ है एक सघटना-विशेष-ऐसी पदरचना जो गुणवती हो । जो भी सघटना हो अथवा जैसी भी सघटना हो उसका यही अभिप्राय है कि वह एक प्रकार का अङ्ग-विन्यास-विशेष है । और जो आत्म-तत्त्व है वह अङ्ग-रचना नहीं—शरीरसंस्थान

(ध्वनिकार-सम्मत काव्यात्मवाद में दोष-दर्शन)

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—

‘अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदाबुभौ स्मृतौ ॥’ इति ।

अत्र वाच्यात्मत्वं ‘काव्यस्यात्माध्वनिः—’ इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम् ।

विशेष नहीं अपि तु उससे सर्वथा विलक्षण वस्तु है । अब जब कि ‘रीति’ काव्य की अन्त-रचना है तो उसे काव्य का आत्मतत्त्व क्यों कर माना जाया करे ।

विमर्श—आचार्य वामन ‘रीतिवाद’ के प्रवर्तक आलङ्कारिक हैं । आचार्य मामह और दण्डी ने भी ‘वैदर्भ’ और ‘गौडीय’ मार्गों का उल्लेख किया है (मामह काव्यालंकार १.३१-३३ तथा दण्डी काव्यालंकार १.४०) किन्तु इन कवि-किं वा काव्य-मार्गों में काव्यसर्वस्व के स्वरूपचिन्तन की परम्परा रीतिवादी आचार्य वामन से ही प्रारम्भ हुई है । वामन के अनुसार ‘रीति’ है एक विशेष प्रकार का पद-रचना (विशिष्टा पदरचना रीतिः—काव्यालंकार सूत्र १.२.७) है और पद-रचना का विशेषना माधुर्यादि गुणों पर निर्भर है । यह गुण-विशिष्ट पदरचना (रीति) ही काव्य का आत्मा है (रीतिरात्मा काव्यस्य—काव्यालंकार सूत्र १.२.६) । वामन के इस रीत्यात्मवाद की विमर्श आलोचना ने रसात्मवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया है । सर्व प्रथम आनन्दवर्धनाचार्य ने ही यह निश्चय किया है कि ‘रीति’ को काव्य की आत्मा मानना आत्मतत्त्व के अपरिधान का परिणाम है । ध्वनिवादी आलंकारिकों ने इस विषय को अधिकाधिक स्पष्ट किया है । साहित्यदर्पणकार का रीत्यात्मवाद सण्डन ध्वनिवाद का ही समर्थन है ।

अनुवाद—ध्वनिकार (आनन्दवर्धनाचार्य) ने काव्य के आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन तो अवश्य किया-कराया है किन्तु एक स्थान पर ऐसी बात कह दी है, अर्थात्—

‘काव्य का वही अर्थ वस्तुतः काव्य का आत्मभूत-सारतम-अर्थ है जिसे सहृदय-हृदय सराहते नहीं धक्ते । और वह अर्थ ऐसा है जिसके दो भेद स्पष्ट हैं—१ ला-वाच्यरूप अर्थ और २ रा-प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) रूप अर्थ आदि, जिनमें वाच्यरूप अर्थ काव्य का आत्मतत्त्व बना दिव्यायी दे रहा है और अन्यत्र यह कह रहा है कि ‘काव्य का जो आत्मभूत तत्त्व है वह ध्वनि’ (व्यङ्ग्य रूप अर्थ) ही है ।’ अब ये दोनों परस्पर विरुद्ध कथन क्यों कर काव्य-स्वरूप के निरूपण में प्रमाण होने लगे ?

विमर्श—(क) ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने व्यङ्ग्यार्थ को षष्ठभूमि का स्वरूप बताते हुये लिखा था—

‘तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदाबुभौ स्मृतौ ॥

काव्यस्य हि ललितोचितसंक्षिप्तवार्त्ताः शरीरस्येवात्मा साररूपनया न्यताः सहृदय-श्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरपमादिभिः ।

बहुधा घटाकृतः सोऽर्थः काव्यलक्ष्मप्रियादिभिः ।

ततो नेह प्रतन्यते ॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति चाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाग्नानसु ॥, (धन्यालोक ४२-४९)

और ऐसा लिखने का उनका यही अभिप्राय था कि काव्य में अर्थ, वाच्य और व्यङ्ग्य-इन दो अशों अथवा भागों में विभक्त रहा करता है और इन दोनों अर्थ-भागों में बारी अर्थ काव्य का सारतम-आत्मभूत-अर्थ माना जाया करता है जो सहृदयश्लाघ्य हुआ करता है । वस्तुतः ध्वनिकार के इसी आशय का स्पष्टीकरण लोचनकार की इन पक्तियों में हुआ है—

‘तत्र ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधान भूमि’ । तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात् । वाच्येन समशीर्षिकया गणन तस्याप्यनपदवनी-यत्वं प्रतिपादयितुम् । “तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसवेद्यधर्म-त्वात् स्थूलकृशादिवत् । अर्थः पुनः सकलजनसवेद्यो न भवति । न एवमात्रेण काव्य-व्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात् । तदाह—सहृदयश्लाघ्य इति । स एक पृथार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते । तथा हि मुख्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मै-चिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते । तन्नवित्त्य तत्र केनचिद् विशेषेण । यो विशेष स प्रतीयमान-भागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते । वाच्यमवलनादिमोहितहृदयस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मप्रथग्भावे । अतएव अर्थ इत्येकतयोपपन्नस्य सहृदयश्लाघ्य इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायोपोद्धारदशा तस्य द्वौ भेदावशादित्युक्तम् न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति । तस्येत्यादिना तदभ्युपगम (रसध्वनेर्जावितत्वा-भ्युपगम) एव द्वयंशत्वे सत्युपपद्यते इति दर्शयति ।, (धन्यालोकलोचन पृ० ४२-४६)

जिनका अभिप्राय यह है—जब तक वाच्य और व्यङ्ग्य का परस्पर भेद न सिद्ध हो जाय तब तक यह कैसे पता चले कि काव्य का आत्मभूत अर्थतत्त्व क्या है ? काव्य के अर्थ को द्विरूप अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्यरूप कहना भी आवश्यक है क्योंकि निर्विवाद सिद्ध वाच्य की भाँति व्यङ्ग्य भी निर्विवाद सिद्ध ही अर्थ है । इन दोनों निर्विवादसिद्ध अर्थों में, वे लोग तो शरीर-शरीरिभाव का दर्शन करने से रहे जिन्हें वाच्यार्थ के मायाजाल ने घेर रखा है किन्तु जो काव्यतत्त्वज्ञानो हैं उन्हें तो यह स्पष्ट पता चला करता है कि वाच्यरूप अर्थ शरीरवत् है जिसमें व्यङ्ग्यार्थरूप आत्मतत्त्व अन्तर्व्याप्त रहा करता है ।

यह सब होते हुये भी विश्वनाथ कविराज का यहाँ ‘दोष-दर्शन’ एक दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं ।

(स) वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने यहाँ खण्डन की शिक्षा व्यक्तिविवेककार महिममट्ट से ली है । महिममट्ट का भी यहाँ यही आक्षेप था—

‘केवलमत्रैवार्थस्योभयात्मन. सामान्येन य’ काव्यात्मत्वेन व्यपदेश’ सोऽनुपपन्नः । स हि प्रतीयमानार्थैकविषयो युक्त, तस्यैव काव्यजीवितभूतस्य प्रधानतया ध्वनिस्त्वे-नेष्टत्वात् । यत् स एवाह—काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति । काव्यस्यात्मा स एवार्थ इति । प्रतीयमाना ध्वन्यैव भूषा लज्जेव योपित इति च । तेन ‘यः काव्यस्य व्यवस्थितः’ इति तत्रोचित पाठः । (व्यक्तिविवेक १ म विमर्श)

किन्तु यह आक्षेप भी ‘शङ्कितपञ्चदूषणप्रपञ्च’ होने के कारण ‘निरुत्थान’ ही है जैसा कि व्यक्तिविवेक्याख्याकार आचार्य रुय्यक ने सिद्ध किया है क्योंकि जो बात ध्वनिकार के मन में नहीं उसका खण्डन निष्प्रयोजन नहीं तो और क्या है ?

(स्व-सम्मत काव्यस्वरूप)

तत्किं पुनः काव्यमित्युच्यते—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः । रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य । तेन विना तस्य काव्यत्वानङ्गीकारात् । 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्ति-योगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते ।

आर-नाटिका

अनुवाद—काव्य-स्वरूप के सम्यन्ध में आलङ्कारिकों के इस मति-भ्रम के निवारण के लिये अब यह बताना आवश्यक है कि काव्य क्या है ?

काव्य क्या है ? 'काव्य वह वाक्य है जो रसात्मक हो ।'

'रस क्या है ? इसका निरूपण तो आगे (तृतीय परिच्छेद में) किया ही जायगा । यहां 'रसात्मक' वाक्य का अभिप्राय बताना देना उचित है । 'रसात्मक' वाक्य उस वाक्य को कहते हैं जिसका आत्मतत्त्व 'रस' हुआ करता है । अथवा जिसे जीवित-जागृत रखने वाला एकमात्र सारतम तत्त्व 'रस' है । 'रस' के बिना कोई भी वाक्य काव्य नहीं हो सकता—यह ऐसी बात है जो पहले ही बतानी चुकी है । यहाँ 'रस' का अभिप्राय केवल (शृङ्गारादि) रस नहीं अपि तु वह है जो आत्माद्विषय हो । इस 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर जो भी सहृदयों के आन्वाहिक के विषय हुआ करते हैं जैसे कि भाव, रसामास और भावामास आदि २ वे समी यहाँ विवक्षित और समुचित हैं ।

विमर्श—(क) आचार्य नम्मट के काव्यलक्षण की समीक्षा से ही विश्वनाथ कविराज को 'रसात्मक वाक्य काव्य है' यह काव्यदृष्टि मिली है । जैसा हम देख चुके हैं आचार्य नम्मट के काव्य-लक्षण के गण्टन में साहित्यदर्पणकार ने कोई नया काव्य-मिद्धान्त नहीं ढूँढा है । काव्यप्रकाशकार का काव्यलक्षण तो ध्वनिवाद की दृष्टि से काव्य के स्वरूप का ऐसा निर्वचन है जिनमें एक ओर तो अन्य आलङ्कारिक-वादों की विचारधाराओं का सामंजस्य स्थापित हो गया है और दूसरी ओर संस्कृत के सभन्त काव्य-साहित्य की विशेषताओं का समावेश भी स्वभावतः दिसाई दे रहा है । किन्तु साहित्यदर्पणकार का काव्यलक्षण एकमात्र रसप्रति-काव्य का ही निर्वचन-मन्त्र है । 'रसगन्धर्व' के महासाधक पण्डितराज जगन्नाथ ने तर्फी तो यह कहा है—

'यत्तु रसवदेव काव्यम् इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न । वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि । कपिवालादिविलम्बितानि च । न च तत्रापि यथाकथञ्चिद् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम् । ईदृशरसस्पर्शस्य 'नौश्रुलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसङ्गत्वेनाप्रयोजकत्वात् । लयमात्रस्य विभाजानु-भावव्यभिचार्यन्यतमत्वादितिदिक् ।' (रसगन्धर्व पृ. ७८) १७०८-२१

अर्थात् साहित्यदर्पण का यह निर्णय कि 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है' सर्वथा सुचितुक्त नहीं प्रतीत होता । बात यह है कि यदि रस-प्रधान रचना में ही काव्य हो तब वस्तु कि या अन्य-प्रधान रचनाओं की क्या गति होगी ? मला यह कैसा कहा जाय कि वस्तु कि या अन्य-प्रधान रचनाओं काव्य ही नहीं हुआ करती । संस्कृत का काव्य-साहित्य वस्तु कि या अलङ्कारप्रधान

रचनाओं से भरा पड़ा है। सस्कृत के बड़े-बड़े कवियों ने परम्परा से ऐसी रचनाओं में सफलता पायी है और सस्कृत के काव्य-भण्डार को अक्षय बनाया है। प्रकृति के भाग और रम्य दृश्यों का वर्णन क्या काव्य नहीं? पशु पक्षियों और बालक-बालिकाओं की रीतियों का स्वभाव-रम्य चित्रण क्या काव्य नहीं? यदि इस आपत्ति से बचने के लिये साहित्यदर्पणकार ने यह कहा कि वस्तु अथवा अलंकारप्रधान रचनायें भी काव्य-कोटि में आजायेंगी क्योंकि इनमें भी परम्परया रसात्मकता मान ली जायगी तब तो इससे यही अन्त में सिद्ध हुआ कि 'गौधूलति', 'मृगो-धावति' आदि वाक्य भी काव्य बन गये क्योंकि यहाँ भी किसी प्रकार रस की प्रशंसा पड़ती देख ली जायगी? ऐसा भी क्या काव्यलक्षण जिसमें लक्ष्य का कोई स्वरूप ही न निर्धारित हो?

(ख) 'रसात्मक वाक्य काव्य है'—यह काव्यलक्षण लक्षणकार विश्वनाथ-कविराज के 'साहित्यदर्पण' में अविकलरूप से प्रतिफलित होता नहीं प्रतीत होता। आचार्य मम्मट ने एक विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ—शब्दार्थयुगल—को काव्य कहा है। इस विचारस्रोत के क्रमिक प्रवाह में काव्यप्रकार, शब्दार्थस्वरूप, दोषदर्शन, गुणवर्णन, अलंकारयोजना आदि-आदि विषयों की धारयें स्वभावतः प्रवाहित होती दिखायी दिया करती हैं। किन्तु रसात्मक वाक्यरूप काव्यवाद के प्रवर्तक आचार्य का विचारस्रोत 'वाक्य' की भाषाशास्त्रमन्मन व्याख्या में ही विच्छिन्न हो जाता है। यह तो ठीक है कि योग्यता-आकांक्षा-आमत्तियुक्त पदोच्चय ही 'वाक्य' है और ऐसा 'वाक्योच्चय' ही महावाक्य है। किन्तु ऐसे वाक्य और ऐसे महावाक्य तो प्रतिदिन के जीवन में व्यवहृत हुआ करते हैं। इन्हें तो 'काव्य' कहा नहीं गया। और जबतक आकांक्षा और योग्यता और आसक्ति को 'रसाभिव्यञ्जनात्मकता' की विशेषता से विशिष्ट न किया जाय तबतक 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा पर्योकर परिष्कार की ओर बढ़ने लगी? पता यही चलता है कि पहले 'वाक्य' और बाद में वाक्य की 'रसात्मकता' की ही बात साहित्य-दर्पणकार को कइनी है। यही बात तो 'तद्दोषौ शब्दार्था सगुणावनलकृती पुनः क्वापि' इस काव्यलक्षणविधायक आचार्य ने कही थी। किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इसे न माना। अब मानना तो कठिन है। किन्तु बिना माने काम भी नहीं चलता। 'निर्दुष्ट, गुणयुक्त तथा अलंकृत (किंवा यथासंभव अनलंकृत भी) शब्दार्थयुगल काव्य है'—इस कथन में रसात्मक वाक्यरूप काव्य की रचना-प्रक्रिया पर तो प्रकाश अवश्य पड़ रहा है किन्तु 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' इस उक्ति में काव्य का रहस्य अनिर्मिन्न-सा ही रह जाता है। वस्तुतः महामहोपाध्याय डाक्टर काणे ने इसीलिये कहा है —

The definitions of a few writers, particularly early ones, treat शब्द and अर्थ as equally prominent, while others give more prominence to शब्द, some give a definition of काव्य which is more difficult than the thing to be defined (such as that of विश्वनाथ (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्)।

—History of Sanskrit Poetics, पृष्ठ ३३८।

अर्थात् 'प्राचीन आलंकारिकों में अधिक सख्ता उनकी है जो काव्य में शब्द और अर्थ का समान महत्त्व माना करते हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो अर्थ की अपेक्षा शब्द का ही काव्य में प्राधान्य स्वीकार करते हैं किन्तु एक-आध आचार्यों ने काव्य की ऐसी परिभाषा की है जैसे कि विश्वनाथ कविराज ने की, जिसके देखने से यही प्रतीत होता है कि काव्य क्या है? यह समझना तो सरल है किन्तु काव्य की परिभाषा क्या कइ रही है? यह समझना असंभव है।'

(ग) 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का अर्थ क्या? कवि की दृष्टि से तो 'रसात्मक वाक्य' का अभिप्राय एकमात्र 'विभावादि-योजनात्मक वाक्य' ही हो सकता है। इस प्रकार जब अन्ततोगत्वा

‘रसात्मक’ का अभिप्राय ‘विभावादियोजनात्मक’ ही हुआ तो संधे होते ऐसा न कहकर बुझावल बुझाने का क्या तात्पर्य ? यदि काव्य की परिभाषा हो-‘विभावादियोजनात्मक वाक्य काव्यम्’ तब तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि सद्यस्य यहाँ ‘रसात्मक वाक्य’ का निगूढार्थ नमझ लेंगे । व्यक्तिविवेककार आचार्य हरिमभट्ट ने वस्तुतः ‘विभावादियोजनात्मक वाक्य’ को ही काव्य माना था—

‘अपि च काव्यविशेष इत्यत्र काव्यस्य विशिष्टत्वमनुपपन्नम्, काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यप-
देशविषयत्वेनेष्टत्वात् तस्य रसात्मकत्वोपगमात् ।

यतः स पुराह—

काव्यस्यात्मा स पुरार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ॥
कौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः श्लोक श्लोकत्वमागतः ॥

न च तस्य विशेषः संभवति निरतिशयसुखास्वादलक्षणत्वात्तस्य ।

यदाहुः—

पाठ्यादथ ध्रुवागानात्ततः संपूरिते रसे ।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुखं क्षणम् ॥
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निज ।
च्यज्यते ह्लादनिप्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः ।

इति । तदभावे चास्य काव्यतैव न स्यात् किमुत विशेष इति अनारम्भणीयमेवेतत्तत् प्रेक्षाघातां स्याद् वैफल्यत् ।

कविन्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते ।
‘‘काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनियन्धनभावेनास्य रसात्मकत्वमवश्य-
मुपगन्तव्यम् । तन्मात्रप्रयुक्तं ध्वनिव्यपदेशः ॥’

(व्यक्तिविवेक पृ १२-१७)

अर्थात् वस्तुतः जिने भी काव्य कहते हैं वह रसात्मक ही हुआ करता है । ऐसी कोई भी रचना जो रसात्मक न हो काव्य नहीं की जा सकती । ‘रसात्मक रचना’, ‘काव्य’, ‘ध्वनि-ये मर्मां शब्द एव ही ओर निर्देश करते हैं । सद्यस्य नामादिक को या काव्य-सृष्टि कवि को ही देने है क्योंकि कवि का ही कर्म तो काव्य है—कवेः कर्म काव्यम् । यह कविर्कर्म क्या है ? यह कविकर्म है विभावादिसंयोजनात्मक शब्दार्थरचना । जो भी शब्दार्थरचना विभावादिसंयोजनात्मक रचना होगी वह नियत रसाभिव्यक्त्यर्थे रसात्मक होगी । उक्त अनुमितिवाद काव्यमन के देने वाली प्रतीति होती है कि रसाभिव्यक्तिवादी कविराज विश्वनाथ ने ‘विभावादिसंयोजनात्मक वाक्य’ को ही वस्तुतः काव्य माना है । किन्तु व्यक्तिविवेककार ने भेद प्रदर्शित करने के लिये इसे उनके शब्दों में न कहकर अपने शब्दों में प्रकट किया है—वास्यं रसात्मकं काव्यम् । व्यक्तिविवेककार को तो ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धन के ‘काव्यविशेषः ध्वनि’-रस कथन का स्पष्टन करना था और यह पता था कि ‘काव्यमानाम् ध्वनिः है’ । और काव्यमानाम् क्या है ? काव्यमानाम् है रसात्मक रचना । यह रसात्मक रचना क्या है ? यह है विभावादिसंयोजनात्मक शब्दार्थरचना । किन्तु विश्वनाथ कविराज ने रसमन्त्र के काव्यमन के स्पष्टन में यह कथन नहीं किया जो हरिमभट्ट ने ध्वनिकार के शब्द-प्रयोग (काव्यविशेषः ध्वनिः) के स्पष्टन में किया था ।

(काव्य-रसात्मकवाक्य-के निर्दर्शन)

तत्र रसो यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिर निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्त्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता चाला चिर चुम्बिता ॥

अत्र हि संभोगशृङ्गाराख्यो रसः ।

भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धिविग्रहिकाणाम्—

(घ) जब कि 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' का निष्कर्ष 'विभावादिसंयोजनात्मक वाक्य काव्यम्' है और 'विभावादिसंयोजनात्मक वाक्य' की रचना निरुद्ध गुणाभिव्यक्ति किंवा रसभावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अलङ्कृत अथवा निरलङ्कृत अर्थमन्त्र है तब तो यह भिन्न है कि मम्मट का काव्यमत ही नये परिधान में साहित्यदर्पणकार का काव्यमत बना दिया गया पट रहा है। मम्मट ने बहुत कुछ सोचविचार कर 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' या काव्य परिभाषा न बनायी थी। विश्वनाथ कविराज ने व्यक्तिविवेककार का नामोल्लेख किये बिना ही उनका विचारधारा का अनुसरण करते ध्वनिवादी आचार्यों की काव्य परिभाषा का गण्टन किया किन्तु अन्त में जो निष्कर्ष निकला उससे 'रसवनिर्दर्पण' की रचना भले ही ममथम हुई होनी 'साहित्यदर्पण' का निर्माण तो कदाचित् असमझस सा ही लग रहा है।

(ङ) चाहे जो कुछ भी हो विश्वनाथ कविराज की काव्य परिभाषा अलङ्कारशास्त्र में अपना स्थान रखती है। विश्वनाथ कविराज की चिन्तनधारा ने पण्डितराज जगन्नाथ के विचारसागर को प्रभावित किया है। 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' की मान्यनाओं के अनुमन्त्रान में ही 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' शब्द काव्यम्' का रसगङ्गाधर-सिद्धान्त निकलता है। विश्वनाथ कविराज नवीनता के पुजारी हैं। कविता-सरस्वती को जैसे 'काव्यप्रकाश' की आवश्यकता है वैसे ही 'साहित्यदर्पण' की भी। 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में भले ही कुछ मनमुटाव हो किन्तु गान्धेवी के समक्ष तो दोनों का समान ही मान है और दोनों में समान ही भाव और स्फूर्ति है।

अनुवाद—जैसे कि यह (प्राचीन) सूक्ति जिसमें 'रस' ही सारतम तत्त्व है—

'नवोढा सुन्दरी ने देखा कि शयनगृह से और सभी लोग जा चुके हैं, वह अपनी सेज से कुछ-कुछ धीरे-धीरे उठी, उसने नींद का बहाना बनाये सोने वाले अपने प्रिय का मुँह बड़े ध्यान से देखा, उसे सचमुच सोया लगता कर निश्चिन्तता के साथ, उस मुख-चुम्बन कर लिया और जैसे ही उसके कण्ठों पर आनन्द का रोमाञ्च देखती लज्जा से अपना मुँह झुकाये खड़ी हुई कि उसने (प्रियतम ने) हँस हँसकर, बड़ी तक, उस पर चुम्बनों की बौछार शुरू कर दी ।'

यहाँ जो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसमें इसका जीवनाधायक संभोगशृङ्गार साक्षात् विराजमान है।

अथवा

सान्धिविग्रहिक महापात्र श्री राघवानन्द कविराज की यह सूक्ति, जिसमें 'भाव' जीवनाधायकता स्पष्ट है—

यस्यालीयत शत्कसीम्नि जलाधिः पृष्ठे जगन्मण्डल,
दादौ दृष्ट्यां धरणी, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी ।
क्रोचे क्षत्रगण, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्याने विश्वमुसावधार्मिककुलं, कस्मैचिदस्मै नमः ॥

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः ।

रसाभासो यथा—

मधु द्विरेफं कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

अत्र सम्भोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः । एवमन्यत् ।

‘उस अवाहनसगोचर तत्त्व को शतशत प्रणाम जिसके (मत्स्यावतार रूप में) शक (छिलके) की किसी कोर में अपार पारावार छिप गया, जिसके (कूर्मावतार रूप में) पृष्ठ पर समस्त ब्रह्माण्ड का भार सगहल गया, जिसकी (चराह मूर्ति में) दादों पर धरती की जान बच गयी, जिसके (नृसिंहावतार रूप में) नख में दानवराज हिरण्यकशिपु का सर्वस्व लुप्त हो गया, जिसके (वामन रूप में) पग में छावापृथिवी (आकाश और धरती) नप गये, जिसके (परशुराम रूप में) क्रोध में समस्त क्षत्रगण (क्षत्रिय जाति के लोग) भस्मीभूत हो गये, जिसके (रामावतार रूप में) बाण में दशानन रावण का लोप हो गया, जिसके (कृष्णावतार रूप में) हाथ में प्रलम्बासुर प्रलीन हो गया, जिसके (बुद्धावतार रूप में) ध्यान में भूत-भौतिक किंवा चित्त-चैतन्यिक समस्त जगत् विलीन हो गया और जिसके (कविक रूप में) खड्ग में अधर्मी लोग लुप्त हो गये ।’

यहाँ जो वाक्य है वह ‘काव्य’ है क्योंकि इसका सारभूत तत्त्व इसमें अभिव्यक्त भगवद्विषयक (कविनिष्ठ) रतिभाव है ।

अथवा

यह सूक्ति जिसमें ‘रसाभास’ का अनुप्राणन सर्वसर्वेष्वे—

‘स्मरबान्धव वसन्त का आगमन क्या हुआ एक ओर तो प्रेमातुर भ्रमर ने, पुष्प-चपक में, प्रियतमा भ्रमरी को, पुष्परस की मदिरा पिलाने शुरू की और स्वयं उच्छिष्ट मदिरा को प्रेम से पीने लगा और दूसरी ओर कामातुर कृष्णमार मृग अपनी प्रियतमा मृगी से जासटा और आनन्द से आँखें मींचे गद्दी उभे सींगों से खुजलाते प्रेम करने लगा ।’

यहाँ जो वाक्य है वह ‘काव्य’ है क्योंकि इसमें प्रेमी पशुयुगल किंवा पशुयुगल के हृदय का रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है । इसी भाँति अन्यान्य रस और भाव और उन दोनों के आभासों से अनुप्राणित जो वाक्य हैं उन्हें भी ‘काव्य’ मानना चाहिये ।

विमर्श—(१) ‘वाक्यं रसात्मक काव्यम्’—उन वाक्यों में जिसका उद्देश्य है ‘रस’ का आनन्द, रतिभाव प्रदीप्त करना और जो रस के अन्तर्गत हैं, अतः रस ही है—
उन्होंने रस (प्रति-रसि-छेद में) स्पष्ट किया है—

(दोष-स्वरूप का संकेत)

दोषाः पुनः काव्ये किंस्वरूपा ? इत्युच्यन्ते—

(रसात्मक वाक्यरूप काव्य और उसके अपकर्षकारक दोष का सम्बन्ध)

दोषास्तस्यापकर्षकाः ।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणैव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव, साक्षात्काव्यस्यात्मभूत रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते । एषां विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः ।

‘रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ ।

सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रमनाद्रसा ॥’

अर्थात् रस और भाव, रसभाव और भावाभास, भावोदय और भावप्रशम, भावमन्थि और भावशबलता—ये सभी के सभी ‘रस’ ही हैं क्योंकि इन सभमें आम्नाद अथवा आनन्दानुभव सङ्ख्येय सवेध है ।’

(ख) ‘शून्य वासगृहम्’ आदि काव्यसूक्ति अमरशतक ही एक परममधुर सूक्ति है । इसमें महाकवि ने नवोढा नायिका के अभिनव समागम का वर्णन किया है । इस वर्णन में सभोगशृङ्गार प्रवाहित हो रहा है । नवोढा नायिका की रति का यहाँ अत्यन्त सुन्दर अभिव्यञ्जन है । रति-मन्दिर के स्नानपन, व्याजसुप्त नायक के कपोलचुम्बन किंवा रज्जावश नायिका के मुग्ग के अवनत हो जाने के वर्णन में रति के उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव की मयोजना बड़ी स्वाभाविकता किंवा रोचकता से की गयी दिखायी दे रही है । अमरशतक ऐसी सूक्तियों का खजाना है । तभी तो रसध्वनितत्त्वदर्शी आचार्य आनन्दवर्धन ने अमरशतक को ‘मुक्तक’ होते हुये भी शृङ्गाररस का ‘महाकाव्य’ कहा है ।

अनुवाद—जिस ‘रसात्मक वाक्य’ को काव्य कहा गया है उसकी अपकृष्टता जिनके द्वारा हुआ करती है वे ही (काव्य के) दोष कहे जाते हैं ।

दोष वस्तुतः वे हैं जो रसात्मक वाक्यरूप काव्य की उत्कृष्टता (अथवा सुन्दरता) के विघातक हुआ करते हैं । इन दोषों में ये दोष जैसे कि श्रुतिकदुरत्व, अपुष्टार्थत्व आदि तो ऐसे हुआ करते हैं जो मानव-शरीर की उत्कृष्टता के विघातक काणत्व (कानेपन) खञ्जत्व (लङ्घनेपन) आदि की भांति काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ की उत्कृष्टता के विघातक होते हुये (अर्थात् परम्परया न कि साक्षात्) काव्य के रसादिरूप आत्मतत्त्व के अपकर्षकारक हुआ करते हैं और कुछ ऐसे भी हुआ करते हैं जिन्हें रस दोष कहा करते हैं जैसे कि निर्वेदादि व्यभिचारिभावों का, उनके वाचक शब्दों से अभिधान आदि जो मूर्खत्व आदि दोषों की भांति रसादिरूप काव्यात्मतत्त्व के साक्षात् (न कि परम्परया) अपकर्षजनक बना करते हैं । रसात्मकवाक्य के साक्षात् अथवा परम्परया अपकर्षकारक इन दोषों के अपने-अपने उदाहरण तो आगे यथावसर दिये ही जायेंगे ।

विमर्श—‘वाक्य रसात्मक काव्यम्’ इस काव्य-लक्षण के साथ जबतक ‘दोषास्तस्यापकर्षका’ तथा ‘उत्कर्षहेतव प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः’ की कड़ी न जोड़ी जाय तब तक ‘साहित्यदर्पण’ की विशद रचना का सूत्र नहीं मिल सकता । इसीलिये वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने काव्यलक्षणवाक्य में ही इन्हें भी जोड़ दिया है । किन्तु एक बात यहाँ खटकती है और वह

(गुण-अलङ्कार और रीति-स्वरूप : एक संकेत)

गुणादयः किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥ ३ ॥

(काव्यात्मभूत 'रस' और गुण-अलङ्कार-रीतितत्त्व परस्पर सम्यन्ध)

गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थान-विशेषवत्, देहद्वारेणैव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते । इह यद्यपि गुणानां रसधर्मत्वं तथापि गुणशब्दोऽत्र गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थयोरुपचर्यते । अतश्च 'गुणाभिव्यञ्जकाः शब्दा रसस्योत्कर्षका इति' ।

यह है कि जब 'रसात्मकवाक्य' बन गया और वह 'काव्य' हो गया तब गुण, अलङ्कार और रीति के द्वारा उसका उत्कर्षवर्धन होने पर वह 'काव्यविशेष' क्यों न कहा गया ? मम्मट का काव्यप्रकाश तो उनके काव्यलक्षणवाक्य की ही पूर्वापर-अनुस्यूत महान्याख्या है—इस भारणा से ही विश्वनाथ कविराज ने अपना भी काव्यलक्षणवाक्य रचा था और इसी विश्वनाथ से रचा था जिसमें साहित्य-वर्णन की रूपरेखा उसीमें (लक्षणवाक्य में) झलक जाय । किन्तु कुछ चूक अवश्य हो गयी है । 'रसात्मक वाक्य' के बन जाने पर और उसके काव्यरूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर 'दोष' उसका क्या करेंगे ? 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' कह कर 'दोषास्तस्यापकर्षका' कहने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं प्रतीत होता ।

अनुवाद—अब काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षकारक जो तत्त्व हैं जैसे कि गुण आदि, उनका स्वरूप बता देना आवश्यक है—

गुण, अलङ्कार और रीति वे काव्यतत्त्व हैं जो रसात्मक वाक्य-रूप काव्य की उत्पत्ति के कारण हुआ करते हैं ।

काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षकारक तत्त्व ही रसात्मक वाक्य रूप काव्य के उत्कर्षकारक तत्त्व हुआ करते हैं । ये ही वे तत्त्व हैं जिन्हें गुण, अलङ्कार और रीति कहा करते हैं । इनमें माधुर्य आदि गुण, अनुप्रास-उपमादि अलङ्कार और वैदर्भी आदि रीति-तत्त्व काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकारक होते हुये उसी प्रकार काव्य के आत्मभूत रस के उत्कर्षकारक माने जाया करते हैं जिस प्रकार शौर्य आदि गुण, कटक-कुण्डलादि अलङ्कार और अवयव-विन्यास आदि शरीर-संस्थान मानवशरीर के उत्कर्षक होते हुये मानव-व्यक्तित्व के उत्कर्षक माने जाया करते हैं ।

यहाँ गुणों के काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकारक होने में एक विशेष बात है और वह यह है—उक्त तो माधुर्य आदि गुण रस रूप काव्यात्मतत्त्व के धर्म हैं किन्तु उपचारत इन्हें काव्य-शरीरभूत शब्द और अर्थ का भी धर्म माना जा सकता है क्योंकि रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ रसधर्मभूत गुण के भी अभिव्यञ्जक हुआ ही करते हैं । इस प्रकार गुण के रसोत्कर्षकारक कहे जाने का अभिप्राय गुणानि व्यञ्जक शब्द और अर्थ का रसोत्कर्षकारक कहा जाना है जगा कि पहले भी (अर्थात् मम्मटवृत्त काव्यलक्षण की समीक्षा के प्रसंग में) कहा ही जा चुका है । इन रसोत्कर्षक

र्षकाः' इत्युक्तं भवतीति प्रागेद्वोक्तम् । एषामपि विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः ।

च६२

इति साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथम परिच्छेदः ।

अत्र मूलकारिका = ३ । उदाहरणश्लोका = ६ ।



गुणों, अलङ्कारों और रीतियों के सोदाहरण निरूपण भागे यथावसर किये ही जायेंगे ।

विमर्श—(क) गुण, अलङ्कार और रीति—ये काव्य के 'उत्कर्षकारक' तत्त्व हैं—यह बात 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्यवादी आचार्य के मुख से शोभा नहीं देती । गुण और अलङ्कार का साम्यवाद तो ध्वनिवाद के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों का कायवाद है और अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य ग्यक ने इसका स्पष्ट संकेत भी किया है । यहाँ रसात्मक वाक्यरूप काव्य के उत्कर्षाधारक तत्त्वों में अलङ्कारों के साथ गुणों की गणना रसध्वनिवादी आचार्य के लिये कुछ उल्टी सी बात लगती है । साथ ही साथ ध्वनिवाद में गुण और रीति का सामान्य स्थापित किया हुआ है । यहाँ गुण के अतिरिक्त रीति का परिगणन इस बात की सूचना देता है कि गुण और रीति परस्पर पृथक् पृथक् तत्त्व हैं ।

(ख) ध्वनिवादी आलङ्कारिक रीति को 'रसाभिव्यञ्जक' तत्त्व माना करने हैं न कि 'रसोत्कर्षक' तत्त्व । विश्वनाथ कविराज के अनुसार जब कि 'रसात्मक वाक्य' काव्य है और रीति 'रसोत्कर्षकारक' तत्त्व है तब क्या ऐसा तो नहीं कि 'रसात्मक वाक्य' की रचना के ही चुकने पर 'रीति' आया करती है और उस रचना पर उत्कर्ष का पानी चढ़ा जाया करनी है ? यह मन तो ऊटपटाक्ष सी बात हुई । आचार्य मम्मट ने गुणों को रसरूप आत्मतत्त्व के साथ 'अचलस्ति' रहकर उत्कर्षकारक माना और अलङ्कारों को रसरूप आत्मतत्त्व के साथ 'चलस्ति' देखकर गुणों और अलङ्कारों का प्रविभाग सिद्ध किया । किन्तु आचार्य विश्वनाथ कविराज का मम्मट-खण्डन सरम्भ कुछ ऐसा उम हो उठा कि गुण और अलङ्कार एक ही कक्षा में रस दिये गये और गुण और रीति दो पृथक्-पृथक् तत्त्व के रूप में प्रतीत होने लगे । अस्तु, इस विषय का विचारविमर्श तो यथास्थान होगा ही । यहाँ इतना ही सही ।

इति साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथम परिच्छेदः ।



द्वितीयः परिच्छेदः

(वाक्य-विचार)

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।

(वाक्यरूप पदसमूह की विशेषता-योग्यता आदि)

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे वाधाभावः । पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात् । आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसाने विरहः । स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः । निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात् । आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः । बुद्धिविच्छेदेऽपि

अनुवाट—('वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—इस काव्य-लक्षण की प्रतिपद परीक्षा की दृष्टि से, सर्वप्रथम) अब 'वाक्य क्या है ?' इसका विचार किया जा रहा है—

'वाक्य' ऐसे पदों का समूह है जिसमें योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति का रहना अनिवार्य है ।

वाक्यरूप पदसमूह की विशेषताओं में 'योग्यता' वह विशेषता है जिसे पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी वाध अथवा विरोध (अनुपपत्ति) का अभाव कहा जाता है । यदि इस विशेषता के अभाव में भी पदसमूह 'वाक्य' होने लगे तब तो ऐसे भी पदसमूह जैसे कि 'वह्निना सिञ्चति' (आग से सींच रहा है) आदि (जहाँ आग और सींचना इन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में विरोध ही सर्वानुभवसिद्ध है) वाक्य बनने लगेंगे । वाक्यरूप पदोच्चय की दूसरी विशेषता है 'आकाङ्क्षा' अर्थात् एक-एक पदों के अर्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का अभाव एक पदार्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का जो अभाव है वह वस्तुतः श्रोता की एक जिज्ञासा है जो कि एक पद से अन्विष्ट दूसरे पद को हँटा करती है क्योंकि यदि परस्पर निराकाङ्क्ष अर्थ वाले भी पदसमूह वाक्य माने जाने लगे तब तो ऐसे भी पदसमूह जैसे कि 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' (गौ, अश्व, पुरुष, हाथी) आदि (जहाँ किसी भी पद का अर्थ किसी दूसरे पद के अर्थ की आकाङ्क्षा रहता नहीं प्रतीत हो रहा और प्रत्येक पद पूर्णतया अपने आप में ही समाप्त है) वाक्य होने लगेंगे ! वाक्यरूप पदोच्चय की तीसरी जो विशेषता है वह 'आसत्ति' है । आसत्ति क्या है ? 'आसत्ति' है किसी अभिप्राय के उपस्थापक पदार्थों की अविच्छिन्न अथवा अव्यवहित उपस्थिति । यदि किसी अभिप्राय के उपस्थापक पदार्थों की विच्छिन्न अथवा व्यवहित उपस्थिति में भी कोई पदोच्चय वाक्य कहा जाने लगे तब तो अभी बोले गये 'देवदत्त' (देवदत्त) पद और दूसरे दिन बोले गये 'गच्छति' (जाना है) पद का मिलाव भी वाक्य ही बनने लगे !

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'आकाङ्क्षा' और 'योग्यता' को वाक्यरूप पदोच्चय अथवा पदसमूह का जो धर्म बताया गया है वह मुख्यरूप से नहीं अपितु औपचारिक रूप से ही बताया गया है । क्यों ? इसलिए कि 'आकाङ्क्षा' अथवा एक पद से अन्विष्ट होने वाले दूसरे पद के ज्ञान की स्वाभाविक इच्छा तो वस्तुतः श्रोता का धर्म है न कि पद का । इसी प्रकार 'योग्यता' भी पद धर्म नहीं किन्तु पदार्थ-धर्म ही है क्योंकि

वाक्यत्वे इदानीमुच्चारितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात् । अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात् । ११२

उपपत्ति का सङ्गाव अथवा अनङ्गाव पदों से नहीं अपितु पठार्यों से सम्बद्ध रह सकता है । किन्तु जब कि उपचार का आश्रय लिया जाय तब तो यह कहा ही जा सकता है कि आकाङ्क्षा और योग्यता वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म है । 'आकाङ्क्षा' तो हमलिये वाक्यरूप पदोच्चय धर्म है क्योंकि आकाङ्क्षा और पदोच्चय में परस्परया जन्म-जनकभाव सम्बन्ध रहा करता है (अर्थात् 'आकाङ्क्षा' और 'वाक्यार्थ' और वाक्यार्थ 'पदोच्चय' में जब साक्षात् जन्मजनक-भाव सम्बन्ध है तब आकाङ्क्षा और पदोच्चय में तो यह परस्परया रहेगा ही) । इसी प्रकार 'योग्यता' को वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म इसलिये माना जाया करता है क्योंकि 'योग्यता' और 'पदार्थ' तथा 'पदार्थ' और 'पदोच्चय' में जब साक्षात् आश्रयाश्रयिभाव-सम्बन्ध है तब 'योग्यता' और 'पदोच्चय' में तो इसे परस्परया मानना ही चाहिये ।

विमर्श—(क) 'रसात्मक वाक्य 'काव्य' है'—इस काव्य परिभाषा के विभनाथ कविराज ने 'वाक्य' का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है वह पदवाक्यप्रमाणवित् आचार्यों द्वारा प्रमाणित है । 'अभिधित्ति' अर्थ के गुम्फन करने वाले पदों का सम्बन्ध वाक्य है—'राजशेखर-काव्यमिमांसा । (पदानामभिधित्तिप्रत्ययनाकर. संदर्भो वाक्यम्) यह वाक्य का एक सरल स्वरूप-निरूपण है । पदों के द्वारा अभिधित्ति (जिसके प्रतिपादन की इच्छा हो, ऐसे) अर्थ का गुम्फन किन किन बातों की अपेक्षा किया करता है—या भिन्नान् मनोविज्ञान और तर्क और भाषाविज्ञान-तीनों का विषय है । मनोविज्ञान की दृष्टि 'आकाङ्क्षा'—तत्त्व का दर्शन करती है, तर्क के द्वारा 'योग्यता' का निर्धारण होता है और भाषाविज्ञान 'आमत्ति' की उपादेयता पर जोर देता है । इस प्रकार 'आकाङ्क्षा', 'योग्यता' और 'आमत्ति' की विशेषतायें ही अभिधित्ति अर्थ के गुम्फन करने वाले पद-सम्बन्ध की विशेषताओं के रूप में स्वीकार की गयी हैं ।

(ख) 'आकाङ्क्षा', 'योग्यता' और 'आमत्ति'—ये तीनों ही उपचारत वाक्यरूप पदोच्चय धर्म माने जाया करते हैं किन्तु यदि मीमांसक 'आकाङ्क्षा' को प्रथम स्थान देते हैं तो नैयायिक 'योग्यता' को और वैयाकरण 'आमत्ति' को । विभनाथ कविराज ने नैयायिक मान्यता का अनुसरण करते हुये 'योग्यता' का प्राथम्य माना है । 'योग्यता' क्या है ? योग्यता है—एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का सम्बन्ध—'एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यता' (सिद्धान्त-मुक्तावली शब्दखण्ड का ० २३) । अथवा 'योग्यता' वह धर्म है जिसके द्वारा एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय (सम्बन्ध) समव है—'योग्यता परस्परान्वयप्रयोजकधर्मवत्प्रम । तेन परमा सिद्धतीति वाक्य योग्यम् । अस्ति च सेकान्वयप्रयोजकद्रव्यत्व योग्यता जले कारणत्वेन जलान्वयप्रयोजकार्द्धीकरणत्वं योग्यता सेकक्रियायाम् । अत एव बह्विना सिद्धतीति वाक्यमयोग्यम् । वहे सेकान्वयप्रयोजकद्रव्यत्वाभावात् ।

(परमलघुमञ्जूषा पृ० २९)

अर्थात् 'योग्यता' पदों के द्वारा उपस्थापित अर्थों का वह धर्म है जो उनके परस्पर अन्वय अथवा सम्बन्ध का प्रयोजक हुआ करता है । वस्तुतः इसी धर्म के कारण यह सम्भव है कि 'पयसा सिद्धति' यह पदसमूह तो 'वाक्य' हो सकता है किन्तु 'अग्निना सिद्धति' इत्यादि सरोखे पदोच्चय 'वाक्य' नहीं हो सकते । 'पयस्' इस पद के अर्थ (जलरूप द्रव्य) में एक योग्यता है और वह है जलरूप द्रव्य का 'द्रवत्व' जो कि संचिने की क्रिया के साथ इसके अन्वय अथवा सम्बन्ध का स्वभावतः प्रयोजक है । इसी प्रकार 'सिद्धति' पद के अर्थ अर्थात् सिद्धि की क्रिया ने

भो एक योग्यता है और वह है उत्पत्ति (संक्रिया का) किसी वस्तु को आर्द्र करना अथवा मिगोना जो कि अपने साथ जलरूप द्रवद्रव्य को अपने फरा (माधकतन) रूप से अन्वित करने में अनायास समर्थ है। इससे यह स्पष्ट है कि वे ही पदोचय, जैसे कि 'पयसा सिद्धति' आदि, जो योग्य हैं (अर्थात् ऐसे पदार्थों के उपस्थापक हैं जिनमें परस्पर अन्वित अथवा सम्बद्ध होने का सामर्थ्य है) 'वाक्य' कहे जा सकते हैं और ऐसे पदोचय जैसे कि 'वह्निना सिद्धति' आदि, जिनके पदार्थों में परम्परान्वय का प्रयोजक कोई धर्म नहीं—क्योंकि आग है एक तैजस पदार्थ और तेजस की क्रिया का अन्वय समभव है ऐसे पदार्थ से जो 'द्रव' रूप हो।—अयोग्य होने से 'वाक्य' नहीं कहे जा सकते। यह 'योग्यता' यद्यपि अर्धधर्म है किन्तु इसे पदोचय-धर्म माना जा सकता है और ऐसा मानना उपचार का ही आश्रय लेना है। अर्थ और योग्यता का माक्षात् सम्बन्ध है जिससे यह सिद्ध है कि पद और योग्यता परम्परया सम्बद्ध है।

'आकाङ्क्षा' का अभिप्राय है श्रोता की यह जिज्ञासा कि किस पद का अर्थ किस पद के अर्थ का स्मारक है। मिद्धान्तमुक्तावलीकार (शब्दप्रकरण का ८४) ने आकाङ्क्षा की यह परिभाषा की है—'येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकाङ्क्षेत्यर्थः। क्रियापद विना कारकपद नान्वयबोध जनयतीति तेन तस्याकाङ्क्षा।'।

वाक्यरूप पदोचय में 'आकाङ्क्षा' का होना आवश्यक है और वस्तुतः स्वाभाविक भी है। एक पद दूसरे पद की आकाङ्क्षा किया करता है क्योंकि विना उसके उसके अर्थ का स्मरण क्योंकि हो। जैसे किसी ने कहा—'घटमानय' यहाँ 'घटन्' यह कर्मकारक पद 'आनय' इस क्रियापद के विना किसी प्रकार का अन्वयबोध नहीं करा सकता। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'घटन्' पद को 'आनय' पद की आकाङ्क्षा है और 'आनय' पद को 'घटन्' पद की। वस्तुतः तो यह आकाङ्क्षा श्रोता की जिज्ञासा है जिसका विषय पदों की परस्पर अर्थस्मारकता है। किसी वाक्य में एक पद दूसरे पद की आकाङ्क्षा करता है—इसका वस्तुतः तात्पर्य यही है कि वाक्यवर्ती पद परम्पर साक्षात् अर्थ के बोधक हैं। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इसीलिये कहा है—

'परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके। का पुनः शब्दयोर्यपेक्षा ?

न द्रूमशब्दयोरिति किं तद्वि अर्थयोरिति।' (महाभाष्य. मन्थमूढभाष्य)

मातृवाक्यकरण नागेशभट्ट ने 'आकाङ्क्षा' का उपर्युक्त भाष्यनन्तर अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है—'वाक्यसमयप्रादिका आकाङ्क्षा। साचेकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोऽर्थस्य यज्ज्ञान तद्विषयेच्छा 'अस्यान्वय्यर्थ क' इत्येवरूपा पुरपनिष्ठैव, तथापि तस्या. स्वविषयेऽर्थ आरोप। अयमर्थोऽर्थान्तरमाकाङ्क्षति इति व्यवहारात्। इदमेवाभिधानापर्यवसाननित्युच्यते—(परमत्पुनःप्राप्ता)'

अर्थात् 'आकाङ्क्षा' श्रोता की वह इच्छा है जिसका विषय किसी एक पद के अर्थान्त में उम्मे सम्बद्ध किसी दूसरे पद का अर्थान्त है। वस्तुतः आकाङ्क्षा ही वह सर्वप्रथम तत्त्व है जिससे कोई पदमन्त्र वाक्यरूप में पठाना आया करता है। यह अर्थ से अन्वित होने वाला अर्थ ही है—यह जिज्ञासा तो श्रोता के मन की बात है किन्तु अर्थ पर इसका आरोप इसलिये कर दिया गया करता है क्योंकि अर्थ ही वहाँ वक्ता का जिज्ञासा का विषय है। पदोपस्थापित अर्थों की परस्पर आकाङ्क्षा को ही पदार्थ-प्रतीति का अपर्यवसान भी कह सकते हैं।

'पयसा सिद्धति'—यह पदमन्त्र ही सर्वप्रथम श्रुतिलिये वाक्य है क्योंकि यहाँ 'आकाङ्क्षा' है यद्यपि इसका जो भी श्रोता है वह 'पयसा' इस पद के अन्त में के दाद 'सिद्धति' इस पद के अन्त में के अन्त में स्मृत करता है और 'सिद्धति' इस पद के अन्त में 'पयसा' इस पद के अन्त में अपर्याप्त स्मृत करने का अनुष्ठान करता है। इन दोनों पदों में माधकतन आरूप सम्बन्ध है और श्रुतिलिये ये पद परस्पर साक्षात् हैं और सम्बन्ध हैं।

आकाक्षा श्रोतृमर्म होने पर भा पदव्यय है—इस सम्बन्ध में 'तर्कभाषा' का यह युक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘... पदानि न साकाक्षाणि किंवर्था, फलादीनामावेयाना तीराद्याधाराकाक्षितत्वात् । न च विचार्यमाणे अर्था अपि साकाक्षा । आकाक्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात् । सत्यम् । अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतुरन्यान्यविषयाकाङ्क्षाजनकत्वेन साकाक्षा उच्यन्ते । तद्द्वारण तत्प्रतिपादकानि पदान्यपि साकाक्षाणीत्युपचर्यन्ते । एवमर्था साकाक्षाः परस्परान्वय-योग्याः । तद्द्वारा पदान्यपि योग्यानीत्युपचर्यन्ते ।’ ✓

अर्थात् पद क्यौकर साकाक्ष होने लगे । ये तो पदोपस्थापित अर्थ हैं जो साकाक्ष हो सकते हैं । किन्तु विचार करने पर अर्थ भी साकाक्ष नही दिखाना दते । ‘आकाक्षा’ तो एक प्रकार का इच्छा है और इच्छा है चेतनधर्म । तब भी उपचारत अर्थों को परस्पर साकाक्ष कहा जा सकता है क्योंकि ये तो अर्थ ही हैं जो कि अपने-अपने उपस्थापक पदों श्रोता के मन में अपने परस्परान्वय की आकाक्षा उत्पन्न किया करते हैं । इसा प्रकार परस्पर साकाक्ष अर्थों के उपस्थापक पदों को भा यदि साकाक्ष कहा जाया करे तो आपत्ति क्या है ? यहाँ भा उपचार दृष्टि उचित है और युक्तियुक्त भी है । इसी प्रकार परस्पर साकाक्ष अर्थों का परस्पर सम्बन्ध-योग्य हो सकते हैं और इसलिये योग्यता भा अयोग्यता ही हुआ करता है किन्तु परस्पर योग्य-अर्थों के प्रतिपादक पदों को भी उपचारत ‘योग्य’ कहना ठीक ही है ।

‘आसत्ति’ को भी वाक्यार्थबोध का एक आवश्यक उपाय माना गया है और इसीलिये इसे वाक्यरूप पदोच्चय में सम्मिलित धर्म कहा गया है । ‘आसत्ति’ का अभिप्राय है ‘बुद्धयविच्छेद’ अर्थात् श्रोता में पदप्रतीति का अविच्छिन्न प्रवाह । पदप्रतीति के प्रवाह की विच्छिन्नता दो कारणों से सम्भव है—(१) कालव्यवधान और (२) अन्वयानुपयुक्त पदान्तरव्यवधान । ‘कालव्यवधान’ का उदाहरण तो साहित्यदर्पणकार ने दे ही दिया है और वह है आज उच्चरित ‘देवदत्त’ पद का कल उच्चरित ‘गच्छति’ पद से सगति का अभाव । ‘अन्वयानुपयुक्तपदान्तरव्यवधान’ के उदाहरण के रूप में ‘गिरिभुक्तमग्निमान् देवदत्तेन’ आदि पदोच्चय व्याकरणों किंवा नैयायिकों द्वारा दिये गये हैं जहाँ ‘गिरि’ और ‘अग्निमान्’ के बीच ‘भुक्तम्’ इस अन्वयायोग्य पद के व्यवधान तथा ‘भुक्तम्’ और ‘देवदत्तेन’ के बीच ‘अग्निमान्’ इस अनन्वयी (सम्बन्ध के अयोग्य) पद के व्यवधान में शाब्दबोध का होना असम्भव माना गया है । महावैयाकरण नागेशभट्ट ने ‘आसत्ति’ का यही लक्षण किया है—

‘प्रकृतान्वयबोधानुकूलपदाव्यवधानमासत्तिः । गिरिभिमानित्यासन्नम् । अनासन्न च गिरिभुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेति । (परमलघुमधूपा)’

अर्थात् प्रकृत अन्वयबोध के प्रतिकूल पद का अव्यवधान ही ‘आसत्ति’ है । जैसे कि ‘गिरिभिमान्’ अथवा ‘भुक्त देवदत्तेन’ आदि पदोच्चय में ‘आसत्ति’ स्पष्ट दिखाया देती है । इस ‘आसत्ति’ से ही ये पदोच्चय वाक्य हैं क्योंकि इसीसे इनका शाब्दबोध अनायास हुआ करता है । जहाँ ‘आसत्ति’ नहीं हुआ करती जैसे कि ‘गिरिभुक्तमग्निमान् देवदत्तेन’ आदि सरीखे पदोच्चयों में, वहाँ शाब्दबोध भी नहीं हुआ करता और न वाक्य की रूपरेखा ही रहा करती है ।

सिद्धान्तमुक्तावलाकार ने भी ‘आसत्ति’ का यही आशय प्रकट किया है—‘यत्पदार्थेन यत्पदार्थस्याऽन्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः । शाब्दबोधे कारणम् तेन ‘गिरिभुक्तमग्निमान् देवदत्तेन’ इत्यादी न शाब्दबोध — (शब्दप्रकरण का० ८०)’

अर्थात् ‘आसत्ति’ शाब्दबोध का एक आवश्यक कारण है और ‘आसत्ति’ है परस्पर अन्वय-योग्य पदार्थों की (और इसीलिये पदों की) अव्यवहित उपस्थिति । यदि कहीं परस्पर सम्बन्ध

(महावाक्य का स्वरूप-निरूपण)

वाक्योच्चयो महावाक्यम्—

(वाक्योच्चयरूप महावाक्य की विशेषता)

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव ।

तर सस्कार पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञान सङ्केतस्मरण पूर्वमस्कारापेक्ष' पटुतर सस्कार इत्येव पदज्ञानजनिते पीवरे सस्कारे पदार्थज्ञानजनिते च तादृशि सस्कारे स्थितेऽन्यपदार्थज्ञानानन्तर पदसस्कारात् सर्वपदविषयस्मृति पदार्थसस्काराच्च पदार्थविषया स्मृतिरिति सस्कारक्रमात् क्रमेण द्वे स्मृती भवतः, तत्रैकस्या स्मृतानुवादे पदसमूहो वाक्यमितरस्यानुपाख्य' पदार्थसमूहो वाक्यार्थः । अथवा कृत स्मरणकल्पनया, अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तर सकलपदार्थविषयो मानसोऽनुव्यवसायः तादृप्रत्ययस्थानीयो भविष्यति, तदुपाख्यानानि पदानि वाक्य तदुपाख्यश्च पदार्थो वाक्यार्थः, तथाविधश्च मानसोऽनुव्यवसायः सकललोकसाक्षित्वादप्रत्ययस्थानेयः, इत्थं स्मर्यमाणारूढ सकलज्ञानविषयीभूत चेद पदनिकुरम्बं वाक्य तथाविधश्चैव वाक्यार्थः । (न्यायनगरी-पृष्ठ ३६३, ३६४) अर्थात् जिसे 'वाक्य' कहते हैं वह एक दम प्रकार का पदनिकुरम्ब (पद समूह) है जिनमें अन्तिम पद तो अनुभव का विषय रहा करता है और उसके पूर्ववर्ती समस्त पद स्मृति-कोष में निकला करते हैं। अथवा 'वाक्य' के सम्बन्ध में यही मानना ठीक है कि वह एक ऐसा पदकुरम्ब है जिसमें अन्तिम पद का अनुव्यवसाय (मानस प्रत्यक्ष) समस्त पूर्ववर्ती पदों का भी समग्र कर लिया करता है ।

इसी प्रकार पाश्चात्य विचारक भी वाक्य का विदलेषण अग्रन्त्य ही मानते हैं—

“Grammarians, philosophers and psychologists for the past two thousand years have been unable to agree upon the definition of the sentence. The reason for this lies in part in the complexity and variability of the language processes. Just as protoplasm assumes innumerable forms and is continuously undergoing change as long as it is living, so those vital processes, which we call language, being the manifestations of that same protoplasm and being equally protean in their transformations, defy the efforts of the philologist to reduce them to fixed and rigid formulas, and like protoplasm, they lose their identity when killed and sliced with the mental microtome. They are there like a microscopic preparation, stained beyond recognition by philological theories and methods—Pillsbury. The Psychology of Language (Page 254-55)”

इस उपर्युक्त विचार-विमर्श से तो यही सिद्ध है कि 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' की अपेक्षा 'रसात्मक शब्दार्थनिकुरम्ब काव्यम्' कहना अधिक उचित है क्योंकि 'वाक्य' का विदलेषण भले ही अभी तक अपूर्ण हो और सम्भवतः ऐसा ही रह भी जाय, 'शब्दार्थ निकुरम्ब' (शब्दार्थों) के सम्बन्ध में तो कोई सन्देहता नहीं दिखायी देती ।

अनुवाद—'महावाक्य' वह है जो कि वाक्यों का उच्चय अथवा समूह हुआ करता है । जैसे योग्यता, आकाक्षा और आसत्ति से युक्त पद समूह ही 'वाक्य' हो सकता है वैसे

(वाक्य-द्वैविध्य)

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥

इत्थमिति वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च ।

(वाक्य-द्वैविध्य की प्रामाणिकता)

उक्तं च तन्त्रवार्तिके—

उपनिषद्-प्रधान

‘स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते ॥’ इति ।

(वाक्य-द्वैविध्य का उदाहरण)

तत्र वाक्यं यथा—‘शून्यं वासगृहम्—’ इत्यादि (२६ पृ०) । महावाक्यं यथा—रामायण-महाभारत-रघुवंशादि ।

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम् ।

ही वही वाक्यसमूह ‘महावाक्य’ हो सकता है जो योग्यता, आकाशा और आसत्ति से युक्त हो ।

इस प्रकार ‘वाक्य’ के दो भेद स्पष्ट हैं । यहाँ ‘इत्थम्’—(इस प्रकार से) का अभिप्राय है—‘वाक्य’ रूप से और महावाक्यरूप से’ वाक्य के द्वैविध्य का ।

‘वाक्य’ और ‘महावाक्य’ के सम्बन्ध में प्राचीनाचार्यों की यह उक्ति प्रमाण है—

‘अपने २ अर्थबोधन में समाप्त (आकाशादि विशिष्ट) वे सभी पद-सन्दर्भ रूप ‘वाक्य’ जब परस्पर अङ्गाङ्गी भाव-सम्बन्ध से सबड़ हो जाया करते हैं तब ‘एक वाक्य’ अथवा ‘महावाक्य’ रूप में दिखायी दिया करते हैं ।’

‘वाक्य’ के उदाहरण के रूप में ‘शून्यं वासगृहम्’ आदि श्लोकवाक्य देये जा सकते हैं और ‘महावाक्य’ के उदाहरण तो रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि महाकाव्य हैं ही ।

विमर्श—नात्मक वाक्य को वाक्य मानने वाले वाक्याचार्य के लिये नामान्तक के ‘एकवाक्यत्व’—निश्चय का मान रखना स्वाभाविक ही है । ‘एकवाक्यता’ का मोनाना-मिद्वान् नन्व-मात्रनात्मक शब्दगणित्व के भेद में ‘अर्थ’ रूप परार्थनन्त का सिद्धि के लिये प्रयत्न हुआ था । कविराज विश्वनाथ ने जो उक्त शब्दार्थ गति में ‘एकवाक्यता’ का दर्शाकर सकेन कर दिया है जिमने ‘अर्थ’ रूप परार्थनन्त का सिद्धि में मदद न कर पाया । वाक्याचार्य सिद्धा महाकाव्यत्व महावाक्य में ‘एकवाक्यता’ की मता, एकप्रकार में ध्वनि दार्शनिक आचार्यों ने भी मान रखी है । आनन्दवर्णनान्तर्गत की यह उक्ति—

‘रामायणे हि वरुणे रम्यं स्वयमादिक्रियता नृचितं । श्लोकं श्लोकव्यमागतं । इत्येवं-वादिता । निर्व्यूढश्च स एव र्मातात्यन्तत्रियोग पर्यन्तमेव न्यस्यन्धमुपरग्रयता । महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यरूपद्वयान्वयिनि वृष्णिपाण्डुरिस्मात्मानवैमनस्यदायिनी समाहि-भुवनियन्धता महामुनिना वरायजजननतापय प्राधान्येन स्वप्रयन्धन्य दर्शयता मोषलछणः पुनर्यथं शान्तो रसश्च मुपेतया विरणा विषयस्येन सूचिता ।’ (धन्यालोका उल्लेख ४५) यन्त्रा वाच्यो यो ‘एकवाक्यता’ यो एक सूक्ष्म सूचना है । किन्तु एक बात यहाँ अवश्य ध्यान देने की है यी— वह यह है कि जिनके आनन्दवर्णन ने जिन ‘एकवाक्यता’ का यहाँ मतेन देखा है वह वाक्याचार्यों की मान्यता की प्रकृत्यता है किन्तु विश्वनाथ कविराज ने जिन

(वाक्यस्वरूप निरूपक पदोचय का विश्लेषण)

तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्यबोधकाः ।

यथा—घटः । प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यग्रच्छेदः । अनन्वितेति वाक्य महावाक्ययोः । एकेति साकाह्वानेकपदवाक्यानाम् । अर्थबोधका इति कचटत-
पेत्यादीनाम् । वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम् ।

‘एकवाक्यता’ का प्रतिपादन किया है वह मोमासानार्थों की ‘एकवाक्यता’ है । अनन्वितार्थानाचर्य की दृष्टि तो रसों के अज्ञातिभाव में महावाक्यों की ‘एकवाक्यता’ का अर्थ करता है किन्तु विश्वनाथ कविराज ने आकाशादियुक्त पदोचयों और वाक्योचयों के अज्ञातिभाव में ही वाक्य वाक्य और महावाक्यरूप महावाक्य को ‘एकवाक्य’ मान लिया है ।

अनुवाद—पहले यह बताया जा चुका है कि पद-सन्दर्भ ‘वाक्य’ है किन्तु जिसका सन्दर्भ वाक्य है उसका अर्थात् ‘पद’ का स्वरूप क्या है ? इसका यताना आवश्यक है । इसलिये ‘पद’ का लक्षण किया जा रहा है—

‘पद’ वे वर्ण हैं जो प्रयोग-योग्य हुआ करते हैं और किसी एक अनन्वित (किस दूसरे पद के अर्थ से जिसका सम्बन्ध न हो, ऐसे) अर्थ के बोधक हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिये, ‘घट’ (घटा) यह वर्ण-समुदाय (जो कि प्रयोग के योग्य है और एक अनन्वित अर्थ का अवबोधक है) पद है । यहाँ (कारिका में, वर्णों के, ‘प्रयोगार्ह’-‘प्रयोगयोग्य’ कहने का अभिप्राय यह है कि प्रातिपदिक को-प्रत्ययरहित प्रकृति मात्र को- (जैसे कि ‘घट’ इस वर्ण-समुदाय को) पद न मान लिया जाय ‘अनन्वित अर्थ के बोधक’ कहने का जो तात्पर्य है वह यह है कि ‘वाक्य’ और ‘महावाक्य’ को (जो कि परस्पर अनन्वित अर्थ के अवबोधक पद-समुदाय हैं) ‘पद’ न समझ लिया जाय और ‘एक अर्थ के बोधक’ कहने का प्रयोजन यह है कि परस्पर साकाक्ष पद-समूह (जो कि अनेक अर्थ के अवबोध कराने वाले हुआ करते हैं) ‘पद’ के रूप में न देख लिये जाय । साथ ही साथ ‘अर्थबोधक’ वर्णों को ही जो ‘पद’ कहा गया है वह इसीलिये जिसमें क, च, ट, त, प इत्यादि निरर्थक वर्ण पद की श्रेणी से बाहर गिने जाय । यहाँ (कारिका में) ‘वर्णाः’ इस बहुवचन का अभिप्राय, अर्थात् वर्ण-वाहुल्य विवक्षित नहीं (क्योंकि प्रयोग-योग्य किंवा एक अनन्वित अर्थ के बोधक एक या दो भी वर्ण पद हुआ करते हैं) ।

विमर्श—यह पद-विचार इस बात का प्रमाण है कि साहित्यदर्पणकार को शब्द-दार्शनिकों का स्फोटवाद अभिप्रेत नहीं जिसके अनुसार वर्णों को पद नहीं माना जाया करता अपितु कर्म और पद में अन्तर्भाव-अकर्मत्व की कल्पना की जाती है । साहित्यदर्पणकार की दृष्टि में ‘पद’ का जो स्वरूप है वह मोमासा-दर्शनकारों का निर्धारित स्वरूप है । मोमासक वर्ण समुदाय को वाचक मानते हैं जैसा कि महामोमासक कुमारिल स्वामी का कथन है—

‘द्वये सत्यपि तेनात्र विज्ञेयोऽर्थस्य वाचकः ।

वर्णाः किन्तु क्रमोपेता किन्तु वर्णाश्रयः क्रमः ॥

(अर्थ-प्रकार-निरूपण)

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः ॥ २ ॥

(त्रिविध अर्थ का स्वरूप-विचार)

एषां स्वरूपमाह—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।

व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिष्ठः शब्दस्य शक्तयः ॥ ३ ॥

ता अभिधायाः ।

तीन शक्तियाँ—तीन प्रकार के शब्दों के वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य

क्रमः क्रमवतामग्नमिति किं युक्तिसाध्यता ।

धर्ममात्रमसौ तेषां न वस्तुवन्तरिम्यते ॥'

(इत्योक्तानि शब्दनित्यनाधिकरण २६५-२६६)

अर्थात् 'स्फोट की कल्पना तो निगम्यक ही है । वर्णममुदाय ही पद है । यहाँ क्रमविशिष्ट वर्ण वाचक है या वर्णक्रम वाचक है—ये दो सम्भावनाएँ भले ही होती रहें किन्तु वस्तुतः जो बात है वह यही है कि क्रमविशिष्ट वर्ण ही वाचक है क्योंकि जो वर्णक्रम है वह कोई वर्ण-भिन्न वस्तु नहीं अपितु एक प्रकार का वर्णधर्म है ।

अथवा—

विश्वनाथ कविराज की इन पद-नौमाना पर नैयायिकों के पद-विचार का प्रभाव देखा जा सकता है । नैयायिक भी स्फोटवाद को नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार भी वर्ण ही वाचक है जैसा कि न्यायमञ्जरिका ने स्पष्ट कहा है—

'इति विततया वर्णां पूते धिया विपयीकृतां

दधति पदतां वाक्यत्वं वा त एव च वाचकाः ।

न च तदपरः स्फोटः श्रोत्रे विभास्यवयोधने

न च विधिहतो वाच्ये बुद्धिं विधातुमसौ क्षमः ॥' (न्यायमञ्जरी, पृ० ३५५)

अनुक्त—(पद जिस 'अनन्वित एक अर्थ' के बोधक हुआ करते हैं वह) अर्थ तीन प्रकार का हुआ करता है—१ ला-वाच्यार्थ, २ रा-लक्ष्यार्थ और ३ रा-व्यङ्ग्यार्थ ।

इन त्रिविध अर्थों के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है—

इनमें 'वाच्य' अर्थ वह है जो अभिधा शक्ति द्वारा प्रतिपादित किया जाया करता है, 'लक्ष्य' अर्थ वह अर्थ है जो लक्षणाशक्ति द्वारा बोधित हुआ करता है और 'व्यङ्ग्य' अर्थ उसे कहते हैं जो व्यञ्जना शक्ति द्वारा व्यगृत किया जाया करता है । इस प्रकार शब्द की जो शक्तियाँ हैं वे भी तीन ही हुआ करती हैं ।

यहाँ फारिका में 'ता'-उन (शक्तियों) का अभिप्राय है शब्द की अभिधा आदि (अर्थात् लक्षणा और व्यञ्जना) शक्तियों का ।

प्रतिपाद—निरूपण, प्रकृति, प्रतीति । जो विश्वनाथ कविराज ने शब्द से प्रकृति-प्रतिपादना कहा है । 'वाच्य' अर्थ वह है जो 'वाच्य' शक्ति द्वारा बोधित होता है । 'लक्ष्य' अर्थ वह है जो 'लक्ष्य' शक्ति द्वारा बोधित होता है । 'व्यङ्ग्य' अर्थ वह है जो 'व्यङ्ग्य' शक्ति द्वारा बोधित होता है ।

'मा च वृत्तिस्त्रिया शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च'—(वृत्तिस्त्रिया शक्तिः)

अर्थात् शब्द की शक्तियाँ तीन हैं—वृत्ति ('निरूपण'), लक्षणा ('प्रतीति'), व्यञ्जना ('व्यञ्जना') ।

(अभिधा शक्ति-निरूपण)

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।

के आचार्य 'शक्ति' को 'अभिधा शक्ति' का ही पर्याय माना करते हैं—जैसा कि व्याकरण सिद्धान्त मञ्जूषाकार का कथन है—

‘शक्तिस्त्रिधा रुदियोगो योगरुद्विधः ।

अर्थात् ‘शक्ति’ अथवा ‘अभिधा’ त्रिविध हुआ करती है—रुद्वि, योग और योगरुद्वि ।

‘वृत्ति’ के लिये ‘व्यापार’ शब्द का भी प्रयोग प्रचुर रूप में पाया जाता है । काव्यप्रकाशक ने ‘अभिधा व्यापार’ का प्रयोग किया है—‘स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधायते’—(काव्यप्रकाश, उल्लास २५) ।

अभिधादि को ‘वृत्ति’ अथवा ‘व्यापार’ के बदले ‘शक्ति’ कहने में विद्वनाथ कविराज का कु उद्देश्य-विशेष है ।

मीमांसाचार्यों ने शब्द और अर्थ में नित्य अथवा त्वानाविक साध्यवानक भावरूप सम्बन्ध भाषा और यह सिद्ध किया था कि पद में पदार्थप्रतिपादन का त्वानाविक शक्ति है । आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यञ्जना को पद-पदार्थ का औपाधिक शक्ति कहा था । शक्ति को अनिरुक्त पदार्थ मान वाले मीमांसकों हैं । नैयायिकों का मीमांसकों से शक्ति का अनिरुक्त मान्यता पर पर्याप्त विवाद होता रहा है । आलंकारिकों ने इस विवाद से अपने आप को पृथक् रखते हुये ‘व्यापार’ ‘वृत्ति’ किंवा ‘शक्ति’ को समानार्थक माना । ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने ‘अभिधा’ को ‘अभिधा शक्ति’ किंवा ‘व्यञ्जना’ को ‘अवगमनशक्ति’ कहा है—

‘न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः ।’ (ध्वन्यालोक-तृतीय उचोत)

आचार्य अभिनव गुप्त भी अभिधादि को ‘व्यापार’ अथवा ‘शक्ति’ दोनों कहा करते हैं—

‘त्रयो ह्यत्र व्यापाराः सवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापारः, समयापेक्षार्थावगमनशक्तिर्अभिधा’ (ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ५६)

‘तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः । तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधशक्तिस्तत्पार्यशक्तिः । मुख्यार्थवाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः । तच्छ्रुतिश्रयोपजनिता र्थावगममूलजा तत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्प्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वनव्यापारः ।’ (ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ६९)

‘इस प्रकार विद्वनाथ कविराज का अभिधादि को शक्ति कहना सर्वथा युक्तियुक्त है । ‘अभिधा शक्ति’ है जिसका स्फुरण अभिधान है’—इत्यादि विचारधारा इसी बात को प्रमाणित करती है । शब्द और अभिधादि शक्ति में शक्तिमान और शक्ति का सम्बन्ध है । इस ‘शक्तिशक्तिमद्भा’ के ही कारण शब्द और अर्थ एक आत्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध भाग हैं—।

‘यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेक प्रकाशितम् । तदाहुरपरे शब्द तस्य वाक्ये तथैकता ॥ अर्थमागैस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाशते । एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ ॥’

(भट्टहरि, वाक्यपदीय)

अनुवाद—इन त्रिविध शब्द-शक्तिओं में ‘अभिधा शक्ति’ वह शक्ति है जिस संकेतित (प्रसिद्ध) अर्थ का अवबोध हुआ करता है और इसीलिये जिसे शब्द की प्रथ (मुख्य) शक्ति कहा करते हैं ।

(संकेतग्रह के उपाय)

उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य वालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते, अनन्तरं च 'गां वधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणमर्थः' इति संकेतमवधारयति । कचिच्च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्, यथा—'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः'

(किसी पद के संकेतित अथवा प्रसिद्ध अर्थ का बोधन कराने वाली शक्ति तो 'अभिधा' हुई और) किसी पद के संकेत (शक्ति) का ग्रहण जिन उपायों से हुआ करता है वे ये हैं—

(१) वृद्ध व्यवहार—किसी परिवार में किसी गृहस्वामी ने किसी गृहसेवक को आदेश दिया—'गामानय'—'गौ लाओ' । इस वाक्य के सुनते गृहसेवक गौ लाने लगा । अब परिवार का बालक, जो अपने चचे-वृद्धों का यह व्यवहार देख रहा है, सर्वप्रथम केवल इतना समझा करता है कि 'गामानय'—'गौ लाओ'—इस वाक्य का अर्थ 'एक सास्नादि विशिष्ट प्राणिविशेष का लाना' है । इसके बाद उसने ऐसे भी वाक्य सुने—'गां वधान'—'गौ बाँध दो', 'अश्वमानय'—'घोड़ा लाओ' आदि आदि । अब जब उसे यह पता चला कि 'गामानय'—'गौ लाओ' के प्रयोग से सास्नादियुक्त प्राणिविशेष लाया गया और 'अश्वमानय'—'घोड़ा लाओ' के प्रयोग से एक दूसरे प्रकार का प्राणिविशेष तब उसे शब्दों के इस आवापोद्वाप—(रखने-हटाने) से गो पद का (और इसी भाँति अन्य पद का) सास्नादिविशिष्ट प्राणिरूप अर्थ (और इसी भाँति केमरादिविशिष्ट प्राणिरूप अर्थ भी) पता चल गया । इसी प्रकार 'गामानय' और 'गां वधान' आदि वाक्य प्रयोग में 'आनयन' और 'वन्धन' की भिन्न-भिन्न क्रियाओं का दर्शन करते बालक को इस आवापोद्वाप से यह भी पता चल गया कि 'आनय' का अर्थ 'आहरण'—'ले आना' हुआ करता है (और 'वधान' का अर्थ 'वन्धन'—'बाँधना' हुआ करता है) । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बालक को 'गाम्', 'आनय', 'अश्वम्', 'वधान' आदि आदि पदों के संकेत (शक्ति) का ग्रहण वृद्ध व्यवहार से ही सबसे पहले समझ हुआ करता है ।

(२) कहीं कहीं 'प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहार'—अर्थात् किसी प्रसिद्धार्थक पद के—ऐसे पद के, जिसका अर्थ पहले से जाना जा चुका हो—समभिव्याहार अथवा सामिश्र्य से भी संकेत का ग्रहण हुआ करता है जैसे कि हम जानें अर्थात् 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकर पियति'—'इस गिरे कमल के भीतर मधुकर (अमर) मधुपान पर रहा है' में (जहाँ 'कमल' हम पूर्वपरिज्ञातार्थक पद के समभिव्याहार (सादृश्य) से 'मधुकर' हम पद का, अन्तररूप अर्थ में, संकेतग्रह हुआ करता है ।

(३) कहीं पर 'आलोपदेश' अर्थात् आज अथवा किसी प्रामाणिक व्यक्ति के उपदेश से भी संकेत का अवधारण किया जाया करता है जैसे कि 'अयमश्वशब्दवाच्य'—'यह प्राणी श्व है' जिसे अश्व कहा जाने है' इत्यादि स्थलों पर (जहाँ किसी श्रेष्ठ प्रामाणिक व्यक्ति ने 'अश्व' पद का संकेतग्रह किया) बालक को अपने बोधन-मात्र से, मानों अंगुली पकड़ कर, करा दिया है) ।

(संकेत का क्षेत्र)

सङ्केतो गृह्यते जातो गुणद्रव्यक्रियासु च ॥ ४ ॥

(चतुर्विध संकेत-क्षेत्र का व्यवस्था-निरूपण)

जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका । गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः ।
शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति । द्रव्यशब्दा

एक नष्टा अपि तु दो भिन्न वस्तुयें हैं । 'शक्ति' संकेत नहीं किन्तु 'संकेत ग्राह्य' है । शब्द में अभिधा शक्ति है वह बात संकेत के जानने से जानी जा सकती है । शक्ति अथवा अभिधा 'संकेत' नहीं है । (उपोत्त, पृष्ठ ९) ने मानासको और व्याकरणों के अनुसार शक्ति अथवा अभिधा का यही पार्थक्य निर्दिष्ट किया है—

'संकेतग्राह्य शक्त्याख्यपदार्थान्तरमभिधा'

परमत्वमज्ञापाकार महावैद्याकरण नागेश भट्ट (प. ल. म-शक्तिविचार) ने स्पष्ट ही कहा है—
'उक्त ईश्वरसंकेत एव शक्तिरिति नैयायिकमतं न युक्तम् । 'अयमेतच्छब्दयः' 'अग्रास्य शक्तिः' इत्यस्य संकेतस्य शक्तितः पार्थक्येन प्रसिद्धत्वात् ।'

(८) नाटित्वदर्पणकार ने मानासक-वैयाकरण-मन्मत शक्तिमिद्वान्न का अनुसरण किया है । 'अभिधा संकेतनि अर्थ का बोधन कराने वाली शक्ति है' (तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमा-भिधा)—इस विद्वन्नाथ कविगजट्टन अभिधानलक्षण में यह स्पष्ट है कि 'संकेत और अभिधा' एक नहीं किन्तु भिन्न भिन्न हैं । 'उन-उन संकेतनि अर्थों का बोधन कराने वाली जो शब्दशक्ति है वह अभिधा नाम की शक्ति है' (त त संकेतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य... 'शक्तिरभिधा नाम)—इस अभिधानलक्षणपरिष्कार से इसका भी संकेत कर दिया गया है कि 'अभिधा' और 'शक्ति' पर्यायशब्द नहीं । नाटित्वदर्पणकार का यह संकेत युक्तियुक्त किंवा विचारपूर्ण है । अन्-कारशास्त्र में 'शक्ति विचार' के लिये तो यह परमावश्यक है कि 'अभिधा' और 'शक्ति' इन पदों को निगार्यक रखा जाय । अन्यथा 'संकेतनि अर्थ का बोधन कराने वाली जो शक्ति है वह 'शक्ति' है—इस प्रकार के शक्ति (अभिधा)—लक्षण में लक्ष्यलक्षणनाशक्य क्योंकि निर्दिष्टा जा सके ।

(१) नाटित्वदर्पणकार ने 'संकेतग्राह्य' के उपायों में शुद्धत्वसाधन, प्रसिद्धत्व मनभित्ति तथा नामोपदेश—इन तीन उपायों का ही निर्देश किया है किन्तु नाटित्वदर्पण के व्याख्यातारों ने इस उपायपर दो उपलक्ष्य मानकर अन्य मन्मत उपायों का यहाँ नमामात्र कर लिया है । संकेतग्राह्य के निम्नलिखित जाठ उपाय परम्परा में माने जाने आ रहे हैं—

'शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोषासत्राख्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विधृतेर्वदन्ति नातिष्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥'

अर्थात्—शक्तिग्रह, उपमान, कोष, आसत्राख्य, 'व्याकरण', वाक्यशेष, विधृति और प्रसिद्धत्वनातिष्य-ने आठ उपाय शक्तिग्रह 'अथवा संकेतग्राह्य' के प्रयोजक हैं । विद्वन्नाथ कविगज ने इन में से तीन का ही ही उल्लेख किया है वह नाटित्वे त्योंकि तन्मय में ही परमा 'संकेतग्राह्य' युक्तियुक्त हुआ करता है । आसत्राख्य नाम आसत्रा शास्त्र में 'शक्तिग्रह' के विवेचन में इन तीन उपायों का ही विवेचन आया है ।

नमः—एक उपयुक्त उपायों से जिस संकेत का ग्रहण हुवा करता है उस के चतुर्विध क्षेत्र हैं जसे कि (१) जानि, (२) गुण, (३) द्रव्य और (४) क्रिया ।

इस चतुर्विध संकेत-क्षेत्र में 'जानि' यह है (जिसे पदार्थ का प्राणमद् नियम वस्तुधर्म कहा करते हैं और उदाहरण के लिये) जिसे 'गौ' आदि व्यक्तिओं में 'गोत्व' आदि के रूप

एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थडवित्थादय । क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः । एषु हि अधिश्रयणावश्रयणान्तादिपूर्वोपरीभूतो व्यापारकलापः पाकादिशब्दवाच्यः । एष्वेव हि व्यक्तेरुपाधिषु सकेतो गृह्यते, न व्यक्ती, आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात् ।

में देखा जाया करता है । 'गुण' उसे कहते हैं जो एक नित्य वस्तुधर्म है और जिनके द्वारा सजातीय वस्तु व्यक्तियाँ एक दूसरे से पृथक् रूप से पहचानी जाया करती हैं । उदाहरण के लिये 'शुक्ल' आदि गुण । ये 'शुक्ल' आदि गुण ऐसे वस्तुधर्म हैं (जो नित्य हैं, वस्तु-व्यक्तिओं में समवेत रहा करते हैं और) जिनसे शुद्ध वर्णवाली वस्तु-व्यक्तियाँ कृष्णादि-वर्णवाली वस्तु-व्यक्तियों से व्यावृत्त की जाया करती हैं जैसे कि किसी गोव्यक्ति का शुभ्रगुण उसे सजातीय कृष्णादिवर्ण वाली गोव्यक्तिओं से व्यावृत्त किया करता है । 'द्रव्य' वह है जिसे वस्तु-व्यक्ति की 'सज्ञा' कह सकते हैं और ऐसे शब्द जैसे कि हरिहर, डित्थ, डवित्थ आदि द्रव्यवाचक अथवा सज्ञावाचक (यदृच्छात्मक) शब्द माने जाया करते हैं क्योंकि ये एक व्यक्ति के ही वाचक हुआ करते हैं । (चतुर्थ सकेत-त्रेता अर्थात्) 'क्रिया' उसे कहते हैं जो एक ऐसा वस्तुधर्म है जो सिद्ध नहीं अपितु साध्य रहा करता है जैसे कि 'पाक' आदि । 'पाक' आदि शब्द इसलिये क्रियावाचक शब्द हैं क्योंकि ये अधिश्रयण (चूल्हे पर बरतन चढ़ाने) से लेकर अवध्रयण (सिद्ध अन्न के पात्र के चूल्हे से उतारने) तक के क्रमशः होने वाले जितने भी कार्यकलाप हुआ करते हैं उन सब का अभिप्राय अपने में रखा करते हैं ।

ये उपर्युक्त जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में वस्तुतः व्यक्तियों की चतुर्विध उपाधियाँ हैं और इन्हीं में शब्दों का सकेत-ग्रह सम्भव है न कि व्यक्तियों में । व्यक्तियों में सकेतग्रह इसलिये युक्तियुक्त नहीं क्योंकि कहाँ तो 'गो' शब्द एक और कहाँ गोव्यक्तियाँ अगणित (आनन्त्य दोष) ! यदि एक किसी गोव्यक्ति में गोपद का सकेतग्रह हो चुके तो अन्य गोव्यक्तियाँ, जहाँ सकेतग्रह नहीं हुआ, क्योंकि 'गो' पद से अभिहित होने लगे (व्यभिचार दोष) ।

विमर्श—(क) जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया-इन चारों को शब्द का सकेतित अर्थ सिद्ध करने वाले जो विचारक हैं वे वैयाकरण हैं । वैयाकरणों ने शब्दों की 'चतुष्टयी प्रवृत्ति' मानी है जिसका आधार महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलिका वचन है—

'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति' (महाभाष्य ऋलूकसूत्रवार्तिक व्याख्यान)

यह वैयाकरणमत 'उपाधिशक्तिवाद' कहा जाता है । इसके अनुसार भाषा की नमस्त शब्दराशि का यह वर्गीकरण है—

१-जातिशब्द, २-गुणशब्द,

३-क्रिया शब्द, ४-द्रव्यशब्द अथवा यदृच्छाशब्द ।

'उपाधिशक्तिवाद' की दृष्टि में 'जाति' वह नित्य वस्तुधर्म है जो प्रत्यक्षसिद्ध है किंवा वस्तुसत्त्वात् विशेष के द्वारा अभिव्यञ्ज्य है । इस वस्तु धर्म को 'पदार्थ का प्राणप्रद' कहा जाता है क्योंकि इसीके द्वारा शब्द व्यवहारयोग्य हुआ करते हैं । यद्यपि यह ठीक है कि जातिरूप वस्तुधर्म से किसी प्रकार का प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप प्रयोजन नहीं संपन्न हो सकता किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'व्यक्ति' को शब्द का सकेतित अर्थ मान लिया । यदि 'व्यक्ति' को शब्द का सकेतित अर्थ माना जाय तब प्रश्न यह उठता है कि क्या गो शब्द गोव्यक्तियों को

उपस्थापित करता है या किन्हीं (पुरोदृश्यमान) गो व्यक्ति को? अब गोशब्द का सकेतग्रह समस्त गोव्यक्तियों में तो हो नहीं सकता क्योंकि कहाँ तो एक 'गो' शब्द और कहाँ अनन्तानन्त गोव्यक्तियाँ! भला एक गोशब्द में यह सामर्थ्य कहाँ जो अनन्त गोव्यक्तियों को हमारे नान्त-पटल पर अंकित कर सके। किन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं कि एक गोव्यक्ति ही गोशब्द के अर्थ के रूप में प्रतीत हुआ करे। यदि ऐसा होने लगे तब तो एक गोरूप पिण्डविशेष को छोड़कर और किन्हीं भाँ गोरूप पिण्डविशेष के लिये गोशब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। इस प्रकार 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार'-इन दोनों दोषों का समावना और उपस्थिति में व्यक्ति तो कदापि शब्द का अर्थ नहीं। इसके अतिरिक्त 'व्यक्ति-शक्तिवाद' में एक और भी बड़ी आपत्ति यह है कि सभी जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक किंवा मन्त्रवाचक शब्द पर्यायवाचक बन जाते हैं और किन्हीं प्रकार का वाक्यविश्लेषण अथवा शब्द-वर्गीकरण निरर्थक हो जाता है। जैसे कि 'गौ', 'शुक्र', 'चल', 'दिश्यः' यह शब्दप्रयोग, जिनका 'उपाधिशक्तिवाद' के अनुसार तो अर्थ असंकीर्णरूप से स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ 'गौ शुक्रवर्णवान् चलनक्रियावान् दित्यसमक' यह अर्थ विवक्षित है), 'व्यक्ति शक्तिवाद' में इसलिये सर्वांग किंवा एकार्थक हो जाता है क्योंकि जब व्यक्ति ही पदार्थ है और प्रस्तुत प्रसंग में गोव्यक्ति एक ही है तब तो यह निश्चित ही है कि 'गौ' 'शुक्र' 'चल' और 'दिश्य' में कोई विषयविभाग नहीं और ये चारों शब्द 'पट' और 'कलश' शब्दों की भाँति एकार्थक हैं और एक साथ कदापि प्रयोग-योग्य नहीं। 'उपाधिशक्तिवाद' में ऐसी बात नहीं क्योंकि इसके अनुसार-'गौ', 'शुक्र', 'चल' और 'दिश्य'-इन चतुर्विध शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त जाति, गुण, क्रिया और सत्ता का उपाधि-चतुष्टय हुआ करता है जिनकी दृष्टि में न तो इनमें पर्यायशब्द का ही अर्थ सम्भव है और न प्रयोग-साकार्य की ही कोई सम्भावना है।

उपाधिशक्तिवाद की दृष्टि में शब्द का 'जाति' रूप प्रवृत्तिनिमित्त वह नित्य, एक किंवा अनेकानुगत सामान्य' रूप धर्म है जिनके कारण पदात्मक शब्दों का एक महासमुदाय 'जाति-वाचक' शब्द के रूप में पृथक् पहचाना जाया करता है। कतिपय विचारक जैसे कि गौमानक लोग केवल 'जाति' को ही शब्दनाम का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं और 'जातिशक्तिवाद' को ही सर्वमान्य सिद्ध करते हैं। इन 'केवल जातिशक्तिवादों' लोगों की विचारधारा का जो रूप है उसे न्यायवर्गीकार जयन्तभट्ट ने इस प्रकार अंकित किया है—

'ननु जाति विशेषणत्वेन व्यक्ति च विशेष्यत्वेन वक्ष्यति गोशब्दः? न शक्नोति वृत्त-अतिभारप्रसङ्गात्। न च व्यक्ष्यवगतौ गतिरन्या नास्ति यत् इयन्त शब्दे भारभारोपयमे, न हि यद्य व्यक्तिप्रतीति भवन्तीमपह्नुमहे नापि भवन्ती जातिप्रतीतिमपह्नुमहे, उभयप्रतीतेः प्रत्यात्मवेदनीयत्वात्, उभयत्र चाभिधात्री शक्तिरतिभारः, शब्दस्यान्यतरप्रतीत्या चान्यतर-प्रतीतिमिदं, तत्र गोशब्दः किं जातो वर्तमानो व्यक्तिमाहोस्विद्व्यक्ती वर्तमानो जाति-माहोस्विति विचारणाया जातोविशेषणत्वात् पूर्वतर प्रतिपत्तिरिति संव शब्दार्थो भवितु-मर्हति तस्या च शब्दादवगताया तत्त एव व्यपस्यवगम सेत्यतीति नोभयत्र शब्दो व्यापारः।'

... "तदिदमात्मप्रपञ्च यद्वृद्धं उच्चरिते व्यक्तिवगम्यते स किं शब्दादुत जातेरिति विवेको न प्रत्यक्षः स नुसयाऽवगम्यते, शब्दस्य ह्यभिधाने यन्नगौरवाद्द्विग्य व्यापारस्य चाऽभ्यवेदनात्, अन्तरेणापि च शब्द ज्ञान्यवगमाद् व्यक्तिप्रतीतिदर्शनाच्च जातित एवप्य व्यक्तिप्रतीति, जातिप्रतीतिश्च शब्दादिति निश्चीयते।" (न्यायदर्श, पृष्ठ २००-२०१)

अर्थात् यहाँ तो जाति और व्यक्ति दोनों का ही प्रतीति शब्द में ही हुआ करता है किन्तु यहाँ विचार यह करना है कि शब्द की अभिधाशक्ति ही ही सम्प्रत्यक्ष उपस्थित किंवा गम्यता है— 'जाति को' या 'व्यक्ति को' यह भी निर्णय है कि दोनों का अभिधा प्राप्त एक साथ उपस्थिति उपलब्ध नहीं क्योंकि ऐसा मानने का यहाँ अभिन्नाय है कि व्यक्ति का जो दो-दो व्यक्तियों के

उपस्थापन का बोझ लाद दिया गया। यह भी कहना बिनापूर्ण नहीं कि शब्द की अभिधा पहले जातिरूप अर्थ को उपस्थापित किया करता है और तत्पश्चात् व्यक्तिरूप अर्थ को जो हमारे समस्त प्रयोजनों के संपादन में समर्थ है क्योंकि जब अभिधा जातिरूप अर्थ के अवबोधन में अपना सामर्थ्य समाप्त कर चुकी जो कि उसके लिये स्वाभाविक ही है तब व्यक्तिरूप अर्थ का अवबोध कराने के लिये कहाँ से पुनरुत्पन्नित हो उठे। इस मन्त्रा के मन्त्रार्थ का एक मात्र उपाय यही मानना है कि शब्द से तो जातिरूप ही अर्थ अभिहित होता है और यह विशेषणरूप अर्थ अपने विशेष्यभूत व्यक्तिरूप अर्थ का आक्षेप का लेना है क्योंकि व्यक्तिरूप अर्थ का अवगम जातिरूप अर्थ के अवबोध के बिना नहीं हो सकता। वैशेषिक दर्शनशास्त्र का तर्क तो यह कथन है—‘समवायिनः श्वेत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्चेते बुद्धिस्ते कार्यकारणभूते’ (वैशेषिकसूत्र ८-१-०)।

उपर्युक्त ‘केवल जातिशक्तिवाद’ के विरोध में ‘केवल व्यक्तिवाद’ भी प्रचलित है जो कि जयन्तभट्ट के शब्द में इस प्रकार है—

चयापचयसघात-स्वस्वामित्वादिकल्पना ।

यान्ति व्यक्त्यभिधेयवपचे द्वदिति सगतिम् ॥ न व्यक्तिलक्षणाद्वारमियकार्यं च युज्यते ।
वक्रः पन्था न गन्तव्यः प्रष्टे वहति वर्त्मनि ॥ उपलक्षणमाधित्य जातिमग्न्यन्धवेदनम् ।
प्रसेत्स्यतीति नानन्त्यव्यभिचारकृतो ज्वर ॥ प्रत्यक्षविषये वृत्ति पदस्येष्टा परैरपि ।
निष्कृष्टं न च सामान्यमात्रं प्रत्यक्षगोचरः ॥ व्यक्तेरेव पदार्थत्वं तस्मादभ्युपगम्यताम् ।

तथा च बुद्धिस्तत्रैव श्रुतशब्दस्य जायते ॥ (न्यायमहर्षी, पृष्ठ २९०)

अर्थात् ‘यह छोटी गौ है’, ‘यह बड़ी गौ है’, ‘यह मेरी गौ है’, ‘यह तेरी गौ है’ आदि आदि वाक्यों में प्रयुक्त ‘गोशब्द’ तभी सार्थक कहा जा सकता है जब कि गोपद का अर्थ गोव्यक्तिरूप ही अर्थ माना जाय। आनन्त्य और व्यभिचार दोनों के छुटकारे का तो नौधा उपाय यह सोचना है कि गोत्वरूप सामान्य समस्त गोव्यक्ति पर आश्रित रहा करता है। गोशब्द का अर्थ सीधे गोव्यक्ति न मानकर पहले गोत्व मानना और तब गोव्यक्ति को उससे आक्षिप्त मानना तो ऐसा ही है जैसे राजमार्ग पर न चलकर टेढ़ी मेढ़ी पगडण्टियों पर गिरते-पड़ते चलना।

अस्तु, उपाधिशक्तिवाद के अनुसार भाषा के अनेकानेक शब्द ऐसे हैं जो गुणवाचक हुआ करते हैं। यह गुण क्या है? गुण एक वस्तुधर्म है जिसे पदार्थों का ‘विशेषाधानहेतु’ कहा गया है। जातिरूप वस्तुधर्म और गुणरूप वस्तुधर्म में जिस बात की समानता है वह है दोनों की नित्यता। अन्यथा जाति और गुण परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। प्रदीपकार ने इसीलिये कहा है—

‘यद्यपि शुक्लत्वादेर्नित्यत्वाभ्युपगमे गोत्वादिना समकालमेव सम्बन्धित्वम्, तथापि तस्य सबन्धः कदाचिदपैत्यपि, न तु गोत्वादेरिति विशेषः ।’

अर्थात् ‘गो शुक्ल’ सरीखे जातिवाचक और गुणवाचक पदों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि गोत्व और शुक्ल एक ही समय में गौरूप पिण्डविशेष में समवेत (समन्वित) हुआ करते हैं और एक ही समान सिद्धरूप वस्तुधर्म भी है किन्तु गोचररूप धर्म (जाति अथवा सामान्य) तो ऐसा है जो गोव्यक्तियों में सदा अनुगत रहा करता है और शुक्लरूप धर्म (गुण) ऐसा जो कदाचित् गोव्यक्ति से पृथक् भी रह सकता है। इसीलिये गुण की परिभाषा इस प्रकार भी की जाया करती है—

‘सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते । आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥’

अर्थात् वस्तुतः ‘गुण’ वह धर्म है जो द्रव्य पर आश्रित रहा करता है, अपने आश्रयभूत द्रव्य से भिन्न हुआ करता है और साथ ही साथ भिन्न जातीय द्रव्यों में ही दिखायी दिया करता है। यह उत्पाद्य (जैसे कि ‘रक्तो घट’ आदि में रक्तत्व) और अनुत्पाद्य (जैसे कि ‘आकाशो महान्’

भक्ति में गहत्व) - दो प्रकारों वाला है। इनका सर्वप्रथम पहचान यही है कि या 'अस्तत्त्वप्रकृति' अथवा अद्रव्यरूप है।

'गुण' शब्दों की नक्षिप्त नीनामा निम्नांकित पंक्तियों में है—

गुणैकनियतास्तावद् गन्धरूपरसादयः । गन्धत्वादिगन्धवच्छुद्धगन्धादिगुणवाचिनः ॥

तेषां न द्रव्यपर्यन्ता वृत्तिः कचन दृश्यते । न गन्धः पद्म इत्यस्ति सामानाधिकरण्यधीः ॥

(न्यायमशरी-पृष्ठ, २९८)

जिनका अभिप्राय यह है—गन्ध, रूप, रस आदि अनेकानेक शब्द ऐसे हैं जो एकमात्र गुण के ही वाचक हैं। ये शब्द कदापि द्रव्यवाचक नहीं हो सकते यदि गन्धादि शब्द द्रव्यवाचक हो सकते तो 'गन्धः पद्मः' कहा जाया करता न कि 'पद्मे गन्धः'।

उपाधिप्रकृतिवाद को दृष्टि में नोंसते जो 'उपाधि' है वह 'क्रिया' है। क्रिया एक वस्तुधर्म है किन्तु जानि और गुण को भाँति भिन्नरूप वस्तुधर्म नहीं अपि तु ऐसा वस्तुधर्म है जो 'साध्य' है। इसीलिये क्रिया को 'भावना' भी कहा जाता है—

'व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया ।'

इनके 'साध्य' होने का तात्पर्य है इनकी क्रमरूपता का—

'यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते । आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते ॥'

जैसे कि 'पचति', 'अपचत्', 'पथयति' (पकाता है, पका चुका, पकायेगा) इत्यादि जो पद हैं वे क्रिया के लिये रूढ़ हो गये हैं क्योंकि इनके द्वारा ऐसे अर्थ का ही अभिप्राय हुआ करता है जो कि 'अमत्त्व' नष्ट-अद्रव्यभूत-वस्तुतः साध्यरूप अर्थ है। साथ ही साथ 'क्रिया' पद का अवयवार्थ भी निर्दिष्ट करता है कि वह क्रमशः सम्पन्न होने वाला वस्तु है।

आचार्य मन्वारी (शाक्यपदीय) ने इसीलिये कहा है—

'गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् । बुद्ध्या प्रकल्पिता भेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥

अर्थात् अग्नि आदि शब्द तो बहुधा शब्द ही माने जायेंगे क्योंकि इन शब्दों में इनका ही उद्देश्यगत प्रवृत्तिनिमित्त नहीं रहा करता। ये शब्द तो एकमात्र वस्तु के द्वारा केवल अपनी स्वरूप से ही व्यक्तियों में स्वेनित रहा करते हैं।

यह उपर्युक्त 'उपाधिप्रकृतिवाद' आचार्यिकों के लिये सर्वथा मान्य है और साहित्यदर्पणकार ने 'मतेन्द्राह के विषय' के रूप में इसे ही स्वीकार किया है।

(ग) आचार्यिकों के द्वारा 'चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः' के निजान्त का अनुसरण अत्यन्त आवश्यक है और इसीलिये आचार्यिकों ने इसे माना भी है। वस्तुतः बात यह है कि जब कि भाषाशास्त्रियों के हस्त में 'विधिय' 'क्रिया' का स्पन्दन हो जायाना तो का सर्वप्रथम निजान्त है कि ये क्रिया के जगत् उपन्यासित भाषा का वाचविषय निश्चय है। शब्दप्रवृत्ति के क्षेत्रवस्तुत्व ही इस भाषा का वाचविषय-गुण-क्रिया विधा द्रव्यस्वधर्मचतुष्टय में निश्चय वस्तुविध 'साधारणधर्म-द्रव्य धर्म' ने उन्मादि आचार्यिकों का उत्पन्न माना गया है। उन्मादि के लिये यदि इन निम्नांकित पंक्तियों में से—

'वनोपानच्छायासिध मरुपथापप्रदहनात् नुपारागभोवापीसिध विपविषाकादिभ्य मुधात् ॥

प्रवृत्त्यादुन्मादाप्रकृतिभिच निरुत्तरीय विरहात् लभेय स्वधर्मि निरूपमरयां शङ्कर पठा ॥'

जैसे उन्मादा मरुपथापप्रदहनात् का उन्मादि, नुपारागभोवापीसिध का उन्मादि, विपविषाकादिभ्य का उन्मादि, प्रवृत्त्यादुन्मादाप्रकृतिभिच का उन्मादि, निरुत्तरीय का उन्मादि, लभेय का उन्मादि, स्वधर्मि का उन्मादि, निरूपमरयां का उन्मादि, शङ्कर का उन्मादि, पठा का उन्मादि।

(लक्षणाशक्ति-निरूपण)

अथ लक्षणा—

समीक्षा रसमय, सादृश्य, समान्य, ते-दृश्य

मुख्यार्थवाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।

रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरपिता ॥ ५ ॥

प्रक्रिया' का ही अनुसरण करते हुये संकेतित अर्थ का चतुर्भिन्न माना है जिस पर उपर्युक्त अलंकारों की रूपरेखा का समीचीन विरूपण निर्भर है ।

अनुवाद—लक्षणाशक्ति क्या है ?

लक्षणाशक्ति वह शब्द शक्ति है जो कहीं मुख्यार्थ के (अन्वयबोध के) वां अथवा अनुपपन्न हो जाने पर वहाँ एक ऐसे अर्थ का अवबोधन करवाया करता है कि मुख्यार्थ से (सर्वथा असंबद्ध नहीं अपितु) किसी न किसी रूप में सम्बद्ध तो अव रहा करता है किन्तु मुख्यार्थ के स्वभाव से भिन्न स्वभाव का ही हुआ करता है । ऐसा होने का कारण या तो 'रूढि' (प्रयोग-प्रवाह) है (जो वक्ता के वक्ष में ना या 'प्रयोजन-विवक्षा' (जो वक्ता के अधिकार की वृत्ति है) ।

विमर्श—(क) लक्षणाशक्ति की मान्यता का इतिहास ब्राह्मणयुग में क्रमरूप में मिलता आ रहा है । निरुक्तकार वात्स ने ब्राह्मणग्रन्थों में 'भक्तिवाद' का प्रायः नग्न आश्रयण किया है (बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति) । मीमांसामूलकार भगवान् जैमिनि कतिपय सूत्र 'लक्षणा' की मान्यता किंवा उपयोगिता के सूचक हैं । न्यायदर्शनकार महर्षि का यह सूत्र—

'सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगिसाध्याधिपर्येभ्यो ब्राह्मणमज्जक सफुचन्दनगङ्गाशाटकाक्ष पुरुषेष्वतश्चावेऽपि तदुपचारः ।' (न्यायदर्शन २-२-६१)

'लक्षणा' की रूपरेखा का एक स्पष्ट संकेत है । कालान्तर में की गयी लक्षणा की यह भीमा

'अभिधेयेन 'सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत ।

वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पक्षधा मता ॥'

वस्तुतः लक्षणाविषयक प्राचीन मान्यताओं का ही एक सार-संक्षेप है । आलंकारिकों के लक्षणा का स्वरूपचिन्तन तो रूपकादि अर्थालंकारों के भाषागत मूलबोध का ही दर्शन है जो लक्षणाशक्ति की भित्तिपर काव्यभवन की कतिपय कक्षाओं का उत्थान काव्याचार्य भा करते हैं ।

(ख) 'मुख्यार्थवाधे', 'मुख्यार्थयोग' किंवा 'रूढि अथवा प्रयोजन'—ये तीनों लक्षणा

उत्थान के समुदित अथवा सवलितरूप से हेतु माने गये हैं । साहित्यदर्पणकार की लक्षणा प भी इसी 'हेतुत्रय' को लक्षणाहेतुरूप में मानती प्रतीत हो रही है । यहाँ 'मुख्यार्थवाधे' अमिप्राय लिये जा सकते हैं—(१) अन्वयानुपपत्ति और (२) तात्पर्यानुपपत्ति । इन पक्षों अर्थात् 'अन्वयानुपपत्ति' में कुछ कमी है क्योंकि यदि लक्षणा के मूल में 'अन्वय' की ही देखा जाय तब 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (चिलियों से दही बचाओ) आदि में लक्षणा नहीं हो सकती । 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' जैसे प्रयोग लक्षणा प्रयोग है जैसा लक्षणा का बीजभूत 'मुख्यार्थवाधे' है उसमें 'अन्वय अथवा ससर्ग बोध की अनुपपत्ति वक्ता के तात्पर्यभूत वाक्यार्थ के अवबोध का अभाव (तात्पर्यानुपपत्ति) स्पष्ट है । कतिपय आचार्य 'मुख्यार्थवाधे' में 'अन्वयानुपपत्ति' के बदले 'अन्वयाद्यनुपपत्ति' का प्र

(लक्षणा-विवेक)

‘कलिङ्गः साहसिकः’ इत्यादी कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादित्ये स्वार्थऽ-

नकर ‘तात्पर्यानुपपत्ति’ का भा यहाँ समावेश कर लेते हैं जिसके बिना लक्षणा-विवेक ही सम्भव है। कुछ आचार्य केवल ‘तात्पर्यानुपपत्ति’ के प्रतिपादन की ही लक्षणावीज मानते हैं। अनाथ कविराज ने व्यस्त अथवा समस्तन्व ने, दोनों अभिप्रायों में यहाँ ‘तुल्यार्थभाव’ को रखा का मूल माना है।

‘तुल्यार्थयोग’ के ही विवेक में तात्पर्य, तादर्थ्य, तत्तामान्य, तत्ताहन्य और तादर्थ्य ‘तुल्यार्थयोग’ का निदान निकला है जिसे साहित्यदर्पणकार ने लक्षणा के उदाहरणों पटितरूप से निरदिष्ट किया है। जैसे कि तात्पर्यमन्वन्व ने लक्षणा—‘कलिङ्गः साहसिकः’, तत्तामन्वन्व ने लक्षणा—‘गौवांहीकः’, तत्तामान्यमन्वन्व ने लक्षणा—‘गद्गायां घोषः’, तादर्थ्यमन्वन्व ने लक्षणा—‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ और तादर्थ्यमन्वन्व ने लक्षणा—‘(इन्द्रायांसु) णानु’—‘अमी इन्द्राः’।

काव्यप्रकाशकार का भाषा साहित्यदर्पणकार ने भी ‘रुद्धि’ और ‘प्रयोजन’ को लक्षणा के दो निदानक सिवा विभाजकोपाधि के रूप में स्वीकार किया है और लक्षणाभेदों में रुद्धि प्रयोजन का उपाधियों को अनुन्यून मानकर दोनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये हैं।

लक्षणा को शब्द को ‘अर्पित’ शक्ति कहा जाता है ‘महजा’ नहीं। काव्यप्रकाशकार ने लक्षणा को ‘आरोपिता क्रिया’ ही कहा है—‘लक्षणारोपिता क्रिया’ (काव्यप्रकाश २. ९.)। रूपा के शब्द पर ‘अर्पित’ अथवा ‘आरोपित’ होने के दो अभिप्राय लिये गये हैं जो कि वस्तुतः निधा के मन्वन्व में दो निदानों के मूलक हैं। नामानकों के अनुसार यदि ‘अभिधा’ शब्द स्वाभाविक शक्ति है क्योंकि शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभावमन्वन्व भा स्वाभाविक तो लक्षणा के ‘अर्पित’ अथवा ‘आरोपित’ शक्ति होने का अभिप्राय होगा उनके ‘स्वाभाविकेतर’ ने का। इसी प्रकार यदि स्वाभाविकों के अनुसार अभिधा ईश्वरोद्भाविन शब्दशक्ति हुए क्योंकि ‘अभिधा’ का ‘अभिधानाभिधेयनियम’ ईश्वरेच्छास्वरूप है तो लक्षणा के ‘अर्पित’ अथवा ‘आरोपित’ होने का तात्पर्य होगा उनके ‘ईश्वरानुद्भाविन’ (मनुष्यजन) होने का। दोनों दृष्टियों ने ‘अर्पित’ है, अभिधा का भाषा ‘महजा’ नहीं। नीचे की परिधियों ‘अभिधा’ और ‘लक्षणा’ इन तात्पर्य को स्पष्ट करती हैं—

‘अभिधानाभिधेयत्वमतः शब्दार्थयोः स्थितम् ।

सम्यन्धोऽप्राभिधा द्वेधा योष्या मुन्यजवन्वतः ॥

अभिधार्थवगप्यात्मा शब्द व्यापारयिष्यतः ।

शब्दशक्तिनिमित्ता सा स्वार्थे मुर्याभिधायते ॥

स्वार्थाभिधानद्वारास्याजवगप्यार्थान्तरे मता ॥ (न्यायमणिमुद्रि-संग्रहभाष्य)

इस पर जो स्वाभाविक शक्ति और अभिधा है वही मुन्य और वन्वत (नाना और विधा अथवा आरोपिता) दोनों स्वरूपों में लक्षणा हुआ जाती है।

उदाहरण के लिये ‘कलिङ्गः साहसिकः’—‘कलिङ्गः साहसी है’ इत्यादि प्रसङ्ग के लिये जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि ‘कलिङ्गः’ आदि शब्द की अभिधाशक्ति द्वारा ‘कलिङ्गः’ आदि का जो अर्थ निकलेगा वह ‘एक देशविशेष आदि’ रूप हो जायेगा और यह अर्थ ऐसा अर्थ होगा जो यहाँ बाधित अथवा अनुपपन्न होगा क्योंकि अचेतन-कलिङ्ग आदि देश और साहसादिरूप चेतन-वस्तु का परस्पर सम्बन्ध (या ?)। अथ जिस शक्ति के द्वारा (ऐसी अनुपपत्ति दूर की जाया करती है और)

सभवन् यया शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान् पुरुषादीन् प्रत्याययति, यया च 'गङ्गाया घोषः' इत्यादौ गङ्गादिशब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात्प्रकृतेऽसभवन् स्युः सामीप्यादिसंबन्धसबन्धिन तदादि बोधयति, सा शब्दस्यापिता स्वाभाविकत्वं ईश्वरानुद्धाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम । पूर्वत्र हेतु रूढिः प्रसिद्धिरेव । उत्तर 'गङ्गातटे घोषः' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनम् । हेतु विनापि यस्य कस्यचित्सबन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसङ्गः स्यात् इत्युक्तम्—'रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ' इति ।

केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इति रूढाबुदाहरन्ति । तेषामयमभिप्रायः—कुश

'कलिङ्ग' आदि शब्द अपने देशविशेषादिरूप मुख्य अर्थ से सयोगसम्बन्ध से सम पुरुषादिरूप अर्थ का अवबोध करवाया करते हैं शब्द की वह शक्ति है जिसे 'लक्षणाशक्ति' समझा जाना चाहिये । इसी प्रकार ऐसे स्थलों जैसे कि 'गङ्गाया घोषः'—'गंगा पर कुटिया है' आदि में, जहाँ शब्द की अभिधाशक्ति से 'गङ्गा' आदि का अर्थ प्रवाहादिरूप निकल सकता है जो कि यहाँ अनन्वित अथवा असंगत प्रतीत हो रहा है (क्यों 'गङ्गा'—जलप्रवाह और 'घोष'—कुटिया में आधारार्थभावस्वरूप सम्बन्ध क्योंकर स्थापित हो जाय ?) यह लक्षणाशक्ति का ही महत्त्व है कि 'गङ्गा' आदि शब्द अपने मुख्यार्थ जलप्रवाहादिरूप अर्थ के साथ सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बद्ध 'तदादि' रूप अर्थ प्रतीति करवाया करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि (अभिधाशक्ति जहाँ शब्द की स्वाभाविक अथवा ईश्वरप्रदत्त शक्ति है, वहाँ) लक्षणा वह शक्ति है जो शब्द की स्वाभाविक नहीं और न जिसे ईश्वरप्रदत्त ही कह सकते हैं क्योंकि वह तो एक ऐसी शब्दशक्ति जिसे काव्यनिक कहा जा सकता है और ऐसा इसलिये क्योंकि यह तो याधित शब्द की शक्ति है जिसे वह शब्द के लिये समर्पित कर दिया करता है । पहले ('कलिङ्गः साहसिकः' आदि) उदाहरण में लक्षणा का जो हेतु है वह 'रूढि' अथवा प्रयोग-प्रवाह है और दूसरा जो उदाहरण है (अर्थात् 'गङ्गाया घोषः') उसमें जो लक्षणा का हेतु है वह है शीतलता, पवित्रता आदि की उत्कटता का अवबोधनरूप प्रयोग जो कि 'गङ्गातटे घोषः'—'गंगा के तीर पर कुटिया है' इस प्रकार के प्रयोग में प्रतीति नहीं हो सकता (क्यों ? इसलिये कि शीतलता और पवित्रता आदि की विशेष गङ्गा की धारा की विशेषतायें हैं न कि गङ्गा के तीर की और 'तीर' का तात्पर्य गङ्गा धारा से अत्यन्त संयुक्त स्थलभाग ही नहीं अपितु कुछ दूरस्थ भूभाग भी हो सकता है गङ्गा की धारा की शीतलता और पावनता का कोई सम्बन्ध नहीं) । विना किसी रूढि अथवा प्रयोजनविवक्षा के केवल मुख्यार्थ से यथाकथञ्चित् सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन ही लक्षणा शब्दशक्ति का कार्य नहीं क्योंकि तब तो किसी भी शब्द का कुछ भी लक्ष्यार्थ निकलने ? इसलिये (इस बौद्धिक अराजकता को रोकने के लिये) रूढि अथवा प्रयोजन की लक्षणा के हेतुरूप से मानना नितान्त आवश्यक है जैसा कि 'रूढेः प्रयोजनाद्वापि' कारिकांश से स्पष्ट है ।

लक्षणा के रूढिरूप हेतु का उदाहरण कुछ लोग (अर्थात् काव्यप्रकाशकार अथवा मम्मट) 'कर्मणि कुशलः' (कार्य में दृष्ट) दिया करते हैं और इसका यह अर्थ बताया करते हैं—'यहाँ 'कुशल' शब्द लाक्षणिक शब्द है क्योंकि इस शब्द की 'श

गतीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशप्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवनं विवेचकत्वादि-
ग्राह्यस्यैव सन्ध्यासम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति । तदन्ये न मन्यन्ते । कुशप्राहि-
रूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात् । अन्यद्वि शब्दानां
युत्पत्तिनिमित्तमन्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तम् । व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौ शेते'
त्यत्रापि लक्षणा स्यात् । 'गमेर्दोः' (उणादि-२।६७) इति गमधातोर्दोप्रत्ययेन
युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात् ।

गति (छिनत्ति) इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध जो 'कुश उखाड़ने वाला' यह मुख्य अर्थ है वह यहाँ असङ्गत किंवा अनुपपन्न है और इस असङ्गति अथवा अनुपपत्ति के तिराकरण में यह शब्द 'दत्त' अथवा 'निपुण' रूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन किया करता है क्योंकि इस शब्द के 'कुशोत्पाटक' रूप मुख्यार्थ और 'दत्त' अथवा 'निपुण' रूप लक्ष्यार्थ एक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध 'साधर्म्य' का सम्बन्ध है क्योंकि कुश उखाड़ने वाले जैसी विवेचकता हुआ करती है वैसी ही विवेचकता किसी कार्य के सुचारु रूप से सम्पादन करने वाले में भी आवश्यक है। किन्तु दूसरे लोग (जिनके साथ साहित्य-परिणकार भी सहमत हैं) यहाँ यह सब ठीक नहीं समझते और उनका ऐसा समझना उचित भी है क्योंकि भले ही 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'कुश का उखाड़ने वाला' हो, इसका जो प्रसिद्ध अर्थ है वह तो 'दत्त' अथवा 'निपुण' ही है। क्योंकि वात यह है कि शब्दों की व्युत्पत्ति और शब्दों की प्रवृत्ति (व्यवहार) के निमित्त एक नहीं अपितु भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं (इस प्रकार 'कुशल' शब्द की व्युत्पत्ति—प्रकृति-प्रत्यय-वेभागक्षपना-से 'कुशोत्पाटक' अर्थ भले ही निकला करे किन्तु इस शब्द का व्यवहार तो एकमात्र 'दत्त' अथवा 'निपुण' अर्थ में ही हुआ करता है। इसमें क्या प्रमाण कि व्युत्पत्ति-निमित्तक अर्थ ही मुख्यार्थ हो और वह अर्थ जो प्रवृत्तिनिमित्तक हो मुख्यार्थ न हुआ करे ! हमसे यही सिद्ध है कि 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ 'दत्त' है।) क्योंकि व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ ही यदि सर्वत्र मुख्यार्थ हुआ करे तब तो 'गौ. श्रोते'—'गौं श्रोती है' यहाँ भी लक्षणा ही हुआ करेगी क्योंकि 'गौ' शब्द की व्युत्पत्ति है—'गच्छतीति गौः', जिसमें गमनार्थक 'गच्छ' (गम्) धातु से 'गमेटी' इय उणादि (२-६७) सूत्र के अनुसार 'हो' प्रत्यय लगा हुआ है जेससे इसका वाचकरूप से प्रयोग तभी उचित है जब कि गौ चलती रहा करे। पाय-थैल के लिये उनके सोते समय तो 'गौ' शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता (और यदि होता है और अवश्य होता है तब तो यही मानना पड़ेगा कि 'गौः श्रोते' आदि प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग हैं)।

विमर्श—(क) पञ्चा को 'ममारोपित शब्दव्यापार' बटने का यही अनिर्माय है जो कि उसे 'मान्तरार्थभिष्ट' बटने का है। साम्प्रदायिक के व्याख्यान आचार्य यन्ताकर ने पञ्चा को 'मान्तरार्थभिष्ट' होने का यही अनिर्माय लिया है—

‘अन्तरमुख्येन व्यवधानं तेन सहितो योऽर्थस्तीरादिस्तद्विष्ट एव निरूपितमग्र्यव्यवस्थस्य
रसावृत्तित्वात् सत्यमिति । * * * मुखापार्यधीर्पूर्वस्यान् व्यवहितार्थनिष्ठापि मुख्यमग्र्यव्यवस्थ-
निरविपर्ययाद्बृहत्तेर्विषयतासंयन्धेन तद्वन्निष्ठेऽर्थः ।’

अर्थात् यन्त्रों को सज्जा करके अर्थ-साधन के कर्तव्य बताने का मुख्यार्थ है। ऐसी चिकित्सा करने का चरम के अनुपपन्न हो जाने पर अर्थ में किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बन्ध रखता अर्थोपपन्न हुआ जाता है। यन्त्र इस मुख्यार्थ के साधन को सज्ज करके हमारे आगे रखा गया है। यन्त्रों को सज्ज करने का मुख्यार्थ है। यन्त्रों को सज्ज करने का मुख्यार्थ है। यन्त्रों को सज्ज करने का मुख्यार्थ है।

(लक्षणा के भेद-प्रभेद १ म = उपादानलक्षणा)

तद्भेदानाह—

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये ।

स्यादात्मनोऽप्युपादानादेपोपादानलक्षणा ॥ ६ ॥

प्रदीपकार का भी यही कथन है—

‘शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयवाच्यत्वे आरोपित एव स व्यापार । वस्तुतोऽर्थनिष्ठ एव । तदेतदुक्तम्—‘सान्तरायनिष्ठ’ इति ।’

अर्थात् वस्तुतः तो लक्षणा अर्थनिष्ठ शक्ति है । इसे शब्दशक्ति प्रत्यये कहा करते हैं क्योंकि अर्थव्यापार को शब्दव्यापार के रूप में मान लिया करते हैं । अभिधा जैसे शब्द का ‘शक्यार्थ विषयक’ व्यापार है वैसे ही लक्षणा शब्द का ‘शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयक’ व्यापार है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने रूढि को लक्षणाप्रयोजक तो अवश्य माना है किन्तु ‘कर्मणि कुशल’ इस प्रयोग में मम्मटनिर्दिष्ट रूढिलक्षणा के सण्टन के लिये या मित्र किया है कि ‘कुशल’ शब्द लाक्षणिक नहीं अपि तु वाचक है । काव्यप्रकाशकार ने तन्त्रवार्तिककार आचार्य कुमारिल भट्ट का मान्यता के आधार पर ‘कुशल’ शब्द में निरूढलक्षणा माना है और संज्ञादर्शनमयप्रकार आचार्य सायणमाधव ने काव्यप्रकाशकार का ही समर्थन किया है—

‘तत्र कर्मणि कुशल इत्यादि रूढिलक्षणाया उदाहरणम् । कुशाह्लातीति व्युत्पत्त्या दर्भादानकर्तरि यौगिक कुशलपद विवेचकत्वसारूप्यात् प्रवीणे प्रवर्तमानमनादिदृष्ट व्यवहारपरम्परानुपात्तिस्थेनाभिधानवत् प्रयोजनमनपेक्ष्य प्रवर्तते तदाह—‘निरूढा लक्षणा काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्’ इति ।’ (संज्ञादर्शनमय पातञ्जलदर्शन)

यहाँ साहित्यदर्पणकार की यह युक्ति है—‘शब्द का मुख्यार्थ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही नहीं अपि तु प्रवृत्तिलभ्य भी हुआ करता है । और इस प्रकार ‘कुशल’ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भले ही लक्षणा का उत्पादक हो किन्तु उसका जो प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है अर्थात् दृष्ट अथवा प्रवीण वह तो यही सिद्ध करता है कि कुशल शब्द वाचक शब्द है, लाक्षणिक नहीं ।’

अनुवाद—जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ में, अपर स्वरूप का परित्याग किये बिना भी, अपने अन्वय अर्थात् अन्य पदार्थ के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध की सिद्धि के लिये, अपने से भिन्न किसी अर्थ का आक्षेप अथवा प्रत्यायन किया करता है वह शक्ति ‘उपादानलक्षणा’ कही जाया करती है ।

विमर्श—‘उपादानलक्षणा’ का शब्दार्थ ही यह बता देता है कि इस प्रकार की लक्षणा शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग नहीं किया करता (उपादीयते मुख्यार्थेऽप्यनयेति उपादानलक्षणा) । काव्यप्रकाशकार ने इसीलिये ‘उपादान’ का यह अभिप्राय बताया है—

‘स्वसिद्धये पराक्षेप उपादानम्’ (काव्यप्रकाश २ १०)

अर्थात् ‘उपादान’ वह है जिसे वाच्यार्थ का, अपने अन्वय की उपपत्ति अथवा सिद्धि के लिये, अपने से भिन्न अर्थ का आक्षेप करना कहा जाता है । काव्यप्रकाशकार के इसी अभिप्राय का ‘प्रदीप’कार ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

‘स्वार्थपरित्यागेन परार्थलक्षणमुपादानम्’

अर्थात् स्वार्थपरित्याग के बिना ही स्वार्थभिन्न अर्थ का प्रत्यायन ‘उपादान’ है ।

यह ‘उपादानलक्षणा’ ही वैयाकरणों की ‘अजहत्स्वार्था वृत्ति’ है जिसका बड़ा सुन्दर उदाहरण ‘काकेभ्यो दधि रक्षयताम्’ यह प्रयोग है जहाँ ‘काक’ शब्द अपने वाच्यार्थ के

(उदाहरण निरूपण)

रुडावुपादानलक्षणा यथा—‘श्वेतो धावति’ । प्रयोजने यथा—‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ । अनयोर्हि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्वायनप्रवेशनक्रिययोः कर्तृतयान्वयमलभमानैरेतत्सिद्धये आत्मसम्बन्धिनोऽश्वादयः पुरुषादयश्चाक्षिप्यन्ते । पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद्गुणः, उत्तरत्र तु कुन्तादीनामतिगहनत्वं प्रयोजनम् । अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानम् । लक्षणलक्षणायां

नन्वेतद्वै ही एक वाच्यार्थनिर्णयार्थ अर्थात् ‘अभ्युपगान्तं प्राणिमात्रं’ का अवबोध काना वस्तुतः ही आचार्य भर्तृहरि—(वाचस्पतीय २ ३१४) की इस प्रसङ्ग में यह उक्ति बड़ी सुन्दर है—

‘काकेभ्यो रक्षयतां सर्पिरिति चालोऽपि चोदितः ।

उपघातपरे वास्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति ॥’

अर्थात् यदि किन्ता वाक्क को भी रक्षा जाय—‘काकेभ्यो रक्षयतां सर्पिः’ (अथवा—रक्षि) तो वह वाच्य नम्रप्रता है—‘उपघातकेभ्यो रक्षयतां सर्पिः’ । इसमें यहाँ स्पष्ट है ‘वाक्क’ पद का जो वृत्ति है वह ‘अजहन्वायां वृत्ति’ है अर्थात् मुख्यार्थ के अन्तर्गत नुवार्थनिर्णयार्थ अर्थ के अन्तर्गत की वृत्ति (शक्ति) है ।

‘नुवा’—यह उपादानलक्षणा ‘रुटि’ अथवा प्रयोग-प्रवाह की दृष्टि में ‘श्वेतो धावति’—‘स्फोट दोह रहा है’ इत्यादि प्रसङ्गों में और ‘प्रयोजन’ अथवा अभिप्राय-विशेष के प्रकाशन की दृष्टि से ‘कुन्ताः प्रविशन्ति’—‘भाले प्रवेश कर रहे हैं’—इत्यादि प्रसङ्गों में देनी जा सकती है । यहाँ पहले अर्थात् ‘श्वेतो धावति’ और दूसरे अर्थात् ‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ इत्यादि उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि ‘श्वेत’ (स्फोट रंग) और ‘कुन्ता’ (भाला) दोनों चेतना-शून्य वस्तुएँ हैं और इसलिये अपने आप में न तो ‘श्वेत’ ही दौड़ने की क्रिया के कर्ता के रूप में सम्यक् प्रतीत हो सकता है और न ‘कुन्ता’ को ही प्रवेश करने की क्रिया के कर्ता के रूप में समन्वित नम्रता जा सकता है । अब इन वाच्यों में ‘श्वेत’ और ‘कुन्ता’ रूप पदार्थों के दौड़ने और प्रवेश करने की क्रियाओं के कर्ता के रूप में समन्वित होने के लिये यह आवश्यक है कि ये अपने में भिन्न किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध (समवाय अथवा सयोग) से सम्यक् अर्थों जैसे कि ‘घोड़े’ और ‘नुम्य’ आदि का लक्षण अथवा प्रत्यायन करा दें । यहाँ पहला अर्थात् ‘श्वेतो धावति’ आदि उदाहरण तो रुटि में उपादानलक्षणा का उदाहरण है क्योंकि इसमें किसी अभिप्रायविशेष का प्रकाशन नहीं किया जा रहा (इस प्रकार की भाषा तो वस्तुन प्रतिदिन के व्यवहार में दिव्यायी दिया करती है) । किन्तु दूसरे अर्थात् ‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ आदि के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट ही है कि यहाँ एक अभिप्राय-विशेष का प्रकाशन किया जा रहा है और वह अभिप्राय-विशेष है—‘कुन्ता (भाला) की अतिगहनता—किसी घने जगल के वृक्षों की भी अमंग्येयता’ (जिसके देखने लोग भाग पड़े हों) ।

‘उपादानलक्षणा’ इस नाम से ही यह सिद्ध है कि इस लक्षणा में शब्द का मुख्यार्थ अपने से भिन्न अर्थों को तो दृष्टि दिया ही करता है किन्तु अपने आप को भी छोड़ा नहीं करता । वस्तुतः इसीलिये यह लक्षणा, ‘लक्षणलक्षणा’ से, (जिसका अर्थ प्रतिपादन किया जायगा) जिसमें शब्द का मुख्यार्थ, अपने आप को छोड़-छाड़कर अपने से भिन्न अर्थों को ही केवल लक्षित किया करता है, मंग्यता भिन्न प्रकार की लक्षणा

तु परस्यैवोपलक्षणमित्यनयोर्भेदः । इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते ।

(२यं लक्षणलक्षणा)

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परम्यान्वयसिद्धये ।

उपलक्षणहेतुत्वादेपा लक्षणलक्षणा ॥ ७ ॥

हुआ करती है। 'उपादानलक्षणा' को ही 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' भी कहा करते (क्योंकि 'उपादान'-मुख्यार्थ का अपने स्वरूप को ग्रहण किये रहना और 'स्वार्थ परित्याग न करना' दोनों एक ही बातें हैं) ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'उपादानलक्षणा' और 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' को एक शब्दशक्ति मान कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आलंकारिकों और वैयाकरणों लक्षणा के स्वरूप के सम्बन्ध में एकमत्य है और जो भा भेद है वह व्यपेक्षभेद से नाम का भेद है। महावैयाकरण नागेशमठ ने भी 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' के विवेचन में 'उपादान' अभिप्राय अन्तर्भूत ही रखा है—

'स्वार्थसवलितपरार्थाभिधायिकाऽजहत्स्वार्था । तेन 'छत्रिणो यान्ति', 'कुन्त प्रवेशय', 'यष्टीः प्रवेशय', 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ छत्रिसहितसेना-कुन्ता सहितपुरुष-न्यष्टिसहितपुरुष-काकसहितसर्वदध्युपघातकयोध ।'

(परमलघुमञ्जूषा लक्षणाविवा
अर्थात् जिस वृत्ति को 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' कहा जाया करता है उसमें स्वार्थसवलित प के प्रत्यायन का ही रहस्य छिपा रहता है ।

यह 'स्वार्थसवलितपरार्थाभिधान' और 'उपादान' 'स्वसिद्धये पराक्षेपः'.....'उपादान वस्तुतः एक ही वस्तु के दो नाम हैं ।

अनुवाद—जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ में, अ स्वरूप का इसलिये सर्वथा परित्याग कर दिया करता है जिससे वहा उससे भिन्न (कि किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध) किसी अर्थ का युक्तियुक्त समन्वय स्थापित हो जा और ऐसा करते हुए वह (मुख्यार्थ) एकमात्र लक्ष्यार्थ का उपलक्षक बन जाया करता वह शब्दशक्ति 'लक्षणलक्षणा' कही जाया करती है ।

विमर्श—'लक्षणलक्षणा' में 'उपादान' के विपरीत 'लक्षण' का सिद्धान्त लागू हुआ का है । 'लक्षण' का अभिप्राय है—'परार्थ स्वसमर्पणम्' (काव्यप्रकाश २-१०) अर्थात् अनुप षोने वाले मुख्यार्थ का, मुख्यार्थभिन्न अर्थ के लिये आत्मसमर्पण । प्रदीपकार ने इसीलिये 'लक्ष की यह परिभाषा की है—

'स्वार्थपरित्यागेन परार्थलक्षणं लक्षणम् ।'

अर्थात् 'उपादान' तो 'स्वार्थापरित्यागपूर्वक' परार्थ को लक्षित करना है और जो 'लक्षण' है उसका अभिप्राय है 'स्वार्थपरित्यागपूर्वक' परार्थ को लक्षित करना ।

यह 'लक्षणलक्षणा' ही 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' कही जाती है । काव्य-शास्त्र-न्याख्याता आचार्य मणिनाथ ने 'उपादान' और 'लक्षण' अर्थात् 'स्वार्थापरित्याग' और 'स्वार्थपरित्याग' पर आश्रित लक्षणाओं के भेदद्वय का इसी प्रकार निर्देश किया है—

'स्वार्थत्यागे समानेऽपि सह तेनान्यलक्षणा ।

यत्रैयमनजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था तु त विना ॥'

(उदाहरण-निरूपण)

रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा यथा-‘कलिङ्गः साहसिकः’ ‘गङ्गायां घोषः’ इति च । अनयोर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये कलिङ्गगङ्गाशब्दावात्मानमप्यतः ।

यथा वा—

‘उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।

विदधदीदृशमेव सदा सखे ! सुखितमास्त्व ततः शरदां शतम् ॥’

परमलघुमजूपाकार को भी दृष्टि में नक्षगलक्षणा अथवा ‘जहत्स्वार्था वृत्ति’ का यही स्वरूप है—

‘स्वार्थपरित्यागेनेतरार्थाभिधायिकाऽन्या (जहत्स्वार्था) तत्परित्यागश्च शक्यार्थस्य लक्ष्यार्थान्वयिनाऽनन्वयिरवम ।’

अर्थात् ‘जहत्स्वार्था वृत्ति’ वह वृत्ति है जो कि स्वार्थनित्यागपूर्वक परार्थ को अभिधायिका वृत्ति है । जैसे कि ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादि में ‘गङ्गा’ पद में ‘जहत्स्वार्था वृत्ति’ है क्योंकि यहाँ गङ्गापद अपने (शक्यार्थरूप) ‘प्रवाह’ अर्थ का परित्याग कर रहा है । ‘गङ्गा’ शब्द के ‘स्वार्थपरित्याग’ का यही तात्पर्य है कि यहाँ ‘गङ्गा’ शब्द अपने लक्ष्यार्थभूत तट के साथ आधारार्थमन्वन्ध से सबद्ध घोषरूप अर्थ से अनन्वित हो रह जाता है क्योंकि प्रवाह और घोष में आधारार्थमन्वन्ध से क्या मन्वन्ध । निष्कर्ष यहाँ है कि ‘जहत्स्वार्था वृत्ति’ अथवा ‘लक्षगलक्षणा’ केवल परार्थनाश का प्रतिपादन करने वाली शब्दशक्ति है ।

अनुवाद—यह लक्षणा भी ‘रूढि’ और ‘प्रयोजन’ दोनों अवस्थाओं में हुआ करती है । जैसे कि रूढि में—‘कलिङ्गः साहसिकः’—‘कलिङ्ग साहसी है’ और प्रयोजन के प्रतिपादनार्थ, जैसे कि—‘गङ्गायां घोषः’—‘यह कुटी (अथवा आभीरपल्ली) गङ्गा पर है ।’ यहाँ पहली अर्थात् ‘रूढिलक्षणा’ में यह स्पष्ट है कि ‘कलिङ्ग’ शब्द (जिसका मुख्यार्थ एक प्रान्तविशेष—एक जड़ वस्तु—है और इसलिये जिसमें ‘साहस’ जैसे चेतन पदार्थ के धर्म का समन्वय असंभव है) अपने स्वरूप और मन्भाव को इसलिये सर्वथा छोड़ चुका है जिससे इससे लपित होने वाला, इससे सर्वथा भिन्न अर्थ अर्थात् कलिङ्गनिवासी व्यक्ति-विशेषरूप अर्थ, यहाँ (जैसा कि युक्तियुक्त ही है) समन्वित हो जाय । दूसरी अर्थात् ‘प्रयोजनवती लक्षणा’ में भी यह निःसंदिग्ध है कि ‘गङ्गा’ शब्द (जिसका मुख्यार्थ जल की धारा है जो कि कुटी अथवा आभीरपल्ली के अधिकरण (आधार) होने के कदापि योग्य नहीं) अपने आपको, अपने लक्ष्यार्थ अर्थात् ‘तट’ रूप अर्थ के लिये सर्वथा सौंप चुका है क्योंकि ‘तट’ रूप लक्ष्यार्थ ही यहाँ वाक्यार्थ में युक्तियुक्त हो सकता है जैसा कि वस्तुतः प्रतीत ही हो रहा है (‘गङ्गातटे घोषः’ के बदले ‘गङ्गायां घोषः’ का प्रयोग इसीलिये किया जाया करता है जिसमें गङ्गा की क्षीतलता और पवित्रता कुटी के वातावरण के रूप में प्रतीत हो जाया करे) ।

अथवा निम्न उदाहरण में ‘प्रयोजनवती लक्षणा’ देर ली जायः—

(किसी कुटिल व्यक्ति के प्रति उसके किसी महदय मित्र की मार्मिक उक्ति)—

‘अरे मित्र ! तुमने जो मेरी भलाइयाँ की हैं उनका कहीं तक परतान करूँ ! अरे ! तुमने तो अपना सभी सौजन्य मुझ पर प्रकट कर दिया !! बस ऐसा ही करते जाओ और जीवनभर, भगवान् करे, सुखी रहा करो !!!’

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमयन्ति । अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनान्मुख्यार्थवाधो वैपरीत्यलक्षणः सम्बन्धः, फलमप्यपकारातिशयः । इयमेव जहत्स्वार्थेत्युच्यते ।

(उपर्युक्त लक्षणाओं के निमित्त-भेद ने अन्य भेद)

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ताः पूर्वोक्ताश्चतुर्भेदलक्षणाः ।

यहाँ 'उपकृत', 'सुजनता' आदि-आदि शब्द अपने मुख्यार्थ से सर्वथा भिन्न अजैसे कि 'अपकार', 'दुर्जनता' आदि-आदि के आगे आत्ममर्पण किये पड़े हैं क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ में इन लक्षित अर्थों का ही सम्बन्ध समव है और युक्तिमिद भी है । या 'लक्षणा' का स्वरूप इस प्रकार प्रकाशित हो रहा है—(मुख्यार्थवाधो) 'उपकृत', 'सुजनता' आदि शब्दों का अपना-अपना मुख्यार्थ अनुपपन्न होने से बाधित है क्योंकि कुटिल का व्यवहार करने वाले को भला क्योंकि कोई उपकारी और सौजन्यपूर्ण कह सके । सा ही साथ (मुख्यार्थ, योग) यहाँ 'उपकार' और 'अपकार', 'सुजनता' और 'दुर्जनता' आदि-आदि मुख्य और लक्ष्य अर्थों में एक सम्बन्ध भी स्पष्ट है जो कि 'वैपरीत्य' रूप सम्बन्ध है । इस प्रकार के प्रयोग का एक प्रयोजन भी है जो कि यहाँ कुटिल मित्र व कुटिलता (और वक्ता की सुजनता) की पराकाष्ठा का प्रतिपादन है ।

यह लक्षणलक्षणा ही 'जहत्स्वार्थ वृत्ति' कही जाया करती है क्योंकि 'लक्षण'—अर्था शब्द का स्वार्थसमर्पणपूर्वक परार्थ का प्रतिपादन तथा 'अपने अर्थ को छोड़ छाड़ देन दोनों एक ही बातें हैं ।

विमर्श—'उपकृतम्' आदि सूक्ति में साहित्यदर्पणकार ने 'लक्षणलक्षणा' का जो दिग्दर्श किया है वह आचार्य मम्मट के 'शब्दव्यापारविचार' (पृष्ठ ४) में इस प्रकार विभक्त रूप निर्दिष्ट है—

'यथा वा 'उपकृतम्' • • बहुभिरपकारस्ताप्यमानस्य कस्यचिदुक्तिरियम् । अतः वक्तृमहिम्ना मूर्खे बहुस्पतिशब्देन मूर्खत्वमिवापकारिणि दुर्जनत्वाद्यत्र लक्ष्यते ।' और इसका जो तात्पर्य है वह यह है—'यत् त्वया बहु उपकृतं तद्विषये किं वाच्यम् । बहुत्वा 'उपकाराणां वक्तुं न शक्यते इत्यर्थ' । भवता पर केवल सुजनता प्रथिता प्रकटीकृता है सखे । तस्मादीदृशमेव सदा विदधत् शरदां वर्षाणां शत सुखितं सुखयुक्तं यथा स्नातया आस्त्व तिष्ठेति मुख्योऽर्थः । स च प्रकरणादिना बुद्ध्यापकारिभाव प्रति बाधितः सन् विपरीत लक्ष्यति । तद्यथा—उपकृतमपकृतम् सुजनता दुर्जनता ।'—(उदाहरण चन्द्रिका)

ऐसे प्रसङ्गों में लक्षणा के स्वरूपविचार के लिये मम्मट द्वारा उद्धृत यह वचन स्मरण रखना चाहिये—

'वक्तृवाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदाद्विभिद्यते ।'

अनुवाद—उपर्युक्त लक्षणाओं में भी 'आरोप' और 'अध्यवसान' के कारण दो-दो भेद दिखायी दिया करते हैं ।

यहाँ 'उपर्युक्त लक्षणाओं' का अभिप्राय है—चारों प्रकारों की लक्षणाओं का ।

विमर्श—'आरोप' और 'अध्यवसान' उपचार के ही रूपभेद किंवा प्रकारभेद हैं । उपचार का व्यापक अर्थ भी है और पारिभाषिक भी । व्यापक अर्थ में उपचार का तात्पर्य है—

‘अतद्भावेऽपि तदुपचार’ (न्यायनूत्र २० ६१) अर्थात् किं नान्य-विशेष के कारण किं वस्तु का उसके अवाचक पद द्वारा व्यपदेश अथवा अभिधान। न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन ने इसे इस प्रकार समझाया है—‘अतद्भावेऽपि तदुपचार इति—अतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति। सहचरणाद् यष्टिकां भोजयेति, यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयते। आचार्य उद्योतकर के अनुसार उक्त ‘उपचार’ का यह स्वरूप है—

‘निमित्तादतद्भावेऽपि तदुपचारः।’ यथा यष्टिकाशब्देन द्रव्यविशेषोऽभिधीयते इति यष्टिकाशब्दात् पुनः साहचर्याद् ब्राह्मणविशेषोऽभिधीयते। ‘किं पुनरुपचारबीजं यष्टिका ब्राह्मण इति।’ यष्टिकायां तावदयं यष्टिकाशब्दो जातिनिमित्तः यष्टिकात्वं जातिः सा यष्टिकायां वर्तते तथा यष्टिकाव्युक्त्या यष्टिकया ब्राह्मणस्य योगः साहचर्यात् व्युक्तपमवेता जाति ब्राह्मणोऽप्यारोप्य ब्राह्मण यष्टिकेत्याह। एव शेषाण्युपचारबीजानि स्वयमुपेक्षणीयानि।’ —(न्यायवार्तिक २० ६१)

अर्थात् किन्तों न किन्तों निमित्तविशेष से किन्तों अन्य वस्तु के लिये किन्तों अन्य वस्तुवाचक शब्द का प्रयोग करना ‘उपचार’ है। जैसे कि ‘यष्टिका भोजय’ अष्टि प्रयोगों में निम्नलिखित ब्राह्मणादि के लिये ‘यष्टिका’ शब्द का प्रयोग ‘उपचार’ है। उपचार के अनेकानेक बीज अथवा निमित्त समर्थ हैं। ‘यष्टिका’ शब्द जानिवाचक शब्द है जिसका अर्थ है ‘उटी’। ‘ब्राह्मण’ के लिये ‘यष्टिका’ (पूजा) शब्द के प्रयोग में ‘ब्राह्मण’ और ‘यष्टिका’ का साहचर्य ही निमित्त है। इसी प्रकार अन्य औपचारिक प्रसङ्गों में अन्य उपचार बीज देखे जा सकते हैं।

अल्ङ्कारशास्त्र में ‘उपचार’ शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार ‘उपचार’ का अभिप्राय है—‘अत्यन्तं विशदकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीति-रुपगममाद्यम्’ अर्थात् परस्पर भिन्न दो वस्तुओं में, उनके सादृश्यातिशय के कारण, भेद के अभाव का स्थिति हो जाना। ‘उपचार’ के अन्तिम में लक्षणा ‘शुद्धा’ कहा जाता है। उभयरूपा चेय शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्—(काव्यप्रकाश, उल्लास २)—यह काव्यप्रकाशकार का ‘उपचार विचार’ साहित्यदर्पणकार के ‘उपचान्तरक्षण’ से प्करण है। ‘प्रतीप’कार ने इसलिये दोनों का नामादय निर्दिष्ट किया है—

‘उपचारश्च सादृश्यसंयन्धेन प्रवृत्तिः, सादृश्यातिशयमहिम्ना भिन्नयोर्भेदप्रतीतिरुपगमनं वा।’ अर्थात् सादृश्यसंयन्ध से शब्दप्रयोग ‘उपचार’ है अथवा यह भी कह सकते हैं कि सादृश्यातिशय के कारण परस्पर भिन्न दो वस्तुओं के भेद की प्रतीति का स्थिति होना ही ‘उपचार’ है।

इस प्रसंग होता है कि आल्ङ्कारिका ने, व्यापक किंवा पारिभाषिक दोनों अर्थों में ‘उपचार’ शब्द का प्रयोग किया है। जैसे कि काव्यप्रकाशकार ने ही अपनी उक्त्युक्त श्रुति में ही ‘उपचार’ का अन्तिम सादृश्यातिशय से निर्मा करने के लिये किन्तों अन्यवस्तुवाचक शब्द का प्रयोग किया है किन्तु ‘वचितादव्याप्तुपचार’ अष्टि श्रुति प्राय में उपचार को अन्तिमिच्छक का निर्दिष्ट कर दिया है। प्राचीन अल्ङ्कारशास्त्र में ‘उपचार’ के मन्दन्ध में दोनों विचारधारायें मिलती हैं। अभिधाश्रुतिनाम्नाकार आचार्य सुकुमार भट्ट ने ‘उपचार’ के सामान्य और विशेषादि दोनों अर्थों को मिला कर ‘सुतोपचार’ और ‘नीतोपचार’ का निदान स्थापित किया है। परन्तु इसका नाम प्रभाव काव्यप्रकाशकार के उपचान्तरण-अभिप्राय-विचार पर पड़ा है। साहित्यदर्पणकार ने केवल ‘सादृश्यातिशय’-निमित्तक उपचार को ही उपचार माना है। किन्तु इसका अन्तर्गत में भी ‘अतीत’ और ‘अवगत’ की मानने हुए उपचार का सामान्य अर्थ स्थापित किया है।

(सारोपा और साध्यवसाना लक्षणों)
 विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत ॥ ८ ॥
 सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ।

अनुवाद—वह लक्षणा 'सारोपा' लक्षणा कही जाया करती है जिसमें 'विषय' (अथ आरोप विषय—जिस पर आरोप किया जाय) अपने स्वरूप में विराजमान रहते हुये अपने से भिन्न अर्थात् विषयी (अर्थात् आरोप्यमाण—जिसका आरोप किया जाय, उन् के साथ एकरूप-अभिन्न प्रतीत हुआ करता है। और वह लक्षणा जिसे 'साध्यवसानिका' लक्षणा कहा करते हैं ऐसी हुआ करती है जिसमें 'विषयी' के द्वारा आच्छन्न-स्व 'विषय' के अभेद का अनुभव हुआ करता है।

विमर्श—'आरोप' (अध्यारोप) का अभिप्राय है दो परस्पर भिन्न पदार्थों का 'मामाधिकरण्य' द्वारा निर्देश। परस्पर भिन्न दो पदार्थों का 'मामानाधिकरण्य' द्वारा निर्देश त समव है जब कि सादृश्यातिशय के कारण उनमें अभेद अभिप्रेत हो। आचार्य मुकुलभट्ट 'आरोप' का उपर्युक्त अभिप्राय इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यत्राध्यारोप्यारोपविषययोर्भेदमनपह्नुर्येव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते, तत्रानप्यस्वरूप एव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्याधिकस्यारोप्यमाणत्वाद्ध्यारोपः ।' तथा हि—आयुमित्यत्र नायुर्लक्षणकार्यान्तर्लिनतया कारणभूतस्य घृतस्य प्रतिपत्तिः । स्वरूपेणैव प्रतिपत्ते । स्वरूपेणैव तु तस्य प्रतीयमानस्यायुःकारणत्वादायुष्ट्वं प्रतीयते । तेनाध्यारोपः । एव गौर्वाहीक इत्यत्राप्युपमानोपमेयस्वरूपानपह्नुवात् । तदेवं यत्रोपचर्यमाणोपचर्यमाणविषयस्य स्वरूपं नापह्नुर्यते तत्राध्यारोपः ।' (अभिधावृत्तिमात्रिका, पृष्ठ ८)

अर्थात् आरोप का अभिप्राय है 'अध्यारोप' का। 'अध्यारोप' दो की अपेक्षा करता है—(१) अध्यारोप्य और (२) आरोपविषय। जब 'अध्यारोप्य' और 'आरोपविषय' के परस्पर भेद को बिना छिपाये ही पहली वस्तु पर दूसरी वस्तु का, जो उससे अधिक गुण वाली हो आरोप किया जाय, पहली के लिये दूसरे के वाचक पद का प्रयोग किया जाय, तब वहा यह समझा जाता है कि 'अध्यारोप' हुआ है। जैसे कि—'आयुष्टम्' इस प्रयोग में 'अध्यारोप' है। यदा यह स्पष्ट है कि 'घृत' और 'आयु' परस्पर भिन्न वस्तुयें हैं। 'घृत' आयुवृद्धि का कारण है और 'आयु' घृत-सेवन का फल है। अब 'घृत' को अर्थात् (आयुष्य के) कारण को 'आयु' अर्थात् कार्य कहना उपचार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। यह उपचार ऐसा है जिसमें विषय और विषयी दोनों अपने-अपने वाचक शब्दों द्वारा उपस्थित किये गये हैं। इसी प्रकार 'गौर्वाहीक' आदि प्रयोगों में भी 'उपचार' ही है जहा उपचर्यमाण-विषय (आरोपविषय) 'वाहीक' किंवा उपचर्यमाण (आरोप्यमाण अथवा विषयी) 'गौ'—दोनों अपने स्वरूप में विद्यमान हैं और दोनों का 'सामानाधिकरण्य' भेद में भी अभेदावभास का साधक बन रहा है।

'अध्यवसान' का तात्पर्य है—आरोप विषय (जैसे कि 'गौरयम्' में 'अयम्'—कोई निर्दिष्ट पुरुष विशेष) का आरोप्यमाण (जैसे कि 'गौरयम्' में गौ) में अन्तर्लय, जिसमें 'आरोपविषय' का स्वरूप धृक् न प्रतीत हुआ करे। आचार्य मुकुलभट्ट के शब्दों में 'अध्यवसान' का यही स्वरूप निर्दिष्ट है—

'यत्र उपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणोऽन्तर्लिनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नव' क्रियते तत्राध्यवसानम् ।'—(अभिधावृत्तिमात्रिका, पृष्ठ ८)

(उपर्युक्त लक्षणा-भेदों के उदाहरण)

विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्सारोपा ।
इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम् ।

रूढावुपादानलक्षणा सारोपा यथा—‘अश्वः श्वेतो धावति’ । अत्र हि
श्वेतगुणवानश्वोऽनिगीर्णस्वरूपः स्वसमवेतगुणतादात्म्येन प्रतीयते ।

प्रयोजने यथा—‘एते कुन्ताः प्रविशन्ति’ । अत्र सर्वनाम्ना कुन्तधारिपुरुष-
निर्देशात् ।

‘आरोप’ और ‘अध्यवसान’ की सरल परिभाषा यह है—

आरोपविषयविषयिणोर्भेदेनोपन्यास आरोपः ।

अर्थात् आरोप विषय और आरोप्यमात्र (विषयी) का भेदपूर्ण जो उपन्यास है वह ‘आरोप’ है ।

अध्यवसानविषयिणा विषयतिरोभावोऽध्यवसानम् ।

यार्थ आरोप्यमात्र (विषयी) के द्वारा आरोप-विषय का जो तिरोभाव अथवा स्वरूपापह्नव
है ‘अध्यवसान’ है ।

अनुवाद—लक्षणा के ‘सारोपा’ होने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की लक्षणा
आरोप के विषय और उसके विषयी में ऐसा अन्वय घटलाया करती है जिसमें ‘विषय’
। स्वरूप ‘विषयी’ के द्वारा टका-टकाया नहीं प्रतीत हुआ करता । यही लक्षणा वस्तुतः
एक-जलझार का बीज है । उदाहरण के लिये, रूढ़ि में आरोपगर्भित उपादान लक्षणा
रूढोपादानसारोपा)—‘अश्वः श्वेतो धावति’ ‘सफेद घोड़ा दौड़ रहा है’ इत्यादि में
गी जा सकती है । यहाँ सफेद रंग वाला घोड़ा दौड़ रहा है यही अभिप्राय निकला
रता है । वस्तुतः यात यह है कि ‘सफेद रंग वाला घोड़ा’ न कहकर ‘सफेद घोड़ा’ ही
हा जाया करता है क्योंकि इस प्रकार के प्रयोग की एक रूढ़ि अथवा परम्परा चली
। रही है । साथ ही साथ यहाँ ‘श्वेत’ शब्द एक रंगविशेष का अभिप्राय रखने के कारण
शुद्धता है । इस क्रिया के साथ असम्बन्धार्थक सा होकर, इस वाक्यार्थ में समन्वित हो
। कने के लिये, अपने मुख्यार्थ को बिना छोटे-छोटे भी, अपने से भिन्न (किन्तु समवाय
सम्बन्ध से सम्बद्ध) ‘श्वेत गुण युक्त’ रूप पदार्थ का बोधक हो रहा है और इस प्रकार
। यहाँ ‘उपादान’ का विद्वान्त सर्वथा लागू दिग्यायी दे रहा है । इसके अतिरिक्त यहाँ
आरोप’ भी स्पष्ट है क्योंकि आरोप के विषय ‘अश्व’ का स्वरूप विषयी अर्थात् ‘श्वेत’ से
का नहीं है (क्योंकि दोनों साक्षात् शब्दतः प्रतिपादित हैं) और तब भी ‘अश्व’ रूप
य और उसमें समवायसम्बन्ध से रहने वाला श्वेत रूप गुण दोनों परस्पर अभिन्न
य से घटाये जा रहे हैं (क्योंकि बिना ऐसा हुये ‘श्वेत’ और ‘अश्व’ शब्दों का समाना-
धिकरण्य = समान विभक्ति द्वारा उपादान-कदापि नहीं हो सकता) ।

प्रयोजन की दृष्टि में, उपादानयुक्ती सारोपा लक्षणा (प्रयोजनयुक्ती उपादाना
सारोपा लक्षणा) इस प्रकार के प्रयोगों, जैसे कि ‘एते कुन्ताः प्रविशन्ति’-‘ये भाले प्रवेश
कर रहे हैं’ आदि में देखी जा सकती है । यहाँ ‘आरोप’ स्पष्ट है क्योंकि ‘एते’-‘ये’-इस
सर्वनाम शब्द से निर्दिष्ट लोगों (अनिगीर्ण स्वरूप विषय) और ‘कुन्ता’-‘भाले’
, विषयी) इन दोनों के तादात्म्य (अन्वय) का पता चल रहा है (जिसमें इस दृश्य
की न्यायवृत्ता बढ़ती प्रतीत हो रही है) ।

रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा—‘कलिङ्ग’ पुरुषो युध्यते’ । अत्र कलिङ्ग पुरुषयोराधाराधेयभावः सम्बन्धः ।

प्रयोजने यथा—‘आयुर्धृतम्’ । अत्रायुष्कारणमपि घृत कार्यकारणभावसम्बन्धसम्बन्धायुस्तादात्म्येन प्रतीयते । अन्यवैलक्ष्येनाव्यभिचारेणायुष्करत्नप्रयोजनम् ।

यथा वा—राजकीये पुरुषे गच्छति ‘राजासौ गच्छति’ इति । अत्र स्व स्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः । यथा वा—अग्रमात्रेऽवयवभागे ‘हस्तोऽयम्’ । अत्रावयवव्यविभावलक्षणसम्बन्धः । ‘ब्राह्मणेऽपि तक्षाऽसौ’ । अत्र तात्कर्म्यलक्षणः ।

इसी प्रकार रूढि में आरोप गर्भित लक्षण लक्षणा (रूढ सारोपा लक्षण लक्षणा) ऐसे प्रयोगों, जैसे कि ‘कलिङ्ग पुरुषो युध्यते’—‘वह कलिङ्ग पुरुष लड़ रहा है’—इत्यादि में देखी जा सकती है जहाँ ‘कलिङ्ग’ (देश विशेष) और ‘पुरुष’ में ‘आधार’ और ‘आधेय’ का सम्बन्ध होने के कारण ‘कलिङ्ग’ (विषयी) और ‘पुरुष’ (विषय) का अभेद में (समानाधिकरण्य अर्थात् एक विभक्ति के प्रयोग में) स्पष्ट पता चल रहा है (और यह तो निश्चित ही है कि ‘कलिङ्ग’ शब्द अपने देशविशेष रूप मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर एकमात्र ‘कलिङ्ग निवासी’ रूप अर्थ का उपलब्ध हो रहा है अन्यथा यहाँ वान्यार्थ में इसका समन्वय कैसे ?)

प्रयोजन के प्रतिपादन में आरोप गर्भित लक्षण लक्षणा (प्रयोजनवती सारोपा लक्षण लक्षणा) का उदाहरण है—‘आयुर्धृतम्’—‘धी आयु है’ । यहाँ ‘आरोप’ का अभिप्राय है—‘घृत’, जो दीर्घ जीवन का कारण है और ‘आयु’—‘दीर्घजीवन’, जो घृत के सेवन व परिणाम है—दोनों में तादात्म्य अथवा अभेद की प्रतीति (साथ ही साथ यहाँ ‘आ’ शब्द अपने मुख्यार्थ (दीर्घ जीवन) का सर्वथा परित्याग कर इस मुख्यार्थ में कार्यकारण भावरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध, ‘आयु के कारण’ रूप अर्थ का उपलब्ध हो रहा है) । यह जिस उद्देश्यविशेष के बोध के लिये ‘आयुर्धृतम्’ कहा गया है वह है अन्य पौष्टिक पदार्थ की अपेक्षा घृत की सजीवन शक्ति का आधिक्य ।

इसी प्रकार मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में अन्यान्य अनेकों सम्बन्ध जहाँ-तहाँ दिखायी पड़ा करते हैं जिनके आधार पर लक्षणा टिका करती है जैसे कि जब कोई राज-कर्मचारी जा रहा हो तो लोग कह उठते हैं—‘वह राजा साहब जा रहे हैं’ (राजाऽसौ गच्छति) । अब यहाँ जो बात है वह है ‘असौ’—‘वह’ (राजकर्मचारी) और ‘राजा’—दोनों (अर्थात् विषय और विषयी) का स्पष्टतया अपने-अपने शब्दों द्वारा उपादान किंवा दोनों में अभेद का प्रत्यापन, जिसका कारण है दोनों का स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध से सम्बद्ध रहना (इस प्रकार यहाँ भी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा स्पष्ट दिखायी दे रही है) । अथवा जब केवल अपने या किसी दूसरे के हाथ के अगले हिस्से को लक्ष्य कर कहा जाता है—‘यह हाथ’ (हस्तोऽयम्) तब भी वस्तुतः रूढ सारोपा लक्षणलक्षणा का ही आश्रय लिया गया प्रतीत होता है क्योंकि ‘हाथ’ और ‘हाथ के अगले हिस्से’ में अवयवव्यविभाव सम्बन्ध विराजमान है (हाथ तो अवयवी है और उसका अगल हिस्सा उसका अवयव है) जिसके कारण ‘अयम्’—‘यह’ (विषय) और ‘हस्त’—‘हाथ’ (विषयी) का अभेदारोप स्पष्ट प्रतीत होता है । इसी प्रकार जब तच्छण-कला में कुंरी ब्राह्मण के लिये कहा जाता है—‘वह तो चक्क है’ (तच्छाऽसौ) तब वहाँ

इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः' । अत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः । एवमन्य-
त्रापि । निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्साध्यवसाना । अस्याश्चतुर्षु
भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव । तदेवमष्टप्रकारा लक्षणा ।

प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा स्पष्ट दिखायी दिया करती है क्योंकि 'असौ'-'वह
ब्राह्मण' और 'तत्ता'-'वह ई'—दोनों में 'तादर्थ्य' (जो जिसका कार्य न हो उसका उस
कार्य में सामर्थ्य) रूप सम्बन्ध विद्यमान है जिसके कारण दोनों में अनेक-प्रतीति स्पष्ट
है और साथ ही साथ यहाँ निर्दिष्ट व्यक्ति के लक्षण-कौशल के भी प्रकाशित करने का
उद्देश्य झलक रहा है । इसी भांति जय यज्ञ में इन्द्र के उद्देश्य से स्थापित 'स्थूणाओं'
(स्तम्भों) को लक्ष्य कर कहा जाता है—'अमी इन्द्राः'—'ये रहे इन्द्र' तब वहाँ भी
प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा ही दिखायी दिया करती है क्योंकि 'अमी' अर्थात्
स्थूणाओं (स्तम्भों) और 'इन्द्राः'—'इन्द्र' दोनों में 'तादर्थ्य' (एक के, दूसरे के उद्देश्य
से, प्रतीक रूप से अवस्थान) का सम्बन्ध विराजमान है जिसके कारण दोनों में तादात्म्य
की प्रतीति करवायी गयी है और साथ ही साथ इन्द्र की पूज्यता के भाव को स्थूणाओं
में प्रतिष्ठित करने का उद्देश्य भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । इसी भांति के अनेकानेक
अन्य प्रयोग हुआ करते हैं जहाँ सारोपा लक्षणलक्षणा का दर्शन किया जा सकता है ।

अब यह लक्षणा जिसमें 'अध्यवसान' का निदान्त लागू रहा करता है (साध्यवसाना
लक्षणा) ऐसी हुआ करती है जिसमें 'विषयी' के द्वारा अन्तर्हित किये हुये (और इसीलिये
शब्दतः अनुपात्त) 'विषय' का 'विषयी' के साथ तादात्म्य अथवा अनेक वताया जाया करता
है । इस लक्षणा के चारों प्रकारों को उपर्युक्त सारोपा लक्षणा के उदाहरणों—(कि किंचित परिवर्तन)
द्वारा समझा जा सकता है (जैसे कि रुढ साध्यवसाना उपादानलक्षणा—'श्वेतो धावति'—
'मफेद दौड़ रहा है', प्रयोजनवती साध्यवसाना उपादानलक्षणा—'कुन्ता प्रविशन्ति'—
'आले प्रवेश कर रहे हैं' । यहाँ 'श्वेत' और 'कुन्ता' ये विषयी तो शब्दतः उपात्त हैं
किन्तु 'अश्व' और 'एते' ये आरोप-विषय अन्तर्हित हैं और इसलिये शब्दतः प्रतिपादित
नहीं किये गये) । इसी प्रकार रुढ साध्यवसाना लक्षणलक्षणा—'कलिङ्ग साहसिक'—'कलिङ्ग
साहसी है'—और प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणलक्षणा—'गङ्गाया घोष'—'गङ्गा पर लुट्टी
है' यहाँ भी 'कलिङ्ग' और 'गङ्गायां'—ये दोनों 'विषयी' तो विद्यमान हैं किन्तु आरोप
विषय जैसे कि 'असौ' और 'अत्र' विद्यमान नहीं । किन्तु दोनों में अनेक का बोध
स्वभावतः हो रहा है ।

विमर्श—(१) 'सारोपा लक्षणा स्पष्ट अन्तर्गत का चीन है' (इयमेव रूपकालङ्कारस्य
बीजम्) यह अन्तर्गतभाव की परम्परागत मान्यता है । 'स्पष्ट' अलङ्कार के सम्बन्धोक्तान्त में
प्रकाश और अप्रकाश (उज्ज्वल और अज्ज्वल) का 'अनेकप्रधान्य' कागज से रण करना है ।
इयमेव और उज्ज्वल में 'अनेकप्रधान्य' नमो समझ है जब कि उनके तब का वास्तविक मन्त्र
शुद्ध है । 'प्रधान' और 'अज्ज्वल' शब्द परस्पर सापेक्ष शब्द हैं । 'अनेक प्रो प्रधानता' में
नेद का अज्ज्वल (और इसलिये नेद-सङ्काश) का निषेध निरूपित है । अनेक को
प्रधानता (कि नेद-सङ्काश की अज्ज्वलता) 'आरोप' में ही समझा है, 'अज्ज्वल' में
ही 'आरोप' में ही तब समझ है कि निषेध और निषेध (उज्ज्वल और अज्ज्वल) शब्दों की
निषेध ही और अज्ज्वल में भी निषेध हुआ है (विषयविपरिणो, शब्दनिर्दिष्टयोरनेक
आरोप-निरूपण-विपरिणो) । 'आरोप' भी अज्ज्वल नहीं, निषेध ही है ।

(निमित्तभेद से उपर्युक्त लक्षणा-भेदों के अन्य प्रभेद)

सादृश्येतरसंबन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि ।

सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः ॥ ९ ॥

(शुद्धा और गौणी लक्षणाओं के दृष्टान्त)

ताः पूर्वोक्ता अष्टभेदा लक्षणाः । सादृश्येतरसंबन्धा. कार्यकारणभावादयः
अत्र शुद्धानां पूर्वोदाहरणान्येव । रूढावुपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा—

‘मुख चन्द्र’ में आरोप है अर्थात् प्रकृत (विषय अथवा उपमेय) ‘मुख’ और अप्रकृत (विषय अथवा उपमान) ‘चन्द्र’ में, भेद के सद्भाव में भी, अभेद विवक्षित है किन्तु यहाँ ‘मुख’ शब्द पर ‘चन्द्र’ शब्द का आरोप नहीं क्योंकि दोनों शब्द पृथक्-पृथक् अपने-अपने स्वरूप में प्रत्यक्ष विद्यमान हैं । यहाँ जो बात है वह है मुख्यरूप उपमेयभूत पदार्थ पर चन्द्ररूप उपमानभूत पदार्थ का आरोप । ऐसा ‘आरोप’ भ्रान्तिवश नहीं अपितु प्रयोजनवश ही किया जाया करता है । इस प्रकार ‘आरोप’ अथवा अपने-अपने स्वरूप में विराजमान ‘विषय’ और ‘विषयी’ (उपमेय और उपमान) के अभेदावभास के ही फलक पर रूपकालङ्कार की रूपरेखा त्रिधा कर्त्ता है । इसी प्रकार विषय और विषयी (आरोपविषय और आरोप्यमाग) में उनके परस्पर पृथक् रूप से उपस्थित होने पर भी तादात्म्य प्रतीति सारोपा लक्षणा की प्रतीति है । ‘रूपक’ में आरोप चमत्कार का कारण हुआ करता है इसलिये रूपक को ‘अलङ्कार’ कहा जाया करना है । ‘लक्षणा’ में आरोप वागव्यवहार का स्वभाव हुआ करता है इसलिये उसे लोकयात्रा का निर्वाहक माना गया है ।

(ख) ‘आरोप’ की भाँति ‘अध्यवसान’ में भी ‘तादात्म्य’ अथवा ‘अभेद’ की ही प्रतीति हुआ करती है किन्तु ‘आरोप’ में होने वाली अभेदप्रतीति की अपेक्षा ‘अध्यवसान’ में होने वाली अभेदप्रतीति अधिक उत्कट हुआ करती है (आरोपादभेदेऽध्यवसाय. प्रकृत्यते-अलङ्कार सर्वस्व) । इसका कारण यही है कि ‘अध्यवसान’ में विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) पृथक् रूप से निर्दिष्ट नहीं रहा करते । ‘अध्यवसान’ में तो विषयी (उपमान) अपने विषय (उपमेय) को ऐसे ढक लिया करता है कि विषयी के अतिरिक्त विषय का अस्तित्व ही नहीं रह पाता (अपृथङ्निर्दिष्टे विषये विषयभेदेऽध्यवसानम्-रसगङ्गाधर-द्वितीय आनन) । यह ‘अध्यवसान’ उपप्रेक्षालङ्कार का बीज है (तदेव विषयस्य निगीर्यमाणत्वाद्विषयिणश्च निश्चयात् सिद्धमध्यवसायमूलत्वमस्या (उत्प्रेक्षाया) इति यथोक्तमेव (उत्प्रेक्षा) लक्षण पर्यालोचिताभिधानम्—जयरथ-अलङ्कारसर्वस्यविमर्शिनी) ।

अनुवाद—ये उपर्युक्त अष्टविध (चार प्रकार की सारोपा और चार प्रकार की साध्यवसाना) लक्षणायें भी ‘शुद्धा’ और ‘गौणी’—इन दो भेदों में विभक्त होकर १६ प्रकीर्ण की हुई हैं । ‘शुद्धा’ का अभिप्राय है—उपर्युक्त अष्टविध लक्षणों में सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न प्रकार के ही सम्बन्ध जैसे कि कार्यकारणभावादिरूप सम्बन्ध का पाना जाना और ‘गौणी’ का तात्पर्य है उपर्युक्त अष्टविध लक्षणों में सादृश्य सम्बन्ध का प्रयोजक होना ।

अनुवाद—यहाँ कारिका में ‘ताः’—‘उन’ (लक्षणों) का अभिप्राय है पूर्वोक्त आचार्यों की (४ प्रकार की सारोपा + ४ प्रकार की साध्यवसाना) लक्षणों का । ‘सादृश्येतरसम्बन्धाः’—‘सादृश्य रूप सम्बन्ध से भिन्न प्रकार के सम्बन्धों से सम्बद्ध होने’ तात्पर्य है कार्यकारणभाव आदि-आदि रूप सम्बन्धों से सम्बद्ध होने का । इन लक्षणों ‘शुद्धा’ लक्षणों के तो उदाहरण वे ही हैं जिन्हें अभी-अभी निर्दिष्ट किया जा चुका

तानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'। अत्र तैलशब्दस्तिलभवस्नेहरूपं मुख्यार्थ-
पादायैव सार्वपादिषु स्नेहेषु वर्तते। प्रयोजने यथा—राजकुमारेषु तत्सदृशेषु
गच्छन्तु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढावुपादानलक्षणा साध्यवसाना
।णी यथा—'तैलानि हेमन्ते सुखानि'। प्रयोजने यथा—'राजकुमारा गच्छन्ति'।
दो लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा—'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति'।

जैसे कि 'अश्वः ज्वेतो धावति' आदि-आदि)। अब 'गौणी' लक्षणाओं के जो उदाहरण
वे थे हैं जैसे कि—रूढि में गौणी सारोपा उपादानलक्षणा—'पूतानि तैलानि हेमन्ते
रानि'—'ये वे तेल हैं जो हेमन्तश्रतु में सुगंध हुआ करते हैं'।

यहाँ लक्षणा के उपादानवती (और साथ ही साथ रूढि में गौणी सारोपा) होने
। अभिप्राय यह है कि 'तैल' शब्द अपने मुख्य अर्थ अर्थात् तिलों से निकाले गये स्नेहन-
दार्थरूप अभिप्राय को बिना छोड़े हुए ही सरसों आदि-आदि से निकाले गये स्नेहन-
दार्थों का बोधक हो रहा है (क्योंकि तिल और सरसों आदि पदार्थों में जगिधता
। सादृश्य सर्वविदित है) साथ ही साथ यहाँ रूढि भी स्पष्ट है क्योंकि 'तैल' शब्द
।य' समस्त जगिध पदार्थों के निबोध के लिये व्यवहृत हुआ करता है। इसके अनिरिक्त
।तानि' (विषय) और 'तैलानि' (विषयी)—दोनों पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट हैं और दोनों
अभेद का भी अनुभव हो रहा है जो कि 'सामानाधिकरण्य' से वस्तुतः प्रतिपादित
।या हुआ है)।

प्रयोजन में गौणी सारोपा उपादानलक्षणा जैसे कि—'एते राजकुमाराः गच्छन्ति'—
राजकुमार लोग चले जा रहे हैं'—यह वाक्य। ऐसा वाक्य वस्तुतः राजकुमारों को ही
।ते हुए निर्दिष्ट कर नहीं बोला जाया करता अपितु राजकुमारों जैसे लगने वाले
।न्दर नवयुवकों को भी लक्ष्य कर बोला जाया करता है (यहाँ यह स्पष्ट है कि 'एते'
विषय) और 'राजकुमाराः' (विषयी) दोनों का, पृथक् निर्देश होने से, अभेदाराप
।या गया है और ऐसे आरोप में सादृश्यसम्बन्ध के ही एकमात्र निमित्त होने से
।क्षणा का गौणी होना भी स्वयंसिद्ध है। साथ ही साथ यहाँ 'राजकुमारा' यह शब्द
।पने मुख्यार्थ को बिना छोड़े हुए भी अपने मुख्यार्थ से भिन्न सन्ने-धर्मे सुन्दर युवकों को
।क्षित कर रहा है जिसमें उपादान का स्वरूप स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। ऐसे प्रयोग का
।क प्रयोजन भी है और वह है यहाँ निर्दिष्ट लोगों को रोधीली चाल-डाल आदि की
।र करके करना)।

रूढि में साध्यवसाना गौणी उपादानलक्षणा जैसे कि—'तैलानि हेमन्ते सुखानि'—
तेल हेमन्त श्रतु में आनन्द दिया करते हैं' और प्रयोजन में साध्यवसाना गौणी
।पादानलक्षणा जैसे कि—'राजकुमाराः गच्छन्ति'—'राजकुमार लोग चले जा रहे हैं'
(यहाँ दोनों उदाहरणों में रूढि और प्रयोजन-प्रतिपादन तो एकमत स्पष्ट ही हैं। साथ
।ही साथ 'तैलानि' और 'राजकुमारा' (विषयी) के द्वारा 'पूतानि' और 'एते' (विषय)
।का सम्बन्ध अन्तर्निर्गोप्य है जिसमें अध्यवसानमूलक अभेद निहित हो रहा है)।

रूढि में गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा जैसे कि—'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति'—
'राजा अपने कांटे गौडराज को उगारा रहा है'। [यहाँ 'कण्टक' शब्द अपना आसन्नमर्पण
कर रहा है क्योंकि बिना ऐसा किये यहाँ के वाक्यार्थ में 'गौडेन्द्र' शब्द की सगति नहीं
।पैठ सकती। भला 'कण्टकम्' और 'गौडेन्द्रम्' में ऐसा सामानाधिकरण्य! यह सामा-

प्रयोजने यथा—‘गौर्वाहीकः’। रुढौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौ
‘राजा कण्टक शोधयति’। प्रयोजने यथा—‘गौर्जल्पति’।

नाधिकरण्य तो गौडराज और कांटे में दुःखदायी होने के सादृश्य के ही कारण इस प्रकार ‘कण्टक’ शब्द वस्तुतः ‘दुःखद नीच शत्रु’—इस अर्थ का ही उपलब्ध (गौणी लक्षणलक्षणा)। यहाँ रुढि है क्योंकि शत्रु शत्रु के लिये ‘कण्टक’ प्रवाह में पड़ निकला है। साथ ही साथ पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट ‘कण्टकम्’ और ‘गौडेन्द्रम्’ (विषय) दोनों में तादात्म्य अथवा अभेद भी प्रतीत ही। सारोपा लक्षणा]।

प्रयोजन में, गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा जैसे कि—‘गौर्वाहीकः’—‘वाहीक वैल है’ (यहाँ ‘गौ’—‘वैल’ और ‘वाहीक’—‘पञ्जावी किसी व्यक्ति’—में मूर्खता होने से गौणी लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट दिखायी दे रहा है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष व्यक्ति की अत्यधिक मूर्खता का प्रकाशन ही यहाँ वक्ता का प्रयोजन है। इस शब्द मूर्ख का ही उपलक्षण करने में चरितार्थ है जिसमें लक्षणलक्षणा की रसलक्षक रही है)।

रुढि में, गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा जैसे कि—‘राजा कण्टक’ ‘राजा कांटे को उखाड़ रहा है’ (यहाँ रुढि तो इसलिये है क्योंकि ‘कण्टक’ शब्द के अर्थ में साधारणतया प्रयुक्त हुआ करता है; साथ ही यहाँ साध्यवसान के सिद्धांत लागू देख सकते हैं क्योंकि ‘कण्टक’—इस ‘विषयी’ के द्वारा ‘गौडेन्द्र’—यह विषय पड़ा है जिसमें दोनों का सर्वथा भेदाभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है, इससे ‘कण्टक’ और ‘गौडेन्द्र’ के बीच लक्षणा-प्रयोजक दुःखदायित्वरूप गुण का सादृश्य है और साथ ही साथ ‘कण्टक’ शब्द एकमात्र शत्रु का ही उपलक्षण हो रहा अपने मुख्यार्थ में तो इसका यहाँ के वाक्यार्थ में, समन्वय होने से रहा)।

प्रयोजन में, गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा जैसे कि—‘गौर्जल्पति’—‘वैल है’ (यहाँ किसी मूर्ख व्यक्ति को बोलते देख वक्ता ने जो ‘गौर्जल्पति’ जैसा वक्तव्य किया है उसमें उसका उद्देश्य वस्तुतः उस व्यक्ति की मूर्खता की परीक्षा ही प्रतिपादन है। निर्दिष्ट व्यक्ति और वल में मूर्खता के गुण का सादृश्य ही इसका प्रयोजक है। साथ ही साथ ‘गौ’ इस विषयी के द्वारा आरोप ‘वाहीक’—के स्वरूप के सर्वथा अन्तर्हित होने से लक्षणा का साध्यवसाना निःसंदिग्ध है। इसके अतिरिक्त ‘गौ’ शब्द एकमात्र मूर्खरूप अर्थ का ही उपलक्षण ‘लक्षण’ भी अथवा ‘किसी शब्द के, अपने अर्थ से भिन्न अर्थ के लिये, आत्मसमिप्राय स्पष्ट प्रतीत हो जाता है)।

‘गौर्वाहीक’ किंवा ‘गौर्जल्पति’ आदि लाक्षणिक प्रयोगों में लक्षणा के उद्घाटन में विद्वानों का कुछ मतभेद है। जैसे कि कुछ लोगों का कहना है—‘गौ’ है—इस प्रयोग में लक्षणा के द्वारा केवल जड़ता और मन्दता आदि गुणों का ही हो सकता है क्योंकि ये गुण ऐसे हैं जो कि ‘गौ’ शब्द के मुख्यार्थ के साथ उस संपृक्त धर्म के रूप में विराजमान रहा करते हैं। अब जब कि ‘गौ’ शब्द अपने शक्ति के द्वारा जाद्व्य, मान्द्य आदि गुणों को लक्षित कर चका तब इन्हीं गुणों के

अत्र केचिदाहुः—गोसहचारिणो गुणा जाड्यमान्यादयो लक्ष्यन्ते । ते च गोशब्दस्य वाहीकार्योभिधाने निमित्तीभवन्ति । तदयुक्तम्—गोशब्दस्यागृहीत-सङ्केते वाहीकार्यमभिधातुमशक्यत्वाद् गोशब्दार्थमात्रबोधनाच्च । अभिधाया विरतत्वाद् विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात् ।

अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्यो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थसहचारिगुणसाजात्येन वाहीकार्यगता गुणा एव लक्ष्यन्ते । तदप्यन्ये न मन्यन्ते । तथाहि—अत्र गोशब्दाद्वाहीकार्यः प्रतीयते, न वा ? आद्ये गोशब्दादेव वा ? लक्षिताद्वा गुणाद् ? अविनाभावाद्वा ? तत्र, न प्रथमः, वाहीकार्येऽस्यासङ्केतित्वात् । न द्वितीयः,—अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्देऽन्वये प्रवेशासमभावात् । शाब्दी व्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते । न द्वितीयः,—यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्यो न प्रतीयते, तदाऽन्य वाहीकशब्दस्य च सामानाधिकरण्यासमसञ्ज्ञसं स्यात् ।

वाहीक के अर्थ में व्यवहृत होने के निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) हैं।' किन्तु ऐसी बात ठीक नहीं लगती। 'गौ' शब्द अभिधा के द्वारा 'वाहीक' अर्थ का उपस्थापक कटापि नहीं माना जा सकता क्योंकि इस शब्द का इस अर्थ में कहीं कोई संकेत नहीं दिखायी देता। साथ ही साथ 'गो' पद की अभिधा तो अपने मुख्यार्थमात्र के अवबोधन में ही समाप्त हो चुकी है और यहाँ उसके मुख्यार्थ की अनुपपत्ति से ही लक्षणा को प्रोत्साहन मिला है। अब जब एक धार अभिधा की शक्ति समाप्त हो चुकी और उसके पुनरुत्थित होने का कोई कारण नहीं तो फिर 'गो' पद की अभिधा की क्या चर्चा !

कुछ दूसरे लोगों का यह कहना है 'गौवाहीक'—जैसे प्रयोग में ऐसी बात नहीं कि 'गो' पद अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा 'वाहीक' रूप अर्थ का बोध करवाया करता है क्योंकि यहाँ तो वस्तुतः 'गो' पद की लक्षणाशक्ति से ही वाहीकरूप अर्थ के साथ सगत वे जाड्य मान्य आदि गुण बताये जाया करते हैं जिनका गोपद के मुख्यार्थ के साथ नित्यसम्बन्ध जाड्य मान्य गुणों आदि के साथ सादृश्य रहा करता है।' किन्तु इस मत से भी कई लोग सहमत नहीं हैं। उनका यहाँ यह अभिप्राय है—'पहले तो यह निर्णय होना चाहिये कि गोपद से वाहीकरूप अर्थ का बोध होता है या नहीं होता ? यदि ऐसा कहा जाय कि गोपद से वाहीकरूप अर्थ का बोध हुआ करता है तब यह यताना आवश्यक है कि वाहीकरूप अर्थ का बोध क्या केवल गोपद से ही हुआ करता है या गोपद से लक्षित उन जाड्य, मान्य आदि गुणों के द्वारा जो कि गोपद के मुख्यार्थ के साथ अपृथक्स्मिन्नरूप में रहा करते हैं ? अब ऐसा तो कहा नहीं जा सकता कि गोपद से ही वाहीकरूप अर्थ का अभिधान हुआ करता है क्योंकि गोपद और वाहीकअर्थ में वाच्यवाच्यमात्र रूप सम्बन्ध कैसे ! यहाँ यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं कि गोपद से लक्षित जाड्य, मान्य आदि गुण ही गोपद के द्वारा वाहीक रूप अर्थ के अभिधान में प्रवृत्तिनिमित्त बना करते हैं क्योंकि आरोपित प्रतीत होने वाले, गोपद के मुख्यार्थ से नित्यसम्बन्ध जाड्य, मान्य आदि गुण यहाँ शब्द-बोध में ब्योवर समाधिष्ट मान लिये जायें ! शब्दबोध का तो विधान ही यह है कि शब्द से सम्बन्ध आकाशा शब्द से ही पूर्ण की जाय (न कि अर्थ के आशेष तथा व्यापार से) ! यहाँ इन बातों से यह कह कर नहीं कहा जा सकता कि गोपद से वाहीक रूप अर्थ का बोध नहीं हुआ करता। क्योंकि जब कि गोपद से वाहीक-रूप अर्थ की प्रतीति ही नहीं हो सकती तब 'गौ' और 'वाहीक' में सामानाधिकरण्य

वह्निवल्घितादधाद् यत् पैद्गल्यादिगम्यते ।
तेन माणवके बुद्धिः सादृश्यादुपजायते ॥

(तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ ३१८)

अर्थात् 'गौणी' और 'लक्षणा' एक ही वृत्ति के दो नाम नहीं अपि तु भिन्न-भिन्न प्रकार का वृत्तियाँ हैं। लक्षणा तो वह वृत्ति है जिससे अभिधेय से अविनाभूत अथवा सामोप्यादि सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति हुआ करती है जैसे कि 'मग्नाः क्रोशन्ति' में। 'मग्नाः क्रोशन्ति' में मग्ना का अभिधेयार्थ मचान है जिसके साथ क्रोशन (चिन्ताने) की क्रिया की सगति के लिये मग्ना का लक्ष्यार्थ-मग्नस्थ पुरप-लिया जाया करता है। 'मग्ना' शब्द में लक्षणा का नियामक सम्बन्ध 'सयोग' सम्बन्ध है। किन्तु गौणी वृत्ति वह वृत्ति है जिसके लिये अभिधेय और लक्ष्य अर्थों का अविनाभाव नियामक नहीं अपि तु लक्ष्यमाण गुण-सादृश्य ही नियामक रहा करता है जैसे कि 'अग्निर्माणवकः' में। 'अग्निर्माणवकः' में गौणी वृत्ति का यही अभिप्राय है कि यहाँ अग्नि शब्द के लक्ष्यार्थ और माणवक शब्द के वाच्यार्थ में अविनाभावरूप सम्बन्ध नहीं माना जाया करता। यहाँ तो अग्नि शब्द से लक्षित होने वाले तेजस्विनादि गुणों के साथ 'माणवक' का सादृश्य सम्बन्ध ही एक मात्र नियामक सम्बन्ध रहा करता है।

(२) किन्तु आलङ्कारिकों ने गौणी को लक्षणा में ही अन्तर्भूत सिद्ध किया है। ध्वनिकान् आनन्दवर्धनाचार्य की इस उक्ति अर्थात्—'भाक्कमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मान गुणवृत्तिरित्याहुः।' की व्याख्या में लोचनकार अग्निवत्सुपादाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

'गुणममुदायवृत्ते' शब्दस्यार्थभागस्तैर्ग्यादिर्भक्तिः, तत् आगतो गौणोऽर्थो भाक्कः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैर्ग्यादीं धृदातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत् आगतो भाक्क इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थवाधा, निमित्त, प्रयोजनमिति त्रयसदृशोप उपचारबीजमित्युक्तं भवति। ... गुणा नामीप्या दयो धर्मास्तैर्ग्यादयश्च। तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तरपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र न गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरुपर्योऽभिधाव्यापारः।

—(ध्वन्यालोकलौकिक-प्रथम उद्योत)

'भाक्क' शब्द और अर्थ को ही गौण अथवा लाक्षणिक शब्द और अर्थ कहा जाता करता है। जैसे कि 'सिंहो माणवकः' में 'सिंह' शब्द गौण अथवा लाक्षणिक इत्यन्त्रिये है क्योंकि यह अपने मुख्यार्थ अर्थात् सिंहत्वाति या सिंहत्वविशिष्ट 'सिंह' अर्थ का अभिधायक होने पर भी अपने अर्थ में मग्न सम्बन्ध शीर्षादियुगों का भा अभिप्राय प्रतिपादन कर रहा है। इन्ने 'गौण' अथवा 'लाक्षणिक' इत्यन्त्रिये भी कहना चाहिये क्योंकि इनका प्रयोग एकनाम शीर्षादियुगों के आसन्न के लिये किया गया है।

इस अनुक्त विवेचन से यह निःसंशय है कि 'गौणी' और 'लक्षणा' दो भिन्न भिन्न शब्द-वृत्तियाँ नहीं। गौणी और लक्षणा वृत्तियों का पार्श्वक आचार्यों ने जो दृष्टि में लिखा है वह है 'लक्षणा' का शुद्ध और गौणी इन दो भेदों में विभाजन। साथ ही साथ लक्षणाविशेषता के लिये 'सादृश्य सम्बन्ध' का प्राचीन मान्यता भी इतना बत धा प्रमाण है कि लक्षणा के लिये गौणी की शुद्ध वृत्ति मानने की अपेक्षा लक्षणा का ही शुद्ध और गौणी रूप में विभाजन अधिक उचित है। लक्षणा, यहाँ पर 'शुद्ध' हो या 'गौणी' हो, मुख्यार्थ की अनुसंधान के लिये शुद्धार्थ और लक्ष्यार्थ के परस्पर सम्बन्ध पर ही प्रयत्न है। 'अनुसंधान' (अनुसंधान) 'सम्बन्ध' (सुसंधानयोग) किंवा 'प्रयोजन' की दृष्टि से 'अग्निर्माणवकः' प्रो- 'माणवक' को—एक गौणी और शुद्ध लक्षणा-प्रयोजन में बँटने में नहीं। कि 'अग्निर्माणवकः'

(प्रयोजनमूलक उपर्युक्त लक्षणाओं के अन्य भेद)

व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वाद्द्विधा स्युः फललक्षणाः ॥ १० ॥

(गूढव्यङ्ग्या और अगूढव्यङ्ग्या लक्षणाओं के दृष्टान्त)

प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शितास्ता प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यस्य गूढागूढ-
तया प्रत्येकं द्विधा भूत्वा षोडश भेदाः । तत्र गूढः, काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धि-

में 'अग्नि' का अभिप्राय 'अग्निसादृश्यविशिष्ट' निकला करता है वैसे ही 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गायाम्' का अभिप्राय 'गङ्गासम्बन्धविशिष्टतीरे' हुआ करता है । 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गायाम्' का अर्थ 'गङ्गासम्बन्धोपलक्षिततीरे' कदापि नहीं हो सकता क्योंकि तब तो 'गङ्गाया घोषः' और 'गङ्गातीरे घोषः' में कोई भेद ही नहीं बताया जा सकता । इस प्रकार जब कि 'गौणी' और 'लक्षणा' में 'विशेषणवैशिष्ट्यसम्बन्ध' ही नियामक रूप से पड़ा है तब 'गौणी' और 'लक्षणा' का भेद ही क्या रहा । 'गौणी' तो 'लक्षणा' का एक प्रकार सिद्ध हुई । शुद्धा से गौणा का भेद 'सादृश्य' से 'सादृश्येतर सम्बन्ध' के भेद पर ही निर्भर रहा । जब लक्षणा 'सादृश्यनिबन्धन' और 'सम्बन्धनिबन्धन' रूप से दो प्रकार की हुई तब लक्षणा में गौणी का अन्तर्भाव तो अनायास ही सिद्ध हो गया ।

(ग) 'गौर्वाहीकः जल्पति' किं वा 'गौर्जल्पति' ये प्रयोग गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा त गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा के प्रयोग हैं । इनमें लक्ष्यार्थनिष्पत्ति के सम्बन्ध में जो विनि-
मत हैं उनका निर्देश काव्य-प्रकाशकार ने भी किया है । यहाँ साहित्य दर्पणकार का मत वही जो कि काव्य-प्रकाशकार का है क्योंकि 'गौर्वाहीकः' अथवा 'गौर्जल्पति' में दोनों आचार्यों लक्षणा का एक ही अभिप्राय लिया है । आचार्य मम्मट का निर्देश है—'साधारणगुणाश्च त्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे'—(काव्य-प्रकाश-द्वितीय उल्लास) और विश्वनाथ कविराज कथन है—'तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वा साधर्म्यसम्बन्धाद् वाहीकार्थं लक्षयति ।' दोनों का तात्पर्य यही है कि 'गौर्वाहीक' आदि प्रयोगों में जो 'सामानाधिकरण्य' है वह अभिधा की दृष्टि से नहीं किन्तु लक्षणा की ही दृष्टि से ठीकी समझा जा सकता है । यहाँ उपचार है जिसके कारण दो भिन्न वस्तुओं की भेद प्रतीति स्थिति हो रही है । 'गौर्वाहीक' का सीधा अर्थ 'गोसादृश्यविशिष्ट वाहीक' है और 'ज वाहीक' के बदले 'गौर्वाहीकः' का प्रयोग करने वाला व्यक्ति वाहीक की अश्रुता नहीं अपि अश्रुता-पराकाष्ठा का अभिप्राय प्रकाशित किया करता है । 'गौर्वाहीक' में 'गोत्व' और गोत्व सम्बद्ध जाड्य मान्यादि गुण दोनों को गो शब्द का 'प्रवृत्तिनिमित्त' मानना अनुचित है क्योंकि ऐसा करने से यहाँ के उपचार का रहस्योद्घाटन क्योंकर होने लगा । यहाँ ऐसा भी नहीं कि लक्षणा से गौगत जाड्यादिसदृश वाहीकगत जाड्यादि गुण ही पता चला करें क्योंकि ऐस होने से भी 'उपचार' का रहस्य अनिर्मित ही रह जायगा ।

अनुवाद—उपर्युक्त आठों प्रकारों की प्रयोजनवती लक्षणाओं के भी दो-दो भेद हैं—(१) गूढ (प्रयोजन) व्यंग्या लक्षणाएँ और (२) अगूढ (प्रयोजन) व्यंग्या लक्षणाएँ प्रयोजनवती लक्षणाओं के द्विविध भेद का तात्पर्य यह है—

आठ प्रकार की जो प्रयोजनवती लक्षणाएँ बतायी जा चुकी हैं उनमें प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ के गूढ (सहृदयजनसवेद्य) किं वा अगूढ (सर्वजनसवेद्य) होने के कारण प्रत्येक के दो-दो भेद हुआ करते हैं जिससे इनके सोलह भेद सिद्ध होते हैं । प्रयोजनरूप

विभवमात्रवेद्यः । यथा—‘उपकृतं बहु तत्र’ इति । अगूढः, अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्यः । यथा—

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद् एव ललितानि ॥’

अत्र ‘उपदिशति’ इत्यनेन ‘आविष्करोति’ इति लक्ष्यते । आविष्कारातिशयश्चाभिधेयवत्स्फुट प्रतीयते ।

व्यङ्ग्यार्थ के ‘गूढ’ होने का अभिप्राय है उसके एकमात्र ऐसे व्यक्तियों के द्वारा वेद्य होने का जिनकी बुद्धि काव्यार्थतत्त्व के सतत मनन चिन्तन से परिपक्व हो चुकी है । गूढव्यङ्ग्य लक्षणा के उदाहरण के लिये—‘उपकृतं बहु तत्र’ आदि सूक्ति पर्याप्त है (जहाँ सहृदयों को वक्ता की उदारहृदयता की सूक्ष्म प्रतीति स्वभावतः हुआ करती है) । प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ के ‘अगूढ’ होने का तात्पर्य है उसके सभी लोगों के द्वारा अत्यन्त स्फुटतया प्रतीत हो जाने का, जैसा कि—

‘यौवन का मद ही रमणियों को समस्त हाव-भावों का उपदेश दिया करता है’ इत्यादि सूक्ति में स्पष्ट है जहाँ ‘उपदिशति’—‘उपदेश दिया करता है’—का अभिप्राय ‘आविष्करोति’—‘प्रकट किया करता है’—निकला करता है (जो कि वाच्य नहीं अपितु लक्ष्यरूप अर्थ है) और जहाँ वक्ता का प्रयोजन अर्थात् हावभावों के प्रकाशन की विचित्रता और पूर्णता का अभिप्राय वाच्यार्थ की भाँति अत्यन्त स्पष्ट है ।

विमर्श—(क) जैसे आठ प्रकार की लक्षणाओं के भेदप्रयोजक रूप में आरोप आदि निर्दिष्ट किये जा चुके हैं वैसे ही इनमें प्रत्येक के दो दो भेदों के प्रयोजक रूप में ‘व्यङ्ग्यार्थ’ का गूढ़ता और अगूढ़ता का निर्देश उचित हो है और युक्तियुक्त भी है । काव्यप्रकाश की ‘प्रदीप’ व्याख्या के रचयिता ने स्पष्ट कहा है—‘लक्षणाभेदप्रयोजक आरोपादिर्न्या भिद्यते तथा तद्व्ययोजक स्पष्टपमपीति’ ।

(ग) ‘गूढव्यङ्ग्य’ का अभिप्राय है महत्त्वमयेव व्यङ्ग्य का और सहृदय वह है जो ‘काव्य-भाषनापरिपक्वबुद्धि’ हो (काव्यभावनापरिपक्वबुद्धिः सहृदयः—काव्यप्रदीप, पृष्ठ ३६) । गूढव्यङ्ग्यमहत्त्वमयेवाव्यङ्ग्यता का वक्ता अत्यन्त उदात्तरूप आचार्य मन्मथ ने दिया है—

‘मुलं विकसितस्मितं वसितवन्निम प्रेषितं

समुद्भूतलितविभ्रमा गतिरपास्तमस्था मतिः ।

उरो मुकुलितस्तन जघनमस्यन्धोद्गुरं

वतेन्दुवदनातनौ तरणिमोद्गमो मोदते ॥’—(काव्यप्रकाश)

जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का गूढ़ता का अभिप्राय प्रदीपका के शब्दों में इस प्रकार है—

‘अत्र विकास’ पुष्पधर्म स्मितेऽनुपान इति प्रसूतत्वं लक्ष्यता विकसितपदेन लोकोत्तर-रमणीयतानिधायो व्यज्यते । स च गूढः । एवं वसितसमुद्भूतलितपास्तमस्थामुत्तुङ्गिन्द्रोद्गुर-मोदनशब्दरायतावोद्भूतत्वानेकविषयसञ्चारिषोद्भिन्नप्रयोग्यत्वानियन्त्रितशानि लक्ष्य-द्विबुक्कानुरागाव-मयत्परीकारिषानुरागानिधयालिङ्गनयोग्यत्परमगीयवत्पृष्ठणीयत्वानि गूढानि व्यज्यन्ते ।’—(काव्यप्रदीप, पृष्ठ ३७)

प्र. ३ में मातिलिखरंजन ने ‘उपकृतं बहु तत्र’ आदि सूक्ति को भी ‘दृष्टं पितृ’ इत्यादि अर्थों से समझ कर दृष्टि से देना और गूढव्यङ्ग्यता नहीं मानने देना । मन्मथ ने ‘उपकृतम’ शब्द के अर्थ में स्पष्ट कहा है—‘वक्त्रमहिम्ना गूरुं सुहृत्पतिशब्देन गूरुप्रमियाद्वारिणि पूज्यवाच्य लक्ष्यते’—(काव्यप्रकाश का., पृष्ठ ४) । ‘उपकृतं बहु तत्र’ आदि में तो

(उपर्युक्त १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओं के अन्य भेद)

धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा ।

(प्रयोजनवती लक्षणाओं में धर्मिगत और धर्मगत प्रयोजन के निदर्शन)

एता अनन्तरोक्ताः षोडशभेदा लक्षणाः फलस्य धर्मिगतत्वेन धर्मगतत्वे च प्रत्येकं द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः ।

दिङ्मात्रं यथा—

‘स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्रलाकाष ना

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।

कामं सन्तु दृढ कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्व सहै

वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥’

वैपरीत्य लक्षणा है उसका अनुभव ‘काव्यभावनासभूत बुद्धिपरिपाक’ पर निर्भर नहीं अपि ‘वक्तृत्वभावपर्यालोचनमात्र’ पर ही अवलम्बित है । मिथनाथ कविराज ने भी वस्तुतः यही मान्य ‘उपकृतम्’ आदि सूक्ति उद्धृत की है (साहित्यदर्पण २०७ की वृत्ति) । ऐसा लगता है कि मम्मट द्वारा उद्धृत ‘मुख विकसितस्मितम्’ आदि सूक्ति के पुनरुद्धरण के मय से अ साथ ही साथ कुछ नवीनता की भी दृष्टि से साहित्यदर्पणकार ने ‘उपकृतम्’ आदि को। डुहरा दिया है ।

अगूढव्यङ्ग्या लक्षणा को काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण ने एक ही उदाहरण—‘उपदिशति आदि से समझाया है । यहाँ दोनों आलङ्कारिक आचार्यों ने ‘उपदिशति’ इस लाक्षणिक पद प्रयोग का प्रयोजन ‘अगूढ’ निर्दिष्ट किया है जो कि सर्वथा सुक्तियुक्त है । ‘उपदेश’ का अभिप्रा ‘किसी अज्ञात वस्तु के ज्ञान की अनायास सिद्धि’ है जो कि सहृदय और असहृदय सबके ल समान रूप से एक प्रतिष्ठित अर्थ है । ‘उदाहरणचन्द्रिका’ में इसीलिये कहा गया है—

‘ललितज्ञानेऽनायासो व्यङ्ग्यः । प्रयोजन सहृदयासहृदयवेद्यमित्यगूढव्यङ्ग्योदाहरणम् उपदेशादनायासेन ज्ञानमित्यस्य प्रतिष्ठितत्वात् ।’

अनुवाद—ये उपर्युक्त १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाएँ भी अपने व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन के धर्मिगत किं वा धर्मगत होने के कारण दो-दो भेदों में विभक्त हो जाय करती हैं ।

इन अभी-अभी प्रतिपादित १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओं में प्रत्येक के पुन द्विविध होने का अभिप्राय है इनमें प्रत्येक में व्यङ्ग्यरूप से विराजमान प्रयोजन के धर्मिगत किं वा धर्मगत-दो रूपों में प्रतीत होने का, जिसके कारण इन लक्षणाओं के ३२ भेद बन गये । सचिस निदर्शन के लिये यह सूक्ति पर्याप्त है—

‘मैं तो राम ठहरा ! भले ही विहार करती घकपकि से भरे बादल अपनी शिथ श्यामल कान्ति से आकाश को रँगते हुये उमड़ पड़ें, भले ही शीतल मन्द समीर वृक्ष क्षमती चले और भले ही मेघों के प्रेमी मयूरों की मादकताभरी केकाध्वनि सर्वत्र उठे, मैं तो यह सब कुछ सह लूँगा ! मेरा हृदय तो पत्थर का ठहरा ! लेकिन सुठ कोमल हृदय वाली सीता क्या करेगी ? हा देवि ! सीते ! धीरज धरना !’

अत्रात्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम् ।
'गङ्गाया घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम् ।

यहाँ जो प्रयोजन अभिव्यक्त हो रहा है अर्थात् एक के बाद एक अनेकों दुःखों के सहन करते करते दुःख की पीडा में शून्य-चेतन एक सकटापन्न व्यक्तित्व, वह धर्मिगत है क्योंकि यह वस्तुतः अनेकानेक दुःखों के सहन करने वाले रामरूप धर्मी—यहाँ 'राम' पद का एक मात्र अर्थ दुःखों का भोगने वाला ही है—को ही सहृदयों के हृदयपटल पर उत्कृष्टता से अंकित कर देता है (न कि धर्मों को अर्थात् राम के सहे सय दुःखों को) । प्रयोजन का धर्मगत होना 'गङ्गाया घोष' इस वाक्य में देखा जा सकता है जहाँ शीतलता और पवित्रता के धर्मों पर ही सहृदयों का ध्यान अटकता है (न कि तटरूप धर्मी पर जो कि 'गङ्गा' शब्द का लक्ष्यार्थ है) ।

विमर्श—(क) व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन के 'धर्मिगत' कि वा 'धर्मगत' होने से लक्षणाभेदों के द्वैविध्य का विचार कान्यप्रकाशकार ने नहीं किया । साहित्यदर्पणकार का यह विश्लेषण एक विशेषता अवश्य रखता है किन्तु 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के प्रवर्तकाचार्य द्वारा लक्षणा के भेद-प्रभेदों का यह निष्कृष्ट निरूपण औचित्यपूर्ण होने के बदले पाण्डित्यपूर्ण लग रहा है । रसात्मक वाक्य की रचना लाक्षणिक पदों की अपेक्षा व्यञ्जक तत्त्वों पर निर्भर रहा करता है । 'स्निग्धश्यामल' आदि सूक्ति में ध्वनिवादी आचार्यों ने 'अर्थान्तरमकमिति वाच्यध्वनि' का दर्शन किया है । यहाँ ध्वनिकार का यह कथन है—

'स्निग्धश्यामल'... 'देवि धीरा भव ॥' इत्यत्र रामशब्दः । अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तर-
-गत' सङ्गी प्रत्याख्यते न संज्ञिमात्रम् ।'

चौचनकार का इस पर यह व्याख्यान है—'स्निग्धश्यामलसवन्धनरसया श्यामलया त्वनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचयेन लिप्तमाच्युरितं वियस्यो यैः । न्यो विजृम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागदात् प्रहर्षवशाच्च यलाका' मितपक्षिविशेषाः त एव विधा मेधाः । एव नभस्तावद्दुरालोकं वर्तते । दिशोऽपि दुःसहाः, यतः सूक्ष्म-
-कणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेपामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम् ।
; गुहासु क्वचित् प्रविश्यास्यतामित्यत आह—पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च मत्सु ये मनहृदया मयूरास्तेपामानन्देन हर्षेण कलाः पट्जसंचादिन्यो मधुरा, केका, शब्द-
-तेषां ताश्च सर्वं पयोदवृत्तान्तं दुःस्सह स्मारयन्ति । स्वयं च दुःसहा इति भावः । एव-
-पनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः ... 'प्रियतमां हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह—
-नं मन्वति । इदमिति सातिशयम् कठोरहृदय इति । रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाश-
-गाय कठोरहृदयपदम् । '.....' अन्यथा रामपदं दशरथकुलोद्भवचक्रौत्सवास्तेहपात्राव्याख्य-
-तज्ञानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेदिति ।, अस्मीति । स एवाहं
-तस्मीत्यर्थः । भविष्यतीति क्रियामामान्यम् । तेन किं करिष्यतीत्यर्थः । अथ च भवन्-
-तस्या अस्मात्प्रत्ययमिति । उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशब्दत्रिकल्पवरम्परया
-दर्शाभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससभ्रममाह—एहा ऐति । देवीति । युक्तं तव धैर्य-
-वर्धः । अनेनेति । रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः । व्यङ्ग्यं धर्मान्तरप्रयोजनरूप
-ध्वनियौसनाद्यसंख्येयम् । तद्यासरयत्वादिनिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम् । प्रमेणाप्य-
-जम्प्येक्षणीविषयमावाभावाच्च चित्रचर्वणापदमिति न चारयानिहायकृत् । प्रतीयमानं
-तदसंख्येयानुद्भिन्नविशेष्येनेति किं किं रूपं न सह्य इति चित्रपानकरगापूपगुदमोदक-
-तीक्ष्णचित्रचर्वणापद भवति । '.....' एष एष प्रयोजनस्य प्रतीयमानवैरोत्कर्षहेतु-

(निर्दिष्ट लक्षणाभेद-सकलन)

तदेवं लक्षणाभेदाश्चत्वारिंशन्मता वुधैः ॥ ११ ॥

(लक्षणा के ४० भेदों का निरूपण)

रूढावष्टौ फले द्वात्रिंशदिति चत्वारिंशल्लक्षणाभेदाः ।

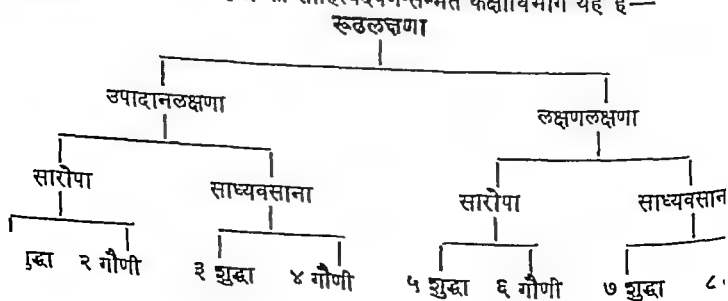
सन्तव्यः । मात्रग्रहणेन सञ्ज्ञी नात्र तिरस्कृत इत्याह तेन शुद्धेऽर्थे मुरये याधानि तत्रार्थे तद्धर्मसमवायः । तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति । व्यङ्ग्या साधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि ।—(ध्वन्यालोकलोचन द्वितीय उद्योत)

वस्तुतः इन सब बातों का ही ध्यान रख कर साहित्यदर्पणकार ने 'राम' पद की लक्षण गूढव्यङ्ग्य प्रयोजन का 'धर्मगत' रूप निर्दिष्ट किया है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' पद की लक्षणा का प्रयोजन 'धर्म' माना है अर्थात् यह प्रतिपादित किया है कि 'गङ्गाया घोषः' कहने में शैत्यपावनत्वादि धर्म अतिशय का प्रत्यायन ही वक्ता का प्रयोजन है । इस पर साहित्यदर्पण के 'विमला' व्याख्या ने आक्षेप किया है और कविराज विश्वनाथ के इस अभिमत को 'स्ववचनविरोधादेवापास्त' ('विमला', पृष्ठ ५५) कह दिया है । किन्तु यह आक्षेप निर्मूल है । साहित्यदर्पण का वाक्य है 'अत्रात्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम् । 'गङ्गाया घोष इत्यत्र तटे शीतत्वपावनस्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम् ।' यहाँ यह निःसन्देह है कि गङ्गा का लक्ष्यार्थ शीतत्वपावनत्वादि नहीं अपि तु 'तट' कहा गया है क्योंकि 'तटे' के बाद 'ल' अध्याहृत है ऐसी परिस्थिति में 'विमला' व्याख्या की यह उक्ति कि 'गङ्गाया घोषः' उदाहरण में धर्म लक्ष्य है ही नहीं, प्रत्युत तटरूप धर्मों लक्ष्य है । काव्यप्रकाश में लिखा है 'गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते' और स्वयं विश्वनाथजी 'गङ्गादिशब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात् प्रकृतेऽसम्भवन् ... तटादि बोधयति' चुके हैं, निरर्थक ही लग रही है । विश्वनाथ कविराज ने लक्षणा में व्यङ्ग्य वक्तृप्रयोजन के 'धर्म' होने को 'गङ्गाया घोषः' इस उदाहरण से जो समझाया है वह सर्वथा चतुरस्र लग रहा विश्वनाथ कविराज का अभिप्राय यह है—'स्निग्धश्यामलकान्तिलसवियत्' आदि सूचितो 'राम' पद की लक्षणा दुःखसहिष्णु राम को ही अधिकाधिक दुःखसहिष्णु रूप में प्रकाश करना चाहती है किन्तु 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' पद की लक्षणा शैत्यपावनत्वादिरूप धर्म ही उत्कटता प्रकाशित कर रही है न कि इस धर्म से युक्त तटरूप धर्मों की ।

अनुवाद—इस प्रकार जैसा कि काव्याचार्यों का मत है, लक्षणा के ४० भेद सिद्ध होते यहाँ लक्षणा के ४० भेद यों सिद्ध हैं—८ प्रकार की रूढ लक्षणार्थ + ३२ प्रकार प्रयोजनवती लक्षणार्थ = ४० प्रकार की लक्षणार्थ ।

विमर्श—(क) रूढि में लक्षणा का साहित्यदर्पण-सम्मत कक्षाविभाग यह है—



(एक अन्य निमित्त से लक्षणा का प्रकार-निरूपण)

किञ्च—

पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

(लक्षणा के ८० भेद-उपसंहार)

ता अनन्तरोक्ताश्चत्वारिंशद्वेदाः । तत्र पदगतत्वे यथा—‘गङ्गायां घोषः’ ।
वाक्यगतत्वे यथा—‘उपकृतं बहु तत्र’ इति । एवमशीतिप्रकारा लक्षणाः ।

अनुवाद—उपर्युक्त ४० प्रकार की लक्षणाएँ, ‘पदगत’ और ‘वाक्यगत’ रूपसे, दो प्रकार से विभक्त दिखायी दिया करती हैं ।

अनुवाद—यहाँ कारिका में ‘ता’-‘उन लक्षणाओं’ का अभिप्राय है अभी-अभी प्रतिपादित ४० प्रकार की लक्षणाओं का । अब लक्षणा के ‘पदगत’ होने का उदाहरण तो ‘गङ्गायां घोषः’ रहा (जहाँ ‘गङ्गा’ यह एक पद लाक्षणिक है) और उसके ‘वाक्यगत’ होने के उदाहरण के रूप में ‘उपकृतं बहु तत्र’ आदि सूक्ति पूर्वोद्धृत है ही (जहाँ अनेकानेक पदों में विपरीत लक्षणा विराज रही है) । इस प्रकार लक्षणा के सब मिला कर ८० प्रकार निःसंदिग्ध सिद्ध हैं ।

विमर्श—(क) लक्षणा-शक्ति के उपर्युक्त बहुविध विवरों का निर्देश साहित्यदर्पणकार समीक्षादृष्टि का परिणाम है । इस पर आचार्य महिममट्ट के पदार्थ-वाक्यार्थ-वैविध्यनिरूपण पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा है । इससे प्रभावित होकर बाद के आलङ्कारिकों ने ‘लक्षणा और रूपक अलङ्कार के भूमिकावन्ध’ का पर्याप्त विवेचन किया है । जैसे कि श्रीमदच्युतराय ने ही अ ‘साहित्यसार’ में स्पष्ट कहा है—

‘गौणी प्रयोजनवती सारोपा चन्द्र आननम् । गौर्वाहीक इति ज्ञेया रूपकालङ्कृतौ हिता
सैव साध्यवसाना तु गौरेवायमिति स्फुटा । चन्द्र एवेदमित्यादौ रूपकातिशयोक्तिकृत्
प्रयोजनवती शुद्धा सारोपार्युर्ध्वं रविति । सैव साध्यवसाना चेदायुरेवेदमित्यपि
उन्मादो मृत्युरासोक्तिरेवामृतमिति क्रमात् । हेत्वलङ्कारघोधावोपयुक्तास्ति द्विधाप्यसौ
अथ प्रयोजनवती विरुद्धा धन्य एव स । किं वक्तव्यमिहेत्यादावधन्यो लक्षयतेऽनया
व्याजस्तुतिरलङ्कारः सिध्यत्यस्याः प्रसादतः । प्रयोजनवती तद्वदेवा लक्षितलक्षणा
वैदेहीमवलोक्यैव स्तब्धो रघुकुलोद्भवः । वैदेहीतिपदे लक्ष्यो विदेह स्तत्पिता ततः
विदेहकैवल्यानन्दो लक्ष्यः स्तब्धत्वकारकः । कारण काव्यलिङ्गाख्यालङ्कृतेरियमीषयते
(साहित्यसार) । पेरवातरत्न २ प

इसके अतिरिक्त लक्षणा के विशद विवेक का एक और भी प्रयोजन है जैसा कि ‘त्रिवेणिक
कार आचार्य आशाधर ने निर्दिष्ट किया है—

‘यदि लक्षणावृत्तिर्न स्यात् तर्हि घृणाकरं त्रपाकरणममङ्गलञ्चेति त्रिविधमश्लील वारणिकः
कः क्षमेत । तथाहि—

विष्टोत्सारणकर्ता मर्ता कार्येषु पादचार्यनुगः ।

कृतयामना च विटस्त्री कार्ये गह्वरेऽपि तुच्छमूल्यानि ॥

अत्र लक्षणा दोषोद्धारः—

मलसमार्जनकर्ता त्यक्तास्मेहश्च पादचार्यनुगः ।

कृतगमना च विटस्त्री कार्ये गुह्येऽपि तुच्छमूल्यानि ॥

(व्यञ्जनाशक्ति : लक्षण)

अथ व्यञ्जना—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ॥ १२ ॥

सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।

(व्यञ्जना लक्षण-परिष्कार)

‘शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः’ इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्व स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यया अपरोऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम ।

अत एवाहुः—

शक्तिं भजन्ति सरलाः लक्षणां चतुरा नराः ।

व्यञ्जनां नर्ममर्मजाः फवयः कमनाः जनाः ॥

भावार्थ—व्यञ्जनाशक्ति शब्द और अर्थ आदि की यह शक्ति है जो अभिधा आदि शक्तिओं के शान्त हो जाने पर (अपने-अपने कार्य कर चुकने के बाद हीण सामर्थ्य हो जाने पर) एक ऐसे अर्थ का अवबोधन कराया करती है जो (वाध्य, लक्ष्यादिरूप अर्थों से) सर्वथा एक विलक्षण प्रकार का अर्थ हुआ करता है ।

अनुवाद—यहां अभिधादि शक्तिओं के शान्त हो जाने का अभिप्राय यह है—एक सामान्य सिद्धान्त है—‘शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः’ अर्थात् एक बार जब शब्द, बुद्धि और कर्म अपना अपना व्यापार कर चुकते हैं तब फिर उनमें कोई व्यापार नहीं हो सकता । इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना अनिवार्य है कि अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य की शक्तियां जब एक बार अपना-अपना अर्थ उपस्थित कर चुकीं तब फिर किसी अर्थ का उपस्थापन कदापि नहीं कर सकतीं । अब यदि कहीं वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्य रूप अर्थों से सर्वथा भिन्न अर्थ प्रतीत हो रहा हो जैसा कि हुआ ही करता है तब यह निश्चित है कि निम्न शक्ति के द्वारा यह अर्थ उपस्थापित किया जा रहा है यह शक्ति व्यञ्जनाशक्ति है । इस शक्ति को व्यञ्जन कहें, ध्वनन कहें, गमन कहें, प्रत्यायन कहें या और जो चाहें कहें किन्तु इसे अभिधादि ने विलक्षण ही मानना पड़ेगा क्योंकि यह शक्ति केवल शब्द की नहीं, किन्तु अर्थ की (और अर्थ की ही क्यों ?) प्रकृति की, प्रत्यय की, उपसर्ग की और निपात आदि-आदि की शक्ति के रूप में स्फुरित हुआ करती है ।

विमर्श—(१) शब्दविमर्श—यह शब्द व्यञ्जना परिभाषा आदि तत्त्वों के विमर्श ही शान्त होना चाहता है—

‘विमर्शनाभिधा गच्छेत्’ इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारात्ममभिधानात् । “प्रतिपक्षिष्ठान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्या पदार्थप्रतिपक्षुपक्षीणाया विरम्यव्यापारात् इति तात्पर्यवर्णयवान्वयप्रतिपक्षि । ” “विमर्शमाश्वरः” इत्यत्र द्वितीयक-रूपानिविष्टतापर्यन्तमित्यन्वयवाचकोऽयमात्रान्तरमभिधानादप्यन्तर्हित्यस्वतिरिक्ता-सावत्प्रतीत्यैव शक्तिस्तद्वाधशक्तिरुत्तरजनिदुःख । “प्रज्ञाभिधाना मनुत्तमति । ” “न ध्वं भगिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारान्तरादप्यविवक्षिता । चतुर्थ्यां तु कष्टायां ध्वनन-व्यापारः । ” अस्मादभिधानापर्यन्तव्यापारविमर्शप्रभृत्योऽपि व्यापारोऽध्वननघोषनध्वनन-

(व्यञ्जना के प्रकारों का निरूपण - शाब्दी व्यञ्जना)

तत्र—

अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ॥ १३ ॥

(१-अभिधामूलक व्यञ्जना)

अभिधामूलामाह—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।

एकत्रार्थेऽन्यधीर्हेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया ॥ १४ ॥

प्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः ।' (धन्यालोकलोचन, १म उद्योत) ।

अर्थात् व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्ति में अभिधा-तात्पर्य किंवा लक्षणाशक्तियों का कोई एक नहीं हो सकता । अभिधा का हाथ तो शामिल नहीं हो सकता क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ साकेतिक अर्थ नहीं हुआ करता । तात्पर्यवृत्ति के द्वारा व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायन श्रमलिये असम्भव है क्योंकि जिसे व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं वह पदार्थों का परस्पर सत्प्र अथवा अन्वित अर्थ नहीं अपि तु एक लोकोत्तर कमनीय अर्थ हुआ करता है । लक्षणा व्यङ्ग्यार्थ में क्योंकि प्रवेश करने लगी जब कि यहाँ उसके लिए कोई स्थान नहीं और न कोई हेतु अथवा प्रयोजन है । इन तीनों व्यापारों के अतिरिक्त किंवा इन तीनों व्यापारों से सर्वथा उत्तीर्ण व्यञ्जन अथवा ध्वनन का व्यापार ही वह व्यापार है जिसे व्यङ्ग्यवाक्योपेक्ष के लिए अनिवार्यरूप से मानना पड़ता है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने अभिधेयादि अर्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ के अवबोध में अभिधादि के व्यापार-विराम और व्यञ्जना के सामर्थ्य का जो उल्लेख किया है उसका आधार लोचनकार की यह उक्ति है—

‘योऽप्यन्विताभिधानवादी ‘यत्परः शब्दः स शब्दार्थः’ इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुत । भिन्नविषयत्वात् । अथानेकोऽसौ ? तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः । सजातीयं च कार्यं विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीना पदार्थविद्विनिपिद्धः । असजातीये चास्मन्न एव । (धन्यालोकलोचन, १४ ६४, चौखम्बा) ।

(ग) ‘साहित्यसार’ के रचयिता अच्युतराय ने ध्वनिवादो आलङ्कारिकों की इस ‘व्यञ्जना दृष्टि’ का इस प्रकार विश्लेषण किया है—

‘अशक्यालक्ष्यसबोधादमन्दानन्ददायिनी । हृदोश्चुम्बनत किं न व्यञ्जना रञ्जनं जना’ ततो निमित्तादिभिदा सिद्धा दृष्टिद्वयेतरा । धीरैकगम्या वदने व्यञ्जना च स्मितद्युति ॥ पद वाक्य पदार्थश्च वाक्यार्थो धातुरप्यथ । सुप्तिद्वच प्रातिपदिक कालो वचनमेव च ॥ अपि पूर्वनिपातश्च विभक्ति कापि तद्धित । निपाताश्चादय प्राधा उपसर्गास्तथैव च ॥ सर्वनामाव्ययीभाव इमनिच् प्रत्ययस्तथा । आधार कर्मभूताख्यो वर्णाश्च रचनास्तथा ॥ प्रबन्धाश्च कविप्रौढोक्ती रसो वस्त्वलङ्कृतिः । सकरश्चापि ससृष्टिरिति दिग् एकस्थलेऽस्ति सा ॥

जिसमें ‘व्यञ्जना’ के २८ आधारों का स्थिरीकरण है ।

अनुवाद—इस व्यञ्जना के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि शब्द की व्यञ्जना दो प्रकार की हुआ करती है—(१) अभिधामूलक व्यञ्जना और (२) लक्षणा मूलक व्यञ्जना ।

अनुवाद—अभिधामूलक व्यञ्जना का निरूपण यह है—अभिधामूलक व्यञ्जना शब्द

(२-अभिधानियामक तत्त्व और अभिधामूलक व्युत्पत्ति-स्वरूप-परिष्कार)
आदिशब्दाद्विप्रयोगद्वयः ।

उक्तं हि—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वराद्वयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' इति ।

'सशङ्खचक्रो हरिः' इति शङ्खचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते ।
'अशङ्खचक्रो हरिः' इति तद्वियोगेन तमेव । 'भीमार्जुनौ' इति अर्जुनः पार्थः ।
'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः । 'स्थाणुं वन्दे' इति स्थाणुः शिवः । 'सर्व'

को यह शक्ति है जो कि संयोगादिरूप अभिधानियामकों में से किसी के द्वारा कहीं किसी अनेकार्थक शब्द के किसी एक प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित कर दिये जाने पर एक ऐसे अर्थ को उपस्थित किया करती है जो कि वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ हुआ करता है ।

उपवाद—यहां 'संयोगाद्यै' इत्यादि कथन से अभिधानियामक तत्त्वों में 'संयोग' के अतिरिक्त जिन अन्यान्य तत्त्वों का समावेश अपेक्षित है उनमें 'विप्रयोग' आदि-आदि समझे जाने चाहियें । यस्तुतः हम प्रगट में (आचार्य भर्तृहरि की) यह सूक्ति स्मरणीय है—

'ऐसे प्रसङ्गों में, जहां किसी (अनेकार्थक) शब्द के अर्थ का परिच्छेद अथवा निर्णय न हो रहा हो, जिन कारणों से किसी अर्थ विशेष का ज्ञान सम्भव है वे हैं—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, शब्दान्तरमासिष्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि ।'

उपर्युक्त अर्थ विशेष-स्मारक तत्त्वों के उदाहरण—

(१) संयोग—जैसे कि 'सशङ्खचक्रो हरिः' । यहाँ (अनेकार्थक) 'हरि' शब्द हमलिये केवल भगवान् विष्णु का ही अर्थ दे सकता है क्योंकि शङ्ख और चक्र का सम्बन्ध हमी अर्थ में उपपन्न है (न कि अन्य अर्थों जैसे कि यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, मित्र, भेक आदि आदि में) ।

(२) विप्रयोग—जैसे कि 'अशङ्खचक्रो हरिः' । यहाँ शङ्ख और चक्र के विच्छेद के कारण 'हरि' शब्द एवमात्र विष्णुवाचक ही बन रहा है (क्योंकि जैसे शङ्ख और चक्र का संयोग विष्णु से ही सम्भाव्यत निम्न है वैसे ही इनका विच्छेद अथवा विप्रयोग भी विष्णु से ही सम्भव है न कि यमादि से) ।

(३) सामर्थ्य—जैसे कि 'भीमार्जुनौ' । यहाँ अर्जुन पद अनेकार्थक है (क्योंकि 'अर्जुन' के अर्थ वृषाक्षय पाण्डुरप्रवीर किया एक वृक्षविशेष दोनों हैं) । किन्तु 'साहचर्य' के कारण अर्थात् 'भीम' पद के भौतमेगन्ध और 'अर्जुन' पद के पाण्डुरप्रवीर भीमानुज अर्जुनरूप अर्थों में ही सहचरभाव की सगति के कारण 'अर्जुन' पद का अर्थ एवमात्र वृषाक्षय अर्जुन ही हो सकता है (न कि वृक्षविशेष) ।

(४) विरोधिता—जैसे कि 'कर्णार्जुनौ' । यहाँ 'विरोधिता' अर्थात् पाण्डुरविज परवि-

जानाति देवः' इति देवो भवान् । 'कुपितो मकरध्वजः' इति मकरध्वजः काम
'देवः पुरारिः' इति पुरारिः शिवः । 'मधुना मत्तः पिकः' इति मधुर्वसन्तः
'पातु वो दयितामुखम्' इति मुखं सांमुख्यम् । 'विभाति गगने चन्द्रः' इति
चन्द्रः शशी । 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः । 'भाति रथाङ्गम्' 'रथ
ङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम् । स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृ
काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः ।

रोध के भाव के कारण 'कर्ण' पद का अर्थ केवल सूतपुत्र कर्ण ही हो सकता है (न कि क
आदि आदि) ।

(५) अर्थ—जैसे कि 'स्थाणुं वन्दे' । यहाँ 'अर्थ' अर्थात् वन्दना के अर्थ अथवा प्रयो
की दृष्टि से 'स्थाणु' पद का अभिप्राय एक मात्र भगवान् शिव हो सकता है (न कि व
कुछ जैसे कि दूढ़ आदि ।

(६) प्रकरण—जैसे कि 'सर्वं जानाति देव' । यहाँ 'देव' पद, जो कि अनेकार्थक
प्रकरण के कारण एक मात्र 'आप' इस अर्थ का ही उपस्थापक हो रहा है (न कि दे
आदि आदि का) ।

(८) लिङ्ग—जैसे कि 'कुपितो मकरध्वज' । यहाँ लिङ्ग अर्थात् मीनध्वजरूप धर्म
शेष के कारण 'मकरध्वजशब्द' का अर्थ एकमात्र 'कामदेव' ही हो सकता है (न
'समुद्र' आदि) क्योंकि समुद्ररूप अर्थ में यह धर्मविशेष साक्षात् सगत नहीं) ।

(८) शब्दान्तरसन्निधि—जैसे कि 'देव' पुरारि' । यहाँ 'अन्यशब्दसन्निधि' के कारण
अर्थात् 'देव' शब्द के समीप्य से 'पुरारि' पद केवल शिव का ही वाचक हो सकता है (न
कि किसी शत्रुनगरसहारक अन्य राजवीर आदि का) ।

(९) सामर्थ्य—जैसे कि 'मधुना मत्तः पिक' । यहाँ सामर्थ्य के कारण अर्थात् कोकिल
को उन्मत्त बनाने के सामर्थ्य के कारण 'मधु' पद का एकमात्र अर्थ वसन्त ऋतु ही हो सकता
है (न कि और कुछ जैसे कि दैत्यविशेष, मधु आदि) ।

(१०) औचित्य—अथवा औचित्य, जैसे कि 'पातु वो दयितामुखम्' । यहाँ औचित्य के
कारण अर्थात् कामार्त्त प्रेमी के परित्राण की योग्यता की दृष्टि से 'मुखम्' पद का अर्थ
एक मात्र 'सांमुख्य' अथवा अनुकूलता ही निकल सकता है (न कि मुह जिसमें प्रेमी के
परित्राण की कोई योग्यता नहीं) ।

(११) देश—जैसे कि 'विभाति गगने चन्द्रः' । यहाँ 'देश' के कारण अर्थात् आकाश-
रूप देश अथवा स्थान के विवक्षित होने की दृष्टि से 'चन्द्र' पद (जो कि कर्पूर आदि अर्थों
का भी वाचक है) एक मात्र 'चन्द्रमा' का अर्थ रख सकता है ।

(१२) काल—जैसे कि 'निशि चित्रभानु' । यहाँ 'काल' के कारण अर्थात् रात्रिरूप
समय की विवक्षा की दृष्टि से 'चित्रभानु' पद (जो कि अग्नि और सूर्य दोनों अर्थों का
वाचक है) केवल 'अग्नि' का ही अर्थ रख सकता है ।

(१३) व्यक्ति—जैसे कि 'भाति रथाङ्गम्' । यहाँ 'रथाङ्ग' पद (जो कि चक्र और चक्र-
वाक दोनों अर्थों का वाचक है) व्यक्ति अर्थात् नपुंसकलिङ्ग के कारण एकमात्र रथ के चक्र
(पहिये) का ही अर्थ दे सकता है ।

(१४) स्वर—'स्वर' के द्वारा अनेकार्थक पद के अर्थ का निर्णय केवल वेद में ही संभव
है न कि काव्य-साहित्य में । स्वर की अर्थ-नियामकता का उदाहरण इसीलिये यहाँ नहीं
दिया जा रहा ।

इदं च केऽप्यसहमाना आहुः—स्वरोऽपि काकादिरूपः काव्ये विशेषप्रती-
तिकृदेव । उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा शृङ्गारादिरसविशेषप्रतीतिकृदेव'
इति एतद्विषये उदाहरणमुचितमेव इति, तत्र ; तथाहि—स्वराः काकादयः
उदात्तादयो वा व्यङ्ग्यरूपमेव विशेष प्रत्याययन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थ-
त्वस्यैकार्थनियन्त्रणरूपं विशेषम् । किञ्च यदि यत्र कचिदनेकार्थशब्दानां
करणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्य,
वा तथाविधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसङ्गः; न च तथा, अत एवाहुः
श्लेषनिरूपणप्रस्तावे—‘काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते’ इति च नयः, इत्यल-
पजीव्यानां मान्यानां व्याख्यानेषु कटाक्षनिक्षेपेण । आदिशब्दात् ‘एतावन्मा-
न्तनी’ इत्यादौ हस्तादिचेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वम् ।

किन्तु कतिपय काव्याचार्य यह मानने को तैयार नहीं कि स्वर केवल धेद में ही अर्थ
प्रयामक हुआ करता है । उनका यह कहना है—‘स्वर अर्थात् भिन्न भिन्न प्रकार का
निर्विकाररूप कण्ठस्वर तो काव्य में अर्थविशेष का परिच्छेदक हुआ ही करता है
पर्योकि भरतनाट्यशास्त्र की यही मर्यादा है) । साथ ही साथ उदात्तादि रूप स्वर भी,
या कि (नाट्यशास्त्रकार) भरतमुनि ने पाठ्य के धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है,
द्वारादिभिन्न-भिन्नरस-भावों के प्रत्यायन करने में समर्थ होई । ऐसी परिस्थिति में, काव्य-
‘हित्य में स्वर की अर्थनियामकता का उदाहरण देना तो उचित ही है ।’ किन्तु वस्तुतः
ए कथन युक्तियुक्त नहीं । पर्यो ? हमलिये कि निर्विकार अथवा उदात्तादिरूप स्वर
ले हा स्वल्पस्वरूप अर्थविशेष के प्रत्यायक हों, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकल
सकता कि इनके द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द का किसी एक अर्थ में नियन्त्रण भी, जिसका
हो प्रतिपादन अभीष्ट है, किया जाया करता है । यहां एक और भी बात ध्यान देने की
और यह यह है—किसी स्थित प्रसङ्ग को छें, जहां प्रकरणादि के द्वारा किसी अनेकार्थक
शब्द के अर्थ या निर्णय सम्भव नहीं और उस शब्द के दो (अथवा दो से अधिक) अर्थ
देना किसी संश्लेष के निष्फल रहे हों । अब यदि यह कहा जाय कि उस शब्द का पाठो-
क्त स्वर उस शब्द के दोनों अर्थों में से किसी एक अर्थ का निर्णायक बन जाया करता है
य तो इससे पहले यही कहा जायगा कि ऐसे प्रसङ्गों में श्लेषालङ्कार नाम की कोई चीज
नहीं हुआ करती । किन्तु बात तो यह है कि ऐसे प्रसङ्ग श्लेषालङ्कार के ही प्रसङ्ग हुआ
रहे हैं । वस्तुतः हमलिये श्लेषालङ्कार-निरूपण के प्रसङ्ग में यह कहा गया है (जेसा
ह काव्यप्रकाश में आचार्य सम्मत ने ही कहा है) ‘काव्य का छेत्र ऐसा है जहां स्वर का
हो काम नहीं ।’ अन्तमोग्या मिश्रान्त यही निवारा कि काव्य में स्वर को अर्थनियामक
हो माना जा सकता (और हमलिये इसके उदाहरण न दिये जाने की तो बात कही
की यह शोक हो रही गयी) । हम सम्बन्ध ने और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है
हन्तु अत्र है न कहा जाय क्योंकि ऐसा करना प्राचीन प्रामाणिक काव्याचार्यों की
सीमाओं पर कटाघ करना ही होगा ।

(१५) स्वर के लक्षिरिक्त भिन्न अन्य अर्थनियामक गार्यों को ‘वादि’ शब्द द्वारा
सुचित किया गया है (‘स्वरादयः’ इत्यादि में) उनमें सेछा अथवा अनिनयमुदा-
हरितादि अन्तर्भूत है । सेछा लक्षणा साथ आदि की मुद्राओं के द्वारा अर्थ का निर्णय,
से कि—‘एतावन्मात्रमनी’ आदि में । यहाँ छेछा की सेछाओं में ही ‘एतावत्’ शब्द

एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थवृद्धिहेतुः शक्तिः
साऽभिधामूला व्यञ्जना ।

यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वर-
श्रीचन्द्रशेखरसांधिविग्रहिकाणाम्—

‘दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं समीलयस्तेजसा

प्रोद्यद्वाजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्धृतो भोगिभिः ।

नक्षत्रेशकृतक्षणो गिरिगुरौ गाढा रुचि धारयन्

गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ॥’

अत्र प्रकरणेनाभिधया उमावल्लभशब्दस्योमानाम्नीमहादेवीवल्लभभानुदेव-
नृपतिरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयेव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते । एवमन्यत् ।

कमलकोरक आदि-आदि अभिप्रायों को दिया करता है जिनसे यहां नायिका के स्तनों की
रूपरेखा का निर्देश विवक्षित है ।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि अभिधामूला व्यञ्जना वह शक्ति है जिसके
द्वारा किसी शब्द का एक अन्य ही अर्थ निकला करता है और वहाँ निकला करता है
जहाँ उस शब्द की अभिधा (किसी न किसी अभिधा नियामक तत्त्व के द्वारा) किसी
एक अर्थ में नियन्त्रित कर दी गयी होती है । अभिधामूला व्यञ्जना के उदाहरण के रूप
में चतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्ग, महाकवीश्वर, महापात्र पूज्य पितृचरण श्रीचन्द्रशेखर
सांधिविग्रहिक की यह सूक्ति पर्याप्त है—

‘(दुर्गालङ्घितविग्रहः) जिसकी सामरिक शक्ति को वड़े-उड़े दुर्ग भी नहीं रोक सकते,
(मनसिज तेजसा समीलयन्) जिसके सौन्दर्य से कामदेव भी परास्त पड़ा है, (प्रोद्यद्वा
जकुलः) जिसने कितने ही अभ्युदयशील राजगणों को अपना वशवर्ती बना रखा है,
(गृहीतगरिमा) जिसके आगे गौरव अथवा महत्त्व भी पराजित रहा करता है, (विष्वग्
धृतो भोगिभिः) जिसके चतुर्दिक् महावैभवशाली लोग रहा करते हैं, (नक्षत्रेशकृतक्षणां)
जो बड़े-बड़े राजाओं पर भी उपेक्षादृष्टि रखा करता है, (गिरिगुरौ गाढां रुचि धारयन्)
जिसकी भगवान् शिव में प्रगाढ भक्ति है, (गामाक्रम्यविभूतिभूषिततनु) और जो कि
विजय करने के कारण अपने समस्त ऐश्वर्य में सुशोभित है वह (उमावल्लभः)
महारानी उमा का प्राणपति महाराज श्री भानुदेव (राजति) सदा विराजमान रहे ।’

यहां अभिधामूला व्यञ्जना इसलिये है क्योंकि प्रकरण ने भले ही ‘उमावल्लभ’ शब्द
को एकमात्र ‘उमा नाम की महारानी के पति महाराज श्री भानु देव’ के अर्थ में नियन्त्रित
कर रखा हो जैसा कि वस्तुतः कर ही रखा है, किन्तु यह निश्चित है कि इसका यहां एक
अन्य ही अर्थ अर्थात् पार्वतीपति शिवरूप अर्थ निकल पड़ता है (और अन्त में महाराज
भानुदेव और भगवान् शिव का परस्पर औपम्य भी स्पष्ट अभिव्यक्त हो उठता है) । इसी
भांति इस व्यञ्जना के अन्यान्य उदाहरण स्वयं देखे जा सकते हैं ।

विमर्श—(क) शक्तिनियामक तत्त्वों का उदाहरणपूर्वक लक्षण ‘साहित्यसार’ (शेषाव
रत, २य प्रकरण) के इन श्लोकों में स्पष्ट है—

‘नानार्थवाचके शब्दे शक्तिग्रहनियामका । सयोगादय एवात्र ज्ञेया प्राचीनसम्मताः ॥
हरिः सशङ्खचक्रोऽत्र सयोगाद्विष्णुरुच्यते । अशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रेन्द्रः स्याद्वियोगतः ॥
श्री रामलक्ष्मणाद्यत्र सीतेशः साहचर्यतः । हरिर्नागं हिनस्त्यत्र विरोधात्सिंहदन्तिनौ ॥’

स्याणुं भवच्छिदे परयेत्यत्र शंसुः प्रयोजनात् । सैन्धवं स्वानयेत्यत्र पारः प्रकरणाद् भवेत् ॥
माधवस्तुष्यतीत्यत्र लिङ्गाभारायणः खलुः । देवस्त्रिपुरहरेत्यत्र शिवोऽन्यपदसंक्षिप्ते ॥
मधुना फोकिलो मत्तोऽत्र सामर्प्याद्विसन्तकः । भीक्षित्यात्मा मुखं यातीत्यत्र सांमुष्यमुच्यते ॥
हंसः सरसि भातीति देशयोगान्मराटकः । चित्रमानुः स्फुरत्यत्र दिवाकौ निशि पावकः ॥
मित्रमस्तीत्यत्र सहृदयकृपा मित्रं प्रभाकरः । इतः सदैव्यः प्राप्तश्रीरिति चेष्टावशात्स्वयम् ॥'

(ग) शक्तिनियामक तत्त्वों का सर्वप्रथम दिग्दर्शन महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि का किया हुआ है। 'वाक्यपदीय' के रचयिता आचार्य भर्तृहरि ने 'संयोगो विप्रयोगश्च' आदि कारिका में शब्द-दर्शनों की शक्तिनियामकतामन्वयों धारणाओं का स्पष्ट किया है। आचार्य भर्तृहरि की इस मन्वय में अपनी धारणा यह है।

‘वाक्यात् प्रकरणादर्थोचित्यादेशकालत’ ।

शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलम् ॥' (वासयपदोप २,३१६)

अर्थात् वाच्य, प्रकण्ण, अर्थ, औचित्य, देश और काल—ये वे अर्थनिर्वाणक तत्त्व हैं जो किसी शब्द के अर्थ के निर्धारण में काम करते हैं। कोई शब्द अपने स्वरूप माप में अपने अर्थ का निर्धारण नहीं करता करता।

यतिपद आचार्य केवल 'सांमर्थ्य' को ही मुख्य अर्थनिर्णायक माना करते हैं और सयोगादि भी सांमर्थ्य का ही व्यवशक्त-प्रपञ्च मिला करते हैं। मर्यादाकारण नामंशमद्व ने 'संयोगो विप्रयोगश्च' का वह अभिप्राय लिया है—

‘एते त्रयोनादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे सन्देहे तदपाकरणद्वारेण विदोषस्तृतिहेतवो निर्णयहेतव इत्यर्थः । उपस्थितानामनेकेषामेकत्रमात्रार्थतात्पर्यनिर्णयद्वारा तन्मात्रार्थ विषयकान्वययोधजनका इति भावः । (देवगिरिनिदाननञ्जया, पृष्ठ १०९)

ज्यादा उपयोगिता के लिए 'सर्वद्वारस्यानयच्छेदे विशेषस्तुतिहेतव्य' कर्म का जो अभिप्राय है वह यह है—वैश्वय शब्द अनेकार्थक हुआ रहने है। ऐसे शब्दों के अर्थों के निर्धारण में संदेह का होगा स्वाभाविक है। उपयोग, विप्रयोग आदि के द्वारा ही ऐसा समझ है कि अनेकार्थक शब्द के अर्थों में एक अर्थ या निर्णय हो सके। इसलिये उपयोगिता को 'विशेषस्तुतिहेतु' अर्थात् 'अर्थनिर्णयहेतु' कहा गया गया है।

सदीति के साथ 'निरर्थक' शब्द के 'अर्थनिरास' तथा 'अर्थनिष्पत्ति' का यही निम्नान्वय है। 'निरर्थक' का अर्थ तो यही है। किन्तु 'निरर्थक' निष्पत्ति ही है, यदि साथ में दूसरे शब्द का अर्थ हो तो वह भी 'निरर्थक' माना जाये। अतः ही नाममन्त्र का कथन है—

‘अचिन्त्वा प्रत्ययगित्वाद्यं योऽप्युत्तरं यच्छृणोत्यन्यं शिष्टं प्रमत्तिभाट्टिगृह्यकारेण द्वितीयाधः योऽप्युत्तरं ॥’

[illegible]

'सुखार्थयोगप्रदतिरिपेक्षोपज्ञा' । सुखार्थनिवृत्तानन्दसाधारणमिदामिदार्थवि-
यमे । अत्र प्रादि विनिश्चयज्ञानमभिगाह्य न सकारिणेयोप्यज्ञा । येन तन्निदानम् ।

जहाँ-जहाँ भी जाय, वहाँ-वहाँ से जलवायु का प्रभाव महसूस किया जाय। अतः जलवायु का प्रभाव जहाँ-जहाँ भी जाय, वहाँ-वहाँ से महसूस किया जाय। अतः जलवायु का प्रभाव जहाँ-जहाँ भी जाय, वहाँ-वहाँ से महसूस किया जाय।

हे। मुख्यार्थ और अमुख्यार्थ की प्रतीति के सहायक तत्त्व कुछ और हैं और व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति के सहायक तत्त्व और।

(ग) सयोगादि जो शक्तिनियामक अथवा अभिधानियामक तत्त्व हैं उनमें प्रत्येक का स्वरूप असंकीर्ण है। जैसे कि 'सयोग' और 'नाष्टनय' एक नहीं अपितु परस्पर भिन्न तत्त्व हैं। 'सयोग' का अभिप्राय है प्रसिद्ध 'समन्ध-सामान्य' और यह सयोगवाचक शब्द द्वारा प्रकट किया जाया करता है। जैसे कि 'सशङ्खचक्रो हरि' आदि में। 'सशङ्खचक्रो हरि' आदि में शङ्ख और चक्र का भगवान् विष्णु से जो सम्बन्ध है वह प्रसिद्ध है किंवा साक्षात् शब्दोपात्त है। 'साहचर्य' में सयोग का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि 'साहचर्य' का अभिप्राय स्वस्वामिभाव, जन्यजनकभाव, स्वामिमृत्युभाव आदि २ विशिष्ट सम्बन्धों से सम्बद्ध और शरीरिये द्वन्द्वादिसमासगत परस्परसम्बन्धी पदार्थों का है जैसे कि 'रामलक्ष्मणौ' आदि में, जहाँ 'लक्ष्मण' का साहचर्य राम शब्द की अभिधा का 'राघव' अर्थ में नियामक है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट कहा है—'सयोगशब्दस्य सवन्धसामान्यपरतया यत्र शब्दोपात्त प्रसिद्ध सवन्धसामान्य शक्तिनियामक तद्व्यस्य (सयोगस्य), यत्र द्वन्द्वदिगत सवन्ध्येव केवलस्तदा तत्साहचर्यस्योदाहरणमिति प्राचामाशयात्। इत्थं च 'सगाण्डिवोऽर्जुनः' इति सयोगस्य, गाण्डिवार्जुनाविति साहचर्यस्योदाहरणम्।'।

(रसगङ्गाधर, पृष्ठ १४९)

'सयोग' और 'विप्रयोग' को पृथक् २ मानने का अभिप्राय यह है कि 'अशङ्खचक्रो हरि' आदि में विभाग अथवा विप्रयोग के सयोग-पूर्वक किंवा सयोग-मापेक्ष होने से वस्तुतः तो 'सयोग' ही अभिधानियामक माना जाना चाहिये किन्तु 'सयोग' के गौण होने और 'विप्रयोग' के प्रधान होने के कारण 'विप्रयोग' को ही अभिधानियामक मानना उचित है और माना भी गया है। रसगङ्गाधरकार ने इसीलिये कहा है—'यद्यप्यत्र गुणतया वर्तमानस्तादृशसयोग एवाभिधा-नियमनायालम्, तथापि गुणप्रधानयोः सन्निपाते प्रधानानुरोध एव न्याय्य इत्याशयेन विप्रयोगस्य नियामकत्वमुक्तम्'।

विरोधिता का तात्पर्य प्रसिद्ध वैर किंवा सहानवस्थान (साथ न रहना) है। 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस प्रयोग में विरोधिता अथवा प्रसिद्ध वैर के द्वारा ही राम और अर्जुन पदों की अभिधा भार्गव और कार्तवीर्य अर्थों में एक समय नियन्त्रित की जाया करती है। 'सहानवस्थान' के द्वारा अभिधानियन्त्रण का उदाहरण 'द्यायातपौ' है। 'रामार्जुनगतिस्तयोः' में प्रकरण द्वारा अभिधा का नियन्त्रण नहीं क्योंकि यहाँ प्रकरण से दो व्यक्तियों के पारस्परिक विरोध का भाव भले ही निकले, भार्गव और कार्तवीर्य के विरोध का भाव यहाँ प्रकरण-प्राप्त कहा? पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—'न च प्रकरणाद्विशेषः। विरोधस्य प्रक्रान्तत्वेऽपि भार्गव कार्तवीर्ययोः शक्तिनियमाधिकरणयोरप्रक्रान्तत्वात्'।

'अर्थ' और 'लिङ्ग' एक नहीं अपि तु भिन्न भिन्न अभिधानियामक हैं। 'स्थाणु भज भवच्छिदे' में 'अर्थ' को अभिधानियामक कहने और 'कुपितो मकरध्वजः' में 'लिङ्ग' को अभिधानिया मानने का पृथक् पृथक् उद्देश्य है। 'स्थाणु भज भवच्छिदे' में तो भवच्छेद का कारणभूत भ एक ऐसा विशिष्ट धर्म है जो शब्दबोध का विषय नहीं अपि तु मानस-बोध का विषय किन्तु 'कुपितो मकरध्वजः' में जो कोपरूप धर्म है वह साक्षात् शब्दबोध है। रसगङ्गाधर व्याख्याकार आचार्य नागेशमठ ने इसीलिये कहा है—

'एव चासमस्ताखण्डकपदार्थो लिङ्गमिति फलितम्। भवच्छेदनादिक च भजना रूपभिन्नपदार्थान्वितमेव भवधर्म इति भावः। (रसगङ्गाधर गुरुमर्मप्रकाश, पृष्ठ १५२)

‘प्रकरण’ का अर्थ है वक्ता और श्रोता की ‘बुद्धिस्थता’ का-वक्तृबोधोत्पत्तिस्थता (श्रुतिवार्तिक, ६)। जैसे कि यदि किसी राजा को संबोधित कर कोई कहे-‘सर्वं जानानि देवः’ तो ‘देव’ पद का अर्थ संबोध्य व्यक्ति ही होना क्योंकि वक्ता और श्रोता दोनों के मन में इस पद का यही अर्थ है।

‘अन्य शब्दसन्निधि’ के अभिधानियामक होने का तात्पर्य यह है—यदि कहीं किसी अनेकार्थक पद के साथ किसी ऐसे निश्चितार्थक पद का नामानाधिकरण्य हो जो कि उस (अनेकार्थक पद) के किसी एक अर्थ में ही अन्वित अथवा संबद्ध हो सके तो वहाँ वह (अनेकार्थमानक पद) अपने समानाधिकरण पद के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित किया जाया करता है—‘शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नियतार्थकशब्दान्तरसामानाधिकरण्यम्’—(काव्यप्रकाशप्रदीप, पृष्ठ ४४)। जैसे कि ‘देवस्य पुरारारते’ अथवा ‘देवस्य त्रिपुरारारते’ आदि प्रयोगों में ‘पुरारारति’ अथवा ‘त्रिपुरारारति’ पद के सामानाधिकरण्य से अनेकार्थक ‘देव’ पद की अभिधा महादेव शब्द के अर्थ में नियमित की हुई है क्योंकि ‘देव’ शब्द के राजविशेष आदि अर्थ के साथ ‘त्रिपुरान्तकता’ का कोई संबंध नहीं हो सकता। पण्डितराज जगन्नाथ ने ‘शब्दान्तरसन्निधि’ का यह लक्षण किंवा उदाहरण ठाक नहीं माना है। उनका यहाँ यह कहना है कि ‘देवस्य त्रिपुरारारते’ में ‘शब्दान्तर सन्निध्य’ नहीं अपि तु ‘लिङ्ग’ ही अभिधा का नियन्त्रण करता है क्योंकि ‘त्रिपुरारारति’ पद ही साक्षात् महादेव शब्द की ‘त्रिपुरान्तकता’ के धर्म को प्रकट कर देता है। ‘शब्दान्तरसन्निधि’ का उदाहरण तो ‘करेण राजते नाग’ आदि है। जहाँ ‘कर’ पद की अभिधा ‘नाग’ पद के सन्निध्य और ‘नाग’ पद की अभिधा ‘कर’ पद के सन्निध्य में गुणदादण्ट (मूढ) और गज (दार्ढ्य) रूप अर्थों में एक साथ ही नियन्त्रित हुआ करती है। यहाँ ऐसा नहीं कि दोनों पदों के परस्पर शक्तिनियमन में परस्पर सापेक्षता होने से अन्योन्याश्रय दोष पड़ता हो क्योंकि यहाँ तो एक साथ ही दोनों पदों की शक्ति नियमित हुआ करती है। यदि ऐसा न हो तो कर शब्द के ‘दाथ’ और ‘नाग’ शब्द के ‘मोक्ष’ अर्थ होने पर किस प्रकार का अन्यय यहाँ सुक्तिरुक्त हो? इसलिये ‘शब्दान्तरसन्निधि’ का तात्पर्य है—‘शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नान्यार्थपदैकार्थमाश्रयसत्पर्ययान्तर-वाचकपदसमभिव्यहारः’ (न्यायभर, पृष्ठ १५०)। अर्थात् ‘शब्दान्तरसन्निधि’ यह है जिसे किन्ना अनेकार्थक पद के साथ एक ऐसे निगमार्थक पद या समभिव्यहण (साध प्रयोग) वहना चाहिये जो उस अनेकार्थक पद के एक ही अर्थ से अन्वित हो सके।

‘अनर्थ’ या अभिप्राय है ‘काण्ठा’ का। ‘मधुना सत्त. पिक.’ जाति में अनर्थार्थक ‘मधु’ पद की अन्तिम वचन शब्द रूप अर्थ में इसलिये निरग्रिप्त है क्योंकि पिक की वचनधत्ता की वचनधत्ता वचन शब्द में ही देखी जा सकती है न कि मधु पद के अन्य अर्थों में कि वचनधत्ता नहीं है।

‘पौनःपुन्य’ की अभिधानियामकता का अभिप्राय मन्वन्तप्रकार के शब्दों में यह है—औचित्य योग्यता। यथा ‘पागु यो दयितामुत्तम’ इत्यत्र दयितामुत्तमपदपरस्परव्यतिरेकशब्द-व्यतिरेकानामानां संबोध्यपुष्पाणां प्राण हि तस्या सांमुन्येनैव भवति, न तु सुखमाश्रेण, सुखे तेन पागुयोगात्। अतस्तानाहर्ष्यं पदम्—सांमुख्योभयप्रायवकस्य सुगन्तव्यस्य।’ अर्थात् ‘पागु यो दयितामुत्तम’ यदि शब्दों में सुख और दुःख दोनों के अर्थ गत हो जायें ‘पागु’ पद का अभिधा ‘सुख’ (सुख) के अर्थ में लिखे द्वारा निश्चित हो जाता है कि ‘दयिता’ पद का अर्थ है क्योंकि ‘वचनधत्ता’ शब्दों की वचनधत्ता वचनधत्ता वचनधत्ता में ही देखी जा सकती है कि ‘पागु’ (सुख) में है।

‘देव’ का अभिप्राय महादेव, प्रमत्त आदि का बि. वचन है। ‘नामयत्र परमेश्वर’ अर्थात् ‘देवता’ में ‘देव’ (देव) का अर्थ ‘नामयत्री’ है किन्तु ‘परमेश्वर’ पद का अर्थ पद ‘परमेश्वर’

ही निकल सकता है न कि 'भगवान्' आदि। पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिधानियामकों में 'दे' का यही अभिप्राय लिया है—'देशो नगरादिः। 'भात्यत्र परमेश्वरः' इत्यादौ परमेश्वरा शब्दस्य राजादौ। तस्य नगरादिसवन्धतदभावयोः सभवेनाभावव्यावृत्त्यर्थमधिकार कीर्तनस्य सार्थक्यात्। परमात्मनस्तु सर्वगतस्य व्यावर्त्याभावात्तदुक्तिर्व्यर्थापत्तेः'।

(रमगगाधर, पृष्ठ १५५)

'स्वर' की अभिधाननियामकता वेद-वाच्य में मानी जाती है। संस्कृत काव्य साहित्य 'स्वर' की अभिधाननियामकता का कोई दृष्टान्त इसलिये नहीं क्योंकि परम्परा से काव्यमार्ग स्वर की कोई महत्ता नहीं मानी गयी—काव्यमार्ग स्वरों न गण्यते। वेद में स्वर शक्तिनियामकता शतपथब्राह्मण (१६.३.१) की इस उक्ति से स्पष्ट है—

‘अथ यद्वसवीत् इन्द्रशत्रुर्वधस्वेति तस्मादु दैन इन्द्र एव जघान। अथ यद् दश वधयदिन्द्रस्य शत्रुर्वधस्वेति शश्वदुह स एवेन्द्रमहनियत्।’

अर्थात् 'इन्द्रशत्रु' में अन्तोदात्त स्वर के प्रयोग से (क्योंकि 'इन्द्रस्य शत्रु' इन्द्रशत्रु, इस तत्पर समासान्त पद में 'समासस्य' 'पाणिनि अष्टाध्यायी ६.१.०.२३' इस सूत्र के अनुसार पद अन्तवर्ण ही 'उदात्त' स्वरयुक्त होगा) तो इन्द्र के शत्रु घृणामुर की ही विजयाकांक्षा पूर्ण होती, किन्तु यहीं पूर्व पद पर उदात्त स्वर ('इन्द्र शत्रु') के प्रयोग के कारण (क्योंकि 'वहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्-पाणिनि, अष्टाध्यायी ६.२.१'—इस सूत्र से 'इन्द्रः शत्रुर्वध' इस बहुव्रीहि समासान्त पद में पूर्व पद पर उदात्त सर्वथा उचित ही है) घृणान्ता इन्द्र की विजय मनायी गयी।

स्वर के द्वारा वेद में अर्थ-परिच्छेद का यह सिद्धान्त काव्यप्रकाशकार मम्मट को मान्य है—

‘इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेदे एव न काव्ये स्वरोऽर्थविशेषप्रतीतिकृत्’ अर्थात् 'इन्द्रशत्रुर्वध' आदि वेद-वाक्यों में ही स्वर के द्वारा किसी पद का अर्थनिर्णय संभव है काव्य में नहीं।

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की धारणा को अपनाया है और इस विषय मम्मट के आलोचकों की आलोचना की है। मम्मट के आलोचकों की यहाँ यह धारणा थी कि उदात्तादिरूप स्वर अथवा काकुरूप स्वर काव्य में भी अर्थनिश्चायक हुआ करते हैं। इस धारणा का आधार नाट्यशास्त्र (१९.४३) की यह उक्ति थी—

‘उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।

वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधना ॥

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैर्वीरौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः करुणावास्तव्यभयान्केषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयेत्।

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने नाट्यशास्त्र की इस उक्ति का दूसरा अभिप्राय लिया। उनका कहना है—‘काव्य-नाट्य में उदात्तादि अथवा काकादि स्वर अभिधाननियामक नहीं अपितु अर्थविशेष के अभिव्यञ्जक हुआ करते हैं’—इस दृष्टि से ही भरत मुनि ने पाठ्य गुणों का निरूपण किया है और यही आचार्य मम्मट की भी दृष्टि है। नव तो यह निश्चित ही है कि का में स्वर को अनेकार्थक पद का अर्थनियामक नहीं माना जा सकता।

प्रदीपकार का भी यहाँ यही अभिमत है—

‘काकुस्थले तु न नानार्थाभिधानियमन किं त्वपदार्थस्यैव व्यञ्जनम्’ (काव्यप्रदीप)

अर्थात् काकुरूप स्वर का काव्यनाट्य में प्रयोग भले हो किन्तु इसका उद्देश्य पदों का अभिधाननियन्त्रण नहीं अपितु एक ऐसे अर्थ का अभिव्यञ्जन हुआ करता है जो

(२—लक्षणा मूलक व्यञ्जना)

लक्षणा मूला माह—

लक्षणापोस्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।

यया प्रत्याग्यते सा स्याद्व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥ १५ ॥

‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादी जलमयार्थबोधनादभिधायां तदार्थबोधनाच्च

नार्थोऽपि तु यान्वयार्थे से मर्त्या विलक्षण अर्थ हुआ करता है। अभिनय (विवक्षितार्थाकृतिप्रदर्शको हस्तादिव्यापारः अभिनयः—वृत्तिवातिक, पृष्ठ ८) अथवा एतादृशेष्टा द्वारा विज्ञात पद के अभिनिर्णय का उद्देश्य ‘पदार्थोच्चारण’ आदि है जो कि वाच्यप्रकाशकार का ही दिया उद्देश्य है। उदात्तान्तरिका (पृष्ठ ५४) में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या भी हुई है—

‘सौन्दर्यातिशयशालिन्या नयनचोचरमगताया गुणध्वजगनाप्रजनिताचुरामेण नायके-
नावस्थाया पृथ्यां दृष्ट्या इयमुक्तिः ।.....पृतावत्परिमाणौ आमलकादिपरिमाणौ
स्तनौ यस्या सा पृथमेतावत् परिमाणं ययोस्ते पृतावन्मात्रे विवक्षितक्रमलदलादिपरिमाणे
नाभ्यामणिपत्राभ्यां नयनदलाभ्याम् । उपलक्षितेत्यर्थः । उपलक्षणे वृत्तीयानुशासनाव ।
तथा पृतावन्मद्विवक्षितपरिमाण दीर्घादि यस्यास्तयामूता अवस्था स्वरूप यस्याः सा
पृथमेतावत् बुद्धिस्थ परिमाणसख्या येषा तथाविधैर्दिवसैर्लक्षणया संयमैरुपलक्षिता ।
परिच्छिन्नेति यावत् । वर्षकथनस्यैव प्रायशो लोकप्रचलारमिद्वत् । दिवससंज्ञिति करणे
वा वृत्तिया । अत्र सुदुर्लभकारहस्ताभिनयेन स्तनपरिमाणविशेषे, पद्मदलाकृतिना तेन
नेत्रपरिमाणविशेषे बह्वलपट्टधारणादिरूपेण च दिवसमस्याविशेषे बुद्धिस्थमात्रशक्त्या
पृतावच्छब्दा नियमितशक्त्याः’

अभिनय के अतिरिक्त ‘अपदेश’ की भी अर्थपरिच्छेदक गानने का अभिप्राय यह है—अपदेश
‘अपदेश’ है विज्ञात अर्थ के स्पष्ट निर्देश को (विवक्षितार्थस्य शृङ्गारादिकया निर्देशः अपदेशः) ।
‘इत म दृश्य प्राप्तधी’ (कुमारविवरण २५५) आदि में ‘इत’ का अभिप्राय ‘उक्ता’ की
ही व्याख्या है क्योंकि यहाँ ही इस पद के प्रयोग में अपने वक्ष्य स्थल पर अपना लक्ष्य स्पष्ट
निर्देश प्रकट है ।

इस प्रकार हम उपर्युक्त अभिनिर्वाचकों में से विज्ञात अर्थ के द्वारा विज्ञात अर्थ के अभिनिर्णय
के ही उद्देश्य से यह भी वही बोधोद्देश्य अर्थ प्रकट हो उठे तो यह निश्चित है कि यहाँ विज्ञात
व्यापार की ओर संभावना नहीं । यहाँ तो एक मात्र व्यञ्जना का ही सामास्य है जो कि अभिनय-
वाचकता अथवा पदार्थ, अथवा पदार्थ में समी, पदार्थ चमत्कारजनक अथवा प्रकाशक
विशेषक है ।

३. १५—अथ लक्षणा मूलक व्यञ्जना का निरूपण किया जा रहा है—

लक्षणा मूलक व्यञ्जना यह है जिससे द्वारा उस प्रयोजन का प्राप्यजन्य करवाया जाया
करता है जिसकी दृष्टि से लक्षणा पद का प्रयोग हुआ करता है ।

(लक्षणा पद-प्रयोगों में) लक्षणा मूलक व्यञ्जना से द्वारा प्रयोजन के प्राप्यजन्य
का रहस्य यह है—‘गङ्गायां घोषः’—‘गंगा पर घुटी’ जैसे प्रयोग में, जहाँ ‘गङ्गा’ शब्द देवता
प्रभु है जिसकी अभिधातृत्व तो प्रकाशक अर्थ के अन्वय में ही लोग ही चुनौती है
और लक्षणा का व्यापार (मातृव्य-सम्बन्ध की प्रयोजनता से) अधिक से अधिक पद-
स्थ अर्थ का ही व्यापारण कर पाता है, यह तो प्रकट यह ही लक्षणाधिन व्यञ्जना

लक्षणायां विरतायां यया शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयाद्विर्बोध्यते सा लक्षणा
व्यञ्जना ।

का ही सामर्थ्य है जिसके द्वारा यहा शीतलता और पवित्रता के सुन्दर वातावरण
उत्कट प्रतीति करवायी जाया करती है (जिसको लषय में रखकर 'गङ्गातटे' इस वा-
पद के बदले 'गङ्गायाम्' इस लाक्षणिक पद का व्यवहार हुआ करता है) ।

विमर्श—(क) शब्दीव्यञ्जना के प्रथम भेद अर्थात् अभिगमूलक व्यञ्जना का स्वर
परिधान उसके द्वितीय भेद अर्थात् लक्षगामूलक व्यञ्जना के विग्रह परिचय के लिये आवर
है और इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने इसी क्रम से शब्दी व्यञ्जना के प्रकारों का निरूपण
किया है । व्यञ्जना को 'लक्षगामूलक' कहने से यह स्पष्ट मिल् है कि बिना व्यञ्जना के न
लक्षणा का भी रहस्य अनिभिन्न ही रह जायगा । काव्यप्रकाशकार ने इसीलिये कहा था—

‘यस्य प्रतीतिमाधातु लक्षणा समुपास्यते ।

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनात्तापरा क्रिया ॥

अर्थात् प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये यदि वाचक पदों को छोड़कर लाक्षणिक पदों का प्रयोग हु
करता है तब तो यह निश्चित है कि व्यञ्जना को लक्षणा से पृथक् शब्दशक्ति माना जाय क्यों
लक्षणा—ज्ञान और व्यङ्ग्यभूत लक्षणा—ज्ञानफल (जैसे कि 'गङ्गाया घोष' में तटरूप लक्षणा
और शैत्यादिरूप व्यङ्ग्य लक्षणा—ज्ञानफल, दोनों को लक्षणा द्वारा उपस्थापित मानना ज्ञान वं
ज्ञानफल के स्वरूपगत भेद की दार्शनिक मीमांसा से अनभिज्ञता प्रदर्शित करने के ही बरा
है—‘ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य’ फलमन्यदुदाहृतम् ।’ इसीलिये कहा गया है—

‘अन्वयानुपपत्त्या हि लक्षणा प्रसरन्ती यावदन्वयोपपादक तावदेव विषयीकर्त्ता
न त्वनुपपादकमपीति कथं तटे पावनत्वमपि विषयीकुर्यात् । नन्वन्वयानुपपत्त्या कल्प
मानापि सानुद्देश्यमपि शैत्य विषयीकरोति, यथा तापोपशमायोपादीयमान चन्द
शैत्यमपि जनयतीति चेत्, न । चन्दनस्य सनिधिमाम्रेण शैत्यजनकत्वम्, लक्षणाप
स्त्वनुपपत्तिप्रसारितयेति वैपर्यात् ।’

अर्थात् लक्षणा, जो कि अन्वय की अनुपपत्ति के कारण प्रवृत्त होती है, उतने ही अर्थ
अपना विषय बना सकती है जो अन्वय की अनुपपत्ति को दूर किया करे । ऐसा भला कैसे
लक्षणा द्वारा वह अर्थ भी प्रतीत हुआ करे जिसमें अन्वय की कोई उपपादकता नहीं । 'गङ्गा
घोषः' आदि प्रयोगों में लक्षणा द्वारा 'तट' रूप अर्थ ही प्रतिपादित हो सकता है । क्योंकि श
अर्थ से अन्वय की स्वभावतः उपपत्ति हो जाया करती है । शैत्यादिरूप अर्थ का प्रतिपाद
लक्षणा द्वारा क्यों हो ? इस अर्थ में यहाँ अन्वय की क्या उपपादकता ?

इसी विचारधारा का प्रसार 'अलङ्कारमहोदधि (२५ तरङ्ग)' में इस प्रकार दृष्टिगत होता है—

‘शब्दैरत्रोपचारेण विषय प्रतिपाद्यते ।

क्रियान्तरस्यासन्नावाद् व्यक्त्यैवातिशयः पुनः ॥

अत्रास्यामुपचारविचित्रतायामारोपस्य विषयस्तटादि शब्दैर्गङ्गादिभिरुपचारेणोप
चाराख्यव्यापारेण प्रतिपाद्यते प्रतिपत्तिगोचरता नीयते । पावनत्वादिधर्मप्रतीतिरूपस्त्वतिशय
व्यक्त्यैव व्यञ्जनाव्यापारेणैव प्रतिपाद्यते । कुतः ? क्रियान्तरस्य व्यापारान्तरस्यासन्नावाद्
सत्त्वात् । यतः पाविश्यादिधर्माणां प्रतीतौ नाभिधा प्रवर्तते । गङ्गादिशब्दानां तेष्वसकेति
त्वात् । नाप्युपचारस्तस्मिन्निमित्तानां मुख्यार्थवाच्य-तत्प्रत्यासत्त्यतिशयप्रतीतीनामभावात् ।
न ह्यत्र लक्षणीय तटादि मुख्योऽर्थः । नाप्यत्र प्रवाहादिवत् कश्चिद्वाच्यः । न चास्य पाविश्या

प्रस्तावदेशकालानां काकोशेष्टादिकस्य च ॥ १६ ॥

१. कारण—यस्यैतिष्ठ्य	३. कारण—येनैतिष्ठ्य
२. " —दोषैतिष्ठ्य	४. " —यस्यैतिष्ठ्य
३. " —पदस्यैतिष्ठ्य	५. " —यस्यैतिष्ठ्य
४. " —अन्यस्यैतिष्ठ्य	६. " —येनैतिष्ठ्य
५. " —यस्यैतिष्ठ्य	७. " —यस्यैतिष्ठ्य
६. " —यस्यैतिष्ठ्य	८. " —यस्यैतिष्ठ्य
७. " —यस्यैतिष्ठ्य	९. " —यस्यैतिष्ठ्य
८. " —यस्यैतिष्ठ्य	१०. " —यस्यैतिष्ठ्य
९. " —यस्यैतिष्ठ्य	११. " —यस्यैतिष्ठ्य
१०. " —यस्यैतिष्ठ्य	
११. " —यस्यैतिष्ठ्य	

व्यञ्जनेति सम्बध्यते ।

तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्ट्ये यथा मम—

‘कालो मधु’ कुपित एष च पुष्पधन्वा ५१॥६१॥

धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः ।

केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु-

दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य ॥’

अत्रैतं देश प्रति शीघ्र प्रच्छन्नकामुकस्त्वया प्रेक्ष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद्व्यज्यते ।

बोद्धव्यवैशिष्ट्ये यथा—

‘नि’शेषच्युतचन्दन स्तनतट निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेय तनु’ ।

मिथ्यावादिनि । दूति । बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे

वार्पी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥’

अत्र तदन्तिकमेव रन्तु गतासीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यम् । तस्य च रन्तु-मिति व्यङ्ग्य प्रतिपाद्यं दूतवैशिष्ट्याद्बोध्यते ।

यहाँ कारिका में ‘सा’-‘वह’ इस (सर्वनाम) पद के साथ ‘व्यञ्जना’ इस पद का सम्बन्ध है (न कि और किसी का) । इस प्रकार जिस शक्ति से ऐसा हुआ करता है वह शक्ति व्यञ्जना शक्ति ही है अन्य कोई शक्ति नहीं ।

जैसे कि वक्तृवैशिष्ट्य, वाक्यवैशिष्ट्य, प्रस्ताववैशिष्ट्य, देशवैशिष्ट्य और काल-वैशिष्ट्य के कारण किसी अर्थ के द्वारा अन्य अर्थ के प्रत्यायन में आर्थी व्यञ्जना का स्वरूप इस स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—

‘वसन्त की मादक ऋतु आ पहुँची है, कामदेव की तयोरियाँ चढ़ गयी हैं, रतिश्रम को दूर भगाने वाली हवा बहने लगी है, क्रीडावन भी ऐसा है जिसका अशोककुञ्ज बड़ा मनोहर दीख रहा है और पति भी पास नहीं । अरी सखी ! तू ही बता कि अब किया भी जाय तो क्या किया जाय ।’

यहाँ वस्तुतः बात यह है कि कोई नायिका अपनी सखी के प्रति यह अभिप्राय प्रकट करना चाहती है ‘यथाशीघ्र तू इस एकान्त स्थान पर मेरे प्रच्छन्नकामुक को भेज’ (और यह अर्थ ऐसा है जो इस समस्त सूक्ति के आपातत प्रतीत अर्थ से सर्वथा भिन्न प्रकार का ही अर्थ है किन्तु वक्तृवैशिष्ट्यादि के कारण इसकी प्रतीति अवश्य हो उठती है और इसी में इस सूक्ति का सौन्दर्य भी झलक उठता है) ।

बोद्धव्यवैशिष्ट्य के कारण किसी अर्थ के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति, जैसे कि—

‘तेरे स्तनों के किनारे ऐसे जिनमें चन्दन का नामोनिशान नहीं बचा ! तेरा अधर ऐसा जिसका रंग बिलकुल फीका हो गया । तेरी आँखें ऐसी जिनकी कोर में अजन की छुआचूत न रही और तेरी दुबली-पतली देह ऐसी जो पुलकित हो उठी है । अरी मुझ सरीखे सखीजन की व्यथा को कुछ न समझने वाली, झड़ी दूती ! तू यहाँ से वापी में नहाने के लिये गयी थी, उस नीच के पास भला तू कहाँ गयी !’

यहाँ पहले तो (अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ में विपरीत्य रूप सम्बन्ध के रहने से)

अन्यसन्निधिवैशिष्ट्ये यथा—

‘उअ णिच्चल णिप्पन्दा, भिसिणीपत्तम्मि रेह्ह बलाआ ।

णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ (दा)सद्दमुत्ति व्व ॥’

[पश्य निक्षलनिस्पन्दा विसिनीपत्रे राजनं बलाका ।

निर्मलमरुतमाजनपरिषिता शंसुशुक्तिरिव ॥]

अत्र बलाकाया निस्पन्दत्वेन विश्वस्तत्वम्, तेनास्य देशस्य विजनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहित प्रच्छन्नकामुकं प्रत्युच्यते । अत्रैव स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम् ।

‘भिन्नकण्ठध्वनिर्वीरैः काकुरित्यभिधीयते’ इत्युक्तप्रकारायाः काकोर्भटा आकरेभ्यो ज्ञातव्याः । एतद्वैशिष्ट्ये यथा—

‘गुरुपरतन्त्रतया वत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।

विपरीतलक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थं निरूप्य रहा है—‘तू उसी (नीच) के पास गयी थी’ और इस लक्ष्यार्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ निरूप्य रहा है ‘रमण करने के लिये’ (गयी थी) । इस प्रकार के व्यंग्यार्थ का बोध यहाँ ‘वाङ्मयवैशिष्ट्य’ अथवा प्रतिपाद्य दूती के व्यक्तित्व की विवेचना के ही कारण समझ है ।

अन्य सन्निधिवैशिष्ट्य के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति जैसे कि—

‘अरे देवो तो कैसा हस्य है ! कमलिनी के पते पर चुपचाप घंटी यह बजाता (मादा यगुल) ऐसी सुन्दर दीप रही है नानो किसी निर्मल नीलम की याही ने शय्य श्रुति (अजन रगने की शय्य की यनी सिपुही) पड़ी हो ।’

यहाँ बलाका की निस्पन्दता अथवा पिना हिले-डुले बैठने के अभिप्राय से यह व्यंग्यार्थ निरूप्य रहा है कि इस स्थान पर निशान्ता विराज रही है जो परतुन इस व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक है कि यह स्थान ऐसा है जहाँ किसी के आने-जाने की सम्भावना नहीं । यह व्यंग्यार्थ भी अन्ततोगत्या इस विचित्र व्यंग्यार्थ में लीन हो जाता है कि यहाँ यह स्थान है जो प्रेम मिलन के लिये अत्यन्त उपयुक्त है । अथ यह अन्तिम व्यंग्यार्थ इसलिये प्रतीय हो रहा है क्योंकि यहाँ ‘अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य’ की व्यंग्यार्थ-प्रयोजकता विराजमान है क्योंकि यहाँ नायिका अपने समीप न रहे प्रच्छन्न प्रेमी के प्रति यह मय कुट्ट बहना चाह रही है । यहाँ पृथ और भी या है और यह यह है कि यहाँ अभिप्रेम्य ‘इस स्थान की निर्जनता’ का जो अभिप्राय है यह भी (वाङ्मयवैशिष्ट्य की प्रयोजकता से) उपर्युक्त अन्तिम व्यंग्यार्थ अर्थात् ‘यह स्थान ही प्रेम मिलन का अत्यन्त सुन्दर स्थान है’ इस अभिप्राय का ही अभिव्यञ्जक होता जा सकता है ।

वाङ्मयवैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ की प्रतीति से उदाहरण के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि ‘वाङ्’ (किसी भाषादेश अथवा उद्देश्य विवेक के कारण) वाङ् की वदनी शक्ति से बड़ा बनने है और इसके अनेकानेक अने भावर-प्रणयों जैसे कि नाट्यनाट्य वाङ्मय वाङ्मय-वाङ्मय के प्राप्तादिक आधारभूत प्रणयों में प्रगियदिता है । वाङ्मयवैशिष्ट्य में किसी अर्थ की व्यङ्ग्यार्थ-प्रयोजकता यहाँ अर्थात्—

‘अरे मयी ! औरों की गुजार और बे-पटों की मूक से मुहावने इस समस्त समस्त में

अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि । सुरभिसमयेऽसौ ॥'

अत्र नैष्यति, अपि तर्हि एष्यत्येवेति काका व्यज्यते—

चेष्टावैशिष्ट्ये यथा—

‘संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकृत लीलापद्मं निमीलितम् ॥’

अत्र संध्या संकेतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कयाचिद्व्योत्यते ।

एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम् ।

वे तो नहीं आवेंगे जो कि अपने माता-पिता के वंशवद होने के कारण कहीं दूर जाने को उद्यत हैं ?

इत्यादि सूक्ति में देखी जा सकती है जहां ‘नैष्यति’ ‘नहीं आवेंगे’ पर पढ़ने वालों ‘काकु अथवा ध्वनि-विकृति के द्वारा ‘एष्यति’ ‘अवश्य आवेंगे’ का अभिप्राय अभिव्यक्त हो उठता है ।

चेष्टावैशिष्ट्य में किसी अर्थ की व्यङ्ग्यार्थबोधकता जैसे कि—

‘नायिका भी कितनी चतुर निकली कि जैसे ही उसने यह देखा कि उसका कामुक प्रेममिलन की वेला के जानने के लिये उत्सुक है वैसे ही उसने अपनी हँसती आंखों के इशारे से अपने हाथ में लिये लीलाकमल की पल्लवियों को चन्द कर दिया ।’

यहाँ किसी नायिका की, लीलाकमल की पल्लवियों के चन्द करने की चेष्टा से यही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि वह सायकाल को अपने प्रेम मिलन का समय वताना चाह रही है ।

अर्थव्यञ्जकता के उपकरणों के ये उपर्युक्त उदाहरण रहे, इन्हीं के ऐसे भी उदाहरण देखे जा सकते हैं जिनमें या तो ये (व्यस्त रूप से) अलग अलग या (समस्त रूप से) मिले-जुले व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायन के सहायक हुआ करें ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने व्यञ्जना को शाब्दी और आर्थी भेदों में विभक्त किया है और शाब्दी व्यञ्जना के अभिधामूलक और लक्षणामूलक दो भेद बताये हैं । यह विश्लेषण काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रमाणित है । काव्यप्रकाश के ‘प्रदीप’ व्याख्याकार का इसीलिये यह कथन है—

‘सा (व्यञ्जना) च द्वेधा शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा च ।

आद्या तु द्वेधा अभिधामूला लक्षणामूला च ॥’

‘एवं शब्दे निरूपिते उपोद्धातेन शब्दव्यञ्जनायां निरूपितायां प्रसङ्गेनार्थव्यञ्जना निरूपणीया (काव्यप्रदीप ३ उल्लास) ।

प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में काव्य-साहित्य के शब्द-वैचित्र्य की मान्यता तो अवश्य थी किन्तु इस शब्द-वैचित्र्य का विश्लेषण नहीं हुआ था । ध्वनिवाद ने सर्वप्रथम शब्दवैचित्र्य के रहस्य का उद्घाटन किया और इसके मूल में शाब्दी व्यञ्जना का स्वरूप दिखाई दिया । अलङ्कारमहोदधिकार ने इसीलिये कहा है—

‘न शब्दवैचित्र्यमिदं विनारुते श्रियं कवीनां भणितिर्महस्यपि ।

मरीचयश्चण्डरुचो हि दर्पणे निपेतिवांसो विकसन्ति नारमनि ॥’

अर्थात् कोई भी कविता अपने उपकरणभूत शब्दवैचित्र्य से ही सुन्दर लगा करती है । इस शब्द-वैचित्र्य के मूल में कवि प्रतिभा छिपी है । जब तक वाचक और लाक्षणिक शब्दों के हृदय में

‘व्यञ्जना’ की शक्ति न हो तब तक ‘कविता’ कहा न जाय ! नृपद्विजया रसो एव गिर जर
महत्तया प्रतिपत्ति हुआ करता है, पत्थर पर नहीं ।

‘आधीव्यञ्जना’ का एक अलग मातृत्व है । अर्धवैचित्र्य के वाग्य वयिजन महाकवि बना रहने
है । यह अर्धवैचित्र्य वस्तुतः आधीव्यञ्जना के वाग्य समव है जैसा कि अलङ्कार-मनोहरिकार
का कथन है—

‘अविलष्टप्रतिभाष्ट सौकुमार्यमनोरम’ ।

रमसवलितानेकभङ्गीसर्वाद्वभूषित ॥

अयोनिरपरच्छायायोनिर्वा परभागमाक् ।

स चेतनचमत्कारी धत्तेऽर्थः कविताज्ञताम् ॥

अर्थोऽभिधेय वस्तु कविताज्ञतां काव्यकारणत्वं धत्ते धारयति । कीदृश ? अविलष्टप्रति-
भाष्टः अविलष्टा कदर्यनारहिता या प्रतिभा नवनवोद्वेगशाली प्रज्ञाविशेषस्तया दृष्टो
विभावितोऽन एव सौकुमार्यमनोरमः । सुकुमारसंभूत हि वस्तु सुकुमारमेव भवति ।
पुनः कीदृश ? रसो, शृङ्गारादिभिः संवलित मिथ्रीभावशालिनी याज्ञेका भङ्गी विच्छिन्ति-
स्तया सर्वाङ्गमासूलचूल भूषितः समलंकृतः । अर्थो हि रमकलोलिनी नवनवा विच्छिन्ति-
मुररीकुचनूनेव चारिमाणमारोहति ॥ ॥

अर्थात् काव्य के दो अर्थ हैं—१. आपातजन्य अर्थ और २. पदजन्य अर्थ । आपातजन्य अर्थ का न
होना अपि तु काव्य का उपकर्ता है । काव्य में इस उपकर्तृभूत अर्थ का उपनिबन्ध इन्द्रियों से
जिसमें इसके द्वारा उन वस्तुपरिचयक अर्थ का अवमान हुआ करते जो जिज्ञासु या मननर
और जिसमें वधिप्रतिभा का उद्गेष है । इस उपकर्तृभूत अर्थ का वैचित्र्य ही प्रकृष्टवैचित्र्या-
दिशब्दों के रूप में अलङ्कारशास्त्र के विद्वेषण का आधार है । आधी व्यञ्जना के रूप में रसज्ञा
जिस की नवनवोद्वेगशालिनी प्रतिभा ही अपना प्रसार किये जाता है और पूरे प्रतिपत्ति
वाचार्थों की भी नहीं बनाता करता है ।

(२) आधी व्यञ्जना के प्रयोगक वाचार्थों—‘चाति’ ‘विशेष’ नामे गये हैं । एक शब्द में जधि-
विशेष और महत्त्वपूर्ण शब्दों को आधी व्यञ्जना का निगमन का समवेत है । इन्द्रियों से जना आ-
हारिक वदिरुति और वाचानुशीलन दोनों को अधव्यञ्जना के ज्ञान रूप में प्रतिपत्ति करने
में है । वाचार्थ नम्रर से आधी व्यञ्जना के निरूपण में स्पष्ट बना है—

वचनोद्वेगवाक्याना वाचयवाच्यान्यमनिधेः ।

प्रस्तापरेक्षकालार्थेऽपि शिष्टाद्य प्रतिभाशुभाम् ।

चोऽर्धवाच्यान्यार्थोऽपि हेतुव्यपारो व्यपिरेव सा ॥ (वा समजाता ३२१, ३२)

अर्थात् ‘अर्धवैचित्र्य’ ‘अधिपरिदृष्टता’ गन्तादि निमित्तों के ही कारण प्रतिभासमय वाच्या-
नुशीलनों को वाचानुशीलन रूप में अधव्यञ्जना के ज्ञान रूप में प्रतिपत्ति करने में
अर्थ की ही ३ नि वचना का प्रतिपत्ति है ।

किन्तु निरूपण अधिकांश में वचनोद्वेगवाक्याना वाचयवाच्यान्यमनिधेः का निगमन
किया है—

✓ वचनोद्वेगवाक्याना वाचयवाच्यान्यमनिधेः वाचयवो ।

प्रस्तापरेक्षकालार्थो वाचोऽपि शिष्टादिस्य च ॥

वैशिष्ट्याद्व्यमर्षं वा शेषवैचित्र्यमभ्याम् ।

जिसे केवल वाच्य है कि वाचार्थ प्रतीक में से अधिव्यञ्जना के निमित्तों के ही कारण प्रतिभासमय वाच्या-
नुशीलनों को वाचानुशीलन रूप में अधव्यञ्जना के ज्ञान रूप में प्रतिपत्ति करने में

(आर्थी व्यञ्जना के तीन प्रकार)

त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता ॥ १७ ॥

(आर्थी व्यञ्जना के उपर्युक्त प्रकारत्रय का निरूपण)

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जना-
स्त्रिविधाः । तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जना यथा—‘कालो मधु’— इत्यादि । लक्ष्यार्थस्य
यथा—‘नि.शेषच्युतचन्दनम्’—इत्यादि । व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—‘उभ . णिञ्चल’—
इत्यादि । प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्व तु प्रपञ्चयिष्यते ।

के मन में दो बातें हो सकती हैं—१ यह कि काव्यानुशीलन प्रतिभा को सहायता शब्दों व्यञ्जना
में भी अपेक्षित हैं और इसलिये इसे आर्थीव्यञ्जना की हो विशेषता नहीं माना जा सकता और
२. यह कि आर्थीव्यञ्जनाओं में व्यङ्ग्य अर्थ वस्तु अथवा अलङ्कार रूप भा हो सकता है न कि
रसभावादि रूप ही और इसलिये इस व्यञ्जना को प्रतिभा-भवेद्य मानना रसात्मक वाच्यरूप काव्य
की आनन्दानुभूति को इसके समक्ष सिद्ध करने की धृष्टता करने के बराबर है । यहा विश्वनाथ
कविराज की यह धारणा सर्वथा युक्तियुक्त है । यहा ‘काव्यप्रकाश’ के महान् व्याख्याकार महा-
महोपाध्याय श्री गोविन्द ठक्कुर की यह उक्ति असंगत सी लगती है—

‘प्रतिभाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा या चासनेत्युच्यते । तस्या
सत्यामेव वस्तुवैशिष्ट्यादिसर्वेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति प्रतिपादितम् । अत एव वैयाकर-
णादीना न तथा रसप्रतीति । तथा चोक्तम्—

सवासनाना नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत् ।

निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेश्मकुट्यारमसनिभा ॥ (काव्यप्रदीप ३ उल्लास)

यह उक्ति असंगत इसलिये है क्योंकि यहा आर्थी व्यञ्जना की अनुभूति और रसानुभूति को समक्ष
मान लिया गया है ।

अनुवाद—(अपने विविध व्यञ्जकता-नियामक तर्कों से उपकृत) ये आर्थी व्यञ्जनायें
भी इस लिये तीन प्रकार की हुआ करती हैं क्योंकि व्यञ्जक अर्थ के तीन प्रकार हुआ करते हैं ।

अभी जिन आर्थी व्यञ्जनाओं का निरूपण किया जा चुका है उनमें ‘प्रकारत्रय’ मानना
इसलिये उचित है क्योंकि उनके अभिव्यञ्जक अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप
से तीन प्रकार के हुआ करते हैं । जैसे कि १ वाच्यार्थ की व्यञ्जना—‘कालो मधु’ इत्यादि,
२. लक्ष्यार्थ की व्यञ्जना—‘नि.शेषच्युतचन्दनम्’ इत्यादि और ३. व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना—
‘उभणिञ्चल’ (पश्य निञ्चल) इत्यादि । इसके अतिरिक्त प्रकृति की व्यञ्जना, प्रत्यय की
व्यञ्जना आदि आदि भी व्यञ्जना के प्रकार ही हैं जिनका विवेचन आगे (चतुर्थ परिच्छेद में)
किया ही जायगा ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने वाच्य-लक्ष्य कि वा व्यङ्ग्य रूप त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकता तो
मानी है किन्तु इसके आधार पर आर्थी व्यञ्जना के तीन भेदों का कोई विश्लेषण नहीं किया है ।
विश्वनाथ कविराज ने व्यञ्जक अर्थों के त्रैविध्य के कारण अर्थ की व्यञ्जकता शक्ति को भी त्रिविध
मान लिया है । वस्तुतः यहा आर्थी व्यञ्जना का त्रैविध्य निरूपण उतना युक्तियुक्त नहीं लगता
जितना कि त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकताओं में एकविध व्यञ्जना का स्फुरण-निरूपण । वाच्य, लक्ष्य
और व्यङ्ग्य अर्थ स्वयं व्यञ्जक नहीं हुआ करते । इन्हें व्यञ्जक बनाना तो कविकला का काम है ।
तभी तो अलङ्कारमहोदधिकार का यह कहना है—

(आर्थी व्यञ्जना के तीन प्रकार)

त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता ॥ १७ ॥

(आर्थी व्यञ्जना के उपर्युक्त प्रकारत्रय का निरूपण)

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जना-
स्त्रिविधाः । तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जना यथा—‘कालो मधु’— इत्यादि । लक्ष्यार्थस्य
यथा—‘निःशेषच्युतचन्दनम्’—इत्यादि । व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—‘उभ णिच्चल’—
इत्यादि । प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते ।

के मन में दो बातें हो सकती हैं—१ यह कि काव्यानुशीलन प्रतिभा को सहायता शायरी व्यञ्जना
में भी अपेक्षित है और इसलिये इसे आर्थीव्यञ्जना की ही विशेषता नहीं माना जा सकता और
२ यह कि आर्थीव्यञ्जनाओं में व्यङ्ग्य अर्थ वस्तु अथवा अलङ्कार रूप में हो सकता है न कि
रसभावोद्दिष्ट रूप ही और इसलिये इस व्यञ्जना को प्रतिभा-सर्वेष मानना रसात्मक वाच्यरूप काव्य
की आनन्दानुभूति को इसके समकक्ष सिद्ध करने की धृष्टता करने के बराबर है । यहाँ विश्वनाथ
कविराज की यह धारणा सर्वथा युक्तियुक्त है । यहाँ ‘काव्यप्रकाश’ के महान् व्याख्याकार महा-
महोपाध्याय श्री गोविन्द ठक्कुर की यह उक्ति असंगत सी लगती है—

‘प्रतिमाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा या वासनेत्युच्यते । तस्या
सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यादिसर्वेष्वपि व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति प्रतिपादितम् । अत एव वैयाकर-
णादीनां न तथा रसप्रतीति । तथा चोक्तम्—

सवासनाना नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत् ।

निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेशमकुड्याश्मसनिभाः ॥ (काव्यप्रदीप ३ उल्लास)

यह उक्ति असंगत इसलिये है क्योंकि यहाँ आर्थी व्यञ्जना की अनुभूति और रसानुभूति को समकक्ष
मान लिया गया है ।

अनुवाद—(अपने विविध व्यञ्जकता-नियामक तत्त्वों से उपकृत) ये आर्थी व्यञ्जनायें
भी इस लिये तीन प्रकार की हुआ करती हैं क्योंकि व्यञ्जक अर्थ के तीन प्रकार हुआ करते हैं ।

अभी जिन आर्थी व्यञ्जनाओं का निरूपण किया जा चुका है उनमें ‘प्रकारत्रय’ मानना
इसलिये उचित है क्योंकि उनके अभिव्यञ्जक अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप
से तीन प्रकार के हुआ करते हैं । जैसे कि १. वाच्यार्थ की व्यञ्जना—‘कालो मधु’ इत्यादि,
२. लक्ष्यार्थ की व्यञ्जना—‘निःशेषच्युतचन्दनम्’ इत्यादि और ३. व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना—
‘उभ णिच्चल’ (पश्य निश्चल) इत्यादि । इसके अतिरिक्त प्रकृति की व्यञ्जना, प्रत्यय की
व्यञ्जना आदि आदि भी व्यञ्जना के प्रकार ही हैं जिनका विवेचन आगे (चतुर्थ परिच्छेद में)
किया ही जायगा ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने वाच्य-लक्ष्य किं वा व्यङ्ग्य रूप त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकता तो
मानी है किन्तु इसके आधार पर आर्थी व्यञ्जना के तीन भेदों का कोई विश्लेषण नहीं किया है ।
विश्वनाथ कविराज ने व्यञ्जक अर्थों के त्रैविध्य के कारण अर्थ की व्यञ्जकता शक्ति को भी त्रिविध
मान लिया है । वस्तुतः यहाँ आर्थी व्यञ्जना का त्रैविध्य निरूपण उतना युक्तियुक्त नहीं लगता
जितना कि त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकताओं में एकविध व्यञ्जना का स्फुरण-निरूपण । वाच्य, लक्ष्य
और व्यङ्ग्य अर्थ स्वयं व्यञ्जक नहीं हुआ करते । इन्हें व्यञ्जक बनाना तो कविकला का काम है ।
तभी तो अलङ्कारमहोदधिकार का यह कहना है—

(शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ और शब्द का क्रमशः उपयोग)

शब्दबोध्यो व्यञ्जकस्यार्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।

एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥ १८ ॥

(व्यञ्जकता की दृष्टि से शब्द और अर्थ की परस्पर सहकारिता की आवश्यकता)

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थान्तरमपेक्षते, अर्थोऽपि शब्दम्, तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या ।

‘वक्तृयोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसनिधे’ । प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ॥ मुख्योपचरितव्यङ्ग्याः क्वचिदर्थोऽस्योप्यमी । विभ्रति व्यञ्जकीभावं निजप्रागल्भ्यसंपदा ॥

मुख्याद्यास्त्रयोप्यर्थाः प्रतिभाजुषां वैदग्ध्यशालिनां विदग्धान् प्रतीत्यर्थः व्यञ्जकत्वं धारयन्ति । कया ? निजप्रागल्भ्यसंपदा । तत् किञ्चित् सन्निवेशनैपुण्यमुन्मीलति येन ते व्यञ्जका जायन्ते—

(अलङ्कारमहोदधि, ३ च तरंग)

अर्थात् आर्थी व्यञ्जना के निमित्तदशक जैसे कि वक्तव्येन्द्रिय आदि वस्तुतः वाच्य-लक्ष्य कि वा व्यङ्ग्य अर्थों के सन्निवेश वैचित्र्य से सम्बद्ध कविकला के हाँ आविष्करण नाश हैं और तभी यह समव है कि प्रतिभावान् काव्यभावक इनका सूत्र पकट कर कवि के हृदय अभिप्राय तक पहुँच जाय और वही अनुभव करे जिसे कवि कर चुका है और जिसकी प्रेरणा से एक विशेष प्रकार का अर्थसन्निवेश उपस्थित हुआ है जिसकी सतह से काव्य-सौन्दर्य की तरंगें उठा करती हैं और सहृदयों के हृदयों का स्पर्श किया करती हैं ।

अनुवाद—(आर्थी व्यञ्जना में) वही अर्थ अभिव्यञ्जक हुआ करता है जो शब्द द्वारा बोधित हो और (शाब्दी-व्यञ्जना में) वही शब्द अभिव्यञ्जक हुआ करता है जो एक से अधिक अर्थ का आश्रय हो—इसलिये जहाँ एक (शब्द अथवा अर्थ) प्रधान रूप से अभिव्यञ्जक रहा करता है वहाँ दूसरा (अर्थ अथवा शब्द) उसका सहायक हुआ करता है ।

(शाब्दी व्यञ्जना के क्षेत्र में) शब्द की व्यञ्जकता अर्थ की अपेक्षा किया करती है और (आर्थी व्यञ्जना के क्षेत्र में) अर्थ की व्यञ्जकता शब्द की अपेक्षा किया करती है—इससे यही मानना पड़ता है कि एक की व्यञ्जकता में दूसरे की व्यञ्जकता का हाथ अवश्य रहा करता है ।

विमर्श—(क) शब्द की व्यञ्जकता में अर्थ—साहाय्य और अर्थ की व्यञ्जकता में शब्द-साहाय्य का सिद्धान्त व्यञ्जनावेद का एक मौलिक सिद्धान्त है । ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है—

‘यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यङ्ग्यं काव्यविशेषं स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥’ (ध्वन्यालोक १-२३)

और इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त ने इनका यह अभिप्राय लिया है—

व्यङ्ग्य इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविचक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथाऽज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् । विवक्षितान्यपर-वाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्य-ञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वनन व्यापारः । * * * अर्थ शब्दो वेति विकल्पा-भिधानं प्राधान्याभिप्रायेण ।’

(शब्द का उपाधि-त्रैविध्य)

अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यान्निविधो मतः ।

शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा ॥ १९ ॥

(उपाधि-त्रैविध्यः स्पष्टीकरण)

अभिधोपाधिको वाचकः । लक्षणोपाधिको लक्षकः । व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः ।

यही सिद्धान्त काव्यप्रकाशकार का भी है—

‘(तद्युक्तो व्यञ्जक शब्दः) यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥’ (काव्यप्रकाश २-२०)

‘शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्तवर्थान्तर यत ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥’ (काव्यप्रकाश १ २३)

विश्वनाथ कविराज ने इसी सिद्धान्त की परिपुष्टि में कहा है—

‘तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या ।’

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी विषय को अपनी शैली में इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

‘यद्यपि शब्दशक्तिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलकत्वं चेत्युभयमपि सकलव्यङ्ग्यसाधारणम्, शब्दार्थयोरनुसन्धानं विना व्यङ्ग्यस्यैवानुस्मासात्, तथापि परिवृत्तिसहिष्णूनां शब्दानां प्राचुर्यं तत्प्रयुक्तात् प्राधान्यात् सत्या अप्यर्थशक्तेरप्राधान्याच्च व्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलकत्वे- नैव व्यपदेशः । परिवृत्तिसहिष्णूना तु प्राचुर्येऽर्थशक्तेरेव प्राधान्यात् सत्या अपि शब्दशक्तेः प्रधानानुगुण्यार्थतया मल्लप्रामादिवत् प्रधानेनैव व्यपदेशः ।

अर्थात् चाहे ध्वनि शब्दमूलक हो या अर्थमूलक हो, इतना निर्विवाद है कि विना दोनों अर्थात् शब्द और अर्थ के अनुसन्धान के ध्वनि का स्वरूप नहीं पहचाना जा सकता । शब्द और अर्थ की परस्पर सहकारिता ही शब्दव्यञ्जकता और अर्थव्यञ्जकता का मूलभूत सिद्धान्त है । यह तो शब्द-व्यञ्जना के उन्मेष में अर्थव्यञ्जना का निमेष है और इसी प्रकार अर्थव्यञ्जना के उन्मेष में शब्द-व्यञ्जना का निमेष जिसके कारण शब्दी और आर्थी व्यञ्जनाओं का स्वरूपभेद किया जाया करता है ।

अनुवाद—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन तीन उपाधियों अथवा धर्मों की विशेषता के कारण शब्द भी तीन प्रकार के हुआ करते हैं जैसे कि १. वाचक, २. लक्षक और ३. व्यञ्जक ।

‘वाचक’ शब्द वह शब्द है जिसमें अभिधाधर्म सम्बद्ध रहा करता है (अभिधोपाधिक), ‘लक्षक’, वह जिसमें लक्षणाधर्म का सम्बन्ध है (लक्षणोपाधिक) और ‘व्यञ्जक’ वह जिसमें व्यञ्जनाधर्म सम्बद्ध रहा करता है ।

विमर्श—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को आलङ्कारिकों ने उपाधि अथवा धर्म माना है जिसके कारण किसी शब्द को वाचक अथवा किसी को लाक्षणिक अथवा किसी को व्यञ्जक कहना अनुचित है क्योंकि कोई भी शब्द अपने अभिधादि व्यापारों के कारण वाचक अथवा लाक्षणिक अथवा व्यञ्जक हो सकता है । आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध को शब्द का स्वामाविक धर्म और व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध को शब्द का नैमित्तिक धर्म माना है । काव्यप्रकाशकार ने स्पष्ट कहा है—

(एक अन्य वृत्ति-तात्पर्य)

किञ्च—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।

तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्वोधकं परे ॥ २० ॥

(अभिहितान्वयवाद और तात्पर्यवृत्ति)

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरामाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः । तदर्थश्च तात्पर्यार्थः । तद्वोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वय-वादिनां मतम् ।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

अत्र मूलकारिकाः = २० । पूर्वाभिः सह २३ ।

उदाहरणश्लोकाः = ९ । पूर्वैः सह १५ ।



‘स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।’ (काव्यप्रकाश २-१)

जिसका अभिप्राय यही है कि अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की त्रिविध उपाधियों के कारण शब्द भी वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक हुआ करते हैं । यहा अभिधादि उपाधिओं का त्रित्व मानना युक्तियुक्त है जिसके कारण उपाधेय का (उसका, जिसकी अभिधादि उपाधि हैं अर्थात् शब्द का) त्रित्व प्रतीत होता है ।

साहित्यदर्पणकार को भी अभिधादि उपाधिओं का त्रित्व अभिप्रेत है न कि उपाधेय का । उपाधेय (शब्द) का त्रित्व तो उपाधित्रित्व के कारण है ।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त कतिपय पदवाक्यतत्त्वविद् लोग (जैसे कि श्रीकुमारिल भट्ट आदि मीमांसक) तात्पर्य नामक एक और भी शक्ति माना करते हैं जो (वाक्यगत) पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के परस्पर सम्बन्ध अथवा सम्बन्ध का बोध करवाया करती है, और जिसके द्वारा उपस्थापित अर्थ (वाक्यार्थ) तात्पर्यार्थ कहा जाया करता है । यह तात्पर्यार्थ (पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ नहीं अपि तु) वाक्य का अर्थ हुआ करता है ।

तात्पर्यवृत्ति के मानने वाले लोग वे मीमांसाचार्य हैं जो ‘अभिहितान्वयवादी’ कहे जाते हैं । अभिहितान्वयवादी (भाट्टमतानुयायी) मीमांसकों की दृष्टि में ‘तात्पर्यवृत्ति’ की मान्यता इसलिये आवश्यक है क्योंकि अभिधावृत्ति तो पृथक्-पृथक् पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के बोध कराने में ही क्षीणशक्ति हो जाया करती है और वाक्यार्थ पृथक्-पृथक् पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ नहीं अपितु पदार्थों का परस्पर सम्बन्धरूप अर्थ हुआ करता है । अब इस वाक्यार्थस्वरूप पदार्थसंसर्ग अथवा परस्पर पदार्थ-सम्बन्ध के अवबोध के लिये कोई न कोई वृत्ति अवश्य होनी चाहिये । यह पदार्थसंसर्ग की बोधिका वृत्ति तात्पर्यवृत्ति ही है (अन्य कोई वृत्ति नहीं) । जो अर्थ इस तात्पर्यवृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य हुआ करता है वह तात्पर्यार्थ कहा जाया करता है । यह तात्पर्यार्थ पृथक्-पृथक् पदों द्वारा नहीं अपि तु वाक्य द्वारा ही उपस्थापित किया जाया करता है ।

विमर्श—(क) ‘तात्पर्यवृत्ति’ को अतिरिक्त वृत्ति मानने वाले भाट्टमीमांसक हैं । काव्य-

प्रकाशकार ने भी 'तात्पर्यार्थोऽपि केपुचित्' (काव्यप्रकाश २०१) कहकर भाट्टमीमांसकों के तात्पर्यार्थ और तात्पर्यव्यापार का संकेत किया है। विश्वनाथ कविराज का अभिप्राय इन्हीं मीमांसकों की इस मान्यता का निर्देश है।

तात्पर्यवृत्ति के मानने वाले मीमांसक 'अभिहितान्वयवाद' के पक्षपातां हैं। 'अभिहितान्वयवाद' का अभिप्राय यह है—प्रत्येक शब्द अर्थ-सामान्य के देने वाले हुआ करते हैं न कि अर्थ विशेष के। वाक्यबद्ध शब्दों का भी यही हाल है। वाक्यरूप में व्यवहृत शब्द अपना अपना अर्थ भले ही प्रतिपादित करें, परस्पर सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन तो वाक्यवर्ती पदों की तात्पर्यवृत्ति पर निर्भर है। 'तात्पर्यवृत्ति' की रूपरेखा तो वाक्य और वाक्यार्थ की रूपरेखा में ही रची जाया करती है। आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति की मनोवैज्ञानिक, युक्तिसिद्ध किंवा भाषानुपक्त तत्त्व-सामग्री ही 'तात्पर्यवृत्ति' की आधार-शिला है। जिसे वाक्यार्थ कहते हैं वह पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं अपि तु पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध अथवा अन्वयरूप अर्थ है, वस्तुतः तात्पर्यार्थ है। उदाहरण के लिये यदि 'गामानय' इस वाक्य को ही लें तो यह स्पष्ट है कि यहाँ गोपद का अर्थ 'सास्त्रादिमान् पदार्थ' है और यह अर्थ एक सामान्यरूप अर्थ है न कि विशेषरूप। इस प्रकार 'अम्' प्रत्यय का अभिप्राय सामान्य 'कर्मत्व' है और 'नो' इम क्रियापद से गतिमामान्य का ही बोध हुआ करता है। यहाँ गोपद के लिये वक्तृविवक्षित 'कर्मत्व' के आश्रयभूत सास्त्रादिमान् प्राणिरूप अर्थविशेष का प्रतिपादन संभव नहीं। यह तो आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति की ही महिमा है जो यहाँ एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का सम्बन्ध बताया करती है और जब पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध पता चल जाता है तभी वह अर्थ प्रतीत हुआ करता है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहा करते हैं जो कि पदार्थरूप नहीं अपि तु वाक्यार्थरूप अर्थ है। आचार्य कुमारिल भट्ट के श्लोक वार्तिक (३४०-३४३) की ये पक्तियाँ—

‘सास्त्राद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥
वाक्यार्थमित्येतेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥

यही निर्देश कर रही हैं कि वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति पदार्थ की प्रतिपत्ति के द्वारा ही हुआ करती है और इसलिये पृथक्-पृथक् पदार्थ वाक्यार्थ नहीं अपि तु 'पदार्थसम्बन्ध' वाक्यार्थ है।

'अभिहितान्वयवाद' की सक्षिप्त सरल मीमांसा मीमांसाचार्य पार्थसारथिमिश्र की 'न्यायरत्न-माला' (पृष्ठ ९७) इस प्रकार किया करती है—

‘अभिहितान्वय एव ज्यायान् । तथा च सूत्रकार 'अर्थस्य तन्निमित्तत्वात् (पूर्वमीमांसा दर्शनसूत्र १०.२५) इति व्यक्तमेव पदार्थनिमित्तकत्वं वाक्यार्थस्य दर्शयति । भाष्यकारोऽपि हि (शबरस्वामी) 'अमूनि पदानि स्व स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, अथेदानीं पदार्था अभिहिता सन्तो वाक्यार्थमवबोधयन्ति' इत्याह ।'

आचार्य मम्मट ने 'अभिहितान्वयवाद' का यही सारांश लिया है—

‘आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशाद्ब्रह्मणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थं समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिना मतम् ।

जिसकी विशद व्याख्या प्रदीपकार के शब्दों में यह है—

‘लाघवात् पदानां पदार्थमात्रे शक्तिः, न त्वन्वयांशेऽपि । गौरवादन्वयत्वत्वाच्च । तदंशो हि तात्पर्यार्थो वाक्याद्यर्थविलक्षणशरीरः आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिवशादपदार्थोऽपि प्रतीयते । न चापदार्थप्रतीतावतिप्रसङ्गः । स्वरूपसतः शक्यान्वयत्वस्य नियामकत्वात् । इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।’ (काव्यप्रदीप, पृष्ठ १७)

(२) ‘अभिहितान्वयवाद’ का प्रतिपक्ष वह वाक्यार्थवाद है जिसे ‘अन्विताभिधानवाद’ कहते हैं । यह वाद प्रभाकर-मतानुयायी मीमांसाचार्यों का वाद है । ‘अभिहितान्वयवाद’ और ‘अन्विताभिधानवाद’—ये शब्द ही वाक्यार्थसम्बन्धी द्विविध वादों का अर्थ स्पष्ट कर देते हैं । ‘अभिहितान्वयवाद’ है—‘अभिहितानां पदार्थानामर्थोभिधायिनां वा पदानामन्वय इति यो वादः स अभिहितान्वयवादः’ । अर्थात् पदों द्वारा प्रतिपादित उन-उन अर्थों अथवा अपने-अपने अर्थों के प्रतिपादक पदों के अन्वय अथवा सम्बन्ध का जो सिद्धान्त है वह ‘अभिहितान्वयवाद’ है और ‘अन्विताभिधानवाद’ है—‘अन्वितानामेव पदार्थानामभिधानं शब्दैः प्रतिपादनमिति यो वादः स अन्विताभिधानवादः’ । अर्थात् परस्पर स्वयं अन्वित अथवा सबद्ध पदार्थों के शब्दों द्वारा प्रतिपादन का जो सिद्धान्त है वह है अन्विताभिधानवाद । प्रदीपकार के शब्दों में ‘अन्विताभिधानवाद’ का यही स्वरूप है—

‘अन्वयरूपे वाक्यार्थेऽपि पदार्थानां शक्तिः । व्यवहारेणान्वितस्यैवोपस्थापनात्तत्रैव शक्तिग्रहात् । किं चान्वयभागस्याशक्यत्वेऽनुभवविषयत्वं न स्यात् । तद्विषये शक्यत्वस्य प्रयोजकत्वात् । अशक्यस्याप्यनुभवप्रवेशेऽतिप्रसङ्गात् ।’ (काव्यप्रदीप, पृष्ठ १७)

जिमसे स्पष्ट है कि तात्पर्यवृत्ति की अतिरिक्त मान्यता अनावश्यक है क्योंकि जब कि पद परस्पर अन्वित अर्थ के ही अभिधायक हों और शक्तिग्रह भी अन्वित अर्थ में ही हो तो अन्वय के लिये अभिधानिष्ठ किसी वृत्ति का क्या काम ? अभिधावृत्तिमात्रकाकार आचार्य सुकुल भट्ट ने इन दोनों वाक्यार्थविषयक वादों और इनके अनुचयवाद का बड़ा सुन्दर संक्षेप अपने ही ढंग से किया है—

‘इह केपाञ्चिदन्वयव्यतिरेकावसेयसामान्यभूतस्वार्थमात्रविश्रान्तेषु पदेषु पदार्था-काङ्क्षासनिधियोग्यतामहिम्ना वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्य हर्षशोकादिवदवसेयत्वमेव । यदा हि ‘प्राज्ञेन पुत्रस्ते जातः, प्राज्ञेन कन्या ते गर्भिणी’ति यथाक्रमं पुत्रजन्मकन्यागर्भिणीत्वनिमित्तौ हर्षशोकौ स्वशब्देनानभिहितावपि शब्दाभिधेयभूतवस्तुसामर्थ्यादाक्षिप्येते, एवं वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्यैव पदार्थाक्षेप्यत्वं द्रष्टव्यम् । एषां चैवंवादिनां मतेनार्थानामभिहितानामुत्तरकाल परस्पराश्रयवादभिहितान्वयवादः । अपरे त्वाहुः—‘वृद्धव्यवहारात् शब्दार्थसम्बन्धावसायः । स च घृष्टव्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः । प्रवृत्तिनिवृत्ति च विशिष्टार्थनिष्ठे । अतो विशिष्ट एवार्थे पदानां सम्बन्धावष्टितिः । ततश्च विशिष्टा एव पदार्था न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् । एव च परस्पराश्रयानां वाक्यार्थरूपतापन्नानां तत्तत्सामान्या-वच्छादितत्वेन गृहीतस्ववाचकसंबन्धानां पदैः प्रत्यायनादन्विताभिधानमिति । अन्येषां तु मते पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थः । वाक्यस्य तु परस्पराश्रयिता पदार्था इति पदापेक्षयाऽभिहितान्वयः, वाक्यापेक्षया त्वन्विताभिधानम् । एवं चैतयोरभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चय इति ।’ (अभिधावृत्तिमात्रका-पृष्ठ १८)

अर्थात् कुछ वाक्यार्थवादों आचार्यों का यह कहना है कि वाक्यवर्ती पद न तो सामान्यभूत अर्थमात्र का ही उपस्थापन किया करते हैं और जो वाक्यार्थ है वह पदों का सामान्यभूत अर्थमात्र नहीं अपि तु परस्परसंबद्ध पदार्थभिन्न अर्थ हुआ करता है । यह परस्परसंबद्ध अर्थरूप वाक्यार्थ आकाङ्क्षा, योग्यता और आसक्ति की मदद से प्रतीत हुआ करता है न कि पदों की अभिधान-

शक्ति से। इन आचार्यों के अनुसार वाक्यार्थ 'अभिहितान्वय' रूप है अर्थात् ऐसा है जिसमें पदों द्वारा अभिहित अर्थ वाद में तात्पर्य द्वारा परस्परान्वय में परिणत हुआ करता है। दूसरे वाक्यार्थवादी आचार्यों की यह मान्यता है कि सामान्यभूत अर्थमात्र में शब्दार्थसम्बन्ध का अवधारण नहीं हुआ करता। पद पदार्थ-सम्बन्ध का अवधारण तो प्रतिदिन के भाषाप्रयोग में किया जाता करता है। इसलिये वाक्यार्थ 'अन्विताभिधान' है अर्थात् ऐसा है जिसे स्वयं परस्पर सस्पष्ट पदार्थरूप कह सकते हैं। इन दोनों प्रकार के आचार्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी हैं जो 'अभिहितान्वय' और 'अन्विताभिधान' के समुच्चय में ही वस्तुतः वाक्यार्थप्रतिपत्ति का रहस्य देखा करते हैं। इनकी दृष्टि में पदों का अर्थ तो सामान्यभूत वाच्यरूप अर्थ हुआ करता है और वाक्य का जो अर्थ है वह परस्पर सवद्ध पदार्थरूप अर्थ है। वस्तुतः पद की दृष्टि से तो वाक्यार्थ 'अभिहितान्वय स्वरूप' है किन्तु वाक्य की दृष्टि से इसे 'अन्विताभिधान रूप' कहा जाया करता है।

(ग) ध्वनिवादी आलङ्कारिकों को 'अन्विताभिधानवाद' की अपेक्षा 'अभिहितान्वयवाद' का सिद्धान्त अधिक अभिप्रेत है। कारण यह है कि 'अभिहितान्वयवाद' में 'तात्पर्यवृत्ति' की जो अतिरिक्त मान्यता है वह व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि में सहयोग प्रदान किया करती है। परस्पर ससर्ग जब अभिधाबोध्य नहीं तब व्यङ्ग्यरूप अर्थ अभिधेय कैसे? यह युक्ति व्यञ्जना की अनिवार्य मान्यता की एक प्रेरणा है।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीय परिच्छेदः

(साहित्यदर्पण वाक्यस्वरूपनिरूपणनामक दूसरा परिच्छेद)



तृतीयः परिच्छेदः

(काव्यात्मतत्त्वः रस स्वरूपनिरूपण)

अथ कोऽयं रस इत्युच्यते—

(विभावादि द्वारा सहृदय-हृदय में अभिव्यक्त
रत्यादिरूप स्थायीभाव ही 'रस' है)

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।

रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सूचेतसाम् ॥ १ ॥

अनुवाद—अथ (काव्यात्मभूत) 'रस' क्या है ? इसका निरूपण किया जा रहा है—
सहृदय-हृदय में (वासनारूप से विराजमान) रत्यादिरूप स्थायीभाव जब
(कविवर्णित) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं तब
आत्वाद अथवा आनन्दरूप हो जाते हैं और 'रस' कहे जाया करते हैं ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार की यह रस-परिभाषा नाट्याचार्य भरत मुनि के रस-सूत्र
'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की एक सुन्दर सरल विवृति है । इस रस-
परिभाषा में 'कविकृत विभावादियोजना और सहृदयहृदय की रत्यादिवासना की रसमयता' में
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप सम्बन्ध की अनिवार्य मान्यता का वही रहस्य झलक रहा है जो कि रस-
ध्वनि के प्राचीन आचार्यों की भावना में आ चुका है । आचार्य अभिनवगुप्त ने कविकृत विभा-
वादिवर्णना द्वारा सहृदयहृदय में रत्यादिस्थायी भाव की रसरूप में अभिव्यक्ति की यही
सिद्धि की है—

'तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा । सा च रसनारूपाप्रतीतिरूपयते । वाच्यवाचकयो-
स्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव ।तस्माद् व्यञ्जकत्वारयेन
व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेति कर्तव्यतया काव्य भावकं रसान् भावयतीति त्र्यशा-
यामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति । भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते,
अपि तु धनमोहान्धसकटतानिघृत्तिद्वारेणास्वादापरनाग्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविका-
सात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः । 'रस्यमानतोदितचम-
त्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति । (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ १८९-१९०)

अर्थात् 'नाट्य अथवा काव्य में रसना रूप प्रतीति तो निर्विवाद है । नाट्य अथवा काव्य
पर कवि और सहृदय दोनों की दृष्टियों से दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि 'रसभावना ही' एक
मात्र नाट्य अथवा काव्य का साध्य है और नाट्यकाव्य का अभिव्यञ्जना-व्यापार ही इस रस-
भावना का साधन है जिसमें मनुचिन्त शब्दार्थयोजनादि की शक्तिर्कर्तव्यता (उपकारिता) ही
स्वभावतः सिद्ध है । काव्य-नाट्य को रसके 'भावक' कहने में वस्तुतः यही अभिप्राय मन में
रसना चाहिये कि काव्य-नाट्य रस का व्यञ्जक है । रस का भोग अथवा आत्वाद भी काव्य-
नाट्य के इस अलौकिक अभिव्यञ्जन-व्यापार में ही सम्भव है । 'रसभोग' और 'रस की व्यङ्ग्यता'
का एक ही अभिप्राय है, एक ही रहस्य है ।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट की भी यही मसृष्टि है—

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।

रस्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेष्टाव्यकाव्ययोः ॥

(रसप्रक्रिया : विभावादियोजना और स्थायीभाव की रसरूप में अभिव्यक्ति)

विभावादयो वक्ष्यन्ते । सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वात् न पृथगुक्ताः, व्यक्ती दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्व-सिद्धो व्यज्यते ।

विभावा अनुभावास्तव कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यैस्स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥ (काव्यप्रकाश ४.२७, २८)

जिसका यह लक्ष्य है—‘यद्यपि लोकजीवन ही काव्य-नाट्य में प्रतिविम्बित हुआ करता है किन्तु ‘विम्ब’ में जो विशेषता नहीं वह ‘प्रतिविम्ब’ से लिपट जाती है। लोकजीवन में रत्यादि चित्त वृत्तियों के कारणभूत पदार्थ काव्य-नाट्य में प्रतिफलित होने पर सहृदयहृदय की रत्यादि वास्तवों को अभिव्यक्त करने लगते हैं। लोक के रामसीतादि कवि किं वा नाटककार की कला से नायक-नायिका रूप में उपस्थित होकर काव्य-नाट्य के सामाजिकों के हृदय में रत्यादिभावों को रस रूप में इसीलिये अङ्कुरित करने लगते हैं क्योंकि लोकजीवन में रत्यादि भावों के कारण काव्य-नाट्य में आते ही विभावन का व्यापार प्रारम्भ कर देते हैं। लोक के रामसीतादि का सीमित व्यक्तित्व काव्य-नाट्य में असीम हो उठता है। सहृदय सामाजिक ‘राम’ के साथ तन्मयी-भाव नहीं स्थापित कर सकता, इसीलिये कवि अथवा नाटककार की कला ‘राम’ को एक प्रेमी जोड़ के रूप में बदल डाला करती है जिसके साथ प्रत्येक काव्यरसिक एकरूपता का अनुसंधान करने में समर्थ हो उठता है। इसी प्रकार लोकजीवन में रत्यादि भावों के वाचिक-मानसिक किं वा शारीरिक स्वेदादिविकार काव्य-नाट्य में ‘अनुभावन’ की शक्ति रखने लगते हैं और सहृदय सामाजिक के हृदय में अङ्कुरित रत्यादिवास्तवों को उत्तरोत्तर प्रकाशित करने में लग जाते हैं। लोकजीवन के रत्यादि भावों के आनुपङ्गिक भाव काव्य-नाट्य के क्षेत्र में प्रवेश पाकर काव्यरसिक के हृदय में उद्बुद्ध स्थायीभावों का पोषण अथवा सर्वतोभावेन अभिव्यञ्जन करने लगते हैं। इस प्रकार सहृदयहृदय में स्थायी भावों की अभिव्यक्ति अथवा सहृदयहृदय के लिये चर्वणा का समर्पण ही काव्य नाट्य में विभाव-अनुभाव और व्यभिचारिभाव की योजना का परम निष्कर्ष है और जो ‘रस’ है वह वस्तुतः काव्य नाट्य की अभिव्यञ्जना अथवा चर्वणा की अलौकिक विशेषता से विशिष्ट सहृदयहृदय का रत्यादि रूप स्थायीभाव ही है। चर्वणाविशिष्ट रत्यादिस्थायीभाव एक लोकोत्तर आनन्दात्मक अनुभव है।

(ख) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव—इन तीन पारिभाषिक पदों में ‘लोक’ और ‘काव्य’ का भेद स्पष्ट है। लोक में रत्यादि मनोभावों के कारण, कार्य और सहकारी तत्त्व काव्य में रत्यादि स्थायीभावों के विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण अथवा एक शब्द में अभिव्यञ्जन का व्यापार करने लगते हैं। आचार्य मम्मट के लिये तो यह आवश्यक था—क्योंकि उन्हें आचार्य आनन्दवर्धन और अमिनवगुप्त की रस-मीमांसा का सार खींचना था—कि वे लोक और काव्य के रत्यादिभावों के कारणादि किंवा विभावादि का वैलक्षण्य बताकर लोकानुभव से रसरूप काव्यानुभव का वैधर्म्य भी सिद्ध करते जैसा कि उन्होंने अपने रस-लक्षण में किया ही है, किन्तु विश्वनाथ कविराज के लिये यही युक्तियुक्त है कि वे पूर्वनिर्दिष्ट रस प्रक्रिया का अपने शब्दों में समर्पण करें और उन्होंने ऐसा किया भी है। ‘विभावादि द्वारा अभिव्यक्त ही रत्यादिस्थायीभाव ‘रस’ हुआ करता है’—इस साहित्यदर्पणकारसम्मत रस-स्वरूपदर्शन से यह स्पष्ट है कि यह अनुभव लौकिक नहीं अपितु अलौकिक है।

अनुवाद—(सहृदय-हृदय में वासनारूप से अवस्थित रत्यादि स्थायीभावों के अभिव्यञ्जन) ये विभावादि तत्त्व क्या हैं? यह सब विचार-विमर्श तो आगे यथावसर किया

तदुक्तं लोचनकारैः—‘रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहारः’ इति । अत्र च रत्यादिपदोपादानादेव प्राप्ते स्थायित्वे पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामपि रसान्तरेष्वस्थायित्वप्रतिपादनार्थम् । ततश्च हासक्रोधादयः शृङ्गार-वीरादौ व्यभिचारिण एव । तदुक्तम्—‘रसावस्थः परम्भावः स्थायितां प्रति-पद्यते’ इति ।

ही जा रहा है । यहाँ (विभावादि वर्ग में) सात्त्विकभावों का (जिनका नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट निर्देश किया है) परिगणन इसलिये नहीं किया गया क्योंकि ये अनु-भाव के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं । यहाँ रत्यादि स्थायीभावों के ‘व्यक्त’ होने का अभिप्राय है उनके, एक दूसरे रूप में—‘रस’ रूप में—परिणत होने का । रत्यादि स्थायी-भावों की ‘रस’ रूप में जो अभिव्यक्ति है वह दुग्ध की दधिरूप में अभिव्यक्ति (परिणति) सीखी ही समझी जानी चाहिये । ऐसा इसलिये क्योंकि ‘रस’ कोई ऐसी वस्तु नहीं जो घट-पट की भाँति) पहले से ही विद्यमान हो जिसे विभावादि दोष की भाँति अभिव्यक्त किया करें । वस्तुतः यही बात लोचनकार (आचार्य अभिनवगुप्त) ने इस प्रकार कही है—‘लोगों का यह कहना कि ‘रस अनुभव में पता चला करते हैं’ । ऐसा ही है जैसे कि यह कहना कि ‘भात पका रहे हैं’ । यहाँ (रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् इस उक्ति में) ‘रत्यादि’ के विशेषणरूप से ‘स्थायीभाव’ का निर्देश एक उद्देश्यविशेष से किया गया है । बात यह है कि वैसे तो केवल ‘रत्यादि’ कहने से ही ‘रत्यादि रूप स्थायी चित्तवृत्तिओं’ का अभिप्राय निकल जाता है किन्तु फिर भी—‘रत्यादिः स्थायीभाव’ कहना इसलिये आवश्यक है क्योंकि इससे यह निर्दिष्ट होता है कि एक रस में यदि रतिरूप चित्तवृत्ति स्थायी है तो दूसरे में वह अस्थायी अथवा व्यभिचारी रूप में हो रहेगी । उदा-हरण के लिये, हासरूप चित्तवृत्ति अथवा क्रोधादिरूप चित्तवृत्ति (जो कि हास्य अथवा रौद्रादि रसों में स्थायी है) शृङ्गार अथवा वीरादि रसों में व्यभिचारिरूप में ही पड़ी रहती है । वस्तुतः इसीलिये कहा गया है—‘वही भाव वस्तुतः स्थायीभाव हुआ करता है—जो कि ‘रस’ रूप में अभिव्यक्त हो उठता है’ ।

विमर्श—(क) नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्तम्भ, स्वेद आदि आठ ‘सात्त्विक’ भावों का पृथक् परिगणन किया है ।

‘स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।

वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥’ (नाट्यशास्त्र ६ २०)

नाट्यशास्त्रकार की दृष्टि में सात्त्विकभावों का एक अपना ही महत्त्व है और इसीलिये नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में इनका भी विशद विवेचन किया हुआ है । सात्त्विकभावों का अनुभावों में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता—इसके सन्वन्ध में काव्यानुशासनकार आचार्य ऐमचन्द्र नूरि ने नाट्यशास्त्र की मर्यादा का यह उल्लेख किया है—

‘स्तम्भस्वेदोरोमाञ्चस्वरभेदकम्पवैवर्ण्याश्रुप्रलया अष्टौ सात्त्विकाः । सीदत्यस्मिन् इति व्युत्पत्तेः सत्त्वगुणोत्कर्षात् साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्त्वम्, तत्र भवाः सात्त्विकाः । भावा इति वर्तन्ते । तेऽत्र प्राणभूमिप्रसृतरत्यादिमवेदनवृत्तयो वारजजरूपभौतिकनेत्रजलादि-विलसुणा विभावेन रत्यादिगतेनैवातिचर्चणागोचरेणाहता अनुभावैश्च गम्यमाना भावा भवन्ति । तथा हि पृथ्वीभागप्रधाने प्राणे संक्रान्तश्चित्तवृत्तिगण स्तम्भो विष्टब्धचेत-नत्वम् । जलभागप्रधाने तु वाष्पः । तेजसस्तु प्राणनैकव्याधुभयथा तीव्रातीव्रत्वेन प्राणानुग्रह

इति द्विधा स्वेदो वैवर्ण्यं च । तदेतत्त्वाच्च तथा व्यवहारः । आकाशानुग्रहे गतचेतनत्व प्रलयः । वायुस्वातन्त्र्ये तु तस्य मन्दमध्योत्कृष्टावेशात् त्रेधा रोमाञ्चवेपथुस्वरभेदभावेन स्थितिरिति भरतविदः । बाह्यास्तु स्तम्भादयः शरीरधर्मा अनुभावाः । तेचान्तरालिकान् सात्त्विकान् भावान् गमयन्तः परमार्थतो रतिनिर्वेदादिगमका इति स्थितम् । एवं च नवस्यायिनस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणोऽष्टौ सात्त्विका इति पञ्चाशद्भावाः ।

(काव्यानुशासन २ ५३)

इससे स्पष्ट है कि नाट्य में अनुभाव और सात्त्विकभाव का अपना २ स्थान है, अपना २ उपयोग है और अपना २ रसार्पणसामर्थ्य है ।

साहित्यदर्पणकार ने सात्त्विक भावों को अनुभावरूप मान लिया है । आचार्य मम्मट के रसलक्षण में सात्त्विक भावों के समावेश न होने का तो एक युक्तियुक्त कारण मिल जाता है क्योंकि वहाँ रसके काव्यानन्द रूप का निरूपण है न कि नाट्यानन्द रूप का । किन्तु नाटकलक्षणकार कविराज विश्वनाथ के लिये रस सृष्टि किंवा रसानुभूति में सात्त्विक भावों की सहयोगिता का अनिर्देश और साथ ही साथ इनका अनुभावों में अन्तर्भाव कुछ विचित्र सी बात है । सात्त्विक भावों की एक प्रकार की अनुभावरूपता का निर्देश दशरूपककार आचार्य धनञ्जय (८वीं शताब्दी) ने किया है—

‘पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ।

सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ॥

जिसका स्पष्टीकरण आचार्य धनिक के शब्दों में इस प्रकार है—

‘परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वं यदाह—सत्त्वं नाम मनः प्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते, एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाशुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विका स्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादशुभ्र-मृतयोऽपि भावा भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चा अनुभावा इति द्वैरूप्यमेवमा ॥’

(दशरूपक—४ धं)

वस्तुतः ‘दशरूपक’ के इस सिद्धान्त का ही सूत्र पकड़कर विश्वनाथ कविराज ने सात्त्विकभावों को अनुभावरूप मान लिया है । किन्तु जहाँ दशरूपक में स्तम्भादि को सात्त्विकभाव और अनुभाव—दोनों रूपों में देखा गया है वहाँ साहित्यदर्पण में दोनों को एक रूपता निर्धारित कर दी गयी है । समस्त भारतीय रग मंच की बदलती परिस्थितियों ही इस प्रकार के मतभेद को जन्म देनेवाली हैं ।

(ख) ‘विभावादि द्वारा रत्यादिस्थायीभाव की रस रूप में ‘अभिव्यक्ति’ रत्यादिरूप चित्त-वृत्तिओं का एक अवस्थापरिणाम है’—यह साहित्यदर्पणकार का रसाभिव्यक्तिवाद आचार्य महिममट्ट के ‘व्यक्तिविवेक’ से प्रभावित प्रतीत हो रहा है । आचार्य महिममट्ट ने ‘व्यक्ति’ अथवा ‘अभिव्यक्ति’ को सद्विषयक किंवा असद्विषयक रूप से द्विविध मान कर सद्विषयक अभिव्यक्ति की ये निम्न सभावनायें की हैं—

१ ली अभिव्यक्ति—‘तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका (अभिव्यक्तिः), यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः । तथावस्थानानुपगमे तु सैवोत्पत्तिरित्युच्यते कैश्चित् ।’ अर्थात् प्रथम अभिव्यक्ति वह सद्विषयक अभिव्यक्ति है जिसे कारण में शक्तिरूप से अवस्थित कार्य का आविर्भाव कहना चाहिये । जैसे कि दूध से दही का आविर्भाव । दही दूध से कोई सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं अपितु दूध का ही एक अवस्थापरिणाम है । ‘कारण में कार्य शक्तिरूप से अवस्थित रहा करता है’—इस सिद्धान्त के न मानने वाले ‘आविर्भाव’ अथवा ‘अवस्थापरिणाम’ को ही ‘उत्पत्ति’ कहा करते हैं ।

२ री अभिव्यक्ति—‘तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशके-
नोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया यथा प्रदीपादिना घटादेः।’ अर्थात् किसी
कारणवश अनभिव्यक्त किन्तु पूर्वाविर्भूत वस्तु का किसी ऐसे अभिव्यञ्जक के द्वारा जो कि
अभिव्यञ्जक होने के नाते अप्रधान है और अपने साथ साथ अपने अभिव्यङ्ग्य को प्रकट किया
करता है, प्रकाशित होना दूसरी अभिव्यक्ति है। जैसे कि किसी सतमसावृत घट का प्रदीप द्वारा
प्रकाशन। प्रदीप द्वारा घट को जो अभिव्यक्ति है उसमें प्रदीप अपने आप को प्रकाशित करते
हुये ही घट का प्रकाशक अथवा अभिव्यञ्जक हुआ करता है।

३ री अभिव्यक्ति—‘तस्यैवानुभूतपूर्वस्य सत्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिद्व्यभि-
चारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा सत्कारप्रबोधमात्रं तृतीया, यथा धूमादग्नेः, यथा
चालेख्यपुस्तकप्रतिविम्बानुकरणादिभ्यः, शब्दाच्च गवादेः।’ अर्थात् तीसरी अभिव्यक्ति उस
प्रकार की अभिव्यक्ति है जिसे किसी पूर्वानुभूत किंवा सत्काररूप से हृदय में विराजमान वस्तु
का, उससे सम्बद्ध (अविनाभूत) किसी दूसरी वस्तु अथवा उसके प्रतिपादक द्वारा, सत्कारोद्बोधन
कहना चाहिये। जैसे कि धूम के द्वारा अग्नि का अनुभव। धूमदर्शन से अग्नि का अनुभव एक
अभिव्यक्ति है जिसमें पूर्वानुभूत और सत्कार रूप में हृदय में विराजमान अग्नि का सत्कार
प्रबोधमात्र हुआ करता है। इसी प्रकार चालेख्य अनुकरण किंवा शब्दादि प्रतिपादकों के
द्वारा किसी वस्तु का अनुभव भी यही तीसरी अभिव्यक्ति है जिसमें अभिव्यञ्जक का कार्य केवल
पूर्वानुभव के सत्कारों का जागरणमात्र हुआ करता है। इन उपर्युक्त अभिव्यक्तिविषयक समावनाओं
में ‘रत्यादिस्थायीभाव की रसरूप में अभिव्यक्ति’ केवल पहली अभिव्यक्तिसमावना में आसक्तता है
न कि दूसरी अथवा तीसरी में। विश्वनाथ कविराज ने इन तीनों अभिव्यक्ति-समावनाओं पर
विचार कर ‘रस’ को ‘दध्यादिन्याय’ से ही अभिव्यक्त माना है ‘घटादिन्याय’ अथवा ‘अग्न्यादि-
न्याय’ से नहीं। ‘दध्यादिन्याय’ का अभिप्राय है—जिस प्रकार दूध किसी आम्लद्रव्य (जामन)
के संयोग से रूपान्तर परिणत होकर दही बना करता है उसी प्रकार सहृदयहृदयावस्थित
रत्यादिरूप स्थायीभाव ही कविवर्णित विभावादि के संयोग से रूपान्तर परिणत होकर ‘रस’ बन
जाया करता है। इस दृष्टि से ‘घटादिन्याय’ से रस को अभिव्यक्त मानना अनुचित है क्योंकि
‘रस’ घट की भांति कोई पूर्वसिद्ध पदार्थ नहीं जो कहीं छिपा हो और जिसे, दीपशिरा की
भांति, विभावादियोजना प्रकाशित कर जाय। ‘अग्न्यादिन्याय’ में रस की अभिव्यक्ति भी
युक्तिसंगत नहीं क्योंकि न तो अग्नि की भांति रस को लोकजीवन में पूर्वानुभूत मान सकते हैं
और न विभावादियोजना को ही इस रसानुभव के सञ्चित सत्कारों का उद्बोधक कह सकते हैं।
रसाभिव्यक्ति के लिये दध्यभिव्यक्ति को ही दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जा सकता है क्योंकि
रसप्रक्रिया की समञ्जस व्यवस्था इसी से ठीक ठीक समझी जासकती है।

(ग) जो वस्तु पूर्वसिद्ध हो, जैसे कि घटपटादि, उसके लिये तो यह कहना ठीक है कि
उसका अनुभव हुआ करता है किन्तु जिस वस्तु की पहले से कोई सत्ता नहीं, जैसे कि रस की,
उसके लिये यह कहना कि उसका अनुभव हुआ करता है, प्रत्यापना ही लगता है। तात्पर्य यह है
कि जवन्त ‘घटादिन्याय’ से रस की अभिव्यक्ति न सिद्ध की जाय तबतक यह कहना कि ‘रस का
अनुभव होता है’ (रसा प्रतीयन्ते) निरर्थक सा ही है। इन आशंका का समाधान आचार्य
अभिनवगुप्त के शब्दों में, यह है—

‘सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहायां रसस्य। अप्रतीतिं हि पिचाशवदव्यवहार्यं स्यात्।
किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोक्त्या प्रतिमान-
कृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्विद्यमपि प्रतीतिश्चर्चणास्वादन-

भोगापरनामा भवतु । तन्निदानभूताया हृदयसवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात् । 'रसा. प्रतीयन्त' इति 'ओदन पचती'ति-वद्व्यवहार, प्रतीयमान एव हि रसः । प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना । सा च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतया सदधाना, एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा ।'

—(ध्वन्यालोकलोचन, २ य उद्योत)

अर्थात् इसमें तो कोई सदेह हो नहीं सकता कि काव्य अथवा नाट्य के महदय मामाजिकों को रस का अनुभव हुआ करता है । यह एक और बात है कि रसानुभव एक लोकविलक्षण अनुभव है जिसे न तो प्रत्यक्ष कह सकते हैं न अनुमान, न तो प्रातिभ ज्ञान मान सकते हैं और न योगज साक्षात्कार । रसानुभव के साधन अलौकिक साधन हैं और इसलिये रसानुभव की अलौकिकता स्वयं सिद्ध है । 'रस का अनुभव हुआ करता है'—ऐसा कहने से यह नहीं सिद्ध हो जाता कि रस घटपट की भाँति एक पूर्वसिद्ध वस्तु है । 'रस का अनुभव' तो रसचर्चणा, रसास्वाद, रसभोग आदि-आदि का पर्याय शब्द है जिससे यह स्पष्ट है कि सद्वृद्ध-हृदय की रत्यादिवासना ही चर्चणा अथवा रसना के सबन्ध से 'रस' हैं । जैसे पाकक्रिया के सबन्ध से तण्डुल (चावल) को 'ओदन' (भात) कहा जाया करता है (ओदन पचति) वैसे ही रसना क्रिया के सबन्ध से सामाजिकवासना भी 'रस' कही जाया करती है (रसा प्रतीयन्ते), पाक के पहले जैसे चावल को 'भात' नहीं कहा करते वैसे ही रसना अथवा चर्चणा के पहले रत्यादिवासना भी 'रस' नहीं कही जाया करती ।

(घ) साहित्यदर्पणकार ने 'रसतामेति रस्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्' आदि अपनी उक्ति की जो सार्थकता बतायी है उसका आधार व्यक्तिविवेककार का यह कथन है—

'ये चैते स्थायिव्यभिचारिसात्त्विकभेदादेकोनपञ्चाशद्भावा उक्तास्ते सर्वे व्यभिचारिण एव । केवलमेपां प्रतिनियतरूपापेक्षो व्यपदेशभेदः । तथा हि स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं, न व्यभिचारिसात्त्विकेषु । व्यभिचारित्वं व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः । सात्त्विकस्वमपि सात्त्विकेष्वेव, नेतरयोरिति । तत्र स्थायिभावानामुभयी गतिः । न व्यभिचारिसात्त्विकानाम् । ते हि नित्यं व्यभिचारिण एव न जातुचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते ।'

—(व्यक्तिविवेक, ८ म विमर्श)

अर्थात् नाट्यशास्त्र के भावाध्याय में परिगणित समस्त भाव वस्तुतः व्यभिचारिभाव ही हैं । इन ४९ भावों में रत्यादिभाव इसलिये स्थायीभाव कहे जाया करते हैं क्योंकि रसरूप में ये ही उद्बुद्ध हुआ करते हैं ।

वस्तुतः स्थायीभावों की रसरूपता का सिद्धान्त नाट्याचार्य भरतमुनि का ही सिद्धान्त है जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

'कथमिदानीमेते स्थायिनोऽथौ भावा रसत्वमाप्नुवन्तीत्युच्यते । एवमेतदिति । कस्मात् ? यथाहि सभानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरसमाना समानप्रत्यया अपि पुरुषा कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वयुक्ता राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति । तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपासता भवन्तीत्याश्रयत्वात्स्वाभिभूताश्च स्थायिनोभावाः । तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूता अन्ये भावाः । तान् गुणवत्तयाश्रयन्ते परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः । को दृष्टान्त इति ? यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः । बहुषु गच्छसु कश्चित्

(रसास्वाद के स्वरूपनिर्णय की प्रतिज्ञा)

अस्य स्वरूपकथनगर्भ आस्वादनप्रकारः कथ्यते—

(रस और रस का आस्वाद)

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥ २ ॥

मौलिक

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमादभिः ।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वादते रसः ॥ ३ ॥

(काव्यार्थपरिशीलन सत्त्वोद्रेक रसास्वाद)

‘रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते’ इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुख-

कचित् पृच्छति कोऽयमिति । स च तमाह—राजेत्येव । तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृत्तः स्थायीभावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत् ।

—(नाट्यशास्त्र-तत्त्वमाध्याय)

अर्थात् स्थायीभाव हो नामाजिकों की रसना के सवन्ध से ‘रस’ रूप धारण कर सकते हैं न कि अन्यान्यभाव । वैसे तो रत्नादिभाव भी भाव ही हैं किन्तु उनमें अन्यभावों को अपना अनुचर बनाने का नामर्थ है और इनलिये ये ही ‘रस’ रूप में अभिव्यक्त हो पाते हैं । मनुष्य मात्र का अंग-प्रत्यङ्ग समान हुआ करना है किन्तु कोई अपने कुलशीलादि के बलक्षण्य से राजा हो जाता है और दूसरे लोग उसकी प्रजा बन जाते हैं । भाव के नाते सभी भाव समान हैं किन्तु इन भावों में स्थायीभाव ही ऐसे हैं जो एकमात्र ‘रस’ का पद पा सकते हैं क्योंकि इन्हीं में वह शक्ति है जो अन्यभावों को उनका आश्रित बनाया करती है ।

अनुवाद—अब रस का आस्वाद कैसे हुआ करता है इसका ऐसा विचार किया जा रहा है जिसमें यह भी पता चल जाय कि रस का स्वरूप कैसा है—

कुछ विरले लोग (सहृदय सामाजिक-जन) ही उस काव्यानन्द (अथवा नाट्यानन्द) का अनुभव किया करते हैं जिसे ‘रस’ कहा जाया करता है । इस ‘रस’ का अनुभव उन्हें तभी हो पाता है जबकि उनके हृदय में (काव्यनाट्यपरिशीलन की महिमा से) सत्त्व का उद्रेक अथवा प्राचल्य हो जाया करता है । यह सहृदय हृदय के अनुभव का विषय ‘रस’ एक अखण्ड (क्योंकि इसमें विभावादि का पृथक्-पृथक् अनुभव असंभव है), स्वयंप्रकाश (क्योंकि रस रूप अनुभव स्वयं प्रकाशित हुआ करता है न कि किसी अन्य ज्ञान का विषय बना करता है) किंवा आनन्दमय रत्यादि-संवेदन रूप है; यह एक ऐसा अनुभव है जिसके साथ अन्य किसी भी ज्ञेय वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता, इमे यदि किसी भी अन्य अनुभव के समान बताया जा सके तो वह अनुभव एक मात्र आत्मसाक्षात्कार ही हो सकता है अन्य नहीं; इस अनुभव का सार एक अलौकिक चमत्कार है और यह अनुभव, यह आस्वाद ऐसा है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद उसी प्रकार नहीं आभासित हुआ करता जिस प्रकार आत्मस्वरूप के साक्षात्कार अथवा ब्रह्मानन्द के अनुभव में ।

उपर्युक्त रसास्वाद निरूपण में ‘सत्त्व’ का अभिप्राय है मन की एक ऐसी अवस्था का जो सहृदय सामाजिकों को अन्य समस्त घटपटादि वस्तुओं के ज्ञान के प्रति विमुख अथवा वीतराग बना दिया करती है । वस्तुतः इसीलिये ‘सत्त्व’ की यह परिभाषा दी गयी है—

तापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम् । तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः । अत्र च हेतुस्तथाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम् ।

अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः । अत्र हेतुं वक्ष्यामः । स्वप्रकाशत्वाद्यपि वक्ष्यमाणरीत्या । चिन्मय इति स्वरूपार्थे मयट् ।

चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः । तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम् । तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।

तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।

तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥ इति ।

कैश्चिदिति प्राक्तनपुण्यशालिभिः ।

‘सत्त्व’ मन का वह स्वरूप है जिसमें रजोगुण और तमोगुण का कोई स्पर्श—कोई संपर्क—नहीं रहा करता—(सरस्वती कण्ठाभरण) । इस प्रकार सत्त्व के उद्रेक अथवा प्रावलय का तात्पर्य है सत्त्व के इस रूप में विराजमान हो जाने का जिसमें रजोगुण और तमोगुण दबे दबाये रह जाँय और अपने-अपने कार्य (अर्थात् चाञ्चल्य और मोहसकट आदि) के निष्पादन में असमर्थ बना दिये जाँय । यह ‘सत्त्वोद्रेक’ जिसके द्वारा समभव है वह और कुछ नहीं अपितु विभावादि रूप अलौकिक काव्यार्थ में सहृदय-हृदय का अलौकिक अभिनिवेश अथवा अन्तर्लय है ।

(इस सत्त्वोद्रेक की महिमा से सहृदयों को जिस रस का आस्वाद हुआ करता है वह) रस अखण्ड है । रस ‘अखण्ड’ है—इसका अभिप्राय यह है कि रस व्यक्तक विभावादि किंवा व्यङ्ग्य रत्यादि का एक आनन्दघन, चमत्कारमय, अलौकिक सवेदन अथवा अनुभव है । रस के विभावादि किंवा रत्यादिमय एक आनन्दात्मक अनुभव होने का जो कारण है उसका तो विचार आगे किया ही जायगा । साथ ही साथ इसके ‘स्वयंप्रकाश’ होने का रहस्य भी, जैसा कि आगे बताया जायगा, स्पष्ट ही हो जायगा । रस के ‘चिन्मय’ होने का अभिप्राय यह है कि रस चिद्रूप है—स्वप्रकाशानन्द रूप है,—क्योंकि यहाँ ‘चिन्मय’ पद में जो ‘मयट्’ प्रत्यय है वह ‘स्वरूप’ का अर्थ रखता है (नकि ‘प्राचुर्य’ का) ।

रस ‘लोकोत्तरचमत्कारप्राण’ है—इस उक्ति में ‘चमत्कार’ शब्द ‘विस्मय’ शब्द का समानार्थक है । और ‘विस्मय’ क्या है ? विस्मय है सहृदय सामाजिक का चित्तविस्तार अथवा मनोविकास । ‘चमत्कार’ ही रस रूप अनुभव का प्राणभूत है—इसका बड़ा सुन्दर निर्देश हमारे (साहित्यदर्पणकार के) वृद्धप्रपितामह के सरचण में प्रचलित रसिक समाज के अग्रणी किंवा कविपण्डितशिरोमणि आचार्य नारायण ने किया था जिसे आलङ्कारिक धर्मदत्त ने अपने अलङ्कार ग्रन्थ में इस प्रकार उद्धृष्ट किया है—

‘चाहे कोई भी रस हो, यह तो चमत्कार ही है जो उसमें साररूप से प्रतीत हुआ करता है । और जबकि चमत्कार ही रस का सार है तब तो यही सिद्ध है कि सभी रसों में अद्भुत रस का ही आस्वाद मिला करता है । वस्तुतः महासहृदय आचार्य नारायण ने इसीलिये तो रस को अद्भुत अथवा चमत्कारसार कहा है ।’

यहाँ ‘कैश्चिद्’—‘कुछ विरले लोगों के द्वारा ही’ (रस का आस्वाद लिया जाया करता

यदुक्तम्—

‘पुण्यवन्तः प्रमिष्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्’ । इति ।

है) इस कथन का अभिप्राय यह है कि रसास्वाद के भागी वे ही लोग हुआ करते हैं जो पूर्वजन्म के सञ्चित (काव्यार्थपरिशोदन अथवा काव्यार्थभावनरूप) पुण्य से परिपूत रहा करते हैं ।

कहा भी गया है—‘वे ही लोग रससंदोह का आनन्द लिया करते हैं जोकि ब्रह्मदर्शी योगियों की भाँति पुण्यात्मा हुआ करते हैं ।’

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने काव्यार्थरूप रसास्वाद के अधिकारी लोगों को ‘प्राक्तन-पुण्यशाली’ कहा है । अभिनवनावादी सभी आचार्य, रसमोक्षा के लिये, काव्यार्थपरिशोदन के जन्मजन्मार्जित पुण्यसञ्चय को आवश्यक मानते हैं । रस का सार यदि ‘चमत्कार है और वस्तुतः ऐसा है भी और ‘चमत्कार’ यदि ‘सकलविघ्नविनिर्मुक्तसवेदघ’ है क्योंकि इसका और कोई रूप नहीं, तब तो यह स्वयं सिद्ध है कि रस का आस्वाद लेने वाले सामाजिक योगियों की भाति पुण्यात्मा हैं और रसानुभव में स्वप्रकाशानन्दरूप आत्मानुभव का आनन्द लिया करते हैं ।

(ख) रसास्वाद में सद्दय सामाजिक की मनोदशा विचित्र हुआ करती है । इसमें विचित्रता दसलिये रहा करती है क्योंकि अन्य किसी भी अनुभव में ऐसी बात नहीं हुआ करती । यह मनोदशा मन के सत्त्वोद्रेक की दशा है । अथवा यों भी कह सकते हैं कि सामाजिक जन का वह मन ही ‘सत्त्व’ है जिसके रजोगुण और तमोगुण काव्यार्थपरिशोदन के द्वारा, अपने-अपने प्रभावों के प्रकाशन में, असमर्थ हो जाया करते हैं । रजोमय मन चञ्चल हुआ करता है और तमोमय मन पर मोह सकट की घटा छायी रहती है । मन की चञ्चलता और मोहान्यता के निवारण के लिये योगीजन समाधि का सहारा लिया करते हैं किन्तु काव्यरसिक किंवा नाट्यप्रेमी लोगों के मन का मोह-संकट काव्य अथवा नाट्य के भोग से ही भगाया जाया करता है । सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र-व्याख्याकार आचार्य मट्टनायक ने ही ‘रसास्वाद में मन की दशा’ का एक मनोवैज्ञानिक निरूपण किया था । मट्टनायक के अनुसार काव्य-नाट्य की भावकनाशक्ति तो सामाजिकों में ‘सद्दयता’ का संचार किया करती है और जब सद्दयता का सञ्चार होने लगता है तब सामाजिकों में वह भोग सञ्चरित होने लगता है जो एक विचित्र अनुभव, एक अलौकिक मानस अध्यवसाय है । यह नाट्यानन्द, यह रसभोग ऐसा है जो ‘परमसात्वादसविध’ हुआ करता है । इसके स्वरूप का यदि विस्तरेण किया जा सके तो यही कहा जा सकता है कि यह ‘सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्धिश्चान्तिसलक्षण’ है, ऐसा है जिसे साक्षात् एक अहपरामर्श कह सकते हैं । यह अहपरामर्श ऐसा है जिसमें मन का सत्त्वगुण, रजस् और तमस् से अनुविद्ध होते हुये भी, रजस् और तमस् को दबाकर, अपने पूर्णस्वरूप में प्रकाशित रहा करता है । मन का यह सत्त्वोद्रेक एकमात्र आनन्दात्मक आत्मसवेदनस्वरूप है ।

मट्टनायकमन यह ‘भोग’, यह ‘सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्धिश्चान्ति’ रूप अनुभव अभिनवक्तिप्रादी आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार रसास्वाद को माधन-मामत्रों नहीं वरन् साक्षात् रस का प्रागभूत चमत्कार अथवा आस्वाद अथवा आत्मलय है । साहित्यदर्पणकार ने आचार्य अभिनवगुप्त का ही अनुसरण करते हुये ‘रस’ को ‘अखण्डत्वप्रकाशानन्दचिन्मय’ कहा है । यह ‘अखण्डत्वप्रकाशानन्दचिन्मय’ रस सद्दय सामाजिकों में ‘सत्त्वोद्रेक’ के कारण बनता है अथवा यह ‘रस’, यह अनुभव, सद्दय सामाजिकों का साक्षात् आत्मसाक्षात्काररूप है जिन्के होते हुये मन की चञ्चलता किंवा मोहान्यता भाग जाता है—ये दोनों समावर्तार्थ साहित्य-दर्पणकार को मान्य हैं जिसमें मट्टनायक और अभिनवगुप्त दोनों आचार्यों की विचारधाराओं का सम्यक् स्थापित किता प्रतीत हो रहा है ।

(ग) रस 'वेद्यान्तरसपर्कशून्य' है और इसी लिये 'ब्रह्मास्वादमहोदर' है—यह साहित्यदर्पण कारकृत रसस्वरूप-विवेक रसमर्मज्ञ आचार्य अभिनवगुप्त किंवा आचार्य मम्मट आदि के रसविषय-विचारों द्वारा सर्वथा प्रमाणित किंवा अनुप्राणित है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'रस' को चर्व्यमाण तैकसार कहा है। रस चर्व्यमाणतैकसार है—ऐसा कहने का यही अभिप्राय है कि रसरूप अनुभव में किसी भी अन्य वेधवस्तु का कोई भी अनुवेध, कोई भी ससर्ग सभव नहीं। रस निर्भरानन्द आत्मस्वरूप होने से ही यह सिद्ध है कि यह एक ऐसा अनुभव है जिसमें श्रेय-श्राव भाव का विश्लेषण असभव है। रस 'श्रेय' नहीं और न रसप्रमाता 'श्राता' है, वह तो साक्षात् स्वप्रकाशनान्दात्मक आत्मानुभव है और जब ऐसी बात है तब तो रस की 'वेद्यान्तरसपर्कशून्य' स्वयं सिद्ध है। 'वेद्यान्तरसपर्कशून्य' होने के ही कारण रस को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा गया है रस ब्रह्मानन्द नहीं अपितु ब्रह्मानन्दसदृश है—ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि जहां ब्रह्मानुभ शुद्ध चिदानन्दात्मक अनुभव है वहां रसानुभव त्यागिदि सबलित चिदानन्दरूप अनुभव है।

(घ) रस 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' है—यह साहित्यदर्पणकारकृत रसस्वरूप-निर्देशमी प्राचीन रसध्वनितत्त्वदर्शी आचार्यों की परम्परा से प्रमाणित होता है। 'चमत्कार' क सकलविघ्नविनिर्मुक्त सवित् कहा जाता है। काव्य-नाट्यनित्यदर्शी आचार्य अभिनवगुप्त : 'चमत्कार' को एक निर्विघ्न संवेदन माना है। इसी के आशय के स्पष्टीकरण में 'काव्यानुशासन के अज्ञातनामा व्याख्याकार का कथन है—

‘अद्भुतमोगात्मस्पन्दवेशरूपो हि चमत्कारः । स च साक्षात्कारस्वभावो मानसाध्यवसायो वा सकल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेनास्फुरन्त्यस्तु । यदाह—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकीभवति । यत् सुखितोऽपि जन्तु ।

तच्चैव सा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

‘अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरूपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् । अपितु प्रतिमानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति ।’ (काव्यानुशासन २ १)

अर्थात् जिसे 'चमत्कार' कहते हैं वह एक ऐसा अनुभव है जो कि, चाहे वह साक्षात्कार हो या प्रतिमान हो या स्मृतिवैचित्र्य हो, एक विचित्र प्रकार का आनन्द-आवेश है जिसके होते एवं विचित्र सुख-विस्मय हुआ करता है। 'रसे सारश्चमत्कारस्सर्वत्राप्यनुभूयते'—इस उद्धरण से साहित्यदर्पणकार ने यही सिद्ध किया है कि रसानुभव अथवा रसमोग एक अलौकिक संवेदन है ऐसा संवेदन है जिसे एक शब्द में 'चमत्कार' कहा जा सकता है।

(ङ) 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस' यह साहित्यदर्पणकार का रसास्वादविषयव सकेत एक प्राचीन सकेत है। आचार्य अभिनवगुप्त की रसमीमासा का सारांश प्रकट करते हुए आचार्य मम्मट ने रसास्वाद को 'स्वाकार ह्वाभिन्नोऽपि गोचरीकृत' कहा था। साहित्यदर्पणकार ने इसे 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस' इस रूप में प्रकट किया है। यहां साहित्यदर्पण के तर्कवागीश्वरचित टीका का यह मत है—

स्वाकारवदिति—यथा स्वस्मान्निक्षोऽपि देहोऽहं स्थूल ह्रस्वादिभेदोऽहंस्वाभावेन प्रतीयते, तथा रसोऽपि ज्ञातृज्ञानभेदोऽहंस्वाभावेनास्वाद्यते इत्यर्थः। वटादिज्ञाने जातं वेद्मीति यथा ज्ञातृज्ञानभेदं प्रतीयते तथाऽत्र नेति भावः। यद्वा स्वाकारवत् = स्वविषयवत्। परिणामवादिभिर्ज्ञानतद्विषययोर्भेदानङ्गीकारादिति भावः।

अर्थात् जैसे 'अहं स्थूल' - 'मैं मोटा हूँ' यह अनुभव आत्मतत्त्व और शरीर के भेदोच्छेद के अभाव में हुआ करता है वैसे ही रस भी ज्ञाता और ज्ञान के भेदोच्छेद के अभाव में हुआ करता है। घटपटादि के अनुभव में तो वेद्य और वेदन का भेद स्पष्ट रहता है किन्तु रसानुभव में

('रस' और 'आस्वाद' का तादात्म्य)

यद्यपि 'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तदिशा रस-

'रस' और 'अनुभव' का कोई भेद नहीं हुआ करता। साथ ही साथ 'स्वाकारवत्' का एक दूसरा भी अभिप्राय संभव है और वह यह है—जैसे ज्ञान और ज्ञानविषय में अभेद माना गया है, जैसा कि परिणामवादी दार्शनिकों का सिद्धान्त है, वैसे ही रसदार्शनिकों के अनुसार आस्वाद और आस्वादविषय 'रस' भी भिन्न नहीं, अपि तु एक अभिन्न तत्त्व है।

कुछ लोगों ने जैसे कि तर्कवागीशरचित साहित्यदर्पण-टीका के टिप्पणीकार ने ही स्वाकार-वदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः' इस उक्ति में एक और ही अभिप्राय ढूँढा है—

'यथा ज्ञानस्यैवाकारो घटादिस्तस्मादभिन्नोऽपि तद्विषयो बाह्यैरङ्गीक्रियते तथात्रापीत्यर्थः। अत्रेदं तत्त्वम्—स्वयं वेदनं तावदङ्गीकार्यम्। अन्यथा जगदान्ध प्रसज्येत। एव च स्वव्यतिरिक्तग्राह्यविरहात्तत्तदात्मिका बुद्धिः स्वयमेव स्वात्मरूपप्रकाशिका प्रकाशवदिति। तदुक्तम्—

'नान्योऽनुभान्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नानुभवोऽपरः।

ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥' इति।

ग्राह्यस्य बाह्यविषयजातस्य ग्राहकं स्वयं वेदनापरपर्यायं बुद्धितत्त्व तयोर्वैधुर्यं नाम ग्राह्यत्वेन ग्राहकत्वेन च रूपेण भेदराहित्यम्। तयोरभेदश्चानुमातव्यः। येन वेदनेन यद् वेद्यते तत्ततो न भिद्यते। यथा ज्ञानेनात्मानं। (चक्षुरादीनि पञ्चेन्द्रियाणि) तैश्च नीलादयो वेद्यन्ते। भेदे सति वेदनेन सहार्थस्य सवन्धित्वं न स्यात्। तादात्म्यस्य सवन्धनियमहेतोरभावात्। तस्माद्बुद्धिरेवानादिवासनावशादनेकाकारावभासत इति स्थितम्।'

(साहित्यदर्पण : निर्णयसागरसंस्करण, पृष्ठ ७२)

अर्थात् घटपटादि वेद्यवर्ग वस्तुतः वेदन अर्थात् ज्ञान के ही आकार हैं और इसलिये ज्ञेय और ज्ञान का भेद काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। यदि ज्ञान से ज्ञेय कोई सर्वथा भिन्न तत्त्व हो तब ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध क्या? ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध तो तादात्म्य-सम्बन्ध है। इस प्रकार 'आस्वाद' और 'रस' भिन्न भिन्न तत्त्व नहीं अपि तु तादात्म्य-सम्बन्ध से सवद तत्त्व हैं। किन्तु विश्वनाथ कविराज का यहा वास्तविक अभिप्राय संभवतः कुछ और है। 'कैश्चित् प्रमातृभिः। स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः'—इस पद-संदर्भ में सर्वप्रथम तो रसप्रमाता के परिमित प्रमातृभाव के विगलित होने का अर्थ अन्तर्निहित है क्योंकि तभी रसप्रमाता के रसानुभवकालीन लोकोत्तर व्यक्तित्व का सकेत किया जा सकता है जैसा कि 'कैश्चित्' इस पद के द्वारा किया भी गया है। इस प्रकार 'स्वाकारवदभिन्नत्वेन' आदि के अर्थ-रस्य में जो बात झलकती है वह यह है—जैसे स्वप्रकाशरूप आत्मतत्त्व का उसके आकार अर्थात् स्वरूपानन्द के साथ कोई भेद नहीं, वैसे ही स्वप्रकाशरूप रस या उनके आकार अथवा चमत्कारात्मक आस्वाद के साथ कोई भेद नहीं। 'तद्वच्च सामाजिकों को रसान्वाद मिला करता है'—इसका यह रस्य है कि 'नृदय सामाजिक स्वप्रकाशानन्दरूप आत्मतत्त्व का नास्वात्कार किया करते हैं।' यद्यपि अभिप्राय भी संगत है—जैसे भिन्न-भिन्न प्रमानाजनों में स्वप्रकाशानन्दमय आत्मतत्त्व अभिन्न है वैसे ही भिन्न-भिन्न नृदयों का अनुभूत रस भी भिन्न नहीं अपि तु एकरूप, एकान्त, अभिन्न हुआ करता है।

अनुवाद—यद्यपि प्राचीन रसमर्मज्ञ आचार्यों का यह निर्देश कि (नृदय सामाजिकद्वारा अनुभूत काव्य-नाट्य का) 'आस्वाद विभावादि-संवलित रत्यादि रूप काव्यार्थ से अनुविष्ट

स्थास्वादान्तिरिक्तत्वमुक्तम्, तथापि 'रसः स्वाद्यते' इति काल्पनिकं भेदमुररी-
कृत्य कर्मकर्तरि वा प्रयोगः । तदुक्तम्—'रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरा-
दनन्य एव हि रसः' इति । एवमन्यत्राप्येवविधस्थलेपूपचारेण प्रयोगो ज्ञेयः ।

सहृदय सामाजिक के आत्मानन्द का आस्वाद है' इसी बात को सिद्ध करता है कि
जिसे 'रस' कहते हैं वह 'आस्वाद' के अतिरिक्त (आस्वादभिन्न) कोई और तत्त्व नहीं
किन्तु तब भी यह कहा जा सकता है कि 'रस का आस्वाद लिया जाया करता है' ।
'रस का आस्वाद लिया जाया करता है'—इस कथन में 'रस' और 'आस्वाद' में भेद की
कल्पना कर ली गयी है (जो कि उचित ही है क्योंकि 'राहो शिर,' 'राहु का सिर' आदि
आदि रूप से अभेद में भेद-कल्पना की ही जाया करती है) । अथवा 'रस. स्वाद्यते'—'रस
का आस्वाद लिया जाया करता है'—इस उक्ति में कर्मकर्तृप्रक्रिया मान सकते हैं
जिससे 'रस स्वाद्यते' का अभिप्राय यह निकलता है कि 'रस स्वयं ही अपने स्वरूपभूत,
अपने से अभिन्न आस्वाद का विषय हुआ करता है' ।

वस्तुतः इसीलिये कहा भी गया है—'रस का सारतम तत्त्व तो रस्यमानता अथवा
आस्वादमयता है और इसीलिये जिसे 'रस' कहते हैं वह स्वप्रकाशानन्दमय सवित्तत्त्व
(आत्मतत्त्व) से भिन्न कोई अन्यवस्तु नहीं ।' इसी भांति अन्यत्र भी, जहाँ ऐसा प्रयोग हो
जिसमें 'रस' और 'आस्वाद' का भेद प्रतीत हुआ करे, यही समझना चाहिये कि उपचार
का-काल्पनिक भेद का-आश्रय लिया गया है (अथवा कर्मकर्तृप्रक्रिया का व्यवहार
किया गया है) ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'स्वाद काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भव' आदि उदाहरण
दशरूपक (४४३) का दिया है । दशरूपक की पक्तियाँ ये हैं

'कथं च काव्यात् स्वानन्दोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

'स्वाद काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।

विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥

शृङ्गरवीरवीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।

हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥

अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।

काव्यार्थेन = विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे = अन्योन्यसंवलने
प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः, तस्य च सामान्यात्म-
कत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद्यथा-
शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, वीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति ।'

अर्थात् जिसे काव्यनाट्य का आस्वाद कहते हैं वह वस्तुतः आत्मानन्द का ही विलास है ।
यह आस्वाद तभी सम्भव है जबकि काव्य-नाट्य के सामाजिक के हृदय में विभावादि सवलित
रत्यादिरूप काव्यार्थ की महिमा से सहृदयता का स्रोत उमड़ पड़े और स्वगत-परगत का भेद-
भाव मिट जाय ।

यद्यपि दशरूपककार की यह उक्ति 'रस' को 'आस्वाद' (स्वाद) रूप सिद्ध करने के लिये कोई
प्रयत्न नहीं करती किन्तु इसके आधार पर विश्वनाथ कविराज ने जो 'रस' और 'आस्वाद' की
अभिन्नता प्रमाणित की है उसमें कोई ऐसी विप्रतिपत्ति नहीं, जो खटकनेवाली हो । दशरूपककार की
उपर्युक्त उक्ति में तो 'रस' और 'स्वाद' के भेद का ही पता चलता है अन्यथा अष्टविध रस और
चतुर्विध स्वाद के उल्लेख का क्या अभिप्राय ! सम्भवतः कविराज विश्वनाथ को दशरूपक की

(आस्वादस्वरूप रस और व्यञ्जनावृत्ति का तादात्म्य)

नन्वेतावता रसस्याद्वैत्यत्वमुक्तं भवतीति व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद् द्वयोरैक्यमापतितम् । ततश्च—

स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः ।

यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात् ॥'

इत्युक्तदिशा घटप्रदीपवद्व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः पार्थक्यमेवेति कथं रसस्य व्यङ्ग्यतेति चेत्, सत्यमुक्तम् । अत एवाहुः—'विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद्व्यापारः' । अत एव हि रसनास्वादनचमत्करणादयो विल-

उपर्युक्त पक्तियों में केवल प्रथम पक्ति का ही ध्यान है जिसमें उक्त 'स्वाद' पद 'रस' का समानार्थक प्रतीत हुआ है ।

अनुवाद—यहाँ एक प्रश्न उठता है और वह यह है कि यदि 'रस' और 'आस्वाद' की उपर्युक्त एकरूपता मान ली जाय और 'रस' अथवा 'आस्वाद' को स्वप्रकाशानन्दरूप संवित्-स्वीकार कर लिया जाय तब यह कैसे सम्भव है कि रस को अनुभव का विषय सिद्ध किया जाय ! (यह कैसे सम्भव है कि रस अथवा आस्वाद प्रकाशरूप भी हो जाय और प्रकाश अथवा सवेदन का विषय भी बन जाय !) यहाँ यह तो कहा नहीं जा सकता कि रस अथवा आस्वाद व्यञ्जना द्वारा वेद्य है क्योंकि जैसे रस अथवा आस्वाद एक ज्ञानविशेष है वैसे ही व्यञ्जना भी एक ज्ञानविशेष ही है और ऐसा होने से यही सिद्ध है कि रस और व्यञ्जना दोनों एक अभिन्न तत्त्व हैं । रस और व्यञ्जना जब एक तत्त्व हुये तब क्योंकि रसको व्यङ्ग्य-व्यञ्जनावेद्य—कहा जा सके । रस को तो तभी व्यङ्ग्य कह सकते हैं जब व्यञ्जना उससे एक पृथक् तत्त्व हो । व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव तो वस्तुभेद में ही सम्भव है जैसे कि घट और प्रदीप में जो व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव है वह इसीलिये है क्योंकि व्यञ्जक प्रदीप और व्यङ्ग्य घट परस्पर भिन्न वस्तुयें हैं । तभी तो कहा गया है—

'व्यञ्जक वह तत्त्व है जो अपने आप को प्रकाशित करते हुये अपने से भिन्न किमी पूर्वसिद्ध वस्तु को प्रकाशित किया करे । उदाहरण के लिये 'प्रदीप' को हमीलिये व्यञ्जक कहा जाया करता है क्योंकि वह अपने आप को प्रकाशित करते हुये, अपने से भिन्न घट-पटादि को प्रकाशित किया करता है । यदि ऐसी बात न हो तो 'कारक' रूप हेतु से 'व्यञ्जक' रूप हेतु का भेद ही क्या रह जाय ?' (ध्वन्यालोक)

यह प्रश्न तो सगत सा लगता है । तभी वस्तुतः रसमर्मज्ञ-शिरोमणि आचार्य अभिनवगुप्त ने ऐसा कहा है—

'आस्वादन रूप व्यापार एक सर्वथा विलक्षण, अलौकिक, अनिर्वचनीय व्यापार है । यह व्यापार जैसे कारकहेतु के कृतिरूप व्यापार से विलक्षण है वैसे ही ज्ञापक (व्यञ्जक) हेतु के ज्ञप्ति (व्यञ्जक) रूप व्यापार से भी विलक्षण है । वस्तुतः हमीलिये इस आस्वा-दनात्मक व्यापार को (जिससे रस अथवा आस्वाद सम्भव है) रसन, आस्वादन, चमत्करण आदि-आदि अलौकिक शब्दों द्वारा सूचित किया जाया करता है ।'

अब यदि 'रस' को व्यङ्ग्य कहा जाय, जैसा कि रसमर्मज्ञ आलङ्कारिकों द्वारा कहा ही जाया करता है तो वहाँ यही अभिप्राय सम्मिलना चाहिए कि काव्य-नाट्य के परमार्थ-भूत रसभावादिरूप अर्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना नाम की एक ऐसी अलौकिक वृत्ति को स्वीकार करना है जो अभिधा और लक्षणा किंवा तात्पर्य नामक वृत्तियों से सर्वथा

क्षणा एव व्यपदेशाः' इति अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहितैर-
स्माभी रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमुक्तं भवतीति ।

विलक्षण वृत्ति हुआ करती है । रस 'व्यङ्ग्य' है—इसका रहस्य यही है कि रस (एक विल-
क्षण रसनात्मक व्यापार का विषय है । और यह रसनात्मक व्यापार और कुछ नहीं अपितु,
अनिर्वचनीय व्यञ्जना व्यापार है) ।

विमर्श—रस के 'ज्ञान' रूप होने और 'व्यङ्ग्य' (व्यञ्जना वेद्य) कहे जाने में जिस अनुपम
वृत्ति का निर्देश यहाँ साहित्य-दर्पणकार ने किया है उसे प्राचीन रसवेदी आचार्य अभिनवगुप्त ने
ही निर्दिष्ट कर दिया है । और 'रसना' रूप प्रतीति उत्पन्न हुआ करती है तथा इस रसनात्मक
प्रतीति में व्यञ्जना का ही हाथ रखा करना है ।

(तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा । सा च रसनारूपा प्रतीतिरूपयते । वाच्यवाचकयो-
स्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव—

—ध्वन्यालोकलोचन—२ य उद्योत)

इस युक्ति से 'रस' की व्यङ्ग्यता की अनुपपत्ति का भी निराकरण आचार्य अभिनवगुप्त का ही
किया हुआ है । 'रस' व्यङ्ग्य है, इसका अभिप्राय यही है कि काव्य नाट्य की अभिधादि विलक्षण
व्यञ्जना शक्ति की ही यह महिमा है जिससे रसनात्मक प्रतीति को जन्म मिला करता है । इस
प्रकार यदि यह कहा जाय कि 'रस व्यङ्ग्य है' तो यही समझा जायगा कि रसनात्मक प्रतीति
व्यञ्जना-जन्य हुआ करती है । इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का और भी कथन है—

भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत् किञ्चित् । भावकत्व-
मपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वित्तस्य वक्ष्यते । किमेतदपूर्वम् ?
काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुरपत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जी-
वित् । न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात् । न च केवला-
नामर्थानाम्, शब्दान्तरेणाप्यमाणत्वे तदयोगात् । द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्—
'यत्रार्थं शब्दो वा तमर्थं व्यक्त' इत्यत्र । तस्माद् व्यजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौ-
चित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्य भावक रसान् भावयति, इति श्रुत्यायामपि भावनायां
कारणादौ ध्वननमेव निपतति । भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु ध्वननमोहान्ध्य-
सकटतानिबृत्तिद्वारेणास्वादापरनाग्निं अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासान्नि भोगे कर्तव्ये
लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः । तच्चेद भोगकृत् रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे
दैवसिद्धम् । रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति ।'

(ध्वन्यालोकलोचन—२ य उद्योत)

अर्थात् रस प्रक्रिया का यदि विश्लेषण किया जाय तो जो बात अन्ततोगत्वा सिद्ध होती है
वह यह है—

काव्य-नाट्य रसभावक हुआ करता है । काव्य नाट्य में एक विचित्र शक्ति रहा करती है जो
कि उसकी भावना अथवा भावकता शक्ति है । काव्य-नाट्य की यह भावना वस्तुतः उसको व्यञ्जना
है अन्य कुछ नहीं । काव्य-नाट्य की भावना में भी साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता के तीनों
अंशों के स्वरूपों का स्पष्ट पता चला करता है । रस अथवा आनन्दमय अनुभव तो इसका साध्य है
और व्यञ्जना साधन । इतिकर्तव्यता (उपकारकत्व) के रूप में भी काव्य-नाट्य की ही व्यञ्ज-
कता सामग्री (अर्थात् गुण-अलंकार आदि की औचित्यपूर्ण योजना) दिखाई दिया करती है ।
यह काव्य-नाट्य की व्यञ्जना ही है जो कि विभावादि की साधारणीकृति से लेकर रसनारूप प्रतीति

(रस की आनन्दरूपता और शोकस्यायिभावात्मक करुण - सामञ्जस्य)

ननु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं (तदुन्मुखत्वं) न स्या-
दित्युच्यते—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥ ४ ॥

आदिशब्दाद्वीभत्सभयानकादयः ।

(करुण आदि के 'रस'-आनन्दास्वाद-रूप होने में अन्य प्रमाण)

तथाऽप्यसहृदयानां सुखमुद्रणाय पक्षान्तरमुच्यते—

तक स्फुरित रहा करती है । 'रस' और 'रसना' रूप प्रतीति में औपचारिक अभेद मानकर रस को व्यञ्जना-जन्य कहने में कोई आपत्ति नहीं ।

अनुवाद—यदि उपरिनिर्दिष्ट विचारधारा के अनुसार यही सिद्ध है कि रस आनन्दरूप है तो प्रश्न यह उठता है कि करुण, जिसमें शोकरूप स्थायीभाव की भावना अथवा रसना हुआ करती है, रस है या नहीं ? इसका समाधान यह है—

'जब कि सहृदय सामाजिकों को करुण आदि रसों में भी अनिर्वचनीय आनन्द ही मिला करता है तब तो यही सिद्ध है कि करुण आदि भी रस ही हैं, आनन्दरूप आस्वाद ही हैं ।'

यह 'करुण आदि' कहने का यह अभिप्राय है कि जैसे सहृदयों के अनुभव के आधार पर शोक-स्थायिभावात्मक करुण 'रस' है वैसे ही जुगुप्सा-स्थायिभावात्मक वीभत्स अथवा भय-स्थायिभावात्मक भयानक आदि भी 'रस' ही हैं—काव्य-नाट्य के आनन्दात्मक चमत्कार हो हैं ।

विमर्श—शृङ्गार की भाँति करुण भी एक आनन्दात्मक आस्वाद है—यह करुण-मीमांसा प्राचीन रसमर्मशों की परम्परा से चली आयी है । 'शोकः श्लोकत्वमागतः' की चिरप्रसिद्ध सूक्ति भी यही सिद्ध किया करती है कि करुण दुःखात्मक नहीं किन्तु एकमात्र सुखात्मक अनुभव है । महाकवि भवभूति की यह स्मरणीय उक्ति—

‘एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥’

करुण के ही आनन्द को एकमात्र काव्य-नाट्य का अनिर्वचनीय आनन्द माना करती है ।

यहाँ विश्वनाथ कविराज ने रस के आह्लाद रूप और करुण के शोकास्वाद रूप की मान्यता में जो अनुपपत्ति दूर की है उसमें लौकिक शोकानुभव से अलौकिक शोकास्वाद-लोक-करुण में काव्य-करुण-का वैलक्षण्य भी स्पष्ट रूप से झलक रहा है ।

अनुवाद—यद्यपि करुणादि रसों के आनन्दात्मक होने में सहृदयों के स्वानुभव को प्रमाण मानना सर्वथा युक्तियुक्त है किन्तु सम्भव है कि वे लोग, जो सहृदय नहीं, ऐसा न मानें । इसलिये, ऐसे लोगों की निरुत्तर करने के लिये, करुणादि की रसरूपता की सिद्धि में दूसरा प्रमाण दिया जा रहा है—

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदनुमुखः ।

नहि कश्चित् सचेता आत्मनो दुःखाय प्रवर्तते । करुणादिषु च सकल-
स्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव ।

(करुणादि रसों के दुःखात्मक मानने में महान् अनर्थ)

अनुपपत्त्यन्तरमाह—

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥ ५ ॥

करुणरसस्य दुःखहेतुत्वे करुणरसप्रधानरामायणादिप्रबन्धानामपि दुःख-
हेतुताप्रसङ्गः स्यात् ।

‘करुणादि रस का अनुभव तो वस्तुतः सब के लिये आनन्दात्मक ही अनुभव हुआ करता है क्योंकि यदि ऐसी बात न होती तो असहृदय की तो बात ही क्या ! कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी सहृदय क्यों न हो, करुणादि रस के आस्वाद के लिये लालायित ही क्यों हुआ करता, जैसाकि वस्तुतः हुआ करता है ?’

सहृदय होने अथवा असहृदय होने की बात तो दूर रहे, कोई भी व्यक्ति जो समझदार हो, अपने आप अपने पास शोक-सन्ताप को क्यों बुलाय ? अब जब कि करुणादि रस के आस्वाद के प्रति सामाजिक मात्र का आग्रह दिखायी पड़ता है तब तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि करुणादि रस भी आनन्दमय, सुखास्वादरूप ही हुआ करते हैं ।

विमर्श—‘लोक-करुण में हृदयोद्वेग हुआ करता है और काव्य-करुण में हृदयसन्वाद । लौकिक शोक में कोई भी व्यक्ति तन्मय होना नहीं चाहता । अलौकिक अर्थात् काव्य-नाट्योत्थापित शोकवासना में सभी तन्मय हुआ करते हैं । लौकिक करुण में आस्वाद्यमानता कहा ? काव्य-करुण एकमात्र आस्वादसार हुआ करता है’ यह विचारधारा जो कि विश्वनाथ कविराज ने यहाँ प्रवाहित की है ‘रस’ अथवा काव्यात्मक किंवा कलात्मक अनुभूति की बड़ी सुन्दर विचारधारा है जिसका उद्गम रसध्वनिवादी प्राचीन आचार्यों जैसे कि आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का ही मनन-चिन्तन है जैसा कि निम्न प्रक्तियों से स्पष्ट है—

‘शोक इति । क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यबन्धेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षविभावत्वाद्भिप्रलम्भशृङ्गरोचितरतिस्थायिभावादन्वय एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्चणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादा-स्वाद्यमानतां प्रतिपन्न, करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तदुतिसमास्वाद्य-सारां प्रतिपन्न’ (ध्वन्यालोकलोचन १ म वद्योत)

अनुवाद—साथ ही साथ करुणादि रसों के दुःखात्मक मानने में जो सबसे बड़ी अनुपपत्ति है उसका भी निर्देश कर देना आवश्यक है—

‘करुणादि को यदि दुःखात्मक मान लें, तब रामायणादि महान् काव्य अथवा नाट्य-ग्रन्थों को दुःखदायी मानना पड़ जायगा ! तात्पर्य यह है कि रामायणादि काव्य-प्रबन्ध अथवा नाट्य-प्रबन्ध तो सबके लिये रसात्मक-आनन्द-निष्पन्दी-प्रबन्ध हैं और इन प्रबन्धों का जो रस है वह करुण रस है । अब यदि करुण को दुःखात्मक मान लिया जाय तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि करुणरसप्रधान रामायणादि प्रबन्ध सहृदय सामाजिक के लिये दुःखदायक, दुःखात्मक प्रबन्ध हैं । किन्तु ऐसा भला कौन मानने लगे ?

(शोकस्थायिभावात्मक करुण में आनन्दानुभव की सिद्धि)

ननु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ।

शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ॥ ६ ॥

अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।

सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ॥ ७ ॥

विमर्श—करुण के आनन्दात्मक अनुभव होने में विश्वनाथ कविराज ने जो युक्ति दी है उस पर 'दशरूपक' की इस विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है—

'ननु च युक्त शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु काव्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति, करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुष्यात्? तथा हि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत् किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात् करुणात्, काव्यकरुण', तथा ह्यग्रेतरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः । यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रवन्धानामुच्छेद एव भवेत् । अधुपातादयश्चेतिवृत्त-वर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैकल्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते, तस्मादसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव ।' (दशरूपक-४ र्थ प्रकाश)

अर्थात् शृङ्गारादि रसों की आनन्दात्मकता तो निःसन्देह ही है किन्तु करुण रस का आनन्दात्मक होना भी स्वयं सिद्ध है । काव्य का करुण 'रस' है । लोक का करुण रस नहीं । यदि काव्य का करुण 'रस' न होता, आनन्दात्मक अनुभव रूप न माना जाता, तब रामायणादि करुणरसप्रधान महाकाव्यों के प्रति लोगों की अभिरुचि क्योंकर दिखायी देती? रामायण का करुण यदि आनन्दचमत्कार है तो जहाँ भी करुण की अभिव्यक्ति है वहाँ आनन्द की ही अनुभूति हुआ करती है । काव्य-करुण के आँसू आनन्द के आँसू हुआ करते हैं । महदय सामाजिकों का सवेदन ही करुण के 'आनन्दात्मक होने का प्रमाण है ।

अनुवाद—यह ठीक है कि करुण का स्थायीभाव शोक है और शोक केवल दुःख का ही जनक हो सकता है न कि सुख का । किन्तु काव्य-नाट्य में शोक से सुख मिला करता है (और करुण आनन्दचमत्कार है) यह भी एक परम तथ्य है और इसका विचार इस प्रकार है—

'भले ही शोक-विपाद और हर्ष-प्रहर्ष के उन-उन लौकिक कारणों से प्रतिदिन के जीवन में लोगों को दुःख और सुख मिला करें किन्तु लोक-जीवन के वे ही हर्ष-विपाद और उनके वे ही कारण जब काव्य-नाट्य की वर्णना के विषय धन जाया करते हैं और सहृदय सामाजिक के हृदय की शोकादि वासनाओं को उद्बुद्ध करने लगते हैं तब उनसे सुख अथवा आनन्द की ही सृष्टि हुआ करती है और यह बात ऐसी है जिसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं (क्योंकि जैसे लोक और काव्य-नाट्य परस्पर विलक्षण हैं वैसे ही लोक के शोक-हर्ष और काव्य-नाट्य के शोक-हर्ष भी तो एक नहीं) ।

ये खलु रामवनवासादयो लोके 'दुःखकारणानि' इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाट्यसमर्पिता अलौकिकविभावनव्यापारवत्तया कारणशब्दवाच्यतां विहाय अलौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं भजन्ते । तैर्भ्यश्च सुरते दन्तघातादिभ्य इव सुखमेव जायते । अतश्च 'लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते' इति लोक एव प्रतिनियमः । काव्ये पुन 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति नियमान्न कश्चिदोषः ।

(काव्य-नाट्य के आँसू आनन्द के आँसू हुआ करते हैं)

कथं तद्दि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनश्रवणाभ्यामश्रुपातादयो जायन्त इत्युच्यते—

अभिप्राय यह है कि लोक-जीवन की दृष्टि से तो राम वनवास आदि-आदि घटनायें दुःखद घटनायें ही हैं किन्तु ये ही घटनायें जब काव्य-नाट्य के क्षेत्र में उतारी जाया करती हैं तब दुःख देना तो दूर रहा, सुख देने लग जाती हैं । काव्य में लोक का यह आमूलचूल परिवर्तन इसलिये हुआ करता है क्योंकि लोक में तो वनवासादि घटनायें दुःख का 'कारण' हुआ करती हैं और ऐसी कही भी जाया करती हैं किन्तु काव्य-नाट्य में आते ही इनमें विभावन की शक्ति का संचार हो उठता है जिससे सहृदय सामाजिक अपनी शोकवासना का एक अलौकिक आस्वाद लेने लग जाता है और इसीलिये इन्हें एक अलौकिक शब्द जैसे कि 'विभाव' शब्द से संकेतित किया जाया करता है । काव्य-नाट्य की ये विभावरूप दुःखद घटनायें एकमात्र आनन्द की ही सृष्टि किया करती हैं । दुःख-हेतु से सुख की सृष्टि कदाचित् लोक में भी दिखायी देती है जैसे कि रतिप्रसङ्ग में दन्तघात और नखघात दुःख नहीं अपितु सुख के ही देने वाले हुआ करते हैं । निष्कर्ष यह निकलता है कि लोक का नियम कुछ और है और काव्य-नाट्य का और । लोक का नियम है—लौकिक दुःख अथवा सुख के जनक तब लोक-जीवन में दुःख अथवा सुख दिया करते हैं । इसके विपरीत काव्य-नाट्य (कला) का नियम है—लोकजीवन की समस्त दुःखद किंवा सुखद वस्तुयें काव्य-नाट्य में आते ही विभावादिरूप में बदल जाया करती है और एकमात्र परमानन्दसन्तोहरूप रस की सृष्टि किया करती हैं । इस प्रकार जब कि काव्य लोक से विलक्षण तब है तब इसमें क्या आपत्ति कि काव्य की शोक वर्णना से आनन्द भावना हुआ करती है ?

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने लोक और काव्य के वैलक्षण्य के आधार पर लौकिक शोक और अलौकिकशोक, लोक-करण और काव्यकरण का परस्पर वैलक्षण्य सिद्ध किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त किंवा प्राचीन आचार्यों की विचारधारा द्वारा प्रमाणित है । यहाँ करण की रसरूपता की सिद्धि का एकमात्र अभिप्राय रस के स्वरूप का सर्वतोभद्र उन्मीलन है । रस की अनिर्वचनीयता जितनी करण की रसरूपता की सिद्धि में सिद्ध होती है उतनी शृङ्गार की रसरूपता की सिद्धि में नहीं होती ।

अनुवाद—उपर्युक्त रीति से करण यदि आनन्दरूप है तो ऐसा क्यों है कि काव्य-नाट्य में उपस्थापित कतिपय करण-चरित, जैसे कि महाराज हरिश्चन्द्र आदि के ही चरित, के देखने अथवा सुनने से सामाजिकों की आँखों से आँसू गिरने लगते हैं ? इसका उत्तर यह है—

अश्रुपातादयस्तद्वद्द्रुतत्वाच्चेतसो मताः ।

(रसास्वाद का अधिकार : समान अथवा विशिष्ट ?)

तर्हि कथं काव्यतः सर्वेषामीदृशी रसाभिव्यक्तिर्न जायत इत्यत आह—

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ॥ ८ ॥

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः, तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि स स्यात् । यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्वागि-
णामपि केषाञ्चिदसोद्बोधो न दृश्यते तत्र स्यात् ।

उक्तञ्च धर्मदत्तेन—

‘सुवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।

निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याश्मसन्निभाः’ ॥ इति ।

‘जैसे लोकगत हृदयविदारक दृश्य के देखने अथवा सुनने से लोगों का हृदय पिघल जाता है और उनकी आँखों से दुःख के आँसू निकल पड़ते हैं वैसे ही काव्य-नाट्यगत करुण दृश्य के देखने अथवा सुनने से भी सहृदय सामाजिकों का हृदय पिघल पड़ता है और उनकी आँखों से आनन्द के स्रोत बने आँसू वह चलते हैं ।’

अनुवाद—यहाँ यह भी प्रश्न स्वाभाविक है कि जब कि रस आनन्दरूप-आह्लादमय-
हुआ करता है तो उन सभी लोगों को जो कि काव्य अथवा नाट्य के पढ़ने अथवा देखने
वाले हुआ करते हैं, क्योंकि काव्य अथवा नाट्य से यह आह्लादानुभव, यह आनन्दास्वाद
नहीं मिला करता ? इसका भी समाधान है—

‘जब तक काव्य-नाट्य के सामाजिकों में रत्यादिरूपवासना—जन्मजन्मान्तर से
संचित सूक्ष्मरत्यादिसंस्कार—न हो तब तक उन्हें रत्यादि का आस्वाद (रस) भी क्योंकि
मिलने लगे ।’

यहाँ अभिप्राय यह है—रसास्वाद के लिये ‘वासना’ का होना नितान्त आवश्यक
है । यह ‘वासना’ दो प्रकार की हुआ करती है—पहली आधुनिक (इदानीन्तनी) और
दूसरी प्राचीन (प्राक्तनी) । रसास्वाद के लिये जैसे पहली वासना आवश्यक है वैसे
ही दूसरी भी । क्योंकि यदि पहले प्रकार की वासना रसास्वाद के लिये आवश्यक न हो
तब तो शुष्कहृदय श्रोत्रिय और वेदवादरत मीमांसापण्डितों को भी रसास्वाद हुआ
करे ! इसी प्रकार यदि दूसरे प्रकार की वासना को रसास्वाद की भूमिका न माना जाय
तब इस प्रकार की घटना जैसे कि रसिकहृदय सामाजिकों में भी रसास्वाद की असमावना
आदि न घटा करे । वस्तुतः इसीलिये आलङ्कारिक धर्मदत्त ने कहा है—

‘रस का आस्वाद तो उन्हीं सामाजिकों को हुआ करता है जिनके हृदय में रत्यादि-
वासनाओं का भण्डार भरा है । उन्हें मला रस का आस्वाद कैसे जिनमें वासना ही
नहीं ! ऐसे लोग सामाजिक नहीं अपितु रंगशाला के खम्भे, दीवार और पत्थर के
समान सर्वथा काष्णार्थानुभव से वञ्चित ही रहने योग्य हैं ।

विमर्श—मनुष्य मात्र के चित्त में चित्र-विचित्र वासनार्ये विराजमान हैं किन्तु सभी रसास्वाद
के भागी नहीं हुआ करते । रसास्वाद के भागी तो वे लोग ही हुआ करते हैं जिनमें पूर्वजन्म की
रत्यादि-वासना (प्राक्तनी वासना) रहा करती है जैसा कि महाकवि कालिदास ने स्पष्ट कहा है—

(रसास्वाद की भूमिका साधारणीकरण तन्मयीभवन)

ननु कथं रामादिरत्याद्युद्धोदधकारणैः सीतादिभिः सामाजिकरत्याद्युद्धोदध इत्युच्यते—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।

तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ॥ ९ ॥

प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।

‘रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्

पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तु ।

तच्चेतसा स्मरति नूनमवोधपूर्वं

भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥’

‘इदानीन्तनी’ वासना को भी रसास्वाद के लिये आवश्यक मानना युक्तियुक्त ही है। यदि सबको काव्य-नाट्य के प्रति आरम्भिक औत्सुक्य से लेकर अन्तिम अभिनिवेश तक का समान अवसर मिला करता तो वैयाकरणों और मीमांसकों को शुष्कहृदय न कहा जाया करता। वैयाकरणों और मीमांसकों को रसास्वाद नहीं मिला करना—इसका अभिप्राय यही है कि—जन्म जन्म में काव्यार्थभावना का अवसर न मिले तो भावी जन्म भी रसास्वादशून्य ही व्यतीत होंगे। इस जन्म में वैयाकरणों और मीमांसकों के लिये काव्यार्थभावना के अवसर के अभाव का कारण मध्यकालीन भारतीय शिक्षाप्रणाली में खोजा जा सकता है। विश्वनाथ कविराज का यह मकेत एक विचारणीय सकेत है।

अनुवाद—यह सब तो हुआ किन्तु एक प्रश्न यह है—नाट्य अथवा काव्य में उपस्थापित रामादि नायकों के रत्यादिभावों के उद्धोदन-कारण सीतादि नायिकाओं के दर्शन अथवा श्रवण से सामाजिक जन के हृदय की रत्यादिवासनायें क्योंकर उद्बुद्ध हो सकती हैं? इसका समाधान इस प्रकार है—

‘काव्य-नाट्य में वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों से ‘साधारणीकरण’ की अलौकिक शक्ति रहा करती है। इस शक्ति की ही यह महिमा है कि प्रत्येक सामाजिक अपनी-अपनी वैयक्तिक सीमाओं से परे पहुँच जाता है और अपने आपको उन महावीर राम आदि नायकों के समान, वस्तुतः उनसे अभिन्न मानने लग जाता है जिनकी समुद्र-सतरण, रावणवध आदि-आदि लीलायें लोक-जीवन में अत्यन्त असाधारण, लोकोत्तर मानी गयी हैं और वस्तुतः हैं भी।’

विमर्श—काव्यनाट्य के सामाजिकों को ‘सहृदय’ कहा जाया करता है। वस्तुतः काव्य-नाट्य की यह महिमा ही है जो लोगों को सहृदय बनाया करती है। काव्यनाट्य की यह महिमा उसकी व्यञ्जकता शक्ति है जो उससे प्रभावित होनेवालों के भिन्न भिन्न व्यक्तित्व को एक सहृदय व्यक्तित्व के रूप में बदल दिया करती है। लोकगत रत्यादि भावों की कारण-सामग्री से भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न भिन्न प्रकार का अनुभव हुआ करता है किन्तु काव्यनाट्यगत विभावादि-सामग्री रसरूप अनुभव को ही जन्म देती है। विभावादि में साधारणीकृति की शक्ति वस्तुतः काव्य-नाट्य की व्यञ्जनाशक्ति ही है, अन्य कुछ नहीं। यहाँ विश्वनाथ कविराज ने व्यञ्जना का नामोल्लेख न कर उसके महाप्रभाव का उल्लेख किया है जिससे व्यञ्जना के वैभव का पता चल जाय और उसके स्वरूप-साक्षात्कार के लिये पाठक उत्कटित भी हो जाय।

(काव्य-नाट्य के नायक और सामाजिक जन का साधारणीकरण)

ननु कथं मनुष्यमात्रस्य समुद्रलङ्घनादावुत्साहोद्बोध इत्युच्यते—

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ॥ १० ॥

नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति-॥ ११ ॥

(सामाजिकों की रत्यादिवासनाओं और नायकों के रत्यादिभावों का साधारणीकरण)

रत्यादयोऽपि साधारण्येनैव प्रतीयन्त इत्याह—

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ॥ ११ ॥

रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडातट्कादिर्भवेत् । परगतत्वेन त्वरस्यतापातः ।

अनुवाद—यहाँ यह पूछा जा सकता है कि काव्य-नाट्य के सामाजिकों के लिये जो कि लोकजीवन में साधारण मनुष्य हुआ करते हैं, यह कैसे संभव है कि महावीर राम आदि नायकों की भांति समुद्रलघन आदि वीर कर्मों के अनुष्ठान में उत्साह का भाव उद्बुद्ध हो जाय । किन्तु इसका उत्तर सरल है और वह यह है—

‘जब कि काव्य-नाट्य की ‘साधारणीकृति’ की शक्ति से सामाजिकों के हृदय में महावीर रामादि नायकों के साथ अभेद अथवा तादात्म्य की भावना जाग उठी तब यदि प्रत्येक सामाजिक का हृदय, भले ही वह लोक-जीवन का एक साधारण मानव-हृदय हो, समुद्रसतरण सरीखे भयंकर वीरकर्मों के प्रति भी उत्साहादि महाभावों से भर उठे और असंभव को संभव बनाने की शक्ति का अनुभव करने लगे तो आश्चर्य क्या और आपत्ति क्या ?’

विमर्श—यहाँ रसिक के साधारणीकृत व्यक्तित्व का जो निरूपण है वह अत्यन्त सुन्दर किंवा महत्त्वपूर्ण है । सहृदय सामाजिक की रामादि नायकों के साथ यह तादात्म्य-स्थापना रसास्वाद्य की भूमिका तो है ही साथ ही साथ ‘रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्’ के सरस कर्तव्योपदेश की भी भूमिका है ।

अनुवाद—काव्य-नाट्य की ‘साधारणीकृति’ की शक्ति किस प्रकार रामादिगत रत्यादि भावों को भी सामाजिकों की रत्यादिवासनाओं से एकरूप-एकरस-बना दिया करती है—इसका विचार किया जा रहा है—

‘जैसे काव्य-नाट्य के ‘साधारणीकरण’ व्यापार से सामाजिकों में, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, समुद्रलघन आदि के प्रति उत्साहादि का महाभाव जाग उठता है वैसे ही उनमें रत्यादिभाव भी उद्बुद्ध हो जाया करते हैं ।’

यहाँ आशय यह है—काव्य-नाट्य में उपस्थापित रत्यादिभाव न तो सामाजिकों को अपने वैयक्तिक रत्यादिभाव के रूप में प्रतीत होते हैं और न रामादि नायकों के ही वैयक्तिक रत्यादि भाव के रूप में । क्योंकि यदि कोई भी सामाजिक काव्य-नाट्य में वर्णित रत्यादि भाव को अपना (स्वगत) रत्यादि भाव मानने लगे तब उसे, रसास्वाद्य मिलना तो दूर रहा उल्टे लज्जित होना पड़ेगा (यदि उसके पास कोई बड़ा-बूढ़ा हो) अथवा सशङ्क बने बैठना पड़ेगा (यदि कोई और उसकी बराबरी का दिखायी दे) अथवा आतङ्कित रहना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त यदि सामाजिकों ने इन रत्यादि भावों को

(विभावादि का साधारणीकरण)

विभावादयोऽपि प्रथमतः साधारण्येन प्रतीयन्त इत्याह—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।

तदास्वादो विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ १२ ॥

नायकादिगत (परगत) ही मान लिया तब उन्हें उनसे रसास्वाद तो मिलने से उठे उनके प्रति उदासीनता और उपेक्षा ही उत्पन्न हो जायगी ।

विमर्श—काव्यनाट्य से अभिव्यक्त रत्यादिभाव क्योंकर रसरूप हुआ करते हैं और होने से क्योंकर स्वगत नहीं माने जा सकते—इसका निम्न पक्तियों में, जो कि आचार्य अभि की अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र पद्याध्याय) का संक्षेप है, एक सुन्दर निर्देश है—

‘स्वैकगतानां च सुखदुःखसविदामास्वादे यथासंभव तदपगमभीरुतया वा, तत्प्राप्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीपया वा तज्जिहासया वा, तत् प्रचिह्नयापयिपया वा, तत् पनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा सवेदनान्तरसमुद्गमः एव परमो विघ्नः ।’

(काव्यानुशासन टिप्पण २ य अ)

अर्थात् यदि सामाजिक रत्यादि भावों को ‘स्वगत’ मान ले तब उसे ‘रस’ नहीं मिल स रत्यादि भावों के ‘स्वगत’ मानने से रसास्वाद में अड़चन पहुचती है । यदि काव्यनाट्य ‘रति’ को स्वगत मान लिया गया, तब रस मिलना तो दूर रहे, सभी सामाजिक इस बात से रहेंगे कि उनका आनन्द अब छिना तब छिना, इस बात के लिये व्याकुल रहेंगे कि उनका आनन्द कैसे सुरक्षित रहे, कैसे और भी अधिक मात्रा में उपार्जित किया जाय अथवा कैसे पर प्रकट किया जाय ।

इसी प्रकार रत्यादि भावों के ‘परगत’ मानने में भी रसास्वाद की संभावना नहीं हो सका ही गया है—

‘परगतस्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहस्थ्यादिसविदन्तरोद्गमनसंभावनादवश्यभावी विघ्नः ।’ (काव्यानुशासन टिप्पण २ य अ)

अर्थात् रत्यादिभावों के ‘परगत’ मान लेने पर रस नहीं मिल सकता अपितु रसास एक विघ्न से मुठभेड़ अवश्य हो सकती है । यदि सद्व्यय सामाजिक काव्य-नाट्योत्थापित र भावों को रामादिनायकगत माना करे तब राग-द्वेष-मोह के वशीभूत होता रहेगा आनन्दास्वाद के ।

अनुवाद—काव्य-नाट्य के ‘साधारणीकरण’ के व्यापार का सर्वप्रथम प्रभाव प्रकार सामाजिकों के लिये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का ‘साधारण’ हुआ करता है (जो कि रसास्वाद का प्रथम पीठिकावन्ध है) इसका निर्देश किया जा रहा है ‘रसास्वाद के होने में सर्वप्रथम सामाजिकों को यह प्रतीत हुआ करता है, जैसे स्वाभाविक है, कि न तो समुद्र लघनादि व्यापार उनसे भिन्न रामादि नायकों के हैं न यही कि वे रामादि नायकों के नहीं हैं, इतना ही क्यों, न तो उन्हें यह अनुभव है कि काव्य-नाट्य के वर्णन-चित्रण से उनका कोई सम्बन्ध है और न यही कि इनसे कोई सम्बन्ध नहीं । बात यह होती है कि काव्य-नाट्य-समर्पित समस्त वस्तुयें ‘रस’ और ‘परगत’ के भेदभाव से परे पहुँच कर सर्वसाधारण के समान अधिकार की वस जाया करती हैं (और इसीलिये निर्द्वन्द्व आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ हुआ करती

(लोक से काव्य-नाट्य (कला) का वैलक्षण्यः साधारणीकरण)

ननु तथापि कथमेवमलौकिकत्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते—

विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम् ।

अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम् ॥ १३ ॥

आदिशब्दादनुभावसञ्चारणे । तत्र विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरण-
योग्यतानयनम् । अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया
भावनम् । सञ्चारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम् ।

विमर्श—आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'रसना' रूप प्रतीति एक 'सकलविघ्नविनिर्मुक्त'
प्रतीति हुआ करती है । सहृदय सामाजिकों के लिये काव्य-नाट्य के आनन्दानुभव में सबसे बड़ा
विघ्न काव्य-नाट्य-समर्पित वस्तुओं का 'स्वगत' अथवा 'परगत' रूप से ग्रहण करना हुआ करती
है । लोक में वस्तुमात्र के प्रति 'ममता' अथवा 'परकीयता' की भावना स्वभावतः रहा करती है ।
लोक की यह 'ममता' अथवा 'परकीयता' की भावना काव्य-नाट्य की भावकता शक्ति-साधारणी-
करण की शक्ति-एक शब्द में व्यञ्जना शक्ति-के द्वारा हटाया जाया करती है । इसके दृष्टे समस्त
काव्यापित वस्तुओं के प्रति सहृदय-हृदय में 'साधारणी भाव' परिपुष्ट हो उठता है जिसके रहते
रसात्मक अनुभव के अतिरिक्त और कोई भी अनुभव संभव नहीं ।

अनुवाद—भले ही लौकिक रत्यादि भावों के कारण-कलाप काव्य-नाट्य में आते ही
स्वगत-परगत के सम्बन्ध से परे प्रतीत हुआ करें किन्तु इनमें अलौकिकता की विशेषता
क्यों कर समा जाती है—इसका निरूपण किया जा रहा है—

'जब कि लोकागत रत्यादि भावों के कारण-कार्य और सहकारी तत्त्व काव्य-नाट्य के
क्षेत्र में उत्तरते ही विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण का अलौकिक व्यापार प्रारम्भ
कर दें, तब इनका अलौकिक होना अथवा कहा जाना इनका दोष क्यों, वस्तुतः गुण ही
माना जाया करता है ।'

यहां 'विभावनादि' में 'आदि' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है जिसमें
'विभावन' व्यापार के अतिरिक्त अनुभावन और सचारण (व्यभिचारण) व्यापारों का भी
बोध हो । 'विभावन' व्यापार काव्य-नाट्य का वह व्यापार है जो सामाजिक-हृदय की
रत्यादि वासनाओं को विशेषरूप से रसास्वाद के रूप में अङ्कुरित होने में समर्थ बनाया
करता है । 'अनुभावन' का व्यापार वह है जो इस रूप में अङ्कुरित रत्यादि वासनाओं को
तत्काल रसादिरूप में परिणत किया करता है । और 'सञ्चारण' (व्यभिचारण) का व्यापार
वह है जो कि विभावन और अनुभावन के व्यापारों से अङ्कुरित किंवा पल्लवित रत्यादि
वासनाओं को सम्यग्रूप से पुष्ट बनाया करता है ।

विमर्श—काव्य-नाट्य के विभावनादिव्यापार (व्यञ्जकत्व व्यापार) के सम्बन्ध में अभिनव
भारती की ये पंक्तियां स्मरणीय हैं.—

'तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनु-
मानाभ्यास एव पाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षदृष्ट्यादिभिर्लौकिकीं कारणात्वादिभुवमति-
क्रान्तैर्विभावनानुभावनसमुपलक्षकत्वमात्रप्राणैः, अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेश-
भाभिः, प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनाख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैः ..
गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योग सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽसादितवद्भिरलौ-

(विभावादि की कारणता और रसोद्बोध)

विभावादीनां यथासङ्ख्य कारणकार्यसहकारित्वे कथं त्रयाणामपि रसोद्बोधे कारणत्वमित्युच्यते—

कारण-कार्य-सञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः ।

रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः ॥ १४ ॥

किंनिर्विघ्नसवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः ।'

(नाट्यशास्त्र अभिनवभारती-पष्ठ अध्याय)

अर्थात् काव्य-नाट्य में वर्णित नायक-नायिकादि किंवा चन्द्रोधानादि में लौकिक रत्यादि भावों के अनुमापन का सामर्थ्य नहीं । कवि किंवा नाट्यकार के चित्रित जीवन-चित्र तो सहृदय सामाजिकों के हृदय में मानव-हृदय के चिर सञ्चित रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं । इन जीवन-चित्रों में लोक-जीवन ही चित्रित रहा करता है किन्तु इनमें जो आनन्द है और जैसा इसका अनुभव हुआ करता है वह लोक में नहीं और न उसका लोक में वैसा कोई अनुभव है । लोक-जीवन में कार्य-कारण भाव की सीमायें प्रत्येक वस्तु को बाधे रहा करती हैं । किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में कार्य-कारण भाव में भी अलौकिक परिवर्तन हो जाया करता है । काव्य-नाट्य के स्त्री-पुरुष, चन्द्र-चन्द्रिका आदि सहृदय सामाजिकों के हृदय में सर्व-सहृदय-साधारण रत्यादि भावों के अभिव्यञ्जक हुआ करते हैं और इसीलिये काव्य-नाट्य में लोक का कार्य-कारण भाव भाव्य-भावक भाव (व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव) में परिवर्तित हो जाया करता है । काव्य-नाट्य 'भावक' अथवा 'व्यञ्जक' तत्त्व हैं जिसके विश्लेषण में काव्य-नाट्य के विभावनादि व्यापार का विश्लेषण हुआ करता है ।

अनुवाद—यहाँ यह बताना आवश्यक है कि जब कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी रूप हुआ करते हैं तब क्यों कर इन्हें रसोद्बोध का 'कारण' कहा गया है—

घात यह है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों को जो क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी कहा जाया करता है वह उनके लौकिक स्वरूप के अभिज्ञान की ही दृष्टि से न कि उनके रसोद्बोधन-सामर्थ्य की दृष्टि से । रसोद्बोध की दृष्टि से तो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव-तीनों ही वस्तुतः (समस्त-संवर्लित-रूप से) 'कारण' हुआ करते हैं ।

विमर्श—रसोद्बोध में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कारण, कार्य और सहकारी नहीं कहा जाया करते । इन्हें रसोद्बोध में भी कारण, कार्य और सहकारी तब माना जा सकता था जब कि सहृदय सामाजिक रसास्वाद में भी अपने-पराये का भेद-भाव रख सकते । रसास्वाद में अपने-पराये का भेद नहीं और इसलिये काव्य-नाट्य की समस्त वस्तुसम्पत्ति एकमात्र सहृदय हृदय की रत्यादि वासनाओं को अभिव्यक्त करने के ही लिये रहा करती है । वस्तुतः तो काव्य अथवा नाट्य को ही भावक अथवा अभिव्यञ्जक कहा करते हैं । जैसे काव्य-नाट्य लोक-जीवन की अलौकिक अभिव्यञ्जना है वैसे ही लोक-जीवन के कारण-कार्य-सहकारी तत्त्व काव्य-नाट्य के अलौकिक विभाव-अनुभाव-व्यभिचारि-तत्त्व हुआ करते हैं । इन अलौकिक विभावनादि व्यापारों वाले चन्द्रोधानादि काव्य-तत्त्वों को सहृदय सामाजिकों के रसोद्बोधन का 'कारण' कहा

(रसास्वाद में विभावादित्रितय का संवलित अनुभव)

ननु तर्हि कथं रसास्वादे तेपामेकः प्रतिभास इत्युच्यते—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।

ततः सम्वलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥ १५ ॥

प्रपाणकरसत्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ।

यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनादपूर्वं इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे सञ्जायते विभावादिसम्मेलनादिहापि तथेत्यर्थः ।

जा सकता है जिसका अभिप्राय इनका 'अभिव्यञ्जक' होना है और अभिव्यञ्जक होने के ही नाते इनमें कारणता, कार्यता किंवा सहकारिता का विदलेपन सम्भव नहीं ।

अनुवाद—जब कि रसास्वाद में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव-तीनों का हाथ रहा करता है तब ऐसा क्यों कि इन तीनों का पृथक्-पृथक् प्रतिभास न छोकर समुदित-संवलित-प्रतिभास हुआ करता है ? इसका विचार किया जा रहा है—

'रसास्वाद के पहले तो सामाजिकजन किसी प्रकार यह जान सकते हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का पृथक्-पृथक् स्वरूप क्या है और कैसे इन्हें पृथक्-पृथक् रूपसे रसोद्बोध का कारण माना जा सकता है किन्तु जब कि ये तीनों व्यञ्जना की शक्ति से परस्पर संवलित रूप से प्रतीत होने लगते हैं और एकघन प्रतिभास में परिणत होकर प्रपाणकरस की भांति, एक आनन्दात्मक आस्वाद का रूप धारण कर लेते हैं तब ये विभावादि नहीं अपितु 'रस' बन जाते हैं ।'

तात्पर्य यह है कि जैसे प्रपाणकरस में शक्कर, काली मिर्च, कपूर आदि-आदि के मेल के होने पर भी एक अपूर्व आस्वाद मिला करता है वैसे ही काव्य-रस अथवा नाट्य-रस में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संवलन के होने पर भी एक अपूर्व ही आनन्द प्राप्त हुआ करता है ।

विमर्श—पानकादि रस और काव्य अथवा नाट्यरस का बड़ा सुन्दर साधर्म्य-वैधर्म्य आचार्य अभिनवगुप्त की इस उक्ति में प्रदर्शित है—

‘अलौकिक एवाय चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः ।

क्रान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेद् भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ ।

पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत् ।

और इसमें भी—

‘एतदुक्तं भवति—पाकरूपया सम्यग्गोप्यजनया तावदलौकिको रसो जायते । तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जन विभावस्थानीयं, चिद्वाहरिद्राद्यनुभाव-प्रायम् । द्रव्याणि तु गुडादि, तदीयसुकादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद्व्यभिचारिकल्प स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्वरससङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात् । अत्र तु स्थायिकरूपस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः । स हि लौकिकः । अयन्तु कुशलैकनिर्वर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति ।’

(नाट्यशास्त्र - अभिनवभारती : पष्ठ अध्याय)

अर्थात् जैसे गुड, काली मिर्च आदि-आदि पृथक्-पृथक् वस्तुओं में वह रस नहीं रहा करता जिसे पानक अथवा श्रीरस आदि रस कहा करते हैं वैसे ही पृथक्-पृथक् विभाव, अनुभाव आदि

(रसोद्बोध में विभावादित्रितय की कारणता का रहस्य)

ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत् कथं तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि स स्यादित्युच्यते—

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ॥ १६ ॥

ऋटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ।

अन्यसमाक्षेपश्च प्रकरणादिवशात् । यथा—

‘दीर्घाक्ष शरदिन्दुकान्तिवदन बाहू नतावंसयोः

सङ्क्षिप्त निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।

मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादाबुद्ब्राहुली

छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः सृष्ट तथास्या वपुः ॥’

अत्र मालविकामभिलषतोऽग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि

में वह रस नहीं मिला करता जिसे काव्य अथवा नाट्य-रस कहा गया है। गुट, काली मिर्च आदि-आदि विविध द्रव्यों से तभी ‘रस’ निष्पन्न हुआ करता है जब कि उनकी समुचित पाकस्थिति योजना की गयी हो। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों को भी समुचित अभिव्यञ्जन-योजना ही काव्य-नाट्य-रस को निष्पन्न कर सकती है। अलग-अलग विभाव अथवा अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव में रस-निष्पादन का सामर्थ्य भले ही हो ‘रस’ नहीं हुआ करता। रस तो एक अलौकिक आस्वादात्मक अनुभव है और उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण अनुभव है जिस प्रकार पानक रस गुड-मरीच आदि से एक विलक्षण आस्वाद है।

अनुवाद—यदि सम्मिलित विभावादित्रितय ही रसोद्बोध के निमित्त हैं तब ऐसा क्यों कि कहीं एक अथवा दो की ही उपस्थिति में रसास्वाद मिला करता है? इसका निरूपण किया जा रहा है—

‘रसोद्बोध तो विभावादित्रितय के सवलन में ही सम्भव है। वहां भी जहां विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावों में से केवल दो उपस्थित हों या एक ही उपस्थित हो और रसोद्बोध हो रहा हो तो यही समझा जाना चाहिये कि काव्य-नाट्य की व्यञ्जकता शरीर अन्य अनुपस्थित को भी अविलम्ब प्रकाशित कर रही है और ‘विभावादित्रितय और रसोद्बोध’ के सिद्धान्त में कहीं कोई त्रुटि नहीं आयी।’

तात्पर्य यह है कि प्रकरण वैशिष्ट्य आदि-आदि व्यञ्जना-नियामक ऐसे हैं जो अनुपस्थित विभावादि को अभिव्यक्त करने में समर्थ रहा करते हैं। उदाहरण के लिये (महाका कालिदास के ‘मालविकाग्निमित्र’ की यह सूक्ति)

‘मालविका का यह शरीर विधाता ने ऐसा बनाया है जैसे उसके नृत्याचार्य के मन की बात जान कर बनाया हो—‘आखें बड़ी-बड़ी, मुँह शरद्वृक्ष के चांद के समान मनोरंजक, दोनों बाँहें दोनों कन्धों पर झुकी हुई, दोनों स्तन एक दूसरे से सटे और उभरे हुये, उर स्थूल न घड़ा न छोटा, दोनों घगल मानों चिकने सुडौल बनाये गये हों, कमर पतली मानो सुन्दर में आ जाय, जघन सुडौल और विशाल, और दोनों पैर ऐसे निनकी आगे की ओर ऊँचे अंगुलियाँ इतनी सुन्दर हैं।’

यहां मालविका के प्रेमी अग्निमित्र ने तो अपनी आंखों में उत्तरने वाले मालविका

‘रस’ अनुकार्य (नायकादि-) गत नहीं

सञ्चारिणामौत्सुक्यादीनामनुभावानाञ्च नयनविस्फारादीनामौचित्यादेवाक्षेपः ।
एवमन्याक्षेपेऽप्युह्यम् ।

‘अनुकार्यगतो रसः’ इति वदतः प्रत्याह—

पारिमित्यालौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा ॥ १७ ॥

अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत् ।

सीतादिदर्शनादिजो रामादिरत्याद्युद्बोधो हि परिमितो लौकिको नाट्य-

सुन्दर शरीर मात्र का वर्णन किया है जो कि केवल विभावरूप ही वर्णन है किन्तु इसमें अग्निमित्र के नेत्रविस्फार आदि अनुभाव और औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावों के भी आक्षेप करने का सामर्थ्य समा गया है जिससे यहाँ जो रसोद्बोध है वह वस्तुतः विभावादि त्रितय के सवलन में ही है ।

इसी प्रकार केवल अनुभाव के वर्णन अथवा केवल व्यभिचारिभाव के वर्णन में अन्य के आक्षेप के उदाहरण काव्य-साहित्य में स्वयं हूँदे जा सकते हैं ।

विमर्श—‘विभावादित्रितयसंवलन’ से ‘रसनिष्पत्ति’ हुआ करती है (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—भरत नाट्यशास्त्र)—यही रसध्वनिवाद का रसविषयक सिद्धान्त है । विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों में व्यस्त रूप से भी साधारणीकरण का सामर्थ्य है और समस्त रूप से भी । विभावादित्रितय में अन्यतरप्राधान्य अथवा द्वयप्राधान्य में भी रसास्वाद अवश्यभावी है किन्तु जहाँ विभावादित्रितय का समप्राधान्य हो वहाँ रसास्वाद की उत्कृष्टता का कदना ही क्या ? इसीलिये प्रबन्ध काव्य में और प्रबन्ध-काव्य में भी रूपक-प्रबन्धों में रसास्वाद का उत्कर्ष माना गया है—सन्दर्भेण दशरूपक श्रेयः । तद्विचित्र चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात् (वामन ‘काव्यालङ्कार’ सूत्र २-३०-१३) । विभाव-अनुभाव और व्यभिचारिभावों की पृथक्-पृथक् योजना यदि असाधारण हो जो कि मुक्तक काव्य के क्षेत्र में स्पष्ट दिखायी देती है, तब भी रसास्वाद अवश्य होगा किन्तु यहाँ भी एक के प्रधान में अन्य का सहकार पडा ही दिखायी देगा ।

अनुवाद—कुछ लोग इस विचार के हैं कि जिसे ‘रस’ कहते हैं वह अनुकार्य अथवा रामादि नायक-निष्ठ आनन्दात्मक अनुभव है, न कि सहृदय सामाजिक को इससे कुछ लेना-देना है । किन्तु यह विचार किस प्रकार युक्तियुक्त नहीं—इसका निर्दश किया जा रहा है—

‘काव्य-नाट्य में वर्णित रामादिनायकों के हृदय में जो रत्यादिभावों का उद्बोध है वह ‘रस’ नहीं हुआ करता । नायकादिगत रत्यादिभावोद्बोध इसलिये ‘रस’ नहीं हुआ करता क्योंकि (१) यह सीमित व्यक्तित्व वाले रामादि का, सीतादिविषयक सीमित रत्यादि भावों का अनुभव है (जब कि रस वस्तुतः असीम व्यक्तित्व वाले सहृदय सामाजिक के साधारणीकृत रत्यादि भावों का अनुभव हुआ करता है) । (२) इसमें लौकिकता है (क्योंकि सीतादिविषयक रामादिगत रत्यादि भावों का अनुभव चमत्कारात्मक नहीं अपितु राग-द्वेष-मोहात्मक अनुभव है) और (३) यह रत्यादिभावोद्बोध ऐसा है जिसमें काव्य और नाट्य के श्रवण और दर्शन साधन नहीं । (जब कि रसरूप अनुभव में काव्य-नाट्य का मनन-चिन्तन ही एकमात्र साधन है) ।

तात्पर्य यह है कि जब कि जनकराजनन्दिनी सीता आदि के दर्शन आदि से उत्पन्न

काव्यदर्शनादे' सान्तरायश्च, तस्मात् कथं रसरूपतामियात् । (क) रसस्यैतद्धर्मं त्रितयविलक्षणधर्मकत्वात् ।

('रस' अनुकर्तृ (नटादि) गत भी नहीं)

अनुकर्तृगतत्वश्चास्य निरस्यति—

होने वाला रामादिगत रत्यादिभावोद्बोध एकपरिमित (वैयक्तिक), लौकिक (चमत्कारशून्य किंवा काव्य और नाट्य के श्रवण और दर्शन के लिये विघ्नमय अनुभव है तब यह कैसा संभव है कि इसे 'रस' रूप अनुभव कह दिया जाय । 'रस' रूप अनुभव तो वस्तुतः एव ऐसा अनुभव है जो परिमितता, लौकिकता और विघ्नबहुलता की त्रिविध विशेषता रं शून्य एक अपरिमित, अलौकिक किंवा निर्विघ्न अनुभव हुआ करता है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'रस' के अनुकार्यगत न हो सकने में तीन युक्तियाँ दी हैं —
(१) अनुकार्यगत रत्यादि भावोद्बोध लौकिक है जबकि काव्य-नाट्य द्वारा उद्भावित रत्यादि भाव अलौकिक हुआ करता है ।

(२) अनुकार्यगत रत्यादिभावोद्बोध वैयक्तिक (परिमित) हुआ करता है जबकि काव्य नाट्य द्वारा अभिव्यक्त रत्यादिभाव 'स्वगतता-परगतता' की समस्त सीमाओं से अतिक्रान्त निर्भरा नन्दात्मक सवेदन रूप है ।

(३) अनुकार्यगत रत्यादिभावोद्बोध काव्य-नाट्य के श्रवण-दर्शन के प्रतिकूल है क्योंकि उसके लिये लोकजीवन की भोग-सामग्री अपेक्षित है न कि काव्य-नाट्य की वर्णना ।

ये उपर्युक्त तीनों युक्तियाँ सर्वथा मान्य किंवा प्राचीन रसवेदी आचार्यों के रसचिन्तन द्वारा अनुप्राणित हैं आचार्य धनिक ने (दशरूपक-चतुर्थ प्रकाश) स्पष्ट कहा है—

'यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृंगारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिके ह्य नायवे शृङ्गारिणि स्वकान्तासयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्र भवेत् रसाना स्वाद', सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयो प्रसज्येरन् ।'

अर्थात् लोकजीवन के राम का सीता के प्रति लौकिक प्रेमोद्रेक 'शृंगार रस' नहीं हो सकता शृङ्गार रस तो रसिक-हृदयवर्ती रतिभावोद्बोध को कहा करते हैं जोकि एक निर्भरानन्द-सवेदन है । लोकजीवन के राम के हृदय का रतिभावोद्बोध 'रस' क्योंकि ही जबकि, इसके दर्शकों के लिए, इसकी प्रतीति एक लौकिक प्रतीतिमात्र है और जबकि इससे भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले लोगों को भिन्न भिन्न प्रकार का राग-द्वेष-मोहात्मक लौकिक अनुभव हुआ करता है ।

आचार्य धनिक के अनुसार 'रस' को अनुकार्यगत मानना वस्तुतः काव्य-नाट्य को निरर्थक बना देना है—

'किं च न काव्य रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम् ।' (दशरूपक ४र्थ प्रकाश)

अर्थात् काव्य-नाट्य की रचना सहृदय सामाजिकों के रसास्वाद के लिये की जाया करती है न कि रामादि नायकों के रसास्वाद के लिये । रामादि नायकों को तो लोक-जीवन का सुख-दुख मिला करता है और जिसे 'रस' कहते हैं वह लोक-जीवन का सुख-दुख नहीं अपितु एक अलौकिक आनन्दानुभव हुआ करता है ।

अनुवाद—इसके विपरीत कुछ लोगों का यह कथन है कि 'रस' अनुकर्ता (अभिनय-कर्ता) नटादिका ही अनुभव है (न कि सामाजिक का) । इस सिद्धान्त का निराकरण इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा रहा है—

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम् ॥ १८ ॥
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत् ।

किञ्च—

काव्यार्थभावेनानायमपि सभ्यपदास्पदम् ॥ १९ ॥

यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थभावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत् तदा सोऽपि सभ्यमध्य एव गण्यते ।

‘भला उस नट को रसास्वाद क्योंकर मिले जो कि रंग-मंचपर केवल अभिनयकला की शिक्षा, उसके अभ्यास और उसमें कौशल-प्रदर्शन से ही अपने आप को रामादि के रूप में दिखाया करता है ? किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अभिनेता नट के हृदय में भी काव्यार्थभावनया अथवा रसना उत्पन्न हो गयी तब उसे, उस अवस्था में, नट नहीं अपितु एक सहृदय सामाजिक कहा जाया करता है ।

तात्पर्य यह है कि रस के अभिनय के कारण नट को रसास्वाद नहीं हुआ करता । नट को यदि रसास्वाद होता है तो काव्यार्थ-भावनया अथवा रसना की उत्पत्ति और उसकी प्रक्रिया द्वारा ही होता है । जबकि रामादिनायकों के साथ नट का हृदयसम्वाद संपन्न हो जाय तब नट नट नहीं अपितु रंगमंच का एक सहृदय सामाजिक बन जाया करता है ।

विमर्श—‘रस अनुकर्तुं गत नहीं हो सकता’—यह तो इसी से सिद्ध है कि सहृदय सामाजिकों को, रसानुभव में, ‘अनुकार्यानुकर्तुर्विभाग’ की कोई प्रतीति ही नहीं हुआ करती । इसके अतिरिक्त ‘रस’ को [अनुकर्तुं (नट) गत मानना इसलिये भी अनुपपन्न है क्योंकि रामादिगत रत्यादिभाव का अनुकरण असंभव है जैसा कि अभिनवभारतीकार का कथन है—

‘न च चित्तवृत्तीनां शोकक्रोधादिरूपाणाम् (अनुकरणम्) न हि नटो रामसादृश्यं स्वात्मनः शोक करोति, सर्वथैव तस्य तत्राऽभावात् । भावे वाऽननुकारत्वात् । न चान्यद्व-स्त्वस्ति यच्छ्लोकेन सदृश स्यात् ।’ (नाट्यशास्त्र अभिनवभारती प्रथम अध्याय)

अर्थात् शोकक्रोधादिरूप चित्तवृत्तिओं का क्या अनुकरण ? भला नट को वह शोक कहाँ जो राम के शोक के समान हो ? यदि राम के हृदय का शोक नट के हृदय का शोक हो जाय तब इसमें अनुकरण कहाँ ?

तात्पर्य यह है कि ‘अभिनेता’ की अवस्था में नट को रसास्वाद नहीं मिला करना । किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि नट सर्वथा रसास्वाद से वंचित रहा करता है । नट को भी ‘रस’ मिलता है और मिल सकता है किन्तु नट को रसास्वाद-प्रक्रिया वही है जो सामाजिक को हुआ करती है । यदि नट में ‘काव्यार्थभावनया’ है तो उसे भी रसास्वाद मिला करता है जैसा कि आचार्य धनञ्जय और धनिक का कथन है—

‘काव्यार्थभावनयास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ।

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थ-भावनया त्वस्मदादिवत् काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते ।’ (दृशरूपक . चतुर्थ प्रकाश)

अर्थात् नट की अभिनय-कला तो सहृदय सामाजिकों के हृदयानुरजन के लिये है । किन्तु यदि नट में रसिकता का नमावेश हो जाय तो सहृदय सामाजिकों की भाँति उसे भी रस मिल जाय ।

('रस' कोई ज्ञाप्य वस्तु नहीं)

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः ।

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति, न ह्यय तथा, प्रतीति मन्तरेणाभावात् ।

('रस' कार्य (कारणजन्य) रूप वस्तु भी नहीं)

यस्मादेव विभावादिसमूहालम्बनात्मकः ॥ २० ॥

तस्मान्न कार्यः—

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात् । ततश्च रस प्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्, कारणज्ञानकार्यज्ञानयोर्युगपददर्शनात् । नहि चन्दनस्पर्शज्ञान तज्जन्यसुखज्ञानञ्चैकदा सम्भवति । रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणत्वमित्यभिप्रायः

अनुवाद—'रस' को ज्ञाप्य कहना असम्भव है क्योंकि ज्ञाप्य वस्तु का यह स्वभाव है कि अस्तित्व रखते हुए भी कभी वह अज्ञात रह सकती है । रस भला ज्ञाप्य कैसे जयवि उसके सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं कि उसका अस्तित्व तो हो किन्तु उसका अनुभव न हुआ करे ।

अभिप्राय यह है कि जो भी वस्तु ज्ञाप्य वस्तु हुआ करती है जैसे कि घट-पट आदि उसके सम्बन्ध में यही बात दिखायी दिया करती है कि उसके रहने पर भी कभी कभी उसका ज्ञान (ज्ञान-सामग्री के अभाव में) नहीं हुआ करता । रस ऐसी वस्तु नहीं जो कि रहे किन्तु कभी पता न चले । भला अनुभूति के अतिरिक्त रस की सत्ता कहाँ जिसर उसे घट-पटादि की भाँति 'ज्ञाप्य' (ज्ञान द्वारा ग्राह्य) कहा जा सके ?

विमर्श—रस एक 'रस्यमानतैकप्राण' अनुभव है । रस कोई 'प्रमेय' रूप पदार्थ नहीं जिसव अपेक्षा विभावादि को प्रमाण अथवा ज्ञापक माना जाय । 'रस' तो रसनात्मक प्रतीति का विषय हो सकता है और यह रसनारूप प्रतीति ऐसी प्रतीति हुआ करती है जिसे प्रमाणव्यापार कहना रसानुभव के विश्लेषण का असामर्थ्य-प्रदर्शन ही है । 'रस' को ज्ञाप्य मान लेने पर तो कान्य-नाय्य की लोक-विलक्षणता ही समाप्त हो जायगी और 'रस' के अधिकारियों में 'सहृदयता' की विशेषता का कोई भी अर्थ न निकलेगा । आचार्य अभिनवगुप्त का इस सम्बन्ध में यही सिद्धान्त है—

'नापि (विभावादयः) जसिहेतवः येन प्रमाणमप्ये पतेयुः सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेय-भूतस्य रसस्याभावात् ।' (नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती पष्ठ अध्याय)

अनुवाद—रस को कार्य अथवा कारणव्यापारजन्य वस्तु भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह तो विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभव है (न कि ऐसा जो कि विभावादि ज्ञान द्वारा उत्पन्न किया जाय) ।

तात्पर्य यह है कि यदि 'रस' को कार्य माना जाय तो विभावादि ज्ञान को ही उसका कारण माना जायगा । अब यदि विभावादि ज्ञान रस का कारण हुआ तब तो यही मानना पड़ेगा कि जब रसानुभव हो रहा हो तब विभावादि का अनुभव नहीं हो सकता । क्यों ? इसलिये कि कारण-ज्ञान और कार्य-ज्ञान का एक समय में होना कदापि सम्भव नहीं ।

(रस 'नित्य' वस्तु भी नहीं)

—नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः ।

असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते(क) ॥ २१ ॥

न खलु नित्यस्य वस्तुनोऽसंवेदनकालेऽसम्भवः ।

(रस एक अनिर्वचनीय तत्त्व है)

नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमयस्वप्रकाशरूपत्वात् ।

ऐसा भला कहाँ कि एक ही समय में चन्दन के स्पर्श का ज्ञान होता रहे और उससे उत्पन्न सुख का भी अनुभव हो जाय ! 'रस' तो एकमात्र विभावादिसमूहालम्बनात्मक संवेदन-रूप है । इसलिये विभावादि ज्ञान भला रस का कारण कैसे ?

विमर्श—रस विभावादिरूप कारणसामग्री से उत्पन्न नहीं किया जा सकता—इसके लिये आचार्य अभिनवगुप्त ने एक और युक्ति दी है—

‘अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्वोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गाच्च (अभिनवभारती : पष्ठ अध्याय)’

अर्थात् रस न तो कार्य है और न विभावादिवोध रस का कारण । यदि विभावादिवोध रस का कारण हो सकता तब विभावादिवोध के नष्ट हो जाने पर भी रस का अनुभव हुआ करता !

विश्वनाथ कविराज ने यहाँ दूसरी युक्ति सोची है जो कि आचार्य अभिनवगुप्त की उपर्युक्त युक्ति का ही एक रूपान्तर है जिसका अभिप्राय काव्यप्रकाश के टीकाकार चण्डीदास के शब्दों में इस प्रकार है—

‘कार्यं सुखं स्वकारणैः सह नैकस्यां संविद्यवभासमानं दृष्टम् । एतच्च सुखं विभावादि-संवर्तितं भासते, तस्मान्न कार्यम् ।’

अर्थात् चन्दनादि और चन्दनादिजन्य सुख एक संवेदन के विषय नहीं । 'रस'रूप सुख ऐसा है जिसे विभावादिवोध का कार्य इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह विभावादिवोध-संवर्तित एकघन सुखसंवेदन हुआ करता है ।

अनुवाद—रस को 'नित्य' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभावादि-परामर्श के पहले उसकी प्रतीति ही असम्भव है और जब कि प्रतीति के पहले रस का अस्तित्व ही नहीं तब उसे 'नित्य' मानना भी निरर्थक ही है ।

वस्तुतः यहाँ घात यह है कि जो भी (आकाशादिरूप) नित्यवस्तु है वह ऐसी नहीं हुआ करती कि उस समय तो रहे जब कि उसका अनुभव हो रहा हो और उस समय न रहे जब कि उसका अनुभव न हो रहा हो ।

विमर्श—यहाँ विश्वनाथ कविराज ने रस के 'ब्रह्मास्वादसविध' होने के रहस्य का उद्घाटन किया है । काव्य-नाट्य-भावना अथवा रसना का विषय 'रस' 'रसो वै स' से एकरूप, एकरम नहीं अपितु उससे भी विलक्षण हुआ करता है । रस 'नित्य' नहीं इसलिये ब्रह्मास्वाटरूप नहीं अपितु 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है । यदि 'रस' को नित्य माना जाय तब काव्य-नाट्य अथवा कला की क्या आवश्यकता ? 'रस' नित्य नहीं है इसलिये काव्य-नाट्य की आवश्यकता है जिसमें रस रूप अनुभव की प्राप्ति हो सके । नित्य होने से रस की सत्ता काल-परिच्छेद से अतीत हो जायगी और विभावादि-भावना और रस का सम्बन्ध सदा के लिये नष्ट हो जायगा ।

अनुवाद—वस्तुतः काव्यात्मभूत रस एक अनिर्वचनीय वस्तु है क्योंकि इसके सम्बन्ध

कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्तमानोऽपि ॥ २२ ॥

विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम् ।

परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम् ॥ २३ ॥

न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते ।

तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च ॥ २४ ॥

सविकल्पकसंवेद्यः—

सविकल्पकज्ञानसंवेद्याना हि वचनप्रयोगयोग्यता, न तु रसस्य तथा ।

में अन्य वस्तुओं की सी कोई भी सम्भावना नहीं हो सकती । जैसे कि इसे यदि भावी वस्तु (काव्य-नाट्य की भावना के बाद होने वाली वस्तु) कहना चाहें तो कह सकते क्योंकि यह तो काव्यनाट्य-भावना का ही समकालीन एक साक्षात् स्वरूप ज्ञानानन्दमय अनुभव है । इसे 'वर्तमान' वस्तु कहना भी अनुपपन्न ही है क्योंकि न तो यह कोई कार्य (जन्य) वस्तु है और न ज्ञाप्य वस्तु । रस का स्वभाव तो और ज्ञाप्य रूप वस्तुस्वभाव से सर्वथा विलक्षण ही रहा करता है । इसे 'निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सहृदयों का अनुभव यही सिद्ध है कि यह विभावादि-परामर्श का विषय बना करता है और इसे आद्यन्तिक सुख स्कार के रूप में संवेद्य देखा जाया करता है । किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सविकल्पक ज्ञान का विषय मान लिया जाय । इसे सविकल्पक ज्ञान का भी विषय कह सकते क्योंकि इसके लिये कोई भी वाचक पद ढूँढ़ नहीं मिलता ।

रस को सविकल्पक संवेदन का विषय इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि ज सविकल्पक संवेदन की विषयभूत वस्तुयें (जैसे कि घटपटादि) किसी न किसी वाचक द्वारा संकेतित की जा सकती हैं, रस ऐसा रहा करता है जिसके सम्बन्ध में कोई वाचक शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा सकता ।

विमर्श—'रस न तो नित्य वस्तु है और न भावी और वर्तमान' इस धारणा का अभिप्राय है कि 'रस' शब्द-वाच्य नहीं । शब्द की वाचकता उन सभी वस्तुओं से जुट करती है जिन्हें हम अपने बौद्धिक विश्लेषण में परख लेते हैं । 'रस' का बौद्धिक विश्लेषण उद्भावन तत्त्वों का ही विश्लेषण हो सकता है न कि रस के वास्तविक स्वरूप का । 'रस अलौकिक स्वसंवेदनसंवेद्य तत्त्व है' इस मान्यता का भी यही आशय है कि रस के सम्बन्ध में समस्त बौद्धिक परिकल्पनायें निरर्थक हैं ।

रस की लोकोत्तरता से ही यह सिद्ध है कि रस निर्विकल्पक किंवा सविकल्पक संवेद्य विषय नहीं हो सकता । निर्विकल्पक-संवेदन से रस की संवेद्यता तो इसी से असिद्ध है कि निर्विकल्पक संवेदन 'प्रत्यवमर्श' रहित संवेदन हुआ करता है वहाँ रस विभावादि के प्रत्यवमर्श अथवा स्वरूपोद्देश का विषय है । निर्विकल्पक संवेदन की परिभाषा यह है—'प्रत्यवमर्श संवेदन निर्विकल्पकम्' । अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान वह ज्ञानप्रकार है जो प्रत्यवमर्श अथवा प्रकार के उद्देश से शून्य हुआ करता है । रस में विभावादि का उद्देश स्वाभाविक है, रस को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता ।

'रस निर्विकल्पक संवेदन का विषय नहीं' इसका यह निष्कर्ष भी नहीं निकल सकता कि

(रस न तो परोक्ष है न प्रत्यक्ष)

—साक्षात्कारतया न च ।

परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात् ॥ २५ ॥

(अनिर्वचनीयस्वरूप रस का निरूपण प्रकार)

* तत्कथय कीदृशस्य तत्त्वमश्रुतादृष्टपूर्वनिरूपणप्रकारस्येत्याह—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम् ।

(अनिर्वचनीयस्वरूप रस के अस्तित्व में प्रमाण)

तत्किं पुनः प्रमाणं तस्य सद्भाव इत्याह—

प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ॥ २६ ॥

चर्वणा आस्वादनम् । तच्च 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तप्रकारम् ।

सविकल्पक संवेदन का विषय है' । 'घट-पटादि सविकल्पक संवेदन द्वारा वेद्य है' । रस रूप वस्तु घटपटादि रूप समस्त सविकल्पक संवेद्य वस्तुओं से विलक्षण वस्तु है—इस सिद्धान्त की पुष्टि तभी हो सकती है जब कि रस को सविकल्पक-संवेद्य न कहा जाय । साहित्यदर्पणकार ने इसी लिये यहाँ 'रस' की सविकल्पक-संवेद्यता का भी निराकरण किया है ।

अनुवाद—'रस' को 'परोक्ष' (अतीन्द्रिय) कहना भी असंभव है क्योंकि यह साक्षात् अनुभवस्वरूपप्रतीत हुआ करता है । इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह 'प्रत्यक्ष' रूप है । रस को 'प्रत्यक्ष' भी नहीं कह सकते क्योंकि यह एक अलौकिक शाब्द ज्ञान है, काव्य-नाटयोक्त्यापित विभावादिज्ञान द्वारा निष्पन्न अनुभव है ।

विमर्श—रस के सम्बन्ध में परोक्षता किंवा प्रत्यक्षता की कल्पनाओं का अभाव रस की अनिर्वचनीयता का ही साधक है और इसीलिये यहाँ साहित्यदर्पणकार ने इसकी उद्भावना की है ।

अनुवाद—तब यह अदृष्टपूर्व किंवा अश्रुतपूर्व स्वभाव वाला 'रस' क्या है—इसका विचार किया जा रहा है—

'जिसे (काव्यार्थभूत किंवा काव्यात्मभूत) 'रस' कहते हैं वह वस्तुतः एक अलौकिक तत्त्व है और एकमात्र सहृदय सामाजिकों द्वारा अपने तात्त्विक स्वरूप में पहचाना जाया करता है ।

यदि रस का स्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय है तब इसके अस्तित्व में प्रमाण क्या है—इसका निर्देश किया जा रहा है—

'रस' के सद्भाव में एक ही प्रमाण है और वह प्रमाण सहृदय सामाजिक की चर्वणा अथवा रसना है । रस के 'रस्यमानतामात्रसार' होने से, 'चर्वणास्वरूप' होने से सहृदयों के आस्वादानुभव के अतिरिक्त और इसमें क्या प्रमाण ?

यहाँ 'चर्वणा' का अभिप्राय है 'आस्वादन' का और 'आस्वादन' क्या है ? 'आस्वादन' है—विभावादि सम्बलित रत्यादिभावों से भावित सहृदय हृदय का आनन्द-चमत्कार, जैसा कि पहले ही (३-३) कहा जा चुका है ।

विमर्श—स्वप्रकाशानन्दभय रस के अस्तित्व में रसनारूप प्रतीति के अतिरिक्त और क्या प्रमाण ? जिस वस्तु के सम्बन्ध में कार्यकारणभाव, घाप्यशापकभाव आदि आदि कल्पनायें

(नाट्यसूत्र निर्दिष्ट 'रसनिष्पत्ति' का रहस्य)

ननु यदि रसो न कार्यस्तत्कथं महर्षिणा 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति लक्षणं कृतमित्युच्यते—

निष्पत्त्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः ।

यद्यपि रसाभिन्नतया चर्वणस्यापि न कार्यत्वं तथापि तस्य कादाचित्कतय उपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।

असंभव हों, वह तो एक अलौकिक वस्तु होगी ही । अनिर्वचनीय 'रस' रूप वस्तु का अस्तित्व अनिर्वचनीय चर्वणारूप प्रतीति द्वारा ही प्रमाणित हो सकता है जैसा कि कहा भी गया है—

'चर्वणैव भगवती स्वसंवित्स्वरूपादभिन्ने तस्मिन् प्रमाणम्' ।

अर्थात् रस वस्तुतः स्वसवेदनस्वरूप तत्त्व है और इसका अस्तित्व जिससे प्रमाणित है व 'चर्वणा' है अथवा 'रसना' है । 'चर्वणा' एक अलौकिक प्रतीति है और इसीलिये इसे 'रसब्रह्म' की 'माया' माना गया है ।

अनुवाद—यदि 'रस' इस प्रकार सर्वथा अनिर्वचनीय, कार्य-ज्ञाप्यादि कल्पनोत्तीत तत्त्व है तब भरतमुनि ने क्योंकर यह कहा कि (रत्यादि भावों के साथ) विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से रसोत्पत्ति हुआ करती है ? इसका समाधान यह है—

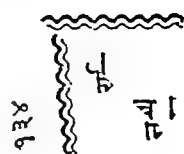
वस्तुतः तो 'रस' निष्पन्न (उत्पन्न) नहीं हुआ करता । विभावादि संयोग से जिसव निष्पत्ति (उत्पत्ति) हुआ करती है वह 'रस' नहीं अपितु 'रसना' अथवा 'चर्वण' है । रस को 'निष्पन्न' कहना उपचारत ही संभव है क्योंकि रस और रसना (चर्वणा) में जब अभेदारोप कर दिया गया तब चर्वणा की निष्पत्ति का 'रस' पर आरोप स्वसिद्ध हो गया और रस की औपचारिक निष्पत्ति में कोई आपत्ति न रही ।

यहाँ यह समझना आवश्यक है—वस्तुतः तो चर्वणा को भी निष्पन्न (उत्पन्न) कहना उपचारतः ही संभव है क्योंकि 'रस' और 'चर्वणा' में कोई भेदभाव कहाँ जैसे 'रस' में उत्पत्ति की कल्पना नहीं हो सकती वैसे ही 'चर्वणा' में भी । उपचारत यदि कहा जाय तो 'चर्वणा' को उत्पन्न कहा जा सकता है क्योंकि यह सदा नहीं रह करती । अब जब कि चर्वणा का यह आविर्भाव-तिरोभाव उसकी औपचारिक उत्पत्ति का निमित्त हो गया तब उससे अभिन्न रस को भी उपचारतः 'उत्पन्न' कहने में अनवधानता क्या हुआ ?

विमर्श—'रस-निष्पत्ति' का अर्थ रस की उत्पत्ति नहीं अपितु यथाकथञ्चित् 'रस' अथवा चर्वणा की निष्पत्ति अथवा उत्पत्ति है—यह रसनिष्पत्ति-मीमांसा आचार्य अभिनवगुप्त की है जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

'तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ? नेत्रं रसस्य अपि तु तद्विषयाया रसनाया । तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकाग्रचित्तवित्तस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते तन्न कश्चिदत्र दोषः । सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः स्वयं तु नाऽप्रामाणिकी स्वसवेदनसिद्धत्वात् । रसना च बोधरूपैव किंतु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात् । तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यते ततस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य ।

(रस एकमात्र 'व्यङ्ग्य' तत्त्व है
अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जनरूप
तस्य रसस्य । आदिशब्दादलक्ष्यत्वादि ।



(रस की स्वप्रकाशता किंवा अखण्डता में सन्देह
ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसास्तत्कथमस्य स्वप्र
त्वमित्याह—

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत् ।

अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति ॥ २८ ॥

अर्थात् यदि 'रसना' या 'चर्वणा' रूप बोध की निष्पत्ति के अर्थ में 'रस-निष्पत्ति' (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः) समझी जाय तभी रस का स्वरूप ठीक ठीक समझा जा सकता है अन्यथा नहीं । 'रसना' अथवा 'चर्वणा' भी एक लोकविलक्षण बोध है । यह बोध काव्य-नाट्य अथवा कला द्वारा ही समभव है । 'रस' और 'रसबोध' में भेद-भाव नहीं । 'रस' और 'रसना' एक ही आनन्दात्मक अनुभूति है क्योंकि रस 'रस्यमानतामात्रसार' अनुभूति है, कोई रसना-बोध्य विषय नहीं ।

अनुवाद—रस कदापि वाच्य (अभिधान्यापार का विषय) नहीं—आदि २ का निरूपण व्यञ्जनाप्रामाण्य निरूपण के प्रसङ्ग में (पञ्चम परिच्छेद में) किया जा रहा है (जहाँ यह स्पष्ट हो जायगा कि रसरूप काव्यरहस्य एक अनिर्वचनीय अभिव्यङ्ग्य आस्वादानुभव है) ।

यहाँ 'तस्य'—'उसके' का अभिप्राय है 'रस' के अवाच्यत्व (अनभिधेयत्व) आदि का । और अवाच्यत्व आदि का अभिप्राय है अलक्ष्यत्व किंवा अनात्मपर्यविषयत्व आदि का ।

विमर्श—'रस एकान्तत अभिव्यङ्ग्य है'—इम सिद्धान्त के स्थापन में आचार्य अभिनवगुप्त की यह युक्ति है—

'रसभावतदाभासतत्प्रशमा पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानप्राणतया भान्ति । तत्र ध्वननव्यापारादृते नारित कल्पनान्तरम् । स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थं बाधादेर्लक्षणा निवन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात् । न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जात' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा । नापि लक्षणया । अपि तु सहृदयस्य हृदयसवादवलाद् विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावः सुखादिविलक्षणः परिस्फुरति ।' (ध्वन्यालोक लोचनः १ म उद्योत)

जिसका अभिप्राय यह है—रस एकमात्र आस्वादासार काव्य-तत्त्व है । इसका शब्द-प्रतिपादन असंभव है । काव्य का व्यञ्जना-व्यापार ही रसबोध में एकमात्र समर्थ है । लक्षणा की समावना यहाँ कहाँ ? तात्पर्य वृत्ति का यहाँ क्या प्रयोजन ? यहाँ तो सहृदय सामाजिक से सन्बद्ध हृदयतन्त्रादः, विभावादि-परामर्श, तन्मयीभवन और रसनात्मक बोध ही उपायरूप से उभे प्रतीत होते हैं और ये सब व्यञ्जना (रसना) के ही प्रक्रियावन्ध हैं ।

अनुवाद—विभावादि समूहालम्बनात्मक रस क्योंकि 'स्वप्रकाश' (आत्मस्वरूपात्मक) किंवा 'अखण्ड' है—इसका निरूपण इस प्रकार है—

रस की स्वप्रकाशात्मकता और अखण्डता इसलिये सिद्ध है क्योंकि यह विभावादि

॥दे रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्त स्यात्तदेवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिध्येत्,
च तथा, तादात्म्याङ्गीकारात् । यदुक्तम्—‘यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि
न कार्या तथापि कादाचित्कतया कार्यत्वमुपकल्प्य तदेकात्मन्यनादिवासना-
परिणतिरूपे रत्यादिभावेऽपि व्यवहार इति भावः’ इति । ‘सुखादितादात्म्या-
ङ्गीकारे चास्माकीं सिद्धान्तशय्यामधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्र प्रमोदनद्रामु-
पेयाः’ इति च । ‘अभिन्नोऽपि स प्रमात्रा वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन गोच-
रीकृतः’ इति च । ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पात-
नीयो दण्डः । तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम् ।

रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूताः स्फुरन्त एव
रसतामापद्यन्ते

तदुक्तम्—

‘विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ।

समूहालम्बनात्मक सवेदन से सर्वथा अभिन्न हुआ करता है । तात्पर्य यह है कि यदि
विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभवको ज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व माना जाय तभी
ऐसा हो सकता है कि रस को स्वप्रकाशस्वरूप न कहा जाय । किन्तु ऐसी बात कहाँ ?
विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभव और प्रकाशशरीर ज्ञान तो एक अभिन्न वस्तु है
जैसा कि कहा गया है—रस और चर्वणा (रसना) में कोई तात्त्विक भेद नहीं । जैसे
‘रस’ की उत्पत्ति-कल्पना निरर्थक है वैसे ही ‘चर्वणा’ की भी । किन्तु जैसे ‘चर्वणा’
में आविर्भाव-तिरोभाव के दर्शन से उपचारत उत्पत्ति-कल्पना की जा सकती है वैसे
ही चर्वणात्मक किंवा सहृदय-हृदय की अनादि वासना के परिणामस्वरूप अभिन्यक्त
रत्यादिभाव (रस) में भी उपचारत ‘उत्पत्ति’ की कल्पना हो ही सकती है ।

जैसे परिणामवाद की दृष्टि से रस को स्वप्रकाश किंवा अखण्ड माना जा सकता है
(जैसा कि अभी बताया गया) वैसे ही यदि ‘रसध्वनिवाद’ की भी दृष्टि से, जिसके अनुसार
रस चिन्मय किंवा चमत्काररूप है, रस को स्वप्रकाश किंवा अखण्ड कहा जाय तो,
किसी को कोई आपत्ति होना तो दूर रहे, उल्टे सबके लिये एकमात्र निर्द्वन्द्व आनन्द
की ही बात है ।’ तभी तो कहा गया है—

‘वैसे तो रस स्वप्रकाशानन्दरूप है किन्तु सहृदय सामाजिक इसे अपने हृदय में
जन्मजन्मान्तर से सञ्चित किंवा काव्य-नाट्य की भावकता (व्यञ्जकता) शक्ति से
उद्बुद्ध, रत्यादिभाव के रूप में अनुभव किया करते हैं ।’

इस प्रकार यह निःसन्दिग्ध है कि रस ‘स्वप्रकाश’ है । अब रसध्वनितत्त्वदर्शी
काव्याचार्यों का उन लोगों (जैसे कि नैयायिकों) से क्या झगड़ा जो कि ज्ञान को
‘स्वप्रकाश’ ही नहीं मानते ? ऐसे लोगों को ठीक करना तो वेदान्ताचार्यों का काम है ।
‘रस’ और विभावादिसमूहालम्बनात्मकज्ञान में जब कि कोई भेदभाव नहीं तब तो रस
की अखण्डता स्वयं ही सिद्ध है । भले ही काव्य-नाट्य-भावना के प्रारम्भ में,
विभावादि पृथक्-पृथक् प्रतीत हों, जैसा कि हुआ ही करते हैं, किन्तु इन्हें ‘रस’ तभी
कहा करते हैं जब कि ये एक समूहालम्बन रूप से अभिव्यक्त होकर चिच्चमत्कारमय हो
जाया करते हैं । इसीलिये कहा गया है—

‘क्या विभाव, क्या अनुभाव और क्या सात्त्विक किंवा व्यभिचारीभाव—सभी पहले

प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्यखण्डताम् ॥' इति ।

'परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववद्वेदितव्यः' इति' च ।

(विभावादि वर्ग में विभावरूपतत्त्व स्वरूपनिर्देश)

अथ के ते विभावानुभावव्यभिचारिण इत्यपेक्षायां विभावमाह—

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।

ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव

(अर्थात् काव्य-नाट्य-भावना के प्रारम्भ में) अपने-अपने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत हुआ करते हैं । किन्तु 'रस'रूप में परिणत होते ही इनकी भिन्नता समाप्त हो जाया करती है और सब मिलकर एक अखण्ड आनन्दात्मक अनुभव के रूप में परिणत हो जाते हैं ।' अथवा जैसे वेदान्तदर्शन के अनुसार, घटपटादि रूप से भिन्नतया अवभासित भी ब्रह्मतत्त्व वस्तुतः एक अखण्ड सच्चिदानन्द रूप ही रहा करता है वैसे ही काव्य-दर्शन के अनुसार, विभावादि रूप से खण्डशः प्रतीयमान भी रसतत्त्व परमार्थतः एक अभिन्न अखण्डरूप ही आस्वादानुभाव है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने यहा रस की स्वप्रकाशता और अखण्डता की जो सिद्धि की है उसने पण्डितराज जगन्नाथ की रस-मीमांसा को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है । रस की अभिव्यक्ति का अभिप्राय चाहे हृदय सामाजिक के हृदय में, विभावादि परामर्श से, अलौकिक आनन्दानुभव रूप में परिणत अनादि रत्यादिभाव माना जाय या 'स्थाय्युपहित चैतन्य' समझा जाय, इतना निःसदिग्ध है कि रसरूप अनुभव एक अखण्ड किंवा स्वप्रकाशानन्दमय रूप ही अनुभव है । यहा साहित्यदर्पणकार ने काश्मीरिक प्रत्यभिज्ञादर्शन की पृष्ठभूमि पर 'रस' का दर्शन न कर साख्य और वेदान्त की भूमिका पर 'रस' का निरूपण किया है । इस निरूपण के ही आधार पर रस के सबन्ध में कालान्तर में ये धारणायें बनती आयी हैं—

(१) 'विभावादिसवलितरस्यवच्छिन्नचिदानन्दावरणभङ्गात् प्रकाशमानानन्दचिद्विषयो विभावादिसवलितः स्थायी रत्यादिको रसः ।'

(२) 'तादृशस्थाय्युपहितचैतन्यमेव रसः । 'रसो वै सः' इति श्रुते ।'

(३) 'तादृशविभावादिसवलितस्थाय्युपहितचिदानन्दाकारावृत्ति रसः ।'

(ख) 'ज्ञान स्वप्रकाश है'—इसकी सिद्धि इस प्रकार की जाया करता है—

'ज्ञानमस्तीति विज्ञान स्वात्मान साधयेन्न वा ।

पूर्वत्र स्वप्रकाशत्वं सर्वासिद्धिरतोऽन्यथा ॥' (न्यायसिद्धांश उद्धिपरिच्छेद)

अर्थात् यदि ज्ञान के अस्तित्व की सिद्धि ज्ञान द्वारा ही समभव है क्योंकि यहा और कोई उपाय नहीं तब तो यहा स्वतः सिद्ध है कि ज्ञान स्वप्रकाश है । ज्ञान यदि स्वप्रकाश नहीं तो किसी भी वस्तु का अस्तित्व कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता ।

अनुवाद—जिनकी भावना से रसानुभव समभव है वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावरूप काव्य-नाट्य-तत्त्व क्या हैं—इसकी जिज्ञासा अब स्वभावतः जाग सकती है, इसलिये यहा सर्वप्रथम 'विभाव' का स्वरूप निर्विष्ट किया जा रहा है—

'लोक में जो-जो पदार्थ लौकिक रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं वे ही काव्य-नाट्य में निर्विष्ट होने पर 'विभाव' कहे जाया करते हैं ।'

तात्पर्य यह है कि लोक-जीवन के रामादि पुरुषों के हृदय में रति-हास-शोकादि भावों

काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः 'विभाव्यन्ते आस्वादाद्गुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते । तदुक्तं भर्तृहरिणा—
'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।

प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥' इति ।

के उद्धोधन के जो सीतादिरूप कारण हैं, वे ही काव्य-नाट्य में निविष्ट होने पर, 'विभाव' कहे जाया करते हैं । काव्य-नाट्य-समर्पित सीतादि को इसलिये 'विभाव' कहा करते हैं क्योंकि 'इन्हीं के द्वारा सहृदय सामाजिकों की अनादि रत्यादि वासना रस रूप में अद्भुत होने में समर्थ बनायी जाया करती है ।' आचार्य भर्तृहरि की यह सूक्ति काव्य-नाट्य निविष्ट सीतादिरूप विभावतत्त्व की भी वस्तु-सत्ता को प्रमाणित करती प्रतीत हो रही है—

'शब्द द्वारा उपनिबद्ध और इसीलिये शब्द-बोध के विषयभूत कस-कृष्ण आदि आदि परोक्ष पदार्थों का भी वध्य-घातकरूप में साक्षात्कार किया करना लोगों के लिये स्वाभाविक है (क्योंकि भावकचित्त में विराजमान वस्तुयें बौद्धिक भले ही हों अवास्तविक कदापि नहीं) ।'

विमर्श—'लोकगत राम-सीतादि की वास्तविकता तो निःसंदिग्ध है ही किन्तु काव्य-नाट्यगत राम-सीतादिरूप विभावतत्त्व की वस्तु-सत्ता भी सिद्ध ही है । कवि और नाटककार राम-सीतादि रूप विभावतत्त्व की जो भी शब्दमय रूपरेखा बनाया करते हैं उसमें यह सामर्थ्य रहा करता । कि वह देश और काल के आधार के बिना ही राम-सीतादि रूप पदार्थों को सामाजिकचित्त में उपस्थित कर दे । ऐसा होने से ही, इन बौद्धिक पदार्थों के साक्षात्कार के कारण ही, सामाजिक हृदय इनमें तन्मयता की साधना करने लग जाता है और रसास्वाद की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है'—साहित्यदर्पणकार की यह विभाव-समीक्षा दशरूपककार की इस उक्ति का अवलम्ब लेकर चल रही है—

'अमीषां चानपेक्षितवाङ्मयसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मन स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।

प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥' इति

पट्साहस्रीकृताप्युक्तम्—

'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते ।' इति । (दशरूपक ४ र्थ प्रकाश)

जिसका अभिप्राय यह है—प्रतिदिन के व्यावहारिक जगत् की वस्तुयें अपने-अपने प्रतिनियत स्वभाव में नियन्त्रित रहा करती हैं । काव्य-नाट्य के क्षेत्र में इन्हीं वस्तुओं का ऐसा रूपान्तर ईं जाया करता है जिससे इनकी व्यक्तिगत विशेषतायें छुप्त हो जाया करती हैं, इनका सामान्य स्वभाव स्फूर्तिमान् हो उठता है और सामाजिकमात्र की भावना इन्हें वास्तविक बना दिया करती है । भावकचित्त की भूमि में विचरणशील इन वस्तुओं से ही रस की निष्पत्ति संभव है न कि इनके लोकगत स्वरूप से ।

नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'विभाव' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'विभाव इति कस्मादुच्यते ? विभावो विज्ञानार्थः । विभाव कारण निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः । विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः । यथा विभावितं विज्ञातं मित्यनर्थान्तरम् । अत्र श्लोक—

(विभाव के दो भेद)

तद्भेदावाह—

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।

स्पष्टम् । तत्र—

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ॥ २९ ॥

आदिशब्दान्नायिकाप्रतिनायिकादयः । अथ यस्य रसस्य यो विभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

यहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रया ।

अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति सञ्ज्ञितः ॥' (नाट्यशास्त्र : सप्तमाध्याय)

जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ 'विभाव' चतुर्विध अभिनय की आधारशिला के रूप में प्रतिपादित किया हुआ है । 'अभिनय' का समस्त रहस्य जिसके जानने से जाना जा सकता है वह 'विभाव' है । यह विभाव-मीमांसा रस-चर्चणा के साधनरूप में बाद के नाट्याचार्यों ने स्वीकृत की है । दशरूपककार ने इसीलिये कहा है—

'ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभाव' कथञ्च सीतादीनां विभावत्वेनाविरोधः ? उच्यते—

धीरोदात्ताद्यवस्थायां रामादिः प्रतिपादकः ।

विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥

न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामिति-
हासचक्षुषि निबध्नन्ति, किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणस्वोद्येक्षाकृतसन्निधिः धीरोदात्ताद्यवस्थाः
कचिदाश्रयमात्रदायिनीं विदधति ।' (दशरूपक : ४ र्थ प्रकाश)

अर्थात् काव्य-नाट्य के क्षेत्र में जनकतनयादि विशेषताओं से शून्य, वस्तुतः साधारणीकृत, सीतादि को 'विभाव' कहा करते हैं । ऐसा इसलिये क्योंकि इसी से सामाजिक हृदय में रत्यादि वासनार्यें स्फुरित हुआ करती हैं ।

नाट्यदर्पणकार की भी यही विभाव-दृष्टि है—

'वासनात्मतया स्थितं स्थायिनं रसत्वेन भवन्त विभावयन्ति, आविर्भावनाविशेषेण प्रयोजयन्ति इत्यालम्बनोद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावाः ।' (नाट्यदर्पण : ३ य विवेक)

अनुवाद—'विभाव' के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

'विभाव के दो भेद हुआ करते हैं—(१) आलम्बनरूप विभाव और (२) उद्दीपनरूप विभाव । यहाँ जो तात्पर्य है वह स्वयं स्पष्ट है । इन दोनों विभाव-भेदों में 'आलम्बन विभाव' का अभिप्राय तो काव्य-नाट्य-वर्णित नायकादि का है । नाट्य नाट्य-वर्णित नायकादि को इसलिये 'आलम्बन विभाव' कहा करते हैं क्योंकि इन्हीं के सहारे, इन्हीं के साथ, साधारणीकरण होने के कारण, सामाजिकों के हृदय में 'रस' का सञ्चार हुआ करता है ।

यहाँ 'नायकादि' का अभिप्राय नायक के अतिरिक्त नायिका, उपनायिका आदि-आदि का है क्योंकि इनके सहारे भी, साधारणीकरण होने पर सामाजिकों को रसास्वाद मिला करता है । अब जिस-जिस रस का जो-जो 'उद्दीपन विभाव' है उसका निरूपण, यहाँ नहीं अपितु, उस-उस रस के प्रसंग में किया ही जायगा ।

('नायक' का स्वरूप-निरूपण)

तत्र नायकः—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।

दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥ ३० ॥

दक्षः क्षिप्रकारी । शीलं सद्वृत्तम् । एवमादिगुणसम्पन्नो नेता नायकं भवति ।

(नायक के भेदोपभेद)

तद्भेदानाह—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।

धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः ॥ ३१ ॥

स्पष्टम् ।

अनुवाद—आलम्बनविभावरूप 'नायक' कौन है ?

'नायक' वह है जो त्याग-भावना से भरा हो, महान् कार्यों का कर्ता हो, कुल का महान् हो, बुद्धि-वैभव से सम्पन्न हो, रूप-यौवन और उत्साह की सम्पदाओं से सम्पन्न हो, निरन्तर उद्योगशील रहने वाला हो, जनता का स्नेहभाजन हो और तेजस्विता, चतुरता किंवा सुशीलता का निदर्शक हो ।

यहाँ (त्यागी आदि कारिका में) 'दत्त' पद का प्रयोग 'क्षिप्रकारी' अथवा 'कार्य-सम्पादन में सतत जागरूक' अर्थ में है, 'शील' शब्द का अर्थ 'सद्वृत्त' अथवा 'सदाचार' का है । यहाँ अभिप्राय यही है कि जिस व्यक्ति में त्याग आदि गुणों का सर्वतोभद्र सन्भाव हो वही (काव्य-नाट्य में) 'नायक' अथवा नेता (सहृदय सामाजिक को कवि किंवा नाटककार के आदर्शों की ओर ले जाने वाला) हुआ करता है ।

(काव्य-नाट्य के) इस 'नायक' के भी कई भेद हुआ करते हैं जैसे कि—

'सर्वप्रथम' 'नायक' के ये चार भेद हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरोद्धत, (३) धीर-ललित और (४) धीरप्रशान्त ।

यहाँ जो अभिप्राय है वह स्पष्ट है ।

विमर्श—भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार स्त्री-पुरुषों की प्रकृति त्रिविध बतायी गयी है और काव्य-नाट्य में वर्णित उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पुरुषों को, धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त-इन चार प्रकार के नायकों के रूप में निर्दिष्ट किया गया है —

'समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता ।

पुरुषाणामथ स्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा ॥

मध्यमोत्तमाया प्रकृतौ नानालक्ष्णलक्षिता ॥

धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च ।

धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः ॥

देवा धीरोद्धता ज्ञेया ललितास्तु नृपाः स्मृताः ।

सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ॥

धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा । (नाट्यशास्त्र अध्याय २४)

('धीरोदात्त' नायक कौन है ?)

तत्र धीरोदात्तः—

अविकथनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।

स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ ३२ ॥

नाट्यशास्त्र की यही मर्यादा 'नाट्यदर्पण' की इन पंक्तियों में सुरक्षित दिखायी देती है—

'उद्धतोदात्त-ललित-शान्ता धीरविशेषणाः ।

चर्याः स्वभावाश्चत्वारो नेतृणां मध्यमोत्तमाः ॥

धीरो धैर्यं महाव्यसनेऽप्यकातर्यं विशेषणं येषां उद्धतादीनां, धीरोद्धत-धीरोदात्त-धीर-ललित-धीरप्रशान्ता इत्यर्थः । एव नाम कविर्वर्णयति । जन्मोत्थितास्तु स्वभावा नेतृणां यथा तथा वा सन्तु । नेतृणामिति बहुवचनात् प्रायेणैकैकस्मिन् धर्मिण्येकैकं स्वभावः कचिदेव तु चत्वारः । मध्यमोत्तमा इति । यद्यपि स्वस्थाने सर्वमपि उत्तम-मध्यमाधम भेदेन त्रिधा, तथापि धीरोद्धतत्वादयः स्वभावा उत्तम-मध्यम भेदेनैव वर्णनीया इति ।

(नाट्यदर्पण . नाटकनिर्णय प्रकरण)

अर्थात् अधमप्रकृति के पुरुषों अथवा स्त्रियों को तो नायक अथवा नायिकारूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता । जो उत्तम और मध्यम-प्रकृति के लोग हैं उन्हें ही कवि अथवा नाटककार नायक-रूप में प्रधान नाटकीय चरित्र-चित्रण का विषय बनाया करता है । नायक की सबसे बड़ी विशेषता है—'धैर्य' अर्थात् महासकट में भी अकातरता । उदात्तता, उद्धतता, ललितता और शान्तता—यह स्वभाव-चातुर्विध्य पृथक्-पृथक् रूप से नायक में वर्णित हुआ करता है । यह भी संभव है कि एक नायक में भी यह स्वभाव-चातुर्विध्य विराजमान रहे किन्तु ऐसा वर्णन सामान्य नियम नहीं अपितु एक अपवाद है ।

नायक के चरित्र-चित्रण के सम्वन्ध में यह दृष्टि कालान्तर में सभबत कुछ बदल गयी । दशरूपककार के युग में यह दृष्टि-परिवर्तन प्रारम्भ हो गया प्रतीत होता है जैसा कि दशरूपक की इस नायक-समीक्षा से स्पष्ट है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दत्तः प्रियंवदः ।

रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवशः स्थिरो युवा ॥

बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।

शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

(दशरूपक . प्रकाश-२)

उपर्युक्त नायक-निरूपण में नाट्याचार्यों का दृष्टि-परिवर्तन इसलिये दिखायी देता है क्योंकि यहाँ 'धैर्य' की विशेषता का, उद्धतादि स्वभाव-चतुष्टय के साथ समन्वय करने के बदले, धीरोद्धतादि की पारिभाषिकता पर ही ध्यान रखा गया है । विश्वनाथ कविराज भी इसी दृष्टि-परिवर्तन से प्रभावित हैं ।

अनुवाद—इन चतुर्विध नायकों में 'धीरोदात्त' नायक वह है जिसे—

'आत्मश्लाघा की भावनाओं से रहित, क्षमाशील, अति गम्भीर, दुःख-सुख में प्रकृतिस्थ, स्वभावतः स्थिर और स्वाभिमानी किन्तु विनीत कहा गया है ।'

अविकथनोऽनात्मश्लाघाकरः । महासत्त्वो हर्षशोकाद्यनभिभूतस्व-
निगूढमानो विनयच्छन्नगर्वः । दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः । यथा—राम
ष्ठिरादिः ।

('धीरोद्धत' नायक की विशेषता)

अथ धीरोद्धतः—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्यभूयिष्ठः ।

आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥ ३३ ॥

यथा—भीमसेनादिः ।

('धीरललित' नायक का स्वभाव)

अथ धीरललितः—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ।

यहां 'अविकथन' का अभिप्राय है विकथन अथवा आत्मश्लाघा से रहित का ।
सत्त्व का तात्पर्य है सुख दुःख के आक्रमणों में अडिग रहने वाले का । 'निगूढम'
अर्थ है अपनी विनीतता से अपने अहंकार पर विजयी बननेवाले का और 'दृढव्रत' :
अंगीकृत कार्यों के अन्त तक करते रहने वाले को । उदाहरण के लिए राम, युधिष्ठि
महापुरुष लिए जा सकते हैं ।

विमर्श—दशरूपककार की निम्न धीरोदात्त मीमांसा, जिसने साहित्यदर्पणकार को
किया है, यहाँ ध्यान देने योग्य है—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकथनः ।

स्थिरो निगूढाहकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ॥

महासत्त्वः शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः । अविकथनः अनात्मश्लाघनः ।
दाहकारः विनयच्छन्नावलेपः । दृढव्रतः अंगीकृतनिर्वाहकः । (दशरूपक २ य प्रका'
अनुवाद—'धीरोद्धत' नायक वह है—

'जो कि मायापटु हो, उग्रस्वभाव वाला हो, स्थिर प्रकृति का न हो, अहंकार'
से भरा हो, और जिसे नाट्यकोविद आत्मश्लाघा में निरत कहा करते हैं ।'

उदाहरण के लिये, भीमसेन आदि लिये जा सकते हैं ।

विमर्श—'धीरोद्धत' नायक का यही स्वरूप दशरूपक में भी निर्दिष्ट है—

'दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छन्नपरायणः ।

धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकथनः ॥

दर्पं = शौर्यादिमदः, मात्सर्यम् = असह्यता, मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तु
माया, छद्म = वञ्चनामात्रम्, चलः = अनवस्थितः, चण्ड = रौद्र, विकथन = स्वगु
धीरोद्धतो भवति । यथा जामदग्न्य — 'कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजय' इत्यादि
च रावण — 'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य' इत्यादि ।

(, दशरूपक-२ य

अनुवाद—'धीरललित' नायक वह है—

'जो कि निश्चिन्त रहने वाला हो, स्वभाव का मृदु हो और कलाभ्यसनी हो ।'

कला नृत्यादिका । यथा—रत्नावल्यादौ वत्सराजादिः ।

('धीरप्रशान्त' नायक का निरूपण)

अथ धीरप्रशान्तः—

सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् ॥३४॥

यथा—मालतीमाधवादौ माधवादिवः ।

(शृङ्गार रस में उक्त चतुर्विध नायकों के अन्य चार प्रकार)

एषां च शृङ्गारादिरूपत्वे भेदानाह—

एभिर्दक्षिणघृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा ।

तत्र तेषां धीरोदात्तादीनां प्रत्येक दक्षिणघृष्टानुकूलशठत्वेन षोडशप्रकारो नायकः ।

यहाँ 'कला' का अभिप्राय नृत्य आदि कलाओं से है । उदाहरण के लिये 'रत्नावली' आदि में वत्सराज आदि नायक 'धीरललित' नायक रूप में चित्रित हैं ।

विमर्श—दशरूपककार ने 'धीरललित' का ऐसा ही वर्णन किया है.—

'निश्चिन्तो धीरललित' कलासक्तः सुखी मृदुः । सचिवादिविहितयोगचेमत्वाचिन्तारहितः अत एव गीतादिकलानिष्ठो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसन्वाचरो मृदुरिति ललितः ।' (दशरूपक २ य प्रकाश)

अनुवाद—'धीरप्रशान्त' नायक उस नायक को कहते हैं—

'जिसमें नायक के त्याग आदि सामान्य गुण प्रचुर मात्रा में हों और जो ब्राह्मणादि वर्ण का हो ।

उदाहरण के लिये 'मालतीमाधव' आदि में माधव आदि नायक 'धीरप्रशान्त' नायक हैं ।

विमर्श—'धीरप्रशान्त' नायक का यही स्वरूप दशरूपककार ने भी निरूपित किया है—

'सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः । विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिकसचिवादीनां प्रकरणनेतृणामुपलक्षणम् । विवक्षितं चैतत्, तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसंभवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न ललित्यं, यथा मालती-माधवमृच्छकटिकादौ माधवचारुदादिः ।' (दशरूपककार—२ य प्रकाश)

अनुवाद—इन उपर्युक्त चतुर्विध नायकों के जो अन्य भेद-प्रभेद हैं, जो कि शृङ्गार रस के प्रसंग में स्पष्ट परिलक्षित हुआ करते हैं, उनका निरूपण किया जा रहा है—

ये ही धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त नायक, दक्षिण, घृष्ट, अनुकूल और शठ—इन चार रूपों में चित्रित होकर १६ भेदों में विभक्त दिखाई देते हैं ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि (शृङ्गाररसात्मक काव्य-नाट्य में) धीरोदात्त आदि चारों प्रकारों के नायकों में भी प्रत्येक के दक्षिण, घृष्ट, अनुकूल और शठ रूप होने से, सब मिलाकर 'नायक' के १६ भेद हुआ करते हैं ।

विमर्श—यहाँ नायक निरूपण का प्रकरण है । इसलिये विश्वनाथ कविराज ने यहाँ संस्कृत काव्य-साहित्य के समस्त नायक-प्रकारों का निर्देश कर दिया है । इस निर्देश में भी दशरूपक का प्रभाव स्पष्ट है क्योंकि दशरूपककार ने भी इसी प्रकार नायक-भेद का निरूपण किया है—

(१—शृङ्गार-प्रबन्ध के नायक-प्रकार 'दक्षिण' नायक)

एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः ॥ ३५ ॥

द्वयोस्त्रिचतुःप्रभृतिषु नायिकासु तुल्यानुरागो दक्षिणनायकः ।

यथा—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, चारोऽङ्गराजस्वसु-

द्युतौ रात्रिरियं जिता कमलया, देवी प्रसाद्याद्य च ।

इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते

देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थित नाडिकाः ॥

'अथ शृङ्गारनेत्रवस्थाः—

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वो प्रत्यन्यया हृतः । नायकप्रकरणात् पूर्वा नायिकां प्रत्यन्यया पूर्वनायिकयाऽपहतचित्तस्थवस्थो वच्यमाणः (अनुकूलरूप) भेदेन चतुरवस्थः । तदेव पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येक चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः ।' (दशरूपक . २ य प्रकाश)

तात्पर्य यह है कि शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रस-प्रबन्धों में तो धीरोद्धत, धीरोदात्त धीरललित किंवा धीरप्रशान्त—ये चार प्रकार के ही नायक पाये जाते हैं किन्तु शृङ्गार प्रबन्ध में, उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार के नायकों के भी दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल रूप : चार-चार भेद वर्णित किये गये हैं जिससे, शृङ्गार-प्रबन्ध की दृष्टि से, 'नायक' के सोलह प्रकार सिद्ध हैं ।

अनुवाद—शृङ्गार प्रबन्ध की दृष्टि से निरूपित उपर्युक्त चतुर्विध नायकों में 'दक्षिण नायक' वह है जिसे एक से अधिक रमणी-जन के साथ समान अनुराग रखने वाला कहा गया है ।

यहाँ 'अनेकमहिलासु समानुरागः' का अभिप्राय 'दो या तीन या चार या इससे भी अधिक नायिकाओं के प्रति समान प्रेम रखने वाले 'दक्षिण' नायक का है । उदाहरण के लिये निम्न नायक चित्रण—

('प्रतीहारी की किसी के प्रति उक्ति—) जबकि मैंने अन्तःपुर की सुन्दरियों का समाचार पाकर महाराज से निवेदन किया—'महाराज ! कुन्तल की राजकुमारी तो स्नात से निवृत्त हुई प्रतीक्षा कर रही है, आज का दिन वैसे अगराज की वह्नि से मिलने का है, साथ ही कमला से झूट-क्रीडा में पहले ही आप आज की रात हार चुके हैं और महारानी को भी तो आज आपको मनाना है' तो महाराज निश्चय न कर सके कि क्या कर और दो-तीन घड़ी सुपचाप पड़े रहे ।

विमर्श—यह स्पष्ट है कि जिस नायक का चित्र खींचा गया है वह 'दक्षिण' नायक है । एक से अधिक प्रेमिकाओं से समान रूप से प्रेम करने वाला ही व्यक्ति 'किस प्रेमिका मिलें'—इस उपेह-धुन में पड़ा दिखाई दे सकता है, दूसरा नहीं ।

किन्तु साहित्यदर्पणकार की यह 'दक्षिण' नायक परिभाषा दशरूपक की परिभाषा से भिन्न है । दशरूपककार के अनुसार 'दक्षिण' नायक का यह लक्षण है—

'दक्षिणोऽस्यां सहृदयः—

योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः ।' (दशरूपक : २ य प्रकाश)

अर्थात् 'दक्षिण' नायक वह है जो कि प्रधान नायिका के प्रति हार्दिक प्रेम रखा करता है

(२—‘धृष्ट’ नायक)

कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः ।

दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः ॥ ३६ ॥

यथा मम—

शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं ततः

पादेन प्रहृतं तथा, सपदि तं धृत्वा सहासे मयि ।

किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया बाष्पं सृजन्त्याः सखे !

ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः ॥

(३—‘अनुकूल’ नायक)

अनुकूल एकनिरतः—

एकस्यामेव नायिकायामासक्तोऽनुकूलनायकः ।

समस्त प्रधान नायिका के प्रति हार्दिक प्रेम-भावना के सकेत से अप्रधान नायिकाओं के प्रति प्रेम-भावना का निष्कर्ष साहित्यदर्पणकार ने निकाला है और ‘दक्षिण’ नायक की उपर्युक्त परिभाषा की है ।

अनुवाद—‘धृष्ट’ नायक वह है जो कि प्रेम में अपराधी होने पर भी, अपनी प्रेमिका के कोप की चिन्ता नहीं करता, प्रेमिका की झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित नहीं होता और स्पष्टतया अपने दोषों के प्रकट हो जाने पर भी झूठ बोलकर उन्हें छिपाने को ही तैयार रहा करता है ।

जैसे कि यह स्वचित्रित नायक-चित्रण—(किसी प्रेमी को अपने मित्र के प्रति उक्ति)—‘मेरे मित्र ! मैं जब उस सुन्दरी का मुह (क्रोध से) लाल देखते, उसे चुम्बन करने, उसके पास चला तो उसने लात चला दी । जब उसने लात चला दी तो मैंने उसकी लात पकड़ ली और मैं हँस पड़ा । जब वह इसका कोई प्रतिकार न कर सकी और आँसू बहाने लगी तो क्या बताऊँ, बस इतना ही कह सकता हूँ कि उस सुन्दरी के उस कोप की स्मृति रह रह कर मन में एक विचित्र आनन्द-कौतुक पैदा किया करती है ।’

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह ‘धृष्ट’-लक्षण दशरूपककार के इस ‘धृष्ट-लक्षण’ अर्थात्—
‘व्यक्ताद्भवैकृतो धृष्ट’—

यथाऽमरशतके—

लाञ्छालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले

वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।

दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो

लीलातामरसोदरे मृगदृशं श्वासा समाप्तिं गताः ॥’

इत्यादि का ही एक व्याख्यानरूप है ।

अनुवाद—‘अनुकूल’ नायक वह है जो कि एक नायिका के प्रेम में पगा रहा करता है ।

अभिप्राय यह है कि एक प्रेमिका के प्रति आसक्ति रखने वाला ही व्यक्ति ‘अनुकूल’ नायक कहा जा सकता है ।

यथा—

अस्माकं सखि ! वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयक नोज्ज्वलं,
नो वक्रा गतिरुद्धतं, न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः ।
किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो, नान्यतो
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

(४—‘शठ’ नायक)

—शठोऽयमेकत्र वद्धभावो यः ।

दर्शितवहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ॥ ३७ ॥

यः पुनरेकस्यामेव नायिकायां वद्धभावो द्वयोरपि नायिकयोर्वहिर्दर्शितानु-
रागोऽन्यस्यां नायिकायां गूढं विप्रियमाचरति स शठः ।

यथा—

‘शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा

यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।

जैसे कि यह नायक-चित्रण—

(किसी सुन्दरी की अपनी सखी के प्रति उक्ति)—‘भरी सखी ! मेरे कपड़े भी सुन्दर नहीं, गले का गहना भी साफ नहीं, चाल में भी अठखेलियां नहीं हूँ तो मैं भी कोई विचित्रता नहीं और न किसी प्रकार की कोई मस्ती ही है किन्तु तब भी जब कि लोग यह कहते-सुनते दिखायी देते हैं कि सुन्दर भी मेरा प्रेमी मुझे छोड़ और किसी सुन्दरी पर आँख तक नहीं उठाता, तब तो मुझे ऐसा ही लगता है जैसे मुझे छोड़ सारा संसार ही दुःख में डूबा है ।’

विमर्श—दशरूपककार ने ‘अनुकूल’ नायक को ‘एकनायिक’ अर्थात् ‘एकप्रेमिकानुरक्त’ कहा है । साहित्यदर्पणकार का ‘अनुकूल’-नायक-लक्षण वस्तुतः यही अभिप्राय रखता है । ‘अनुकूल’ नायक का अत्यन्त सुन्दर भावचित्र महाकवि भवभूति की इन पंक्तिओं में सिंचा है—

‘अद्वैत सुखदुःखयोरनुगत सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रस ।
कालेनाचरणास्यथात् परिणते यस्नेहसारे स्थितम्
भद्र तस्य सुमानुषस्य कथमप्येक हि तत्प्राप्यते ॥’

(उत्तररामचरित अङ्क ४)

अनुवाद—‘शठ’ नायक वह है जो कि वस्तुतः तो किसी दूसरी नायिका से प्रेम करे और अपनी पहली प्रेमिका से बाहरी प्रेम जताकर, छिपे छिपे उसका अनिष्ट किया करे ।

तात्पर्य यह है कि ‘शठ’ नायक का प्रेम-सम्बन्ध दो नायिकाओं से होना चाहिये । असली प्रेम-सम्बन्ध एक से और नकली दूसरी से । बाहर से तो इस प्रकार का नायक दोनों प्रेमिकाओं पर समान प्रेम दिखाया करता है किन्तु एक को हृदय से चाहने के कारण दूसरी का छिपकर अप्रिय करना ही इसका स्वभाव है । उदाहरण के लिये, यह नायक-चित्रण—

‘(नायिका की सखी की नायक के प्रति उक्ति)—अरे शठ ! तेरी कौन चलावे
तू तो मेरी सखी का आलिङ्गन करते हुये भी, अपनी प्रेयसी की करधनी की झंकार

तदेतत्काचने घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-

विपेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥'

(उपर्युक्त नायक-भेद-परिगणन)

एषां च त्रैविध्यादुत्तममध्याधमत्वेन ।

उक्ता नायकभेदाश्चत्वारिंशत्तथाऽष्टौ च ॥ ३८ ॥

एषामुक्तषोडशभेदानाम् ।

('नायक' के सहायक)

अथ प्रसङ्गादेतेषां सहायानाह—

दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु ।

किञ्चित्दुग्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्हाख्यः ॥ ३९ ॥

तस्य नायकस्य बहुव्यापिनि प्रसङ्गसंगते इतिवृत्तेऽनन्तरोक्तैर्नायकसामान्य-
गुणैः किञ्चिद्दूनः पीठमर्हनामा सहायो भवति । यथा—रामचन्द्रादीनां सुग्रीवादयः ।

सुनते ही, सहसा अपने हाथों को ढीला कर लेते हो ! और मेरी सखी ऐसी है जो कि तुम्हारी, बाहर से चिकनी-चुपड़ी किंतु भीतर से विप में बुझी, बातों में आकर प्रसन्नता से नाचती हुई उन्हें कुछ समझती ही नहीं ।'

विमर्श—यहाँ 'शठ' नायक का जैसा वर्णन है उसमें इस प्रकार के नायक के प्रेमी व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यञ्जना है । प्राचीन राजगण के अन्त पुर की लीलाओं और प्राचीन जनसमाज के प्रेम-जीवन की विशेषताओं के विस्मरण के ही आधार पर नाट्याचार्यों ने उपर्युक्त चतुर्विध शृंगारी नायकों का श्रेणी-विभाग और स्वरूप-विवेक किया है जिसमें कोई कल्पना नहीं अपितु एकमात्र वास्तविकता का ही झलक है ।

अनुवाद—इन उपर्युक्त नायकों में प्रत्येक के उत्तम, मध्यम और अधम रूप होने से, सब मिलाकर ४८ प्रकार के नायक गिनाये गये हैं ।

यहाँ 'एषाम्' 'इनके'-का अभिप्राय है उपर्युक्त १६ प्रकार के नायकों का क्योंकि तभी प्रत्येक के उत्तम-मध्यम-अधम रूप होने से ४८ नायक-भेद समझे-समझाये जा सकते हैं ।

'नायक'-निरूपण के प्रसङ्ग में उसके सहायकों का भी निरूपण आवश्यक है । इसलिये यहाँ नायक के सहायकों का निर्देश किया जा रहा है—

'जहाँ नायक का प्रासङ्गिक इतिवृत्त दूर तक चला करता है वहाँ उसका एक 'सहायक' भी चित्रित किया जाया करता है जो कि नायक की अपेक्षा न्यूनगुण का हुआ करता है । इस नायक सहायक को 'पीठमर्ह' कहा करते हैं ।'

यहाँ तात्पर्य यह है—काव्य अथवा नाट्य में आधिकारिक और प्रासङ्गिक दो प्रकार के इतिवृत्त रहा करते हैं । प्रासङ्गिक इतिवृत्त बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी । यदि प्रासङ्गिक वृत्त बड़ा हुआ तो नायक के साथ उसका सहायक भी अपेक्षित है । यह नायक का सहायक उपर्युक्त त्यागादि नायक-गुणों से युक्त तो अवश्य रहा करता है किन्तु नायक की अपेक्षा इसे न्यून-गुण का ही चित्रित किया जाया करता है । इसीलिये इसे 'पीठमर्ह'

(शृङ्गारी नायक के सहायक)

अथ शृङ्गारसहायाः—

शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः ।

भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः ॥ ४० ॥

आदिशब्दान्मालाकाररजकताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

('विट' कौन है ?)

तत्र विटः—

संभोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः ।

वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥ ४१ ॥

अर्थात् 'नायक के साथ उठने-बैठने वाला' कहा गया है । उदाहरण के लिये, कान्य अयवा नाट्य में, रामचन्द्र आदि नायकों के साथ जो सुग्रीव आदि चित्रित हैं वे सहायक अयवा 'पीठमर्द' के ही रूप में चित्रित हैं ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने जिसे 'नायक-सहायक' अथवा 'पीठमर्द' निर्दिष्ट किया है वही 'दशरूपक' में 'पताकानायक' बताया गया है—

'पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः' ।

तस्यैवानुचरो भक्त किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ॥' (दशरूपक, २ =)

वात वस्तुतः एक ही है । पताका का अभिप्राय प्रासङ्गिक व्यापक वृत्त का अभिप्राय है । प्रासङ्गिक वृत्त भी नायक के आधिकारिक वृत्त का ही निष्कर्ष है । इस प्रकार प्रासङ्गिक व्यापक वृत्त में जो नायक का 'सहायक' अथवा 'पताकानायक' हुआ करता है उसे ही 'पीठमर्द' कहते हैं ।

अनुवाद—शृङ्गार प्रबन्ध के नायकों के सहायक और प्रकार के हुआ करते हैं और यहाँ उनका निर्देश किया जा रहा है—

'विट, चेट, विदूषक आदि-आदि वे 'सहायक' हैं जो कि शृङ्गारी नायक के सहायक हुआ करते हैं । ये सहायक स्वामिभक्त हुआ करते हैं, नर्मनिपुण हुआ करते हैं, मानिनी नायिका के मनाने में चतुर हुआ करते हैं और साथ ही साथ सचरित्र हुआ करते हैं ।

यहाँ ('विटचेटविदूषकाद्याः' में) आदि शब्द से माली, धोबी, तमोली, गन्धी आदि-आदि को भी 'सहायक' रूप में माना गया है ।

शृङ्गारी नायक के सहायकों में 'विट' वह है—'जो कि वैषयिक सुख-भोग में अपनी धन-सम्पत्ति छुटा चुका हो, धूर्त हो, कतिपय कलाओं में निपुण हो, वेशोपचारचतुर हो बातचीत में कुशल हो, स्वभाव का मधुर हो और जिसकी गोष्ठी में बड़ी पूछ हो ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'विट' का स्वरूप-निर्देश यह है—

वेशोपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कवि ।

उद्धारोद्दामो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥ (नाट्यशास्त्र ३५ ५५)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विट' के लिये 'संभोगहीनसंपत्' होना आवश्यक नहीं । साहित्यदर्पणकार ने 'विट' को 'संभोगहीनसंपत्' इसीलिये कहा है क्योंकि बिना ऐसा हुये वह शृङ्गारी नायक के सहायक क्योंकिर होने लगा ।

('चेट' कौन है ?)

चेटः प्रसिद्ध एव ।

('विदूषक'-लक्षण)

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभापाद्यैः ।

हास्यकरः कलहरतिविदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ॥ ४२ ॥

स्वकर्म हास्यादि ।

(नायक के अर्थ-सहायक)

अर्थचिन्तने सहायमाह—

मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायां—

अर्थास्तन्त्रावापादयः ।

यत्त्वत्र सहायकथनप्रस्तावे—'मन्त्री स्वं चोभयं वापि सखा तस्यार्थ-चिन्तने' इति केनचिद्वक्षणं कृतम्, तदपि राज्ञोऽर्थचिन्तनोपायलक्षणप्रकरणे लक्षयितव्यम्, न तु सहायकथनप्रकरणे ।

अनुवाद—'चेट' कौन है इसे तो सभी लोग जानते हैं ।

विमर्श—'चेट' की परिभाषा नाट्यशास्त्र में यह है—

'कलहप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः ।

मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेतोऽप्येवविधः स्मृतः ॥ (नाट्यशास्त्र ३५ ५८)

अनुवाद—'विदूषक' वह हुआ करता है जिसका नाम किसी फूल अथवा वसन्त आदि पर रखा जाया करता है, जिसमें अपने कर्म, अपने शरीर, अपनी वेश-भूषा और अपनी बोल-चाल आदि के द्वारा औरों को हँसाने की क्षमता रहा करती है, जिसे दूसरों से झगड़ने में आनन्द मिला करता है और जो कि अपने विदूषण-कार्य में कुशल हुआ करता है ।

यहां 'स्वकर्म'—'अपने कर्म' का अभिप्राय हास-परिहास आदि 'विदूषण'—'हँसोड़पन'—के कार्यों का है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'विदूषक' का यह चित्र खींचा गया है—

'वामनो दन्तुरः कुञ्जो द्विजिह्वो विकृताननः ।

खलति पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥' (नाट्यशास्त्र, ३५ ५७)

जिसमें विदूषण-सम्बन्धी शारीरिक, वाचिक किं वा मानसिक क्रियाओं का समावेश स्पष्ट प्रतीत होता है । संस्कृत के नाटकों में शृङ्गारी नायक के उपर्युक्त सहायकों का यत्र-तत्र चित्रण किया हुआ है । उदाहरण के लिये, कालिदास के 'अभिषेक शकुन्तल' में 'विदूषक' शूद्रक के मृच्छकटिक में 'विट', भवभूति के मालतीमाधव में 'चेट' शृङ्गार-सहायक के रूप में ही उपस्थित किये गये हैं ।

अनुवाद—नायक के अर्थ-चिन्तन में जो सहायक हुआ करता है उसे 'मन्त्री' कहा करते हैं ।

यहां 'अर्थ' का अभिप्राय तन्त्र=स्वराष्ट्रसम्बन्धी कृत्य और आवाप=परराष्ट्र सम्बन्धी व्यवहार का है ।

शृङ्गारी नायक के अर्थ-सहायक का निरूपण करते हुये किसी ने (दशरूपककार ने) जो यह कहा है कि 'नायक के अर्थचिन्तन में स्वयं राजा अथवा केवल मन्त्री अथवा राजा

‘नायकस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः’ इत्युक्तेऽपि नायकस्यार्थत एव सिद्धत्वात्।
यदप्युक्तम्—‘मन्त्रिणां ललितः शेषा मन्त्रिणायत्तसिद्धयः’ इति, तदपि
स्वलक्षणकथनेनैव लक्षितस्य धीरललितस्य मन्त्रिमात्राय चार्थचिन्तनोपपत्तेर्ग-
तार्थम्। न चार्थचिन्तने तस्य मन्त्री सहायः, किं तु स्वयमेव संपादकः;
तस्यार्थचिन्तनाद्यभावात्।

(नायक के अन्तःपुर के सहायक)

अथान्तःपुरसहायः—

—तद्वदवरोधे।

और मन्त्री दोनों (सखा) ‘सहायक’ हुआ करते हैं, वह वस्तुतः राजा के अर्थ-चिन्तन के
उपाय-निरूपण के प्रसंग में कहा जाना चाहिये या न कि (नायक के) सहायक के
निरूपण-प्रसङ्ग में। (क्योंकि स्वयं राजा अपने अर्थ चिन्तन का ‘सहायक’ क्योंकर होने
लगा ! स्वयं मला कोई क्योंकर अपना सहायक हो जाय !) यहां यदि यह कहा जाय
कि ‘तस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः’ (सखा) का अभिप्राय ‘उस (राजा) के अर्थ-चिन्तन
में मन्त्री सहायक है’—यह हुआ करता है तब भी ‘तस्य’ पद निरर्थक हो जाता है क्योंकि
पहले ही जब कि ‘स्व’ (राजा) का निर्देश हो चुका है तब ‘तस्य’ अर्थात् ‘नायक’ का
अभिप्राय तो अर्थ द्वारा ही आक्षिप्त हो जायगा, शब्दतः इसके उपादान की क्या
आवश्यकता ? (तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त नायक-सहायक-लक्षण में या तो ‘स्वयम्’ पद
निरर्थक है या वस्तुतः यह लक्षण नायक के अर्थ-चिन्तन के सहायक (सखा) का नहीं
अपितु उसके अर्थ-चिन्तन के उपाय (सखा) का है।)

इसके अतिरिक्त जो किसी का (दशरूपककार का ही) यह कथन है कि ‘धीरललित
नायक तो ‘मन्त्र्यायत्तसिद्धि’ हुआ करता है और अन्य नायक ‘उभयायत्तसिद्धि’ हैं’ वह भी
निरर्थक ही है क्योंकि जब कि ‘धीरललित’ नायक का लक्षण ही यह है कि वह ‘निश्चिन्त
(‘सचिवादि विहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहित’—दशरूपक २. ३) हुआ करता है, तब पुन
‘धीरललित’ को ‘सचिवायत्तसिद्धि’ (दशरूपक २. ४३) कहना अथवा उसके सहायक
के रूप में ‘सचिवादि’ का निर्देश किस काम का ? ‘धीरललित’ नायक तो सदा अर्थ-
चिन्तन से निश्चिन्त रहा करता है, उसके लिये ‘मन्त्री’ को अर्थ-चिन्तन का एक मा-
सम्पादक कहा जा सकता है न कि सहायक।

विमर्श—यहां साहित्यदर्पणकार ने दशरूपककार की जो आलोचना की है वह वस्तुतः
शुक्तियुक्त है। नाट्यशास्त्रकारों के सामने नायकरूप में राजगण ही विशेषतया आते हैं। प्राची
राजतन्त्र की गतिविधि का अवलोकन करते हुये नाट्यशास्त्रकारों ने नायक के धर्मसहायक, अ-
सहायक, कामसहायक आदि-आदि का लक्षण-निरूपण किया है। नाट्यशास्त्र में ‘धीरललित
नायक की कल्पना राजशास्त्र में ‘सचिवायत्तसिद्धि’ राजगण की कल्पना पर अवलम्बित है
शृङ्गाररस का एक प्रकार का अभिव्यञ्जन ‘धीरललित’ नायक के चरित-चित्रण के आधार प
किया गया है। इस नायकचरित में ‘राज्य चिन्ता से निश्चिन्तता’ की विशेषता स्वामाविक है
इस दृष्टि से यहां विद्वनाथ कविराज ने जो आलोचना की है वह सर्वथा सगत है।

अनुवाद—अब नायक के अन्तःपुर (रनवास) के जो ‘सहायक’ हुआ करते हैं उनका
निर्देश किया जा रहा है—

वामनपण्डकिरातस्लेच्छामीराः शकारकुब्जाद्याः ॥ ४३ ॥

मदमूर्खताभिमाना दुष्कुलतैश्चर्यसंयुक्तः ।

सौम्यमनूढाभ्राता राज्ञः, श्यालः शकार इत्युक्तः ॥ ४४ ॥

आद्यशब्दान्मूकादयः । तत्र पण्डवामनकिरातकुब्जादयो यथा रत्नावल्याम्-

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा-

मन्तःकञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं

कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरास्मेक्षणाशङ्किनः ॥

शकारो मृच्छकटिकादिषु प्रसिद्धः । अन्येऽपि यथादर्शनं ज्ञातव्याः ।

(नायक के दण्ड-सहायक)

अथ दण्डसहायाः—

जैसे नायक के अर्थ-सहायक हुआ करते हैं वैसे ही उसके काम-सहायक भी हुआ करते हैं जो कि 'अन्तःपुर-सहायक' कहे जाया करते हैं । ये अन्तःपुर-सहायक वामन (वौने), पण्ड (जनखे), किरात (नीच जाति के), स्लेच्छ (जगली), आभीर (अहिर) शकार, कुब्ज (कुचड़े) आदि-आदि माने गये हैं । इनमें 'शकार' वह है जो शरावी हो, मूर्ख हो, घमण्डी हो, नीच कुल का हो, धन संपन्न हो और राजा की अनूढा प्रेमिका का भाई हो जिसे, सब लोग 'श्यालक' (साला) कह कर पुकारा करें ।

यहाँ 'शकारकुब्जाद्याः' में 'आदि' शब्द का प्रयोग इसीलिये किया गया है जिसमें शकार और कुब्ज के अतिरिक्त मूक (गूने) आदि का भी अन्तःपुर-सहायकों में परिगणन किया जाय ।

उदाहरण के लिये, जनखे, वौने, कुचड़े आदि का 'रत्नावली' में यह चित्रण—

'ये रहे जनखे लोग, जो कि पुरुषों में न गिने जाने से, निर्लज्ज होकर खिसक पड़े, ये रहे वौने, जो कि डर के मारे कञ्चुकियों के अंगरखों के भीतर घुस पड़े, ये रहे किरात, जो कि इधर उधर [कोने-कूचों में घुसे अपने नाम को सार्थक कर रहे हैं और ये कुचड़े ! ये तो लोगों की आंख बचाने के लिये चुपके से हुचकते कहीं और निकल पड़े ।'

वस्तुतः नायक के अन्तःपुर सहायकों का ही चित्रण है ।

इसी प्रकार 'मृच्छकटिक' आदि में 'शकार' का चित्रण भी नायक के अन्तःपुर-परिवार का ही चित्रण है । स्लेच्छ, आभीर आदि-आदि अन्तःपुर-सहाय का जिस नाटक में हों, वहाँ स्वयं पहचान लिये जा सकते हैं ।

विमर्श—नाट्याचार्यों के अनुसार नायक के 'परिच्छद'-'परिवार' का चित्रण आवश्यक है ।

विट्, चेट्, विदूषक आदि प्राचीन भारतीय राजदरबारों में 'राजपरिच्छद' रूप में रहते आये हैं ।

नाटककार शम 'राज परिच्छद' को उद्दीपन-विभाव के रूप में चित्रित करते रहे हैं । नाट्यवेदी आचार्य शनलिये इस 'राज-परिच्छद' की परिभाषा करते आये हैं । साहित्यदर्पणकार के युग में इस 'राज-परिच्छद' की परम्परा अक्षुण्ण रही है । इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने इसका यहाँ निरूपण किया है ।

अनुवाद—अब नायक के दण्ड-सहायकों का निरूपण किया जा रहा है—

दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाद्याश्च ।

दुष्टनिग्रहो दण्डः । स्पष्टम् ।

(नायक के धर्म-सहायक)

ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्म ॥ ४५ ॥

ब्रह्मविदो वेदविदः, आत्मविदो वा ।

(उपर्युक्त सहायकों में उत्तमाधम-मध्यम-व्यवस्था)

अत्र च—

उत्तमाः पीठमर्दाद्याः—

आद्यशब्दान्मन्त्रिपुरोहितादयः ।

—मध्यौ विटविदूपकौ ।

तथा शकारचेटाद्या अधमा परिकीर्तिताः ॥ ४६ ॥

आद्यशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

मित्र, राजकुमार, आटविक, सामन्त (करद राजगण) सैनिक आदि-आदि नायक के दण्ड-सहायक हुआ करने हैं ।

यहाँ 'दण्ड' का अभिप्राय 'दुष्टनिग्रह'—'दुष्टों के दमन' का है । मित्र, राजकुमार आ का स्वरूप-निर्देश आवश्यक नहीं क्योंकि इसे सभी जानते हैं ।

विमर्श—दशरूपककार ने 'नायक' के दण्ड-सहायकों का यही निरूपण किया है—

'सुहृत्कुमाराटविका' दण्डे सामन्तसैनिका ।' (दशरूपक २ ४४)

अनुवाद—इसी प्रकार नायक के धर्म-सहायक हुआ करते हैं । इन धर्म-सहायकों याज्ञिक, पुरोहित, वेदवित् (अथवा आत्मतत्त्ववित्) और तपस्वी लोग हुआ करते हैं यहाँ 'ब्रह्मविदः' का अभिप्राय 'वेद के जानने वालों' अथवा 'आत्मतत्त्व के जा वालों' का है ।

इन उपर्युक्त नायक-सहायकों में 'उत्तम' वे हैं जिन्हें 'पीठमर्द' आदि कहा गया । यहाँ 'पीठमर्दाद्या' में आदि शब्द से मन्त्री, पुरोहित आदि का ग्रहण वि जाना चाहिये । जिन्हें 'मध्यम' माना जाया करता है उनमें 'विट' और 'विदूपक' स्थान है । और शकार, चेट आदि 'अधम'-सहायक कहे जाते हैं ।

यहाँ 'शकारचेटाद्या' में आदि शब्द से 'ताम्बूलिक' (पान देने वाले) २ 'गान्धिक' (इध्र देने वाले) आदि आदि का ग्रहण किया जाता है ।

विमर्श—दशरूपककार ने भी नायक के सहायकों में यही उत्तमाधम-मध्यम-व्यवस्था निर्दिष्ट की है—

'ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ।

तारतम्याद् यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ॥'

एव प्रागुक्तानां नायक-नायिका-दूत-दूती-मन्त्रि-पुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधम-भावेन त्रिरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयादिभावेन किं तर्हि गुणातिशय-तारतम्येन ।' (दशरूपक २ ४५)

(नायक के दूत)

अथ प्रसङ्गाद्दूतानां विभागगर्भलक्षणमाह—

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः ।

कार्यप्रेष्यत्विधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधाः ॥ ४७ ॥

तत्र कार्यप्रेष्यो दूत इति लक्षणम् ।

(दूत-भेद-निरूपण)

तत्र—

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।

सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥४८॥

उभयोरिति येन प्रेषितो यदन्तिके प्रेषितश्च ।

मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारी मितार्थकः ।

यावद्भाषितसंदेशहारः संदेशहारकः ॥ ४९ ॥

अनुवाद—नायक के सहायक-निरूपण के प्रसङ्ग में 'दूत' और उसके स्वरूप और प्रकार का निरूपण यहाँ किया जा रहा है (क्योंकि 'दूत' भी नायक का सहायक हुआ करता है)—

'दूत' उसे कहते हैं जिसे विविध कार्यों के लिये जहाँ-तहाँ भेजा जाया करता है । 'दूत' तीन प्रकार के होते हैं—(१) निसृष्टार्थ, (२) मितार्थ और (३) संदेशहारक । 'दूत' की भाँति दूतियाँ भी हुआ करती हैं ।

यहाँ 'दूत' का लक्षण 'निसृष्टार्थ' आदि नहीं अपितु केवल 'कार्यप्रेष्य' है क्योंकि 'निसृष्टार्थ' आदि दूत के भेद हैं ।

नायक के दूतों में 'निसृष्टार्थ' दूत वह है—'जो कि दोनों के मन की बात जानकर स्वयं ही सभी प्रश्नों का समाधान किया करता है और जो भी कार्य हो उसे समीचीन-तया सम्पादित कर सकता है ।'

यहाँ 'उभयोः'—'दोनों' का अभिप्राय है—उसके जिसका वह दूत हो और उसके भी जिसके पास वह दूत-कर्म से भेजा गया हो ।

'मितार्थ' दूत वह हुआ करता है जो कि बात तो थोड़ी करे किन्तु जिस कार्य के लिये भेजा गया हो उसे अवश्य सिद्ध कर लाय । तीसरे प्रकार का दूत अर्थात् 'संदेश-हारक' दूत उसे कहते हैं जो कि उतनी ही बात करे जितनी उसे बताया गयी हो ।

विमर्श—नाट्य शास्त्र में भी 'दूत' और 'दूती' का प्रसंग आता है किन्तु वहाँ काव्य-नाट्य में उपनिबद्ध अथवा उपनिबन्धन-योग्य 'दूत' और 'दूती' का निरूपण है । यहाँ साहित्यदर्पणकार ने राजशास्र में प्रतिपादित दूत-स्वरूप का विवेचन किया है । सत्कृत के काव्य-नाट्य-साहित्य में दूत और दूती का यत्र-तत्र चित्रा किया मिलता है । इस चित्रण के आधार पर नाट्य शास्त्रकारों अथवा अलंकार-शास्त्रकारों ने दूत और दूती के स्वरूप का निर्धारण किया है । काव्य नाट्य में उपनिबद्ध दूत और दूती के कार्य राजशास्र में निर्दिष्ट दूत कर्म की ही भाँति हैं । इसलिये साहित्यदर्पणकार का यह दूत-निरूपण सगत है न कि असंगत ।

(नायक के सात्त्विक गुण)

अथ सात्त्विकनायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यं तेजसी ।

ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥ ५० ॥

(१—शोभा)

तत्र—

शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता ।

नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां विदुः ॥ ५१ ॥

तत्रानुरागिता यथा—

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वैः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।

उदघेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥

एवमन्यदपि ।

(२—विलास)

अथ विलासः—

अनुवाद—अथ नायक के सात्त्विक गुणों का निरूपण किया जा रहा है—

नायक के वे पौरुष गुण जिन्हें 'सात्त्विक' गुण कहा करते हैं आठ हैं, जैसे कि—

(१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) गाम्भीर्य, (५) धैर्य, (६) तेज (७) ललित और (८) औदार्य ।

इन सात्त्विक गुणों में नायक के व्यक्तित्व की 'शोभा' का अभिप्राय है—उस विषय का जिसके कारण वह वीरता, कुशलता, सत्यवादिता, सत्याचरण, महान् उत्साह, अनुरागिता और छोटों पर दया किंवा बड़ों के साथ प्रतिस्पर्धा प्रकाशित किया करना है ।

उदाहरण के लिये 'अनुरागिता' के भाव की जननी 'शोभा' का यह प्रकाशन (रसवशः अजवर्णन)—

‘जिसके सम्बन्ध में, प्रकृति-वर्ग में प्रत्येक यही सोचता रहा कि वही महाराज (अज) का सबसे बड़ा स्नेहभाजन है और जिसका किसी के प्रति भी कोई अनादर भाव उस प्रकार न दिखाई पड़ा जिस प्रकार सरित्पति (समुद्र) का अनादर भाव किसी भी छोटे बड़ी नदी के साथ कदापि नहीं दिखायी दिया करता ।’

इसी भाँति शूरता, दक्षता आदि गुणों की आविष्कार भूमि 'शोभा' के उदाहरण स्व दृष्टे जा सकते हैं ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने 'शोभा' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

‘वाच्यं शौर्यमथोत्साहो नीचार्थेषु सुगुप्सन्म ।

उत्तमैश्च गुणैः स्पर्धा यतः शोभेति सा स्मृता ॥’

(नाट्यशास्त्र २४ ३२)

जिसके अनुसार 'शोभा' को दक्षता, शूरता आदि सभी पौरुष गुणों की जननी रूप में देखा जा सकता है ।

अनुवाद—'विलास' का अभिप्राय है—

धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः ।

यथा—

दृष्टिस्तृणीकृतजगन्मयसत्त्वसारा

धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।

कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो

वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥

(३—माधुर्य)

संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितम् ॥ ५२ ॥

उल्लसुदाहरणम् ।

(४—गाम्भीर्य)

भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता ।

नायक की उस सात्विक विशेषता का, जिसके कारण उसकी दृष्टि में धीरता, चाल में विचित्रता और बोलचाल में मन्दहास की छटा छिटका करती है ।

जैसे कि (उत्तररामचरित में कुश के 'विलास' का चित्रण)—

'ओह ! क्या यही कुमार कुश है—इसकी दृष्टि ऐसी, जिसके आगे त्रिभुवन का उत्साह-संचय तिनके की भांति नगण्य है, इसकी चाल की मस्ती ऐसी, जिससे पृथिवी नीचे झुक रही है और इसकी कुमारावस्था की गंभीरता ऐसी, जो पर्वत की गंभीरता की बराबरी कर रही है । ओह ! यह तो ऐसा लगता है मानो साक्षात् वीररस अथवा मूर्तिमान अभिमान चल-फिर रहा हो ।'

विमर्श—'विलास' की परिभाषा नाट्यशास्त्र में इस प्रकार है—

'स्थिरसञ्चारिणी दृष्टिर्गतिर्गोवृपभाञ्जिता ।

स्मितपूर्वं तथा वाचो विलास इति कीर्तितः ॥ (नाट्यशास्त्र २४-३३)

अनुवाद—'माधुर्य' कहते हैं मनःक्षोभ के कारणों के रहते हुये भी मन की सुस्थता और शान्ति को ।

इसका उदाहरण यत्र २ स्वयं देखा जा सकता है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने 'माधुर्य' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'अभ्यासान् करणानां तु श्लिष्टत्वं यत्र जायते ।

महत्स्वपि विकारेषु तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥ (नाट्यशास्त्र २४.३४)

'माधुर्य' की अभिव्यक्ति महाकवि भवभूति के इस राम-चित्रण में स्पष्ट है—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तघुतिमुपि

स्मरस्मेरं गण्डोद्गमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।

मुहुः पश्यन् शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं

जटाजूटग्रन्थि द्रव्यति रघूणां परिवृढः ॥'

अनुवाद—'गाम्भीर्य' उस सात्विक पौरुष-गुण का नाम है जिसे भय, शोक, क्रोध, हर्ष आदि २ भावावेशों में आकृति की निर्विकारता कहा करते हैं ।

यथा—

आहूतस्याभिपेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।

न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

(५—धैर्य)

व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि ॥ ५३ ॥

यथा—

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।

आत्मेस्वराणां न हि जातु विन्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥

(६—तेज, ७—ललित और ८—औदार्य)

अधिचेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् ।

प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥ ५४ ॥

वाग्वेशयोर्मधुरता, तद्वच्छृङ्गारचेष्टितं ललितम् ।

दानं सप्रियभाषणमौदार्यं शत्रुमित्रयोः समता ॥ ५५ ॥

उदाहरण के लिये (राम के) 'गाम्भीर्य' का यह अभिव्यञ्जन—

'राम को राज्याभिषेक के लिये बुलाया गया और वनवास के लिये भी भेजा गया किन्तु न तो पहले ही उनकी आकृति में कोई विकार दिखाई पड़ा और न बाद में ही ।'

विमर्श—भरतसुनि ने 'गाम्भीर्य' की यह परिभाषा की है—

'यस्य प्रभावादाकारा रोपहर्षभयादिषु ।

भावेषु नोपलभ्यन्ते गाम्भीर्यमिति शसितम् ॥ (नाट्यशास्त्र २४ ३६)

अनुवाद—'धैर्य' वह सात्त्विक गुण है जिसे बड़े बड़े विघ्नों के पड़ने पर भी, 'कर्त्तव्य' निश्चय से विचलित न होना' कहा करते हैं ।

उदाहरण के लिये (कुमारसंभव में महाकवि कालिदास द्वारा चित्रित महादेव-धैर्य)—

'अप्सरारों के मादक सगीत सुनते हुये भी महादेव समाधि लगाये बैठे रहे । धैर्य के धनी हों, उनकी समाधि, भला विघ्नों से क्योंकर टूटने लगी ?'

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'धैर्य' को 'स्थैर्य' कहा गया है जिसका लक्षण यह है—

'धर्मार्थकामसंयुक्ताच्छुभाशुभसमुत्थितात् ।

व्यवसायादचलनं स्थैर्यमित्यभिधीयते ॥' (नाट्यशास्त्र २४ ३५)

यहां यह स्पष्ट है कि 'कर्त्तव्यनिश्चय से विचलित न होना' ही धैर्य अथवा स्थैर्य का स्वरूप

अनुवाद—'तेज' वह सार्विक पौरुष गुण है जिसे किसी दूसरे के द्वारा किये 'आचेप अथवा अपमान का, प्राण सकट पड़ने पर भी, सहन न करना' कहा गया 'ललित' वह नायक-गुण है जिसे बोल-चाल, वेश-भूषा किंवा प्रेम-लीला में 'माधुर्य' गया है । और 'औदार्य' उस नायक-गुण का नाम है जिसे प्रियभाषणपूर्वक दान । और मित्र के प्रति समदर्शिता का व्यवहार कहा जाया करता है ।

एषामुदाहरणान्यूहानि ।

(नायिका-निरूपण)

अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति ।

नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता ॥५६ ॥

नायिका पुनर्नायकसामान्यगुणैस्त्यागादिभिर्यथासम्भवैर्युक्ता भवति । सा च स्वस्त्री अन्यस्त्री साधारणस्त्रीति त्रिविधा ।

इन गुणों के उदाहरण (काव्य-नाट्य-साहित्य में) स्वयं बूढ़े जा सकते हैं ।

विमर्श (क)—नाट्यशास्त्र में तेज, ललित और औदार्य की यह परिभाषा दी गयी है—

तेज—अधिचेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् ।

प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेज समुदाहृतम् ॥

यद्वा यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने नाट्यशास्त्र के ही लक्षण को उद्धृत कर दिया है ।

ललित—अबुद्धिपूर्वकं यत्तु सुकुमारस्वभावजम् ।

शृङ्गाराकारचेष्टत्वं ललितं तत् प्रकीर्तितम् ॥

औदार्य—दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम् ।

स्वजने वा परे वापि तदौदार्यमिति स्मृतम् ॥

(नाट्यशास्त्र २४, ३९, ३७, ३८)

(ख) भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में शोभा आदि का जो निरूपण है वह 'सात्त्विक-अभिनय' के प्रसंग में है । सात्त्विक अभिनय के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यही अभिनय-प्रकार सर्वश्रेष्ठ अभिनय हुआ करता है—'सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते ।' (नाट्यशास्त्र २२ : २) । अभिनवमारतीकार आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—

'सात्त्विकाभावे हि अभिनयक्रिया नामापि नोन्मीलति । अभिनयन हि चित्तवृत्तिसाधारणतापत्तिप्राणसाक्षात्कारकरुपाध्यवसायसंपादनम् , अत एवोक्त—'सत्त्वे नाट्य प्रतिष्ठित-मिति'—(अभिनवभारती, भाग ३, पृष्ठ १५०, वडौदा सम्करण)

अर्थात् जिसे 'अभिनय' कहते हैं वह तो वस्तुतः सात्त्विक अभिनय ही है न कि आदिक अथवा वाचिक अथवा आहार्य । 'नट अभिनय करता है'—इमका अर्थ यही है कि नट की चित्तवृत्ति रामादिनायकों की चित्तवृत्ति ने एकरस-एकरूप हो चुकी है और उसके कार्यकलाप के दर्शन करने वालों को रामादि नायकों के कार्यकलाप का दर्शन हो रहा है ।

सात्त्विक अभिनय के निरूपण में स्त्रीगण और पुरुषगण सत्त्वभेदों का निरूपण स्वाभाविक है । स्त्रीगण सत्त्वभेद तो हाव भाव हेला आदि को कहा गया है और पुरुषगण सत्त्वभेद, शोभा-विलास-नाधुर्य आदि को । ये सभी सात्त्विक गुण स्त्री और पुरुष के शरीर-विकार से सम्बन्ध रखते हैं ।

अनुवाद—'नायिका' तीन प्रकार की हुआ करती है—(१) स्वीया, (२) अन्या (अथवा परकीया) और (३) सामान्या ।

रस के आलम्बन रूप से काव्य-नाट्य में उपस्थापित 'नायिका' में भी 'नायक' के ही त्याग, धार्जव आदि सामान्यगुण यथासंभव उपनिबद्ध किये जाये करते हैं । 'नायिका' के स्वस्त्री (स्वीया), अन्यस्त्री (परकीया) और साधारणस्त्री (सामान्या)—ये तीन भेद पाये जाते हैं ।

(स्वीया नायिका-निरूपण)

तत्र स्वस्त्री—

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया ।

यथा—

‘लज्जापञ्जत्तपसाहणाई परभक्तिणिप्पिवासाइं ।

अविणअदुस्मेधाइं धरणाण घरे कलत्ताइ ॥

(लज्जापर्याप्तप्रसावनानि परभर्तृनिष्पिपासानि ।

अविचयदुर्मेधानि घन्यानां गृहे कलत्राणि ॥)

(स्वीया नायिका भेद-निर्देश)

साऽपि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति ।

(१—मुग्धानायिका)

तत्र—

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा ।

अनुवाद—इन नायिकाओं में ‘स्वस्त्री’ अथवा ‘स्वीया’ नायिका का यह स्वस्त्री, जिसमें नम्रता और सरलता आदि गुण रहा करते हैं, जो गृहस्था रहती है और पतिव्रता हुआ करती है, ‘स्वीया’ नायिका मानी जाया क उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति में जो नायिका-चित्रण है वह स्वीया-चित्रण ‘कुछ विरले ही ऐसे भाग्यशाली लोग हुआ करते हैं जिनकी पत्निया’ अपना लज्जा को ही अपना एकमात्र अलङ्कार माना करती हैं, अपने हृदय में दूसरों के प्रेम की प्यास नहीं रखा करती और अपने व्यवहार में किसी प्रभविनय (अनाचार) का किञ्चिन्मात्र भी परिचय नहीं दिया करतीं ।’

विमर्श—संस्कृत काव्य-साहित्य में नायिका-चित्रण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। रिकों ने कवियों और नाटककारों द्वारा चित्रित नायिकाओं के स्वरूप और प्रकार विवेचन किया है । काव्य-साहित्य में ‘स्वीया’ नायिका का चित्रण वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार किया गया है । ‘स्वीया’-चित्र में रतिभाव की बड़ी मर्मस्पर्शी किंवा मधुर हुई है । ‘स्वीया’-चित्र का उद्देश्य रसास्वाद के साथ-साथ सरसोपदेश है । प्रेम व की झाकिया स्वीया-नायिका के स्वरूपोन्मूलन में दिखायी देती हैं ।

स्वीया-वर्णन यदि कवियों और नाटककारों की आदर्शवादिता का संकेत परकीया किंवा सामान्या नायिकाओं का वर्णन उनकी यथार्थवादिता का पर्याप्त प्रमाण किंवा यथार्थ की प्रवृत्तियां संस्कृत काव्य-साहित्य में परस्पर विरुद्ध नहीं अपि तु । पूरक मानी गयी हैं । तभी तो कहा गया है—

‘अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापतिः ।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेव परिवर्तते ॥’

अनुवाद—स्वीया नायिका भी तीन प्रकार की हुआ करती है—(१) मुग्धा और (२) प्रगल्भा ।

अनुवाद—इन स्वीया नायिकाओं में, वह नायिका ‘मुग्धा’ मानी ३

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥ ५८ ॥

तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम्—

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता

दूरं यात्युदरं च रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति ।

कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-

दङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः ॥

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिणये—

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात् ,

नोद्दामं हसति क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि,

किञ्चिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भापते,

सभ्रुभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ॥

रतौ वामा यथा—

‘दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नालापमाभाषिता,

शय्यायां परिवृत्त्य तिष्ठति, बलादालिङ्गिता वेपते ।

निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनाग्निर्गन्तुमेवेहते,

जाता वामतयैव संप्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥’

जिसके शरीर में यौवन अवतरित हो चुका हो, जिसके मन में काम का उन्मेष प्रारम्भ हो रहा हो, जिसे रतिलीला में शिक्षक होती हो, जिसका प्रणयकोप कोमलता लिये हो और जो अपनी लज्जाशीलता के कारण प्रेम-प्रकाशन में विवश रहा करे ।

जैसे कि (१) ‘प्रथमावतीर्णयौवना’ मुग्धा का यह चित्र, जिसे हमारे ही पूज्य पितृचरण ने खींचा है—

‘इस सुन्दरी के हृदय-देश पर कामदेव का नया-नया राज्याभिषेक क्या हुआ, इसके शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग फूले न समाते, एक दूसरे की सुन्दरता की छीना-झपटी मचाने लगे-नितम्ब ने कटिभाग की स्थूलता छीन ली; उदरदेश के हाथ स्तनों की मन्दता आ गयी और नाभिदेश की रोमावली ने दौड़ मचाकर नेत्रों का सीधापन ले लिया ।’

अथवा जैसे कि (२) ‘प्रथमावतीर्णमदनविकारा’ मुग्धा का यह वर्णन जो कि मेरी ही रचना ‘प्रभावतीपरिणय’ में किया हुआ है—

‘यह (प्रभावती) धीरे-धीरे पृथिवी पर अलसाये से पैर रखा करती है, कभी अन्तःपुर से बाहर निकलती नहीं दीप्त पड़ती; खिलखिला कर हँसना भी नहीं चाहती, अचानक ही एक विचित्र लज्जा के विवश हो जाया करती है, कभी बोलती है तो एक विचित्र भाव भरे और वक्रता लिये ढग से कुछ थोड़ा सा बोल पड़ती है और यदि उसकी सखी उसके प्रियतम के सम्बन्ध की कोई चर्चा करे तब तो उसकी भी हँ चढ़ी आखें उस (सखी) पर ऐसी गड़ती हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता ।’

अथवा जैसे कि (३) ‘रतिवामा’ मुग्धा का यह निरूपण—

‘अरे मित्र ! मेरी नवोढा प्रेयसी देखने पर आँखें नीची कर लेती है, बोलने पर मुँह नहीं खोलती, शय्या पर साथ लेटने पर मुँह फेर लेती है, किसी प्रकार बाहुपाश में जकड़ी जाने पर कांपने लगती है और जैसे ही सखियां शयनगृह से निकलें, वैसे ही बाहर

माने मृदुर्यथा—

‘सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्संसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥

समधिकलज्जावती यथा—

‘दत्ते सालसमन्थरम्—’ इत्यत्र (११३ पृ०) श्लोके ।

अत्र समधिकलज्जावतीत्वेनापि लब्धाया रतिवामताया विच्छित्तिविशेष
वत्तया पुनः कथनम् ।

निकल जाने पर तुल जाती है । घस, उसकी यह वामता (उलटी-पुलटी बात) में
मुझे अब बड़ी प्यारी लगती है ।’

अथवा, जैसे कि ‘मृदुमानवती’ मुग्धा का यह चित्रण—

‘यह सुन्दरी तो ऐसी है जिसे घिना किसी सखी के सिखाये यह भी नहीं आता कि
कैसे किसी प्रमापराध में पति पर हावभाव-पूर्वक मुँह फेरा जाय अथवा ज्यङ्गघ्राण
चलाये जाय । यह तो इतनी भोली भाली है कि चारों ओर अपने नयनकमलों के
घुमाती, कपोलफलक पर गिरते किंचा केशपाश में उलझते, मोती के समान, आंसुओं
को गिराती, घस, रोना भर जानती है ।’

अथवा, जैसे कि ‘समधिकलज्जावती’ मुग्धा का वर्णन, जो कि ‘दत्ते सालसमन्थरम्
इत्यादि पूर्वोदाहृत श्लोक में स्पष्ट है ।

यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि ‘समधिकलज्जालुता’ भी ‘रतिवामता’ में
अन्तर्भूत है (और इसलिये ‘रतिवामता’ के निरूपण में ही ‘समधिकलज्जावती’ का
निरूपण हो चुका है) किन्तु तब भी दोनों का पृथक्-पृथक् निरूपण आवश्यक है क्योंकि
दोनों में कुछ न कुछ अपना-अपना चमत्कार तो स्पष्ट ही दृष्टिगत होता है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने ‘मुग्धा’ नायिका के कतिपय भेदों का जो परिगणन किया
वह संस्कृत कान्य-साहित्य में वर्णित ‘मुग्धा’ स्वभाव का ही विश्लेषण है । प्राचीन आलङ्कारिक
ने, जैसे कि आचार्य हेमचन्द्र ने ही, स्वीया नायिका के ‘मुग्धा’ स्वरूप का नियामक, शरीर का
एक विशिष्ट अवस्था किंवा कामोपचार-सम्बन्धी निपुणता की विशिष्ट दशा को ही माना है—

‘वयःकौशलाभ्यां मुग्धा मध्या प्रौढेति सा त्रेधा-वयः शरीरावस्थाविशेषः, कौश
कामोपचारनिपुणम् ताभ्यां मुग्धा—(कान्यानुशासन अ ७ सू २३) ।

यही बात भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय (१३ वीं शताब्दी) की इन पंक्तियों
भी स्पष्ट है—

शीलसत्यार्जवोपेता । रह सभोगलालसा ।

मुग्धा नववय कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ॥

यतते रतिचेष्टासु पत्युर्व्रीडामनोहरम् ।

अपराधे रुदत्येव न वदत्यप्रिय प्रिये ॥’

(भावप्रकाशन ४ र्थ अधिकार

वस्तुतः तो रतिक्रीडा में अनभिज्ञता किंवा यौवनादि के क्रमिक विकास आदि-आदि सबके
रूप से ही ‘मुग्धा’ के व्यक्तित्व के परिचायक हैं और इस दृष्टि से इनको पृथक्-पृथक् करके मुग्धा-

(मध्या-स्वीया-नायिका-निरूपण)

अथ मध्या—

मध्या विचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना ।

ईपत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता ॥ ५९ ॥

विचित्रसुरता यथा—

‘कान्ते तथा कथमपि प्रथितं मृगाद्या चातुर्यमुद्धतमनोभवया रतेषु ।
तत्कूजितान्यनुवदद्भिरनेकवारं शिष्यायित गृहकपोतशतैर्यथाऽस्याः ॥’
प्ररूढस्मरा यथात्रैवोदाहरणे ।

प्ररूढयौवना यथा मम—

‘नेत्रे खञ्जनगञ्जने, सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं,
वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः ।
कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी,
स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा ॥’

एवमन्यत्रापि ।

का नियामक बनाना ठीक नहीं किन्तु तब भा साहित्यदर्पणकार ने इनके आधार पर जो मुग्धा-भेद निर्दिष्ट किया है उसका एक विशेष कारण है और वह कारण एक शब्द में आलंकारिकों की विभाजन किंवा पारिभाषिकता-प्रवृत्ति ही है जिसका विकास साहित्यदर्पणकार के पदले से ही होता चला आ रहा है और जिसकी प्रेरणा को रोकना साहित्यदर्पणकार के लिये समभव नहीं हो सका है।

अनुवाद—अथ ‘मध्या’ का निरूपण किया जा रहा है—

‘मध्या’ वह (स्वीया) नायिका है जो रंग-विरग की रतिलीलाओं में निपुण हो चुकी होती है, जिसमें कामपिपासा बढ़ती दिखायी दिया करती है, जिसका यौवन उभार पर रहा करता है, जिसे प्रणयालाप में कोई विशेष हिचक नहीं हुआ करती और जिसकी रति-लज्जा बहुत अधिक नहीं रहा करती। जैसे कि ‘विचित्रसुरता’ मध्या (जो कि ‘शृङ्गारतिलक’ की इस सूक्ति में चित्रित है)—

‘रति-लीलाओं में अत्यधिक कामोन्माद से भरी मृगनयनी ने अपने प्रियतम के प्रति कुछ ऐसी चतुराई दिखाई कि उसके पाले कबूतर, उसकी रति-कृजाओं को दोहराते, उसके चेले बनने को उतारू हो उठे ।’

इस उपर्युक्त सूक्ति को ही ‘प्ररूढस्मरा’ मध्या नायिका का भी चित्र मान सकते हैं ।

‘प्ररूढयौवना’ मध्या नायिका का चित्र यह रहा जो स्वरचित ही है—

‘इस सुन्दरी को देखो—इसकी आँखें खजन (पक्षिविशेष) की आँखों से भी बढ़कर काली और सुदर हैं, इसके दोनों हाथ कमल से भी होड़ लगाये बैठे हैं, इसके उभरे उरोज करिकुम्भ के उभार को भी चुनौती दे रहे हैं; इसकी कान्ति स्वर्णचम्पा के फूल का भी प्रतिनिधित्व कर बैठी है, इसकी चाणी अमृत टपका रही है और इसके कटाक्षों की छटा ! वह तो खिले नीलकमल की माला की ही भाँति वस्तुतः विचित्र है ।’

इसी प्रकार ‘ईपत्प्रगल्भवचना’ और ‘मध्यमव्रीडिता’ मध्या-नायिका के चित्र यत्र-तत्र चित्रित देखे जा सकते हैं ।

(प्रगल्भा-स्वीया-नायिका-निरूपण)

अथ प्रगल्भा—

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा ।

भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ॥ ६० ॥

स्मरान्धा यथा—

‘धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि

विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण

सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥

गाढतारुण्या यथा—

‘अत्युन्नतस्तनुरो नयने सुदीर्घे, वक्त्रे भ्रुवावतितरां, वचनं ततोऽपि ।

मध्योऽधिकं तनुरनूनगुरुर्नितम्बो मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥

विमर्श—‘स्वीया’ नायिका का ‘मध्या’ रूप सस्कृत काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र दिख पड़ता है। कालिदास और भवभूति जैसे महान् काव्य-नाट्यकारों ने शकुन्तला और सीता नायिकाओं के जो चित्र खींचे हैं वे ‘स्वीया’ नायिका की मुग्धता, प्रगल्भता और दोनों की स दशा के ऐसे चित्र हैं जिन्हें किसी भी भाषा के साहित्य के लिये एक कलात्मक आदर्श माना सकता है। वस्तुतः ‘नायिका’ के इन्हीं विचित्रों (Portraits) की अनुपम रमणीयता का प्रभाव है कि सस्कृत के काव्यकलाकारों ने, इनकी भावभङ्गिओं के अनुकरण अथवा अभिव्यक्ति में, ‘नायिका’ के अनेकानेक ‘मुक्तकचित्र’ (Miniature painting) प्रस्तुत कर दिखाये साहित्यदर्पणकार के स्वरचित ‘मुग्धा’ किंवा ‘मध्या’ चित्र सस्कृत काव्य-साहित्य के सु ‘मुक्तकचित्र’ हैं। यद्यपि इनमें कोई नवीनता नहीं और न कोई नयी कल्पना है किन्तु चित्रकार के वर्णिकाभग का चमत्कार हमें इनकी ओर बरबस अवश्य खींच लेता है।

अनुवाद—‘प्रगल्भा’ (स्वीया) नायिका का स्वरूप यह है—वह स्वीया नायिका जिसमें स्मरोन्माद बढ़ती पर हो, जिसका यौवन पूरे उमर पर पहुँच गया हो, जिसमें रलीला के समस्त कौशल समा लुके हों, जिसके हाव-भाव पूर्णरूपेण विकसित हो लुके जिसमें रति-लज्जा की थोड़ी ही मात्रा बच गयी हो और वस्तुतः जो रतिलीला में ना को भी पछाड़ने की शक्ति रखने लगी हो, ‘प्रगल्भा’ नायिका कही जाया करती है।

जैसे कि ‘स्मरान्धा’ प्रगल्भाः—

‘अरी सखी! तू तो सचमुच धन्य है क्योंकि रतिलीला के समय, नाना प्रकार की क केलिओं के बीच बीच में भी, तू तो वदे धैर्य से प्रेमालाप कर सकती है! लेकिन, वताऊ सखियो! तुम्हारी सौगन्ध! मुझे तो-जैसे ही मेरे प्रियतम का हाथ मेरी नीवी छू जाय-ऐसा लगने लगता है मानो सब कुछ भूल गयी हूँ।’

अथवा, जैसे कि ‘गाढतारुण्या’ प्रगल्भा—

‘इस विचित्र यौवनवाली सुन्दरी का क्या कहना! इसका वचनस्थल तो उमरे से से उमर उठा है, इसकी आँखें बड़ी-बड़ी लग रही हैं, इसकी भौंहें विचित्र बाँकपन लिय हैं, इसकी घोलचाल की बाँकपन इसकी टेढ़ी भौंहों से भी बड़ी-बड़ी लग रही है, इसकी

समस्तरतकोविदा यथा—

‘कचित्ताम्रूलाक्तः कचिदगरुपट्टाङ्कमलिनः
कचिच्चूर्णोद्गारी कचिदपि च सालक्तकपदः ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपदः ॥’

भावोन्नता यथा—

‘मधुरवचनैः सभ्रमद्वैः कृताङ्गुलितर्जनै-
रभसरचितैरङ्गन्यासैर्महोत्सवबन्धुभिः ।
असकृदसकृत्स्फारस्फारैरपाङ्गविलोकितै-
स्त्रिभुवनजये सा पञ्चेषोः करोति सहायताम् ॥’

स्वल्पघ्नीडा यथा—

‘धन्यासि या कथयसि—’ इत्यत्रैव (१६० पृ०)

आक्रान्तनायका यथा—

‘स्वामिन् भङ्गुरयालकं, सतिलकं भालं विलासिन् कुरु,
प्राणेश त्रुटितं पयोधरतटे हारं पुनर्योजय ।
इत्युत्त्वा सुरतावसानसमये सम्पूर्णचन्द्रानना
स्पृष्टा तेन तथैव जातपुलका प्राप्ता पुनर्मोहनम् ॥’

कमर बहुत पतली हो गयी है, इसके नितम्ब बड़े भारी दिखायी पड़ रहे हैं और इसकी मन्द चाल में एक विचित्र मोहकता बस गयी है ।

अथवा, जैसे कि ‘समस्तरतकोविदा’ प्रगल्भा—

‘इस सुन्दरी की यह विलावन की चादर तो इसकी चित्र-विचित्र रति क्रीडा की घोषणा सी कर रही है—इस पर कहीं पान की पीक गिरी है, कहीं इसमें अगर के अङ्गराग के दाग पड़े हैं, कहीं इससे स्तनों के लेप का सौरभ निकल रहा है, कहीं इस पर पैरों के महावर के चिह्न लगे हैं, कहीं इस पर त्रिवली-भङ्ग की सलवटें दोख रही हैं और कहीं इस पर जूड़े में गुथे फूल बिखरे हैं ।’

अथवा ‘भावोन्नता’ प्रगल्भा :—

‘यह सुन्दरी तो ऐसी है कि अपनी मीठी-मीठी बातों, अपनी मौहों की तरेरों, अपनी अङ्गुलिओं के इशारों, अपनी, सहसा रति-विलास को आमन्त्रित करने वाली, अङ्गभङ्गिओं और अपनी रह-रह कर निकलती बाकी चितवनों के बल पर कामदेव को त्रिभुवन-विजय के लिये प्रोत्साहित कर रही है ।’

अथवा ‘स्वल्पघ्नीडा’ प्रगल्भा नायिका.—

इसका स्वरूप तो ‘धन्याऽसि या कथयसि’ इत्यादि पूर्वोद्धृत सूक्ति में ही देखा जा सकता है ।

अथवा ‘आक्रान्तनायका’ प्रगल्भा :—

‘रतिक्रीडा का अन्त हुआ और पूर्ण चन्द्रानना सुन्दरी ने कहना प्रारम्भ किया—मेरे स्वामी ! सिर के बिखरे वालों को सवार दो; मेरे आनन्द ! माये की चिड़ी ठीक कर दो;

(मध्या और प्रगल्भा-स्वीया-नायिका के अवान्तर भेद)

मध्याप्रगल्भयोर्भेदान्तराण्याह—

ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति पङ्क्तिष्वे ।

ते मध्याप्रगल्भे

('मध्या' के त्रिविध भेद सोदाहरण निरूपण)

तत्र—

प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेद्रुपा ॥ ६१ ॥

धीराधीरा तु रुदितैरधीरा परुपोक्तिभिः ।

तत्र मध्या धीरा यथा—

‘तद्वितथसवादीर्यन्मम त्व प्रियेति

प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुक्कूलं दधानः ।

मदधिवसतिमागाः कामिना मण्डनश्री-

व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥’

मेरे प्राणनाथ ! स्तन पर टूटे लटकते हार को जोड़ दो । और जैसे ही उसके प्रेमी ने उसे छूआ कि वस, आनन्दविभोर हो कर पुनः रति-केलिके लिये तैयार हो उठी ।’

अनुवाद—यहाँ ‘मध्या’ और ‘प्रगल्भा’ दोनों के अन्य भेदों का निर्देश किया जा रहा है। ये उपर्युक्त (स्वीया) नायिकायें ‘धीरा’, ‘अधीरा’ और ‘धीरा-धीरा’ भेद से ६ प्रकार की हुआ करती हैं।

यहाँ ‘ते’ (इन) का अभिप्राय ‘मध्या’ और ‘प्रगल्भा’ नायिकाओं का है (न कि मुग्धा का) ।

अनुवाद—यहाँ ‘मध्या’ के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

‘मध्या’ नायिकाओं में ‘धीरा’ वह नायिका है जो अपने प्रियतम पर अपना क्रोध खरी-खोटी सुनाकर प्रकट किया करती है। मध्या ‘धीराधीरा’ की पहचान यह है कि अपने प्रियतम पर यह अपना क्रोध रो-धो कर निकाला करती है, और ‘अधीरा’ मध्या वह है जो कर्कश वचनों से अपने प्रेमी को चोट पहुँचाया करती है।

इन उपर्युक्त त्रिविध मध्या-नायिकाओं में ‘मध्या’ धीरा का यह चित्र देखिये (जो कि महाकवि माघ की कृति है)—

‘प्रियतम ! तुमने तो मुझसे सच ही कहा था कि तुम्हारी एक मात्र प्रेयसी मैं ही हूँ ! तभी तो तुम अपनी प्राण-प्रिया (मेरी सपत्नी) के पहने वस्त्र लपेट कर मेरे घर उसे दिखाने आये थे । बात तो ठीक ही है कि तभी प्राणप्यारों का साज-शृङ्गार शोभा देता है जब कि उसे उनकी प्राणप्यारियाँ देख लें !’

[यहाँ जिस नायिका का चित्र खींचा गया है वह स्वीया नायिका है। यौवन और काम के उभार में उसकी मुग्धता हट चुकी है किन्तु प्रगल्भता का आक्रमण उस पर नहीं हो पाया है। मुग्धता और प्रगल्भता की सन्धि-दशा में पड़ी यह नायिका (मध्या) परिहासपूर्वक अपने प्रियतम को ताना दे रही है ।]

मध्येव धीराधीरा यथा—

‘बाले ! ना । वसुध्व मानिनि । रूपं, रोषान्मया किं कृतं,
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिपि गद्वदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते ॥’

इयमेवाधीरा यथा—

‘सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त ! कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमहावरम्या ।
अस्माकमस्ति नहि कश्चिदिहावकाश-
स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥’

(प्रगल्भा धीरा नायिका)

प्रगल्भा यदि धीरा स्याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा ॥ ६२ ॥

उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यादरान् वहिः ।

तत्र प्रिये ।

यथा—

धीराधीरा मध्या का उदाहरण यह है—

‘(किसी प्रेमी और प्रेमिका की प्रश्नोत्तरी-अमरुशतक) प्रेमी-‘अरी नादान !
(प्रेमिका) ‘नार्थ !’ (प्रेमी) ‘अरी मानिनी ! क्रोध करना तो छोड़’ (प्रेमिका) ‘तुम पर
क्रोध करके मुझे क्या मिलेगा’ (प्रेमी) ‘मुझे वड़ा कष्ट हो रहा है’ (प्रेमिका) ‘आपने मेरा
क्या बिगाड़ा, सब अपराध तो मेरा है’ (प्रेमी) ‘तब रुधे गले से क्यों रोती जा रही हो !’
(प्रेमिका) ‘भला मेरा कौन है जिसके आगे रोज़ !’ (प्रेमी) ‘अरी ! मेरे आगे तू रो-धो
रही है’ (प्रेमिका) ‘भला मैं तुम्हारी कौन होती हूँ !’ (प्रेमी) ‘तू ही तो मेरी प्राणप्यारी
है’ (प्रेमिका) ‘नहीं रही, झुमीलिये तो रो रही हूँ !’

[यहा मध्या धीराधीरा नायिका का जैसा मनोहर चित्रण है उसका अनुकरण नहीं
हो सकता ।]

मध्या अधीरा का यह उदाहरण देखिये—

‘अरे धूर्त ! मेरे पैरों पर गिरने का नाटक न रचो । अरे ! तुम्हारे हृदय में तो, तुम्हारी
रति-लीलाओं की एक मात्र लालसा, बस, वही बनावटी हाव-भाव वाली, तुम्हारे जैमे की
प्रेमिका बस रही है, भला मेरा वहाँ स्थान कहाँ !’

[यहां (स्वीया) मध्या अधीरा नायिका की सभी स्वाभाविक विशेषतायें बड़ी सरल
रेखाओं से चित्रित हैं ।]

अनुवाद—प्रगल्भा ‘धीरा’ नायिका वह है जो बनावटी हँसी में अपना क्रुद्ध स्वरूप
छिपाया करती है, अपने प्रेमी पर बनावटी प्रेम दिखाया करती है और अपने प्रेमी के साथ
रति-प्रसंग में उदासीन रहा करती है ।

यहां कारिका में ‘तत्र’ का अभिप्राय ‘प्रियतम के प्रति’ है ।

उदाहरण के लिये—

‘एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत-
स्ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविद्धितः ।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजन व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥’
(प्रगल्भा धीराधीरा नायिका)

धीराधीरा तु सोल्लुण्ठभापितैः खेदयत्यमुम् ॥ ६३ ॥

अमुं नायकम् ।

यथा मम—

‘अनलङ्कृतोऽपि सुन्दर ! हरसि मनो मे यत’ प्रसभम् ।
किं पुनरलङ्कृतस्त्वं सम्प्रति नखरक्षतैस्तस्याः ॥’
(प्रगल्भा अधीरा नायिका)

तर्जयेत्ताडयेदन्या—

अन्या अधीरा । यथा—‘शोणं वीक्ष्य मुख’ इत्यत्र । अत्र च सर्वत्र ‘रु’
इत्यनुवर्तते ।

‘इस चतुर प्रेमिका ने तो अपने प्रियतम पर अपना पूरा क्रोध निकाल लिया—जब उस प्रियतम उसके पास बैठने आया तो वह दूर से ही उसकी अगवाणी के बहाने, झटपट खड़ी हुई, जब उसके प्रियतम ने बलात् उसका आलिङ्गन करना चाहा, तब वह पानर के बहाने दूर खिसक पड़ी और जब कि उसके प्रियतम ने उससे कुछ बात-चीत कर चाही तब तो वह दास-दासिणों से कुछ कहने-सुनने के बहाने उससे एक शब्द न बोली ।’

[अमरशतक में चित्रित यह ‘प्रगल्भा धीरा’ चित्र स्वीया नायिका के व्यक्तित्व की विशेष अवस्था का बड़ा मनोरम चित्र है ।]

अनुवाद—प्रगल्भा धीराधीरा नायिका वह है जो कि अपने तानों और सिद्धियों नायक को दुःखी बनाती रहती है ।

यहां कारिका में ‘अमुम्’ का अर्थ है—‘नायक को’ ।

उदाहरण के लिये मेरी यह स्वरचित सूक्ति—

‘मेरे सुन्दर ! तुम तो बिना किसी साज-शृंगार के ही मेरा चित्त चुराये रहते हो !’
अब का क्या कहना ! अब तो उस (किसी और प्रेमिका) के नखचतों की शोभा तुम झूम रही है ।’

[विश्वनाथ कविराज ने यहां प्रगल्भा धीराधीरा नायिका का बड़ा सुन्दर । खींचा है ।]

अनुवाद—प्रगल्भा अधीरा नायिका की पहचान यह है कि वह अपने नायक को डराती-धमकाती रहा करती है और यथासमय उससे मार-पीट भी कर लेती है ।

यहां कारिका में ‘अन्या’ का अभिप्राय ‘अधीरा’ का है । उदाहरण के लिये; ‘शोण वीक्ष्य मुखम्’ आदि (पूर्वोद्धृत) सूक्ति पर्याप्त है । यहां त्रिविध प्रगल्भा नायिकाओं के इस प्रकार के स्वभाव का कारण ‘नायक पर क्रोध’ ही है क्योंकि यहां ‘रुषा’ पद (कारिका ६१) की सर्वत्र अनुवृत्ति मानी गयी है ।

(मध्या-प्रगल्भा नायिकाओं के अन्य निमित्तक भेद)

—प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति ॥ ६४ ॥

ता अनन्तरोक्ताः षड्भेदा नायिकाः ।

यथा—

‘दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-

देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।

ईषद्वक्त्रिकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-

मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥’

(‘स्वीया’ भेद-परिगणन)

मध्याप्रगल्भयोर्भेदास्तस्माद् द्वादश कीर्तिताः ।

मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्वीयाभेदास्त्रयोदश ॥ ६५ ॥

अनुवाद—उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार की मध्या किंवा प्रगल्भा नायिकाओं के भी दो-दो भेद हुआ करते हैं जिनका कारण नायक के प्रेम की कनिष्ठता (न्यूनता) और ज्येष्ठता (अधिकता) है ।

यहां ‘ताः’ पद से पूर्व प्रतिपादित षड्विध नायिकाओं (धीरा-धीराधीरा और अधीरा रूप से विभक्त मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं) का अभिप्राय समझा जाना चाहिये । जैसे कि—

‘इस धूर्त नायक ने जब एक आसन पर बैठी अपनी दोनों प्रेमिकाओं को देखा तो वड़े प्रेम-पूर्वक पीछे से जाकर आंखमिचौनी खेलने के वहाने एक की तो आंख बंद कर दी और अपनी गर्दन घुमाकर, आनन्द से रोमाञ्चित होते हुये, प्रेमोत्सास में पगी और प्रसन्नता से फूली न समाती दूसरी का मुँह चूम लिया ।’

[यहां अमरुशतक की इस सूक्ति में जिस प्रेम का वर्णन है उसमें नायक के प्रेम की कनिष्ठता और ज्येष्ठता का पूरा चित्र उतरा हुआ है ।]

अनुवाद—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्या और प्रगल्भा नायिकायें चारह प्रकार की हुआ करती हैं । और यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि ‘मुग्धा’ नायिका एक प्रकार की ही है । इस प्रकार स्वीया नायिका के तेरह भेद सिद्ध हुये ।

विमर्श—दशरूपककार ने भी ‘स्वीया’ नायिका के तेरह भेदों का परिगणन किया है—

‘द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिता । मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाक-निष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति । मुग्धा त्वेकरूपैव (दशरूपक २. २०)

यही बात श्रीशिद्धभूषालप्रणीत रसार्णव सुभाकर (१५ बिलास-२०५) की इन पंक्तियों में भी प्रतिपादित है—

‘धीराधीरादिभेदेन मध्याप्रीडे त्रिधा त्रिधा ।

ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदेन ता-प्रत्येकं द्विधा द्विधा ॥

मुग्धा त्वेकविधा चैव सा त्रयोदशोदिता ।’

('परकीया'-नायिका भेदनिर्देश)

परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा ।

तत्र—

यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा ॥ ६६ ॥

यथा—

‘स्वामी नि श्वसितेऽप्यसूयति, मनोजिघ्रः सपत्नीजनः,
 श्वश्रूरिङ्गितदैवत नयनयोरीहालिहो यातरः ।
 तद्दूरादयमञ्जलिः किमधुना दृग्भङ्गिभावेन ते
 वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक । व्यर्थोऽयमत्र श्रमः ॥’

अत्र हि मम परिणेताऽन्नाच्छादनादिदातृतया स्वाम्येव न तु वल्लभः । त
 तु वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिकतया मम वल्लभोऽसीत्यादिव्यङ्ग्यार्थवशादस्या पर
 नायकविषया रतिः प्रतीयते ।

कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना ।

अस्याश्च पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयात्वम् । यथा मालतीमाधवादौ मालत्यादिः

अनुवाद—‘परकीया’ नायिका के दो भेद हुआ करते हैं—(१) परोढा (पर-परिणीता
 और (२) कन्यका (अपरिणीता) ।

इन द्विविध ‘परकीया’ नायिकाओं में ‘परोढा’ (पर-परिणीता) नायिका वह है
 यात्रा (मेला) आदि की शौकीन हुआ करती है, दूसरे लोगों से प्रेम-प्रसन्न रखा कर
 है और जिसे किसी से भी बातचीत अथवा सग-साथ में कोई लज्जा नहीं हुआ करती
 जैसे कि—

‘अरे चतुर चितचोर ! तुम्हारी लुभावनी चितवनों से अब कुछ नहीं घनता । अब
 मेरा पति मेरी सांस की आवाज पर भी खीझ उठता है, मेरी सौतों का यह हाल है ।
 मेरे मन की बात सूचती रहा करती हैं, मेरी सास का क्या पूछना । वह तो मेरे स
 इशारों को मानो किसी देवी की भाति ताड़ लिया करती है और मेरी देवरानी त
 जेठानी का क्या कहना । वे तो मेरी आखों की सभी हरकतों को पढ़चान चुकी हैं ।
 तो वस, मैं तुम्हें हाथ जोड़ती हूँ, अब मेरे यहाँ तुम्हारा आना-जाना ठीक नहीं ।’

यहाँ जिस प्रकार की ‘रति’ अभिव्यक्त हो रही है वह (स्वनायक-विषयक न
 अपि तु) परनायक-विषयक है । ऐसा क्यों ? इसलिये कि यहाँ नायिका अपने परिणे
 (पति) को ‘स्वामी’ कह रही है न कि ‘वल्लभ’ (प्रियतम) । यहाँ नायिका का ‘स्वा
 तो वह है जो कि उसके लिये खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने आदि की सुविधायें
 में लगा हुआ है और ‘वल्लभ’ (प्रियतम) वह जिसके लिये उसके मुँह से ‘वैदग्धीम
 प्रबन्धरसिक’ का सम्बोधन निकल रहा है । अब यह निगूढ़ व्यङ्ग्य अन्ततोगत्वा इ
 परस्परमणीय व्यङ्ग्यार्थ में घुलमिल जाता है कि यहाँ नायिका परपुरुष के प्रेम में पगी है
 इसके अतिरिक्त ‘कन्यका’ वह परकीया नायिका है जो नवयुवती और लज्जार्श
 हुआ करती है तथा अविवाहित है ।

‘कन्या’ को परकीया कहने का अभिप्राय यह है कि यह अपने माता-पिता के व

('सामान्या' नायिका-निरूपण)

धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका ॥ ६७ ॥

निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि ।

वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्वहिः ॥ ६८ ॥

काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम् ।

मात्रा निःसारयेदेषा पुनःसंधानकाङ्क्षया ॥ ६९ ॥

तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा ।

लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या अस्याः प्रायेण बल्लभाः ॥ ७० ॥

एपापि मदनायत्ता कापि सत्यानुरागिणी ।

रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम् ॥ ७१ ॥

पण्डको वातपाण्डवादिः । छन्नं प्रच्छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः । तत्र रागहीना यथा लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः, रक्ता यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः ।

में रहा करती है । 'कन्या' परकीया नायिका का स्वरूप 'मालतीमाधव' आदि प्रकरणों में चित्रित 'मालती' आदि के चित्र में देखा जा सकता है ।

अनुवाद—'सामान्या' वह नायिका है जो रतिकलाकुशल किंवा सगीतादि कलाओं में पारगत हुआ करती है तथा जिसे साधारणतया 'वेश्या' कहा करते हैं । यह नायिका न तो गुणहीन पुरुषों से द्वेष करती है और न गुणी लोगों के प्रेम में पग जाती है । यह केवल धनसमृद्धि देखकर किसी से भी बाहरी प्रेम प्रकट किया करती है । इसके लिये यह स्वाभाविक है कि अपने किसी भी प्रेमी धनी व्यक्ति को, यदि वह निर्धन हो जाय, अपनी मां के द्वारा अपने घर से बाहर निकलवा दे और यदि पुन वह धनी बन जाय तो उससे पुन प्रेम करने के लिये स्वयं उत्सुक बन बैठे । इस नायिका के प्रेमी प्राय ऐसे लोग हुआ करते हैं जैसे कि—चोर, नपुंसक, मूर्ख, विना मेहनत के धन पानेवाले, सन्यासी (अथवा ब्रह्मचारी), छिपे प्रेमी (प्रच्छन्नकामुक) आदि-आदि । कभी-कभी ऐसा भी हुआ करता है कि इस प्रकार की नायिका, मदनानुर हो कर, किसी के प्रति सच्चा प्रेम भी रखने लग जाती है । ऐसी नायिका के साथ चाहे वह अनुरागवती हो या विरक्त हो, रति-प्रसङ्ग की बात बड़ी कठिन हुआ करती है ।

यहां कारिका में 'पण्डक' का अभिप्राय 'वातिक पण्डक अथवा नपुंसक' (वाटग्रन्थि-दोपाट्ट वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकपण्डक सः—चरक, २ य अध्याय) से है । 'छन्नकामा' का अभिप्राय उन लोगों से है जो कि छिप-छिपकर स्त्रीप्रसङ्ग के इच्छुक हुआ करते हैं । 'रागहीना' सामान्या (वेश्या) नायिका के उदाहरण 'लटकमेलक' आदि प्रहसन-रूपकों में 'मदनमञ्जरी' आदि हैं और 'रक्ता' सामान्या (वेश्या) नायिका को 'मृच्छकटिक' आदि प्रकरण-रूपकों में चित्रित 'वसन्तसेना' आदि के चित्र के आधार पर देखा जा सकता है ।

(उपर्युक्त नायिकाओं के अवस्था-भेद से अन्यान्य भेद-प्रभेद)

पुनश्च—

अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः षोडशभेदिताः ।

स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताऽथाभिसारिका ॥ ७२ ॥

कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोपितभर्तृका ।

अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा ॥ ७३ ॥

(१) स्वाधीनभर्तृका

तत्र—

कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।

विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका ॥ ७४ ॥

यथा—‘अस्माकसखि वाससी—’इत्यादि ।

(२) खण्डिता

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंयोगचिह्नितः ।

सा खण्डितेति कथिता धीरैरौर्ष्याकपायिता ॥ ७५ ॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त उपर्युक्त १६ प्रकार की नायिकाओं (१३ प्रकार की स्वीया, २ प्रकार की परकीया, १ प्रकार की साधारणी अथवा सामान्या) के भी, अवस्था भेद से, आठ-आठ भेद हैं। जैसे कि—(१) स्वाधीनभर्तृका, (२) खण्डिता, (३) अभिसारिका, (४) कलहान्तरिता, (५) विप्रलब्धा, (६) प्रोपितभर्तृका, (७) वासकसज्जा और (८) विरहोत्कण्ठिता ।

अनुवाद—इन अष्टविध नायिकाओं में—

‘स्वाधीनभर्तृका’ वह नायिका मानी जाया करती है जिसका प्रणयी उसके प्रेम की ओर में बँधा हुआ उसे छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त इसकी यह भी विशेषता है कि (नायक के प्रति) इसके विविध विलास वदे विचित्र और मनोरञ्जक हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिये—‘अस्माकं सखि वाससी’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरत मुनि के अनुसार ‘स्वाधीनभर्तृका’ नायिका का यह स्वरूप है—

‘सुरतादिरसैर्बद्धो यस्या. पार्श्वगतः प्रियः ।

सामोदे गुणसयुक्ता भवेत् स्वाधीनभर्तृका ॥ (नाट्यशास्त्र . २४-२०७)

अर्थात् ‘स्वाधीनभर्तृका’ नायिका के व्यक्तित्व की यह विशेषता है कि उसका प्रणयी सदा उसके प्रेम का भिखारी बना रहता है और उसके समस्त प्रेम-प्रसङ्ग से उसके प्रेमी के लिये आनन्द का स्रोत उमड़ता रहता है ।

वस्तुतः इसीलिये संस्कृत के कवि और नाटककार ‘स्वाधीनभर्तृका’ के वर्णन और अङ्कन में उसकी इन विशेषताओं पर ध्यान रखा करते हैं—

विचित्रोज्ज्वलवेषा च प्रमोदोद्योतितानना ।

उदीर्णशोभातिशया कार्या स्वाधीनभर्तृका ॥ (नाट्यशास्त्र २४-२१७)

अनुवाद—काव्यमर्मज्ञ उस नायिका को ‘खण्डिता’ कहा करते हैं जिसका हृदय अपने

यथा—‘तद्वितथमवादीः’ इत्यादि ।

(३) अभिसारिका : स्वरूप किं वा प्रकार-निरूपण)

अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।

स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ॥ ७६ ॥

क्रमाद्यथा—

न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।

निपुणं तथैनमभिगम्य वदेरभिदूति कंचिदिति संदिदिशे ॥

प्रेमी के प्रति इसलिये ईर्ष्या से कलुषित हो जाया करता है क्योंकि वह अपनी किसी दूसरी प्रेमिका के साथ अपने प्रेम-सम्भोग को सूचित करने वाली वेप-भूषा में उसके पास आया-जाया करता है ।

उदाहरण के लिये, ‘तद्वितथमवादीः’ आदि सूक्ति स्मरणीय है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरत मुनि ने ‘खण्डिता’ नायिका का यह स्वरूप-विमर्श किया है (नाट्यशास्त्र अभिनव भारती २०-२१७)—

‘व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः ।

तदनागमदुःखार्त्ता खण्डिता सा प्रकीर्तिता ॥’

अर्थात् ऐसी कोई भी नायिका ‘खण्डिता’ हो सकती है जिसका प्रेमी, अपनी किसी दूसरी प्रेमिका के साथ प्रेम-प्रसङ्ग में पड़े रहने के कारण, निश्चित समय पर भी, उसके पास नहीं आ पाता और जिसे इस प्रकार की विरह-वेदना समय-समय पर दुःखित किया करती है ।

वस्तुतः यही बात ‘नाट्यदर्पण’ (४ र्थ विवेक) की निम्नोद्धृत ‘खण्डिता’-परिभाषा से भी सिद्ध होती है—

‘खण्डिता खण्डयत्यन्यासक्तया वासकमीर्ष्यिता’ अपरस्यभिष्वङ्गादुचितं वासकमं कुर्वाणेऽसूयावती खण्डिता ।’

अर्थात् ‘खण्डिता’ वह नायिका है जो अपने प्रेमी के प्रति इसलिये ईर्ष्या भाव रखा करती है क्योंकि वह, अपनी अन्य प्रेमिका के प्रेम-प्रसङ्ग की सूचना देते हुये, उसके पास वासोपचार के लिये (वासक-वासयति तत्र स्थाने रात्रिमिति वास) आया करता है ।

साहित्यदर्पणकार का खण्डिता-रक्षण उपर्युक्त नाट्याचार्यों के ‘खण्डिता’ विवेक की अपेक्षा दशरूपककार की इस ‘खण्डिता’ परिभाषा से अधिक प्रभावित प्रतीत हो रहा है—

‘ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेऽप्यांकपायिता ।’

यथा— ‘नव नखपदमङ्गं गोपयत्यशुकेन

स्थगयति पुनरोष्टं पाणिना दन्तदष्टम् ।

प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्

नवपरिमलगन्धः केन शक्यः वरीतुम् ॥’

(दशरूपक २-२७)

अनुवाद—काव्य-कोविदों की दृष्टि में ‘अभिसारिका’ वह नायिका हुआ करती है जो, कि काम के वश में पड़ी या तो अपने प्रणयी को अपने पास बुलाया करती है या स्वयं अपने प्रणयी के पास पहुंचा करती है ।

जैसे कि, अपने प्रेमी को अपने पास बुलानेवाली ‘अभिसारिका’ जो कि ‘शिशुपाल-वध’ के महाकवि की इस सूक्ति में चित्रित है—

‘किसी नायिका ने अपने सामने खड़ी अपनी दूती को कहा—‘अरी ! तू उसके पास

‘उत्क्षिप्तं’ फरकद्वयमिदं, वद्धा दृढ मेखला,
यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता ।
आरब्धे रभसान्मया प्रियसखि ! क्रीडाभिसारोत्सवे,
चण्डालस्तिमिरावगुण्ठनपटत्तेपं विधत्ते विधुः ॥’

संलीना स्वेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा ।
अवगुण्ठनसंवीता कुलजाऽभिसरेद्यदि ॥ ७७ ॥
विचित्रोज्ज्वलवेषा तु रणन्तु पुरकङ्कणा ।
प्रमोदस्मेरचदना स्याद्वेश्याऽभिसरेद्यदि ॥ ७८ ॥
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना ।
आविद्धगतिसंचारा स्यात्प्रेष्याऽभिसरेद्यदि ॥ ७९ ॥

तत्राद्ये ‘उत्क्षिप्तम्’ इत्यादि । अन्ययोः उद्यममुदाहरणम् ।
प्रसङ्गादभिसारस्थानानि कथ्यन्ते—

क्षेत्रं वाटी भग्नदेवालयो दूतीगृहं वनम् ।

जाना और उससे ऐसी बातचीत करना जिसमें उसे मेरी दीनता (काम-परवशता) व
भी पता न चल पावे और वह मेरे पास आकर मुझे आनन्दविभोर भी कर दे ।’

और इसी प्रकार, स्वयं अपने प्रेमी के पास पहुँच जानेवाली ‘अभिसारिका’ (जि
निष्ठ सूक्ति में चित्रित देख सकते हैं)—

‘अरी सखी ! क्या बताऊँ, जैसे ही मैंने अपने हाथ के कगनों को ऊपर चढ़ाया, अप
करधनी को किसकर धाधा (जिसमें वह वज्र न उठे), अपने मुखर मञ्जीरों का वज्र
बन्द किया और धड़ी उमङ्ग में अपने प्रियतम से मिलने को तैयार हुई कि चण्डाल चन्द्र
ने अँधेरे के परदे को हटाना प्रारम्भ कर दिया ।’

‘अभिसारिका’ के अभिसार कई ढग के होते हैं—यदि कोई कुलजा (स्वीया) नायि
अभिसार करती है तो लज्जा के भार से दबी दोख पड़ती है, अपने अलङ्कारों को झकार
बचाती रहा करती है और घूँघट की ओट में अपने आप को छिपाने में लगी रहती है
वेश्या (सामान्या नायिका) का अभिसार एक और ही ढग का है । उसकी वेश-भूषा
रंग-विरंग की होती है, उसके ककण और नूपुर वज्रते चला करते हैं और उसके मुख
आनन्द की हसी अठखेलिया करती दिखायी पड़ा करती है । जिसे ‘प्रेष्या’ (अनुचरी
कहते हैं उसका अभिसार (प्रियमिलन) और ही प्रकार का है—कामोन्माद उसकी ध
चीत में बेढंगापन भर दिया करता है, विभ्रमविलास उसकी आँखों की हसी में स
झलका करता है और उसकी चालढाल एक विचित्र मस्ती से भरी दिखायी दिया करती
जैसे कि पहले अर्थात् ‘कुलजाभिसार’ का दर्शन ‘उत्क्षिप्तम्’ आदि सूक्ति में कि
जा सकता है और ‘वेश्याभिसार’ कि वा ‘प्रेष्याभिसार’ के दृष्टान्त स्वयं (सस्कृत का
नाट्य-साहित्य में) यत्र-तत्र दूढ़े जा सकते हैं ।

यहाँ, जैसा कि स्पष्ट है, अभिसार का प्रसंग निकल पड़ा है । अतएव अभिसरण
स्थान का भी निर्देश कर दिया जाता है । अभिसरण के आठ स्थान हैं—(१) खे

मालापञ्चः श्मशानं च नद्यादीनां तटौ तथा ॥ ८० ॥

एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलोनां विनोदने ।

स्थानान्यष्टौ तथा ध्वान्तच्छन्ने कुत्रचिदाश्रये ॥ ८१ ॥

(४) कलहान्तरिता

चाटुकारमपि प्राणनाथं रोपादपास्य या ।

पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ॥ ८२ ॥

यथा मम तातपादानाम्—

‘नो चाटुश्रवणं कृतं, न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः,

कान्तस्य प्रियहेतवे निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः ।

पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया

पाणिभ्यामवरुध्य हन्त ! सहसा कण्ठे कथं नार्पितः ॥’

(२) वगीचा, (३) दृष्टे-भूटे मन्दिर, (४) दूतीगृह, (५) वन, (६) सूना स्थान, (७) श्मशान, (८) नदी आदि का तट और साथ ही साथ कोई अंधेरी जगह ।

विमर्श—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र (अध्याय २०-२२६-२३१) में ‘अभिसरण’ का यह स्वरूप प्रतिपादित है—

‘वेश्याया. कुलजायाश्च प्रेप्यायाश्च प्रयोक्तृभिः ।

एभिर्भावविशेषैस्तु कर्त्तव्यमभिसारणम् ॥

समदा मृदुचेष्टा च तथा परिजनावृता ।

नानाभरणचित्राङ्गी गच्छेद्देश्याङ्गना शनैः ॥

सलीना स्वेपु गात्रेषु त्रस्ता विनमितानना ।

अवगुण्ठनसंवीता गच्छेत् कुलजाङ्गना ॥

मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना ।

आविद्धगतिसञ्चारा गच्छेत् प्रेप्या समुद्धतम् ॥

गत्वा सा चेद् यदा तत्र पश्येत्सुप्त प्रिय तदा ।

अनेन तूपचारेण तस्य कुर्यात् प्रयोधनम् ॥

अलङ्कारेण कुलजा वेश्या गन्धैस्तु शीतलैः ।

प्रेप्या तु वस्त्रव्यजनैः कुर्वति प्रतिवोधनम् ॥’

यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने अभिनेता की प्राचीन परम्परा का ही पुनरुद्देश्य किया है ।

अनुवाद—‘कलहान्तरिता’ उस नायिका को कहते हैं जो कि प्रणयप्रार्थना करनेवाले भी प्रियतम को रोपपूर्वक निरादृत कर दिया करती है और फिर स्वयं पड़ताया करती है ।

उदाहरणार्थ, मेरे पूज्य पितृचरण की यह सूक्ति देखी जाय—

‘अब क्या किया जाय ! मैंने प्रियतम की प्रणययाचना भी न सुनी, उनके दिये प्रेमोपहाररूप कण्ठहार पर निगाह भी न डाली, उनकी हितचिन्ता में तत्पर अपनी सखी की बातों को भी सुनी-अनसुनी कर दी और परिणाम क्या हुआ ! वे मेरे पैरों पर भी

(५) विप्रलब्धा

प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति संनिधिम् ।

विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ॥ ८३ ॥

यथा—

‘उत्तिष्ठ दूति, यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।

याऽतः परमपि जीवेजीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥’

(६) प्रोपितभर्तृका

नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः ।

सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोपितभर्तृका ॥ ८४ ॥

गिरे, किन्तु अपनी मूढ़ बुद्धि को क्या कहूँ ? उन्हें उलटे पांव चल पड़ते देख कर भी, ओ न मालूम मुझे क्या हो गया कि मैं अपने हाथों से उन्हें रोक कर उनके गले से न लिपट पड़

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि के अनुसार ‘कलहान्तरिता’ का स्वरूप यह है—

‘ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्ते यस्या नागच्छति प्रियः ।

सामर्पवशसप्राप्ता कलहान्तरिता भवेत् ॥’

और इसका वस्तुतः यही अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने भी लिया है—

‘ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्ते कलहान्तरिताऽर्तिभाक्, ईर्ष्याकलहेन तत्समीयाशिष्क्रान्ते त विधमनागच्छति प्रिये पीडावती कलहान्तरिता । अत्रेर्ष्या कलहपूर्वकं परस्परमस्ये भिलाषः । पूर्वत्र तु नायिका समागमार्थिनी कलहाभावात्, किन्तु अन्यासङ्गिनि । ईर्ष्यामात्रवतीति विशेष इति ।’

अर्थात् ‘कलहान्तरिता’ के व्यक्तित्व की जो विशेषता है वह ‘खण्डिता’ के व्यक्तित्व में रहा करती । ‘कलहान्तरिता’ तो कलह के कारण प्रियतम के प्रेम-सगम के प्रति निरमि रहा करती है किन्तु ‘खण्डिता’ का स्वभाव यह है कि किसी प्रकार के कलह के न हो कारण, उसे प्रिय-सगम की अभिलाषा लगी रहती है । ‘कलहान्तरिता’ अपने किये पर पश्चा करती है किन्तु ‘खण्डिता’ अपने प्रियतम पर ईर्ष्या रखती है ।

अनुवाद—‘विप्रलब्धा’ वह नायिका है जो अपने आप को इसलिये अपमानित करती है क्योंकि उसका प्रेमी, स्वयं प्रेम-मिलन का संकेत देकर भी, उसके पास आ पाता । जैसे कि—

‘अरी दूती ! उठ, चल अद्य चलें, उनके आने का समय आ पहुँचा किन्तु वे आये । अब इतना सब होने पर भी जो जीवित रहे उसी के वे प्राणनाथ होने ल हैं (मेरे भला प्राणनाथ क्योंकर होने लगे ।) ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने ‘विप्रलब्धा’ का यह लक्षण किया है—

‘यस्याः दूर्ती प्रिय प्रेप्य दूर दः संकेतमेव वा ।

नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा भवेत् ॥’ (नाट्यशास्त्र २२ २

यहाँ विश्वनाथ कविराज ने भरत मुनि के ही ‘विप्रलब्धा’—लक्षण का अनुसरण किया है ।

अनुवाद—‘प्रोपितभर्तृका’ वह नायिका है जो कि, किसी कार्यवश, अपने प्रिय के परदेश चले जाने के कारण, कामवेदना से व्यथित रहा करती है ।

यथा—

‘तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेपु गच्छत्सु बाला
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥’

(७) वासकसज्जा

कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि ।
सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा ॥ ८५ ॥

यथा राघवानन्दानां नाटके—

‘विदूरे केयूरे कुरु, करयुगे रत्नवलये-
रत्नं, गुर्वी ग्रीवाभरणलतिकेयं किमनया ।
नवामेकामेकावलिमयि मयि त्वं विरचये-
न नैपथ्यं पथ्यं बहुतेरमनङ्गोत्सवविधौ ॥’

उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के मेघदूत में चित्रित यक्षिणी का प्रोपितमर्तृका-रूप) ।

‘हे मेघ ! चक्रवाक के विरह में चकई की भांति, मेरे विरह में विह्वल किं वा मरणासन्न मेरी प्यारी को, तुम, मेरे प्राणों का एकमात्र आधार समझना । जब तुम उसे देखोगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा जैसे, इन विरह के लम्बे लम्बे दिनों के बीतते, मिलन-वेला की चढ़ी-चढ़ी उत्कण्ठा में पड़ी, मेरी वह प्यारी, पाले से पीड़ित पद्मिनी की भांति, दीन-हीन किं वा किंकर्तव्यविमूढ़ बनी हुई है ।’

विमर्श—नाट्यशास्त्रप्रवर्तक आचार्य भरत ने ‘प्रोपितमर्तृका’ का यही स्वरूप-निरूपण किया था—

‘नानाकार्याणि सन्धाय यस्या वै प्रोपितः प्रियः ।

सा रुढालककेशान्ता भवेत् प्रोपितमर्तृका ॥’ (नाट्यशास्त्र २२ २१९)

अनुवाद—‘वासकसज्जा’ वह नायिका है जो, अपने सजे-धजे रंगमहल में, अपनी सखियों द्वारा सजायी जाया करती है और अपने प्रियतम से मिलने की प्रतीक्षा में पड़ी रहा करती है । उदाहरण के लिये, श्रीराघवानन्द महापात्र विरचित नाटक में चित्रित यह वासकसज्जा-चित्र—

‘अरी सखी ! इन बाजूबन्दों को हटा, हाथों के इन रत्न-कङ्कणों का क्या काम ! गले की इस भारी हँसुलो की क्या जरूरत ! अरी ! यम, तू मुझे मोतियों की एक लड़ी दे दे । मुझे तो अपने प्रियतम के साथ प्रेमोत्सव मनाना है, ऐसे समय मुझे किसी तरह की सजावट ठीक नहीं लगती ।’

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार ‘वानकमज्जा’ का यह स्वरूप है—

‘उचिते वासके या तु रतिसमोगलालसा ।

मण्डनं कुरुते एषा सा वै वासकमज्जिका ॥’

(नाट्यशास्त्र २२-२१३)

(८) विरहोत्कण्ठिता

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः ।

तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥ ८६ ॥

यथा—

‘किं रुद्धः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः,

किं वा कारणगौरवं किमपि, यन्नाद्यागतो वल्लभः ।

इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुज

दीर्घं निःश्वसितं, चिरं च रुदितं, क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः ॥’

(पूर्वोक्त नायिका-भेद-सकलन)

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण ।

चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदाः ॥ ८७ ॥

इह च ‘परस्त्रियौ कन्यकान्योढे सकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते, पञ्चाद्विदूषका

‘वासक’ का अभिप्राय है मिलन की रात के प्रेमोपचार का । भरतमुनि ने ये ६ ‘वासक’ बताये हैं—

‘परिपाठ्या फलार्थं वा नवे प्रसव एव वा ।

दुःखे चैव प्रमोदे च पठेते वासका स्मृताः ॥

उचिते वासके स्त्रीणामृतकालेऽपि वा घुघै ।

द्वेष्याणामथवेष्टाना कर्त्तव्यमुपसर्पणम् ॥’

(नाट्यशास्त्र २२-२०९, २१०)

इस प्रकार ‘वासक’ के लिये ‘सज्जिता’ नायिका ‘वासकसज्जा’ नायिका हुई ।

अनुवाद—‘विरहोत्कण्ठिता’ वह नायिका है जिसका प्रियतम, उससे मिलने के लिये उत्सुक होने पर भी, दैववशा, उससे नहीं मिल पाता और इसलिये जिसे वियोग की व्यथा विह्वल बना दिया करती है ।

जैसे कि—‘वह मृगनयनी सोचने लगी—‘क्या दूसरी प्रेयसी ने उन्हें रोक लिया । क्या मेरी सखी ने तो उन्हें तग नहीं किया । क्या कोई ऐसा काम उन्हें आ पड़ा जो न टालते बना हो । वे क्यों न आ सके ।’ और तब उसने अपने कमलमुख को हथेलियों में छिपा, लम्बी साँस ले, बहुत देर तक रोया धोया और फूलों के हार उतार फेंके ।’

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार ने ‘विरहोत्कण्ठिता’ का यह स्वरूप निर्दिष्ट किया है—

‘अनेकार्थव्यासद्वाद् यस्या नागच्छति प्रियः ।

तदनागतदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥’

(नाट्यशास्त्र २२-२१४)

अनुवाद—अब यदि उपर्युक्त नायिका-भेदों का परिगणन किया जाय तो सब मिलकर १२८ (१६ × ८ = १२८) नायिका-भेद सिद्ध हुये । इन १२८ नायिकाओं के भी उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन प्रकार हैं इसलिये समस्त नायिका भेद ३८४ (१२८ × ३ = ३८४) हुये ।

यहाँ किसी आचार्य का मत है कि उपर्युक्त नायिकाभेद युक्ति-युक्त नहीं । बात यह

दिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्र-
लब्धे, इति त्रयवस्थैवानयोरस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।' इति कश्चित् ।

कचिदन्योन्यसाङ्कर्यमासां लक्ष्येषु दृश्यते ।

यथा—

‘न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
विट ! विटपममुं ददस्व तस्यै भवति यतः सदृशोश्चिराय योगः ।’

‘तव कितव ! कमाहितैर्वृथा नः क्षितिरुहपल्लवपुष्पकर्णपूरैः ।

ननु जनविदितैर्भवद्वचलीकैश्चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम् ॥’

‘मुहुरुपहसितामिवालिनादैर्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।

वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ ! कलिरेप महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥’

‘इति गदितवती रूपा जघान स्फुरितमनोरमपद्मकेसरेण ।

श्रवणनियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्युरुहेण चक्षुषा च ॥’

है कि ‘कन्यका’ और ‘परोडा’ प्रकार की द्विविध परकीया नायिकाओं की तीन ही अवस्थायें
युक्तिसिद्ध हो सकती हैं (न कि आठों) जैसे कि (१) किसी प्रेमी के साथ सुरत-
संकेत हो चुकने पर, मिलन-काल के पहले ‘विरहोत्कण्ठिता’ की अवस्था (२) तदनन्तर
विटपक अथवा चेट आदि के साथ अभिसरण करने पर ‘अभिसारिका’ की अवस्था और
(३) किसी कारणवश संकेत-स्थान पर नायक के न आ सकने पर ‘विप्रलब्धा’ की
अवस्था । ऐसा इसलिये क्योंकि दोनों प्रकार की (कन्यका और परोडा) ये नायिकायें
(स्वाधीनपतिता नहीं अपितु) ‘अस्वाधीनपतिता’ ही रहा करती हैं । [किन्तु यह
मत ठीक नहीं क्योंकि ‘पति’ अथवा ‘भर्ता’ का अभिप्राय यहाँ प्रणयी अथवा कामुक
माना गया है । ‘कन्यका’ और ‘परोडा’ भी स्वाधीनपतिता (स्वाधीनकामुका) हो
सकती हैं क्योंकि पिता और पति के घर में भी कोई स्त्री किसी दूसरे से प्रेम कर सकती है
और तब उसे भी ‘उत्कण्ठिता’ आदि-आदि की अवस्थाओं से गुजरना पड़ सकता है ।]

काव्य-साहित्य में इन उपर्युक्त नायिका-भेदों का सकीर्ण-स्वरूप भी यत्र-तत्र चित्रित
मिलता है । जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपाल-वध में ही) .—

‘अरे लम्पट ! हमें तू इन फूली टहनिओं को तोड़-तोड़ क्यों दे रहा है ! जा, इन्हें अपनी
उस प्यारी को जाकर दे जो एकान्त-सभोग में तुझे चूस रही है और जिसे छोड़ना तेरे
वश के बाहर है । मेल तो समान स्वभाववालों में ही ठीक है (यह भी विटप-फूली
टहनी-है और वह भी ‘विटपा’-तुझ जैसे लम्पट की प्यारी-है) ।’

‘अरे धूर्त ! मेरे कानों के लिये इन कोमल किशलयों और फूलों के कर्णफूल तू क्यों
यनाना चाहता है । अरे ! मेरे कान तो तेरे सर्वविदित लम्पट-चरित्र-गाथाओं से यों ही
भरे हुये हैं ।’

‘अरे नीच ! भौरों की गुञ्जार से भरी इस ‘कली’ को मुझे क्यों दे रहा है । अरे !
जब तू उस दुष्टा के घर रात बिता चुका तब तो तूने मुझे ‘कलि’ (कलह का पर्याप्त
कारण) दे ही डाली ।’

‘इस प्रकार घोलती हुई नायिका ने, अपने प्रेमी पर, लम्बे-लम्बे (कानों
तक फैले) किंवा पद्म-केशरों से भरे हुये नीलकमल और नयनों की एक ही साथ
चोट मारी ।’

इयं हि वक्रोक्त्या परुषवचनेन कर्णोत्पलताडनेन च धीरमध्यताधीरम
ताधीरप्रगल्भताभिः संकीर्णा ।

एवमन्यत्राऽप्युह्यम् ।

इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया ॥ ८८ ॥

ता नायिकाः ।

यहाँ (भाव की उपर्युक्त सूक्तियों में) यह स्पष्ट है कि जिस नायिका का चित्र
किया हुआ है उसमें 'वक्रोक्ति-नैपुण्य के कारण 'धीरमध्यता', परुषवचन के कारण
अधीरमध्यता और कर्णोत्पल से ताड़न के कारण 'अधीरप्रगल्भता' के स्वभाव घुले मिले हैं।

इसी प्रकार अन्य नायिका-भेद-साकर्य स्वयं देखे जा सकते हैं ।

इन उपर्युक्त नायिका-प्रकारों के अतिरिक्त अन्यान्य (दिव्या, अदिव्या, पद्मिनी
हस्तिनी आदि-आदि) नायिका-प्रकार भी परिगणित किये जा चुके हैं किन्तु ग्रन्थगौरव
के भय से यहाँ इनका परिगणन नहीं किया गया और ऐसा करना ठीक भी नहीं है ।

यहाँ कारिका में 'ताः' का अभिप्राय 'नायिकाओं' का है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने जैसा नायिका-भेद निरूपण किया है उसके आधार पर
रूप में शारदातनय (१० वीं शताब्दी)-कृत 'भावप्रकाशन' आदि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ माने जा
सकते हैं । आचार्य शारदातनय ने स्पष्ट कहा है—

‘त्रयोदशविधा स्वीया द्विविधाऽन्याङ्गना मता ।

एका वेश्या पुनश्चाष्टाववस्थाभेदतोऽपि ताः ॥

पुनश्च ताः त्रिधा सर्वा उत्तमाधममध्यमाः ।

इत्थं शतत्रय तासामशीतिश्चतुस्तथा ॥

सङ्ख्येय रुद्राचार्यैरुपभोगाय दर्शिता ।

अन्या व्यवस्थैवेत्येके कथयन्ति मनीषिणः ॥

प्रथमायामवस्थायामन्या स्याद्विरहोन्मना ।

ततोऽभिसारिका भूत्वा सङ्केते पश्यति प्रियम् ॥

सङ्केताच्चेत् परित्रष्टा विप्रलब्धा भवेत् पुनः ।

पराधीनतया तस्या नान्याऽवस्था विलोक्यते ॥’

(भावप्रकाशन . ४ र्थ अधिकार)

(ख) भरतमुनि का नाट्यशास्त्र नायिकानिरूपण का भी आकरग्रन्थ है । निम्न पंक्ति
में नाना प्रकार की नायिकाओं का स्वरूप-निर्देश है—

‘भूयिष्ठमेव लोकोऽयं सुरतमिच्छति सर्वदा ।

सुखस्य हि स्त्रियो मूलं नानाशीलाश्च ताः पुनः ॥

देव-दानव-गन्धर्व-रक्षो-नाग-पतन्त्रिणाम् ।

पिशाच-यक्ष-न्यालानां नर-वानर-हस्तिनाम् ॥

मृग-भीनोष्ट्र-मकर-खर-सूकर-चाजिनाम् ।

महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियो मता ॥’

(नाट्यशास्त्र २२ ९१-१०१)

साहित्यदर्पणकार ने इन अनन्त नायिका-प्रकारों का निर्देश मात्र करके जो ग्रन्थ का आकर
नहीं बढ़ाया, वह अच्छा ही किया ।

(नायिकाओं के यौवनालङ्कार)

अथासामलङ्काराः—

यौवने सन्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः ।

अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः ॥ ८९ ॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।

औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्थिरयत्नजाः ॥ ९० ॥

लीला विलासो विच्छित्तिर्विव्वोकः किलकिञ्चितम् ।

मोहायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ॥ ९१ ॥

विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।

हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यकाः ॥ ९२ ॥

स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।

पूर्वे भावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामपि संभवन्ति । किंतु सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्पन्ति ।

१ अनुवाद—अब नायिकाओं के अलङ्कारों का निर्देश किया जा रहा है—

नायिकाओं के ये २८ अलङ्कार हैं जो कि (शृङ्गाराभिनयभक्त) 'सात्विक' अलङ्कार कहे गये हैं और उनके यौवन से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें 'अङ्गज' अलङ्कार तीन हैं—(१) भाव, (२) हाव और (३) हेला। इनमें जिन्हें 'अयत्नज' अलङ्कार कहा करते हैं वे सात हैं—(४) शोभा, (५) कान्ति, (६) दीप्ति, (७) माधुर्य, (८) प्रगल्भता, (९) औदार्य और (१०) धैर्य। 'स्वभावज' अलङ्कारों में इन १८ अलङ्कारों की गणना है—(११) लीला, (१२) विलास, (१३) विच्छित्ति, (१४) विव्वोक, (१५) किलकिञ्चित, (१६) मोहायित, (१७) कुट्टमित, (१८) विभ्रम, (१९) ललित, (२०) मद, (२१) विहृत, (२२) तपन, (२३) मौग्ध्य, (२४) विक्षेप, (२५) कुतूहल, (२६) हसित, (२७) चकित और (२८) केलि।

इन २८ अलङ्कारों में पूर्व परिगणित १० अलङ्कार (भाव से धैर्य तक) नायक के भी सात्विक किंवा यौवन-सम्बन्धी अलङ्कार माने जाये करते हैं।

यहाँ (कारिका में) 'भावाद्या' दश' का अभिप्राय पूर्वोक्त (१) 'भाव से लेकर (१०) 'धैर्य' पर्यन्त अलङ्कारों का है जो कि (नायिका के अतिरिक्त) नायक के भी अलङ्कार हैं। तब भी इतना तो निश्चित है कि इनकी जैसी सुन्दरता और विचित्रता नायिका में रहने पर दिखायी दिया करती है वैसे नायक में रहने पर नहीं।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'सामान्याभिनय' के प्रसङ्ग में नायक और नायिका के इन अलङ्कारों का स्वरूप-निर्देश और निरूपण किया है—

'अलङ्कारास्तु नाट्यज्ञैर्ज्ञेया भावरसाश्रयाः ।

यौवनेऽभ्यधिका स्त्रीणां विकारा वक्त्रगात्रजा ॥

आर्द्रा त्रयोऽङ्गजास्तेषां दश स्वभाविका परे ।

अयत्नजाः पुनः सप्त रसभावोपवृद्धिताः ॥

भाव एवालपसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥ ९४ ॥

यथा—

‘विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्वालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥’

(३—हेला)

अथ हेला—

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात् स एव तु ।

स एव भाव एव ।

यथा—

‘तह ते भक्ति पडता बहुए सव्यङ्गविब्रममा सअला ।

संसइअमुद्धभावा होइ चिरं जइ सहीणं पि ॥’

(तथा तस्या भक्तिरिति प्रवृत्ता बध्वा. सर्वाङ्गविभ्रमाः सकलाः ।

सशयितमुग्धभावा भवन्ति चिरं यथा सखीनामपि ॥)

के विचित्र व्यापारों से सभोग-कामना प्रकाशित किया करता है और हृदय रति-विकार का किञ्चिन्मात्र परिलक्षक भी हुआ करता है । उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के ‘कुमारसंभव’ में पार्वती का यह हाव-वर्णन)—

‘(जिस समय महायोगी भगवान् शङ्कर के हृदय पर काम के घाण गिरने लगे, उस समय) पार्वती भी नवकुसुमित कदम्ब-कोरकों की भाँति (रोमाञ्चित) अपने अद्भुत-प्रत्यङ्ग से अपनी हृदगत रतिभावना प्रकाशित करने लगी और अपने अतिमनोरम किंवा कटाक्षाघित मुख को तिरछा घुमाये खड़ी हो गयी ।’

विमर्श—‘हाव’ की परिभाषा आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में यह है—

‘बहुविकारात्मा भूतारकचिबुक्क्रीचादेर्धर्म. स्वचित्तवृत्ति परत्र जुहूर्ती कुमारी हावयतीति हाव ।’

‘स्मित किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभव

परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।

गतीनामारम्भ किसलयितलीलापरिकरः

स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्य मृगदृश ॥’

(काव्यानुशासन ७ ३४)

अर्थात् ‘हाव’ सुवती नायिका का वह अद्भुतविकार है जो उसके प्रेम-पगे हृदय की एक सार्थजनिक सूचना दिया करता है ।

अनुवाद—‘हेला’ का निरूपण किया जा रहा है—

‘हेला’ का अभिप्राय वस्तुतः वह ‘भाव’ ही है जिसे (नायक-नायिका के हृदय में रत्युद्बोध के अनन्तर) अद्भुत-प्रत्यङ्ग का एक ऐसा विकार कहा करते हैं जो सब पर प्रकट हो जाय ।

यहाँ कारिका में ‘स एव’ का अभिप्राय ‘भाव एव’ (भाव) का ही है ।

जैसे कि—

‘नवयधू के अद्भुत-प्रत्यङ्ग के सभी विभ्रम-विलास इतनी शीघ्रता से प्रकट होने लगे कि सखियों को भी उसकी मुग्धता पर सदेह होने लगा ।’

(४—शोभा)

अथ शोभा—

रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरङ्गभूषणम् ॥ ९५ ॥

शोभा प्रोक्ता—

तत्र यौवनशोभा यथा—

‘असंभृतं मण्डनमङ्गल्यष्टेरनासवाख्यं करण मदस्य ।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमलं वाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥’

एवमन्यत्रापि ।

विमर्श—(क) काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने ‘हेला’ की यह परिभाषा की है—
 ‘यदा तु रतिवासनाप्रबोधात्तां प्रबुद्धां रतिमभिमन्यते केवल समुचितविभावोपग्रह
 विरहाग्निविषयतमा स्फुटीभाव प्रतिपद्यते तदा तज्जनितबहुतराङ्गविकारात्मा हेला, हावस
 सम्बन्धिनी क्रिया । प्रसरत्ता वेगवाहित्वमित्यर्थः । वेगेन हि गच्छन् हेलतीत्युच्यते लोभ
 इति । एवं चोद्भिद्योद्भिद्य विश्राम्यन् हावः । स एव प्रसरणैकस्वभावो हेलेति ।तदेव
 द्वाभ्राक्षणस्योपनयनमिव भविष्यत् पुरुषार्थसङ्गपीठबन्धत्वेन योषितामासनन्ति ।’

अर्थात् ‘हाव’ का ही विकास ‘हेला’ है । किसी द्विज के उपनयन की भाँति नारी की ‘हेला’
 पुरुषार्थसङ्ग का पीठबन्ध है ।

(ख) भाव, हाव और हेला का विश्लेषण नायक-नायिका हृदय में रति-बीज के उत्पाद
 उद्घाट और औन्मुख्य का विश्लेषण है । महाकवियों की कृतिओं में प्रसिद्ध नायिकाओं के बौवना
 लङ्कारों का जो चित्रण है उसमें इन तीन अलङ्कारों का वास्तविक स्वरूप-सौन्दर्य स्पष्ट परिलक्षि
 होता है । उत्तमप्रकृति नायिका के चित्रण में इन्हीं अलङ्कारों की योजना महाकवियों की कल
 की विशेषता है । इसीलिये नाट्यदर्पणकार का स्पष्ट कथन है—

‘भवति हि तयाभूतं वागादिवैचित्र्यमुपलभ्योदुद्वेगोऽयमन्तःकामप्रदीपोऽस्या इत्युत
 मप्रकृतिश्च नायिकेयमिति सहृदयस्य निश्चय इति—(नाट्यदर्पण-४र्थ विवेक)’

अर्थात् उत्तम प्रकृति नायिका की अन्त शोभा तभी छिटक पड़ती है जब कि उसके हृदय
 कामावतार की शुभ-सूचना देनेवाले वागादि-वैचित्र्य उसके शरीर पर प्रस्फुटित हो उठते हैं
 ‘भाव’ तो नारीशरीर का प्रथम कामसूचक मनोरम विकार है । ‘हाव’ भाव के उद्रेक
 निर्भर है और जिसे ‘हेला’ कहते हैं वह हाव के उन्मेष का परिणाम है ।

अनुवाद—शोभा का निरूपण किया जा रहा है—जिसे ‘शोभा’ कहते हैं वह रु
 यौवन, सौकुमार्य किंवा सुखभोग से सम्भूत नायिका (और नायक के) शरीर का
 सौन्दर्य है । उदाहरण के लिये यौवन-संभूत शोभा (जो कि महाकवि कालिदास
 प्रतिभा द्वारा चित्रित हुई है)—

‘पार्वती वाल्यावस्था के बाद उस अवस्था (यौवनावस्था) में पहुँची जो कि रम
 की अङ्गलतिका की एक सहज भूषण-सम्पत्ति हुआ करती है, जिसे बिना आसवपान
 ही मद की उत्पत्ति का कारण माना जाता है और जो वस्तुतः काम का एक ऐसा अ
 है जो पाँचों पुष्पाक्षों से भी बढ़कर अमोघवीर्य है ।’

इसी प्रकार रूप-संभूत-शोभा आदि-आदि शोभा-प्रकारों के निदर्शन काव्य-साहि
 में यत्र-तत्र स्वयं देखे जा सकते हैं ।

(५—कान्ति)

अथ कान्तिः—

सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः ।

मन्मथोन्मेषेणातिविस्तीर्णा शोभैव कान्तिरुच्यते ।

यथा—

‘नेत्रे खञ्जनगञ्जने—’ इत्यत्र ।

(६—दीप्ति)

अथ दीप्तिः—

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ॥ ६६ ॥

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्—

‘तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसंपदो हासः ।

धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥’

(७—माधुर्य)

अथ माधुर्यम्—

सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने ‘शोभा’ का यह स्वरूप-विवेक किया है—

‘रूपयौवनलावण्यै रूपभोगोपवृत्तितै’ ।

अलङ्करणमङ्गानां शोभेति परिकीर्तिता ॥’ (नाट्यशास्त्र २२. २७)

अनुवाद—‘कान्ति’ का स्वरूप यह है—

उपर्युक्त ‘शोभा’ ही ‘कान्ति’ बन जाती है जब कि उसमें कामविलास की वृद्धि परिलक्षित होने लगती है ।

तात्पर्य यह है कि स्मरोद्रेक से अति समृद्ध ‘शोभा’ का ही दूसरा नाम ‘कान्ति’ है ।

इसके उदाहरण के लिये ‘नेत्रे खञ्जनगञ्जने’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है ।

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार ‘कान्ति’ का यह स्वरूप है—

‘विज्ञेया च तथा कान्तिः शोभैवापूर्णमन्मथा ।’ (नाट्यशास्त्र २२. २८)

अनुवाद—‘दीप्ति’ का निरूपण किया जा रहा है—

जिसे ‘दीप्ति’ कहते हैं वह अतिविस्तीर्ण ‘कान्ति’ ही है (अन्य कुछ नहीं) ।

उदाहरण के लिये, मेरी स्वरचित ‘चन्द्रकला’ नाटिका में, चन्द्रकला का यह वर्णन—

‘यह सुन्दरी चन्द्रकला तरुणता का साक्षात् विलास है, बढ़ती लावण्य-सम्पदा का सुन्दर हास है, पृथिवी की एकमात्र आभरण-शोभा है और है युवकों के हृदय का वशीकरण-मन्त्र ।’

विमर्श—भावप्रकाशनकार आचार्य शारदाजनय ने ‘दीप्ति’ का यह लक्षण किया है—

‘कान्तिरेवोपभोगेन देशकालगुणादिभिः ।

उदीप्यमाना विस्तारं याता दीप्तिरिति स्मृता ॥’

अनुवाद—‘माधुर्य’ का लक्षण किया जा रहा है—

यथा—

‘सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमाशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम् ॥’

(८—प्रगल्भता)

अथ प्रगल्भता—

निःसाध्वसत्त्वं प्रागल्भ्यम्—

यथा—

‘समारिलष्टा’ समाश्लेषैश्चुम्बिताश्चुम्बनैरपि ।
दष्टाश्च दशनैः कान्त दासीकुर्वन्ति योषितः ॥’

‘माधुर्य’ (नायिका और नायक की) एक ऐसी रमणीयता है जो सभी प्रकार अवस्थाओं में अक्षुण्ण रहा करती है । उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास द्व चित्रित शकुन्तला के व्यक्तित्व का यह माधुर्य)—

‘यह सुन्दरी (शकुन्तला) वल्कल के भी परिधान से कितनी सुन्दर, कितनी मनो लगा रही है ! शैवल लताओं की लपेट से भी कमल सुन्दर ही लगा करता है । कलङ्क रेखा भी शीताशु की शोभा ही बढ़ाया करती है । जो भी सुन्दर व्यक्तित्व है उसके सब कुछ (चाहे वह सुरूप हो या कुरूप हो) सौंदर्यवर्द्धक ही बन जाया करता है ।’

विमर्श—नाट्यशास्त्र (२२ २९ में ‘माधुर्य’ का यह परिभाषा की गयी है—

‘सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च ।
अनुत्पन्नत्व चेष्टाया माधुर्यमिति सञ्ज्ञितम् ॥’

रसार्णवसुधाकरकार श्रीशिशुभूपाल ने भी ‘माधुर्य’ का उपर्युक्त ही अभिप्राय लिया है—

‘माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु मार्दवम् ।’

अनुवाद—‘प्रगल्भता’ का स्वरूप बताया जा रहा है—

‘प्रगल्भता’ (प्रागल्भ्य) एक ऐसी विशेषता है जिसे (नायिका और ना हृदय की) निर्भयता कह सकते हैं । जैसे कि—

‘रमणिओं का क्या कहना ! यदि वे आलिङ्गित हों तो आलिङ्गनों से, चुम्बित तो चुम्बनों से और दन्तच्छता हों तो दन्तच्छतों से अपने प्रेमियों को अपना दास तो ही लेती हैं ।’

विमर्श—‘प्रागल्भ्य’ का अभिप्राय नाट्यशास्त्र (२२ ३१) के अनुसार यह है—

‘प्रयोगनिःसाध्वसता प्रागल्भ्य समुदाहृतम् ।’

और अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्ताचार्य ने ‘प्रयोग’ का तात्पर्य ६४ कामकला का लिया है

‘प्रयोग इति कामकलादौ चातु पष्टिक इत्यर्थः यथाहुः—’

अन्यदा भूषण पुसः शमो लज्जेव योषितः ।

पराक्रमः परिभवे प्रागल्भ्य सुरतेष्विव ॥’

(९—औदार्य)

अथौदार्यम्—

—औदार्यं विनयः सदा ॥ ९७ ॥

यथा—

‘न व्रूते परुषां गिरं वितनुते न भ्रूयुगं भङ्गुरं,
नोत्तंसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागसि ।
कान्ता गर्भगृहे गवाक्षविवरव्यापारिताद्या वहिः
सख्या वक्त्रमभिप्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने ॥’

(१०—धैर्य)

अथ धैर्यम्—

मुक्तात्मश्लाघना धैर्यं मनोवृत्तिरचञ्चला ।

यथा—

‘ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,
दहतु मदनः, किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिन न त्वेवाय जनो न च जीवितम् ॥’

अनुवाद—औदार्य.—‘औदार्य’ का अभिप्राय है कदापि कोप न करने अथवा सदा विनम्र रहने का । जैसे कि—

‘(नायक की उक्ति—) मेरे प्रेमापराध के स्पष्टतया प्रकट हो जाने पर भी वह सुन्दरी न तो मुझे कोई कड़ी बात बोलती है, न मुझ पर भौंहें तरेरती है और न कानों से कनकूल निकाल-निकाल कर मेरे सामने फेंकती है । वह तो भीतर के घर के झरोखे से झधर-झधर याहर झाँक झाँककर केवल अपनी सखी के मुँह की ओर आँखें मरी निगाह डाल देती है ।’

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार ‘औदार्य’ का लक्षण यह है—

‘औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सर्वावस्थानुगो बुधैः ॥’

—(नाट्यशास्त्र २२-३१)

और इसे अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार समझाया है—

‘सर्वास्वमर्पेर्ष्याक्रोधाद्यवस्थास्त्वपि यत्परुषवचनाद्यनुदोरण तदौदार्यम् ।’

अनुवाद—धैर्यः—‘धैर्य’ का अभिप्राय (नायक और नायिका की) एक ऐसी मनोवृत्ति है जिसमें न तो कोई चंचलता रहा करती है और न किसी प्रकार की आत्मश्लाघा टिका करती है ।

जैसे कि (महाकवि भवभूति के ‘मालतीमाधव’ में चित्रित ‘मालती’ का धैर्य-चित्र)—

‘भले ही रातों में निरन्तर चन्द्रमा जलता रहे, भले ही कामदेव भाग उगलता रहे, भला मौत के अतिरिक्त और मेरा क्या बिगड़ जायगा । मेरे प्रियतम, मेरे पिता, मेरी माता, मेरे सभी सगे-सम्बन्धी निष्फल कुल के ही रहेंगे । मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं और न अपने प्राणों की ही कोई मोह-ममता है ।’

(११—लीला)

अथ लीला—

अङ्गैर्वैषैरलङ्कारैः प्रेमिभिर्वचनैरपि ॥ ९८ ॥

प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृति विदुः ।

यथा—

मृणालव्यालवलयो वेणीबन्धकपर्दिनी ।

हरानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत् ॥

(१२—विलास)

अथ विलासः—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ॥ ९९ ॥

विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना ।

यथा—

‘अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्तवैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताद्या’ ।

तद्भूरिसात्त्विकविकारमपास्तधैर्यमाचार्यक विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥’

विमर्श—आचार्य हेमचन्द्र ने ‘धैर्य’ का यही स्वरूपविवेक किया है—

‘अचापलाविकथनस्वे धैर्यम्—

चापलानुपहतस्वमात्मगुणानाख्यान धैर्यम् ॥’ (काव्यानुशासन ७-५०)

अनुवाद—लीला.—‘लीला’ का अभिप्राय है प्रेमोद्वेग के कारण, क्या अंग, क्या वेप, क्या आभूषण और क्या प्रेमपगो वचन—सब से प्रियतम के अनुकरण का । जैसे कि—

‘उन देवी पार्वती की जय हो जो कमलतन्तुओं के वलय से (शिव के) व्याल-वलय का और घेणी के बन्ध से (शिव के) जटाजूट का अनुकरण किया करती हैं ।’

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने नाट्य-प्रयोक्तृओं की दृष्टि से ‘लीला’ का यह निरूपण किया है—

‘वागङ्गालङ्कारैः शिष्टैः प्रीतिप्रयोजितैर्मधुरैः ।

दृष्टजनस्यानुकृतिर्लीला ज्ञेया प्रयोगज्ञैः ॥’

(नाट्यशास्त्र २२ १४)

यही बात काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी कही है—

‘वाग्वेषचेष्टितैः प्रियस्यानुकृतिर्लीला ।

प्रियगतानां वाग्वेषचेष्टानां प्रियबहुमानातिशयेन न तूद्धृक्करूपेणात्मनि योजनमनुकृतिर्लीला ।’

अनुवाद—विलास —प्रिय के दर्शन, आगमन आदि के कारण, चाल-ढाल, उठने-बैठने, आसन-शयन किंवा मुख और नेत्र आदि के व्यापारों की आनन्द सूचक विशेषता का नाम ‘विलास’ है । जैसे कि (महाकवि भवभूति के ‘मालतीमाधव’ में चित्रित ‘मालती’ का विलास)—

‘माधव का दर्शन क्या हुआ, आयताक्षी मालती के ऐसे भाव प्रकट होने लगे जिनका गणी से वर्णन असम्भव है, जिनसे विभ्रम-विलासों की विचित्रतायें छिटक पड़ीं, जिनसे

(१३—विच्छित्ति)

अथ विच्छित्तिः—

स्तोकाप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ।

यथा—

‘स्वच्छाभ्रमःस्तनपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम् ।
वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्त्वित्यानाकल्पो यदि कुसुमेपुणा न शून्यः ॥’

(१४—विष्णोः)

अथ विष्णोः—

विष्णोःस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः ॥ १०० ॥

यथा—

‘यासां सत्यपि सद्गुणानुसरणे दोषानुवृत्तिः परा,
याः प्राणान् वरमर्पयन्ति, न पुनः सम्पूर्णदृष्टिं प्रिये ।

(स्तम्भादि) सात्त्विक भावों का स्रोत फूट पड़ा, जिन्होंने उसे अधीर बना दिया और एक शब्द में जिन्हें काम की कला-शिष्टाओं का लोकोत्तर प्रकाशन कहा जा सकता है !

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार ‘विलास’ का स्वरूप यह है—

‘स्थानासनगमनानां हस्तभ्रूनेत्रकर्मणाञ्चैव ।

उत्पद्यते विशेषो यः श्लिष्टः स तु विलास स्यात् ॥’

(नाट्यशास्त्र २०. २५)

अर्थात् प्रिय के सम्प्राप्तिकाल में नायिका की मनोन्म आगिक चेष्टायें ‘विलास’ कही जाती हैं ।

अनुवाद—विच्छित्ति—‘विच्छित्ति’ का अभिप्राय है—सौन्दर्य की वृद्धि करनेवाली थोड़ी भी वेप-रचना का । जैसे कि (महारुवि माघ के शिशुपालवध में चित्रित विच्छित्ति चित्र)—

‘कामिनिओं की वेप-रचना क्या ! यदि कामकलाओं का विलास हो तो निर्मल जल के स्नान से शुद्ध-शीतल शरीर, ताम्बूलराग से सुन्दर ओठ और सूक्ष्म किंवा निर्मल वस्त्र-वस यही कामिनिओं का वेप-सौन्दर्य है ।’

विमर्श—भरतमुनि ने ‘विच्छित्ति’ का यह लक्षण किया है—

‘मात्स्याच्छादनभूषणविलेपनानामनादरन्यासः ।

स्वल्पोऽपि परां शोभा जनयति यस्मात्तु विच्छित्तिः ॥’

(नाट्यशास्त्र २०. १६)

और आचार्य ऐनचन्द्र के अनुसार ‘विच्छित्ति’ का यह स्वरूप है—

‘गर्वादल्पाकल्पन्यासः शोभाकृद्विच्छित्तिः ।

सौभाग्यगर्वादिनादरेण कृतो मात्स्याच्छादनभूषणविलेपनरूपस्याल्पस्याकल्पस्य न्यासः सौभाग्यमहिम्ना शोभाहेतुर्विच्छित्तिः ।’ (काव्यानुशासन ७. ३८)

यद्यपि साहित्यदर्पणकार ने ‘विच्छित्ति’ के निदान ‘मानान्धगर्वा’ का उल्लेख नहीं किया है किन्तु यह अभिप्राय यहाँ अन्तर्निहित अवश्य है ।

अनुवाद—विष्णोः—सौभाग्य-गर्व के कारण प्रियवस्तु के प्रति भी अनादर का जो भाव है उसे ‘विष्णोः’ कहते हैं । उदाहरण के लिए—

‘तौनों लोकों से विलक्षण प्रकृतिवाली वह वामा सुन्दरी तुम पर प्रसन्न हो जो

अत्यन्ताभिमतोऽपि वस्तुनि विधिर्यासां निषेधात्मक-
स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणप्रकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते ॥'
(१५—किलकिञ्चित्)

अथ किलकिञ्चितम्—

स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् ।

साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसङ्गमादिजाद्वर्पात् ॥ १०१ ॥

यथा—

‘पाणिरोधमविरोधितवाङ्मं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः ।
कामिनः स्म कुरुते करभोरुर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥’
(१६—मोहायित)

अथ मोहायितम्—

तद्भावभाविते चित्ते बलभस्य कथादिषु ।

मोहायितमिति प्राहुः कर्णकण्डूयनादिकम् ॥ १०२ ॥

सद्गुणानुसरण में सदा तत्पर रहने पर भी सर्वत्र दोष निकाला करती है, जो प्रियतम :
लिये प्राणों के न्यौछावर करने में उद्यत होने पर भा उस पर पूरी निगाह नहीं डाल
करती और जो किसी प्रिय वस्तु के प्रति बलवती अभिलाषा रखने पर भी उसे माग
का हाल नहीं जानती ।’

विमर्श—कान्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने ‘विब्वोक’ का यह लक्षण किया है—
‘इष्टेऽप्यवज्ञा विब्वोक । सौभाग्यगर्वादिष्टेऽपि वस्तुन्यनादरो विब्वोकः ।’

(कान्यानुशासन ७ ३९)

इसका सुन्दर उदाहरण महाकवि कालिदास की यह सूक्ति है—

‘निर्विमुज्य दशनच्छद ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा ।

शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥’

(कुमारसम्भव ८ ४९)

अनुवाद—किलकिञ्चित् —प्रियतम के सङ्गम, आगमन आदि-आदि से सभूत आनन्द
के कारण मुसकुराहट, अकारण रोदन, हँसी, त्रास, क्रोध, श्रम आदि-आदि के विचि
मिश्रण को ‘किलकिञ्चित्’ कहा जाता है । जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध :
चित्रित यह ‘किलकिञ्चित्’ चित्र)—

‘सुन्दरी ने अपने प्रियतम की इच्छा का विधात न करके भी, नीवीमोक्ष में तत्पर
उसके हाथों को रोका, मन्द मुसकान के साथ उसे मीठी-मीठी शिष्टकियाँ दीं और
आनन्द का अनुभव करते हुये भी मनोहर शुष्क रोदन (यों ही रो पड़ना) कर डाला ।’

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार ‘किलकिञ्चित्’ का यह स्वरूप है—

‘स्मितरुदितहसितभयहर्षगर्वदुःखश्रमाभिलाषाणाम् ।

सङ्करकरणं हर्षादसकृत् किलकिञ्चित् ज्ञेयम् ॥’

(नाट्यशास्त्र २२ १८)

‘किलकिञ्चित्’ का भी कारण सौभाग्यगर्व ही है न कि और कुछ ।

अनुवाद—मोहायित.—प्रियतम के चरित्र से सम्बद्ध आलाप सलाप के प्रसङ्गों

यथा—

‘सुभग । त्वत्कथारम्भे कर्णकण्डूतिलालसा ।
उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनन्त्यङ्गानि साङ्गना ॥’

(१७—कुट्टमित)

अथ कुट्टमितम्—

केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि सम्भ्रमात् ।

आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम् ॥ १०३ ॥

यथा—

‘पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरविम्बमभीष्टे ।

पर्यंकृजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ॥’

प्रेमपगी नायिका के कर्णकण्डूयन (कान खुजलाने) आदि का नाम ‘मोटायायित’ कहा जाया करता है । जैसे कि—

‘अरे सौभाग्यशाली युवक ! तुम्हारे सम्बन्ध में बातचीत चलते ही वह सुन्दरी अपने कानों के खुजलाने में बड़ा आनन्द लेने लगती है । उसका मुखकमल जभाई लेने लगता है और उसके अङ्ग-अङ्ग अंगड़ाई से भर उठते हैं ।’

विमर्श—‘नाट्यशास्त्र में ‘मोटायायित’ की यह परिभाषा है—

‘इष्टजनस्य कयायां लीलाहेलादिदर्शने वापि ।

तद् भावभावनाकृतमुक्त मोटायायित नाम ॥’

जिसकी अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह व्याख्या है—

‘इष्टजनस्येति—कथने दर्शने वा कान्तस्य यदुत्पद्यते योपितो लीलादि तद्भावभावन-
वशान्मदनाङ्गमर्दपर्यन्त तदङ्गमोढनान्मोटायायितम् ।’ (नाट्यशास्त्र . अभिनवभारती : २२ १९)

अभिप्राय यह है कि प्रियतम के दर्शनादि से प्रेमपगी नायिका की अंगड़ाई आदि ‘मोटायायित’ है ।

अनुवाद—‘कुट्टमित’—काव्यकोविद लोग जिस यौवनालङ्कार को ‘कुट्टमित’ कहते हैं उसका अभिप्राय नायक के द्वारा, केश, स्तन, अधर आदि के ग्रहण में, आनन्द लेनेवाली भी नायिका का, सभ्रमवश, अपने सिर, हाथ आदि का (निषेधसूचक) विधूनन अथवा कपन है ।

जैसे कि (महाकवि माघ के ‘शिशुपालवध’ में कुट्टमित का यह-चित्रण)—
‘जैसे ही प्रियतम ने (प्रेमिका के) पल्लवोपम अधरस्निग्ध पर अपने दाँतों के चिह्न बनाये, वैसे ही सुन्दरी के मुखरित कङ्कण-युक्त हाथ ने, नानो फट का निषेधन करते हुए, स्तन-
झनाहट मचा दी ।’

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार ‘कुट्टमित’ का यह स्वरूप है—

‘केशस्तनाधरादिग्रहणादतिहर्षसंभ्रमोत्पन्नम् ।

कुट्टमितं विज्ञेयं सुगमपि दुःखोपचारेण ॥’

(नाट्यशास्त्र २२. २०)

जिसका भाषानुवाद भावप्रकाशनकार आचार्य शाङ्खातनय के शब्दों में यह है—

‘सौम्योपचारैः सानन्दाधरकेशग्रहादिभिः ।

दुःखोपचारवत् कुप्येदृहिः कुट्टमितं तु तत् ॥’

(भावप्रकाशन १. १५)

(२०—मद)

अथ मदः—

मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः ॥ १०५ ॥

यथा—

‘मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न खलु भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥’

(२१—विहृत)

अथ विहृतम्—

वक्तव्यकालेऽप्यवचो व्रीडया विहृतं मतम् ।

यथा—

‘दूरागतेन कुशलं पृष्ट्वा नोवाच सा मया किञ्चित् ।
पर्यश्रुणी तु नयने तस्याः कथयाम्बभूवतुः सर्वम् ॥’

अनुवाद—मद—सौभाग्यगर्व, यौवनगर्व आदि आदि के कारण उत्पन्न होनेवाला जो विकार है वह ‘मद’ कहा गया है । जैसे कि—

‘अरी मतवाली ! इस घमण्ड में न पड़ कि तेरे गालों पर तेरे प्रियतम के हाथों की रची मञ्जरी की पत्र-रचना पड़ी हुई है । अरी ! किसी और भी सुन्दरी के (अर्थात् मेरे) भाग्य में भी यह सब कुछ लिखा है, किन्तु दुःख है कि भावावेश से कपोल की कँपकँपी ऐसा नहीं होने देती ।’

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में, नायिका के स्वभावज यौवनालङ्कारों में ‘मद’ का उल्लेख नहीं मिलता । ‘काव्यानुशासन’कार ऐमचन्द्रनूरि तथा ‘भावप्रकाशन’कार शारदातनय ने भी ‘मद’ की लक्षण-परिभाषा नहीं की है । आचार्य अभिनवगुप्त की ‘अभिनवभारती’ में ‘मद’ का नकेत अवश्य है किन्तु मनभेद के रूप में है जैसा कि निम्न पक्तियों से स्पष्ट पता चलता है—

‘पृतावत एवेत हृत्यत्र नियमो विवक्षितः । तेन मौढ्य-मद-भाव-विकृत-परितपनादीना-मपि शाक्याचार्यराहुलादिभिरभिधान विरुद्धमित्यल बहुना ।’

(अभिनवभारती—नाट्यशास्त्र २२. ३१)

विधनाथ कविराज ने यहाँ अलङ्कारों में ‘मद’ की जो गगना कर टाली है उनका आधार ‘अभिनवभारती’ का उपयुक्त ‘मद’-निर्देश है ।

अनुवाद—विहृत —‘विहृत’ का अभिप्राय घोलने के समय में भी लज्जावश, न घोल पाना है । जैसे कि—

‘जब मैंने, दूरदेश से लौटने पर, कुशल पृछी, तब वह कुछ भी न बोल पायी । किन्तु उसकी आँसू भरी आँखों ने सब कुछ बता ही दिया !’

विमर्श—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र (२२-२४) के अनुसार ‘विहृत’ का यह स्वरूप है—

‘वाक्याना प्रीतियुक्तानां प्राप्तानां यदभाषणम् ।

व्याजास्वभावतो वापि विहृत नाम तद्भवेत् ॥’

(२२—तपन)

अथ तपनम्—

तपनं प्रियविच्छेदे स्मरवेगोत्थचेष्टितम् ॥ १०६ ॥

यथा मम—

‘श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति, त्वन्मार्गमालोकते,
 दीर्घं रोदिति, विक्षिपत्यत इतः क्षामा भुजावल्लरीम् ।
 किञ्च, प्राणसमान ! काङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमं,
 निद्रां वाञ्छति, न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि ॥’
 (२३—मौग्य)

अथ मौग्यम्—

अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः ।

वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्यं तत्तत्त्ववेदिभिः ॥ १०७ ॥

यथा—

‘के द्रुमास्ते क वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः ।
 नाथ ! मत्कङ्कणन्यस्तं येषा मुक्ताफल फलम् ॥’

तात्पर्य यह है कि मुग्धतावश, बालस्वभाववश, अन्यमनस्कता के कारण अथवा अन्य किसी निमित्त से, प्रिय-मधुर भाषण का अभाव ही नायिका का ‘विह्वत’ नामक स्वभावज अलङ्कार है । महाकवि कालिदास ने पार्वती के ‘विह्वत’ का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

‘पत्युश्शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।

सा रञ्जयित्वा चरणं कृताशीर्माख्येन तां निर्वचनं जघान ॥’ (कुमारसम्भव ७ १९)

अनुवाद—तपनः—‘तपन’ का अभिप्राय प्रियतम के वियोग में कामावेश-सम्बन्धी चेष्टाओं का है । जैसे कि (मेरी इस स्वरचित सूक्ति में तपन-चित्रण)—

‘अरे, उसके प्राणोपम प्रेमी ! उसकी हालत क्या पूछते हो ! कभी वह आहें भरती है, कभी पृथिवी पर लोट पड़ती है, कभी तुम्हारा रास्ता देखती है, कभी देर तक रोती रहती है, कभी दुर्बल भुजलताओं को झूझ उधर पटकती है और इसलिये कि स्वप्न में भी तुम मिल सको, नींद की मांग लगाये रहती है ! किन्तु उसका दुर्भाग्य ! उसे नींद कहां ?’

विमर्श—‘तपन’ (अथवा ‘परितपन’) भी भरतमुनि-सम्मत नायिका का अलङ्कार नहीं । किन्तु, ‘अभिनव भारती’ में उद्धृत मतान्तर के अनुसार, इसे भी, विश्वनाथ कविराज ने यहां स्थान दे दिया है ।

अनुवाद—मौग्य —काव्यकोविद लोग ‘मौग्य’ से नायिका का वह स्वभावज अलङ्कार संमत्ता करते हैं जिसका अभिप्राय जानी-पहचानी वस्तु के सम्बन्ध में भी प्रियतम से पूछताछ है ।

उदाहरण के लिये—

‘नाथ ! वे कौन से पेड़ हैं, किस गांव में पैदा होते हैं और किसने उन्हें लगाये हैं जिनका फल मेरे कगने में जड़ा यह मौक्तिक चमक रहा है ?’

विमर्श—‘मौग्य’ भी भरत-नाट्यशास्त्र-सम्मत अलङ्कार नहीं अपितु मतान्तर में अभिमत

(२४—विक्षेप)

अथ विक्षेपः—

भूपाणामर्घरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम् ।

रहस्याख्यानमीपञ्च विक्षेपो दयितान्तिके ॥ १०८ ॥

यथा—

‘धम्मिल्लमर्घमुक्तं कलयति तिलकं तथासकलम् ।

किञ्चिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वग्विलोकते तन्वी ॥’

(२५—कुतूहल)

अथ कुतूहलम्—

रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम् ।

यथा—

‘प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्भ्रवरागमेव ।

उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलककाङ्क्षां पदवीं ततान ॥’

(२६—हसित)

अथ हसितम्

हसितं तु वृथाहासो यौवनोद्भेदसम्भवः ॥ १०९ ॥

अनुवाद—विक्षेप.—जिसे ‘विक्षेप’ कहा करते हैं वह प्रियतम के आगे, प्रियतमा का असम्पूर्णभूषण-परिधान, अकारण इतस्ततः अवलोकन और धीरे-धीरे रहस्यमय चर्चालाप है। जैसे कि—

‘इस सुन्दरी को देखो—इसके केशपाश पूरे नहीं सजे, इसका तिलक अधूरा लगा है, धीरे-धीरे कुछ गुप्त बात बोल रही है और चकित सी चारों ओर देखती जा रही है।’

विमर्श—भरत-मत में मित्र मन जैसे कि पञ्चश्रां, सागरनन्दो किंवा नाट्यशास्त्रार्थ आदि के मत में, नायिका के स्वभावज अलङ्कारों में ‘विक्षेप’ की भी गतना है। साहित्यदर्पणकार ने इनो लिये ऐसे भी यहाँ निर्दिष्ट कर दिया है।

अनुवाद—कुतूहल—किसी सुन्दर वस्तु के दर्शन के लिये मन में कौतुक की जागृति का नाम ‘कुतूहल’ है। जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवंश में अयोध्या की नगरनारियों का ‘कुतूहल’ चित्रण) —

‘किसी सुन्दरी ने प्रसाधिका (महावर लगानेवाली स्त्री) के हाथ से अपने आधे महावर लगे पर झटक दिये, अपनी मन्द गम्भार गति बदल डाली और शीघ्रता के साथ (कुमार अज की चरयात्रा देखने की उतावली में) झरोखे तक आते-आते मारे रास्ते को महावर के रंग से लाल रँग दिया।’

विमर्श—‘कुतूहल’ भी भरतमत से भिन्न मत में ही ‘अलङ्कार’ माना गया है।

अनुवाद—हसित.—यौवन के उद्रेक के कारण (प्रियतम के आगे) अकारण हँसने का नाम ‘हसित’ है। जैसे कि—

यथा—

‘अकस्मादेव तन्वङ्गी जहास यदियं पुनः ।
नूनं प्रसूनबाणोऽस्यां स्वाराज्यमधिपतिष्ठति ॥’
(२७—चकित)

अथ चकितम्—

कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः ।

यथा—

‘त्रस्यन्ती चलशफरीविघटितोरूर्वामोरुरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः’ किमु सति कारणे तरुण्यः ॥’
(२८—केलि)

अथ केलिः—

विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते ॥ ११० ॥

यथा—

‘व्यपोहितु लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मना’ प्रिय जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥’

‘अकस्मात् ही यह सुन्दरी जो हँस पड़ी उससे तो यही प्रतीत होता है कि इसके हृदयदेश पर कामदेव का अखण्ड राज्य स्थापित हो चुका है ।’

विमर्श—‘इसित’ भी नाट्यशास्त्रकार भरत से भिन्न नाट्याचार्यों के मत में नायिका का यौवनालङ्कार माना गया है ।

अनुवाद—चकित.—विना किसी कारण के ही प्रियतम के आगे भयभीत होना ‘चकित’ कहा गया है । जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध में यह ‘चकित’ वर्णन)—

‘जलविहार में लगी उस सुन्दरी को जाँघों से छोटी सी चञ्चल मल्लूरी क्या टकरा पड़ी, उसके हृदय में भय समा गया और विचित्र विभ्रम-विलास प्रारम्भ हो गये ! तरुणियों का तो यह स्वभाव ही है कि बिना किसी कारण के ही विक्षोभ-लीला मचाने लगती हैं और यदि कोई कारण मिल जाय तब तो कहना ही क्या !’

अनुवाद—केलि —प्रियतम के साथ प्रेम-विहार में नायिका की क्रीडा का नाम ‘केलि’ है । जैसे कि—

‘कामोद्वेग से भरी उस पीवरस्तनी सुन्दरी ने यह देखकर कि उसका प्रियतम अपने मुह की फूँक से उसकी आँखों में पड़ा पुष्पपराग नहीं निकाल सकता, अपने पयोधरों से उसे धक्का दे मारा ।’

विमर्श—नाट्यशास्त्र के सामान्याभिनय-नामक २२ वें अध्याय में जिन अलङ्कारों का निरूपण है उन्हें ‘शरीरालङ्कार’ मानना उचित है न कि ‘मानसालङ्कार’ । आचार्य अमि ने स्पष्ट कहा है—

‘एते केवलमलङ्काराः देहमात्रनिष्ठाः, न तु चित्रवृत्तिरूपाः । एते हि यौवने उद्दिष्टाः दृश्यन्ते, बाल्ये त्वनुद्धिन्ना वार्धके तिरोभूताः । यदाह—

यावन्त एते तरुणीजनस्य भावाः समं कुट्टमितादयोऽपि ।

रात्रावदृश्यानिव तान् घटादीन् कामप्रदीपः प्रकटीकरोति ॥

(प्रेम-चेष्टायाः 'मुग्धा' और 'कन्या' नायिकागत प्रेम-चेष्टा-निरूपण)

अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेद्भितानि—

दृष्ट्वा दर्शयति व्रीहां सम्मुखं नैव पश्यति ।

प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिक्रान्तं पश्यति प्रियम् ॥ १११ ॥

बहुधा पृच्छ्यमानापि मन्दमन्दमधोमुखी ।

सगद्गदस्वरं किञ्चित्प्रियं प्रायेण भाषते ॥ ११२ ॥

अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत्सावधाना च तत्कथाम् ।

शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी ॥ ११३ ॥

(अन्य नायिकागत चेष्टा-निर्देश)

अथ सकलानामपि नायिकानामनुरागेद्भितानि—

चिराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते ।

विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलङ्कृता ॥ ११४ ॥

“तत्र देहविकाराः केचन क्रियात्मका अपि” त एवाङ्गजा उच्यते । “अन्ये त्वद्यतन-जन्मसमुचितविशिष्टविभावानुप्रवेशस्फुटीभवद्रतिभावानुचिद्धे देहे परिस्फुरन्ति । ते स्वाभाविकाः स्वस्माद्रतिभावाद् हृदयगोचरीभूताद् भवन्तीति । तथा कस्याश्चित् कश्चिदेव स्वभावबलाद् भवति, अन्यस्याः अन्यः, कस्याश्चिद् द्वौ त्रय इत्यादि, अतोऽपि स्वाभाविकाः ।” (नाट्यशास्त्र अभिनवभारती, २० अध्याय)

साहित्यदर्पणकार ने भी आचार्य अभिनवगुप्त के ही मत का अनुसरण किया है किन्तु महाराज भोज के ‘शृङ्गारप्रकाश’ के प्रभाव में पढ़कर अलङ्कारों की सख्या-गणना में उदारता दिया डाली है। इन अलङ्कारों की मान्यता के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार ने अभिनवभारतीकार के इस मत को हृदयङ्गम कर रखा है—

‘तथाप्यलङ्कारत्वात्, सामान्याभिनयरूपत्वात्, बाह्यशरीरनिष्ठतापर्यवसानात्, शृङ्गारैकमात्रविषयत्वाच्च अशेषरसविषयत्वाद् व्यभिचारिवर्गात् पृथक्त्वेनैषामभिधानम् ।’

(अभिनवभारती-नाट्यशास्त्र २० ३१)

अनुवाद—‘मुग्धा’ और ‘कन्या’ की प्रेम-चेष्टाओं का निरूपण किया जा रहा है—

प्रेमपगी मुग्धा (किंवा कन्यका) का यह स्वभाव है कि वह अपने प्रियतम को देखकर लज्जित हो जाय, उससे आँख न मिला सके, उसे किसी चीज़ की ओट से अथवा कहीं घूमते हुये या दूर निकले हुये देखती रहे, बहुत पृच्छताछ किये जाने पर भी, सिर झुकाये, धीरे-धीरे और अस्पष्ट रूप से उससे बोल पाय और साथ ही साथ औरों के द्वारा उसकी चरित-चर्चा में, कहीं दूसरी ओर निगाह किये, सावधानी से कान लगाये रहे ।

अनुवाद—अब अन्य सभी नायिकाओं की अनुराग-चेष्टाओं का निर्देश कर दिया जाता है—

नायिकायें अपने प्रियतम के पास अधिक से अधिक समय तक बैठना चाहती हैं । बिना सजे-धजे अपने प्रियतम से मिलना उन्हें अच्छा नहीं लगता । कुछ तो ऐसा भी

कापि कुन्तलसंव्यानसंयमव्यपदेशतः ।
 बाहुमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत् स्फुटम् ॥ ११५ ॥
 आच्छादयति वागाद्यैः प्रियस्य परिचारकान् ।
 विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च ॥ ११६ ॥
 सखीमध्ये गुणान् ब्रूते स्वधनं प्रददाति च ।
 सुप्ते स्वपिति दुःखेऽस्य दुःखं धत्ते सुखे सुखम् ॥ ११७ ॥
 स्थिता दृष्टिपथे शश्वत्प्रिये पश्यति दूरतः ।
 आभापते परिजनं सम्मुखं स्मरविक्रियम् ॥ ११८ ॥
 यत्किञ्चिदपि संवीक्ष्य कुरुते हसितं मुधा ।
 कर्णकण्डूयनं तद्वत्कवरीमोक्षसंयमौ ॥ ११९ ॥
 जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति ।
 भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम् ॥ १२० ॥
 अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्षं निरीक्षते ।
 दशति स्वाधरं चापि ब्रूते प्रियमधोमुखो ॥ १२१ ॥
 न मुञ्चति च तं देशं नायको यत्र दृश्यते ।
 आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ॥ १२२ ॥

करती हैं कि केशपाश अथवा वस्त्राभरण के ठीकठाक करने के बहाने अपने प्रेमियों को अपने बाहुमूल, स्तन और नाभिकमल साफ-साफ दिखला दिया करती हैं। प्रियतम के नौकर चाकरों को अपनी मधुर वाणी से प्रसन्न करने में इन्हें आनन्द मिलता है और ये प्रियतम के मित्रजनों पर विश्वास करती हैं तथा उनका पर्याप्त आदर-सत्कार भी किया करती हैं। सखियों के बीच में प्रियतम का गुणानुवाद, सखियों के लिये प्रसन्नता सूचक धन-वितरण, प्रियतम के सोने पर सोना और उसके दुःख में दुःख किंवा सुख में सुख ही इनकी जीवन-चर्या है। प्रियतम के देखते रहने पर, सामने खड़े होकर, कामावस्था में पड़ी सखी-सहेलियों के साथ कामविकारों का वार्तालाप भी इन्हें रुचिकर हुआ करता है। कभी ये कुछ भी देखकर थोड़ी ही हँस पड़ती हैं, कभी कान खुजलाती हैं और कभी चोटी के खोलने-बाधने में लग जाती हैं। कभी जमाई लेना, कभी अगवाई लेना, कभी किसी बच्चे को चूमना-चाटना, कभी सखी-सहेली के ललाट पर तिलक लगाना, कभी पैर के अंगूठे से धरती कुरेदना, कभी तिरछी निगाह से देखना, कभी ओठ चवाना और कभी सिर नीचा किये प्रियतम से घोलना-चालना-ये ही वे काम हैं जिनमें मुग्धा (किंवा कन्या) नायिकायें प्रसन्न रहा करती हैं। इन्हें उस स्थान को छोड़ना अच्छा नहीं लगता जहाँ से इनका प्रियतम दिखायी दे रहा हो और किसी न किसी काम के बहाने प्रियतम के घर आना तो इन्हें अच्छा लगता ही है। यदि प्रियतम ने कुछ दे दिया

दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाङ्गे मुहुरीक्षते ।
 नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मलिना कृशा ॥ १२३ ॥
 मन्यते बहु तच्छीलं तत्प्रियं मन्यते प्रियम् ।
 प्रार्थयत्यल्पमूल्यानि सुप्ता न परिवर्तते ॥ १२४ ॥
 विकारान् सात्त्विकानस्य सम्मुखी नाधिगच्छति ।
 भाषते स्मृतं स्निग्धामनुरक्ता नितम्बिनी ॥ १२५ ॥
 एतेष्वधिकलज्जानि चेष्टितानि नवस्त्रियाः ।
 मध्यग्रीडानि मध्यायाः संसमानत्रपाणि तु ॥ १२६ ॥
 अन्यस्त्रियाः प्रगल्भायास्तथा स्धुर्वारयोषितः ।

दिङ्मात्र यथा—

‘अन्तिकगतमपि मामियमवलोकयतीव हन्त । दृष्ट्वापि ।
 सरसनखक्षतलक्षितमाविष्कुरुते भुजामूलम् ।’

(युवतियों की भावाभिव्यक्ति के उपाय)

तथा—

लेख्यप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीभितैर्मृदुभाषितैः ॥ १२७ ॥
 दूतीसम्प्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते ।

तो उसे प्रेमपूर्वक देखना, यदि प्रियतन पास रहे तो बहुत प्रसन्न होना और यदि कहीं वह पास न हो तो दीन-हीन बनी रहना, यह सब तो इनके लिये स्वभाव-सिद्ध है। इन्हें अपने प्रियतम का चरित बड़ा अच्छा लगता है, इन्हें अपने प्रियतम के प्रेमपात्र लोग बड़े भले लगते हैं, इन्हें अपने प्रियतम से थोड़े मूल्य की चीजें मांगने में प्रसन्नता हुआ करती है और जब ये सोती है तो प्रियतम के विमुख कदापि नहीं सोती। प्रियतम के सामने पंढने पर (स्तम्भादि) सात्त्विक विचारों को न रोक सकना और प्रियतम से सब्बी-सब्बी और मीठी-मीठी बातें करना इन प्रेमपरी रमणियों के स्वभाव में है। इन नायिकाओं में, ‘नवोढा’ की चेष्टाओं में, लज्जा की मात्रा अधिक रहा कहती है, ‘मध्या’ की चेष्टाओं में लज्जा तो अवश्य होती है किन्तु मध्यम-मात्रा की ही होती है और परकीया, प्रगल्भा तथा वेश्या (सामान्या) नायिकाओं की चेष्टायें ऐसी हुआ करती हैं जिनमें लज्जा का पता भी नहीं चल पाता ।

उदाहरण के लिये (वस्तुतः दिग्दर्शन मात्र के लिये) मेरी यह स्वरचित सूक्ति—

‘यह सुन्दरी, समीप ही खड़े मुझे देखकर भी पुन देख रही है और नये-नये नखच्चत से वद्धित अपना भुजमूल मुझे दिखा रही है ।’

वृत्तवाक्य—इसके अतिरिक्त अपने प्रेमियों के प्रति युवतियों के भावाभिव्यञ्जन के ये भी उपाय हैं, जैसे कि—पत्र भेजना, स्नेह भरी निगाह से देखना, मीठी-मीठी बातचीत करना और प्रेम-सन्देश के साथ दूती भेजना ।

(दूती)

दूत्यश्च—

दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ॥ १२८ ॥
 वाला प्रव्रजिता कारुः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा ।
 कारु रजकीप्रभृतिः । शिल्पिनी चित्रकारादिस्त्री । आदिशब्दात्ताम्बूलिक-
 निधिकस्त्रीप्रभृतयः । तत्र सखी यथा—‘श्वासान्मुञ्चति—’ इत्यादि ।
 स्वयंदूती यथा मम—

‘पन्थिअ पिआसिओ विअ लच्छीअसि जासि ता किमणत्तो ।
 ण मण वि वारओ इध अत्थि धरे घणरस पिअन्ताण ॥’

(पथिक ! पिपासित इव लक्ष्यसे यासि तत्किमन्यत्र ।

न मनागपि वारक इहास्ति गृहे घनरस पिबताम् ॥)

एताश्च नायिकाविषये नायकानामपि दूत्यो भवन्ति ।

(दूती के गुण)

दूतीगुणानाह—

कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः ॥ १२९ ॥

माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणाः ।

एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः ॥ १३० ॥

अनुवाद—दूती-सम्प्रेषण के प्रसङ्ग में दूतिओं का निर्देश आवश्यक है—सखी, नटी दासी, धाढ़ की लड़की, पद्मोत्पल, बालिका, सन्यासिनी, धोविन, बड़ई की स्त्री, नाइ-रंगरेजिन किंवा स्वयं नायिका आदि-आदि (ऐसी) दूतियां हैं (जिनके सम्प्रेषण युवतिओं के प्रेमभाव का स्पष्ट पता चला करता है) ।

यहां ‘कारु’ का अभिप्राय ‘धोविन’ आदि का है । ‘शिल्पिनी’ कहते हैं चित्रकार आदि स्त्रियों को । कारिका में ‘आदि’ पद इसलिये दिया गया जिसमें तमोलिन और तेलि आदि आदि का भी यहा समग्र समझ लिया जाय । जैसेकि सखी का दूतीरूप में सम्प्रेषण ‘श्वासान्मुञ्चति’ आदि सूक्ति में स्पष्ट है । और जैसे कि—स्वयं दूती-रूप में नायिका । यह, मेरा किया, चित्रण—

‘अरे बटोही ! तुम तो प्यासे से लग रहे हो । भला इस हालत में और कहीं जाने क्या लाभ ! यहां कोई रोक-टोक नहीं, जो भर कर ‘घनरस’ (वर्षाजल किंवा सभी सुख) का पान कर लो ।’

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि जैसे ये उपर्युक्त दूतियां नायिकाओं व नायकों के पास भेजी जा सकती हैं वैसे ही नायकों द्वारा नायिकाओं के पास भी ।

अनुवाद—इन दूतियों के गुणों का परिगणन किया जा रहा है—जिन्हें ‘दूतीगुण’ कहते हैं वे ये हैं—कलाओं में कुशलता, उत्साह, भक्ति, परचित्तज्ञान, स्मृति, मधुर नर्मनिपुणता और बोलचाल में चतुरता । ये दूतियां भी अपनी अपनी विशेषताओं

एता दूत्यः ।

कारण उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन श्रेणियों में विभक्त देखी जाती हैं । यहां कारिका में 'एता' का अन्विष्टाया 'दूतिजो' का है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने 'दृष्टा दर्शयति' आदि कारिकाओं में नायिका के अनुराग-विहों का जो निरूपण किया है वह भरतनाट्यशास्त्र की प्राचीन नर्पादा है । भावप्रकाशनकार शारदानन्द ने इस प्राचीन नर्पादा का इन पङ्क्तियों में स्पष्टीकरण किया है—

‘स्त्रियो जातानुरागाया नायके लक्ष्णान्विते ।
कुलीनाया प्रथमतो दूरे रोमोद्गमो भवेत् ॥
स्तिग्धं च मधुग चक्षुरधरं स्पन्दते स्फुटम् ।
स्मितोत्तरं च वचनं स्वेदोदश्च कपोलयोः ॥
ऊर्वोः संपीडनं चाङ्गे बाहुस्त्वस्तिकवन्धनम् ।
आलिङ्गनं मुहुः सख्यास्तदङ्गेऽङ्गसमर्पणम् ॥
नीवीं विलस्य नहनं वेपथुस्तत्पथस्थितिः ।
वचने वचनं तूर्णानि वीक्षणेष्वनवेक्षणम् ॥
इत्यादिभावैर्भावज्ञो रक्तां विद्यात् कुलाङ्गनाम् ।
कर्णकण्ठयनं नाभेरुर्वोः किञ्चित्प्रकाशनम् ॥
विमर्दनञ्च स्तनयोर्नीवीविलसतं मुहुः ।
अन्यापदेशकथननन्यैः सस्मितभाषणम् ॥
विलोकनञ्च सखीद्वन्द्वद्विषयविलेखनम् ।
नखनिस्तोदनं केलिः सखीनिर्भर्त्सनं नृषा ॥
पदान्तरे स्थितिर्भ्यांजादङ्गलिर्देवताच्छलात् ।
भावैरित्यादिभिर्वैश्यामनुरक्ता विभावयेत् ॥
दृष्टे दृशोर्विकालश्च माधुर्यं भाषणेऽन्यतः ।
प्रसादो वदने हर्षं सधनस्तस्य दर्शने ॥
अदर्शने च मूर्च्छा च तत्सत्कारेषु कौतुकम् ।
स्वभर्तुः प्रमुखे तस्य स्मरणं सुरतादिषु ॥
प्रेषणं भोग्यवस्तुनां समाजे तस्य गह्वरम् ।
सर्वत्र तस्य वाक्यस्य प्रीतिपूर्वं परिग्रहः ॥
मदम्बं नायं मन्नायेत्येव बालोपलालनम् ।
भावैरेवविधैरन्यां लक्ष्येन्मदनानुरागम् ॥

(ख) रक्ता नायिका के लिये लिये वचनों का साहित्यदर्पणकार ने निदेश दिया है उनका संक्षिप्त विवरण 'भावप्रकाशन' की इस पङ्क्ति में दिया जा चुका है—

‘रक्ता विविचवसति प्रियेण सह वाञ्छति ।
गुणान् सखीनामात्स्याति स्वधनं प्रददाति च ॥
सम्पूजयति मित्राणि द्वेष्टि शत्रुजनं तथा ।
समागमं प्रार्थयते दृष्ट्वा हृष्यति चाधिकम् ॥
तुष्यत्यस्य वचोभङ्ग्या सत्नेहञ्च निरीहते ।
सुप्ते च पश्चात् स्वपिति सुन्दत्यनभिचुम्बिता ॥

(प्रतिनायक-निरूपण)

अथ प्रतिनायकः—

धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः ।

यथा रामस्य रावणः ।

प्रियेणालिङ्ग्यत्यङ्गं गाढमालिङ्गति प्रियम् ।
 स्वयमारभते स्वैरं स्नानादिषु च कर्मसु ॥
 प्रथमं चेष्टते स्वैरं वाद्ये चाम्यन्तरे रते ।
 न विश्लेषयते गात्रमाश्लिष्टा च कदाचन ॥
 तेनैव भोग्यवस्तूनि भुक्तेऽन्यग्राहतान्यपि ।
 रतिकेलिष्वनिभृता स्वदते स्विद्यति क्षणम् ॥
 न दृष्टिमन्यतो धत्ते न शृणोति बहिः कचिद् ।
 न चिन्तयत्यात्मनीनं किञ्चिदन्यत् प्रियं विना ॥
 रोमाञ्चति प्रियस्पर्शं मुह्यति स्विद्यति श्वसेत् ।
 एवं रक्तासमुत्थाः स्युरुपचाराः प्रिय प्रति ॥

(भावप्रकाशन ५ म अ

(ग) भरतनाट्यशास्त्र में भी दूती-सप्रेषण का विधान है जो कि इन पक्तियों में स्पष्ट है

‘विज्ञानगुणसम्पन्ना कथिनी लिङ्गिनी तथा ।
 प्रातिवेश्या सखी दासी कुमारी कारुशिल्पिनी ।
 धात्री पापण्डिनी चैव तथा रङ्गोपजीविनी ॥
 प्रोत्साहनेऽथ कुशला मधुरकथा दक्षिणाऽथ कालज्ञा ॥
 लढहा संवृतमन्त्रा दूती त्वेभिर्गुणैः कार्यार्थ ॥
 तथाप्युत्साहन कार्यं नानादर्शितकारणम् ॥
 यथोक्तकथन चैव तथा भावप्रदर्शनम् ।

(नाट्यशास्त्र २३ ९

अनुवाद—अथ ‘प्रतिनायक’ का निरूपण करते हैं—

‘प्रतिनायक’ वह है जो नायक का प्रतिस्पर्द्धी हुआ करता है। यह स्वयं धीरोद्धत, पापाचरण में तत्पर कि वा व्यसनों में आसक्त रहा करता है।

उदाहरण के लिये (राम-काव्य किं वा राम-नाट्य में) ‘राम’ नायक का प्रति रावण ।

विमर्श—‘प्रतिनायक’ का अभिप्राय मुख्य नायक के प्रतिपन्थी (विरुद्ध) नायक । विना ‘प्रतिनायक’-चरित के चित्रण के नायक-चरित का सौन्दर्य नहीं चित्रित किया जा सके। के दृश्य और श्रव्य काव्यों में ‘नायक’ का चरित ‘प्रतिनायक’ के चरित की प्रति चित्रित किया जाया करता है। काव्य-नाट्य-कोविदों ने ‘प्रतिनायक’ को ‘धीरोद्धत’ स्वर ही देखा है। ‘धीरोद्धत’ होने से ‘प्रतिनायक’ के लिये अनवस्थितचित्त, रौद्रस्वभाव, मदम्बबहुल किं वा आत्मश्लाघी होना स्वाभाविक है। नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये कहा है—

‘लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी प्रतिनायकः । मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायक नायक’ । यथा रामयुधिष्ठिरयो रावण-दुर्योधनवदिति— (नाट्यदर्पण-४ र्थ विवेक)

दशरूपककार धनञ्जय ने भी इसीलिये कहा था—

‘लुब्धो धीरोद्धत स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः ।’ (दशरूपक २-९)

(उद्दीपन-विभाव-निरूपण)

अथोद्दीपनविभावाः—

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥ १३१ ॥

ते च—

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ।

चेष्टाद्या इत्याद्यशब्दाद्रूपभाषणादयः । कालादीत्यादिशब्दाच्चन्द्रचन्दनकोकिलालापभ्रमरमङ्कारादयः ।

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम—

‘कमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमः पटलाशुके निवेश्य ।

विकसितकुमुदेक्षणं विचुन्वत्ययममरेशदिशो सुख सुधांशुः ॥’

यो यस्य रसस्योद्दीपनविभावः स तत्त्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

अनुवाद—अब उद्दीपन विभावों का निरूपण किया जा रहा है—

उद्दीपन विभाव उन्हें कहा करते हैं जो कि रस को उद्दीप्त किया करते हैं ।

ये निम्नोद्दिष्ट पदार्थ उद्दीपन-विभाव-वर्ग में आते हैं—नायक-नायिका आदि की विविध आङ्गिक चेष्टायें, समुचित देश, उपयुक्त समय आदि-आदि ।

यहां कारिका में ‘चेष्टाद्या’ में ‘आद्य’ शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रूप, भावपूर्ण आदि-आदि का समग्र करना है । इसी प्रकार ‘कालादयः’ में ‘आदि’ शब्द से चन्द्र-चन्द्रिका, चन्दन, कोकिलालाप, भ्रमरमङ्गल आदि-आदि समस्तना चाहिये ।

उदाहरण के लिये, मेरी इस स्वरचित्र सूक्ति में ‘चन्द्रोदय’ का उद्दीपन-विभाव के रूप में यह वर्णन—

‘यह चन्द्रमा पूर्वदिशा का सुख-सुगन्ध कर रहा है । इसके कर (करिण अथवा हाथ) पूर्वदिशा-सुन्दरी के उदयाचल रूपी स्तनाग्रभाग का स्पर्श कर रहे हैं जिससे उसका सन्तमल रूपी अश्रु-परिधान नीचे जिसका पड़ा है और उसके कुमुद-नेत्र प्रसन्नता से हँसते दिखायी पड़ रहे हैं ।’

निम्न निम्न रसों के निम्न-निम्न उद्दीपन विभाव हैं और उनका वर्णन उन-उन रसों के प्रसङ्गों में किया ही जायगा ।

विमर्श—मानसिक नायकों और नायिकों का वर्णन जो रस के आलम्बन विभाव का वर्णन है । उनके उद्दीपन विभाव का वर्णन है उन-उन पदार्थों का जो मानसिक-इन्द्र में उद्बुद्ध रसों के उद्दीपन किया करते हैं । ‘रसार्णवसुधा’ कर ने निम्न पदार्थों को विवक्षित उद्दीपन-विभाव कहा है—

तदस्याश्चन्द्रिका धारागृहचन्द्रोदयावपि ॥

कोकिलालापनाचन्द्रमन्दनात्पद्मदा ।

लतामण्डप-भ्रूगेह-दीर्घिकाजलदारवा ।

प्रालादगर्भसंगीतक्रीडादिसरिदादयः ।

पुननृद्धा यथाकालमुपनोगोपयोगिनः ॥ (रसार्णवसुधाकर १ नं, विलास)

और इन उक्त उद्दीपन-विभावों के अनिर्दिष्ट वस्त्र, भूषण, माल्य किंवा अनुलेखन को अन्तर उद्दीपन-विभावों में स्थान दिया है । यह उक्त उद्दीपन-विभाव-वर्ग स्वररस की उद्दीपन-

(अनुभाव-निरूपण)

अथानुभावः—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्वहिर्भावं प्रकाशयन् ॥ १३२ ॥

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।

यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै रामा
न्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं वहिः प्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः ।
रनुभावः ।

कः पुनरसावित्याह—

उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः ॥ १३३ ॥

तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ।

तद्रूपा अनुभावस्वरूपाः । तत्र यो यस्य रसस्यानुभावः स तत्स्वरूपवत्
वक्ष्यते ।

सामग्री है । अन्य रसों की उद्दीपन-सामग्री भरत नाट्यशास्त्र आदि आकर-ग्रन्थों में विशद
से प्रतिपादित है ।

अनुवाद—अनुभाव—उन-उन कारणों से हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को वा
प्रकाशित करनेवाले अङ्गादि-व्यापारों का नाम 'अनुभाव' है । लोक-जीवन में तो
अङ्गादि-व्यापार (रत्यादि भावों के) 'कार्य' समझे जाया करते हैं किन्तु काव्य-नाट्य
क्षेत्र में इन्हें 'अनुभाव' की अलौकिक सजा प्राप्त है ।

तात्पर्य यह है कि लोक-जीवन के राम आदि के हृदय में सीता आदि आलम्ब
विभाव कि वा चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभाव से रत्यादि रूप स्थायी भाव उद्बुद्ध हु
करता है । अब राम आदि की जो-जो अङ्ग-चेष्टायें, उनके उद्बुद्ध रत्यादि भावों को दूर
पर प्रकाशित किया करती हैं उन्हें लोक-जीवन की दृष्टि से तो (रत्यादि भावों के) 'का
कहा करते हैं किन्तु काव्य-नाट्य में कवि और नाटककार के वर्णन और अङ्कन के वि
वना दिये जाने पर इन्हें ही 'अनुभाव' की अलौकिक पदवी से विभूषित कर दि
जाया करता है ।

लोक-जीवन में कार्यरूप किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में 'अनुभाव' रूप जो वस्
हैं, वे ये हैं—

नायिकाओं के पूर्वनिर्दिष्ट अङ्गज कि वा स्वभावज अलङ्कार, अनुभाव-
स्तम्भादि सात्त्विक भाव और रत्यादि भावों के प्रभाव में उत्पन्न अन्यान्य चेष्टायें ।

यहां कारिका में 'तद्रूपाः' का अभिप्राय 'अनुभाव' रूप (सात्त्विक भावों) का है
भिन्न-भिन्न रसों के जो भिन्न भिन्न अनुभाव हैं उन्हें उन-उन रसों के निरूपण-प्रसङ्ग में अ
बताया जायगा ।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में अनुभाव का यह स्वरूप प्रतिपादित किया हुआ है—

‘वागङ्गाभिनयेनेह यत्तत्स्वर्योऽनुभाव्यते ।

वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्वानुभावस्ततः स्मृत ॥’ (नाट्यशास्त्र ७ ५)

सात्त्विक भाव-निर्देश

तत्र सात्त्विकाः—

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥ १३४ ॥

सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः ।

सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः ।

‘गोबलीवर्धन्यायेन’ इति शेषः ।

के त इत्याह—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ॥ १३५ ॥

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।

जित्का तक्षित अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने इत पङ्क्ति में अपने ही ढंग से स्पष्ट किया है—

‘अनु लिङ्गनिश्चयात् पश्चाद् भावयन्ति गमयन्ति लिङ्गिन रसमित्यनुभावाः स्तम्भादयः’

(नाट्यदर्पण-३ व विवेक)

अनुभाव का तात्पर्य मनोगत भावों के साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादानों, जैसे कि भ्रूविक्षेप आदि-आदिक का है। मनोगत भावों के ये साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादान इसलिये ‘अनुभाव’ कहे जाया करते हैं क्योंकि रत्यादिरूप मनोगत भावों के उद्बोधन में ही इनकी उत्पत्ति सम्भव है। भ्रूविक्षेप आदि का ‘अनुभाव’ होना यह सिद्ध करता है कि इनके द्वारा इनके हेतुभूत रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। अनुभावों की चार श्रेणियाँ हैं—(१) चित्तरन्मक, जैसे कि भाव-हाव-हेला आदि, (२) गान्धारन्मक, जैसे कि लीला, विलास, विच्छिन्ति आदि, (३) वागारन्मक, जैसे कि आलाप, विलाप, सलाप आदि और (४) बुद्ध्यारन्मक, जैसे कि रोति वृत्ति आदि।

साहित्यदर्पणकार ने कतिपय सात्त्विक भावों को भी अनुभावरूप मान लिया है। इस नान्यता में दशरूपककार का प्रभाव स्पष्ट है।

अनुवाद—यहाँ अनुभावभूत सात्त्विक भावों का प्रसङ्ग है, इसलिये, सात्त्विक भाव क्या और कौन हैं ? इसका निर्देश किया जा रहा है—

सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न जो मनोविकार हैं उन्हीं को सात्त्विक भाव कहा करते हैं।

यहाँ (‘सात्त्विक’ शब्द की व्युत्पत्ति में) जो ‘सत्त्व’ शब्द है उसका अभिप्राय अन्तःकरण का एक धर्मविशेष है जिसके कारण सामाजिक हृदय में वासनारूप से विराजमान रत्यादि भावों का उद्बोधन हुआ करता है।

वैसे तो सात्त्विक भाव और अनुभाव एकरूप ही हैं किन्तु अनुभावों से सात्त्विक भावों को इसलिये भिन्नरूप माना जा सकता है क्योंकि (स्तम्भादिरूप) सात्त्विक भाव सत्त्व के उद्रेक से ही उत्पन्न मनोविकार हुआ करते हैं।

अनुभावों और सात्त्विक भावों को अभेद में भी भेद ‘गोबलीवर्धन्याय’ से समझा-समझाया जा सकता है (जैसे कि ‘गाव गच्छन्ति’ कहने से ही ‘वलीवर्द्धोऽपि गच्छति’ का अभिप्राय निकल जाता है किन्तु गौओं से विशेषता के द्योतन के लिये वलीवर्द्ध (साढ़) का पृथक् ग्रहण किया जाया करता है वैसे ही अनुभावों में सात्त्विक भावों के अन्तर्भूत होने पर भी, अनुभावों से वैशिष्ट्य बताने के लिये, सात्त्विक भावों का पृथक् परिगणन स्वाभाविक ही है)।

निम्नलिखित जो सत्त्वसंभूत ८ मनोविकार हैं वे ही ८ सात्त्विक भाव हैं—

(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वरभङ्ग, (५) वेपथु, (६)

तत्र—

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः ॥ १३६ ॥
 वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः ।
 हर्षाद्भुतमयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ॥ १३७ ॥
 मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गात्रदं विदुः ।
 रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥ १३८ ॥
 विषादमदरोपाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता ।
 अश्रु नेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम् ॥ १३९ ॥
 प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ।

यथा मम—

‘तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त । नयने
 उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम् ।
 कपोलौ घर्माद्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषय
 मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति ऋतिं ब्रह्म परमम् ॥’

वचर्ण्य, (७) अश्रु और (८) प्रलय ।

इन आठों सात्त्विकभावों के अपने-अपने ये स्वरूप हैं—

(१) स्तम्भ—भय, हर्ष, रोग आदि के कारण मन किं वा शरीर के व्यापारों व रुक जाना ‘स्तम्भ’ है ।

(२) स्वेद—रतिप्रसङ्ग, आतप (धूप), परिश्रम आदि के कारण शरीर से निकल पड़नेवाले जल को ‘स्वेद’ कहते हैं ।

(३) रोमाञ्च—हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण रोंगटों के खड़े होने को ‘रोमाञ्च’ कहा जाता है ।

(४) स्वरमङ्ग—मद्यपान, हर्ष, पीडा आदि के कारण गले के रुँध जाने का नाम ‘स्वरमङ्ग’ है ।

(५) वेपथु—अनुराग, द्वेष, परिश्रम आदि के कारण शरीर की कँपकँपी को ‘वेपथु’ कहा करते हैं ।

(६) वैवर्ण्य—विषाद, मद, रोष आदि के कारण उत्पन्न हुए वर्णविकार का नाम ‘वैवर्ण्य’ (विवर्णता) है ।

(७) अश्रु—क्रोध, दुःख, प्रहर्ष आदि के कारण उत्पन्न होनेवाले नेत्रजल व ‘अश्रु’ कहते हैं ।

(८) प्रलय—सुख अथवा दुःख के अतिरेक में चेष्टाशून्यता किं वा ज्ञानशून्यता ‘प्रलय’ है ।

उदाहरण के लिये, यह स्वरचित सूक्ति—

‘मेरे शरीर के स्पर्श से, इस सुन्दरी के नयनकमल अधखिले दीख रहे हैं, शरीर रोमाञ्चित हो रहा है, अङ्ग-प्रत्यङ्ग निश्चेष्ट बन गये हैं और कपोल स्वेदविन्दुओं से भी

(व्यभिचारिभावः लक्षण-निरूपण)

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नस्त्वयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥ १४० ॥

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिण कथ्यन्ते ।

हो चुके हैं। ऐसा लगता है जैसे इसका मन अन्य समस्त विषयों से विरक्त है और ब्रह्मानन्दरूप एकधन प्रेमसुख में अन्तर्लीन हो रहा है।'

[यहाँ रोमाञ्च, स्वेद और प्रलयरूप सात्त्विकभावों का सुन्दर वर्णन है ।]

इसी भाति अन्य सात्विक भावों के उदाहरण स्वयं जाने जा सकते हैं।

विमर्श—तन्म आदि को 'सात्त्विकरूपना' को सुन्दर मीनाता 'सात्त्विकवाकर' को इन पद्यों में की—

‘अन्येषां सुखदुःखादिभावनाकृतभावनम् ॥

आनुकूल्येन यच्चित्त भावकानां प्रवर्तते ।

सत्त्वं तदिति विज्ञेयं प्राज्ञैः सत्त्वोद्भवानिमान् ॥

सायिका इति जानन्ति भरतादिमहर्षय ।

सर्वेषामपि भावानां यैः सत्त्वं प्रविभाज्यते ॥

ते भावा भावतत्त्वज्ञैः सात्त्विका समुदीरिता ।'

• • • • •

सर्वेऽपि सत्त्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्त्विका ॥

तथाप्यमीषा सत्त्वैकमूलत्वात् सात्त्विकप्रधा ।

अनुभावाश्च कथ्यन्ते भावससचनादमी ॥

एव हैरुप्यमेतेषा कथित भावकोविदे ॥

(श्रीशिवभूपाल रत्नार्णवसुधाकर • प्रधान विलास)

अनुवाद—भव न्यभिचारिभावों का स्वरूप बताया जा रहा है—

वे भाव व्यभिचारी भाव कहे जाया करते हैं जो (विभाव और अनुभाव की अपेक्षा) विशेष उत्कटता किं वा अनुकूलता से (वासनारूप से सामाजिक-हृदय में सदा विराजमान) रत्यादि स्थायी भावों को रसास्वाद में परिणत किया करते हैं तथा जिन्हें स्थायी भावों के समुद्र में बुदबुद (बुलबुले) की भांति उन्मज्जित (उत्तराते-स्पष्ट प्रतीत) किं वा निमज्जित (डूबते-अस्पष्ट प्रतीत) होते हुए देखा जाया करता है ।

तात्पर्य यह है कि रत्यादिरूप स्थायी भाव तो हृदय में सदा स्थिर रूप से प्रवाहित हुआ करते हैं और निर्वेदादि भाव ऐसे हैं जो रत्यादि भावों से ही उद्भूत होते और उन्हीं में तिरोभूत होते, उनकी रसरूप से अभिव्यक्ति में विशेषतया सहायक हुआ करते हैं।

विमर्श—भरत नाट्यशास्त्र में 'व्यभिचारिभाव' की यह व्युत्पत्ति दी गयी है—

‘विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण ।’ (नाट्यशास्त्रे रसज्ञान अध्याय)

जिसकी अभिनवभारती-सम्मत व्याख्या आचार्य ऐमचन्द्र के इन शब्दों में है—

‘भावयन्ति चित्तवृत्तय एवालौकिकवाचिकाद्यभिनयप्रक्रियारूढतया स्वा
लौकिकदशायामनास्वाद्यमप्यास्वाद्यं कुर्वन्ति, यद्वा भावयन्ति व्याप्नुवन्ति सामाजि-
मन इति भावा’—स्थायिनो व्यभिचारिणश्च । • • ये पुनर्भोष्ट्यादयश्चित्तवृत्तिवि-
स्ते समुचितविभावाभावाज्जन्ममध्ये न भवन्त्येवेति व्यभिचारिणः । तथा हि रस
मुपयुक्तवतो ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो न भवन्त्येव । यस्यापि वा भवन्ति विभावबलात्त-
हेतुप्रसूते स्वीयमाणाः । सस्कारशेषतां नावश्यमनुयध्नन्ति । तस्मात् स्थायिरुपा-
वृत्तिसूत्रस्यूता एवामी स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतमहस्रधर्माण प्रतिभम
स्थायिन विचित्रयन्तः प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिणः उच्यन्ते । तथा हि ग्लानं
मित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेनाऽस्थायिताऽस्य सूच्यते । न तु राम उरसाहशक्तिमानि
हेतुप्रश्नमाहुः ।^१ (काव्यानुशासन २ १८)

तात्पर्य यह है कि रत्यादि अथवा निर्वेदादि चित्तवृत्तियाँ हैं । चित्तवृत्तियों को ही
कहा जाता है । चित्तवृत्तियों को ‘भाव’ इसलिये कहा जाता है क्योंकि कवि-कला किं वा
कला की वर्णना और शङ्कन शक्ति इन्हें ‘आस्वाद्य’ बना दिया करती है । लोकजीवन
चित्तवृत्तियाँ रस अथवा आस्वादरूप में अनुभव का विषय नहीं बना करतीं । यह तो
जीवन की महिमा है जिसके कारण ये ‘रस’ रूप से प्रतीत हुआ करती हैं (भावयन्ति अ
आस्वाद्य कुर्वन्ति इति भावा) । इन चित्तवृत्तिओं को इस दृष्टि से भी ‘भाव’ कहा क
क्योंकि काव्य-नाट्य के क्षेत्र में सामाजिकों का हृदय इनसे व्याप्त हो जाया करता है (भा
व्याप्नुवन्ति मन सामाजिकानामिति भावा) । अब इन चित्तवृत्तिओं में स्थिर और अस्थि
की द्विविध चित्तवृत्तियाँ हैं । स्थिर चित्तवृत्तियाँ जैसे कि रति आदि ऐसी हैं जो प्राणि
हृदय में, जन्म से ही, सस्काररूप से विराजमान रहा करती हैं । ये ही, काव्य किं वा ना
वस्तुतः कला के क्षेत्र में ‘स्थायी भाव’ की पदवी प्राप्त करती है । अब, ‘व्यभिचारी भाव
अस्थिर चित्तवृत्तिओं का, कला-जगत् में प्रसिद्ध, नाम है जो कि स्थायी चित्तवृत्ति सूत्र में
प्रतीत हुआ करती हैं । कभी ये चित्तवृत्तियाँ उदित होती हैं, कभी अस्त होती हैं ।
वैचित्र्य के साथ इनमें आविर्भाव तिरोभाव की आलम्बिचौनी चला करती है । इनके
स्थायी चित्तवृत्तियाँ चित्र विचित्र लगा करती हैं । स्थायी चित्तवृत्तियों में दृढ़ता-उत्तराना
विशेषता है । इसीलिये इन्हें ‘व्यभिचारी भाव’ कहा गया है । ‘ग्लानि’ एक व्यभिचारी भा
कोई कहे—‘यह ग्लान (दुःखी) लग रहा है’ तो पूछा जाता है—‘ऐसा क्यों ?’ ग्लान
हेतु का यह प्रश्न इस बात का प्रमाण है कि ग्लानि ‘अस्थिर’ मनोभाव है । किन्तु ‘राम
की शक्ति से भरपूर है’ ऐसा कहने पर जोर भी नहीं पूछता—‘ऐसा क्यों ?’ इससे यह
है कि ‘उत्साह’ एक स्थिर मनोभाव है ।

‘रसार्णवमुधाकर’ (द्वितीय विलास) की ये पक्तियाँ ‘व्यभिचारिभाव’ की बड़ी सुन्दर
परिभाषा हैं—

‘व्यभी हत्युपसर्गौ द्वौ विशेषाभिमुखत्वयो ।
विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिन प्रति ॥
वागङ्गसंश्रवयुक्ता ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः ।
सञ्चारयन्ति भावस्य गतिं सञ्चारिणोऽपि ते ॥
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः स्थायिन्यगुनिधावि ।
ऊर्मिवद् वर्द्धयन्त्येन यान्ति तद्रूपतां च ते ॥

(व्यभिचारिभाव . प्रकार-सङ्ख्यान)

के त इत्याह—

निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्रयमोहो विबोधः

स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्राबहिर्थाः ।

औत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसत्रासलज्जा

हर्षासूयाविषादाः सश्रुतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः ॥ १४१ ॥

(३३ व्यभिचारी भाव स्वरूप-विवेक . १—निर्वेद)

तत्र निर्वेद—

तत्त्वज्ञानापदीर्घ्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।

दैन्यचिन्ताश्रुतिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥ १४२ ॥

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

‘मृत्कुम्भवालुकारन्ध्रपिधानरचनार्थिना ।

दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं हन्त । चूर्णीकृतो मया ॥’

अनुवाद—जो-जो भाव ‘व्यभिचारिभाव’ हैं वे ये हैं—

(१) निर्वेद, (२) आवेग, (३) दैन्य, (४) श्रम, (५) मद, (६) जडता, (७) औग्रय, (८) मोह, (९) विबोध, (१०) स्वप्न, (११) अपस्मार, (१२) गर्व, (१३) मरण, (१४) अलसता, (१५) अमर्ष, (१६) निद्रा, (१७) अबहिर्था, (१८) औत्सुक्य, (१९) उन्माद, (२०) शङ्का, (२१) स्मृति, (२२) मति, (२३) व्याधि, (२४) त्रास, (२५) लज्जा, (२६) हर्ष, (२७) असूया, (२८) विषाद, (२९) दृष्टि, (३०) चपलता, (३१) ग्लानि, (३२) चिन्ता और (३३) वितर्क ।

अनुवाद—निर्वेद—

‘निर्वेद’ का अभिप्राय है (स्वावमानन) अपने आपको धिक्कारने का । इसके कई निमित्त हो सकते हैं—जैसे कि, तत्त्वज्ञान (शरीरसुख कि वा विषयभोग की हेयता का अनुभव), आपत्ति, ईर्ष्या, आदि-आदि । इसके होने से दीनता, चिन्ता, अश्रु, निश्वास, विवर्णता और उच्छ्वास आदि उत्पन्न हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिये, तत्त्वज्ञानोत्थ निर्वेद (का यह अभिव्यञ्जन)—

‘ओह ! मैं भी कितना अभागा निकला ! मिट्टी के इस घड़े (शरीर) का छोटा सा छेद (कुछ ऐहिक कष्ट) बन्द करने के लिये (दूर करने के लिये) मैंने अपना यह दक्षिणावर्त शङ्ख (आत्यन्तिक सुख) तोड़-फोड़कर चूर-चूर कर दिया ।’

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने ‘निर्वेद’ का यह विराद लक्ष्य किया है—

‘इष्टजनविप्रयोगाद् दारिद्र्याद् व्याधितस्तथा दुःखाद् ।

परवृद्धिं वा दृष्ट्वा निर्वेदो नाम सम्भवति ॥

वाप्पपरिप्लुतनयनः, पुनश्च निश्वासदीर्घमुखनेत्रः ।

योगीव ध्यानपरो भवति हि निर्वेदवान् पुरुष ॥’

(नाट्यशास्त्र ७ २९, ३०)

एवमन्यदूहम् ।

(३—दैन्य)

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् ॥ १४५ ॥

यथा—

‘वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः, स्थूणावशेषं गृहं,
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यन्नात्सञ्चिततैलविन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरात्सां निजवधूं श्वश्रुश्चिरं रोदिति ॥’

इसी प्रकार अन्यान्य आवेग-प्रकारों के उदाहरण काव्य-साहित्य में स्वयं दूँदे जा सकते हैं ।

विमर्श—नाहिन्यदर्पणकार ने यहाँ जित्त अष्टविध आवेग का निरूपण किया है उक्तका विशद वर्णन भरतनाट्यशास्त्र (७न अध्याय) में किया हुआ है—

‘इत्येषोऽष्टविधो ज्ञेय आवेगः सभ्रमात्मकः ।
स्थैर्येणोत्तममध्याना नीचाना चापसर्पणात् ॥’

‘आवेग’ शब्द की व्युत्पत्ति से ही ‘आवेग’ को तन्म्रमात्मकता अथवा सक्षोभरूपता का परिचय मिल जाता है, जैसा कि भावप्रकाशनकार ने बताया है—

‘अदेशकालविहितो वेग आवेग उच्यते ।
वेगो विगान जनयद्विग्न येन मनो भवेत् ॥’

(भावप्रकाशन २ च अधिकार-७)

अर्थात् अननय किं वा अस्थान में किसी प्रकार के उत्थान से उत्पन्न मन की उद्विग्नता को ‘आवेग’ कहते हैं । शारीरिक-मानसिक और वाचिक जो भी विकार प्रिय किं वा अप्रिय-दर्शन और श्रवण से उत्पन्न हुआ करते हैं वे सभी आवेग के ‘अनुभाव’ बन जाते हैं । उत्तम प्रकृतिगत ‘आवेग’ में चित्त स्थिर रह सकता है किन्तु अधम प्रकृतिगत आवेग में चित्त का चाकृत्य त्वाभाविक है । कालिदान के ‘कुमारनम्भव’ में वह आवेग-वर्णन बड़ा सुन्दर और सरस है—

‘आमेखल सखरता घनाना छायायामधः सानुगता निपेक्ष्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धा ॥’

अनुवा—दैन्य—

‘दैन्य’ दुर्गति आदि के कारण उत्पन्न निस्तेजस्विता को कहा करते हैं । इसके कारण सुखादि-मालिन्य हुआ करता है । जैसे कि—

‘सास ने आसन्नप्रसवा पुत्रवधू को देखा । उसे ध्यान आया कि उसका बूढ़ा और अधा पति टूटी-टाटी खाट पर पड़ा है, घर में केवल छप्पर की टेक एक लकड़ी खड़ी है, बरसात सिर पर आ धमकी है, पुत्र का भी कोई कुशल-समाचार नहीं मिला है और किसी प्रकार जोड़-जोड़ कर इकट्ठा किये तेल की हाँडी भी फूट गयी है । वह व्याकुल हो उठी और सिर धुन धुन कर रोने लगी ।’

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ‘दैन्य’ (दीनता) का यह स्वरूप निर्दिष्ट है—

‘चिन्तौसुख्यसमुत्पाद् दुःखाद्वा दीनता भवेत् पुसाम् ।
सर्वमृजापरिहारैर्विविधोऽभिनयो भवेत्तस्य ॥

(नाट्यशास्त्र ७ ४९)

(४—श्रम)

अथ श्रमः—

खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः ।

यथा—

‘सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्धी
सीता जयाभिचतुराणि पदानि गत्वा ।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥’
(५—मद)

अथ मदः—

संमोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः ॥ १४६ ॥
अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति ।

तात्पर्य यह है कि दुर्गति अथवा परतिरस्कृति आदि के कारण जो मन क्लैव्य है वही ‘दैव्य’ है । कालिदास के ‘भेषदूत’ में यक्ष के ‘दैव्य’ का बड़ा मनोरम अभिव्यञ्जन हुआ है—

‘पूतत् कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्त्मनो मे
सौहार्दाद् वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ।
इष्टान् देशान् विचर जलद ! प्रावृषा सम्भृतश्री-
र्माभूदेव क्षणमपि च ते विधुता विप्रयोगः ॥

अनुवाद—श्रमः—

‘श्रम’ का अभिप्राय रति प्रसङ्ग, मार्गगमन आदि-आदि कारणों से उत्पन्न खेद का है । इसके कारण श्वास, निद्रा आदि-आदि की उत्पत्ति और वृद्धि हुआ करती है । जैसे कि मार्गज ‘श्रम’ का यह उदाहरण—

‘शिरीषकोमलाङ्गी सीता अयोध्यानगरी के पास ही तीन-चार पग चली और रहकर राम से पूछने लगी ‘अभी और कितना चलना है’ राम क्या करते ! उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी प्रारम्भ हो गयी ।’

विमर्श—मन और शरीर के खेद को ‘श्रम’ माना जाता है । इस व्यवहारी भाव का परिपोष कई रसों को मिला करता है । शृङ्गार का परिपोषक ‘श्रम’ महाकवि भवभूति के ‘उत्तर रामचरित’ (१ २४) में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त हुआ है—

‘अलसलुलितमुग्धान्यध्वसतापखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
मृदुमृदितमृणालीदुर्वलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥’

‘श्रम’ की व्युत्पत्ति है—शृणाति इति अङ्गानि मनो वेति ‘श्रम’ । अङ्गावसाद अथवा मनःखेदों इस प्रकार ‘श्रम’ में अन्तर्भूत हैं ।

अनुवाद—मदः—

‘मद’ कहते हैं समोह (बेहोशी) और आनन्द के सम्मिश्रण को । इसकी उत्पत्ति

अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ॥ १४७ ॥

यथा—

‘प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः ।
गूढसूचितरहस्यसहासः सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः ॥’
(६—जडता)

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णीभावादयस्तत्र ॥ १४८ ॥

यथा मम कुचलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये—

‘णवरिभ तं जुअजुअलं अणोणण णिहिदसजलमन्धरदिट्ठिं ।
आलेक्खओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ संट्ठिअं मुअसरणं ॥’
(केवलं तद्युवयुगलमन्योऽन्य निहितसजलमन्धरद्वष्टि ।

आलेख्यापितमिव क्षणमात्र तत्र स्थितं मुक्तसङ्गम् ॥)

मद्यपान आदि से हुआ करती है । उत्तम प्रकृति के लोग तो ‘मद’ से सो जाया करते हैं और मध्यम प्रकृति के लोग हँसने अथवा गाने लगते हैं । और जो लोग नीच प्रकृति के हुआ करते हैं वे या तो मद-परवश होने पर गाली-गलौज करने लगते हैं या रोने-धोने लगते हैं । उदाहरण के लिये (महाकवि माघ-कृत यह मद-वर्णन)

‘मदिरा के दौर पर दौर चले और रमणिओं की प्रतिभा जाग उठी । फिर क्या था ! नानाविध वक्रोक्तिओं से सुन्दर और रति-रहस्य का गूढ़-सूचक हास-परिहास निकल पड़ा ।’

विमर्श—‘नद’ का विशद वर्णन भरतनाट्यशास्त्र की इन पंक्तियों में है—

‘त्रिविधस्तु मद कार्यस्तरुणो मध्यस्तथावकृष्टश्च ।
करण पञ्चविधं स्यात्तस्याभिनय प्रयोक्तव्य ॥
स्मितवचनमधुररागो दृष्टतनु किञ्चिदाकुलितवाक्य ।
सुकुमाराविद्वगतिस्तरुणमदस्तूतमप्रकृति ॥
स्खलिताधूर्णितनयन सस्तव्याकुलितबाहुविशेष ।
कुटिलव्याविद्वगतिर्मध्यमदो मध्यमप्रकृतिः ॥
नष्टस्मृतिर्हतगतिश्छुर्दितहिक्काकफै सुवीभत्स ।
गुरुसजमानजिह्वो निष्ठीवति चाधमप्रकृतिः ॥’

(नाट्यशास्त्र ७. ३८-४३)

‘नद’ शब्द की व्युत्पत्ति से भी ‘नद’ का उपयुक्त ही अन्विष्टाव्य निवर्त्तन है—

‘मशब्दार्थो मतिर्मानस्तद्दानात् खण्डनान्मदः ।’ (भावप्रकाशन २)

अनुवाद—जडता.—‘जडता’ कहते हैं किंकर्तव्यविमूढता को । इसकी उत्पत्ति दृष्ट तथा अनिष्ट के दर्शन किंवा श्रवण से हुआ करती है । इसके होने पर निर्निमेष नेत्रों से देखना, चुप्पी साधना आदि-आदि स्वभावतः हुआ करते हैं । जैसे कि, स्वरचित प्राकृत काव्य ‘कुचलयाश्वचरित’ का यह ‘जडता-वर्णन’—

‘उस समय ऐसा हुआ कि प्रेमी और प्रेमिका का जोड़ा, एक दूसरे की ओर, बांसू

(७—उग्रता)

अथोग्रता—

शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता ।

तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १४९ ॥

यथा—

‘प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-

र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।

वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः

पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैव भुजः ॥’

भरी आखों से, एक टक देखता रहा और एक निश्चेतन चित्राङ्कित प्रेमी-युगल की भाँ चुपचाप खड़ा रहा ।’

विमर्श—‘जाह्नव’ भी मित्र-मित्र रसों का परिपोषक व्यभिचारीभाव है। इष्ट किंवा अति के दर्शन और श्रवण आदि से उत्पन्न ‘अप्रतिपत्ति’ का नाम जलता अथवा जाटय है। महाका कालिदास की इस सूक्ति में पार्वतीगत रतिभाव के परिपोषक जाह्नव का बड़ा सुन्दर चित्रण है—

‘यवमालि निगृहीतसाध्वस शङ्करो रहसि सेव्यतामिति ।

सा सखीमिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत् प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥’

(कुमारसम्भव ८५)

यह पार्वती की अप्रतिपत्ति अथवा किङ्कर्तृ-यविमूढता का जो चित्रण है उससे पार्वती शिवविषयक प्रेम की उत्कटतर रूप से अभिव्यक्ति हो रही है जिसमें सहृदयहृदय शृङ्गार आनन्द ले पाता है ।

अनुवाद—उग्रता—‘उग्रता’ कहते हैं चण्डता अथवा अत्यधिक असहिष्णुता के इसकी उत्पत्ति के कारण शौर्य, अपराध, अपकार आदि-आदि हैं। इससे स्वेद, शिरःकम्प, तर्जन और ताडन आदि-आदि स्वभावत उत्पन्न हुआ करते हैं। जैसे कि (महाका भवभूति के ‘मालतीमाधव’ में ‘माधव’ की उग्रता का यह अभिव्यञ्जन)—

‘अरे पापाचार ! अरे अधोरघण्ट ! मेरी मालती की इस कोमल देह पर, जिस पर उसकी प्रेमपगी सखियों द्वारा, हास-परिहास में, धीरे से फँके गये शिरीषपुष्प भी घों पहुँचाते से लगा करते हैं, तू यह भयकर शस्त्र चला रहा है। अरे ! रुक, नहीं तो तेरी खोपड़ी पर, यमवृण्ड की भाँति, मेरा यह भुजदण्ड, क्षण भर में गिरना चाहता है ।’

विमर्श—‘औरंग’ का महाकवि भवभूतिकृत यह वर्णन बड़ा सुन्दर है—

‘उत्कृत्योत्कृत्य गर्मानपि शङ्कलयत’ क्षत्रसतानरोषा-

दुहामस्यैकविंशत्यवधि विशसत सर्वतो राजवंशान् ।

पिथं तद्रक्तपूर्णहृदयवनमहानन्दमन्दायमान-

क्रोधाग्ने कुर्वतो मे न खलु न विदित सर्वभूतैः स्वभावः ॥’

(महावीर चरित्-२ ४६)

यह परशुराम के उत्साह भाव का जो परिपोष है उसमें ‘उग्रता’ का साहचर्य स्पष्ट प्रती हो रहा है ।

(८—मोह)

य मोहः—

मोहो विचित्ता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः ।

मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ १५० ॥

या—

‘तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्ति मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।

अज्ञातभर्तृव्यस्तना सुहृत् कृतोपकारेव रतिर्वभूव ॥’

(९—विबोध)

य विबोधः—

निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः ।

जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥ १५१ ॥

या—

‘चिररतिपरिखेद्राप्रनिद्रासुखानां

चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा ।

अपरिचलितगात्रा कुर्वते न प्रियाणा-

मशियिलभुजचक्राश्लेषभेदं तत्पथ ॥’

अन्वयः—मोहः—‘मोहः’ चित्त की विकलता को कहा करते हैं। इसकी उत्पत्ति भय, दुःखावेग, अत्यन्त चिन्तन आदि कारणों से संभव है। ‘मोह’ में मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, धराजाना, कुछ दिखाई न पचना आदि-आदि स्वभावतः हुआ करते हैं। जैसे कि महाकवि कालिदास के ‘कुमारसम्भव’ में चित्रित रति के मोह का चित्रण) —

‘जब कि अलक्ष्य पतिनिधन-शोक-अघात से रति के हृदय में ‘मोह’ उत्पन्न हुआ उसकी सभी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट बन गयीं, तब ऐसा प्रतीत होता था जैसे उसे न तो निधन का ही कोई पता है और न किसी प्रकार के शोक का ही कोई अनुभव था है।’

विमर्श—‘मोह’ वह मनोविकार है जो कि मन को नष्ट कर दिखता है। अर्थात् मन न जाने—आदि से उत्पन्न मोह भिन्न-भिन्न रूप का है किन्तु चित्तमूढ़ता का धर्म सर्वत्र अनुभूत करिमान ने मनदेव के मोह का स्वरूप अनेक विधा है—

स्मरस्तथाभूतमयुगलनेत्र

परयच्छदूरान्मनसाप्यध्वजम् ।

नालक्ष्यत्साध्वसलरुहस्त सस्त शर चापमपि स्वहस्तात् ॥’

अन्वयः—विबोधः—‘विबोध’ कहते हैं चेतना की पुनः प्राप्ति को, और यह नौद के दूर करनेवाले कारणों से हुआ करता है। इसके होने पर जमाई, अंगड़ाई, आँख मीचना, लंगों का देखना आदि-आदि हुआ करते हैं। जैसे कि (महाकवि माघ के ‘शिशुपालवध’ में यह विबोध-वर्णन)—

‘चिरकाल तक रति-क्रीड़ा से परिश्रान्त प्रेमियों के लो जाने पर ही प्रेमिकाओं को सोने का अवसर मिला। किन्तु इसके पहले कि प्रेमी जागें, प्रेमिकायें जाग पड़ीं। प्रेमिकायें जाग तो पड़ीं किन्तु निद्रित प्रेमियों के भुजालिङ्गन के शिथिल हो जाने के डर से बिना हिले-डुले, जैसे पड़ी थीं वैसे ही पड़ी रहीं।’

(१०—स्वप्न)

अथ स्वप्नः—

स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।

कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥ १५२ ॥

यथा

‘मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-

र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेन ।

पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां

मुक्तास्थूलास्तरुफिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥’

(११—अपस्मार)

अथापस्मारः—

मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।

भूपातकम्पप्रस्वेदफेनलालादिकारकः ॥ १५३ ॥

‘आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलदुभुजाकारवृहत्तरङ्गम् ।

फेनायमान पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥’

विमर्श—भरतमुनि ने ‘विबोध’ की यह परिभाषा की है—

‘आहारविपरिणामाच्छब्दस्पर्शादिभिश्च सभूतः ।

प्रतिबोधस्त्वभिनेयो जृम्भणवलनाक्षिपरिमर्दः ॥’

(नाट्यशास्त्र—७-७)

अनुवाद—स्वप्न-‘स्वप्न’ का अभिप्राय है निद्रा में निमग्न होने पर विषयानुभव के इसके द्वारा कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःख आदि-आदि हुआ करते हैं । उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के ‘मेघदूत’ का यह ‘स्वप्न-वर्णन’)—

‘हे मेघ ! मेरी ओर से तुम मेरी प्रियतमा से कहना कि विरह की वेदना मुझे नहीं लेने देती । कभी नींद पड़ी तो स्वप्न देखता हूँ कि मेरी प्रियतमा मेरे पास है मैं उसका आलिंगन करने के लिये हाथ फैलाये हूँ । किन्तु मेरे फैले हाथ तो शून्य आलिंगन करते हैं । मेरी इस दयनीय दशा को देख देख चन-देवियाँ रो पड़ती हैं और उनके मोती सरीखे आँसू पेड़-पौधों के पत्तों पर गिर-गिरकर बहने लगते हैं ।’

विमर्श—निद्रा की ही उद्धिक्ता अथवा गाढावस्था का नाम स्वप्न अथवा ‘सुप्ति’ है । इस वर्णन उत्स्वप्नायित, उच्छ्वसित, निःश्वसित आदि के वर्णन द्वारा—किया जाता करता है । सदा के कविओं और नाटककारों ने यथास्थान और यथावसर इसका सुन्दर वर्णन किया है ।

अनुवाद—अपस्मारः—‘अपस्मार’ कहते हैं चित्त की विक्षिप्तता को । इसके कारण प्रभूत-प्रेत आदि के आवेश हैं । इसके होने से पृथ्वी पर लोट पड़ना, कँपकँपी, पसीना निकलना, मुँह में झाग भरना, लार टपकना आदि-आदि हुआ करते हैं ।

जैसे कि (महाकवि माघ का यह ‘अपस्मार’ वर्णन)—

‘जब कि कृष्ण ने समुद्र को देखा कि वह पृथिवी पर लोटा पड़ रहा है, विकट शांति कर रहा है, बड़ी-बड़ी तरंग-मुजाओं को झधर उधर घुमा-फिरा रहा है और रह रह कर

(१२—गर्व)

अथ गर्वः—

गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः ।

अवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥ १५४ ॥

तत्र शौर्यगर्वो यथा—

‘धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ।

यद्वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत्केन साध्यताम् ॥’

(१३—मरण)

अथ मरणम्—

शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत् ।

फेन उगल रहा है तो उन्हें ऐसा लगा जैसे वे किसी मिरगी के रोगी (अपस्मार-ग्रस्त व्यक्ति) को देख रहे हों ।’

विमर्श—‘अपस्मार’ पद को निरुक्ति यह है—

अपस्मारोऽनुभूतेषु पदार्थेष्वन्यथास्मृतिः ।

अथथास्मृतिरेव स्यात् पदार्थास्मृतिरेव वा ॥’

(भावप्रकाशन २ व अधिकार)

अर्थात् स्मृति का अपगन ‘अपस्मार’ है । स्मृति का अपगन दो प्रकार का हो सकता है जैसे कि (१) अन्यथास्मृति और (२) अस्मृति ।

साहित्यदर्पणकार ने ‘अपस्मार’ को जो चित्तक्षोभ कहा है वह अन्यथास्मृति और अस्मृति के अतिरिक्त और कोई मनोविकार नहीं । यहाँ एक बात ध्यान देने की है । साहित्यदर्पणकार ने ‘अपस्मार’ के उदाहरण-रूप में नाषकृत तनुदवर्णन की जो सूक्ति उद्धृत की है उसमें ‘अपस्मार’ के द्वारा कोई रत्न-परिपोष किया गया नहीं प्रतीत होता । वैसे कान्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसी सूक्ति को अपस्मार के निदर्शन के लिये उद्धृत किया है किन्तु उन्होंने ‘अथ च प्राय आभातेष्वेव शोभते’ इन उपक्रम के साथ यहाँ रत्नाभास का परिपोषण नाना है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है ।

अनुवाद—गर्वः—‘गर्व’ कहते हैं मद अथवा घमण्ड को । यह प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या, कुलीनता आदि-आदि से उत्पन्न हुआ करता है । इसके होने पर दूसरों की अवज्ञा करना, दूसरों को नीचा दिखाने के लिये अगूठे आदि का दिखाना, अविनयपूर्ण व्यवहार करना आदि-आदि स्वभावतः हुआ करते हैं । उदाहरण के लिये (वेणीसहार में अश्वत्थामा के) शौर्यमद का यह वर्णन—

‘जब तक मेरे पास शस्त्र है तब तक और शस्त्रधारी योद्धाओं का क्या काम ! जो काम मेरे शस्त्र से न हो सके, उसे और कोई क्या कर लेगा ।’

विमर्श—अपने गौरव का भाव ‘गर्व’ है । इसीलिये शारदातनय ने यह नक्षित गर्व-लक्षण किया है—‘आत्मनो यो गरीयस्त्वभावो गर्व’ स ईरित ।’ (भावप्रकाशन २ व अधिकार)

अनुवाद—मरण.—‘मरण’ कहते हैं प्राणत्याग को । शरादि के द्वारा यह संभव है और इसमें अङ्ग-भङ्ग, शरीर-पात आदि-आदि हुआ करते हैं । जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवंश में तादका का) यह मरण-वर्णन.—

यथा—

‘राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्गुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥’

(१४—आलस्य)

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत् ॥ १५५ ॥

यथा—

‘न तथा भूपयत्यङ्गं न तथा भापते सखीम् ।
जृम्भते मुहुरासीना बाला गर्भभरालसा ॥’

‘जैसे ही ताड़का (अभिसारिका) के हृदय में रामरूपी मन्मथ (कामदेव) के घात घाण घुसे कि वह गन्ध से भरे रुधिर-चन्दन से चर्चित हो गयी और प्राणपति (यमराज) के घर के लिये विदा हो चली ।’

विमर्श—‘मरण’ रूप व्यभिचारी भाव का वास्तविक अभिप्राय मृत्यु नहीं अपि तु मृत्यु के पूर्वावस्था है । यह अवस्था व्याधि, अभिघात आदि-आदि कारणों से उत्पन्न होती है । महाकवि कालिदास की निम्न सूक्ति इसका एक सुन्दर निदर्शन है—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरयवो-

द्वेहत्यागादमरणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।

पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयाऽसौ

लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ (रघुवश ८ ९५)

इस उपर्युद्धृत सूक्ति में प्राणत्याग के बाद प्राणयोग का जो वर्णन है वह भी ‘मरण’ रूप व्यभिचारी भाव का ही अभिव्यञ्जन है ।

अनुवाद—आलस्य.—‘आलस्य’ का अभिप्राय जड़ता का है जो कि परिश्रम किंवा गर्भ धारण आदि-आदि से सम्भव है । इसमें जभाई आया करती है, एक स्थान पर बैठे रहन पड़ता है और इसी भाँति के अन्यान्य विकार उत्पन्न हो जाया करते हैं । जैसे कि—

‘गर्भधारण से अलसायी यह सुग्धा न तो पहले की तरह आभूषण धारण कर रही है और न सखियों से बोलना चाहती है । यह तो बार-बार बैठ-बैठ कर केवल जंभाई लिया करती है ।’

विमर्श—‘आलस्य’ और ‘अङ्गों का उल्लासामात्र’ एक ही वस्तु है—

‘अङ्गानां यदनुल्लासस्तदा लस्यमुदाहृतम् ।’

हेमचन्द्राचार्य ने ‘आलस्य’ की यह परिभाषा की है—

‘श्रमसौहित्यरोगगर्भस्वभावादिभ्यः पुरुषार्थेष्वनादर आलस्यम् ।’

जिसमें सौहित्य अथवा भोजनरुचि से सम्भूत ‘आलस्य’ का भी परिगणन किया हुआ सौहित्य-सम्भूत ‘आलस्य’ का यह वर्णन बड़ा रोचक है—

‘त्रैलोक्याभयलक्ष्मकेन भवता क्षीरेण विस्मारित-

स्तञ्जीमूतमुहूर्त्तमण्डनधनुः पाण्डित्यमाखण्डलः ।

किञ्चाजस्रमखार्पितेन हविषा संकुलमांसोत्सव-

सर्वाङ्गीणवलीविलुप्तनयनन्युहः कथं वर्त्तते ॥’

(१५—अमर्ष)

अथामर्षः—

निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।

नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत् ॥ १५६ ॥

यथा—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्याना वो व्यतिक्रमात् ।

न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

(१६—निद्रा)

अथ निद्रा—

चेतः संमीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा ।

जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम् ॥ १५७ ॥

यथा—

‘सार्थकानर्थकपदं ब्रुवती मन्थराक्षरम् ।

निद्रार्थमीलिताक्षी सा लिखितेवास्ति मे हृदि ॥’

अनुवाद—अमर्ष —‘अमर्ष’ कहते हैं चित्त के अभिनिवेश अथवा अत्यधिक आग्रह-परिग्रह को। इसके कारण किसी के द्वारा निन्दित किया जाना, धमकाया जाना, अपमानित किया जाना आदि-आदि हैं। इसमें आँखें लाल हो जाती हैं, सिर कापने लगता है, त्वरियाँ चढ़ जाती हैं, घुड़की दी जाया करती हैं और इसी भाँति की अनेकों बातें हुआ करती हैं। जैसे कि (महाकवि भवभूति के महावीरचरित में परशुराम का) यह अमर्ष-वर्णन—

‘यहां वढे-वढे ऋषि-महर्षि विराजमान है जिनकी आज्ञा का मैं उल्लघन कर रहा हूँ और इस पाप का प्रायश्चित्त भी कर लूँगा। लेकिन, जब कि एक बार मैंने अपने हाथ में शस्त्र उठा लिया तब इस महान् वीर-व्रत का भंग मैं कदापि नहीं कर सकता ।’

विमर्श—हेमचन्द्राचार्य का यह ‘अमर्ष’-लक्ष्य अधिक स्पष्ट है—

‘विद्यैश्वर्यबलाधिककृतेभ्य आक्षेपावमानादिभ्यः’ प्रतिचिकीर्षारूपोऽमर्षः ।

(कान्वाणुशासन २४०) ।

इसका सुन्दर अभिव्यञ्जन इन सूक्ति (वेगितहार १८) में है—

‘लाक्षागृहानलविपाक्षसमाप्रवेशै प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।

आकृष्टपाण्डवधूपरिधानकेशाः स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥’

अनुवाद—निद्रा —‘निद्रा’ कहते हैं चित्त की निश्चलता अथवा निश्चेष्टता (वाह्य विषयों से निवृत्ति) को। इसके कारण परिश्रम, मन खेद, मदपान आदि-आदि हैं। इसमें जमाई लेना, आँखें मीचनी, उच्छ्वास, अगड़ाई आदि-आदि हुआ करते हैं। जैसे कि—

‘मित्र ! मेरे हृदय फलक पर एक सुन्दरी का चित्र खिंच गया है जिसमें वह कभी-कभी आँखें बहवहाती और नौद के कारण अधसुली आँखों से विचित्र रूप से सुन्दर लग रही है।’

विमर्श—‘निद्रा’ की यह निरुक्ति है जो कि उनके स्वरूप का भी परिचय देती है—

‘इन्द्रियाणि निमीलन्ति द्रागेव युगपद् यतः ।

तस्मान्नित्रेति कविभिः कथ्यते भावकोविदैः ॥’ (नावप्रकाशन २४ अङ्किका)

तात्पर्य यह है कि ‘मनोनिमीलन’ ही निद्रा है ।

(१७—अवहित्या)

अथावहित्या—

भयगौरवलज्जादेर्हर्पाद्याकारगुप्तिरवहित्या ।

व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी ॥ १५८ ॥

यथा—

‘एवंवादिनि देवर्षीं पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥’

(१८—औत्सुक्य)

अथौत्सुक्यम्—

इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।

चित्ततापत्वरसवेददीर्घनिःश्वासितादिकृत् ॥ १५९ ॥

यथा—

‘यः कौमारहरः स एव हि वरः—’ इत्यादौ (१४ पृ०)

अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेण रसस्य प्राधान्यमित्युक्तं तद्रसनधर्मयोगि
व्यभिचारिभावस्यापि रसशब्दवाच्यत्वेन गतार्थं मन्तव्यम् ।

अनुवाद—अवहित्या —‘अवहित्या’ का अभिप्राय है प्रसन्नमुद्रा, काम-मुद्रा आदि के छिपाने का । इसके कारण भय, गौरव, लज्जा आदि-आदि हैं । इसमें, जिस काम में हो उसे छोड़ दूसरे काम में लग जाना, इधर-उधर की घात बनाना, दूसरी ओर लग जाना आदि-आदि हुआ करते हैं । जैसे कि (महाकवि कालिदास के ‘कुमारसं पार्वती की) अवहित्या का यह वर्णन—

‘महर्षि नारद ने पर्वतराज से शिव को पार्वती के वर बनाने की बात की । पि पास बैठे पार्वती ने सुना और सिर झुका लिया और अपने हाथ में लिये लीलाक पद्मविभों को गिनने लग पड़ी ।’

विमर्श—आकारगुप्ति को ही सभी काव्य-कोविदों ने ‘अवहित्या’ माना है । भवभूति को यह सूक्ति ‘अवहित्या’ का बड़ा सुन्दर उदाहरण है—

‘अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्ययः ।

पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥’

अनुवाद—औत्सुक्यः—‘औत्सुक्य’ का अभिप्राय है कालविलम्ब के सहन सकने का । इसका कारण अभिलषित वस्तु का न पाना है । इसमें मन संतप्त हुआ है, अस्वभाजी लगी रहती है, पसीना छूट पड़ता है, लम्बी-लम्बी साँसें चलने लगती हैं इसी भाँति के और विकार उत्पन्न हो जाया करते हैं । जैसे कि—‘यः कौमारहर आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति ।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि काव्यप्रकाशकार के अनुसार यह सूक्ति कविता मानी गयी है और यहाँ (साहित्यदर्पण में) इसे औत्सुक्यरूप व्यभिच की अभिव्यक्ति का निदर्शन बताया गया है । वैसे तो काव्यप्रकाशकार ने इस प्राधान्य’ माना था किन्तु यदि इसे रस प्रधान कहने का अभिप्राय रसास्वादमय

(१९—उन्माद)

अधोन्मादः—

चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।

अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥ १६० ॥

यथा सम—

‘भ्रातद्विरेफ । भवता भ्रमता समन्ता-

त्प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ?

(भ्रकारमनुभूय सानन्दम् ।)

ब्रूये किमिति सखे ! कथयाशु तन्मे

किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम् ॥’

हे तब तो यह बात ठीक नहीं (क्योंकि यहा स्वात्वाद का कोई चमत्कार नहीं) । इसे यदि रस प्रधान माना जाय तो इसी दृष्टि से ऐसा मानना उचित है कि यहा ‘औत्सुक्य’-रूप व्यभिचारी भाव का अनिव्यञ्जन हो रहा है जो कि रसनीयता की विशेषता से विभूषित है । क्योंकि व्यभिचारी भाव का आत्वाद भी तो उपचारत ‘रस’ ही कहा जाया करता है ।

विमर्श—कालातिनात की अन्धता और ओत्सुक्य एक ही वस्तु है । साहित्यदर्पणकार ने कालातिनात की अन्धता का कारण ‘इष्टवस्तुवियोग’ माना है किन्तु ‘रम्यवस्तुदिवृष्टा’ भी अन्धता का कारण हो है । उदाहरण के लिये रम्यवस्तु की दर्शनाभिलाषा से उत्पन्न औत्सुक्य का उद् अनिव्यञ्जन—

‘भालोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या क्याचिदुद्वेष्टनवान्तमात्म्य ।

वद्भु न सभावित एव तावत् करेण रुदोऽपि हि केशपाश ॥’

(रघुवंश ७३)

(ख) साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार का खण्डन करने के जानइ से ‘य’ कौमारहर.’

आदि मूर्ति ने ‘औत्सुक्य’रूप व्यभिचारी भाव की ही उत्पन्न अनिव्यक्ति मान ली है । वैसे तो यहा नन्ददयहृदय को विप्रलम्भ शृङ्गार का ही आनन्द मिला करना है ।

जैसा कि उदाहरणचन्द्रिकाकार ने स्पष्ट कहा है—

‘पार्यन्तिकात्वादहेतुश्चात्र (य कौमारहर इत्यादौ) विप्रलम्भ । स्वाधीनपतिकाया अपि क्रीडास्थानाप्राप्त्यादिना सुरतप्रतिबन्धे तत्समवात् ।’

अर्थात् ‘य’ कौमारहर’ आदि मूर्ति एक विशेष प्रकार के ही विप्रलम्भशृङ्गार को पूर्ण अनिव्यञ्जन है । यहा ‘स्वाधीनपतिका’ नायिका का विप्रलम्भ वर्णन है जिसने ‘औत्सुक्य’ का भाव विप्रसुन्न रति की रमनीयता का ही अधिकाधिक परिपोष कर रहा है ।

अनुवाद—उन्माद —‘उन्माद’ कहते हैं चित्त की व्यामूढता को जो कि काम, शोक, भय आदि आदि के कारण सम्भव है । इसमें अकारण हँसना, अकारण रोना, अकारण गाने लगना, प्रलाप करने लगना आदि आदि हुआ करते हैं । जैसे कि मेरी इस स्वरचित सूक्ति में उन्माद-वर्णन—

‘मित्र अनर । तुम सर्वत्र विचरते रहते हो, यह तो बता दो कि तुमने मेरी प्राणप्यारी को कहीं देखा तो नहीं ? (झंकार का अनुभवकर, आनन्द के साथ) ओह ! क्या तुमने यह कहा कि तुमने उसे देखा है । अरे ! तब जल्द बता दो कि वह कहाँ है, कमी है और क्या कर रही है ।’

१६ सा०

(२०—शङ्का)

अथ शङ्का—

परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य तर्कणम् ।
वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत् ॥ १६१

यथा मम—

‘प्रागोशेन प्रहितनखरेण्वज्रकेषु क्षपान्ते
जातातट्टा रचयति चिरं चन्दनालेपनानि ।
धत्ते लाक्षामसकृदधरे दत्तदन्तावघाते
क्षामाङ्गीयं चकितमभितश्चक्षुषी विक्षिपन्ती ॥’
(२१—स्मृति)

अथ स्मृतिः—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत् ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ १६२ ॥

यथा मम—

‘मयि सकपट किञ्चित्कापि प्रणीतविलोचने
किमपि नमन प्राप्ते तिर्यग्विजृम्भिततारकम् ।
स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जमवाञ्छित
कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम् ॥’

विमर्श—‘उन्माद’ और ‘चित्तविलव’ एक ही प्रकार के मनोविकार हैं (उद्व्यति म यस्मादुन्मादश्चित्तविलव) ।

अनुवाद—शङ्का—‘शङ्का’ का अभिप्राय है अनर्थ-चिन्तन का, और यह किसी दूसरे क्रूराचरण, आरम-दोष आदि आदि के कारण हुआ करती है । इसमें वैवर्ण्य, कम्प, स्वरस्य अधर-उपर देखना, मुह सूखना आदि हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिये, मेरी स्वरचित सूक्ति में शङ्का वर्णन—‘प्रातःकाल, चारों ओर घंकि हो होकर देखती हुई यह सुन्दरी सुरधा, अपने कोमल अङ्गों पर रात में लगे अपने प्रियतम के नखरतों पर तो चन्दन का लेप लगा देती है और अपने अधरविम्ब पर पड़े दन्तव्रत पर लाक्षा की लाली मलने लगती है ।’

विमर्श—अनर्थचिन्तन को इसलिये ‘शङ्का’ कहा जाया करता है क्योंकि इसके द्वारा मानसिक सुख में विषम पड़ जाया करता है—‘शं सुखं कुसयति या सा शङ्केत्यभिधीयते’ (भावप्रकाशन २५ अधिकार)

अनुवाद—स्मृति—‘स्मृति’ का अभिप्राय है पहले कभी अनुभव में आयी किसी वस्तु के पुनर्ज्ञान का । इसकी उत्पत्ति सदृश वस्तु के अनुभव किंवा चिन्तन अ से संभव है । इसमें मौहों का चढ़ना और इसी प्रकार की अन्य विकृतिर्षां हु करती हैं ।

उदाहरण के लिये—मेरी इस स्वरचित सूक्ति में ‘स्मृति’-वर्णन—‘भिस समय मैं उसे दिखा कर किसी बहाने यों ही किसी ओर दृष्टि डाली तो उसने मुझे तिरछी निगाह

(२२—मति)

अथ नति —

नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।

स्मेरता धृतिसंतोषौ बहुमानश्च तद्भवाः ॥ १६३ ॥

यथा—

‘असंशय क्षत्रपरिग्रहस्य यदार्यमस्यानभिलाषि मे मनः ।

सतां हि संदेहपटेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥’

(२३—व्याधि)

अथ व्याधि—

व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत ।

से डेता और जैसे ही अपनी सुसकराती सखी पर ध्यान दिया वैसे ही वह लज्जित हो गयी और मुँह सींचा कर लिया । ओह ! उस इन्दीवरनयना का उस समय का विहंसता मुँह रह-रह कर बाढ़ का रहा है और सुसमें वैचनी भर रहा है ।

विमर्श—नवप्रकाशकर ने स्मृति का यह परिमाण कहा है—

‘देशान्तरेऽनुभूतस्य तथा कालान्तरेऽपि च ।

तद्देशादिविशिष्टस्य पुनरालोचनं स्मृतिः ॥

स्मरति स्मर्यते स्मारयतीत्यस्यास्तु निर्वहः ॥’

(भाष्यकार ने उक्त किया ।

‘स्मरति’ किन्तु इत्यादि नवप्रकाशकर आदि-कृते कहे हैं । स्मृति का उक्त अर्थ है—मनुष्य के काल-रूप को स्मृति में लेना । स्मृति का प्रकाशन है वह स्वात्म-मनुष्य स्मृति है और दुष्यन्त-शकुन्तला विषयक स्मृति को वह परेनोव-प्रति-है—

‘रम्याणि वीक्ष्य नशुरांश्च निशान्य शब्दान्

पर्युत्सुर्काभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।

तक्षेतसा स्मरति नूतनबोधपूर्वं

भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥’

‘स्मरति’—‘मति’—‘नति’ का अभिप्राय है वस्तु-तत्त्व के निश्चय का । इसके कारण

नीतिमार्ग के अनुसरण आदि-आदि हैं । इसके होने पर सुसकराहट, धैर्य, सन्तोष, और ज्ञान-सन्मान आदि स्वभावतः हुआ करते हैं ।

जैसे कि (महाकवि कालिदास के ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ में दुष्यन्त की शाकुन्तला-विषयक मति का) यह वर्णन—

‘यह तापस-सुन्दरी (शाकुन्तला) अवश्य ही इन्द्रिय के विवाह के योग्य है । और नहीं तो मला मेरा यह मयत चित्त क्योंकर इसकी ओर लालायित हो उठता ! ससुहृदों को जहाँ भी सदेह होने लगता है वहाँ उनका अन्त कारण ही वस्तु-उसे दूर भगा दिया करता है ।’

विमर्श—नवप्रकाशकर ने मति का यह परिमाण कहा है—

‘सदसन्निधयकरी मननाना मतिर्निर्वहः ॥’

तान्ये यह है कि अर्थ-निर्धारण ही मति है ।

‘व्याधि’—‘व्याधि’ का अभिप्राय है वात, पित्त आदि के प्रकोपसे उत्पन्न रोगों का । इसमें नीचे लेटे पड़ना, कपकपी आदि विकार हुआ करते हैं ।

तत्र दाहमयत्वे भूमीच्छादयः । शैत्यमयत्वे उत्कम्पनादयः । स्पष्टमु
हरणम् ।

(२४—त्रास)

अथ त्रास—

निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः ॥ १६४ ॥

यथा—

‘परिस्फुरन्मीनविघटितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः ।

उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥’

(२५—व्रीडा)

अथ व्रीडा—

धाष्टर्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद् दुराचारात् ।

यथा—

‘मयि सकपटम्—’ इत्यादि ।

यहाँ यह जान लेना चाहिये कि पित्त-प्रकोप वाली व्याधि में जमीन पर लोट
झुंझा आदि होती है और कफ-प्रकोप वाली व्याधि में कपकपी आदि लगती है ।

इसका उदाहरण वर्यो दिया जाय, यह तो यों ही स्पष्ट है ।

विमर्श—‘व्याधि’ का यह एक सुन्दर उदाहरण है—

‘शय्या पुष्पमयी परागमयतामङ्गार्षणादशनुते

ताम्यन्यन्तिकतालवृन्तनलिनीपत्राणि देहोष्मणा ।

न्यस्त चस्तनमण्डले मलयजदीर्णान्तर दृश्यते

काथादाशु भवन्ति फेनिलमुखा भूपा मृणालाङ्कुराः ।’

अनुवाद—त्रास.—‘त्रास’ कहते हैं मन की बेचैनी को । इसकी उत्पत्ति निर्घात (झट्पटानिल), विद्युत्पात, उल्कापात आदि-आदि कारणों से हुआ करती है । इसमें रोमाञ्च आदि-आदि विकार हुआ करते हैं ।

जैसे कि, (महाकवि भारवि के ‘किरातार्जुनीय’ में) यह त्रास-वर्णन—

‘जब कि, जलक्रीडा के समय, जाँघों में चचल मछलियों की चोट से व्याकुल अप्सरायें चञ्चल नयनों से झुधर-उधर देखने लगीं और अपने पाणिपल्लवों को कपा-
तो उनकी सखियाँ भी उनकी इस अस्त-दशा को देख देख उन पर लट्टू होने लगीं ।

विमर्श—‘त्रास’ का अभिप्राय ‘चित्त-चाञ्चल्य’ का है । निर्घातादि के कारण उत्पन्न चित्त का चमत्कार-विशेष ही ‘त्रास’ है । त्रास और भय भिन्न भिन्न वस्तुयें हैं ।

अनुवाद—व्रीडाः—‘व्रीडा’ कहते हैं छटता के न होने को और यह किसी दुराचरण के कारण हुआ करती है । इसमें सिर नीचा होना, मुह का रग उठना आदि आदि विकार हुआ करते हैं ।

जैसे कि—‘मयि सकपटम्’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति ।

विमर्श—‘व्रीडा’ का अभिप्राय चित्त का सकोच है जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने स्पष्ट कहा है—
‘अकार्यकरणज्ञानगुरुन्यतिक्रमप्रतिज्ञाभङ्गादेश्वेत सकोचो व्रीडा ।’

(२९—हर्ष)

अथ हर्ष—

-- हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः ॥ १६५ ॥

यथा—

सनीच्य पुत्रस्य चिरात्पिता सुखं निधानकुम्भस्य यद्यैव दुर्गतं ।
मुञ्च शरीरे प्रवभूव नात्मनं पयोधिरिन्दूद्यमृच्छते यथा ॥

(२९—असूया)

तथाऽसूया—

अमूयान्यगुणार्द्धीनामौद्धत्यादसाहृणुता ।

दोषोद्धोषप्रभृतिभेदावज्ञाक्रोधेक्षितादिकृत् ॥ १६६ ॥

महाकवि कालिदास का यह श्रौट—अनं वडा—ह— ?—

'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रगयिनो निषेदुष ।

वीक्ष्य विन्वमनुविन्वमानं कानि कानि न चकार लज्जया ॥'

(कुन्तलभङ्ग—८ ॥ १)

अन्वय—हर्ष—'हर्ष' का अभिप्राय है मन की प्रसन्नता का । यह किसी अभिलषित
दार्पण की प्राप्ति से सभव है । इसने आनन्द के आसू गिरते हैं, गद्गद स्वर निकलता है
और इसी प्रकार के अन्य विकार हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के 'रघुवश' में दिलीप के हर्ष का) यह
वर्णन—

'जैसे कोई रक्त स्वर्णमुद्राओं से भरा घड़ा देख फूला नहीं सनाता कथवा जैसे
रन्ध्रद्वय के होते समुद्र आनन्दोद्रेक में भर उठता है वैसे ही महाराज दिलीप भी, बहुत
वनों की निक्षतों के बाद पैदा हुये रघु का मुँह देख २ प्रसन्नता से नाच उठे ।'

विनर्श—'हर्ष' की उक्ति—ह—

'यदिन्द्रियाणि हृष्यन्ति हर्षयन्ति परानपि ।

तस्मादर्ष इति ज्ञेय प्रसादो मनस स हि ॥'

अन्वय—हर्ष की प्रसन्नता को 'हर्ष' कहा जाया जाता है । इसका उद्भव मनोरथ-लान्, ऐश्वर्य-
लान्, मित्रत्व-लान्, प्रसन्न-लान्, प्रसन्न-लान्, राक्षस-लान् आदि आदि से सम्भव है । महाकवि
नेव का यह उक्ति—ह—

'युगान्तकालप्रतिसंहतान्नो

जगन्नि यस्यां सविकाशनासत ।

तनौ नमुस्तत्र न केनद्विष—

स्तपोवनान्यागमसंभवा मुद' ।'

अन्वय—असूया—'असूया' कहते हैं स्वभाव की उद्धतता के कारण, दूसरे की गुण-
मन्दति के सहन न कर सकने को । इसमें क्रुमरे के दोष का उद्धोषण किया जाया करता
है, भौहें चढ़ जाया करती हैं, दूसरे को तिरस्कृत किया जाया करता है, क्रोध भरी
वेष्टाये होने लगती हैं और इसी भांति के अन्याय विकार पैदा हो जाते हैं ।

उदाहरण के लिये (महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' में शिशुपाल की असूया का)
यह वर्णन—

यथा—

‘अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहितं मधुद्विपः ।
मानससहृत् न चेद्विपतिः परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम् ॥’
(२८—विपाद)

अथ विपादः—

उपायाभावजन्मा तु विपादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ १६७ ॥

यथा मम—

एसा कुडिलघणेन चिउरकडप्पेण तुह णिबद्धा वेणी ।
मह सहि दारइ ढसइ आअसधट्टिव्व कालउरइव्व हिअअ ॥
[पपा कुटिलघनेन चिकुरकलापेन तव निबद्धा वेणी ।
मम सखि ! दारयति दशति आयसयष्टिरिव कालोरगीव हृदयम् ॥]
(२९—धृति)

अथ धृतिः—

ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु संपूर्णस्पृहता धृतिः ।
सौहित्यवचनोच्छ्वाससहासप्रतिभादिकृत् ॥ १६८ ॥

‘चेदिराज शिशुपाल, राज सभा में, युधिष्ठिर द्वारा दिये गये कृष्ण के सम्मान के सह सका और सहे भी क्यों ? अभिमानी लोगों का तो यह स्वभाव ही है कि वे दूसरे बढ़ती से जल उठते हैं ।’

विमर्श—‘असूया’ और परगुण में दोषारोपण एक ही वस्तु है । परसौभाग्य, परसम्पत्ति, परविद्या, परशौर्य आदि के उत्कर्ष के न सह सकने पर परगुण में दोषारोप स्वाभाविक है ।

अनुवाद—विपाद—‘विपाद’ कहते हैं सत्त्व संक्षय (पौरुष-हानि) को । अनिवारक उपायों के अभाव में यह उत्पन्न हुआ करता है । इसमें निरवास, उच्छ्वित्त-सताप, सहायान्वेषण आदि आदि हुआ करते हैं ।

जैसे कि मेरी स्वरचित सूक्ति में यह विपादवर्णन—

‘अरी सखी ! तेरे घुघराले, लम्बे २ केशों की बनी यह वेणी (चोटी) लोहे के की भांति मेरे हृदय को विदीर्ण कर रही है और काली नागिन सी इसे डस रही है ।’

विमर्श—‘विपाद’ की व्युत्पत्ति यह है—

‘मनसो विविध सादो विपाद इति कीर्तितः ।’

(भावप्रकाशन—२ य अधिकार)

अर्थात् प्रारब्धकार्य के अनिर्वाह, इष्ट की अनाप्ति, विपत्ति, अपराध-परिज्ञान आदि कारणों से सभूत मानसिक अनुताप का नाम ‘विपाद’ है । महाकवि कालिदास की यह ‘विपाद’ का एक सुन्दर चित्र है—

‘सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ य य व्यतीयाय पतिंवरा सा ।

नरेन्द्रमार्गाष्ट हव प्रपेदे विवर्णभाव स स भूमिपालः ॥’

अनुवाद—धृतिः—‘धृति’ कहते हैं इच्छाओं की पूर्ति को और इसके कारण

यथा मम—

‘कृत्वा दीननिपीडनं निजजने बद्ध्वा वचोविग्रह
नैवालोच्य गरीयसीरपि चिरादामुष्मिकीर्यातनाः ।
द्रव्यौघाः परिसचिताः खलु मया यस्याः कृते साप्रतं
नीवाराञ्जलिनापि केवलमहो सेय कृतार्था तनुः ॥’
(३०—चपलता)

अथ चपलता—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ १६९ ॥

यथा—

‘अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग ।
लोल विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमालिकायाः ॥’

यथार्थ ज्ञान, अभीष्ट-लाभ आदि-आदि । इसमें वृत्तिसूचक बोलचाल, उल्लास, हास किंवा
बुद्धिविकास आदि-आदि विकार हुआ करते हैं ।

जैसे कि—मेरी स्वरचित सूक्ति में यह ‘धृति’-वर्णन—

‘ओह ! जिस शरीर के लिये मैंने दीन-दुखियों को सताकर, अपने लोगों से लड़-क्षगड़
कर और भयकर नरक-यातनाओं की भी चिन्ता किये बिना वह सब धन सचय किया,
वह अब केवल एक मुट्ठी सांवा (श्यामाक) के चावल से ही सतुष्ट है ।’

विमर्श—चित्त की नि स्पृहता और इच्छापूर्ति एक ही मनोदशा के दो रूप हैं । ‘धृति’ में ये
दोनों समन्वित हैं । चित्त के ज्ञाननभूत स्वरूपाहित्य का यह एक सुन्दर उदाहरण है—

‘अशीमहि वय भिन्नामाशावासो वसीमहि ।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरै ॥’

अनुवाद—चपलता —‘चपलता’ का अभिप्राय चित्त की अनवस्था (अस्थिरता) का
है । इसके कारण मात्सर्य, द्वेष, राग आदि हैं । इसमें दूसरों की भर्त्सना की जाया करती
है, कठोर वचन बोले जाया करते हैं, उच्छृङ्खल आचरण हुआ करता है और इसी भाँति के
अन्यान्य विकार उत्पन्न हुआ करते हैं ।

जैसे कि इस सूक्ति में यह चपलता-वर्णन—

‘अरे अमर ! (कामुक !) नवमालिका की इस मुग्ध किंवा परागरहित कली
(अल्पवयस्का मुग्धा किशोरी) को असमय में क्यों छेड़ता है ! अरे ! अगर ऐसा ही है
तो अनेकों ऐसी पुष्पलतायें (युवतियाँ) पड़ी हैं जो तेरा उपमर्द (अमर-पक्ष में मधुपान
कालीन चरण-प्रहार आदि और उपनायक-पक्ष में सभोगकालीन गाढालिङ्गन आदि)
सह लेंगी । जा, जा, उनके साथ अपना लोलुप मन बहला ।’

विमर्श—‘चापल’ अथवा चपलता की इस व्युत्पत्ति से ही इन मनोभाव का स्वरूप पता
चल जाता है—

‘अयोग्ये चापदार्थे च दुस्स्पृहा चापल भवेत् ।
पलायते चापदार्थे मनस्तच्चापल भवेत् ॥’

(३१—ग्लानि)

अथ ग्लानिः—

रत्यायासमनस्तापश्रुत्पिपासादिसंभवा ।

ग्लानिर्निष्प्राणताकम्पकार्यानुत्साहतादिकृत् ॥ १७० ॥

यथा— 'किसलयमिव मुग्ध बन्धनाद्विप्रलूनं ।

हृदयकुसुमशोपी दारुणो दीर्घशोकः ।

ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्या शरीर

शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥'

(३२—चिन्ता)

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्ता हितानाम्नेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा मम—

'कमलेण विअसिएण संजोएन्ती विरोहिणं ससिबिम्ब ।

करअलपल्लत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि अन्तराहिअहिअआ ॥'

[कमलेन विकसितेन सयाजयन्ती विरोधिनि शशिविम्बम् ।

करतलपर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि ! अन्तराहितहृदया ॥]

अनुवाद—ग्लानि '—ग्लानि' कहते हैं शारीरिक दुर्बलता को जोकि रतिश्रम, अन्यविध परिश्रम, मनस्ताप, भूख, व्यास आदि आदि से हुआ करती है। इसमें कष्टपूर्ण हुआ करती है, काम करने में जो नहीं लगता और ऐसे ही अन्य उरपात हुआ करते हैं जैसे कि (महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित में सीता की ग्लानि का) यह वर्णन— 'जैसे आश्विन का आतप केतकी के गर्भ—किसलयों (भीतरी पत्तों) को सुल देता है वैसे ही दारुण वियोग-शोक सीता-सुन्दरी के हृदय-कुसुम को सुलसा रह है और उसकी घृन्त-पतित किसलय सरीखी कोमल, दुर्बल और पीली देह-लता को म जलाता दिखाई दे रहा है ।'

विमर्श—'ग्लानि' का अन्विष्टावय है शरीर, वाणी और मन के व्यापारों में 'ग्लपन' (दुर्बलता का (वाङ्मनःकायकर्माणि ग्लानिर्ग्लपयतीति यत्) । 'ग्लानि' और 'निष्प्राणता' एक मनोदशा है। महाकवि कालिदास की यह सूक्ति व्याधि-जन्य 'ग्लानि' का एक सुन्द निदर्शन है—

'तस्य पाण्डुवदनासपभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।

राजयक्ष्मपरिहाणिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥'

अनुवाद—चिन्ता—'चिन्ता' कहते हैं ध्यान धरने को और यह अभीष्ट की अप्राप्ति से हुआ करती है। इसमें शून्यता, श्वास, ताप आदि-आदि हुआ करते हैं।

जैसे कि मेरी स्वरचित सूक्ति में यह चिन्ता-वर्णन—

'हे सुमुखि ! अपने हाथों पर अपना मुँह रखकर, मानो खिले कमल से उस विरोधी चन्द्रमा का मेल करा कर, कहो तो भला ! क्या-क्या मन ही मन सोच विचार कर रही हो ?'

विमर्श—'चिन्ता' शब्द की निरुक्ति यह है—

'यया चिन्तायतेऽर्थेषु सा चिन्तेत्यभिधीयते ।' (भावप्रकाशन द्वितीय अधिकार)

(३३—तर्क)

अथ तर्कः—

तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ॥ १७१ ॥

यथा—

‘किं रुद्धं प्रियया—’ इत्यादि ।

(एक रस का स्थायी भाव भी अन्य रस में व्यभिचारी भाव ही है)

एते च त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभेदा इति यदुक्तं तदुपलक्षणमित्याह—

रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः ।

तथाहि—

शृङ्गारेऽनुच्छिद्यमानतयावस्थानाद् रतिरेव स्थायिशब्दवाच्या हासः पुनरुत्पद्यमानो व्यभिचार्येव । व्यभिचारिलक्षणायोगात् ।

अर्थात् दारिद्र्य इष्टनाश, द्रव्यहानि, ऐश्वर्यव्रश आदि-आदि कारणों से ध्यान धरने का नाना ‘चिन्ता’ है । यह चिन्ता ‘वितर्क’ की जननी है इन्लिये ‘चिन्ता’ और ‘वितर्क’ भिन्न-भिन्न व्यभिचारीभाव हैं । महाकवि भवभूति के ‘नालन्ती-नाथव’ (१ ४३) में नाथव की चिन्ता का यह चित्रा नाथव के नालन्ती-विषयक निभाव का एक सुन्दर परिपोषण है—

‘पर्यामि तामित इतश्च पुरश्च पश्चा-

दन्तर्वहिः परित एव विवर्तमानाम् ।

उद्बुद्धमुग्धकनकाञ्जनिभ वहन्ती-

मासज्य तिर्यगपवर्तितदृष्टिवक्त्रम् ॥’

अनुवाद—तर्क —‘तर्क’ का अभिप्राय है संदेह के कारण उत्पन्न विचार का । इसमें भौहों का सिङ्गड़ना, सिर हिलना, अङ्गुलियों का उठाना आदि-आदि विकार हुआ करते हैं ।

जैसे कि—‘किं रुद्धं प्रियया’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में ‘तर्क’ वर्णन ।

विमर्श—‘तर्क’ की निरुक्ति है —

‘तर्क्यते तर्कते तर्को विचारः स्यात्सहेतुकः ।’

प्राचान आलङ्कारिकों ने तर्क के स्थान पर ‘वितर्क’ की व्यभिचारी भाव माना है । महाकवि भवभूति की यह सूक्ति ‘वितर्क’ का एक सुन्दर उदाहरण है—

‘गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्टव

असितमधिकं किञ्चेतत् स्यात् किमन्यदतोऽथवा ।

भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवन

ललितमधुरास्ते ते भावा क्षिपन्ति च धीरताम् ॥

अनुवाद—अभी-अभी जिन ३३ व्यभिचारीभावों का लक्षण-निरूपण किया गया वह एक उपलक्षण मात्र है । क्योंकि—

एक रस का स्थायीभाव भी अन्यरस में व्यभिचारीभाव ही बन जाया करता है ।

तात्पर्य यह है कि यदि ‘रति’ भाव को ही लें तो जहाँ तक शृङ्गार रस का प्रश्न है वहाँ तक तो यह स्पष्ट है कि यह स्थायीभाव ही है क्योंकि धारम्भ से अन्त तक धारावाहिक रूप से यही शृङ्गार में विराजमान रहा करता है । वैसे शृङ्गार में ‘हास’ भाव का भी स्थान है किन्तु यह भाव यहाँ (अवच्छिन्न रूप से अवस्थित नहीं अपि तु) उत्पन्न

तदुक्तम्—

‘रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते ।’ इति ।

तत्कस्य स्थायिनः कस्मिन् रसे सञ्चारित्व मत्याह—

शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः ॥ १७२ ॥

शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः ।

इत्याद्यन्यत्समुन्नेयं तथा भावितबुद्धिभिः ॥ १७३ ॥

(स्थायीभाव-निरूपण)

अथ स्थायिभावः—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।

आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ॥ १७४ ॥

यदुक्तम्—

‘स्रक्सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः ।

न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुण्यते परम् ॥’ इति ।

और विलीन होने वाला भाव है और इसलिये इसे यहाँ व्यभिचारीभाव माना जा करता है क्योंकि उत्पन्न-विलीनता अथवा सचरणशीलता ही तो व्यभिचारिभाव पहचान है। स्थायीभावों की बात और है और इसीलिये कहा भी गया है—‘वही भाव स्थायीभाव हुआ करता है जो रस पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से अवस्थित रहा करता (रसरूप में अभिव्यक्त हुआ करता है)।’

इसका भी एक नियम है कि कौन स्थायीभाव किस रस में व्यभिचारीभाव बन जाया करता है। रसतत्त्वदर्शी आचार्यों का कथन है कि शृङ्गार और वीर रस में ‘हास वीर में ‘क्रोध’ और शान्तरस में ‘जुगुप्सा’ के भाव व्यभिचारी भाव के ही रूप में आ करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य रसों में अन्य स्थायीभावों की व्यभिचारिता तो काव्य भावुक स्वयं अपनी-अपनी काव्य-भावना-दृष्टि से देख सकते हैं।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने इन ३३ व्यभिचारी भावों के लक्षण-निरूपण को उपलब्ध मात्र जो कहा है वह एक प्राचीन मान्यता है। काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने प्राचीन मान्यता का इस प्रकार समर्थन किया है—

‘रसलक्षण एव स्थायिस्वरूपे निरूपिते पुनर्निर्देश क्वचिदेषा (स्थायिभावानां) व्यभिचारिस्वरूपानर्थः । तथा हि विभावभूयिष्ठत्वं एषा स्थायित्वम्, अल्पविभावत्वे व्यभिचारित्वम् । यथा रावणादावन्योन्यानुरागाभावादतिव्यभिचारिणी । यथा गु प्रियतमे परिजने च यथायोग वीरे शृङ्गारादौ रोषो व्यभिचार्येव । एव भावान्तरेपुवाच्यम् (काव्यानुशासन २ १८)

अनुवाद—स्थायीभावों का निरूपण किया जा रहा है—

‘स्थायीभाव’ उस भाव को कहा करते हैं जो कि न तो किसी अनुकूल भाव तिरोहित हुआ करता है और न किसी प्रतिकूल भाव से ही दबा करता है। यह भाव अन्त तक अवस्थित रहने वाला भाव है और इसी में रस के अङ्कुरण (अभिनव नि सूक्ष्म उद्भेद) की मूलशक्ति निहित रहा करती है। इसीलिये कहा भी गया है—

‘स्थायीभाव तो वह भाव है जिसे अन्यभाव देने की शक्ति नहीं होती’

(स्थायीभावों के प्रकार)

तद्भेदानाह—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहो भयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥ १७५ ॥

(स्थायीभावों का क्रमशः लक्षण-निरूपण)

तत्र—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मत्सः प्रवणायितम् ।

वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ॥ १७६ ॥

हैं और परिपुष्ट किया करते हैं जैसे माला के फूल या मोती गुन्फन-चूत्र को प्रकाशित और परिपुष्ट किया करते हैं) ।

विमर्श—‘स्थायी’ का अन्वय है ‘तिष्ठतिशाल’ का । रत्यादि ९ भावों के ‘स्थायीभाव’ होने और बड़े जाने का रहस्य यह है जैसा कि निम्न पंक्तियों में प्रतिपादित है—

‘ज्ञान एव हि जन्तुरियतीभि सविद्धि परीतो भवति । तथा हि दुःखविद्वेषी सुखा-
स्वादनलालसः सर्वो रिरसया व्याप्तः, स्वात्मन्युत्कर्षनानितया परमुपहसति, उत्कर्षाया-
शङ्कया शोचति, अपायं प्रति क्रुध्यति, अपायहेतुपरिहारे सनुत्साहने विनिपाताद् विभेति,
किञ्चिदयुक्तनयाभिमन्यमानो जुगुप्सते, तत्तत् स्वपरकर्तव्यवैविध्यदर्शनाद्विस्मयते,
किञ्चिज्जिहासुस्तत्र वैराग्याच्छमं भजते । न होतश्चित्तवृत्तिवासनाशून्य प्राणी भवति ।
केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्ति काचिदूना । कस्यचिदुचित्तविषयनियन्त्रिता
कस्यचिदन्यथा ।’ (न्यायानुशासन = ४८)

व्यभिचारिभाव मन्तराशाल चित्तवृत्तियों को कहा जाता है इत्येवमो तद्वर्णनं चित्त-
वृत्तियों को ‘स्थायीभाव’ कहना आवश्यक है जैसा कि नाट्यदर्पणार का न्यून है—

‘प्रतिक्षणमुदयव्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारिष्वनुयायितयाऽवरय तिष्ठतीति स्थायी ।
यद्वा तद्भाव एव भावात्, वनावे वा भावाद् रत्यादिर्व्यभिचारिण ग्लान्यादिक प्रत्यवरय
स्थायाः । उपचय प्राप्य स्वरूपेण रत्यादिर्भवतीति भावः ।’

अनुवाद—स्थायीभावों के ये भेद हैं—

१ रति, २ हास, ३ शोक, ४ क्रोध, ५ उत्साह, ६ भय, ७ जुगुप्सा ८ विस्मय
और ९ शम ।

विमर्श—स्थायी भावों के ये ९ भेद नवरत्नों के भेद के आधार पर निरूपित किए गये हैं ।
इन अथवान और मोक्षरूप पुण्यार्थ चतुष्टय को प्रति और ‘रत्नानुमति’ में विरोध नहीं, इत्येव
९ रत्नों और उनके ९ स्थायी भावों का मन्त्र पुण्यार्थ चतुष्टय के साथ लिख दिया गया है । कुछ
‘वचनार्थ निवेद’ को ९ वें स्थायी भाव मानते हैं और कुछ ‘शम’ को । ‘शम’ और ‘निवेद’
अन्यथा मन्त्र के निर्देश आगे किया जाना ।

अनुवाद—स्थायी भावों का स्वरूप-विवेक यह है—

प्रिय वस्तु के प्रति हृदय की उत्कट उन्मुक्तता (प्रेमार्द्रता) को (१) ‘रति’ कहा करते
हैं । (२) ‘हास’ का लभिप्राय वाणी वादि की विद्वत्तियों के दर्शन अथवा चिन्तन से सम्भूत
चित्तविकास का है । प्रियवस्तु के नाश से उत्पन्न चित्त की विह्वलता (वेचनी) का नाम

इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक् ।

प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥ १७७ ॥

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थयानुत्साह उच्यते ।

रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यं भयम् ॥ १७८ ॥

दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विस्मयोद्भवा ।

विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥ १७९ ॥

विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।

शमो निरोहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥ १८० ॥

यथा मालतीमाधवे रतिः । लटकमेलके हासः । रामायणे शोकः । महाभारते शमः । एवमन्यत्रापि । एते ह्येतेष्वन्तरा उत्पद्यमानैस्तैस्तैर्विरुद्धैश्च भावैरनुच्छिन्नाः प्रत्युत परिपुष्टा एव सहृदयानुभवसिद्धाः ।

(३) 'शोक' है । (४) 'क्रोध' कहते हैं विरोधियों के प्रति हृदय में उत्पन्न तीव्रता (प्रतिशोध-भावना) को । कार्यों के आरम्भ में स्थैर्यशाली जो हृदय का आवेश अथवा उद्योग है वही (५) 'उत्साह' है । किसी भीषण वस्तु की विभीषिका-शक्ति से उत्पन्न चित्त के चैकस्य का नाम (६) 'भय' है । (७) 'जुगुप्सा' का अभिप्राय है किसी घृणास्पद वस्तु के दोष-दर्शन आदि-आदि से उत्पन्न अथवा विस्मय-जनित घृणाभाव का । नानाविध अलौकिक पदार्थों के दर्शनादि से सभूत चित्त का विस्तार ही (८) विस्मय है । और जिसे (९) 'शम' कहते हैं उसका अभिप्राय है निस्पृहता की दशा में सभूत अन्तःकरण की अन्तर्मुखता को ।

उदाहरण के लिये 'मालती-माधव' में 'रति', 'लटकमेलक' में 'हास', 'रामायण' में 'शोक' और 'महाभारत' में 'शम' स्थायी भाव के रूप में ही अभिव्यक्त हुये हैं । इसी भाँति अन्य स्थायी भावों की अन्यत्र अभिव्यक्ति है । इन उपर्युक्त काव्य नाटक-प्रवन्धों में इन २ भावों के स्थायी भाव होने का यही अभिप्राय है कि अनेकों अनुकूल अथवा प्रतिकूल भावों के द्वारा, जो कि इनके बीच-बीच में उत्पन्न हुआ करते हैं, इनका उच्छेद नहीं हुआ करता, अपि तु, जैसा कि सहृदय सामाजिक का अनुभव है, सर्वथा परिपोष ही हुआ करता है ।

विमर्श—रत्नादि नव स्थायी भावों का संक्षिप्त लक्षण यह है—

१ रति—स्त्रीपुंसयोरास्थावन्धापरपर्यायोऽन्योन्यमभिष्वङ्गो रतिः ।

२ हास—रञ्जनोन्मादानुविद्धश्चित्तस्य विकासो हासः ।

३ शोक—निर्वेदानुविद्धं दुःख शोकः ।

४ क्रोध—अपचिकीर्षा जुगुप्साहेतुः परितापावेशः क्रोधः ।

५ धर्म-दान-युद्धादिकर्मण्यनालस्यमुत्साहः ।

६ वैक्लव्य भयम् ।

७ कुसितस्वाध्यवसायो जुगुप्सा ।

८ उत्कृष्टत्वावसायो विस्मयः ।

९ निस्पृहत्व शमः ।

किं च—

नानाभिनयसंबन्धान् भावयन्ति रसान् यतः ।

तस्माद्भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिरसात्त्विकाः ॥ १८१ ॥

* यदुक्तम्—

‘सुखदुःखादिभिर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।’

(रसभेद-संख्यान)

अथ रसस्य भेदानाह—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।

वाभत्सोद्भूत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥ १८२ ॥

अनुवाद—स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक चित्तवृत्तिओं वादि को जो ‘भाव’ कहा जाया करता है वह इसीलिये, क्योंकि ये ही वे तत्त्व हैं जिनसे उन-उन अभिनयों से सम्बद्ध रसों की भावना (रसना-भावादात्मक अनुभूति) हुआ करती है (भावयन्ति इति भावा । रसानिति शेषः) । इसीलिये ऐसा कहा भी गया है—

सुख (शम) दुःख (शोक) आदि से सहृदय हृदय जो भावित अथवा वासित (तन्मयीभूत) हुआ करता है, इसीलिये सुख (शम) दुःख (शोक) आदि को ‘भाव’ कहा जाया करता है ।

विमर्श—एत्यादि चित्तवृत्तिओं के ‘भाव’ नष्ट होने का रहस्य ‘भावप्रकाशन (१ न अधिकार) को निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है—

‘यथाक्रम भवेत् क्वापि यथौचित्य कचिद् भवेत् ।

भावः स्याद् भावन भूतिरयं भावयतीति वा ॥

पदार्थों वा क्रिया सत्ता विकारो मानसोऽथवा ।

विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनो व्यभिचारिणः ॥

सात्त्विकाश्चेति कथ्यन्ते भावभेदाश्च पञ्चधा ।

अर्थान् विभावयन्तीति विभावाः परिकीर्तिताः ॥

विभावितार्थानुभूतिरनुभाव इति स्मृतः ।

अवस्थिताश्चिरं चित्ते सन्वन्धाच्चानुबन्धिभिः ॥

वर्धिता ये रसात्मानस्ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः ।

अनवस्थितजन्मानो भूयोभूयः स्वभावतः ॥

स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरन्तो व्यभिचारिणः ।

सत्त्वजा ये विकारास्तु स्वीयास्वीयविभागतः ॥

त एव सात्त्विका भावा इति विद्वद्भिरुच्यते ।

अनुवाद—(उपर्युक्त ९ स्थायीभावों के पूर्णाभिव्यञ्जनरूप) जो रस हैं वे भी ९ ही हैं । जैसे कि—

१. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. वीभत्स, ८. उद्भूत, और ९. शान्त ।

विमर्श—रसों को स्पष्टता का अवधारण रस की पुष्पार्थचतुष्टय के प्रति उपयोगिता और

(१—शृङ्गार स्वरूप-निरूपण)

तत्र शृङ्गारः—

शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।

उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते ॥ १८३ ॥

परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।

आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥ १८४ ॥

चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम् ।

भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ॥ १८५ ॥

त्यक्तवौग्रयमरणास्यजुगुप्साव्यभिचारिणः ।

स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः ॥

यथा—

‘शून्यं वासगृहम्—’ इत्यादि । अत्रोक्तस्वरूपः पतिः, उक्तस्वरूपा च बाला

रजनाधिकता की ही दृष्टि से किया गया है । इसी दृष्टि से इनका पूर्वापर-भाव भी निर्धारित हुआ है जैसा कि काव्यानुशासनकार की इन पंक्तियों से पता चलता है—

‘तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽन्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृष्यतेति पूर्वशृङ्गारः । तदनुगामी च हास्यः । निरपेक्षभावत्वात्तद्विपरीतस्ततः करुणः । ततस्तन्निमित्तमर्थप्रधानो रौद्रः । ततः कामार्थयोधर्ममूलत्वाद्धर्मप्रधानो वीरः । तस्य भीताभयप्रदानसारत्वादनन्तरं भयानकः । तद्विभावसाधारण्यसंभावनात्ततो धीमत्सः । द्वितीयद्वीरेणाक्षिप्तम् । वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः फलमित्यनन्तरं तदुपादानम् । ततस्त्रिवर्गात्मकप्रभृतिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः । एते नवैव परस्परसङ्कीर्णं रसाः । तेनार्द्रता स्थायिकः स्नेहो रस इत्यसत् । तस्य रस्यादावन्तर्भावात् । तथा हि-यूनो मित्रे स्नेहो रतौ, लक्ष्मणादेर्भातरि स्नेहो धर्मवीरे, बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः । एव वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम् । तथा गर्धस्यायिकस्य लौहयरसस्य हासे वा रतौ वाऽन्यत्र वाऽन्तर्भावो वाच्यः । एव भक्तावपि वाच्यम् (काव्यानुशासन २ २७) ।

अनुवाद—‘शृङ्गाररस’ का स्वरूप ‘शृङ्गार’ शब्द की व्युत्पत्ति (‘शृङ्गं ऋच्छति’ इति शृङ्गारः) से ही स्पष्ट हो जाता है । ‘शृङ्ग’ का अभिप्राय है (कामुक-युगल के उरपीढक) कामाविर्भाव का और ‘शृङ्गार’ का अभिप्राय है उसका जो ‘इस प्रकार के कामोद्भेद से समूत हो’ । इस रस के आलम्बन प्रायः उत्तम प्रकृति के ही प्रेमीजन हुआ करते हैं । अर्थात् परकीया किंवा अनुरागशून्य वेश्या-नायिका को छोड़कर अन्य प्रकार की नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि प्रकार के नायक ही इसके उपयुक्त ‘आलम्बन’ विभाव हैं । इसके ‘उद्दीपन’ विभाव हैं—चन्द्र-चन्द्रिका, चन्दनानुलेपन, अमर-सङ्गार आदि-आदि । इसमें अनुभाव प्रेम-पगे मृकृति-भङ्ग, कटाक्ष आदि-आदि हैं । औग्रय, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़ कर सभी व्यभिचारी भाव इसके परिपोषक हुआ करते हैं । ‘रति’ इसका स्थायी भाव है । इसका वर्ण श्याम है और इसके अभिमानिदेव विष्णु भगवान् हैं ।

उदाहरण के लिये—‘शून्यं वासगृहम्’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है । इस सूक्ति में

आलम्बनविभावौ । शून्यं वासगृहसुदीपनविभावः । चुम्बनमनुभावः । लज्जा-
हासौ व्यभिचारिणौ । एतैरभिव्यक्त सहृदयविषयो रतिभावः शृङ्गाररसरूपता
भजते ।

जिस 'रति' की पूर्णभिव्यक्ति है उसका आलम्बन विभाव वह प्रेमी जोड़ा है जिसका
भिव्यक्तिवर्णन यहाँ अत्यन्त सुन्दर रूप से चित्रित किया हुआ है । 'शून्य वासगृह' के रूप में
उद्दीपन विभाव स्पष्ट विराजमान है । यहाँ अनुभाव की वर्णना चुम्बन के चित्रण से की
हुई है । लज्जा और हास के भाव व्यभिचारी भाव हैं । इस विभावादि वर्णना से सहृदय-
हृदय में रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है और यही अभिव्यक्त रतिभाव 'शृङ्गार रस' का
रूप है ।

विमर्श—(क) 'रति' की ३ उत्तरोत्तर विवक्षित-रूप-रत्न-रत्न-रत्न है—

१. प्रेम—'स प्रेमा भेदरहितं यूनोर्द्वयभावबन्धनम् ।'

२. मान—'यत्तु प्रेमानुबन्धेन स्वातन्त्र्याद्द्वयद्वयहमम् ।
वक्ष्यति भावकौटिल्य सोऽयं मान इतीर्यते ॥'

३. प्रणय—'बाह्यान्तरोपचारैर्यत् प्रेम मानोपकल्पितं ।
वक्ष्यति भावविस्मयसोऽयं प्रणय उच्यते ॥'

४. जेह—'विलम्बे परमां काष्ठामारुहं दर्शनादिभिः ।
यत्र द्रव्यन्तरङ्गं स जेह इति कथ्यते ॥'

५. राग—'कुसुमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव रज्यते ।
येन जेहप्रकर्षेण स राग इति गीयते ॥'

६. अनुराग—'राग एव स्वस्ववेद्यदशां प्राप्याप्रकाशितः ।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेदुनुराग इतीरितः ॥'

'रति' का ही उत्तरोत्तर यह विकास 'शृङ्गार' शब्द का निर्देश है और इसी 'शृङ्गार' अथवा उत्तरोत्तर
विकसित रतिभाव का अभिव्यक्त रूप 'शृङ्गार' रस है ।

(ख) 'रति' अथवा लोभुरय का परस्परस्वस्व वेद्य वेद्य, कि शृङ्गार रूप आत्माद हुआ जन्मा
है, भावप्रकाशन (४ धर्म अधिकार) की इन गतियों में और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रका-
शित है—

परस्परस्वस्ववेद्यसुखसन्वेदनान्मिका ।
याऽनुभूतिर्मियं सैव रतिर्यूनो सरागयो ॥
सम्बन्धेर्षयसुखयोरशेषगुणयुक्तयो ।
नवयौवनयो श्लाघ्यप्रकृत्यो श्रेष्ठरूपयो ॥
नारीपुरुषयोरुत्थ्या परस्परविभाविका ।
सृष्टाह्वया चित्तवृत्ती रतिरिन्धुनिधीयते ॥
रतिरिच्छा भवेद् यूनोत्तम्यप्रार्थनान्मिका ।
यूनो परस्परहाहादहोविस्मयवारिका ॥
सुखान्मिका मनोवृत्ती रतिरित्यभिधीयते ।
आलापलीलोपचारवेष्टादृष्टिविलोकनैः ॥
बन्धोन्मन्यभोग्यधीरेव रहं स्त्रीपुनयो रति ।
इयमङ्कुरिता प्रेम्णा नानात् पङ्कविता पुन ॥
सकोरका प्रणयतः स्नेहाकुसुमिता भवेत् ।

(शृङ्गार के भेद - १ विप्रलम्भ और २ संभोग)

तद्भेदावाह—

विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येप द्विविधो मतः ॥ १८६ ॥

तत्र—

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।

अभीष्टं नायक नायिकां वा ।

स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्था स्यात् ॥ १८७ ॥

(१—विप्रलम्भ शृङ्गार -स्वरूप और प्रकार-निरूपण : प्रथम भेद-पूर्वराग)

तत्र—

श्रवणादर्शनाद्वापि मिथः संरुढरागयोः ।

रागात् फलवती चैयमनुरागेण भुज्यते ॥

(ग) शृङ्गार के अधिदैवत को 'विष्णु' मानने का यह अभिप्राय है—

‘आभिरूप्यमधिष्ठानं शृङ्गारस्य यतो भवेत् ।

अभिरूपोत्तमो विष्णुस्तस्मादस्याधिदैवतम् ॥’

अनुवाद—शृङ्गार के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

प्रथमतः यह शृङ्गार दो प्रकार का है—पहला विप्रलम्भ और दूसरा संभोग ।

पहला अर्थात् ‘विप्रलम्भ’ तो वह शृङ्गार-भेद है जिसमें नायक-नायिका परस्परानुराग तो प्रगाढ हुआ करता है किन्तु परस्पर मिलन नहीं होने पाता ।

यहाँ ‘अभीष्ट’ का अभिप्राय है (नायिका की दृष्टि से) नायक का और (नायक की दृष्टि से) नायिका का ।

यह ‘विप्रलम्भ’-शृङ्गार भी चार प्रकार का हुआ करता है । (१) पूर्वराग-विप्रलम्भ (२) मान-विप्रलम्भ (३) प्रवास-विप्रलम्भ और (४) करुण-विप्रलम्भ ।

विमर्श—‘विप्रलम्भ’ की निरुक्ति यह है—

‘संभोगसुखास्वादलोभेन विशेषेण प्रलभ्यते आत्माऽत्रेति विप्रलम्भः’ ।

(काव्यानुशासन २

तात्पर्य यह है कि नायक-नायिका के परस्परानुराग में मिलन-नैराश्रय हो ‘विप्रलम्भ’ नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये कहा है—

‘परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनोः पारतन्त्र्यादेरघटन चित्तविश्लेषो वा विप्रलम्भः ।

‘विप्रलम्भ’ और ‘संभोग’ दोनों रतिप्रकर्ष के अवस्थाभेद हैं जिनका सवलितस्वभाव शृङ्गार का स्वरूप है । जैसा कि कहा भी गया है—

‘एतौ (विप्रलम्भसंभोगौ) द्वावप्यवस्थाविशेषावारमा स्वभावो यस्यावस्थातु द्वयानुयायिन आस्थावन्धात्मकरतिप्रकर्षरूपस्य शृङ्गारस्य, तेन शृङ्गारस्य नेमौ गोत्वस्येव शाबलेयबाहुलेयावपि तु सम्भोगेऽपि विप्रलम्भसमावनासद्भावाद् विप्रलम्भं मनसा संभोगानुवेधादुभयसवलितस्वभावः शृङ्गारः । उस्कटवाम्बुकेदेशेऽपि संभोगश्च विप्रलम्भश्च इति चोपचारेणोच्यते । अवस्थाद्वयमीलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्क

(नाट्यदर्पण . तृतीय विवे

अनुवाद—पूर्वराग-विप्रलम्भ.—‘पूर्वराग’ का अभिप्राय है रूप-सौन्दर्य आदि—

दशाविशेषो यांऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ॥ १८८ ॥

श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतवन्दीसखीमुखात् ।

इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥ १८९ ॥

अभिलाषचिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।

उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥ १९० ॥

अभिलाषः स्पृहा चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् ।

उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनष्वपि ॥ १९१ ॥

अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद्भृशम् ।

व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः ॥ १९२ ॥

जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा ।

शेषं स्पष्टम् ।

(अभिलाष-दशा का पूर्वराग-विप्रलम्भ)

क्रमेणोदाहरणानि—

‘प्रेमाद्रौ प्रणयत्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-

स्तात्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराब्धेष्टा भवेद्युर्मयि ।

चात्स्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापारोघी क्षणा-

वशासापरिकल्पिताऽपि भवत्यानन्दस्तान्द्रो लय ॥’

श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा का जो कि उनके समागम के पहले की दशा हुआ करती है। रूप-सौन्दर्यादि का श्रवण तो दूत, वन्दी, सखी आदि के मुख से समव है और दर्शन समव है इन्द्रजाल में, चित्र में, स्वप्न में अथवा साक्षात्। इसमें इस कामदशायें संभव हैं (१) अभिलाष, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुणकथन, (५) उद्वेग, (६) संप्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जडता और (१०) मृति (मरण)। इनमें ‘अभिलाष’ का अभिप्राय है नायक और नायिका की पारस्परिक स्पृहा का और चिन्ता का अभिप्राय है परस्पर प्राप्ति के उपायों के चिन्तन का। ‘उन्माद’ कहते हैं जड़-चेतन में चिक्क न कर पाने को। ‘प्रलाप’ का तात्पर्य है अटपटी बातचीत का जोकि मन के बहक जाने से स्वाभाविक ही है। दीर्घ निश्वास, पाण्डुता, कृशता आदि-आदि का नाम ‘व्याधि’ है और जिसे ‘जडता’ कहा गया है वह शारीरिक कि वा मानसिक निश्चेष्टता है।

इन दशाओं के कतिरिक्त और जो दशाएँ हैं जैसे कि स्मृति आदि वे तो स्वयं स्पष्ट हैं। इनके उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

‘लोह ! क्या ही अच्छा होता कि उस मोली चितवनवाली सुन्दरी की वे प्रेम-भगी, प्रणय भरी किं वा क्रमशः प्रगाढ़ अनुराग से मनी स्वभाव-रमणीय शृंगार-चेष्टायें पुनः मुझे लपना लक्ष्य बनतीं। लोह ! जब भी मेरा मन उनकी ओर लग जाता है तब पता

अत्र मालतीसाक्षाद्दर्शनप्ररूढरागस्य माधवस्याभिलापः ।

(चिन्ता-दशा का पूर्वरंग-विप्रलम्भ)

‘कथमीक्षे कुरङ्गाक्षीं साक्षाल्लक्ष्मीं मनोभुवः ।

इति चिन्ताकुलः कान्तो निद्रां नैति निशीथिनीम् ॥’

अत्र कस्याश्चिन्नायिकाया इन्द्रजालदर्शनप्ररूढरागस्य नायकस्य चिन्ता ।
इदं मम ।

(स्मृति-दशा का पूर्वरंग-विप्रलम्भ)

‘मयि सकपटम्’—इत्यादौ नायकस्य स्मृतिः ।

(गुणकथन की कामदशा में पूर्वरंग-विप्रलम्भ)

‘नेत्रे खञ्जन-गञ्जने’—इत्यादौ गुणकथनम् ।

(उद्वेग-दशा में पूर्वरंग-विप्रलम्भ)

‘श्वासान्मुञ्चति’—इत्यादौ उद्वेगः ।

(प्रलाप-दशा में पूर्वरंग-विप्रलम्भ)

‘त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यवुध्यत ।

क नीलकण्ठ । ब्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥’

अत्र प्रलापः ।

(उन्माद-दशा में पूर्वरंग-विप्रलम्भ)

‘भ्रातद्विरेफ’—इत्यादौ उन्मादः ।

नहीं मेरा हृदय, क्योंकि एक सान्द्र आनन्द में लीन होने लगता है और मेरी सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यापार रोके अन्तर्मुखी बन जाया करती हैं ।

यहाँ (महाकवि भवभूति के ‘मालती माधव’ की इस सूक्ति में) ‘मालती’ के साक्षात् दर्शन से, उसपर अत्यन्तानुरक्त ‘माधव’ की अभिलाप-दशा का अभिव्यञ्जन है (जिसमें पूर्वरंग-विप्रलम्भ का अनुभव स्पष्ट है) ।

अथवा

‘प्रणयी युवा को नींद नहीं आती । उसकी सारी रात इसी चिन्ता में बीत रही है कि कैसे वह अपनी मृगनयनी प्रिया को—अपनी साक्षात् कामलक्ष्मी को—देख पाय !’

यहाँ इन्द्रजाल में नायिका का दर्शन करनेवाले नायक की प्ररूढ रति-भावना का अभिव्यञ्जन है जिसमें चिन्ता-दशा की शलक स्पष्ट है । यह रचना मेरी (कविराज विश्वनाथ की) अपनी रचना है ।

अथवा जैसे कि ‘मयि सकपटम्’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति, यहाँ नायक की स्मृति-दशा अकित की गई है ।

अथवा जैसे कि ‘नेत्रे खञ्जनगञ्जने’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति, यहाँ गुणकथन-दशा का स्पष्टाङ्कन है ।

अथवा जैसे कि ‘श्वासान् मुञ्चति’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति, यहाँ उद्वेग-दशा का चित्रण है ।

अथवा जैसे कि—(महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव में पार्वती के) प्रलाप का यह वर्णन—

‘रात के पिछले पहर में थोड़ी देर के लिये आँख झपाती पार्वती ‘मेरे नीलकण्ठ ! तुम कहाँ हो’ की बह्वद्वाहट के साथ कल्पना-शिव के गले में अपनी भुजलता ढाल जग पड़ती रही ।’

अथवा जैसे कि पूर्वोद्धृत ‘भ्रातद्विरेफ’ आदि सूक्ति में उन्माद-वर्णन ।

(व्याधि-दशा में पूर्वराग-विप्रलम्भ)

‘पाण्डु क्षाम वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।

आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि । हृदन्तः ॥’

अत्र व्याधिः ।

(जडता-दशा में पूर्वराग-विप्रलम्भ)

‘भिसणीअलसअणीए निहिअं सव्वं सुणिच्चलं अङ्ग ।

दीहो णीसासहरो एसो साहेइ जीअइत्ति परं ॥’

(विसनीदलशयनीये निहितं सर्वं सविश्रलमङ्गम् ।

दीर्घो निश्वासमर एव साधयति जीवति इति परम् ॥)

अत्र जडता । इदं मम ।

(विप्रलम्भशृङ्गार में वर्जित कामदशायें)

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ॥ १६३ ॥

जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथा ।

वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः ॥ १९४ ॥

अथवा ‘अरी सखी ! तेरा यह पीला मुरझाया चेहरा, रसभरा हृदय और ढीली-ढाली देह-सब कुछ यही सूचित कर रहे हैं कि तेरे हृदय में कोई अत्यन्त असाध्य रोग आ घुसा है ।’ यहाँ यह स्पष्ट है कि व्याधि की दशा चित्रित की हुई है ।

अथवा ‘इसका शरीर कमलदल को शय्या पर पड़ा हुआ अत्यन्त निश्चल लग रहा है । वस, लम्बी-लम्बी साँसें ही बता रही हैं कि यह अभी भी जीवित है ।’

यहाँ ‘जडता’ की दशा का चित्रण है । यह सूक्ति मेरी (साहित्यदर्पणकार की) अपनी रचना है ।

विमर्श—(क) सस्कृत काव्य-नाट्य-साहित्य में पूर्वराग-विप्रलम्भ का अनेकधा प्रकाशन हुआ है । पूर्वराग के अनेकों कारण उपनिबद्ध किये गये हैं । जिनमें श्रवण, प्रत्यक्षदर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्नदर्शन, दैवपारतन्त्र्य, मानुष-पारतन्त्र्य आदि-आदि के निदर्शन [अधिकाधिक उपलब्ध होते हैं । जैसे कि दैवपारतन्त्र्य से सभूत पूर्वराग का कालिदासकृत यह अभिव्यजन—

‘शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाप

व्यर्थं समीक्ष्य ललित वपुरामनश्च ।

सख्या. समक्षमिति चाधिकजातलज्जा

शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथञ्चित् ॥’

(ख) ‘पूर्वराग’ की कामावस्थाओं का निर्धारण एक प्राचीन आचार्य-परम्परा है । वस्तुतः बात यह है कि इसकी दशाओं का निर्धारण नहीं किया जा सकता, जैसा कि कहा भी गया है—

‘एतस्मिन्नभिलापादि मरणान्तमनेकधा ।

तत्तत्सञ्चारिभावानामुक्तदत्त्वादशा भवेत् ॥

तथापि प्राक्तनैरस्या दशावस्था समासत ।

(रसावस्थाकर २ य विलास)

अनुवाद—विप्रलम्भ शृङ्गार में ‘मरण’ का वर्णन निषिद्ध है क्योंकि इससे रस विच्छिन्न हो जाता है । किन्तु यदि इसका वर्णन किया भी जाय तो केवल दो प्रकारों से ही किया जा सकता है—१ मरणासन्न दशा के रूप में और २ मरण की हार्दिक अभिलाषा

तत्रायं यथा—

‘शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्वी
प्राणान् कथंचिदपि धारयितुं प्रभूता ।
आकर्ण्य संप्रति रुतं चरणायुधानां
किं वा भविष्यति न वेद्मि तपस्विनी सा ॥’

द्वितीयं यथा—

‘रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो भङ्गारकोलाहलै-
र्मन्दं मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि ।
माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चम
प्राणाः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्यमी ॥’

ममैतौ ।

तृतीयं यथा—

कादम्बर्या महाश्वेतापुण्डरीकवृत्ता । एष च प्रकारः करुणविप्रलम्भ
विषय इति वक्ष्यामः ।
केचित्तु—

के रूप में । वैसे इस ढग से कि मर कर भी शीघ्र पुनर्जीवन मिल जाय, यहाँ मरण
वर्णन किया भी जा सकता है ।

उदाहरण के लिये (१) ‘मरणासन्नता’ के रूप में मरण का वर्णन—

‘भरे प्रेमी युवा ! तुम्हारी प्रेमिका सुन्दरी का हाल क्या बताऊँ ! जब उसने खिले हुए
शेफालिका-सुमनों (हरसिंगार के फूलों) को देखा, बड़ी कठिनता से प्राण धारण किया
किन्तु इस समय ‘कुक्कुट-ध्वनि (मुर्गों की आवाज़, प्रातःकाल की सूचक ध्वनि) :
सुनकर, कह नहीं सकती, उस पर क्या घीती होगी !’

[यहाँ विरह-व्यथा की असह्यता में प्रेमिका की मरणासन्नता का जो वर्णन है व
विप्रलम्भ शृङ्गार को और भी सरस बना रहा है ।]

अथवा

(२) मरण की हार्दिक अभिलाषा के रूप में मरण का वर्णन—

‘अमर अपनी मधुर झकारों से दिशाओं को भर दें, मलयानिल के मन्द-मन्द क्षो
चतुर्दिक् चलते दिखायी पड़ें, आन्ध्रमञ्जरियों के सौरभ से मत्त बनी कोयलें पद्म
स्वर में कूक उठें और पत्थर से भी कड़े मेरे प्राण, जितनी जल्दी हो, मुझे छोड़कर
विदा हो जाय ।’

ये दोनों सूक्तियाँ मेरी स्वरचित सूक्तियाँ हैं ।

(३) मरकर शीघ्र पुनरुज्जीवन के रूप में मरण का वर्णन—जैसे कि (महाकवि
चाणकी) कादम्बरी में, महाश्वेता और पुण्डरीक के वृत्तान्त में, पुण्डरीक का मरण-
वर्णन । यह अन्तिम प्रकार का मरण-वर्णन पूर्वराग-विप्रलम्भ में नहीं हुआ करता ।^{१४}
इसका उचित स्थान करुण-विप्रलम्भ में है और आगे (करुण-विप्रलम्भ के प्रसंग में)
निर्दिष्ट भी कर दिया जायगा ।

कतिपय काव्याचार्य पूर्वोक्त कामदशाओं के बदले निम्न-निर्दिष्ट कामदशायें माना
करते हैं—

‘नयनप्रीतिः प्रथम चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः ।

निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ॥

उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ।’ इत्याहुः ।

तत्र च—

आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः ।

इङ्गितान्युक्तानि । यथा रत्नावल्यां सागरिकावत्सराजयोः । आदौ पुरुषानुरागे संभवत्यप्येवमधिक हृदयङ्गमं भवति ।

नीली कुसुम्भं मञ्जिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा ॥ १९५ ॥

तत्र—

न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम् ।

तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः ॥ १९६ ॥

कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते ।

(१) नयनप्रीति (तारा मैत्रक—एक दूसरे के देखते ही अनुरक्ति), (२) चित्त की धासक्ति (चित्तासंग), (३) संकल्प (मिलन-कामना), (४) निद्राच्छेद, (५) तनुता, (६) विषय-निवृत्ति, (७) त्रपानाश, (८) उन्माद, (९) मूर्च्छा और (१०) (मरण) ।

पूर्वराग-विप्रलम्भ के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि पहले तो नायिका का अनुराग वर्णित किया जाय और बाद में उसकी चेष्टाओं से प्रभावित हुए नायक का अनुराग ।

ये इङ्गित अथवा चेष्टायें कौन-कौन हैं—इसका तो पहले ही निर्देश कर दिया गया है । नायिका के इङ्गित-दर्शन से नायक के अनुराग का उदाहरण ‘रत्नावली’ नाटिका में देखा जाय, जहाँ वत्सराज, सागरिका की अनुराग-भरी चेष्टाओं के कारण उस पर अनुरक्त चित्रित किये गये हैं । यद्यपि यह ठीक है कि नायिका के अनुरक्त होने के पहले ही, उस पर, नायक अनुरक्त हो जाय, किन्तु यदि नायिका का अनुराग पहले हो जाय तो ऐसे ‘पूर्वराग’ का अभिव्यजन बहुत ही रमणीय और हृदयस्पर्शी हुना करता है ।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि ‘पूर्वराग’ भी तीन प्रकार का हुना करता है—
(१) नीली-राग, (२) कुसुम्भ-राग और (३) मञ्जिष्ठा-राग ।

पहला अर्थात् नीलीराग—

जो अनुराग बाहरी दिग्वादे में नहीं दिखायी पड़ता किन्तु हृदय में कूट-कूट भरा रहता है वह ‘नीली-राग’ कहा जाया करता है । राम और सीता का अनुराग ‘नीली-राग’ का एक सुन्दर निदर्शन है ।

दूसरा अर्थात् कुसुम्भ-राग—

जो अनुराग बाहरी चमक-दमक तो रखता हो किन्तु हृदय से हट जाय, वह ‘कुसुम्भ-राग’ माना जाया करता है ।

मञ्जिष्टारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते ॥ १६७ ॥

तीसरा अर्थात् मञ्जिष्टा-राग—

‘मञ्जिष्टा राग’ उस अनुराग को कहते हैं जो हृदय में भी हो और बाहरी दिखावे भी भाव ।

विमर्श—(क) पूर्वराग-विप्रलम्भ में मरण-वर्णन निषिद्ध माना गया है । भाव-प्रकाशन ने अमगल की दृष्टि से मरण-वर्णन का निषेध किया है—

‘आस्ववस्थासु विहितैः प्रतीकारैः समागम’ ।
न भवेद् यदि कामाग्निदग्धयोर्मरण भवेत् ॥
अमगल स्यान्मरणमिति यूनोर्न कल्प्यते ।’

(भावप्रकाशन—चतुर्थ अधिकार

किन्तु जिस दृष्टि से यहाँ मरण-वर्णन सम्भव है वह है मरणोद्योग-वर्णन की दृष्टि, जैसा श्रीशङ्क-सूपाल की इन पक्तियों से स्पष्ट है—

‘तैस्तैः कृतैः प्रतीकारैर्यदि न स्यात् समागम’ ।
अतः स्यान्मरणोद्योगः कामाग्नेस्तत्र चिक्कमा’ ॥
लीलाशुकचकोराविन्यासः स्निग्धसखीकरे ।
कलकण्ठकलालापश्रुतिर्मन्दानिलादरः ॥
ज्योत्स्नाप्रवेश-माकन्द-मञ्जरीवीक्षणादयः ।’

(रत्नावसुधाकर—२५ विलास

(ख) साहित्यदर्पणकार ने यहाँ ‘पूर्वराग’ का जो वैविध्य बताया है वह वस्तुतः ‘राग’ वैविध्य है । यह राग ‘रति’ भाव की ही फलौन्मुख्यदशा है । ‘राग’ का अभिप्राय दो प्रेमी के ऐसे स्नेह प्रकर्ष का है जो उनके हृदय और प्रेममय सुख-दुःखात्मक जीवन को अपने में रग दिया करता है । नीचे की पक्तियों में ‘राग’ और राग के वैविध्य का एक सक्षिप्त कि सारगर्भित वर्णन है—

‘रज्यते दीप्यते चित्ते स राग इति कथ्यते ।
सुखदुःखात्मकं भोग्यं सुखत्वेनाभिमन्यते ॥
येन रागः स इत्युक्तो रज्जनाद्विषयारमनोः ।
नीली-कुसुम्भ-मञ्जिष्टारागौपम्येन स त्रिधा ॥

(नीली-राग)—छालितो यस्तु नापैति यश्च नातीव शोभते ।
नीलीरागस्स एवेति कथितो रागवेदिभिः ॥

(कुसुम्भ-राग)—योऽवैति चालितः क्षिप्रमध्यक्षं योऽपि शोभते ।
कुसुम्भराग एवैष इति विद्वद्भिरीरितः ॥

(मञ्जिष्टा-राग)—अतीव शोभते यस्तु नापैति चालितोऽपि सत् ।
स एव कविभिः सर्वैर्मञ्जिष्टाराग उच्यते ॥
ज्येष्ठो मञ्जिष्टारागः स्याद् नीलीरागस्तु मध्यमः ।
कुसुम्भरागः कविभिरधमः परिकीर्तितः ॥

(भावप्रकाशन—चतुर्थ अधिकार)

(२—मानविप्रलम्भ - सप्रभेदनिरूपण)

अथ मानः—

मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः ।

द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यापि ॥ १६८ ॥

प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना ।

द्वयोरिति नायकस्य नायिकायाश्च उभयोश्च प्रणयमानो वर्णनीयः ।

उदाहरणम् ।

‘अलिअपसुत्तअ णिमिलिअच्छ देसु सुहअ मज्झ ओआस ।

गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग । ण पुणो चिराइस्सं ॥’

(अलीकप्रसुप्तक निमीलितात्त देहि सुमग महामवकाशम् ।

गण्डपरिचुम्बनपुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयिष्यामि ॥)

नायिकाया यथा कुमारसंभवे सध्यावर्णनावसरे ।

उभयोर्यथा—

‘पणअकुविआणं दोण्ह वि अलिअसुत्ताणं माणइल्लाणं ।

णिच्चलणिरुद्धणीसासदिणअण्णो को मल्लो ॥’

(प्रणयकुपितयोर्द्वयोरलीकप्रसुप्तयोर्माविनो ।

निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयो को मल्ल ॥)

अनुवाद—मान-विप्रलम्भ—‘मान’ का अभिप्राय है कोप (प्रणय-कोप) का । इसके दो भेद स्पष्ट हैं—१ प्रणयसमुद्भव मान (प्रणय-मान) और २. ईर्ष्यासमुद्भव मान (ईर्ष्या-मान) ।

(१) प्रणय-मान का तात्पर्य है अकारण कोप का । प्रेम की चाल सदा टेढ़ी हुआ करती है । प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में प्रेम के भरे रहने पर भी, उनका एक दूसरे पर अकारण कोप स्वाभाविक है । इसीलिये ‘प्रणय-मान’ भी (असयोग में रतिभाव की अभिव्यञ्जना का) एक विशेष ही विप्रलम्भ-प्रकार है ।

यहाँ (कारिका) में ‘द्वयो’ का अभिप्राय नायक और नायिका दोनों का है क्योंकि ‘प्रणयमान’ एक का नहीं अपितु दोनों का वर्णित किया जाया करता है । उदाहरण के लिये—

नायक का प्रणयमान—

‘अरे ! सोने का बहाना बनाने वाले ! झूठमूठ आँख मूदे लेट लगाने वाले ! अरे, कपोलचुम्बन से पुलकित होने वाले ! मुझे भी थोड़ी जगह दो, अब से मैं देर कभी न लगाऊँगी ।’

नायिका का प्रणयमान—

इसका एक सुन्दर उदाहरण तो (महाकवि कालिदास कृत) ‘कुमार-संभव’ में, सध्या-वर्णन के प्रसंग में, पार्वती का प्रणयमान है.—

(सन्ध्यया कमलयोनिकन्यया या तनुः सुतनुः पूर्वमुज्जिता ।

सेयमस्तमुदयञ्च सेवते तेन मानिनि ! ममात्र गौरवम् ॥ आदि)

नायक-नायिका-युगल का प्रणयमान—

‘प्रेमी और प्रेमिका-दोनों ही प्रेम-कोप में पड़े हैं, दोनों ही अपने आप को झूठमूठ सोते

अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किन्तु संभोगसञ्चार्याख्य भावत्वम् ।

यथा—

‘ध्रुमङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिक सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्रायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते ।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते
दृष्टे निर्वहण भाविष्यति कथं मानस्य तस्मिन्ने ॥’

यथा वा—

‘एकस्मिन्शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्त्योन्यस्य हृदि स्थितेऽन्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भभो मानकलिः सहासरमसव्यासक्तकण्ठग्रहः ॥’
पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥ १९९ ॥
ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
उत्त्वप्नायितभोगाङ्गगोत्रस्वलनसम्भवा ॥ २०० ॥

दिखा रहे हैं और दोनों ही चुपचाप, एक दूसरे के, धीरे-धीरे और रुक-रुक कर निकलने निश्चासों के सुनने में कान लगाये पड़े हैं—देखना है दोनों में कौन प्रणय कोप में बाजी मारता है ।’

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि प्रणय-मान (नायक और नायिका में से, किसी के) अनुनय-विनय से समाप्त हो जाय तब तो इसे विप्रलम्भ शृङ्गार का प्रकार नहीं माना जायगा । अनुनय-विनय से समाप्त होने वाला प्रणयमान (तो असूया रूप व्यभिचारिभाव है और इसलिये) समोगशृङ्गार का परिपोषक है । इसका उदाहरण (अमरुशतक की) यह निम्न सूक्ति है—

‘मेरी मौंहें चढ़ आयी हैं किन्तु निगाहें एक विशेष प्रकार की उत्कण्ठा से भर उठती हैं; मेरी घातचीत बंद है किन्तु यह ‘जला’ मुंह मुसकराहट से खिल रहा है, मेरे चित्त में कठोरता है किन्तु देह रोमाञ्चों से फूट उठी है । पता नहीं कि जब वे सामने पढ़ेंगे तब उन पर मेरा यह सब प्रणयकोप कैसे निभ सकेगा ?’

अथवा (अमरुशतक की ही) यह सूक्ति—

‘प्रेमी और प्रेमिका-दोनों एक ही पर्यङ्क पर, उलटे मुंह, चुपचाप पड़े, विह्वल होते रहे दोनों, एक दूसरे के मनाने के इच्छुक होते हुये भी, अपने अपने गौरव की रक्षा में ब्याधनते रहे और साथ ही साथ कटाक्ष-निरीक्षण के द्वारा दोनों एक दूसरे से आँखें भी मिला रहे । तब, भला, प्रणयमान कब तक निभ पाय ! वह दूट पड़ा और हस-हंस कर दोन एक दूसरे के गले लिपट पड़े ।’

(२) ईर्ष्यामान—‘ईर्ष्यामान’ का अभिप्राय है किसी दूसरी प्रेमिका पर, अपने प्रेम की आसक्ति के देखने, सुनने अथवा अनुभव करने के कारण, नायिका के प्रेम-कोप का यहाँ नायक की अन्यप्रेमिकासक्ति का जो अनुमान है वह तीन प्रकार का है—१. उत्सव

तत्र दृष्टे यथा—

‘विनयति सुदृशो दृशोः पराग प्रणयिनि कौसुममाननानिलेन ।

तदहितयुवतेरभीक्ष्णमक्ष्णोर्द्वयमपि रोषरजोभिरापुपूरे ॥’

सभोगचिह्नेनानुमिते यथा—

‘नवनखपदमङ्गं गोपयस्यशुकेन

स्थगयसि पुनरोष्ठ पाणिना दन्तदष्टम् ।

प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्प-

त्रवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥’

एवमन्यदपि ।

साम भेदोऽथ दानं च नत्युपेक्षे रसान्तरम् ।

तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात् षडुपायानिति क्रमात् ॥ २०१ ॥

तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।

दानं व्याजेन भूयादेः पादयोः पतनं नतिः ॥ २०२ ॥

सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधौरणम् ।

रमसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ २०३ ॥

संयित जन्य (स्वप्न में, नायक द्वारा अन्य प्रेमिका की वाते बढवहाने से उत्पन्न),
२. भोगाङ्ग-जन्य (नायक के शरीर पर अन्य नायिका-सभोग के चिह्नों के देखने से उत्पन्न)
और ३ गोत्रस्खलन-जन्य (अकस्मात् नायक के मुख से अन्य नायिका का नाम निकल
पडने से उत्पन्न) ।

उदाहरण के लिये—अन्य प्रेमिकाविषयक आसक्ति-दर्शन से उत्पन्न ‘ईर्ष्यामान’
(जैसा कि महाकवि माघ के ‘शिशुपालवध’ में चित्रित है) —

‘जैसे ही नायक ने, किसी सुन्दरी के नेत्रों में पड़े पुष्प-पराग को, अपने मुँह से फूक-फूक
कर दूर करना चाहा, वैसे ही उसकी प्रेमिका के दोनों नेत्र क्रोध के रज-कणों से भर उठे ।’
सभोग-चिह्न से अनुमित ईर्ष्यामान (जो कि महाकवि माघ द्वारा ही चित्रित है) —

‘अरे ! नये नखचत के चिह्न तो तुम वस्त्र से छिपा लोगे और ओठों पर पड़े दन्तचत
को हाथों से टक लोगे किन्तु यह तो बताओ कि चारों ओर फैलते, उस सुन्दरी के सभोग
के सूचक, नवपरिमलगन्ध को क्यों कर रोक सकोगे ?’

इसी भाँति उत्स्वभाषित आदि से अनुमित ईर्ष्यामान के उदाहरण यत्र-तत्र स्वयं
देखे जा सकते हैं ।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि मान भङ्ग के ६ उपाय हैं—

१ साम, २ भेद, ३ दान, ४ नति, ५ उपेक्षा और ६ रसान्तर (अन्य भावों का
बुद्धतरण) । इनमें ‘साम’ का अभिप्राय प्रिय वचन का है । ‘भेद’ कहते हैं प्रेमिका की
सखी को अपने पक्ष में मिला लेने को । ‘दान’ का तात्पर्य है किसी वहाने आभूषण आदि
के देने का । ‘नति’ पैरों पर गिर पडने का नाम है । ‘उपेक्षा’ कहते हैं सामादि उपायों के
कार्यकर न हो सकने पर निरुपाय बैठ रहने को । और ‘रसान्तर’ का तात्पर्य है रमस
(घबराहट), हास, हर्ष आदि के कारण कोप के नष्ट हो जाने का ।

यथा—

‘नो चाटुश्रवणं कृतम्—’ इत्यादि । अत्र सामादयः पञ्च सू रसान्तरमूहम् ।

उदाहरण के लिये ‘नो चाटुश्रवणं कृतम्’ आदि सूक्ति पर्याप्त है जहाँ सा भेद, नति और उपेक्षा के मानभङ्गोपाय स्पष्ट वर्णित हैं । ‘रसान्तर’ के द्वारा मा उदाहरण स्वयं हूँदा जा सकता है ।

विमर्श—(क) ‘मान’ से सभूत विप्रलम्भ ‘मान-विप्रलम्भ’ कहा गया है । नीचे की में इसकी निरुक्ति और इसके स्वरूप का सुन्दर निरूपण किया हुआ है—

‘मुहुः कृतो मेतिमेति प्रतिपेधार्थवीप्सया ।
ईप्सितालिङ्गनादीनां निरोधो मान उच्यते ॥
सोऽयं सहेतु-निर्हेतुभेदाद् द्वेधाऽत्र हेतुजः ।
ईर्ष्या सभवेदीर्ष्या त्वन्यासङ्गिनि वल्लभे ॥
असाहिष्णुत्वमेव स्याद् दृष्टेरनुमितेः श्रुतेः ॥’

(रसार्णवसुधाकर, २ य

यहाँ मानविप्रलम्भ का एक ‘निर्हेतुक’ भेद निर्दिष्ट किया हुआ है । साहित्यदर्पणकार भेद का नाम ‘प्रणयमान’ रखा है जो कि उचित ही है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने मानभङ्ग के उपाय-पट्क का जो उल्लेख किया है उसकी मानविप्रलम्भ के भेदों का ‘सहेतुक’ और ‘निर्हेतुक’ नाम ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत ‘सहेतुक’ मान का शमन सामादि उपाय-पट्क द्वारा समव है और निर्हेतुक मान रु हुआ करता है । रसार्णवसुधाकरकार ने इसीलिये कहा है—

‘निर्हेतुक’ स्वयं शाम्येत् स्वयग्राहस्मितादिभिः ॥
हेतुजस्तु क्षमं याति यथायोग्य प्रकल्पितैः ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥’

(ग) मानभङ्ग के उपायों में ‘रसान्तर’ का अभिप्राय यह है—

‘आकस्मिकरसादीनां कल्पना स्याद्रसान्तरम् ।
यादृच्छिकं बुद्धिपूर्वमिति द्वेधा निगद्यते ॥
अनुकूलेन दैवेन कृतं यादृच्छिकं भवेत् ।
प्रत्युत्पन्नधियां पुंसां कल्पितं बुद्धिपूर्वकम् ॥’

(रसार्णवसुधाकर २ य

जैसे कि, यादृच्छिक ‘रसान्तर’ से मानभङ्ग—

‘मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मै पतिष्यतः ।
उपकाराय विष्ण्वैतदुदीर्णं घनगर्जितम् ॥’

और, बुद्धिपूर्वक ‘रसान्तर’ से मानभङ्ग—

‘छीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदृष्टाधरः
कश्चित् केसरदूषितेक्षण इव व्यामीक्ष्य नेत्रे स्थितः ।
मुग्धा कुहमलितानेन ददती वायुं स्थिता तस्य सा
आन्त्या धूर्ततयाऽथवा नतिमृते तेनानिशा चुम्बिता ॥’

(घ) ‘प्रणयमान’ तो नायिका, नायक और नायक-नायिकायुगल का वर्णित वि

३ (प्रवास-विप्रलम्भ • सप्रमेद वर्णन)

अथ प्रवासः—

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संप्रमात् ।

तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ॥ २०४ ॥

निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ।

किञ्च—

अङ्गोष्णसौष्टवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः ॥ २०५ ॥

अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः ।

मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥ २०६ ॥

असौष्टवं मलापत्तिस्तापस्तु विरहज्वरः ।

अरुचिर्वस्तुवैराग्यं सर्वत्रारागिता धृतिः ॥ २०७ ॥

अनालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता ।

तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्तथा ।

शेषं स्पष्टम् ।

करता है किन्तु ईर्ष्यामान केवल नायिकानिष्ठ ही वर्णनयोग्य है । महाकवि भवभूति ने राम के प्रणयमान का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

‘अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षण’

सा हसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।

आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया

कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥’

(उत्तररामचरित ३ ३८)

अनुवाद—प्रवास-विप्रलम्भ—‘प्रवास’ का अभिप्राय है—कार्यवश, शापवश अथवा सप्त्रमवश नायक के देशान्तर-गमन का (और इसके कारण जो विप्रलम्भ है उसे ‘प्रवास-विप्रलम्भ’ कहा करते हैं) । प्रवास-विप्रलम्भ में नायिका की ये २ चेष्टायें हुमा करती हैं— अङ्ग-मालिन्य, वस्त्र-मालिन्य, एकवेणी-धारण, निश्वास-उच्छ्वास, रोदन, भूमिपतन आदि-आदि ।

इसमें ये निम्न-लिखित १० कामदशायें स्वाभाविक हैं—

१. अङ्गों का असौष्टव, २. सन्ताप, ३. पाण्डुता, ४. दुर्बलता, ५. अरुचि, ६. अधीरता, ५. अनालम्बनता, ८. तन्मयता, ९. उन्माद और १०. मूर्च्छा । मरण भी इसकी ११ वीं दशा है ।

इनमें ‘असौष्टव’ का अभिप्राय है मलिनता का । ‘ताप’ कहते हैं वियोग-ज्वर को । ‘अरुचि’ का तात्पर्य वस्तुओं के प्रति विरक्तता का है । ‘अधृति’ है—कहीं भी जी का न लगना । ‘अनालम्बनता’ का अर्थ है चित्त की शून्यता का और ‘तन्मयता’ कहते हैं बाहर-भीतर सर्वत्र प्रियतम-दर्शन को । पाण्डुता, कृशता आदि तो स्वयं स्पष्ट हैं ।

एकदेशतो यथा सम तातपादानाम्—

‘चिन्ताभिः स्तिमितं मनः, करतले लीना कपोलस्थली,

प्रत्यूषक्षणे देशपाण्डु वदनं श्वासैकखिन्नोऽधरः ।

अम्भःशीकरपद्मिनीकिसलयैर्नापैति तापः शमं,

कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदृशीम् ॥

भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः ॥ २०८

कार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वात्त्रैविध्यम् ।

तत्र भावी/यथा मम—

‘यामः सुन्दरि, याहि पान्थ, दयिते शोकं वृथा मा कृथाः,

शोकस्ते गमने कुतो मम ततो वाष्पं कथ मुञ्चसि ।

शीघ्र न ब्रजसीति मा गमयितु कस्मादिय ते त्वरा,

भूयानस्य सह त्वया जिगमिपोर्जीवस्य मे संभ्रमः ॥’

भवन् यथा—

‘प्रस्थानं वलयैः कृतं, प्रियसखैरस्त्रैरजस्र गतं,

धृत्या न क्षणमासित, व्यवसित चित्तेन गन्तुं पुरः ।

यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता

गन्तव्ये सति जीवित । प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥’

जैसे कि, कुछ दशावस्थाओं के उदाहरण के रूप में, अपने पूज्य पितृचरण की यह सूक्ति—
‘इसका मन चिन्ताओं से बंधा है, इसकी कपोलस्थली हाथों पर धरी है, इसका चेहरा प्रातःकाल के चन्द्रमा जैसा पीला पड़ा है, इसके अधर दीर्घ निश्वास से सूखे हुये हैं और इसका सन्ताप, क्या शीतल जलकण और क्या पद्मिनी-किसलय-किसी से दूर नहीं होता । पता नहीं इसका कौन ऐसा दुर्लभ प्रेमी है जो इसकी यह दुरवस्था देखकर भी नहीं पिघलता ।’

‘कार्यज’ (कार्यवश होने वाला) प्रवास भी तीन प्रकार का है—(१) भावी, (२) वर्तमान और (३) भूत ।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि कार्यवश प्रवास के तीन भेद इसलिये हैं कि कार्य का पूर्ववर्ती (कार्यविषयक) विचार भविष्य, वर्तमान और अतीत—तीनों कालों में संभव है ।

जैसे कि ‘भावी’ प्रवास का यह स्वकृत वर्णन—

‘(प्रेमी-) सुन्दरी ! अब हम जा रहे हैं, (प्रेमिका-) पथिक ! जा सकते हो । (प्रेमी-) प्रिये ! व्यर्थ शोक मत करना, (प्रेमिका-) तुम्हारे जाने से मुझे क्यों शोक हो ? (प्रेमी-) फिर तेरे आँसू क्यों निकल पड़े ? (प्रेमिका-) इसीलिये कि तुम जाने में देर लगा रहे हो, (प्रेमी-) तुझे मेरे चले जाने की जरूरी क्यों ? (प्रेमिका-) इसलिये कि तुम्हारे साथ चले जाने के लिये मेरे प्राण जरूरी मचाये हैं ।’

अथवा जैसे कि, ‘वर्तमान’ प्रवास का यह वर्णन—

‘मेरे प्राण ! तू क्यों अटकता है जब प्रियतम ने जाने का निश्चय किया, हाथ के कगने खिसक पड़े, एक मात्र सहायक आँसू निकल पड़े, हृदय का धीरज भाग चला,

भूतो यथा—‘चिन्ताभि’ स्तिमितम्—’ इत्यादि ।

शापाद्यथा—‘तां जानीया’—’ इत्यादि ।

संभ्रमो दिव्यमानुषनिर्घातोत्पातादिजः ।

यथा—

• विक्रमोर्वश्यामुर्वशीपुरुवरसोः ।

अत्र पूर्वरागोक्तानामभिलाषादीनामत्रोक्तानां चाङ्गासौष्टवादीनामपि दशा-
नामुभयेषामप्युभयत्र सम्भवेऽपि चिरन्तनप्रसिद्ध्या विविच्य प्रतिपादनम् ।

मन भागे चल निकला—सबके सब मुझे छोड़ एक साथ चल पड़े। अब मुझे भी तो जाना ही है, तू भी अपने साथियों का साथ देने को तैयार हो जा ।’

जैसे कि ‘भूत’ प्रवास का इसी प्रकार वर्णन—‘चिन्ताभि’ स्तिमितं मनः’ आदि सूक्ति ।

‘शापज’ प्रवास—इसका उदाहरण तो (महाकवि कालिदास के ‘मेघदूत’ की)—
‘ता जानीयाः’ आदि सूक्तियाँ हैं ही ।

‘संभ्रमजन्य’ प्रवास—यहाँ ‘संभ्रम’ का अभिप्राय दिव्य, मानुष, निर्घात, उत्पात आदि-आदि का है और इनमें से किसी से उत्पादित प्रवास संभ्रमजन्य (संभ्रमज) प्रवास है। उदाहरण के लिये ‘विक्रमोर्वशी’ में उर्वशी और पुरुवर का जो विप्रयोग है वह दिव्य संभ्रमज प्रवास रूप में ही वर्णित है ।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जैसे ‘पूर्वराग’ विप्रलम्भ की अभिलाषादि दस कामदशायें, ‘प्रवास’ विप्रलम्भ में संभव हैं वैसे ही ‘प्रवास’ विप्रलम्भ की अंगासौष्टवादि दस कामदशायें ‘पूर्वराग’-विप्रलम्भ में भी संभव हैं, किन्तु यहाँ इनकी पृथक्-पृथक् स्थिति हस्तलिखे निर्दिष्ट की गयी क्योंकि प्राचीन परम्परा इसी के पक्ष में है ।

विमर्श—(क) ‘प्रवास’ का अभिप्राय नायक और नायिका की ‘भित्तदेशस्थिति’ का है किन्तु इनके पहले नायक और नायिका की ‘स्नानदेशस्थिति’ और ‘तनान’ आवश्यक है ।

इन्हींलिखे न्हा गया है—

‘पूर्वसंगतयोर्यूनोर्भवेद् देशान्तरादिभि ।

चरणव्यवधानं यत् स प्रवास इतीरितः ॥

तज्जन्यो विप्रलम्भोऽपि प्रवासत्वेन सम्मतः ।’

(३) ‘प्रवास’ के विविध निमित्त में ‘कार्य’ रूप निमित्त का अभिप्राय यह है—

‘धर्मार्थसंग्रहो बुद्धिपूर्वो व्यापार कार्यम्’

अर्थात् नायक का धर्मनग्न किं वा कर्त्तव्यनग्न की दृष्टि ने जो देशान्तरगमन है वह ‘कार्य’ है। इन ‘कार्य’ के भी तीन भेद हैं—

(१) वृत्त, (२) वर्तिष्यनाम और (३) वर्तमान ।

इन दृष्टि से वृत्त कार्य ने सन्दर्भ प्रदान ‘वृत्त’ (भूत) प्रवास है, वर्तिष्यनाम कार्य से सन्दर्भ प्रवास ‘वर्तिष्यनाम’ (भावी) प्रवास है और वर्तमान कार्य ने सन्दर्भ प्रदान ‘वर्तमान’ प्रवास है ।

(१) साहित्यदर्पणाकार ने ‘संभ्रमजन्य’ प्रवास का जो निर्देश किया है वह भी अनेक प्रकार का हो सकता है। ‘संभ्रम’ करने हैं ‘आवेग’ को और आवेग दिन्न, मौन आदि-आदि भेदों से नाना प्रकार का हो सकता है। महाकवि कालिदास की विक्रमोर्वशी में ‘दिव्यजनम ज प्रवासं का सुन्दर अभिव्यञ्जन है—

‘तिष्ठेत् कोपवशात्प्रभावविहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावाद्गमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं,
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥’

(घ) साहित्यदर्पणकार ने प्रवास-विप्रलम्भ की कामदशाओं का जो निर्देश किया है वह उपलक्षण मात्र है । भावप्रकाशनकार ने इस विप्रलम्भ में और भी कामदशाओं और उनके निमित्तों का संकेत किया है, जैसे कि—

(१) उत्कण्ठाजन्य कामदशायें—

‘अन्तस्सभोगसंकल्पः तत्कथाशविलोकनम् ॥
अङ्गलानिर्मनोरक्तिर्मनोरथविचिन्तनम् ।
अधिजानुकरालग्विकपोलतलमाननम् ॥
प्रसन्नमुखरागश्च स्वेदोष्मा गद्गदा घ वाक् ।
उत्कण्ठानुभवा भावाः कथ्यन्ते भावकोविदैः ॥’

(२) चिन्ताजन्य कामविकृतियाँ—

‘केनोपायेन तत्प्राप्तिर्ममैव स भवेत् कथम् ।
किं स वचयति किं वचये दूतादि प्रेषयामि किम् ॥
किं तेनेति वितर्कोऽयं हृदि चिन्तेति कथ्यते ।
घट्नाति मेखलादीनि परामृशति पाणिना ॥
स्पृशत्यूरु च नाभिं च नीर्वीं विस्रंस्य नहति ।
अन्तर्वाणोद्गम चक्षुराकेकरकनीनिकम् ॥
अन्तर्बहिः पुरः पश्चादनालम्बनवीक्षणम् ।
चिन्तासमुत्थिता ह्येते भावाः स्युर्मन्मथाश्रयाः ॥’

(३) उन्मादजन्य मान्मथविकार—

उन्मादो विरहोत्थो यः सोऽतस्मिंस्तद्ग्रहाग्रहः ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वथा सर्वदा मनः ॥
तद्गतं तत् कथाह्लादि प्रद्वेष्टीष्टानपीतरान् ।
दीर्घं मुहुर्निःश्वसिति तिष्ठत्यनिमिषेक्षणम् ॥
विहारकाले रुदति क्रन्दति ध्यायति क्षणम् ।
गायति स्वदते तस्मिन् हसति स्तौति मुह्यति ॥
इत्थमुन्मादजा भावाः कथिता नाट्यकोविदैः ।

आदि-आदि ।

(ङ) सरस्वतीकण्ठाभरणकार श्रीभोजराज ने ‘प्रवास’ की निरुक्ति में ही प्रवास का पूरा रहस्य स्पष्ट कर दिया है—

‘यन्नाङ्गना युवानश्च वसते न वसन्ति च ।
स प्रवासः प्रशब्देन प्रतीपार्थेन कथ्यते ॥
चित्तोत्कण्ठादिभिश्चेतो मृश वासयतीह यः ।
प्रवासयति वा यूना स प्रवासो निरुच्यते ॥
प्रपूर्वको वसिर्ज्ञेयः कारितान्तःप्रमाणे ।
तूर्णी प्रवासयेदेनमिति वृद्धानुशासनात् ॥’

(सरस्वतीकण्ठाभरण • ५म परिच्छेद)

(४—करुणविप्रलम्भ)

अथ करुणविप्रलम्भः—

यूनोरेकतरस्मिन्नातवति लोकान्तरं पुनरलभ्ये ।

विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ॥ २०६ ॥

यथा—

कादम्बर्या पुण्डरीकमहाश्वेतावृत्तान्ते ।

पुनरलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एव रसः ।

किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः, संगमप्रत्याशया रतेरुद्भवात् ।

प्रथमं तु करुण एव, इत्यभियुक्ता मन्यन्ते ।

(च) 'प्रवास' के बाद समागम-रति का आनन्द उत्कट हुआ करता है जैसा कि कहा भी गया है—

'प्रवासानन्तरे तस्याभ्यवहारार्थतेष्यते ।

तत्र ह्युपोषितैरन्नमिव निर्विश्यते रति' ॥'

अर्थात् जैसे उपवास के बाद भोजन में एक विचित्र आनन्द मिला करता है वैसे ही प्रवास के बाद समागम भी विचित्र आह्लाद का जनक हुआ करता है ।

अनुवाद—करुण विप्रलम्भ—'करुण' विप्रलम्भ वह शृङ्गार-प्रकार है जिसे प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक के दिवगत हो जाने, किन्तु पुनरुज्जीवित हो सकने की अवस्था में, जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोकसम्बलित रतिभाव का अभिव्यञ्जन कहा गया है ।

उदाहरण के लिये—'कादम्बरी' के पुण्डरीक-महाश्वेता-वृत्तान्त में, पुनरुज्जीवित होनेवाले पुण्डरीक की मृत्यु पर महाश्वेता के शोकसंविन्न रतिभाव का अभिव्यञ्जन ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि—प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक की आत्यन्तिक मृत्यु से मिलन की अत्यन्त निराशा अथवा परलोक में मिलन की आशा की अवस्था में जो रस अभिव्यङ्ग्य हो सकेगा, वह करुणरस ही होगा (क्योंकि मिलन की आशा के अभाव में रति कहाँ ? वहाँ तो शोक ही शोक संभव है) न कि 'करुण'-विप्रलम्भ शृङ्गार ।

वैसे 'कादम्बरी' के पुण्डरीक-महाश्वेता वृत्तान्त में अभिव्यङ्ग्य रस के सम्बन्ध में काव्यार्थकोविदों का मतभेद है । यहाँ कुछ लोगों का कहना यह है—

'पुण्डरीक-महाश्वेता वृत्तान्त में सर्वप्रथम अभिव्यङ्ग्य रस 'करुण' है । यह तो आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के पुनर्मिलन की आशा के जग उठने के बाद की बात है कि महाश्वेता का रतिभाव वदोधन पा उठता है और सहृदय-हृदय करुणविप्रलम्भ शृङ्गार का आस्वाद ले सकता है ।

किन्तु कुछ और लोग यहाँ यह कहते हैं—(आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के) मिलन की आशा के जग जाने के बाद भी यहाँ (करुणविप्रलम्भ नहीं अपितु प्रवास-विप्रलम्भ शृङ्गार ही अभिव्यङ्ग्य है (क्योंकि पुण्डरीक और महाश्वेता भिन्न देश ही नहीं अपितु भिन्न लोक के निवासी हैं और महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के प्रति प्रेम उद्बुद्ध हो गया है) ।

यच्चात्र 'सङ्गमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भशृङ्गारस्य प्रवासाख्यो भेद एव' इति केचिदाहुः, तदन्ये 'मरणरूपविशेषसम्भावनात्तद्विभक्तमेव' इति मन्यन्ते ।

(२—शृङ्गार-भेद . समोगशृङ्गार . सप्रकार स्वरूप-निरूपण)

अथ संभोगः—

दर्शनस्पर्शनादीनि निपेवेते विलासिनौ ।

यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः ॥ २१० ॥

और लोगों का यहाँ एक और ही अभिप्राय है क्योंकि उनका कहना यह है— (आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के मिलन की आशा के उद्वोघन के बाद भी) यहाँ न तो करुणविप्रलम्भ की संभावना है और न प्रवासविप्रलम्भ की ही । यहाँ जो रस है वह करुणविप्रलम्भ तथा प्रवासविप्रलम्भ से भिन्न रूप का ही रस है क्योंकि यहाँ मरण दशा के प्रतिपादन का वैशिष्ट्य एक और ही विप्रलम्भ प्रकार की संभावना करा रहा है ।

विमर्श—(क) 'करुणविप्रलम्भ' वस्तुतः 'करुण' का अमोत्पादक वियोगशृङ्गार-प्रकार है जैसा कि इन पङ्क्तियों में स्पष्ट है—

द्वयोरेकस्य मरणे पुनरुज्जीवनावधौ ॥

विरहः करुणोऽन्यस्य सङ्गमाशानिवर्तनः ।

करुणभ्रमकारित्वात् सोऽयं करुण उच्यते ॥'

(रसार्णवसुधाकर २ य उल्लास)

(ख) 'प्रवास' और 'करुण' में परस्पर भेद है । 'प्रवास' का अभिप्राय तो सशरीर देशान्तर गमन का अभिप्राय है किन्तु 'करुण' का अभिप्राय है प्राणों के विना देशान्तर गमन का ।

(ग) दशरूपककार के अनुसार 'करुणविप्रलम्भ' शृङ्गार-भेद नहीं अपितु करुण रस के अन्तर्गत है—

'मृते त्वेकत्र यत्रान्य . प्रलपेच्छोक एव स' ।

व्याश्रयत्वाच्च

शृङ्गार

॥' (दशरूपक ४ र्थ प्रकाश)

किन्तु दिवगत भी नायक अथवा नायिका के लिये जीवित नायिका अथवा नायक के हृदय में संगमाशा की उत्पत्ति से शृङ्गार की संभावना हो जाया करती है और इसीलिये दशरूपककार ने कहा है— 'प्रत्यापन्ने तु नेतरः'—कादम्बर्या तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवास-शृङ्गार एवेति ।

दशरूपककार की इस मान्यता का विश्वनाथ कविराज ने खण्डन किया है और करुण-विप्रलम्भ को विप्रलम्भशृङ्गार का एक भिन्न ही प्रकार सिद्ध किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है । सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने 'विप्रलम्भ' को चतुर्विध ही माना है—

'भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति ।

नाधिगच्छति चाभीष्ट विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥

पूर्वानुरागो मानश्च प्रवासः करुणश्च स ।

पुरुषस्त्रीप्रकाण्डेषु चतुःकाण्ड प्रकाशते ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण ५ म परिच्छेद)

अनुवाद—संभोगशृङ्गार—परस्पर प्रेम पगे नायक और नायिका के परस्पर दर्शन,

आदिशब्दादन्योन्याधरपानचुम्बनादयः । यथा—‘शून्यं वासगृहम्—’
इत्यादि ।

संख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादिवहुभेदात् ।

अयमेक एव धीरैः कथितः संभोगशृङ्गारः ॥ २११ ॥

तत्र स्यादुत्पट्कं चन्द्रादित्यौ तथोदयास्तमयः ।

जलकेलिवनविहारप्रभातमधुपानयामिनीप्रभृतिः ॥ २१२ ॥

अनुलेपनभूषाद्या वाच्यं शुचि मेध्यमन्यत्र ।

तथा च भरतः—‘यत्किञ्चल्लोके शुचि नेध्यमुज्ज्वल दर्शनीयं वा तत्सर्वं
शृङ्गारेणोपसीयते (उपयुज्यते च)’ इति ।

किञ्च—

कथितश्चतुर्विधोऽसावानन्तर्यात्तु पूर्वगगादेः ॥ २१३ ॥

यदुक्तम्—

‘न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते ।

कपायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते ॥’ इति ।

तत्र पूर्वरागानन्तरं संभोगो यथा कुमारस्तन्भवे पार्वतीपरमेश्वरयोः ।

परस्पर-स्पर्शन आदि-आदि की अनुभूति का प्रदाता जो रस है वह ‘संभोगशृङ्गार’ है ।

यहाँ ‘दर्शनस्पर्शनादीनि’ में जो ‘आदि’ शब्द प्रयुक्त है उसका अन्विष्टाव परस्पर अधरपान, परस्पर चुम्बन, परस्पर आलिङ्गन आदि का समुच्चय है । उदाहरण के लिये ‘शून्य वासगृहम्’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है ।

संभोगशृङ्गार की भेद-प्रभेद-गणना असम्भव है क्योंकि परस्पर चुम्बन और आलिङ्गन आदि २ सुख भोगों की गणना कौन कर सके । इसलिये काव्य-क्रोविदों ने यही माना है कि यह शृङ्गार-प्रकार एक रूप का ही है जिसे ‘संभोगशृङ्गार’ कह सकते हैं ।

संभोगशृङ्गार के उद्दीपन विभावों में सभी ऋतुयें, चन्द्र चन्द्रिका, सूर्य, ज्योत्स्ना, चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, जलविहार, वनविहार, प्रभात, मधुपान, रात्रिक्रीड़ा, चन्द्रनादि के अनुलेपन, भूषण-धारण किंवा अन्यान्य स्वच्छ, सुन्दर तथा सुमधुर पदार्थ अन्तर्भूत हैं ।

संभोगशृङ्गार के ये चार प्रकार भी प्रतिपादित किये गये हैं—(१) पूर्वगगानन्तर संभोग, (२) नानानन्तर संभोग, (३) प्रवासानन्तर संभोग और (४) कर्गविप्रलम्भानन्तर संभोग । कहा भी गया है—

‘जैसे वस्त्रादि के हलके रंग होने पर ही रंग बढ़ा करता है, वैसे ही विप्रलम्भ के होने पर ही संभोग का आनन्द निटा करता है ।’

पूर्वराग-विप्रलम्भ के बाद संभोगशृङ्गार के अनिव्यञ्जन का उदाहरण कुमारमभव में शिव-पार्वती का अनुराग-वर्णन है ।

प्रवासानन्तरं सम्भोगो यथा मम तातपादानाम्—

‘क्षेमं ते ननु पद्मलाक्षि !—किसञ्चं खेम मदङ्गं दिदं,

एतादृक्कृशता कुतः तुह पुणो पुट्ठं सरीरं जदो ।

केनाहं पृथुलः प्रिये !—पणइणीदेहस्स सम्मेलणात्,

त्वत्तः सुभ्रु ! न कापि मे, जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि ॥’

(क्षेमं ते ननु पद्मलाक्षि ? कृशक क्षेम मदङ्ग दृढ

एतादृक् कृशता कुतः ? तव पुनः पुट्ठ शरीर यतः ।

केनाहं पृथुलः प्रिये ? प्रणयिनीदेहस्य सम्मेलनात्

त्वत्तः सुभ्रु ? न कापि मे, यदि इदं क्षेमं कुतः पृच्छसि ॥)

एवमन्यत्राप्युहम् ।

प्रवास विप्रलम्भ के बाद संभोगशृङ्गार की अभिव्यक्ति मेरे पूज्य पितृचरण की निम्न वृत्ति में देखिये—

‘(प्रेमी) अरी सुनयने ! कुशल तो है ? (प्रेमिका) यही कुशल है कि मेरी पुष्ट देह कृश हो गयी है । (प्रेमी) तुम्हारी देह इतनी कृश क्यों ? (प्रेमिका) इसलिये कि तुम हृष्टपुष्ट हो रहे हो । (प्रेमी) अरी ! मैं कैसे हृष्टपुष्ट हूँ ! (प्रेमिका) अपनी प्यारी की देह के सम्मिश्रण से । (प्रेमी) अरी ! तुझे छोड़ कर और मेरी प्यारी कौन ? (प्रेमिका) तब भला मेरा कुशल-क्षेम पूछने का क्या अर्थ !’

[यहां प्रवास के बाद परस्पर मिले प्रेमीयुगल की उक्ति-प्रत्युक्तियों में विप्रलम्भ-सम्मिश्रित संभोग की बड़ी मनोरम व्यञ्जना है ।]

इसी भांति मानानन्तर संभोग आदि के उदाहरण स्वयं हूँदे जा सकते हैं ।

विमर्श—सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने ‘संभोग’ की व्युत्पत्ति में संभोगशृङ्गार का जो स्वरूप बताया है वह ध्यान देने योग्य है—

‘भुजिः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु ।

भुनक्ति भुग्नो भुक्तेऽन्न भुक्ते सुखमितीष्यते ॥

समीचीनार्थसपूर्वात्ततो घञ् प्रत्यये सति ।

भावे वा कारके वापि रूप ‘संभोग’ दृष्यते ॥

स पालनार्थः पूर्वानुरागानन्तर उच्यते ।

उत्पन्ना हि रतिस्तस्मिन्नानुकूल्येन पाद्यते ॥

स मानानन्तर प्राप्तः कौटिल्यार्थं विगाहते ।

स्वतोऽपि कुटिल प्रेम किं नु मानान्वये सति ॥

प्रवासानन्तरे तस्याभ्यवहारार्थतेष्यते ।

तत्र ह्युपोषितैरन्नमिव निर्विशयते रतिः ॥

करुणानन्तरगतोऽनुभवार्थः स कथ्यते ।

विस्मयवद्भिरस्मिन्निह सुखमेवानुभूयते ॥

यदि वा भोग इत्यस्य सम्प्रयोगार्थवाचिनः ।

समा समासे चत्वारो विशेषास्तमुपासते ॥

स सञ्चितोऽथ सकीर्णः सम्पूर्णः सम्यगृद्धिमान् ।

अनन्तरोपदिष्टेषु सम्भोगेषूपपद्यते ॥

(२—हास्य · स्वरूप और भेद-निरूपण)

अथ हास्यः—

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।

हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ॥ २१४ ॥

विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः ।

तमत्रालम्बनं ग्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥ २१५ ॥

नवे हि सगमे प्रायो युवान् साध्वसादिभिः ।

सच्चित्तानेव रत्यर्थमुपचारान् प्रयुञ्जते ॥

मानस्यानन्तरे तेषा व्यलीकस्मरणादिभिः ।

रोषशेषानुसन्धानात् सकरः केन वार्यते ॥

सपूर्णः पूर्णकामानां कामिनां प्रोप्य सगमे ।

उत्कण्ठिताना भूयिष्ठमुपभोगः प्रवर्तते ॥

प्रत्यागतेऽपि यत्रैषा रतिपुष्टिः प्रिये जने ।

सा किमावर्ण्यते यूना तत्रैव मृतजीविते ॥

(सरस्वतीकण्ठामरण ५ म परिच्छेद)

अर्थात् 'सन्' उपसर्गपूर्वक पालनार्थक, कौटिल्यार्थक, अभ्यवहारार्थक (भोजनार्थक) और अनुमवार्थक 'मुज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'समोग' शब्द निष्पन्न होता है । तात्पर्य यह है कि प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में उत्पन्न रतिभाव का परिपालन, प्रेम की कुटिल चाल में प्रेमी-प्रेमिका का पारस्परिक प्रेमभोग, प्रेमी-प्रेमिका का उत्कण्ठापूर्वक रति-सुख-लाभ और प्रेमी-प्रेमिका का निर्द्वन्द्व प्रेमानन्दानुभव-ये चारों विशेषतायें 'सम्भोग' की उत्तरोत्तर विकासावस्थायें हैं । सम्भोग के 'पूर्वरागानन्तर'-'मानानन्तर' और 'करुणानन्तर' प्रकार क्रमशः इन्हीं चारों विशेषताओं के उत्तरोत्तर स्वरूप-विकास हैं । पूर्वराग-विप्रलम्भ के बाद का सम्भोग 'सक्षिप्त' मान-विप्रलम्भ के बाद का सम्भोग 'सङ्कीर्ण', प्रवास-विप्रलम्भ के बाद का सम्भोग 'सम्पूर्ण' और करुण-विप्रलम्भ के बाद का सम्भोग 'समृद्ध' हुआ करता है । रति-सुख के अनुभव की सक्षिप्तता, सकीर्णता, सपूर्णता और समृद्धि ही वस्तुतः सम्भोग के चतुर्विध प्रकारों के नियामक तत्त्व हैं ।

अनुवाद—हास्यरस—'हास्य' वह रस है जिसे 'हास' स्थायिभाव का अभिव्यञ्जन कहा जाया करता है । इसका आविर्भाव आकार-विकृति, वाग्विकृति, वेषविकृति, चेष्टा-विकृति किं वा अन्यान्य प्रकार की विकृतियों के वर्णन अथवा अभिनयन से हुआ करता है । इसका वर्ण श्वेत है और इसके अधिष्ठातृदेव प्रमथगण हैं । इसका आलम्बन वह व्यक्ति है जिसमें आकार, वाणी और चेष्टा की विकृतियाँ दिखायी दिया करती हैं और जिसे देख देख लोग हँसा करते हैं । ऐसे हासास्पद व्यक्ति की जो चेष्टायें हैं वे ही यहाँ 'उद्दीपन' का काम किया करती हैं । इसके अनुभाव-वर्ग में नेत्र-निमोलन, मुख-विकास आदि-आदि की गणना है । इसके जो व्यभिचारी भाव हैं वे हैं निद्रा, आलस्य, अवहित्या आदि-आदि । इसके ६ भेद स्पष्ट हैं—

(१) उत्तम प्रकृतिगत 'स्मित' हास्य ।

(४) मध्यम प्रकृतिगत 'अवहसित' हास्य ।

(२) उत्तम प्रकृतिगत 'हसित' हास्य ।

(५) अधम प्रकृतिगत 'अपहसित' हास्य और

(३) मध्यम प्रकृतिगत 'विहसित' हास्य ।

(६) अधम प्रकृतिगत 'अतिहसित' हास्य ।

अनुभावोऽक्षिसङ्कोचवदनस्मेरतादयः ।

निद्रालस्यावहित्याद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २१६ ॥

ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च ।

नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष पङ्क्तेः ॥ २१७ ॥

ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम् ।

किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ॥ २१८ ॥

मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम् ।

अपहसितं सास्त्राक्षं विलिप्ताङ्गं च भवत्यतिहसितम् ॥ २१९ ॥

यथा—

‘गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च ।

अमी समाधाय च तर्कवादान्समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ॥’

अस्य लटकमेलकप्रभृतिषु परिपोषो द्रष्टव्यः ।

अत्र च—

यस्य हासः स चेत् कापि साक्षान्नैव निवध्यते ।

तथाप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते ॥ २२० ॥

अभेदेन विभावादिसाधारण्यात्प्रतीयते ।

सामाजिकैस्ततो हास्यरसोऽयमनुभूयते ॥ २२१ ॥

एवमन्येष्वपि रसेषु बोद्धव्यम् ।

यहाँ ‘स्मित’ का अभिप्राय नेत्रों के ईषद् विकास किंवा अधर-स्पन्दन (ओंठों के कुछ-कुछ फड़क उठने) का है। ‘हसित’ कहते हैं ऐसे हास को जिसमें दांत भी कुछ-कुछ दिखायी पड़ जाय। जिसे ‘विहसित’ कहा गया है वह ऐसा हास है जिसमें साथ ही साथ मधुर शब्द भी निकल पड़ें। ‘अवहसित’ वह हास है जिसमें कन्धे और सिर भी कांपने लगें। ‘अपहसित’ का अभिप्राय है ऐसी हँसी का जिसमें आँखों में आसू तक आ जाय। और ‘अतिहसित’ वह हास है जिसमें हाथ पैर भी उठाये-पटके जाया करें।

उदाहरण के लिये—

‘हट जाओ, देखो श्री कुक्कुटमिश्र जो पधार रहे हैं। आप ही वे महामहोपाध्याय हैं जो पांच दिन में ही प्रमाकर-मीमांसा की चटनी कर गये, तीन दिन धीतते धीतते वेदान्त-दर्शनों को पी गये और तर्क शास्त्रों को सूघ लेना तो आपके चारों हाथ का खेल ही ठहरा।’

‘हास्यरस’ का पूर्ण परिपोष लटकमेलक सरीखे प्रहसनों में देखा जा सकता है।

यहाँ यह जान लेना चाहिये कि हास्यरस के अभिव्यञ्जन के लिये यह आवश्यक नहीं कि इसके आलम्बन का सर्वत्र साक्षात् उपनिबन्ध हुआ करे क्योंकि यह तो विभावादि के सामर्थ्य में है कि हास्य का आलम्बन प्रतीत हो जाय। वस्तुतः सहृदय सामाजिक कर्तृ हास्यानुभूति की जो प्रक्रिया है वह विभावादि का साधारणीकरण है।

वस्तुतः यही बात अन्य रसों की अनुभूति के सम्बन्ध में भी ध्यान रखने योग्य है।

(३—करुणरस)

अथ करुणः—

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।

धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ॥ २२२ ॥

विमर्श—(क) भारतनाव्यशास्त्र आदि में 'हास्यरस' के स्वरूप से सबद दो ही भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—(१) आत्मस्थ हास्य और (२) परस्थ हास्य । 'आत्मस्थ' हास्य का अभिप्राय अपनी ही वागादि-विकृतियों पर अपने आप हसना है । महाकवि विशाखदत्त के 'सुन्दराक्षत' में 'कञ्चुकां का यह गूढ आत्मस्थ हास्य सहृदय सानाजिकों के आत्माद का विषय है—

'काम नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीत प्रतिष्ठां मयि ।
त सम्प्रत्युपचीयमानमपि मे लब्धान्तर सेवया
लोभो राजसवज्जयाय यतते जेतु न शक्नोति च ॥

जिसे 'परस्थहास्य' कहा गया है उसका अभिप्राय परगत वागादि-विकृतियों से हास्य के उद्भव का अभिप्राय है । इन हास्य का उदाहरण यह सूक्ति है—

'व्रत्त समस्तजनहासकर' करेणो-
स्तावत् स्वरः प्रखरमुल्लल्याञ्चकार ।
यावच्चलासनविलोलनितम्बविम्ब-
वित्तस्तवस्त्रमवरोधवधू पपात ॥'

(ख) साहित्यदर्पाकार ने 'दिनादि' हास्य-शब्द का जो निरूपण किया है उसका आधार वचन-बन्धन कि वा अधम रूप से भिन्न तीन प्रकृतियों का भेद है ।

(ग) अन्य दृष्टि से भी 'हास्य' का भेद किया जा सकता है जैसा कि भावप्रकाशनकार ने ही किया है—

'यद्यत् प्रहसन वाक्य स हास्यो वाचिकः स्मृत ।
विपर्ययेण निक्षेपो माल्याभरणवाससाम् ॥
य स नपव्यजो हास्य इति निर्णीयते बुधैः ।
विकटाभिनयत्वं यदङ्गानामवलोक्यते ॥
स्वभावाद्वाऽयं कपटात्स हास्यस्त्वाङ्गिको भवेत् ।

(भावप्रकाशन ३ य अधिकार)

(घ) हास्य के अधिदैवत को 'प्रमथ' माना गया है जिसका कारण यह है—

'विकटाभिनयत्वं यद्वास्याधिष्ठानमुच्यते ॥
तदस्ति प्रमथे यस्मात्सोऽयमस्याधिदैवतम् ।

इसी प्रकार 'इवेन' वर्ण से हास्य का जो नन्वन्ध बताया गया है उसका अभिप्राय प्रमथदेव' के वर्ण का है जिसमें हँसने वाले लोगों की दृष्टि-सुद्रा का रहस्य अन्तर्भित है—

'चला हसितगर्मा च विशाचाराऽनिमेषिणी ॥
किञ्चिदाकुञ्चिता हृष्टा दृष्टिर्हासे प्रकीर्तिता ।
अपाङ्गे शौक्ल्यमूयिष्ठा हासगर्भेति कथ्यते ॥

अन्ववाद—करुणरस—

'करुणरस' वह रस है जिसे शोकरूप त्यागिभाव का पूर्णभिव्यञ्जन कहा गया है ।

शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।

तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २२३ ॥

अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः ।

वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ॥ २२४ ॥

निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।

विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ २२५ ॥

शोच्यं विनष्टबन्धुप्रभृति ।

यथा मम राघवविलासे—

‘विपिने क जटानिबन्धनं तव चेदं क मनोहरं वपुः ।

अनयोर्घटना विधेः स्फुट ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम् ॥’

अत्र हि रामवनवासजनितशोकार्त्तस्य दशरथस्य दैवनिन्दा । एवं बन्धुवि
योगविभवनाशादावप्युदाहार्यम् । परिपोपस्तु महाभारते स्त्रीपर्वणि द्रष्टव्यः ।

इसका आविर्भाव इष्टनाश और अनिष्ट-प्राप्ति से सम्भव है । इसका वर्णं कपोतवर्णं है औ
इसके जो देवता माने गये हैं वे यम हैं । इसका ‘स्थायी’ भाव ‘शोक’ है । इसक
जो ‘आलम्बन’ है वह विनष्ट व्यक्ति है । इसके उद्दीपन वर्ग में दाहकर्म आदि की गणन
है । दैवनिन्दन, भूमिपतन, क्रन्दन, वैवर्ण्य, उच्छ्वास, निश्वास, स्तम्भ, प्रलपन आदि-आर्
इसके अनुभाव माने गये हैं । साथ ही साथ निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि
स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद और चिन्ता आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं ।

यहाँ ‘शोच्य’ पद का अर्थ है—विनष्ट बन्धु-बान्धव आदि ।

उदाहरण के लिये मेरे स्वरचित ‘राघवविलास’ की यह सूक्ति—

‘कहाँ तो तुम्हारा यह कोमल शरीर और कहाँ तुम्हारा वन में जटाजूट का कल
बन्धन ! इन दोनों का मेल विधि-विदम्बना है । यह तो ऐसा है जैसे तलवार से शिरी
के फूल का काटना !’

यहाँ राम के वनवास से शोकाकुल दशरथ का दैव-निन्दन वर्णित है । इसी भाँ
बन्धु-वियोग, वित्तनाश आदि आदि से आविर्भूत करुण के उदाहरण देखे जा सकते हैं
करुणरस का यदि परिपोप देखना है तो महाभारत के स्त्रीपर्व में देखिये ।

विमर्श—(क) चित्तवैधुर्य को ‘शोक’ कहा गया है । ‘शोक’ का आस्वाद करुणरस ।
‘करुण’ शब्द की इस व्युत्पत्ति से ही ‘करुणरस’ के स्वरूप का परिचय मिल जाता है—

‘अस्य कर्तृतया धीर्या सा घृणेत्युच्यते बुधैः ।

घृणेः करुणशब्दस्तु विहितः शब्दवादिभिः ॥

अतो नैवण्डुकैरुक्ता घृणेति करुणेति च ।

करुं क्लेश इति ख्यातः क्लेश न सहते यतः ॥

यस्य धीकरुणा सा स्यात् प्रत्यये करुणो भवेत् ।

पराश्रितानां क्लेशानामसहिष्णुतयोच्यते ॥

मनसो यादृशो भावः स वै करुण उच्यते ॥’

(कर्ण और कर्णविप्रलम्भश्चक्र भेद-निर्देश)

अस्य कर्णविप्रलम्भाद् भेदमाह—

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः ।

विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनःसंभोगहेतुकः ॥

(४—रौद्ररस)

अथ रौद्रः—

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः ।

आलम्बनमरिस्तस्य तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥ २२७ ॥

मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव ।

संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढा ॥ २२८ ॥

भ्रूविभङ्गाष्टनिर्देशवाहुस्फोटनतर्जनाः ।

आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ॥ २२९ ॥

अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादयः ।

उग्रतावेगरोमाश्चस्वेदवेपथवो मदः ॥ २३० ॥

मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः ।

(ख) कर्ण के अधिदैवत के रूप में 'यन' की नान्यता का कारण यह है—

'कर्णस्याप्यधिष्ठानं दयेति परिभाष्यते ॥

पापं तया यमयति यमं सोऽस्याधिदैवतम् ।'

अनुवाद—'कर्णरस' और 'कर्णविप्रलम्भश्चक्र' परस्पर भिन्न भिन्न रस हैं क्योंकि कर्णरस का स्थायी भाव शोक कर्णविप्रलम्भश्चक्र के स्थायी भाव 'रति' से सर्वथा भिन्न प्रकार का भाव है। यहाँ पुनर्मिलन की आशा बँधी रहती है (जब कि कर्णरस में इसकी कोई भी संभावना नहीं) ।

विमर्श—कहा रस ही एतन्नात्र रस है और अन्य रस इनों के विवर्त हैं—यह 'कर्णरसवाद' नडाकवि भवभूति का रसवाद है जैसा कि निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है—

'एको रसः कर्ण एव निमित्तभेदाद्

भिन्नं पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।

आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-

नम्नो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम् ॥'

अनुवाद—रौद्ररस—

'रौद्ररस' वह रस है जिसका स्थायी भाव 'क्रोध' हुआ करता है। इसका वर्ण रक्त है और इसके देवता रुद्र हैं। इसमें आलम्बनरूप से शत्रु का वर्णन किया जाया करता है और शत्रु की चेष्टायें उद्दीपन-विभाव का काम करती हैं। इसकी विशेष उद्दीप्ति मुष्टिप्रहार, भूपातन, भयकर काटमार, शरीर-विदारण, संग्राम और संभ्रम आदि आदि से हुआ करती है। इसके अनुभाव हैं—भ्रूभङ्ग, ओष्ठनिर्देशन, वाहुस्फोटन (ताल टोकना), तर्जन,

यथा—

‘कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्विरुदायुधैः
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमस्तृब्भेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥’
(रौद्र और युद्धवीर : परस्पर भिन्न रस)

अस्य युद्धवीराद्भेदमाह—

रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः ॥ २३१ ॥

स्वकृत घोरकर्मवर्णन, शस्त्रोत्तेपण, उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, कम्प, मद, आशेष, क्रूरदृष्टि आदि । इसके जो व्यभिचारीभाव हैं उनमें मोह, भ्रमर्ष आदि का स्थान है ।

उदाहरण के लिये (वेणीसंहार में अश्वरथामा के क्रोध का यह अभिव्यञ्जन)—

‘पाण्डव घीरो ! कुरु प्रवीरो ! अभी अभी देख लो कि कृष्ण, भीम, अर्जुन और उन-उन निर्मर्याद, शस्त्रधारी नरपशुओं के खून, चर्बी और मांस के लोथड़ों से, जिन्होंने यह (द्रोणवध रूप) महापाप किया या इस घोर पातक में राय दी या इस कुकर्म के साक्षी बने, कैसे दिशाओं को बलि चढ़ा देता हूँ ।’

विमर्श—(क) रौद्र के स्थायी भाव ‘क्रोध’ का यह स्वरूप विवेक है—

‘तेजसो जनकः क्रोधः समिधा कथ्यते बुधैः ।

क्रोधः कोपश्च रोषश्चेत्येष भेदस्त्रिधा मतः ॥

क्रुव् क्रौर्यं तेन सर्वत्र धचयतीत्यस्य निर्वहः ।

क्रोध्यते क्रोधयत्येव क्रोध इत्यभिधीयते ॥’

(भावप्रकाशन . २ य अधिकार)

और ‘क्रोध’ के अभिव्यङ्ग्य स्वरूप ‘रौद्र’ का यह—

‘यत्कर्म रोदयत्यन्यान् स रौद्र इति वा भवेत् ।’

(ख) रौद्र के अभिमानि देव ‘रुद्र’ हैं जैसा कि कहा भी गया है—

‘रौद्रस्य यदभिष्ठान कर्म रोगरुतारमकम् ।

रुद्रस्य च तदस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ॥’

अनुवाद—‘रौद्र’ और ‘युद्धवीर’ का भेद स्पष्ट है क्योंकि ‘रौद्र रस’ में तो मुख छाल हो उठता है तथा आँखें जलने लगती हैं किन्तु ‘युद्धवीर रस’ में ये सब बातें नहीं होने पातीं ।

विमर्श—(क) ‘युद्धवीर’ और ‘रौद्र’ का पारस्परिक स्वरूपभेद कान्यानुशासनकार के शब्दों में इस प्रकार है—

‘इह (युद्धवीरे) चापत्पङ्कनिमग्नतां स्वल्पसन्तोष मिथ्याज्ञानं चापास्य यस्तत्प-
निश्चयरूपोऽसमोहाभ्यवसायः स पूर्वप्रधानतयोत्साहहेतुः । रौद्रे तु ममताप्राधान्यादशास्त्रि-
तानुचितयुद्धाद्यभीतिमोहविस्मयप्राधान्यमिति विवेकः ॥’

अर्थात् युद्धवीर में तो मोहरहित अभ्यवसाय का प्राधान्य रहा करता है किन्तु रौद्र में मोह विस्मय की प्रधानता रहा करती है । असमोह और मोह का ऐकरूप्य कहाँ ? युद्धवीर और रौद्र भी एक कैसे ?

(५—वीररस - सप्रभेद-स्वरूप-विवेक)

अथ वीरः—

उत्तमप्रकृतिवीर उत्साहस्थायिभावकः ।

महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥ २३२ ॥

आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ।

विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।

अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ॥ २३३ ॥

सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः ।

स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥ २३४ ॥

स च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्विधः ।

तत्र दानवीरो यथा परशुरामः—

‘त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः’ इति ।

(ख) आचार्यों ने आङ्गिक नैपथ्यज और वाचिक रूप से रौद्र के भी तीन भेद बताये हैं—

‘बाहुभिर्हस्त्वदीर्घैश्च बहुशस्त्रास्त्रधारिभिः ।

उद्धृत्तरक्तनयनं महाकायेः सितेतरैः ॥

एवंप्रकारो रौद्रोऽयमाङ्गिकः कथ्यते बुधैः ।

कृष्णरक्तानि वासांसि कृष्णरक्तानुलेपनम् ॥

कृष्णरक्तानि मान्यानि कृष्ण रक्तचभूषणम् ।

एव नैपथ्यजो रौद्र इति विद्वद्भिर्कथ्यते ॥

ह्रिन्धि भिन्धि बधानेन खाद मास्य ताडय ।

पिबामि रुधिरं तेऽद्य पिनष्टीत्यादि यद्वाच ॥

एतत्तु वाचिको रौद्र इति नाट्यविदीरितः ।’

अनुवाद—‘वीररस’ वह है जिसे ‘उत्साह’ रूप स्थायी भाव का आत्मा कहना गया है । इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति हैं । इसका वर्ण स्वर्ण-वर्ण है और इसके देवता हैं महेन्द्र । इसके ‘आलम्बन’ विभाव विजेतव्य शत्रु आदि हैं और इन विजेतव्य शत्रु आदिकों की चेष्टायें इसके उद्दीपन विभाव हैं । युद्धादि की सामग्री किंवा अन्यान्य सहायक साधनों के अन्वेषण इसके ‘अनुभाव’ रूप हैं । धृति, नति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्च आदि-आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं । इसके ये चार भेद स्पष्ट हैं—

१. दानवीर, २. धर्मवीर, ३. युद्धवीर और ४. दयावीर । तात्पर्य यह है कि वीर रस ही दान-धर्म-युद्ध और दयावीर-रूप में चतुर्विध प्रतीत हुआ करता है ।

उदाहरण के लिये—१. दानवीर (जैसे कि परशुराम के दानविषयक उत्साह का ‘महावीरचरित’ में यह अभिव्यञ्जन) ।

‘परशुराम के त्याग की क्या सीमा ! सप्त समुद्र पर्यन्त पृथिवी के निष्कारण दानी उस महादानवीर के त्याग का क्या कहना !’ आदि ।

अत्र परशुरामस्य त्यागे उत्साहः स्थायिभावः, संप्रदानभूतब्राह्मणैरालम्ब्य विभावैः सत्त्वाध्यवसायादिभिश्चोद्दीपनविभावैर्विभावितः, सर्वस्वत्यागादिभिरनुभावैरनुभावितो, हर्षधृत्यादिभिः संचारिभिः पुष्टिनीतो दानवीरतां भजते ।

धर्मवीरो यथा युधिष्ठिरः—

‘राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये ।

यच्च लोके ममायत्तं तद् धर्माय सदोद्यतम् ॥’

युद्धवीरो यथा श्रीरामचन्द्रः—

‘भो लङ्केश्वर ! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते

कोऽय ते मतिविभ्रमः स्मर नय नाद्यापि किञ्चिद्गतम् ।

नैवं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किल.

पत्रो नैव सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धवन्धूकृतः ॥’

दयावीरो यथा जीमूतवाहनः—

‘शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।

तृप्तिं न पश्यामि तथापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ! ॥’

एष्वपि विभावादयः पूर्वोदाहरणवदूहाः ।

यहाँ (उपर्युक्त परशुराम-वर्णन में) परशुराम के हृदय का ‘त्याग’ विषयक ‘उत्साह’ स्थायी भाव है । यह स्थायी भाव ‘आलम्बन’ रूप दान के पात्र ब्राह्मणों किंवा उद्दीपनरूप सत्त्वोद्रेकादि गुणों से विभावित अभिव्यक्त हो रहा है, और सर्वस्व-समर्पण आदि-आभा अनुभाव इसे अनुभावित करने में तत्पर हैं किंवा हर्ष, प्रति आदि-आदि व्यभिचारी भाव इसके परिपोषक बन रहे हैं । अन्ततो गत्वा यह त्यागोत्साह ‘दानवीर’ का आस्वाद यनक सहृदय हृदय को आनन्दित कर रहा है ।

(२) धर्मवीर (जैसे कि युधिष्ठिर के हृदय के ‘धर्मोत्साह’ का यह अभिव्यक्ति)—

‘यह राज्य, यह वभव, यह शरीर, यह धर्मपत्नी, ये भाई, ये पुत्र-पौत्र और संसार की सभी मेरी चीजें, वस, एक मात्र धर्म के लिये समर्पित हैं ।’

(३) युद्धवीर (जैसे कि ‘बालरामायण’ में अंकित राम के युद्धोत्साह का यह अभिव्यक्ति)—

‘अरे लङ्कापति रावण ! सीता को सौंप दे । राम तुझसे याचना कर रहा है । मतिभ्रम छोड़ दे । नीतिमार्ग का अनुसरण कर । अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा । अगर तूने सुर्ग अनसुनी की तो याद रख, खर, दूषण और त्रिशिरा के कण्ठरुधिर से सना, धनुर्ज्या पचड़ा, मेरा बाण तुझे जिन्दा न छोड़ेगा ।’

(४) दयावीर (जैसे कि ‘नागानन्द’ में जीमूतवाहन के हृदय के दयाविषयक उत्साह का यह अभिव्यक्ति)—

‘हे गरुड देव ! अभी भी मेरी नादियों से रुधिर बह रहा है, और अभी भी मेरी देह में मांस बचा है । मुझे लगता है तुम इतने से सन्तुष्ट नहीं । क्या बात है । तुमने खान क्यों छोड़ दिया !’

इन वीर-भेदों के विभाव, अनुभाव आदि ‘दानवीर’ के प्रसङ्ग में निर्दिष्ट प्रकार का अनुसरण करते स्वयं समझे जा सकते हैं ।

(६—भयानक रस)

अथ भयानक—

भयानको भयस्थायिभावो भूताधिदैवतः ।

विमर्श—(न) 'वीर' का व्युत्पत्ति-सन्ध जो स्वरूप है वह यह है—

'वित्दान्ताति हन्तीति वीरशब्दस्य निर्वहः ॥

विविधं च विचित्रं च लीति जानाति कृन्तति ।

एवं वा वीरशब्दार्थः कथितः पूर्वसूरिभिः ॥

प्रेरयत्यत्र विद्विष्टानिति वीरो निश्च्यते ।'

(ख) वीररस के अधिदैवत 'नहेन्द्र' को नान्यत्वा का यह आधार है—

'वीरस्य यदधिष्ठान तद्वर्चनिति गम्यते ।

वीरो नहेन्द्रो यस्मात्तु सोऽयमस्याधिदैवतम् ॥'

(ग) साहित्यदर्पणकार ने 'वीर' के चार भेद बताये हैं । प्राचीन काव्याचार्यों का इन सन्ध नें नम्रमेद है । वैसे कि दशरूपककार ने ईश दया-युद्ध और दान के सन्ध से तीन प्रकार का हो 'वीररस' माना है—

'वीर' प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्वमोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।

उत्साहभूः स च दयाभरण-दानयोगात् त्रेधा क्लृप्तः नतिगर्वद्विप्रहर्षा ॥'

काव्यानुशासनकार काचार्य हेनचन्द्र ने नौ तीन प्रकार का हो वीररस माना है—

'नयादिविनाश-स्थैर्याद्यनुभावो हृत्पादित्यभिचार्युत्साहो धर्म-दान-युद्धभेदो वीरः ।'

किन्तु वही दशरूपककार ने दयावीर युद्धवीर और दानवीर को वीर-प्रकार बताया है वही काव्यानुशासनकार के अनुसार धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर ही वीररस के भेदत्रय के रूप में निश्चित होते हैं ।

नव्यदर्पणकार ने वीररस के प्रकारों की संख्या और नौ बता दी है—'स चानेकधा युद्ध-धर्म-दान-गुण-प्रतापावर्जनाद्युपाधिभेदात् ॥'

साहित्यदर्पणकार ने नव्यदर्पण का आशय दिया है और वीररस के चार भेदों का ही निर्धारण उचित समझा है ।

(घ) युद्धवीर-दानवीर और दयावीर का निम्नोद्धृत लघु ध्यान देने योग्य है—

'निरायुषस्याप्येकस्य हीनस्यापि परिच्छदैः ।

अभीतिर्वहुनिर्युद्धं व्यवसायो रणे नदः ।

हर्षः शस्त्रास्त्रवातेषु सनरादपलायनम् ॥

भीतानयप्रदानं च प्रपन्नस्यातिभञ्जनम् ।

एवं युद्धात्मको वीरस्तज्जैः कविनिररितः ॥

अर्थिनार्त्ताप्लितादर्थार्थं प्रदायैभ्योऽधिकं बहु ।

अर्थिनः पुनरापातान् स्वजनान्तिरारामपि ॥

यन्मानयति दानेन वाक्येन मधुरेण च ।

एतद्वानात्मको वीरः कथ्यते दानशीलिभिः ॥

व्याधि-कारिदण्ड-शस्त्रास्त्र-हृत्परिणामादिभीडितान् ।

अनुगृह्णाति यः प्रीत्या स वीरः स्याद् दयात्मकः ॥'

(भावप्रकाशन : च अर्थिनः)

सुत्रवाद—भयानकरस—'भयानक' वह रस है जिसे 'भय' रूप स्थायी भाव का

(८—अद्भुत रस)

अथाद्भुतः—

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः ॥ २४२ ॥

पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम् ।

गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २४३ ॥

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसंभ्रमाः ।

तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रक्रीतिताः ॥ २४४ ॥

वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः ।

यथा—

‘दोर्दण्डाश्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-

ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः’ ।

द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमितद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-

भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥’

यिमेति भ्रायति द्वेष्टि मुहुर्मुह्यति बुद्ध्यति ।

क्रन्दस्यपक्रामति च विपीदति च निन्दति ॥

दयते भ्राम्यति त्रस्यत्यास्ते तूष्णीं च गूहते ।

यत्ततो मानस-क्षोभजन्मा क्षोभस्त उच्यते ॥’

यह मानसिक क्षोभस्त सस्कृत काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र अभिव्यक्त किया गया है ।

अनुवाद—अद्भुत रस—

‘अद्भुत’ वह रस है जिसे ‘विस्मय’ के स्थायी भाव का अभिव्यञ्जन कहा करते हैं इसका वर्ण पीत है । इसके देवता गन्धर्व हैं । इसका आलम्बन अलौकिक वस्तु है । अलौकिक वस्तु का गुण-कीर्तन इसका उद्दीपन है । स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गदस्वर संभ्रम, नेत्रविकास आदि-आदि इसके अनुभाव हैं । इसमें वितर्क, आवेग, संभ्रम, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव परिपोषण का काम करते हैं ।

उदाहरण के लिये—(‘महावीरचरित’ में लक्ष्मण के ‘विस्मय’ का यह अभिव्यञ्जन, ‘ओह ! राम के भुजदण्डों पर चढ़े, शङ्कर के, पिनाक के खण्ड-खण्ड होने से उत्पन्न यह धनुष्टकार-निध्वान, बालराम के वीर्यावदानों का प्रस्तावक यह ढिण्डिमध्वान, अप्रचण्ड आघात से ब्रह्माण्ड-भाण्ड को तोड़ता-फोड़ता किं वा पुनः ओढ़ने वाला या भयङ्कर निर्घात, ओह ! अभी भी शान्त नहीं हो रहा !’)

विमर्श—अद्भुत रस के विभावों में दिव्य दर्शन, रूँक्षित मनोरथ-भूति, वनविहार, अलौकिक शिल्पदर्शन आदि-आदि की गणना की गयी है । ‘इन्द्रजाल’ को भी विस्मय का विभावक माना गया है । ‘इन्द्रजाल’ का अभिप्राय मन्त्र, द्रव्य अथवा इस्तलाघव आदि के द्वारा विचित्र विचित्र वस्तुओं का प्रदर्शन है । रम्य-दर्शन भी अद्भुतरस का एक विशिष्ट विभाव है । ‘अद्भुत’ के अनुभाव में नयनविस्तार, निर्निमेषवीक्षण, साधुवाद, गद्गद वचन आदि-आदि का विशेष महत्त्व है । हा आवेग आदि यद्वा व्यभिचारी भाव हैं । इनकी योजना से सहृदय हृदय में ‘विस्मय’ के स्थायी भाव की चर्चणा हुआ करती है जिसे अद्भुत रूप आस्वाद कहा करते हैं । निम्नसूक्ति में ‘विस्मय’ का एक रूप बताया गया है—

(९—शान्तरस)

अथ शान्तः—

शान्तः शमस्यायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ॥ २४५ ॥

कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।

अनित्यत्वादिनाञ्शेषवस्तुनिःसारता तु या ॥ २४६ ॥

परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।

पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ॥ २४७ ॥

महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।

रोमाञ्चाद्यानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २४८ ॥

निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ।

यथा—

‘रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरन्कन्यालवस्याध्वनैः

सत्रात्तं च सकौतुकं च सद्यं दृष्टस्य तैर्नगरैः ।

निर्व्याजीकृतचित्सुधारत्तनुदा निद्रायनाणस्य मे

नि.शङ्क करट कडा करपुटीभिन्ना विलुण्ठिष्यति ॥’

‘शिला कन्य घटे शिव शिव विद्युक्के कठिनता-

नहो नारीच्छायायनयति वनिताभूयनयते ।

वदत्येव राने विवर्लितमुखी वल्कलमु-

त्स्यले कृत्वा वदुष्व कचनरमुदस्याद् ऋषिवधू ॥’

(८) नरत मुनि के नाट्यरूप में अङ्गुरा के अतिदिव्य वस्त्रा नाने गये हैं (अङ्गुतो वस्त्र-
दैवत) । नावप्रकाशनाकार ने इन्हींमें कहा है—

वदुतस्याप्यधिष्ठान नानाशिरान्मिहैव धी ।

ब्रह्मणः सेयमस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ॥’

यहां विष्णुनाथ अतिरिक्त ने ‘नन्द’ के इन्का अतिदिव्य वस्त्र लिया है । विष्णुनाथ अतिरिक्त
को इस नाट्यका का कथा कुछ गायन आदि कहते हैं जिन्होंने अङ्गुत को ‘गन्धर्वदेव’ कहा है ।

अनुवाद—शान्तरस—

‘शान्त’ वह रस है जो कि ‘शम’ रूप स्यायी भाव का नास्वाद हुना करता है । इनके
आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति हैं । इनका वर्ण कुन्द-श्वेत अथवा चन्द्रश्वेत हैं । इसके
देवता श्रीनारायण नारायण हैं । अनित्यता किं वा क्षुब्धनयता आदि के कारण समस्त
सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान अथवा साक्षात् परमानन्दस्वरूप का ज्ञान ही
इनका ‘आलम्बन’ विभाव है । इनके उद्दीपन हैं पवित्र आश्रम, भगवान् की उल्लानूनिषां,
तीर्थ स्थान, रम्य कानन, साधु-सन्तों के संग आदि-आदि । रोमाञ्च आदि इसके अनुभाव हैं
और इसके व्यभिचारी भाव हैं—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, जीवदया आदि ।

उदाहरण के लिये—

‘मेरा कब ऐसा सौभाग्य होगा जब कि फटी-घटी गुदही लगे, गली-गली घूमने, सुत

पुष्टिस्तु महाभारतादौ द्रष्टव्या ।

(शान्त और दयावीर परस्पर भिन्न प्रकार के रस)

अस्य दयावीरादेः सकाशाद् भेदमाह—

निरहङ्काररूपत्वाद् दयावीरादिरेव नो ॥ २४९ ॥

दयावीरादौ हि नागानन्दादौ जीमूतवाहनादेरन्तरा मलयवत्याद्यनुरागादे रन्ते च विद्याधरचक्रवर्तित्वाद्याप्तेर्दर्शनादहङ्कारोपशमो न दृश्यते । शान्तस्तु

पर नगरनिवासी लोग कभी मस्त, कभी कुतूहलभरी और कभी दयापूर्ण दृष्टि से देख पायेंगे ! ओह ! वह कौन सा दिन होगा जब कि मैं पारमार्थिक आत्मानन्द रूप अमृत पान में मग्न, संसार से आखें फेर लगा और मेरे करपुट के भित्ता-कण निःशङ्क कौशल द्वारा चुन लिये जायेंगे ।

शान्तरस का परिपोष महाभारत आदि महाप्रवन्धों में दिखायी देता है और वहीं इसे देखना उचित भी है ।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने स्वात्मविश्रान्तिरूप 'शम' को शान्त का स्थायी भाव कहा है । जब कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के अनुसार तत्त्वज्ञानज 'निर्वेद' शान्त का स्थायी भाव है 'शान्त 'रस' है या नहीं'—इसके सम्बन्ध में भरतमुनि से लेकर बाद के काव्य-नाट्य कोविदों तक विभिन्न विचार चलते दिखायी देते हैं । भरत मुनि की मान्यता में शान्त एक अतिरिक्त रस है—इसका समीचीन समर्थन अभिनव भारती के पाठकों से छिपा नहीं है । '३३ व्यभिचारी भावों में अमङ्गलात्मक 'निर्वेद' की प्रथम गणना निर्वेदात्मक शान्त की स्थापना का उपक्षेप है' इस अभिप्राय से काव्यप्रकाशकार ने 'निर्वेद' स्थायी शान्त रस की सिद्धि की है । काव्यप्रकाशकार ने जिम 'निर्वेद' को शान्त का स्थायी माना है वह निर्वेद दारिद्र्यादि-प्रभव निर्वेद नहीं अपितु तत्त्वज्ञान-प्रभव निर्वेद है । यहाँ विश्वनाथ कविराज ने शम को जो शान्तरस का स्थायी भाव स्वीकार किया है वह भी प्राचीन मान्यता का ही एक अनुसरण है । काव्यानुशासनकार ने 'शम' को ही शान्त का स्थायी भाव माना है और शम का अभिप्राय 'तृष्णाक्षय' लिया है—

'वैराग्यादिविभावो यमाद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचारी शम' शान्तः—वैराग्यसंसार भीरुतातत्त्वज्ञानवीतरागपरिशीलनपरमेश्वरानुग्रहादिविभावो यमनियमाध्यात्मशास्त्रचिन्तनाद्यनुभावो धृतिस्मृतिनिर्वेदमत्यादिव्यभिचारी तृष्णाक्षयरूपः शमः स्थायिभावश्चर्वणः प्राप्तः शान्तो रसः' (काव्यानुशासन २-१७)

नाट्यदर्पणकार के भी अनुसार 'शम' ही शान्त का स्थायी भाव है—

'संसारमय-वैराग्य-तत्त्व-शास्त्रविमर्शनः ।

शान्तोऽभिनयन तस्य क्षमा ध्यानोपकारतः ॥'

देव-मनुज्य-नारक-तिर्यग्रूपेण बहुधा परिभ्रमण संसार, तस्माद् भयम् । वैराग्यं विषय वैमुख्यम् । तत्त्वस्य जीवाजीव-पुण्यपापादि-रूपस्य, शास्त्रस्य मोक्षहेतु प्रतिपादकस्य विमर्शनं पुनः पुनश्चेतसि न्यसनम् । एवमादिभिर्विभावैः काम क्रोध-लोभ-मान-मायाद्यनुपरकं परोन्मुखता-विवजिताकृष्टिचेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति । (नाट्यदर्पण ३ व विवेकः)

अनुवाद—'दयावीर' और 'शान्त' का परस्पर भेद यह है—

'दयावीर' में तो अहङ्कार की मात्रा रहा करती है किन्तु 'शान्त रस' ऐसा है जिसमें (शम के स्थायी होने से) अहङ्कार का किञ्चिन्मात्र भी सञ्जाव असंभव है ।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—'नागानन्द' नाटक का रस 'दयावीर' है

सर्वाकारेणाहङ्कारप्रशमैकरूपत्वान्न तत्रान्तर्भावमर्हति । ततश्च नागानन्दादेः
शान्तरसप्रधानत्वमपास्तम् । ननु—

‘न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।

रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥’

इत्येवरूपस्य शान्तस्य मोक्षवस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तत्र
स्वार्थादीनामभावान् कथं रसत्वमित्युच्यते—

युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः ।

रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विशुद्धा ॥ २५० ॥

यश्चास्मिन्सुखाभावोऽप्युक्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः । उक्तं हि—

‘यत्र कामसुखं लोके यत्र दिव्यं महत्सुखम् ।

वृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतं षोडशीं कलाम् ॥’

‘सर्वाकारमहङ्काररहितत्वं व्रजन्ति चेत् ।

अत्रान्तर्भावमर्हन्ति दयावीरादयस्तथा ॥’

सके नायक जीमूतवाहन के हृदय में अहङ्कार का भाव शान्त नहीं होता । कहां तो
जीमूतवाहन नायक का, रह-रह कर मलयवती का प्रेम-चित्रण और अन्ततोगत्वा विद्याधर-
साम्राज्य का चक्रवर्तित्व-लाल । और कहां अहङ्कार का पूर्ण शमन ! ‘दयावीर’ में शान्तरस
और अन्तर्भाव सर्वथा अतन्मय है । ‘दयावीर’ में अहङ्कार की मात्रा मिली है और शान्तरस
है सर्वथा अहंता-भ्रमता के भावों का प्रशमन-स्वरूप ! जो लोग ‘नागानन्द’ आदि
को शान्तरस का नाटक-प्रवन्ध माना करते हैं उनकी यह नान्यता सर्वथा निर्मूल ही
प्रतीत होती है ।

यहां कुछ लोगों का कहना है—‘शान्त’ को तो रस ही नहीं माना जा सकता ॥ ‘शान्त’
का स्वरूप है—‘दुःख-निर्मुक्त, सुख-निर्लिप्त, चिन्ताशून्य, द्वेषरहित, रागवर्जित, समस्त
कामनाओं से उत्तीर्ण, समलोष्टाशमकाञ्चन, एक अनिर्वचनीय स्वरूप और यही वह स्वरूप
है जिसे मुनिजन समझाते आते हैं ।’ अब, जब कि शान्त के इस स्वरूप का अनुभव उस
नोच अथवा परमानन्द स्वरूप-प्राप्ति में ही सम्भव है जिसमें (विभावादि का विभावन और)
व्यभिचारी भावों का परिपोषण कदापि संभव नहीं, तब इसे ‘रस’ मानने से क्या लाभ ।

किन्तु इस शङ्का का यह समाधान रहा—

जो ‘शम’ शान्त रस का स्थायीभाव हुआ करता है वह उस प्रकार का ‘शम’ है जो
कि युक्त (ब्रह्मध्यानमग्न) किंवा वियुक्त (सिद्ध) अवस्थाओं में विराजमान रहा करता
है । इस दृष्टि से इसमें व्यभिचारिभावों के परिपोष आदि की चर्चा असंगत नहीं (अपि तु
सर्वथा मगत है) ।

यहां ‘सुखभाव’ की जो विशेषता (जैसे कि ‘न यत्र दुःखं न सुखं’ आदि में) मानी
गयी है उसका अनिप्राय ‘वैषयिक सुखभाव’ का है । इसलिये ‘शम’ (रूप परमसुख)
और ‘सुखभाव’ में कोई विरोध नहीं । तभी तो कहा गया है—
‘क्या लौकिक विषय-सुख और क्या जलौकिक स्वर्ग-सुख—ये कोई भी ऐसे नहीं जो

वृष्णाशमन के सुख की सोलहवीं कला की भी बराबरी कर सकें !’
‘शान्त रस ही वह समुद्र है जिसमें यदि दयावीर आदि-आदि सभी प्रकार की अहंता-
भ्रमता के भावों से निर्मुक्त हो जाय तो डूबते-उतरते दिखायी देने लगें ।’

आदिशब्दाद्धर्मवीरदानवीरदेवताविषयकरतिप्रभृतयः ।

तत्र देवताविषया रतिर्यथा—

कदा वाराणस्यामिह सुरधुनीरोधसि वसन्

वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।

अये गौरीनाथ ! त्रिपुरहर ! शंभो ! त्रिनयन !

प्रसीदेति क्रोशन् निमिपमिव नेप्यामि दिवसान् ॥

वत्सल रस : भरतमुनि की मान्यता

अथ मुनीन्द्रसंमतो वत्सलः—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।

स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ २५१ ॥

यहाँ (ऊपर उद्धृत सूक्ति में 'दयावीरादयः' पद में) जो 'आदि' पद प्रयुक्त है उसका अभिप्राय धर्मवीर, दानवीर, देवताविषयक रति आदि-आदि के समुच्चय का अभिप्राय है। जैसे कि देवताविषयक रति भाव का यह अभिव्यञ्जन (जो कि शान्तरस में ही अन्तर्भूत प्रतीत हो रहा है)—

'वह दिन कब आयगा जब मैं काशीपुरी में, भगवती भागीरथी के किनारे रहने लगूंगा, कौपीन पहनने लगूंगा और सिर पर हाथ जोड़े 'हे गौरीनाथ ! हे त्रिपुरान्तक ! हे शंभो ! हे त्रिलोचन ! दया करो दया करो' धोल्ते-धोल्ते अपने जीवन के दिनों को आनन्द के एक क्षण की भाँति बिता सकूंगा !'

विमर्श—(क) 'शम' प्रधान शान्तरस का अन्यत्र अन्तर्भाव असम्भव है—इस सम्बन्ध में कान्यानुशासनकार की ये पक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

'न चास्य (शान्तस्य) विषयजुगुप्सारूपत्वाद् वीभत्सेऽन्तर्भावो युक्तः । जुगुप्सा ह्यस्य व्यभिचारिणी भवति न तु स्थायितामेति । पर्यन्तनिर्वाहे तस्या मूलत एव उच्छेदात् ।' न च धर्मवीरेः, तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात् । अस्य चाहङ्कार-प्रशमैकरूपत्वात् । तथापि तयोरेकत्वपरिकल्पने वीररौद्रयोरपि तथा प्रसङ्गः । धर्मवीरादीनां चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वे शान्तरसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीररसप्रभेदत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद् विरोधः ।' (कान्यानुशासन २ १७)

(ख) जब कि 'शम' शान्त का स्थायीभाव है तब तो समस्त लौकिक किंवा अलौकिक चित्तवृत्तियाँ इसके व्यभिचारी भाव के रूप में ही मानी जा सकती हैं। किन्तु तब भी जुगुप्सा, निर्वेद आदि का परिपोष यहाँ विशेष रूप से अनुभव सिद्ध है जैसा कि माना भी गया है—

(ग) शान्त की अतिरिक्त मान्यता का एक कारण है जैसा कि कहा भी गया है—

'यथा च कामादिषु पुरुषार्थेषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कविनटव्या-पारेणास्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसवादवत् सामाजिकान् प्रति रसत्वं शृङ्गारादितया नीयन्ते, तथा मोक्षमिधानपरपुरुषार्थोपचितापि शमरूपा चित्तवृत्तौ रसता नीयते इति ।'

अर्थात् जैसे पुरुषार्थचतुष्टय में मोक्ष का पार्यन्तिक महत्त्व सिद्ध है वैसे ही रसों में भी शान्त का पार्यन्तिक आस्वाद सिद्ध ही है ।

साहित्यदर्पणकार ने इसी भावना से प्रेरित हो 'शान्त' की सिद्धि की है ।

अनुवाद—भरतमुनि की मान्यता में १० वां रस वत्सलरस—भरतमुनि आदि काव्य-

उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।

आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥ २५२ ॥

पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।

सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ॥ २५३ ॥

पद्मगर्भच्छर्विर्वर्णो दैवतं लोकमातरः ।

यथा—

‘यदाह धात्र्या प्रथमोदित वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाद्भुलीम् ।

अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥’

नाट्य-कोविदों ने एक और भी रस मान रखा है और वह रस है ‘वत्सल रस’ । इसे इसलिये रस माना गया है क्योंकि इसका चमत्कार अन्य रसों के चमत्कार से अतिरिक्त प्रकार का ही आनन्द है । इसका जो स्थायी भाव है वह ‘वात्सल्य प्रेम’ है । ‘आलम्बन’ (वात्सल्य स्नेह को भाजन) पुत्र आदि हैं । यहा पुत्रादि की चेष्टाओं में, उनकी विद्या, शूरता, दया आदि-आदि उद्दीपन विभाव का कार्य करते हैं । आलिङ्गन, अङ्गस्पर्श, शिरश्चुम्बन, सस्नेह वीक्षण, रोमाञ्च, आनन्दाश्रु आदि-आदि इसके अनुभाव हैं । इसके व्यभिचारीभावों में अनिष्टाशङ्का, हर्ष, गर्व आदि-आदि का समावेश है । इसका वर्ण ‘पद्मगर्भ वर्ण’ (शुभ्र-पीत) है और इसके देवता गौरी आदि षोडश मातृचक्र हैं । उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के रघुवंश में दिलीप के रघु-प्रेम का ‘वात्सल्य-रस’ में यह अभिव्यञ्जन)—

‘शिशु रघुकुमार ने पिता दिलीप को प्रसन्नता से भर दिया । धाई के सिखाये ‘मां’ आदि शब्दों को घोलते-नुतलाते, धाई की अगुली पकड़ कर चलते-फिरते, धाई के सिखाने से बड़े-बूढ़ों को प्रणाम करते, सभी प्रकार की वाललीला से बालक ने पिता को प्रसन्न कर दिया ।’

विमर्श—व्यञ्जनार्थशिष्य और पुरुषार्थोपयोग के कारण, रत्यादि चित्तवृत्तिओं के अभिव्यञ्जन और आस्वादन को ९ रस माना गया है किन्तु कतिपय आचार्य इनके अतिरिक्त भी कतिपय चित्तवृत्तिओं को अभिव्यञ्जना माना करते हैं और ९ रसों के अतिरिक्त १० वें अथवा ११ वें रस की गाना किया करते हैं । अभिनवभारतीकार ने गर्हस्थायी ‘लौल्यरस’, आर्द्रतान्थायी ‘स्नेहरस’, आदि-आदि कतिपय अतिरिक्त रसों का नाम-निर्देश किया है । विश्वनाथ कविराज ने ‘वत्सलना स्नेह’ के अभिव्यञ्जन-आस्वादन को वत्सलरस के रूप में मान लिया है । काव्यप्रकाशकार के अनुसार ‘वत्सल’ कोई अतिरिक्त रस नहीं अपि तु वात्सल्य रूप रति का ही अभिव्यञ्जन है और ‘भावध्वनि’ में अन्तर्भूत है । काव्यप्रकाशकार का यह मान्यता प्राचीन परम्परा ने तो अनुप्राणित है ही, युक्तियुक्त भी है । वैसे तो किन्हीं को किन्हीं भी चित्तवृत्ति का आस्वाद चमत्कारजनक लग सकना है किन्तु सभी चित्तवृत्तिओं के अभिव्यञ्जन-आस्वादन के आधार पर यदि रस-माना जाये तो तब तो रस की संख्या बहुत बड़ी हो जायगी । १२ ‘सख्या-नौरव’ से बोर टाभ भी न होगा । ‘वात्सल्य’ की अभिव्यक्ति को ‘वत्सलरस’ मानने वाले आचार्य के लिये भगवद्गुण-रक्तिरूप भक्ति के आस्वाद को भी ‘भक्तिरस’ मानना उचित था । ‘भक्तिरस’ को अतिरिक्त रस न मानकर ‘वत्सल’ को अतिरिक्त रस मानने का कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत होता ।

रसों का परस्पर विरोध

एतेषां च रसानां परस्परविरोधमाह—

आद्यः करुणवीभत्सरौद्रवीरभयानकैः ॥ २५४ ॥

भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक् ।

करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः ॥ २५५ ॥

रौद्रस्तु हास्यशृङ्गारभयानकरसैरपि ।

भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः ॥ २५६ ॥

शृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः ।

शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्यभयानकैः ॥ २५७ ॥

शृङ्गारेण तु वीभत्स इत्याख्याता विरोधिता ।

(परस्पर विरुद्ध रस विरोध-परिशमन-सकेत)

आद्यः शृङ्गारः । एषां च समावेशप्रकारा वक्ष्यन्ते ।

कुतोऽपि कारणात्कापि स्थिरतामुपयन्नपि ॥ २५८ ॥

उन्मादादिर्न तु स्थायी न पात्रे स्थैर्यमेति यत् ।

अनुवाद—इन उपर्युक्त रसों में परस्पर विरोधी भी हैं और इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) 'शृङ्गार' के विरोधी रस हैं—करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक ।

(२) हास्य के विरोधी रस हैं—भयानक और करुण ।

(३) करुण के विरोधी रस हैं—हास्य और शृङ्गार ।

(४) रौद्र का विरोध हास्य, शृङ्गार और भयानक रस से है ।

(५) वीररस का विरोध भयानक और शान्तरस से है ।

(६) भयानकरस शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त से विरुद्ध पड़ता है ।

(७) शान्तरस वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक का विरोधी है । और

(८) वीभत्स रस का विरोधी रस शृङ्गार है ।

यहाँ (कारिका में) 'आद्य' पद का अभिप्राय 'शृङ्गार' का है (क्योंकि यह सर्वप्रथम रस है) ।

विमर्श—रसों के पारस्परिक विरोध के कुछ कारण हैं । इन कारणों में ये मुख्य हैं—

(१) एक प्रक्रम में दो स्वतन्त्र रसों का समावेश ।

(२) दो समानबल रसों का एकाधिष्ठान ।

(३) दो समानबल रसों का अव्यवहित अभिव्यञ्जन । इसीलिये यह कहा गया है—

‘एकत्र स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्योगे विरुद्धता’ (नाट्यदर्पण ३ य विवेक)

और यह भी—

‘उभौ शृङ्गारवीभत्सावुभौ वीरभयानकौ ।

रौद्रादमुतावुभौ हास्यकरुणौ प्रकृतिद्विषौ ॥

यथा विक्रमोर्वशीयां चतुर्थेऽङ्के पुरुरवस उन्मादः ।

(व्यभिचारी भावों की आपेक्षिक स्थिरता में भी अस्थायित्व)

(भावादिप्रधान वाक्य भी काव्य ही है)

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ ॥ २५९ ॥

सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ।

रसनयर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः ।

स्वभाववैरिणोरङ्गाङ्गिभावेनापि मिश्रणम् ।

विवेकिभ्यो न स्वदत्ते गन्धगन्धकयोरिव ॥'

(रत्नगर्वसुधाकर : २ व विलान)

अनुवाद—अभी-अभी जिन-जिन रसों का परस्पर विरोध बताया गया है उनमें सहावस्थान (एक साथ स्थिति) भी सम्भव है और आगे (दोष-परिच्छेद में) इसका निरूपण भी कर दिया जायगा ।

विमर्श—परस्पर स्वभाव-विरुद्ध रसों का महानिर्व्यञ्जन इन नियमों के अनुपालन में सम्भव है—

(१) आश्रय-भेद ने अनिव्यञ्जन, जैसे कि नायक के आश्रय से 'वीर' और प्रतिनायक के आश्रय से 'नयानक' का एकत्र अनिव्यञ्जन ।

(२) एक रस को परस्पर दना कर उसके विरोधी का वहीं अनिव्यञ्जन ।

(३) एक मुख्य रस को अधीनता में दो विरुद्ध रसों का प्रकाशन ।

(४) एक हीनबल और दूसरे अधिकबल-दो विरुद्ध रसों का अनिव्यञ्जन ।

(५) अन्य रस के व्यवधान ने दो परस्पर विरुद्ध रसों का अनिव्यञ्जन ।

अनुवाद—कभी ऐसा भी सम्भव है कि किसी नायकादि में, किसी कारणवश, उन्माद आदि व्यभिचारी भाव स्थिर भाव के रूप में प्रतीत होने लगें किन्तु तब भी इन्हें स्थायी-भाव का पद नहीं मिल सकता क्योंकि ऐसा असम्भव है कि ये भाव नायकादि हृदय में कारणभ से अन्त तक अविविच्छिन्न रूप से स्थायी बने रहें ।

उदाहरण के लिये, (महाकवि कालिदास की) 'विक्रमोर्वशी' में पुरुरवा का जो उन्माद वर्णित है वह चतुर्थअङ्क पर्यन्त स्थिर रूप से विराजमान रहने पर भी 'स्थायीभाव' नहीं (क्योंकि 'विक्रमोर्वशी' का स्थायीभाव तो 'रति' भाव है जो कि अन्यत्र सर्वत्र अनिव्यञ्ज हुआ है) ।

अतः तक तो यह निश्चय ही हो चुका कि जिसे 'काव्य' कहते हैं वह 'रमात्मक वाक्य' है । किन्तु 'रस' के ज्ञानन्दात्मक अनुभव-स्वरूप होने से रमात्मक, भावात्मक, रमाभासात्मक, भावाभासात्मक, भावप्रतानात्मक, भावोदयान्तक, भावमन्ध्यात्मक किंवा भावशबलात्मक भी वाक्य 'काव्य' ही माने जाया करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जैसे 'रस' में आत्वाद्-विषयता रहा करती है वैसे ही भावादि में (भाव से लेकर भावशबलता तक में) भी, इसलिये भावाद्यात्मक वाक्य भी उपचारात् रमात्मक वाक्य ही माने जाया करते हैं । (इस प्रकार रमात्मक वाक्य की परिधि में ही भावात्मक, रसाभासात्मक आदि वाक्य भी समा जाते हैं और ये आत्वादजनक अष्टविध वाक्य-प्रकार 'काव्य' माने जाया करते हैं ।

विमर्श—विश्वनाथ बहिराज ने यहाँ निरावलोचन-न्याय ने भावात्मक और भावाभासात्मक आदि वाक्य-प्रकारों को 'रमात्मक' वाक्य रूप में देखा है । 'रमात्मक वाक्य ही काव्य है' इस

('भाव'—(भावकाव्य) निरूपण)

भावादय उच्यन्ते—

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ॥ २६० ॥

उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।

‘न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः ॥’

इत्युक्तदिशा परमालोचनया परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव वर्तमानं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवदापाततो यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणः देवमुनिगुरुनृपादिविषया च रतिरुद्बुद्धमात्रा विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्याः ।

तत्र व्यभिचारी यथा—

सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य के लिये ऐसा करना सर्वथा उचित भी है । नाट्यदर्पणकार की भी यही सम्मति है—

‘न तथाऽर्थशब्दोत्प्रेक्षा श्लाघ्या काव्ये यथा रसः ।

विपाककमन्त्रमप्याम्रमुद्वेजयति नीरसम् ॥

न हि नवनवार्थव्युत्पन्नशब्दप्रथनमेव काव्यम्, तर्कन्याकरणयोरपि तथा भावप्रसङ्गात्, किन्तु विचित्ररसपवित्रशब्दार्थनिवेशः । विपाककमनीयमपि सहकारफल विरसमुद्वेगमावहति । अतः शब्दार्थमात्रशरणाः शुष्ककवयो यमक-श्लेषादीनामेव निबन्धमर्हन्ति, न तु रसैकशरणस्य नाट्यस्येति ।’ (नाट्यदर्पण . ३ य विवेक)

अनुवाद—भावादि का स्वरूप-निर्देश किया जा रहा है—

प्रधान रूप से प्रतीयमान व्यभिचारीभाव, देवादि विषयक रति किंवा उद्बुद्धमात्र रत्यादिरूप स्थायीभाव की अभिव्यक्ति का नाम ‘भाव’ है ।

इस काव्य-नाट्य-शास्त्र-भर्यादा के अनुसार कि—‘न तो भाव के बिना रस है और न रस के बिना भाव । रस और भाव की निष्पत्ति तो परस्पर साहाय्य पर निर्भर है ।’ यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो यही निःसदिग्ध प्रतीत होगा कि यद्यपि (निर्वेदादिरूप) व्यभिचारीभाव (काव्य-नाट्य में) परम विश्रान्ति धाम रूप से विराजमान रस के ही सहचारी रूप से रहा करते हैं किन्तु जैसे किसी राजभृत्य के विवाह में राजा की प्रधानता की अपेक्षा राजभृत्य की ही प्रधानता रहा करती है वैसे ही किसी काव्य में भी, रस की अपेक्षा, प्रधानतया अभिव्यङ्ग्य व्यभिचारिभावों की भी प्रधानता पता चला करती है । अब इस प्रकार के (अर्थात् प्रधानरूप से अभिव्यङ्ग्य) जो व्यभिचारीभाव हैं उन्हें ही सर्वप्रथम ‘भाव’ कहा जाया करता है । इनके अतिरिक्त प्रधानतया प्रतीयमान देवविषयक रति, मुनिविषयक रति, गुरुविषयक रति और नृपादिविषयक रति को भी ‘भाव’ ही कहा करते हैं । साथ ही साथ, ऐसे स्थायीभाव भी, जो समुचित विभावादि द्वारा पूर्णतया विभावित तथा परिपुष्ट न हो पाये हों और इसलिये ‘रस’ रूप में आस्वाद के विषय न बन सके हों, ‘भाव’ ही माने गये हैं ।

(१) प्रधानतया अभिव्यङ्ग्य व्यभिचारीरूप ‘भाव’ का निर्दर्शन—

‘एवंवादिनि देवर्षी—’ इत्यादि । अत्रावहित्या ।

देवविषया रतिर्यथा मुकुन्दमालायाम्—

‘दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक ! प्रकामम् ।

अवधीरितिशारदारविन्दौ चरणौ ते नरखेऽपि चिन्तयामि ॥’

मुनिविषया रतिर्यथा—

‘मिलोकनेनैव तवामुना मुने ? कृतः कृतार्योऽस्मि निवर्हितां हस्ता ।

तथापि शुक्रपुहं गरीयसीगिरोऽथवा श्रेयसि केन वृष्यते ॥’

राजविषया रतिर्यथा मन—

‘त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूतीपटपङ्क्तितान् ।

न घत्ते शिरसा गङ्गां मूरिनारमिया हरः ॥’

एवमन्यम् ।

उद्धुद्धनात्रस्यापिभावो यथा—

‘हरस्तु किंचित्तरिवृत्तवैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवान्धुराशिः ।

उनामुखे विन्वन्तावरोष्ट्रे व्यापारधनात् विलोचनानि ॥’

‘एवंवादिनि देवर्षी’ इत्यादि (हजारमनव की) सृष्टि इस सृष्टि में ‘अवधिया’ का व्यभिचारीभाव ही प्रधानरूप से अभिव्यक्त है (जिससे यह सृष्टि नावान्तक होने से काव्यात्मक हो गयी है) ।

(२) अनिच्छद्देव देवविषयक रतिरूप ‘भाव’ का उदाहरण—‘मुकुन्दमाला’ की यह सृष्टि—

‘हे नरकान्तक ! हे भगवान् ! चाहे मैं स्वर्ग में रहूँ, चाहे पृथ्वी पर रहूँ या नरक में ही रहा करूँ, जहाँ भी रहूँ, वस शरत्कालीन कमल में भी अविश्व रमणीय ज्ञान के चरण हों, नरते इन तक, मेरे ध्यान में विराजते रहें ।’

अथवा

अनिच्छद्देव मुनिविषयक रतिरूप ‘भाव’ का उदाहरण (शिरःस्त्वच की सृष्टि)—

‘महर्षिवर ! आपका दर्शन ही ममस्त पाप-सन्तान का शमन करने वाला है । मैं तो ह्वार्य हो गया । अब एक कल्याण है और वह है आपका आदेश-पवन । लोग तो एक कल्याण के बाद दूसरा कल्याण चाहते हैं । मला कल्याण से कौन दूत होता है ।’

अथवा

अनिच्छद्देव राजविषयक रतिरूप ‘भाव’ का उदाहरण—मेरी स्तवचिन्ता सृष्टि—

‘महाराज ! अब जब कि आपके सैन्यबल के अगणित सूर्यों की दल में पैदा हुई धूलिराशि ने गङ्गा का जल संकट होकर भारी हो कर तब, भद्र, शिव के क्या मान्य कि निर पर गङ्गा का भर रह लें !’

इसी भाँति अन्यान् पृथ्वीविषयक रतिरूप की अनिच्छद्देवता में अन्यविषय भाव के उदाहरण स्वयं देते जा सकते हैं ।

(३) उद्धुद्धनात्र (जब पूव उपरिष्ठ) स्थायीभावरूप ‘भाव’, जैसे कि—(हजारमनव की इन सृष्टि में) ।

‘भगवान् दक्ष ने पार्वती के देखा और चन्द्रोदय के समय लक्ष्मी होते (उमड़ते)

अत्र पार्वतीविषया भगवतो रतिः ।

ननूक्त प्रपाणकरसवद्विभावादीनामेकोऽत्राभासो रस इति । तत्र सञ्चारिणः पार्थक्याभावात्कथं प्राधान्येनाभिव्यक्तिरित्युच्यते—

यथा मरिचखण्डादेरेकीभावे प्रपाणके ॥ २६१ ॥

उद्रेकः कस्यचित्क्वापि तथा सञ्चारिणो रसे ।

(रसाभास और भावाभास)

अथ रसाभासभावाभासौ—

अनौचित्यप्रवृत्तत्वं आभासो रसभावयोः ॥ २६२ ॥

अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे एकदेश-योगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम् ।

पारावार की भाँति कुछ-कुछ अधीर हो उठे । तब क्या था ! उनकी भावभरी निगाहें बिम्बाधर-सुन्दर पार्वती-मुख पर रह-रह कर पड़ने लगीं ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि शिव-हृदय का पार्वतीविषयक रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है (जिससे यह सूक्ति भावात्मक बन गयी है और भावात्मक बनने के कारण रसात्मक हो रही है) ।

यहाँ यह शका हो सकती है कि जब कि रस प्रपाणक-रस की भाँति ही (जो कि शर्करा, मरिच, कर्पूर आदि का सम्मिश्रित एकघन आस्वाद है) विभावादि से संयुक्त रत्यादि का एकघन सम्मिश्रित आनन्द-चमत्कार है तब पृथक्तया अवस्थित व्यभिचारी भाव की प्रधानरूप से अभिव्यक्ति कैसे संभव है ? किन्तु इसका समाधान यह है—

'रस और प्रपाणक का साधर्म्य तो चतुरस्र ही है । जैसे शर्करा, मरिच, कर्पूर आदि का सम्मिश्रित आस्वाद प्रपाणक का आस्वाद है वैसे ही विभावादि-सम्मिश्रित रत्यादि रूप स्थायी भाव का आस्वाद रस का आस्वाद है । किन्तु कभी जैसे प्रपाणक के ही आस्वाद-जनक तत्त्वों में किसी एक का आस्वाद उत्कट रूप से प्रतीत होने लगता है वैसे ही यह भी संभव है कि कभी रस के ही अभिव्यञ्जक तत्त्वों में किसी एक जैसे कि व्यभिचारी भाव का ही आस्वाद उद्भूत रूप से अनुभव किया जाने लगे । इस प्रकार कभी पृथक्तया व्यभिचारी भाव की प्रधानरूप से प्रतीति में कोई आपत्ति कहाँ !'

अनुवाद—रसाभास और भावाभास—रस और भाव ही यदि किसी अनौचित्य के साथ विराजमान प्रतीत हों तो 'रसाभास' और 'भावाभास' माने जाया करते हैं ।

यहाँ 'अनौचित्य' का अभिप्राय यह है—भरतमुनि प्रभृति काव्य-नाट्य-कोविदों ने रसों का जो लक्षण किया है उसमें उनकी सम्पूर्ण अभिव्यञ्जनासामग्री का भी निरूपण कर दिया है । इस प्रकार अविकल रूप से अभिव्यक्त रत्यादि रूप स्थायीभाव तो 'रस' हुये । किन्तु ऐसा भी संभव है कि इन रसों की विकल अभिव्यञ्जना हो, ऐसी अभिव्यञ्जना हो जिसमें इनकी सम्पूर्ण सामग्री का सहयोग न दिखायी दे अर्थात् एकदेशीय अभिव्यञ्जना हो । ऐसी अवस्था में जो रस और भाव अभिव्यक्त हुआ करते हैं उन्हें ही 'रसाभास' और 'भावाभास' समझा जाया करता है ।

तत्र बालव्युत्पत्तये एकदेशतो दृश्यते—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।

बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥ २६३ ॥

प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते ।

शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ॥ २६४ ॥

शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये ।

ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे ॥ २६५ ॥

उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र ।

तत्र रतेरुपनायकनिष्ठत्वे यथा नन—

‘त्वानो नुग्रहतरो वनं घनमिदं बालाऽहमेवाकिनी

क्षोणीमावृणुते तनालनलिनच्छाया तन सन्ततिः ।

तन्मे सुन्दर ! सुद्ध, कृष्ण ! सहसा वर्त्तेति गोप्या गिर

श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः ॥’

इत्त ‘जनौचित्य’ का साधारण परिचय यह है—

(१) शृङ्गार में ‘जनौचित्य’ (‘शृङ्गारानाम’) (क) नायक के बदले उपनायक-विषयक रतिभाव का लभिव्यञ्जन, (ख) मुनिपत्नी किंवा गुरुपत्नी-विषयक रतिभाव का लभिव्यञ्जन, (ग) बहुनायक-विषयक रतिभाव का लभिव्यञ्जन, (घ) केवल नायक-विषयक जयवा केवल नायिका-विषयक रतिभाव का लभिव्यञ्जन, (ङ) प्रतिनायक-विषयक नायिकानिष्ठ रतिभाव का लभिव्यञ्जन, (च) अधम-प्रकृतिविषयक रतिभाव का लभिव्यञ्जन और (छ) पशु-वर्जनिष्ठ रतिभाव का लभिव्यञ्जन ।

(२) रौद्र में ‘जनौचित्य’ (‘रौद्रानाम’)—गुरु-विषयक क्रोध का लभिव्यञ्जन, दिव-विषयक क्रोध का लभिव्यञ्जन आदि आदि ।

(३) शान्त में ‘जनौचित्य’ (‘शान्तानाम’) नीचनिष्ठ मनभाव का लभिव्यञ्जन ।

(४) हास्य में ‘जनौचित्य’ (‘हास्यानाम’)—गुरु आदि के जालम्बन में हान की लभिव्यक्ति ।

(५) वीर में ‘जनौचित्य’ (‘वीरानाम’)—ब्राह्मण आदि के वधमन्त्रवादी उन्माह की लभिव्यक्ति किंवा अधमपात्रनिष्ठ उन्माह की लभिव्यक्ति ।

(६) भयानक में ‘जनौचित्य’ (‘भयानकानाम’)—उत्तम-प्रकृतिगत भय का लभिव्यञ्जन ।

इसी भाँति कर्तादि रसों के जनौचित्यपूर्वक अवस्थान में ‘कल्याणानाम’ आदि नव्य मनमें जा सकते हैं ।

उदाहरण के लिये—उपनायकनिष्ठ रति के लभिव्यञ्जन में ‘शृङ्गारानाम’, जे कि नेरी स्वरचित सूक्ति में ही स्पष्ट है—

‘गोपी बोल रही है—‘हृदया’ मेरा रास्ता छोड़ दे, मेरे न्वानी नाँचे-माँचे बहरे, यह वन बहुत नवन है, मैं अकेली एक बाला छूरी और तनाल की नाँति काटा अधेरा चारों ओर घेरना जा रहा है किन्तु कृष्ण यह सब सुन लेने हैं और अपने जालिन्-बास

बहुनायकनिष्ठत्वे यथा—

‘कान्तास्त एव भुवनत्रितयेऽपि मन्ये

येषां कृते सुतनु । पाण्डुरयं कपोलः ।’

‘पश्चादुभयनिष्ठत्वेऽपि प्रथममेकनिष्ठत्वे रतेराभासत्वम्’ इति श्रीमल्लो-
चनकाराः ।

तत्रोदाहरणं यथा—रत्नावल्यां सागरिकाया अन्योन्यसंदर्शनात्प्राग्वत्स-
राजे रतिः ।

प्रतिनायकनिष्ठत्वे यथा—हयग्रीववधे हयग्रीवस्य जलक्रीडावर्णने ।

अधमपात्रगतत्वे यथा—

‘जघनस्थलनद्धपत्रवल्ली गिरिमल्लोकुसुमानि कापि भिल्ली ।

अवचित्य गिरौ पुरो निषण्णा स्वकचानुत्कचयाञ्चकार भर्त्रा ॥’

में उसे घाँघ लेते हैं । ऐसे कामकलाव्यसनी कृष्ण से यही प्रार्थना है कि वे आप सब की रक्षा करें ।’

अथवा, बहुनायकनिष्ठ रतिभाव के अभिव्यञ्जन में ‘शृङ्गाराभास’—

‘अरी सुन्दरी ! मुझे तो यही लगता है कि इस त्रिभुवन में वे सभी लोग तेरे प्रेमपात्र हैं जिनके विरह में तेरे गाल पीले-पीले दीख रहे हैं ।’

अथवा अनुभयनिष्ठ (केवल नायक अथवा केवल नायिका-निष्ठ) रति के अभिव्यञ्जन में ‘शृङ्गाराभास’—

‘मालती-माधव’ में नन्दन के हृदय में मालती के प्रति प्रेम इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण है ।

इस ‘अनुभयनिष्ठ रति’ के अभिव्यञ्जन में ‘शृङ्गाराभास’ के सम्बन्ध में ध्वन्यालोक-
लोचन के रचयिता (अभिनवगुप्तपादाचार्य) ने यह कहा है—

‘ऐसी ‘रति’ रत्याभास ही है जो कि बाद में भले ही दोनों (नायक और नायिका) के हृदय में विराजने लगे, पहले पहल तो एक ही (नायक अथवा नायिका) के हृदय में उत्पन्न हुई है ।’

इस प्रकार की भी रति की अभिव्यञ्जना के उदाहरण उपलब्ध होते हैं । जैसे कि—
‘रत्नावली’ में सागरिका के हृदय में वत्सराज के प्रति उद्भूत रतिभाव रत्याभास ही है ।
यह दूसरी बात है कि सागरिका और वत्सराज के परस्पर-दर्शन के बाद यह रतिभाव सागरिका और वत्सराज का पारस्परिक प्रेम बन्ध बन गया है ।

अथवा, प्रतिनायक-निष्ठ रतिभाव के अभिव्यञ्जन में ‘शृङ्गाराभास’—‘हयग्रीव-वध’
नामक महाकाव्य में, हयग्रीव के जलक्रीडावर्णन के प्रसंग में, हयग्रीवनिष्ठ रतिभाव का अभिव्यञ्जन शृङ्गार नहीं अपि तु शृङ्गाराभास ही है ।

इसी भाँति, अधमपात्रगत रतिभाव के अभिव्यञ्जन में यह ‘शृङ्गाराभास’—

‘अपनी जघनस्थली पर लता-किशलयों को लपेटने वाली किसी भीलनी ने पहाड़ी चमेरी के फूल चुने और अपने प्रेमी भील के आगे चट्टान पर बैठ कर वह उससे अपने केश सवरवाने लगी ।’

तिर्यगादिगतत्वे यथा—

‘मल्लीमतल्लीषु वनान्तरेषु वल्लयन्तरे वल्लभमाह्वयन्ती ।
चञ्चद्विपञ्चीकलनाद्भङ्गीसंगीतमङ्गीकुरुते स्म भृङ्गी ॥’

आदिशब्दात्तापसादय ।

रौद्राभासो यथा—

‘रक्तोत्पुल्लविशाललोलनयनः कन्योत्तराङ्गो नृह-
सुक्त्वा कर्णमपेतभीर्धृतयनुर्वाणो हरेः पश्यतः ।
बाष्पात्-कटुकोष्णिभिः स्वमसकृदोष्किमं कीर्तय-
न्नंसात्कोटपटुशुविष्टिरमसौ हन्तुं प्रविष्टोऽर्जुनः॥’

भयानकाभासो यथा—

‘अशक्तुवन् सोढुमधीरलोचनं सहस्ररत्नेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय विभ्यद्विस्तानि कौशिकं ॥’
खोनीचविषयनेव हि भयं रसप्रकृतिः । एवमन्यत्र ।
भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात् ॥ २६६ ॥
स्पष्टम् ।

अथवा, तिर्यगादिरतिभाव के अनिव्यञ्जन में ‘शृङ्गाराभास’ का यह उदाहरण—
‘खिली पहाड़ी चनेलियों से भरे सुन्दर वन के बीच, छतारों की लोट में, प्रियतम
अनर को पुकारती, यह प्रणयिनी अनरी ऐसी नीची गुञ्जार कर रही है मानो कोई गायिका
मधुरवीणा बजा रही हो ।’

रौद्राभास का उदाहरण—

लज्जुन को देखो, यह तो कृष्ण के देखते-देखते, कर्ण को छोड़-छाड़ कर, बड़ी-बड़ी
लाल-लाल उमरी, चञ्चल बाँखें लिये, सिर कपाते, धनुष पर बाण चढ़ाये, (युधिष्ठिर की)
कड़वी बातों से क्रुद्ध, अपने मुञ्ज-विक्रम का बखान करते और नाट ठेक-ठेक कर, लय
युधिष्ठिर को नारन के लिये स्पष्ट पढ़ा है ।’

भयानकाभास का उदाहरण (शिष्टगुणवर्ष की इस सूक्ति में)—

‘रावण ऐसा महाप्रतापी रहा कि उसके नामने पढ़ने में अक्षय, भय के नारे विह्वल
नेत्र वाले इन्द्र ने वैसे ही लुनेर की गुफाओं में छिप कर भी डरते हुये दिन बिताये जेमे
कोई उल्लू-सूर्य-किरणों ने टरा, वहाँ लुका छिपा ही दिन बिताया करना है ।’

यहाँ (उपर्युक्त सूक्ति में) भयानक रस का आभास है (क्योंकि उत्तम प्रकृति ‘इन्द्र’
निष्ठ भय का अनिव्यञ्जन भयानक रस नहीं) । जिसे भयानक रस कहते हैं उसका मूल
दोष तो वह भय है जो तोगत अथवा नीच-श्रुतिगत हुआ करता है ।

इसी नीति अन्य रसों के आभास भी नव्य उदाहरण दर्शन में समझे जा सकते हैं ।

(यह तो ‘रमानाम’ हुआ) अब, जिसे ‘भावानाम’ कहते हैं उसका अनिव्यञ्जन यह
है—(व्यभिचारी भावों का वह अनिव्यञ्जन जो अनैविक्यपूर्ण हो, जेमे कि) वेश्यादि
नयिकाओं के लज्जा आदि भावों का अनिव्यञ्जन, ‘भावानाम’ हुआ करता है ।

‘भावानाम’ तो लज्जा मात्र से ही स्पष्ट है ।

(भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता)

भावस्य शान्तावुदये संधिमिश्रितयोः क्रमात् ।

भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलता मता ॥ २६७ ॥

क्रमेण यथा—

‘सुतनु । जहिहि कोपं पश्य पादानतं मां

न खलु तव कदाचित्कोप एवविधोऽभूत् ।

इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताद्या

नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ॥’

अत्र बाष्पमोचनेनेर्ष्याख्यसञ्चारिभावस्य शमः ।

विमर्श—ध्वनिकार ने रसाभिव्यञ्जन का रहस्य ‘प्रसिद्धौचित्यबन्ध’ ही माना है—

‘प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिपत् परा ।’

इससे औचित्य क अभाव-अनौचित्य-में रस की आभासता सिद्ध हो जाती है । भावप्रकाशनकार ने रसमासता का जो यह विशद वर्णन किया है उसमें ‘अनौचित्य’ की विविधरूपता भी स्पष्ट हो गयी है—

‘शृङ्गारो हास्यभूयिष्ठ शृङ्गाराभास इतिरितः ।

हास्यो वीभत्सभूयिष्ठो हास्याभास इतीरित ॥

वीरो भयानकप्रायो वीराभास इतीरित ।

अद्भुतः करुणाश्लेषादद्भुताभास उच्यते ॥

रौद्रः शोकभयाश्लेषात् रौद्राभास इतीरित ।

करुणो हास्यभूयिष्ठः करुणाभास उच्यते ॥

वीभत्सोऽद्भुतशृङ्गारी वीभत्साभास उच्यते ।

स स्याद्भयानकाभासो रौद्रवीरोपसङ्गमात् ॥’

तात्पर्य यह है कि अङ्गभूत रस-भाव का धाराभिरोह अभिव्यञ्जन ही सबसे बड़ा रस भाव-विषयक अनौचित्य है जो कि ‘रस’ को रसमास और ‘भाव’ को भावाभास के रूप में बदल दिया करता है । कहा भी गया है—

‘अङ्गेनाङ्गी रसः स्वेच्छावृत्तिवर्धित-सम्पदा ।

अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत् ॥

अनुवाद—किसी भाव की शान्ति, उदय, सन्धि और मिश्रण के अभिव्यञ्जन से क्रमशः भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता की रूपरेखा बना करती है ।

जैसे कि ‘भावशान्ति’ (अमरुतक की इस सूक्ति में)—

‘अरी सुन्दरी ! अब तो क्रोध छोड़, तुम्हारे पैरों पड़ रहा हूँ, कभी भी पहले तुम इतनी क्रुद्ध नहीं हुई ।’ इस प्रकार जैसे ही प्रियतम ने कहना प्रारम्भ किया कि अर्धनि-मीलित कटाक्ष के साथ, उस सुन्दरी के आँसू बह चले और मुह से एक भी शब्द न निकल पाये ।’

यहां यह स्पष्ट है कि ईर्ष्या भाव की शान्ति अभिव्यक्त हो रही है जिसमें बाष्पमोचन का अनुभाव सहायता पहुँचा रहा है ।

‘चरणपतनप्रत्याख्यानात्प्रसादपराङ्मुखे
निभृतकितवाचारेत्युक्त्वा रूपा परुषीकृते ।
व्रजति रमणे नि श्वस्योच्चैः स्तनस्थितहस्तया
नयनसलिलच्छत्रा दृष्टिः सखीषु निवेशिता ॥’

● अत्र विषादस्योदयः ।

‘नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।
रूपमिदं मदिराद्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥’

अत्र हर्षविषादयोः सन्धिः ।

‘काकार्यं, शशलक्ष्मणः क च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधर धास्यति ॥’

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता ।

अथवा जैसे कि ‘भावोदय’ (अमरुशतक की ही सूक्ति में)—

‘जब कि पैरों पर भी गिरने पर दुतकार मिली, (प्रेमिका की) प्रसन्नता की कोई भी आशा नहीं दीस पड़ी और ‘तुम छिपे कपटी हो’ आदि की फटकार भी सुननी पड़ी तब वह प्रेमी क्या करता ! चल पड़ा । किन्तु जैसे ही उस सुन्दरी ने उसे लौटते देखा वैसे ही अपनी छाती पर हाथ रखकर गहरी सास ली और सखियों पर आंसू भरी निगाहें डाल दीं ।’

यहाँ ‘विषाद’ का व्यभिचारीभाव उदयावस्था में अभिव्यक्त हुआ है । इसी प्रकार ‘भावसन्धि’—

‘ओह ! मेरे नेत्रों को सतृप्त करनेवाला, मेरी कल्पनाओं की पहुँच से भी परे, उस मदिराक्षणा का वह रूप, मेरे हृदय में आनन्द भी पहुँचा रहा है और एक टीस भी भरता जा रहा है ।’

यहाँ ‘हर्ष’ और ‘विषाद’ के व्यभिचारी भावों की सन्धि का अभिव्यञ्जन स्पष्ट है ।

इसी भाँति, भावशबलता (महाकवि कालिदास को ‘विक्रमोर्वशी’ की इस सूक्ति में)—‘कहा तो मेरा यह पापाचरण (यह उर्वशी-प्रेम) और कहाँ अवदात चन्द्रवश में मेरा जन्म ! लेकिन ओह ! क्या ही अच्छा होता, यदि एक बार उसे फिर देख पाता । नहीं, नहीं, यह पाप है, मुझमें धर्मशास्त्र का ज्ञान भरा है, लेकिन अरे ! क्रुद्ध होने पर भी उसका मुँह कितना सुन्दर था । पुण्यात्मा लोग मुझे भला-बुरा कहेंगे, कहते रहें, वरे ! क्या वह सुन्दरी अब सपने में भी नहीं मिलेगी ! यह क्या ! मेरे मन ! विकल न हो, धैर्य धर, लेकिन इससे क्या ! पता नहीं कौन वह प्रेमी युवक होगा जो उस सुन्दरी के अधरामृत का आनन्द लेगा ?’

यहाँ वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मृति, शङ्का, दैन्य, धृति और चिन्ता के आठ-आठ व्यभिचारीभावों के समिश्रण का सुन्दर अभिव्यञ्जन है ।

विमर्श—क) ‘भावोदय’ आदि चतुर्विध ध्वनि-प्रकारों का जो मूल बीज है वह व्यभिचारी भावों का ‘दशाचतुष्टय’ ही है, जैसा कि कहा भी गया है—

(अत्र मूलकारिकाः = (२६७) पूर्वाभिः सह (२६०)

उदाहरणश्लोकाः = (१४३) पूर्वैः सह (१५८)

इति साहित्यदर्पणे रसादिनिरूपणो नाम तृतीयः परिच्छेदः ।

‘उत्पत्ति-सन्धि-शावत्य-शान्तयो व्यभिचारिणाम् ।

दशाश्वतस्र एव स्युः,

॥

(ख) ‘भावोदय’ ध्वनि में किसी भी व्यभिचारीभाव के प्रथमावतार का अभिव्यञ्जन अपेक्षित है ।

‘भावशान्ति’ में किसी अत्यारूढ व्यभिचारीभाव का विलय आवश्यक है ।

‘भावसन्धि’ में दो व्यभिचारी भावों का द्विविध रूप से मेल हुआ करता है, जैसा कि कहा भी गया है—

‘सरूपमसरूपं वा भिन्न-कारण कल्पितम् ।

भावद्वय मिळति चेत् स सन्धिरिति गीयते ॥’

‘भावशवला’ का अभिप्राय भावों का परस्पर सम्मर्द है । पूर्व-पूर्व निबद्ध भाव उत्तरोत्तर निबद्ध भावों को रगड़ खाया करते हैं और इस ‘रगड़’ में एक अद्भुत ही आनन्द-चमत्कार का अनुभव हुआ करता है जो कि ‘भावशावत्य’ का स्वरूप है ।

(ग) व्यभिचारी भावों की एक पांचवी अवस्था भी मानी गयी है जिसे ‘भावस्थिति’ कहा जाया करता है । काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट कहा है—

‘एते च (व्यभिचारिभावाः) स्थित्युदयप्रशमसन्धिषायलत्वधर्माणः । स्थितिर्यथा—

‘तिष्ठेत् कोपवशात्प्रभावविहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पत्तिता भवेन्मयि पुनर्भावाद्वर्त्मस्या मनः ।

तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्थातेति कोऽयं विधिः ॥’

अत्र विप्रलम्भरससन्नावेऽपि इयति वितर्कस्थिति चमत्कारकृत आस्वादातिशयः ।

(काव्यानुशासन • २ १९)

किन्तु न तो काव्यप्रकाशकार ने ही इस भाव स्थिति को अतिरिक्त भाव-चमत्कार के रूप में स्वीकार किया और न साहित्यदर्पणकार ने ही ।

साहित्यदर्पण का तृतीयपरिच्छेद समाप्त

चतुर्थः परिच्छेदः

(काव्य-प्रकार-निरूपण)

अथ काव्यभेदमाह—

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम् ।

(१—म काव्यप्रकार : 'ध्वनि' काव्य)

तत्र—

वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥ १ ॥

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनि-
र्नामोत्तमं काव्यम् ।

अनुवाद—अब काव्य के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

'काव्य' (रसात्मक वाक्य) के दो प्रमुख भेद हैं—(१) ध्वनि और (२)
गुणीभूतव्यङ्ग्य ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्य के दो ही भेद निर्दिष्ट किये हैं । 'चित्र' काव्य नामक
भेद, साहित्यदर्पणकार के अनुसार, श्रमलिये उचित नहीं क्योंकि—इस प्रकार की रचना
'रसात्मक वाक्य' रूप काव्य की परिधि के भीतर नहीं आ सकती । ध्वनि-दार्शनिक आनन्दवर्धन
को भी वस्तुतः यही दृष्टि है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यङ्ग्यः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सुरभिः कथितः ॥

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाह्वानाम् ॥

(ध्वन्यालोक ? १३, ४)

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।

यत्र व्यङ्ग्यध्वन्ये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥

(ध्वन्यालोक ३ ३४)

अनुवाद—इन दोनों काव्य-भेदों में—'ध्वनि' सज्जक काव्य, जिसे सर्वोत्तम काव्य-प्रकार
कहा गया है, वह है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा, 'व्यङ्ग्य' रूप अर्थ अधिक सुन्दर
(अतिशय चमत्कारजनक) हुआ करता है ।

तात्पर्य यह है कि इस काव्य भेद में जो अर्थ अभिव्यङ्ग्य रूप से अवस्थित रहा
करता है वह इतना सुन्दर, इतना चमत्कारजनक प्रतीत हुआ करता है कि यहाँ का
(आपाततः प्रतीत) वाच्यार्थ, उसके सामने फीका लगने लगता है । वस्तुतः यही काव्य
का सर्वोत्कृष्ट प्रकार है । इसे 'ध्वनि' इसलिये कहा करते हैं क्योंकि यही वह कविकृति है
जिसमें वह अर्थ ध्वनित हुआ करता है जिसका सौन्दर्य वाच्यार्थ की पहुँच के परे रह
जाता है ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार का काव्य-भेद-निरूपण तो उनके काव्य-स्वरूप-निरूपण में ही
सन्तर्भूत प्रतीत होता है क्योंकि दोषरहित, गुणतश्चित तथा यथास्थान अट्टारयुक्त शब्दार्थ-

(ध्वनिकाव्य के २ भेद - १ अविवक्षितवाच्य और २ विवक्षितान्यपरवाच्य)

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ ।

अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥ २ ॥

तत्राविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः । लक्षणामूलत्वादेवात्र वाच्यमविवक्षितं बाधितस्वरूपम् ।

विवक्षितान्यपरवाच्यस्त्वभिधामूलः, अत एवात्र वाच्य विवक्षितम् । अन्तरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थः

योजना 'काव्य' है और इस प्रकार का शब्दार्थयोजना का, इसमें कविविवक्षित किंवा सहृदयानुअभिप्राय के यथास्थान उत्तम, मध्यम और अधम होने से, उत्तम, मध्यम और अधम रूप विभक्त होना स्वाभाविक है । किन्तु 'रसात्मक वाक्य' को 'काव्य' माननेवाले आचार्य के 'वाच्यातिशायी व्यङ्ग्यमय' और 'वाच्यानतिशायी व्यङ्ग्यगर्भ' द्विविध काव्य-भेद का निरूपण प्राचीन काव्य-शास्त्र-परम्परा का अनुसरणमात्र ही लगता है । जिस वाक्य का जीवनाभा किंवा परमसार रस हो, उसमें वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक किंवा अल्प चमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ की भेद-कल्पना निःसार सी ही है । या तो काव्य का लक्षण वही माना गया है जो कि आचार्य मम्मट ने माना था जिसके अनुसार दोषराहित्यादि-विशिष्ट शब्दार्थयोजना वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों के अनुभव के आधार पर दोनों के सौन्दर्य-तारतम्य का विवेक व इस विवेक के आधार पर शब्दार्थयोजना का तारतम्य-प्रदर्शन युक्तिसंगत हुआ होता था 'छ और गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक काव्य प्रकारों के निरूपण के बदले रसरूप आत्मतत्त्व के अभिव्यक्त वाक्य-प्रकारों का ही यथासम्भव तारतम्य बताया गया होता । 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' वाक्यप्रकार तो माना नहीं गया और माना भी नहीं जा सकता क्योंकि यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो रसरूप सारतम्य तत्त्व-निधान की दृष्टि से दोनों का भेद ही क्या रहा । ध्वनिकार आनन्दवर्धन की यह मान्यता कि 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक काव्य-प्रकार भी रसादितात्पर्यपरामर्श के द्वि 'ध्वनि' काव्य में ही अन्तर्भूत है—

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।

धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ (ध्वन्यालोक ३४०)

विश्वनाथ कविराज की इस द्विविध काव्य-भेद कल्पना को निराधार सिद्ध करती है ।

अनुवाद—'ध्वनि' काव्य के भी दो भेद बताये गये हैं—(१) लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य और (२) अभिधामूलक ध्वनिकाव्य । इन दोनों भेदों में लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य को तो 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' काव्य कहा गया है और अभिधामूलक ध्वनिकाव्य का नाम 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' काव्य है ।

तात्पर्य यह है कि जो ध्वनिकाव्य 'अविवक्षितवाच्य' हुआ करता है वह लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य है । इस काव्य में 'ध्वनि' अथवा 'व्यङ्ग्यार्थ' का लक्षणामूलक होना ही इसके 'अविवक्षितवाच्य' कहे जाने का कारण है क्योंकि वाच्यार्थ के अविवक्षित होने का अभिप्राय उसके स्वरूप का बाधित होना ही है (जब कि व्यङ्ग्यार्थ लक्ष्यार्थ के आधार पर प्रतीत हो, जैसा कि हुआ करता है, तब तो यह स्वयंसिद्ध है कि ऐसे व्यङ्ग्यार्थ के प्रत्यायन में वाच्यार्थ बाधित अथवा अनुपपन्न रहा करे) । इसके अतिरिक्त जो ध्वनिकाव्य 'विवक्षितान्यपरवाच्य' नाम का है उसका 'अभिधामूलक' ध्वनिकाव्य होना ही युक्तिसिद्ध है क्योंकि

प्रकाशक' । यथा—प्रदीपो घटस्य । अभिधानमूलस्य बहुविषयतया पञ्चानिर्देशः ।

(अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद - १—'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' ध्वनि)

अविवक्षितवाच्यस्य भेदावाह—

अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते ।

अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति ॥ ३ ॥

यहाँ वाच्यार्थ 'विवक्षित' रहा करता है और साथ ही साथ 'अन्यपर' अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ (व्यङ्ग्यैकबोधक) भी हुआ करता है । यहाँ वाच्यार्थ के 'विवक्षित' होने और 'अन्यपर' (व्यङ्ग्यनिष्ठ) होने का यही अभिप्राय है कि इस प्रकार के काव्य में वाच्यार्थ उसी प्रकार पहले अपने स्वरूप को प्रकाशित किया करता है और ऐसा करते हुये व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशक बना करता है, जिस प्रकार कोई दीपक पहले स्वयं प्रकाशित हुआ करता है और तब घटादि वस्तुओं का प्रकाशक बना करता है ।

यहाँ लङ्गणामूलक ध्वनिकाव्य के बाद अभिधानमूलक ध्वनिकाव्य-निर्देश इसलिये किया गया है क्योंकि अभिधानमूलक ध्वनि का विषय (लङ्गणामूलक ध्वनि की अपेक्षा) कहीं अधिक व्यापक है ।

विमर्श—भास्कारिणों ने 'विवक्षित' शब्द को 'अभिप्राय' 'तात्पर्य' आदि-आदि अर्थों में व्यवहृत किया है वैसा कि कहा भी गया है—

'विवक्षितमभिप्राय' फलभाव' प्रयोजनम् ।

तात्पर्यमिति पर्यायशब्दा वाच्यार्थगोचरा ॥'

यहाँ जिनी अर्थ को 'विवक्षित' कहने का यह अभिप्राय है कि जो अर्थ श्रोता अथवा पाठक मनसा करना है वही अर्थ वक्ता अथवा कवि के भी मन में रह चुका है । जैसा इनारा सुह है वैसा ही दर्शक में मनसा प्रतिबिम्ब पटा करता है । कवि के मन का अर्थ यदि विन्द है तो पाठक के मन में मनाया वही अर्थ प्रतिबिम्ब है । इस प्रका वक्ता का अनाद और श्रोता का सुखित्य वाच्यार्थ 'विवक्षित' अर्थ हुआ करता है (वृत्तिवि विवक्षितम्) ।

'विवक्षित' अर्थ को इसलिये 'तात्पर्य' कहा जाने है क्योंकि वक्ता अथवा कवि के प्रयुक्त वाक्य के मन्त पदार्थ स्वभाव में अर्थ के बोध हुआ जाने है । विवक्षित अर्थ दो प्रधान अथवा उपकार्य अर्थ हुआ जाता है और मन्त पदार्थ इनके उपकारक रहा जाने है ।

विद्वन्विषय अर्थ ही 'प्रयोजन' में कहा गया जाता है क्योंकि यही वह अर्थ है जिम्मे व्यवधान के लिये वक्ता अथवा कवि वाक्य-प्रयोग किया करते हैं ।

यहाँ 'विवक्षित' अर्थ 'अभिप्राय' भी माना जाता जाता है क्योंकि वाक्यवर्गों मन्त पदार्थ में अर्थ के अन्विष्ट रह जाने हैं । इसे 'अर्थ' भी कह सकते हैं क्योंकि यही वह अनाद-परिचाल है जिम्मे वाक्य वाक्यार्थ का अनुभव हुआ जाता है । यथारूप इसे 'भाव' भी कहा जाने है क्योंकि अर्थ के रूप में वक्ता अथवा कवि का चित्तवृत्तियों में श्रोता अथवा मन्तव्य का उपलब्धता हुआ जाता है और आनन्द-व्यवहार भिन्न जाता है ।

यहाँ वाच्यार्थ के 'विवक्षित' किंवा 'विनिश्चित' होने में 'विवक्षित' के उपर्युक्त मन्त अभिप्राय मन्तव्य है ।

अन्वय—'अविवक्षितवाच्यध्वनि' के भेदों का निर्देश किया जा रहा है—

'अविवक्षितवाच्यध्वनि' काव्य में दो प्रकार का हुआ करता है—(१) वह, जिसमें वाच्यार्थ अपने में निश्च अर्थ में संक्रमित हो जाने के कारण 'अविवक्षित' (अपने

अविवक्षितवाच्यो नाम ध्वनिरर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः ।

यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमति, त मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वम् ।

यथा—

‘कदली कदली, करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः ।

मुवनत्रितयेऽपि विभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदशः ॥’

अत्र द्वितीयकदल्यादिशब्दाः पौनरुक्त्यभिया सामान्यकदल्यादिरूपे मुख्या बाधिता जाड्यादिगुणविशिष्टकदल्यादिरूपमर्थं बोधयन्ति । जाड्याद्यतिशय च्यङ्गयः ।

स्वरूप में अनुपयुक्त) लगा करता है और (२) वह, जिसमें वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहने के कारण ‘अविवक्षित’ (सर्वथा अनन्वित) हो जाया करता है ।

तात्पर्य यह है कि ‘अविवक्षितवाच्य’ नामक ध्वनि-काव्य के दो भेद हुआ करते हैं— (१) ‘अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि’ काव्य और (२) ‘अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि’ काव्य ‘ध्वनि’ काव्य के ‘अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य’ होने का अभिप्राय है यहाँ ऐसे न्यग्या के अवस्थान का, जिसका उपकरणभूत (व्यञ्जक) अर्थ एक ऐसा वाच्यार्थ हुआ करता है जो (प्रकरण की दृष्टि से) अपने सामान्य स्वरूप में अनुपयुक्त हो जाया करता और फिर (अपनी अनुपत्ति के निराकरण के लिये) अपने से भिन्न एक ऐसे अर्थ परिणत हो जाया करता है जो कि उसी का एक विशेष रूप अश हुआ करता है । तात्पर्य यह है कि ध्वनि-काव्य की ‘अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता’ यहाँ के (व्यञ्जक रूप से विरामान) मुख्यार्थ की, अपने से भिन्न किन्तु अपने ही स्वरूप विशेषभूत अर्थ (लक्ष्यार्थ में संक्रान्ति अथवा परिणति है ।

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

‘कदली-कदली है, करम-करम ही हैं और शुण्ढादण्ड (हाथी की सूँढ़) भी शुण्ढादण्ड ही हैं । इस त्रिमुवन में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो इस मृगानयनी सुन्दरी के ऊरुयुग की समानता रख सके ।’

यह सूक्ति ‘अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि’ काव्य है क्योंकि यहाँ दूसरी बार प्रयुक्त ‘कदली’ आदि शब्द ऐसे हैं जो ‘पुनरुक्त’ नहीं—क्योंकि ‘पुनरुक्ति’ तो एक भयंकर पद दो है—अपितु अपने ‘कदली’ आदि रूप सामान्यभूत मुख्यार्थ में अनुपपन्न हैं और इसीलि अपने से भिन्न किन्तु अपने ही विशेषस्वरूपभूत जाड्यादिविशिष्ट ‘कदली’ आदि रूप (लक्ष्य) अर्थों का ही अवबोधन करा रहे हैं (अर्थात् अपने सामान्य अर्थ स्वरूप अनुपयुक्त और अपने से भिन्न किन्तु अपने ही विशेष रूप अर्थ के उपलक्ष्य घने हुए दी रहे हैं) । यहाँ जो व्यंग्य रूप से अवस्थित और अनुभूत अर्थ है वह है ऊरुद्वन्द्व उपमान माने गये ‘कदली’ आदि पदार्थों की जडता आदि का अत्याधिक्य ।

विमर्श—(क) ‘अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य’ ध्वनि-काव्य कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं अपितु काल प्रबन्धों में यत्रतत्र उपनिबद्ध वे सूक्तियाँ हैं जिनके प्रसन्न किंवा गभीर पद विदग्ध पाठकों चमत्कार किया करते हैं । इन सूक्तियों का चमत्कार रसावेश का चमत्कार नहीं अपितु गुम्फा चैव्य और अन्तर्निगूढ विवक्षित अर्थ की प्रतीति का चमत्कार हुआ करता है ।

(२—'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' काव्य)

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरे परिणमति. तत्र मुख्यार्थस्यात्य-
तिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् ।

यथा—

निःश्वासान्ध इवादृशश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।

अत्रान्वशब्दो मुख्यार्थे बाधितेऽप्रकाशरूपमर्थं बोधयति, अप्रकाशातिशयश्च
ज्ञेयः । अन्वत्वाप्रकाशत्वयोः सामान्यविशेषभावाभावान्नार्थान्तरसंक्रमितवा-
च्यत्वम् ।

(४) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' आदि-आदि पारिभाषिक पदों में ध्वनिदार्शनिक आचार्य
नन्दवर्धन को काव्य-विज्ञान-प्रतिभा को झलक मिलती है । 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि'
पारिभाषिक शब्द है । वहाँ कर्मधारय न्नान भी नम्ब है ('अर्थान्तरसंक्रमितश्चासौ
त्यश्च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः तस्य तत्संबन्धित्वेन ध्वनिः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-
नि') और बहुव्रीहि न्नान भी (अर्थान्तरे संक्रमितं वाच्यमस्ति यस्य सोऽर्थान्तरसंक्र-
मवाच्यस्तस्य चासौ ध्वनिश्च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः) । कर्मधारय न्नान में 'अर्थान्तर-
संक्रमितवाच्य' ध्वनि का अभिप्राय यह है— अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' एक प्रकार का अवि-
त वाच्य हुआ करता है । 'अविवक्षित वाच्य' का 'अर्थान्तरसंक्रमित' होना उनके
गन्तर-परिणत' होने के बराबर है । 'अविवक्षित वाच्य' के 'रूपान्तर-परिणत' होने से यह
सा ज्ञाया जाता है कि किसी प्रयोग में कोई अर्थ (वाच्य) अपने प्रातिष्ठिक स्वरूप में उत्पन्न
अवश्य है किन्तु इनसे ते ही तब तक उपयुक्त नहीं लगा करता जब तक उन्हें, उन्हें नन्द,
उनका धर्म (वैशिष्ट्य) न लक्षित हो लठे जिनसे वह एक दूसरे प्रकार का ही अर्थ माने
जाने । जैसे कोई पुष्कल-मूत्र गुप्ते फूलों के कारण एक दूसरे रूप में दिखायी दिया जाता है वैसे
इन 'ध्वनि' का (अभिव्यञ्जक) 'अविवक्षित वाच्य' भी, उस-उस लक्षित धर्मों से भवति
जाने के कारण, एक दूसरे रूप में ही परिणत ना (अर्थान्तरसंक्रमित) प्रतीत हुआ
ता है । अब इन प्रकार के वाच्य का 'व्यव्य' जो अर्थसंदोह है वह 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य
ने' है और ऐसे 'व्यव्य' से विनूयित रचना 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि-वाच्य' नहीं
ना करती है ।

बहुव्रीहि न्नान में 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' का अभिप्राय उन वाच्यरचना का है
जो 'ध्वनि' अथवा व्यंग्यार्थ देना हुआ करता है जिनका व्यव्य अर्थ (वाच्य) अपने एक
मेक स्वरूप (लब्ध) में परिणत प्रतीत हुआ करता है ।

अनुवाद—'अविवक्षितवाच्यध्वनि' काव्य का जो भेद 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि'
जाया करता है वह ऐसा हुआ करता है जहाँ (व्यञ्जकरूप से अवस्थित) मुख्यार्थ,
जो स्वरूप का सर्वथा परित्याग करके, अपने से भिन्न किसी अर्थ-स्वरूप में परिणत हो
या करता है । तात्पर्य यह है कि ध्वनिकाव्य की 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यना' वहाँ के
व्यञ्जक) मुख्यार्थ की, (सर्वथा अनुपपत्ति के कारण) वस्तुतः तिरस्कृति (एतन्नात्र
न्यायोपस्थापकता) है ।

उदाहरण के लिये (महाकवि वाल्मीकि की) यह सूक्ति—

'चोद विरजुल नहीं चमक रहा है । ऐसा लगा रहा है जैसे (आकाश में) क्षामोच्छ्वास
बन्धा (मलिन) एक दर्पण टंगा हो !'

यह सूक्ति 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' काव्य है क्योंकि यहाँ जो 'बन्ध' पद

('अभिधामूलध्वनि' में 'लक्षणामूलध्वनि' का भ्रम और उसका निवारण)

यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो, सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।

गोलाणइक्कच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

[भ्रम धार्मिक । विस्रव्व स श्वाऽद्य मारितस्तेन ।

गोदानदीकच्छकुडवासिना

दससिहेन ॥]

प्रयुक्त है वह अपने मुख्यार्थ (अर्थात् 'दृष्टि-विहीन' रूप अर्थ) में सर्वथा अनुपपन्न है एकमात्र 'प्रकाशरहित' (मलिन) अर्थ का ही अवबोधक बन रहा है । यहाँ जो व्य रूप से विवक्षित अर्थ है वह अप्रकाशमानता (मलिनता) का आधिक्य है ।

इस उपर्युक्त सूक्ति में ध्वनि की 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता' नहीं मानी जा सकती क्योंकि 'अन्धता' (दृष्टिविहीनता) और 'अप्रकाशमानता' (मलिनता) के अर्थ में जिनमें 'सामान्य' और 'विशेष'रूपता की परिकल्पना (जैसी कि अर्थान्तरसंक्राम्य वाच्य' ध्वनिकाव्य के प्रसङ्गों में स्वाभाविक है) असंभव ही है ।

विमर्श—(क) 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक वाच्यार्थ 'लक्ष' के अवबोधन का उपायमात्र रह जाता है और लक्ष्यार्थ में ही अपना अस्तित्व खो बैठता उदाहरण के लिये, आदि कवि की 'निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' आदि सूक्ति है जहाँ चन्द्रमा को 'निश्वासान्ध आदर्श (दर्पण)' कहने में उसकी असाधारण कान्तिहीन स्वभा अनुपयोगिता आदि-आदि नानाविध अभिप्राय अभिव्यङ्ग्य हो उठते हैं । इस अभिन्न अभिप्राय के प्रत्यायन में 'अन्ध' शब्द का मुख्यार्थ अविवक्षित अथवा अनुपपन्न (असंगत है ही, साथ ही साथ सर्वथा तिरस्कृत भी है । 'अन्ध' उस प्राणी को कहते हैं जिसकी आँखें तो जन्म से ही नष्ट हैं या बाद में किसी कारणवश नष्ट हुई हैं । यहाँ आदर्श अथवा दर्पण 'अन्ध' (अन्धा) कहने का क्या अर्थ । यहाँ 'अन्ध' शब्द का 'दृष्टिरहित'रूप अर्थ सर्वथा अनुपपन्न रह रहा है और एकमात्र यह अर्थ रख रहा है कि जैसे कोई अन्धा व्यक्ति किसी पदार्थ स्फुटीकरण में असमर्थ हो वैसे ही दर्पण भी मुखादि के प्रतिबिम्ब को स्पष्टतया झलकाने में असमर्थ हो सकता है । अब यहाँ 'अन्ध' पद का एकमात्र अर्थ 'पदार्थस्फुटीकरण में असमर्थ' हो गया इस अर्थ को लक्षित करनेवाला इसका 'दृष्टिरहित' रूप वाच्यार्थ इसके सामने से चुप खिसक निकला ।

(ख) यहाँ आचार्य अभिनवगुप्त की ये परिभाषायें ध्यान देने योग्य हैं—

'अर्थान्तरसंक्रमित (रूपान्तरपरिणत) वाच्य'ध्वनि—

'योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावत्तैवानुपयोगात् धर्मान्तरसवलनयाऽन्यतामिव लक्ष्यमाण' आस्ते स रूपान्तरपरिणतः (अर्थान्तरसंक्रमित.) उक्तः ।

'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'ध्वनि—

'यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरहित ।' (ध्वन्यालोकलोचन २ य उद्योत)

अनुवाद—कतिपय ऐसी भी सूक्तियाँ जैसे कि—

रे पुजारीजी महाराज ! अब निदर विचरो, आज ही तो गोदावरी के किनारे बैरा जमाये उस भयङ्कर सिंह ने उस कुत्ते की जान ले ली है ।' इत्यादि दि

अत्र 'भ्रम धार्मिक—' इत्यतो भ्रमणस्य विधि' प्रकृतेऽनुपयुज्यमानतया भ्रमणनिषेधे पर्यवस्यतीति विपरीतलक्षणाशङ्का न कार्या । यत्र खलु विधिनिषेधावुत्पत्त्यमानावेव निषेधविध्योः पर्यवस्यतस्तत्रैव तदवसर । यत्र पुनः प्रकरणादिपर्यालोचनेन विधिनिषेधयोर्निषेधविधी अवगम्येते तत्र ध्वनित्वमेव ।

• तदुक्तम्—

'कचिद्वाध्यतया ख्यातिः कचित् ख्यातस्य वाधनम् ।

पूर्वत्र लक्षणैव स्यादुत्तरत्राभिधैव तु ॥'

('अर्थान्तरमक्रमित' और 'अत्यन्ततिरस्कृत' वाच्यध्वनि में परस्पर भेद)

अत्राद्ये मुख्यार्थस्यार्थान्तरे सक्रमण प्रवेश, न तु तिरोभावः । अत एवात्राजहत्स्वार्था लक्षणा । द्वितीये तु स्वार्थस्यात्यन्त तिरस्कृतत्वाजहत्स्वार्था ।

(विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दो भेद

१—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और २—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य)

विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः ।

असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा ॥ ४ ॥

विवक्षितान्यपरवाच्योऽपि ध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-श्चेति द्विविधः ।

पढ़ जाती हैं, जहाँ 'भ्रम धार्मिक ॥' (विचरो पुजारी महाराज ।) आदि कहने से विचरने आदि की अनुज्ञा प्रतीत तो हो जाती है किन्तु प्रकरण के देखते उत्पटांग सी लगने लगती है और अन्त में 'खबरदार ! इधर न आना' आदि उल्टे अर्थ में समाप्त हो जाती है । अब ऐसी सूक्तिओं के सम्बन्ध में यह सदेह होना स्वाभाविक है कि इन्हें 'अभिधामूलक ध्वनि' काव्य माना जाय या 'विपरीतलक्षणा मूलक' (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) ध्वनि-काव्य । वस्तुतः बात यह है कि इस प्रकार का सदेह यहाँ निराधार है । निराधार इसलिए क्योंकि ऐसी सूक्तिओं में 'विपरीतलक्षणा मूलक' (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) ध्वनि-काव्य की संभावना तभी हो सकती है जब कि इनमें प्रतिपाद्य 'विधि' और 'निषेध' (जैसे 'भ्रम' और 'मा भ्रमी'), प्रतीत होने के साथ ही साथ, 'निषेध' और 'विधि' के अर्थ में बदल जाया करें । किन्तु यहाँ ऐसा होता कहाँ है ? यहाँ तो प्रकरण और वक्ता आदि-आदि की विशेषताओं के पर्यालोचन के बाद 'विधि' रूप वाच्यार्थ 'निषेध' रूप व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायक बन जाता है अथवा 'निषेध' रूप वाच्यार्थ 'विधि' रूप व्यङ्ग्यार्थ का अवगमक हो जाता है । इसलिये निष्कर्ष यही निकलता है कि ऐसी सूक्तियों 'अभिधामूलक' ध्वनि हैं न कि 'लक्षणा मूलक' (विपरीतलक्षणा मूलक) ध्वनि । और तभी तो ऐसा कहा गया है—

'लक्षणा और अभिधामूलक ध्वनि-प्रमणों के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि उहाँ तो मुख्यार्थवाध के बाद अन्वयबोध हुआ करता है और वहीं अन्वयबोध के बाद मुख्यार्थवाध । पहली संभावना (अर्थात् मुख्यार्थवाध के बाद अन्वयबोध) में तो 'लक्षणा मूलक' ध्वनि की संभावना है और दूसरी संभावना (अर्थात् अन्वयबोध के बाद मुख्यार्थवाध) में 'अभिधामूलक' ध्वनि की ।

अनुवाद—लक्षणा मूलक ध्वनि के भी ये दोनों भेद परस्पर भिन्न-भिन्न रूप के हैं ।

(१—असलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि • रसादिरूप एक प्रकार का हो)

तत्राद्यो रसभावादिरैक एवात्र गण्यते ।

पहले (अर्थान्तरसक्रामितवाच्यध्वनि) में जो वाच्यार्थ है वह अपने सामान्य स्व को अपने साथ लिये-दिये एक विशिष्ट अर्थ में सक्रमण अथवा प्रवेश कर जाता है न तिरोभूत हो जाता है। इसीलिये यहाँ जो (व्यङ्ग्यार्थ की उरथापिका) लक्षणा करती है वह अजहत्स्वार्था (उपादानलक्षणा) वृत्ति मानी जाया करती है। वि दूसरे (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि) में वाच्यार्थ ऐसा रहा करता है जिसका स्वा सर्वथा अनुपपन्न लगने के कारण, एकमात्र तिरस्कृत प्रतीत हुआ करता है जिसके क यहाँ (व्यङ्ग्यार्थ की उरथापिका) जो लक्षणा रहा करती है उसे जहत्स्वार्था (ल लक्षणा) वृत्ति कहा करते हैं ।

विमर्श—‘अर्थान्तरसक्रामितवाच्य’ध्वनि उपादानलक्षणा-मूलक ध्वनि है और ‘अत तिरस्कृतवाच्य’ ध्वनि लक्षणलक्षणा-मूलक ध्वनि । ‘उपादानलक्षणा (अजहत्स्वार्थवृत्ति)-मू ध्वनि में तो वाच्यार्थ ‘अनुपयुक्त’ हुआ करता है और ‘लक्षणलक्षणा’ (जहत्स्वार्थवृत्ति) ध्वनि में ‘अनुपपन्न’ । ‘अर्थान्तरसक्रामित वाच्य’ ध्वनि में वाच्यार्थ की अनुपयुक्तता की अवस्थार्थ हैं—(१) पुनरुक्तवत् प्रतीति और (२) किसी विशेषता के आधान की असभाव इन दोनों अवस्थाओं में वाच्यार्थ व्यञ्जकता की महिमा से एक ऐसे अर्थ में सक्रामित अ परिणमित कर दिया जाया करता है जो कि लक्ष्यरूप अर्थ हुआ करता है और जिसमें उपयु भी स्पष्ट प्रतीत हुआ करती है (उभयत्रापि वाच्यमर्थान्तरे उपयोगिनि लक्ष्यतावच्छेदके सक्रा माश्रयत्वेन परिणमितमवाच्योप्यर्थो रूपान्तरेण लक्ष्यत इत्यर्थ) काव्यप्रदीप-४ र्थ उद्घास । कि ‘कदली-कदली’ आदि सूक्ति में वाच्यार्थ की जो अनुपयुक्तता है उसमें ‘पुनरुक्तता’ है रही है और ‘त्वामस्मि वच्मि’ आदि (काव्यप्रकाशोद्धृत) सूक्ति में वाच्यार्थ की जो अनुपयु है वहाँ ‘अस्मि’ आदि पदों में किसी विशेषता के आधान की असभावना दिखायी दे रही है ।

‘अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य’ध्वनि की बात दूसरी है । यहाँ उपनिबद्ध वाच्यार्थ स्वय ही अ अथवा अनन्वित लगने लगता है और लक्ष्यार्थ का ही एकमात्र उपलक्षक रह जाता है (व मत्यन्ततिरस्कृत न केनापि रूपेणान्वयप्रविष्टम् काव्यप्रदीप ४ र्थ उद्वलाम) । ‘सादृश्य-सम् निबन्धन’ किंवा ‘वैपरीत्यसम्बन्धनिबन्धन’ लक्षणा में वाच्य की अविवक्षा वस्तुतः उसकी ‘अत तिरस्कृति’ ही है । उदाहरण के लिये—

‘मुखं विकसितस्मित वशितवक्त्रिण प्रेक्षित

समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसस्था मति ।

उरो मुकुलितस्तन जघनमसवन्धोद्धुर

वतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोदगमो मोदते ॥’

आदि सरीखी सूक्ति में जो व्यङ्ग्यार्थ है उसका आधार सादृश्य-निबन्धन-लक्षणा है कि वाच्य की ‘अविवक्षा’ वाच्य की ‘अत्यन्ततिरस्कृति’ है न कि ‘रूपान्तरपरिणति’ ।

अनुवाद—‘विवक्षितान्यपरवाच्य’ ध्वनि के भी दो भेद हुआ करते हैं—(१) जिसमें (व्यङ्ग्यार्थ की अनुभूति के समय) वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का पौध (रहते हुए भी) प्रतीत नहीं हुआ करता और (२) वह, जिसमें वाच्यार्थबोध और व्यङ्ग्यार्थचमत्कार की क्रमिकता पता चल जाती है ।

तात्पर्य यह है कि ‘विवक्षितान्यपरवाच्य’ ध्वनि के ये दो भेद हैं—(१) असलक्ष्य क्रमव्यंग्यध्वनि और (२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि ।

विमर्श—अभिधामूल गूढव्यंग्य की प्रधानता में ही ‘विवक्षितान्यपरवाच्य’ध्वनि की

एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्य नैव यत् ॥ ५ ॥

उक्तस्वरूपो भावादिरसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः । अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिविभावादि-
नीतिकारणत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति किन्तुत्पलपञ्चशतव्यतिभेदवलाधवात् सल-

तवना ई अन्यथा नहीं । यहाँ वाक्य का 'विवक्षित' होना और नाथ हो नाथ 'अन्यपर' अथवा 'अन्यनिष्ठ' होना स्वाभाविक है । 'विवक्षा' और 'अन्यपरता' में कोई विरोध नहीं क्योंकि यहाँ नाथ 'अन्यपर' अथवा 'व्यङ्ग्यैकनिष्ठ' रूप में ही विवक्षित रहा जाता है । आचार्य अभिनव ने स्पष्ट कहा है—'ननु च विवक्षा चान्यपरत्व चेति विरुद्धम् । अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात् विरोधः (ध्वन्यालोकटीकन . अधन उद्योत) ।

'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' काव्य में जो वाच्यार्थ रहा करता है वह अपने स्वरूप के अन्त में उन्मुख न होकर अपने ने अन्विष्ट रसगान व्यंग्यार्थ का ही अनिवार्य उद्घाटन करता है कि कहा ना गया है—

'व्यज्यतेऽर्थानर यत्र मुख्यायेन स्वनिहवात् ।

तस्मिन् विवक्षितस्यापि तस्यान्यपरता भवेत् ॥'

(अलङ्कारनहोदधि कृतान्तर)

इस वाक्य का जो अधन भेद है अर्थात् 'अनलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' काव्य वह ना नहा-
यों का प्रतिभा-वैभव ही है । 'अनलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' का अभिप्राय है—न सलक्ष्यः न सन्यतः
तः सन्नपि क्रमो यस्य व्यङ्ग्यस्य स—अर्थात् ऐसा व्यंग्यार्थ जिसकी प्रतीति में व्यङ्ग्यरूप
न अर्थ का पूर्वप्रतीति अनभव है । यह वाक्य रसभावादिरूप ध्वनिकाव्य ई जैसा कि कहा
गया है—

'रसादयो हि विभावानुभावव्यभिचारिणि प्रथमाविर्भूतैरनन्तरमाविष्क्रियन्ते इत्यस्ति
॥ स चाशुभावित्वात् लक्ष्यते, विभावादिसमकालमेव रसादीनां प्रतीयमानत्वात् ।'

'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' काव्य के 'संख्येयक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' रूप भेद में वाच्य और
व्यङ्ग्य के अवबोध का पौर्वापर्य पता चला जाता है—

'सलक्ष्यक्रमो मुख्यायप्रतीत्यनन्तर हि घटानुरणनप्रतिन सहृदयप्रतिभासमर्पितो
चलद्धारवपुर्व्यङ्ग्योर्थ प्रतिनाति ।'

बनुवाद—(विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का) यह पहला प्रकार अर्थात् 'सलक्ष्य-
व्यङ्ग्यध्वनि' तो रसभावादिरूप ध्वनि है और इसे एक प्रकार का ही माना जाता
ता है क्योंकि यदि इसके भेद किये जायें तो एक-एक भेद में अनन्त भेद सम्भव हो
ते हैं जिनकी गणना असम्भव बन जाती है ।

तात्पर्य यह है कि तृतीय परिच्छेद में प्रतिपादित जो रस, भाव, आभास आदि ध्वनि
वे 'सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि हैं । यद्यपि विभावादिरूप वाच्यार्थ की प्रतीति ही रस-
वादिरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का कारण है और ऐसा होने का यही अभिप्राय है कि
व्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीतियों में क्रम अथवा पौर्वापर्य अवश्य है किन्तु यह क्रम
गवा पौर्वापर्य यहाँ इन्हलिये नहीं प्रतीत हुवा करता क्योंकि व्यङ्ग्य-प्रतीति इतनी
वेलग्न हो उठती है कि वाच्यप्रतीति पर ध्यान ही नहीं पड़ा करता । यहाँ का
न्यायानुभव तो शतदल कमल की पत्तियों के ऐसे गिर उठने की भाँति हुआ
ता है जिनमें 'कौन पहले खिली और कौन बाद में' का पता कोई नहीं पा सकता ।

'सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' नामक काव्य एक प्रकार का ही माना गया है क्योंकि

द्यते । एषु रसादिषु एकस्यापि च भेदस्यानन्तत्वात्संख्यातुमशक्यत्वादसंलक्ष्य-
क्रमव्यङ्ग्यध्वनिर्नाम काव्यमेकभेदमेवोक्तम् । तथाहि—एकस्यैव 'शृङ्गारस्यै-
कोऽपि सभोगरूपो भेदः परस्परालिङ्गनाधरपानचुम्बनादिभेदात् प्रत्येकं च
विभावादिवैचित्र्यात्संख्यातुमशक्यः, का गणना सर्वेषाम् ।

(२—सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि . तीन प्रकार १. शब्दशक्त्युद्भव

२. अर्थशक्त्युद्भव और ३. शब्दार्थशक्त्युद्भव)

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वानसन्निभे ।

ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्त्रिविधः कथितो बुधैः ॥ ६ ॥

क्रमलक्ष्यत्वादेवानुरणनरूपो यो व्यङ्ग्यस्तस्य शब्दशक्त्युद्भवत्वेन, अर्थ
शक्त्युद्भवत्वेन, शब्दार्थशक्त्युद्भवत्वेन च त्रैविध्यात्सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यनाम्नो ध्वनेः
काव्यस्यापि त्रैविध्यम् ।

यदि यहाँ रस, भाव आदि-आदि रूप अवान्तर भेदों का परिगणन किया जाने लगे तब
तो एक भेद ही इतने प्रकारों का हो जाय कि गणना के परे पहुँच जाय । जैसे कि यदि
'रस'रूप असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के 'शृङ्गाररस' रूप एक अवान्तर भेद को ही लिया
जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इस 'शृङ्गार' रस का 'सभोगशृङ्गार' नामक एक ही भेद
परस्परालिङ्गन-सभोग, परस्पराधरपान सभोग, परस्परपरिचुम्बन-संभोग आदि-आदि
रूप से असंख्य प्रकार का हो जायगा और यदि इन एक-एक सभोगप्रकारों में भी इनके
आलम्बन-विभाव-वैचित्र्य आदि-आदि की भेद-नियामकता के आधार पर अन्यान्य भेद-
प्रभेद गिनाये जाने लगे तब तो कहना ही क्या । अब जब कि एक 'रस' की अवान्तर-
भेद-गणना असंभव हो गयी तब सभी रसों और भावों और उनके आभासों की गणना
कौन संभव मान ले ।

अनुवाद—'सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नामक जो अभिधामूलक ध्वनि है वहाँ व्यङ्ग्यार्थ
(वस्तु अथवा अलङ्काररूप हुआ करता है और) ऐसा हुआ करता है जैसे (तन्त्री
आदि का) अनुरणन । इसके तीन प्रकार बताये गये हैं—१ वह, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ
शब्दशक्ति से अनुरणित हुआ करता है, २ वह, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अर्थशक्ति से अनुरणित
हुआ करता है और ३. वह, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से अनुरणित
हुआ करता है ।

तात्पर्य यह है कि जब कि 'सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि में वाच्य और व्यङ्ग्य की
प्रतीतिओं में क्रम स्पष्ट परिलक्षित हुआ करता है तब तो यह स्पष्ट ही है कि यहाँ ध्वनि
अनुरणनरूप हुआ करती है ('अनुरणन'रूप इसलिये कि जब वाच्यावबोध तन्त्री-
रणनरूप है तो व्यङ्ग्यानुभव अनुरणन अथवा मधुर झकाररूप अवश्यमेव होगा) । यह
अनुरणनरूप ध्वनि शब्दशक्ति, अर्थशक्ति और शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से
निकला करती है जिससे इस प्रकार की ध्वनि से विभूषित काव्य (सलक्ष्यक्रम
व्यङ्ग्यध्वनि काव्य) के भी तीन प्रकार हुआ करते हैं ।

विमर्श—'सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' काव्य के प्रथम भेद अर्थात् 'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि' व
विशेषता यह है कि जिस शब्द से जो व्यङ्ग्यार्थ जहाँ निकल रहा है उसके दूसरे पर्याय से वह
व्यङ्ग्यार्थ वहाँ नहीं निकल सकता (शब्दशक्तिमूलक चैतदेव यत्तेनैव शब्देन तदर्थप्रतीतिः

(१—शब्दशक्त्युद्भवध्वनि दो भेद १—वस्तु-ध्वनि, २—अलङ्कार-ध्वनि)

तत्र—

वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

अलङ्कारशब्दस्य पृथगुपादानादनलङ्कारं वस्तुमात्रं गृह्यते । तत्र वस्तुरूपः
• शब्दशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो यथा—

‘पन्थि अ ! ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।

ऊणअ पओहर पेक्खिअ ऊण जइ वसति ता वत्सु ॥’

(पथिक । नात्र सत्तरमस्ति मवाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।

उत्ततपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वत्स ॥)

अत्र सत्थरादिशब्दशक्त्या यद्युपभोगक्षमोऽसि तदास्स्वेति वस्तु व्यज्यते ।

अलङ्काररूपो यथा—‘दुर्गालङ्घितविग्रहः’ इत्यादौ ।

न तु पर्यायान्तरेणापि) । ‘अर्थशक्त्युद्भव’ ध्वनि इसके विपरीत है क्योंकि वहाँ जो व्यङ्ग्यार्थ किसी प्रयुक्त शब्द से निकल सकता है वही उक्त शब्द के पर्याय से भी निकल सकता है (एतद्वैपरीत्य धार्थशक्तिमूलत्वम्) । ‘शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव’ ध्वनि में ‘परिवृत्तितह’ और ‘परिवृत्त्यतह’ शब्दों का नाना प्राधान्य रहा करता है (परिवृत्त्यसहशब्दप्राचुर्ये च शब्द-शक्तिप्राधान्यम्, परिवृत्तिसहशब्दप्राचुर्ये त्वर्थशक्तिप्राधान्यम्, तत्साम्ये तूभयशक्ति-प्राधान्यादुभयशक्तिमूलत्वम्) ।

अनुवाद—अथ ‘सलक्ष्यक्रमव्यग्य’ ध्वनि के इन तीनों भेदों का विवेचन किया जा रहा है—

‘शब्दशक्त्युद्भव’ नामक जो प्रथम ‘सलक्ष्यक्रमव्यग्य’ ध्वनि है उसमें व्यंग्यार्थ के ‘वस्तु’ रूप तथा ‘अलङ्कार’ रूप होने से दो भेद हुआ करते हैं—(१) शब्दशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनि और (२) शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि ।

यहाँ ‘वस्तु’ का अभिप्राय ‘वस्तुमात्र’ अथवा अनलङ्कृत अर्थ से है क्योंकि अलङ्कृत अर्थ के लिये ‘अलङ्कार’ शब्द का पृथक् प्रयोग कर दिया गया है । अब पहले भेद अर्थात् वस्तुरूप शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण यह रहा—

‘अरे बटोही ! यह तो पहाड़ी बस्ती रही, यहाँ विछावन वगैरह कहीं मिले ! यहाँ यदि ठहरना चाहो तो ‘उत्ततपयोधर’ (आकाश में उमड़े मेघ) देख लो और ठहर जाओ ।’

यहाँ ‘शब्दशक्त्युद्भववस्तु’ ध्वनि इसलिये है क्योंकि यहाँ जो ‘अस्तर’, ‘पयोधर’ आदि शब्द प्रयुक्त हैं उनकी व्यञ्जकता शक्ति से यही अभिप्राय निकलता है कि ‘अरे बटोही ! यदि पर्वतीय सुन्दरी का सुखभोग चाहते हो तो यहीं रात बिता लो ।’ (और यह अभिप्राय ऐसा है जिसमें कोई आलङ्कारिकता नहीं क्योंकि यह अभिप्राय तो एक ‘अनलङ्कृत अर्थरूप’ अभिप्राय है, वस्तुमात्र है) ।

दूसरे अर्थात् अलङ्काररूप शब्दशक्त्युद्भवध्वनि के उदाहरण रूपमें ‘दुर्गालङ्घितविग्रहः’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति देखी जा सकती है, जहाँ प्राकरणिक रूप से तो ‘उना’ नाम की महारानी के पति महाराज भानुदेव का वर्णन किया गया है और अप्राकरणिक रूप से ‘उना’ अथवा पार्वती के बहम भगवान् शिव का वर्णनरूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो उठता है ।

अत्र प्राकरणिकस्य उमानाममहादेवी-वल्लभ-भानुदेवनाम—नृपतेर्वर्णने द्वितीयार्थसूचितमप्राकरणिकस्य पार्वतीवल्लभस्य वर्णनमसम्बद्धं मा प्रसाह्वीदिति ईश्वरभानुदेवयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते तदत्र उमावल्लभ उमावल्लभ इवेत्युपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः । यथा वा—

‘अमितः समितः प्राप्तेरुत्कर्षैर्हर्षद ! प्रभो ! !

अहितः सहितः साधु यशोभिरसतामसि ॥’

अत्रामित इत्यादावपिशब्दाभावाद्विरोधाभासो व्यङ्ग्यः । व्यङ्ग्यस्यालङ्कार्यत्वेऽपि ब्राह्मणश्रमणन्यायादलङ्कारत्वमुपचर्यते ।

अब उमावल्लभ भानुदेव के वर्णनप्रकरण में पार्वतीपति शङ्कर का अप्राकरणिक व्यङ्ग्यरूप वर्णन असंगत न हो इसलिये भगवान् शङ्कर और महाराज भानुदेव में उपमानोपमेय भाव की कल्पना स्वाभाविक हो जाती है और इस प्रकार ‘उमावल्लभ’ (महाराज उमा के पति भानुदेव) ‘उमावल्लभ’ (पार्वतीपति शङ्कर) के समान हैं’ यह उपमालङ्कार रूप अर्थ अभिव्यङ्ग्य रूप से प्रतीत हो जाता है ।

इसी प्रकार यह सूक्ति जेंसे कि—

‘हे महाराज ! आप ‘हर्षद’ हो, शत्रुहर्ष के नाशक और मित्रहर्ष के प्रदायक । और (समित) संग्राम से प्राप्त विजय-सम्पदाओं से (अमित) अवर्णनीय वैभव-सम्पत्ति हो । आप ही ऐसे हो जो एक महापुरुष के यशोवैभव से ‘सहित’ सम्पन्न हो और साथ ही साथ दुर्जनों के (अहित) अहितकारक भी हो ।’ आदि भी शब्दशक्तिमूलक अलङ्कारध्वनि का ही उदाहरण है क्योंकि यहाँ ‘अमितः’ और ‘समित’ तथा ‘अहित’ और ‘सहित’ पदों की व्यञ्जकताशक्ति ‘विरोधाभास’रूप अलङ्कृत अर्थ का प्रत्यायन कर रही है । यहाँ विरोधाभास रूप अलङ्कृत अर्थ इसलिये व्यङ्ग्य है क्योंकि ‘अमित’ और ‘समित’ तथा ‘अहितः’ और ‘सहितः’ शब्दों के बीच ‘अपि’ (भी) शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है (क्योंकि ‘अपि’ शब्द के प्रयोग में विरोधाभास व्यङ्ग्य नहीं अपि वाच्य रह जायगा) ।

[तात्पर्य यह है कि यहाँ राजवर्णन का प्रकरण है और राजवर्णनरूप अर्थ अभिधा नियन्त्रित है । तब भी ‘अमित’ और ‘समित’ तथा ‘अहित’ और ‘सहित’ (जो अपरिमेय वह परिमेय क्यों ? जो ‘हितरहित’ वह ‘हितसहित’ कैसे ?) आदि अप्राकरणिक विरुद्ध अर्थ का आभास हो उठता है जो कि व्यङ्ग्यरूप ही अर्थ है और यह की शब्द-शक्ति के विजृम्भण का परिणाम है ।]

यहाँ अर्थात् ‘अलङ्कार ध्वनि’ के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि जो अलङ्कारमय अर्थ अभिव्यङ्ग्य रहा करता है वह अलङ्कार (शोभाधायक) रूप नहीं अपि अलङ्कार्य (शोभाश्रय काव्य) रूप अर्थ हो जाया करता है किन्तु तब भी इसे उपचारत ‘अलङ्कार’ कह दिया करते हैं (क्योंकि तभी तो इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ को अनलङ्कृत वस्तुमात्ररूप अर्थ से विशिष्ट रूप का अर्थ बताया जा सकता है) । वस्तुतः अलङ्कार्य रूप अर्थ को ‘अलङ्कार’ कहना ‘ब्राह्मणश्रमणन्याय’ का सहारा लेना है, (अर्थात् जेंसे किसी (बौद्ध भिक्षुक) को ‘ब्राह्मण’ कहना ठीक न होने पर भी, बुद्धधर्म की दीक्षा के पहले, उसके ब्राह्मण वर्ण का ध्यान रख कर, ‘ब्राह्मण’ कह दिया जाया करता है वैसे ही अलङ्कार्य

(अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि . १२ भेद)

वस्तु वालङ्कृतिर्वापि द्विधार्थः सम्भवी स्वतः ॥ ७ ॥

कवेः प्रौढोक्तिसिद्धो वा तन्निवद्धस्य वेति षट् ।

षड्भिस्तैर्व्यज्यमानस्तु वस्त्वलङ्काररूपकः ॥ ८ ॥

अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो याति द्वादशभेदताम् ।

स्वतः सम्भवी औचित्याद् बहिरपि सन्भाव्यमानः । प्रौढोक्त्या सिद्धः न त्वाचित्येन ।

(व्यङ्ग्य) रूप अर्थ को 'अलङ्कार' कहना ठीक न होने पर भी, व्यङ्ग्यरूप से अवस्थान के पहले, उसके वाच्य-‘अलङ्कार’ रूप का ध्यान रखकर, ‘अलङ्कार’ कहना स्वाभाविक ही है।

विमर्श—‘निन मनिन’ आदि मूर्ति में विरोधानाम व्यङ्ग्य है वाच्य नहीं इन मन्त्रों में वाच्यप्रधानता का उक्त अर्थ है—

‘ननु विरोधस्य किं सर्वत्र व्यङ्ग्यत्वेनैव ? नेत्युच्यते । तत्क्रियती सीमा ? अपि शब्दा-देविरोधव्यञ्जकस्य भावे वाच्यत्वं तदभावे व्यङ्ग्यत्वमिति ।’

अर्थात् जहाँ जहाँ भी विरोधानाम प्रतीत हो वहाँ सर्वत्र वह व्यङ्ग्यरूप से नहीं प्रतीत हुआ करता । यदि ‘अपि’ ‘च’ आदि विरोध-प्रत्ययों पदों का व्यवहार का दिया जाए तो विरोधानाम वाच्यरूप में प्रतिपादित होने लगे और यदि इनके प्रयोग में भी विरोध का अभिप्राय निकल पड़े तो यही मन्यमान पड़ेगा कि विरोध का अन्वयान हो रहा है ।

अतएव—‘अर्थशक्त्युद्भव’ नामक सत्त्वयक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के बारह प्रकार दिखायी पड़ते हैं । बारह प्रकार इसलिये क्योंकि यहाँ जो व्यञ्जक रूप से अवस्थित अर्थ हुआ करता है उसके ६ भेद स्पष्ट हैं । ये ६ भेद इस प्रकार देखे जा सकते हैं—

- (१) स्वतः सम्भवी वस्तु रूप व्यञ्जक अर्थ ।
- (२) " " अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ ।
- (३) कविप्रौढोक्तिनिद्र वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ ।
- (४) " " अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ ।
- (५) कविनिवद्धवचःप्रौढोक्तिपिद्र वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ ।
- (६) " " " " अलङ्कार रूप व्यञ्जक अर्थ ।

अब जब कि इस प्रत्येक प्रकार के व्यञ्जक अर्थ में निकलने वाला व्यङ्ग्यरूप अर्थ जो प्रकार का है अर्थात् (१) वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ और (२) अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ है तब तो यह निःसंदिग्ध है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि १२ प्रकार की है ।

यहाँ व्यञ्जकरूप अर्थ में ‘स्वतः सम्भवी’ भेद करने का यह अभिप्राय है कि कविवर्गिन अर्थों में एक ऐसा भी अर्थ है जो काव्य-विषय बनने पर भी, लोकजीवन में अपनी वास्तविकता रखा करता है । (स्वतः सम्भवी = लोक में भी सम्भव न कि केवल कविवर्गना का विषय) । इस प्रकार के अर्थ से भिन्न प्रकार का जो अर्थ है वह ‘कविप्रौढोक्ति-निद्र’ अर्थ कहा जाया करता है क्योंकि इसकी निष्पत्ति एकमात्र कवि की कल्पना द्वारा हुआ करती है जिसमें हमने कोई लौकिक वास्तविकता (और इस वास्तविकता की परीक्षा की आवश्यकता) नहीं रहा करती ।

जैसे कि, पहले स्वतः सम्भवी वस्तुनात्र रूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (१—स्वतः सम्भविना वस्तुना वस्तुध्वनि)—

त्र क्रमेण यथा—

‘दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि । क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि

प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।

एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं

नीरन्ध्राः तनुमालिखन्तु जरठच्छेदानलग्रन्थयः ॥’

अत्र स्वतः सम्भविना वस्तुना तत् प्रतिपादिकाया भाविपरपुरुषोपभोगज
क्षतादिगोपनरूपं वस्तुमात्रं व्यज्यते ।

‘दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।

तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विपेहिरे ॥’

अत्र स्वतः सम्भविना वस्तुना रवितेजसो रघुप्रतापोऽधिक इति व्यतिरेका-
ङ्कारो व्यज्यते ।

‘आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः ।

बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी ॥’

‘अरी पद्मोसवाली ! जरा इधर मेरे घर की ओर भी निगाह रखना । मेरा जो यह लाल
उसके पिता को कुँए का पानी पीना अच्छा नहीं लगता । क्या करूँ, जल्दी है, किसी
कार अकेले हो यहाँ से उस सोते पर जाना है जहाँ तमाल की सघन छाया के अँधेरे
तो कहना ही क्या, गाँठों से भरे घने, पुराने सरकण्डों की नोच-खरोंच का भी डर’
गा है ।’

यहाँ जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है वह है इस प्रकार की बात करनेवाली नायिका
का, किसी परपुरुष के साथ होने वाले रति-प्रसङ्ग में नखछत आदि चिह्नों का
गोपन अथवा छिपाना । इस व्यङ्ग्यार्थ का उपस्थापक अर्थ एक वस्तुरूप अर्थ है और
वतःसम्भवी (लोकप्रसिद्ध) है ।

अथवा

जैसे कि स्वतःसम्भवी वस्तुमात्ररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति
२—स्वतः सम्भविना वस्तुना अलङ्कारध्वनिः)—

‘जिस दक्षिण दिशा की ओर सूर्य का भी प्रताप मन्द पड़ जाया करता है उसी ओर
धु का प्रताप इतना प्रचण्ड हो उठा कि पाण्ड्य राजगण उसे सह न सके ।’

यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है कि ‘सूर्य के प्रताप से धु का प्रताप कहीं अधिक
खर—है’ । यह व्यङ्ग्यार्थ (वस्तुमात्र रूप अर्थ नहीं, अपितु) उपमान (सूर्य-प्रताप)
की अपेक्षा उपमेय (धु-प्रताप) का उरकर्षाधिक्य रूप अर्थ है—व्यतिरेक अलङ्कार रूप
अर्थ-सौन्दर्य है—और इसका जो व्यञ्जक अर्थ है वह एक स्वतःसंभवी (लोकप्रसिद्ध)
अर्थ है (क्योंकि दक्षिणायन में सूर्यप्रताप की मन्दता एक सर्वानुभवप्रसिद्ध वस्तु है) ।

अथवा

जैसे कि स्वतःसंभवी अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति
(३—स्वतःसंभविना अलङ्कारेण वस्तुमात्रध्वनिः)—

‘संग्राम के लिये आरूढप्रतिज्ञ बलराम ने, दूर से दौड़ते हुये, आक्रमण करनेवाले,
वेणुदारी राक्षस को ऐसे देखा जैसे सिंह हाथी को देख रहा हो ।’

अत्रोपमालङ्कारेण स्वतः सम्भविना व्यञ्जकार्थेन बलदेवः क्षणेनैव वेणुदारीणः क्षय करिष्यतीति वस्तु व्यज्यते ।

‘गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः ।

ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रूपा निजाधरम् ॥’

अत्र स्वतः सम्भविना विरोधालङ्कारेणाधरो निर्दष्टः शत्रवो व्यापादिताश्चेति समुच्चयालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

‘सजेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे ।

अहिणवसहआरमुहे णवपत्तले अणङ्गस्स सरे ॥’

(सजयति सुरभिमासो न चार्पयति युवतिजनलक्ष्यसहान् ।

अभिवसहकारमुखान् नव (पल्लव) पत्रलान् अवङ्गस्य शरान् ॥)

अत्र वसन्तः शरकारः, कामो धन्वी, युवतयो लक्ष्यम्, पुष्पाणि शरा इति कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु प्रकाशीभवन् मदनविजृम्भणरूप वस्तु व्यनक्ति ।

यहाँ यह ध्वनि निकलती है कि ‘पलक मारते ही, बलराम वेणुदारी का सर्वनाश कर डालेंगे ।’ यह ध्वनि एक वस्तुमात्र रूप अर्थ है किन्तु इसके व्यञ्जक रूप से जो अर्थ उपनिबद्ध है वह एकउपमालङ्कार है जो कि (कविप्रौढोक्तिसिद्ध नहीं अपितु) एक स्वतः-सम्भवी सुन्दर वाच्यार्थ है ।

अथवा

जैसे कि स्वतः सम्भवी अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (४—स्वतः सम्भविना अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि)—

‘यही वे महाप्रतापी राजा हैं जिन्होंने सप्राप्त में, क्रोध से, अपने ओठ चचाये और शत्रुनारिओं के विद्रुमोपम (मने की भाँति लाल) ओठों को, उनके प्रेमी राजाओं के दन्तक्षत-सकट से चचाया ।’

यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि ‘जैसे ही राजा ने अपने ओठ चचाये, वैसे ही शत्रुगण नष्ट हो गये ।’ यह व्यङ्ग्यार्थ एक अलङ्कारमय—वस्तुतः समुच्चयालङ्काररूप—अर्थ है (क्योंकि ‘राजा की अपने ओठ चचाने की क्रिया और ‘शत्रुओं के नष्ट हो जाने’ की क्रिया का यौगपद्य (एककालिक अवस्थान) स्पष्ट प्रतीत हो जाता है) । इस व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक जो अर्थ है वह एक स्वतः सम्भवी अलङ्काररूप—वस्तुतः विरोधाभासालङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि स्वयं अधरदशन और पराधर के दशनकष्ट-निवारण में आपाततः विरोध अवश्य उपनिबद्ध किया हुआ है) ।

इसी प्रकार कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (५—कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनि)—

‘वसन्त ने युवतियों को निशाना बनाने के लिये, नव किशलयोपम पुत्रों से युक्त बात्रमञ्जरी-गुच्छों को बाण बना कर तो रख छोड़ा है । अब देर इतनी ही है कि उन्हें काम के हाथ में दे दे ।’

यहाँ यह ध्वनि निकलती है कि ‘सर्वत्र कामभाव का आविष्कार प्रारम्भ हो गया है’ । यह ध्वनि एक वस्तुरूप ध्वनि है (क्योंकि वसन्त में कामोद्दीपन एक लोकसिद्ध बात है) किन्तु इसका जो व्यञ्जक रूप अर्थ है अर्थात् वसन्त का शरकार, काम का धनुर्धर, युवतियों का लक्ष्य और मञ्जरीगुच्छों का बाणरूप से वर्णन, वह (कोई स्वतः सम्भवी

‘रजनीपु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं वीर ! ।

धवल्यति भुवनमण्डलमखिल तव कीर्तिसंततिः सततम् ॥’

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना कीर्तिसन्ततेश्चन्द्रकरजालादधिककालप्रकाशकत्वेन व्यतिरेकालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

‘दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।

मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुविन्दवः ॥’

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेनापहृत्यलङ्कारेण भविष्यद्वाक्षसश्रीविनाशरूपं वस्तु व्यज्यते ।

‘धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदयो हस्ते सिताम्भोरुहं

हारः कण्ठतटे पयोधरयुगे श्रीखण्डलेपो धनः ।

एकोऽपि त्रिकलिङ्गभूमितिलक ! त्वत्कीर्तिराशिर्ययौ

नानामण्डनतां पुरन्दरपुरीवामभ्रवां विग्रहे ॥’

अर्थ नहीं अपि तु) एक कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है (ऐसा अर्थ है जिसका अस्तिरव कवि की प्रौढ वर्णना में ही है न कि सर्वसाधारण के अनुभव में) ।

अथवा कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (६-कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना अलङ्कारध्वनिः)—

‘हे शूरवीर राजन् ! जब कि चन्द्रमा की चांदनी रात में भुवनमण्डल को शुभ्र बनाया करती है, आपकी कीर्ति-सन्तति ऐसी है जो इसे सदा अपने शुभ्र प्रकाश से प्रकाशमान रखा करती है ।’

यहाँ जो व्यङ्ग्य रूप अर्थ है वह एक अलङ्काररूप अर्थ है क्योंकि चन्द्रिकारूप उपमान की अपेक्षा कीर्तिरूप उपमेय का उत्कर्षातिरेक स्पष्ट झलक रहा है । और इसका अभिव्यञ्जक जो अर्थ है वह (स्वतःसम्बन्धी वस्तुरूप अर्थ नहीं, अपि तु) एक कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है (क्योंकि कीर्ति की शुभ्रवर्णना कवि के कल्पना जगत् की घात है, प्रतिदिन के लोक की नहीं) ।

इसी प्रकार, कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (७-कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः)—

‘रामावतार के समय ऐसा लगा जैसे राक्षसवश की राजलक्ष्मी के आंसू, रावण के मणिमुकुट से टूटते मणि मौक्तिकों के वहाने, पृथिवी पर गिर गिर कर ढुलकने लगे ।’

यहाँ (महाकवि कालिदास के रघुवश की इस सूक्ति में) यह ध्वनि निकल रही है कि ‘अब राक्षसवश की राज्यश्री का अन्त होने ही वाला है ।’ यह ध्वनि एक अनलङ्कृत अर्थ सी है और इसका व्यञ्जक अर्थ एक ऐसा ‘अपह्रुति’ अलङ्काररूप अर्थ है जिसमें (स्वतःसम्बन्धिता नहीं अपि तु) कविप्रौढोक्तिसिद्धता की रूपरेखा स्पष्ट झलक रही है (क्योंकि राजलक्ष्मी के आंसू कवि के कल्पनालोक में संभव हैं न कि इस लोक में) ।

अथवा

कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (८-कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः)—

‘हे तैलङ्गवसुन्धरातिलक (तलङ्गाधिप महाराज) ! आपकी एक ही कीर्ति-सतति ऐसी है जो बन्धु-प्राप्तियों के केशपाशों के लिये मल्लिका-गुच्छ, हाथों के लिये

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन रूपकालङ्कारेण भूमिष्ठोऽपि स्वर्गस्थानामुपकार करोपीति विभावनालङ्कारो व्यज्यते ।

‘शिखरिणि क नु नाम कियधिर किमभिवानमसावकरोत्तपः ।

सुमुखि ! येन तवाधरपाटल दशति विन्वफल शुक्शावक ॥’

अत्रानेन कविनिबद्धस्य कस्यचित्कामिनः प्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना तगाधर पुण्यातिशयलभ्य इति वस्तु प्रतीयते ।

‘सुभगे ! कोटिसख्यत्वमुपेत्य मदनाशुनैः ।

वसन्ते पञ्चता त्यक्त्वा पञ्चतासीद्वियोगिनाम् ॥’

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन कामशराणां कोटिसख्यत्वप्राप्त्या निखिलवियोगिमरणेन वस्तुना शराणां पञ्चता शरान् विमुच्य वियोगिनः त्रितेवेत्युत्प्रेक्षालङ्कारो व्यज्यते ।

मितकमल, कण्ठ-तटों के लिये मौक्तिक-माल, स्तनद्वयों के लिये मधन चन्दनाङ्गनाग और इतना ही क्यों, बद्ध-प्रत्यङ्ग के लिये उन-उन शृङ्गार-प्रमाधनों का रूप धारण करती दिखायी पड़ रही है ।’

यहाँ यह ध्वनि निकल रही है कि ‘भूलोक में विराजमान भी तैलङ्गाधिप स्वर्गलोक के निवासिनों के उपकार में अनवरत लीन हैं ।’ यह ध्वनि एक अलङ्कार अर्थ—वस्तुन विभावनालङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि तैलङ्गनरेश का स्वर्गलोक के निवासिनों का उपकारसम्पादनरूप कार्य उनके स्वर्गलोकनिवासरूप कारण के अभाव में ही निष्पन्न होता वर्णित किया जा रहा है—‘विभावना विना हेतु कार्योत्पत्तिरुच्यते’) । इस अलङ्कार-रूप ध्वनि का जो अभिव्यञ्जक अर्थ है वह कविप्रौढोक्तिसिद्ध रूपकालङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि कीर्ति का सुरसुन्दरिणों के नङ्गिकानाल आदि प्रमाधनों ने तादात्म्यारोप कवि की प्रौढ वर्णना का ही परिणाम है न कि वस्तु-वर्णना का) ।

इसमें भाति, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ में वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (९—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनि)—

‘बरी सुन्दरी ! पता नहीं चलता कि इस शुक्-शावक ने किस पर्वत-शिखर पर, कितने दिनों तक, किस प्रकार का तप किया कि इसे तेरे अधर की भांति लाल कोमल विन्वफल के आस्वाद का मौभाग्य मिल गया ।’

यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि ‘तेरा अधररमपान बड़े पुण्य प्रताप का ही फल है ।’ इस व्यङ्ग्यार्थ का अभिव्यञ्जन जिस प्रकार के अर्थ से हो रहा है वह अर्थ वस्तु मात्र रूप अर्थ है और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है क्योंकि यहाँ कवि ने एक प्रेमी की उक्ति का ऐसा उपनिबन्ध किया है ।

अथवा

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ में अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (१०—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना अलङ्कारध्वनि)—

‘बरी सुन्दरी ! इस वसन्त ऋतु में काम के दागों ने तो, करोड़ों की मरचा में पहुँच कर, अपनी (लोकप्रसिद्ध) ‘पञ्चता’ (पञ्चमरयक्ता) छोड़ दी किन्तु वियोगियों को ‘पञ्चता’ (मृत्यु) ने छुटकारा न मिला ।’

यहाँ जो व्यङ्ग्य अर्थ है वह उत्प्रेक्षालङ्काररूप अर्थ है क्योंकि वस्तु में यहाँ प्रतीत हो

‘मल्लिकामुकुले चण्डि ! भाति गुञ्जन् मधुव्रतः ।

प्रयागे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव ॥’

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनोत्प्रेक्षालङ्कारेण कामस्यायमुन्मादकः कालः प्राप्तस्तत्कथं मानिनि मानं न मुञ्चसीति वस्तु व्यज्यते ।

‘महिलासहस्रभरिण तुह हिअ सुहअ सा अमाअन्ती ।

अणुदिणमणणकम्मा अङ्गं तणुअ पि तरुणइ ॥’

(महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा आमाअन्ती ।

अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनूकरोति ॥)

अत्रामाअन्तीति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण तनो-स्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तत इति विशेषोक्त्यलङ्कारो व्यज्यते ।

रहा है कि ‘कामबाणों की ‘पञ्चता’ मानो उन्हें छोड़ कर वियोगियों का आश्रय ले चुकी है ।’ इस व्यङ्ग्यार्थ का उत्पापक अर्थ एक वस्तुरूप अर्थ है जिसका यह स्वरूप है—‘जब कि वसन्त में काम के बाण करोड़ों की संख्या पार कर चुके तब तो वियोगियों में सभी की मृत्यु निश्चित है’ । यह वस्तुरूप अर्थ भी कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है क्योंकि इसका वक्ता कवि द्वारा वर्णित एक कामुक व्यक्ति है जो कि अपनी प्रौढ वर्णना में काम के कोटि कोटि शरों का साक्षात्कार कर रहा है ।

अथवा

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (११-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण वस्तुध्वनि.)—

‘अरी कोप करने वाली सुन्दरी ! इधर देख, इस चमेली की कली पर यह भौंरा ऐसा गुजार कर रहा है मानो पञ्चशर काम की विजययात्रा का शख वजा रहा हो ।’

यहाँ यह वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि ‘अरी मानिनी ! अब तो मदनोन्माद की घड़ी आ पहुँची, अब क्यों मान नहीं छोड़ती । यह व्यङ्ग्यार्थ जिस व्यञ्जक अर्थ के आधार पर निकल रहा है वह अर्थ एक कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध उत्प्रेक्षालङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि काम के शङ्खवादक के रूप में अमर का दर्शन कवि के कल्पना लोक में भले ही सम्भव हो, प्रतिदिन के लोक में तो असम्भव ही है) ।

और अन्त में

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (१२-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि.) ।

‘अरे सुन्दर ! तेरी वह सुन्दरी, अब सहस्रों सुन्दरियों से भरे तेरे हृदय में प्रवेश मात्र भी न पाकर, प्रतिदिन, सब काम छोड़-छाड़ कर, बस, अपनी दुर्बल देह को अधिक से अधिक दुर्बल बनाने में ही लगी हुई दीख पड़ रही है ।’

यहाँ यह ध्वनि निकल रही है कि ‘चाहे वह अपनी देह को कितनी भी दुर्बल क्यों न बनावे तेरे हृदय में उसके लिये कोई स्थान नहीं ।’ यह ध्वनि एक अलङ्कारमय अर्थ-वस्तुतः ‘विशेषोक्ति’ अलङ्काररूप अर्थ-है (क्योंकि सकोण स्थान में प्रवेशार्थ देह की दुर्बलता के कारण के सन्नाह में भी प्रवेशरूप कार्य की अनिष्पत्ति ही वर्णित है) । इस ध्वनि की अभिव्यञ्जना जिस अर्थ से हो रही है वह अर्थ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ‘काव्यलिङ्ग’

(कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध व्यञ्जक अर्थ का स्वल्प-विरलेपण)

न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारकारिणीति पृथक्प्रतिपादिता ।

बलङ्कारूप अर्थ है क्योंकि हृदय में प्रवेश न पाने का जो हेतु यहाँ वर्णित है अर्थात् हृदय का सुन्दरीसहस्र से भरा रहना, वह एक काव्यात्मक हेतु है ।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' व्यञ्जक अर्थ से 'कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' व्यञ्जक अर्थ को इसलिये पृथक् परिगणित किया गया है क्योंकि यदा-कदा 'कविप्रौढोक्ति' की अपेक्षा 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति' में सहृदयहृदय अधिक चमत्कार अनुभव किया करता है । इसका एक कारण है और वह यह है कि कवि के रागाद्याविष्ट हृदय की अपेक्षा कविप्रतिभोत्तन्मिन्नायकादि का हृदय अधिक रागाद्याविष्ट हुना करता है ।

विमर्श—'अर्थशक्त्युद्भव' ध्वनि में ध्वनिकार ने व्यञ्जक अर्थ का द्वैविध्य हो प्रदर्शित किना है—
'अर्थशक्त्युद्भवानुरागनुरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ—
कवे कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतःसंभवी च द्वितीयः ।'
(ध्वन्यालोक २-२४)

किन्तु काव्यप्रकाशकार का अनुसरण करते हुये विश्वनाथ कविराज ने 'स्वतःसंभवी' के अतिरिक्त 'प्रौढोक्तिसिद्ध' व्यञ्जक अर्थ के दो भेद मान कर व्यञ्जक अर्थ को तीन प्रकार का निश्चिन्त किया है । इस सन्दर्भ में काव्यप्रकाशकार की बालोचना में काव्यानुशासन के रचयिता आचार्य हेनचन्द्र ने यह लिखा था—

'इह चार्थः स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-
मात्रनिष्पन्नशरीरो वेति भेदकथनं न न्याय्यम् । प्रौढोक्तिनिमित्तत्वमात्रेणैव साधयामिदं ।
प्रौढोक्तिमन्तरेण स्वतःसंभविनोऽप्यकिञ्चित्करत्वात् । कविप्रौढोक्तिरेव च कविनिबद्धवक्तृ-
प्रौढोक्तिरिति किं प्रपञ्चेन । (काव्यानुशासन १-२४)

अर्थात् अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में व्यञ्जकरूप अर्थ को भले ही एक दृष्टि में 'स्वतःसंभवी' और 'प्रौढोक्तिसिद्ध' रूप से दो प्रकार का माना जा सके किन्तु ऐसा मानना निरर्थक है कि प्रौढोक्ति-
निष्ठ अर्थ भी 'कविप्रौढोक्तिनिष्ठ' और 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति' निष्ठ रूप में दो भेदों में विभक्त
है । यहाँ बात तो वस्तुतः यह है कि 'स्वतःसंभवी' भी अर्थ प्रौढोक्तिनिष्ठ होने पर ही व्यञ्जक
हुआ करता है । तब भी यदि इसे कविप्रौढोक्तिनिष्ठ अर्थ में पृथक् किया गया तो कोई बात नहीं ।
किन्तु कवि की प्रौढोक्ति और कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति का पार्थक्य तो निराधार हो ।

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने एक युक्ति से मन्मट-निर्दिष्ट 'द्वैविध्य' का ही समर्थन किया है ।
यह समर्थन मन्मट-ध्वनिवत्प्रादाचार्य की इन शक्ति के आधारे पर है—

'यदा तु कविनिबद्धस्य सामिहापस्य तरुणस्य वक्तुरित्य प्रौढोक्तिस्तदा व्यञ्जकत्वम् ।'

(ध्वन्यालोक टीका-२-२४ उदात्त)

तब भी परिश्रुत राज जागृष्य को नर मय मन्मथन-संरम्भ कर्मात्मा हो प्रयत्न होता है—
'प्रतिभानिर्वर्तित्वाविशेषाच्च कवितदुन्मिन्नावक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयोर्न पृथग् भावेन
गणनोचिता, उन्मिन्तोन्मितादरेपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः ।'

अर्थात् यदि प्रौढोक्तिनिष्ठ अर्थ में 'कविप्रौढोक्तिनिष्ठ' और 'वक्तृप्रौढोक्तिनिष्ठ', मय में भेद
किया जाने लगे तब भी वक्तृप्रौढोक्तिनिष्ठ अर्थ में भी कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्ठ आदि की परम्परा
चल पड़ेगी और परिणाम कुछ भी नहीं होगा ।

(अलङ्कार-ध्वनि का रहस्य • अलङ्करण न कि अलङ्कृत वस्तु)

एषु चालङ्कृतिव्यञ्जनस्थले रूपणोत्प्रेक्षणव्यतिरेचनादिमात्रस्य प्राधान्यं सहृदयसंवेद्यम्, न तु रूप्यादीनामित्यलङ्कृतेरेव मुख्यत्वम् ।

(शब्दार्थशक्त्युद्भवध्वनि • १ भेद)

एकः शब्दार्थशक्त्युत्थे—

उभयशक्त्युद्भवे व्यङ्ग्ये एको ध्वनेर्भेदः ।

यथा—

‘हिममुक्तचन्द्ररुचिर’ सपद्मको मदयन् • द्विजाञ्जनितमीनकेतनः ।

अभवत्प्रसादितसुरोर्महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः ॥’

अनुवाद—ऊपर अलङ्कार-ध्वनिओं के जो उदाहरण दिये गये हैं उनके सम्बन्ध में एक बात जाननी आवश्यक है और वह यह है—जहाँ भी रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक आदि अलङ्कार व्यङ्ग्य हुआ करते हैं वहाँ सहृदयों का यही अनुभव है कि रूपण, उत्प्रेक्षण, व्यतिरेक आदि अलङ्करणरूप कविव्यापार व्यङ्ग्य है न कि रूप्य, उत्प्रेक्ष्य, व्यतिरेक्ष्य आदि स्वभाव वाला अलङ्कृत अर्थ । इसलिये अलङ्कार-ध्वनि में जो प्रधानतया व्यङ्ग्य तत्त्व है वह अलङ्करणीय वस्तु नहीं अपि तु ‘अलङ्कृति’ अथवा ‘अलङ्करण’ है (और इसीलिये ‘अलङ्कार’ को ‘वस्तु’ से पृथक् प्रकार का व्यङ्ग्यार्थ माना जाया करता है) ।

विमर्श—अलङ्कार-ध्वनि का यह रहस्य सर्वप्रथम आचार्य अभिनवगुप्त ने ही देखा है जैसा कि ध्वन्यालोकलोचन (२५ उद्योत) की इस वक्ति से स्पष्ट है—

‘उपमानोपमेयभाव इति । तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्वादादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानं न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम् ।’

अर्थात् जब कि ध्वनिकार ने ‘उपमा’ ध्वनि को ‘उपमानोपमेयभाव’ ध्वनि माना है तब तो अलङ्कार ध्वनि का रहस्य अलङ्करणव्यापार का ही रहस्य प्रतीत होता है न कि अलङ्करणीय अर्थवस्तु का । अलङ्करणीय अर्थवस्तु तो विश्लेषण में वस्तुमात्र-सी प्रतीत होती है । इसलिये अलङ्कार का ध्वनित होना ‘अलङ्करण’ का ध्वनित होना है । जहाँ ‘रूपक’ ध्वनि कही जाय, वहाँ ‘रूपणा’ अभिव्यङ्ग्य मानी जायगी, जहाँ ‘व्यतिरेक’ ध्वनि कही जाय, वहाँ ‘व्यतिरेचना’ ध्वनित समझी जायगी । अलङ्कार ध्वनि में उपमेय, रूपणीय, व्यतिरेचनीय, अपह्वत्तनीय आदि-आदि रूप अर्थों का कोई स्थान अथवा महत्त्व नहीं रहा करता ।

अनुवाद—वह ‘सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य’ ध्वनि-काव्य जो कि शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव कहा जाया करता है, एक प्रकार का ही है ।

अभिप्राय यह है कि जहाँ शब्द और अर्थ दोनों की व्यञ्जकता शक्ति से व्यङ्ग्यार्थ निकला करता है वहाँ ध्वनि-काव्य एकविध ही माना गया है । जंसे कि (माधकाव्य की यह सूक्ति अर्थात्)—

‘इन्द्रप्रस्थ में विराजमान, (जनितमीनकेतन) प्रद्युम्न के पिता तथा कामोद्दीपक (हिममुक्तचन्द्ररुचिर) हिमपात से निर्मय चन्द्रमा की भाँति निर्मल कान्तिपूर्ण तथा हिमपातरहित चन्द्र-चन्द्रिका के कारण अतिशय रमणीय, (सपद्मक) पद्मा के सहवास से सुशोभित तथा पद्मवन की विकसित शोभा से सुन्दर, (द्विजान् मदयन्) पुरवासी द्विजगण के हर्षजनक तथा पक्षिघ के प्रमोदकारक; (प्रसादितसुर.) देवलोक के सुरगण के आनन्ददायक तथा मदिरा के विभूतिवर्द्धक, (माधव) श्रीकृष्ण भगवान् तथा वसन्त

'सिंहदयस्वमप्यस्य' ध्वनिः साव्यरुपः ३०: ३१:

त्वेन च शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया पञ्चदशेत्यष्टादशभेदो ध्वनिः ।

शब्दशक्त्युद्भव	ध्वनिकाव्य के भेद	= २	} = १५
अर्थशक्त्युद्भव	ध्वनिकाव्य के भेद	= १२	
और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव	ध्वनिकाव्य का भेद	= १	
			ध्वनिकाव्यभेद = १८

विमर्श—ध्वनिकाव्य के मूल भेदों का कोष्ठक यह है—

ध्वनि काव्य

- १ लक्षणामूल (अविवक्षितवाच्य) ध्वनिकाव्य १० अभिधामूल (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनिकाव्य
लक्षणामूल (अविवक्षितवाच्य) ध्वनिकाव्य का भेद-कोष्ठक यह है—
अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य

१. 'अर्थान्तरसंक्रमितरूप' अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य २ 'अत्यन्ततिरस्कृतरूप' अविवक्षित
वाच्यध्वनिकाव्य

अभिधामूल (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनिकाव्य के प्रमुख भेद ये हैं—

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य

- १ 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य २ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य'विवक्षितान्य
परवाच्यध्वनिकाव्य

अभिधामूलध्वनिकाव्य के इन दोनों भेदों में पहले अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-विवक्षितान्य
परवाच्यध्वनिकाव्य के अनन्त भेद संभव हैं किन्तु आलंकारिकों ने व्यङ्ग्यरूप अर्थ की 'असं-
लक्ष्यक्रमता' के असाधारण धर्म को सर्वत्र अनुगत मान कर इन्हें 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' रूप एवं
भेद में ही अन्तर्भूत कर दिया है ।

'रसादीनामनन्तरवाद् भेद एको हि गण्यते'—असंलक्ष्यक्रमवन्तु सामान्यमाश्रित्य
रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते । (काव्यप्रकाश . ४ र्थ उल्लास)

अभिधामूलध्वनिकाव्य के दूसरे भेद अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य के मुख्य भेद ये हैं—
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य

- १ 'शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रम- २ 'अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रम- ३ 'शब्दार्थोभयशक्तिमूल संलक्ष्य
व्यङ्ग्यध्वनि'काव्य व्यङ्ग्यध्वनि'काव्य क्रमव्यङ्ग्यध्वनि'काव्य

'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि'काव्य का जो पहला प्रकार है उसके ये दो भेद हैं—


'शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनिकाव्य

- १ 'शब्दशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम-वस्तुव्यङ्ग्य- २ 'शब्दशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम-अलङ्कारव्यङ्ग्य-
ध्वनिकाव्य ध्वनिकाव्य

एवम्—

वाक्ये शब्दार्थशक्त्युत्पत्तिस्तदन्ये पदवाक्ययोः

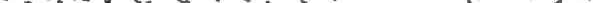
लघुसंस्कृत-संज्ञा

3. 

॥ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

- (५) कर्माणि नानाविधानि विदुः कुरुष्व नानाविधानि कर्माणि नानाविधानि विदुः कुरुष्व नानाविधानि विदुः कुरुष्व

-
- A handwritten musical score for the song 'The Rose Tree'. The score is written on four staves. The first staff begins with a treble clef and a key signature of one flat (B-flat). The melody is written in a simple, folk-like style. The second staff contains a bass line, also in one flat. The third and fourth staves provide additional parts, possibly for harmony or a second voice. The notation includes various musical symbols such as notes, rests, and bar lines, all written in a cursive, handwritten style.

- (८) 

-
- A musical score for the song 'The Rose Tree'. It consists of four staves. The first staff is the vocal melody, starting with a treble clef and a key signature of one flat (B-flat). The second staff is the piano accompaniment, starting with a bass clef. The third and fourth staves are additional piano accompaniment parts, also starting with a bass clef. The music is in 4/4 time. The lyrics 'The Rose Tree' are written below the first staff.

- [illegible]

-
- A handwritten musical score for the song 'The Rose Tree'. The score is written on four staves, numbered 1 through 4 on the left. Each staff contains a line of music with notes, rests, and bar lines. The notation is in a historical style, likely from the 18th or 19th century. The music is written in a single system across the four staves. The first staff begins with a treble clef and a key signature of one flat (B-flat). The notation includes various note values, including minims, crotchets, and quavers, as well as rests and bar lines. The score concludes with a double bar line at the end of the fourth staff.

[illegible][illegible]

‘सद्भाषेन्नमस्तुभ्यम्’ अग्नि तो केवल ‘वस्यन्त’ ही हुआ करते हैं, किन्तु
कर्म : अग्नि-भस्म ‘सद्भाषा’ और ‘वस्यन्त’ दोनों हुआ करते हैं।

तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः पदगतो यथा—

‘धन्यः स एव तरुणो नयने तस्यैव नयने च ।

युवजनमोहनविद्या भवितेयं यस्य संमुखे सुमुखी ॥’

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्तादिगुणविशिष्टनयनपरः । वाक्यगतो यथा—

‘त्वामस्मि वक्षिषि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥’

अत्र प्रतिपाद्यस्य संमुखीनत्वादेव लब्धे प्रतिपाद्यत्वे त्वामिति पुनर्वचनमन्य-
व्यावृत्तिविशिष्टं त्वदर्थं लक्षयति । एवं वक्ष्मीत्यनेनैव कर्तरि लब्धेऽस्मीति पुन-
र्वचनम् । तथा विदुषां समवाय इत्यनेनैव वक्तुः प्रतिपादने सिद्धे पुनर्वक्ष्मीति
वचनमुपदिशामीति वचनविशेषरूपमर्थं लक्षयति । एतानि च स्वातिशय व्यञ्ज-
यन्ति । एतेन मम वचन तवात्यन्तं हितं तदवश्यमेव कर्तव्यमित्यभिप्रायः । तदे-
वमय वाक्यगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः ।

उदाहरण के लिए, ‘पदगत’ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि—

‘युवकों की समोहिनी यह सुन्दरी जिसके सामने पद जाय, वस्तुतः वही युवक
सौभाग्यशाली है और उसी की आँखें ‘आँखें’ हैं ।’

यहाँ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि इसलिये ‘पदगत’ है क्योंकि पुनः प्रयुक्त ‘नयन’
पद की पर्यालोचना से ही यह व्यंग्यार्थ प्रतीत हो रहा है कि ‘इस सुन्दरी को देखने
वाले ‘नयन’ ही जान सकते हैं कि सौन्दर्य और प्रेम क्या वस्तु है ।’ इस व्यंग्यार्थ का
दृष्टि से पुनः प्रयुक्त ‘नयन’ पद अपने सामान्य अर्थ में ‘अविवक्षित’ है और ‘भाग्य-
शाली नयन’ रूप विशेष अर्थ को ही लक्षित कर रहा है जिसमें इसका वाच्यार्थ ‘अर्थान्तर-
संक्रमित’ अथवा ‘रूपान्तरपरिणत’ प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार, ‘वाक्यगत’ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि—

‘देखो भाई ! मैं तुम्हें कह रहा हूँ कि यहाँ बड़े-बड़े बुद्धिमान लोगों की मण्डली जमा
है । यदि तुम्हें भी यहाँ बैठना है तो समझ-बूझकर बैठो ।’

यहाँ जो ‘वाक्यगत’ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि है उसका यह स्वरूप है—‘यहाँ
यह सब कहने वाला व्यक्ति अपने आपको परम-बुद्धिमान् घटा रहा है और सुनने वाले के
लिए, अपनी बात को, हितकारक और अनिवार्य रूप से मानने योग्य प्रमाणित कर
रहा है ।’ इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति किसी एक पद की नहीं अपितु अनेकानेक पदों की
प्रत्यालोचना से हो रही है । क्योंकि विश्लेषण से यह स्पष्ट पता चलता है कि यहाँ के
अनेकों पदों के वाच्यार्थ अपने साधारण रूप में तो ‘अविवक्षित’ (अनुपयुक्त) हो रहे
हैं और अपने विशेष रूप को लक्षित करते जा रहे हैं । जैसे कि (प्रथम प्रयुक्त) ‘त्वाम्’
(तुम्हें) पद का वाच्यार्थ अपने सामान्य रूप में अविवक्षित है क्योंकि जबकि ‘प्रतिपाद्य’
(जिससे कुछ कहा जाय, वह) सामने खड़ा हो तो उसके निर्देशक पद का प्रयोग किस
काम का ! अब यह पद एकमात्र अपने विशेष रूप अर्थ को अर्थात् ‘उपस्थित लोगों में
सबको छोड़ केवल एक निर्देश्य व्यक्ति, को ही लक्षित कर रहा है (जिससे इस निर्देश्य
व्यक्ति की ही अविवेकिता अभिव्यक्त हो उठती है) । इसी प्रकार जबकि ‘वक्षिषि’ (कह
रहा हूँ) यह क्रिया पद प्रयुक्त है जिससे इसके कर्ता अर्थात् बोलने वाले व्यक्ति का
अभिप्राय स्वयं निकल जाता है, तब कर्तृवाचक ‘अस्मि’ (मैं) पद का प्रयोग पुनरुक्ति

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः पदगतो यथा—‘निश्वासान्ध-’ इत्यादि । वाक्य-
गतो यथा—‘उपकृतं बहु तत्र-’ इत्यादि । अन्येषां वाक्यगतत्वे उदाहरणम् । पद-
गतत्वे यथा—

‘लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।

तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥’

अत्र लावण्यादीना तादृगनुभवैकगोचरताव्यञ्जकानां तदादिशब्दानामेव
प्राधान्यम्, अन्येषां तु तदुपकारित्वमेवैति तन्मूलक एव ध्वनिव्यपदेशः ।

नहीं तो और क्या ! अब यह ‘जग्मि’ पद अपने सामान्य अर्थ में अविवक्षित (अनुपयुक्त)
होकर अपने विशेष अर्थ अर्थात् ‘हितचिन्तक’ रूप अर्थ को ही लक्षित करने लग जाता
है जिसमें वक्ता की उदात्ताशयता का निगूढ अर्थ निकलने लगता है । इसी नाति
जबकि यहाँ ‘विदूषा मनवाच’ (बुद्धिमानों की मण्डल) यह पद प्रयुक्त कर दिया गया
जिससे, यहाँ निरंतर्य व्यक्ति के प्रति, वक्ता का कुछ न कुछ कहना सुनना स्पष्ट प्रतीत
हो गया तब फिर ‘वज्जि’ (कह रहा हूँ) पद निष्प्रयोजन नहीं तो और क्या ? अब अपने
सामान्य अर्थ में अविवक्षित यह ‘वज्जि’ पद अपने विशेष अर्थ अर्थात् ‘उपदेशानि’
(उपदेश दे रहा हूँ) इन अभिप्राय को ही लक्षित करने में लग गया है (और ऐसा
करने में एक निगूढ तात्पर्य निकल पड़ता है जो कि इस प्रकार के उपदेश के अनिवार्य
रूप में अनुसरण करने का तात्पर्य है) ।

अब ‘पद-’ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का उदाहरण है—पूर्वोद्धृत ‘निश्वासान्ध’
इत्यादि सूक्ति (क्योंकि ‘निश्वासान्ध’ इत्यादि सूक्ति की ध्वनि के विग्लेषण में यह
स्पष्ट है कि ‘लब्ध’ पद का वाच्यार्थ अपने सामान्य स्वरूप (छष्टिहीन रूप अर्थ) में अविवि-
क्षित (सर्वथा अनुपयुक्त) है और अपने विशेष स्वरूप (नलिन रूप अर्थ) का ही एक-
मात्र उपलब्ध बन रहा है जिसमें नालिन्य की पराकाष्ठा का निगूढ अर्थ अभिव्यक्त हो
उठता है जिसमें काव्य-मन्दर्य झलक पड़ता है) ।

‘वाक्यगत’ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के निदर्शन के लिये ‘उपकृतं बहु तत्र’
इत्यादि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है ।

इन उपर्युक्त दोनों तद्वान्मूलक ध्वनि-भेदों के अनिवार्य अन्य दो ध्वनि-भेद हैं
(जैसे कि अमलव्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि और मलव्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के १४ प्रकार) उनके
‘वाक्यगत’ भेद तो पूर्वोद्धृत उदाहरण में ही स्पष्ट हैं । यहाँ उनके ‘पदगत’ भेदों के ही
उदाहरण दिये जा रहे हैं, जैसे कि—

‘पद-’ अमलव्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि—

‘वही लावण्य, वही कान्ति, वही रूप और वही दोलने का रग-रग, उद वह माय
रही, प्रत्येक में अनुत कासा कानन्द मिलता रहा, किन्तु अब ! अब तो इन मयमें
मयकर मतार मिल रहा है ।’

यहाँ ‘तदा’ (वही) आदि सर्वनाम पद हो लावण्य आदि की पूर्वानुभूत अनिर्वचनीय
विशेषताओं की उत्कट स्तुति को उद्बुद्ध कर रहे हैं जिसमें विमलस्मृति का कानन्द
अभिव्यक्त हो उठता है । यहाँ इस विमलस्मृति में वाक्य महकारी रूप में ही व्यञ्जक
है, क्योंकि ‘तदा’ पद की स्पष्टता प्रधानतया दिवायी दे रही है । इसीलिये इसे ‘पदगत’
अमलव्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि काव्य कहा गया है ।

तदुक्त ध्वनिकृता—

‘एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी ।

पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥’

एवं भावादिष्वप्युह्यम् ।

‘भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।

कस्य नानन्दनिस्त्यन्दं विदधाति सदागमः ॥’

अत्र सदागमशब्दः सन्निहितमुपनायकं प्रति सच्छास्त्रार्थमभिधाय सतः पुरुषस्यागम इति वस्तु व्यनक्ति । ननु सदागमः सदागम इवेति न कथमुपमा-ध्वनिः ? सदागमशब्दयोरुपमानोपमेयभावाविवक्षणात् । रहस्यस्य सद्गोपनार्थमेव हि द्वयर्थपदप्रतिपादनम् । प्रकरणादिपर्यालोचनेन च सच्छास्त्राभिधानस्यासम्बन्धत्वात् ।

रसादिध्वनि की इस प्रकार की पदव्यञ्जकता को ही लक्ष्य में रखकर ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा था—

‘जैसे कभी किसी एक अंग में धारण किये गये किसी आभूषण से किसी कामिनी का सौन्दर्य निखर उठता है वैसे ही किसी एक पद में अन्तर्निहित व्यञ्जकता से किसी काव्य-सूक्ति का भी सौन्दर्य निखर ही उठता है ।’

इसी प्रकार भाव तथा आभासादिरूप असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि की ‘पदगतता’ के उदाहरण स्वयं देखे जा सकते हैं ।

‘पदगत’ शब्द-शक्तिमूल वस्तुध्वनि—

(किसी दूती अथवा सखी की, किसी प्रच्छन्न कामुक की उपस्थिति को लक्ष्य कर किसी नायिका के प्रति उक्ति)

‘सदागम’ (वेदादि शास्त्र) का क्या कहना ! अभ्युदय भी उसी से मिले, निःश्रेयस भी वही दे, सभी कर्मों का विधायक भी वही और भला ! कौन ऐसा है जो उससे आनन्द का निस्त्यन्द न पाये ।’

यहाँ (चक्रा और बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से) शब्दशक्त्युद्भव वस्तुध्वनि है, क्योंकि वैसे तो यहाँ प्रयुक्त ‘सदागम’ शब्द (वेदादि) ‘सच्छास्त्र’ का अभिधायक है किन्तु, प्रच्छन्न कामुक को लक्ष्य में रखने के कारण, इससे यह अभिव्यक्त हो उठता है कि ‘अरी सखी ! वह आ गया है जिससे तेरी विरह-व्यथा दूर हो जायगी और हृदय का आनन्द मिल जायगा ।’

यहाँ यह कहा जा सकता है कि उपरिनिर्दिष्ट सूक्ति को ‘वस्तु’ ध्वनि न मानकर ‘अलङ्कार’ ध्वनि—क्यों न माना जाय ? ‘सदागम की भांति सदागम’ (सदागम. इव सतः वल्लभस्य आगम. सदागमः) का व्यङ्ग्यार्थ तो ‘उपमानोपमेयभाव’ का व्यङ्ग्यार्थ है और तब यहाँ ‘उपमा’ ध्वनि क्यों न हो ? किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ सदागम शब्द के प्रतिपाद्यों अर्थात् ‘सच्छास्त्र’ और ‘प्रच्छन्नकामुक’ रूप अर्थों में किसी प्रकार का औपम्य विवक्षित नहीं । यहाँ तो ‘सदागम’ शब्द, जो कि सच्छास्त्र और किसी के आगमन दोनों अर्थों का प्रतिपादक है, इसीलिये प्रयुक्त किया गया है जिसमें प्रच्छन्नकामुक के प्रेम-मिलन का रहस्य छिपा रहे । साथ ही साथ प्रकरण आदि की पर्यालोचना से भी यही प्रतीत होता है कि सदागम शब्द का ‘सच्छास्त्र’ रूप अर्थ यहाँ सर्वथा असम्बद्ध है

‘अनन्यसाधारणवीर्यवृत्तात्तिलवसुन्वरः ।

राजते कोऽपि जगति स राजा पुरुषोत्तमः ॥’

अत्र पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तम इवेत्युपमाध्वनिः । अनयो शब्दशक्तिमूलौ संल-
क्ष्यक्रमभेदौ ।

साय स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपित

यातोऽस्ताचलमौलिमन्वरमणिर्वित्तन्वमत्रागतिः ।

आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्तासि येनाधुना

नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकर शक्नोति ते नासितुम् ॥’

अत्र स्वतः सभविना वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्तासीति वस्तु
व्यज्यते । तच्चाधुना क्लान्तासि, न तु पूर्वं कदाचिदपि तत्रैवविधः कृमो दृष्ट इति
बोधयतोऽधुना पदस्यैवेतरपदार्थोत्कर्षादस्यैव पदान्तरापेक्षया वैशिष्ट्यम् ।

(जिससे ‘सदागन. सदागन इव’ का व्यङ्ग्यार्थ भी अत्यन्त किंवा चमत्कार-रहित
ही है) ।

‘पदगत शब्द-शक्तिमूल वस्तुध्वनि—

‘लौकिक बुद्धिवैभवशाली, सनस्तव सुन्धरा के पालक-पोषक ये पुरुषोत्तम (पुरुषप्रेष्ठ)
महाराज इन भुवन-मन्दल में अपनी अनिर्वचनीय शोभा से विमूर्षित हो रहे हैं ।’

यहाँ उपनालङ्कार की ध्वनि है क्योंकि यहाँ प्रयुक्त ‘पुरुषोत्तम’ शब्द ‘नारायण’
(भगवान् विष्णु) का भी अर्थ रखता है (जिसमें अन्य विशेषण पद भी संगत हो जाते हैं
और) जिससे प्राकरगिक राजरूप तथा अप्राकरगिक नारायणरूप अर्थ में उपनानोपमेय
भाव श्लोक उठता है ।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों (‘भुक्तिमुक्तिद्वय’ तथा ‘अनन्यसाधारणधी’ इन दोनों
सूक्तियों) में जो ध्वनि है वह सत्यव्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है और शब्दशक्तिमूल है (जैसा
कि स्पष्ट ही है) ।

‘पदगत’ अर्थशक्तिमूलवस्तुध्वनि (स्वतः समान्य-वस्तुस्वरूपशक्तिमूलवस्तुध्वनि)—

‘तरो लखी । क्या बात है कि जब कि तूने सायकाल स्नान किया, चन्दन का जगराग
लगाया, सूर्य भगवान् वस्त्र हो गये और दैत्यदेके यहाँ-वहाँ लाया-जाया जा सकता
है, तब भी तेरी सुकुमारता कुछ ऐसी विचित्र है, कि—जमी भी तू इतनी यकी-नादी
रग रही है और तेरी बाँखें बिना छपे चर नहीं पा रही हैं ।’

यहाँ ‘पदगत’ अर्थशक्तिमूलवस्तुध्वनि है क्योंकि यहाँ इस स्वतः समान्य वस्तुस्वरूप
अर्थ से, ‘अधुना’ (अभी भी) इन एक पद के अर्थ की विशेष व्यञ्जकता के कारण यह
वस्तुस्वरूपव्यङ्ग्यार्थ निकल पड़ता है कि ‘तू तो अपने कामुक में मिल चुकी है और तनी
इतनी यकी-नादी हो रही है ।’ यहाँ ‘अधुना’ पद के अर्थ की विशेष व्यञ्जकता इसलिए
है क्योंकि इसी से यह अर्थ निकलता है कि ‘तू अभी-अभी यकी-नादी दीव्य रही है;
पहले हम प्रकार की यकावट तुझे कभी नहीं लगी । यहाँ और पदों के अर्थों की अपेक्षा
‘अधुना’ पद का अर्थ ही अधिक अभिव्यञ्जक है । ‘अधुना’ पद के इस अर्थ-वैशिष्ट्य के
ही कारण यहाँ यह अर्थशक्तिमूलवस्तुध्वनि ‘पदगत’ हो गयी है ।

‘तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।

तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥

चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परं ब्रह्मस्वरूपिणम् ।

निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥’ (युगमकम्)

अत्राशेषचयपदप्रभावादनेकजन्मसहस्रभोग्यदुष्कृतसुकृतफलराशितादात्म्या-
ध्यवसिततया भगवद्विरहदुःखचिन्ताह्लादयोः प्रत्यायनमित्यतिशयोक्तिद्वयप्रतीतिर-
शेषचयपदद्वयद्योत्या । अत्र च व्यञ्जकस्य कविप्रौढोक्तिमन्तरेणापि संभवात्स्वतः-
संभविता ।

‘पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वदानजलवाहिनीम् ।

देव । त्रिपथगात्मान गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥’

इदं मम । अत्र पश्यन्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण न केऽ-
प्यन्ये दातारस्तव सदृशा इति व्यतिरेकालङ्कारोऽसंख्यपदद्योत्यः । एवमन्येष्वप्य-
र्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमभेदेष्टाहार्यम् ।

‘पदगत’ अर्थशक्तिमूल अलङ्कारध्वनि (स्वतः सभाव्य-वस्तुरूपार्थ शक्तिमूल-
अलङ्कारध्वनि) —

‘कोई गोपी थी जिसके समस्त पापों के भोग तो मुरलीमनोहर से न मिल सकने के
महादुःख-भोग में विलीन हो गये और समस्त पुण्यों के भोग मुरलीमनोहर की ही
अनवरत चिन्ता के अनन्दोद्रेक में नष्ट हो गये । जगत्स्रष्टा परब्रह्म के परम स्वरूप-
भगवान् कृष्ण के प्रेम में पगी वह गोपी, निरुच्छ्वासता (श्वासराहित्य किंवा समाधि
साधन) के कारण मुक्त ही हो गयी ।’

यहाँ ‘अशेष’ और ‘चय’ ये दो पद ऐसे प्रयुक्त हैं जिनके अर्थों की (अभिव्यञ्जनात्मक)
महिमा से दो अतिशयोक्ति-ध्वनियाँ निकल पड़ी हैं । ‘अशेष’ पद के अर्थ के प्रभाव से
तो अनेकानेक जन्मों में सभय पापभोग और भगवद्विरह के महादुःख-भोग का तादात्म्या-
ध्यवसाय अभिव्यक्त हो रहा है और ‘चय’ पद के अर्थ-स्वारस्य से जन्म-जन्मान्तर में
सभय पुण्यभोग तथा भगवच्चिन्तन के परमाह्लाद में अभेद का अध्यवसान प्रतीत हो
रहा है । यहाँ जो व्यञ्जकरूप अर्थ है वह कवि के कष्टना-जगत् के बाहर भी रहनेवाला
अर्थ है जिसके कारण इसे स्वतः सभवी वस्तुरूप अर्थ मानना आवश्यक है ।

इसी भाँति पदगत अर्थशक्तिमूलध्वनि (कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्ति-
मूल-अलङ्कारध्वनि) —

‘महाराज ! आपको ‘असंख्यपथगा’ (सर्वत्र सचरणशील) दान-जल-नदी (दान
देने में, सकल्प करने के लिये, हाथ में रखे जल से, उत्पन्न नदी) को देखकर ही, ऐसा
लगता है, गङ्गा नदी, अपने को ‘त्रिपथगा’ जानकर, भगवान् शङ्कर के जटाजूट में
जा छिपी है ।’

यह उपर्युक्त ‘पदगत’ अर्थशक्तिमूलध्वनि सूक्ति स्वरचित सूक्ति है । यहाँ ‘त्रिपथगा’
(गङ्गा) द्वारा ‘असंख्यपथगा’ (दान-जल-नदी) का दर्शन जो कि ‘पश्यन्ती’ (देखती
हुई) पद से स्पष्ट है, एक कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है और अलङ्काररूप-वस्तुतः काव्य-
लिङ्ग अलङ्काररूप-अर्थ है क्योंकि हरजटाजूट में छिपने के कारण रूप से यही उपनिबद्ध
हुआ है । इस काव्यलिङ्ग अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से यह अभिप्राय अभिव्यक्त हो रहा

तदेव ध्वने पूर्वोक्तेष्वष्टादशसु भेदेषु मध्ये शब्दार्थशक्त्युत्थो व्यङ्ग्यो वाक्यमात्रे भवन्नेक' । अन्ये पुनः सप्तदश वाक्ये पदे चेति चतुस्त्रिंशदिति पञ्च-
त्रिंशद्भेदा ।

है कि 'महाराज ! आपके समान भला और कौन दानी है ?' यह अभिव्यङ्ग्य अभिप्राय भी एक अलङ्काररूप अर्थ-वस्तुत व्यतिरेकालङ्काररूप अर्थ-है (क्योंकि अनेक उपमानभूत दानवीर महापुरुषों की अपेक्षा यहाँ उपमेयभूत प्रकृत दानशील राजा का ही दान-विषयक उत्कर्ष उत्कटतर रूप से प्रतीत हो रहा है) । इस 'व्यतिरेक' ध्वनि में 'असरय' पद की व्यञ्जकता अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसीलिये यहाँ यह ध्वनि 'पदगत' है ।

इन उपर्युक्त उदाहरणों का अनुसरण करते अन्य सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलध्वनि-भेदों के 'पदगत' स्वरूपों के निदर्शन स्वयं हूढ़े जा सकते हैं ।

अब यदि पूर्व प्रतिपादित १८ ध्वनि भेदों के अवान्तर भेदों का परिगणन किया जाय तो सब मिला कर ३५ भेद सिद्ध होंगे । ३५ इसलिये क्योंकि १८ ध्वनि-भेदों में शब्दाद्यो भयशक्तिमूल ध्वनि तो केवल 'वाक्यगत' होने से एक प्रकार की ही होगी और इसके अतिरिक्त जो १७ ध्वनि-भेद हैं वे 'वाक्यगत' और 'पदगत' दोनों प्रकार के होकर ३४ प्रकार के हो जायेंगे (सब मिलाकर इस प्रकार ३५ ध्वनि-भेद सिद्ध हो गये) ।

विमर्श—क-ध्वनि-शास्त्रिक आचार्य आनन्दवर्धन को मान्यता का ही अनुसरण करते हुये प्रत्येक निनिवाश काव्याचार्य ने ध्वनि काव्य-प्रकारों का 'पदान' श्री 'काव्यगत' रूप में द्विष-शी-विभाज किया है । ध्वनि तो 'काव्यविशेष' का नाम है, यह विशिष्ट काव्य-प्रकार को 'ध्वनि' माना गया है ('काव्यविशेष' स ध्वनिरिति सूरिभि कथित) कि ध्वनि-काव्य दो 'पदान' होने का क्या अभिप्राय ? यह मनस्वा आनन्दवर्धनाचार्य ने ही उठाया और स्पष्टादी ना । 'वन्त्यालोक को निम्न पक्ति का ध्वनि काव्य के 'पदगत' होने का मनस्वा : ॥ उनके मुनाने के प्रयत्न-गोनों का नकेन करती हैं—

'ननु ध्वनि काव्यविशेष इत्युक्त तत्कथं तस्य पदप्रकाशता ? काव्यविशेषो हि विशि-
ष्टार्थप्रतिपत्तिहेतु शब्दसन्दर्भविशेष । तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते । पदाना स्मार-
कत्वेनाऽवाचकत्वात् । उच्यते—स्यादेव दोष यदि वाचकत्व प्रयोजक ध्वनिव्यवहारे
स्यात् । नत्वेवम्, तस्य व्यञ्जकत्वेनैव व्यवस्थानात् । किञ्च काव्याना शरीरिणामिव सस्यान-
विशेषावच्छिन्नसमुदायमाध्यापि चारुचप्रतीतिरन्वयव्यतिरेकाभ्या भागेषु कल्प्यते इति
पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधी—

ध्वनिष्टस्य धुतिर्यद्ददापादयति दुष्टताम् ।

धुतिदुष्टादिषु व्यक्त तद्वदिष्टस्मृतिर्गुणम् ॥

पदाना स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिन ।

तेन ध्वने प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता ॥

विच्छिन्निशोभिनेकेन भूषणेनेव कामिनी ।

पदद्योत्येन सुखेर्ध्वनिना भाति भारती ॥' (रन्त्यालोक : ३ व उच्यते ।)

अर्थात् 'ध्वनि' तो एक काव्यविशेष है और 'ध्वनि' के 'काव्यविशेष' होने का अभिप्राय जिना अर्थ-विशेष के प्रतिपादक 'शब्दार्थसन्दर्भविशेष' का है । इस दृष्टि में ध्वनि को 'पदप्रकाश' करना नर्तक निरर्थक है क्योंकि वह ध्वनि को 'काव्यविशेष' नहीं करा जा सकता । काव्य तो शब्द-
नारित्व विशेष को करता है 'पदविशेष' को नहीं । अब, ध्वनि को 'पदान' कहा 'पदप्रकाश'
परने का क्या अभिप्राय ? यहाँ बात यह है कि 'काव्य' का जन्मना (जन्मना 'जाति' : ३ व उच्यते ।)

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनि की प्रबन्ध व्यङ्ग्यता)

प्रबन्धेऽपि मतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ॥ १० ॥

प्रबन्धे महावाक्ये । अनन्तरोक्तद्वादशभेदोऽर्थशक्त्युत्थः । यथा महाभारते
गृध्रगोमायुसवादे—

कल्पना) एक 'शरीर' के रूप में की गयी है । जैसे किसी 'शरीर' का सौन्दर्य उसके शरीर-संस्थान का सौन्दर्य हुआ करता है किन्तु तब भी उसके भिन्नभिन्न अवयवगत सौन्दर्य की कल्पना की जाया करती है वैसे ही 'काव्य' का सौन्दर्य भी शब्दार्थसमुदाय का ही सौन्दर्य है किन्तु तब भी उसके अवयवगत सौन्दर्य की कल्पना स्वाभाविक ही हो जाती है । 'काव्यविशेष' तो वस्तुतः एक निराकाक्ष किन्तु सुन्दर अभिप्राय का अवबोधक 'वाक्य' (शब्दार्थ-सन्दर्भ) है, पद नहीं । ध्वनि को 'पदप्रकाश' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि 'पद' ही ध्वनि है अपि तु यह कि रमणीय वाक्य (शब्दार्थ-सन्दर्भ) रूप ध्वनिकाव्य में 'पद' की रमणीयता पृथक्त्वा पहचानी जा सकती है । जैसे किसी सुन्दर रमणी के मुख आदि अवयवों की सुन्दरता पृथक्त्वा प्रतीत हुआ करता है वैसे ही यदि 'ध्वनि' काव्य की रमणीयता में पद की रमणीयता पृथक् प्रतीत हो तो आपत्ति क्या ?

ध्वनि को 'पदगत' मानना इसलिये भी निर्विवाद सिद्ध है कि जैसे किसी काव्य के 'दु श्रव' (श्रुतिदुष्ट) होने पर भी पद को 'दु श्रव' (श्रुतिदुष्ट) माना जाया करता है वैसे ही काव्य के ध्वनि होने पर भी 'पद' को ध्वनि (पदगत ध्वनि) मानना अनुचित नहीं । जब कि कोई अमङ्गल अथवा कर्णकठोर पद-श्रवण काव्य को दूषित कर सकता है तब कोई रमणीय अथवा अभिव्यञ्जक पद-प्रयोग काव्य को रमणीय भी बना सकता है ।

वस्तुतः बात तो यह है कि जैसे कोई एक आभरण-विशेष कभी किसी सुन्दर रमणी की सुन्दरता को बढ़ाता दिखायी दिया करता है वैसे ही कोई पद-विशेष कभी किसी सुन्दर शब्दार्थ-सन्दर्भ रूप काव्य की सुन्दरता को बढ़ा ही दिया करता है ।

लोचनकार अभिवनगुप्त पादाचार्य ने भी इसीलिये कहा है—

'व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षितया विना पद, वाक्य, वर्णा, पदभाग', सघटना, महावाक्यमिति स्वरूपत एव व्यञ्जकानां भेदः, न चैवामर्थवत् कदाचिदपि व्यङ्ग्यता सभवतीति व्यञ्जकैक नियत स्वरूप यत्तन्मुखेन भेदः प्रकाश्यत इति तात्पर्यम् ।' (ध्वन्यालोकलोचन . ३ य उद्योत)

अर्थात् ध्वनि-काव्य को 'पदगत' अथवा 'पदप्रकाश' मानने का अभिप्राय वस्तु-अलङ्कार किं वा रसादि रूप व्यङ्ग्यार्थ की विविध व्यञ्जकता-भूमियों में 'पद' रूप व्यञ्जकता-भूमि के पृथक् रूप से प्रदर्शन का अभिप्राय है । पद, वाक्य, वर्ण, पदैकदेश, रचना, महावाक्य-ये सभी वस्तुवादि रूप रमणीय व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता-भूमियाँ हैं । अर्थ एक व्यञ्जकता भूमि तो अवश्य है किन्तु व्यङ्ग्य भी रहा करता है, इसलिये अर्थ की व्यञ्जकता-भूमि में अन्तर्भूत नहीं किया जाया करता । किन्तु 'पद' की व्यञ्जकता अथवा प्रकाशकता तो निर्विवाद सिद्ध है । ध्वनिकाव्य के 'अविवक्षित-वाक्य' 'विवक्षितान्यपरवाक्य' आदि-आदि भेद-प्रभेद तो 'व्यङ्ग्यमुख' से किये गये हैं किन्तु 'व्यञ्जकमुख' से भी ध्वनिकाव्य के भेद-प्रभेद स्वाभाविक ही प्रतीत होते हैं और इसलिये 'पदगत', अथवा 'पदप्रकाश' ध्वनिकाव्य की मान्यता सर्वथा युक्तिसंगत सिद्ध होती है ।

अनुवाद—यह 'अर्थशक्त्युद्भव' रूप ध्वनिभेद काव्याचार्यों द्वारा 'प्रबन्धगत' भी माना गया है ।

यहाँ ((कारिका में) 'प्रबन्ध' का अभिप्राय 'महावाक्य' का है । 'पदगत' अर्थशक्त्यु-

‘अल स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले ।
कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥’

• इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य श्मशाने मृतं बालमुपादाय तिष्ठतां तं परित्यज्य गमनमिष्टम् ।

‘आदित्योऽयं स्थितो मूढा’ । स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविन्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णामं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किता ॥’

इति निशि समर्थस्य गोमायोदिवसे परित्यागोऽनभिलषित इति वाक्य-
समूहेन द्योत्यते । अत्र स्वतःसंभवी व्यञ्जक । एवमन्येष्वेकादशभेदेऽपूढाहार्यम् ।

अथ ध्वनिः। ते पूर्वप्रतिपादित १२ प्रकार के वर्णशक्त्युद्भव ध्वनि-भेद समझे जाने चाहिये ।
वदाहरण के लिये, ‘महाभारत’ के ‘गृध्रगोमायुसंवाद’ नामक ‘प्रबन्ध’ अथवा ‘महावाक्य’
में स्वतःसंभवी-वस्तुरूप-व्यञ्जकार्थ मूलक वस्तु ध्वनि—

‘(गृध्रवचन) अरे रोने वाले लोगो ! जहाँ से लाये हो वहाँ लौट जाओ, इस
श्मशानमें, जहाँ चारों ओर गिद्ध और गीदड़ भरे हैं, कङ्कालों का अग्न्याशय लगा है, भयङ्करता
का नाच हो रहा है और प्राणिमात्र भय से भाग खड़ा होता है, छहने से क्या लाभ ! जो
एक बार मर गया, चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय हो, जीकर नहीं उठ सकता । मरना तो
एक दिन सभी को है ।’

यहाँ इस गृध्रवचन रूप प्रबन्ध से, जो स्पष्टार्थ निकलता है वह यह है—दिन में
सुर्दों का नाच खाने वाला गिद्ध यह चाहता है कि मरे हुये ब्राह्मण बालक को घेर कर
वैसे सगे-सम्बन्धी श्मशान छोड़ कर चले जाय जिसमें वह यथेष्ट मांस-भक्षण कर सके ।

इसी भाँति (गोमायुवचन) ‘अरे मूर्खों ! क्या तुम इस गिद्ध के कहने में पढ़ कर,
सुवर्ण के समान सुन्दर और कोमल शरीर इस बालक को मरा समझ कर छोड़ दते ?
अरे ! सभी भी सूर्य-भगवान् सामने खड़े हैं । सभी कुछ से कुछ हो सकता है । इसे जी
भर कर प्यार कर लो । क्या पता, सभी यह बालक जी ही उठे ?’

यहाँ यह ‘गोमायुवचन’ रूप महावाक्य यह निगूट अभिप्राय रखता है कि गीदड़ यह
चाहता है कि दिन में बालक के शव को श्मशान में छोड़ कर सगे-सम्बन्धी लोग न चले
जाय जिसमें रात खाने पर वह गिद्ध को मार भगाय और स्वयं पर्याप्त मांस-भक्षण कर सके ।

यहाँ जो व्यञ्जरूप महावाक्यार्थ है वह स्वतः संभवी है (क्योंकि गृध्र और गोमायु
की यह भावना कवि-रूपना-प्रसूत वस्तु नहीं अपि तु लोक-जीवन की एक स्वभाविक
वस्तु है) ।

इसी प्रकार वर्णशक्त्युद्भव ध्वनि के अन्य ११ भेदों की प्रबन्ध-व्यञ्जकता स्वयं काव्य-
साहित्य में यत्र-तत्र दृष्टी जा सकती है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त
प्रबन्धगत वर्णशक्त्युद्भव ध्वनि में (गृध्रगोमायुसंवाद में) जो व्यञ्जक वर्ण (महावा-
क्यार्थ) है वह वाक्य-रूप वर्ण है ।

एव वाच्यार्थव्यञ्जकत्वे उदाहृतम् । लक्ष्यार्थस्य यथा—‘निःशेषच्युतचन्दनम्—’
इत्यादि । व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—‘उभ णिच्चल—’ इत्यादि । अनयोः स्वतःसंभवि-
नोर्लक्ष्यव्यङ्ग्यार्थौ व्यञ्जकौ । एवमन्येष्वेकादशभेदेपूढाहार्यम् ।

इसी भांति लक्ष्यार्थ रूप प्रबन्धार्थ की व्यञ्जकता में भी अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि को ‘प्रबन्ध-
गत’ देखा जा सकता है जैसे कि ‘निःशेषच्युतचन्दनम्’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में ही ।
प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में व्यञ्जक रूप प्रबन्धार्थ व्यङ्ग्यार्थ भी हो सकता है
जैसा कि ‘उभ णिच्चल’ (पश्य निश्चल) आदि पूर्वोदाहृत सूक्ति में स्पष्ट है । ‘निःशेष-
च्युतचन्दनम्’ तथा ‘उभ णिच्चल’ आदि सूक्तिओं में, पहली में जो प्रबन्धार्थ है वह स्वतः-
सम्भवी है और उसके लक्ष्यार्थ से (रमण रूप) व्यङ्ग्यार्थ निकला करता है और दूसरी
का जो प्रबन्धार्थ है वह है तो स्वतः सम्भवी ही किन्तु उससे निकलने वाला व्यङ्ग्यार्थ
ही (सकेत स्थान निर्देशरूप) अन्तिम चमत्कार जनक व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक हो रहा है ।

इसी प्रकार लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थरूप प्रबन्धार्थों की व्यञ्जकता में प्रबन्धगत अर्थ
शक्त्युद्भव ध्वनि के अन्य १३ भेदों के उदाहरण स्वयं ढूँढ़ लिये जा सकते हैं ।

विमर्श—ध्वनिवादी आलंकारिकों के अनुसार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के ‘प्रबन्धप्रकाश’
(प्रबन्धगत) होने का अभिप्राय यह नहीं कि यह ध्वनि समस्त काव्य प्रबन्ध का सारभूत अर्थ
है क्योंकि ध्वनि काव्य-प्रबन्ध का साक्षात् सारभूत अर्थ तो रसादिरूप ही अर्थ हो सकता है और
परम्परया पुरुषार्थचतुष्टय में से किसी एक को यदि ऐसे प्रबन्ध का सारतत्त्व माना जाय तो
भी कोई आपत्ति नहीं । ध्वनिकार ने प्रबन्ध-व्यङ्ग्य अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के सम्बन्ध में यही
निर्णय दिया है—

‘अनुस्वानोपमास्मापि प्रभेदो य उदाहृतः ।

ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥’

‘अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकार
सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचित् द्योतते । तद्यथा मधुमधनविजये पाञ्चजन्योक्तिषु । यथा वा
ममैव कामदेवस्य सहचरसमागमे विपमवाणलीलायाम् । यथा च गृध्रगोमायुसवादादौ
महाभारते ।’ और इसी का युक्तियुक्त समर्थन लोचनकार की इन पंक्तियों में भी है—

‘न केवल प्रबन्धेन साक्षाद्व्यङ्ग्यो रसो यावत् पारम्पर्येणापीति दर्शयितुमुपक्रमते—
किंचेति । अनुस्वानोपम-शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च यो ध्वने प्रभेद उदाहृतः स केषु-
चित् प्रबन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यञ्जेकेषु सत्सु, व्यङ्ग्यतया स्थित सन् अस्येति रसादिध्वने
प्रकृतस्य भासते व्यञ्जकतयेति शेषः ।

एतदुक्तं भवति—प्रबन्धेन कदाचिदनुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनि साक्षाद्व्यङ्ग्यते स तु
रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति ।

लीलाद्रष्ट्राप्रोद्धतसकलमहीमण्डलस्यैवाद्य ।

कस्मान्मृणालाभरणमपि तव गुरु भवत्यग्रे ॥ (सत्कृत छाया)

इत्यादयः पाञ्चजन्योक्तयः रुक्मिणीविप्रलब्धवासुदेवाशयप्रतिभेदनाभिप्रायमभिव्यञ्ज-
यन्ति । सोऽभिष्यक्तः प्रकृतरसस्वरूपपर्यवसायी । ...

यथा चेति—श्मशानावतीर्णं पुत्रदाहार्यमुद्योगिन जन विप्रलब्धु गृध्रो दिवा शवशरीर-
भक्षणार्थी—शीघ्रमेवापसरत यूयमित्याह—अलस्थित्वेति । गोमायुस्तु निशोदयावधि अमी
तिष्ठन्तु, ततो गृध्रादपहृत्याह भक्षयिष्यामीत्यभिप्रायेणावोचत्—आदित्योऽयमिति ।
स चाभिप्रायो व्यक्तः शान्तरस एवं परिनिष्ठिततां प्रातः ।’

(ध्वन्यालोकलोचन • तृतीय उद्योत)

(असलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनि की भिन्न भिन्न व्यञ्जक-भूमियों)

पदांशवर्णरचनाप्रवन्धेष्वस्फुटक्रमः ।

असलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनौ ध्वनिस्तत्र पदांशप्रकृतिप्रत्ययोपसर्गनिपातादिभेदाद-
नेकविधः । यथा—

• 'चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमती

रहस्यास्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचर' ।

करं व्याधुन्वन्त्या पिबसि रतिसर्वस्वमधर

वय तत्त्वान्वेषान्मधुकर । हतास्त्व खनु कृती ॥'

अभिप्राय यह है कि रसान्तक काय प्रवन्धों में वक्षन्तः ऐसे ध्वनितः प्रवन्ध भाषा का है
जिनमें अर्थशक्त्युद्भव अथवा अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का दर्शन मिल जाता करता है । इस
प्रवन्धप्रकाश (वस्तुतः अर्थान्तर प्रवन्ध-यान) ध्वनि की सन्धि अपने में नहीं मिलती बल्कि
प्रवन्धार्थमूल रसादिध्वनि में ही हुआ करता है । जैसे कि नरान्तर के 'मृगानामुन्वा' आदि
अर्थान्तर प्रवन्धों में जो सन्ध्याक्रमव्यग्य वस्तुध्वनि की सन्धि मिलती है उसका अर्थान्तर
उद्देश्य 'महानाग' प्रवन्ध तब महान् शास्त्र-वाक्य के अर्थान्तर का भूत है 'गान्तर' की
ही अधिकारिता उद्घोषित करना है ।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि की प्रवन्ध प्रकाशता के सम्बन्ध में ध्वनिगत के अनुगत दोनों समान
बाधों की वह धारणा बाद के ध्वनिवादी काव्याचार्यों में नहीं मिलती है । ध्वनितः
ध्वनि-भेद-निरूपण और ध्वनि-वाक्य-वर्गीकरण आदि की प्रवृत्तियों ने काव्याचार्यों की दृष्टि
में ध्वनि की इस धारणा की ओर ध्यान खींचा है । क्या आपात्त नमः और यह विचार
कनिराव—दोनों ध्वनिवादी काव्याचार्य प्रवन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के सम्बन्ध में
दर्शन में जो ध्वनि रहने नहीं मानते होते ।

क्यों कि ध्वनि-वाक्य-प्रवन्ध सामूल्य रूप से नहीं जो अर्थान्तर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि की दृ-
ष्टि में ध्वनि-अभिप्राय के रूप में प्रकाशित करने के लिए रखा गया हो । जो कि 'महानाग'
काव्यार्थ का निर्माण है कि काव्य प्रवन्ध में अर्थान्तर ध्वनि-वर्ण-विचार दिया जाता है । अर्थ-
शक्त्युद्भव ध्वनि के लिए यदि जो काव्य प्रवन्ध का वाक्य जो वह ध्वनि काव्य का नाम
गया । रसान्तक वाक्य की वाक्य मानने वाले ध्वनि के लिए जो काव्य प्रवन्ध का ध्वनि-प्रवन्ध
अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के इस पूर्वोक्त रचना का पुनर्निर्माण करने ।

अतः—असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि में भी व्यञ्जक भेद से अनेकों भेद हुआ करते हैं
जैसे कि—पदांश की व्यञ्जकता में 'पदांशगत', वर्ण-व्यञ्जकता में 'वर्णगत', रचना-
व्यञ्जकता में 'रचनागत' और प्रवन्ध-व्यञ्जकता में 'प्रवन्धगत' आदि आदि ।

यहाँ (कारिका में) 'अस्फुटक्रम' का अभिप्राय 'असलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनि' का
अभिप्राय है और 'पदांश' ने प्रकृति, प्रथम, उपसर्ग, निपात आदि-आदि समझते जाते
हैं जिनकी व्यञ्जकता में असलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनि के नानाप्रकार समझें हैं । जैसे कि
(महाकवि कालिदास की) इस सूक्ति अर्थात्—

'अरे भ्रमर ! तू ही सौभाग्यशाली है जो क्याहों से चला किंवा निम्नतर वन्दित
इस (गङ्गुल्ल की) दृष्टि का चुम्बन कर रहा है और जिसे (गङ्गुल्ल के) इन दोनों
के पास जाकर, धीरे-धीरे, प्रेम निवेदन के रूप में, मधुर गुजार करने का सुअवसर मिल
रहा है और इतना ही क्यों, हाथों से शिष्ट करने वाली इस (गङ्गुल्ल) के रति

अत्र 'हताः' इति न पुनः 'दुःखं प्राप्तवन्तः' इति हन्प्रकृतेः ।

'मुहुरद्भुतलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिपेधाक्षरविकलवाभिरामम् ।

मुखमसविवर्ति पद्मलाद्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥'

अत्र 'तु' इति निपातस्यानुपातव्यञ्जकत्वम् ।

'न्यङ्कारो ह्ययमेव मे यदरयः—' इत्यादौ 'अरयः' इति बहुवचन 'तापसः' इत्येकवचनस्य, 'अत्रैव' इति सर्वनामः, 'निहन्ति' इति 'जीव' इति च तिङ्, 'अहो' इत्यव्ययस्य, 'ग्रामटिका' इति करूपतद्धित 'विलुण्ठन' इति व्युपसर्गस्य, 'भुजैः' इति बहुवचनस्य व्यञ्जकत्वम् ।

सर्वस्व अधरामृत के पान का सौभाग्य भी तो तेरा ही है ! मेरा क्या, मैं तो सुन्दरी के 'तत्त्वान्वेषण' (वाक्प्राणी या चित्राणी के निर्णय) में ही मर गया ! मैं, जो असलक्ष्यक्रमन्यङ्गध्वनि है (क्योंकि यहाँ जो अर्थ-रहस्य छिपा है, दुष्यन्त के हृदय का शकुन्तलाविषयक रतिभाव ही झलक रहा है) वह पदावस्तुतः पद के अशमूत 'प्रकृति'गत है । 'प्रकृतिगत' इसलिये क्योंकि महाकवि ने दुःखं प्राप्तवन्तः' (हम कितने दुःखी हैं) आदि प्रयोगों के बदले 'हताः' (मर का प्रयोग किया है जिसमें 'हन्' धातुरूप प्रकृति की व्यञ्जनाशक्ति (दुष्यन्त अवर्णनीय दुःखों को अभिव्यक्त करती हुई विप्रलम्भ का अधिकाधिक प्रकाशन दिखायी दे रही है ।

अथवा

जैसे कि (महाकवि कालिदास की ही) इस सूक्ति अर्थात्—

'ओह ! रह रहकर अंगुलियों से छिपाये जाते अधरोष्ठ से रमणीय, अस्वीकारात्मक अक्षरों से व्याकुल होने पर भी मनोरम और सामने न करने की इच्छा से कन्धे पर घूमे होकर भी अद्भुत सुन्दर, पद्मलाक्षी (शकुन्तला) का वह मुँह मैं ऊपर ही उठा सका ! चूम तो नहीं ही सका ।'

मैं, जो असलक्ष्यक्रमन्यङ्गध्वनिकाव्य का सौन्दर्य है उसका निदान 'तु' इस निपात की ही अभिव्यञ्जना है क्योंकि इसी से यह अभिप्राय निकल रहा है कि इसका वक्ता (दुष्यन्त) अनुताप (पश्चात्ताप) से अत्यधिक पीड़ित हो उठा है ।

इसी भांति 'प्रत्ययगत' किं वा 'उपसर्गादिगत असलक्ष्यक्रमन्यङ्गध्वनि के उदाहरण रूप में 'न्यङ्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' आदि पूर्वोद्घृतसूक्ति स्पष्टतया देखी जा सकती है । यहाँ 'अरयः' में बहुवचनसूचक सुप्रत्यय से, इसके प्रयोक्ता (राक्षसराज रावण) का निर्वेद चरमसीमा पर पहुँचा प्रतीत हो रहा है (क्योंकि जो एक भी शत्रु को नहीं सह सकता उसके लिये अनेकसख्यक शत्रुओं का हो जाना आत्मग्लानि की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है ?) । साथ ही 'तापसः' का एकवचनसूचक सुप्रत्यय इस निर्वेद की ही एक विशेषता का अभिव्यञ्जन करता जा रहा है (क्योंकि तापस जैसे लुब्ध जीव से रावण जैसे महावीर का सशङ्क हो उठना आत्मावमानन की ही एक जघन्य दशा है) । इसके अतिरिक्त 'अत्रैव' यह सर्वनाम पद इसी 'निर्वेद' को और भी उग्ररूप से अभिव्यक्त करता दीख रहा है (क्योंकि इसी से रावण की किंकर्तव्यविमूढता प्रकट हो जाती है और उसके आत्मनिन्दन का रहस्य स्पष्ट झलक उठता है) । इस सुप्रत्यय-व्यञ्जकता के साथ-साथ यहाँ की तिङ्प्रत्यय-व्यञ्जकता भी अद्भुत ही है क्योंकि

‘आहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा।

नासात्रे नयन तदेतदपर यच्चैकानन मनः।

मौनं चेदमिदं च शून्यमधुना यद्विश्वमाभाति ते

तद्ब्रूया सखि ! योगिनी किमसि भो ! किं वा वियोगिन्यसि ॥

• अत्र तु ‘आहारे’ इति विषयमनन्या ‘समस्त’ इति परा’ इति च विरोपण-
द्वयस्य, ‘मौनं’ चेदम्’ इति प्रत्यक्षपरामर्शिन नवर्नान्नः, ‘आभाति’ इत्युपसर्गस्य
‘सखि’ इति प्रणयस्मारणस्य ‘असि भो, इति सोत्प्रासस्य ‘किं वा’ इत्यु-
त्तरपक्षग्रहणसूचकस्य वाशब्दस्य ‘असि’ इति वर्तनानोपदेशस्य च तत्तद्विषय-
व्यञ्जकत्वं सहृदयसंवेद्यम्।

‘निहन्ति’ और ‘जीवति’ के प्रयोगों में जो वर्तमानकालसूचक निहप्रत्यय है उनका एक
मात्र उद्देश्य यहाँ अभिव्यक्ति (रावन के हृदय के) आत्मावमान की टांग के और भी
बड़ा देना है। यहाँ ‘अहो’ यह आश्चर्यसूचक अव्ययपद यहाँ प्रकाशित निवेदनाभाव में
विस्मय का भाव भरकर निविण्णता की स्वर्गनीयता ही प्रकट कर रहा है। यहाँ इन
उपर्युक्त व्यञ्जक-तत्त्वों के अतिरिक्त और भी व्यञ्जक-तत्त्व भरे पड़े हैं जमे कि ‘प्राग्गति’
पद में ‘क’ रूप तद्धित-प्रत्यय, ‘विलुप्त’ पद में ‘वि’ रूप उपसर्ग तथा ‘भुज’ पद में
बहुवचनसूचक सुप्रत्यय आदि-आदि जोकि यहाँ प्रधानरूप में अभिव्यक्ति रमभाव को
अपने ही टांग से, अधिकाधिक ठण्ड रूप से, अभिव्यक्त करने में तत्पर दाब पड़ रहे हैं।

। इसी भाँति, इस वृत्ति अर्थात्—

‘अरी मर्वा’ तुझे आहार में विराग हो गया, तू मर्वा भोगविनाश की वस्तुओं में
विलुप्त निवृत्त हो चुकी, तेरी दृष्टि तेरी नायिका के अप्रमाण पर मड़ा गड़ा रहा करती
(ध्यानमग्न) है, तेरा मन निरन्तर एह लक्ष्य में लीन हो रहा है, तू ऐसा मौन साध
रही है और तुझे यह नारा ममार मुख्य प्रतीत हो रहा है। अरु ! तू तो नहीं कि क्या
तू कोई योग साध रही है या किमी के विरोग में पड़ी है।

‘मैं अनेकानेक पदों की अभिव्यक्ति ने उन-उन अर्थ-रहस्यों का प्रकाशन हो रहा
है जिन्हें महद्यहृदय हो जान सकता है। जमे कि, ‘आहारे’ पद में जो विषयमननी है
उमने यहाँ की नायिका प्राणधारणार्थ भोजन के प्रति भी सर्वथा उदासीन बतायी जा
रही है, ‘विषयग्राम’ के विरोपण रूप में उदात्त ‘समस्त’ पद और ‘निवृत्ति’ के विरोपण रूप
में प्रयुक्त ‘परा’ पद-श्रेणों के द्वारा, जीवनाधार भी पदार्थों के प्रति नायिका का आश्चर्यमय
औदासीन्य ही प्रकाशित किया जा रहा है ‘मौनं चेदम्’ में प्रयुक्त, प्रत्यक्षता के घेतक
‘उदम्’ रूप नवर्नानपद से, नायिका ने, इतिहास के द्वारा भी, अभिप्राय प्रकाशन की
अभिव्यक्ति का ही भाव अभिव्यक्त किया जा रहा है ‘आभाति’ में व्ययन ‘आ’ उपसर्ग
समार की शून्यता की अकारणता किंवा अपरिच्छेदता की अभिव्यक्ति कर रहा है,
‘मर्वा’ रूप मर्गोपन पद में निविण्णद्वारा नायिका के हृदगत प्रणय-भाव की सूचना दी
जा रही है, ‘असि भो !’ यह पद निवेद के भाव को मगाने के लिये ‘उपहान’ के अभिप्राय
का प्रकाशन कर रहा है, ‘किं वा’ का ‘वा’ पद वियोगिनी के निहन्ता का हृदयपूर्वक
निर्धारण किंवा योगिनी के नवेह का निर्मूलन करना दोग रहा है और माध हो माध
‘असि’ में व्यवहृत वर्तमानकालिक निहप्रत्यय में भी वियोग की स्वस्था की ही सूचना
दी जा रही है।

वर्णरचनयोरुदाहरिष्यते । प्रबन्धे यथा—महाभारते शान्तः । रामायणे करुणः । मालतीमाधवरत्नावल्यादौ शृङ्गारः । एवमन्यत्र ।

‘वर्णगत’ असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि किंवा ‘रचनागत’ असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के उदाहरण (आठवें और नवें परिच्छेदों में) यथास्थान दिये ही जायेंगे ।

‘प्रबन्धगत’ असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के उदाहरण-रूप में ‘महाभारत’ का अभिव्यङ्ग्य शान्त रस अथवा ‘रामायण’ का अभिव्यङ्ग्य करुणरस अथवा ‘मालती माधव’ ‘रत्नावली’ आदि का अभिव्यङ्ग्य ‘शृङ्गाररस’ स्पष्टतया देखा जा सकता है । इसी भाँति अन्यान्य महाकाव्यों में ‘प्रबन्धगत’ असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का स्वरूप स्वयं पहचान लेना चाहिये ।

विमर्श—(क) ‘पदाश’ गत असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का अभिप्राय यह नहीं कि रसादिरूप रमणीय का-यार्थ पदाशभूत ‘प्रकृति’ अथवा ‘प्रत्यय’ मात्र से प्रकाशित हो उठता है । इसका अभिप्राय यह है जैसा कि अभिनवगुप्ताचार्य ने ध्वनिकार के इस उद्धरण अर्थात्—

‘वीढ्यायोगाक्षतवदनया सन्निधाने गुरुणां
चक्षोत्कम्प कुचकलशयोर्मन्युमन्तनिगृह्य ।
तिष्ठेयुक्त किमिव न तथा यत्समुत्सृज्य वाष्प
मय्यासक्तश्चक्रितहरिणीहारिनेत्रत्रिभाग’ ॥

के आधार पर इस प्रकार समझाया है—

‘गुरुजनमवधोर्यापि सा मां यथा तथापि सामिलापमन्युर्दैन्यगर्वमन्धर विलोकितव
सीध्येव स्मरेण परस्परहेतुकत्वप्राणप्रवासविप्रलम्भादीपन त्रिभागशब्दसन्निधौ स्फुट
भातीति । ... वर्णपदतद्भागादिषु सत्स्वेवालक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यो निर्भासमानोऽपि समस्त
काव्यव्यापक एव निर्भासते, विभावादिसयोगप्राणत्वात् । तेन वर्णादीना निमित्तत्व
मात्रमेव ।’ (ध्वन्यालोकलोचन ३ य उद्योत)

अर्थात् रमादिरूप ध्वनि की ‘पदाशप्रकाशना’ के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वस्तुतः तो रसादिरूप ध्वनि समस्त काव्य-वाक्य में अन्तर्व्याप्त रमणीय अर्थतत्त्व है किन्तु पदाश अथवा ‘पदैकदेश’ इसकी अभिव्यङ्ग्यता के निमित्त हो जाते हैं । पदाश रसादिमय नहीं प्रतीत हुआ करते, अपि तु रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यञ्जन के निमित्त मात्र रहा करते हैं जैसे कि उद्धृत सूक्ति में प्रयुक्त ‘चक्रितहरिणीहारिनेत्रत्रिभाग’ इस समस्त पद का ‘त्रिभाग’रूप अंश यहाँ अभिव्यङ्ग्य प्रवास-विप्रलम्भ शृङ्गार का विशेष रूप से उद्दीपक हो रहा है न कि इस पदाश द्वारा यहाँ विभावादिसयोजनाप्राण रस का प्रकाशन किया जा रहा है ।

(ख) ‘वर्णप्रकाश’ असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के सम्बन्ध में अभिनवगुप्तपादाचार्य की यह मान्यता है—

‘यद्यपि विभाषानुभावव्यभिचारिप्रतीतिसम्पदेव रसास्वादे निबन्धनम् । तथापि
विशिष्टश्रुतिकशब्दसमर्प्यमाणास्ते विभावादयस्तथा भवन्तीति स्वसवित्सिद्धमदः । ते
वर्णानामपि श्रुतिसमयोलक्ष्यमाणार्थानपेक्ष्यपि श्रौत्रैकग्राह्यं मृदुगुरुषात्मा स्वभावं
रसास्वादे सहकार्येव । अत एव च सहकारितामेवाभिधातु निमित्तसप्तमी कृता वर्णपदादि
ष्विति । न तु वर्णैरेव रसाभिव्यक्तिः, विभावादिसयोगाद्वि रसनिष्पत्तिरियुक्त बहुश
श्रौत्रैकग्राह्योऽपि स्वभावो रसनिष्पन्दे व्याप्रियत एव, अपदगीतध्वनिवत्, पुष्करवाद्यनि
यमितविशिष्टजातिकरणप्राधन्यकरणशब्दवच्च ।’ (ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)

अर्थात् ‘वर्णप्रकाश’ रसादिध्वनि का अभिप्राय यह नहीं कि वर्णों से ही रसाभिव्यक्ति सम

(पूर्वनिरूपित ध्वनि-प्रभेद-संकलन)

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः ॥ ११ ॥

सङ्क्षरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

वेदस्वादिशराः (५३०४) शुद्धैरिषुवाणाग्रिसायकाः (५३५५) ॥१२॥

शुद्धे शुद्धभेदैरकपञ्चाशता योजनेनेत्यर्थ ।

विडिमात्र तूनाहियते—

'अत्युन्नतस्वनयुगा तरलायताक्षी द्वारि स्थिता तदुत्थानमहोत्सवाय ।

सा पुणकुम्भनवनीरजतोरणस्रक्सभारमङ्गलमचनकृत विधत्ते ॥'

अत्र स्तनावेव पूर्णकुम्भौ, दृष्टय एव नवनीरजस्तज इति रूपकध्वनिरसध्व-
येरेकाग्रयानुप्रवेश सङ्कर ।

क्योंकि 'माभिन्दति' तो बहुत बिनावादि-योजना से हुआ करती है । बि तु राना पदरस है न व' की उपरता यथवा कठोरता काव्य के निष्पन्नभूत रस में मिलावला पटुताया करती है । से कि बिना बिनी प' के आधार के गीत की 'धुन' यथवा बिना बिनी र्ध के 'पा गि' आदि द्रव्य के बोन संगीतानन्द की सृष्टि में नष्टावक हुआ करते हैं वैसे ही श्रोत्रनाश से अनुभूत नपुन यथवा रूपक वर्तमान भी 'मन्त्रवाह' के उपकारक बन जाते हैं ।

अनुवाच—इस प्रकार उक्त विरलेपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनिकाव्य धर्मात् उत्तम काव्य) के सय मिलाकर ५१ भेद हुआ करते हैं (५१ भेद इसलिये क्योंकि पूर्वपरिगणित ३५ भेद तो सिद्ध ही हैं जिनमें अर्थशक्ययुद्ध ध्वनि के 'प्रबन्धगत' १२ भेद तथा असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के पदाशगत, वर्णगत, रचनागत और प्रबन्धगत भेदचतुष्टय को जोड़ देने से सय मिलाकर ५१ भेद सिद्ध हो गये) । अब यदि इन ५१ ध्वनि भेदों में, त्रिविध 'साङ्ख्य' तथा एकविध 'संसृष्टि' के कारण, प्रत्येक के परस्पर नेल के आधार पर, भेद प्रभेद-गणना की जाय तब यह ध्वनि भेद-संख्या ५३०४ (वेद = ३, ख = ०, अग्नि = ३ और शर = ५ और 'अङ्गाना वामतो गति' की मर्यादा के अनुसार ५३०४) हो जायगी और इस ममिध ध्वनि भेद संख्या में ५१ प्रकार के शुद्ध ध्वनि-भेदों हो जोड़ देने पर जो समस्त ध्वनि-भेद-संख्या होगी वह ५३५५ (५३०४ + ५१ = ५३५५) हो जायगी ।

यहाँ (काविकों) 'शुद्धे' का अभिप्राय ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों के जोड़ का अभिप्राय है । इन ध्वनिभेदों का दिग्दर्शन मात्र किया जा रहा है जैसे कि सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूपक-ध्वनि और असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरसध्वनि के सङ्कर (अलङ्कार रस-सङ्कर-ध्वनि) का यह निदर्शन—

'उत्तम उरोजद्वय मे लुभेति किंवा चचल और वायन नयनोंवाली वह मुन्दरी, तब अपने प्रियतम के 'उपयान-महोरमव'—परदेश से प्रयागमन के आनन्दोत्सव—के आयोजन में अपने गृह द्वार पर खड़ी हुई तब ऐसा लगने लगा जैसे वह साहित्यिक पूर्णकलश और नवनीरज के यन्दनवार का काम, बिना बिनी प्रथम के ही करती जा रही हो ।'

यहाँ जो ध्वनिकाव्य है वह 'अलङ्कार-रस-सङ्कर ध्वनि'-काव्य है क्योंकि 'उत्तममन-द्वय' और 'पूर्णकुम्भ' तथा 'दृष्टि' और 'नवनीरजस्तज' में वनेद का आरोप अभिव्यङ्ग्य है जो और साथ ही साथ नायकनिष्ठ रतिभाव की भी अभिव्यञ्जना है । 'अलङ्कार' और



‘धिन्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छदलिध्वनीनि धृताध्वनीनहृदयानि मधोदिनानि ।

निस्तन्द्रचन्द्रवदनावदनारविन्दसौरभ्यसौहृदसगर्वसमीरणानि ॥’

अत्र निस्तन्द्रेत्यादिलक्षणामूलध्वनीनां संसृष्टिः ।

ध्वनि का यह सम्मिश्रण ‘एकाग्रयानुप्रवेश’रूप एक सकर-प्रकार है क्योंकि उपर्युक्त ही शब्दार्थरूप आश्रय में अलङ्कार और रस—दोनों अनुप्रविष्ट प्रतीत हो रहे हैं ।

अथवा

लक्षणामूल ध्वनि-भेदों की संसृष्टि में संसृष्ट ध्वनि काव्य का यह उदाहरण—

‘ये वसन्त के दिन, जिनमें मदोन्मत्त मधुकरों की मधुर गुजार हुआ करती है, जिनसे योग विह्वल प्रेमी और प्रेमिकाओं का हृदय कापा करता है और जिनमें निस्तन्द्र मुखवाली रमणिओं के वदनारविन्दों के सौरभ के सग-साथ से मलय समोर का अहर्निश बढ़ता रहता है, प्राणिमात्र के हृदय में आनन्द ही आनन्द भरा करते हैं ।’

यहाँ जो ध्वनि-काव्य है वह संसृष्ट ध्वनिकाव्य है क्योंकि ‘निस्तन्द्र’, ‘सौरभ्यसौहृद’ या ‘सगर्व’ पदों की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनियाँ, परस्पर निरपेक्ष होती हुई भी परस्पर संसृष्ट दीख रही हैं ।

विमर्श—(क) ५१ प्रकार के शुद्ध ध्वनिकाव्य-भेद ये हैं—

१ पदगत—अर्थान्तरसक्रमिताविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य ।

२ पदगत—अत्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य ।

३ पदगत—शब्दशक्त्युद्भव-सलक्ष्यक्रम-वस्तुध्वनिकाव्य ।

४ पदगत—शब्दशक्त्युद्भव-सलक्ष्यक्रम-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।

५ पदगत—स्वत सिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।

६ पदगत—स्वत-सिद्धवस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।

७ पदगत—स्वत सिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव वस्तुध्वनिकाव्य ।

८ पदगत—स्वत सिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।

९ पदगत—कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।

१० पदगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।

११ पदगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।

१२ पदगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनिकाव्य ।

१३ पदगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थ शक्त्युद्भववस्तुध्वनिकाव्य ।

१४ पदगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थ-शक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।

१५ पदगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।

१६ पदगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ शक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।

१७ वाक्यगत—अर्थान्तरसक्रमिताविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य ।

१८ वाक्यगत—अत्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य ।

१९ वाक्यगत—शब्दशक्त्युद्भव-सलक्ष्यक्रम-वस्तुध्वनिकाव्य ।

२० वाक्यगत—शब्दशक्त्युद्भव सलक्ष्यक्रम-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।

२१ वाक्यगत—स्वत सिद्ध-वस्तुरूपार्थ शक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।

२२ वाक्यगत—स्वत सिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कार-ध्वनिकाव्य ।

२३ वाक्यगत—स्वत-सिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।

२४ वाक्यगत—स्वत सिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।

- २५ वाक्यान्—कविप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- २६ वाक्यान्—कविप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- २७ वाक्यगत—कविप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- २८ वाक्यगत—कविप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- २९ वाक्यगत—कविनिवृत्तवस्तुप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३० वाक्यगत—कविनिवृत्तवस्तुप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३१ वाक्यगत—कविनिवृत्तवस्तुप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३२ वाक्यगत—कविनिवृत्तवस्तुप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३३ प्रवक्ष्यान्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३४ प्रवक्ष्यान्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३५ प्रवक्ष्यान्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३६ प्रवक्ष्यान्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३७ प्रवक्ष्यान्—कविप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३८ प्रवक्ष्यान्—कविप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ३९ प्रवक्ष्यान्—कविप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४० प्रवक्ष्यान्—कविप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४१ प्रवक्ष्यान्—कविनिवृत्तवस्तुप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४२ प्रवक्ष्यान्—कविनिवृत्तवस्तुप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४३ प्रवक्ष्यान्—कविनिवृत्तवस्तुप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४४ प्रवक्ष्यान्—कविनिवृत्तवस्तुप्रौढोत्तिमिन्द्रवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४५ प्रवक्ष्यान्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४६ वाक्यान्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४७ प्रवक्ष्यान्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४८ प्रवक्ष्यान्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ४९ रचनात्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ५० वार्तात्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।
- ५१ वाक्यान्—स्वनिवृत्तवस्तुत्कार्थश्चक्षुस्मन्वन्तुध्वनिकाय ।

(ग) 'मृदु' कहे हैं (नांझी वर) 'परतरायेष्टममिना' को । 'ध्वनिकायमृदु' का

अभिप्राय है 'परतरायेष्ट' रूप में मन्त्रिणध्वनिकाय का । ध्वनिकाय में 'परतरायेष्टममिना' की तीन समावर्तन हैं—१ अनुप्रासालुप्रासभाव में, २ शब्दसंज्ञानुप्रास में और ३ मंदिरा स्वरूप के कारण । ध्वनिकाय में परतरायेष्ट मन्त्रिण के अनिरुद्ध (निरुद्धवत्) परतरा निरुद्ध मन्त्रिण भी समवर्तन हैं जिसे 'सदृष्ट' कहा गया है ।

२४ विप्रनाथ कविराज के अनुमान पर 'सदृष्ट' (परतरायेष्ट मन्त्रिण) की अवस्था में 'ध्वनिकाय' के १३३६ मेट्रिक् होने हैं —

जैसे कि वस्तुतः ५१ ध्वनि भेदों में से प्रथम ध्वनि भेद है वर अपने मन्त्रादेश ध्वनि भेद किंवा ५० विजातीय ध्वनिभेदों में सदृष्ट होना ५१ प्रजा का हो गया । इसी भाँति विजातीय ध्वनि-भेद भी, अपने मन्त्रादेश ध्वनिभेद किंवा ५० विजातीय ध्वनि भेदों में सदृष्ट होना ५० प्रजा का हो गया । इसी भाँति विजातीय भेद, अपने मन्त्रादेश और ५८ विजातीय भेदों में सदृष्ट होने पर ५१ प्रजा का हो गया । इसी प्रकार वर के ५९ मन्त्रों के ५८, छठे से ५९, मन्त्रों के ५५.

आठवें के ४४, नवें के ४३, दसवें के ४२, ग्यारहवें के ४१, बारहवें के ४०, तेरहवें के ३९, चौदहवें के ३८, पंद्रहवें के ३७, सोलहवें के ३६, सत्रहवें के ३५, अठारहवें के ३४, उन्नीसवें के ३३, बीसवें के ३२, इक्कीसवें के ३१, बाइसवें के ३०, तेइसवें के २९, चौबीसवें के २८, पचीसवें के २७, छब्बीसवें के २६, सत्ताइसवें के २५, अठाइसवें के २४, उनतीसवें के २३, तीसवें के २२, इकतीसवें के २१, बत्तीसवें के २०, तैंतीसवें के १९, चौतीसवें के १८, पैंतीसवें के १७, छत्तीसवें के १६, सैंतीसवें के १५, अढतीसवें के १४, उनचालीसवें के १३, चालीसवें के १२, इकतालीसवें के ११, बयालीसवें के १०, तैंतालीसवें के ९, चौआलीसवें के ८, पैंतालीसवें के ७, छियालीसवें के ६, सैंतालीसवें के ५, अढतालीसवें के ४, उनचासवें के ३, पचासवें के २ और इक्कावनवें के १ भेद हुआ करते हैं। ये सब मिलकर, ससृष्ट ध्वनिकाव्य के १३२६ प्रकार सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार अनुग्राह्यानुग्राहकभाव से 'सकर' होने पर १३२६, 'एकव्यञ्जकानुप्रवेश से 'सकर' की अवस्था में १३२६ और सदेहास्पदता के कारण साङ्ख्य में १३२६ ध्वनि-भेद निर्विवाद सिद्ध हो गये।

अब १३२६ ससृष्ट ध्वनि-काव्य-प्रकारों के साथ ३९७८ सकीर्णध्वनिकाव्य-प्रकारों का योग करने पर 'मिश्र' ध्वनिकाव्य के सब मिलाकर ५३०४ भेद हुये। और यदि इन ५३०४ मिश्र ध्वनिकाव्य-प्रकारों के साथ ५१ शुद्धध्वनिकाव्य-प्रकारों का योग कर दिया जाय तो समस्त ध्वनिभेद-संख्या ५३५५ हो गया।

(ग) विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्दिष्ट यह ध्वनिभेद-संख्या काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा निर्दिष्ट ध्वनि-भेद-संख्या से लगभग आधी है। आचार्य मम्मट ने १०४०४ मिश्रध्वनि-भेदों का निर्देश किया है क्योंकि ५१ शुद्धभेदों का ५१ शुद्धभेदों से गुणन करने पर भेद-संख्या २६०१-६ हुई जिसे त्रिविध 'सकर' और एकविध 'ससृष्टि' अर्थात् चतुर्विध संयोजन-प्रकारों से गुणन करने पर १०४०४ मिश्रध्वनिभेद-संख्या बनी। इस 'मिश्रध्वनिभेद-संख्या के साथ ५१ शुद्धध्वनि भेद-संख्या का योग करने पर समस्त ध्वनिभेद-संख्या १०४५५ हुई। वैसे तो ध्वनिकार आनन्द वर्धनाचार्य ने भी 'सकर' और 'ससृष्टि' की सम्भावनाओं में ध्वनि के भेदाधिक्य का संकेत किया है किन्तु ध्वनिकार का अमिप्राय ध्वनिकाव्य का भेद-संख्यान नहीं अपितु ध्वनि-साम्राज्य की असीमता का निर्देश है। सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार ने ही लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त का एक मन्त्र (अर्थात् तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्तसहस्राणि चत्वारिंशदानि विंशत्यधिकानि भवन्ति—ध्वन्यालोक लोचन तृतीय उद्यान) का अनुमाण करते ध्वनिकाव्य के भेद-प्रभेदों का गणना का सम्प्रदाय प्रवर्तित कर दिया। काव्यप्रकाशकार के आलोचक विश्वनाथ कविराज के लिये इस भेद-प्रभेद-गुणन और भेद-प्रभेद-गणन का आलोचना अपेक्षित थी, क्योंकि रसात्मक वाक्य को काव्य माननेवाले आचार्य के लिये ध्वनि-भेद प्रभेद गुणन आदि की क्या आवश्यकता! किन्तु विश्वनाथ कविराज ने यह सिद्ध कर दिया कि किसी परम्परा की धारा का परिवर्तन, चाहते हुये भी, प्राय असम्भव होता है।

(घ) ध्वनितत्त्वदर्शी आनन्दवर्धनाचार्य ने, ध्वनि-सकर अथवा ध्वनि-ससृष्टि के निदान्त में, ध्वन्यात्मक काव्य सूक्तिओं के बहुविध मनन-चिन्तन की दिशा का प्रश्न किया है। बाद के ध्वनिवादी काव्याचार्य सम्भवतः इस रहस्य से अपरिचित ही रह गये हैं और गुणनप्रक्रिया के आधार पर भेद प्रभेद निर्णय की ओर बह गये हैं। उदाहरण के लिये प्राय सभी ध्वनिवादी आलङ्कारिकों द्वारा उद्धृत इस ध्वनि-सूक्ति अर्थात्—

‘स्निग्धश्यामलकान्तिलसवियतो वेद्मदधलाका घना
वाता शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।

(२ य काव्यप्रकार * गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य)

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यम्—

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।

अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया सान्येन च सम्भवति ।

काम सन्तु दृढ कठोरहृदयो रानोऽस्मि सर्वं सहे

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा ! देवि ! धीरा भव ॥'

के ध्वनितात्पर्य का निर्देश क ते हुये आनन्दवर्धननाराय ने जो यह सकेन बिना है—

'एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यवमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति (ध्वन्यालोक ३ य ८००)

उनका अभिप्राय यह नहीं कि इन प्रकार की ध्वनि-भूतियों के लिये ध्वनि-भेद प्रभेद-प्रस्तुतान और पारिभाषिक शब्द निर्दिष्ट किये जाय किन्तु यहाँ कि इनकी ध्वन्यात्मकता, सभी दृष्टियों से पहचानी जाय । जैसे कि यह भूति वस्तुतः 'रमध्वनिकाव्य' है । इनका विवेचना में कहीं जैसे कि 'लिप्त' और 'पयोद्वन्द्व' पदों में अत्यन्तानिरेल्लतवाच्यध्वनियों की सृष्टि और कहीं, जैसे कि 'रानोऽस्मि' पद में अर्ध-नरनरनिरेल्लतवाच्यध्वनि और विप्रभन्तवाच्यध्वनि की सृष्टि, यदि देखी जाय तो ठीक है किन्तु इनमें इन ध्वनि-भूति को 'रमध्वनि काव्य' न कहकर 'सदृश-नक्ष्यामन्त्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य' आदि विकट नामों से नूचन करना निगर्हक है । किन्तु बाद के ध्वनिगद्गी काव्यान्तर्य ध्वन्यावाद के प्रभाव में पहला ध्वनि के जो भेद प्रभेद परिगणन में बड़े दृष्टिपूर्वक गिनी गड़े हैं । 'वाच्य-मात्मक काव्य' के निजान्त-पर्वक विधनाथ कविराज भी इन्हीं काव्यान्तर्य को गिने में आ गये हैं ।

अन्वय—अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य (मध्यमकाव्य) का निरूपण किया जा रहा है—
'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य वह काव्य है जिसमें प्रणीत होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ (अपने व्यञ्जक रूप से अवस्थित) वाच्यार्थ की अपेक्षा 'अनुत्तम' अथवा 'गुणीभूत' (अप्रधान) लगा करता है ।

यहाँ (कारिका में) 'अपरम्' (दूसरे) का अभिप्राय 'काव्यम्' (काव्य) का—वस्तुतः ध्वनिकाव्य से निम्न प्रकार के 'काव्य' का—अभिप्राय है । और (वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य के) 'अनुत्तमत्व' की सम्भावना का अभिप्राय है—'न्यूनता' अथवा 'समता' के कारण अधिक वमत्काराधायक न हो सकने का ।

विमर्श—'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का—काव्य ध्वनिकाव्य (मध्यमकाव्य) के मध्यम ने निर्देश रानीय वाच्यमोन्दर्शनद 'वाच्य' का—निर्देश है जैसा कि ध्वनितर आनन्दवर्धन ने कहा है—

'प्रकरोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्यस्य सत्यते ।

यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यवाच्यत्वं स्यात् प्रकथयत् ।'

(ध्वन्यालोक ३ ३४)

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य का—निर्देश काव्य का जो है—इस पर है—

'प्रम-गन्भीरपदा काव्यस्या सुजावहा ।

ये च तेषु प्रकरोऽपनेव यत्र सुनेधमा ॥' (ध्वन्यालोक ३ ३०)

अर्थात् 'ध्वन्यामन्त्य' काव्य प्रम-गन्भीरपदा काव्य का जो है—इस पर है—
एतन्मैव व्यङ्ग्यमोन्दर्शनद 'वाच्य' का—निर्देश है जैसा कि ध्वनितर आनन्दवर्धन ने कहा है ।

(गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के आठ प्रकार)

तत्र स्यादितराङ्गं काकाक्षिप्तं च वाच्यसिद्धयङ्गम् ॥ १३ ॥

संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम् ।

व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ॥ १४ ॥

(गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य १ म भेद—अपराङ्गव्यङ्ग्य)

इतरस्य रसादेरङ्ग रसादिव्यङ्ग्यम् ।

‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ काव्य की श्रेणी में सस्कृत-काव्य-साहित्य की अनेकानेक रचनाएँ पाती हैं। ध्वनिवादी काव्याचार्यों ने इस काव्य-विभाग में उन सभी अलङ्कृत सूक्तिओं को अन्तर्भूत कर दिया है जिन्हें प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्य केवल किसी न किसी अलङ्कृत कहकर मौन रह गये थे। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा था—

‘तदेव व्यङ्ग्यं शसस्पर्शं सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गाः। गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानुसामान्यम्। (ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)।’

अर्थात् वे सभी वाच्यालङ्कारविभूषित रचनाएँ ‘गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य’ की श्रेणी अन्तर्भूत दिखायी देती हैं जिनकी काव्यात्मक रमणीयता का रहस्य उनके वाच्यालङ्कारों नहीं अपि तु उन वाच्यालङ्कारों में अन्तर्लीन वस्तु अथवा अलङ्काररूप व्यङ्ग्य-वार्थ को अवमर रहा करता है।

‘ध्वनि’ काव्य यदि ध्वनि-तत्त्व का पूर्णवतार है तो ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ काव्य उसका अर्थ अवश्य है। दोनों रमणीय काव्यप्रकार हैं।

‘ध्वनि’ और ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ काव्य का तारतम्य प्राचीन ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र नहीं देखा-दिखाया गया। यह तो बाद की ध्वनिवादी काव्याचार्य-परम्परा है जिसने ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ काव्य में उत्तमता और मध्यमता की भावना को जन्म दिया है।

अनुवाद—गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ प्रकार हुआ करते हैं क्योंकि यहाँ व्यङ्ग्य (१) इतराङ्ग, (२) काकाक्षिप्त, (३) वाच्यसिद्धयङ्ग, (४) सन्दिग्धप्राधान्य, (५) तुल्यप्राधान्य, (६) अस्फुट, (७) अगूढ और (८) असुन्दर—इन आठ प्रकार (वाच्य की अपेक्षा) अनुत्तम रूप से अवस्थित रहा करता है।

विमर्श—जहाँ ध्वनि-दर्शन के प्रवर्तकों ने व्यङ्ग्य के ‘इतराङ्ग’ अथवा ‘अपराङ्ग’ आदि अवस्थान में व्यङ्ग्य की ही एक प्रकार की महिमा गायी है वहाँ ध्वनि-दर्शन के प्रवर्तकों ने ‘इतराङ्ग’ अथवा ‘अपराङ्ग’ आदि रूप से अवस्थित व्यङ्ग्य-वार्थ में, वाच्य-सौन्दर्य की ‘अनुत्तमता’ की खोजबीन की है। इस प्रवृत्ति से, काव्य-भेद-निरूपण में भले ही प्रोक्त मिले, किसी काव्यप्रवन्ध के काव्यात्मक अनुशीलन में क्या लाम ?

महाकविओं की रचनाएँ चित्र-विचित्र हुआ करती हैं। यदि कहीं पद ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ वाक्य ‘ध्वनि’ ? ऐसी ‘प्रसन्नगम्भीरपद’ रचनाओं को किस श्रेणी में रखा जाय ?

‘विश्वनाथ कविराज को—‘वाक्य रसात्मक काव्यम्’ इस काव्य-वाद के प्रवर्तक को—इन प्रसन्नगम्भीरपदों से लड़ना चाहिये था किन्तु इनसे लड़ना तो दूर रहे उन्हें उल्टे इनसे पछाड़ ही खाना पड़

अनुवाद—‘इतराङ्ग’ अथवा ‘अपराङ्ग’ व्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य वह काव्य है जो कोई रसभावादि रूप (असलक्ष्यक्रम अथवा वस्त्वादिरूप संलक्ष्यक्रम) व्य

यथा—

‘अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीवत्संसनः करः ॥’

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् ।

• ‘भानोन्नतां प्रणयिनीमनुनेतुकामस्त्वत् सैन्यसागररवोद्भूतकर्णतापः ।

हा ! हा ! कथं नु भवतो रिपु राजधानीप्रासादसततिषु तिष्ठति कामिलोकः ॥’

अत्रौत्सुक्यत्राससन्धिसंस्कृतस्य करुणस्य राजविषयरतावङ्गभावः ।

‘जनस्थाने भ्रान्त कनकमृगतृष्णान्वितधिया

वचो वैदंहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।

कृतालङ्काभर्तुवदनपरिपाटीषु घटना

मयात्र रानत्वं कुशलंगुता न त्वधिगता ॥’

किन्ती दूसरे रसभावादिरूप (असत्पद्यकन अथवा वस्त्वादिरूपसत्पद्यकन) व्यङ्ग्यार्थ को अन्त अथवा उपकारक रूप में रहा करता है (जिसमें उसका अपना महत्त्व दूसरे के महत्त्व का नवर्धन किया करता है) ।

जैसे कि (महाभारत - नापर्व की) निम्न सूक्ति अर्थात्—

(‘मृत महाराज भुरिध्रवा का) यही वह हाथ है जो कभी रनितीलाजों में, काङ्क्ष-
जन के खींचने में तत्पर रहता रहा उन्नत उरोजों के विमर्दन में अन्यस्त लगता रहा,
क्या नाभि, क्या ऊरु, क्या जघन सबके स्पर्श में व्याकुलता दिवाना रहा और नीवी
की गांठ खोलने में इतना उत्सुक दिखाई पड़ता रहा । और अथ ॥ आदि में जो ‘काव्य’
है वह ‘इतराङ्ग’ अथवा ‘अपराङ्ग’-व्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य है क्योंकि यहाँ आनातल
अभिव्यङ्ग्य (नभोग) शृङ्गाररस अन्तर्गत गवा करता रस का ही ‘अन्त’ अथवा उत्कर्ष-
वर्धन बना प्रतीत हो रहा है (यहाँ जो भी काव्य-चमत्कार है वह पूर्वानुभूत रनिषुव की
स्मृतिजों के उद्बोधन का नहीं अपितु इस उद्बोधन में आधिक्य रूप में उद्दीप्त शोक
की चर्वना का ही चमत्कार है) ।

इसी भाँति (अर्थात् जैसे उपर्युक्त सूक्ति की ‘अपराङ्गव्यङ्ग्यता’ एक रस की अन्य
रस के प्रति अङ्गता में स्पष्ट है वैसे ही) रस की भाव के प्रति अङ्गता अथवा उत्कर्ष-
धापकता में ‘अपराङ्गव्यङ्ग्य-गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का यह उदाहरण—

‘महाराज ! आपके शत्रुजों की राजधानियों के राजमहलों में, ओह ! कुछ न पहुँचिये,
जितने भी प्रेमी जीव रह रहे हैं, यही दुर्दशा में पड़े हुये हैं क्योंकि जैसे ही वे अपनी
अपनी मानवती प्रेमिकाओं को मनाने के लिये उत्सुक होते हैं वैसे ही आपके सेना-मन्द
का गर्जन-तर्जन उन्हें विह्वल बना देता है ।’

यहाँ ‘अपराङ्गव्यङ्ग्य-रूप गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का जो स्वरूप है वह यह है—‘लौकिक’
और ‘वाम’ के अभिव्यङ्ग्य चरित्रातीभावों की परस्पर संधि में परिपुष्ट कर-रस स्वयं
अमकारात्पद न होकर (कविनिष्ठ) राजविषयक रतिभाव का ही आन्वाद्य-चमत्कार
बना रहा है (और इसी में मनस्वि काव्य-सौन्दर्य समाना दिखायी दे रहा है ।

अथवा जैसे कि शब्दशक्तिमूल परस्काररूप-सत्पद्यकन-व्यङ्ग्य की व्याख्यार्य के प्रति
अङ्गता में ‘अपराङ्गव्यङ्ग्य-गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य—

‘ने तो ‘कनकमृगतृष्णा’ कनक = धनप्राप्ति की मृगमरीचिका (राम-यन् में, कनकमृग

अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यवचनेऽपि शब्दशक्तेरव रामत्वमवगम्यते। वचने, तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कृतता तद्गोपनमपाकृतम्। तेन वाच्यं सादृश्य वाक्यार्थान्वयोपपादकतयाङ्गता नीतम्।

अर्थात् स्वर्णमृग मारीच की प्राप्ति की लालसा) से व्याकुल और क्रिकर्तव्यविमूढ़ होकर, 'जनस्थान' = धनिओं के भवनों (राम पक्ष में, दण्डकारण्य के एक भाग-विशेष) में खूब घूम चुका, पग पग पर, आँसू भरी आँखें लिये, 'वैदेहि' = 'अरे ! कोई कुछ दो' (राम पक्ष में—वैदेहि ! सांते ! कहाँ हो) कह-कह कर बहुत कुछ रो-धो चुका, इतना ही क्यों, 'कामर्तुर्वदनपरिपाटीषु अल घटना कृता' = पता नहीं, कितने धनी मानी नीच लोगों की तरह-तरह की चापलूसी में क्या-क्या नहीं कह-सुन चुका (राम-पक्ष में, 'लङ्काभर्तुर्वदन परिपाटीषु घटना'—लङ्कापति रावण के सुखमण्डल का वागपक्तियों से वेधन), यह सब कुछ कर चुका और 'रामरूपता' भी पा चुका, किन्तु 'कुशलवसुता' धनी होने का सौभाग्य (रामपक्ष में, सीता) तो अब तक नहीं पा सका।

यहाँ भी 'अपराङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य है क्योंकि 'मयाप्त रामत्वम्' की उक्ति के बिना ही 'जनस्थाने भ्रान्तम्' आदि शब्दों की व्यञ्जकता-शक्ति से यहाँ के निर्विण्ण वक्ता का राम-सादृश्य-प्रदर्शनरूप (आत्मोपहास विषयक) अभिप्राय प्रकाशित हो उठता है। अब 'मयाप्त रामत्वम्' कह देने से, निर्विण्ण वक्ता का राम के साथ सादृश्य मूलक यह अभेदारोप, जो कि शब्द-शक्ति से अभिव्यङ्ग्य होने पर गूढ़ और मनोरम लगता, अगूढ़ हो गया है। इसलिये, इस अभेदारोप का हेतुभूत अभिव्यङ्ग्य सादृश्य (शब्दमूलक सादृश्य) यहाँ के वाक्यार्थ अर्थात् निर्विण्णवक्ता की रामत्व प्राप्ति का ही उपपादक बन गया है और 'अपर' अर्थात् अपने से भिन्न वाच्य (मयाप्त रामत्वम्) का अङ्ग बन कर 'अपराङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का निदर्शन हो रहा है।

विमर्श—एक रस की अन्य रस के प्रति गुणीभूतता में 'अपराङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की जो रूपरेखा काव्यप्रकाशकार अथवा साहित्यदर्पणकार आदि ने खींची है वह ध्वनिकार की दृष्टि में नहीं झलकती। ध्वनिकार ने तो महाकवियों की रस योजनाओं की एक गतिविधि का विश्लेषण करते हुये कहा है कि 'महाकवि लोग परस्परविरुद्ध रसों का भा योजना किया करते हैं किन्तु ऐसी विचित्रता से किया करते हैं कि विरोध के बल सौमनस्य प्रतीत होने लगता है'—
'विवर्चिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।

वाध्यानामङ्गभाव वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥' (ध्वन्यालोक ३२०)

महाकवियों की इस रस योजना विचित्रता में प्रधानतया आस व्यङ्ग्य रूप से अभीष्ट रस में उससे विरुद्ध दूसरे रस के उलटारों को, अप्रधानतया अभिव्यङ्ग्य रख कर, नियोजित करना एक अलग ही विचित्रता है। 'अयमरशनोत्कर्षी' आदि महाभारत-सूक्ति में, ध्वनिकार ने रस योजना की यही विचित्रता देखी है—

'अथवा वाक्यार्थभूतस्यापि कस्यचित् करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजन रसपरिपोषायव जायते। यत् प्रकृतमधुरा. पदार्था. शोचनीयता प्राप्ता प्रागवस्थाभाविभि. सस्मर्यमाणविलासैरधिकतर शाकावेशमुपजनयन्ति। यथा—
'अयं स' करः ॥ इत्यादी।' (ध्वन्यालोक ३५ उद्योत)

अर्थात् भले ही शृङ्गार और करुण परस्परविरोधी रस हों किन्तु जैसे महाभारत के क्रान्तदर्शी धृति ने अपनी करुणरस-मयी सूक्ति में, शृङ्गार के अङ्गों की योजना से चार चाद लगा दिये हैं, प्रणय

(न्य भेद—काकाक्षितव्यङ्ग्य)

काकाक्षितं यथा—

‘मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिवान्मयुरक्तः ।
संचूणयामि गदया न सुगोयनोरु सन्धिं करोतु भवता नृपति परोक्ष ॥’

* अत्र मथ्नान्पेवेत्यादिब्यङ्ग्य वाच्यस्य निषेधस्य सहभावनैव स्थितम् ।

सुत्र को स्मृतिभों से शोक का अनुभूति को तात्पर्य बना दिया है, वैसे यदि रक्त-योजना की जाय तो काव्य के चमत्कार का क्या कहना ।

कहाँ तो किनो रक्त की अभिव्यक्ति में, उनके विरोधो रक्त के अङ्गों की योजना-वैविध्य से बहने चमत्कार का साक्ष्यकार और कहीं अज्ञानता अवस्थित रक्त की पकट कर ‘काव्य’ में ‘गुणभूतव्यङ्ग्यता’ की हा छानना । काव्यप्रकाशकार के लिये जि हैं अलङ्कारवाद के प्रवर्त प्रतिपक्ष रूप में ध्वनिवागी अलङ्कार-रक्त को रचना करने की थी, यह सब नल हा अन्य हो, साहित्यदर्पणकार के लिये तो कृति अन्य नहीं ।

अनुवा—‘काकाक्षितव्यङ्ग्य’ रूप गुणभूतव्यङ्ग्य काव्य वह है जिसका व्यङ्ग्यार्थ, किसी पद की ‘काकु’ अथवा उच्चारणमन्त्रधा ध्वनिविकृति से हो निकल पड़ता है जिसमें वहाँ के वाच्यार्थ मौन्दर्य-र कोई प्रभाव नहीं पड़ता । जैसे कि—

‘(भीम की उक्ति) नहदेव । मैं भला सप्रान में क्रुद्ध हाकर कौरवों का सर्वनाश न करूँ ? मैं भला दुःशासन के वल्ल स्थल का रक्त न पाऊँ ? मैं भला अपना गदा से द्रुयोधन का जीव न तोड़ूँ । सन्धि तो तुम्हारे महाराज युधिष्ठिर को करना है ॥’

यहाँ ‘काकाक्षितव्यङ्ग्य’ गुणभूतव्यङ्ग्य-काव्य है क्योंकि यहाँ जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है अर्थात् ‘मैं तो अवश्यमेव कौरवों का सर्वनाश करूँगा आदि’, वह ‘न’ की काकु अथवा विशिष्ट उच्चारण-प्रक्रिया से हा निकल रहा है न कि यहाँ के वाच्यार्थ-परामर्श से । यहाँ के वाच्यार्थ अर्थात् ‘न मथ्नामि’ (सर्वनाश न करूँ) आदि की प्रतीति और ‘न मथ्नामीनि न’ (अवश्य सर्वनाश करूँगा) आदि काकाक्षित व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति एक ही समय हो रहा है जिनमें वाच्यार्थ प्रतीति के बाद व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कृति, जो कि सल्लघकनव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य की एक स्वाभाविक विशेषता है, दिखाई नहीं पड़ती ।

निर्देश—यदि किता शब्दधराज्ज्ञान में ‘काकु’ शब्द आक्षिप्त व्यङ्ग्य का अप्रवा वाच्य अधिक रममाण हो तब तो वहाँ जो काव्य हात वह गुणभूतव्यङ्ग्य काव्य हा होता हैना कि ध्वनिकार ने रक्त बना है—

‘अर्थान्तरगति काका या चेषा परिहरयते ।

सा व्यङ्ग्यस्य गुणाभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥’

‘काकाक्षित’ व्यङ्ग्य के अर्थान्तरगति होने का कारण यह है कि ‘काकु’ शब्द का ही एक धर्म विशेष है और व्यङ्ग्य का शब्द-प्रयोग संपूर्ण रहना उसके निर्धारित चमत्कार में एक न्यूनता उत्पन्न किया जाता है । काकाक्षित अर्थात् अमूल्यो जैसी दुष्प्रवृत्ति है वही व्यङ्ग्यो-पुष्टि वाच्य ही रममाण बना करता है । इसीसे ‘अर्थान्तरगति’ ने ‘मथ्नामि कौरवशतम्’ कादि मूलि ने ‘काकाक्षित’ होने में वाच्य के उद्भावि में, वाच्यार्थों के प्रमाण वाच्य का पर स्वरूप देना है—

‘अत एव मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपात्’ इत्यादौ विपरितरङ्गता बाहुल्ये न सम्यक् परामर्शः । यतोऽप्युच्चारणकाल एव ‘न कोपात्’ इति दीक्षनारम्भगदसाकाकाक्षित-

(३य भेद—वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्य)

‘दीपयन् रोदसीरन्ध्रमेष ज्वलति सर्वतः ।

प्रतापस्तव राजेन्द्र ! वैरिवशदवानलः ॥’

अत्रान्वयस्य वेगुत्वारोपणरूपो व्यङ्ग्यः प्रतापस्य दावानलत्वारोपसिद्धः
ङ्गम् ।

(४र्थ भेद—सदिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य)

‘हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यः—’ इत्यादौ विलोचनव्यापारचुम्बनाभिलाष्ये
प्राधान्ये सदेहः ।

लाक्षिषेधस्य निषिध्यमानतयैव युधिष्ठिराभिमतसन्धिमार्गात्तमारूपत्वाभिप्रायेण प्रतिपति
रिति मुख्यार्थवाधाद्यनुसरणविघ्नाभावात् को लक्षणाया अवकाशः ।’

(ध्वन्यालोकलोचन ३य उद्योत)

अर्थात् यहाँ जो काकु द्वारा—दीप्त-तार-गदगद-उच्चारण द्वारा ‘न मथ्नामि’ आदि के मथना
निषेधरूप वाच्य का निषेध (मथ्नाम्येव) अभिव्यक्त हो रहा है उसके सौन्दर्य का अपेक्षा उस
अनुप्राणित वाच्य-सौन्दर्य ही अधिक काव्यात्मक लग रहा है। जहाँ व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य ।
प्रतीति हो वहाँ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव द्वारा वाच्यवाचकभाव का उपरक्षण तो स्वभाविक ही है।

अनुवाद—‘वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह है जिसका व्यङ्ग्य
वाच्यार्थ की सिद्धि में अङ्ग अथवा सहायक बना रहता है, जैसे कि—

‘महाराज ! पृथिवी और आकाश के बीच प्रकाशमान शत्रुवंश का दावानल, आप
यह प्रताप सर्वत्र प्रखररूप से प्रज्वलित दिखायी दे रहा है ।’

यहाँ जो काव्य है वह ‘वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है क्योंकि व
राजवीर के राजवश और वश (वाँस) में जो शब्दशक्तिमूलक अभेदारोप अभिव्यक्त
रहा है वह अन्त में वाच्यार्थभूत ‘प्रताप’ और ‘दावानल’ के अभेदारोप की ही सिद्धि ।
अङ्ग बन गया है ।

विमर्श—व्यङ्ग्य के ‘वाच्यसिद्धयङ्ग’ अथवा ‘वाच्यसौन्दर्य-निष्पादन में उपकारक’ होने
एक सुन्दर निदर्शन यह है जिसे ध्वनिकार ने उद्धृत किया है—

‘कमलाकरा न मलिता हस्ता उड्ढायिता न च सहसा ।

केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानित चित्तम् ॥’ (सं छाया)

इस सूक्ति में व्यङ्ग्य के गुणीभूत और वाच्य के प्रधान चारुत्व का आचार्य अभिनवगुप्त
शब्दों में यह विश्लेषण है—

‘वाच्येनैव हि विस्मयविभावरूपेण सुग्धिमातिशयः प्रतीयत इति वाच्यादेव चारु
सम्पत् । वाच्य तु स्वात्मोपपत्तयेऽर्थान्तरं स्वोपकारवाञ्छया व्यनक्ति ।’

(ध्वन्यालोकलोचन २य उद्योत)

अर्थात् यहाँ जो भी काव्यात्मक सौन्दर्य है वह वाच्यकृत ही है। वैसे यह ठीक है कि य
वाच्य व्यङ्ग्यार्थ का उपस्थापक है किन्तु यह व्यङ्ग्यार्थ अन्ततो गत्वा वाच्य का ही उपपादक
गया है जिससे यहाँ ‘ध्वनि’ की समावना नहीं अपि तु गुणीभूतव्यङ्ग्य की रूपरेखा दिखाई
दे रही है ।

अनुवाद—‘सदिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह है—जिसके व्यङ्ग्यार्थ, का
प्राधान्य (वाच्यार्थ-सौन्दर्य के देखते) सदिग्ध रहा करता है। जैसे कि (महाकवि

(५म भेद—तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य)

‘ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।

जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुमनायते ॥’

अत्र परशुरामो रक्षःकुलक्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च सम प्राधान्यम् ।

कालिदास के कुमारसंभव की इस सूक्ति अर्थात्) ‘हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यः’ आदि में जो काव्य का स्वरूप है वह ‘सदिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का स्वरूप है क्योंकि ‘विलोचनन्यापार’ के वाच्य-सौन्दर्य के कारण यहाँ ‘परिचुम्बनाभिलाप’ के व्यङ्ग्य चमत्कार की प्रधानता सदिग्ध हो गयी है ।

विमर्श—‘मन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य’ रूप गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के उदाहरण में, काव्यप्रकाशकार ने भी, महाकवि कालिदास की यही सूक्ति उद्धृत की है । यहाँ व्यङ्ग्यप्राधान्य और वाच्य प्राधान्य में सदेह का विश्लेषण ‘प्रदीपकार’ के शब्दों में यह है—

‘अत्र चुम्बितुमैच्छदिति व्यङ्ग्यम् । युगपद्विलोचनत्रयव्यापारण वाच्यम् । तयोश्च प्राधान्ये साधकबाधकमानाभावेन सदेहः । वाच्यस्याप्यलौकिकत्वेन चमत्कारकारित्वा-
दुत्कण्ठातिशयव्यञ्जकत्वाच्च ॥’ (काव्यप्रदीप ५म उद्भास)

अभिप्राय यह है कि यदि कवि की वाच्य-योजना ऐसी है कि वह व्यङ्ग्य की शक्ति दिखा कर भी सभी काव्यात्मक सौन्दर्य अपने में समेट लेती है तो व्यङ्ग्य और वाच्य के प्रातिस्विक चारित्र्य के निर्णय में मददगार नामाजिक को अममजस में पड़ जाना पड़ता है । ऐसी सूक्तिओं का सौन्दर्य एक अलग ही काव्य-सौन्दर्य है । इन्हें ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ काव्य की श्रेणी में रखने का अभिप्राय काव्य-नीति-करण की पूर्णता की सूचना है, न कि इनके काव्यात्मक सौन्दर्य की अदभुत अनुभूति का विश्लेषण ।

अनुवाद—‘तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह काव्य है जिसके व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ का काव्यात्मक सौन्दर्य समान रूप का प्रतीत हुआ करता है । जैसे कि—

‘राक्षसराज ! यह तो आपके ही महाकल्याण की बात है कि आप ब्राह्मणों का धनादर करना नहीं चाहते । अन्यथा आपका मित्र यह (ब्राह्मण) परशुराम अप्रसन्न भी तो हो सकता है ।’

यहाँ (परशुराम की इस उक्ति में) जो यह व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि (यदि ब्राह्मण का धनादर हुआ तो) ‘परशुराम राक्षसवश का सर्वनाश कर डालेगा’ उसके चमत्कार की अपेक्षा यहाँ के वाच्यार्थ का अर्थात् ‘परशुराम की मित्रता निभाने से राक्षस वश का कल्याण है’ इस अभिप्राय का सौन्दर्य कम काव्यात्मक नहीं ।

विमर्श—वाच्य और व्यङ्ग्य के तुल्य-प्राधान्य अथवा सम-प्राधान्य की नमावना अप्रस्तुत प्रशान्तकार में स्पष्ट दिखायी देती है । धनिकार ने इनोलिए कहा है—

‘अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीय-
मानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदाऽभिधीयमानप्रतीयमानयो सम-
मेव प्राधान्यम् ।’ (ध्वन्यालोक ११ न उद्योत)

जिनका नकेन यह है कि अप्रस्तुतप्रशंसादि वाच्यान्तरात्मक ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ काव्य-प्रकार में प्रस्तुत है क्योंकि वाच्य और व्यङ्ग्य के समान प्राधान्य में धनिप्राय की स्मरणेता नहीं बना करती । किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसादि वाच्यान्तरों ने अनिरुद्ध भी ‘समप्राधान्यव्यङ्ग्य’ का

(६४ भेद-अस्फुटव्यङ्ग्य)

‘सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः ।

अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ॥’

अत्राल्लावदीनाख्ये नृपतौ दानसामादिमन्तरेण नान्यः प्रशमोपाय इति व्यङ्ग्यं व्युत्पन्नानामपि ऋटित्यस्फुटम् ।

(७ म भेद अगूढव्यङ्ग्य)

‘अनेन लोकगुरुणा सतां धर्मोपदेशिना ।

अहं व्रतवती स्वैरमुक्तेन किमतः परम् ॥’

अत्र प्रतीयमानोऽपि शाक्यमुनेस्तिर्यग्योषिति बलात्कारोपभोगः स्फुटतया वाच्यायमान इत्यगूढम् ।

क्षेत्र है—इसके निदर्शन में काव्यप्रकाशकार ने एक सूक्ति (प्राक्षणातिक्रमत्याग) दूढ़ी थी । वही सूक्ति विश्वनाथ कविराज को भी मिली है । समवत ऐसी रचनायें बहुत विरल हैं क्योंकि ज्ञान बूझकर ‘समप्राधान्यव्यङ्ग्य’ काव्य की रचना महाकवि का काम नहीं ।

अनुवाद—‘अस्फुटव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह काव्य है जहाँ का व्यङ्ग्यार्थ (सहृदय काव्य-पाठक के लिये भी) अस्फुट-अस्पष्ट-रहा करता है । जैसे कि—

‘सन्धि हो तो सर्वस्व चला जाय और विग्रह हो तो प्राणों के भी लाले पड़ जाय । बादशाह अलाउद्दीन (खिलजी) के साथ सन्धि क्या और विग्रह क्या !’

यहाँ ‘अस्फुटव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है क्योंकि यहाँ का यह व्यङ्ग्यार्थ कि ‘साम और दान आदि को छोड़कर बादशाह अलाउद्दीन को प्रसन्न करने का और कोई उपाय नहीं’, कुछ ऐसा है जिसे परिपक्वबुद्धि काव्य-प्रेमी अविलम्ब और स्पष्टरूप से नहीं समझ सकते ।

विमर्श—‘ध्वनि’ के समस्त भेद-प्रभेद प्रधानतया अवस्थित व्यङ्ग्यार्थ के स्फुटावभासन पर ही निर्भर हैं । व्यङ्ग्यार्थ यदि अस्फुट हो गया तो वाच्य-च्चारत्व का आकर्षण बढ गया । तभी तो ध्वनिकार ने कहा है—

‘सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।

यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥’

और लोचनकार ने भी दुहराया है—

‘अवभासमानं व्यङ्ग्यं ध्वनिलक्षणं ध्वनेः स्वरूपं पूर्णम्, अवभासनं वा ज्ञानं तद्ध्व-नेर्लक्षणं प्रमाणं, तच्च पूर्णं पूर्णध्वनिस्वरूपनिवेदकत्वात् ॥’ (ध्वन्यालोकलोचन . २५ उद्योत)

अर्थात् स्फुट रूप से प्रतीत व्यङ्ग्यार्थ में ही ध्वनि की रूप-रेखा पूर्णतया खींचा करती है । वस्तुतः व्यङ्ग्य की अनुभूति ही ध्वनि में प्रमाण है क्योंकि तभी ध्वनि की पूर्ण रूप-रेखा का पता चला करता है ।

अनुवाद—‘अगूढव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह है जहाँ का व्यङ्ग्यार्थ गूढ नहीं प्रतीत होता । जैसे कि—

‘मेरा पातिव्रत्य तो सद्धर्म के उपदेशक और लोकगुरु बने इन शाक्यमुनि के साथ निभ चुका है । अब इसके आगे और कुछ कहना-सुनना मैं नहीं चाहती ।’

यहाँ ‘अगूढव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है क्योंकि शाक्यमुनि का किसी नीच स्त्री के

(८ म भेद . असुन्दरव्यङ्ग्य)

‘वाणीरकुड्कुड्डीणसज्जिकोलाहण सुणन्तीए ।

घरक्कम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अज्जाइ ॥’

(वानीरकुड्कुडीणसज्जिकोलाहल मृगवन्त्या ।

गृहकर्मव्यापृताया वच्चा सीदन्त्यङ्गानि ॥)

अत्र दत्तसंकेतं कश्चिन्नतागृहं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यत्वात् ‘सीदन्त्यङ्गानि’ इति वाच्यस्य चमत्कारः सहृदयनवेद्य इत्यसुन्दरम् ।

साय घटाकार करने का जो अभिप्राय यहाँ अभिव्यक्त हो रहा है वह वाच्यार्थ की भाँति मनी के लिये स्पष्ट है ।

विमर्श—मनी धनिवादी आन्तरिक चमत्कार की गूढ़ता अथवा सहृदय-भाव-नवेद्यता पर जोर देने आ रहे हैं । किन्तु आन्तरिक कवि ने व्यङ्ग्य की गूढ़ता को लब्ध में रखकर बड़ा सुन्दर कहा है—

‘अनुद्वेष्य’ शब्दैरयं च घटनात’ स्फुटतर’

पदानानर्थान्ना रमयति न वृत्तानितरस ।

यथाहरयः किञ्चित् पवनचलचानाशुकतया

कुचामोग’ स्त्रीणां हरति न तथोन्सुत्रितमुख ॥’

अनुवाद—‘असुन्दरव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह है जहाँ का व्यङ्ग्यार्थ सुन्दर नहीं लगा करता ॥ उसे कि—

‘वानीर (वेंत के) कुज से उड़नेवाले पक्षियों की फड़फड़ाहट सुनकर, घर के काम-काज में लगी नवेली के लग-अंग ढीले पड़ते दीख रहे हैं ॥’

यहाँ ‘असुन्दरव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है क्योंकि ‘सीदन्त्यङ्गानि’ अर्थात् अन्न-अन्न की क्षवसदृशता अथवा आकुलता का वाच्यार्थ, जैसा कि सहृदयों का अनुभव है, जितना सुन्दर लग रहा है उतना यह व्यङ्ग्यार्थ कि ‘प्रेममिलन के पूर्वसंकेतानुसार कोई प्रेमी वानीर-कुञ्ज में आ पहुँचा है’ कदापि नहीं लग रहा ।

विमर्श—‘असुन्दरव्यङ्ग्य’ गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के निर्दशनता में वाच्यप्रदर्शन में जो यहाँ नूति व्यक्त की है । इस नूति में व्यङ्ग्य के मौन्दर्य को व्यङ्ग्य के अपेक्षित मौन्दर्य धिक्कार, घटाकार के शब्दों में, व्यक्त किया है—

‘अत्र दत्तसंकेतं कश्चिन्नतागृहं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यम् । तस्माद् वाच्य चमत्कारकारि । शब्दध्वनिसमकालमेव सर्वाङ्गव्याप्यदसतन्मनान्तरात्म्यं तस्यातिमौन्दर्यादुत्कृष्टाति-शयपर्यवसनत्वात् ॥’ (वाच्यप्रदर्शन २२२)

अर्थात् ‘वानीरकुञ्ज’ आदि में व्यङ्ग्यार्थ निश्चय मिला है कि ‘कोई प्रेमी वानीरकुञ्ज में प्रवेश करने आ पहुँचा है’ किन्तु इस व्यङ्ग्यार्थ में प्रेमिका की व्यङ्ग्यता को अभिव्यक्त करने का उतना मानसिक नहीं मिलता कि यहाँ के आवागमन-व्यङ्ग्य वाच्यार्थ में है । व्यङ्ग्यार्थ का मौन्दर्य यदि अगर वह वाच्य में व्यङ्ग्यार्थ अपेक्षा असुन्दर हो रहा जाता ।

धनिकर ने भी ‘वानीरकुञ्ज’ आदि नूति को गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के श्रेष्ठ नमूने में देखा है—

‘एवविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्त्योदाहरणत्वेन निर्दिश्यते ॥’

और तोन्तर ने भी इसी धारणा का समर्थन किया है—

‘अत्र (वानीरकुञ्ज इत्यादी) दत्तसंकेतवैध्यानुसरतमनुचितस्थानप्राप्तिष्वन्यमाना वाच्यमेवोपेक्षन्ते । तथा हि गृहकर्मव्यापृताया इत्यन्यथाया अपि, वच्चा इति साविशय-

(गुणीभूतव्यङ्ग्य की अन्यान्य प्रकार-सम्भावना)

किञ्च यो दीपकतुल्ययोगितादिपूपमाद्यलङ्कारो व्यङ्ग्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्य एव । काव्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात् ।

यदुक्तं ध्वनिकृता—

‘अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।

तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥’

यत्र च शब्दान्तरादिना गोपनकृतचारुत्वस्य विपर्यासः ।

यथा—

‘दृष्ट्या केशव ! गोपरागहतया किञ्चित् दृष्टं मया

तेनात्र स्वलितास्मि नाथ ! पतितां किं नाम नालम्बसे ।

एकस्त्वं विषमेषुखिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-

गोप्येवं गदितः सलेशमवताद्गोष्टे हरिर्विश्रितम् ॥’

लज्जापारतन्त्र्यवद्वाया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न तादृगङ्ग यद्वाग्भीर्यावहित्यवशेन सवरीतु पारितम्, सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादन स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्तीति । गृहकर्म योगेन स्फुटं तथा लघयमाणानीति । अस्मादेव चाच्यात् सातिशयमदनपरवशताप्रतीते ध्यात्वसम्पत्तिः ।’ (ध्वन्यालोकलोचन • २ य उद्योत)

किन्तु ध्वनिकार और लोचनकार ने यहाँ ‘असुन्दर’ रूप व्यङ्ग्य का दर्शन नहीं किया इन दोनों आचार्यों की दृष्टि में यहाँ व्यङ्ग्योपस्कृत वाच्यचारुत्व दिखायी दे रहा है । ‘व्यङ्ग्योपस्कृत वाच्यचारुत्व’ ध्वनि का विषय नहीं अपि तु ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ में स्थान पाता है । काव्य प्रकाशकार का अनुसरण करते हुये साहित्यदर्पणकार ने यहाँ ‘वाच्यचारुत्व’ को ‘व्यङ्ग्यवाचरुत्व’ अथवा ‘असुन्दरव्यङ्ग्य की अवस्थिति’ का समरूप मान लिया है जिसमें गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य क ‘असुन्दरव्यङ्ग्य’ रूप प्रभेद निर्धारित हो जाय ।

अनुवाद—गुणीभूतव्यङ्ग्य की उपर्युक्त अष्टविध संभावनाओं के अतिरिक्त अन्य भ्रं संभावनायें हैं जैसे कि दीपक, तुल्ययोगिता आदि-आदि अलङ्कारों में उपमानोपमेयभाव का जो व्यङ्ग्यार्थ है वह गुणीभूतव्यङ्ग्यार्थ ही है क्योंकि दीपकादि अलङ्कार-काव्यों में जो भी चमत्कार है वह वहाँ के अभिव्यङ्ग्य औपम्य के कारण नहीं अपि तु दीपकादिरूप वाच्यविच्छित्ति के ही कारण प्रतीत हुआ करता है । वस्तुतः ध्वनिकार (आचार्य आनन्द वर्धन) का भी यही कहना है—

अन्य अलङ्कार या (दीपकादि) वाच्य अलङ्कारों में किसी व्यङ्ग्य अलङ्कार (जैसे वि उपमादि) की प्रतीति होने पर भी यदि काव्य व्यङ्ग्यपरक अथवा व्यङ्ग्योन्मुखे न हो तें उसे ‘ध्वनि’ नहीं कहा जा सकता (उसे तो गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कह सकते हैं) ।

‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ की दूसरी संभावना वह है जिसे किसी व्यङ्ग्यार्थ की निगूढता व चमत्कार का, किसी वाचकपद के प्रयोग द्वारा, ‘विपर्यास’ (गूढव्यङ्ग्य को अगूढ वन देना) कहा करते हैं । जैसे कि—

‘वे मुरली मनोहर कृष्ण आप सबका कल्याण करते रहें, जिनके साथ गोष्ठ में गोर्ष इस प्रकार श्लिष्ट रूप से वार्तालाप किया करती है—केशव ! ‘गोपराग’ (गो + पराग) से, गौओं की धूल से, दृष्टिके कलुषित हो जाने के कारण मुझे कुछ दिखायी न पड़ा जिससे मैं यहां भूल पड़ी हूँ. नाथ ! मुझ ‘पतिता’ को भूली-भटकी को, अपना सहारा दो, वर

अत्र गोपरागादिशब्दानां गोपे राग इत्यादिव्यङ्ग्यार्थानां सलेशमिति पदेन स्फुटतयावभासः । सलेशमिति पदस्य परित्यागे ध्वनिरेव ।

तुम्हीं एक ऐसे हो जो ('विषमेषु खिन्नमनसा सर्वावलाना गति' विषमेषु सङ्केषु स्थलेषु खिन्नमनसा क्लान्तचित्तानां सर्वावलाना सर्वपामेव वलरहिताना स्त्रीणा पुमां वा गति) 'कँचे-नीचे रास्तों में गिरे-पड़े और वहाँ से निकलने में असमर्थ लोगों को सहारा देनेवाले हो ।'

यहाँ जो काव्य है वह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ही है क्योंकि 'गोपराग' आदि (अर्थात् स्वलिताम्, पतिताम् और विषमेषु खिन्नमनसा सर्वावलानां गति) पदों से जो व्यङ्ग्यार्थ जैसे कि ग्वाले से प्रेम आदि के अभिप्राय निकल रहे हैं उनकी गूढ़ता का चमत्कार 'सलेशम्' (श्लिष्ट रूप से) इस पद के प्रयोग से अस्तव्यस्त कर दिया गया है । यही सूक्ति 'ध्वनि' काव्य में स्थान पा सकती है यदि यहाँ से 'सलेशम्' पद हटा दिया जाय !

विमर्श—(क) यहाँ साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार के गुणीभूतव्यङ्ग्य-प्रभेद निर्णय पर कटाक्ष किया है । काव्यप्रकाशकार ने जब अष्टविध गुणीभूतव्यङ्ग्य का निरूपण कर दिया तो यह सोच लिया कि ध्वनिकार और लोचनकार द्वारा निर्दिष्ट व्यङ्ग्य के गुणीभाव की नयी समावनाओं का विश्लेषण हो गया । साहित्यदर्पणकार को काव्यप्रकाशकार की इन 'सोच' पर आपत्ति है क्योंकि उन्होंने ध्वन्यालोक और 'लोचन' में गुणीभूतव्यङ्ग्य की ओर न तो समावनाएँ देनी हैं जो इन आठ गुणीभूतव्यङ्ग्य-प्रभेदों में नहीं मना पाती । बात तो बहुत कुछ ठीक है किन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य के सम्बन्ध में ध्वनिदार्शनिकों की मूल धारणा न तो काव्यप्रकाशकार ने अपनायी है और न साहित्यदर्पणकार ने । 'ध्वन्यालोक' और 'ध्वन्यालोकलोचन' न तो 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को मध्यमकाव्य मानते हैं और न व्यङ्ग्य के गुणीभाव की सीमाओं का निर्धारण करते हैं । यह कार्य तो काव्यप्रकाशकार का किया है और उनके आलोचक साहित्यदर्पणकार ने इसे युक्तियुक्त भी मान लिया है ।

(ख) वाच्यालङ्कारों में 'अलङ्कार' रूप अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर्व्यापन वाच्यालङ्कारों की विशेष सुन्दरता का कारण हुआ करता है । ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—

'वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यशानुगमे सति ।

प्रायेणैव परा ह्याया विभ्रष्टक्षये निरीक्ष्यते ॥ (ध्वन्यालोक ३ ३६)

और वाच्यालङ्कारों में 'अतिशयोक्ति' की अभिव्यक्ति का वाच्यालङ्कारों का प्राण निम्न किया है । किन्तु इनका यह अभिप्राय नहीं कि सर्वत्र वाच्यालङ्कार अतिशयोक्ति-सङ्कीर्ण रत्न करने ह । 'अतिशयोक्ति' की अभिव्यक्ति दो प्रकार से सम्भव है—(१) प्रधानरूप में और (२) अप्रधान रूप में । यदि अतिशयोक्ति प्रधानरूप में अभिव्यक्त है तो काव्य 'अलङ्कारध्वनि-अतिशयोक्त्यलङ्कार ध्वनि'—काव्य होगा । और यदि अप्रधान रूप में अतिशयोक्ति प्रतीत हो रहा है तो काव्य 'गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप काव्य होगा । यहाँ बात अन्त्यान्त अलङ्कारों की भी अप्रधान रूप में अभिव्यक्ति में प्रतीति देती है—

'येषु चातङ्कारेषु सादृश्यमुद्येन तत्प्रतिरम्भं यथा रूपकोपमानुल्लेखयोगितानिदर्शनादिषु, तेषु गन्धमानधर्ममुद्येनैव यत् सादृश्यं तदेव शोभानिश्चयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुवातिशययोगिनस्त्वन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषया । नमानोक्त्यानेपपर्यायोक्तादिषु तु गन्धमानाशाविनाभावैर्नैव तत्प्रत्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादव । तदेव व्यङ्ग्यशानुगमे सति चारुवातिशययोगिनो रूपशब्दयोऽलङ्कारा सर्वेऽप्यगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः ।' 'तदेव ध्वनिनिष्पन्नरूपो द्वितीयोऽपि महाप्रतिविषयोऽतिरम्भजीवो रसजीव मरदयै ।' (ध्वन्यालोक ३७ ७७-७८)

(काव्य की ध्वनिरूपता और गुणीभूतव्यङ्ग्यता एक अभिज्ञान)

किञ्च । यत्र वस्त्वलङ्काररसादिरूपव्यङ्ग्यानां रसाभ्यन्तरे गुणीभावस्त
प्रधानकृत एव काव्यव्यवहारः ।

तदुक्तं तेनैव—

‘प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।

धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥’ इति ।

अर्थात् वाच्यालङ्कारों में व्यङ्ग्यार्थ का अनुप्रवेश एक ऐसा काव्य-सौन्दर्य है जो प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्यों की विश्लेषण-बुद्धि में सम्भवतः सर्वथा नहीं समा सका है। वाच्यालङ्कारों की दो श्रेणियाँ हैं—१ली वह, जिसे साधारणतया शोभाशाली वाच्यालङ्कार-श्रेणी कह सकते हैं और २री वह जिसे विशेषतया शोभाशाली वाच्यालङ्कार-वर्ग के रूप में देखा जा सकता है। साधारण शोभाशाली रूपकादि अलङ्कार तो वाच्यालङ्कार-वर्ग में आ जाते हैं किन्तु जो विशेष शोभाशाली अर्थात् व्यङ्ग्यार्थसम्पर्श से अतिशय रमणीय रूपकादि अलङ्कार हैं वे गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप ध्वनि-निष्पन्न के विविध नामरूप हैं।

यहाँ यह स्पष्ट है कि गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के किसी अतिरिक्त वर्ग-निर्देश का कोई अभिप्राय नहीं। किन्तु काव्यप्रकाशकार की आलोचना करने के आवेश में, साहित्यदर्पणकार ने, यहाँ भी गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का एक वर्ग-विभाग ही देख लिया है।

(ग) साहित्यदर्पणकार ने ‘निगूढ व्यङ्ग्यार्थ के वाचक पद द्वारा विपर्यास के कारण ‘गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य’ में जो एक अन्य प्रकार की समावना की है उसका आधार ध्वनिकार की यह उक्ति है—

‘शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।

यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिध्वनेः ॥’

‘शब्दशक्त्याऽर्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाऽक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशोत्क्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः । अलप्य क्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति संभवे स तादृगन्योऽलङ्कारः ।’

और इस पर लोचनकार की यह समीक्षा है—

‘उभयेति (उभयशक्त्या यथा—दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया इत्यादौ) शब्दशक्ति स्तावद् गोपरागादिशब्दश्लेषवशात्, अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात्, यावदत्र राधारमण स्यात्खिलतरुणीजनच्छलानुरागगरिमास्पदत्वं न विदित तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः, सलेश मिति घात्र स्वोक्तिः ।’ (ध्वन्यालोकलोचन . २य उद्योत)

किन्तु यहाँ यह निर्विवाद है कि ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ काव्य का कोई प्रकार-भेद निर्दिष्ट नहीं किया गया। यह सब विम्वनाथ कविराज की अपनी कल्पना है।

अनुवाद—किसी काव्य-प्रबन्ध को ध्वनि-काव्य इसलिए कहा जाया करता है क्योंकि कोई न कोई रस वहाँ प्रधान रूप से अभिव्यङ्ग्य रहा करता है, जहाँ-तहाँ प्रतीत वस्तुध्वनियाँ, अलङ्कारध्वनियाँ और विविध रसभावादि-ध्वनियाँ तो ऐसे काव्य में, ऐसे प्रधान रूप से आस्वाद्य रस में—गुणीभूत ही रहा करती हैं। वस्तुतः ध्वनिकार का यही ध्वनि-काव्यवाद है जैसा कि इस उक्ति से स्पष्ट है—

वे सभी वस्तु—अलङ्कार तथा रसभावादिरूप काव्यार्थ जो आपाततः ‘गुणीभूत व्यङ्ग्य’ हैं, अन्त में रसादिविषयक तात्पर्य के परामर्श से, ध्वनि-काव्य में ही परिणत हो जाया करते हैं ।’

यत्र तु—

‘यत्रोन्मदाना प्रमदाजनानामभ्रलिहः शोणमणीमयूख ।

सध्याभ्रम प्राप्नुवतामकाण्डेऽप्यनङ्गनेपथ्यविधि विधत्ते ॥’

इत्यादी रसादीना नगरीवृत्तान्तादिवस्तुमात्रेऽङ्गत्वम्, तत्र तेषामतात्पर्यवि-
व्यवत्वेऽपि तैरेव गुणीभूतैः काव्यव्यवहारः । ‘तदुक्तमस्मद्गोत्रकविपण्डितमुख्य-
श्रीचण्डीदासपादैः—वाक्या (काव्या) र्यस्याखण्डबुद्धिवेद्यतया तन्मयीभावेना-
स्वाददशायां गुणप्रधानभावावभासस्तावन्नानुभूयते, कालान्तरे तु प्रकरणादिप-
र्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्यव्यपदेश व्याहान्तुमीश’, तस्यास्वादमात्रायत्त-
त्वात्’ इति ।

यह शक्ति ध्वनिविषयक एक अभिज्ञान है। इसे ध्यान में रखने पर ‘गुणीभूत-
व्यग्यकाव्य’ का स्वरूप स्पष्टतया पहचाना जा सकता है। जैसे कि ऐसी सूक्ति अर्थात्—
‘वह ऐसी नगरी थी जहाँ की यौवन-मदमाती रमणियाँ, अपने-अपने अभ्रकप भवनों
में जड़े लाल मणियों के किरणकलापों से, बिना सध्या के समय के ही सध्या समय
के भ्रम में पड़ कर अपने प्रेमियों से प्रेममिलन के लिए, वेशभूषा का साज शृङ्गार
करने में प्रवृत्त हो जाया करती थीं ।’

इत्यादि को, यहाँ अभिव्यग्य रसभावादि के आधार पर ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा
सकता क्योंकि यहाँ का अभिव्यग्य रसभावादि नगरीवर्णन का अङ्ग बना है। वैसे ऐसी
सूक्तियों में यह स्पष्ट है कि रसभावादि का गुणीभाव कविविवक्षित नहीं किन्तु इसका
यह अभिप्राय नहीं कि ये सूक्तियाँ चित्रकाव्य हैं। इन्हें गुणीभूतव्यग्य-काव्य ही कहना
ठीक है क्योंकि रसभावादि की लगता तो प्रतीत ही हो रही है।

इस सम्बन्ध में हमारे संगोत्र, कवि-पण्डितप्रवर, श्रीचण्डीदाम की यह शक्ति
ध्यान देने योग्य है—

‘काव्यार्थ तो ‘अखण्ड बुद्धि’ अथवा एकचन प्रतिभामरूप सवेदन का विषय हुआ
करता है। इसी में सहृदयहृदय तन्मयता रखा करता है जिसमें उसे आनन्द-चमत्कार
मिला करता है। इस काव्यार्थ के आनन्दानुभव के समय, ‘क्या प्रधान है और क्या
गौण है’ का अनुभव कैसे हो सकता है? अब यदि आनन्दानुभव के बाद कभी
प्रकरणादि की आलोचना-प्रत्यालोचना से ‘क्या प्रधान है और क्या अप्रधान है’ का
पता चले भी तो उससे ‘काव्य प्रबन्ध’ के स्वरूप-सत्यान की क्या सति? काव्य का
निर्णय तो प्रकरणादि-पर्यालोचना के पहले ही, आस्वादानुभवमात्र से हो चुका होता है।

विमर्श—(क) ‘ध्वनि’ और ‘ध्वनि-निप्यन्द’ का विवेक अत्यन्त आवश्यक है ‘ध्वनि काव्य
का आत्मनत्व है’ इसका यह अभिप्राय नहीं कि सर्वत्र ‘ध्वनिदर्शन’ ही बिना जाय। ‘ध्वनि’
और ‘ध्वनि-निप्यन्द’ (गुणनिप्यन्द) का भिन्नत्व बुद्धि मात्र ही बिना जा सकता है—

‘प्रमेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ।

विधातव्या सहृदयेन तत्र ध्वनिप्रोजना ॥’

(ध्वन्यालोक ३००)

यह ‘ध्वनि’ क्या है? यह बुद्धि ‘यान्त्र-प्रमाण’ है—

‘चारुप्रतीतिरेवात्र युक्तिः’ (ध्वन्यालोकप्रयोग ३३ प्रतीति)

—यहाँ चरित्रवान्तर के प्राप्ति और वाच्यवाच्य के व्यापान में ही ‘ध्वनि’ का ज

(काव्यप्रकाशकार-सम्मत तृतीय काव्यभेद-चित्रकाव्य-का खण्डन)
केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति ।

तदाहुः—

‘शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।’ इति ।

तन्न, यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्यभावावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति

का स्वरूप-दर्शन करना चाहिए और व्यङ्ग्य-चारुत्व की अपेक्षा वाच्य-चारुत्व के अधिक चमत्कार में ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ काव्य की झाँकी देखी जानी चाहिए ।

वस्तुतः ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ और ‘ध्वनि’ के क्षेत्र परस्पर सकीर्ण हैं । इनका रेखा-विभाजन सरल नहीं । केवल ‘चारुत्व प्रतीति’ की दोर से एक को दूसरे से यथास्थान पृथक् किया जा सकता है अन्यथा नहीं ।

(ख) ‘गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य भी रसभावादित्पर्यपरामर्श में ध्वनिरूप हो जाता है’—यह ध्वनिकार की मान्यता है । ध्वनिकार की दृष्टि में यह एक सुन्दर निदर्शन ‘न्यक्कारो ह्ययमेव आदि सूक्ति है जिसमें विश्वनाथ कविराज ने ‘विधेयाविमर्श दोष’ का दर्शन कर लिया है ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है—

‘एवं स्थिते च न्यक्कारो ह्ययमेव’ इत्यादिश्लोकनिर्दिष्टानां पदानां व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्य प्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थोभूतरसापेक्षया व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न तेषां पदानामर्थान्तरसकृत् मितवाच्यध्वनिप्रमो विधातव्यः, विवक्षितवाच्यत्वात्तेषाम् । तेषु हि व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्ग्यरूपपरिणतत्वम् । तस्माद् वाक्यं तत्र ध्वनिः, पदानि । गुणीभूतव्यङ्ग्यानि । न च केवलं गुणीभूतव्यङ्ग्यान्वेष्टव्यं पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वने व्यञ्जकानि यावदर्थान्तरसकृत्मितवाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि । यथाऽत्रैव श्लोके ‘रावण इत्यस्य प्रभेदान्तररूपव्यञ्जकत्वम् ।’ (ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)

अर्थात् रसतात्पर्यपरामर्श में तो ‘न्यक्कारो ह्ययमेव’ आदि सूक्ति एक रसध्वनि सूक्ति है किन्तु वै यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की समस्त सुन्दरता दिखायी दे रही है । ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ का ‘ध्वनि’ में पर्यवसान कोई आश्चर्य क्या ? यहाँ पदार्थों में गुणीभूतव्यङ्ग्यता विराज रही है किन्तु वाक्या में रसध्वनि की अनुभूति हो रही है । इस एक दृष्टान्त से सम्पूर्ण काव्य प्रबन्ध की ध्वनिरूप और उसके अङ्गों की यथास्थान गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है ।

(ग) परस्पर सकीर्ण होने पर भी ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ का एक अभिज्ञान है और वह यह जैसा कि ध्वनिकार ने ही निर्दिष्ट किया है—

‘यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन समुदायधर्मः ।’ (ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)

अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्यार्थविशिष्ट पदों का चारुत्व अपने आप में समाप्त होने लगे वहाँ जो काव्य होगा वह ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ रूप ही होगा । चाहे कहीं गुणीभूतव्यङ्ग्य पदों से कितना भी व्यञ्ज उद्भासित क्यों न हो यदि वहाँ रसादितात्पर्यशून्यता हुई तो काव्य ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ रहा करेगा ।

अनुवाद—कतिपय काव्याचार्य (जैसे कि काव्यप्रकाशकार सम्मत आदि) काव्य व ‘चित्र’ नामक एक और प्रकार भी माना करते हैं जिसके सम्बन्ध में यह कहा करते हैं—

‘काव्य का अवर (अधम) सञ्ज्ञक एक और भी प्रकार है जो कि ‘अव्यङ्ग्य’ प्रतीत हुआ करता है और शब्दचित्रण अथवा अर्थचित्रणरूप ही दिवायी दिया करता है ।’

किन्तु, यह चित्रकाव्य-वाद युक्तियुक्त नहीं । क्यों ? इसलिये कि यदि शब्दार्थ-

प्रागेवोक्तम्। ईपद्व्यङ्ग्यत्वमिति चेत्, किं नामेपद्व्यङ्ग्यत्वम्? आस्वाद्य-
व्यङ्ग्यत्वम्, अनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वं वा? आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्त पात ।
द्वितीये त्वकाव्यत्वम्। यदि चास्वाद्यत्वं तदाऽक्षुद्रत्वमेव क्षुद्रतायामनास्वाद्य-
त्वात् ।

तदुक्त ध्वनिकृता—

‘प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थिते ।

उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥’ इति ।

इति साहित्यदर्पणे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यकाव्यभेदनिरूपणो
नाम चतुर्थ परिच्छेद ।



युगल के ‘व्यङ्ग्य’ होने का अभिप्राय, उसमें ‘व्यङ्ग्य’ का अन्नाद्य’ माना गया तब ऐसा
शब्दार्थयुगल जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है (चित्र भले ही हो)
काव्य क्योंकर होने लगे। अब यदि इस आपत्ति के बचाव के लिये, शब्दार्थयुगल
के ‘व्यङ्ग्य’ होने का तात्पर्य ‘किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य’ (ईपदर्थक नञ्) बताया जाय,
तब यह भी बताना पड़ेगा कि ‘किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य’ का क्या रहस्य है? क्या शब्दार्थ-
युगल के ‘किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य’ होने का अभिप्राय उसके चकिञ्जिद्रूप व्यङ्ग्य का अनुभव-
योग्य होना है या शब्दार्थयुगल के ‘किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य’ होने का रहस्य उसके चकिञ्जिद्रूप
व्यङ्ग्य का अनुभवायोग्य रहना है? यदि शब्दार्थयुगल का यह ‘किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य’
अनुभव के योग्य (आस्वाद्य) माना गया तब तो यह शब्दार्थयुगल या तो ‘ध्वनि’
काव्य में अन्तर्भूत हो गया या ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ काव्य हो गया। अब यदि शब्दार्थ-
युगल के इस ‘किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य’ को अनुभव के अयोग्य (अनास्वाद्य) समझा जाय
तब तो यही कहा जायगा कि ऐसा शब्दार्थयुगल काव्य ही नहीं हो सकता। नाथ ही
साथ यहाँ यह बात भी तो है कि किसी शब्दार्थयुगल के व्यङ्ग्यरूप अर्थ का, एक ही
सास में, ‘आस्वाद्य’ और ‘ईपत्’ (क्षुद्र) कहना उचित नहीं। क्यों कि यदि यह
व्यङ्ग्यरूप अर्थ ‘आस्वाद्य’ अथवा ‘अनुभवविषय’ हुआ तब ‘ईपत्’ (क्षुद्र) क्यों होने
लगे? व्यङ्ग्य का ‘ईपत्’ (क्षुद्र) होना तो उसके ‘अनास्वाद्य’ अथवा अनुभव के अविषय
वस्तुतः अकाव्यप्रयोजक होने के बराबर है? तभी तो ध्वनिज्ञार का यह निगन्त
निकरता है—

‘व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य और अप्राधान्य ही शब्दार्थयुगल की काव्यता के प्रयोजक हैं।
जिस शब्दार्थयुगल में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान हो वह ‘ध्वनि’ रूप और जिसमें व्यङ्ग्यार्थ अप्राधान्य
हो वह ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ रूप काव्य माना जाया करता है। इन दो काव्य-प्रकारों के
अतिरिक्त जो भी शब्दार्थयोजना है (जिसमें व्यङ्ग्य के प्राधान्य अथवा अप्राधान्य की
कोई सम्भावना नहीं, अपितु शब्द अथवा अर्थ का चित्रगन्तार दिशाहीन दिना करता है।
यह ‘चित्र’ है (काव्य नहीं) ।

निर्णय—’ १) जिसमें ‘अनास्वाद्य’ और ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य’ शब्दार्थयोजना है—
अतिरिक्त ‘आस्वाद्य’-‘अनास्वाद्य’ शब्दार्थयोजना व’ में अन्तर्भाव निगन्त ही है—

‘प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव च्यवस्थिते ।
 काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥
 चित्र शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
 तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥’

(ध्वन्यालोकः ३ ४१, ४२)

अभिप्राय यह है कि व्यङ्ग्यार्थप्राधान्य में ध्वनिसहित काव्यप्रकार और व्यङ्ग्यार्थगुणाभा में गुणीभूत व्यङ्ग्यात्मक काव्यप्रकार निर्विवाद रूप से सिद्ध हैं। व्यङ्ग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य में कविविवक्षा का हाथ रहा करता है। यह तो ठीक है कि व्यङ्ग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य की अनुभूति के अतिरिक्त अन्यविध किसी अनुभूति की कोई समावना नहीं। किन्तु इसमें भी कोई सदेह नहीं कि इस प्रकार की भी रचनायें हुई हैं जिनमें न तो प्रधानरूप से व्यङ्ग्य का प्रकाशन विवक्षित है और न अप्राधान्यरूप से ही व्यङ्ग्य का प्रत्यायन अमोघ है। ऐसी रचनायें क्या हैं? ऐसी रचनाओं को ‘अव्यङ्ग्य’ रचना अथवा ‘व्यङ्ग्यशून्य’ रचना कहा जा सकता है। ऐसी रचनायें केवल वाचक-वैचित्र्य अथवा वाच्यवैचित्र्य की ही विवक्षा से कही गयी हैं। ऐसा होने से इनका ‘अव्यङ्ग्य’ अथवा ‘व्यङ्ग्यशून्य’ होना स्वतः सिद्ध है।

ध्वनिकार की उपर्युक्त कारिकाओं में, इस प्रकार की रचनाओं को ‘चित्र’ कहा गया है। इनके ‘चित्र’ रूप होने का अभिप्राय इनका ‘रसभावादित्वात्पर्यरहित’ होना किंवा ‘व्यङ्ग्यविशेषप्रकाशनशक्तिशून्य’ होना है। कारिकाओं में तो नहीं, किन्तु ‘वृत्ति’ में ‘काव्य’ और ‘चित्र’ का उद्देश्य-विधेयभाव भी प्रतिपादित है—‘ततोऽन्यद्रसभावादित्वात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रत्ययदाभासते तच्चित्रम्’ (ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)। जिससे यह भ्रम हो सकता है कि ‘रसभावादित्वात्पर्यरहित’ भी रचना ‘काव्य’ है जिसे ‘चित्र’ अथवा ‘चित्र-काव्य’ कहा जा सकता है किन्तु इस भ्रम के ही निराकरण में ध्वनिकार ने आगे कह रखा है कि ऐसी रचनाओं के लिए ‘काव्य’ शब्द का प्रयोग उचित नहीं, क्योंकि ऐसी रचनायें ‘काव्य’ नहीं अपि तु ‘काव्यानुकृति’ हैं। ‘न तन्मुख्यं काव्यं काव्यानुकारो ह्यसौ’ (ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)। काव्यप्रकाशकार मम्मट वस्तुतः रसभावादित्वात्पर्यरहित शब्दार्थयोजनाओं को ‘काव्य’ मानकर ‘चित्रकाव्य’ नहीं कहता है अपि तु ‘अव्यङ्ग्य’ व्यङ्ग्यशून्य (वस्तुतः रसभावादित्वात्पर्यरहित) मानकर ही ‘चित्र’ कहता है और ‘अवर’ श्रेणी में स्थान दिया है—‘शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं स्ववरं स्मृतम्’ (काव्यप्रकाश १५)। काव्यप्रकाशकार ने यह अवश्य सोच लिया है कि यदि शब्दचित्र और अर्थचित्र को ‘चित्रकाव्य’ कहा जाय तो उपचार का ही आश्रय लिया जायगा। मुख्यतया तो ‘शब्दचित्र’ और ‘अर्थचित्र’ काव्यानुकृति रूप हैं, काव्याभासभूत हैं। काव्यानुकृतिरूप शब्दार्थयोजना आपासगुण और सालङ्कार भले ही लगे, अन्त में तो यह निश्चित है कि, रसात्मक कदापि नहीं लगे। रसभावाभिनिवेश में की गयी शब्दार्थयोजना तो ‘काव्य’ की रूप-रेखा में सार्थक हो जाते किन्तु वाच्यवाचक-वैचित्र्य प्रदर्शन के आवेश से जो शब्दार्थयोजना की जाया करती है काव्यानुकृति में ही समाप्त हो जाती है—

‘रसभावादिविषयविवक्षां चिरहे सति ।

अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥’ (ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)

काव्यानुकृति को ‘चित्र’ अथवा ‘आलेख्यप्रत्यय’ कृति कहने का क्या अभिप्राय? धर्माचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार ‘चित्र’ अथवा ‘आलेख्य’ एक ऐसा कौशल-प्रदर्शन जिसमें रसवर्णना अथवा रसभावना की खोज निरर्थक है। ‘चित्र’ अथवा ‘आलेख्य’ में

रूप आत्मनश्च नहीं प्रतिगच्छति हो मन्ना इन्में केवल 'शरीर-मान्द' ही प्रतिगच्छति किया जा मन्ना है। काव्यप्रकाशकार मन्मद की भी यही धारणा है।

(स) 'शब्दार्थचित्र' अथवा 'काव्यानुकृति' को 'चित्रकाव्य' कहने में 'चित्र' का जो बहुत कुछ मोचना-विचारना पड़ा है—

'अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः । प्रतीयमानो ह्यर्थस्तिभेदः' इति प्रदर्शितः । तत्र यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव । यस्माद्वस्तुमन्तर्गता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतं कस्यचिदस्य भावस्य बाह्यत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् । कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते ।

अत्रोच्यते—सत्यं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः । किंतु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यं कविः शब्दालङ्कारमर्यादालङ्कारं बोधनिवध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतास्य परिकल्प्यते । विवक्षोपाकृतं एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । बाह्यसा-
मर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला सवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते ।

(ध्वन्यालोक ३३ उच्यते)

अर्थात् 'काव्य' का अन्वित्राय तो रमनयो शब्दार्थयोजना का अन्वित्राय है। नमोवरदिन रचनायें मला 'काव्य' क्यों ? ये तो 'नीरस' होने में 'चित्र' है। इन्हें 'चित्रकाव्य' कहना तो अन्यायविरुद्ध बात है। जो 'चित्र' है वह 'काव्य' नहीं हो सकता और जो 'काव्य' है वह 'चित्र' कैसे ? रसात्मकता तो काव्य-मानान्य का स्वरूप है। ऐसी कोई रचना जो काव्य-स्वरूप-शून्य हो, काव्य कैसे हो जाय ? साथ ही साथ यहाँ यह भी तो है कि मन्मद की वीर्य भी वस्तु ऐसी नहीं जो किसी न किसी रमनाव का, किसी न किसी मानवीय चित्रकृति का उद्देश्य न हो जाय। कविनाम के वर्णन-विषय किसी न किसी मनोभाव में प्रेरित, किसी न किसी मनोभाव में अनु-प्राणित, किसी न किसी मनोभाव से अनुत्पन्न रहा ही करने है। इन प्रकार किसी भी रचना को एकान्तः रमनाव-रूप कहना असम्भव है—और इन दृष्टि में नीरस में नीरस भी शब्दार्थ योजना 'चित्र' नहीं अपितु काव्य ही मानो और क्या जा सकता है। फिर कविकृति के रूप में 'चित्र' रूप कविकृति की निरर्थक व्यवस्था का क्या अन्वित्राय ? यहाँ ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि 'काव्य' भी वह शब्दार्थयोजना है जिम्में वस्तु अथवा अलङ्कार-व्यंग्यार्थ प्रतीति उत्पन्न करने हैं और 'चित्र' वह शब्दार्थयोजना है जहाँ 'वस्तु' अथवा 'अलङ्कार' व्यंग्यार्थ नहीं प्रतीति हुआ करते। क्योंकि यदि तो मन्मद शब्दार्थयोजना में, मानसमानान्य में, वस्तुत्पन्न अथवा अलङ्काररूप व्यंग्यार्थ को ही परम व्यंग्यार्थ मानना पड़ जाता तो 'काव्य' के इस अध्यात्मदर्शन, अर्थात्—

'काव्यस्यान्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे' पुरा ।

अथैवद्वन्द्वविद्योगोत्थं शोकः श्लोकवसागतः ॥

आदि को तिलाञ्जलि दे देना पड़ेगा।

१) फिर कैसी कविकृति 'चित्र' है ? यहाँ मन्मद में पहले यह जानना आवश्यक है कि 'रसानुभूति' यदि माहात् नहीं तो परम-पदा सर्वविध काव्य-प्रकार में सम्भव है। केवल 'रसानुभूति' के नाशपण्ड पर काव्य का श्रेणी-विभाग सम्भव है और साथ ही साथ जाद-क्षेत्र में तात्त्विक-प्रदर्शन भी निरर्थक है। काव्य के क्षेत्र में 'ध्वनि' और 'रसानुभूति' दोनों का भी 'चित्र' का

भी सीमानिर्देश किया ही जाना चाहिए। यह सीमानिर्देश 'कविविवक्षा' की ही ढोर से किया जा सकता है न कि 'सहृदयानुभूति' की ढोर से। कवि एक परम स्वतन्त्र प्राणी है, विच्छिन्न जीव है। जैसे यह 'रसविवक्षा' से शब्दार्थयोजना किया करता है वैसे ही शब्दार्थ-चित्रण की प्रेरणा से भी शब्दार्थ योजना किया करता है। काव्यार्थ वह नहीं जिसे हम समझा करें अपितु वह है जो कवि के मन में है। यदि कवि ने चित्रण की प्रेरणा से रचना की है तो उसमें हमें 'चित्र' का दर्शन करना पड़ेगा न कि रस की गन्ध सूंघनी होगी। ऐसी 'चित्रकृति' रूप शब्दार्थ-योजना को यदि रसादिशून्य कहा जाय तो क्या आपत्ति? यदि ऐसी शब्दार्थयोजना में, कवि-विवक्षा के बिना भी, शब्दार्थ सामर्थ्य से, रसादि का कोई दूरत अनुभव हुआ भी तो वह अनुभव सबल नहीं अपितु अतिदुर्बल ही अनुभव होगा और इस दृष्टि से भी ऐसी शब्दार्थ-योजना को 'नीरस' कहा जाय तो क्या आपत्ति? अर्थात् सहृदय की अनुभूति की दृष्टि से हो या न हो, कवि की विवक्षा की दृष्टि से, कतिपय कविकृतियों 'चित्र' ही हैं और जब कि ये रचना कविकृति अथवा कविकर्म हैं तो इन्हें 'चित्र-काव्य' कहने में क्या आपत्ति?

महाकविओं ने भी 'चित्र काव्य' की रचनायें की हैं किन्तु उनके काव्य प्रबन्धों की एकता अनुभूति में 'चित्र' की अनुभूति विलीन हो जाती है और काव्य का आनन्द-न्वमत्कार ही अवशिष्ट रह जाता है। प्रबन्धध्वनि की अनुभूति के बाद प्रतिपद विचार-विमर्श में 'चित्र-काव्य' का अनुभव यदि हो रहा है तो उसे मानना ही पड़ेगा। प्राथमिक अथवा अभ्यासिक कवि जिस प्रकार क शब्दार्थयोजना से काव्य-रचना का अभ्यास किया करते हैं वह शब्दार्थयोजना 'चित्रकाव्य' ही है न कि ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य।

(ग) कविकृतियों में एक प्रकार की कविकृति को 'चित्रकाव्य' मानना विश्वनाथ कविराज के लिये अक्षम्य है क्योंकि इनके अनुसार रसात्मक ही वाक्य काव्य हो सकता है, नीरस नहीं बात तो ठीक है किन्तु यहाँ ऐसा पता चलता है कि विश्वनाथ कविराज के, काव्यप्रकाशकार मम्मट के खण्डन के आवेश में, अपनी ही यह उक्ति—

‘ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिना केपास्त्रिखीरसानां पद्याना काव्यत्वं न स्यादिति चेत्? न रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन, प्रबन्धरसेनेव तेषा रसवत्ताद्वीकारात्। यत् नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद् दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद्गौण एव।’ (साहित्यदर्पणः १म परिच्छेद)

विस्मृत हो गयी है। यहाँ विश्वनाथ कविराज ने रसमय प्रबन्धों में नीरस वाक्यकदम्बों के 'चित्र'रूप में देखा है और इन्हें उपचारतः 'काव्य' भी कहा है। अब 'काव्यप्रकाश'कार द्वारा निर्दिष्ट 'अवर' शब्दार्थयुगल, किस प्रकार 'नीरस' किन्तु उपचारत 'काव्य' पद से सकेतित, साहित्य दर्पणकार-सम्मत उपर्युक्त शब्दार्थयुगल से भिन्न वस्तु है, यह नहीं बताया जा सकता। सरस पद्य की कल्पना तो ठीक ही है किन्तु सरस पद्य में 'नीरस' पद की कल्पना विचित्र है। यदि यह उपचार का आश्रय प्रतीत होता है क्योंकि बिना ऐसा हुये 'पद' को नीरस कहना असंभव है तो अव्यङ्ग्य शब्दार्थयुगल को उपचारत 'काव्य' कहने में क्या आपत्ति? वैसे काव्यप्रकाशकार ने यह नहीं कहा कि व्यङ्ग्यार्थशून्य शब्दार्थयुगल को उपचारत 'अवरकाव्य' कहना चाहिये किन्तु 'अवर' का विशेषण इसी का सूचक है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार 'चित्रकाव्य' पद त खटकता है किन्तु 'गौणकाव्य' पद उचित प्रतीत होता है। ध्वनिवादी काव्याचार्यों ने चित्रालङ्कार के साम्य पर अव्यङ्ग्य-काव्यबन्धों को 'चित्रकाव्य' कह रखा है। विश्वनाथ कविराज को म काव्य-साहित्य के क्षेत्र में 'चित्र-काव्य' सी किसी वस्तु का आभास तो जहाँ-तहाँ अवश्य हो रहा है किन्तु काव्यप्रकाशकार के सिद्धान्त के खण्डन के आवेग में इस नाम पर बड़ी आपत्ति है।

यों ऐसा समझना सर्वथा समझल गला है—अल्फ़ारवाद की दृष्टि में तो समस्त वाच्य-प्रत्यय 'चित्रकाव्य' की ही श्रेणी में आते हैं। यह तो ध्वनि-दृष्टि की मरिना है कि 'चित्रकाव्य' के व्यापक क्षेत्र में मानव कान का स्वर्गीय दृश्य भी दिखायी देने लगता है जिनके चतुर्दिक् उगी भूतल-प्रताप्य की हरी-भरी नुमि पटी रहा करता है। चित्र-वाच्य का अखण्ड मात्रात्मक रस के निम्नत्रय में आकर बहुत महुविन हो जाता है। ध्वनि-काव्य के क्षेत्र में महदय कवि विचरते मिनामी देने हैं। उगीभूतल-प्रताप्य का क्षेत्र विदग्ध कवियों का क्षेत्र है और चित्र-काव्य के क्षेत्र में सामाजिक चिन्ताका अथवा परिपक्वचित भी विचरते कवि अपना-अपना दौड़ल प्रदर्शन जिन करते हैं। चित्र-काव्य वस्तुतः वाच्य की प्रतिकृति अथवा अनुकृति रूप है। अनुकृति-अथवा प्रतिकृति-लेखन में मानसिक रूप की रूपरेखा वप्रकाशित रह जाता है और वो कुछ भा प्रकाशित हो जाता है वह वाच्य सम्मानन ही हुआ करता है। 'ध्वनि और उनके निन्दन' 'उगीभूतल-प्रताप्य' रूप 'वाच्य' में शब्द और अर्थ का वर्तमान एक आपातमय चमत्कार आता है किन्तु इनके दशन में महदय मानाजिक को वह पारनाथिक सुख और मन्त्रोप नहीं मिला जाता जो कि मूल अथवा अनुकृत-रसमय वाच्यों के अनुभव में मन्त्र है।

ध्वनि-दशन की मान्यता के रहते 'चित्रकाव्य' की मान्यता अनुपपन्न आवश्यक हो जाता है। वाच्यवाच्यकार की वही दृष्टि थी। नाट्यदर्पणकार ने इसे क्यों नहीं जनना "इसका एक ही का मान होता है और वह है वाच्यवाच्यकार का आलोचना का आवेग।

साहित्यदर्पण का चतुर्थ परिच्छेद समाप्त



पञ्चमः परिच्छेदः

(व्यञ्जनावृत्ति स्वरूप-निर्देश)

अथ केयमभिनवा व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।

अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्वोधे रसादीनाम् ॥ १ ॥

(व्यङ्ग्यार्थावबोध में 'अभिधा' का असामर्थ्य)

अभिधायाः संकेतितार्थमात्रबोधनविरताया न वस्त्वलङ्काररसादिव्यङ्ग्य-
बोधने क्षमत्वम् । न च संकेतितो रसादिः । नहि विभावाद्यभिधानमेव तद्-
भिधानम्, तस्य तदैकरूप्यानङ्गीकारात् । यत्र च स्वशब्देनाभिधानं तत्र प्रत्युत

अनुवाद—अब यह चतुर्था आवश्यक है कि यह 'व्यञ्जना' नाम की नयी, अभिप्राय
प्रकाशिका 'वृत्ति' क्या है और कैसी है । (क्योंकि विना व्यञ्जना-विमर्श के 'व्यङ्ग्यप्रधान'
और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप से, शब्दार्थयुगल का द्विविध काव्य-प्रकार में विभाजन क्यों
कर संभव हो ?) ।

(साथ ही साथ) रसभावादि की अनुभूति के विश्लेषण के लिये यह मानना अत्या-
वश्यक है कि 'व्यञ्जना' नाम की एक नयी वृत्ति है क्योंकि रसभावादि की अनुभूति
ऐसी है जहाँ क्या अभिधा, क्या तात्पर्याख्या और क्या लक्षणा सभी वृत्तियाँ विरतव्यापार
(असमर्थ) रहा करती हैं ।

विमर्श—रसास्वाद और रसचर्वणा का अटूट सम्बन्ध है और 'चर्वणा' तथा 'अभिव्यञ्जना'
एक ही वस्तु है (चर्वणा चाऽत्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम् प्रमाणव्यापारवत्, नाप्युत्पा-
दनम्, हेतुव्यापारवत् (ध्वन्यालोकलोचन : १म उद्योत) । विश्वनाथ कविराज ने यहाँ जो रस
के लिये व्यञ्जना की अनिवार्य मान्यता पर जोर दिया है उसका अभिप्राय यही है कि 'रस'रूप
काव्यपरमार्थ में न तो 'अभिधा' का हाथ हो सकता है और न 'लक्षणा' का और न 'तात्पर्यवृत्ति'
का ही, क्योंकि विभावादि का साधारणीकरण अभिधा-लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति के सामर्थ्य के परे
की बात है । 'रसना'रूप प्रतीति के अभ्युदय में व्यञ्जनात्मक ध्वननव्यापार ही समर्थ है क्योंकि
इसी से सामाजिक का हृदय कविसमर्पित विषयों में तन्मय हुआ करता है जिससे रसानुभव में
पहचाननेवाली विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं और 'रस'रूप काव्यार्थ का साक्षात्कार संभव
हो जाता है ।

'व्यञ्जना' शक्ति कविता अथवा वस्तुतः कला-सरस्वती की शक्ति है और इसी शक्ति में वह
सामर्थ्य है जो महाकवियों की महिमा का प्रकाशन किया करती है—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥'

(आनन्दवर्धनाचार्य)

अनुवाद—वस्तु-अलङ्कार किंवा रसभावादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अवबोधन में 'अभिधा'
वृत्ति सर्वथा असमर्थ रहा करती है क्योंकि अभिधा का जो भी सामर्थ्य है वह एकमात्र

दोष एवेति वक्ष्यामः । कचिच्च 'शृङ्गाररसोऽयम्' इत्यादौ स्वशब्देनाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतिः, तस्य स्वप्रकाशानन्दरूपत्वात् ।

(अभिहितान्वयवाद-सम्मत तात्पर्यवृत्ति में व्यङ्ग्यावबोधन की अशक्ति)

अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्या वृत्तिरपि संसर्गमात्रे परिक्षीणा न व्यङ्ग्यबोधिनी ।

सकेतित अर्थ के अवबोध में ही क्षीण हो जाया करता है । (वस्तु अलङ्कार किंवा) रसभावादिरूप अभिव्यङ्ग्य अर्थ कुछ इस प्रकार के अर्थ हैं जिन्हें शब्दों का सकेतित अर्थ कहना कदापि संभव नहीं । रसभावादिरूप अर्थ को 'सकेतित' अर्थप्रकार तब कहा जा सकता था जब कि विभावादिरूप वाच्यार्थ की ही भांति रसभावादिरूप अर्थ भी वाच्यार्थ ही हुआ करता । किन्तु वात ऐसी है कि विभावादिरूप वाच्यार्थ और रसभावादिरूप अभिप्राय एकरूप नहीं अपि तु परस्पर भिन्नरूप रहा करते हैं । रसभावादि-वाचक पदों के द्वारा (रति, शृङ्गार आदि पदों के द्वारा) रसभावादि का प्रतिपादन हो भी तो कैसे हो ? क्योंकि यदि कहीं ऐसा किया भी जाय तो वह दोष ही होगा, गुण नहीं । रसभाव तो स्वप्रकाशानन्दरूप काव्य-रहस्य है । इसे 'यह शृङ्गार रस है' आदि पदों के प्रयोग से क्योंकर प्रतिपादित किया जा सके ? क्योंकि (समुचित रसयोजना-शून्य किसी शब्दार्थसन्दर्भ के लिये) 'यह शृङ्गार रस है' आदि कहने से भी रतिचर्वणा, आदि क्योंकर होने लगी ।

विमर्श—(क) रसज्ञता का ही दूसरा नाम सहृदयता है । कवि-प्रयुक्त शब्दों का नैसर्गिक चारुत्व उनका रसादिसमर्पणसान्ध्य ही है और कुछ नहीं । काव्य-शब्दों का रसादिसमर्पण-सान्ध्य उनका व्यञ्जकताव्यापार है न कि अभिधान-व्यापार । क्यों ? इनलिये कि शब्दों का जो भी वाचकताभित मौन्दर्य है वह उनके अर्थ की दृष्टि से तो उनकी प्रमादनयना में मग्न हो जाना है और उनके प्रातिस्विक स्वरूप की दृष्टि ने अनुप्रामादि शब्दालङ्कारों में अन्तर्भाव पा जाना है । रस के साथ शब्दों का वाचकताभित मौन्दर्य वस्तुतः उनके व्यञ्जनाभित मौन्दर्य में परिणत हो जाया करता है । अभिधा के अनिरिक्त व्यञ्जना तो माननी ही पड़ेगी क्योंकि 'काव्य' और 'रस' का मन्वन्ध विना व्यञ्जना के माने, कदापि नहीं मन्व्या-मन्वाया जा सकता । ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—'यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः' । केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याद्विस्तृतमेव रसादीनाम् । न त्वभिधेयत्व कथञ्चित्—

(ध्वन्यालोक १ न उक्तो)

अनुवाद—तात्पर्यवृत्ति भी जिसे अभिहितान्वयवादी (महात्मीमासकों के अनुयायी) आलङ्कारिक माना करते हैं, व्यङ्ग्यार्थ के अवबोधन में असमर्थ ही रहा करती है क्योंकि तात्पर्यवृत्ति का जो भी व्यापार है वह एकमात्र 'संसर्ग' अथवा वाक्यघटक पदों के परस्पर सम्बन्ध में ही समाप्त हो जाया करता है ।

विमर्श—शब्द का अभिधानाचार ही उनके नामान्व स्वरूप अर्थ के अवबोधन का व्यापार है किन्तु लोकप्रामा शब्द के नामान्व स्वरूप अर्थ में नहीं चला करनी, उनके विदे तो उनके विशेष स्वरूप अर्थ का अवबोध अपेक्षित है जो कि वाक्यगत पदों का अर्थ है और आकाशादि के कारण पुनः-प्रधान भाव में परस्पर मन्वन्ध अर्थ है जिन्के अवबोध के लिये 'न तात्पर्य-वृत्ति' की मान्यता आवश्यक है । इस तात्पर्यवृत्ति का व्यञ्ज्यार्थ से क्या सम्बन्ध, जब कि हमका

(अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव असभाव्य)

यच्च केचिदाहुः—‘सोऽयमिपोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः’ इति । यच्च धनिकेनोक्तम्—

तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।

यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥’ इति ।

तयोरुपरि ‘शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः’ इति वादिभिरेव पातनीयो दण्डः ।

एवं च किमिति लक्षणाऽप्युपास्या ? दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणापि तदर्थबोधसिद्धेः । किमिति च ‘ब्राह्मण । पुत्रस्ते जातः’, कन्या ते गर्भिणी’ इत्यादावपि हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् ।

व्यापार पदार्थों के परस्पराव्ययमात्र में समाप्त हो जाया करता है और व्यङ्ग्यार्थ परस्पराव्यय अर्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थप्रकार लगा करता है । आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है—

‘पदार्थेषु सामान्यात्मसु अभिधाव्यापार समयापेक्षार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा । समयश्च तावत्येव, न विशेषाशे, आनन्त्याद् व्यभिचाराच्चैकस्य । ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्पराव्ययते ‘सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेष गमयन्ति हि’ इति न्यायात् ।’

‘सिंहो माणवकः’ इत्यत्र द्वितीयकथयानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयवाधकोह्लासा-नन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत्तृतीयैव शक्तिस्तद्वाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाता समुल्लसति ।’ (ध्वन्यालोक लोचन १ म उद्योत)

अर्थात् जब कि तात्पर्यशक्ति के बाद भी लक्षणा का मानना अनिवार्य हो जाता है तब तात्पर्यशक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थावबोध की बात असंगत नहीं तो और क्या ?

अनुवाद—यहाँ कुछ आलङ्कारिकों का यह कहना है कि ‘अभिधा’वृत्ति को ही सर्वत्र संचरणशील शब्दशक्ति मान लेने पर ‘व्यञ्जना’ की अतिरिक्त मान्यता अनावश्यक हो जाती है क्योंकि जब कि अभिधा का यह सिद्धान्त है कि ‘अभिधाव्यापार वाण के वेगरूप व्यापार की भांति अतिदीर्घगामी व्यापार है (अर्थात् जैसे किसी शक्तिशाली धनुर्धर द्वारा चलाया गया वाण क्या कवचभेद, क्या मर्मभेद और क्या प्राणनाश सब कुछ किया करता है वैसे ही शब्द का सर्वत्र संचरणशील अभिधाव्यापार भी पदार्थबोध, पद-पदार्थ-संसर्गबोध, यहाँ तक कि व्यङ्ग्यार्थ बोध-सब कुछ कर सकता है) तब ‘व्यञ्जना’ का क्या उपयोग और क्या काम !’

इसी भांति (दशरूपककार) आचार्य धनिक की यह मान्यता है कि ‘जो भी ध्वनि अथवा व्यङ्ग्यार्थ है उसके प्रत्यायन के लिये (काव्य-नाट्य की) तात्पर्यवृत्ति ही पर्याप्त है । बात वस्तुतः यह है कि जिसे ‘व्यञ्जना’वृत्ति कहा गया है वह तात्पर्यवृत्ति के अतिरिक्त और कोई वृत्ति नहीं, क्योंकि जब कि तात्पर्यवृत्ति के ही द्वारा संसर्गबोध किं वा पार्यन्तिक व्यङ्ग्यार्थबोध दोनों संभव हैं तब तात्पर्यवृत्ति को संसर्ग बोध में ही नियन्त्रित मानना सर्वथा निराधार ही है ।’

किन्तु उपर्युक्त दोनों मान्यतायें निरर्थक हैं । वस्तुतः अभिहितान्वयवादी मीमांसा-चार्यों की यह मान्यता ही कि ‘क्या शब्द, क्या बुद्धि और क्या कर्म तीनों ऐसे हैं कि एक बार यदि कहीं अपना-अपना कार्य कर चुके तो पुनः वहा वे किसी प्रकार का व्यापार नहीं कर सकते’ अभिधादैर्घ्यवादी और व्यङ्ग्यबोधसमर्थ तात्पर्यव्यापारवादी आलङ्कारिकों

(दशरूपककार-सम्मत तात्पर्यवृत्ति में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव असंभव)

यत्पुनरुक्तं 'पौरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम् . अतत्परत्वेऽनु-
पादेयत्वाद्बुद्धिस्तत्राव्यवत् । ततश्च काव्यशब्दानां निरतिशयसुखास्वादन्यतिरे-

के निर पर प्रहार सी करती प्रतीत हो रही है । यदि अग्निधा का व्यापार दीर्घदीर्घतर व्यापार माना गया तब ऐसा माननेवालों काव्याचार्यों को तो 'लक्षणा' व्यापार मानना ही नहीं चाहिये ? क्योंकि जो भी लक्षणावृत्तिवेद्य अर्थ है वह नब तो दीर्घदीर्घव्यापार-वर्ती अग्निधा द्वारा ही वेद्य सिद्ध हो गया ? साथ ही साथ अतिदीर्घ-अग्निधाव्यापारवाद की दृष्टि से तो अनेकानेक प्रसङ्गों जैसे कि 'ब्राह्मण ! तुम्हें पुत्र हुआ है और तुम्हारी कन्या को गर्भ रह गया है' आदि आदि में (मुखप्रसाद और मुखनालिन्य आदि चिह्नों के दर्शन से) हर्ष और शोक का ज्ञान भी अग्निधेय ही माना जायगा (जब कि इन्हे सभी अनुमानत सिद्ध माना करते हैं) ?

विमर्श—अग्निधा वा दीर्घदीर्घतर व्यापारवाद अग्निधाभिधानवादी मानानकों के अनुयायी आचार्यिकों का वाद है । इनके उल्लेख के साथ-साथ इनका मन्दन रचितकार का उन पंक्ति-यों में स्पष्ट है—

'योऽप्यग्निधाभिधानवादी 'यत्पर' शब्दः स शब्दार्थ' इति हृदये गृह्यत्वा शरवदग्निधा-
व्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽस्मादिति कुत ? भिन्नविष-
यत्वात् । अथानेकोऽसौ ? तद्विषयसहकारिभेदादमजातीय एव युक्त । सजातीये च कार्ये
'विरम्य व्यापार' शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्विनिर्दिष्टः । असजातीये चाऽस्मन्नय एव ।
अथ योऽसौ चतुर्थकज्ञानिविष्टोऽर्थः न एव श्रुतिरिति वाक्येनाभिधीयत इत्येवविध दीर्घदीर्घत्वं
विवक्षितं तर्हि तत्र सकेताकरणात् कथं साक्षात् प्रतिपत्तिः ? निमित्तेषु संकेत, नैमित्तिक-
स्वभावार्थस्सकेतानपेक्ष एवेति चेत्-परम्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम् । यो ह्ययौ पर्यन्तक-
ज्ञानार्थः प्रथम प्रतीतिपथमवनीर्णः तस्य पश्चात्तना पदार्थावगमा निमित्तभाव गच्छ-
न्तीति नूनं नीमांसकस्य प्रपौत्र प्रति नैमित्तिकत्वमभिहितम् ।'

(धर्मालोक टीका १ म टीका)

अर्थात् यदि शब्द का दीर्घदीर्घतर व्यापार मान लिया जाय तब यह बताना आवश्यक हो जायगा कि यह दीर्घदीर्घतर व्यापार एकल या दुः करता है या भिन्न रूप का । इसे एकल या भे माना नहीं जा सकता क्योंकि इनके वाक्यरूप विषय से तात्पर्यरूप विषय भिन्न प्रतीत होता है और साथ ही साथ एकल और व्यापाररूप विषय में भिन्न भिन्न हो ही । अब हम दीर्घ-दीर्घतर व्यापार के भिन्नरूप मानने में उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि इन हम व्यापार में विषयभेद और मन्त्रारिभेद से व्यवधानेयता न रह पायेगी और वा भिन्नज्ञानेय बन जायगा भिन्नज्ञानेय दीर्घदीर्घतर व्यापार में व्यञ्जना-वाद के मानने में हो मान हो गया है न कि अग्निधादीर्घतर के मानने में । एक शब्द में भिन्नज्ञानेय व्यापार या यही अभिधान है कि हमने अभिधान शक्ति, लक्षणा शक्ति और अवगमनशक्ति दशममन्त्र किंवा वा व्यापार स्वभावका है ।

यह अभिधा के दीर्घ व्यापार का अभिधान चतुर्थ कक्षा के व्यञ्जनार्थ का अविश्व अवशो-
मानना में उदाहरणमन्त्र है क्योंकि व्यञ्जनार्थ के मन्त्रेति अर्थ नहीं माना गया । यह क्या मानना कि व्यञ्जनार्थ का वाक्यार्थ तो शब्द-वाक्य के भाषा प्रतीत हो जाय और हमने यह पदार्थवेद्य ही हमका निमित्त मन्त्र निरा जाय ?

अन्तरा—इसके अनिरिक्त (दशरूपककार) आचार्य धनिक का यह भी कथन है—
'क्या लौकिक और क्या वैदिक-समस्त वाक्य एकमात्र कार्यपरक हुआ करते हैं क्योंकि

केण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्त्यौपयिकप्रयोजनानुपलब्धेर्निरतिशयसखास्वाद एव कार्यत्वेनावधार्यते । 'तत्पर' शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात्' इति । तत्र प्रष्टव्यम्—किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा ? आद्ये न विवादः, व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदर्थतानपायात् । द्वितीये तु—केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः, अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता, तदन्या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम् ।

द्वितीये तु—नाममात्रे विवादः, तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः । नन्वस्तु युगपदेव तात्पर्यशक्त्या विभावादिसंसर्गस्य रसादेश्च प्रकाशनम्—इति चेत् ? न, तयोर्हेतुफलभावाङ्गीकारात् । यदाह मुनिः—'विभावानुभावव्यभिचारिसयो-गाद्रसनवृत्तिः' इति । सहभावे च कुतः सव्येतरषिपाणयोरिव कार्यकारण-भावः ? पौर्वापर्याविवर्थात् ।

बिना ऐसा हुये ये सब उसी भांति अनुपादेय (अप्रमाण) हैं जिस भांति पागलों की घातचीत हुआ करती है और इसलिये काव्य-वाक्यों का जो रसरूप आस्वाद है उसे वस्तुतः उनका कार्य ही मानना उचित है क्योंकि कवि और सामाजिक (प्रतिपादक और प्रतिपाद्य) दोनों की दृष्टि से, रसास्वाद के अतिरिक्त और कोई भी (धर्मार्थकाम-रूप) प्रयोजन जो कि उन्हें काव्य के प्रति (काव्य की रचना और रसना के प्रति) प्रेरित किं वा प्रवृत्त कर सके, बूढ़े नहीं मिलता । वस्तुतः कहा भी गया है कि 'जिस अभिप्राय के लिये शब्द का उच्चारण अथवा प्रयोग किया जाय वही अभिप्राय उस शब्द का अभिप्राय है (काव्यशब्द का उच्चारण अथवा प्रयोग यदि रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अवबोध के लिये है तो काव्यशब्द का अभिप्राय रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ ही है) ।'

किन्तु यह सब भी निरर्थक ही है । क्यों ? इसलिये कि पहले तो (काव्य-वाक्य के) 'तत्पर' होने का अभिप्राय स्पष्ट होना चाहिये । काव्यवाक्य का 'तत्पर' (व्यङ्ग्यपर) होना क्या है ? क्या इसके 'तत्पर' होने का अभिप्राय सामान्यतः 'तदर्थक' (व्यङ्ग्यार्थक) होना है या तात्पर्यवृत्ति के द्वारा 'तद्बोधक' (व्यङ्ग्यार्थवबोधक) होना है ? यदि पहली संभावना मानी जाय अर्थात् काव्य-वाक्य को सामान्यतः 'व्यङ्ग्यार्थपरक' समझा जाय तब तो कोई विवाद नहीं क्योंकि काव्यार्थ का व्यञ्जना-चेष्ट होना भी तो व्यङ्ग्यार्थपरक ही होना है । किन्तु दूसरी जो संभावना है अर्थात् तात्पर्यवृत्ति के द्वारा काव्यवाक्य के 'तद्बोधक' (व्यङ्ग्यार्थवबोधक) होने की जो मान्यता है उसमें विवाद खड़ा होता है । विवाद यों है कि यह 'तात्पर्यवृत्ति' (जो कि व्यङ्ग्यार्थवबोधक वृत्ति मानी गयी है) क्या अभिहितान्वयवादी आचार्यों की मान्यता की वृत्ति है ? यदि यह 'तात्पर्यवृत्ति' अभिहितान्वयवाद-सम्मत तात्पर्यवृत्ति हो, तब तो इसके द्वारा व्यङ्ग्यार्थवबोध की असंभावना पहले ही बतायी जा चुकी है । और यदि इसे किसी और प्रकार की वृत्ति माना जाय तब तो यही कहना पड़ेगा कि वस्तुतः यह वृत्ति 'व्यञ्जना' वृत्ति का एक नामान्तर है क्योंकि इस 'तात्पर्यवृत्ति'वाद में भी, 'व्यञ्जनावृत्ति'वाद की ही भांति, (रसादिरूप काव्यार्थ-विश्लेषण के लिए), अभिधा, अभिहितान्वयवाद-सम्मत तात्पर्य-वृत्ति और लक्षणा के अतिरिक्त एक चौथी वृत्ति को ही अनिवार्यतः माना जा रहा है ।

अब यदि यह कहा जाय कि यह वृत्तिचतुर्थी 'वृत्ति' नहीं, और तात्पर्यवृत्ति भी 'व्यञ्जना' का नामान्तर नहीं अपि तु प्राचीन परम्परा-सम्मत ही वृत्ति है जिसके द्वारा विभावादिसंसर्गबोध और रसादिवोध-दोनों साथ ही साथ सम्भव हैं, तब इसका सीधा उत्तर यह होगा

(लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव श्रुत्युक्त)

‘गङ्गाया घोष’ इत्यादौ तदावर्धमात्रबोधविरताया लक्षणायाश्च कुतः शीतत्वपावनत्वादिव्यङ्ग्यबोधकता । तेन तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति निवि-
चादमेतत् ।

कि किसी प्रकार की भी तात्पर्यवृत्ति के द्वारा विभावादि-ससर्ग और रसादि का एक-
कालिक बोध नहीं हो सकता क्योंकि कारणरूप से अवस्थित विभावादि ससर्ग-बोध
और कार्यरूप से अवस्थित रसादिवोध एक समय में क्योंकि होने लगे ? विभावादिवोध
और रसादिवोध में हेतु-फल-भावरूप सम्बन्ध ही दोनों को भिन्नकालिक सिद्ध किया
करता है जैसा कि नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट कहा है—‘विभाव, अनुभाव और व्यभि-
चारी भाव (की हेतुता) से ही ‘रस’ (रूप फल) की निष्पत्ति हुआ करती है ।’

वहाँ एक और भी बात है और वह यह है कि यदि विभावादिवोध और रसादिवोध
को एक साथ होने वाला ‘बोध’ अथवा अनुभव माना जाय तब जैसे किमी जानवर की
बायीं और दाहिनी सींग में कोई कार्य-कारणभाव नहीं माना जाया करता वैसे
ही यहाँ भी कोई कार्य-कारणभाव (जैसा कि रस-सूत्र में सिद्ध है) न माना जाना
चाहिये । और जब कि यहाँ कोई कार्य-कारणभाव नहीं तब विभावादि और रसादि के
बोध की पौर्वापर्य-व्यवस्था किस काम की ?

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने यहाँ आचार्य धनिकमन्त्र तात्पर्यवृत्ति द्वारा रसादिरूप-
पर्ययार्थ के प्रत्यायन का जो खण्डन किया है वह सर्वथा युक्तियुक्त है । आचार्य धनिक ने ‘काव्य’
और ‘रस’ में व्यङ्ग्य-व्यञ्जनाव का सम्बन्ध न मानकर भाव्यभावकभाव का सम्बन्ध माना था
और ‘भावना’ को काव्य-शब्दों की अतिरिक्त शक्ति न मानकर ‘तात्पर्यवृत्ति’ द्वारा ही रस-व्य-
ञ्जनाव्ययार्थ की प्रतीति का निश्चय उपनाया था—

‘यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु ‘गानम्याज’ इत्यादिषु अश्रूयमाणक्रियेषु च
‘द्वार द्वारम्’ इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात् प्रकरणादिवशाद् बुद्धितत्त्ववैशिनी क्रियैव
कारकोपचिता काव्येष्वपि क्वचित् स्वशब्दोपादानात् ‘प्रोत्यै नबोढा प्रिया’ इत्येवमादौ
क्वचित् प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद् भावकचेतसि
विपरिवर्तमानो रत्यादि स्यायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतै
सत्कारपरम्परया पर प्रौढिमान्नीयमानो रस्यादिवाक्यार्थ । न चापदार्थस्य वाक्यार्थत्व
नास्तीति वाच्यम्—कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः ।’ (दशरूपक ४ पं प्रकाश)

किन्तु उपरान्त वाक्यों में क्रिया का परमार्थ और वाक्यवाक्यों में ‘रस’ का परमाण दोनों
परमाण्वे विलक्षण हैं कि एक को यदि तात्पर्य कहा गया तो दूसरे को ‘व्यङ्ग्य’ करना ही उचित
प्रतीत होता है । न यदि ‘व्यङ्ग्य’ कहा गया तो ‘व्यञ्जनावृत्ति’ का नास्त्य अतिवर्ण हो गयी ।

अनुवाद—(जैसे ‘अभिधा’ और ‘तात्पर्यवृत्ति’ में व्यञ्जना का अन्तर्भाव असम्भव
है जैसा कि बताया जा चुका है, वैसे ही) लक्षणा में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव युक्तिसंगत
नहीं । क्योंकि ‘गङ्गाया घोष’ आदि साहित्यिक प्रसङ्गों में जो शैल्य और पावनत्व आदि
रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हुआ करता है उसे लक्षणा द्वारा प्रतीत मानना असम्भव है । यहाँ
जब कि लक्षणा केवल ‘तट’ आदि रूप अर्थ के अवबोध में ही विरतव्यापार हो जाय,
जैसा कि स्पष्ट ही है, तब इससे, इस अर्थ से सर्वथा विलक्षण, शैल्य-पावनत्वादिरूप
अर्थ का अवबोध क्योंकि होने लगे ?

(वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के मौलिक भेदों में व्यञ्जना की मान्यता का बीज)

किंच—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।

आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥ २ ॥

(१—बोद्धृभेद)

वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोर्हि पदतदर्थमात्रज्ञाननिपुणैर्वैयाकरणैरपि । सहृदयैरेव च सवेद्यतया बोद्धृभेदः ।

विमर्श—यहा साहित्यदर्पणकार की विचारधारा का यह आधार है—

‘व्यङ्ग्यो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः । न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः, धर्म एव च लक्ष्णमित्युच्यते । तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः । ध्वनन च प्रयोजनविषयम् । न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः, लक्षणासामग्र्यभावात् ।’

(ध्वन्यालोकलोचन १म उद्योत)

अर्थात् ‘गङ्गाया घोष’ आदि प्रसङ्गों में अर्थावबोध के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि यहा लक्षणा का विषय कुछ है और व्यञ्जना का कुछ । लक्षणा का विषय तो ‘तट’ है और व्यञ्जना का है ‘शैत्यपावनत्व’ । लक्षणाशक्ति तो ‘गङ्गा’पद के अमुख्य अर्थ के उपस्थापन में समर्थ है और व्यञ्जना द्वारा ‘शैत्यपावनत्व’ आदि वक्तृहृदयगत प्रयोजन का प्रत्यायन हुआ करता है । ‘गङ्गा’ शब्द में लक्षणा द्वारा शैत्यपावनत्वादि की प्रतिपत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि शैत्यपावनत्वादिरूप प्रयोजनों के प्रत्यायन में गङ्गाशब्द बाधित नहीं हुआ करता । लक्षणा तो मुख्यार्थ में जन्म लेती है, अबाधित शैत्यपावनत्वादि रूप प्रयोजनभूत अर्थ की प्रतिपत्ति में लक्षणा की क्या समावना ?

अनुवाद—‘व्यञ्जना’ को तुरीयावृत्ति मानना इसलिये भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों के निम्न भेदों का अपलाप कदापि सम्भव नहीं । वाच्य और व्यङ्ग्य के जो पारस्परिक भेद हैं वे ये हैं—(१) बोद्धृभेद, (२) स्वरूपभेद, (३) सत्या भेद, (४) निमित्तभेद, (५) कार्यभेद, (६) प्रतीतिभेद, (७) कालभेद, (८) आश्रयभेद, (९) विषयभेद और (१०) अन्यान्यनिमित्तक भेद ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने ध्वन्यालोक, ध्वन्यालोकलोचन और काव्यप्रकाश की व्यञ्जनासिद्धिविषयक युक्तियों का यहा जो वर्गीकरण किया है वह सर्वथा युक्तियुक्त है । साहित्यदर्पण की यह कारिका संक्षेप में व्यञ्जना-प्रस्थापन का बड़ा सुन्दर विचारसूत्र है ।

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का परस्पर भेद सबसे पहले इसलिये सिद्ध है कि वाच्यार्थ के जाननेवाले लोगों से व्यङ्ग्यार्थ के जाननेवाले लोग भिन्न हुआ करते हैं । जब कि वाच्यार्थ के बोद्धा लोग केवल पदपदार्थ-बोध में निपुण ‘वैयाकरण’ हुआ करते हैं, व्यङ्ग्यार्थ के बोद्धा लोगों को, काव्यभावना-निपुण ‘सहृदय’ कहा जाया करता है ।

विमर्श—यदि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में कोई भेद न होता तो या तो काव्य के सभी सामाजिक पाठक कहे जाते या सहृदय । किन्तु कुछ लोग पाठक कहे जाते हैं और कुछ लोग सहृदय । काव्य के पाठक वे हैं जो उसके वाच्यार्थ से परिचित हो पाते हैं और सहृदय काव्य रसिक वे जिनका मनोमुकुर काव्यार्थ के प्रतिबिम्बन में समर्थ रहा करता है अथवा जो व्यङ्ग्यार्थ समझने में निपुण हुआ करते हैं । ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—

‘शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।

वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥’

(२—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूपभेद)

मम धन्मिअ—' इत्यादौ क्वचिद्वच्ये विधिरूपे निषेधरूपतया, कचिन् 'नि शेषच्युतचन्दनम्—' इत्यादौ निषेधरूपे विधिरूपतया च स्वरूपभेद ।

(३—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का इयत्ता-भेद)

'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ च वाच्योऽर्थ एक एव प्रतीयते । व्यङ्ग्यन्तु तद्वोद्ग्रादिभेदान् कचिन् 'कान्तनभिसर इति, 'गात्रो निरुध्यन्ताम्' इति, 'नायकस्यायमागमनावसरः' इति, 'सतापोऽधुना नास्ति' इत्यादिरूपेणानेक इति सत्याभेद ।

सोऽथो यस्मात् केवल काव्यार्थनस्वज्ञरेव ज्ञायते । यदि च वाच्यरूप एवानावर्थ स्यान्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात् । अथ च वाच्यवाचकलक्षणनात्र-कृतप्रमाणा काव्यनस्वायंभावनाविमुक्तानां स्वरुत्यादिलक्षणनिवाऽप्रतीताना गान्धर्वलक्ष-णविधानगोचर एवासावर्थः ।' (ध्वन्यालोक १. ८)

अर्थात् वाच्यार्थ के बोझ और व्यङ्ग्यार्थ के नभस दोनों ने बड़ा भेद है । वाच्यार्थ के बोझ केवल वाच्यवाचकस्वरूप में परिचित हुआ करने है जब कि व्यङ्ग्यार्थ के नभस काव्यवर्णन का आनन्द लिया करने है ।

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का भेद उनके स्वरूप-भेद से भी सिद्ध है । जैसे कि 'मम धन्मिअ' (मम धानिक) आदि प्रसङ्गों में जब कि वाच्यार्थ विधिस्वरूप रहा फेरता है तब व्यङ्ग्यार्थ निषेध-स्वरूप (निषेधान्मक) प्रतीति हुआ करता है और कहीं, जैसे कि 'नि शेषच्युतचन्दनम्' आदि प्रसङ्गों में जब कि वाच्यार्थ का स्वरूप 'निषेध' है तो व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूप 'विधि' हो गया है ।

विमर्श—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के स्वरूप-भेद के मन्थन में ध्वनिज्ञान ने बड़ा सुन्दर कहा है—

'प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वागीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत् प्रतिद्वयवयातिरिक्त विभाति लावण्यनिवाहनासु ॥'

(ध्वन्यालोक . १०)

अर्थात् जैसे रसों का लावण्य उसके अमृदुल्लभ अथवा अमृदुल्लभ आनन्द में मगना भिन्न एक मृदुल्लभोत्पन्नान्न स्वरुपा बना है वैसे ही व्यङ्ग्य का वाच्यार्थ उसके वाच्यवाचक प्रसङ्ग और उस वाच्यवाचकप्रसङ्ग के वाच्य में भी भिन्न एक मृदुल्लभ-पुदुल्लभवेद्य अर्थवत् है । वही वाच्य विधिरूप में अवस्थित रहता है और व्यङ्ग्य निषेधरूप में अवस्थित प्रतीति हुआ करता है । वही वाच्य निषेधवाचक हुआ करता है और व्यङ्ग्य विधिरूप में चमक-काव्यलक्षणा हुआ करता है । मम धानिक और चन्दन में देख कर और निमः और चन्दन में देख कर

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का भेद इससे भी सिद्ध है कि जब कि वाच्यरूप अथ एकविध (एकमत्यक) हुआ करता है, व्यङ्ग्यरूप अथ अनेकविध (अनेकमत्यक) हो जाता करता है । जैसे कि 'गतोऽस्तमर्क' 'सूर्य अस्त हो गया' आदि प्रसङ्गों में ही यदि मापकालरूप वाच्यार्थ एकविध ही रह गया है तो व्यङ्ग्यार्थ, वन-वन कारणों से, नानाविध हो जाता करता है क्योंकि हमने कहीं यह व्यङ्ग्यार्थ निकलना है कि 'प्रेमनिष्ठन की तैयारी कर', कहीं यह कि 'चरनी गौओं को इकट्ठा कर' कहीं यह कि 'प्रेमी की आग-मनवेला का पहुँची', कहीं यह कि 'अथ गरमी गयी', कहीं कुछ और और कहीं कुछ और ।

(४—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का निमित्त भेद)

वाच्यार्थः शब्दोच्चारणमात्रेण वेद्यः, एष तु तथाविधप्रतिभानैर्मल्यादिने निमित्तभेदः ।

(५—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का प्रभाव-भेद)

प्रतीतिमात्रकरणाच्चमत्कारकरणाच्च कार्यभेदः ।

(६—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में प्रतीति-भेद)

केवलरूपतया चमत्कारितया च प्रतीतिभेदः ।

विमर्श—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के इयत्ता-भेद का कारण यह है कि वाच्यार्थ तो स्व होने से नियतस्वरूप और नियतस्वभाव का रहा करता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ असंकेतित होने प्रकरणादि के अवच्छेद से प्रतीत होने के कारण, अनियतस्वरूप और अनियत स्वभाव का करता है। ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—‘वाचकत्व हि शब्दविशेषस्य नियत व्युत्पत्तिकालादारम्य तद्विनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात् । स (व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्द योर्धर्मः) तु अनियतः, औपाधिकत्वात् । प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरयात्वप्रतीतिः’ (ध्वन्यालोक • ३५ उ०)

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ इसलिये भी परस्पर भिन्न हैं कि वाच्यार्थ का नि कुछ और है और व्यङ्ग्यार्थ का कुछ और । वाच्यार्थ का बोध यदि शब्द ज्ञान से सम् तो व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिये एक विशिष्ट प्रतिभानैर्मल्य की आवश्यकता रहा करती

विमर्श—यहाँ ध्वनिकार की यह कारिका स्मरणीय है—

‘तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।

बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिण्यां ऋतित्येवावभासते ॥’ (ध्वन्यालोक १)

जिसका अभिप्राय यह है—‘कान्य के सहृदय सामाजिक वाच्यार्थ के अवबोधन में मनस्तोष को नहीं पाया करते जो कि उन्हें व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कारात्मक अनुभव में मिला है । वाच्यार्थ का ज्ञान तो शब्दानुशासन-ज्ञान पर निर्भर है और व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान भाव प्रतिभा पर निर्भर है ।’

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य-सम्पादक होने के भी परस्पर भिन्न-भिन्न हैं । वाच्यार्थ का कार्य यदि बोधमात्र है तो व्यङ्ग्यार्थ का आनन्दचमत्कार है ।

विमर्श—वाच्यार्थ आपातरम्य हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ पर्यन्तसुन्दर । वाच्यार्थ सम्बन्ध तद्विषयक बोध की उत्पत्ति से है और व्यङ्ग्यार्थ का सम्बन्ध आनन्द की अभिव्यक्ति से दोनों में एकरूपता कहाँ ? इसलिये अभिधा और व्यञ्जना में परस्पर अभिन्नता की मान्यता निर्मूल ही है ।

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में इसलिये भी परस्पर भेद है कि वाच्यार्थ-प्र यदि केवल शाब्दबोधरूप हुआ करती है तो व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति (शाब्दबोधरूप हो साथ ही साथ) चमत्कारमय लगा करती है ।

विमर्श—वाच्यार्थ-बोध में चमत्कार का अभाव तथा व्यङ्ग्यार्थ-अनुभव में चमत्कार का स दोनों स्वयसिद्ध हैं । ‘चमत्कार’ की जनकता के कारण व्यञ्जना को अभिधा में गतार्थ न किया जा सकता ।

(७—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ-बोध में कालभेद)

पूर्वपश्चाद्भावेन च कालभेदः ।

(८—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में आश्रयभेद)

शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन चाश्रयभेदः ।

(९—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का विषय-भेद)

‘कस्स व ण होइ रोसो द्दट्ठूण पिआएँ सव्वणं अहर ।

सम्भमरपडनग्घाइणि वारिखवाने सहसु एहिं ॥

कस्य न वा न्वति रोणे दृष्ट्वा प्रियाया सत्रणनधरम् ।

सत्रनरपश्चाद्रानिष्टि । वारिदणने । सहस्वेदाचोन् ॥

इति सखीतत्कान्तविषयत्वेन विषयभेद । तस्मान्नाभिधेय एव व्यङ्ग्य ।

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का भेद उनके अनुभवों के कालभेद से भी सिद्ध है । वाच्यार्थ का बोध सदा पहले हुना करता है और व्यङ्ग्यार्थ का बोध सदा बाद में ।

विमर्श—वाच्यार्थ का बोध उनाप है और व्यङ्ग्यार्थ का बोध है । उनाप और उनेप की प्रतीति में कालभेद की नाप्यता स्वभाविक है । इसलिये अन्विष्टा अथवा नष्टा में व्यङ्ग्य का अन्वय नष्टनव है ।

अनुवाद—आश्रय-भेद से भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ परस्पर भिन्न सिद्ध होते हैं । वाच्यार्थ का आश्रय तो केवल शब्द है और व्यङ्ग्यार्थ के आश्रय हैं शब्द, शब्देकदेश, शब्दार्थ, वर्ण और संघटना ।

विमर्श—अन्विष्टा तो शब्दादि नष्टि है और व्यङ्ग्य वहाँ तो नाश्वि है जहाँ अन्विष्टा के जोर समावना नहीं । रचना में अन्विष्टा की व्याप्ति समावना है किन्तु व्यङ्ग्य वर्ण और रचना आदि का भी शक्ति है और महाकवियों को कृतिषों में सर्वत्र स्फुरित प्रतीत होती है ।

अनुवाद—इतना ही क्यों, वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ तो विषय-भेद से भी परस्पर भिन्न-भिन्न ही प्रतीत हुना करते हैं । जैसे कि निम्न सूक्ति बर्खा—

‘मला कौन है जो लपनी प्रिया का बग सहित लघरोष्ठ देखे और छुट्ट न हो जाय !
धरी ! मना करने पर और भी न माननेवाली ! कितना मना किया लेकिन तूने ज़रर,
चुम्ब कमल को सब ही लिया ।’

इत्यादि में, वाच्यार्थ का विषय यदि सर्वोध्य नायिका है तो व्यङ्ग्यार्थ का विषय है नायक ।

निष्कर्ष यह है कि जो वाच्यार्थ है वह व्यङ्ग्यार्थ नहीं ।

विमर्श—‘इत्य न न्वति आदि वारिका में व्यङ्ग्यार्थ के विविध विषयों का स्पष्टोक्तर नैवन्कार ने इस प्रकार किया है—

‘अत्राय भाव’—काचिद्विनीता कुतश्चित् तज्जिनाधरा निश्चिततत्त्वविधिसन्निधाने तदुन्मर्तरि तमनवलोक्तमानयेव कवाचिद् विदग्धमत्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते । महत्वेदानीनिनि वाच्यमविन्यवतो विषयम् । नर्तविषय तु—जपराधो नास्तीत्यादिधनानं चन्द्रयम् । महत्वेत्यरि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम् । तस्या च प्रियतमेन गार्दमुपालम्बमानायां तद्व्यपलीकमङ्गिमप्रातिवेशिकलेकविषय चाविन्यप्रच्छादनेन प्रदायन् चन्द्रयम् । तस्म-
यस्या च तदुपालम्बतदविनयप्रश्रयाया मौभाग्यातिरायन्यायन प्रियाया इति शब्द-
प्रत्यादिति मयस्वीविषय चन्द्रयम् । मयस्वीमध्ये इयता नलीकृतास्मीति लाववनामनि
ग्रहीतु न युक्त प्रत्युतायं बहुमान, सहस्व दोमत्वेदानीनिनि मयस्वीविषय मौभाग्यप्रदायनं

(रसानुभव के लिये व्यञ्जना की अनिवार्य मान्यता)

तथा—

प्रागसत्त्वाद्वसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे ।

किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विग्रहादपि लक्षणा ॥ ३ ॥

‘न बोधिका’ इति शेषः । नहि कोऽपि रसनात्मकव्यापाराङ्घ्रिभिरस्मिन् पदप्रतिपाद्यः पदार्थः प्रमाणसिद्धोऽस्ति, यमिमे लक्षणाभिधे बोधयेताम् । ‘यत्र ‘गङ्गाया घोषः’ इत्यादावुपात्तशब्दार्थानां बुभूषन्नेवान्वयोऽनुपपत्त्या वा तत्रैव हि लक्षणायाः प्रवेशः ।

यदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलावुदयनाचार्यैः—

‘श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्य ह्यन्यदिच्छति ।

पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः ॥’

व्यङ्ग्यम् । अध्येय तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्य रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदर्शना विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसंबोधन व्यङ्ग्यम् । इत्थं मयैतदपहृतमिति स्ववैख्यापनं तदस्थविदग्धलोकविषय व्यङ्ग्यमिति ।’ (ध्वन्यालोक-नोचन १म उद्योत)

जिससे यह स्पष्ट है कि वाक्य और व्यङ्ग्य में आकाश-पाताल का भेद है ।

अनुवाद—इतना ही क्यों ? रसानुभव के लिये तो व्यञ्जना नाम की तुरीय वृत्ति मान्यता अनिवार्यतः आवश्यक है । अभिधा और लक्षणा से तो रसोद्बोध हो सकता क्योंकि अभिधा और लक्षणा तो प्रत्यक्षादि अनुभव के पूर्व सिद्ध वस्तुओं का कराया करती हैं जब कि रसरूप वस्तु ऐसी है जो अनुभव के पहले रहा ही नहीं व लक्षणा के द्वारा रसानुभव की असम्भावना का एक और भी कारण है जो कि मुख्यार्थ-बाधादिरूप हेतु का सद्भाव है जब कि रसरूप काव्यार्थ में मुख्यार्थ की सम्भावना ही नहीं उठ सकती ।

तात्पर्य यह है कि यहाँ (‘किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विग्रहादपि लक्षणा’ इस पंक्ति ‘न बोधिका’ यह क्रियापद अध्याहृत समक्षना चाहिये (जिससे अभिप्राय यह कि लक्षणा द्वारा रसादिबोध नहीं किया जा सकता) अभिधा और लक्षणा ‘रस’ का अवबोध तो तब सम्भव था जब कि ‘रस’ कोई ऐसा प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध होता जिसके साथ रसादिरूप पद वाच्यवाचक अथवा लक्ष्यलक्षक भावरूप सम्बद्ध रहा करते । किन्तु ‘रस’ तो ऐसा है जो ‘रसना’ अथवा ‘चर्वणा’ रूप व्यासर्वथा अभिन्न रहा करता है । साथ ही साथ लक्षणाशक्ति इसलिये भी रसव नहीं क्योंकि इसका सचरण तो ‘गङ्गायां घोषः’ (गङ्गा पर कुटी) आदि ऐसे प्रदुष्ट करता है जहाँ प्रयुक्त शब्दों के अर्थों का अन्वयबोध निष्पन्न होने के स अनुपपत्ति के कारण, बाधित हो जाया करता है जंसा कि महान्यायिक उदयना की न्यायकुसुमाञ्जलि की इस उक्ति से स्पष्ट है—

‘वह वाक्य तो और किसी अर्थ की आकांक्षा ही नहीं किया करता जो अप पदार्थों के अबाधित अन्वय में निराकांक्ष हो जाया करता है । किसी और आकांक्षा तो उस वाक्य को हुआ करती है जिसके पदार्थ अनुपपत्ति के कारण, अबाधित हुआ करते हैं और (किसी न किसी सम्बन्ध से संबद्ध) किसी अन्य आक्षेप से ही, अबाधित रूप से अन्वित हो सकते हैं ।’

न पुनः 'शून्य वासगृहम्—' इत्यादौ मुख्यार्थबाधः ।

यदि च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ प्रयोजनं लक्ष्यं स्यात्, तीरस्यापि मुख्या-
र्थत्वं बाधितत्वं च स्यात् । तस्यापि च लक्ष्यतया प्रयोजनान्तरं तस्यापि प्रयोज-
नान्तरमित्यनवस्थापातः । न चापि प्रयोजनविशिष्ट एव तीरे लक्षणा । विषय-
प्रयोजनयोर्युगपत्प्रतीत्यनभ्युपगमात् । नीलादिसंवेदनानन्तरमेव हि ज्ञातताया
अनुव्यवसायस्य वा सभवः ।

भला 'शून्य वासगृहम्' आदि रसात्मक वाक्य ऐसे कहा जिनमें मुख्यार्थ बाधित हो
और लक्षणा के सचरण की संभावना हो जाय ?

लक्षणा के द्वारा रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अवबोध की असंभावना इसलिये भी सिद्ध
है कि 'गङ्गाया घोषः' आदि प्रसङ्गों में शैत्यपावनत्वादिरूप (वक्तृ-हृद्गत) प्रयोजन भी
लक्षणा द्वारा बोध्य नहीं । क्यों ? इसलिये कि यदि यहाँ प्रयोजन को भी लक्षणा-वेद्य
माना जाय तब मुख्यार्थ-बाध, मुख्यार्थयोग किंवा प्रयोजन-प्रतिपादन-रूप लक्षणा-हेतु भी
सगत सिद्ध होना चाहिये । भला ('गङ्गा'पद का) 'तट'रूप अर्थ मुख्यार्थ कहा और यदि
इसे मुख्यार्थ भी मान लें तो किसी अनुपपत्ति के अभाव में (घोष के आधार होने में)
बाधित कहाँ ? साथ ही साथ 'शैत्यपावनत्वादि' रूप प्रयोजनभूत अर्थ भी लक्ष्यार्थ कहाँ
जिसके प्रतिपादन के लिये किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा पड़ी रहे ? और यदि इसे
लक्ष्यार्थ मानकर उसका कोई प्रयोजन हूँदा भी जाय तो उस प्रयोजन के लिये कोई और
प्रयोजन हूँदना पड़ेगा । और उसके लिये भी और कोई प्रयोजन । यहाँ तक कि प्रयोजन
परम्परा के अनुसन्धान में शैत्यपावनत्वादि रूप लक्ष्यार्थ (वस्तुतः मूल प्रयोजन) ही
अनवस्था-दोष से दूषित हो जायगा (और यह पता भी नहीं चल पायगा कि किस
प्रयोजन के लिये शैत्यादि रूप अर्थ लक्ष्यार्थ माना गया) ।

यहाँ यह कहना भी सर्वथा असंगत ही है कि (शैत्यपावनत्वादि रूप) प्रयोजन
विशिष्ट ही तटादिरूप अर्थ लक्षणा द्वारा प्रतिपादित हुआ करता है (जिससे शैत्यादि
प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये व्यञ्जना की अतिरिक्त मान्यता निष्प्रयोजन है) क्योंकि
जहाँ 'तटादि' रूप अर्थ लक्षणाज्ञान का 'विषय' है वहाँ 'शैत्यादि' रूप अर्थ लक्षणाज्ञान
का 'फल' है और ऐसा होने से यह कदापि नहीं माना जा सकता कि दोनों का अवबोध
एक साथ ही हुआ करता है । जैसे मीमांसा कि वा न्याय-प्रक्रिया के अनुसार (इदं नीलम्)
(यह नीला है) आदि अनुभवों में, 'नील' आदि के संवेदन के बाद ही 'ज्ञातता'
(प्रकटता) कि वा 'अनुव्यवसाय' रूप संवेदन-फल की निष्पत्ति मानी जाया करती है
वैसे ही (काव्यशास्त्र-प्रक्रिया के अनुसार भी) 'गङ्गाया घोषः' आदि अनुभवों में, 'तट'
आदि रूप लक्षणाविषय के संवेदन के बाद ही शैत्य-पावनत्वादिरूप लक्षणाफल की
निष्पत्ति युक्तियुक्त मानी गयी है ।

विमर्श—(क) नादित्वादर्थकार ने कहा 'रस' के अनभिधेय और अनन्त होने में जो गुण
होते हैं वे सर्वथा युक्तियुक्त हैं । अनभिधेय और लक्षणादयः पदार्थ वे हैं जो प्रकारों के अन्तः
में ही अपना अस्तित्व रखते हैं । रस तो 'स्वस्वमाननामाना' पदार्थ है, वह न तो मान्य पदार्थ
'स्वस्व' होने लगे 'लोकन्या' ने इसलिये कहा है—

'रसभावतदाभासतत्प्रशमा पुनर्न कदाचिद्भिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया
मान्ति । तत्र ध्वननस्यापाराधने नास्ति कवरनान्तरम् । स्वलङ्घितत्वाभावे मुख्यार्थ-
बाधादेर्लक्षणाविषयनस्यानाशङ्कनीयत्वात् ।

(अनुमिति अथवा स्मृति के द्वारा रसास्वाद की असंभावना)

नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम् ।

आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥ ४ ॥

(व्यक्तिविवेकार (महिमभट्ट) सम्मत व्यङ्ग्यार्थानुमितिवाद का खण्डन
व्यक्तिविवेकारेण हि—‘यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः स
एवान्तर्भवितुमर्हति । विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः

न चायं रसादिरर्थः ‘पुत्रस्ते जातः हृत्यतो यथा हर्षो जायते तथा । नापि ल
अपि तु सहृदयस्य हृदयसवादबलाद् विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्य
रस्यमानताप्राण सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति ।’

(ध्वन्यालोकलोचन १२)

अर्थात् रसभावादिरूप काव्यार्थ कदापि अभिधाबोध्य अर्थ नहीं अपि तु एक मात्र
मानताप्राण अर्थ है । इस आस्वाद्यमानतासार रस-भावादि की अनुभूति में व्यञ्जना के
और किसी भी व्यापार की संभावना नहीं हो सकती । जब कि विभावादि-योजनामय का
के मुख्यार्थ में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती तब लक्षणा की भी यहाँ क्या संभावना
सिद्धस्वभाव रत्यादि रूप भावों से भी विलक्षण तत्त्व है और एक आस्वादमात्रसार अ
अभिधा और लक्षणा द्वारा घटपटादिरूप लोकसिद्ध किं वा पूर्वसिद्ध वस्तुओं का अवबोध
न कि रस्यमानताप्राण रस का ।

(ख) रस में लक्षणा की कोई गति नहीं—इसका निर्णय काव्यप्रकाशकार के इस
विचार से ही सिद्ध है—

‘यस्य प्रतीतिमाधातु लक्षणा समुपास्यते ।

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनाज्ञापरा क्रिया ॥

नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावाच्च लक्षणा ।

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ॥

न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्वलङ्घतिः ।

एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ॥

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥ (काव्यप्रकाश २)

अनुवाद—रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ का अवबोधन ‘अनुमान’ द्वारा नहीं हो सकता
रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अनुमेय होने में जो भी हेतु दिये जा सकते हैं वे स
अपि तु हेत्वाभास हैं । ‘रस’ की ‘स्मृति’ कहना भी निरर्थक ही है क्योंकि कहा त
स्कारस्वरूप ‘रस’ और कहाँ पूर्वानुभव का सस्कारप्रबोधरूप स्मरण !

विमर्श—साक्षात्कार और सस्कार प्रबोध में जो भेद है वही रस्यमानतासार
रत्यादिस्मृति में है । इसलिये स्मृति से व्यञ्जना अथवा रसना को गतार्थ मानना असंभव

अनुवाद—रसादि-प्रतीति के विश्लेषण में, अनुमिति-वाद के प्रवर्तक व्यक्तियों
(आचार्य महिमभट्ट) का यह कहना है—‘जब कि विभावादि के द्वारा ही र
प्रतीति हुआ करती है तब तो यह मानना ही चाहिये कि रसादिप्रतीति एक
ही है (और अनुमान द्वारा ही सिद्ध है न कि व्यञ्जना द्वारा) । रसादिप्रतीति
अनुमिति है क्योंकि इसमें और विभाव-अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव की ।

मिष्यते'। ते हि रत्यादीना भावाना कारणकार्यसहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीन्निष्पादयन्ति। त एव प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा उच्यन्ते, इत्यवश्यंभावी तत्प्रतीतिक्रमः केवलमाशुभावितयाऽसौ न लक्ष्यते, यतोऽयमद्याऽप्यभिव्यक्तिक्रमः' इति यदुक्तम्। तत्र प्रष्टव्यम्—किं शब्दाभिनय-समर्पितविभावादिप्रत्ययानुमितरामादिगतरागादिज्ञानमेव रसत्वेनाभिमतं भवतः, तद्भावनया भावकैर्भाव्यमानः स्वप्रकाशानन्दो वा। आद्ये न विवादः किन्तु 'रामादिगतरागादिज्ञान रससंज्ञया नोच्यतेऽस्माभिः' इत्येव विशेषः।

द्वितीयस्तु व्याप्तिग्रहणाभावाद्धेतोराभासतयाऽसिद्ध एव।

साध्य-साधनभाव का सम्बन्ध रहा करता है। लोकजीवन के रत्यादिरूप भावों के कारण-कार्य और सहकारी ही वस्तुतः काव्य-नाट्य में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाया करते हैं और जेसे उन्हें लोक में रत्यादि भावों का अनुमापक माना जाया करता है वैसे ही ये काव्य में भी रत्यादि भावों के अनुमापक ही हैं और तभी इन्हें रसादि का निष्पादक कहा गया है। भले ही ये रत्यादि रूप भाव लोक में अनुमित होकर राग-द्वेष-मोह में परिणत हो जायें किन्तु जब ये काव्य-नाट्य में अनुमित होने हैं तो आस्वाद-रूप 'रस' हो जाया करते हैं। इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि विभावादिप्रतीति और रसादिप्रतीति में क्रम अथवा पौर्वापर्य अवश्य है (भला साधन और साध्य में क्रम न हो तो और क्या हो?) किन्तु यह क्रम अथवा पौर्वापर्य इसलिये नहीं प्रतीत हुआ करता क्योंकि रसास्वाद इतनी शीघ्रता से हो उठता है कि उसके होते हुये विभावादि की साधनता का अनुभव नहीं हुआ करता। जब कि 'रसाभिव्यक्तिवाद' के भी अनुसार, विभावादिप्रतीति और रसानुभूति में 'क्रम' अवश्यभावी है तब विभावादिप्रतीति और रसानुभूति में साध्यसाधनभाव की भी मान्यता अनिवार्य ही है और रस को 'अभिव्यक्ति' के बदले 'अनुमिति' मानना भी आवश्यक ही है।

किन्तु, व्यक्तिविवेककार की उपर्युक्त मान्यता पर कुछ प्रश्न उठ खड़े होने हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि 'क्या व्यक्तिविवेककार की दृष्टि में, 'रस' का अभिप्राय काव्य अथवा नाट्य द्वारा वर्णित अथवा प्रदर्शित विभावादि के अवबोध के आधार पर, रामादिगत रत्यादि भावों का अनुमानात्मक अवबोध है? और दूसरा प्रश्न यह है कि 'क्या व्यक्ति-विवेककार के अनुसार रस का अभिप्राय उस अन्वण्ड 'स्वप्रकाशानन्द' का अभिप्राय है जो काव्य-नाट्य-समर्पित विभावादि की भावना के द्वारा सतदय सामाजिक के हृदय में उद्बुद्ध हुआ करता है? अब, पहले प्रश्न के सम्बन्ध में कोई विशेष विवाद नहीं क्योंकि इतना तो ठीक ही है कि काव्य-नाट्य-समर्पित विभावादि की प्रतीति से रामादिगत रत्यादि भावों की प्रतीति हुआ करता है। किन्तु इसमें यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि रसानुमिति और रसाभिव्यक्ति एक ही वस्तु है। रसाभिव्यक्तिवादी यह नहीं मानते कि रामादिगत रत्यादिप्रतीति और रसप्रतीति एक ही तत्त्व के दो नाम हैं? किन्तु जो दूसरा प्रश्न है उसके सम्बन्ध में विवाद अवश्य उठ खड़ा होता है। ज्ञान यह है कि अनुमान द्वारा स्वप्रकाशानन्दस्वरूप सतदयहृदयसंवेद्य 'रस' की सिद्धि असंभव है। कारण यह है कि यदि अनुमानतः सतदयहृदयसंवेद्य 'रस' की सिद्धि किया जाय तो यहाँ अनुमान-प्रक्रिया होगी कि 'यह सतदय सामाजिक शृङ्गाररसवान् है क्योंकि हमने रामादि-गत रत्यादिभाव का ज्ञान उसी प्रकार उत्पन्न हो गया है जेसे उस सतदय सामाजिक

यच्चोक्तं तेनैव—

‘यत्र यत्रैवंविधानां विभावानुभावसात्त्विकसञ्चारिणामभिधानमभिनयो व
तत्र शृङ्गारादिरसाविर्भावः’ इति सुप्रहैव व्याप्तिः पक्षधर्मता च ।

तथा—

‘याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम् ।

सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन संमता ॥’ इति ।

में ।’ किन्तु यह अनुमान-प्रक्रिया सर्वथा असंगत है क्योंकि यहां हेतु के व्यभिचारि-
से कोई ‘व्याप्तिग्रह’ संभव नहीं और सच तो यह है कि यह ‘हेतु’ असिद्ध है ।
‘व्याप्तिग्रह’ इसलिये संभव नहीं क्योंकि ‘रामादिगत रत्यादि की प्रतीति’ और
अथवा आनन्द-चमत्कारात्मक अनुभूति’ में ‘यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः’ की सी ‘व
(अनुपाधिक नियत सम्बन्ध) है ही नहीं । भला ‘रामादिगत रत्यादि की प्रतीति
‘रस’ में व्याप्तिग्रह कैसे हो जबकि काव्य-नाट्य के अनेकानेक सामाजिक जैसे कि मो-
अथवा वैयाकरण आदि ऐसे हैं जिन्हें काव्य-नाट्य-समर्पित विभावादिप्रतीति से रा-
गत रत्यादि की प्रतीति तो अवश्य हुआ करती है किन्तु रसात्मक चमत्कार कदा-
हुआ करता ? सहृदयहृदयसवेद्य ‘रस’ की सिद्धि के लिये ‘रामादिगत रत्यादि की प्र-
को हेतु मानना भी ठीक नहीं क्योंकि यह हेतु ‘हेतु’ नहीं अपि तु ‘हेत्वाभास’ है औ-
लिये हेत्वाभास है क्योंकि यहां न तो कोई ‘व्याप्ति’ निश्चय सम्भव है (भला ‘यत्र
दिगत रत्यादिप्रतीति’ तत्र-तत्र शृङ्गाररसादिप्रतीति’ का व्याप्ति निश्चय कैसे संभव
और न ‘पञ्चवृत्तिता’ निर्धारित है (क्योंकि यह कैसे पता कि सामाजिक में ‘रामा
रत्यादिप्रतीति’ अवश्य विद्यमान है ?) ।

वस्तुतः सामाजिक द्वारा रामादिगत रत्यादिप्रतीति और स्वहृद्गत शृङ्गारादि-
में व्याप्ति और पञ्चवृत्तिता की उपर्युक्त असंभावना देखकर ही व्यक्तिविवेककार
अनुमान-प्रक्रिया का आश्रय लिया है—‘जहां-जहां निर्दिष्ट स्वरूपवाले विभाव, अ-
सात्त्विक भाव और व्यभिचारिभावों का अभिधान (वर्णन) अथवा अभिनय (प्र-
पादन) हो, वहां-वहां (उस-उस श्रव्य अथवा दृश्य काव्य में) शृङ्गारादि र-
आविर्भाव हुआ करता है ।’ और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यहां व्याप्ति
पक्षधर्मता दोनों सर्वथा उपपन्न हैं । तभी तो व्यक्तिविवेककार का यह आरोप है—
‘ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के निमित्त मानी गयी सभी
कता-सामग्री अन्ततोगत्वा अनुमापकता-सामग्री ही सिद्ध होती है तो रसध्वनि-
चदले रसानुमितिवाद क्यों न मानो ?’

किन्तु व्यक्तिविवेककार की इन कल्पनाओं से यह नहीं सिद्ध हो पाता कि ‘र-
काव्य-परमार्थ एक अनुमान है । क्योंकि यह अनुमान-प्रक्रिया कि ‘जिस-जिस श्रव्य
दृश्य काव्य में विभावादिसंयोजना है उस-उस श्रव्य अथवा दृश्य काव्य में शृङ्गार
का आविर्भाव हुआ करता है’ ऐसी है जो ध्वनिवादी आचार्यों की रसध्वनि-सिद्धि
सहायक है । किन्तु तब भी रसानुमितिवाद से रसध्वनिवाद में एक वैलक्षण्य
वह यह है कि जब कि रसानुमितिवादी आचार्य ऐसी अनुमिति को ही ‘रस’
‘आस्वाद’ मानते हैं, रसध्वनिवादी आचार्य ऐसे हैं जो ‘रस’ को इस प्रकार की अ-
पि तु स्वप्रकाशानन्दस्वरूप एकघन चमत्कारात्मक अनुभव माना करते हैं ।
अब यह स्पष्ट है कि व्यक्तिवादी आचार्य जो सिद्ध करने चले थे वह तो यह र

इदमपि नो न विरुद्धम् । न ह्येवंविधा प्रतीतिरास्वाद्यत्वेनास्माकमभिमतता किन्तु—स्वप्रकाशमात्रविश्रान्तः सान्द्रानन्दनिर्भर । तेनात्र सिपाद्ययिपिता-
दर्यादर्यान्तरस्य सायनाद्वेतोराभासता ।

यच्च 'भम धन्मिअ—' इत्यादौ प्रतीयमानं वस्तु ।

• 'जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनः पिहितराधिकावदनः ।

जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्ण ॥'

इत्यादौ च रूपकालङ्कारादयोऽनुमेया एव । तथाहि—'अनुमान नाम पक्ष-
सत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टाल्लिङ्गालिङ्गिते ज्ञानम् । ततश्च वाच्याद्-
संबद्धोऽर्थस्तावन्न प्रतीयते । अन्यथाऽतिप्रसङ्गः स्यान् । इति बोध्यबोधकयोर-
र्थयोः कश्चित्संबन्धोऽस्त्येव । ततश्च बोधकोऽर्थो लिङ्गम्, बोध्यश्च लिङ्गी-
बोधकस्य चार्थस्य पक्षसत्त्व निवद्धमेव । सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वे अनिवद्धे
अपि सामर्थ्यादवसेये ।

'सामाजिक को जो काव्य-नाट्य का सारतम तत्त्व प्राप्त हुआ करता है वह 'रस' अथवा
स्वप्रकाशानन्दनय एक घन आह्लाद-चमत्कार है' और जो मिद कर पाये वह यह कि 'जहा-
जहाँ विभावादिवर्णना है वहाँ-वहाँ शृङ्गारादि रमाविर्भाव है ।' यह सब गडबड़ी इसलिये
हुई क्योंकि 'रामादिगत रत्यादि भाव की प्रतीति' में महदयहृदयसवेच सान्द्रानन्दनिर्भर
रस की हेतुता नहीं रहा करती ।

इन प्रकार वह तो नितदिग्ध सिद्ध हो गया कि 'रस' अनुमेय नहीं अपि तु
एकान्ततः अभिव्यङ्ग्य अथवा रसनीय काव्यार्थ है । किन्तु अब यह भी मिद हो जायगा
कि 'वस्तुरूप' अथवा 'अलङ्काररूप' प्रतीयमानार्थ भी अनुमेय नहीं अपि तु एकान्ततः
अभिव्यङ्ग्य ही अर्थ है ।

व्यक्तिविवेककार तो 'भम धन्मिअ' (अन धामिक) आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में
विधिरूप वाच्यार्थ में प्रतीति निपेक्षरूप अभिप्राय को 'अनुमेय' मान चुके हैं और ऐसी
सूक्तियों जैसे कि—

'वे राधारमग इन जगव की रसा किया करें जो जलविहार के समय, राधा के मुख
को, रह-रह कर हाथों से ढकते और खोलते, चक्रवाकमिथुन के सयोग और वियोग के
कौतुक में आनन्द लिया करते हैं ।'

इत्यादि में प्रतीति रूपकालङ्कार को भी (क्योंकि राधा के मुख में चन्द्र का अमेदारोप
(रूपण) मानने से ही, उनके ढकने और खुलने के कारण, चक्रवाकमिथुन के सयोग
और वियोग का अर्थ सगत हो सकता है) 'अनुमेय' ही मिद कर चुके हैं । किन्तु यहाँ
यह देवना है कि 'वस्तु'रूप और 'अलङ्कार'रूप व्यङ्ग्यार्थ कैसे 'अनुमेय' मान लिया गया ?
व्यक्तिविवेककार का कहना है—अनुमान साध्य का ज्ञान है जो कि ऐसे साधन के द्वारा
सम्भव है जो पश्यवृत्ति हो, मपश्यवृत्ति हो और विपश्य व्यावृत्ति भी हो । यह ठीक ही है कि
साध्यार्थ के द्वारा जो व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हुआ करता है वह हमने अमनन्त नहीं रहा
करता । क्योंकि यदि ऐसी ध्यान न हो तो किसी वाच्यार्थ में कोई भी व्यङ्ग्यार्थ समझ
लिया जा सकता है ? हमने यही मानना पड़ता है कि बोध्यरूप व्यङ्ग्यार्थ और बोध्य-
रूप वाच्यार्थ में परस्पर मन्मन्थ है और जो बोध्यरूप अर्थ है वह 'लिङ्ग' अथवा साधन-
भूत अर्थ है तथा जो बोध्यरूप अर्थ है वह 'लिङ्गी' अथवा साध्यरूप अर्थ है । अतः 'अन

तस्मादत्र यद्वाच्यार्थाल्लिङ्गरूपास्तिङ्गिनो व्यङ्ग्यार्थस्यावगमस्तदनुमापयवस्यति' इति । तन्न, तथा ह्यत्र 'भ्रम धम्मिअ—' इत्यादौ गृहे श्वनि विहित भ्रमणं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति' इति या तत्रानैकान्तिको हेतुः । भीरोरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण वनस्य संभवात्, पुश्चल्या वचनं प्रामाणिक न वेति संदिग्धासिद्धेश्च ।

'जलकेलि—' इत्यत्र 'य आत्मदर्शनादर्शनाभ्यां चक्रवाकविघटनसंकारी स चन्द्र एव' इत्यनुमितिरेवायमिति न वाच्यम्, उत्रासकादावनैकात्वात् । 'एवंविधोऽर्थ एवविधार्थबोधक एवंविधाथत्वात्, यन्नेवं त इत्यनुमानेऽप्याभाससमानयोगक्षेमो हेतुः । 'एवं विधार्थत्वात्' इति हेतुन

धम्मिअ' (अम धार्मिक) आदि सूक्ति में यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमण विवाच्यार्थ (जो कि हेतु है) 'पञ्चधर्मता' के रूप में ही उपनिबद्ध किया गया है (यहाँ 'धार्मिक' रूप पक्ष में ही तो 'भ्रमण' का सद्भव प्रतिपादित हुआ है ?) भ्रमणरूप हेतु की 'सपञ्चवृत्तिता' और 'विपञ्चव्यावृत्तता' का यहाँ शब्दतः कोई नहीं किन्तु अर्थसामर्थ्य से ये दोनों विशेषतायें भी इस हेतु में देखी ही जा सजिससे यही निष्कर्ष निकल सकता है कि भ्रमणविधिरूप हेतुभूत वाच्यार्थ से भ्रमण-निषेधरूप साध्यभूत व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो उठती है वह अन्ततो गत्वा अरूप ही प्रतीति है ।

किन्तु व्यक्तिविवेककार को उपर्युक्त युक्तियाँ सगत नहीं प्रतीत होतीं । वा है कि 'अम धार्मिक' आदि में गोदावरी-तीर पर, सिंह के सन्नाह के आधार पर, धार्मिक के उस भ्रमण का निषेध अनुमित हो सकता है जिसे कुक्कुरभरण के प्रति द्वारा यहाँ विहित बताया गया है किन्तु यहाँ धार्मिक के भ्रमण-निषेध की सिंहसन्नाह को जो हेतुरूप से निर्दिष्ट किया गया है उसमें अनैकान्तिकता साध्यव्यभिचार दिखायी दे रहा है । जब कि भीरु व्यक्ति भी (वीर प्रकृति के न्या तो बात ही और है) गुरु के आदेश, स्वामी के शासन अथवा प्रियतमा के प्रेमवश सिं श्वापदों से उपद्रुत स्थान में भ्रमण करते देखे जाया करते हैं तब यहाँ 'सिंहसन्नाह भ्रमण के निषेध को क्योंकि एकान्ततः सिद्ध मान लिया जाय ! साथ ही साथ 'सन्नाह' के हेतु में 'पञ्चासिद्धि' का भी दोष विराजमान है क्योंकि किसी कुलटा की उक्ति की प्रामाणिकता ही क्या ?

इसी भाँति 'जलकेलि' आदि रूपकध्वनि-सूक्ति में जो 'यह राधिका-चदन च क्योंकि यह अपने दर्शन और अदर्शन से चक्रवाक-मिथुन के वियोग और संयोग जनक हो रहा है' आदि अनुमान-प्रक्रिया मानी जा सकती है उसमें भी ही अनैकान्तिकता (साध्यव्यभिचारिता) ही प्रतीत होती है क्योंकि कोई उत्रासक अभयजनक पदार्थ भी अपनी उपस्थिति और अनुपस्थिति से चक्रवाकमिथुन के वि और सघटन का कारण हो सकता है ।

यहाँ (अर्थात् 'अम धार्मिक' आदि की वस्तुध्वनि किंवा 'जलकेलि' आदि की अल ध्वनि की अनुमिति-सिद्धि में) यह अनुमान-प्रक्रिया भी कि 'इस प्रकार का अर्थ ('धार्मिक' में भ्रमण-विधिरूप और 'जलकेलि' में राधावदन पर चन्द्रारोपरूप अ इस प्रकार के अर्थ ('अम धार्मिक' में वस्तुरूप व्यङ्ग्य और 'जलकेलि' में रूपकालङ्कार

विवानिष्टसाधनस्याऽप्युपपत्तेः । तथा दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि । क्षणमिहाऽप्यस्म-
द्गृहे-’ इत्यागौ नलप्रन्याना तनूह्लितनम् । एकान्वितया च स्रेतोगमनम् ।
तन्या परक्रानुकोपभोगस्य लिङ्गिनो लिङ्गमित्युच्यते तत्रात्रैवभिहितेन स्वयान्त-
स्नेहेनाऽपि सम्भवतीत्यनैकान्वितो हेतुः ।

यच्च ‘निःशेषच्युतचन्दनम्—’ इत्यागौ दूत्यास्तत्क्रानुकोपभोगोऽनुमीयते
नान्ति प्रतिपाद्यतया दूत्या, तत्कालसन्निहितैर्वान्यै, तत्काव्यार्यभावनया वा
सहृदयै ।

आद्ययोने विवादः । तृतीये तु तथाविधाभिप्रायविरहस्यते व्यभिचारः ।
ननु वस्त्राद्यवस्थासहृदयत्वेन विशेष्यो हेतुरिति न वाच्यम् । एवविषयव्याख्ये
संयानत्याभावात् ।

व्यग्रय) का बोधक हुआ करता है क्योंकि यह (बोधक अर्थ) इस प्रकार का अर्थ
(‘अन धार्मिक में गोदावरी तीर पर महामन्त्राव से गृह के मनीष अन्न-विधानरूप
और ‘जलकल’ में दर्शन और लक्षण के द्वारा चक्रवाकनियुक्त का विवरण और सबद-
रूप अर्थ) है और जो इस प्रकार का अर्थ नहीं है वह इस प्रकार के अर्थ का अवरोधक
भी नहीं हो सकता’ किसी काम की नहीं क्योंकि इसमें भी जो हेतु है वह हेतुमान का
ही समकक्ष है । यहाँ हेतु की हेतुमानता इसलिये है क्योंकि ‘यह (बोधक अर्थ) इस
प्रकार का अर्थ है’ (एवविधायत्वात्) यह कहने से ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है
‘जोकि वस्त्र का अभिप्रेत ही न हो और मर्यादा अनुचित हो (और तब ‘अन धार्मिक’ में
अन्न-निषेध और ‘जलकल’ में चन्द्रारोप की अभिप्रेत ऐकान्तिक सिद्धि क्योंकि हो जाय)।

इसी प्रकार ‘दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाऽप्यस्मद्गृहे’ इत्यादि सूक्ति में अभि-
व्यग्रय, यहाँ की नायिका के कानुकोपभोगरूप अर्थ को अनुमानरूप सिद्ध करने के लिये
जो यह कहा जाता है कि यहाँ मलप्रन्यासों (मरकटों) ने नायिका के स्नानदि
स्वपनों की सुरक्ष और नायिका के अकेले करने पर पानी के लिये जाने का जो वर्णन
है वह लिङ्ग अथवा साधनरूप में ही अवस्थित है जिसने कानुकोपभोगरूप लिङ्ग अथवा
साध्य की सिद्धि स्वाभाविक है, वह भी एक निरर्थक ही कल्पना है । क्यों ? इसलिये कि
इसी सूक्ति में प्रियतम के प्रति नायिका के अनुगत का जो प्रतिपादन है (क्योंकि
‘प्रायेनास्य शिरो पिता न विरमा कौपीरय पात्यनि’ का और क्या अभिप्राय ?)
उसमें भी तो उसके एकाकी करने पर पानी लेने जाने और जगल की कटीली शारिजों
से वहाँ में सुरक्ष लगने का सम्बन्ध उपर्युक्त हो जाता है और तब इन्हें (अज्ञान और
एकाकीगमन के) ‘परक्रानुकोपभोग’ रूप साध्य का ऐकान्तिक (अव्यभिचरित)
साधन क्योंकि मान लिया जाय ?

अब रहा ‘निःशेषच्युतचन्दनम्’ वादि में अभिव्यग्रय, अपनी स्वामिनी के प्रियतम
के साथ, दूती की प्रत्यक्षता के अर्थ को अनुमानरूप सिद्ध करने का प्रयत्न । यहाँ तीन
समावधानों हैं—(१) ‘क्या नायिका की दृष्टि में दूती को ही अपनी रतिरत्ना का
अनुमान हो रहा है ?’ (२) अथवा यहाँ उपस्थित अन्य मणियों द्वारा दूती की रति-
रत्ना का अनुमान किया जा रहा है ? (३) अथवा यहाँ के कचाराय के अनुशीलन-
परायण मन्दय मानसिक यहाँ उपनिबद्ध दूती की प्रत्यक्षता का अनुमान कर रहे हैं ?
अब, पहली दो समावधानों के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं (क्योंकि दूती अपनी

किञ्चैवंविधानां काव्यानां कविप्रतिभामात्रजन्मनां प्रामाण्यानावश्यकत्वेन संदिग्धासिद्धत्वं हेतोः ।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेवैषां पदार्थानां व्यञ्जकत्वमुक्तम्, तेन च तत्कान्तस्याधमत्वं प्रामाणिकं न वेति कथमनुमानम् । एतेनार्थापत्तिवेद्यत्वमपि व्यङ्ग्यथानामपास्तम् । अर्थापत्तेरपि पूर्वसिद्धव्याप्तीच्छामुपजीव्यैव प्रवृत्तेः । यथा—‘यो जीवति स कुत्राप्यवतिष्ठते, जीवति चात्र गोष्ठयामविद्यमानश्चैत्रः’ इत्यादि ।

ही प्रणय-क्रीडा का अनुमान क्यों करने लगी जब कि उसे उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है और साथ ही साथ वहाँ उपस्थित सखीजन भी चन्दनच्यवन आदि के प्रत्यक्ष चिह्नों से कामुकोपभोग के बदले वापी-स्नान का भी तो अनुमान कर सकते हैं) ! अथ, सहृदय सामाजिकों द्वारा यहाँ ‘कामुकोपभोग’ रूप (अभिव्यङ्ग्य) अर्थ के अनुमान की जो बात है उसके सम्बन्ध में तो विवाद अवश्य है और विवाद का जो स्वरूप है वह यह है—यदि सहृदय सामाजिकों के प्रति, यहाँ दूती की प्रणय-लीला का अर्थ विवक्षित न हो तब (सहृदय सामाजिकों की दृष्टि से) चन्दनच्यवनादि को कामुकोपभोगरूप अर्थ के प्रति क्योंकि अन्यभिचरित हेतु कहा जाय ! यहाँ यह कहना भी निरर्थक ही है कि यहाँ यह सब कहनेवाली (नायिका) और यह सब सुननेवाली (दूती) की परिस्थिति की सहकारिता के साथ चन्दनच्यवन आदि के अन्यभिचरित हेतुचक्र के अनुसन्धान से सहृदय सामाजिकों को एकान्ततः कामुकोपभोगरूप अर्थ का अनुमान हो जायगा क्योंकि पहले तो बोलनेवाली नायिका और सुननेवाली दूती की परिस्थिति की सहकारिता यहाँ कहीं सूचित नहीं जिससे इस प्रकार के ‘चन्दनच्यवन’ आदि और ‘कामुकोपभोग’ में किसी अनुपाधिक सम्बन्ध की सिद्धि हो जाय और फिर यहाँ ही चन्दनच्यवन आदि को स्नान के कार्यरूप से प्रतिपादित कर कामुकोपभोग के साथ इसका अन्यभिचरित सम्बन्ध भी तो विच्छिन्न ही कर दिया गया है ।

साथ ही साथ, यह चन्दनच्यवनादिरूप हेतुचक्र स्वरूपासिद्धि भी तो प्रतीत हो रहा है क्योंकि यह सब तो कविता है और कविता होने के नाते कवि की कल्पना से ई उत्पन्न है जिससे इसकी प्रामाणिकता की सिद्धि सर्वथा असंभव है और ऐसा होने से इसे हेतु के बदले हेत्वाभास ही माना जा सकता है ।

यह सब दोष यहाँ ‘कामुकोपभोग’ को व्यङ्ग्य माननेवाले आचार्यों के मत में कहीं नहीं खटकता । बात यह है कि यहाँ व्यञ्जनावादी आचार्य चन्दनच्यवनादिरूप पदार्थों की व्यञ्जकता में ‘अधम’ पद की विशिष्ट व्यञ्जकता की सहकारिता देखा करते हैं । अनुमितिवादी आचार्य तो यहाँ वर्णित नायक की ‘अधमता’ की भी प्रामाणिकता पर संदेह करेंगे और उन्हें ऐसा करना भी चाहिये ! इस संदेह का परिणाम यह होगा कि ‘अधम’पद की सहकारिता से भी चन्दनच्यवनादि को ‘कामुकोपभोग’ का अन्यभिचरित हेतु नहीं सिद्ध किया जा सकेगा और कामुकोपभोग का अनुमान पूर्ववत् ही असंभव हो जायगा ।

अब, जब कि उपर्युक्त युक्तिओं से वस्तुरूप, अलङ्काररूप, किंवा रसादिरूप अभिव्यङ्ग्य अर्थों में ‘अनुमान’ की कोई संभावना नहीं दिखायी देती, तब ‘अर्थापत्ति’ से अभिव्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति-कल्पना तो स्वय उच्छिन्न हो गयी । ‘अर्थापत्ति’ तो एक प्रकार की

किञ्च वस्त्रविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसत्यादिवत्सूचनबुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति, सूचनबुद्धेरपि सङ्केतादिलौकिकप्रमाणसापेक्षत्वेनानुमानप्रकारताङ्गीकारात् ।

यच्च 'संस्कारजन्यत्वाद्रसादिवुद्धिः स्मृतिः' इति केचित् । तत्रापि प्रत्यभिज्ञायामनैकान्तिकतया हेतोराभासता । 'दुर्गालङ्घित—' इत्यादौ च द्वितीयार्थो नास्त्येव—इति यदुक्तं महिमभट्टेन तदनुभवसिद्धमपलपतो गजनिमीलिकैव ।

(व्यङ्गनामृति की मान्यता अनिवार्य है ।)

तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणांशस्याशक्यापलापतया तत्तच्छब्दाव्यव्यव्यतिरेकानुविधायितया चानुमानादिप्रमाणावेद्यतया चाभिवादिबृत्तित्रया-

अनुमिति ही है क्योंकि उसमें भी, अनुमान में पूर्वनिश्चित व्याप्तिग्रह के ही आधार पर, अन्यथानुपपत्ति से, अर्थ की परिकल्पना की जाया करती है जैसे कि यदि कोई कहे कि 'चंद्र इस गोष्ठी में नहीं है' तो हम अन्यथानुपपत्ति से जान लेते हैं कि 'चंद्र कहीं अन्यत्र होगा' क्योंकि हमें 'जीवित होने और कहीं न कहीं अवस्थित रहने' का साहचर्य-नियम अपने प्रत्यक्ष अनुभव से ही पता चल चुका होता है ।

व्यङ्ग्य-प्रतीति को सूचन-बुद्धि का भी विषय नहीं माना जा सकता । यात यह है कि सूचन-बुद्धि भी एक प्रकार की अनुमान-प्रक्रिया ही है जैसे कि यदि किसी कपडे आदि के विक्रेता ने, अपने किसी ग्राहक को, अपनी अगुलियों के विविध मकेन ने पहले ही परिचिन कराकर, तर्जनी का सङ्केत किया और ग्राहक ने 'दस' सत्या समझ कर, तदनुसार मूल्य चुका दिया । अब इस प्रकार की सूचन-बुद्धि के संबन्ध में यह निश्चित है कि यहाँ 'सङ्केत' आदि का जो धादान प्रदान है वह लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर निर्भर हुआ करता है और ऐसा होने से अनुमान की भाँति यह सूचन-बुद्धि भी 'सङ्केत के देने' और 'सङ्केत के समझने' में एक प्रकार की व्याप्ति के ही अनुसंधान की अपेक्षा करती है जिसमें यह अनुमान रूप ही रह जाता है । अब, जब कि अनुमान में काव्याभिव्यङ्ग्य अर्थों का अवरोध अस्मभव मिट कर दिया गया, तब सूचन-बुद्धि में इनका अवरोध तो स्वयं अमिद मिट ही होगा ।

संस्कार-जन्यता के कारण 'रसानुभूति' को 'स्मृति' मानना एक निराधार कल्पना है क्योंकि 'रस' को 'स्मरण'रूप सिद्ध करने में 'संस्कारजन्यता' हेतु नहीं अपितु एक हेत्वाभास है । यहाँ 'संस्कारजन्यता' इमलिये हेत्वाभास है क्योंकि इसमें रस 'स्मृति'रूप ही क्यों 'प्रत्यभिज्ञा'रूप सिद्ध हो जाता है (प्रत्यभिज्ञा भी संस्कार जन्य है तब 'रस' स्मृति के बदले 'प्रत्यभिज्ञा'रूप क्यों न सिद्ध हो जाय) ।

व्यक्तिविशेषज्ञार आचार्य महिमभट्ट ने जैसे उपर्युक्त ध्वनि प्रसङ्गों में अपनी गजरट्टि का प्रदर्शन किया है । (अर्थात् अधगुली जाय मे उस वस्तु को भी नहीं देना है जिसे लोग साधारणतया देख चुके हैं) वेने ही 'दुर्गालङ्घितविग्रहोन्नमजिज्ञम्' आदि श्रुति की अनिधामूलक व्यङ्गना पर भी उनकी 'गजरट्टि' यहाँ निर्णय दे सकती है कि यहाँ श्रुत्यर्थभिन्न कोई अर्थ ही नहीं प्रतीत होता । सहजय सामानिद नो यहाँ व्यङ्ग्यार्थ से प्रभावित होते हैं । वे भला परोंकर व्यक्तिविशेषज्ञार के कहने में पद जाय ?

अतः—उपर्युक्त श्रुति-प्रश्रुति-ओं के विवेचन में, अन्ततोगत्या, जो निष्कर्ष निकाला

बोध्यतया च तुरीया वृत्तिरूपास्यैवेति सिद्धम् । इयं च व्याप्त्याद्यं
विनाऽपि भवतीत्यखिलं निर्मलम् ।

(व्यञ्जना • रसना • चतुर्थी वृत्ति के दो नाम और रूप)

तत्किनामिकेयं वृत्तिरित्युच्यते—

सा चेयं व्यञ्जनानाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।

रसव्यक्तौ पुनर्दृष्टिं रसनाख्यां परे विदुः ॥ ५ ॥

एतच्च विविच्योक्त रसनिरूपणप्रस्ताव इति सर्वमवदातम् ।

इति साहित्यदर्पणे व्यञ्जनान्यापारनिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः



जा सकता है वह यह है कि (१) स्वसवेदन-सिद्ध रसभावादि रूप काव्य-व्य
का अपलाप असंभव है, (२) रसभावादि रूप अभिव्यङ्ग्य अर्थों के अभिव्यञ्ज
ही कविजन विशिष्ट शब्दार्थ-योजना किया करते हैं जहां यह निश्चय हो ज
अमुक शब्दार्थ योजना से अमुक व्यङ्ग्यार्थ निष्पन्न होता है और उसके अभा
व्यङ्ग्यार्थ भी नहीं रहा करता और इसलिये अनुमानादि प्रमाणों की
आवश्यकता नहीं और (३) रसभावादि रूप व्यङ्ग्यार्थ में अभिधा, तात्पर्य
लक्षणा की शक्तिओं का व्यापार कुण्ठित रहा करता है जिससे इनके अतिरि
एक चौथी शक्ति की मान्यता अनिवार्य हो जाती है । यह चौथी वृत्ति अनुरा
जिसके लिये व्याप्ति-गवेषणा करनी पड़े और हेतु की आभासता से घटने का
चलाना पड़े । जब कि इस चतुर्थी वृत्ति के मान लेने पर काव्य-साहित्य के
निःशङ्क रूप से विश्लेषण संभव हो जाता है तब इसे मुक्तकण्ठ से क्यों न मान लि

अनुवाद—अब, इस चतुर्थी वृत्ति का नाम क्या है ? इसका निर्णय है—

यही वह वृत्ति है जिसे प्राचीन ध्वनि-दार्शनिक काव्य-मर्मज्ञ (त्रिविध व्य
दृष्टि से) 'व्यञ्जना' नाम से निर्दिष्ट करते आये हैं और जिसे, अन्य काव्यतत्त्वदृ
भिव्यक्ति की दृष्टि से), 'रसना' नाम से पुकारते रहे हैं ।

यह 'रसना' वृत्ति क्या है इसका यहां विवेचन आवश्यक नहीं क्योंकि 'रस
के प्रसङ्ग में इसको पूर्णरूपेण विवेचित कर दिया गया है जहाँ इससे सम्बद्ध स
दूर हो गयी हैं ।

साहित्यदर्पण का पञ्चम परिच्छेद समाप्त ।



षष्ठः परिच्छेदः

2. (कव्य के अन्वयनिमित्तक भेद : १ दृश्यकाल्य और २ श्रव्य काल्य)

एव च निगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन काव्यस्य भेदद्वयमुक्त्वा पुनर्दृश्यप्रव्यत्वेन
भेदद्वयमाह—

दृश्यं श्रव्यत्वं भेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ।

('हृदय' काव्य की 'हृदय' संज्ञा)

दृश्यं तत्राभिनेयं—

तस्य तपकृतज्ञाहेतुमाह—

—तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥ १ ॥

तद्द्रव्यं वाच्यं नदे सानादित्वत्वारोपाद्रूपक्षमित्युच्यते ।

नूतनत्व—पूर्वप्रतिपादित काव्य के भेद-प्रभेदों को तो 'प्रधानव्यङ्ग्यता' किंवा 'गुणी-भूतव्यङ्ग्यता' की द्विविध विशेषता के आधार पर 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक दो भेदों में विभक्त किया जा चुका। जब इनको 'ध्वन्यता' और 'ध्वन्यता' की विवेचना के आधार पर इनके जो दो अन्य प्रकार के भेद हो सकते हैं उनका निरूपण किया जा रहा है—

‘रमानकवाच्य’ रूप काच्य ही (रगमच पर प्रदर्शन के कारण) ‘दृश्य’ और (न्यय श्रवण-भजन के कारण) ‘श्रव्य’ रूप तै शो भेदों न विनश्वर है।

इन दोनों में से 'हरप' नामक काव्य-सेद वह है जिसे 'अभिनय' द्वारा प्रदर्शित किया जाया करता है।

इस 'दरय' काल का एक और नाम 'रूपक' है। 'दरय' काल के 'रूपक' की जाने का कारण यह है—

'रूप' काय हम लिखे 'रूपक' कहा जाया करता है क्योंकि इसके प्रदर्शक (नट) हमने चित्रित चरितों के 'रूप' का लपटे में 'लारोम' क्यात वनुमन्धान हिने दिवायी दिया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि वाङ्मय-व्यवस्था के कारण जो 'सामानिक वाक्य' रूप काव्य 'हरय' कहा जा सकता है वही उसके अन्तिमोत्तर में, अन्तिमैय सामाजिक चरितों के 'रूप' के 'आरोप' अथवा 'वस्तुस्थान' के कारण 'रूपक' भी कहा जाया करता है।

[illegible]

('अभिनय' का स्वरूप-निरूपण)

कोऽसावभिनय इत्याह—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः । Most
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥ २ ॥
नटैरङ्गादिभी रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरणमभिनयः ।

‘तदीदृशरसाधार नाट्य रूपकमित्यपि ।
नटस्याति प्रवीणस्य कर्मत्वाच्चाट्यमुच्यते ॥
यथा सुखादौ पद्मादेरारोपे रूपकप्रथा ।
तथैव नायकारोपो नटे रूपकमुच्यते ॥’

(रसाणवसुधाकर ३य विला

विश्वनाथ कविराज ने दशरूपककार के अनुकरण में ‘रूप’ शब्द का प्रयोग न कर ‘दृश’ शब्द का प्रयोग किया है जिसमें सामाजिक की दृष्टि के साथ-साथ आलङ्कारिक की भी दृष्टि ग्रन्थ काव्य-मित्र कविकृति का स्वरूप-निर्देश स्पष्टनया किया जा सके ।

अनुवाद—जैसा कि बताया गया कि ‘दृश्य’ काव्य ‘अभिनय’ द्वारा प्रदर्शित हुआ करता है, अब यह बताना आवश्यक है कि यह ‘अभिनय’ क्या है—

‘अभिनय’ का अभिप्राय है (अभिनेता द्वारा, अभिनेय चरितों की) अवस्था (शरीर-वाणी-मन किंवा समस्त व्यक्तित्व की विशेषताओं) के ‘अनुकार’ अथ ‘अनुकरण’ का । यह ‘अवस्थानुकरण’ चार प्रकार का हुआ करता है—१ आङ्गिक (४ द्वारा सम्पादित), २ वाचिक (वाणी द्वारा सम्पादित), ३ आहार्य (वेश-भूषा द्वारा सम्पादित) और ४ सात्त्विक (मनोभावों के आविष्करण द्वारा सम्पादित) ।

तात्पर्य यह है कि जिसे ‘अभिनय’ कहा करते हैं वह नट द्वारा, अपने अङ्ग, वाणी, आदि के विविध व्यापारों की सहायता से सम्पादित, राम, युधिष्ठिर आदि की अवस्थाओं का ‘अनुकरण’ हुआ करता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने ‘अभिनय’ का व्यावहारिक अर्थ लिया है पारमार्थिक नहीं । अभिनय को ‘अवस्थानुकार’ मानने वाले भी नाट्याचार्य हो चुके हैं और ‘अनुव्यवसायात्मक’ माननेवाले भी । ‘अभिनय’ की यह व्युत्पत्ति है—

‘सामाजिकानामभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽर्थोऽनेनेत्यभिनयः ।’

अर्थात् ‘अभिनय’ वह है जिसके द्वारा सामाजिक, रामादि का साक्षात्कारात्मक अनुभव किया करते हैं । ‘अभिनय’ क्योंकि अनुकरणमात्र नहीं हो सकता—इसे नाट्यदर्पणकार ने इस प्रकार बताया है—

‘अनुक्रिया च वागादीनां तदध्यवसायवशात् पुनर्वस्तुतः । रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात् । अनुकर्ता हि अनुकार्यमदृष्ट्वा नानुकर्तुमलम् । प्रेक्षकोऽपि चाहष्टानुकार्यो नानुकर्तुरनुकर्तृत्वमनुमन्यते । तदयं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्यात्यन्ताभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनुकरोमीत्यध्यवस्यति । परमार्थतस्तु लोकव्यवहारमेवायमनुवर्तते । प्रहृष्टोऽपि हि रामेण रुदिते रोदिति, न तु हसति । विषण्णोऽपि च हसिते हसति न तु रोदित्यादि । प्रेक्षका अपि रामादिशब्दसंकेतश्रवणादतिदृष्टसंगीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूप-देश-कालभेदेनातथामूलेष्वप्यभिनयचतुष्टयाच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटेषु रामादीनध्यवस्यति । अत एव तासु-तासु सुखदुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु

(रूपक के १० भेद)

रूपकस्य भेदानाह—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।

ईहामृगाङ्गवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥ ३ ॥

('रूपक' के अतिरिक्त 'उपरूपक' सामान्यस्वरूप-निर्देश)

किञ्च—

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरामकम् ।

प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ॥ ४ ॥

संलापकं श्रोगदितं शिल्पकं च विलासिका ।

दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लोशी भाणिकेति च ॥ ५ ॥

अष्टादश प्राहुरूपरूपकाणि मनीषिणः ।

विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् ॥ ६ ॥

तन्मयी भवति । अपरे तेषु तु नाम-मन्त्रेण-मगीतकामिन्येषु रामाद्यध्यवसायहेतुपूषदेश-परमेतदिति मन्यमाना हेयोपादेय-हानोपादानैकतानचेतनो जायन्ते । अथवा इह तावदित्य-श्रुतिरित्यं गतिरित्य जलिरतमित्य-स्रोधादिललितमित्येवमशेषमपि रामादिललितनृपीणां कालदर्शिना ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निवर्णन्ति । तत्र चार्थे मुनिज्ञानविश्रामासदस्य साक्षाद् दर्शनमेव । अपि च कदाचिन्मानदृशा वस्तुस्वरूपे भ्रान्त्यन्ति न पुनर्ज्ञानदृशः । तत्र मुनिज्ञानदर्शितमर्थदर्शनादप्यधिकतरमवगत वस्तुन एवानुबुद्धांशो दुर्विदग्धनुद्धिनि-कथझारनपाक्रियते घराको नटः ? प्रेक्षकाणां तु नृत्यमिति च स्वदर्शने नटेषु रामाद्यध्यवसाय एव, अन्यथा तु कृत्रिममेतदिति जानन्तो न रामादिसुखदुःखेषु तन्मयी भवेयुः ।

(नाट्यदर्शनः ३५ विवेकः)

'ललित्य' के ना भेद है—१ नाटिक अर्थात् वर जिसे रामादि के उन-उन भावविभागों में मन्दल वात्स्यवशात् वा नट के वात्स्यवशात् द्वारा मञ्चान्ता करा गया है, २ अङ्गिक, अर्थात् वर जिसे रामादि के विविध भावार्थ अथवा उपा के त्यागों वा नट के अ-र्थीन उपाद के त्यागों द्वारा मञ्चदर्शन माना गया है ३ नाटिक अर्थात् वर जो कि रामादि के विविध मन्त्र (मनीषणा) वा नट के नटनृत्य मन्त्र (मनीषणा) द्वारा मञ्चान्ता करा गया जाता है और ४ आचार्य अथवा वर जिसे रामादि के जीवन में मन्दल विविध वाद्य पदार्थों वा नट द्वारा प्रयोग्य नटनृत्य वाद्यार्थों द्वारा मञ्चान्तरण माना गया है ।

अतएव—'रूपक' के कतिपय भेद-प्रभेद भी हैं जिनका लघु निरूपण किया जा रहा है—'रूपक' के ये १० प्रकार हैं—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) व्यायोग, (५) समवकार, (६) दिन, (७) ईहानृग, (८) लङ्घ, (९) वीथी और (१०) प्रहसन ।

नाट्यकोशियों ने इन १० रूपकों के अतिरिक्त जिन १८ प्रकार के 'उपरूपकों' को दृश्य काव्य का प्रकार माना है वे ये हैं—(१) नाटिका, (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्यरामक, (६) प्रस्थान, (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) प्रेङ्खन,

सर्वेषां प्रकरणादिरूपकाणां नाटिकाद्युपरूपकाणां च ।

(१ म रूपक-प्रकार ' नाटक : स्वरूपनिरूपण)

तत्र—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसंधिसमन्वितम् ।

विलासद्वय्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥ ७ ॥

मुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिन्तरम् ।

पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥ ८ ॥

(१०) रासक, (११) सलापक, (१२) धीगदित, (१३) शिल्पक, (१४) सिका, (१५) दुर्मस्त्रिका, (१६) प्रकरणी, (१७) हस्तीशक और (१८) इन उपयुक्त सभी प्रकारों का सामान्य स्वरूप वही है जो कि 'नाटक' नामक प्रकरण का (जैसा कि अभी बताया जायगा) हुआ करता है ।

यहां 'सर्वेषाम्' (सभी प्रकारों) का अभिप्राय 'प्रकरण' आदि ९ रूपकों और आदि १८ उपरूपकों का है ।

विमर्श—'रूपक' और 'उपरूपक' का भेद काल्पनिक नहीं अपि तु वास्तविक है 'नाट्य' है और उपरूपक 'नृत्य' । 'नाट्य' रसाश्रय हुआ करता है और 'नृत्य' भावाश्रय को 'वाक्यार्थाभिनयात्मक' कहा गया है और 'उपरूपक' को 'पदार्थाभिनयात्मक' । भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में १० रूपकों का तो पूर्ण निरूपण है किन्तु उपरूपकों का नहीं । नाट्यवेद में उपरूपक-विमर्श की परम्परा सर्वप्रथम समवतः नाट्याचार्य कोइल हुई है । अभिनवभारतीकार की यह उक्ति—

'प्रयोगाय प्रयोगत इति व्याख्याने प्रयोगत इति विफलमेव । उक्तव्याख्या लादिलक्षिततोदकसट्टकरासकादिसंग्रहः फलम् । (अभिनव भारती, पृष्ठ ४०७)

इसी बात का सकेत करती है कि उपरूपक विकल्प कोइल और उनके अनुयायी का काम है ।

आचार्य धनिक ने उपरूपकों को नृत्यभेद माना है—

'ढोग्दी श्रीगदित भाणो भाणी प्रस्थानरासकाः ।

काव्य च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥

(दशरूपक अवलोक १८)

अर्थात् रूपक तो रसाश्रय काव्य-प्रबन्ध होने के नाते नाट्य-भेद है और उपरूपक भावाश्रय होने के कारण नृत्य-भेद । रूपक के अभिनय में चतुर्विध अभिनय की अपेक्षा है और उपरूपक के अभिनय में आङ्गिक अभिनय का बाहुल्य रहा करता है ।

उपरूपक के प्रकार भी भिन्न भिन्न नाट्याचार्यों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न ही हैं । भोजराज का 'शृंगारप्रकाश' १४ उपरूपकों का वर्णन करता है । शारदातनय के भावप्रकाशन में १८ उपरूपकों का सोदाहरण लक्षण मिलता है । साहित्यदर्पणकार का उपरूपक-निरूपण शारदातनय के ही उपरूपक-विवेक के आधार पर हुआ है ।

अनुवाद—इन १० रूपक प्रकारों में 'नाटक' नामक जो १ म रूपक प्रकार है उसका स्वरूप-निर्देश यह है—

'नाटक' नामक रूपक वह दृश्यकाव्य है जिसकी शरीर-रचना किसी प्रसिद्ध वृत्त से

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धौरोदात्तः प्रतापवान् ।

दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥ ९ ॥

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥ १० ॥

चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।

गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ ११ ॥

ख्यात रामायणादिप्रसिद्ध वृत्तम् । यथा-रामचरितादि । सन्वयो वक्ष्यन्ते । नानाविभूतिभिर्युक्तमिति महासहायम् । सुखदुःखसमुद्भूतत्व रामयुधिष्ठिरादिवृत्तान्तेष्वभिव्यक्तम् । राजपयो दुष्यन्तादयः । दिव्या. श्रीकृष्णादयः । दिव्या-दिव्यः, यो दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानि । यथा श्रीरामचन्द्रः ।

की जाया करती है । नाटक के इस (इतिवृत्तात्मक) शरीर में पाच सधिया हुआ करती है । उन-उन चरितों के उदात्त गुणों और अभ्युदयों के उपनिबन्धन के कारण यह भी उदात्त और श्री-समृद्ध हुआ करता है । इसके उद्भव का कारण मानव का सुख दुःखात्मक जीवन है । इसमें भिन्न-भिन्न रसों और भावों का अनुभव हुआ करता है । इसकी रचना क्रम से कम पाच और अधिक से अधिक दस अङ्गों में पूर्ण हुआ करती है । इसका 'नायक' किसी प्रसिद्ध राजवश का कोई राजपि हो सकता है । इसके नायक के लिये धीर और उदात्त होना, प्रतापी होना और नायकोचित-गुण-सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है । यह नायक 'दिव्य' (देवलोक का निवासी) 'अदिव्य' (मर्त्यलोक का निवासी) या 'दिव्यादिव्य' (दिव्य किन्तु मानवरूप में विराजमान) तीनों में से कोई भी महान् व्यक्तित्व हो सकता है । इस रूपक-प्रकार में एक ही रस का मुख्य रूप से अभिव्यक्त होना आवश्यक है और यह मुख्यतया अभिव्यक्त रस या तो 'शृङ्गार' हो सकता है या 'वीर' । और जो रस-भाव है वे भी यहा अभिव्यक्त रहा करते हैं किन्तु मुख्य रूप से नहीं अपि तु अन्तरूप (मुख्य रस के उपकारक रूप) से ही । इस रूपक-प्रयन्ध का अन्त विस्मयोत्पादक हुआ करता है । इसमें उन-उन कार्यों में व्याप्त चार या पाच प्रधान पुरुषों का चरित वर्णन अपेक्षित है । इसकी रचना गोपुच्छ के अग्रभाग के समान हो तो अच्छी लगती है ।

यहा नाटक के 'ख्यातवृत्त' होने का अभिप्राय है उनके इतिवृत्त के रामायण आदि के प्रसिद्ध राम आदि महापुरुषों के चरित के आधार पर रचे जाने का । नाटक का (इतिवृत्त-सन्धान रूप) 'नधिपञ्चक' क्या है ? इसे तो आगे बताया ही जा रहा है । नाटक के 'नाना विभूतिओं से युक्त' होने का अभिप्राय उसमें नायक के समान महनीय चरितवाले सहायकों के चरित चित्रण का अभिप्राय है । नाटक किन् प्रकार 'सुखदुःख-समुद्भव' हुआ करता है यह तो राम. युधिष्ठिर आदि महापुरुषों के चरित-चित्रणों से युक्त नाटकों में स्पष्ट ही है । यहा 'राजर्षिओं' से अभिप्राय दुष्यन्त आदि मरीये महनीय राजवशोद्भव महापुरुषों से है । 'दिव्य' चरित नायकों का तात्पर्य भगवान् श्रीकृष्ण आदि मरीये नायकों का है और 'दिव्यादिव्य' नायकों से श्री रामचन्द्र मरीये नायक समझे जा सकते हैं जो 'दिव्य' अथवा भगवदवतार होने पर भी मानवलोक में मानव सा व्यवहार किया करते हैं ।

गोपुच्छाग्रसमाग्रमिति 'क्रमेणाङ्गाः सूक्ष्माः कर्तव्याः' इति केचित् । अन्ये त्वाहुः—'यथा गोपुच्छे केचिद्वाला ह्रस्वाः केचिद्दीर्घास्तथेह कानिचित्कार्याणि मुखसंघौ समाप्तानि कानिचित्प्रतिमुखे । एवमन्येष्वपि कानिचित्कानिचित्' इति ।

नाटक के 'गोपुच्छाग्रसमान' होने का तात्पर्य, कतिपय नाट्यकोविदों की दृष्टि में, 'उसके अङ्गों का क्रमशः छोटा होता जाना' है । किन्तु अन्य नाट्य-मर्मज्ञ इसका जो अभिप्राय लेते हैं । वह यह है कि 'जैसे गोपुच्छ में कुछ वाल कहीं छोटे होते हैं और कहीं बड़े, वैसे ही नाटक में भी कुछ घृत्त-वर्णन अथवा चरित-चित्रण ऐसे हुआ करते हैं जो मुख सन्धि में ही समाप्त हो जाया करते हैं, कुछ ऐसे, जो प्रतिमुख सन्धि में समाप्त होते हैं और इसी भांति कुछ गर्भ में, कुछ विमर्श में और कुछ निर्वहण में समाप्त हुआ करते हैं ।'

विमर्श—(क) सभी नाट्याचार्य 'नाटक' को ही सर्वश्रेष्ठ रूपक-प्रकार माना करते हैं । 'नाटक' में अन्य रूपक-प्रकारों की अपेक्षा रञ्जनाधिक्य रहा करता है, अधिकाधिक रसाविर्भाव हुआ करता है और सर्वाङ्गीण अभिनय-सौन्दर्य दिखायी दिया करता है । दशरूपककार ने 'नाटक' को अन्य रूपक-प्रकारों की 'प्रकृति' माना है जिसका सकेत यह है कि प्रकरणादि नाटक के 'विकृति' रूप हैं—

'प्रकृतिस्वादधान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।

संपूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥' (दशरूपक ३१)

किन्तु विकास-क्रम की दृष्टि से यह अधिक स्वाभाविक है कि 'नाटक' को ही 'अङ्क' से आरम्भ कर 'प्रकरण'-पर्यन्त रूपक-प्रकारों का सर्वाङ्गसुन्दर सस्कृत रूप माना जाय । 'नाटक' रचना कितनी बड़ी नाट्य-कला-साधना है इसे 'भावप्रकाशन'कार के इन शब्दों में देख सकते हैं—

'अपि सिध्येत विदुषां मुक्तिरभ्यासकौशलात् ।

न तु नाटकविद्येय सर्वलोकानुरञ्जिनी ॥'

(ख) 'नाटक' शब्द की यह व्युत्पत्ति—

'नाटकमिति नाटयति विचित्र रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदय नर्तयतीति नाटकम् ।

(नाट्यदर्पण १५)

रूपकों में 'नाटक' की महत्ता को स्पष्ट प्रकट कर देती हैं । अन्य रूपकों में भी 'रञ्जना' का समावेश रहा करना है किन्तु 'नाटक' की 'रञ्जना' इतनी विचित्र हुआ करती है कि इससे सामानिकों का हृदय नाच उठता है ।

(ग) नाट्याचार्य भरतमुनि ने नाटक को ही 'नाट्य' का उत्थान (उद्भव) कहा है—

'धर्मार्थसाधनं नाट्य सर्वदुःखापनोदकम् ।

आसेवध्व तदृषयस्तस्योत्थान तु नाटकम् ॥'

और इससे भी रूपक-प्रबन्धों में नाटक की महिमा का पता चल जाता है ।

(घ) नाटक के 'ख्यातघृत्त' होने की मान्यता तो सभी नाट्यशास्त्रकारों की मान्यता है कि इसके नायक के 'दिव्य' होने की बात कतिपय नाट्य, मर्मज्ञ नहीं मानते । नाट्यदर्पणकार ने कहा है—

'नाटकं हि रामवद् वर्तितव्यं न रावणवदिष्टुपदेशपरम् । देवतानां तु दुरुपपादस्य प्यर्थस्येच्छामात्रं एव सिद्धिरिति तच्चरितमशक्यानुष्ठानत्वाच्च मर्त्यानामुपदेशयोग्यम्, ते ये दिव्यमपि नेतार मन्यन्ते, न ते सम्यग्मसत । नायिका तु दिव्यापि भवति यथोर्वशं प्रधाने मर्त्यचरिते तच्चरितान्तर्भावात् । उपदेशानर्हप्रायघृत्तत्वेन दीप्तरसत्वेनैव च समकारादौ दिव्योऽपि नेता न विरुध्यते ।'

(नाटकीय परिच्छेद : अटुत्वस्य और महत्त्व)

प्रत्यक्षनेत्रचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
भवेद्गूढशब्दार्थः लुप्तचूर्णकसंयुतः ॥ १२ ॥
विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्नविन्दुकः ।
युक्तो न बहुभिः कार्यैर्वीजसंहतिमान्न च ॥ १३ ॥
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान् ।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधादिनिर्मितः ॥ १४ ॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः ।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतत्रिचतुरैस्तथा ॥ १५ ॥

अर्थात् नाटक का प्रयोजन मनोरंजन ही नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इसमें नायक को व्यक्त करने के लिये देखा जाने इच्छा मात्र से नाना वस्तुओं का संग्रह करने है। नाटक में गूढ़ शब्दों का इष्ट आवरण है न कि इच्छा मात्र से अनुप्रास-प्रति। वैसे 'मन्वकार' नामक स्तम्भ-भेद में देवविष्टों को नायक बनाया जाता है क्योंकि वहाँ स्तम्भों से ही प्रत्यक्ष जाना है न कि स्तम्भों के अन्तर्गत न गूढ़ वस्तु का अन्वय-प्रति।

, (६) नाटक की रचना का 'गोपुच्छाग्र' माना होता है नाट्य-कार्य अत्यन्त ही नये मान्य है-

'कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्त्तव्यं काव्यवन्धनामाद्य ।

ये चोदात्ता भावास्ते सर्वे प्रष्टव्यं कार्या ॥' (नाट्यशास्त्र २०-४६)

नाटक के 'गोपुच्छाग्र' निर्माण का वास्तविक अभिप्राय यह है—

'गोपुच्छाग्रं कर्त्तव्यं नाट्यवस्तुनि करण्यम् ।

उदात्ता रज्जुका भावा स्थापनीया पुरः पुरः ॥'

गोपुच्छस्य च केना केचित् स्तोत्रनामप्रयापिनं केचिन्मन्त्रावधयः केचिदन्तर्गतापिनः ।
एव प्रवन्धवन्मुत्पतिः । यथा रत्नावल्या प्रमोदोत्पत्तौ मुक्तमन्त्रावधयः निष्ठितः, मुक्तोपहितो
याश्चर्यादिवृत्तान्तश्च निर्वहणारम्भे रत्नावलीप्राप्त्यादयश्च साररूपा पदार्था वन्त इति ।
उदात्ता उत्तमप्रवृत्तियोग्या । अनुदात्ता अपि ये रज्जुका भावास्ते सकलस्यापि प्रवन्धवत्य
स्तारोद्धार्य पुरः पुरोनिवेशनीया ॥' (नाट्यशास्त्र १-१०)

अनुवाद—'अष्ट' नाटक का वह अवच्छेद कथवा अन्तर्विभाग है जिसमें मानाजिकों की दृष्टि नायकचरित का साक्षात्कार किया जाता है, जिसमें रसभावों का अभिव्यञ्जन-सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है, जिसके दृष्ट से कथ और कथ में कवि-रस्य स्वभावतः झटका करता है, जिसमें अमनस्क पदयोजना की एक शोभा दिग्विशी दीया जाती है, जिसमें आधिकारिक वृत्त का एक अंग समाप्त रहा करता है जिसमें अग्रिम इतिवृत्त की आकाश के अन्तर्गत वृत्त की सूक्ष्म सूचना दी गयी रहती है, जिसमें (मानाजिक रस्य की उत्तरोत्तर उत्पत्ति-आदि की दृष्टि में) नायक के कल्पित कथों की ही योजना की गयी होती है, जिसमें 'प्राप्त' अर्थात् नाटक के पारम्परिक रस-भोग के अन्त की इतिश्री नहीं दिखायी जाता करता, जिसमें अनेकानेक घटनादृश का वर्णन रखा जाता है, जिसमें (अग्रवर्ण्य की भाँति) पदों की भरमार नहीं हुयी जाती, जिसमें नायक-दि के निरादि कर्मों के अनुष्ठान के विरुद्ध कर्मों का निरूपण नहीं किया जाता

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ॥

विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यु रतं तथा ॥ १६ ॥

दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्ब्रीडाकरं च यत् ।

शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥ १७ ॥

स्तानानुलेपने चैभिर्वजितो नास्तिविस्तरः ।

देवीपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।

अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः ॥ १९ ॥

बिन्द्यादयो वक्ष्यन्ते । आवश्यकं संध्यावन्दनादि ।

करता, जिसमें ऐसी कथा की रचना नहीं हुआ करती जो कई दिन तक चलती र जिसमें नायक-चरित, साक्षात् चित्रित न होने पर भी, यत्र तत्र अभिव्यङ्ग्य रूप विराजमान रहा करता है, जिसमें तीन या चार पात्रों के अभिनय का आनन्द लि जाया करता है, जिसमें दूराह्वान (दूर से किसी को चिल्लाकर पुकारना) मारक लड़ाई, राज्यविप्लव, देश-विद्रोह, विवाह, भोजन, शाप, मलमूत्रत्याग, मृत्यु, रतिक्री दन्तघत, नखघत, अन्यान्य लज्जास्पद विषय, शयन, अधरपान, नगर अथवा दुर्ग उपरोध, स्नान, अनुलेपन आदि आदि अरक्षक किंवा अरसास्पद विषयों का वर्णन न किया जाया करता, जिसमें राजमहिषी, राजपरिच्छद, राजामात्य, राजनगर, श्रेष्ठी अ आदि के प्रत्यक्ष किंवा मनोरक्षक ऐसे चित्र खींचे हुये रहते हैं जो रसों किंवा भावों स्वभावतः आविर्भावक लगा करते हैं और जिसके अन्त में सभी पात्र अपना-अप अभिनय समाप्त कर रगमच से निकलते दिखायी दिया करते हैं ।

यहां कारिका में 'बिन्दु' आदि का जो निर्देश किया गया है उसका विचार वि आगे किया जा रहा है । 'आवश्यक कार्यों से अवरोध' का अभिप्राय सन्ध्या-वन आदि नित्यकर्मनुष्ठान के अवरोध का अभिप्राय है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरत मुनि ने 'अङ्क' का यह स्वरूप-निरूपण किया है—

‘अङ्क इति रूढिशब्दो भावै रसैश्च रोहयत्यर्थान् ।

नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदङ्कः ॥’

अङ्कसमाप्तिः काव्यच्छेदो न बीजसहार ।

वस्तुष्यापी बिन्दुः काव्यसमुत्थोऽत्र नित्य स्यात् ॥

ये नायका निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचारिसयोगः ।

नानावस्थान्तरितः कार्यस्त्वङ्को यथार्थरसः ॥

नायकदेवीपरिजनपुरोहितामात्यसारथवाहानाम् ।

नैकरसान्तरविहितो द्यङ्क खलुवेदितव्यः सः ॥

एकदिवसप्रवृत्तः कार्यस्त्वङ्कोऽथ बीजमधिकृत्य ।

आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु ।

(नाट्यशास्त्र अध्याय २० चौखम्ब

(अष्टान्तर्गत अष्टः गर्भाः)

अष्टप्रस्तावादुगर्भाङ्कमाह—

अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान् ।

अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सवीजः फलवानपि ॥ २० ॥

या बालरानायणे रावण प्रति कोहलः—

‘श्रवणैः पेयमनेकैश्चर्य दीर्घैश्च लोचनैर्वहुभिः ।

भवदर्थमित्र तिवद्धं नाट्य सीतास्वयवरणम् ॥’

इत्यादिना विरचितः श्रीनाम्न्यवरो नाम गर्भाङ्कः ।

(नाटक-प्रयोग की प्रक्रिया : पूर्वरङ्गविधान)

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम् ।

कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याऽप्यथामुखम् ॥ २१ ॥

तत्रेति नाटके ।

उपाय ही है जिसे नाटककार 'सूच्य'वस्तु के अल्पतम काल-न्यापी होने पर अपनाया करता है। 'गर्भाङ्क' की योजना के अलग-अलग उद्देश्य हैं। कहीं तो यह रसोत्कर्ष के लिये रचा गया है, जैसे कि उत्तररामचरित में, कहीं नायकोत्कर्ष के लिये, जैसे कि बालरामायण में और कहीं वस्तुत्कर्ष के लिये जैसे कि 'अमोघराघव' में। रसार्णव सुधाकरकार ने इसीलिये कहा है—

‘रस-नायक-वस्तूनां महोत्कर्षाय कोविदैः।

अङ्कस्य मध्ये योऽङ्कः स्यादयं गर्भाङ्क ईरितः ॥’

(रसार्णवसुधाकर • ३ य विलास)

अनुवाद—नाटक के प्रयोग की यह प्रक्रिया है—

सर्वप्रथम पूर्वरङ्गविधान, तदनन्तर रङ्गसभापूजन, तत्पश्चात् नाटककवि किंवा नाटक के नाम का सकीर्तन और अन्त में 'आमुख' अथवा प्रस्तावनाविधि ।

यहाँ ('तत्र पूर्वं' आदि कारिका में) 'तत्र' से अभिप्राय नाटक से है (न कि अङ्क अथवा गर्भाङ्क से) ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार का विषय 'नाटक-रचना' है न कि नाटक प्रयोग। किन्तु प्राचीन नाट्यशास्त्रकारों की परम्परा के अनुसरण में साहित्यदर्पणकार ने नाटक-प्रयोग की प्राचीन मर्यादा का भी संकेत करना आवश्यक समझा है और इसीलिये यहाँ पूर्वरङ्ग आदि की प्रक्रिया का उल्लेख कर दिया है। वस्तुतः साहित्यदर्पणकार का 'पूर्वरङ्ग' नान्दीगायन है न कि प्राचीन रंगमंच का 'द्वाविंशदङ्गात्मक' (२२ अङ्गोंवाला) पूर्वरङ्ग ।

(ख) 'पूर्वरङ्ग' क्या है ? इसे जानने के पहले 'रङ्ग' किसे कहते हैं ? यह जानना आवश्यक है। 'रंग' का अभिप्राय यह है—

‘सभापतिः सभा सभ्या गायका चादका अपि ।

नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुवृत्तनात् ॥

अतो रङ्ग इति ज्ञेयं पूर्वं यस्स प्रकल्प्यते ।

तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिर्मरुच्यते ।

कला पाता पादभागाः परिवर्ताश्च सूरिभिः ॥

पूर्वं क्रियन्ते यद्गङ्गे पूर्वरङ्गो भवेदतः ।

(भावप्रकाशन : ७ अधिकार)

अर्थात् सामाजिकजन किंवा अभिनेतृवृन्द के चित्तरञ्जन की उद्भवभूमि का नाम 'रङ्ग' है। नाटक के प्रयोग के पहले गीत किंवा वाद्य-विधान ही वह साधन है जिससे चित्त अधिकाधिक एकाग्र हो सकता है और नाटक के प्रति उन्मुख हो सकता है। 'रङ्ग' में (अथवा रङ्गमञ्च पर) सगीत का यह आयोजन ही 'पूर्वरङ्ग' है। 'प्रत्याहार' अथवा मृदङ्गादि वाद्य-यन्त्रों के एकत्रीकरण से आरम्भ कर 'महाचारि' अथवा गायक-चादकों के मण्डलादि प्रचार-पर्यन्त की क्रियाविधि 'पूर्वरङ्ग' की रूप रेखा है। 'पूर्वरङ्ग' की यह विधि साहित्यदर्पणकार के समसामयिक 'रङ्ग' के लिये एक स्मृतिमात्र थी। १४ शताब्दी का रङ्गमञ्च 'नान्दीनायन' में ही 'पूर्वरङ्ग' की समस्त रूपरेखा का आभास पा लिया। साहित्यदर्पणकार ने इसी दृष्टि से यहाँ 'पूर्वरङ्ग' का संकेत किया है।

पूर्वरत्न नान्दीगायन

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ २२ ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाऽप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ २३ ॥

(नान्दी क्या है)

तस्याः स्वरूपमाह—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनुपादोनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ २४ ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राञ्जकौकुरवशसिनी ।
पदैर्युक्ताद्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥ २५ ॥

(ग) 'पूर्वरत्न' विधान के बाद रत्नना-पूजन अपेक्षित माना गया है क्योंकि रत्न समानता के लिये ही पूर्वरत्न की भूमिका आवश्यक मानी गयी है । नाटक तथा त्वनान्दीर्तन आदि प्रकार किन्वा नर्तों के 'वाङ्मयकलाप' में अन्तर्भूत माना गया है—

'वाङ्मयकलापस्तु कवेरभीष्टार्थप्रकाशनम् ।
स्वाभिधेयगतत्वेन तद्विधा परिपश्यते ॥
स्वगत तु स्वगोत्रादि स्वस्य कीर्तिप्रकाशनम् ।
स्वाभिधेयगत यत्तत् काव्यनाम्ना प्रकाशनम् ॥' (भावप्रकाशन)

अनुवाद—'रत्न' अथवा नाट्यमण्डप की विघ्न-शान्ति (किन्वा मङ्गलाशान्ति) के लिये, ऋष्यप्रयोग के पहले, नर्तों के द्वारा किया गया जो भी माङ्गल्य गायनवादनदि है वह 'पूर्वरत्न' कहा जाता करता है । यद्यपि यह 'पूर्वरत्न' प्रत्याहार (तन्त्री, भाण्ड आदि के समानयन) आदि अनेकानेक क्रियाकलापों का सम्मिलित रूप है किन्तु तब भी इसके प्रमुख अंग 'नान्दीगायन' का अनुष्ठान अवश्य किया जाना चाहिये क्योंकि अधिकाधिक विघ्नशान्ति का सम्बन्ध हम 'नान्दी' गायन के ही साथ है ।

विमर्श—'नान्दी' और 'रत्नविशान्ति' का अद्वैत सम्बन्ध है जैसा कि भावप्रकाशन में इन दोनों का वर्णन है—

'नन्दी वृषो वृषाह्वय जगदादी जगत्पते ।
वृषतः कल्पनायोगाजगाम क्लृप्त रत्नताम् ॥
तस्य तद्रूपमग्रगण्यत पूजा नान्दीति कथ्यते ।
देवतादिमन्त्रकारमन्त्राचारमन्त्रावृत्ते ॥
या क्रिया मन्त्रानेनाट्यारम्भे नान्दीति मन्त्रुता ।

(भावप्रकाशन : भाग १, पृष्ठ १००)

अनुवाद—नान्दी स्वल्प-निरूपण—

'नान्दी' देव, द्विज, वृष आदि की ऐसी स्तुति-गीति है जिसमें रत्न-समानाङ्गियों की शोभाशान्ति का अभिप्राय गर्भित रखा करता है । हम नान्दी-गीति के लिये यह अपेक्षित

अष्टपदा यथा अनर्घराघवे—‘निष्प्रत्यूहम्’ इत्यादि । द्वादशपदा यथा मातातपादानां पुष्पमालायाम्—

शिरसि धृतसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री ।

अथ चरणयुगान्ते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः ॥

एवमन्यत्र ।

(पूर्वरङ्ग का अङ्ग - नान्दी अथवा रङ्गद्वार)

एतन्नान्दीति कस्यचिन्मतानुसारेणोक्तम् । वस्तुतस्तु ‘पूर्वरङ्गस्य रङ्गद्वारा विधानमङ्गम्’ इत्यन्ये ।

है कि इसके द्वारा शख, चक्र, पद्म, चक्रवाक, कैरव आदि मङ्गलास्पद वस्तुओं । अभिव्यञ्जना हो जाय । यह ‘अष्टपदा’ भी हो सकती है और ‘द्वादशपदा’ भी ।

‘अष्टपदा’ नान्दी का उदाहरण (महाकवि मुरारि कृत) ‘अनर्घराघव’ की ‘निष्प्रत्यूहमुपास्महे’ आदि नान्दी-गीति है । और ‘द्वादशपदा’ नान्दी का निदर्शन, मेरे ही पूज्यपि चरण की, ‘पुष्पमाला’ (नाटिका) की नान्दी है (जिसका अभिप्राय यह है)—

‘वह देवी पार्वती आप सामाजिकों का मगल करें जिनका मुख-चन्द्र, भगवान् शङ्कर के मस्तक पर विराजमान भगवती गङ्गा के दर्शनमात्र से लाल हो जाया करता है और चरणों पर (मानापनयन के लिये) झुके भगवान् शङ्कर के दर्शन से मन्द मुसकान से स्निग्ध दिखायी दिया करता है ।

इसी भाँति अन्य रूपक-प्रवन्धों में ‘अष्टपदा’ अथवा ‘द्वादशपदा’ नान्दी का स्वरूप स्वयं देखा जा सकता है ।

विमर्श—‘अनर्घराघव’ की अष्टपदा नान्दी का पूर्णरूप यह है—

निष्प्रत्यूहमुपास्महे भगवतः कौमोदकीलचमणः

कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने ।

याम्यामर्धविवोधमुग्धमधुरश्रीरर्धनिद्रायितो

नाभीपल्लवलपुण्डरीकमुकुलः कम्बोः सपत्नीकृतः ॥’

ऐसा लगता है जैसे ‘अनर्घराघव’ के रचयिता ने शखादि समस्त मङ्गल वस्तुओं की सूचना का अभिप्राय अपने मन में रखते हुये इस नान्दी की रचना की है ।

‘नान्दी’ की यह व्युत्पत्ति है—

‘नन्दयति देवादीन् स्तुरया, आनन्दयति च सभ्यान् स्तुतदेवप्रसादादिति नान्दी ।’

उपर्युक्त ‘नान्दी’-लक्षण (आशीर्वचनरूप नान्दी-लक्षण) वस्तुतः नाट्याचार्य भरत मुनि-सम्मत पूर्वरङ्गाङ्गभूत ‘नान्दी’-लक्षण नहीं, अपि तु कतिपय अन्य नाट्यशास्त्रकारों का नान्दी लक्षण है । उपर्युक्त ‘नान्दी’-लक्षण, जैसा कि कुछ नाट्यमर्मज्ञों का कहना है, ‘पूर्वरङ्ग’-विधान के एक अङ्ग ‘रङ्गद्वार’ का लक्षण है । इसीलिये कतिपय नाट्याचार्यों (जैसे कि भावप्रकाशनकार आदि) का कहना है—

‘सामाजिकों के लिये आशीर्वचन (नान्दी) के पहले ही रङ्गशाला में जो नाट्यारम्भ के लिये नटों द्वारा (देवादि स्तुति रूप) वाचिक किंवा (कर शिरः सयोगादि रूप) आङ्गिक अभिनय किया जाया करता है वह (रङ्ग में किये जाने वाले नाटक-प्रयोग के द्वार अथवा उपक्रम रूप होने के कारण) ‘रङ्गद्वार’ नामक पूर्वरङ्ग का अङ्ग है (न कि यहाँ आशीर्वचनात्मक सूत्रधारकृत नान्दी की कोई संभावना है)’ ।

उक्तम्—

‘यस्मादभिनयो ह्यत्र प्रायन्यादवतार्यते ।

रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥’ इति ।

उक्तप्रकारायाश्च नान्या रङ्गद्वारात्प्रथम नटैरेव कर्तव्यतया न महर्षिणा
देशः कृतः ।

कालिदासादिमहाकविप्रवन्धेषु च—

वेदान्तेषु यमादुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो व्युत्थार्याश्वरः ।

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते ॥ (१५) ॥ ३८४

(१५) स स्थाणु स्थिरभक्तियोगसुलभो नि प्रेयसायास्तु वः ॥

एवमादिषु नान्दीलक्षणायोगान् । उक्तं च—‘रङ्गद्वारमारभ्य कवि कुर्यान्—’
इत्यादि । अत एव प्राक्तनपुस्तकेषु ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार’ इत्यनन्तरमेव ‘वेदा-
न्तेषु—’ इत्यादि श्लोकले(लि)खन दृश्यते । यच्च पश्चान् ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार,’
इति ले(लि)खन तस्यायमभिप्रायः—‘नान्द्यन्ते सूत्रधार इव प्रयोजितयान्,’
इतः प्रभृति मया नाटकनुपाशीयन इति कवेरभिप्रायः सूचितः इति ।

नाट्याचार्य भरतमुनि ने पूर्वर्ग के जहाँ में ‘रङ्गद्वार’ के पहले जिस ‘नान्दी’ नामक
लग का निर्देश किया है वह नटों द्वारा ही अनुष्ठित हुआ करता है और इसलिये नाटक-
कार का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं । ऐसा क्यों ? इसलिये कि कालिदास आदि
महाकवियों की नाटक कृतिओं में जो ‘नान्दी’ जैसा कि—

‘स्थिर भक्ति के द्वारा ही सबेद्य और सुलभ वे निर्विकार भगवान् गहूर आप
सामाजिकों का परम कल्याण करें जिन्हें वेदान्त की रहस्यात्मक सुन्दर आभाष में
मयत्र व्याप्त ‘एकमेवाद्वितीयम्’ तब के रूप में गाया करती हैं, जिनके लिये ‘ईश्वर’ शब्द
ही एकमात्र सार्थक किंवा तत्त्वसूचक माना गया है और जिन्हें मुमुक्षुजन, अपने अन्तरात्म
में पाने के लिये, समाधि-साधना का महारा लिया करते हैं ।’

पादि, है उसमें पूर्वर्ग के जन्मूत नान्दी का लक्षण नहीं घटित होता (क्योंकि
ह ‘नान्दी’ तो नाटककार द्वारा रचित नान्दी है और नाटक में सम्बन्ध है न कि नाटक
पूर्वर्ग-विधान में) । ऐसा ही ‘नान्दी’ के सम्बन्ध में नाट्याचार्य भरतमुनि ने कहा है—

‘कवि को अपने नाटक का प्रारम्भ ‘रङ्गद्वार’ में करना चाहिये (क्योंकि रङ्गद्वार के
जहाँ की नान्दी-रचना नटों की नान्दी-रचना है और रङ्गद्वार (रूप नान्दी) की रचना
नाटककार की कृति है) ।’

वस्तुतः यही कारण है कि अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाटकों की प्राचीन प्रतिलिपिओं
में ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार’ (नान्दी की समाप्ति के बाद सूत्रधार का प्रवेश) लिखा हुआ है
और वन ‘वेदान्तेषु यमादुरेकपुरुषम्’ आदि नाटककार रचित नान्दी (रङ्गद्वार) का
उल्लेख किया हुआ है । कालान्तर में नाटकों की प्रतिलिपिओं में ‘वेदान्तेषु यमादुरेक
पुरुषम्’ आदि लिखने के साथ ही ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार’ का निर्देश किया गया है उसका
यह अभिप्राय है कि पूर्वर्ग के जन्मूत नान्दी के बाद ‘वेदान्तेषु’ आदि नाटककार
रचित नान्दी गायन (रङ्गद्वार-रचना) सूत्रधार का कार्य है जिसके दशव कवि का
नाटक प्रारम्भ होता है ।

(स्थापना)

पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते ।

प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः ॥ २६ ॥

१६-२१, ३॥११॥ दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।

सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ २७ ॥

काव्यार्थस्य स्थापनात्स्थापकः । तद्वदिति सूत्रधारसदृशगुणाकारः । इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक्प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति व्यवहारः । स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा, मर्त्यं मर्त्यो भूत्वा, मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् ।

विमर्श—‘नान्दी’ के सम्बन्ध में नाट्यदर्पणकार का यह कथन है—

‘नान्दी’ च पूर्वरङ्गाङ्गानां द्वादशमङ्ग सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपालङ्घिका, तेन ‘नान्त्ये सूत्रधार’ इत्यस्य सकलपूर्वरङ्गाङ्गानि तु केषाञ्चिद्व्योक्तप्रसिद्धत्वात् केषाञ्चिद्व्योक्तप्रसिद्धत्वात् केषाञ्चिदनवश्यभावित्वाच्च न लक्ष्यन्ते । नान्दी तु अवश्यभावित्वान्मङ्गलाभिधानपूर्वकत्वाच्च शुभकृत्यारम्भस्येति लक्षिता । अत एव कवयो रूपकारम्भे ‘ननद्यन्ते सूत्रधार’ इति पठन्ति । यत्र तु कविकृता नान्दी न दृश्यते तत्रापि रङ्गसूत्रणाकर्तृकृता द्रष्टव्या । नान्दी पाठकाश्च सूत्रधार-स्थापक-पारिपाशिका इति (नाट्यदर्पण ४ र्थ विवेक) ।

अनुवाद—जब कि सूत्रधार पूर्वरङ्ग-विधान के बाद रङ्गमञ्च से उतर जाता है तब सूत्रधार का एक समकक्ष नट, जिसे ‘स्थापक’ कहा जाया करता है, रङ्गमञ्च पर आकर नाटक-प्रयोग की आस्थापना करता है । स्थापक के द्वारा नाटक प्रयोग की यह आस्थापना अथवा उपक्रमणिका ही ‘स्थापना’ कही जाया करती है । यदि नाटकीय वस्तु दिव्य हो तो देव-भूमिका में, यदि अदिव्य हो तो मानव-भूमिका में, और यदि दिव्यादिव्य हो तो देव अथवा मानव-भूमिका में स्थापक का प्रवेश हुआ करता है । स्थापक का कार्य सामाजिकों के प्रति नाटकीय वस्तु (इतिवृत्त) अथवा नाटक के बीज अथवा मुख या पात्र की सूचना है ।

‘स्थापक’ शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है कि ‘स्थापक’ वह है जो (सामाजिकों के समक्ष, रङ्गमञ्च पर) काव्य (वस्तुतः नाट्य) के अर्थ की स्थापना करे । कारिका में ‘स्थापक’ के ‘तद्वत्’ कहे जाने का अभिप्राय है—सूत्रधार के समान अभिनयादि में निपुण होने का । आजकल (विश्वनाथ कविराज के समसामयिक) नाटकों के प्रयोग में नान्दी किंवा स्थापना आदि समस्त कार्य केवल सूत्रधार ही सम्पादित किया करता है क्योंकि पूर्वरङ्ग-विधान की प्राचीन सम्पूर्ण प्रक्रिया का प्रचलन अब कहां ? स्थापक द्वारा नाटकीय वस्तु-सूचना में यह आवश्यक है कि दिव्य वस्तु की सूचना दिव्य-भूमिका में मर्त्य वस्तु की सूचना मर्त्य-भूमिका में और दिव्य-मर्त्य वस्तु की सूचना दोनों में से किसी एक की भूमिका में की जाय । यहां ‘वस्तु’ का अभिप्राय ‘इतिवृत्त’ का अभिप्राय है । जैसे कि ‘उदात्तराघव’ की इस सूक्ति अर्थात्—

वस्तु इतिवृत्तम् . यथोदात्तराघवे—

रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाह्वा गुरो-^{१२१}

स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिल मात्रा सहैवोष्मिन् । ^{१२२}

तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परामुन्नति-^{१२३}

प्रोत्सिक्ता दशकधरप्रभृतयो ध्वस्ता समस्ता द्विष ॥

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिषेदिशोऽप्यन्तान् ।

आनीय ऋदिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

अत्र हि समुद्रे प्रवहेण भङ्गमभ्योत्थिताया रत्नावल्या अनुकूलदैवलालितो
वत्सराजगृहप्रवेशो यौगन्धरायणव्यापारमारभ्य रत्नावलीप्राप्तौ बीजम् । मुख्य
रत्नेपादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः ।

यथा—

आत्तादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः प्राप्त शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः ।

उत्तमाय गाढतमस घनकालमुन रामो दशास्यमिव सभृतवन्धुजीवः ॥

'राम तो पिता की आज्ञा को, नाला की भाति, सिर से स्वीकार कर, वनवास के लिये
जल पड़े, उनकी भक्ति में विभार भरत ने अपनी मा के साथ-साथ कयोध्या का राज्य
छोड़ दिया, सुग्रीव और विभीषण राम का साथ देने के कारण अपने-अपने अन्धुदय की
पराछाया पर जा पहुँचे और अभिमान में चूर रावण आदि शत्रुगण का सर्वनाश हो गया ।'
में जा सूचना है वह हम नाटक के इतिवृत्त की सूचना है ।

'बीज' की भी सूचना दी जाया करती है जैसे कि (महाकवि हर्ष की) 'रत्नावली'
की हम सूक्ति बर्थात्—

'होनी भी कितनी विचित्र है कि यदि सहायता करना चाहे तो क्या द्वीप-द्वीपान्तर,
क्या अपार पारावार और क्या दिग् दिगन्त, जहा से भी हो, सभी अभिलक्षित वस्तुओं को
अविलम्ब उपस्थित कर देती है ।'

में, जो सूचना है वह 'बीज' की ही सूचना है क्योंकि प्रवहेणभङ्ग (जहाज के टूट
जाने) के कारण हृदये पर भी घट कर निकल जाने वाली रत्नावली के, सौभाग्यवत,
वत्सराज (उदयन) के राजप्रासाद में प्रवेश किंवा महामन्त्री यौगन्धरायण के नीति-
व्यापार का यह सब उपदेश रत्नावली-रामरूप वृत्त-चर का 'बीज' ही है जिसे यहाँ
(सामाजिकों के समक्ष) सूचित कर दिया गया है ।

यहाँ मुख का अभिप्राय रत्नेपादि के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त के प्रतिपादक वचनोप-
निबन्ध का अभिप्राय है । जैसे कि निम्न सूक्ति बर्थात्—

'राम की भाँति शरद्वर्षु आ पहुँची । जैसे राम ने रावण का महाप्रनापी 'चन्द्रहाम'
'भानक रा' अपना लिया वैसे ही शरद्वर्षु ने भी 'चन्द्रहाम' (चन्द्रमा की घाँदनी को)
अपना लिया, जैसे राम की कान्ति निष्कल रही वैसे ही शरद् की भी शोभा अनिमित्त
है और जैसे राम ने महातामसिक, महार्योभन्स, दशानन रावण का विनाश कर 'वन्धुजीव'
(अपने भाई लक्ष्मण के जीवन) की रक्षा की वैसे ही शरद्वर्षु ने भी वन्धुजागृह
किंवा सौम्य वर्षाकाल का अन्त कर 'वन्धुजीव' (पुष्पविनेष) की रक्षा कर दी है ।'

पात्रं यथा शाकुन्तले—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ ५८ ॥

(स्थापना में भारतीवृत्ति)

सामाजिक

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।

रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ॥ २८ ॥

ऋतुं च कश्चित्प्रायेण भारतीं वृत्तिमाश्रितः ।

स स्थापकः । प्रायेणेति कचिद्वतोरकीर्तनमपि । यथा—रत्नावल्याम् ।

में जो सूचना है वह 'मुख' की सूचना है (क्योंकि श्लेष पदावली द्वारा प्रकृत कथा सूचित की जा रही है) ।

इसी भांति 'पात्र' की भी सूचना दी जाया करती है जंसे कि (महाकवि का के) 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की इस सूक्ति अर्थात्—

अरी ! तेरा यह मनोहर संगीत-माधुर्य तो मुझे अपनी ओर ऐसे खरबस खींच रहा है जैसे वह अतिवेगशाली सारङ्ग (हिरण) राजा दुष्यन्त को अपनी ओर खींचता चला जा रहा है ।

में, जो सूचना है वह 'पात्र' (राजा दुष्यन्त की भूमिका में नटविशेष) के (रंगमञ्च पर) उपस्थित होने की सूचना है ।

विमर्श—'सूत्रधार' और 'स्थापक' का भेद प्राचीन 'रङ्गमञ्च' के लिये अवश्य रहा होगा किन्तु साहित्यदर्पणकार के समकालीन 'रङ्गमञ्च' पर 'पूर्वरङ्ग सूत्रधार' और 'नाटक-सूत्रधार' एक ही नट-विशेष हुआ करता था । नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'स्थापक' का विशद लक्षण किया है—

'प्रयुज्य विधिनैवं तु पूर्वरङ्गं प्रयोगत । स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः । स्थापकस्य प्रवेशे तु कर्तव्यार्थानुगा ध्रुवा । तुचरस्त्रास्थवा ज्यस्त्रा तत्र मध्यलयाश्रिता । कुर्यादन्तरचरारिं च देवव्राह्मणशसिनीम् । सुवाक्यमधुरैः श्लोकैर्नानाभावरसान्वितैः । प्रसाद्य रङ्गं विधिवत् कवेर्नामानुकीर्तयेत् । प्रस्तावनांततः कुर्यात् काव्यप्रख्यायनाश्रयम् । दिव्यो दिव्याश्रयैर्भूत्वा मानुषो मानुषाश्रयैः । दिव्यमानुषसयोगो दिव्यो वा मानुषोऽपि वा । मुखं बीजानुसदृशं नानामार्गसमाश्रयम् । नानाविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत् ॥'

(नाट्याशास्त्र ५ १६३-१७०)

जिसका अभिप्राय यह है कि नाटक की प्रस्तावना 'स्थापक' का कार्य है न कि पूर्वरङ्ग-सूत्रधार का ।

अनुवाद—स्थापक की यह 'स्थापना' भारतीवृत्ति-प्रचुर हुआ करती है क्योंकि इसका उद्देश्य अभिनेय-काव्य के वृत्तान्त सूचक, मधुर श्लोकों द्वारा सामाजिकों को प्रसन्न करना, अभिनेय रूपक-प्रकार का नाम-सकीर्तन, कवि का नाम-निर्देश, कवि के पूर्वपुरुषों का नामोल्लेख किंवा कदाचित् किसी ऋतु का वर्णन आदि हुआ करता है ।

यहाँ कारिका में 'स' (वह) का अभिप्राय 'स्थापक' का अभिप्राय है (न कि सूत्रधार का) और 'प्रायेण' (प्रायः) से यह समझना चाहिये कि कहीं-कहीं ऋतुकीर्तन नहीं भी किया जाया करता । जैसे कि 'रत्नावली' की जो स्थापना है उसमें उपर्युक्त स्थापना-लक्षण सर्वथा अनुगत दिखायी देता है ।

विमर्श—आजकल जैसी विशापन की सामग्री के अभाव में, प्राचीन भारतीय रङ्गमञ्च 'स्थापना' के ही सहारे, रूपकों के अभिनय का तत्काल विशापन किया करता था । आजकल कि

(भारतीयता का स्वरूप-संकीर्ण)

शरतीवृत्तिस्तु—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥ २६ ॥

संस्कृतबहुलो वाक्प्रधानो व्यापारो भारती ।

(भारतां दृष्टि के अ. १ प्ररोचना)

तस्याः प्ररोचना वीर्या तथा प्रवसनामुखे ।

अज्ञान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना । ३० ॥

प्रस्तुताभिनयेषु प्रशंसात. श्रोतृणा प्रवृत्त्यन्मुखीकरण प्ररोचना । यथा रत्ना-
चाम्—

'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिपश्येषा गुणब्राहिणी.

लोके हारि च वत्सराजवरितं नाशये च दक्षा वयम् ।

वस्तुवैकल्यपीडं वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुनः ।
नैकान्योपचयाद्यं समुचितः सर्वो गुणानां गेयः ॥

१७६३-१७६४ ई. में अंग्रेजों ने मद्रास में ब्रिटिश सरकार की स्थापना की।
 १७६४-१७६५ ई. में अंग्रेजों ने मद्रास में ब्रिटिश सरकार की स्थापना की।
 १७६५-१७६६ ई. में अंग्रेजों ने मद्रास में ब्रिटिश सरकार की स्थापना की।

प्रश्न—भारतीयता क्या है ?

नारदीयुनि मर्गों का वह वचन-ग्रन्थ है जो सत्य-प्रचुर होना करना है।

यहाँ 'मन्त्रप्रदाय' का अभिप्राय 'मन्त्रप्रचुर' लयवा मन्त्र-बहुल का है (क्योंकि
तहाँ प्राचुर वाग-दायार भी भारतीयवृत्ति में ही लब्धमान है) और 'वाग्दारा'
अभिप्राय वाचिकमन्यप्रधान वचन विन्यास है (तात्पर्य यह है कि—आदिकवि
केवल यहाँ लय मात्रा में ही रुका करते हैं)। 'भारती' शब्द ही यह सिद्ध कर देता है
यह वृत्ति वक्त्रप्रधान वृत्ति है।

मानवी कृति अत्यनुष्ठानिक कृति है। इसके चार स्तर हैं—(१) प्रोचना, (२) वीथी, (३) प्रहसन और (४) आनुव। इनमें से (१) प्रोचना है उसका अन्नाय रूपकादि की प्रशंसा के द्वारा मानाजिकों को अभिनन्दन के प्रति उत्सुक-कृत करना है। 'प्रोचना' शब्द का ही अभिप्राय किसी के मन को किसी ओर लुभाना। रूपक की 'प्रोचना' भी रूपक कथा रूपककार आदि की महिमा के वर्णन के रा, मानाजिकों की मनोरञ्जनक प्रवृत्ति को प्रत्युत अभिनन्दन के प्रति आकृष्ट किया जाता है। जैसे कि रमायणी की यह 'प्रोचना'—

‘जिम रूपक के रचयिता भी हर्ष मरीचे महाकवि हों, जिम रूपक के दर्शक हमारे माझिमें मरीचे सामाजिक हों, जिम रूपक का इन्सित उदयन-वृन्त मा मनेरज्जु मान हो, जिम रूपक के अभिनेता हमारे नटों मरीचे नट हों, भला हमको मरना क्या करना । जहाँ हममें एक-एक भी निवेता अभिनेर के मनेरगति मरना का र हो बहा हमारा यह सम्राज्य है कि सभी को सभी निवेतायें बहा प्रत्यय विराजमान हैं।’

विशेषः—संस्कृत-भाषा-वर्णमाला-प्रमाणेन लिखितम्।
संस्कृत-भाषा-वर्णमाला-प्रमाणेन लिखितम्।

(२ वीथी, ३ प्रहसन)

वीथीप्रहसने वक्ष्यते ।

(४—आमुख प्रस्तावना)

नदी विदूषको वापि पारिपाश्विक एव वा ।

सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥ ३१ ॥

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।

आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥ ३२ ॥

सूत्रधारसदृशत्वात् स्थापकोऽपि सूत्रधार उच्यते । तस्यानुचरः पारिपाश्विकः, तस्मात्किञ्चिद्भूतो नटः ।

‘अङ्गचतुष्टय’ का अभिप्राय वस्तुतः ‘अशचतुष्टय’ है । कारण यह है कि वीथी और प्रहसन रूपक-भेद हैं, रूपक-अङ्ग नहीं । इसलिये वीथी और प्रहसन को भारतीयवृत्ति का अंग नहीं अश ही मानना युक्तियुक्त है । भरतमुनि ने ‘प्ररोचना’ का यह लक्षण और प्रयोजन बताया ‘जयाभ्युदयिनी चैव मङ्गल्या विजयावहा । सर्वपापप्रशमनी पूर्व्वरङ्गे प्ररोचना उपक्षेपेण काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया । सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना’ (नाट्यशास्त्र २०-२८, २)

‘प्ररोचना’ की यह व्युत्पत्ति—

‘प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतया ध्रियते प्रकृतोऽर्थोऽनयेति प्ररोचना’

ही प्ररोचना की प्रक्रिया का रहस्य स्पष्ट कर देती है और प्ररोचना का जो प्रकृत अर्थ है वह यह ‘पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या प्रस्तुतप्रचन्द्रार्थस्य प्रीत्यादिहेतुस्वप्रशसनेन सामाजिकानां अचलोकनोत्साहोत्पादनम्—(नाट्यदर्पण) ।

अनुवाद—(२) वीथी और (३) प्रहसन क्या हैं ? इसका निरूपण (रूपक-निरूपण के प्रसङ्ग में, क्योंकि वीथी और प्रहसन रूपक के भी भेद हैं, जिनकी का विशेषता प्रस्तावना के अनुकूल हुआ करती है और प्रस्तावना में अपेक्षित मानी करती है) आगे कर दिया जायगा ।

विमर्श—‘वीथी’ और ‘प्रहसन’ भारतीयवृत्ति के अङ्ग हैं—अभिप्राय यह है कि ये वाग्व्यापार-प्रधान होने के कारण भारतीयवृत्ति के प्रकार-भूत हैं । अमिनवभारतीकार ने कहा ‘अङ्गस्त्वमिति अष्टास्व प्राप्ता इत्यर्थः । अन्यथा यदि रूपकस्याङ्गत्व प्राप्ता इत्युच्यते वीथी प्रहसन च रूपकभेदं न तु रूपकस्याङ्गम्’ । (नाट्यशास्त्र : अमिनवभारती, २०-२)

अनुवाद—रूपकों की ‘प्रस्तावना’ वस्तुतः उनका वह ‘आमुख’ है जिसमें नदी विदूषक अथवा पारिपाश्विक (सूत्रधार का अनुचर नट) सूत्रधार के साथ ऐसा आसलाप किया करते हैं जिसमें प्रस्तुत अभिनय का आक्षेप करने वाले, स्वस्वविषयक भाव के सूचक चित्र-विचित्र वाक्यों का प्रयोग हुआ करता है ।

यहां कारिका में ‘सूत्रधार’ का अभिप्राय ‘स्थापक’ का है क्योंकि स्थापक भी सुसदृश नट होने के कारण ‘सूत्रधार’ ही कहा जाया करता है । यहां ‘पारिपाश्विक’ अभिप्राय स्थापक अर्थात् सूत्रधार के अनुचर नट का अभिप्राय है । ‘पारिपाश्विक’ अनुचर नट होने से यह समझा जाया करता है कि यह नट स्थापक की अपेक्षा अदृश्यपूर्ण नट हुआ करता है ।

(प्रस्तावना के पाचभेद : नामनिर्देश)

उद्धात्य(त)कः कथोद्धातः प्रयोगातिशयस्तथा ।

प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ॥ ३३ ॥

(१—'उद्धात्यक' प्रस्तावना)

तत्र—

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः ।

योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्धात्य(त)क उच्यते ॥ ३४ ॥

यथा मुद्राराक्षसे सूत्रधारः—

विमर्श—'आमुख' का सरलार्थ सूत्रधार के साथ नदी अथवा विदूषक अथवा पारिपाक्षिक अथवा तीनों) का प्रस्तुताक्षेपी भाषा है जो स्पष्ट अथवा वक्र दोनों प्रकार का हो सकना है । आत्यदर्पाकार ने इसीलिये कहा है—

'विदूषक-नदी-भाषे' ध्यस्तैस्सामस्तैर्वा सह सूत्रधारस्य रत्नसूत्रगाकर्तुं सूत्रधारगुणानु-
गतरस्य वा नाव्यार्थस्य स्थापनाकर्तुं स्थापकस्य प्रस्तुतस्य काव्यार्थस्यापि उपस्थापक भाषण
क्रोके साक्षाद्विवक्षितार्थस्याऽप्रतिपादके स्वरूपे साक्षाद्विवक्षितार्थप्रतिपादके च यत्
वस्थाभिप्रायोरक्षीर्तनं तदामुखम् । 'आङ् मर्यादायाम्' तेन मुखमन्धि सम्प्राप्य निवर्तते ।
रूपद्वये वा तत् ईषन्मुत्तु मुखमन्धिसूत्रकत्वादारम्भम् । प्रस्तावनाशब्देनाप्येतदुच्यते । इदं
तावदामुख नाव्यात् पृथग्भूतम् । तत्र कदाचिद् रत्नसूत्रपितैवानुत्तार्थमनुतिष्ठति । तथा
इदम्यते-नान्यन्ते सूत्रधारः । नान्यन्त इत्यवयवे समुदायोपचारात् पूर्ववदन्त इति
दृष्टव्यम् । नान्दी हि पूर्ववत्स्यात्तम् । अत्र च पक्षे आमुत्तार्थस्य सूत्रधारविषयत्वान्मुख-
स्थे प्रभृति कवेर्व्यापारः । कदाचित् सनान्दीक रत्नमुद्राय विधान्ते सूत्रधारे तत्तुल्यगुणा
मिति स्थापक आमुत्तमनुतिष्ठति । अत्र च पक्षे आमुत्तानुष्ठानेऽपि कवेर्व्यापारः । स्थापकस्य
सूत्रधारानुकारिणो रामानुकारिणो नटरस्येव कविर्नैव प्रवेष्टात् । (नटरस्येव कविर्विवे)

अनुगत—'प्रस्तावना' (अथवा आमुख) के ये पाच प्रकार हुआ करते हैं—(१) उद्धा-
त्यक (अथवा उद्धातक), (२) कथोद्धात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवर्तक और
(५) अवलगित ।

विमर्श—नाट्यनाट्य भानुनि ने प्रस्तावना-भेद का उल्लेख किया है—

आमुत्तान्त्वान्तो वपये यथावदनुपूर्वम् ।

उद्धात्यक कथोद्धात प्रयोगातिशयस्तथा ।

प्रवर्तकावलगिते पञ्चाङ्गान्यामुत्तस्य तु ॥ (नाट्यशास्त्र १००३३)

नीचे पर भा बताया है कि एक स्वरूप प्रत्येक में इन पाँचों में से किसी एक का ही चयन
करा जाता है—

'एषामन्यतमं हिष्ट योजयिगाऽर्थमुक्तिम् ।

पात्रप्रत्येकस्यैव प्रवर्तकानुत्त तत् ॥' (नाट्यशास्त्र १०३३३)

अनुगत—'उद्धात्यक' यह प्रस्तावना-भेद है जिसमें सामाजिक, (स्थापक-प्रयुक्त)
निश्चितार्थक पदों के साथ (पात्र-प्रयुक्त निश्चितार्थक) पदों की योजना करके (स्थापक
के) अभिप्रेत अर्थ का निर्धारण किया करते हैं ।

इसका उदाहरण 'मुद्राराक्षस' की यह प्रस्तावना—

‘क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम् ।

अभिभवितुमिच्छति बलात्—’

इत्यनन्तरम्—(‘नेपथ्ये ।)

आः, क एष मयि जीवति चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ।’ इति ।

अत्रान्यार्थवन्त्यपि पदानि हृदयस्थार्थागत्या अर्थान्तरे संक्रम्य पात्रप्रवेश

(२—‘कथोद्धात’ प्रस्तावना)

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा ।

भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्धातः स उच्यते ॥ ३५ ॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—‘द्वीपादन्यस्मादपि—’ इत्यादि सूत्रधा-
पठिते—(‘नेपथ्ये’) साधु भरतपुत्र । साधु । एवमेतत् । कः सन्देहः ? द्वी-
पादन्यस्मादपि—’ इत्यादि पठित्वा यौगन्धरायणस्य प्रवेशः ।

‘सूत्रधार-प्रिये ! केतु के साथ यह क्रूर ग्रह (राहु) सम्पूर्ण मण्डल चन्द्र पर बल-
आक्रमण करने को उद्यत होना चाहता है ।

(नेपथ्य से)

अरे ! कौन है जो मेरे जीते-जागते चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने को उद्यत हो रहा है
यहाँ ‘उद्धात्यक’ का स्वरूप स्पष्ट है क्योंकि सामाजिक, सूत्रधार द्वारा चन्द्रग्रहण के
में प्रयुक्त पदों को चाणक्य नायक द्वारा, चन्द्रगुप्त पर आक्रमण के अर्थ में प्रयुक्त है
उसके अपने हृदय अभिप्राय के अभिव्यक्त पदों के अर्थों से अन्तर्गर्भित मानकर चाण-
का रंगमञ्च पर प्रवेश देखने लगते हैं ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ‘उद्धात्यक’ का यह लक्षण है—

‘पदानि त्वगतार्थानि ये नरा पुनरादरात् ।

योजयन्ति पदरन्यस्तदुद्धात्यकमुच्यते ॥’ (नाट्यशास्त्र १२ ।

जिसका अभिनवभारतीकार ने यह स्पष्टार्थ बताया है—

‘यदा विवक्षितमुत्तरं दातुं शक्नोऽयं स्यादिति यन्मम मनसि वर्तते तदेव वक्ति न वक्तव्य-
मादिना निमित्तेन यदा प्रष्टव्यं प्रतिवचनवैचित्र्यमभिसंधाय पृच्छति, प्रतिवक्षोचितमपि
सन्धत्ते तदा तदुत्तरमुद्धात्यकम् । प्रश्नात्मके उद्धाते साध्विति यत्, तत्राज्ञातार्थं क्व
पदान्यगतार्थानि प्रश्नरूपाण्यादरात् कृतानि पर्यायैः पदान्तरैरुत्तररूपैः नरा सुवि-
योजयन्ति । तदुत्तररूपपदसमूहात्मकमुद्धात्यकम् ।’ (अभिनवभारती पृष्ठ ४५४)

अनुवाद—‘कथोद्धात’ वह प्रस्तावना-प्रकार है जिसमें सूत्रधार के प्रयुक्त वाक्य के
उच्चारण करते हुये या उसके अर्थ का अनुशीलन करते हुये किसी पात्र का (नाटक-प्रयोग
के लिये) रङ्गमञ्च पर प्रवेश हुआ करता है ।

सूत्रधार-प्रयुक्त वाक्य के उच्चारणपूर्वक ‘पात्रप्रवेश’ रूप ‘कथोद्धात’ का उदाहरण
‘रत्नावली’ की प्रस्तावना है जहाँ सूत्रधार ‘द्वीपादन्यस्मादपि’ आदि वाक्य बोलता है और
नेपथ्य से ‘यौगन्धरायण’ ‘साधु भरतपुत्र ! साधु ! एवमेतत् । कः सन्देहः ?’ बोलते हु-
ए ‘पादन्यस्मादपि’ आदि के पुनरुच्चारण के साथ प्रवेश करता है ।

वाक्यार्थो यथा वेण्याम्—

‘निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां

नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माववेन ।

रक्तप्रसाधितमुवः क्षतविग्रहाश्च

स्वस्या भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥’

इति सूत्रधारेण पठितस्य वाक्यस्यार्थं गृहीत्वा—‘(नेपथ्ये) आः दुरात्मन् । वृथा मद्गलपाठक । कथं स्वस्या भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रः ?’ ततः सूत्रधारनिष्क्रान्तो भीमसेनस्य प्रवेशः ।

(३—‘प्रयोगातिशय’ प्रस्तावना)

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।

तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा ॥ ३६ ॥

यथा कुन्दमालायाम्—‘(नेपथ्ये) इत इतोऽवतरत् गर्गा ।

सूत्रधारः—कोऽयं खन्धार्याह्वानेन साहायकनपि मे सम्पाद्यति ।

(विलोक्य) कष्टमतिक्रमणं वर्तते ।

सूत्रधार के वाक्य के अर्थानुशासन के साथ पात्रप्रवेश रूप ‘कथोद्घात’ का निदर्शन ‘त्रिणीमहार’ की प्रस्तावना है जहाँ सूत्रधार के इस वाक्य अर्थात्—

‘वे पाण्डव, जिनकी वैराग्नि उनके शत्रुओं की सामनीति से शान्त पड़ गयी है, कृष्ण के साथ प्रसन्नता मनावें और वे क्षौरव, जिन्होंने, विग्रहनीति छोड़ कर, समार को अपने प्रेम में विभोर कर रखा है, अपने अनुचर-परिचरों के साथ भानन्द मनावें ।’

के, अर्थ पर विचार करते हुये, ‘अरे नीच ! अरे मूढ़ मद्गलाश्रम करने वाले ! अरे, क्या मेरे जीते-जागते धनराष्ट्र के बेटे भानन्द मनावें’ आदि नेपथ्य में ही कहते भीमसेन का प्रवेश होता है और सूत्रधार रत्नमञ्ज से हट जाता है ।

विमर्श—‘कथोद्घात’ की नर निर्गति है—

‘कथा काव्यार्थरूपा (उक्त्वा) उर्ध्वमेव हन्यते गग्न्यते तत्रेति कथोद्घातः’ ।

(भिनवमान्—पृष्ठ ९४)

अर्थात् ‘कथोद्घात’ दो कथोद्घात समन्वये करने हैं क्योंकि इसमें कथा अथवा काव्यार्थ का पदार्थ ही पना नष्ट होता है ।

‘उदात्तक प्रस्तावना में दो पात्र सूत्रधार के समक्ष पदों की भिन्न अर्थ में वेदक शब्द पर आना करना है और ‘कथोद्घात’ प्रस्तावना में, सूत्रधार को या भिन्न अर्थ को, ठाक ठाक पदों पर, पात्र का प्रवेश हुआ जाता है ।

अनुगत—‘प्रयोगातिशय’ वह प्रस्तावना प्रकार है जहाँ सूत्रधार स्वयं आरब्ध प्रस्तावना-रूप कृत्यानुष्ठान का अनिश्चय करके नाट्यात्मक प्रयोग प्रस्तुत कर दिया करता है ।

इसका उदाहरण ‘कुन्दमाला’ की यह प्रस्तावना है—

‘(नेपथ्य में) तायें ! इधर आओ, इधर ?

सूत्रधार—यह कौन है जो तायों (नटी) को सुहाकर (निर्गोतानुष्ठान में) मेरी सहायता कर रहा है ?

(देखते हुये) ओह ! छिन्ना दाग हरय है—

लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन ।

निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वी
सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् ॥

अत्र नृत्यप्रयोगार्थं स्वभार्याद्वानमिच्छता सूत्रधारेण 'सीतां वनाय परि
र्षति लक्ष्मणोऽयम्' इति सीतालक्ष्मणयोः प्रवेशं सूचयित्वा निष्क्रान्तेन रू
योगमतिशयान एव प्रयोगः प्रयोजितः ।

(४—'प्रवर्त्तक' प्रस्तावना)

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ।

तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्त्तकम् ॥ ३७ ॥

यथा—

'आसादितप्रकट—' इत्यादि । 'ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः' ।

ओह ! यह तो लक्ष्मण है जो गर्भिणी सीता को लङ्कापति रावण के भव
रहने के कारण, लोकापवाद के भय से, राम द्वारा देशनिर्वासन का दण्ड दिये जाने
वन की ओर खींचे लिये जा रहा है ।

यहाँ 'प्रयोगातिशय' इसलिये है क्योंकि सूत्रधार नृत्यप्रयोग के लिये अपनी अ
(नटी) को बुलाना चाहता है किन्तु 'वन की ओर सीता को लक्ष्मण खींचे जा रहा
आदि कह कर सीता और लक्ष्मण के प्रवेश की सूचना दे देता है और स्वयं रंगम
निकल जाता है । इस प्रकार सूत्रधार स्वयं अपने पूर्व प्रयोग अर्थात् नृत्यानुष्ठान
अतिक्रमण करके अन्य प्रयोग अर्थात् सीता और लक्ष्मण के प्रवेश की सूचना देते 'प्र
योगातिशय' नामक प्रस्तावना कर रहा है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'प्रयोगातिशय' की यह परिभाषा की है—

'प्रयोगे तु प्रयोग तु सूत्रधारः प्रयोजयेत् ।

ततश्च प्रविशेत् पात्र प्रयोगातिशयो हि सः ॥ (नाट्यशास्त्र * २२

अर्थात् जहाँ सूत्रधार प्रस्तावना-रूप एक प्रयोग अथवा नृत्यानुष्ठान में नाट्यात्मक अन्य प्र
अथवा नृत्यानुष्ठान कर दे और पात्र का प्रवेश हो वहा जो प्रस्तावना हुआ करती है वह 'प्रयोग
तिशय' कही जाया करती है ।

अभिनवभारतीकार ने इसीलिए कहा है—

'सूत्रधार एव यत्र प्रयोगे प्रयोगं समुद्भूतकवादयुगलवद् योजयति स प्रयोगद्वय
श्लेषणात् प्रयोगातिशयः ।'

अनुवाद—'प्रवर्त्तक' वह प्रस्तावना प्रकार है जिसमें सूत्रधार नाट्यप्रयोग के समय
वसन्त आदि ऋतु का वर्णन किया करता है और पात्र उस वर्णन की श्लेषभङ्गी के
गाधार पर रङ्गमञ्च पर आ पहुँचता है ।

इसका उदाहरण ('छलितराम' नामक रूपक-प्रबन्ध की) 'आसादितप्रकट' आदि
प्रस्तावना है, जहाँ सूत्रधार 'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास'—विशुद्ध चन्द्रिका से
व्योतमान—'विशुद्धकान्त'—सौन्दर्यसम्पूर्ण—'संमृतवन्धुजीव'—वन्धुजीवपुष्प के विकास
—किंवा संतमसाधृत घन काल के विनाशक शरत्समय का वर्णन कर रहा है और
[सकी श्लेष-भङ्गी 'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास'—पराजित रावण के चन्द्रहास स्र

(५—'प्रवलगित' प्रस्तावना)

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।

प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः ॥ ३८ ॥

'यथा शाकुन्तले—

सूत्रधारो नटीं प्रति । 'तवाऽस्मि गीतरागेण—' इत्यादि । ततो राज्ञ प्रवेशः ।

को लिये—'विशुद्धकान्त'—साध्वी सीता के सङ्ग 'समृन्तवन्धुजीव'—वानर संनिकों और लक्ष्मण को पुनरुज्जीवित किये किंवा रावण जैसे अज्ञानसतमस के सहारक राम का प्रवेश करा देती है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने 'प्रवर्त्तक' प्रस्तावना का यह लक्ष्य किया है—

'कालप्रवृत्तिमाधित्य वर्णना या प्रयुज्यते ।

तदाध्रयाच्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम् ॥ (नाट्यशास्त्र ०० ३८)

जिते आचार्य अभिनवगुप्त ने इन प्रकार समझाया है—

'यदा कालप्रवृत्तिं काञ्चिदवलम्ब्य यथा सूत्रधारेण किञ्चिद् वस्तु वर्ण्यते तदाध्रयेण च पात्रस्य प्रवेश तत्कालप्रवृत्त्या स्वार्थोक्तत्वात् प्रवृत्तकम् ।'

'उपयुक्त प्रस्तावना-चतुष्टय में यह स्पष्ट है कि सूत्रधार के वाक्य, अर्थ, आगम तथा समय-वर्णन की विचित्रता ने रङ्गमञ्च पर पात्र का प्रवेश हुआ करता है । नाट्य-पात्र के प्रवेश के ये चित्र-विचित्र प्रकार हैं जिनमें किसी एक रूपक में किसी एक का ही आशय दिया गया है । भरत मुनि का यही आदेश भी है—

'पात्रग्रन्थैरसंयाध प्रकुर्यादानुख तत' ।' (नाट्यशास्त्र ०० ३९)

अनुवाद—'अवलगित' वह प्रस्तावना-भेद है जहाँ सूत्रधार अपने प्रस्तावनानुष्ठान रूप एक प्रयोग में नाट्यारम्भ-रूप अन्य प्रयोग की भी युक्तिपूर्वक योजना कर दिया करता है और पात्र का प्रवेश हो जाता है ।

इसका उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की प्रस्तावना है, जहाँ सूत्रधार नटी से कहता है—'आर्ये ! तुम्हारे मनोहर गति राग की ओर मैं उसी प्रकार विचलित जा रहा हूँ जैसे दौड़ते हरिण की ओर यह राजा दुष्यन्त विचलित जा रहा है ।' और रङ्गमञ्च पर दुष्यन्त का प्रवेश हो जाता है ।

विमर्श—भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में 'प्रवलगित' का यह लक्ष्य है—

'यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत् प्रसाध्यते ।

तथावलगितं नाम विज्ञेयं नाट्ययोजकम् ॥'

(नाट्यशास्त्र १० ११६)

जिते अभिनवगुप्तशास्त्रकार ने इन प्रकार स्पष्ट किया है—

'यत्रोत्तरे दीयमाने अन्यानुसंधानपूर्वकैऽप्यन्यत् कार्यं सिध्यति तदान्यकार्यावलगनाद-वलगितम् ।'

अर्थात् यहाँ सूत्रधार के अन्यार्थक प्रवेश ने अन्य कार्य का सम्पन्न हो गया यही 'प्रवलगित' नामक लक्ष्य भेद हुआ करता है ।

(आमुखोपयुक्त वीथ्यग)

योज्यान्यत्र यथालाभं वीथ्यङ्गानीतराण्यपि ।

अत्र आमुखे । उद्धात्य(त)कावलगितयोरितराणि वीथ्यङ्गानि वदयमाणानि
(नखकुट्ट के मत में प्रस्तावना का अन्य प्रकार)

नखकुट्टस्तु—

नेपथ्योक्तं श्रुतं यत्र त्वाकाशवचनं तथा ॥ ३६ ।

समाश्रित्यापि कर्तव्यमामुखं नाटकादिषु ।

एषामामुखभेदानामेकं कश्चित्प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥

तेनार्थमथ पात्रं वा समाक्षिप्यैव सूत्रधक् ।

प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥

(वस्तु इतिवृत्त १-आधिकारिक, २-प्रासङ्गिक)

वस्त्वितिवृत्तम् ।

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते ।

आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ ४२ ॥

अनुवाद—आमुख अथवा प्रस्तावना के जो पाँच प्रकार बताये गये उनमें से कि एक की योजना में वीथी के अन्य अङ्गों की भी, उपयोगितानुसार, योजना की जा सकती।

यहाँ (कारिका में) 'अत्र' का अभिप्राय 'अवलगित' नामक प्रस्तावनाभेद का ना अपितु पञ्चविध 'आमुख' का अभिप्राय है। 'उद्धात्यक' और 'अवलगित' के अतिरि जो वीथ्यङ्ग हैं उनका भागे निरूपण किया जायगा।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों के पञ्चविध आमुख का जो निरूपण किया गया वहाँ। रङ्गमञ्च पर उपस्थित सूत्रधार अथवा स्थापक द्वारा पात्र का प्रवेश हुआ करता है कि आमुख का एक और भी प्रकार है जिसे 'नखकुट्ट' ने कहा है और जिसमें नेपथ्य-वच अथवा आकाशभाषित के श्रवण पर ही सूत्रधार प्रस्तावना कर दिया करता है। इ पद्धि प्रस्तावनाओं में किसी एक की ही योजना किसी एक रूपक-प्रबन्ध के लिए आवश्यक है। सूत्रधार का यह कर्तव्य है कि रूपकप्रबन्ध के वृत्तान्त अथवा पात्रविशेष की सूचना के बाद प्रस्तावना समाप्त कर दे और स्वयं रङ्गमञ्च से निकल जाय जिस वाद रूपक प्रयोग आरम्भ हो जाय।

यहाँ कारिका के 'वस्तु' पद का अभिप्राय 'इतिवृत्त' का अभिप्राय है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण की 'लक्ष्मी'-टीका में 'नखकुट्ट' को जो आमुख का नाम बताया गया है (अथाप्रविष्टसूचितपात्रघटितोऽपि नखकुट्टाख्य पष्ठः प्रभेद इति दर्शयितुमाह-नखकुट्टस्त्विति—गृह ३४०) वह निरर्थक है।

(ख) रूपक-प्रबन्धों में पात्रप्रवेश के पहले का भाग तो 'आमुख' अथवा प्रस्तावना है और उसके बाद का भाग 'नाट्य' है। 'नाट्य' का सूचक होने के कारण प्रस्तावना को 'आमुख' कहा गया है (ईषन्मुख मुखसन्धि सूचकत्वादारम्भ-आमुखम्-प्रस्तावनाशब्देनऽप्येतदुच्यते)

अनुवाद—नाट्यकोविदों के अनुसार, रूपक प्रबन्ध में, 'वस्तु' अथवा इतिवृत्त व

अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।

तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥ ४३ ॥

फले प्रधानफले । यथा बालरामायणे रामचरितम् ।

अस्यापकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीज्यते ।

अस्याधिकारिकेतिवृत्तस्य उपकरणनिमित्तं चरितं तत्प्रासङ्गिकम् । यथा सुग्रीवादिचरितम् ।

कार का हुला करता है—(१रा) आधिकारिक और (२रा) प्रासङ्गिक । 'अधिकार' का अभिप्राय फल के स्वामित्व का अभिप्राय है और 'अधिकारी' वह कहा जाया करता है जो फल का स्वामी हुला करता है । इस प्रकार 'अधिकारी' (अर्थात् प्रधान नायक) से सम्बद्ध जो इतिवृत्त हुला करता है उसे 'आधिकारिक' इतिवृत्त कहा जाया करता है ।

यहाँ 'फले स्वाम्यम्' में 'फले' का अभिप्राय प्रधान फल का अभिप्राय है (आनुपङ्गिक अथवा अप्रधान का नहीं) । 'आधिकारिक' इतिवृत्त का निदर्शन 'बालरामायण' में पनियद्ध राम का रावण-वध-सम्बद्ध इतिवृत्त है ।

और जिसे 'प्रासङ्गिक' इतिवृत्त कहा गया है वह ऐसा इतिवृत्त हुला करता है जो आधिकारिक इतिवृत्त का सहायक किंवा उपयोगी हुला करता है ।

यहाँ, कारिका में 'अस्य' का अभिप्राय आधिकारिक इतिवृत्त का अभिप्राय है और 'उपकरणार्थ' का अभिप्राय उपकरण अथवा सहायता के निमित्तभूत चरित अथवा वृत्त का अभिप्राय है जिसे 'प्रासङ्गिक' नाम दिया गया है ।

'प्रासङ्गिक' इतिवृत्त-प्रकार का उदाहरण राम सम्बन्धी रूप-प्रबन्ध में सुग्रीव आदि

(पताकास्थानक • नाटकीय उपयोग)

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ॥ ४४ ॥

इह नाट्ये ।

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।

आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ ४५ ॥

‘मुख्यमिष्टफल वृत्तमङ्ग प्रासङ्गिक कचित् । मुख्य सर्वप्रबन्धव्यापित्वात् प्रधानम् । इष्टं सर्वोत्कर्षेण कवेरभिप्रेत फलं यस्य । वृत्त चरितम् । अङ्ग मुख्यवृत्तस्यानुयायित्वात् यवः । प्रसङ्गात् परकीययत्नादागत प्रासङ्गिकम् । इह तावन्न निमग्नः किञ्चिदिति मुख्यमङ्ग वा, किन्तु बहुष्वपि फलेषु कविर्यस्यात्यन्तमुत्कर्षमभिप्रेति तत्फलमिष्टम् । अनेन च यत् फलवद् वृत्तं तदिह मुख्यम् । तदितरद्वत्त्वात् प्रासङ्गिकम् । रामप्रबन्धेषु हि सुग्रीवसेत्री-शरणागतविभीषणरक्षण-रावणवध-सीताप्रस्थानयनादिषु सीताप्रस्थानयनस्यैव प्राधान्यं कविना प्रतिपादितम् । तत्संपादनाय तदितरेषु प्रवृत्तेः । अत एव तान्यङ्गानि कविरपि न स्वेच्छया फलस्योत्कर्षं निबद्धमर्हति किन्त्वौचित्येन । यस्य धोरोद्धतादेर्यदेव फलमुचितं तस्यैवोत्कर्षो निबन्धनीयः । प्रासङ्गिकस्यापि च मुख्यवृत्तप्रयत्नेनैव निष्पत्तिर्विधेया । प्रयत्नान्तरे हि तदपि मुख्यं स्यात् । ‘‘कचिदिति यत्रैव मुख्यो नेता फलसिद्धौ सहायमपेक्षते तत्रैव प्रासङ्गिकम्, न सर्वत्र ।’

(नाट्यदर्पण १म विवेक)

संस्कृत के रूपक-प्रबन्धों में जो कथावस्तु-रचना (Plot Construction) है उसमें सर्व अधिकारिक और यथावसर प्रासङ्गिक वृत्त का योजना-वैचित्र्य स्पष्टतया परिलक्षित होता है ।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों की ‘इतिवृत्त’-रचना में वैचित्र्य के आधान के लिये कवि के लिये यह अपेक्षित है कि वह विचारपूर्वक ‘पताकास्थानक’ की योजना करे ।

यहाँ कारिका में ‘इह’ पद का अभिप्राय ‘नाट्य’ (अथवा रूपक) का अभिप्राय है ।

‘पताकास्थानक’ क्या है ? ‘पताकास्थानक’ वह है जिसे नाट्य के उस स्थान पर जहाँ नाटककार किसी एक प्रयोजन अथवा उपाय की चिन्ता कर रहा है उसके समान अन्य प्रयोजन अथवा उपाय की अकस्मात् अतर्कित उपस्थिति हो जाया करती है ।

विमर्श—‘पताकास्थानक’ एक प्रकार का इतिवृत्त ही है । इस इतिवृत्त-प्रकार की योजना मुख्य इतिवृत्त में वैचित्र्य का आधान किया करती है (तेन पताकास्थानकमिति वृत्तमेवोच्यते तत्र वर्ण्यमानं तु जडाजडरूपं पताकासदृशमित्यर्थादुक्तं भवति । स चान्योऽर्थस्तल्लिङ्गस्तन्मुख्यमर्थं लिङ्गयति विचित्रयतीति । अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १९-३० ।)

‘पताका’ और ‘पताकास्थानक’ रूप इतिवृत्त-प्रकारों में परस्पर भेद है । ‘पताका’ रूप वृत्त तो रूपक-प्रबन्धों के मुख्य वृत्त का उपकारक होने से एक निश्चित स्थान पर और पर्याप्त समय तक निरन्तर चलनेवाला वृत्त हुआ करता है किन्तु ‘पताकास्थानक’ वह वृत्त है जो कहीं उपनिबद्ध हुआ करता है और नाट्य के सौन्दर्यवर्द्धन के लिए ही उपनिबद्ध हुआ करता है नाट्यदर्पणकार ने इसीलिए कहा है—

‘चिन्तिता र्थापरप्राप्तिवृत्ते यत्रोपकारिणी ।

पताकास्थानकं तत्तु चतुर्धा मण्डनं क्वचित् ॥

(१ म पताकस्थानक)

तद्भेदनाह—

सदसैवार्थसंपत्तिर्गुणवत्युपचारतः ।

पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘वास्तवदत्तेयम्’ इति राजा यदा तत्कृष्टपाशं मोचयति तदा तदुक्त्या
‘सागरिकेयम्’ इति प्रत्यभिज्ञाय ‘कथं ? प्रिया मे सागरिका ?

अलमलमतिमात्र साहसेनामुना ते

त्वरितमयि ! विमुञ्च त्व लतापाशनेतम् ।

चलितमपि निरोद्धु जीवितं जीविनेजे !

क्षणमिह नम कण्ठे बाहुपाश निवेहि ॥’

अत्र फलरूपार्थसंपत्ति पूर्वपेक्षयोपचारातिशयाद्गुणवत्युत्पत्त्या ।

वर्ण—कर्म-करणव्युत्पत्त्या प्रमाजनसुरापक्ष । अल्पवमितात् प्रयोजनादुपादात्वा-
न्यस्य प्रयोजनस्योपादस्य च प्राप्तिर्यत्रेति धृत्ते उपकारिणी प्रधानफलपकारिका
तदिविधुत्त पताकास्थानकम् । उपकारित्वमाश्रयान्यात् पताकास्थान एव तुल्यं पताका-
स्थानकम्, न पुन पताकास्थानमेव । अत एव तुल्यं पताकास्वरूपाद् ध्वनिकरं
घोतयति । नन्दनमिति एकमपि पताकास्थानक नाट्य-काव्यत्यालङ्कारम्, किं पुनर्द्वे
श्रीणि श्रवारि वा ? एतद्विहोत रूपक न कार्यमित्यर्थः । छविदित्यन्तराश्रयान्तरा, न तु
पताकावलिरन्तरम् । अत एव पताकानो भिद्यते । (नाट्य-काव्य-रत्न-विवेक)

रुद्रवाद—‘पताकास्थानक के चार भेद हैं जिन्हें क्रमशः बताया जा रहा है—

पहला ‘पताकास्थानक’ वह है जहाँ सामाजिकों को अकस्मात् अभीष्ट कथं का परिचय
मिल जाता है क्योंकि यहाँ कवि एक प्रयोजन तो मन में रखता है और दूसरे का उप-
निन्दनचातुर्य दिखाया करता है ।

दूसरा उदाहरण ‘रसावली’ का यह प्रयोग है—

‘नायक उदयन ‘सागरिका’ को, गले में लतापाश का फन्दा लगाते देख, वामपक्षना
सनस लेता है किन्तु उसकी चोली में यह जान कर कि वह तो उसकी प्रियतमा
‘सागरिका’ है उसका बाहु-पाश को अपने गले का फन्दा बनाने को उन्मुख हो उठता है
और कहने लगता है—

तू यह कामवास का साहस क्यों कर बैठे ! धरे इस लतापाश को फँक और अपने
इस निपतम के गले में अपना बाहुपाश टाट दे जिससे तेरे विरह में भागने के ह्छुक
इसके प्राण भागने न पाँव ।’

यहाँ अकस्मात् दृष्ट-राम की प्राप्ति है क्योंकि सामाजिक उदयन को बहुत देर से
सागरिका के प्रेम-निन्दन-सुख का प्राप्ति देखते लाये हैं और महमा इस प्रकार के प्रेम-
निन्दन-सुख के पानेवाले उदयन को देख प्रसन्नता से भर उठते हैं ।

विमर्श—यह ‘पताकास्थानक’ का एक विविध दृष्ट-राम है । इस दृष्ट-राम में नायक
न कीर नायक बनता होता कहिये । ‘पताकास्थानक’ का है सुख-पाने-वाले प्रेम-
विशेष के लता-पाश के दो निमित्तक कर ही मल्लो है, उनमें से किसी का मन है, का
सब इस दृष्ट-राम का नायक हो जाना पता है—

वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम् ।

पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ४७ ॥

यथा वेण्याम्—

‘रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः समृत्याः ।’

अत्र रक्तादीनां रुधिरशरीरार्थहेतुकश्लेषवशेन बीजार्थप्रतिपादनान्नेष्टमङ्गल-
प्रतिपत्तौ सत्यां द्वितीयं पताकास्थानकम् ।

‘अत्रान्यत् प्रयोजनं चिन्तितं तद्वैचित्र्यकारि च प्रयोजनान्तरं सपन्नम् । तत्र च दैव-
योगः, तथाभूतदेशकालयोगः नायक’ स्वात्मैवान्याभिसन्धियोगात् कल्पितभेदः, सागरि-
कैव वा मरणमेवोचितमित्यन्याभिसन्धानेन घटतीति पताकानायकसदृशत्वं भजते ।’

(अभिनवभारती भाग ३य, पृष्ठ १९)

अनुवाद—दूसरा ‘पताकास्थानक’ वह है जहाँ प्रकृत विषय की वर्णना में ऐसा श्लिष्ट
वचन-विन्यास किया हुआ रहता है जो अप्रकृत के भी उपयुक्त हो जाता है और एक
चमत्कार की सृष्टि कर जाता है ।

इसका उदाहरण ‘वेणीसहार’ का यह प्रसङ्ग है—

‘सूत्रधार मंगलाशसन करता है—‘समृत्या’ (अनुचर-परिचरों के साथ) ‘क्षत-
विग्रहाः’ (लड़ाई-झगड़े की नीति से विमुख और पक्षान्तर में, क्षत-विक्षत शरीर लिये)
किं वा ‘रक्तप्रसाधितभुवः’ (प्रजाजनों के रक्षक तथा साम्राज्य को सुशोभित करनेवाले
और पक्षान्तर में, लोहूलुहान शरीर लिये, धरती पर गिरे-पड़े) ‘कुरुराजसुताः’ (कुरुराज
धृतराष्ट्र के कुमार-गण) ‘स्वस्थाः भवन्तु’ (आनन्द करें और पक्षान्तर में-भरमिटें) ।’

यहाँ ‘पताकास्थानक’ का दूसरा प्रकार इसलिये स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है क्योंकि
‘रक्त’ और ‘विग्रह’ आदि श्लिष्ट पदों का ऐसा विन्यास किया हुआ है जिससे ‘रुधिर’
और ‘शरीर’ का अर्थ निकल पड़ता है और भीम के वेणीसहार रूप प्रतिज्ञा-पालन के
बीजभूत घृत्तार्थ की अभिव्यक्ति हो उठती है जो कि ‘वेणीसहार’ रूप फल की एक शुभ-
सूचना सी ही है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने इस ‘पताकास्थानक’ प्रकार की यह परिभाषा की है—

‘वचः सातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम् ।

पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥’ (नाट्यशास्त्र १९ ३२)

जिसे साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार बदल लिया है—

‘वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम् ।

पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥’

यहाँ ‘काव्यबन्धसमाश्रयम्’ के स्थान पर ‘नानाबन्धसमाश्रयम्’ बदला गया है । ‘अभिनव-
भारतीकार’ ने ‘काव्यबन्धसमाश्रयम्’ का अभिप्राय यह बताया है—

‘काव्यस्य प्रकृतस्य वर्णनीयस्य यो बन्धः अतिशयोक्त्यादिना योजनं तन्निमित्तवशात्
वृत्तं (तत्) ।’

‘नानाबन्धसमाश्रयम्’ का भी यही भावार्थ होना चाहिये । ‘नानाबन्ध’ का तात्पर्य ‘तर्कवा-
गीशी’ टीका ने ‘विविधविशेषण सम्बन्ध’ (साहित्यदर्पणं तर्कवागीश विरचित व्याख्या, पृष्ठ २७३)

(३ य पताकास्थानक)

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।

श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥ ४८ ॥

लीनमव्यक्त्यर्थम्, श्लिष्टेन सन्ध्यायोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेन प्रत्युत्तरेणोपेतम्, सविनय विशेषनिश्चयप्राप्त्या साहित संपाद्यते यत्तत्तृतीयं पताकास्थानम् ।
यथा वेण्यां द्वितीयेऽङ्के—

‘कञ्चुकी—देव ! भग्नं भग्नम् ।

राजा—केन ?

कञ्चुकी—भीमेन ।

राजा—कस्य ?

कञ्चुकी—भवतः ।

राजा—आ ! किं प्रत्युत्ति ?

कञ्चुकी—(सभयम्) ‘वेच ! ननु ब्रवीमि । भग्नं भीमेन भवतः ।

बनाया है जो यहाँ एक अधिक अभिप्राय-प्रकार अवश्य है किन्तु तन्मूल नहीं । ‘लक्ष्मी’ टीका में ‘नानाबन्ध’ को यह व्याख्या अर्थात्—

‘नानाबन्धो योजप्रकाशननायकमद्गत्सूचनादिरूप’

यहाँ समग्न है । ‘विमनः’ व्याख्या (४४ = ११) में ‘नानाबन्ध’ को ‘नानाबन्ध’ ही कह दिया गया है जिससे कोई अभिप्राय नहीं निकलता । वस्तुतः विश्वनाथ बविराज का, ‘नानाबन्ध’ पद ने, अभिप्राय ‘अतिशयोक्ति’ ‘नानातोक्ति’ आदि-आदि व्यर्थयोजना प्रकारों का ही अभिप्राय है ।

अनुवाद—तीसरा ‘पताकास्थानक’ यह है जिसमें ऐसे अर्थों प्रस्तुतमयद्र श्लिष्ट प्रत्युत्तर की योजना हुआ करता है जिसमें अस्फुट भी अभिप्रेत किं वा प्रस्तुत अर्थ का निश्चय हो जाया करता है ।

यहाँ ‘लीनम्’ का अभिप्राय अस्फुट (किन्तु प्रस्तुत रूप से अभीष्ट) अर्थ का अभिप्राय है, ‘श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतम्’ का तात्पर्य प्रस्तुत अर्थ में सन्ध्यायोग्य अन्य अप्रस्तुत अर्थयुक्त प्रत्युत्तर का तात्पर्य है और ‘सविनयम्’ का अर्थ ‘विनय’ अथवा विशेष निश्चय से युक्त का अर्थ है । तात्पर्य यह है कि तीसरा ‘पताकास्थानक’ हम प्रकार के विचित्र वर्णन से युक्त हुआ करता है ।

हमका निदर्शन ‘वेणीसहार’ के द्वितीय अङ्क का यह प्रसङ्ग है—

‘कञ्चुकी—महाराज ! तोड़ दिया, तोड़ दिया ।

राजा—अरे ! किन्ने ?

कञ्चुकी—भीम ने ।

राजा—किसका ?

कञ्चुकी—आप का ।

राजा—अरे ! क्या घोट रहा है ?

कञ्चुकी—(भयभीत होकर)—महाराज ! दान यह है कि भीम ने तोड़ दिया आपका

राजा—धिग्वृद्धापसद ! कोऽयमद्य ते व्यामोहः ?

कञ्चुकी—देव ! न व्यामोहः ।

सत्यमेव—

भग्न भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम् ।

पतितं किङ्किणीकाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥'

अत्र दुर्योधनोरुभङ्गरूपप्रस्तुतसक्रान्तमर्थोपक्षेपणम् ।

(४ र्थ पताकास्थानक)

द्वयर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।

प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥ ४९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-

दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं

पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुख देव्याः करिष्याम्यहम् ॥'

राजा—अरे बुद्धे ! यह सब क्या अण्डवण्ड घक रहा है ?

कञ्चुकी—महाराज ! अण्डवण्ड नहीं । बात यह है कि (भीमेन मरुता) भयङ्कर ध्वण्ड ने आप के रथ का ध्वज तोड़ दिया है जो कि किङ्किणी की ध्वनि के बहाने मानो क्रन्दन करते हुये पृथिवी पर लोट रहा है ।'

यहाँ प्रत्युत्तर वाक्य की जो योजना है उससे ऐसे अर्थ का उपक्षेप अथवा प्रत्यायन किया जा रहा है जो कि यहाँ दुर्योधन के जंवाभङ्गरूप प्रस्तुत अर्थ में समाप्त होकर सहृदय सामाजिक को चमस्कृत कर देता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार की 'वृत्ति' अभिनवभारती की इन पक्तियों का आधार के रही है—

'लीनमस्फुटरूपमुत्तिष्ठ्यमाणमर्थजात, श्लिष्टेन सवन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेनापि प्रत्युत्तरेणोपेतं सध्वज, सविनय विशेषेण नयेन विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहित सपद्यते तत् तृतीय पताकास्थानकम् ।' (अभिनवभारती, ३ य भाग, पृष्ठ २०)

अनुवाद—चौथा 'पताकास्थानक' वह है जहाँ ऐसे द्वयर्थक वचन का उपन्यास हुआ करता है जो कि मुख्य अभिप्राय से भिन्न अभिप्राय का प्रत्यायन तो कराता ही है साथ ही साथ रूपक-प्रबन्ध के इतिवृत्त के भी उपयुक्त बन जाता है ।

इसका दृष्टान्त 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग है—

'राजा—आज 'उद्दामोत्कलिकां' (बहुत अधिक संख्या में निकली कलियों वाली और प्रेममिलन की उत्कण्ठा से भरी) 'विपाण्डुररुच' (पीले रंग की कलियों से पीली-पीली और प्रेम-विरह में पीली पड़ी) 'प्रारब्धजृम्भां' (फूल खिलाने वाली और अलसायी) 'क्षणात् अविरलैः श्वसनोद्गमैरात्मन आयासमातन्वतीम्' (अकस्मात् निरन्तर चलते पवन के झोंकों से झकझोरी और विरह-वेदना की आहों से झुनन्त बनी) 'समदनां' (मदन वृत्त पर चढ़ी और काम भावना में पगी) इस उद्यानलता को, एक सुन्दरी की भांति, खड़ी

अत्र भाव्यथः सूचितः ।

(पताकास्थानक की योजना में नाट्यकर का स्वातन्त्र्य)

एतानि चत्वारि पताकास्थानानि कचिन्मङ्गलाय कचिदमङ्गलाय सर्वसन्धिषु भवन्ति । काव्यकर्तुरिच्छावशाद्भूयो भूयोऽपि भवन्ति ।

यत्पुनः केनचिदुक्तम्—‘मुखसन्धिमारभ्य सन्धिचतुष्टये क्रमेण भवन्ति’ इति । तदन्ये न मन्यन्ते, एषामत्यन्तमुपादेयानामनियमेन सर्वत्रापि सर्वेषामपि भवितुं युक्तवान् ।

देख-देख मुझे यही इच्छा होती है कि वासवदत्ता के हृदय में मान उत्पन्न कर दूँ, और उसके कोपरक मुख को देख-देख खानन्द मनाऊँ ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘रत्नावली’ नाटिका के भावी दृष्ट का उपश्लेष लयवा प्रत्यापन हो रहा है (क्योंकि बाद में उदयन को सागरिका के प्रेम में पगे देव वासवदत्ता का मुँह कोप से लाल हो जाता है) ।

विमर्श—‘रत्नावली’ के उपर्युक्त ‘उत्तमोक्तिकान्’ आदि उद्गम को दृष्टान्तप्रकार में तो ‘पताकास्थानक’ नाम है क्योंकि यहाँ ‘तुल्यविशेष’ की नरिना से भावी दृष्ट का उपश्लेष किया जा रहा है किन्तु ‘अभिनवभारती’कार ने इनमें ‘व्यास’ नामक वीर्य का उदाहरण देगा है और ‘पताकास्थानक’ की कल्पना का खटन भी किया है—

‘उत्तमोक्तिकान्’ इति तु नोदाहरणम्, द्वययताप्रतिपत्तावपि हि नात्रायैव सहकारिता कुत्रचिदावतिता । तस्मादेतद्-वीर्यस्य स्यादाहस्यैवोदाहरणं युक्तम् ।

(अभिनवभारती, ३ न भा, पृष्ठ २२)

‘अभिनवभारती’कार के अनुसार ‘रत्नावली’ का यह प्रसङ्ग, अर्थात्—‘प्रीत्युत्कर्षेणोदगा-मुदयनस्येन्दोरिवोद्गच्छते’ आदि इन पताकास्थानक-प्रकार का उदाहरण है—‘यों मध्यामनय के वृत्त में नाटिका को उदयन की उत्पत्ति की सूचना मिल जाती है और वह वही पताका है—

‘लय से राजा उदयनो जन्म वह तादेन दिग्गा’ (‘लय न राजा उदयनो रस्याह तातेन दत्ता’—रत्नावली-१ न अङ्क) ।

अनुवाद—ये उपर्युक्त चार प्रकार के ‘पताकास्थानक’ हैं । इनकी योजना रूपक-प्रयत्नों की सभी सन्धियों में हो सकती है । कहीं इनकी योजना में मङ्गलागमा हुआ करता है और कहीं अमङ्गलागमा (जैसा कि उद्घटन प्रसङ्गों में स्पष्ट है) । इनकी योजना रूपकार की इच्छा पर निर्भर है । आवश्यकताानुसार इन्हें कई बार भी उपनिबद्ध किया जा सकता है ।

‘पताकास्थानक’ की योजना के सम्बन्ध में एक साथ नाट्याचार्य यह करते हैं—‘पताकास्थानक चार हैं हमलिये इनकी योजना ‘सुन’ संधि में प्रारम्भ कर ‘विमर्श’ सन्धि तक ही समाप्त की जानी चाहिये’ । किन्तु अन्य नाट्यमर्मज्ञ इस नियम से नहीं माना करते क्योंकि उनका कहना यह है कि ‘पताकास्थानक’ तो नाट्य-प्रबन्ध के लिये काव्यन्त आवश्यक तत्व है और हमलिये सभी सन्धियों में सभी प्रकार के पताकास्थानकों की योजना हो सकती है न कि पहली सन्धि में पहले की और दूसरी आदि में दूसरे आदि की, (यद्यपि पताकास्थानक-योजना का अनियम ही मन्त्रे सुन्दर नियम है) ।

विमर्श—‘रत्नावली’ का योजना के सम्बन्ध में ‘अभिनवभारती’कार का भी यही स्पष्ट है—

(रूपक की इतिवृत्त-रचना : चरितचित्रण अथवा रस के अनुकूल)

यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।

विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥ ५० ॥

अनुचितमिति वृत्तं यथा—रामस्यच्छद्मना वालिवधः । तच्चोदात्तराघवे
नोक्तमेव । वीरचरिते तु वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

(अर्थोपक्षेपक की योजना : कवि-स्वातन्त्र्य का एक प्रकार विशेष)

अङ्गेष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च संमता ।

या च स्याद्वर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा ॥ ५१ ॥

अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्वर्धः ।

‘पताकानायकेन हि यल्लेशतः कर्तव्यं तदेकेन क्रियते चतुष्टयेन वा । केचिदाहुः—चतुर्षु सन्धिषु चत्वारः पताकानायकाः तेषां यथाक्रमं सूचकानि पताकास्थानकानि, प्रथमं मुखसन्धौ यावच्चतुर्थमवमर्शसन्धाविति । तच्चासत् पताका इव प्रकरीकार्यविन्दुवीजानां अपि सूचकान्तराणि वक्तव्यानि स्युः, चत्वारश्च नियमेन पताकानायका भवेयुः न च मुखसन्धावाद्य द्वितीय प्रतिमुखसन्धावित्यादिक्रमो न्याये लक्ष्ये वा साध्यमाक्षिपति—इत्यलमनेन ।’ (अमिनवमारती, भाग ३ य, पृष्ठ-२२)

अनुवाद—रूपक-प्रयन्धों की इतिवृत्त-रचना में कवि के लिये यह आवश्यक है कि या तो वह मूलवृत्त के उस अक्ष को छोड़ ही दे जो अभीष्ट चरित-चित्रण अथवा रसभाव के प्रतिकूल पड़ रहा हो या उसे यथासंभव दूसरा रूप दे दे ।

उदाहरण के लिये ‘उदात्तराघव’ को लिया जा सकता है जहाँ कवि ने राम के चरित-विकास किंवा तत्संबन्धी रसभाव के अनुचित, (रामविषयक मूलवृत्त के अक्षभूत) राम द्वारा छिपकर बालि के वध का वृत्तान्त छोड़ दिया है । अथवा ‘महावीरचरित’ को देखा जा सकता है जहाँ महाकवि ने इस वृत्त को दूसरा रूप दे दिया है अर्थात् इसका इस प्रकार वर्णन किया है कि ‘बालि ही राम का वध करने आता है और राम उसे मार डालते हैं ।’

विमर्श—रूपक-प्रबन्ध में ‘अनिबन्धनीय’ वृत्त के सम्बन्ध में नाट्यदर्पणकार का भी यही कथन है—

अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।

वृत्तं यत्तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमन्यथा ॥

अयुक्तमनुचितं विरुद्धं विपरीतं परित्याज्यमुपेक्षणीयम् । धीरललितस्य ह्यनुचितं परस्त्रीसमोगादि, विरुद्धं धीरोद्धतत्वादि । शृङ्गारस्य प्रत्यक्षमालिङ्गन-नुग्धनाद्यनुचितम्, बीभत्सस्तु विरुद्धः । अन्यथेत्यौचित्येनाविरोधेन वा (नाट्यदर्पण १ म विवक) ।

अनुवाद—रूपक-कवि के लिये, वृत्तबन्ध के सबन्ध में, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसी घटना, जिसे रस की दृष्टि से तो अङ्क के अन्तर्गत स्थान देना अनुचित है किन्तु पूर्वापर वृत्त-योजना की दृष्टि से निर्दिष्ट करना भी अपेक्षित है, ‘अर्थोपक्षेपक’ की योजना द्वारा सूचित की जाय । इसी प्रकार ऐसी घटनायें भी, ‘अर्थोपक्षेपक’-योजना द्वारा

लक्ष्मेषु लदर्शनीया क्या युद्धादिकया ।

वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षादयोमवम् ॥ ५२ ॥

उक्तं हि मुनिना—

‘लङ्कच्छेदे कार्यं नासकृत वर्षसञ्चितं वापि ।

तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥’

एवं च चतुर्दशवर्षव्यापिन्यपि रामजनवासे ये ये विराधवयादयः कथां-
शास्ते ते वर्षवर्षावयवदिनयुग्मादीनानेकनेन सूचनीया न विरुद्धा ।

दिनावसाने कार्यं यदिने नैवोपपद्यते ।

अथोपलेपकैर्वाच्यमलङ्कच्छेदं विधाय तत् ॥ ५३ ॥

(अथोपलेपकः स्वल्पेन चैव प्रकार-निर्देशः)

अथ के तेऽथोपलेपका इत्याह—

अथोपलेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकाः ।

चूलिकाङ्कावताराश्च स्यादङ्कुमुवमित्यपि ॥ ५४ ॥

ही सूचित की जाय, जिनमें दो दिन में लेकर सत्तर का (अर्थात् अधिक) समय
लगा हो या जो बहुत विस्तार रखती हो ।

यहाँ ‘लङ्क’ में लदर्शनीय घटना का अभिप्राय युद्ध आदि नरौजी घटनाओं का
लक्षण है ।

एक वर्ष में अधिक समय में घटी घटनाओं की योजना भी ‘अथोपलेपक’ द्वारा ही
की जा सकती है किन्तु इनके लिये अथोपलेपक यह है कि एक वर्ष में अधिक का घटना-
काल एक वर्ष के भीतर ही मान लिया जाय । नाट्याचार्य भरतमुनि का यही तात्पर्य है—

‘वह वृत्त जो एक मास में घटित हुआ हो अथवा एक वर्ष में सम्पन्न हुआ हो,
लङ्कच्छेद अर्थात् विष्कम्भक आदि अथोपलेपक-प्रकारों में से किसी एक के द्वारा वर्णित
किया जा सकता है । किन्तु एक वर्ष में अधिक समय में घटी घटना का उपनिन्द्य
कदापि नहीं होना चाहिये ।’

और वस्तुतः ईर्मादिने रामविषयक लङ्क-प्रकरणों में, राम के १४ साल के वनवास-
काल में घटित, विराध-वध आदि-आदि कथाओं को, एक वर्ष अथवा एक वर्ष के भीतर
अथवा एक दिन या दो दिन में ही घटित रूप में अथोपलेपकों द्वारा उपनिन्द्य किया
गया है जिसमें नाट्यरस की नर्मादा की भी पूर्ण रक्षा हुई है ।

अतः १—अथोपलेपक प्रकार—

‘अथोपलेपक’ के पांच प्रकार हैं—(१) विष्कम्भक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका,
(४) अङ्कावतार और (५) अङ्कुमुव ।

विशेष—राम दण्डर का निन्दन भी ‘लङ्क’ में हुआ जाता है किन्तु नीच ही
निन्दने परित्याग की दृष्टि से अथोपलेपक का भी योना द्वारा दण्डर सम्बन्ध — दृष्टि में उपनिन्द्य ही
हुना चाहिये । ३ निन्दनार्थ इन्द्रिया का घटना के जो उल्लेख हैं उन्हें ‘अथोपलेपक’ द्वारा उपनिन्द्य
‘अथोपलेपक’ यथा प्रकार है ने के लिये ‘अथोपलेपक’ का प्रयोग है ।

(१ म अर्थोपक्षेपक : विष्कम्भक : दो भेद)

॥ वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।

संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥ ५५ ॥

मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।

शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥ ५६ ॥

तत्र शुद्धो यथा—मालतीमाधवे श्मशाने कपालकुण्डला । सङ्कीर्णो यथा—
रामाभिनन्दे क्षपणककापालिकौ ।

(२य अर्थोपक्षेपक : प्रवेशक)

अथ प्रवेशकः—

प्रवेशकोऽनुदात्तोत्तया नीचपात्रप्रयोजितः ।

अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥ ५७ ॥

अनुवाद—इन पञ्चविध अर्थोपक्षेपकों में 'विष्कम्भक' वह अर्थोपक्षेपक हुआ करता है जो कि भूत और भावी कथा-भागों की सूचना दिया करता है और अङ्क की अपेक्षा कम विस्तार रखा करता है । इसकी योजना अङ्क के आरम्भ में ही की जाया करती है (मध्य अथवा अन्त में नहीं) । इसके दो प्रकार हैं—१ला वह, जिसे 'शुद्ध विष्कम्भक' कहते हैं और जिसमें मध्यम प्रकृति के एक पात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा वृत्त किंवा वर्तिष्यमाण घृत्तान्त भागों की सूचना दे दी जाया करती है और २रा वह, जिसे 'मिश्र' (अथवा संकीर्ण) विष्कम्भक कहा गया है क्योंकि इसमें नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रों द्वारा भूत और भावी अरजक घटनार्थ सूचित की जाया करती हैं ।

'शुद्ध विष्कम्भक' के उदाहरण के लिये 'मालतीमाधव' (के तृतीय अङ्क) का विष्कम्भक पर्याप्त है जहाँ श्मशान में उपस्थित कपालकुण्डला भूत और भावी घृत्तान्तों की सूचना देती है । इसी प्रकार 'सङ्कीर्ण विष्कम्भक' के निदर्शन-रूप में 'रामाभिनन्द' नाटक में, क्षपणक और कापालिक द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक लिया जा सकता है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार की यह 'विष्कम्भक'-परिभाषा यहाँ ध्यान देने योग्य है—

‘अङ्कानर्हस्य घृत्तस्य त्रिकालस्यानुरञ्जना ।

सक्षिप्य संस्कृतेनोक्तिरङ्कादौ मध्यमर्जनैः ॥

शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र सङ्कीर्णो नीच-मध्यमैः ।

अङ्कसन्धायकः शक्यसन्धानातीतकालवान् ॥

अर्थात् रूपक-प्रबन्धों में कतिपय ऐसे भी कथाभाग उपनिबद्ध किये जाते हैं जो 'अङ्कानर्ह' अर्थात् अरजक होने के कारण या रजक होने पर भी एक दिन में अभिनय के लिये असम्भवनीय होने के कारण 'अङ्क में अनिवन्धनीय' हुआ करते हैं । ऐसे कथाभागों की योजना आगे के अङ्क के इतिवृत्त के उपयोगी होने के नाते, 'विष्कम्भक' द्वारा की जाया करती है । 'विष्कम्भक' पद की यह व्युत्पत्ति है—'विष्कम्भनाति अनुसन्धानेन घृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भकः', जिससे यह स्पष्ट है कि यह 'अङ्कसन्धायक' हुआ करता है । 'अङ्कसन्धायक' होने का अभिप्राय अङ्कार्थ का ससूचक होना है अथवा दो अङ्कों या दो अङ्कार्थों का संबन्ध (संबद्ध कराने वाला) होना है ।

अनुवाद—'प्रवेशक' भी विष्कम्भक की ही भांति घृत्त और वर्तिष्यमाण इतिवृत्त का

अद्वयस्यान्तरिति प्रथमाद्वेऽस्य प्रतिषेधः । यथा—वेद्यामश्वत्यानां
राक्षसमिथुनम् ।

(३२ अर्थोपलक्षक चूलिका)

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।

यथा वीरचरिते चतुर्याद्व्यादा—(नेपथ्ये) भो भो वैमानिका, प्रव-
र्तन्तां रत्नमङ्गलानि' इत्यादि । 'रामेण परशुरामो जित' इति नेपथ्ये पात्रैः
सूचितम् ।

(४२ अर्थोपलक्षक अद्वावतार)

अथाद्वावतारः—

अद्धान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्गस्याविभागतः ॥ ५८ ॥

यत्राद्वाऽवतरत्येषोऽद्वावतार इति स्मृतः ।

सूचक हुआ करता है । इसकी योजना दो अङ्कों के बीच में की जाया करती है और हमने
'अनुदात्तोक्ति' अर्थात् संस्कृतभिन्न प्राकृतादि भाषा द्वारा कयावत्तु की सूचना हुआ
करती है । इसका प्रयोग नीचे पात्रों का कार्य है ।

दो अङ्कों के बीच में 'प्रवेशक' की योजना का यह तात्पर्य है कि पहले अङ्क में
इसकी योजना निषिद्ध है । इसके उदाहरण के लिए, 'वेणीसहार' के तृतीय अङ्क अर्थात्
'अश्वत्यानां' के राक्षस-मिथुन का घृत्तान्त देखा जा सकता है ।

विमर्श—'प्रवेशक' और 'विष्मन्क' में जो वस्तुतः भेद है वह भाषा का भेद है । 'प्रवेशक'
की भाषा प्राकृत हुआ करती है और 'विष्मन्क' की संस्कृत अथवा संस्कृत-प्राकृत । 'प्रवेशक' की
इमलिन 'प्रवेशक' कहा जाया जाता है क्योंकि इसका कार्य मानासिद्ध-इत्ये में अन्वय अर्थ का
प्रवेश काला हुआ जाता है (अन्वयान् अर्थान् मानासिद्धये प्रवेशयतीति प्रवेशक) ।

अनुवाद—'चूलिका' वह अर्थोपलक्षक-प्रकार है जिसमें पात्र नेपथ्य के भीतर से ही
वस्तुनिष्ठ की सूचना दिया करते हैं ।

इसका उदाहरण 'महावीर चरित' के चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में यह घृत्त-सूचना है—

(नेपथ्य में)

अरे वैमानिक राज ! रत्नमङ्गल कार्य आरम्भ कर दे जाय । आदि ।

यहाँ नेपथ्यवर्ती पात्र राम द्वारा परशुराम की विजय की सूचना दे रहे हैं ।

विमर्श—'अनुवाद' में 'चूलिका' की पर्यायवाची है—

'वस्तुन सूचन चूला पात्रैर्नेपथ्यमस्मिन् ॥

वस्तुन इति कस्यचिदर्थस्य सूचनमुपलक्ष्य । पात्रे स्वीयम् नेपथ्यमस्मिन्नेदं वनि-
कान्तरदेशान्यादिभिः । सा चूला चूलिका रत्नभिनेयार्थस्य नेपथ्यपात्रेभ्यः निगमा-
स्वरवात् ।'

अनुवाद—'अद्वावतार' वह अर्थोपलक्षक-भेद है जिसे निम्ने अङ्क के अन्त में, उस
अङ्क में पात्रों द्वारा, अग्रिम अङ्क की सूचना कहा करने हैं ।

यथा—

अभिज्ञाने पञ्चमाङ्के पात्रैः सूचितः षष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्णः ।
(१म अर्थोपक्षेपक - अङ्कमुख)

अथाङ्कमुखम्—

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला ॥ ५९ ॥
तदङ्कमुखमित्याहुर्वीजार्थख्यापकं च तत् ।

यथा—

मालतीमाधवे प्रथमाङ्कादौ कामन्दक्यवलोकिते भूरिवसुप्रभृतीनां भाविभूमिकानां परिक्षिप्तकथाप्रबन्धस्य च प्रसङ्गात्सन्निवेशं सूचितवत्यौ ।

('अङ्कास्य' क्या है ?)

अङ्कान्तपात्रैर्वाङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ॥ ६० ॥

इसका उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के पञ्चम अंक के पात्रों द्वारा सूचित, उसका छठा अंक है जो पञ्चम अंक के ही अङ्गरूप से उपनियत है ।

विमर्श—'अङ्कावतार' की नाट्यदर्पणकार-सम्मत रूपरेखा यह है—

'सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम् ।

पात्रान्तरभावेन यस्यैवाङ्कस्य पात्रैरविच्छिन्नार्थतया सूचनीयार्थस्याभावात् । प्रवेशक-विष्कम्भक-सूचनारहितमङ्कान्तर भवति स द्वितीयाङ्कावतारणादङ्कावतारः ।'

(नाट्यदर्पण : १म विवेक)

अनुवाद—'अङ्कमुख' वह अर्थोपक्षेपक-प्रकार है जिसे एक अङ्क में अन्य अङ्कार्थों की सूचना कहा जाया करता है और जिसमें बीज तथा अर्थ (फल) दोनों सक्षेप में सूचित हुआ करते हैं ।

इसका उदाहरण 'मालतीमाधव' के प्रथम अङ्क का आरम्भ है जहाँ 'कामन्दकी' और 'अवलोकिता' द्वारा, भूरिवसु आदि की अग्रिम भूमिका की सूचना दे दी जाती है और सक्षिप्त कथाप्रबन्ध भी उपक्षिप्त कर दिया जाता है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'अङ्कमुख'-निरूपण 'भावप्रकाशनकार' के इस 'अङ्कास्य' लक्षण का अनुसरण करता है—

'सूत्रणं सकलाङ्कानां ज्ञेयमङ्कमुखं बुधैः ।

यथा 'सौदामिनी दाणिं धारेद् सिरिपव्वदे' ॥

अवलोकितयाष्टकामन्दक्युत्तरेण च ।

समासतः शमज्ञानादिकृतं सर्वाङ्कसूत्रणम् ॥

अत्र मुखं विश्लिष्टं यथोपरि श्लिष्यते त्रिधा वाक्यैः ।

पुरुषस्य वै तदङ्कमुखमिति सन्तो झुपदिशन्ति ॥'

(भावप्रकाशन : ७म अधिकार)

अनुवाद—'अङ्कमुख' का एक और भी प्रकार है जिसे 'अङ्कास्य' कहते हैं । 'अङ्कास्य' का अभिप्राय पूर्व अङ्क के अन्त में प्रविष्ट पात्रों द्वारा, अग्रिम असंबद्ध अङ्कों की सूचना का अभिप्राय है ।

अध्वान्तपात्रैरध्वान्ते प्रविष्टैः पात्रैः । यथा वीरचरिते द्वितीयाऽध्वान्ते—
(प्रविश्य)

सुमन्त्रः—भगवन्तौ वशिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः ।

इतरे—क भगवन्तौ ?

सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके ।

इतरे—तत्तत्रैव गच्छामः' इत्यद्वयपरिसमाप्तौ । '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वशिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः)' इत्यत्र पूर्वाध्वान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथाविच्छेदे उत्तराध्वमुत्तसूचनादध्वान्त्यम् इति ।

एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम् । अन्ये तु—'अध्वान्ततरणेनैवेदं गतार्थम्' इत्याहुः ।

यहाँ कारिका के 'अध्वान्तपात्र' का तात्पर्य 'अध्व के अन्त में प्रविष्ट पात्रों का' तात्पर्य है । इसका उदाहरण 'महावीरचरित' के द्वितीय अध्व के अन्त में प्रयुक्त यह वर्णोप-
देशक है—

(प्रवेश करके)

सुमन्त्र—भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र नार्गव परशुराम और बाप सन्को
हुला रहे हैं ।

और लोग—जहाँ हैं भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास विराजमान हैं ।

और लोग—तब वहीं चला जाय ।

यहाँ द्वितीय अध्व के अन्त में वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम का प्रवेश होता है । इसे 'अध्वान्त्य' इत्यपि नाना गया है क्योंकि पूर्व अध्व में प्रविष्ट पात्र 'सुमन्त्र' द्वारा जनक और शतानन्द-सम्बन्धों कथावस्तु का विच्छेद हो जाता है और अग्रिम अध्व की कथा-
वस्तु के पुनः अथवा आरम्भ की सूचना दे दी जाती है ।

यहाँ 'अध्वान्त्य' का यह अभिप्राय आचार्य धनिक के मत का अनुसरण करते हुये पताया गया है । अन्य नाट्याचार्य 'अध्वान्त्य' से ही इसे गतार्थ मानते हैं (क्योंकि इसमें और अध्वान्त्य में कोई भेद नहीं) ।

विमर्श—'अध्वान्त्य' के इस प्रयोग का वर्ण अग्रिम नाट्यशास्त्रकार ने ना प्रमाणित किया है—

'पूर्वाध्वान्तप्रविष्टैर्दुष्टाचार्यसूचनम् ।
पूर्वाध्वान्तप्रविष्टैर्दुष्टाचार्यसूचनम् ॥
अध्वान्तपात्रैरध्वान्त्यं प्रविष्टाचार्यसूचनम् ।
यथा हि वीरचरिते द्वितीयेऽध्वान्त्ये ॥
रामभार्गवयोगेन सुमन्त्रेण प्रविष्टं तु ।
विश्वामित्रविष्टौ च तदाह्वानेन सूचनी ॥
रामयोगेन च कालविष्टेनैव तौ पुनः ।
तृतीयाध्वान्त्येन सुमन्त्रेणैव सूचनी ॥'

(नाट्यशास्त्रकार ने ना प्रमाणित किया)

(विष्कम्भक आदि की योजना-व्यवस्था)

अपेक्षितं परित्याज्यं नीरसं वस्तु विस्तरम् ।

यदा संदर्शयेच्छेषमामुखानन्तरं तदा ॥ ६१ ॥

कार्यो विष्कम्भको नाढ्य आमुखाक्षिप्तपात्रकः ।

यथा—रत्नावल्यां यौगन्धरायणप्रयोजितः ।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ ६२ ॥

आदावेव तदाऽङ्गे स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

यथा—शाकुन्तले ।

विष्कम्भकाद्यैरपि नो वधो वाच्योऽधिकारिणः ॥ ६३ ॥

अन्योऽन्येन तिरोधानं न कुर्याद्रसवस्तुनोः ।

रसः शृङ्गारादिः । यदुक्तं धनिकेन—

‘न चातिरसतो वस्तु दूर विच्छिन्नतां नयेत् ।

रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ॥’ इति ।

अनुवाद—इन अर्थोपक्षेपक-प्रकारों की योजना की यह व्यवस्था है—

अहाँ रूपक-प्रबन्ध के सरस आरम्भ के लिये लम्बी-चौड़ी नीरस कथा का छोड़ना आवश्यक है वहाँ सबद्ध अपेक्षित कथा का वर्णन भी आवश्यक है और इसके लिये आमुख अथवा प्रस्तावना के बाद में ही, आमुख-सूचित पात्र द्वारा विष्कम्भक का प्रयोग उपयुक्त माना गया है । ‘रत्नावली’ में, ‘आमुख’ के बाद, यौगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त जो ‘विष्कम्भक’ है वह इसी विष्कम्भक-योजना के नियम का निदर्शन है ।

किन्तु यदि रूपक-प्रबन्ध का वृत्त आरम्भ से ही सरस हो तब आमुख अथवा प्रस्तावना द्वारा पात्र-प्रवेश की सूचना के बाद ही अङ्क का आरम्भ आवश्यक है । यहाँ विष्कम्भक की योजना अपेक्षित नहीं ।

अभिज्ञानशाकुन्तल का आरम्भ इसी नियम का निदर्शन है ।

विष्कम्भक आदि की योजना द्वारा भी नायक के वध का वर्णन कदापि नहीं किया जाना चाहिये । साथ ही साथ न तो वृत्तान्त-वर्णन द्वारा रस का तिरोधान करना चाहिये और न रस के धाराधिरोह अभिव्यञ्जन द्वारा वृत्तान्त को ही तिरोहित करना चाहिये ।

यहाँ ‘रसवस्तुनः’ में ‘रस’ का अभिप्राय शृङ्गार आदि रसों का अभिप्राय है । आचार्य धनिक का भी, इस सम्बन्ध में, यही कथन है—

‘न तो रस की अनवरत योजना द्वारा कथावस्तु का विच्छेद उचित है और न वस्तु वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन द्वारा रस का ही तिरोधान उपयुक्त है ।’

विमर्श—अर्थोपक्षेपक की योजना का एक मात्र उद्देश्य ऐसी सूच्यवस्तु की सूचना है जो कि रूपक के शतवृत्त के लिये अपेक्षित हो—

‘अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।

विष्कम्भ-चूलिकाऽङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥

सूच्यार्थसूचनोपाया. सूरिभिः पञ्च कीर्तिताः ।’

(भावप्रकाशन : ७म अधिकार)

(अर्थप्रकृति-पञ्चक - नामनिर्देश)

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ ६४ ॥

अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ।

* अन्वय—रूपक-निर्माणके उपयुक्त जो 'अर्थप्रकृतिपञ्चक' है वह यह है—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य । रूपक में इन अर्थप्रकृतिओं का नियमानुसार उपनिबन्ध आवश्यक माना गया है ।

यहाँ 'अर्थप्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' अथवा प्रयोजन की 'प्रकृति' का है और 'प्रकृति' का अभिप्राय 'मिद्री हेतु' अथवा 'साधक उपाय' का अभिप्राय है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र मान्युक्ति ने १० रूपक-प्रबन्ध में 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' की यथाविधि योजना का आदेश दिया था (अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि-नाट्यशास्त्र १० : २१) । 'अर्थप्रकृति' क्या है ? इसकी सीमा-मात्रा में 'अभिनवभारती' का ने बड़ा हाथ है—

'इतिवृत्तविषये यथा येन प्रकारेणाधिकारिकस्य स्वयन्तर्लक्षणेन पञ्चावस्था उत्पत्तेनैव प्रकारेणार्थप्रकृतयोऽपि पञ्चैव पठ्यन्ते । तदनभिधाने उपायादिस्वरूपाऽपरिज्ञानात् प्रारम्भाद्यवस्थानां परमार्थतोऽसवेदने आधिकारिकत्वमविदितं स्यात् । यत्रार्थ फल तस्य प्रकृतयः उपाया फलहेतव इत्यर्थः । तत्र जटवेतनतया द्विधा करणम्, जटश्च मुख्यकारण-भूतः, गृहतरो वा, साध बीज द्वितीय कार्य करणीय प्रयोक्तव्यमित्यर्थः । वृत्तनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च, वृत्तनोऽपि द्विधा स्वार्थमिद्विधमहिततया परार्थमिद्विधा युक्तः शुद्धयोऽपि च, तत्राद्यो बिन्दुः द्वितीयः पताका तृतीयः प्रकरी । तदेते पञ्चभिरुपायैः पूर्णफल निष्पाद्यते । अन्ते खाहु -अर्थस्य नमस्तत्परूपवाच्यस्य प्रकृतयः प्रकरगान्यवयवार्थ-खण्डा इत्यर्थप्रकृतयः एतच्च व्याख्यानं नातीव प्रकृत्य पोषयति । सन्ध्यादीनामपि धार्य-प्रकृतिस्त्वमत्र व्याख्याने स्यात्, इतिवृत्तमेव च समुदायरूपम् । अर्थ इतिवृत्ते प्रकृतयः इति वक्तव्येऽर्थग्रहणमतिरिक्तं स्यात्, इत्यवस्थाभिश्च मुख्यतावर्गन वर्गनमात्रं स्यादिति किमनेन (अभिनवभारती - ३ व भाग, पृष्ठ १०) ।'

अर्थप्रकृतयः के आधिकारिक इतिवृत्त के अन्तर विवेचन में 'अवस्थापञ्चक' का जो विवेचना किया जाया जाता है उसका पूर्ण परिचय पर नक नहीं हो सकता पर नक उसके (आधिकारिक इतिवृत्त के) दक्षिण विवेचना में 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' का मुख्य निर्धारण न हो जाता है । 'अर्थप्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' अथवा फल के उत्पन्न अथवा हेतु का अभिप्राय है । फल हेतु अथवा फलोत्पन्न प्रथम दो प्रकार से विभक्त किये जा सकते हैं—(१ ग) उत्पन्न फलोत्पन्न और (२ ग) वेत्तक फलोत्पन्न । पर उत्पन्न फलोत्पन्न भी दो प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—(१ ग) बीज, जोकि फल का उत्पन्न करता है और (२ ग) कार्य जिसे फल के फलोत्पन्न के विदे प्रयुक्त किया जाता जाता है । इसी प्रकार वेत्तक फलोत्पन्न के भी दो भेद हो सकते हैं—(१ ग) मुख्य और (२ ग) साधक । पर 'मन्दना' रूप वेत्तक फलोत्पन्न भी दो प्रकार का हो सकता है—(१ ग) साधकमिद्विध उपाय का साधक और (२ ग) साधकमिद्विध रूप में उपाय का साधक । इन विधि वेत्तक फलोत्पन्नों में बिन्दु भी उत्पन्न फलोत्पन्न है और पताका और प्रकरी प्रथम और द्वितीय प्रकार के साधक फलोत्पन्न हैं ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'रूप' की व्यवस्था पर नक दोनों का फल माना गया है । स्पष्ट-का के विदे रूप का फल स्वेच्छाम है और स्पष्ट में न पर का फल धर्मार्थ-मन्त्रेण रूप पुण्यान्वय में से होता है अथवा फलन मन्त्रेण पुण्यान्वय हो सकता है ।

(१ म अर्थप्रकृति बीज)

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः । तत्र बीजम्—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ॥ ६५ ॥

फलस्य प्रथमो हेतुर्वीजं तदभिधीयते ।

यथा—रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुर्द्वानुकूल्यलालितो यौगन्धरायणव्यापारः । यथा वा—वेण्यां द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमसेनक्रोधोपचितो युधिष्ठिरोत्साहः ।

‘अर्थप्रकृति’ के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न अभिप्राय भी प्रचलित रहे हैं । कुछ लोग ‘अर्थप्रकृति’ को अर्थ अथवा समस्त रूपकार्य का ‘अवयव’ अथवा ग्वण्ड मानते रहे हैं किन्तु ऐसा मानने से ‘अर्थप्रकृति’ और ‘सन्धि’ का स्वरूप-विवेक अस्पष्ट हो जाता है । कुछ लोग अर्थ को इतिवृत्त मानकर ‘अर्थप्रकृति’ को ‘इतिवृत्त में प्रकृति’ उपाय भी समझते रहे हैं किन्तु ऐसा समझने से ‘अर्थप्रकृति’ और ‘अवस्थापञ्चक’ का भेद समाप्त हो जाता है । इसलिये ‘अर्थप्रकृति’ को ‘फलोपाय’ मानना ही श्रेयस्क है ।

अनुवाद—‘बीज’ वह अर्थप्रकृति है जिसे मुख्य फल का मुख्य हेतु अथवा उपाय कहा गया है । धान्य-बीज की भाँति रूपक-प्रबन्ध का यह ‘बीज’ आरम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उपस्थित रहा करता है और उत्तरोत्तर विकसित और वृद्धिशील होता जाता है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के आरम्भ में, अनुकूल भाग्य से उपकृत, अमात्य यौगन्धरायण के व्यापार का जो वर्णन है जिस पर वत्सराज उदयन की सागरिका-प्राप्ति निर्भर है, वह ‘बीज’ रूप अर्थप्रकृति की ही योजना है ।

अथवा, जैसे कि ‘वेणीसहार’ के आरम्भ में, भीमसेन के कोपावेश से समृद्ध युधिष्ठिर के युद्धोत्साह का जो वर्णन है जोकि द्रौपदी के केशसंयमन (वेणीसहार : खुले केशपाश का सँवारना) का निदान है, उसमें ‘बीज’ रूप अर्थप्रकृति की ही रूपरेखा झलका करती है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार की इन पक्तियों में, जिनमें ‘अमिनवभारती’ का बीजसम्बन्धी मत सक्षिप्त किया हुआ है, ‘बीज’ का यह स्वरूप है—

‘स्वल्पोद्दिष्टः फलप्रान्तो हेतुर्वीजं प्ररोहणात् ।

आदौ गम्भीरस्वाक्षरपनिचिह्नो मुख्यफलावसानश्च यो हेतुर्मुख्यसाध्योपायः स धान्यबीजवद् बीजम् । प्ररोहणादुत्तरत्र शाखोपशाखादिभिविस्तरणात् । इदं चासुखानन्तरं निवध्यते । बीजं हि नाटकादीनामितिष्ठतार्थस्योपायः । आसुखं तु रूपकप्रस्तावनार्थं नटस्यैव घृत्तम् । याः पुनरत्र नाटकार्यस्पृशो युक्तयस्ता प्रयोगपातनिकार्थमेव । अत एवासुखोक्ता अपि बीजोक्तयः प्रविष्टनाटकापात्रेण पुनरुच्यन्ते । यथा च रत्नावल्यां—

‘द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय क्षटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥’

इत्यासुखोक्त यौगन्धरायण पठति ।

तत्र बीजं क्वचित् व्यापाररूपम् । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्ति-हेतुरनुकूलदैवः सागरिकान्तं पुरनिक्षेपादियौगन्धरायणव्यापारः ।

क्वचित्तु व्यसननिवृत्तिफले रूपके व्यसनोपक्षेपरूपम् । -

(२ च अर्थप्रकृति - विन्दु)

अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥

यथा—रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिस्मिता काव्यार्थविच्छेदे सति 'उदयनस्येन्दोरिवोद्दीक्षते' इति सागरिका श्रुत्वा '(नहर्षम्) क्वं एतो सो उदयणपरिन्दो' (कयनेष स उदयननेन्द्र) इत्यादिरवान्तरार्थहेतुः ।

कचिद् व्यसनाभ्युदयस्यैवैरूपम् । ... कचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम् । यथा मुद्राराक्षसे पाठ्य —

'आ नृपय नदि स्थिते चन्द्रगुहमभिनिवृत्तिमिच्छति ?

नन्दकुलकालमुजगी कोपानलहललेलधूमलान् ।

अद्यापि चन्द्रमाना वप्य को नेरुति शिवा मे ?

इत्यादि नायक-प्रतिनायकानाम्याथाश्रयेण विचित्ररूपो बीजोपन्यासः ।

(नाट्यम् — १ म विच्छेद)

बीज का अन्तर्विभो विच्छेद किया गया है । चन्द्रमान, वस्तुबीज और अर्थबीज के रूप में विच्छिन्न बीज की चन्द्रमा प्राचीन नाट्य काल की ही कल्पना है—

फले घन्य हि सहार फलगीज तु तद्भवेत् ।

वस्तुबीज क्या ज्ञेया अर्थबीज तु नायक ॥

उ. १—'विन्दु वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक-प्रसङ्गों के अवान्तर वृत्त-विच्छेद की समावृत्ति में अविवर्द्धन का कारण कहा गया है ।

हमके उदाहरणरूप में 'रत्नावली' का वह प्रसङ्ग पद्यों में जहाँ सागरिका की कानपूजा समाप्त होने पर वृत्त-विच्छेद सम्भव है किन्तु चन्द्रा के इस वाक्य अर्थात् 'रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिस्मिता' 'उदयनस्येन्दोरिवोद्दीक्षते' के सुनने के बाद सागरिका की हम उक्ति अर्थात् 'क्या वे ही महाराज उदयन हैं' आदि में अग्रिम इतिवृत्त अविवर्द्धन रूप में घट निकलता है—

विमर्श—'चन्द्रा' का अर्थ है चन्द्रा के रूप में 'विन्दु' का अर्थ है—

'प्रयोजनानां विच्छेदे यद्विच्छेदकारणम् ।

यावत्समाप्तिर्नश्य स विन्दुः परिकीर्तितः ॥'

इति विमर्शः — अत्र १—

'प्रयुज्यते फल येनयायानुष्ठानं तेषामिति वृत्तवशादवश्यकर्तव्यतादिभिरविच्छेदेऽपि सति यदनुसन्धानात्मक प्रधानमाश्रयतः सन्निवृत्त्युपपन्नं विन्दुः ज्ञानविद्यायां कल्याण-भोपायवान् । यावद्विच्छेदः प्रयुक्तमन्धानेन न कृतमनायक इतिदरि कार्यं निर्वहति । ननु बीज नायक फलान्तराले विन्दुस्तु स्य स्थितिनिश्चयः नायक समाप्तिरिति । यावत्तन्मय यत्प्रधानस्य चन्द्रा सन्निवृत्त्यात्तिनायकः । एतदुक्तं भवति—सकलपद्यप्रतिपा-गारणनिमित्तं अनुसन्धानं यद्विच्छेदः सुखनायकेन प्रयुक्तमन्धानेन न विद्यते नायक जगत्-रूपस्य सर्वोत्पत्त्याद्यर्थमनुसन्धानं एव । ... एव प्रधानानुसन्धानेन चन्द्रा-कारणानुष्ठानं नश्य यत्प्रधानस्य चन्द्रास्येन्द्रविन्दुस्तु सन्निवृत्त्यात्तिनायक इति विन्दुः । बीज च सुखमन्धानेन प्रयुक्तमन्धानुसन्धानेन विन्दुस्तु सन्निवृत्त्यात्तिनायक इति विमर्शोऽनर्थः । इति एव समाप्तेरिति वृत्तवशात् (विमर्शः १ म विच्छेदः २, पृ. १८१) ।

अत्र चन्द्रा का अर्थ है चन्द्रा का अर्थ है चन्द्रा के रूप में 'विन्दु' का अर्थ है—

(३ य अर्थप्रकृति पताका)

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ।

यथा—रामचरिते-सुग्रीवादेः, वेण्यां भीमादेः, शाकुन्तले विद्रूपकस्य चरितम् ।

(पताका की नाटकपर्यन्त योजना)

पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥ ६७ ॥

गर्भे सन्धौ विमर्शे वा निर्वहणस्तस्य जायते ।

यथा—सुग्रीवादेः राज्यप्राप्त्यादि । यत्तु मुनिनोक्तम्—

‘आ गर्भाद्वा विमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते ॥’ इति ।

तत्र पताकेति । पताका नायकफलं निर्वहणपर्यन्तमपि पताकायाः प्रवृत्ति-दर्शनात्’ इति व्याख्यातमभिनवगुप्तपादैः ।

की अपनी अपनी कार्यसिद्धि है और उसके अपने अपने उपाय हैं जिनका अनुमन्यमान अथवा अन्वेषण अवश्यभावी है । इस प्रकार ‘विन्दु’ को रूपक प्रबन्ध में व्याप्त शान अथवा विचाररूप इतिवृत्त-भाग माना गया है और इसकी योजना अनिवार्य बतायी गयी है ।

अनुवाद—‘पताका’ वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त है जो व्यापक हुआ करता है और प्रधान फल का सहायक बना करता है ।

उदाहरण के लिये रामचरितसम्बन्धी रूपक प्रबन्धों में सुग्रीवादिसम्बन्धी वृत्तान्त अथवा ‘वेणीसंहार’ में भीमसेन-सम्बन्धी वृत्तान्त अथवा ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ में विद्रूपक-सम्बन्धी वृत्तान्त ।

अनुवाद—‘पताका’ रूप प्रासंगिक इतिवृत्त का भी एक नायक हुआ करता है किन्तु आधिकारिक नायक-विषयक फल के अतिरिक्त उसका अन्य कोई फल उपनिबद्ध नहीं किया जाया करता । पताकानायक का अपना जो फल है उसका उपनिबन्ध गर्भसन्धि अथवा विमर्शसन्धि में ही समाप्त हो जाता है ।

उदाहरण के लिये (रामचरित आदि रूपक-प्रबन्धों में) सुग्रीवादि वृत्तान्त रूप जो ‘पताका’ है उसमें सुग्रीवादि का राज्यलाभारूप फल गर्भ अथवा विमर्शसन्धि में ही उपनिबद्ध है न कि निर्वहण सन्धि में (क्योंकि वहाँ तो मुख्य नायक के ही फल का उपनिबन्ध अपेक्षित है) ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि भरतमुनि की इस उक्ति अर्थात् ‘पताका को गर्भसन्धि अथवा विमर्शसन्धि को समाप्ति के पहले ही निष्पन्न अथवा समाप्त हो जाना चाहिये’ का पताकानायक-सम्बन्धी उपर्युक्त फल योजना के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं पड़ता क्योंकि यहाँ, जैसा कि अभिनवगुप्तपादाचार्य का कहना है, ‘पताका’ का अभिप्राय (उपचारतः) पताकानायकगत फल का अभिप्राय है न कि पताकारूप प्रासङ्गिक इतिवृत्त का, जो कि (गर्भ और विमर्श तक ही नहीं अपितु) निर्वहण सन्धि तक भी चला करता है ।

विमर्श—यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि साहित्यदर्पणकार का, ‘पताकेति पताकानायक-फलं.....दर्शनात्’ आदि जो उद्धरण है वह ‘अभिनवभारती’ की इन पंक्तियों का भावानुवाद रूप है—

(४ र्य अर्थप्रकृति-प्रकरी और उसकी विधान-व्यवस्था)

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥ ६८ ॥

यथा—कुलपत्यङ्गे रावणजटायुसवाद ।

प्रकरी नायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ।

यथा—जटायोः मोक्षप्राप्तिः ।

‘स्वफलसिद्धये यतमानस्य तत्र तत्रावस्य पृथग्गुणनाशङ्केति, तत्प्रशमनप्रयोजनम् अस्मत् पक्षे कस्मिंस्तर्हि प्रधानसन्धौ तस्यानुयायित्वमिति दर्शयितुमाह—आगर्भाशयिनर्गा-
देति प्रतिमुखे गर्भे यदि वा । यमर्थं व्याप्य निवर्तते पताकेतिवृत्त तावत्येव पताकानाय-
कस्य स्वफलमिद्विरूपनियन्धनीया, सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाण आसी-
नोऽपि भूतपूर्वगत्या पताकाशब्दवाच्यो य मुख्यत्वेन । अत्राह कस्मात् यत्मादिति । कस्माद्-
स्याभिप्रायः, प्रधानवच्च कल्पतेत्युक्त्वात् निर्वाहादपि किं तद्भवति, अत्रोत्तरं यरनादिति
निर्वहणपर्यन्ते ताफले क्रियमाणे तुल्यकालयोरुपकाराद्योपकारकरवाभावात् तेन प्रधानो-
पकारभावो न भवेत् ।’ अभिविधावाह । ये तु मर्यादायां त व्याचक्षते ते न सम्पगमन्तः ।

(अभिनवभारती ३ व भाग, पृष्ठ १८)

अनुवाद—‘प्रकरी’ वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक-प्रवर्णों के अल्पदेश व्यापक प्रासङ्गिक वृत्त के रूप में देखा जाया करता है । इसके उदाहरण के लिये ‘कुलपत्यङ्ग’ के रावण-जटायु-सवाद सन्ध्या वृत्तान्त को लिया जा सकता है ।

‘प्रकरी’ रूप प्रासङ्गिक किंवा अल्पदेश व्यापक वृत्त का भी नायक अवश्य हुआ करता है किन्तु मुख्य नायक के फल के अतिरिक्त प्रकरी-नायक का और कोई फल नहीं हुआ करता (अर्थात् ‘प्रकरी’-नायक का कार्यकलाप उसके अपने प्रयोजन विशेष के लिये नहीं अपितु ‘आधिकारिक’-नायक के ही उद्देश्यविशेष के लिये हुआ करता है) । जैसे कि ‘जटायु’ की जो मोक्षप्राप्ति है वह उसके प्रयत्नों का फल नहीं अपितु राम के मोक्षालाभरूप फल का ही साधन है ।

विमर्श—नायकानां भगवन्नि के अनुसार ‘प्रकरी’ या या सम्पद है—

‘फलं प्रकृत्यते यस्या परायण्य केयम् ।

अनुबन्धविहीनयात् प्रकरीति विनिदिशेत् ॥’

(नाट्यशास्त्र ११ : २२)

अर्थात् ‘प्रकरी’ वह शक्ति विशेष है जो स्वार्थनिरपेक्ष होकर प्रयोजन के लिये प्रयुक्त की जाया जाता है । ‘आश्रित’ प्रकरी प्रयोजन के लिये प्रयुक्त होती है और ‘स्वयं’ प्रकरी स्वयं प्रयोजन के लिये प्रयुक्त होती है ।

‘प्रकरी’ चेत् एषिद् भावा चेतनोऽन्यप्रयोजनः ।

‘एषिद् भावी’ एतद्वदेनास्यापि अन्यस्य सुखदुःखवत्त्वस्य प्रयोजनं यस्य स चेतनं सदाशरी प्ररूपेण स्वार्थनिरपेक्षया परेणापि प्रकरी । यथा रामप्रसन्नोऽपि जटायु । चेतन्यनेन पताकापदनवत्त्वमभिप्रेयमाह । एषिद् भाविशत स्वार्थनिरपेक्षया पताका-
तो भेदः ।’ (नाट्यशास्त्र ११ : २२)

अतः प्रकरी की वृत्ति प्रयोजन के लिये प्रयुक्त होती है और स्वयं प्रयोजन के लिये प्रयुक्त होती है । ‘प्रकरी’ स्वयं प्रयोजन के लिये प्रयुक्त होती है और स्वयं प्रयोजन के लिये प्रयुक्त होती है ।

(५ म अर्थप्रकृति : कार्य)

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निवन्धनः ॥ ६९ ॥

समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम् ।

यथा—रामचरिते रावणवधः ।

किया करता है । 'प्रकरी' भी नायक का एक सहकारी चरित है किन्तु स्वार्थनिर्पेक्ष रहकर नायक के प्रयोजनों का सम्पादक बना करता है । प्रकरी की योजना अनिवार्य नहीं अपि तु वैकल्पिक है ।

'प्रकरी' के इस स्वरूप को देखते साहित्यदर्पण की लक्ष्मी टीका का यह प्रकरी-विमर्श—

'प्रकरीति । प्रकरी तत्प्रकरी नायकस्य जटायुप्रभृतेः स्वकीय फलान्तर स्वप्रयोजन-विशेषरूपं न स्यात्, किन्तु तत्तदशे नायकफलोत्पादिकैव स्यादिति प्राप्तदेवार्थः । उदाहरति—यथेति । जटायोर्मोक्षप्राप्तिरिति । अयमाशयः—जटायोर्मोक्षप्राप्तिर्वर्ण्यमाना न प्रकृतोपयोगिनी किन्तु तस्यैव पुण्यजनिकेति तदिदमुदन्तं न पताका । य. खलु रावणेन संवादः स प्रकृतोपयोगीत्यस्य प्राकरणीकत्वात् प्रकरीत्वम् । एतदतिरिक्तस्य तु तदेकदेश-वर्तित्वमात्रम् (लक्ष्मी टीका, पृष्ठ—३५३) ।'

कुछ उत्सृज सा ही प्रतीत होता है ।

साथ ही साथ साहित्यदर्पण के अंग्रेजी अनुवाद (पृष्ठ १९३) में 'प्रकरी'-विमर्श का यह अनुवाद—

'An object of the hero other than the principal is not the Prakari'

बिल्कुल निरर्थक सा ही दिखायी देता है ।

अनवाट—'कार्य' रूप अर्थप्रकृति का अभिप्राय उस प्रधानतया अवस्थित साध्य का है जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यों का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है ।

उदाहरण के लिये रामचरितसम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में 'रावणवध' का जो निरूपण है वह कार्यरूप अर्थप्रकृति का ही निदर्शन है ।

विमर्श—'कार्य' रूप अर्थप्रकृति के निरूपण में नाट्याचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहता आया है । भरतमुनि के अनुसार 'कार्य' का यह स्वरूप है—

'यदाधिकारिक वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते ।

तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम् ॥' (नाट्यशास्त्र १९ २६)

जिसे आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यदाधिकारिकमिति—प्राज्ञैः प्रधाननायकपताकानायकप्रकरीनायकैश्चेतनरूपैः, यद्वस्तु फलरूपं प्रयुज्यते सपाद्यते सपाद्यत्वेनानुसन्धीयते तत्फलप्रयोजनो य. संपूर्णतादायी पूर्व-परिगृहीतस्य प्रधानस्य बीजाख्योपायस्य फलम्, आरम्भ इत्यादिशब्दवाच्यो द्रव्यगुण-क्रियाप्रभृतिः सर्वोऽर्थः सहकारी कार्यमित्युच्यते, चेतनैः कार्यते फलमिति व्युत्पत्त्या । सम्यगिति प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तित्रयसम्पन्नैरित्यर्थः । तेन जनपद-कोष-दुर्गादिकव्यापार-वैचित्र्य सामाधुपायवर्ग इत्येतत् सर्वं कार्योऽन्तर्भवति । तत्र परं प्रथमपरिगृहीतो प्रधान-भूतोऽभ्युपायो बीजत्वेनोक्तः ।'

जिसका अभिप्राय यह है—जिस उद्देश्यविशेष की दृष्टि से प्रधान नायक, पताका-नायक और प्रकरी-नायक का कार्यव्यापार चला करता है उसके लिये जो भी आवश्यक साधन-समुदाय है

वह सब 'कर्म' का अंशरूपि हो बनाने लगा करता है। प्रथम जन्म में 'बीज' है। हाँ किंतु कर्मों के कारण ही कुछ का जन्म है वह सब 'कर्म' का ही है (कर्मों के अंशरूपि व रस)। इस प्रकार 'नानुभा' नाम 'बीज' रूप में निश्चित कृतकित्तों की सन्तानों के प्रति निर्दोशों की भी कृत-वैशेष्य है वह सब 'कर्म' का ही है।

‘कारे’ का दृष्टि, संस्कारान्तरात्पुनरुत्पत्तिरिति भा. विद्या है—

‘माघे बीजनहशरो कार्यम्—

प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरिनायके. माथे प्रधानफलवेनानिधने धोजन्य
प्रारम्भवस्थोपरिहितस्य प्रधानोपायस्य सहकारी मन्त्र्यतादायी सैन्य-क्षेत्र-दुर्ग-मानाद्यु
पादलदण्डो द्रव्य-गुण-क्रियाप्रवृत्तिः सर्वोऽपेक्षेनने कथंते फलमिति कार्यम् । अयमत्रो
पायाना निबन्धमन्त्रेय-महायानपेक्षाना नाप्रकाना कृते धोज-विन्दु-कार्याणि त्रय एवो-
पाया , महायानपेक्षानान् पताका-प्रकरिनायकान्यन्यतरया वा सह पञ्च अन्वारो वेति ।"

— ५७५ —

कार्यं फलं प्रत्युपकारविरोधे पुनर्बोद्धव्यं। सुखता दाहुत्य प्राधान्यं वा निश्चयनी-
यम् । तत्र दीर्घनिद्रांस्त्वावन्मुद्रस्वप्नेव सर्वं शेषिचात् । पनाका-प्रकर्ष-कार्याणां तु
सुखफलं प्रत्युपयोगोपेक्षया एकस्य दृष्टोत्पत्त्या वा सुखस्वप्नद्वेषा चानु-द्वेषम् । तत्र
पनाकायां सुखत्वं यथा ध्रुवश्चक्रविरचितायां नृत्तकटिकायां पूर्वोपकारोत्पत्तिरित्यपार-
कम् । प्रक्यां यथा-वारानागविरचितायां कुन्तालायां सीतायाम्निद्वयस्योद्य पालन-
मयोजनान्मया स्वकृतनिर्देशस्य वान्नीके । उन्मयेयं पालनमन्त्रेण सुप्तिविवर्तनीय-योर्जडा-
ः सुहृन्मदद्वन्द्वद्विनाशः । पनाका प्रक्योरुत्पत्तिवेत्तावे वा सर्वत्र कार्यस्य सुखवनिनि ।'

(नट्यमः १ नटिवः)

[illegible]

— १० —

‘तन्मेतिषु तन्त्र हि क-निष्ठा—

कार्यं निरगन्तरुद्धमेकानेकहृदयि च ।

धर्मायं काना ए- तस्य शुद्धमेवेकमेवाहृतस्य द्वित्यहृतस्य वा ।'

नमः नमः सुखादिभ्यः—

स्वप्नं हितुं ननुर्वीजं विनायनेहया ।

सर्वे वैशिष्ट्यं कथमाद्यकं पुरस्कारान्तरं विनाशं विनिमित्तं संज्ञायाः
तथा महाकायान्तरकं विनिमित्तं पुरस्कारान्तरं विनिमित्तं ।

(५५ - ५५ - ५५)

[illegible]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥
 ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

(अवस्थापञ्चक स्वरूप और प्रकार-निर्देश)

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ॥

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।

“बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च कथामेदस्य हेतवः ॥
एते कथाशरीरस्य हेतवः परिकीर्तिताः ।
साधनत्वाद्धि बीजस्य प्रथमं तदुपक्षिपेत् ॥
साध्यत्वादेव कार्यस्य सर्वान्ते तत्प्रयोजयेत् ।
अविच्छेदाय रचयेद्बिन्दुं मध्ये तयोरपि ॥
तत्र तत्र यथायोग पताका प्रकरीर्न्यसेत् ।
उक्ता द्वयप्रकृतयस्तत् प्रवृत्तिश्च दर्शिता ॥
.....

ताताज्ञामधिमौलीति वाक्ये कार्यं विलोक्यते ।
‘ताताज्ञामधिमौलि मौक्तिकमणिं कृत्वा महापोत्रिणो
दग्राविद्धविलासपत्रकवरी हृष्टा भृश मेदिनी ।
सेतुर्दक्षिणपश्चिमौ जलनिधी सीमन्तयस्त्रिमित’
कल्पान्तं च कृतं समस्तमदशग्रीवोपसर्गं जगत् ॥’
अत्र धर्मार्थनिष्पत्तिः फलत्वेन प्रकल्पिता ॥”

(भावप्रकाशन ७म अधिकार)

यहाँ स्पष्टतया ‘बीज’ को साधन और धर्मार्थकामरूप ‘कार्य’ को फल अथवा साध्य निर्दिष्ट किया गया है ।

साहित्यदर्पणकार का ‘कार्य’लक्षण ‘दशरूपक’ और ‘भावप्रकाशन’ के ‘कार्य’लक्षण के आधार पर निकला है । ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यदर्पणकार ने यहाँ अपनी समीक्षासुद्धि का साथ छोड़ दिया है क्योंकि यदि ‘कार्य’ भी साध्य ही हो तो ‘फलागम’ और ‘कार्य’ (पाँचवीं अवस्था और पाँचवीं अर्थप्रकृति) को शृङ्खल-शृङ्खल गिनाने और बताने की क्या आवश्यकता ।

अनुवाद—फल के उद्देश्य से जो कार्य प्रारम्भ किया जाय उसकी ये पाँच अवस्थाएँ स्वभावतः हुआ करती हैं—१ आरम्भ, २. यत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति और ५. फलागम ।

विमर्श—‘अवस्था’-निरूपण में भी साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक के ही इस अवस्था-लक्षण का सहारा लिया है—

‘अवस्था’ पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।

आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा नियताप्ति-फलागमाः ॥ (दशरूपक . १ १९)

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘अवस्थापञ्चक’ नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक पद न होकर सामान्यार्थक पद हो गया है । यहाँ ‘अवस्थापञ्चक’ के रूप में किसी कार्य अथवा व्यापार की पाँच दशाओं का ही विश्लेषण किया गया है । किन्तु भरत मुनि के इस ‘अवस्थापञ्चक’ विमर्श अर्थात्—

‘ससाध्ये फलयोगे तु व्यापार’ कारकस्य (णस्य) यः ।

तस्यानुपूर्व्या विज्ञेया पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥

प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च संभवः ।

नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ (नाट्यशास्त्र . १९. ७ ८)

(१म अवस्था आरम्भ)

तत्र—

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये ॥ ७१ ॥

यथा—रत्नावल्या रत्नावल्यन्त पुरनिवेशार्थं यौगन्धरायणस्यौत्सुक्यम् । एव
नायकनायिकादीनामप्यौत्सुक्यमाकरेषु बोद्धव्यम्

(२य अवस्था चल)

प्रयत्नस्तु फलावाप्ता व्यापारोऽतित्वरान्वितः ।

के परामर्श में अभिनवभारतीकार का जो कथन है—

‘अथ कविप्रयत्नेन साध्यो व्यापारपरिस्पन्दो यो वाट्मनसगतस्तस्य या अवस्था,
आनुपूर्व्येति-उद्देशक्रमेणैव प्रयोक्तृभिः कविभिर्नियन्धनीयतया ज्ञातव्या ता उद्दिशति-
प्रारम्भश्चेति । चकारेस्तथाशब्देन चावश्यभाविष्कमवमामामुच्यते । न हि प्रेषापूर्वका-
रिणोऽवस्थान्तरामभावनाया प्रारम्भ उचितो भवति, तत्प्रारम्भश्चेदुत्तरोत्तरावस्था-
प्रसर एव । पञ्चम इत्यनेन क्रमो विचक्षित इति दर्शयति । एता क्रमेण दर्शयितुमाह
(औत्सुक्यमात्रयन्धस्त्विति)—महतः प्रधानभूतस्य फलस्य युज्यमानस्य तत्तन्नायकोचि-
तस्य यद्वीजमुपायमग्नत् तस्य यदौत्सुक्यमात्र तद्विषयस्मरणोत्कण्ठानुरूप, अनेनोपाये-
नैतत् सिद्धयतीति, तस्य यन्धो हृदये निरुद्धि प्रारम्भ, सा च नायकस्यामात्यस्य
नायिकाया प्रतिनायकस्य दैवस्य वा तस्या हि तथैवानुमानाद्व्यवस्था ।’

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १० ७ ८)

इसमें यह बात चलता है कि ‘अवस्थापत्रक’ का अन्तर्गत नायक ने जो है वित्त कवि ‘अवस्था-
पत्रक’ में जो है । नायकिक जीवन के नायकादि के व्यापार का ‘अवस्थापत्रक’ नाट्यशा-
स्त्रों का नायक के ‘अवस्थापत्रक’ के रूप में परिचित हुआ जाता है । नायक का ‘अवस्था-
पत्रक’ नायक के मुक्त चरितों के अभिनय के क्रमिक निरूपण-विषय है । इस
‘अवस्थापत्रक’ का समुचित योजना के नीचे ‘अवस्थापत्रक’ रूप स्वीकृत होता है । यह अन्त-
र्गत प्रधानभूत अवस्थापत्रक हुआ जाता है ।

उक्त—‘आरम्भ’ कार्य की यह अवस्था है जिसे मुख्य फल की सिद्धि के लिये
औत्सुक्य कहा गया है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ में, नायक यस्मिन् उद्यम के अन्त पुर में नायिका रत्नावली
के निवेश के लिये, अमात्य यौगन्धरायण का जो औत्सुक्यवर्णन है उसमें आरम्भावस्था
की ही योजना दिखायी देती है । अन्यान्य रूपक-प्रयत्नों में अन्यान्य नाटकीय चरितों
जैसे कि नायक, नायिका आदि आदि के औत्सुक्यवन्ध की योजना की गयी है किन्तु यह
सब भी ‘आरम्भ’ दशा की ही योजना है ।

विमर्श—‘आरम्भ’ का अभिनय के लिये मुख्यवन्धि के लिये आरम्भ के लिये आरम्भ
की योजना है । इस योजना के अनुसार नायक नायिका आदि के लिये आरम्भ के लिये
आरम्भ है—

‘उपायविषयमी’ मुख्यमीमुख्यानुगुणो व्यापारआरम्भावस्थेऽर्थः ।

(१० १० १० १० १०)

उक्त—‘प्रयत्न’ यह कार्यावस्था है जिसे फलप्राप्ति के लिये साधन उद्यम के
रूप में देखा जाता करता है ।

यथा रत्नावल्याम्—‘तद्वि ण अत्थि अण्यो दंसण उवाओ त्ति जघा तथा आलिहिअ जघासमीहिदं करइस्सम् ।’ [तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथा आलिख्य यथा समीहितं करिष्यामि] इत्यादिना प्रतिपादितो रत्नावल्याश्चित्र-लेखनादिर्वत्सराजसङ्गमोपायः । यथा च—रामचरिते समुद्रबन्धनादिः ।

(३य श्रवस्था प्राप्त्याशा)

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिः सम्भवः ॥ ७२ ॥

यथा—रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्तनाभिसरणादेः सङ्गमोपायाद्वासव-दत्तालक्षणापायशङ्कया चानिर्धारितैकान्तसङ्गमरूपफलप्राप्तिः प्राप्त्याशा ।
एवमन्यत्र ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के, इस प्रसङ्ग अर्थात् ‘उदयन से मिलने का और तो कोई उपाय नहीं, केवल जैसे-तैसे उन्हें चित्र में खींचकर अपनी इच्छा पूरी करूँ’ में उपनिषद्, वत्सराज से मिलने के लिये, रत्नावली का चित्रलेखनरूप जो व्यापार है उसमें ‘प्रयत्न’ दशा का ही स्वरूप परिलक्षित होता है । इसी प्रकार रामचरित सम्बन्धी रूपक प्रबन्धों में, समुद्रबन्धन आदि व्यापार-वर्णन प्रयत्न दशा की ही योजना के रूप में देखा जा सकता है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘अभिनवभारती’ का अनुसरण करते हुये ‘प्रयत्न’ का बड़ा सुन्दर लक्षण किया है—

‘प्रयत्नो व्यापृतौ स्वरा । मुख्यफलोपायव्यापारणेतवराऽनेनोपायेन विना फल न भवतीति निश्चयेन परमौत्सुक्यं प्रकर्षेण यत्नः प्रयत्नः । औत्सुक्यमात्रमारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः (नाट्यदर्पणः ११म विवेक) ।’

अर्थात् प्रयत्न आरम्भ की ही उत्तरावस्था है । आरम्भ यदि औत्सुक्य है तो प्रयत्न परमौत्सुक्य ।

अनुवाद—‘प्राप्त्याशा’ वह कार्यावस्था है जिसे फलसिद्धि के साधक और प्रतिबन्धक के पारस्परिक द्वन्द्व में फलसिद्धि की आशा अथवा सभावना कहा गया है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के तृतीय अङ्क में, रत्नावली के वासवदत्ता वेश में अभिसाररूप सङ्गमोपाय (उदयन-मिलन के साधक) और वासवदत्ता की उपस्थिति के रूप में उसके सङ्गमापाय (उदयन-मिलन के प्रतिबन्धक) के द्वन्द्व में, उदयन-मिलन रूप फल की सभावना अथवा आशा का जो चित्रण है वह प्राप्त्याशावस्था की ही योजना है ।

इसी भाँति अन्य रूपकप्रबन्धों में अन्यविध प्राप्त्याशा-योजना देखी जा सकती है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार ‘प्राप्त्याशा’ का यह स्वरूप है —

‘फलसभावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः । मात्रशब्देन फलान्तरयोग प्रतिबन्ध-निश्चयश्च व्यवच्छिद्यते । फलान्तरासवन्धादनिश्चितवाधकाभावाच्चेोपायादीपत् प्रधान फलस्य या सभावना न तु निश्चयः सा प्राप्तेः प्रधानफललाभस्याशा प्राप्त्याशा ।’

(नाट्यदर्पण ११म विवेक)

तात्पर्य यह है कि रूपक प्रबन्धों में जो प्राप्त्याशा-योजना है वह नायकचरितों के अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व की ही अभिव्यञ्जना है ।

(४४ अवस्था नियताति)

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता ।

अपायाभावान्निर्धारितैकान्तफलप्राप्ति । यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवी-
प्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि ।' इति देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन
निवारणान्नियतफलप्राप्ति सूचिता ।

(४५ अवस्था फलागम)

साञ्जस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः ॥ ७३ ॥

यथा—रत्नावल्या रत्नावलीतामश्चक्रवर्तित्वलक्षणफलान्तरत्नाभनन्ति ।
एवमन्यत्र ।

अनुवाद—'नियताति' कार्य की वह अवस्था है जिसे 'अपायाभाव' अर्थात् विनाश
की निवृत्ति में फल प्राप्ति की संभावना का निश्चय कहा गया है ।

'अपायाभावात् निश्चिता प्राप्ति' का अभिप्राय विघ्न के निराकरण में निर्धारित
फलप्राप्ति का अभिप्राय है । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसन्न अर्थात् 'वामदेवता' के
प्रसन्न करने के क्षतिरहित उदयन में मिलने का और कोई उपाय नहीं है, वामदेवता-
प्रसादनरूप उपाय के द्वारा, उदयन मिलने के विघ्न की निवृत्ति में, उदयन मिलने की
संभावना का जो निश्चय है उसमें 'नियताति' की ही कल्प दिग्यायी दिया करनी है ।

विमर्श—नाट्यदर्शनकार ने 'नियताति' का यह अर्थ दिया है—

'नियतातिरुपायानां साकल्यात् कार्यनिर्णयः ।

प्रधानफलहेतूनां प्रतिबन्धकभावेन सकलसहकारिसमस्या कार्यस्य प्रधानफलस्य
निर्णयो भविष्यत्येवेति निश्चयो नियता फलाद्यभिचारि प्राप्तिर्नियताति ।

(नाट्यदर्शन . १३१)

अनुवाद—'फलागम' यह कार्यवस्था है जिसे समग्र फलनाभ कहा गया है ।

जैसे कि 'रत्नावली' में ही, नायक वामराज उदयन के रत्नावली-रत्नाभ और साथ ही
साथ चक्रवर्तिव-रत्नाभ का जो वर्णन है वह 'फलागम' की अवस्था की ही योजना है ।

इसी प्रकार अन्य सब प्रकार की भी फलागमावस्था पावनी जा सकती है ।

विमर्श—भास्करानन्द जी ने 'रत्नावली' में 'नियताति' का अर्थ दिया है—
'यथा देवी प्रसाद'—

'माहादिष्टार्थसम्पत्तिर्नायकस्य फलागमः ।

माहात् समन्तर न तु दानादिभ्यः स्थाविरवस्थित्युत्पत्त्यादिभ्यः प्रत्यक्ष-
प्रत्यक्ष अर्थस्य प्रयोजनस्य सम्बन्ध एतेन सूचितः । फलागमः क्षणमात्रमे-
व पुनरागतस्य । इह फलस्योदयादेन फलागमः । उदयनस्य तु नायकेन न
सम्बन्धितः फलस्य तु नायके नायकस्य फलागमः । फलागमः
नायकस्य फलेन प्राप्तः फलागमः । फलागमः नायकस्य फलेन प्राप्तः फलागमः ।
इत्युक्तं भवति । तानि तु यथा निरुद्धास्तस्य फलतो नायक एव फलागमः । फलागमः
पुनरागतस्य निरुद्धते ।' (नाट्यदर्शन . १३१)

अनुवाद—'फलागम' यह कार्यवस्था है जिसे समग्र फलनाभ कहा गया है ।
जैसे कि 'रत्नावली' में ही, नायक वामराज उदयन के रत्नावली-रत्नाभ और साथ ही
साथ चक्रवर्तिव-रत्नाभ का जो वर्णन है वह 'फलागम' की अवस्था की ही योजना है ।

('सन्धि' स्वरूप-निरूपण)

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात् पञ्चभिः ।

पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्चसन्धयः ॥ ७४ ॥

तल्लक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्ध सन्धिः ।

तद्वेदानाह—

(सन्धिपञ्चक)

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ॥ ७५ ॥

इति पञ्चाऽस्य भेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।

अनुवाद—'अर्थप्रकृतिपञ्चक'रूप वृत्तभेद के साथ अवस्थापञ्चक की क्रमिक सम्बद्ध योजना के कारण नाटकीय इतिवृत्त के जो पांच भाग हुआ करते हैं उन्हें ही पांच संधियाँ कहा करते हैं ।

यहा 'सधि' का अभिप्राय एक प्रधान इतिवृत्त के साथ परस्पर सम्बद्ध अन्य अवान्तर इतिवृत्त खण्डों के सम्बन्ध का अभिप्राय है ।

तात्पर्य यह है नाटक के इतिवृत्त-खण्डों का अपने-अपने उद्देश्य-विशेषों के साथ सम्बन्ध तो 'सन्धि' है ही, साथ ही साथ इन परस्पर संबद्ध इतिवृत्त-खण्डों और उनके उद्देश्यों का प्रधान नाटकीय इतिवृत्त और उसके मुख्य उद्देश्यविशेष के साथ जो सम्बन्ध है वह भी 'सधि' ही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'अभिनवभारती' के सन्धि-विमर्श के आधार पर 'सन्धि' का यह स्वरूप-विवेक किया है—

'सन्धयो मुख्यवृत्तांशः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात् । मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थ-स्यांशा भागा परस्पर स्वरूपेण चाङ्गैः सन्धीयन्त इति सन्धयः अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता अनुयाता अवस्था समाप्तौ समाप्यन्त इत्यर्थः ।' (नाट्यदर्पणः १ म विवेक)

अर्थात् यदि रूपक-प्रबन्ध को एक 'महावाक्य' और रूपक-प्रबन्धार्थ को 'महावाक्यार्थ' माना जाय तो सन्धिपञ्चक को इसका अश्वपञ्चक अथवा भागपञ्चक मानना पड़ेगा । महावाक्यरूप रूपकप्रबन्ध के ये पांच अंश अथवा भाग अपने अपने अवान्तर अंशों अथवा भागों में तो सश्लिष्ट रहा ही करते हैं, परस्पर भी सश्लिष्ट अथवा सुसंबद्ध ही उपनिबद्ध किये जाया करते हैं । अपने अपने अंगों में सुसश्लिष्ट किंवा परस्पर संबद्ध यह पंचविध रूपकार्यराशि ही 'सन्धिपञ्चक' है ।

अनुवाद—इस 'सन्धि' के ये पांच भेद हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श और (५) उपसंहृति (अथवा निर्वहण) ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने पञ्चविध सन्धि का यह निर्देश किया है—

'मुख प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्श एव च ।

तथा निर्वहण चेति नाटके पञ्चसन्धयः ॥'

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार समझाया है—

'मुख प्रतिमुखं चैवेति । समुच्चयपदैः पञ्चानां सर्वत्रावश्यंभाविष्व द्योतितम् । नियम-

(१ म मन्धि-मुग्धमन्धि)

यथोद्देशं लक्षणमाह—

यत्र योजसमुत्पत्तिर्नानार्थरत्नसम्भवा ॥ ७६ ॥

प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् ।

यथा—रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के ।

वाचिभिः क्रमनियमः । नाटक इत्यभिनेयरूपके इत्यर्थः । महावाच्यार्थरूपस्य रूपकार्यस्य पञ्चाशा अवस्थाभेदेन कल्प्यन्ते । " तेनार्थावयवा सन्धीयमाना परस्परसन्धेय मन्धय इति समारम्भा निरुक्ता ।" (अभिज्ञानाङ्की नाटकादिक १० २७)

अर्थात् प्रथमे-पदे जो मैं मन्दल और दूसरा मन्दल जो रूपकार्य के पात्र अर्थात् अवयव हैं वे ही पात्र मन्धियां हैं ।

अनुवाद—प्रथम 'मन्धिपञ्चक' का निरूपण किया जा रहा है । इस 'मन्धिपञ्चक' में जो प्रथम मन्धि है उसे 'मुख' कहा करते हैं । 'मुखमन्धि' का अभिप्राय रूपक की अर्थराशि का वह अङ्ग है जिसके माथ नायक की प्रारम्भावस्था सम्बद्ध रहा करती है और जिसमें 'योज' रूप अर्थप्रकृति की योजना हुआ करती है । यह 'मुखमन्धि' रूप अर्थराशि ऐसी हुआ करती है जिसमें भिन्न-भिन्न रमभावों की अभिव्यञ्जना मरी जा करती है ।

जैसे कि 'रत्नावली' नाटिका के प्रथम अङ्क की जो अर्थराशि है वह 'मुखमन्धि' रूप ही अर्थराशि है ।

विमर्श—नाट्यार्थं भगवन्मुनि के अनुसार 'मुखमन्धि' का अर्थ क्या है—

'यत्र योजसमुत्पत्तिर्नानार्थरत्नसम्भवा ।

यस्य शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥'

जिसमें 'मन्धिपञ्चक' नाम के इस प्रथम मन्धियां हैं—

'प्रारम्भभावविधानुगमिषु मुखम्, यावत् क्रियावयवभागराशौ योजस्य मुक्तोपायस्य सम्पुञ्जति शरीरेण प्रारम्भात्मना अनुगता भवति, नानाभूतोऽर्थवशात् प्रसङ्गादानीं रमनभवे य स्यात् । एतदुक्तं भवति—प्रारम्भोपयोगी याज्ञान्यराशि प्रसङ्गादुपसङ्गादि विधिप्राप्त्यादौ वापनित तावान् मुखमन्धि, तदभिधायी च रूपकेऽङ्कः । यथा रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के । तथा हि, अमात्यस्य घोरो, वासराजस्य शूद्रराजकुतू, नर-शूद्रा इति एवान्य मानसिकाया राजद्वन्द्वेऽनात्यप्रारम्भविषयीकृतोऽर्थराशिरवयवीति मुखमन्धि ।'

(अभिज्ञानाङ्की नाटकादिक १० २७)

अर्थात् 'मुखमन्धि' का अर्थ 'मुख' है जिसके अर्थ में नाट्य के मुख का अर्थ मन्धि है । नाट्य के मुख ही के अर्थ में, नाट्य की वह अभिव्यञ्जनात्मिका रमन भवे य स्यात् । एतदुक्तं भवति—प्रारम्भोपयोगी याज्ञान्यराशि प्रसङ्गादुपसङ्गादि विधिप्राप्त्यादौ वापनित तावान् मुखमन्धि, तदभिधायी च रूपकेऽङ्कः । यथा रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के । तथा हि, अमात्यस्य घोरो, वासराजस्य शूद्रराजकुतू, नर-शूद्रा इति एवान्य मानसिकाया राजद्वन्द्वेऽनात्यप्रारम्भविषयीकृतोऽर्थराशिरवयवीति मुखमन्धि ।'

(२ य सन्धि . प्रतिमुख)

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ॥ ७७ ॥

लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ।

यथा—रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजना प्रथमाङ्कोपक्षितस्य सुसंगता-विदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल्लक्ष्यस्य वासव दत्तया चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्योद्देशरूप उद्भेद' ।

अनुवाद—‘प्रतिमुख’ वह सन्धि है जिसमें मुखसन्धि-निविष्ट बीज का ऐसा उद्भेद हुआ करता है जो लक्ष्य और अलक्ष्य-दोनों रूप का रहा करता है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के द्वितीय अङ्क की जो अर्थराशि है वह ‘प्रतिमुखसन्धि’रूप अर्थराशि है क्योंकि इसमें नायक वत्सराज और नायिका रत्नावली के उस प्रेमबीज का उद्भेद दिखायी पड़ता है जो कि उनके परस्पर मिलन के हेतुरूप में प्रथम अङ्क में ही निहित हो चुका है । रत्नावली के प्रथमाङ्क में उपक्षित प्रेमबीज का यह उद्भेद इसलिये किञ्चिन्मात्र लक्ष्य है क्योंकि सुसंगता और विदूषक इससे पूर्णतया परिचित बताये गये हैं । यह इसलिये किञ्चिन्मात्र अलक्ष्य भी है क्योंकि वासवदत्ता को इसकी जो कुछ भी जानकारी है वह सागरिका द्वारा चित्रित वत्सराज के चित्र के आधार पर अनुमान द्वारा ही है प्रत्यक्षतः नहीं ।

विमर्श—यहाँ नाट्यदर्पणकार का यह ‘प्रतिमुख’-विमर्श जिस पर ‘अभिनवभारती’ की छाप है, ध्यान देने योग्य है—

‘प्रतिमुख कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः ।

प्रधानवृत्तांश इह उत्तरेषु च स्मर्यते । कियल्लक्ष्यस्य मुखसन्धौ गम्भीरत्वेन न्यस्तत्वा दीपत् प्रकाशस्य बीजस्य प्रधानोपायस्योद्घाटेन प्रचलप्रकाशनेन सम्यगनुगतं प्रयत्नावस्था परिच्छिन्नो यः प्रधानवृत्तांशः स मुखस्याभिमुख्येन वर्तते इति प्रतिमुखम् । ‘द्वीपादन्य स्मादपि’ इत्यादिना ह्यमात्येन सागरिकाचेष्टितरूप बीज मुखसन्धौ न्यस्त वसन्तोत्सव कामदेवपूजादिना तिरोहितत्वादीषल्लक्ष्यम् । तस्य च सुसङ्गतारचित-राज सागरिका समागमेन द्वितीयाङ्के उद्घाट इति ।’

(नाट्यदर्पण १ म विवेक)

जहाँ यह स्पष्ट है कि ‘रत्नावली’ के प्रथम अङ्क में उपक्षित प्रेमबीज के द्वितीय अङ्क में उद्भेद की लक्ष्यता और अलक्ष्यता का सम्बन्ध सामाजिकों के साथ है, न कि पात्रों के साथ ।

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने दशरूपककार की इस ‘प्रतिमुख’ मीमांसा अर्थात्—

‘लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुख भवेत् ।

... तस्य बीजस्य किञ्चिल्लक्ष्यं किञ्चिदलक्ष्यं इवोद्भेद प्रकाशनं तत्पति मुखम् । यथा रत्नावल्या द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षितस्य सुसंगता-विदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति ।’

(दशरूपक १ म प्रकाश)

का अनुसरण किया है और बीजोद्भेद की दृश्यादृश्य-रूपता को ‘रत्नावली’ के पात्रों की दृष्टि से देखा है न कि सामाजिक की दृष्टि से ।

(इ य मन्धि गर्भमन्धि)

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्दिन्नम्य किञ्चन ॥ ७८ ॥

गर्भो यत्र नमुद्मेदो हासान्वेषणवान्मुहुः ।

॥ फलस्य गर्भीकरणादर्थम् । यथा रत्नावल्या द्वितीयेऽङ्के—‘सुसंगता—महि,
अदक्षित्वा वाणि मि तुम जा एव भट्टिणा हत्येण गहिदा वि कोव ण सुद्धमि’
[महि । अदक्षित्वा नमि त्वं वा एव गर्वा हस्तेन गृहीतादि कोप न सुद्धमि]
इत्यादौ नमुद्भेदः । पुनर्वासवदत्ताप्रवेशे हान । तृतीयेऽङ्के—‘तद्वार्तान्वेष-
पाय गत कथ चिरयति वसन्तक’ इत्यन्वेषणम् । चिदूषकः—‘ही ही भो,
कोसन्दीरज्जलम्भेणावि ण तादिनो पिअवअम्मस्स परितोसो जादिनो मम
नअनादो पियवअण सुणिअ भविस्सदि’ [ही ही नो क’गाम्ब’राज्जलम्भेनापि न
तादृगं त्रियवण्यस्य परितोष पादो मम मङ्गाणां विषयचन एत्वा नविष्यति] इत्यादा-
वुद्भेदः । पुनरपि वामवदत्ताप्रत्यभिज्ञानाद् हान । नागरिकाया नक्षेत्रन्याय-
गमनेऽन्वेषणम् । पुनर्लतापागकरणे उद्भेदः ।

‘सुख’—‘गम’ वह सन्धि है जिसे ‘सुख’ और ‘प्रतिमुख’ सन्धि में क्रमशः किञ्चिन्मात्र उन्नित प्रधानोपायरूप योज का ऐसा समुद्भेदन कहा जाया करता है जिसमें योज के हाम और विक्राम की चिन्ता साथ-साथ चला करती है।

इस मन्त्रि को 'गर्भ' हमलिये कहा करते हैं क्योंकि हमने नाटक का प्रधान पुरुष गन्धर्व (अन्तर्निहित) प्रतीत हुआ करता है। उदाहरण के लिये, 'रत्नावली' के द्वितीय अङ्क का जो यह प्रसंग था—

‘सुखान्ता-मयी’। तैरे प्रियतम ने अपने हाथ में तुम्हें पकड़ रखा है लेकिन तू है जो कोप छोड़ना नहीं जानती।, आदि है, उसने तो सुगमनिर निश्चित अनुराग-बीज का समुद्रेन्द्र दिवायी पट रहा है। इसके अनन्तर वामवदना के पुनः प्रवेश में हम बीज का हान्य परिवर्द्धित होता है। तत्पश्चात् तृतीय अङ्क के इस मन्दर्भे अर्थात् ‘सागरिका का समाधार जानने, यमलक, न जाने, कर निकला लज्जित अभी तक न आया।’ आदि में, इसका अनुसन्धान प्रतीत होता है और विदूषक का जो यह कथन अर्थात्—‘हीनान्दो का राज्य मिलने पर भी मेरे प्रियवत्स्य को उतनी गुनी न होंगी जितना मेरे मुह में इस आनन्द की बात सुनने पर’ आदि है, उसने इसका विश्वास पना पार रहा है। इसी प्रकार वामवदना के पट्टाभने में इस बीज के हान्य और सागरिका के प्रेममिान-स्थान पर पटुयने में इसके अनुसन्धान और लकारान म सागरिका के आभयान-विनय में समुद्रेन्द्र की जो प्रक्रिया दिगयी होती है पर मय ‘गमनमन्य’ रूप ही अद्यगति है।

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

‘दीनस्यैन्द्राय नमः ताम्रानामगये’ ।

उक्तपुस्तकानुसारात्प्राप्तम् योज्यमिति चेत् तदा तत्रापि नान्यथा भवति । अथवा तदा
तत्रापि नान्यथा भवति । अथवा तदा तत्रापि नान्यथा भवति । अथवा तदा तत्रापि नान्यथा भवति ।

(४ र्थ सन्धि · विमर्श-सन्धि)

अथ विमर्शः—

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ॥ ७६ ॥

शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ।

यथा शाकुन्तले चतुर्थाङ्कादौ—‘अनसूया—पिअंवदे, जइवि गन्धर्वे विवाहेण णिव्वुत्तकल्लाणा पिअसही सउन्तला अण्णुखवभत्तुभाइणी संवुत्ते निव्वुदं मे हिअअम्, तह वि एत्तिअ चिन्तणिज्जम्’ [प्रियवदे ! यद्यपि गान्धर्वे विवाहेन निर्वृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तला, तथापि अनुरूपमर्तृगामिनी सवृत्तेति निर्वा मे हृदयम्, तथा प्येतावचिन्तनीयम्] इत्यत आरभ्य सप्तमाङ्कोपक्षिप्ताच्छकुन्तला प्रत्यभिज्ञानात्प्रागर्थसञ्चयः शकुन्तलाविस्मरणरूपविघ्नालिङ्गितः ।

प्राप्तिसमावनारूपो गर्भसन्धिरूप्यते । इह गर्भसन्धावप्राप्त्यशः प्रधानफलसमावनारूपत्वात्.....अवमर्शसन्धौ तु प्राप्त्यंशः प्रधानफलनिश्चयरूपत्वादिति विशेषः ॥

(नाट्यदर्पण १ म विवेक

अर्थात् ‘गर्भसन्धि’ रूपकप्रबन्धों की वह अर्थराशि है जिसे ‘मुख’ और ‘प्रतिमुख’ सन्धियों व स्वाभाविक निष्कर्ष कह सकते हैं । बीज की उत्पत्ति के बाद उद्घाटन और उद्घाटन के बाद फल मुख्य स्वभावतः हुआ करता है । गर्भसन्धि में फलप्राप्ति की समावना अभिव्यक्त होती फलप्राप्ति का निश्चय नहीं । ‘बीज’ के अलाभ और लाभ, छास और अन्वेपण अथवा विघ्न-वा और उसके निराकरण में जो द्वन्द्व है उसका प्रदर्शन रूपक की एक अनिवार्य आवश्यकता है ।

अनुवाद—‘विमर्श’ (अथवा अवमर्श) वह सन्धि है जिसमें गर्भसन्धि में उद्भि प्रधानोपाय रूप बीज और भी अधिक, उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही सा बाह्य परिस्थिति (जैसेकि शापादि) के कारण आनेवाली विघ्न-बाधाओं से भी लड़ा दिखायी दिया करता है ।

उदाहरण के लिये, ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के चतुर्थ अङ्क के आरम्भ के इस सदर्भ अर्थात् ‘अनसूया—प्रियवदे ! यद्यपि, हमारी सखी शकुन्तला का गान्धर्वविधि से विवाह मङ्गल सम्पन्न हो चुका और वह अपने योग्य पति को भी पा चुकी, किन्तु हम लोगों व इस बात की चिन्ता है

आदि, से लेकर सप्तम अङ्क में उपनिबद्ध शकुन्तला-प्रत्यभिज्ञान (शकुन्तला की पहचान रूप वृत्तान्त के पहले जो ओ इतिवृत्त भाग है वह ‘विमर्श’ सन्धिरूप ही अर्थराशि है ।

इसमें पहले की अपेक्षा अधिक फलोन्मुख बीज अर्थात् दुष्यन्तगत शकुन्तला विषय प्रेम-प्रस्ताव के विघ्नरूप में जिस घटना की योजना की गयी है वह ‘शकुन्तलाविस्मरण’ (दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला की विस्मृति) की घटना है जो कि इस समस्त अर्थराशि व ‘विमर्श’ रूप बना रही है ।

विमर्श—‘विमर्श’ सन्धि को कतिपय नाट्याचार्य ‘अवमर्श’ भी कहा करते हैं । अमिनः भारतीकार ने इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

‘गर्भनिर्भिन्नधीजार्थो विलोभनकृनोऽपि वा ।

क्रोधव्यसनजो वापि स विमर्श इति स्मृतः ॥’

गर्भनिर्भिन्नधीजार्थ इति । केचिद् विमर्श इति पठन्ति, अन्ये अवमर्श इति । तत्र

(- म सन्धिः निर्वहन्सन्धि)

। निर्वहणम्—

वीजवन्तो मुक्ताद्यर्था विप्रकोणा यथायथम् ॥ ८० ॥

एकार्यमृपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तन् ।

यथा—वेण्याम्, 'कञ्चकी—(उन्नृत्य. नवर्षम्) महाराज ! वर्धस्ते । त्वत्तु भीमस्तेनो दुर्योधनञ्जजाम्णीकृतसर्वशरीरो द्रुलन्त्यव्यक्तिः' इत्यादिना विवेशसमनादिमुखसन्ध्यादिदीजाना निजनिजस्यानोपक्षिन्नानानेकार्य-
तम् ।

यथा वा—शाक्यने सत्रमाष्टे शक्यन्ताभिज्ञानाद्वसरोऽयं राशिः' । एषान-

(सन्ध्यङ्ग-निरूपण 'मुख' सन्धि के १२ अङ्ग)

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ ८१ ॥

युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।

उद्भेदः करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे ॥ ८२ ॥

(१ म अङ्ग-उपक्षेप)

यथोद्देशं लक्षणमाह—

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'निर्वहण' का यह स्वरूप है—

'सवीजविकृतावस्था नानाभावा मुखादयः ।

फलसयोगिनो यस्मिन्नसौ निर्वहणं ध्रुवम् ॥

बीजस्य विकृत विकार उत्पत्त्युद्घाटफलौन्मुख्यादिक. सह बीजविकृतैरवस्थाभिः प्रारम्भादिभिर्वर्तन्ते । नाना विचित्रा भावाः स्थायिन्यभिचारि-सात्त्विका अथवा भावयति फल साधयन्ति भावा उपाया विन्दु-पताका-प्रकरी-कार्याणि यत्र । सुखप्राप्तौ च परति-हासोत्साह-विस्मय-स्थायिभावबाहुल्य धृति-गर्वोत्सुक्य-मदादि व्यभिचारिबाहुल्य च मुखादीनाम् । दुःखहानौ तु फले क्रोध शोक-भय-जुगुप्सा-स्थायिभावबाहुल्य मौग्रा व्या व्यभिचारिबाहुल्यश्च द्रष्टव्यम् । मुखादयो मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्शाः । फलेन मुखसाधे नायक-प्रतिनायक-नायिकामात्यादि-व्यापारैः सम्यगौचित्येन युज्यन्ते सवद्व्यन्ते यस्मिन् प्रधानवृत्तांशे स फलागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहणसन्धिः । ध्रुवमिति प्रारम्भस्य निर्वहणाभावात् सर्वरूपकेष्वस्यावश्यम्भावमाह ।' (नाट्यदर्पण १ म विवेक)

अर्थात् रूपक-प्रबन्ध का यदि कहीं आरम्भ है तो कहीं अन्त भी है । रूपक के आरम्भ उपयुक्त जो भी इतिवृत्त-चरित अथवा रसमावादि-रूप अर्थोत्पत्ति है वही अन्त में उपसहृत जाया करती है और एकधन आनन्द में परिणत हुआ करती है ।

अनुवाद—अब इन सन्धिओं के अङ्गों का निरूपण किया जा रहा है । सर्वप्रथम 'मुख' सन्धि के ये १२ अङ्ग हैं—(१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) विलोभ (५) युक्ति, (६) प्राप्ति, (७) समाधान, (८) विधान, (९) परिभावना, (१०) उद्भेद, (११) कारण और (१२) भेद ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरत मुनि ने सन्ध्यङ्गों का बड़ा सुन्दर अभिप्राय बताया है—

'अङ्गहीनो नरो यद्वज्रैवारम्भक्षमो भवेत् ।

अङ्गहीन तथा काव्य न प्रयोगक्षम भवेत् ॥

उदात्तमपि यत् काव्य स्यादङ्गैः परिवर्जितम् ।

हीनत्वाद्धि प्रयोगस्य न सत्ता रक्षयेन्मनः ॥

काव्य यदपि हीनार्थं सम्यगङ्गैः समन्वितम् ।

दीप्तत्वात् प्रयोगस्य शोभामेति न सशयः ॥ (नाट्यशास्त्र १९ ५३-५५)

अनुवाद—मुखसन्धि के अङ्गों का क्रमशः यह स्वरूप है—

(१) 'उपक्षेप' वह है जिसे काव्यार्थ की समुत्पत्ति कहा करते हैं । 'काव्यार्थ' अभिप्राय हरय अथवा श्रव्य काव्यों के प्रस्तुत विषयरूप इतिवृत्त का अभिप्राय है । कि 'वेणीसहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

काव्यार्थ इतिवृत्तलक्षणप्रस्तुताभिधेयः । यथा वेण्याम्-‘भीमः—
लाक्षागृहानलविपानसमाप्रवेशैः

प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न. प्रहृत्य ।

आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
त्वस्या भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्रः ॥

(२ य अङ्ग-परिच्छेद)

समुत्पन्नार्थवाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः ॥ ८३ ॥

यथा तत्रैव—

प्रवृद्ध यद्वैर नम खलु शिशोरेव कृत्भि-
र्न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम् ।
जरासधस्योरस्थलांमव विरुढ पुनरपि
ऋधा भीमं सन्निविषटयति यय घटयत ॥

(३ य अङ्ग-परिन्यास)

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

यथा तत्रैव—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
 स्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तसयिष्यति कचांस्तव देवि । भीमः ।
 अत्रोपक्षेपो नामेतिवृत्तलक्षणस्य काव्याभिधेयस्य सक्षेपेणोपक्षेपमात्रम् ।
 परिकरस्तस्यैव बहुलीकरणम् । परिन्यासस्ततोऽपि निश्चयापत्तिरूपतया परितो
 हृदये न्यसनम्, इत्येषा भेदः । एतानि चाङ्गानि उक्तेनैव पौर्वापर्येण भवन्ति
 अङ्गान्तराणि त्वन्यथापि ।

(४ र्थ अङ्ग-विलोभन)

—गुणारूपां विलोभनम् ।

यथा तत्रैव, 'द्रौपदी—णाध, किं दुष्करं तुए परिकुविदेण' [नाथ ! किं दुष्करं
 त्वया कुपितेन] यथा वा मम चन्द्रकलायां चन्द्रकलावर्णने—सेयम्, 'तारुण्यस्य
 विलासः—' इत्यादि । यत्तु शकुन्तलादिषु 'श्रीवामङ्गाभिरामम्—' इत्यादि
 मृगादिगुणवर्णनं तद्वीजार्थसम्बन्धाभावान्न सध्यङ्गम् । एवमङ्गान्तराणामप्युक्तम्

अनुवाद—'परिन्यास' कहते हैं पूर्वोपत्ति किंवा स्वल्प विस्तृत काव्यार्थ के विशेष
 निश्चय को । जैसे कि 'वेणीसहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—द्रौपदी ! चिन्ता न कर, इन प्रचण्ड भुजदण्डों में घूमती अपनी गदा के प्रहा
 से, दुर्योधन की जाँघें तोड़ दूंगा और उसके गाँठे जमे लाल-लाल रक्त से अपने हाथ गीरे
 किये तेरी वेणी सँवारूँगा ।'

में, 'परिन्यास' की ही रूपरेखा झलक रही है ।

यहाँ उपक्षेप परिकर और परिन्यास के क्रम का अभिप्राय यह है—'उपक्षेप' तो इति
 वृत्तरूप काव्य अथवा नाट्य के अर्थ का सक्षेप में उपन्यास-मात्र है, जिसे 'परिकर' कह
 हैं वह इसी सक्षेपतः उपस्थित काव्यार्थ का किञ्चित्मात्र विस्तार है और 'परिन्यास' इस
 वाद की अवस्था है जिसमें किञ्चिन्मात्र विस्तृत काव्यार्थ का विशेष निश्चय दिखाई दि
 करता है तथा वह काव्यार्थ हृदय में स्थान पाने लगता है । ये तीन अङ्ग तो ऐसे हैं जिनका
 योजना, जिस क्रम से इनका निर्देश है उसी क्रम से, की जाया करती है किन्तु अन्य ७
 ९ अङ्ग हैं उनकी योजना क्रम अथवा व्युत्क्रम दोनों प्रकार से हो सकती है ।

अनुवाद—'विलोभन' का अभिप्राय गुणकथन अथवा गुणवर्णन का अभिप्राय है
 जैसे कि 'वेणीसहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'द्रौपदी—नाथ ! आप जब क्रुद्ध हो जाँघें तब क्या नहीं कर सकते !'

आदि में, अथवा मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' के इस चन्द्रकला-वर्णन-प्रसङ्ग अर्था
 'यही चन्द्रकला है, तरुणता की विलास मूर्ति' आदि में, जो गुणवर्णन है वह 'विलोभ
 रूप ही है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' आदि के 'श्रीवामङ्ग
 भिरामम्' आदि सूक्ति में जो मृगा आदि का गुणवर्णन है उसमें कोई 'सन्ध्यङ्ग' योजना ना
 क्योंकि इस रूपक के बीजभूत अर्थ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं । इसी प्रकार अ

(७ म अङ्ग-समाधान)

बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।

यथा तत्रैव—‘(नेपथ्ये कलकलानन्तरम्) भो भो द्रुपदविराटवृष्ण्यन्धक
सहदेवप्रभृतयः । अस्मदक्षौहिणीपतयः कौरवचमूप्रधानयोधाश्च शृण्वन्तु भवन्तः ।

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं

यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।

तद्व्यूतारणिसंभृत नृपसुताकेशाम्वराकर्षणैः

क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जम्भते ॥’

अत्र ‘स्वस्था भवन्तु मयि जीवति—’ इत्यादि बीजस्य प्रधाननायकाभिमतत्वेन सम्यगाहितत्वात्समाधानम् ।

वात न सुनाई पड़ी ! कहो, कहो, फिर-फिर यही कहो !’ आदि में, जिस संच्यङ्ग की योजना है वह ‘प्राप्ति’ ही है ।

विमर्श—‘प्राप्ति’ का अभिप्राय केवल सुख का आगम नहीं अपितु सुखहेतु का भी आगम है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—

‘प्रापणं सुखसम्प्राप्ति-सुखस्य सुखहेतोश्च सम्यगन्वेष्टनादाप्तिः प्रापणम्

(नाट्यदर्पण १ म विवेक)

इसकी योजना एक बार ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं । वैचित्र्य के लिये इसकी अनेक बार भी योजना की जा सकती है ।

अनुवाद—‘समाधान’ वह है जिसे बीज का आगमन अथवा समीचीन रूपसे आधान कहा गया है ।

जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘(नेपथ्य में हल्ला मचने के बाद) अरे ! द्रुपद, विराट, वृष्णि, अन्धक और सहदेव प्रभृति अक्षौहिणीनायकों और कौरवसेनाध्यक्षों ! सुनो—

आज कौरव वन में महाराज युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि धधक रही है—वही क्रोधाग्नि जिसे, सत्यपालन की प्रतिज्ञा के टूटने के दर से, परिश्रमपूर्वक बुझा सा दिया गया था, जिसे कुलसुख और कुलशान्ति के लिये विस्मृतिगर्भ तक में डाल दिया गया था, किन्तु धूत की अरणि और द्रौपदी के केशाम्वराकर्षण की झलका भला कबतक उसे शान्त रहने दे ।’ आदि, में ‘समाधान’ की ही योजना स्पष्ट दिखायी दे रही है ।

यहाँ ‘समाधान’ इसलिये है क्योंकि यहाँ ‘मेरे जीते-जागते क्या कौरव स्वस्थचित्त हुए आनन्द मनावेंगे’ आदि भीमवचन में उपक्षिप्त युद्धोत्साहविषयक बीज का ही समीचीन आधान किया जा रहा है ।

विमर्श—‘समाधान’ वस्तुतः बीज का ही पुनर्न्यास है । उपक्षिप्त बीज के समीचीन आधान का अभिप्राय उसका परिपोष है । नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये समाधान को ‘पुनर्न्यास’ कहा है—

‘पुनर्न्यासः समाहितिः ॥

सच्चिन्मोपक्षिप्तस्य बीजस्य स्पष्टताप्रतिपादनार्थं पुनर्न्यासो भणितिवैचित्र्यं सम्यगा समन्ताद् धान पोषणं समाहितिः । (नाट्यदर्पण १ म विवेक) ।’

(८ म श्रृङ्ग-विधान)

सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ॥ ८५ ॥

यथा बालचरिते—

‘उत्साहातिशय वत्स ! तव बाल्यं च पश्यतः ।

मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ॥’

यथा वा मम प्रभावत्याम्—‘नयनयुगासेचनकम्—’ इत्यादि ।

(९ म श्रृङ्ग-परिभावना)

कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना ।

यथा वेण्यां द्रौपदी युद्धं स्यान्न वेति संशयानां तूर्यशब्दानन्तरम् ‘णाथ !
किं दाणिं एसो पलजलहरत्थणिद्वन्द्वं खणे खणे समरदुन्दुभि ताडीअदि ।’
[नाथ ! किमिदानीं पलजलहरस्तवित्वं न्यरं खणे खणे समरदुन्दुभिन्नाय्यते]

अनुवाद—‘विधान’ वह है जिसे सुख-दुःख अथवा सुख-या दुःख का एकत्र या अनेकत्र
वर्णनपात कहा गया है । जैसे कि ‘घात-चरित’ के इस प्रसङ्ग बताने—

‘राम ! क्या बताऊँ, एक ओर तुम्हारा वत्साह और दूसरी ओर तुम्हारे वाक्यभाव
को देखकर, मेरा मन एक ही साथ हर्ष और विषाद से आक्रान्त हो उठा है ।’

आदि में या मेरी अपनी कृति ‘प्रभावती-परिचय’ के ‘नेत्रयुगल की मृत्सिहर’ आदि
अर्थों में, जिस सन्ध्यन्त की याजना है वह ‘विधान’ ही है ।

विमर्श—नाथ-दर्प-कार के अनुसार ‘विधान’ का यह स्थान है—

‘विधानं सुखदुःखासि—

द्वयोः सुखदुःखयोरैकत्रानेकत्र वा पात्रे प्राप्तिरेकस्य वा सुरस्य दुःखस्य वा प्राप्तिर्वि-
धानम् । एकत्र पात्रे सुखदुःखयोः प्राप्तिर्यथा बालनीमाधवे—

‘माधव—

यद् विस्मयस्तिमितमन्तमिनाम्यभावमानन्दमन्दममृतस्त्वनादिशामूत् ।

तव मणिर्घां तदधुना हृदयं नदीयमग्नारचुम्बितमिषं प्रथमानमान्ये ।

इत्यनेन सानुरागमालम्ब्यबलोकनान्माधवस्य सुखदुःखासि ॥’ नाथ-दर्प-‘म विवेक’)

‘प्राप्ति’ और ‘विधान’ दो निम्नलिखित अभावों से रहित हैं । ‘प्राप्ति’ में सुख-दुःख का एकत्र
माधवान्देय है किन्तु ‘विधान’ सुख-दुःख-विधान है । सुख के अभाव और विधान में दो
अर्थ हैं वही प्राप्ति और विधान के अन्तर में का भेद है ।

अनुवाद—‘परिभावना’ वह है जिसे कुतूहलपूर्ण वचन का विन्यास कहा गया है ।

जैसे कि ‘वेणीमदार’ में ‘युद्ध होगा या न होगा’ के सन्देह में दूरी दौड़ती है जहाँ
उक्ति है—

‘प्राननाथ ! क्या बात है कि रह रह कर, प्रत्येकालीन मेघगर्जन से नीति-गर्जन
और भयङ्कर समर-दुन्दुभि का नाद सुनायी पड़ रहा है ।’

उसमें ‘परिभावना’ की ही रूपरेखा झलक रही है ।

विमर्श—‘परिभावना’ का यह अर्थ विस्मय है—

‘जिज्ञासातिशयेन किमेतदिति कौतुकादुत्पद्यते विस्मयः परिभावना ।

(नाथ-दर्प-‘म विवेक’)

(१० अङ्ग-उद्भेद)

बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः—

यथा तत्रैव—‘द्रौपदी—अण्णां च णाह, पुणोवि तुम्हेहि समरादो आअच्छिअ समास्सासइदव्वा । [अन्यच्च नाथ ! पुनरपि गुप्तामि सभरादागत्याह समाश्वासयितव्या]

भीमः—ननु पाञ्चालराजतनये ! किमद्यालीकाश्वासनया—

भूयः परिभवञ्छान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।

अनि शेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥

(११ अङ्ग-करण)

—करणं पुनः ॥ ८६ ॥

प्रकृतार्थसमारम्भः—

यथा तत्रैव—‘देवि । गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय’ इति ।

विस्मयाभिव्यञ्जक वचन-विन्यास द्वारा उपक्षिप्त बीजवस्तु से सम्बद्ध जिज्ञासा की ही पुष्टि की जाया करती है ।

अनुवाद—‘उद्भेद’ का अभिप्राय बीजार्थ का प्ररोह है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘द्रौपदी—नाथ ! एक बात और, संग्राम से लौटकर एकवार फिर मुझे सान्त्वना देना—

भीम—पाञ्चालराजकुमारी ! अब झूठी सान्त्वना क्यों ?

अब तू इस भीम को अपमान से लाञ्छित और ग्लानमुख न देख पाओगी । अब तो कौरवों का सर्वनाश करके प्रसन्नवदन भीम तेरे सामने होगा ।’

आदि में, जो सन्धङ्ग है वह ‘उद्भेद’ रूप ही है ।

विमर्श—‘उद्भेद’ का स्वरूप नाट्यदर्पण की इन पक्तियों में स्पष्ट है—

‘स्वल्पप्ररोहउद्भेदः—आमुखानन्तरमुत्सस्य बीजस्य स्वल्पप्ररोहः । किञ्चित् फलात् छानानुकूल्यप्रदर्शन धान्यस्योच्छूनतेवोद्भेदः । बीजस्योद्घाटनमङ्कुरकल्पम्, उद्भेद पुनरङ्कुरकल्पादुद्घाटनाद् भूमिन्यस्तधान्योच्छूनतेव प्राचीनावस्था इत्ययं मुखसन्धेरेवाङ्गं न पुनरुद्घाटरूपत्वात् प्रतिमुखसन्धेः ।’ (नाट्यदर्पण प्रथम विवेक)

अर्थात् ‘उद्भेद’ तो मुखसन्धि का अंग है और ‘उद्घाट’ प्रतिमुख सन्धि का । ‘उद्भेद’ बीज की अकुरावस्था की तैयारी है और ‘उद्घाट’ बीज का अकुरोत्पादन है । ‘उद्भेद’ के बाद है ‘उद्घाट’ की सम्भावना है, पहले नहीं । इसलिये ‘उद्भेद’ मुखसन्धि का अङ्ग है—और ‘उद्घाट’ प्रतिमुख सन्धि का ।

अनुवाद—‘करण’ का अभिप्राय प्रस्तुत विषय के समारम्भ का अभिप्राय है ।

जैसे कि ‘वेणीसंहार’ का यह प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—देवी ! अब हम कुरुवंश के सर्वनाश के लिये चल पड़े हैं ।’

आदि में, जो सन्धङ्ग है वह ‘करण’ ही है ।

विमर्श—‘करण’ अवसर के अनुकूल कार्यारम्भ है । इस अंग की योजना से भी उपक्षिप्त बीज का ही परिपोष किया जाया करता है । ऊपर के उदाहरण में भीम का शुद्धोत्साहरूप बीज अधिकाधिक परिपुष्ट होता दिखायी दे रहा है ।

(१२ प्र-भेद)

—भेदः संदृतभेदनम् ।

यथा तत्रैव—‘अत एवाद्यप्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भय ।’

केचित्तु—‘भेद’ प्रोत्साहना’ इति वदन्ति ।

(प्रतिमुखसन्धि के १३ प्र-निदेश)

अथ प्रतिमुखाङ्गानि—

विलासः परिसर्पश्च विभुतं तापनं तथा ॥ ८७ ॥

नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः ।

विरोधश्च प्रतिमुखे तथा स्यात्पथ्युपासनम् ॥ ८८ ॥

पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंस्कार इत्यपि ।

संवाद—‘भेद’ कहते हैं सबविघात को ।

जैसे कि ‘बेनीसहार’ के इस प्रसंग कथांश—

‘मीन—इसीलिये आज से मेरा और तुम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं ।’

आदि में जिन सम्बन्ध का विनिवेश है वह ‘भेद’ है ।

हृद्य नाट्याचार्य ‘भेद’ का अभिप्राय (सबविघात नहीं करितु) ‘प्रोत्साहन’ मानते हैं ।

विमर्श—भेद का एक और नमं अभिप्राय है और वह है ‘पात्रनिर्गम’ । नट्यसंस्कार ने ‘भेद’ को यह स्वरूपमेवना को है—

‘भेदनं पात्रनिर्गम—रूपप्रविष्टानां पात्राणां निर्गमो रंगादिभिरन्येन तद् भेदनम् । पात्राणां यथास्व प्रयोजनवशादितरचेतस्य गन्तुमन्यार्थोऽन्यभिप्राय उद्यमो वा रंगादिर्गम-नापादयन् भेदनमुत्पत्ते । यथा बेनीसहारे मीनो औपचा मन्नामारायशङ्किन्या शरीरान-देहे पराक्रमे निषिद्ध प्रत्याह—

‘अपि सुचित्रिणे !

अन्योन्यास्फाटमिद्विपरधिरवसानान्तरमपिष्कपट्टे

मग्नानां त्यन्दनानामुपरि कृतपदन्यामविक्रान्तपक्षौ ।

स्तीतासूक्ष्मान्गोष्ठैरमदगिवसिवाकुर्लट्टपदकण्ठे

मन्मथेर्गमवान्तरपथमि विचरितु पण्डिता पाण्डुपुत्रा ॥

इत्येतेन हि मन्मथविचरणे पाण्डवानां पाण्डित्यवधारणेन मन्मथान्तरगमिनाय सहदेवस्य घामनश्च सवानभेदनार्थं पूर्वोपदिष्ट इति भेदोऽङ्गम् ।

अन्ये तु भेद प्रोत्साहनमाहुः ।

अन्ये तु महानां प्रतिपक्षानां योज्योपचिन्निरोधकानां विमोक्षक भेदरूपमुपाय भेदनं मन्यन्ते ।’ (नट्यसंस्कार-प्रथमप्रकरणे)

‘भेद’—‘प्रतिमुख’ सन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) विलास, (२) परिसर्प, (३) विभुत, (४) तापन, (५) नर्म, (६) नर्मद्युति, (७) प्रगमन, (८) विरोध (९) पथ्युपासन, (१०) पुष्प, (११) वज्र, (१२) उपन्यास और (१३) वर्णसंस्कार ।

विमर्श—प्रतिमुखसन्धि के इन अङ्गों का योजन से नाट्यसंस्कार इत्येव ने वैभेदक

(१ अङ्ग-विलास)

तत्र—

समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते ॥ ८९ ॥

रतिलक्षणस्य भावस्य यो हेतुभूतो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्थः समीहा विलासः ।

यथा शाकुन्तले—

‘कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि ।

अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥’

अधान किया जाता है । यद्यपि ये अङ्ग प्रतिमुख के ही अङ्ग हैं किन्तु अन्यत्र भी इनका उपन्यास किया जाता है ।

अनुवाद—‘विलास’ का अभिप्राय रतिभाव (वस्तुतः रत्यादिरूप स्थायीभावों) के विषयभूत पदार्थों के लिए अभिलाषा है ।

‘रतिभोगार्था समीहा’ विलास है । इसका तात्पर्य यह है—‘रतिभोग’ कहते हैं रतिरूप भाव के हेतुभूत ‘भोग’ अथवा विषय जैसे कि स्त्री और पुरुष को । ‘रतिभोग’ के लिये अर्थात् प्रेमिका के हृदय में प्रेमी के लिए और प्रेमी के हृदय में प्रेमिका के लिए जो समीहा अथवा अभिलाषा है, वह है ‘रतिभोगार्था समीहा’ । ‘विलास’ इसी समीहा का पारिभाषिक नाम है ।

जैसे कि अभिज्ञानशाकुन्तल के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुष्यन्त—मेरे लिए प्रिया शाकुन्तला को पाना भले ही कठिन हो किन्तु मेरा मन उसके अनुरागचिह्नों के मनन-चिन्तन में ही लीन रहा करता है । चाहे मेरा और उसका मिलन हो या न हो, मुझे इसी से सन्तोष है कि हम दोनों एक दूसरे को चाहने लगे हैं ।’

मैं, दुष्यन्त के हृदय में, शाकुन्तला से मिलने की अभिलाषा का जो अभिव्यञ्जन है उसमें ‘विलास’ का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—‘विलास’ प्रतिमुखसन्धि का प्रथम अङ्ग है और प्रतिमुखसन्धि रूपकसामान्य की एक विशेष अर्थराशि हुआ करती है न कि शृङ्गारमय रूपकों की ही । इस दृष्टि से ‘विलास’ को ‘रतिभोगार्था समीहा’ कहना सगत नहीं प्रतीत होता । यहाँ यदि ‘रति’ पद को स्थायिभावमात्र का उपलक्षण मान लिया जाय तब ‘विलास’ की परिभाषा ठीक बैठ जाती है । वस्तुतः नाट्य-दर्पणकार का यहाँ यही कथन है—

‘प्रतिमुखस्य चादावेवेदमङ्गं निबन्धनीयम् । य एव मुखे रस उपचिष्यते तस्यैव स्थायी विभावानुभावव्यभिचारिभिः पोषणीयः । कामफले च रूपके मुखसन्धानुपक्रान्तः शृङ्गारः प्रतिमुखे विलासेन स एव विस्तार्यते । विलासप्रकाशकान्येव चेताराण्यङ्गानि निबन्धनीयानि । वीरादि-रसप्रधानेष्वर्थफलेषु रूपकेषु पुनरुत्साहादिसम्पद्विषयो नृस्त्रियो-रीहान्यापारो विलासः ।’ (नाट्यदर्पण - प्रथम विवेक)

अर्थात् जैसे शृङ्गारप्रधान रूपक-प्रबन्धों में नायक और नायिका की परस्पर रतिसमीहा को ‘विलास’ कहा गया है वैसे ही वीर-रसप्रधान रूपक-प्रबन्धों में उत्साहविषयक समीहा भी ‘विलास’ ही है ।

(२ अङ्ग-परिमर्ष)

इष्टनष्टानुनरणं परिसर्पश्च कथ्यते ।

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—भवितव्यमत्र तथा । तथा हि—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चान् ।

द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥’

(३ अङ्ग-विधृत)

कृतस्यानुनयस्यादौ विधृतं त्वपरिग्रहः ॥ ९० ॥

यथा तत्रैव—‘अल वो अन्तेऽरविरहपञ्जुत्सुएण राएसिणा उवत्तद्धेण ।

[अल व अन्त पुरविरहपञ्जुत्सुकेच राजपिणा उपवृद्धेन]

केचित्तु—‘विधृत स्यादवति ’ इति वदन्ति ।

अनुवा—‘परिसर्प’ का तात्पर्य किसी लुप्तप्राय किन्तु अभीष्ट वस्तु का अन्वेषण है ।

जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—यहाँ मेरी प्रियतमा अवश्य होगी । क्योंकि—

इत लतामण्डल के द्वार पर पीली बालू के ऊपर पड़े, आगे की ओर ऊँचे और नितम्बमार से पीछे की ओर दूने, नये-नये पद-चिह्न उसी सी सूचना दे रहे हैं ।’

मैं, दुष्यन्त के द्वारा, अदृश्य शाकुन्तला का जो अनुसंधान वर्णित है वह ‘परिसर्प’ का ही निदर्शन है ।

विमर्श—‘परिमर्ष’ को कतिपय नाट्याचार्य ‘अनुमर्ष’ का कहते हैं । ‘अनुमर्ष’ का अभिप्राय नष्ट किन्तु इष्ट वस्तु की रक्षा है (नष्टेष्टेहाऽनुसर्पणम्-पूर्वमुपलब्धस्य पुनरन्तरितन्ये-तिवृत्तवशादभिलषितस्यार्थस्येहाऽन्वेषणमनुसर्पणम्) ।

यह ‘परिमर्ष’ अथवा ‘अनुमर्ष’ इतिवृत्त का अंग अथवा अवयव नहीं । इसका सम्बन्ध चरित्रचित्रा से है । मुख्य-चरित्र-चरित्र के दृश्य के भाव का रसके माध्यम सम्बन्ध है । किन्तु जैसा कि मुख्य-चरित्र-चरित्र का चित्रा ही इतिवृत्त के वैचित्र्य का निधानक होता है, ‘भ्रान्त’ और ‘परिमर्ष’ को इतिवृत्तरूप स्वरूप का अंग बनाया गया है । नष्टवस्तु का अन्वेषण किमा भी रसभाव में सम्बन्ध स्वरूप-प्रवण में अपेक्षित है । ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ का उदाहरण पर मजेनाम है ।

अनुवाद—‘विधृत’ का अभिप्राय किसी पूर्णकृत अनुनय या सामान्यवचन के परित्याग का अभिप्राय है ।

जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘शाकुन्तला—मेरे लिये तुम लोग अन्तःपुर के विरह में व्याकुल इस राजपि को न रोको ।’

आदि में, दुष्यन्त को रोक रखने के लिये, शाकुन्तला के पूर्णकृत अनुनय के परित्याग का जो वर्णन है उसमें ‘विधृत’ की योजना है ।

कुछ नाट्याचार्य इसे ‘विष्टन’ कहते हैं और ‘विष्टन’ का अभिप्राय ‘अरति’ (अरचि) घटाते हैं ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने ‘भ्रान्त’ के स्थाने ‘विष्टन’ को मन्दित माना है—

(४ अङ्ग-तापन)

उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् ।

यथा रत्नावल्याम्—‘सागरिका—

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गृरुई परअसो अप्पा ।

पियसहि विसमं पेम्म मरणं सरणं णवरि एक्कम् ॥’

[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।

प्रियसखि ! विषम प्रेम मरण शरण केवलमेकम् ॥]

(५ अङ्ग-नर्म)

परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—

‘सुसंगता—सखि ! जस्स किदे तुम आअदा सो अअ दे पुरदो चिट्ठदि ।

[सखि ! यस्य कृते त्वमागता सोऽयं ते पुरस्तिष्ठति]

सागरिका—(साभ्यसूयम्) कस्स किदे अह आअदा ? [कस्य कृते अहमागता ?]

‘कृतस्यानुनयस्यादौ विधूत ह्यपरिग्रहः ।’

(नाट्यशास्त्र १९-७७)

किन्तु ‘विधूत’ और ‘विधूत’ का अभिप्राय एक ही है । ‘पूर्वकृत अनुनय का अपरिग्रह’ ही ‘अरति’ अथवा ‘अरुचि’ है, इसलिये दशरूपककार की ‘विधूत-परिभाषा भी ठीक ही है । नाट्य दर्पणकार ने इस सन्ध्यङ्ग को ‘विधूत’ अथवा ‘विधूत’ न कहकर ‘धूनन’ कहा है—

‘धूननं सामन्यनादरः—

सामन्यनुनये अनादरो मनागनादृति’ ‘नजोऽव्यपार्थत्वात् ।’ (नाट्यदर्पण . प्रथम विवेक)

अनुवाद—‘तापन’ का अभिप्राय सतापनिवारक उपाय के अदर्शन अथवा अनवधारण का अभिप्राय है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सागरिका—प्रिय सखि ! दुर्लभ प्रेमी से मैंने प्रेम किया, लज्जा आगे नहीं बढ़ने देती, मेरी पराधीनता अलग मुझे सता रही है, प्रेम बढ़ता ही जा रहा है, अब तो केवल मरने में ही कल्याण है ।’

मैं, वत्सराज से मिलने के उपाय के सवन्ध में सागरिका के मन का जो अनिश्चय अभिव्यक्त हो रहा है उसमें ‘तापन’ की ही रूपरेखा झलक रही है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि के अनुसार ‘तापन’ का यह स्वरूप है—

‘अपायदर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् ।’ (नाट्यशास्त्र • १९ ७७)

दशरूपककार ने ‘तापन’ के बदले ‘शम’ को प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग बताया है और ‘शम’ का अभिप्राय ‘अरति का उपशमन’ कहा है ।

अनुवाद—‘नर्म’ का तात्पर्य परिहासपूर्ण वचन है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सुसंगता—सखि ! जिसके लिये तू यहाँ आयी है वह तो मेरे सामने विराजमान है ।

सागरिका—(चिढ़कर) बता किसके लिये मैं यहाँ आयी हूँ ?

‘सुसंगता—अल अण्णसकिदेण । ण चित्तफलमस्स ।’ [अणि अन्यशक्तिः ।
ननु चित्रफलकस्य

(६ अन्तर्नम्युति)

—धृतिस्तु परिहासजा ॥ ६१ ॥

नर्मधृतिः—

यथा तत्रैव—

‘सुसंगता—सहि ! अवक्खिणा वाणि सि तुम जा एव्व भट्ठिणा क्त्वाव-
ज्जन्विवावि कोप ण मुञ्चसि । [सहि ! अद्विष्टेनानि त्वं, यद् एव भर्ता हन्ता-
नम्बितापि कोप न नृन्नि ।

सागरिका—(नभ्रमङ्गलीपद्विहस्य) सुसंगदे । वाणि वि कौलिदुं न
वेरससि । [सुसङ्गते । इदानीमपि मीदितु न विगमि ।

वेचित्तु—‘दोषस्याच्छादनं हास्यं नर्मधृतिः’ इति वदन्ति ।

सुसंगता—तुम सदां क्यो हो कि किसी और के लिये यहाँ आयी हो । बरे ! मैं तो
न ‘चित्रफलक’ के लिये बह रही थी ।

तदि मैं जो हास-परिहास-पूर्ण वार्तालाप है उसमें ‘नर्म’ की ही योजना है ।

विमर्श—‘नर्म’ को ब्रह्मदे लिये ‘हास-परिहास’ मानने का अनिश्चय यह है कि हम मन्द-
त योजना अथवा नर्म-प्रधान कल्पनयनों में ही मन्द है

नर्मधृतिवाक्य ने स्पष्ट कहा है—

‘एते च नर्म-नर्मधृतिं लब्धे कामप्रधानेष्वेव रूपकेषु निगन्धनरत । केनिसीमाधान्येन
पा हास्योचिनन्वात् ।’ (नर्मधृतिः १०१ न विदेह)

अन्वय—‘नर्मधृति’ का तात्पर्य परिहास में भी धर्म धारण करना है ।

जैसे कि ‘रमावली’ के ही हम प्रसङ्ग जयाव—

‘सुसंगता—सहि ! तू भी स्त्रिणी गलती कर रही है कि अपने मित्रनम के हाथ में
तने पर भी कोप नहीं छोड़ती ?

सागरिका—(मौह घगकर, मुस्कराने हुए) तू एनंगा मजाक किया करती है ।
तदि मैं, सुसंगता के परिहास में भी न घबरावनेवाली सागरिका का जो चित्र है
समें ‘नर्मधृति’ ही ही रूपरेखा स्पष्ट है ।

कुछ नाट्यवाच्य ‘नर्मधृति’ को किसी दोष का आच्छादक हास-परिहास माना करते हैं ।

विमर्श—‘नर्मधृति’ के अन्वय में ‘नर्मधृति’ का यह अर्थ है—

‘दोषप्रच्छादनार्थं तु हास्यं नर्मधृतिः स्मृता ।’ (नर्मधृतिः १०३६)

जिसे ‘अनिश्चयता’वाक्य ने हम प्रारम्भ स्पष्ट किया है—

‘दोषो येनोक्तेन प्रच्छादयितुमिच्छते तस्यापि हास्यजनकत्वेन नर्मं च सुतरां धेति
रतीति नर्मधृतिः ।’

विमर्श—‘नर्मधृति’ का अर्थ अनिश्चय नाट्यवाच्य में भी स्पष्ट है —

‘दोषावृत्तौ तु नर्मधृतिः —

दोषावृत्तौ दोषप्रच्छादनार्थं यद् पुनरुक्तं हास्यरूपस्य सा तस्य नर्मनो धेति
नर्मधृतिः ।’ (नर्मधृतिः १०३७)

(७ अङ्ग-प्रगमन)

—प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

‘उर्वशी—जअदु जअदु महाराओ । [जयतु जयतु महाराजः]

राजा—

मया नाम जितं यस्य त्वया जय उदीर्यते ।’ इत्यादि ।

(८ अङ्ग-विरोध)

विरोधो व्यसनप्राप्तिः—

यथा चण्डकौशिके—

‘राजा—नूनमसमीक्ष्यकारिणा मया अन्वेनेव स्फुरच्छिखाकलापो ज्वलन पद्मथां समाक्रान्तः ।’

किन्तु साहित्यदर्पणकार की ‘नर्मघुति’-परिमापा दशरूपककार के इस ‘नर्मघुति-लक्षण’ अर्थात्—

‘घृतिस्तज्जा घृतिर्मता’ (दशरूपक : १-३३)

का अनुसरण करती है ।

अनुवाद—‘प्रगमन’ कहते हैं उत्कृष्टतर उत्तरवचन को । जैसे कि ‘विक्रमोर्वशीयम्’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘उर्वशी—जय हो महाराज । जय हो ।

राजा—जिसकी जय तुम मनाओ उसकी जय तो है ही ।’

आदि में, पुरुरवा का जो उत्कृष्ट उत्तर है उसमें ‘प्रगमन’ का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने ‘प्रगमन’ के बदले ‘प्रगयण’ नाम रखा है । किन्तु अभिप्राय एक ही है । नाट्यदर्पणकार ने ‘प्रगमन’ को ‘प्रतिवाकश्रेणी’ कहा है—

‘प्रगम प्रतिवाकश्रेणि’—

प्रश्नप्रतिपन्थिनी वाक्प्रतिवाक् तस्याः श्रेणिः । अपकर्षतो द्वे प्रतिवचने, उत्कर्षतो बहुन्यपि । यथा वेणीसहारे—

भानुमती—आर्यपुत्र ! अतिमात्रं मे शङ्का बाधते ।

तदनुमन्यतां मामार्यपुत्र ।

राजा—अयि देवि !

किं नो व्यासदिशां प्रकम्पितसुवामजौहिणीनां फलम् ?

किं द्रोणेन किमङ्गराजविशिखैरेव यदि क्लाम्यसि ।

भीरु ! आवृशतस्य मे भुजवनच्छायासुखोपाश्रिता

त्वं दुर्योधनकेशरीन्द्रगृहिणी शङ्कास्पदं किं तव ?

भानुमति—आर्यपुत्र ! नहि मे किञ्चित् शङ्का युष्मासु संनिहितेषु ।’

(नाट्यदर्पणः प्रथम विवेक)

अनुवाद—‘विरोध’ का अभिप्राय विपत्ति का आगम है । जैसे कि ‘चण्डकौशिक’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—मैंने भी बिना सोचे-समझे, जैसे अन्धा आग पर पैर रख दे, जो न करना चाहिये था, वही कर डाला !’

(९ अङ्ग-पर्युपासन)

—क्रुद्धस्यानुनयः पुनः ॥ ९२ ॥

स्यात्पर्युपासनं—

• यथा रत्नावल्याम्—

‘विदूषकः—भो. मा कुप्य । एसा हि कदलीघरन्तर गदा’ [भो मा कुप्य
पद्म हि च्दलीगृहान्तर गदा] इत्यादि ।

(१० अङ्ग-पुष्प)

—पुष्पं विरोधवचनं मतम् ।

यथा तत्रैव—(राजा हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति)

विदूषक—भो वञ्छस्व ! एसा अपुञ्जा सिरी तए समासादिदा । [भो
वञ्छस्व ! एसा वञ्छां इन्दिदा समानदिदा]

राजा—वयस्यः नत्यम्—

श्रीरेषा पाणिरप्यस्या पारिजातस्य पल्लव ।

कुतोऽन्यथा लवत्रयेप स्वेदच्छद्धानृतद्रव ॥’

, लादि में, ‘विरोध’ का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—न ट्यगर्गकर ने इन्ने ‘निरोध’ कहा है—

‘या तु व्यमनमप्राप्तिं न निरोधं प्रकीर्तितः ।’

(नट्यशास्त्र १०७)

नट्यशास्त्र-कर ने रोध करने है—‘रोधोऽस्ति—अस्ति मेदो व्यमनमिदरोधाद् रोध ।’

‘नट्य—‘पर्युपासन’ वह है जिसे श्लोघोपशमन के लिये अनुनय कहा गया है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसंग अर्थात्—

‘विदूषक—कोय न करो महाराज ! वह तो कदली-घर के भीतर चली गयी ।’

लादि में, विदूषक के द्वारा वामराज के कोप-प्रशमन के लिये जो अनुनय किया गया है वह ‘पर्युपासन’ है ।

विमर्श—नट्यशास्त्र ने ‘पर्युपासन’ के करने ‘मन्त्रन’ के माध्यम से है । मन्त्र
शेनों का अभिनय एक ही है । जैसे पुरातन को ‘क्रुद्ध-अनुनय’ कहा गया है वैसे ही ‘मन्त्रन’ के
‘पुष्पादुपासन’ (मन्त्रनमन क्रुद्ध-अनुनय) ।

‘पुष्प—‘पुष्प’ का अन्विष्टाव ‘विरोध वचन’ अर्थात् चिन्ताकरक वचनविन्यास है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के ही इस प्रसंग अर्थात्—

‘(राजा हाथ में मार्गारिका को पकड़कर स्वर्गानन्द का अभिनय करता है)

विदूषक—मिथवचन्य ! तुम्हारे हाथ तो एक अपूर्व लक्ष्मी लग गयी ।

राजा—मित्र ! तुमने ठीक कहा—

यह प्रस्तुत लक्ष्मी है और इसके हाथ चम्पुत पारिजात-पल्लव हैं, अन्यथा स्वेद-
मिन्त्रों के रूप में अमृत की घुँटें कहाँ से टपक परतीं ।’

लादि में जो चिन्ताकरक वचनविन्यास है जो ‘पुष्प’ रूप प्रतिस्फुरमग्निक के अन्त
रा एक सुन्दर निर्देश है ।

(११ अङ्ग-वज्र)

प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम्—

यथा तत्रैव—

‘राजा—कथमिहस्थोऽहं त्वया ज्ञातः ?

सुसंगता—ण केवलं तुम सम चित्तफलएण । ता जाव गटुअ देवीए णिवेदइस्सम् ।’ [न केवल त्व सम चित्रफलकेन । तद्यावद्गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि]

(१२ अङ्ग-उपन्यास)

—उपन्यासः प्रसादनम् ॥ ९३ ॥

यथा तत्रैव—

‘सुसंगता—भट्टण ! अल सङ्काए । मए वि भट्टिणीए पसादेण कीलिद ज्जेव एदिहिं । ता कि कण्णाभरणेण । अदो वि मे गरुअरो पसादो एसो, ज

नाट्यदर्पणकार ने ‘पुष्प’ को ‘विशेषवत् वाक्य’ कहा है और इसका यह अभिप्राय बताया है—

‘पूर्व स्वयमन्येन वा केनचित् प्रयुक्त वचनमपेक्ष्य यद् विशेषयुक्त वचनं प्रयुज्यते तेनान्येन वा तत् पूर्वस्माद् विशेषवत् । तच्च वाक्य पुष्पमिव पुष्पम् । केशरचनायाः पुष्पमिव पूर्ववाक्यस्यालङ्कारकारित्वात् ।’

(नाट्यदर्पण प्रथम विवेक)

इससे यह स्पष्ट है कि इस सध्यङ्ग की योजना रूपकप्रवर्णों के कथनोपकथन (Dialogue) में वैचित्र्य के आधान के लिये की जाती है ।

अनुवाद—‘वज्र’ कहते हैं कठोर वचन-विन्यास को ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसंग अर्थात्—

‘राजा—मैं यहाँ हूँ—यह तुम्हें कैसे पता ?

सुसंगता—केवल अकेले ही क्यों, चित्रफलक के साथ कहिये—मैं अभी जाकर महारानी से सब बताती हूँ ।’

आदि में, सुसंगता का जो कठोर वचन-विन्यास है उसमें ‘वज्र’ की ही रूपरेखा स्पष्ट हो रही है ।

विमर्श—‘वज्र’ नामक सध्यङ्ग की योजना का तात्पर्य पूर्वप्रयुक्त वचन या पूर्वनिर्दिष्ट विषय के प्रध्वंसक वचन या विषय के उपन्यास का तात्पर्य है । ‘वेणीसहार’ के निम्न प्रसङ्ग में इसका स्वरूप अधिक स्पष्टरूप से दिखायी पड़ता है—

‘अश्वत्थामा—(कर्णमुद्दिश्य) रे रे राधागर्भभारभूत ! सूतापसद !

कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा

द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य ।

तव मुजबलदर्पाध्मायमानस्य वाम

शिरसि घरण एष न्यस्यते वारयैनम् ॥’

अनुवाद—‘उपन्यास’ कहते हैं प्रसङ्गताजनक वचन-विन्यास या वस्तुस्थापन को । जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सुसंगता—महाराज ! शङ्कित होने की कोई बात नहीं । महारानी की कृपा से मुझे

तु ए अहं एत्थ आलिहिदन्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ । एसा उजेव पसादीअदु ।' [मर्न अल शङ्कया । गयापि मर्न्या पमादेन ग्रीडितनेव एतै । तत्किं कण्णामरणेन अतोऽपि मे गुरतर प्रसाद एव, यत्त्वया अहमालिग्विनेति कुपिता मे प्रियमसि सागरिका । एषैव प्रमाद्यताम्]

केचित्तु—‘उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यास स कीर्तित ।’ इति वदन्ति ।

उदाहरन्ति च, तत्रैव—‘अदिमुहरा क्खु सा गम्भदासी’ इति । [अतिगुसरा त्तु मा गर्भदासी]

(१३ अज्ञ-वर्णनहार)

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ।

यथा महावीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

‘परिपदिचमृषीणामेष वीरो युधाजित् सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।

अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराण’ प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकास्ते ॥’

इत्यत्र ऋषिक्षत्रादीनां वर्णानां मेलनम् ।

अभिनवगुप्तपादास्तु—‘वर्णशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते । संहारो मेलनम्’ इति व्याचक्षते ।

ऐसे आभरणों से खेल करने का अवसर मिल चुका है । मुझे कर्णाभरण नहीं चाहिये । मुझे तो आपने तभी बहुत बड़ा परितोषिक दिया जब कि मेरा चित्र खींच लिया, जिसने मेरी प्रिय सखी सागरिका को मुझसे नाराज कर रखा है । आप उसी को प्रमत्त करें ।’
आदि में, जो प्रमादजनक वचनविन्यास है उसमें ‘उपन्यास’ का ‘ही स्वरूप स्पष्ट हो रहा है ।

कतिपय नाट्याचार्य ‘उपन्यास’ को युक्तियुक्त अर्थ का उपस्थान कहा करते हैं । और इसके निदर्शन रूप से ‘रणावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘विदूषक—यह अन्त पुर की परिचारिका, यह गर्भदासी यही जातूनी है ।’
को उद्धृत करते हैं ।

विमर्श—‘उपन्यास’ के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणा ने जिन मान्तर का उल्लेख किया है वह अन्तर्गुण का वह उपन्यास-लक्षणा है—

‘उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासश्च स स्मृतः ।’ (नाट्यशास्त्र १०८)

अन्तर्गुण—‘वर्णमहार’ का अभिप्राय चातुर्वर्ण्य का एकत्र उपन्यास है ।

जैसे कि ‘महावीरचरित’ के तृतीय अङ्क के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘यह ऋषिसभा विराज रही है, ये वीर महाराज युधाजित् अपने लोमपादों के साथ विराज रहे हैं, ये क्षत्रराज वयोवृद्ध लोमपाद विराजमान हैं, ये महाशक्ति राजाधी जनकवशी महाराज मीरभोज उपस्थित हैं और सब के सब भावों याचक बने धारण हुये हैं ।’

आदि में, ऋषिजों, राजाओं आदि सभी वर्णों के लोगों का ही एकत्र सम्मेलन उपनिषद् है, उसमें ‘वर्णमहार’ की ही रूपरेखा स्थापित रही है ।

किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने ‘वर्ण’ का अभिप्राय ‘नाट्यार्थ पात्र’ और ‘महार’ का

उदाहरन्ति च रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—‘अदो वि मे अथ गुरुअरो पसादो’
[अतोऽपि मे अथ गुह्यतर. प्रसाद]
इत्यादेरारभ्य ‘णं हत्ये गेण्हिअ पसादेहिणम् । [ननु हस्ते गृहीत्वा प्रसादय पनाम्]
राजा—काऽसौ काऽसौ’ इत्यादि ।

(गर्भसन्धि के १३ अङ्ग-निर्देश)

अथ गर्भाङ्गानि—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ॥ ६४ ॥

संग्रहश्चानुमानं च प्रार्थना क्षिप्तिरेव च ।

त्रो(तो)टकाधिवलोद्वेगा गर्भे स्युर्विद्रवस्तथा ॥ ६५ ॥

अभिप्राय ‘सम्मेलन’ बताया है और इस ‘वर्णसंहार’ (नाटकीय पात्र-सम्मेलन) के उदाहरण रूप में, ‘रत्नावली’ के द्वितीय अङ्क में—

‘सुसगता—इससे भी बढ़कर मेरे लिये यही प्रसाद है ।’

आदि सदर्थ से लेकर ‘महाराज ! हाथ में लीजिये, इन्हें प्रसन्न कीजिये । राजा—वह कहाँ है, वह कहाँ है ?’ आदि सदर्थ तक का वस्तुवर्णन दिया है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि का वर्णसंहार-लक्षण यह है—

‘चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते’ (नाट्यशास्त्र १९ ८२)

जिसे ‘अभिनवभारती’कार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘चातुर्वर्ण्यशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते । तेन यत्र पात्राणि पृथक् स्थितान्यपि द्वौक्यन्ते स वर्णसंहारः । उपाध्यायास्त्वाहुः—इह वीरप्रधाने तावन्नायकप्रतिनायकौ तत्सचिवौ च प्रधानत्वेन वर्ण्यन्त इति वर्णाः, कामप्रधानेऽपि नायको नायिका तत्सचिवौ चेति ।’

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टय के मेलन में ‘वर्णसंहार’ मानने वालों पर कटाक्ष भी किया है—

‘यत्तु ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयमेलनमिति तदफलत्वादानाद्यथमेव ।’

किन्तु आश्चर्य है कि साहित्यदर्पणकार को ‘वर्णसंहार’ का यह विवेचन अभिप्रेत नहीं ।

अनुवाद—गर्भसन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) अभूताहरण, (२) मार्ग, (३) रूप, (४) उदाहरण, (५) क्रम, (६) संग्रह, (७) अनुमान, (८) प्रार्थना, (९) क्षिति, (१०) ओटक (अथवा तोटक), (११) अधिवल, (१२) उद्वेग और (१३) विद्रव ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने ‘मुख’ और ‘प्रतिमुख’ सन्धिओं के अङ्गों की ही भाँति ‘गर्भसन्धि’ के भी अङ्गों का लक्षण-निर्देश और परिगणन ‘दशरूपक’ के ही आधार पर किया है । नाट्यदर्पणकार ने, ‘अभिनवभारती’ के अनुसरण में, गर्भसन्धि के इन आठ अङ्गों को तो नाटकीय इतिवृत्त की उपयोगिता की दृष्टि से उपयुक्त बताया है—

‘संग्रहो रूपमनुमा प्रार्थनोदाहृति’ क्रमः ।

उद्वेगो विद्रवश्चैतद् गुणतः कार्यमष्टकम् ॥’

और इन पांच अङ्गों को अनिवार्य माना है—

‘आक्षेपोऽधिवल मार्गोऽसत्याहरणतोटक ।

पञ्चैतानि प्रधानानि गर्भेऽङ्गानि त्रयोदश ॥’

सन्ध्यङ्ग-योजना के सवन्ध में ऐसी समीक्षा उपयुक्त थी । किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इसे छोड़ दिया है ।

(१—अभूताहरण)

तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम् ।

यथा अश्वत्थामाह—

'अश्वत्थामा हत इति पृथामृगुना स्पष्टमुक्त्वा
स्वैर शेषे गज इति पुनर्व्याजित नत्त्वान्त ।
तच्छ्रुत्वाऽसौ दग्धितनयः प्रत्ययास्त्य राज्ञः
शत्राव्यजौ न्यनमल्लि चापि तुल्य मुमोच ।
(२—नान)

तत्त्वार्थकथनं मार्गः—

यथा चण्डकौशिके—

'राजा—भगवन् '

गृह्यनानर्जितमिदं भायान्तनयविश्रयान् ।

शेषस्यार्थं करिष्यामि चण्डालेऽप्यात्मविक्रयम् ॥'

उत्तर—'अभूताहरण' का अभिप्राय व्याजगर्भ वचनविन्यास है । जैसे कि (देवी-महार के) 'अश्वत्थामा' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सत्यवादी पृथापुत्र (युधिष्ठिर) ने पहले से कहा—'अश्वत्थामा नारा गरा' और बाद में 'अ' से क्या 'हती' । पञ्चमस्कन्ध के अश्वत्थामा की मर्त्य पर विचार कर लिया

(३—रूप)

रूपं वाक्यं वितर्कवत् ॥ ६६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘राजा—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लभं च तथापि मे ।
कामेनैतत्कथं विद्धं सम सर्वैः शिलीमुखैः ॥’

(४—उदाहरण)

उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

‘यो यः शस्त्र विभर्ति स्वभुजगुरुमद. पाण्डवीनां चमूना
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्या गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी, चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीप.
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥’

अपि च दुराराध्या लक्ष्मीरात्मविद्भिरपि राजभिः । कुतः—

तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सतिष्ठते
मूर्खं द्वेष्टि न गच्छति प्रणयितामत्यन्तविद्वत्स्वपि ।
शूरेभ्योऽप्यधिक विभेत्युपहसत्येकान्तभीरुनहो
श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या मृशम् ॥’

यहाँ ‘मार्ग’ की योजना इसलिये है क्योंकि चन्द्रगुप्त का यह यथार्थवचन सामान्यरूप का ही
हुए भी प्रकृत प्रसङ्ग के सर्वथा अनुकूल है ।

अनुवाद—‘रूप’ कहते हैं वितर्कयुक्त वचन को । जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस
प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—मन तो स्वभावतः चंचल हुआ करता है जिससे इसे निशाना बनाना असंभव
है किन्तु तब भी, काम ने, एक ही साथ, अपने सभी वाणों से मेरा मन कैसे विद्ध कर
दिया, कुछ समझ नहीं आता ।’

मैं, वत्सराज का जो वितर्कयुक्त वचन है, उसमें ‘रूप’ का ही स्वरूप दिखायी देता है ।

विमर्श—जैसे अनियत अथवा अनिर्धारित ‘आकार’ को रूप कहा जाया करता है वैसे ही
नानाप्रकार के अर्थों से सम्बद्ध सशय अथवा अनवधारण का उपन्यास ‘रूप’ नामक सन्ध्यङ्ग है ।
मुखसन्धि का ‘युक्ति’ नामक अग भी कृत्यविषयक ऊहापोह ही है किन्तु उसमें अर्थ का आकार
नियत रखा करता है जब कि प्रतिमुखसन्धि के अगभूत ‘रूप’ में अनियत आकार के अर्थों के
सम्बन्ध में तर्कवितर्क हुआ करता है ।

अनुवाद—‘उदाहरण’ कहते हैं स्वविषयक या परविषयक उत्कर्ष के सूचक वचन-
विन्यास को । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के ‘अश्वत्थामाङ्क’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘पाण्डव-सेना के जो-जो वीर अपने बाहुबल के अभिमान में चूर, शस्त्र लिये खड़े हैं,
पाञ्चाल राजवंश के जो-जो बड़े, छोटे और आगे जन्म लेने वाले राजकुमार हैं, मेरे पिता
के वध को जो-जो खड़े हुये देखते रहे हैं और मेरे आगे जो-जो शत्रु-पक्ष के समर्थक हो
रहे हैं, उन-उन का ही क्यों, काल का भी प्राण लेने, मैं अश्वत्थामा, अब आ ही पहुँचा !’

(५—क्रम)

भावतच्चोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्—

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—

स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चलुषा प्रियामवलोकयामि ।

तथाहि—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्त्याः पदानि रचयन्त्याः ।

पुलकाच्चित्तेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥’

(६—संग्रह)

—संग्रहः पुनः ॥ ६७ ॥

सामदानार्थसंपन्नः—

यथा रत्नावल्याम्—

‘राजा—नाधु वयस्य ! इदं ते पारितोषिकम् ।’ (इति कटक ददाति) ।

आदि में, अश्वयामा का जो स्वीकर्षणचक्र वचन है उसमें ‘उदाहरण’ की वदी सुन्दर योजना है ।

विमर्श—‘उदाहरण’ का तात्पर्य उत्कर्ष का आशय अथवा अभिव्यक्ति है (उदात्तानि समुत्कर्षं)

अनुवाद—‘भाव’ अर्थात् पराभिप्राय अथवा भावी अर्थ के निर्णय को ‘क्रम’ नामक मन्त्र कहा गया है । जेने कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसंग अर्थात्—

‘राजा—प्रियतमा शाकुन्तला को, निर्निमेष नयनों से देखना, मेरे लिये सर्वथा उचित है क्योंकि—

पद रचना में चिन्तामग्न मेरी प्रिया का यह मुख, जिसकी शोभा एक जौह के उपर उठे रहने के कारण विचित्र लग रही है और जिसमें आनन्द के रोमाञ्च उठते जा रहे हैं, अपने कपोलकलक से मेरे प्रति अनुराग की सूचना सा दे रहा है ।’

आदि में, दुष्यन्त के द्वारा शाकुन्तलागत भाव का जो उल्लेख है उसमें ‘क्रम’ की रूपरेखा स्पष्ट है ।

विमर्श—पारितोषिक की सर्वज्ञादी, मन्त्रों का विमर्श आशयों में ‘भाव’ का अभिव्यक्ति भाव-भावित या स्वभाव-अनुसार (निर्दिष्टानुसारेण चित्ते भाव प्रपन्नविरजितः) माना गया है जो कि सर्वथा सामयिक है । यहाँ ‘भाव’ का अर्थ ‘अभिज्ञान’ अथवा ‘भाव’ अर्थ है निम्न उदाहरणों में अभिव्यक्ति का अर्थ है—‘भाव’ अथवा ‘भाव’ अर्थ है। क्रमो भावस्य निर्णय—भावस्य पराभिप्रायस्याथवा भावमानस्यार्थन्योहप्रतिभाऽऽदिशानादिर्णयो यथावस्थितरूपनिधय क्रमः । बुद्धिस्तद्वचने न प्रतिहन्त्यत इत्यर्थः ।

‘ननु’—‘मग्न’ का तात्पर्य मान, दान, आदि के द्वारा अर्पण अर्थ का जान है । जेने कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसंग अर्थात्—

‘राजा—प्रियवयस्य ! हो यह पारितोषिक (और अथवा रत्नावली दे देता है) ।’

आदि में, जो मन्त्र है यह ‘मग्न’ रूप ही है ।

विमर्श—‘मग्न’ का अभिव्यक्ति भाव-भावित या स्वभाव-अनुसार (निर्दिष्टानुसारेण चित्ते भाव प्रपन्नविरजितः) माना गया है जो कि सर्वथा सामयिक है । यहाँ ‘भाव’ का अर्थ ‘अभिज्ञान’ अथवा ‘भाव’ अर्थ है निम्न उदाहरणों में अभिव्यक्ति का अर्थ है—‘भाव’ अथवा ‘भाव’ अर्थ है। क्रमो भावस्य निर्णय—भावस्य पराभिप्रायस्याथवा भावमानस्यार्थन्योहप्रतिभाऽऽदिशानादिर्णयो यथावस्थितरूपनिधय क्रमः । बुद्धिस्तद्वचने न प्रतिहन्त्यत इत्यर्थः ।

(७—अनुमान)

—लिङ्गादहोऽनुमानता ।

यथा जानकीराघवे नाटके—

‘रामः—

लीलागतैरपि तरङ्गयतो धरित्रीमालोकनैर्नमयतो जगतां शिरांसि ।
तस्यानुमापयति काञ्चनकान्तिगौरकायस्य सूर्यतनयत्वमधृष्यतां च ॥’

(८—प्रार्थना)

रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत् ॥ ९८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘प्रिये सागरिके ।

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ, पद्मानुकारौ करौ,
रम्भास्तम्भनिभ तथोरुयुगल, बाहू मृणालोपमौ ।

इत्याह्लादकराखिलाङ्घ्रि । रभसान्निशङ्कमालिङ्गय मा-

मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येहोहि निर्वापय ॥’

इदं च प्रार्थनाख्यमङ्गम् । यन्मते निर्वहणे भूतावसरत्वात्प्रशस्तिनामाङ्गं
नास्ति तन्मतानुसारेणोक्तम्, अन्यथा पञ्चपष्टिसख्यत्वप्रसङ्गात् ।

अनुवाद—‘अनुमान’ कहते हैं किसी साधन विशेष के आधार पर किसी साध्यविशेष के ज्ञान को । जैसे कि ‘जानकीराघव’ नाटक के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राम-परशुराम की यह विलासपूर्ण चाल, जिससे पृथिवी कांप उठी है, परशुराम की यह दृष्टि जिससे ससार के सिर नीचे झुक रहे हैं और परशुराम की यह दिव्य देह, जिससे काञ्चन की कान्ति भी फीकी लग रही है, वस इन सबसे यही सूचित होता है कि या तो ये सूर्यपुत्र हैं या सर्वथा अप्रदृश्य महामानव ।’

विमर्श—‘अनुमान’ तो हेतुपूर्वक साध्यनिश्चय है और ‘युक्ति’ का अभिप्राय कह है । इस लिये दोनों सध्यङ्ग भिन्न-भिन्न हैं ।

अनुवाद—‘प्रार्थना’ का तात्पर्य परस्पर प्रेममिलन, प्रहर्ष तथा प्रमोदजनक पदार्थ की याचना है । जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—प्रिये सागरिके ।

तेरे तो अङ्ग-प्रत्यङ्ग आह्लाद के ही जनक हैं—तेरा मुख चन्द्रमा है, तेरे नयन नील कमल हैं, तेरे हाथ पद्म हैं, तेरे ऊरुयुगल कदलीस्तम्भ हैं, और तेरी सुजायें मृणालोप कोमल हैं । और कामपीडित मेरा यह शरीर तेरे बिना कितना संतप्त है । तू आ जा और अपने आलिङ्गन से मुझे शान्ति पहुँचा जा ।’

आदि में, वत्सराज की सागरिका के आलिङ्गन के लिये जो याचना है उसमें इस ‘प्रार्थन’ नामक सन्ध्यङ्ग की रूपरेखा स्पष्ट है ।

गर्मसन्धि का यह ‘प्रार्थना’ नामक अङ्ग वस्तुतः यहाँ मतान्तर के रूप में ही निर्दिष्ट किया गया है क्योंकि जो नाट्याचार्य निर्वहणसन्धि में ‘प्रशस्ति’ नामक अङ्ग को अतिरिक्त अंग नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार ‘प्रार्थना’ से ही ‘प्रशस्ति’ का अभिप्राय गता हो चुका होता है, उनके लिये यहाँ ‘प्रार्थना’ की मान्यता अनिवार्य है । ‘प्रार्थना’

(९—क्षिति)

रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षितिः स्यात्—

यथाश्वत्थामाङ्के—

‘एकस्यैव विपाकोऽयं दानुषो भुवि वर्तते ।

केशप्रहे द्वितीयेऽस्मिन्ननु नि शेषिता प्रजा ॥’

(१०—त्रोटक)

—त्रो(तो)टकं पुनः ।

संरब्धवाक्—

यथा चण्डकौशिके—

‘कौशिकः—आ., पुन कथमद्यापि न मन्भूता त्वर्णदक्षिणा ।’

अतिरिक्त ‘प्रशस्ति’ को भी सन्ध्यद्ग मानने से तो सध्यद्गों की सख्या ६५ हो जायगी, इसलिये ‘प्रार्थना-वादी’ नाट्याचार्यों के लिये ‘प्रशस्ति’ को अतिरिक्त सध्यद्ग मानना आवश्यक नहीं ।

विमर्श—नाट्यार्पणकार ने गर्भनन्धि के रूप में को माना है और इसका वर रक्षित किया है—

‘प्रार्थना भाववाचनम्—

भावाना साध्यफलोचिताना रति-हृपोत्मवादीना वाचन प्रार्थना ।’

(नाट्यार्पण १ न विवेक)

अनुवाद—‘क्षिति’ यह है जिसे रहस्यात्मक इतिवृत्त की सूचना कहा गया है । जसे कि ‘वेणीसहार’ के ‘अश्वत्थामाङ्क’ में—

‘जो कुछ हो चुका वह तो केवल द्रौपदी के केशार्कषण का भयङ्कर परिणाम रहा और द्रोण के केशार्कषण से अब जो होने जा रहा है वह मसार के विनाश से कम अनर्थपूर्ण कदापि न होगा ।’

आदि रूप में, भावी अश्वत्थामाविषयक इतिवृत्त की जो सूचना है उसमें ‘क्षिति’ नामक सध्यद्ग का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यार्पणकार ने ‘क्षिति’ को ‘आक्षेप’ कहा है और इसका वर रक्षित किया है—

‘आक्षेपो बीजप्रकाशनम्—

प्राप्त्याशावस्थानियद्वस्त्य बीजस्य मुक्तायोपायस्य प्रकाशन प्रकपेणाविर्भाजनमात्रेण ।’

यन्तुम् रहस्यम् इतिवृत्त वा प्रकाशन प्राप्त्याशावस्था के बीच का ही प्रकाशन है अन्य कुछ नहीं ।

अनुवाद—‘त्रोटक’ (अथवा तोटक) का तात्पर्य क्रोधाभिव्यञ्जक वचनविन्यास का है । जैसे कि ‘चण्डकौशिक’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘कौशिक—ओह ! फिर तुमने कहा कि अभी तक मेरी स्वर्णदक्षिणा तुम न चुका पाये ?’

आदि में कौशिक-विश्वामित्र का जो रोषपूर्ण वचनविन्यास है उसमें ‘त्रोटक’ की योजना स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यार्पणकार ने ‘त्रोटक’ को वर रक्षित माना है—

‘त्रोटक गभित वच—

क्रोध-हर्षादिमन्भूतावेगमिन वचन तोटपनि भिनत्ति हृदयमिति तोटकम् ।’

(११ अधिवल)

—अधिवलमभिसंधिच्छलेन यः ॥ ९९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘काञ्चनमाला—भट्टिणि, इय सा चित्तसालिआ । वसन्तअस्स सण्ण करोमि’ [मत्ति । इय सा चित्रशालिका, तद्यावद्वसन्तस्य सञ्ज्ञा करोमि ।] इत्यादि ।

(१२—उद्वेग)

नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः ।

यथा वेण्याम्—

‘प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः ।

स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः ॥’

(१३—विद्रव)

शङ्काभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः ॥ १०० ॥

अनुवाद—‘अधिवल’ का अभिप्राय किसी व्याज से किसी के अभिप्राय का अन्वेषण है । जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘काञ्चनमाला—महारानी ! यह रही चित्रशाला । अब मैं वसन्तक को इशारा करती हूँ । आदि में, जो सञ्च्यङ्ग है वह ‘अधिवल’ है ।

विमर्श—नाट्याचार्यों में ‘अधिवल’ के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं । कोई ‘अधिवल’ को ‘अधिकवलयोग’ मानते हैं तो कोई इसे ‘कपट का अन्यथाभाव’ कहते हैं । किसी किसी नाट्याचार्य ने ‘सोपालम्भवाक्य’ को अधिवल कहा है जिसका बड़ा सुन्दर उदाहरण यह है—

‘भीमसेनः (धृतराष्ट्रमुद्दिश्य) अलमिदानीं मन्युना—

कृष्टा केशेषु भार्या नृपसदसि वधूः पाण्डवानां नृपैर्यैः

सर्वे ते क्रोधवह्नी कृशशलभकुलवज्रया येन दग्धाः ।

आतस्त्वां श्रावयेऽहं न खलु मुजवलश्लाघया नापि दर्पात्

पुत्रैः पौत्रैश्च कर्मण्यतिगुरुणि कृते तात ! साक्षी भव त्वम् ॥’

अनुवाद—‘उद्वेग’ का अभिप्राय किसी कारणवश उत्पन्न भय का अभिप्राय है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘एक रथ पर आरूढ और तुम्हें पता लगाते वे दोनों आ रहे हैं जिनमें एक तो कर्ण का घातक है और दूसरा क्रूर वृकोदर है ।’

आदि में, जो सञ्च्यङ्ग है वह ‘उद्वेग’ ही है ।

विमर्श—‘उद्वेग’ भयकी उपस्थिति का नाम है भय का कारण जो भी हो, उसके उपस्थान का वर्णन ‘उद्वेग’ है । शृङ्गाररसप्रधान रूपक में प्रतिनायिका की उपस्थिति में भयवर्णन ‘उद्वेग’ होगा और अन्यरसविषयक रूपकों में अन्य प्रकार के भय का वर्णन ‘उद्वेग’ माना जायगा ।

अनुवाद—‘विद्रव’ का तात्पर्य शङ्का, भय और त्रास से सम्भूत संभ्रम अथवा चित्त की व्याकुलता है । जैसे कि, इस संदर्भ अर्थात्—

‘कालान्तककरालास्य क्रोधोद्भूत दशाननम् ।
विलोक्य वानरानीके सन्भ्रम’ कोऽप्यजायत ॥’
(विमर्गसन्धि के १३ आ निर्देश)

अथ विमर्शाङ्गानि—

अपवादोऽथ संफेटी व्यवसायो द्रवो द्युतिः ।
शक्तिः प्रसङ्गः खेदश्च प्रतिषेधो विरोधनम् ॥ १०१ ॥
प्ररोचना विमर्शे स्यादादानं छादनं तथा ।
(१—अपवाद)

दोषग्रन्थ्यापवादः स्यात्—

यथा वेण्याम्—

‘युधिष्ठिर.—पाञ्चालक ! कचिदात्ताद्रिता तस्य दुरात्मनः कौरव्यापस-
दस्य पदवी ।

पाञ्चालकः—न केवल पदवी. न एव दुरात्मना देवीकेशपाशत्पर्षपातक-
प्रधानहेतुरुत्पलब्ध ।’

‘काल की भाँति विकराल मुखवाले और क्रोध ने पागल दशानन को देखते ही वानर-
सेना में भगदड़ मच गयी ।’

आदि में जो सन्भ्रमवर्णन है उसमें ‘विद्वय’ की ही रूपरेखा स्पष्ट है ।

विमर्श—न.ट.प.प.का ने ‘विद्वय’ का यह सुन्दर व्याख्या का है—

‘भयत्रासकारिणो वस्तुनो या दह्याऽपारकारकात्मभावना सा द्रवति स्पर्शभवति
हृदयमनेनेति द्रव (विद्वय) । उपनत भयमुद्वेग, तत्त्वभावना तु विद्वय ।’

अर्थात् भयान वस्तु का सम्भावना तो ‘विद्वय’ है और ऐसा वस्तु, जो जातिवि ‘द्वेग’ है ।
इसमें ‘विद्वय’ और ‘द्वेग’ का भेद स्पष्ट है ।

अतः—‘विमर्श’ सन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) अपवाद, (२) संफेटी, (३) व्यव-
साय, (४) द्रव, (५) द्युति, (६) शक्ति, (७) प्रसङ्ग, (८) खेद, (९) प्रतिषेध,
(१०) विरोधन, (११) प्ररोचना, (१२) आदान और (१३) छादन ।

विमर्श—आदिमर्श—आ ने यों यह विचार छोड़ दिया कि द्रव, प्रसङ्ग, संफेटी, अपवाद,
पाद, द्युति, शक्ति, प्रसङ्ग की सम्मति तो प्रयोजनवश योग्य हुआ जानो है और द्युति,
प्ररोचना, आदान और चवमान इन मर्श के प्रयुक्त हैं ।

अतः—‘अपवाद’ कहते हैं दोष के प्रत्यारण को । जैसे कि ‘वेणीमहार’ के इस
प्रसङ्ग अर्थात्—

‘युधिष्ठिर—पाञ्चालक ! क्या तुझे उस कौरवाधम सुयोधन के रहने-सहने का कुछ
ज्ञान मिला ?

पाञ्चालक—महाराज ! केवल रहने-सहने का ही क्यों, यह कहिये कि देवी द्रौपदी के
केनारूपी का यह महाशरीर ही मिल गया ।’

आदि में, जो सन्भ्रम है वह ‘अपवाद’ ही है ।

विमर्श—‘अपवाद’ नामक सन्भ्रम की योजना यों का जाना जाता है यों मर्शित

(२—संफेट)

—संफेटो रोपभाषणम् ॥ १०२ ॥

यथा तत्रैव—

‘दुर्योधन—अरे रे मरुत्तनय । वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितमप्यात्मकम्
श्लाघसे । शृणु रे—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
तस्मिन् वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्योर्वीर्यातिभारद्विण्णगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥

भीमः—(सक्रोधम्) आः पाप ।

दुर्योधन—आः पाप ।’ इत्यादि ।

(३—व्यवसाय)

व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसंभवः ।

यथा तत्रैव—

‘भीमः—

निहताशेषकौरव्य क्षीवो दुःशासनासृजा ।

भङ्गा दुर्योधनस्योर्वोर्भूमोऽय शिरसा नतः ॥’

अथवा परविषयक दोष के उद्घाटन का प्रसङ्ग आया करता है । किमी भी रसमावविषयक रूपक प्रबन्ध में इसकी यथोचित योजना सम्व है ।

अनुवाद—‘सफेट’ कहते हैं रोपपूर्वक भाषण को । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुर्योधन—अरे नीच भीमार्जुन ! क्या तुम्हें वयोवृद्ध महाराज के आगे भी अपने नीच कृत्यों पर घमण्ड हो रहा है—लो, सुन लो ।

मुझ भुवनपति की आज्ञा से, राज-सभा के समक्ष, तुझ पशु (भीम) के समक्ष और तेरे (अर्जुन के) भी समक्ष, उस तुम्हारे राजा और उन तुम्हारे दोनों अनुजों के समक्ष सभी के समक्ष, मेरी द्यूतदासी, तेरी स्त्री के केश खींचे गये तो हुआ क्या ? हमारी-तुम्हारी शत्रुता में, उन हजारों राजाओं का क्या अपराध जो लड़ाई में मारे गये ? अरे, अभी क्या घमण्ड करते हो, अभी तो बाहुबल का महाधनी, मैं, दुर्योधन बचा हूँ, बिना मुझ हराये यह घमण्ड ?

भीम—(क्रुद्ध होकर) अरे पापी ।

दुर्योधन—अरे पापी !’

आदि में, दुर्योधन और भीम का जो रोषभाषण है उसमें ‘सफेट’ का ही स्वरूप झलक रहा है ।

विमर्श—‘सफेट’ वस्तुतः ऐसा उत्तर-प्रत्युत्तर है जो क्रोध का अभिव्यञ्जक हुआ करता है इसकी योजना अर्थप्रधान वीरभावविषयक रूपक-प्रबन्धों की विशेषता है ।

अनुवाद—‘व्यवसाय’ कहते हैं हेतु के साथ-साथ कार्य के निर्देश को । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—महाराज ! कौरववंश के विनाशक, दुःशासन के रक्त से सने और दुर्योधन
—, इस भीम का, सिर झुकाकर, आपको प्रणाम स्वीकार हो ।’

(४—द्रव)

द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसम्भवा ॥ १०३ ॥

यथा तत्रैव—

‘युधिष्ठिरः—भगवन् ! कृष्णाम्रज ! सुभद्राभ्रात !

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता, क्षत्रियाणां न धर्मो

रूढ सत्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।

तुल्यं कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धं

कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयि त्वम् ॥’

(५—श्रुति)

तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता श्रुतिः—

यथा तत्रैव दुर्योधनं प्रति कुमारवृकोदरेणोक्तम्—

‘जन्मेन्द्रोर्विमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां

मां दुःशासनकोष्णशोणितमधुक्षीवं रिपुं मन्यसे ।

वर्णान्धो मधुकैटभद्विपि हरावप्युद्धत चेष्टसे

त्रासान्ने नृ-पशो ! विशयं समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥

आदि में, जो भीम का वचन है उसमें ‘व्यवसाय’ का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नट्यप्रकार ने ‘व्यवसाय’ का यह लक्षण दिया है—

‘व्यवसायोऽप्यहेतुयुक्—

युगिति योजनं युक् । अर्थनीयफलस्य हेतुस्तद्योगो व्यवसायः ।’

अर्थात् अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिये जो मनुष्य उपायगन्ध है वह ‘व्यवसाय’ है ।

अनुवाद—‘द्रव’ कहते हैं शोकावेग अथवा प्रोधावेग आदि के कारण, पूज्य व्यक्ति के प्रति, अनादर भाव के प्रदर्शन को । जैसे कि ‘बेगीमहार’ के ही इस प्रस्ता अर्थात्—

‘युधिष्ठिर—भगवन् ! कृष्णाम्रज ! सुभद्राभ्रात !’

आपने इसका भी ध्यान न रखा कि हम सब मनुष्य ही हैं, धात्रधर्म भी आप भूल पड़े, अर्जुन के साथ, अपने अनुज (कृष्ण) के मित्रभाव पर भी आपका ध्यान न गया, आप यह भी भूल गये कि दुर्योधन और भीम—दोनों ही आपके समान गुरु-स्नेह के अधिकारी हैं, अधिक क्या कहूँ, ऐसा लगता है जैसे मेरा दुर्भाग्य ही आपके समान पर अधमर कर रहा हो ।

आदि में, शोकाविष्ट युधिष्ठिर द्वारा यत्तराम के अनादर का जो वर्णन है उसमें ‘द्रव’ का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नट्यप्रकार ने जो ‘द्रव’ को ‘व्यवसाय’ का माना है कि जो ‘व्यवसाय’ का अभिप्राय दूसरी व्यक्ति का अनादर न करना ‘द्रव’ यत्ति दाना नाशक’ दिया है ।

अनुवाद—‘श्रुति’ का अभिप्राय किसी की भयमना करना अथवा किसी को भयभीत करना आदि है । जैसे कि ‘बेगीमहार’ के इस प्रस्ता अर्थात्—

(कुमार वृकोदर अर्थात् भीम ही दुर्योधन के प्रति उक्ति)

‘अरे दुर्योधन ! राज भी तू अपने को चन्द्रवज्र का राजकुमार मान रहा है । भान भी तू गदा धारण कर रहा है । आज भी तू दुर्भाग्य के उपाय रूप-पान में मन मुक्त

(६—शक्ति)

—शक्तिः पुनर्भवेत् ।

विरोधस्य प्रशमनम्—

यथा तत्रैव—

‘कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरसि जना भस्मसाद् देहभारा-

नश्रून्मिश्रं कथञ्चिद्दत्तु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः ।

मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनगगहने खण्डितान् गृध्रकङ्कैः-

रस्तं भाखान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संहियन्ता बलानि ॥’

(७—प्रसङ्ग)

—प्रसङ्गो गुरुक्रीर्त्तनम् ॥ १०४ ॥

यथा मृच्छकटिकायाम्—

‘चाण्डालकः—एसो क्खु सागलदत्तस्स सुदो अज्जविस्मदत्तस्म णत्तिओ

अपना शत्रु समक्ष रहा है । आज भी तू मधुसूदन, कैटभारि कृष्ण के प्रति उद्दण्डता दिखा रहा है । अरे नरपशु ! तो फिर सामने आ जा । मेरे दर से, संग्राम से भागकर, जलाशय-पंक में क्यों छिपा है ?’

आदि में, दुर्योधन की जो भर्त्सना है उसमें ‘धृति’ की रूपरेखा स्पष्ट है ।

विमर्श—‘धृति’ में तर्जन और उद्वेजन, भस्मना और धर्पण, साक्षात् अथवा असाक्षात् अनादर और अपमान सब कुछ अन्तर्भूत है । इस सध्यङ्ग की योजना वीररसप्रधान रूपकों का सौन्दर्य है । शतिवृत्त-विकास और चरित्र-चित्रण, दोनों के लिये इस सध्यङ्ग की आवश्यकता है ।

अनुवाद—‘शक्ति’ कहते हैं विरोध के प्रशमन को । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अब संग्राम समाप्त हुआ, अब सगे-सम्बन्धी अपने मृत सगे-सम्बन्धियों की अन्त्येष्टि-क्रिया में लग जायें, अब बन्धु बान्धव अपने दिवंगत बन्धु-बान्धवों के लिये आँसू से भरे तर्पण प्रारम्भ कर दें, अब दृष्ट-मित्र, गिद्धों और कौवों से नोचो-खसोटी अपने मृत दृष्ट-मित्रों की देह, मुर्दों के इस जगल से, हूँद निकालें । अब शत्रुसताप के साथ साथ भगवान् भास्कर भी अस्त हो चुके । अब सेनायें संग्राम से छुट्टी पा जायें ।’

आदि में, कुरु-पाण्डव-विरोध का जो प्रशमन-वर्णन है, उसमें इस ‘शक्ति’ की ही झलक दिखायी दे रही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘शक्ति’ को विरोध का प्रशमन न मानकर ‘क्रुद्धप्रसादन’ माना है—

‘क्रुद्धप्रसादनं शक्तिः । क्रुद्धस्य प्रसादनमनुकूलनं बुद्धिविभवादिशक्तिकार्यत्वेन सा शक्तिः । यदि वा क्रुद्धस्य द्विषतः प्रकर्षेण सादनं विनाशनं शक्तिः ।’

और ‘क्रुद्धप्रसादन’ को इसलिये ‘शक्ति’ कहा है क्योंकि बुद्धि-शक्ति से क्रुद्ध व्यक्ति को शान्त किया जा सकता है । क्रुद्ध व्यक्ति का विनाश भी ‘क्रुद्धप्रसादन’ का एक अभिप्राय है ।

अनुवाद—‘प्रसङ्ग’ का अभिप्राय पूजनीय पुरुष का गुणवर्णन है—

जैसे कि ‘मृच्छकटिक’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘चाण्डालक—ये रहे श्रीसागरदत्त के पुत्र, आर्य विश्वदत्त के पोता चारुदत्त, जो फाँसी

चालुदत्तो वायादिदु वञ्कट्टाण णिज्जइ एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुअ-
रणलोहेण वायादि देत्ति [पशु गन्तु नागरदत्तस्य मुन आर्यविश्वदत्तस्य नत्ता चारुदत्तो
व्यापादयितु नीयते । एतेन किल गणिका वसन्तसेना मुवर्त्तलोहेन व्यापादिता] ।

चारुदत्तः—(सनिवद न्यगतम्)

‘मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासित यत्
सदसि निविडचैत्यब्रह्मघोषै पुरस्तात् ।

मम निधनदशायां वर्त्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुभ्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥’

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलप्रसङ्गाद् गुरुकीर्त्तनमिति प्रसङ्ग ।

(-—छेद)

मनश्चेष्टामनुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः ।

मनः समुत्पन्नो यया मालतीभाववे—

‘दलति हृदय गाढोद्वेगो द्विधा न च भिद्यते
वहति विकल कायो मोह न मुञ्चति चेतनाम् ।

ज्वलयति तनूमन्तर्दाह, करोति न भस्मनात्
प्रहरति विधिर्ममच्छेदी, न कृन्तति जीवितम् ॥’

एव चेष्टासमुत्पन्नोऽपि ।

के लिये दण्डभूति पर ले जाये जा रहे हैं । घन्लोभ के कारण गणिका वसन्तसेना की
हत्या हुनका अपराध है ।

चारुदत्त (निद्रिण होकर, स्वगत)—

ओह ! कहीं मेरा लड़कें वञ्कट्टों के लगावन में परन हुनीत प्रसिद्ध वन जिनकी
प्रशंसा मैं मन्दिरों और घरों में पेशेधनियों गूँजती रहीं । लेकिन, क्या मरणात् मुझे
देख-देख यह नीच घाण्डाल, मेरे अपराध की घोषणा के साथ-साथ मेरे हुनीत वन पर
कलक लगा रहा है ।

आदि मैं, वध-घोषणा के साथ-साथ चारुदत्त का जो गौरव-वर्णन है, उसमें ‘प्रम-’
का स्वल्प नष्ट दिव्यायी दे रहा है ।

विमर्श—नारदभट्ट ने भा ‘प्रम’ को मरानुत्पन्न-मर्दित्व का प्रतीक—

‘प्रमो महता कीर्ति—

कीर्ति मगधनम् ॥’

श्रुति—‘वेद’ करते हैं मोर आदिरूप मन क्षया शरीर के व्यापारों के कारण
समुत्पन्न परिश्रम हो ।

जैसे कि ‘मानसवेद’ का ‘मालतीभाव’ में यह वर्णन—

‘प्यारी मालती के चिर का मोकसेन, मेरा हृदय विडल कर रहा है, लेकिन तब
भी वह पड़ना नहीं । यह प्यारु शरीर मूर्च्छित हो रहा है, लेकिन तब भी होना
चाही है । भीतर की जलन शरीर को जला रही है, लेकिन तब भी वह जलन रुक
नहीं हुआ । उन्माद मर्मांतर्दष्ट हो कर रहा है, लेकिन तब भी प्राण नहीं है ।’

इसी भाँति, चेष्टासमुत्पन्न ‘वेद’ का उदाहरण प्रतीक जा सकता है ।

(९—प्रतिषेध)

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इतोप्यते ।

यथा मम प्रभावत्यां विदूषक प्रति—

‘प्रद्युम्नः—सखे ! कथमिह त्वमेकाकी वर्त्तसे ? क नु पुनः प्रियसर्प
नानुगम्यमाना प्रियतमा मे प्रभावती ?विदूषकः—असुरवङ्गणा आआरिअ कहि वि णीढा [असुरपतिना आ
कुत्रापि नीता] ।

प्रद्युम्नः—(दीर्घ निःश्वस्य)

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! मत्तचकोरनेत्रे

मासानताङ्गि ! परिहाय कुतो गतासि ?

गच्छ त्वमद्य ननु जीवित ! तूर्णमेव

दैवं कदर्थनपर कृतकृत्यमस्तु ॥’

(१०—विरोधन)

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम् ॥

यथा वेण्याम्—

‘युधिष्ठिरः—

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निवृत्ते

कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम् ।

भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये

सर्वे जीवितसंशय वयममी वाचा समारोपिताः ॥’

विमर्श—‘खेद’ का अभिप्राय सभी नाट्याचार्य कायिक अथवा मानसिक परिश्रम ही मानते हैं । यद्यपि कायिक अथवा मानसिक श्रम व्यभिचारिभावों में गिना जाता है किन्तु रसविशेष के परिपोष के लिए इसे सध्यङ्ग भी मान लिया गया है ।

अनुवाद—‘प्रतिषेध’ का अभिप्राय अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में विघ्नबाधा का अभिप्राय है ।

जैसे कि, मेरी कृति ‘प्रभावती’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘प्रद्युम्न (विदूषक से)—मित्र ! तुम यहाँ अकेले कैसे ? मेरी प्रियतमा प्रभावती और उसकी सखियाँ कहाँ गयीं ?

विदूषक—उसे तो राक्षसराज कहीं बुला ले गया ।

प्रद्युम्न—(आह खींचकर) ।

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! हा मत्तचकोराक्षि ! हा सुन्दरि ! मुझे छोड़ तू कहाँ चल पड़ी मेरे प्राण ! तू भी शीघ्र चल बस । मेरा दुर्भाग्य अथ आनन्द मनावे ।’

आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह प्रतिषेध ही है ।

अनुवाद—‘विरोधन’ का अभिप्राय किसी कर्त्तव्य में विघ्नोपस्थापन है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘युधिष्ठिर-भीष्मपराक्रमरूप सागर भी पार कर चुके, द्रोणरूप अग्नि भी बुझ चुक करण सा विषधर भी मर चुका और शल्य सा शूर भी स्वर्ग पहुँचा दिया गया । विज

(११—प्ररोचना)

प्ररोचना तु विज्ञेया मङ्गार्थप्रदर्शनी ॥ १०६ ॥

यथा वेण्याम्—

‘पाञ्चालकः—अहं देवेन चक्रपाणिना सहित —इत्युपक्रम्य कृत सन्देशेन ।

पूर्यन्ता सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते

कृष्णात्यन्तचिरोष्मिन्ने तु कवरीवन्धे करोतु क्षणम् ।

रामे शातकुठारभास्वरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि

क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुत नशाय ॥’

(१२—‘आदान ’)

कार्यसंग्रह आदानम्—

यथा वेण्याम्— भो भो नमन्तपञ्चकचारिण ।

नाहं रक्षो न भूतो रिपुर्धिरजलाह्वयिताह्वः प्रकाम

निस्तीर्णोऽप्रवृत्ताजलनिधिगहन क्रोधन क्षत्रियोऽस्मि ।

तो निश्चित ही थी लेकिन, साहन्तरनिक भीम ने दुर्योधन-वध की प्रतिज्ञा क्या कर ली, हम सबको प्राण-सहाय में डाल दिया ।’

आदि में, जो सङ्घर्ष है वह ‘विरोधन’ रूप ही है ।

विमर्श—‘व्यवर्ण’कार ने ‘विरोधन’ को ‘विरोध’ कहा है—

‘विरोध’ प्रस्तुतज्यानि—प्रस्तुतस्य कार्यस्य ज्यानिरत्यय विरोध इव विरोध ।’

किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही है ।

‘नुवाद—‘प्ररोचना’ कहते हैं अभिलपित अर्थ के ऐसे प्रदर्शन को मानो वह सपना हो गया हो । जैसे कि ‘वेणीमहार’ के ही हम प्रसन्न अर्थात्—‘पाञ्चालक—मैं चक्रपाणि भगवान् कृष्ण द्वारा’ आदि से लेकर, इस प्रसन्न अर्थात्—

‘अथ विजय में क्या सदेह ।’

अथ महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के लिये रत्नकलशों में जल भरा जाय; अथ द्रौपदी, बहुत दिनों से न सँवार गये अपने केशों को सँवार ले, अथ जब कि तीक्ष्ण कुठार से सुशोभित भुजा वाले, अत्रियकानन के महारक यलराम और क्रोधान्ध भीम समग्र में घूट पड़े हैं तब विजय में क्या सदेह ।’

आदि तक, वेणीमहारूप भावी कार्य का निष्पन्न रूप से जो वर्णन है उसमें ‘प्ररोचना’ की योजना स्पष्ट है ।

विमर्श—‘व्यवर्ण’कार ने ‘प्ररोचना’ का वही विमर्श व्याख्या को है—

‘भावमिद्रि’ प्ररोचना—निर्वहणमन्धौ भाविनोऽर्थस्य सिद्धि मिद्वयेनोपक्रमण, प्रकर्षेण रोच्यते दीप्यतेऽनया रूपकार्य इति प्ररोचना ।’

और इसके उदाहरण रूप में, वेणीमहार का ही ‘वृत्तान्त’ यदि प्रसन्न प्रस्तुत का यह कहा है कि हम प्रसन्न में ‘प्ररोचना’ इत्यन्ति है क्योंकि वहाँ अत्रिभ्य में नम्रग होने वाले ‘युधिष्ठिर राज्याभिषेक’ और ‘द्रौपदीकेसमदहन’ की समाप्ति से वर्णित किया गया है ।

‘नुवाद—‘आदान’ कहते हैं ‘कार्यसंग्रह’ अथवा मुख्य फल के दर्शन को । जैसे कि ‘वेणीमहार’ के हम प्रसन्न अर्थात्—

‘भीम—अरे नमन्तपञ्चक के रजद्वेग में घिघरनेवाले । मैं राक्षस नहीं, मैं भ्रेत नहीं,

भो भो राजन्यवीराः ! समरशिखिशिखामुक्तशोपा । कृतं व-
 छासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥'
 अत्र समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम्
 (१३—छादन)

—तदाहुश्छादनं पुनः ।

कार्यार्थमपमानादेः सहनं खलु यद्भवेत् ॥ १०७ ॥

यथा तत्रैव—

‘अर्जुनः—आर्य ! प्रसीद किमत्र क्रोधेन—

अप्रियाणि करोत्वेप वाचा शक्नो न कर्मणा ।

हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥’

(निर्वहण सन्धि के १४ अङ्ग . निर्देश)

अथ निर्वहणाद्भानि ।

सन्धिर्विवोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।

कृतिः प्रसाद आनन्दः समयोऽप्युपगूहनम् ॥ १०८

भाषणं पूर्ववाक्यञ्च काव्यसंहार एव च ।

प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यद्भानि नामतः ॥ १०९

मैं क्रोध का अवतार वह क्षत्रिय हूँ जिसने शत्रुरक्त में जी भरकर स्नान किया ।
 अपने भयङ्कर प्रणरूपी अपार पारावार को पार कर लिया है । अरे क्षत्रिय वीरो
 संग्रामानल में जलने से बचे-बुचे शूर सैनिको ! ढरो मत, मुझसे ढरकर हाथी-
 शव के पीछे मत छिपो ।’

आदि में शत्रुवधरूप कार्य का जो उपसंहार-वर्णन है, उसमें ‘आदान’ का
 स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘आदान’ को ‘फलसामीप्य’ कहा है और ‘फलसाम’
 अभिप्राय मुख्यफल का साक्षात्कार बताया है ।

अनुवाद—‘छादन’ कहते हैं कार्यसिद्धि के लिये अपमान आदि के सहन कर
 जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के ही इस प्रसङ्ग में अर्थात्—

‘अर्जुन—आर्य ! आप क्रुद्ध न हों—

इस दुर्योधन को, जो कुछ खरी-खोटी सुनानी हो, सुना लेने दीजिये । यह
 अब क्या बिगाड़ सकता है । इसे तो, इसके सैकड़ों भाइयों की मौत रुला रही है
 प्रलाप से होता क्या है ।’

आदि में, अपमान-सहन का जो वर्णन है उसमें ‘छादन’ की ही योजना है ।

विमर्श—नाट्यदर्पण के अनुसार छादन ‘मन्युमार्जन’ अथवा ‘अपमानसहन’ है—

मन्युमार्जनम्—

मन्युरपमानो येन मार्ज्यते तत् छादनम् ।’ (नाट्यदर्पण १ विवेक)

अनुवाद—निर्वहण सन्धि के ये १४ अङ्ग हैं—(१) सन्धि, (२) विबोध, (३)

(१-संवि)

ଦତ୍ତ—

त्रौजोपगमनं सन्धिः—

यथा तत्रैव (वेण्याम्)—

• 'भीमः—भवति । यत्तवेदिसन्भवे ! त्मरनि भवती यन्मयोक्तम्—'बद्धदुर्नुने'
त्यादि ।'

अनेन मुखे क्षिप्रवीजस्य पुनरुपगमनमिति सन्धिः ।

(२—विद्योप)

—विबोधः कार्यमार्गजम् ।

चया तत्रैव—

'धीमः—तुष्टु नामार्य क्षणनेकम् ।

बुधियष्टिरः—किनपरमवशिष्टम् ?

श्रीमः—सुमहद्वशिष्टम् । नयनयानि तावदनेन सुयोधनशोषितोन्निन्न
पाणिना पाछात्या दुःशान्तावकृष्ट केमहस्तम् ।

(४) निर्णय, (५) परिभाषा, (६) कृति, (७) प्रवाद, (८) ज्ञानन्द, (९) मन्त्र, (१०) उद-
गृह्य, (११) भाष्य, (१२) पूर्ववाक्य, (१३) वाक्यमहार और (१४) प्रदान्ति ।

प्रश्न—'मन्त्रि' का अन्विष्ट (अन्विष्ट) निश्चित बोज (रूप अनिवार्य) का उपयोग करना क्या पुनः प्रधान है। जैसे कि 'मन्त्रि' के ही रूप में प्रयोग—

‘नील—वही धनवेदिनगवें ! क्या तुम जादू हैं कि मैंने क्या कहा था—उसने प्रचण्ड मजबूत में धनवी जाती ।’

अदि मैं, ले सम्मन् है या 'मन्धि' रूप हो है क्योंकि यहाँ 'सुम्मानि' में निमित्त
 यहाँ का सम्मानन जयरा पुन सम्मान किया जा रहा है ।

—
—
—

महाराष्ट्र सरकार -

[illegible]

उत्तर—'विशेष' का अनिवार्य कार्य का अनुसरण है। उसे कि 'विशेष' के
द्वय प्रत्यय लक्ष्य—

‘निम-भार दुःखे भेदी है कि जिं लगे है।

मुपिहिर—अर यजः वाही है ।

जैसे—जैसे धुल्ल कुल पानी है। जमीनी तेल, सुखोष्ण के तम में मने तम हमने
मे, सुखोष्ण द्वारा मने मने, जमीनी के तेलों में मने है।

युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणीसहारम् ।' इति ।
अनेन वे शसंयमनकार्यस्यान्वेपणाद्विवोधः ।

(३—प्रथन)

उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनं—

यथा तत्रैव—

‘भीमः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्त्तव्या दुःशासनविलुलिता
वेणिरात्मपाणिभ्याम् । तिष्ठ, स्वयमेवाहं सह्रामि ।’ इति ।

अनेन कार्यस्योपक्षेपाद्ग्रथनम् ।

(४—निर्णय)

—निर्णयः पुनः ॥ ११० ॥

अनुभूतार्थकथनं—

यथा तत्रैव—

‘भीमः—देव अजातशत्रो ! अद्यापि दुर्योधनहतक । मया हि तस्य दुरात्मनः—

भूमौ क्षिप्त शरीर निहितमिदमसृक्चन्दनाभ निजाङ्गं

लक्ष्मीराय निपिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्द्धमुर्व्या ।

युधिष्ठिर—अच्छा बात है । जाओ, द्रौपदी को भी ‘वेणीसहार’ (वेणी के सँवारने) का
सुख मिले ।’

मैं, जो सध्यङ्ग है वह ‘विवोध’ ही है क्योंकि यहाँ भीम के द्वारा ‘वेणीसहार’ रूप
स्वकर्त्तव्य के अन्वेपण का हो वर्णन है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘विवोध’ को ‘निरोध’ कहा है और ‘निरोध’ का यह लक्षण
किया है—

‘निरोधः कार्यमीमांसा—

नष्टस्य कार्यस्य मुक्तये यदन्वेपण तन्निरुद्धवस्तुविषयत्वाज्जिरोधः’ किन्तु दोनों का
अभिप्राय एक ही है ।

अनुवाद—‘ग्रथन’ वह है जिसे कार्य का उपन्यास अथवा उपक्षेप कहा गया है ।
जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—पाञ्चालि ! मेरे जीते-जागते, तुझे अपने हाथों, दुःशासन द्वारा खोली गयी
अपनी वेणी न बाधनी चाहिये । ठहर, मैं स्वयं इसे बांधूंगा ।’

आदि में, भीमसेन के कर्त्तव्यरूप वेणीबन्धन का जो वर्णन है, उसमें ‘ग्रथन’ की ही
योजना है ।

विमर्श—‘ग्रथन’ को इसलिये ‘ग्रथन’ कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा व्यापार और फल का
सम्बन्ध स्थापित किया जाया करता है (ग्रथ्यते सम्बध्यते व्यापारेण मुख्यफलमनेनेति
ग्रथनम्) ।

अनुवाद—‘निर्णय’ कहते हैं अनुभूत अर्थ के कथन को । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के ही
इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—महाराज ! अजातशत्रो ! क्या आज भी वह नीच दुर्योधन बचा हुआ है ?
अरे, मैंने उस नीच का—

भृत्या मित्राणि योषा कुन्कुलमनुजा दग्धमेतद्रणानी
नामैकं यद्वनवीपि क्षितिप ! तदधुना धार्तराष्ट्रस्य श्रेयम् ॥'

(५—परिभाषण)

—वदन्ति परिभाषणम् ।

परिवादकृतं वाक्यम्—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—आये ! अथ सा तत्रभवती किमात्यस्य राजर्षे पत्नी ?

तापसी—को तस्मिन् घन्मन्त्रपरिद्राडणो जानं नेण्हिस्सिद्धिं [स्सम्य धर्मदार-
परित्यागिनी नानप्र होप्सि] ।

शरीर मिट्टी में मिला दिया है, रत्नचन्दन की भाँति उसका लाल रत्न मेरे शरीर
का लङ्घन बन रहा है, आप को विजयप्री मिनी है और चारों मनुजों से घिरी यह
वसुन्धरा आप की बेटी बन चुकी है, कुरुप्रश के अनुचर परिचर, दृष्ट-मित्र, शूर-वीर नय
के सब इस रणान्त में जट-भुन चुके हैं, अब तो जिसे आप 'दुर्योधन' कहते हैं वह
केवल नाममात्र बच रहा है ।'

आदि में भीम का जो अनुभूतार्थ वर्णन है उसमें 'निर्गन्ध' का ही रूप स्पष्ट परिलक्षित
हो रहा है ।

विमर्श—नाट्यदर्शनकार ने 'निर्गन्ध' का क्या अर्थ किया है—

'निर्गन्धोऽनुभव-याति—ज्ञेयैष्यं सन्निधानमप्रतिपाद्यमानं वा प्रति यदनुभवस्यानुभूत-
स्वार्थस्य निर्गन्धार्थं कथनं तत् ज्ञेयार्थनिर्गन्धार्थनिर्गन्ध' (नाट्य-दर्शन- १ न विवेक) ।

इस अर्थपर ही योजना की अनिवार्य मानी गयी है ।

अतः—'परिभाषण' वह है जिसे परिवाद अथवा निन्दा का सूचक भाषा कहा
गया है । जैसे कि, 'क्षमिजानशाकुन्तल' के इस प्रसंग अर्थात्—

'राजा—आये ! पर तो बताइये कि आप इन्हें किन नाम के राजा की पत्नी कहना
चाहती हैं ?

तापसी—जिम्हने अपनी पत्नी का परिचय कर दिया है उस पत्नी का नाम कौन है !'
आदि में, तापसी का जो दुष्प्रत्य-निन्दन है उसमें 'परिभाषा' का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्शनकार ने 'परिभाषण' को परिभाषा कहा है और 'परिभाषा' का अर्थ—
परिभाषा ही है—

'परिभाषा स्वनिन्दनम्—

स्वापराधोद्धट्टन परिभाषा । यथा 'तापमयस्मरादे' कास्यदत्ता प्रति राजा (स्मरण)—
देवि ! किं प्रसीति ।'

यथा तथा धृतराजं निन्देत् निरपराधम् ।

क्षान्दामुपनिन्द्या दृष्टाप्स्यन्मुद्रात् नान् ।'

यथा वा 'नटविजये' दम्पतीं प्रति नट—

न मेन विहितं रिने न चापार मगं म्मुन ।

यश्ना त्वा वने देवि ! मया दास्यन्तादितम् ॥

(६—कृति)

—लब्धार्थशमनं कृतिः ॥ १११ ॥

यथा वेण्याम्—

‘कृष्णः—एते भगवन्तो व्यास-वाल्मीकिप्रभृतयोऽभिपेकधारयन्तस्तिष्ठन्ति ई

अनेन प्राप्तराज्यस्याभिपेकमङ्गलैः स्थिरीकरण कृतिः ।

(७—प्रसाद)

शुश्रूषादिः प्रसादः स्यात्—

यथा तत्रैव भीमेन द्रौपद्याः केशसयमनम् ।

(८—आनन्द)

—आनन्दो वाञ्छितागमः ॥

यथा वा ‘राघवाभ्युदये’ राम. (स्वगतम्)—

वैदेहीं हृतवांस्तदेव महतः सख्ये विपद्य कुमां-

श्चक्रोत्पादितकन्धरो दशमुखः कीनाशदासीकृतः ।

प्राणान् यद्विरहेऽप्यह विष्टतवांस्तेन त्रपापांसुर

वक्त्र दर्शयितु तथापि न पुरस्तस्याः विलस्यः क्षमः ॥’

साहित्यदर्पणकार के अनुसार तो ‘परिभाषण’ परनिन्दा-सूचक भाषण माना गया है ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार यह स्वनिन्दनात्मक वचन है ।

अनुवाद—‘कृति’ कहते हैं उपलब्ध विषय के द्वारा चित्त-शान्ति के वर्णन को । जैसे ‘वैणीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘कृष्ण—भगवान् व्यास और वाल्मीकि आदि महर्षि अभिपेक (जल) लिये अभिपेक्षा कर रहे हैं ।’

आदि में, अभिपेकमङ्गल द्वारा, युधिष्ठिर के चित्त में शान्ति और स्थिरता की स्थापना जो वर्णन है उसमें ‘कृति’ की ही रूपरेखा झलक रही है ।

विमर्श—‘कृति’ का अभिप्राय क्षेम अथवा लब्ध अर्थ का परिपालन है जैसा कि नाट्यकार का कथन है—

‘कृति. क्षेमम्—लब्धस्य परिपालन क्षेमः ।’

अनुवाद—‘प्रसाद’ का अभिप्राय सेवा, परिचर्या आदि का अभिप्राय है । जैसे ‘वैणीसंहार’ में भीम द्वारा द्रौपदी के केशसयमन की घटना का जो उल्लेख है वह ‘प्र’ रूप सध्यङ्ग की ही योजना है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘प्रसाद’ को ‘उपास्ति’ कहा है और ‘उपास्ति’ का अभि ‘सेवा’ बताया है—

‘सेवोपास्ति—सेवा परप्रसत्तिहेतुर्व्यापारः ।’

नाट्यदर्पणकार के अनुसार ‘प्रसाद’ नाट्याचार्य भरत के अतिरिक्त अन्य नाट्यकीर्तिमत का सन्ध्यङ्ग है—

‘अन्ये त्वस्य स्थाने प्रियहिताचरणजनितां प्रसत्तिं प्रसादमङ्ग मन्यन्ते ।’

(नाट्यदर्पण . १ म विवेक)

अनुवाद—‘आनन्द’ वह है जिसे मनोरथ की पूर्ति में सतोष कहा गया है ।

यथा तत्रैव—

‘द्रौपदी—विमुनरिद् एद् वावार णाधस्त पत्तादेण पुणो वि निक्खिन्म ।
[विस्मृतमेव व्यापारं नापन्य प्रमादेन पुनरपि शिञ्जिमे] ।

(१—तमय)

समयो दुःखनिर्याणं—

यथा रत्नावल्याम्—

‘धासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्गय) समत्सल बहिणिण । समत्तन-
[न्नाश्वनिं भगिनि ! न्नाश्वनिं] ।

(१०—उद्गूहन)

—तद्भवेदुपगृह्यन् ॥ ११२

यत् स्यादद्भुतसम्प्राप्तिः—

यथा नम प्रभावत्या नारददर्शनात् प्रद्युम्न ऊर्ध्वनवलोक्य—

‘दयद्विद्युल्लेखामिव कुसुममाला परिमल-

भ्रमद्भृङ्गश्रेणीध्वनिभिरुपगीता तत इत ।

दिगन्त इयोतिभिस्तुहिनकरगारैर्धवलय-

(११—भाषण)

—सामदानादि भाषणम् ।

यथा चण्डकौशिके—

‘धर्मः—तदेहि धर्मलोकमधितिष्ठ ।’

(१२—पूर्ववाक्य)

पूर्ववाक्यं तु चिज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम् ॥ ११३ ॥

यथा वेण्याम्—

‘भीमः—बुद्धिमतिके । क सा भानुमती । परिभवतु सम्प्रति पाण्डवद्वारम् ।’

(१३—काव्यसंहार)

वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते ।

यथा सर्वत्र—किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि । इति ।

चमकती पुष्पमाला धारण किये तथा चन्द्रधवल तेज से दिगन्त को प्रकाशित करते हुये इधर आता जा रहा है ? कहीं यह कैलास पर्वत तो नहीं या और कुछ तो नहीं है ।
इसमें, ‘उपगूहन’ का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘उपगूहन’ के स्थान पर ‘परिगूहन’ नाम प्रयुक्त किया है और ‘परिगूहन’ का यह अभिप्राय बताया है—

‘विस्मयस्थायिभावात्मकस्याद्भुतरसस्य प्राप्तिः परिगूहनम् ।’

अनुवाद—‘भाषण’ का अभिप्राय सान्त्वनाजनक, प्रियङ्कर अथवा हितकारक वचन है । जैसे कि ‘चण्डकौशिक’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘धर्म—हरिश्चन्द्र । इधर आओ, तुम्हें धर्मलोक में विचरना है ।’

आदि में, हरिश्चन्द्र के लिये सान्त्वनादायक धर्म का जो वचन है उसमें ‘भाषण’ की योजना है ।

विमर्श—‘भाषण’ वस्तुतः प्रियहितवचन है । इसकी योजना मित्र-मित्र रसभावविषयक रूपकप्रवृत्तियों में की गयी है ।

अनुवाद—‘पूर्ववाक्य’ वह है जिसे पूर्वोक्त विषय अथवा वचन का पुनर्दर्शन कहा गया है । जैसे कि, ‘वेणीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—बुद्धिमतिके । कहाँ गयी वह भानुमती ? अब देखें, कैसे पाण्डव-पत्नी का अपमान करती है ।’

आदि में जो सध्यङ्ग है वह ‘पूर्ववाक्य’ ही है ।

विमर्श—‘पूर्ववाक्य’ का दूसरा नाम ‘प्राग्भाव’ है । नाट्यदर्पणकार ने ‘प्राग्भाव’ नाम से ही इस सध्यङ्ग का स्मरण किया है—

‘प्राग्भावः कृत्यदर्शनम् ।’

किन्तु ‘प्राग्भाव’ का अभिप्राय किसी के कृत्य का किसी के द्वारा दर्शन है । नाट्यदर्पणकार के अनुसार ‘पूर्ववाक्य’ कतिपय नाट्याचार्यों की मान्यता का सन्ध्यङ्ग है—‘मुखसन्ध्याद्युक्तं वाक्यसदृशवाक्यदर्शनं पूर्ववाक्यमङ्गमस्य स्थाने केचिदामनन्ति ।’

अनुवाद—‘काव्यसंहार’ वह सध्यङ्ग है जिसे वरप्रदान की संप्राप्ति कहा गया है । जैसे

(१४—प्रगति)

नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते ॥ ११४ ॥

यथा प्रभावत्याम्—

‘राजान सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्य प्रजा
जीवासु नन्दमद्विवेकपटव सन्तो गुणप्राहिणः ।

नस्यत्त्वर्णसमृद्धय समधिकाः सन्तु क्षमामण्डले

भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ॥

अत्र चोपमहारप्रशस्त्योरन्त एकेन क्रमेणैव स्थिति ।

(मन्वद्गन्निवेश नै मतभेद)

इह च मुख्यतया उपज्ञेयपरिण्यासयुक्त्युद्देशमवाधानाना प्रतिमुखे च परिनिर्पणप्रगमनवज्रोपन्यासपुष्पाणा गर्भेऽभूताहरणमार्गो(तो)टकाधिवलज्ञे-
पाणा विमगऽपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानाना प्राधान्यम् । अन्येषा च यथा-
नन्भवं स्थिति इति केचिन् ।

किं समस्त रूपकप्रबन्धो नै, ‘किन्ते भूय प्रियमुपकरोमि’ का जो उपनिबन्ध किया
जाया करता है वह ‘काव्यमहार’ की ही योजना है ।

विमर्श—सादृश्यकार ने ‘काव्यमहार’ की यह सन्ध्या परिभाषा की है—

‘वरेच्छा काव्यमहार

इप्सित शानुमभिलाषो वरेच्छा । तज्जनितो ‘भूय किं ते प्रियमुपकरोमि’, इति प्रश्न
एवार्थ । न च गृहीतव्यप्रतीत्यनि प्रतीत्यनि च मन्वद्गद्यितुनूपमोमिच्छा दर्शयितु
निश्चयने । तत्र सति सर्वस्मिन्नेवेप्सिते मन्वद्गद्ये प्रनुत काव्यमेव मरियत इति काव्यमहार ।’

अतः—‘प्रशस्ति’ का तात्पर्य नृप, देश, देव आदि का मन्वद्वयन अथवा आशीर्षवन
आदि है । जैसे कि ‘प्रभावती’ की यह ‘प्रशस्ति’—

‘राजा लोग मदा पुत्रयत् प्रजाशालन करते रहे, मदमद्विवेकशील, गुणप्राप्ति मन्त्र
मदा दीर्घायु देने रहे, पृथिवी पर धनधान्य और नन्दसुख की मन्वदा वरमनी रहे
और मारा प्रियुवन भगवान् नारायण का पकान्न भक्ष्य उन जाय ।’

‘काव्यमहार’ और ‘प्रशस्ति’, इन दोनों मन्वदों की योजना प्रमग ही की जाया
करती है (अर्थात् पहले ‘काव्यमहार’ और उसके बाद ‘प्रशस्ति’ की योजना आवश्यक है) ।

विमर्श—मन्वद का तात्पर्य है (प्रशस्ति मन्वद) । इस
परिनिर्पण निबन्ध नाम है । इसे सादृश्य इतिवृत्त के अन्तर्गत मन्वद, मन्वद
मन्वद है ।

‘प्रशस्ति’—इन उपर्युक्त मन्वदों की योजना के सम्बन्ध में आशायी नै मतभेद पाया
जाता है । कुछ नाट्यशास्त्रों में मन्वद मन्वदों के सभी मन्वदों की योजना आवश्यक मानते
हैं और कुछ का यह कथन है—‘सु-मन्वद के प्रमुख अङ्ग उपदेश, परिण्यास, मुष्णि, उद्देश
और मन्वाधान है, प्रतिमुगमन्वद नै परिनिर्पण, प्रगमन, वज्र, उपन्यास और गुण की
योजना अनिवार्य है, मन्वद के लिये समुदाहरण, मार्ग, पोट, अधिव्य और देव
अपेक्षित है और विमर्शमन्वद के मुख्य अङ्ग मन्वद, इति, वदम्याय, प्रवेशना और
आदान है । इन निदिष्ट मन्वदों के अतिरिक्त और जो अनिष्ट मन्वद हैं उनकी योजना

(सन्ध्यङ्गयोजना-विषयक परिनिष्ठित सिद्धान्त)

चतुःषष्टिविधं हेतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः ।

कुर्यादनियते तस्य संधावपि निवेशनम् ॥ ११५ ॥

रसानुगुणतां वीक्ष्य रसस्यैव हि मुख्यता ।

यथा वेणीसंहारे तृतीयाङ्के दुर्योधनकर्णयोर्महत्संप्रधारणम् । एवमन्यत्रापि ।
यत्तु रुद्रटादिभिः 'नियम एव' इत्युक्तं तल्लक्ष्यविरुद्धम् ।

रूपकविशेष के उपयोगविशेष की ही दृष्टि से की जा सकती है और की भी गयी है ।

विमर्श—सध्यङ्गों की 'उद्देशकमानुसार' योजना तथा 'उपयोगानुसार' योजना के दो मत हैं । अभिनवभारतीकार ने उपयोगानुसार सध्यङ्गयोजना का सिद्धान्त अपनाया है और दशरूपककार ने उद्देशकमानुसार सध्यङ्गयोजना का सिद्धान्त स्वीकार किया है ।

अनुवाद—नाट्यकोविदों ने तो ६४ सध्यङ्ग गिनाये हैं (जिनका लक्षण-निरूपण किया जा चुका), किन्तु इनकी योजना के सम्यन्ध में परिनिष्ठित सिद्धान्त यह है—रूपक प्रवन्धों का सारभूत अर्थ रस है और उसी सध्यङ्ग की योजना आवश्यक है जो रूपक प्रवन्धों के रसरूप सारार्थ के अनुकूल हो । इस दृष्टि से एक सन्धि के अङ्ग की योजना दूसरी सन्धि में भी की जा सकती है ।

एक सन्धि के अङ्ग की दूसरी सन्धि में योजना का उदाहरण 'वेणीसंहार' का तृतीय अङ्क है जहाँ सन्धि तो गर्भसन्धि है किन्तु जहाँ मुखसन्धि के अङ्ग 'संप्रधारण' की योजना की गयी है और बढ़ी सुन्दरता से की गयी है । अन्य रूपकप्रवन्धों की भी यही बात है । आचार्य रुद्रट आदि का यह कथन कि 'जो अंग जिस सन्धि का हो उसकी उसी सन्धि में योजना की जाय' ठीक नहीं जचता क्योंकि रूपकप्रवन्ध इसके उलटे चलते दिखायी देते हैं ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि का, सध्यङ्गयोजना के सम्यन्ध में यह आदेश था—

'यथासन्धि तु कर्त्तव्यान्येतान्यङ्गानि नाटके ।

कविभिः काव्यकुशलैः रसभावमपेक्ष्य तु ॥

समिश्राणि कदाचित्तु द्वित्रियोगेन वा पुनः ।

ज्ञात्वा कार्यमवस्थां च कार्याण्यङ्गानि सन्धिषु ॥'

(नाट्यशास्त्र १९ १०४-१०६)

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार उद्धोषित किया—

'यथासन्धित्विति—यो यस्मिन् सन्धौ योग्य इत्यर्थः । योग्यतां च कविरेव जानाति, न च मुक्तककविः किंतु प्रवन्धयोजनासमर्थः । तदाह—कविभिरित्यादि । ननु कवे कीदृशं तत् प्रवन्धनिर्माणकौशलमित्याह—रसभावमपेक्षयेति, तदपेक्षा च कौशलमित्यर्थः । रस एव हि प्रीत्या व्युत्पत्तिप्रद नाट्यात्मक शास्त्रमित्युक्तम् । ततश्च यद् यथा यद् यस्यानुप योगि तदरोचकिनो रुचितदधिशर्करापयःप्रभृतिरसान्तरमध्ययोजितं तद्द्वारेणान्तः प्रविष्ट सत् पुष्टिं व्याधिनिवृत्तिं च विधत्ते, तथैव पुमर्थोपायो हृदयमनुप्रवेष्टुमसमर्थः सुन्दर-तदुचितरससंक्रमणया प्राप्नोतिः प्रवेशो विनयजनस्य सपाद्ये वस्तुनि कल्पपादपकल्पनायै कल्पते । रससक्रान्तिश्च विभावादिरूपतयैव नान्यथेत्युक्तं पृष्ठे । तान्यङ्गानि लिखितानि विवक्षितरसभावादिसंपूर्णभावभास्त्रि भवन्ति यानि त्वेकरसावहितमनसो यत्नान्तरनिर-पेक्षतयैवाहमहमिकया समुचितभावेन बन्धशय्यामनुवर्तन्ते । इतिवृत्ताविच्छेदोऽपि हि

(सन्ध्यह्ननिवेग मी उपयोगिता)

इष्टार्थचनार्थलाभो वृत्तान्तविन्तरः ॥ ११६ ॥

गगप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां गोपनं तथा ।

प्रकाशनं प्रकाश्यानामङ्गानां षड्विधं फलम् ॥ ११७ ॥

अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।

अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगाय युज्यते ॥ ११८ ॥

संपादयेतां मध्यङ्गं नायकप्रतिनायकौ ।

तदभावे पताकाद्यास्तदभावे तथेतत् ॥ ११९ ॥

रस्येव पोषक, अन्यथा विच्छेदे स्यात्प्रादेश्येतित्यात् क रस्यवार्ता । तेन रसस्येव विना-
दिपरिक्तो यद्वन्नैवारम्भक्षमिनि । ननु सन्धिरतन्त्रैरङ्गभिर्वाच्यम्, तद्वन्नैवारम्भ-
स्या लुप्तस्यम् ? उच्यते-सन्धयो एवस्यापरतन्त्रा, प्राग्भाभिधानदत्ताविशेषोपयोगित्या-
ज्जलकं सुखमन्धिरियुक्तम्, एवमन्यत्र । नन्वत किम् ? इदमनो भवतांस्याह-
रसनावापेक्षया तु कार्यं स्थितम् । कार्यमपि रसप्रवाहजननपर्यन्तमेव कृतार्थता
संपद्यते इति यावत् ।

संमिश्राणीति सन्ध्यन्तरोक्त सन्ध्यन्तरेऽपीत्यर्थः । यथा युष्मिन्नेऽप्युक्ता गर्भेऽप्युप-
निर्गता वितर्कव्यभिचारैर्गोपयन्भावेन वेणीसहारे । द्विर्निति द्वित्वत्रिगुणोन्नेत्यर्थः ।
तेनैकमपि सन्ध्यह्नं तथैव सन्धा द्विस्त्रिंशं कर्त्तव्यम् । (१) अन्तः ॥ ११६ ॥

अन्तः ॥ ११६ ॥ (१४४ मध्यमः । इति हे वा । अन्तः ॥ ११६ ॥ विनादिपरिक्ता के
कतिरिति कौ दोर वन्तु नही । जैने विनादिपरिक्ता । सन्ध्यह्नं ॥ ११६ ॥ पुनः ॥ ११६ ॥
ही । सन्ध्यह्नं ॥ ११६ ॥ कौ दोर वन्तु नही । जैने विनादिपरिक्ता । सन्ध्यह्नं ॥ ११६ ॥
पानन के लिये । ॥ ११६ ॥ अन्तः ॥ ११६ ॥ कौ दोर वन्तु नही । जैने विनादिपरिक्ता । सन्ध्यह्नं ॥ ११६ ॥

‘सन्धिमन्ध्यह्नवदन रसाभिधक्यपेक्षया ।

ननु केवलया दान्धमिधितिसन्धादनेच्छया ॥’ (१) अन्तः ॥ ११६ ॥

॥ ११६ ॥ अन्तः ॥ ११६ ॥ कौ दोर वन्तु नही । जैने विनादिपरिक्ता । सन्ध्यह्नं ॥ ११६ ॥
आन्तः ॥ ११६ ॥ कौ दोर वन्तु नही । जैने विनादिपरिक्ता । सन्ध्यह्नं ॥ ११६ ॥

‘भरतमुनिना सन्ध्यह्नाना रसाद्भूतमिति वृत्तप्रागस्त्योपादनमेव प्रयोजनमुक्तम् । न
तु पूर्वोक्तद्वयदृष्टमन्धादन विनादिगणनया ।’ (१) अन्तः ॥ ११६ ॥

‘उक्तं—उपपुष्प सन्ध्यह्नो की योजना मे रूप्य प्रदन्धों का जो लाभ है वह ६ प्रकार
का हुआ करता है—(१) अर्भीष्ट अर्थ की योजना, (२) सामाजिक हित में लाभार्थमात्र
का नष्टमन, (३) कथानक का विचार, (४) सामाजिक हित में सन्ध्यह्नन है प्रति
अनुवाक का उपरादन, (५) गोपनीय विषय का गोपन और (६) प्रकाशनीय विषय
का प्रकाशन । जैसे अन्तर्हीन अनुप्य किसी भी कार्य में सन्ध्यह्न नहीं हो सकता जैसे ही,
अन्तर्हीन राज्य-प्रदन्ध भी अभिनय के उपपुष्प नहीं रह सकता । इसी-वि सन्ध्यह्न-प्रदन्ध
अवना नाम तभी साध्य के निष्ठ कर सकते हैं । उपरि हमने उपपुष्प नामक और प्रति-
नायक के पात्रिणाओं में सन्ध्यह्नो की रूपरेखा स्थापना की । नायक और प्रतिनायक के
पान्थपहारों के बाद सन्ध्यह्नो की योजना का अन्तर्गत दत्तार आदि अर्थमहर्षिओं की

प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोज्यानि सन्ध्यङ्गानि भवन्ति । किन्तु पक्षेपादित्रा-
वीजस्याल्पमात्रसमुद्दिष्टत्वादप्रधानपुरुषप्रयोजितमेव साधु ।

(रसाभिव्यञ्जन के लिये सन्ध्यङ्गयोजना)

रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां संनिवेशनम् ।

न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥ १२० ॥

तथा च यद्वेण्यां दुर्योधनस्य भानुमत्या सह विप्रलम्भो दर्शितः, तत्तादृशो
वसरेऽत्यन्तमनुचितम् ।

अविरुद्धं तु यद्वृत्तं रसादिव्यक्तयेऽधिकम् ।

तदप्यन्यथयेद्भीमान् वदेद्वा कदाचन ॥ १२१ ॥

योजना में है । और यदि यहाँ अवसर न मिले तो वीज, विन्दु आदि की योजना में तो
सन्ध्यङ्गों का स्वरूप-प्रदर्शन आवश्यक ही है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि सन्ध्यङ्गों की योजना का स्वर्णावसर तो वस्तुतः
रूपक-प्रबन्धों के मुख्य चरित्तों के ही कथनोपकथन में रहा करता है किन्तु 'उपक्षेप',
'परिकर' और 'परिण्यास' की योजना अप्रधान चरित्तों के भी कथनोपकथन में सम्भव है
क्योंकि इनका (उपक्षेप आदि का) सम्बन्ध वीज के आवाप, उद्घाट और औन्मुख्य से है
और आवाप, उद्घाट और औन्मुख्य की अवस्थाओं में वीजरूपवृत्तिवृत्त सचेपत' ही उपन्यस्त
हुआ करता है ।

विमर्श—'नाट्यदर्पण' की इन पक्तियों में सन्ध्यङ्ग-योजना की पद्धति और उपयोगिता का
बड़ा रोचक वर्णन है—

'सविधानखण्डान्यङ्गानि सन्धिरूपस्याङ्गिनोऽवयवत्वेन निष्पादकत्वात् । अङ्गानि च
वृत्तविस्तरकारित्वादवश्य निबन्धनीयानि । अपरथा—'रामस्य' इत्यादि रावणेन वनान्तादप
हृता, रामेण च जटायुषः समुपलभ्य सुग्रीव सहायं वानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य
समुद्रसेतुबन्धमाधाय निहत्य च रावणं प्रत्यानीते' इत्यत्र प्रारम्भाद्यवस्थानिबन्धनीयैः पञ्च
भिरपि सन्धिभिर्बीजाद्युपाययुक्तैर्निबद्धे रूपके वृत्तसचेपः स्यात्, तथा च न चमत्कारः ।
किञ्च रञ्जकमपि वृत्तमङ्गवैचित्र्येण निबध्यमान परां रक्तिमावहति, कार्यवशाच्च पुनस्तस्य
मानमपि वृत्तमङ्गभङ्गाया निबद्धमपुनरुक्तमिवाभाति । अयःशलाकाकरपता चाङ्गसम्बद्धस्य
वृत्तस्य न भवति ।' (नाट्यदर्पण १ म विवेक)

अनवाद—सन्ध्यङ्गों की योजना का उद्देश्य रस की अभिव्यक्ति है न कि नाट्यशास्त्र
की मर्यादा का पालन ।

सन्ध्यङ्गयोजना के इस सिद्धान्त को देखते, 'वेणीसहार' में किया गया दुर्योधन के
विरह में व्याकुल भानुमती का चित्रण (अर्थात् प्रतिमुख-सन्धि के अङ्ग 'विलास' का
उपनिबन्ध) अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है (क्योंकि इससे वेणीसहार के रसभाव
का कोई परिपोष नहीं होता, यह तो केवल शास्त्रस्थिति की रक्षा के लिये उपनिबद्ध
किया हुआ है) ।

रूपकप्रबन्ध के रचयिता का एकमात्र कर्तव्य किस प्रकार रसाभिव्यञ्जन हुआ करता
है (न कि नाट्यशास्त्र की सविदाओं का अनुसरण), यह इससे भी स्पष्ट है कि मूलवृत्त
के अविरुद्ध रहनेवाली भी कथावस्तु, यदि वह रसविरोध के उल्लास के उपयुक्त न हो तो,
या तो बदल दी जाया करती है या शिवकुल छोड़ दी जाया करती है ।

अनयोन्नाहरण मन्प्रदन्वेषमिव्यक्तमेव ।

(हृति-विचार)

अथ वृत्तयः—

मृद्गारे कैशिकी वीरे साच्चत्याग्मटी पुनः ।

रमे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ १२२ ॥

चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मानुकाः ।

म्युर्तायिकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु ॥ १२३ ॥

रमाभिरुद्धन के लिये, इतिवृत्त के हेतु-पर (सधवा मन्प्रदन्वेषना में रमापेक्षा) के उदाहरण तो सभी प्रसिद्ध रूपक प्रयुक्त हैं ही ।

विमर्श—जानना किन्ने अनन्वयनाम के शब्दों में मन्प्रदन्वेषना के निमित्त र म्युर्तायिका का उदाहरण है—

‘रमाभिरुद्धनाई प्रदन्वेष चैदमन्प्रमुक्तं निरन्धन यन्मयीना सुखप्रतिभुगगर्भं मर्गनिर्वहणारामा तद्वतानां पश्येदानीं घटनं रमाभिरुद्धपेक्षया, यथा-रमापेक्षया, न तु केवलं शास्त्रमिदमगदनेच्छया, यथा-वेणीमहारे विलम्बा-रम्य प्रतिभुगगम्य-रम्य रम्यमनिर्गमनतुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतननादुत्तरजमापेक्षया घटनम् ।’

(रत्न-तोष . २ व ७६, २)

‘आसां तु मध्ये घृत्तीनां शब्दवृत्तिस्तु भारती ।

तिस्रोऽर्थवृत्तयश्शेषाः तत्तत्तस्रो हि वृत्तयः ॥’ (रसान्वसुधाकर . १ . २८६)

भरतमुनि की यह ‘भारती’-समीक्षा यहाँ ध्यान देने योग्य है—

‘या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता सस्कृतवाक्ययुक्ता ।

स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥’

(नाट्यशास्त्र . २२.२५)

यहाँ भारती वृत्ति के ‘वाक्प्रधाना वृत्ति’ होने में तो कोई विवाद नहीं किन्तु ‘पुरुषप्रयोज्या’ ‘स्त्रीवर्जिता’ और ‘सस्कृतवाक्ययुक्ता’ मानने में विचारविमर्श की आवश्यकता है। वैसे तो रूपक-प्रबन्धों में प्राकृत वाग्व्यवहार भी पर्याप्त है किन्तु नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अनुसार इसे ‘भारती वृत्ति’ नहीं माना जा सकता। यहाँ समभवतः ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने प्रधान पुरुष चरितों के सस्कृत वाग्व्यापार की दृष्टि से, भारती को ‘सस्कृतवाक्ययुक्ता’ कह दिया है। भारती वृत्ति स्त्रीचरितों का वाग्व्यापार नहीं मानी गयी क्योंकि स्त्रीचरितों की वृत्ति सात्वती अथवा कैशिकी वृत्ति है। स्त्रीचरितों के वाग्व्यापार उनके हाव-भावों से अनुप्राणित रहा करते हैं, इसलिये शुद्ध भारती का दर्शन वहाँ नहीं हो सकता। नाट्यदर्पणकार का यह वृत्तितत्त्व-विमर्श भी यहाँ ध्यान देने योग्य है—

‘भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः ।

रसभावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः ॥’

पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः । रसभावाभिनयाः वच्यमाणास्तास्तन्मयत्वेन गच्छन्ति । रसभावाभिनयसम्भिन्नो हि सर्वो नाट्ये-व्यापारः । ‘चतस्रः’ इति चतुर्मे दत्तमन्यतमचेष्टांशप्राधान्यविवक्षया, अपरथाऽनेकव्यापारसवलितमेकमेव वृत्तितत्त्वम् । न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासवलितः कोऽप्येकाकी कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते । कायिक्यो हि व्यावृत्तयो मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः समिद्यन्ते । शब्दो ह्यखितमनः प्रत्ययविना रञ्जकस्य कायव्यापारपरिस्पन्दस्याभावात् । वाचिक्यो मानस्यश्च कायपरिस्पन्दाविनाभाव्यः । एव, तात्त्वादिव्यापाराभावे वचनानुच्चारणात्, प्राणादिरूपकायपरिस्पन्दाभावे, मनोवृत्त्यनुपलक्षणाच्च । मनः शून्यश्च व्यापारः । कायिको वाचिको वाऽरञ्जकत्वादिनिबन्धनीय एव । विदूषकोऽपि च हास्यार्थं बुद्धिपूर्वकमेव विसंस्थुलविवेकः । अतः सकीर्णत्वेऽप्यज्ञाप्राधान्यापेक्षया वृत्तयश्चतस्रः । नाट्यस्याभिनेयकाव्यस्य मातर इव मातरः । आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते । ‘नाट्य’ इति च ‘प्रस्तावापेक्षम् । तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव । न हि व्यापारः शून्यं किञ्चिद् वर्णनीयमस्ति । रङ्गानन्तरं च नाट्यमिति रङ्गस्य व्यापारशून्यत्वेनावृत्तित्वेऽपि न किञ्चिद् दोषः । मूर्च्छादौ तु व्यापाराभावेन वृत्त्यभावेऽपि न नाट्यस्य वृत्तिमयत्वहानिः, बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमयत्वस्याभिमतत्वादिति ।’ (नाट्यदर्पण . ३ य विवेक)

अर्थात् क्या अभिनेय और क्या अनभिनेय-दोनों प्रकार के काव्यबन्धों की जननी ‘वृत्ति’ ही है। जब कि कवि-हृदय में वर्ण्य चरित का सम्पूर्ण सक्रिय व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हो जाता है तभी काव्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। वर्ण्य चरित के सम्पूर्ण सक्रिय व्यक्तित्व और काव्य की वृत्ति में विस्व-प्रतिबिम्ब भाव का सम्बन्ध रहा करता है। चार वृत्तिओं की मान्यता में वर्ण्य चरित का ही विश्लेषण किया जाया करता है। वैसे व्यक्तित्व एक असंभिन्न तत्त्व है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसका विश्लेषण न किया जाय। वृत्तितत्त्व एक है किन्तु विश्लेषण-बुद्धि में चतविध आभासित हुआ करता है।

(१—कैशिकी वृत्ति)

तत्र कैशिकी—

या झलक्षणेनैव्यविशेषचित्रा स्त्रोसंकुला पुष्कलवृत्त्यगीता ।

कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ॥ १२४ ॥

(कैशिकी के अर्थ . १—नर्म)

नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च ।

चत्वार्यङ्गान्यस्या—

तत्र—

—वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म ॥ १२५ ॥

इष्टजनावर्जनकृत्तच्चापि त्रिविधं मतम् ।

विहितं शुद्धहास्येन सनृङ्गारभयेन च ॥ १२६ ॥

तत्र केवलहास्येन विहितं यथा रत्नावल्याम्—

अनुवा—'कैशिकी' यह वृत्ति है जिसमें नानाविध मनोरम वेशभूषण की शोभा रहा करती है, जो रमणो पात्र के चारुदय से विचित्र लगा करती है, जिसके लिये चतुर्विध नृत्य, गीत आदि की योजना आवश्यक है, जिसमें कामोपभोग भयवा रतिमुग्ध से मयज्ज चतुर्विध व्यापारों का प्राधान्य रहा करता है और जो सुन्दर हाव-भावादि से समन्वित हुआ करती है ।

विमर्श—'कैशिकी' शब्द की यह वृत्ति है—

'भक्तिशायिन' केना सन्ध्यामामिति कैशिका क्रिय 'स्तनवेदावतीत्यदि स्त्रीणां लक्षण-मि'नि ताप्रधानत्वात् सामान्य कैशिकी ।'

और इस वृत्ति में तो यह निश्चय है कि इस वृत्ति में स्वासुन्दर, नैऋत्यैशिक, काम-नृत्य, गीत, मर्त्यनानुपम रमण रत्न होती हैं । इस वृत्ति का सम्बन्ध शृङ्गार रत्न में है और विनम्रमन्द हास-विहित में भी । तात्पर्य यह है कि जहाँ जहाँ भी मन्त्रिय और नाचुर हो पर मन्त्रिय के लिये तो ही होता है । मर्त्यनानुपम रत्न रत्न में है सम्बन्धित रहा है—

'वाग्दानभरणानां या मूर्ध्निमार्ज्ये निर्मिता ।

वस्त्रमन्त्रितनूतानां शृङ्गाररत्ननिर्भरा ॥

नि शङ्क कैशिकी मृते ता मन्दैर्येकजीविनाम् ।'

'नर्म'—'कैशिकी' के ये चार भेद हैं—(१) नर्म, (२) नर्मस्फूर्ज, (३) नर्मस्फोट और (४) नर्मगर्भ ।

इन चारों में 'नर्म' यह है जिसे विनम्रता का मनोरंजन, चतुर्विध मर्त्यनानुपम रत्न कहा है । इसमें भी तीन विशेषतायें देयी जाती हैं—१ स्त्री, केवल हास-विनम्रमन्द लीला, २ स्त्री, शृङ्गाररत्न हास्यलीला और ३ स्त्री, मन्त्रियविनम्र हास्यलीला ।

पहली विशेषता से विनम्र क्षमायु शुद्ध हास्यपूर्ण मर्त्यनानुपम या वेशभूषण 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग है—

‘वासवदत्ता—(फलकमुद्दिश्य सहासम्) एसा वि अवरा तव समीपे जघालिहिदा एद कि अज्जयसन्तस्स विण्णणम्’ [पपाऽप्यपग तव ममीपे पपा लिखिता, एतत् किमार्यवसन्तकस्य विज्ञानम् ।

सशृङ्गारहास्येन यथा शाकुन्तले राजानं प्रति—

‘शकुन्तला—असंतुट्ठो उण किं करिस्सदि [अमन्तुष्ट पुन. किं करिष्यति] ।

राजा—इदम् । (इति व्यवसित. शकुन्तलावक्त्र ठौकते)’

सभयहास्येन यथा रत्नावल्याम्, आलेख्यदर्शनावसरे ।

‘सुसंगता—जाणिदो मए एसो वुत्तन्तो सम चित्तफलएण । ता देवीए गटुअ निवेदइस्सम्’ [ज्ञातो मया एष वृत्तान्त, समं चित्रफलकेन । तद्देव्यै गता निवेदयिष्यामि ।

एतद्वाक्यसम्बन्धि नर्मोदाहृतम् । एव वेषचेष्टासम्बन्ध्यपि ।

(२—नर्मस्फूर्ज)

नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमः ।

यथा मालविकाया सङ्केतनायकमभिसृतायाम्-

‘वासवदत्ता—(चित्रफलक देखकर हँसी के साथ) यह जो तुम्हारे पास खड़ी चित्रित की गयी है क्या यह भी आर्य वसन्तक की चित्रकारी है ?’

दूसरी विशेषता वाले अर्थात् शृङ्गारगर्भ क्रीडाविलास का उदाहरण ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ का यह प्रसङ्ग रहा—

‘शकुन्तला (दुष्यन्त से) ।

यदि यह मधुकर असन्तुष्ट रहा तो क्या कर लेगा ?

राजा—यह कर लेगा ! (कहकर चुम्बन से शकुन्तला का मुह ठक देता है) ।’

तीसरी विशेषता वाले अर्थात् भयसम्मिश्र क्रीडाविलास का उदाहरण ‘रक्षावली’ का यह प्रसङ्ग है—

‘सुसंगता—(चित्र देख लेने पर) मुझे यह सब और यह चित्र, सब कुछ पता चल गया है । अब मैं महारानी को, जाकर, घटाती हूँ ।’

ये उपर्युक्त उदाहरण तो वाक्यसम्बद्ध नर्म के उदाहरण रहे । इसी भाँति वेषसम्बद्ध अथवा चेष्टासम्बद्ध ‘नर्म’ के भी निदर्शन देखे जा सकते हैं ।

विमर्श—भरतमुनि ने ‘नर्म’ का यह लक्षण किया है—

‘आस्थापितशृङ्गारं विशुद्धकरण निवृत्तवीररसम् ।

हास्यप्रवचनबहुलं नर्म त्रिविध विजानीयात् ॥

ईर्ष्याक्रोधप्राय सोपालम्भकरणानुविद्धञ्च ।

आत्मोपचेपकृत सविप्रलम्भ स्मृत नर्म ॥’ (नाट्यशास्त्र २० ५७, ५८)

अनुवाद—‘नर्मस्फूर्ज’ वह कैशिकी भेद है जिसे प्रेमी-प्रेमिका का ऐसा नवसंगम कहा गया है जो कि आरम्भ में आनन्ददायक और अन्त में (प्रतिनायिका के कारण) भय का जनक हुआ करता है ।

इसके निदर्शन-रूप में ‘मालविकाग्निमित्र’ का यह प्रसङ्ग देखा जा सकता है—

‘नाथर’—

विमृज सुन्दरि ! नम्रमनाध्वनं ननु चिरादप्रभृति प्रणयेन्मुखे ।

परिवृष्टाण गते नहकारता त्वमतिमुज्ज्वलाचरितं मयि ॥

मालविका—भट्टा. देवीए भाण अप्पणो वि पिज ऊउ ण पारेमि (‘नर्त !

• नम्रमनाध्वनोऽपि मयि कर्तुं न पारमि) इत्यादि ।

(—नम्रमनाध्वनः)

अथ नर्मरूपेण—

नर्मरूपोऽसौ भावलेखः सूचिताल्परमो मतः ॥ १२७ ॥

यथा मालवीनायवे—

‘गमनमलस शून्या द्योः नरोत्तमनायवे

स्वस्तिवमधिगमिन्वेतन् स्यात् किमन्यदितोऽथवा ।

भ्रमनि भुवने कन्दर्पाक्ष विकारि च योजन

अलसगमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाशे

(४—नर्मगर्भ)

नर्मगर्भो व्यवहृतिर्नेतुः प्रच्छन्नवर्तिनः ।

यथा—

तत्रैव सखीरूपधारिणा माधवेन मालत्या मरणव्यवसायवाराणम् ।

(२—सात्त्वती वृत्ति श्रृङ्गचतुष्टय स्वरूपनिरूपण)

अथ सात्त्वती—

सात्त्वती बहुला सत्त्व-शौर्यत्यागदयार्जवैः ॥१२८॥

सहर्षा जुद्धशृङ्गारा विशोका साद्भुता तथा ।

उत्थापकोऽथ सांघात्यः संलापः परिवर्त्तकः ॥१२९॥

विशेषा इति चत्वारः सात्त्वत्याः परिकीर्त्तिताः ।

उत्तेजनकरो शत्रोर्वागुत्थापक उच्यते ॥१३०॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि चाल में आलस आदि भावलेशों से मालती के प्रति मा प्रेम का कुछ-कुछ प्रकाशन अवश्य हो रहा है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक का ही सर्वथा अनुसरण किया है । नाट्यशास्त्र भरतमुनि का यह नर्मस्तोत्र-लक्षणही सभी नाट्यशास्त्रकारों को नर्मस्फोट परिभाषा का आधार है—

‘विविधानां भावानां लवैलैवैर्भूषितो बहुविशेषः ।

असमप्राप्तिरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः ॥’ (नाट्यशास्त्र . २०६०)

अनुवाद—‘नर्मगर्भ’ कैशिकी का वह भेद है जिसे छद्मवेषधारी प्रेमी का, प्रेमिका के साथ, प्रेमव्यवहार कहा गया है ।

इसका उदाहरण ‘मालतीमाधव’ का वह प्रसङ्ग है जहाँ माधव, मालती की सखी के वेष में, मालती को, उसके मरण-निश्चय से डिगाने की सफल चेष्टा करता है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ‘नर्मगर्भ’ की यह परिभाषा है—

‘विज्ञानरूपशोभाधनादिभिर्नयको गुणैर्यत्र ।

प्रच्छन्न व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ ॥’ (नाट्यशास्त्र २०६१)

अभिनवभारतीकार की यह ‘नर्मगर्भ’ व्युत्पत्ति भी इसका अभिप्राय स्पष्ट कर देती है—

‘नर्मोपयोगिनः’ विज्ञानाद्याः गर्भीकृता इव प्रच्छन्नतया यत्रेति, यथा प्रच्छन्नरूपो नायकः संकेतस्थानं गच्छति ।’

अनुवाद—सात्त्वती वृत्ति—

‘सात्त्वती’ वह वृत्ति है जिसमें सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और आर्जव आदि का प्रकाश हुआ करता है । इसमें प्रसन्नता की प्राप्ति स्वाभाविक है । इसमें शृङ्गार का भी पुट रहा करता है । कृष्ण का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं । इसमें अद्भुत रस के प्रकाशन का अद्भुत सामर्थ्य है । इसके ये चार अंशविशेष हैं—(१) उत्थापक, (२) सांघात्य, (३) संलाप और (४) परिवर्त्तक । इन चारों अंशों में (१) ‘उत्थापक’ का अभिप्राय परपक्ष को उत्तेजित करनेवाली वाणी का अभिप्राय है ।

यथा महावीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैवृष्यन्तु ममापि सम्प्रति कुतस्त्वदर्शने चक्षुष ।
त्वत्पाद्गत्यमुखस्य नाऽस्मि विषयन्तन् किं वृथा व्याहृतै ?
अस्मिन् विभुनजामदग्न्यदमने पाणी धनुर्जृम्भताम् ॥'
मन्त्रार्थदेवशक्त्यादेः सांघात्यः सहभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा—मुद्राराक्षसे राक्षसमहायाना चाणक्येन न्यबुद्ध्या भेद-
नम् । अर्थशक्त्यापि तत्रैव ।

दैवशक्त्या यथा—रामायणे रावणाद्विभीषणस्य भेदः ।

संलापः स्याद्भीरोक्तिर्नानाभावममाश्रयः ॥ १३१ ॥

यथा वीरचरिते—

'रामः—अयं नः, यः किल नपरिवारकात्तिकेयविजयावजितेन भगवता
नीललोहितेन परिवत्तरनहस्त्रान्तेवासिने तुभ्य प्रसादीकृतं परशु' ।

परशुरामः—राम दाशरथे । स एवायमार्यपादानां प्रियं परशु ।' इत्यादि ।

जैसे कि 'महावीरचरित' की हम उक्ति अर्थात्—

'तुम मेरी बाँगी के सामने जाये-मुझे आनन्द देने के लिये, बाधबंधन करने के
लिये और दुःख भी देने के लिये । मुझे देने भला मेरी बाँगी में वृत्ति कहाँ ? मैं तुम्हारा
शत्रु हूँ, मेरा भार तुम्हारा मगन्नाथ कहाँ और मगन्नाथ का आनन्द ना कहाँ । अर्थ
अपने मुँह नहीं उड़ता, उस अपने हाथ में धनुष पकड़, मैं भी देखूँ कि महावीर परशु-
राम के विजेता के हाथ में कितना दम है ।'

मैं, जो नाट्यमय वैशिष्ट्य है यह मातृजी वृत्ति है 'महाशक्ति' रूप राम का ही वैशिष्ट्य है ।

(१) अर्थात् 'मायाय' का अभिप्राय मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि-आदि
शक्तियों द्वारा सब-भेदन का अभिप्राय है । जैसे कि (मुद्रारूपि विनादवन्तराजिन)
'मुद्राराधन' में, चाणक्य की राजनैतिक के गोपबैच में, राक्षस के महापक्षों में हृष्ट पैदा
करने का वर्णन, 'मन्त्रशक्ति' मायाय की ही योजना है । अर्थशक्ति 'मायाय'
भी मुद्राराधन में ही परमत्रय स्पष्ट है । दैवशक्ति 'मायाय' का उदाहरण रामायण-
कथाश्रित नाटकों में रावण और विभीषण के पारस्परिक भेद का प्रकाशन है ।

(२) अर्थात् 'महाशक्ति' ऐसी शक्ति को कहते हैं जिसमें विविध भावों के प्रकाशन
का सामर्थ्य होता करता है । जैसे, कि 'महावीरचरित' के हम प्रसंग अर्थात्—

'राम—ओह ! क्या यही वह परशु है जिसे तुम्हारे कर्णिक और उसके महापक्षों पर
बाधही शक्ति से प्रसन्नदय भगवान् दाशरथे ने, महर्षों यों तब धनुर्वेद का अध्ययन
करनेवाले राम जैसे अपने शिष्य को, पुरस्कार रूप में दिया है ?

परशुराम—राम ! तुमने ठीक कहा, हमारे पूरे आपार दाशरथे का यही वह
प्रिय परशु है ।'

इत्यादि में, वे वृत्ति है यह 'महाशक्ति' मातृजी वृत्ति ही है ।

प्रारब्धादन्यकार्याणां करणं परिवर्तकः ।

यथा वेण्याम्—

‘भीमः—सहदेव ! गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व । अहमप्यस्त्रागारं प्रविश्यायुध सहायो भवामीति यावत् । अथवा आमन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली ।’ इति ।

और (४) अर्थात् ‘परिवर्तक’ वह सात्वती प्रकार है जिसे प्रस्तुत कार्य से भिन्न प्रकार के कार्यों में तत्परता का प्रकाशन कहा करते हैं । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—सहदेव ! जाओ, तुम युधिष्ठिर का साथ दो । मैं भी तब तक अस्त्रागार में चलता हूँ और अस्त्र लेकर आता हूँ । और मुझे द्रौपदी से भी तो विदा लेनी है ।’

आदि में, जो वृत्ति-योजना है वह सात्वती-वृत्ति के ‘परिवर्तक’ रूप प्रकार की ही योजना है ।

विमर्श—(क) ‘सात्वती’ वृत्ति का सवप्रथम अभिप्राय अनुकार्य पुरुषों के विविध मानसिक व्यापार का अभिप्राय है । साथ ही साथ आदिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय से पुत्र अनुकर्तृजन (नट) के भी मानसकार्यकलाप का नाम ‘सात्वती वृत्ति’ ही है । नाट्योपचरितों के मानसिक व्यापार भिन्न-भिन्न प्रकारों से प्रकाशित हुवा करते हैं । कहीं विचित्र गम्भीर उक्ति-प्रत्युक्ति (सलाप) द्वारा, कहीं एक कार्य के करते हुये कार्यान्तर के प्रति तत्परता (परिवर्तक) द्वारा, कहीं परपक्ष में उत्तेजना की उत्पत्ति (उत्थापक) के द्वारा और कहीं नीति के दौबपैच से परपक्ष भेदन (साधत्य) के द्वारा, अनुकार्य चरितों का जो भी व्यक्तित्व-प्रकाशन है वह सब एक शब्द में ‘सात्वती वृत्ति’ कहा जाता है (इदं च मानसं कर्म विचित्राभिर्गम्भीरोक्तिभिः, प्रारब्धकार्यापरित्यागात् कार्यान्तरपरिग्रहेण, सग्रामाय परोत्साहनेन, सामादिप्रयोगदैवादिना असंसंघातभेदजननेनान्यैश्च बहुभिः प्रकारैर्लक्ष्यत इति—नाट्यदर्पण इय विवेक) । वस्तुतः तो ‘सात्वती वृत्ति’ के प्रकार-परिगणन की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि मानसिक कर्मकलाप की गणना असंभव है, किन्तु नाटकों में निबद्ध चरितों के मानसव्यापार का विश्लेषण करते हुए कतिपय नाट्याचार्यों ने कतिपय मानस-व्यापारों को सात्वती के भेद-चतुष्टय के रूप में मान लिया है । साहित्यदर्पणकार भी इन्हीं नाट्याचार्यों के अनुयायी हैं ।

(ख) नाट्याचार्य भरतमुनि ने सात्वती वृत्ति का यह स्वरूप निरूपण किया है—

‘या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च ।

हर्षोत्कटा संहतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

वागङ्गाभिनयवती सस्वोत्थानवचनप्रकरणेषु ।

सत्त्वाधिकारयुक्ता विज्ञेया सात्वती वृत्तिः ॥

वीराद्भुतरौद्ररसा निरस्तशृंगारकरुणनिर्वेदा ।

उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षणकृता च ॥’

‘उत्थापकश्च परिवर्तकश्च सत्त्वापकश्च सधत्यः ।

चत्वारोऽस्याः भेदा विज्ञेया नाट्यतत्त्वज्ञैः ॥

अहमप्युत्थास्यामि त्वतावद्दर्शयात्मनः शक्तिम् ।

इति सधर्षसमुत्थस्तज्जैरुत्थापको ज्ञेयः ॥

उत्थानसमारब्धानर्थानुत्सृज्य योऽर्थयोगवशात् ।

अन्यानर्थान् कुरुते स चापि परिवर्तको ज्ञेयः ॥

साधर्षजो निराधर्षजोऽपि वा रागवचनसंयुक्तः ।

अथारभटी—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ १३२ ॥

संयुक्ता वधवन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता ।

वस्तूत्थापनसंफेटो संक्षिप्तिरवपातनम् ॥ १३३ ॥

इति भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः ।

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमुच्यते ॥ १३४ ॥

यथोदात्तराघवे—

‘जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-

र्भास्वन्तः सकला रवेरपि कराः कस्मादकस्मादभी ।

एते चोग्रकबन्धकण्ठरुधिरैराध्मायमानोदरा

मुञ्चन्त्याननकंदरानलमुचस्तीव्रान् रवान् फेरवाः॥’ इत्यादि ।

संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसत्त्वरयोर्द्वयोः ।

यथा मालत्यां माधवाघोरघण्टयोः ।

किया है । ‘उत्थापक’, ‘परिवर्तक’, ‘संस्थापक’ और ‘सघात्य’, जो कि ‘नियुद्ध’ अथवा ‘महयुद्ध’ में प्रतिस्पर्द्धी योद्धाओं के अङ्ग वचन और मन के सम्मिलित व्यापारों के विविध नामरूप हैं नाट्यशास्त्र में ‘सात्त्वती’ वृत्ति के ‘प्रकारचतुष्टय’ की पारिभाषिकता में स्वीकार किये गये हैं । अङ्ग और वचन का सहयोग होने पर भी मनके व्यापारों का बाहुल्य ‘सात्त्वती’ की सश का कारण है ।

अनुवाद—आरभटी वृत्ति—‘आरभटी’ वह वृत्ति है जिसे माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, अधैर्य आदि-आदि के व्यापारों में प्रवण मन का कर्मकलाप कहा जाया करता है । शत्रु के वध अथवा बन्धन आदि इसी वृत्ति के वाह्य रूप हैं । इसका औद्ध्य के साथ अटूट सम्बन्ध है । इसके चार भेद हैं—(१) वस्तूत्थापन, (२) संफेट, (३) संक्षिप्ति और (४) अवपातन । इन चारों भेदों में (१) अर्थात् ‘वस्तूत्थापन’ वह है जिसे माया आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन अथवा प्रकटन कहा जाया करता है ।

उदाहरण के लिए, ‘उदात्तराघव’ की इस सूक्ति अर्थात्—

‘आकाशमण्डल को आच्छन्न करनेवाले घनघोर सतमस समूह से, अकस्मात्, ऐसा लगता है जैसे, भगवान् भास्कर के भी प्रचण्ड किरणसमूह पराजित होते जा रहे हैं और चारों ओर भयकर रुग्ण-मुण्डों के रुधिर-पान से, फटते से प्रतीत होनेवाले, पेटों को फुलाये और कन्दुरोपम मुखों से आग की सी लपटें निकालते शृगालों ने भीषण चीत्कार मचाना प्रारम्भ कर दिया है ।’

में, जिस मनोव्यापार का प्रकाशन है उसमें आरभटी के ही ‘वस्तूत्थापन’ रूप प्रथम प्रकार का दर्शन किया जा सकता है ।

(२) अर्थात् ‘संफेट’ वह आरभटी-प्रकार है जिसे क्रुद्ध और त्वराशील पक्ष और विपक्ष का परस्पर समाघात (प्रहार) कहा जाया करता है ।

जैसे कि ‘मालतीमाधव’ में, ‘माधव’ और ‘अघोरघण्ट’ का जो घात-प्रतिघात-वर्णन उसमें ‘संफेट’ की ही रूपरेखा दिखायी देती है ।

संक्षिप्ता वस्तुरचना शिल्पैरितरथापि वा ॥ १३५ ॥

संक्षिप्तिः स्यान्निरुक्तौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः ।

यद्योदयनचरिते कलिञ्जहस्तिप्रयोगः । द्वितीय यथा बालिनिवृत्त्या सुप्रीयः ।
यथा वा परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम्—'पुण्या ब्राह्मणजातिः'—इति ।

प्रवेशत्रासनिष्क्रान्तिदर्पविद्रवसंभवम् ॥ १३६ ॥

अवपातनमित्युक्तं—

यथा कृत्यारावणे पट्टेऽङ्के—(प्रविश्य त्वङ्गहस्तं पुरुषं) इत्यतः प्रभृति
निष्क्रमणपर्यन्तम् ।

(३) अर्थात् 'संक्षिप्ति' वह आरम्भटी-मेद है जिसे कौशल द्वारा अथवा और किसी
तर से किसी वस्तुविशेष की संक्षिप्त रचना कहा गया है । साथ ही साथ एक नाटकीय
रस के स्थान पर दूसरे नाटकीय चरित (अथवा किसी नाटकीय चरित के किसी एक
गोष्ठ्य के स्थान पर उसके दूसरे वैशिष्ट्य) का परिवर्तन भी 'संक्षिप्ति' ही है ।

उदाहरण के लिए, बन्धाराज उदयनके चरित में सग्वद् रूपक-प्रयत्नों में 'कलिञ्ज
स्तप्रयोग' (लकड़ी के घने नकली हाथों में उदयन को बसा में करने की घटना) बन्धुन
द्वारा स्थापित वस्तुविशेष रूप संक्षिप्ति-प्रकार ही है । इसी भाँति, एक नाट्य
य चरित के स्थान पर दूसरे नाटकीय चरित के परिवर्तन में जो 'संक्षिप्ति' सम्भव है
उसका उदाहरण रामचरित में सग्वद् रूपक-प्रयत्नों (जैसे कि 'महावीरचरित') में
१ बालि के स्थान पर सुग्रीव की स्थापना में देखा जा सकता है । इसी प्रकार किसी
नाटकीय चरित के एक वैशिष्ट्य के स्थान पर उसके दूसरे वैशिष्ट्य के परिवर्तन में जो
क्षेपि रूप हो सकता है वह भी, राम-सग्वद् रूपक-प्रयत्नों (जैसे कि 'महावीर-
चरित') में ही, परशुराम के उदयन स्वभाव के बदले उनके शान्त सौम्य स्वभाव के परि-
र्तन में, जिसे 'पुण्या ब्राह्मणजाति' आदि सूक्तियों में स्पष्ट देखा जा सकता है, स्पष्ट
गोटा करता है । और—

(४) अर्थात् 'अवपातन' वह आरम्भटी-प्रकार है जिसे एतस्तन-यानायातन, ग्राम, एष,
द्रव आदि-आदि का सम्मेलन कहा गया है ।

जैसे कि 'कृत्यारावण' के पट्टे अंक में 'एष गङ्गाधारी पुरुष है प्रदेन' (प्रविश्य
गङ्गा पुरुष) से लेकर उस गङ्गाधारी पुरुष के निष्क्रमण (रग-भग्न में चले जाने)
तक जो प्रसंग है उसमें 'अवपातन' का ही स्वरूप परिलक्षित होता है ।

विमर्श—तत्प्रागर्पणमुक्तिं मे चात्मनो हृदि नादादौ विमर्शः ॥

'आरम्भप्रयोगानां तस्यैव पुरुषपट्टयज्ञोपनिषत् ।

दग्धानृतपचनयती त्वारम्भटी नाम विज्ञेया ॥

उस्तावपातनपुनरुदितानि

पट्टेणानि नादाहृतमिन्द्रजानम् ।

विज्ञानि पुद्गलि च यत्र निष्य

तां तत्तरीमारम्भटीं यदन्ति ॥

पाद्गुण्यसमारब्धा हठातिसन्धानविद्रवोपेता ।
 लाभालाभार्थकृता विज्ञेया वृत्तिरारमटी ॥
 सच्चिसिकावपातौ वस्तूयापनमयापि संफेदः ।
 एते ह्यस्याः भेदाः..... ॥
 अन्वर्थशिख्ययुक्तो बहुपुस्तोत्थानचित्रनेपथ्यः ।
 सच्चिसवस्तुविषयो ज्ञेयः सच्चिसको नाम ॥
 भयहर्षसमुत्थान विद्रवविनिपातसभ्रमाचरणम् ।
 क्षिप्रप्रवेशनिर्गममवपातमिमं विजानीयात् ॥
 सर्वरससमासकृत सविद्रवाविद्रवाश्रय वापि ।
 नाट्य विभाग्यते यत्तद्वस्तूयापनं ज्ञेयम् ॥
 सरम्भसप्रयुक्तो बहुयुद्धनियुद्धकपटनिर्भेदः ।
 शस्त्रप्रहारबहुलः संफेदो नाम विज्ञेयः ॥'

(नाट्यशास्त्र २० ६४ पर)

जिमका अभिप्राय यह है—‘आरमटी’ वृत्ति वस्तुतः क्रोधावेग आदि से समूह आंगिक, वाचिक और मानसिक व्यापार-विशेष का नाम है। ‘आरमट’ ऐसे योद्धा को कहा करते हैं जो कि ‘आर’ अथवा ‘प्रतोद’ (हाथी के चलाने के अकुश) के समान हिंसन-समर्थ हो। जहाँ भी रूपक-प्रवृत्ति में ऐसे ‘आरमट’ हों वहाँ ‘आरमटी’ वृत्ति विराजमान रहा करती है। ‘आरमट’ (योद्धा) और अनृत, द्वन्द्व, वञ्चना आदि-आदि के चित्र-विचित्र प्रकारों का जन्मजात सम्बन्ध है। इसलिये ‘आरमटी’ में अनृत, द्वन्द्व, वञ्चना आदि-आदि की अनेकानेक विचित्रताओं का समावेश करता है। ‘आरमटी’ वृत्ति के साथ आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य—इन चारों अंगों का सम्बन्ध है। यह वृत्ति दीप्त रसभावों से समन्वित वृत्ति है—‘भयानके च वीर्य रौद्रे चारमटी भवेत्’ । (नाट्यशास्त्र)

यद्यपि चारों वृत्तियाँ परस्पर सकीर्ण वृत्तियाँ हैं क्योंकि कायिक, वाचिक और मानस व्यापार का असकीर्ण विभाग असंभव है किन्तु तब भी किसी व्यापार के किञ्चिन्मात्र प्राधान्य के कारण आरमटी, भारती आदि विभाग किये जा सकते हैं। नाट्याचार्य भरतमुनि ने इसीलिए कहा है

‘न ह्येकरसज्ज काव्य किञ्चिदस्ति प्रयोगतः ।

भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥

सर्वेषां समवेत्ताना रूपं यस्य भवेद्बहु ।

स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सच्चारिणो मताः ॥’

(नाट्यशास्त्र • २२ ६७-६८)

और इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त का भी कहना है—

‘चतस्र इति चतुर्भेदस्त्वम् अन्यतमचेष्टांशप्राधान्यविवक्षया । अपरथा अनेकव्याप संवलितमेव वृत्तितत्त्वम् न नाम प्रवन्धेषु व्यापारान्तरासवलितः कोऽप्येकाकी-कारि वाचिको मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते ।’

किन्तु बाद के नाट्याचार्यों में वृत्ति-तत्त्व के इस विमर्श के बदले ‘वृत्तिचतुष्टय’ की परम्परा का ही प्रचलन दिखाई देता है। साहित्यदर्पणकार ने भी ‘वृत्तयो नाट्यमातरः’ की मान्यता ही ध्यान रखा है और इसी दृष्टि से ‘आरमटी’ और उसके प्रकारों का लक्षण निरूपण भी किया है ।

(नाटकपात्रों का नाम-निर्देश)

दत्तां सिद्धां च सेनां च वेश्यानां नाम दर्शयेत् ।

दत्तप्रायाणि वणिजां चेटचेट्योस्तथा पुनः ॥ १४१ ॥

वसन्तादिषु वर्ण्यस्य वस्तुनो नाम यद्भवेत् ।

वेश्या यथा वसन्तसेनादिः । वणिग्विष्णुदत्तादिः । चेट. कलहसा
चेटी मन्दारिकादिः ।

और उस पात्र की ओर पीठ फेरकर किया करते हैं जिसे वे सुनाना नहीं चाहते। 'जनान्तिक' और 'अपवारित' के अतिरिक्त 'स्वगत' आदि नाट्योक्तिर्या तो स्वयं स्पष्ट विमर्श—नाट्यशास्त्र में नाटकीय वृत्त के चार मुख्य प्रकारों का निर्देश है। ये चार प्रकार—'सूच्य' 'प्रयोज्य' अभ्यूष्य और 'उपेक्ष्य' कहे जाते हैं। 'सूच्य' तो वह वृत्त है जो हुआ करता है किन्तु नाटकीय इतिवृत्त के लिये उपयोगी भी रहा करता है। इसी के लिये 'भूमक' आदि का योजना अपेक्षित होती है। 'प्रयोज्य' वह वृत्त है जो रजक हुआ करता है। अभिनय-चतुष्टय द्वारा सामाजिकों के साक्षात्कार के लिये समर्पित किया जाया करता है। दोनों वृत्तों के साथ सम्बद्ध गमनागमनादिरूप वृत्त 'उद्ग' प्रकार का वृत्त है। 'उपेक्ष्य' वृत्त अभिप्राय भोजन-स्नान शयनादि से सम्बद्ध वृत्त है जो प्रस्तुतोपयोगी किंवा रजक होने के कारण रूपक प्रवन्धों में यत्र-तत्र उपनिबद्ध किया जाया करता है। इन चार मुख्य वृत्त प्रकारों के अतिरिक्त 'प्रकाश' 'स्वगत' 'अपवारित' 'जनान्तिक' और 'आकाशमापित' भी रूपकप्रवन्धों के वृत्त भेद ही हैं। 'प्रकाश' वह वृत्त-प्रकार है जो सर्वश्राव्य हुआ करता है। (यद् वृत्तमगोप्यतया प्रकाशमात्मव्यतिरिक्तानामपि ज्ञाप्यं तत् प्रकाशत इति प्रकाशम्)। 'स्वगत' वह वृत्तभेद है अन्यो के लिये गोपनीय माना जाया करता है। (यत् पुनरन्येषां गोप्यतया स्वहृद्येव रिक्तं तत् स्वगतम्)। 'अपवारित' वह वृत्त-प्रकार है जिसे एक किमी के लिये गोपनीय रखकर वा किया जाया करता है (परावृत्त्य अङ्गचलनेनाऽश्रावयितव्येभ्यः परावृत्तमुखीभूयाऽन्यस्मै स्याद्व्या या तदपवार्यत बहूनां प्रच्छाद्यत इत्यपवारितम्)। 'जनान्तिक' भी एक वृत्तभेद है (त्रिपताकान्तरोऽन्येन जल्पो यस्तज्जनान्तिकम् ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलिर्वक्रानामिकः करि ताकः सोऽन्तरमश्राव्य प्रति व्यवधान यत्र, अन्येन सह जल्पो जनानामेकस्यैव गोप्यत बहूनामन्तिकं श्राव्यतया निकट जनान्तिकम्)। इसी भाँति 'आकाशमापित' भी एक पात्र ही प्रश्न-प्रतिवचनरूप वृत्त है (कचित् स्वोत्तरार्थमनुभाषणच्छायाया परकीयः प्रश्नः, क्व स्वप्रश्नस्यानुभाषणच्छायाया परकीयमुत्तरम्)।

अनुवाद—रूपक-प्रवन्धों में नायिका या उपनायिका रूप में उपनिबद्ध गणिका नाम ऐसा रखना चाहिये जिसके अन्त में 'दत्ता' 'सिद्धा' या 'सेना' पद अवश्य आ इसी प्रकार वणिक्जन के नामकरण के लिये ऐसे पद चुनने चाहियें जिनके अन्त में 'चेट' पद अवश्य आवे। 'चेट' और 'चेटी' के नाम ऐसे रखे जाँय जो कि वसन्त आदि ऋतु में वर्णनीय वस्तुओं के वाचक पद हों।

जैसे कि, 'वेश्या' का नाम 'वसन्तसेना' आदि, वणिक्जन का नाम 'विष्णुदत्त' आ चेट का नाम 'कलहंस' आदि और 'चेटी' का नाम 'मन्दारिका' आदि।

विमर्श—नाटकीय पात्रों के नाम-निर्देश में वास्तविक जीवन के नाम-निर्देश की छाया पड़ती है। जैसे वास्तविक जीवन में शौर्यप्रधान पुरुष का नाम 'भीम' या 'अरिमर्दन' रखा जाता

(नाटक का नामकरण)

नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम् ॥ १४२ ॥

यथा रामाभ्युदयादि ।

('प्रकरण' के नाम-निर्दिष्टन)

नायिकानायकाख्यानात्मज्ञा प्रकरणादिषु ।

यथा मालतीमाधवादि ।

('नाटिकादि' का नामकरण)

नाटिकानट्टकादीना नायिकाभिर्विशेषणम् ॥ १४३ ॥

यथा रत्नावली-कर्पूरनखर्यादिः ।

(नाटक के कतिपय प्रयोग-विशेष निर्देश)

प्रायेण प्यन्तकः साधिर्गमैः स्यान्ते प्रयुज्यते ।

यथा शाकुन्तले-ऋषी. 'गच्छाव' इत्यर्थे लावयावस्तावत् ।

(नाटक के पात्रों के संक्षेप-प्रकार)

राजा स्वामीति देवेति भृत्यैर्भट्टेति चाधर्मैः ॥ १४४ ॥

राजपिभिर्वयस्येति तथा विदूषकेण च ।

राजहित्यृषिभिर्वाच्य मोऽपत्यप्रत्ययेन च ॥ १४५ ॥

स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विग्र आयेति चेतैः ।

नन्योन्यजाना ज्ञाना नन्योन्य ज्ञाना विज्ञाना ॥ १४६ ॥

वाच्यौ नटोऽसूत्रधाराचार्यनाम्ना परस्परम् ।
 सूत्रधारं वदेद्भावं इति वै पारिपाश्विकः ॥ १४७ ॥
 सूत्रधारो मारिपेति हण्डे इत्यधमैः समाः ।
 वयस्येत्युत्तमैर्हो मध्यैरायैति चाग्रजः ॥ १४८ ॥
 भगवन्निति वक्तव्याः सर्वदेवपिलिङ्गिनः ।
 वदेद्दर्शी च चेटी च भवतीति विदूषकः ॥ १४९ ॥
 आयुष्मन् रथिनं सूतो वृद्धं तातेति चेतारः ।
 वत्सपुत्रकतातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥ १५० ॥
 शिष्योऽनुजश्च वक्तव्योऽमात्य आर्येति चाधमैः ।
 विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥ १५१ ॥
 साधो ! इति तपस्वी च प्रशान्तश्चोच्यते बुधैः ।
 स्वगृहीताभिधः पूज्यः शिष्याद्यैर्विनिगद्यते ॥ १५२ ॥
 उपाध्यायेति चाचार्यो महाराजेति भूपतिः ।

हैं तो 'राजन्' पद का प्रयोग करते हैं अथवा अपत्यप्रत्ययान्त ('पौरव' आदि) का प्रयोग करते हैं। ब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मण का सम्बोधन स्वेच्छापूर्वक किया जा सकत ब्राह्मण लोग नाम लेकर भी एक दूसरे को सम्बोधित कर सकते हैं किन्तु और लोग द्वारा ब्राह्मण के लिये 'आर्य' पद ही सम्बोधन-पद के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है और सूत्रधार, एक दूसरे के सम्बोधन में, 'आर्य' और 'आर्या' पद का प्रयोग किया है। पारिपाश्विक यदि सूत्रधार को सम्बोधित करे तो 'भाव' पद का प्रयोग करता है सूत्रधार यदि पारिपाश्विक को सम्बोधित करे तो 'मारिप' पद का प्रयोग करता है। श्रेणी के लोग परस्पर सम्बोधन के लिये 'हण्डे' पद का व्यवहार करते हैं, उच्च श्रेणी के लोग परस्पर आमन्त्रण के लिये 'वयस्य' पद का प्रयोग करते हैं और मध्यश्रेणी के के परस्पर सम्बोधन में 'हो' पद का प्रयोग हुआ करता है। छोटे भाई के लिये वदे के आमन्त्रण में 'आर्य' पद का प्रयोग हुआ करता है। देव, ऋषि और सन्यासी आ सम्बोधन के लिये 'भगवन्' पद प्रयुक्त हुआ करता है। रानी और चेटी को आम करने के लिये विदूषक के द्वारा 'भवती' पद का प्रयोग हुआ करता है। सुत के द्वारा वत्स के सम्बोधन में आयुष्मन् पद का प्रयोग किया जाया करता है। युवक के द्वारा वृद्ध के आमन्त्रण में 'तात' पद प्रयुक्त होता है। पिता के द्वारा प्रयुक्त पुत्र के आमन्त्रणपद 'वत्स' 'पुत्रक', 'तात', साक्षात् नाम अथवा गोत्र नाम हैं। गुरु के द्वारा शिष्य के तथा अग्रज के द्वारा अनुज के सम्बोधन-पद भी 'वत्स', 'पुत्रक', 'तात' आदि ही हैं, नीच श्रेणी के लोगों द्वारा 'अमात्य' का आमन्त्रण 'आर्य' पद से हुआ करता है। विप्रजन अमात्य को 'अमात्य' अथवा 'सचिव' पद से सम्बोधित किया करते हैं। तपस्वी और वीतराग का सम्बोधन-पद है। शिष्य आदि के द्वारा पूजनीय पुरुष का आमन्त्रण 'सुगृहीत नाम' पद के प्रयोग आ करता है, आचार्य का आमन्त्रण 'उपाध्याय' पद के प्रयोग से किया जाया करता

स्वामीति, युवराजस्तु कुमारे भर्तृदारकः ॥ १५३ ॥
 भद्रमौम्यमुखेत्येवमधर्मस्तु कुमारकः ।
 वाच्या प्रकृतिर्भी राजः कुमारी भर्तृदारिका ॥ १५४ ॥
 पतिर्यथा तथा वाच्या ज्येष्ठमध्याधर्मः त्रियः ।
 ह्येति मदृशो, प्रेप्या दृष्टे वेश्याजुका तथा ॥ १५५ ॥
 कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या च जगती जर्नः ।
 आमन्त्रणैश्च पापण्डा वाच्याः स्वसमयागतैः ॥ १५६ ॥
 शका(शक्या)दयश्च संभात्या भद्रदत्तादिनामभिः ।
 यस्य यत्कर्म शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा ॥ १५७ ॥
 तेनैव नाम्ना वाच्योऽसौ ज्ञेयाश्चान्ये यथोचितम् ।

(स्पष्टो का भाषाविभाग)

अथ भाषाविभागः—

पुरुषाणामनीचाना संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १५८ ॥
 सौरमेनी प्रयोक्तव्या तादृशीना च योपिताम् ।

सौरराजा का क्षामन्त्रग 'महाराज' पद से सम्बन्ध हुआ करता है । युवराज का क्षामन्त्रग-पद 'स्वामिन्' है, राजकुमार का क्षामन्त्रग-पद 'भर्तृदारक' है और नीच श्रेणी के लोगों के उपयुक्त, राजकुमार के सम्बोधन-पद, 'भद्र', 'भद्रमुख' आदि हैं । प्रजाजन के द्वारा राजकुमारी को 'भर्तृदारिका' पद से सम्बोधित किया जाया करता है । उच्च, नीच और मध्य श्रेणी के लोग तीनों के हिन्दे उसी क्षामन्त्रगपद का प्रयोग किया करते हैं जो कि हमारे पत्र के क्षामन्त्रग में प्रयुक्त किया जाया करता है । समान श्रेणी के सौ-प्यात्र 'हृष्टा' पद से एक दूसरे को क्षामन्त्रित किया करते हैं । दाम्नी का क्षामन्त्रग 'हृष्टे' पद से, वेश्या का क्षाम-

आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ॥ १५९ ॥

अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् ।

चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागधी ॥ १६० ॥

प्राच्यां विदूषकादीनां, धूर्तानां स्यादवन्तिजा ।

योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हि दीव्यताम् ॥ १६१ ॥

शवराणां शकादीनां शावरीं संप्रयोजयेत् ।

वाह्लीकभाषोदीच्यानां द्राविडी द्राविडादिषु ॥ १६२ ॥

आभीरेषु तथाभीरी चाण्डाली पुक्सादिषु ।

आभीरी शावरी चापि काष्ठपात्रोपजीविषु ॥ १६३ ॥

तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात्पिशाचवाक् ।

चेटीनामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसेनिका ॥ १६४ ॥

चालानां पण्डकानां च नीचग्रहविचारिणाम् ।

उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात्संस्कृतं क्वचित् ॥ २६५ ॥

ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपद्रुतस्य च ।

भिन्नुवल्कधरादीनां प्राकृतं संप्रयोजयेत् ॥ १६६ ॥

संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीषूत्तमासु च ।

देवीमन्त्रिसुतावेश्यास्वपि कैश्चित्तथोदितम् ।

जाया करती हैं। कुलीन स्त्रियों के गीत की भाषा 'महाराष्ट्री' है। राजा के अन्तःपुर में रहनेवाले वामन, कुब्ज आदि लोगों की भाषा 'मागधी' हुआ करती है। चेट, राजपुत्र और श्रेष्ठजन की भाषा 'अर्धमागधी' है। विदूषक आदि 'प्राच्या' (गौड़ी) भाषा का व्यवहार किया करते हैं। धूर्तों की भाषा 'आवन्ती' है। घूतसेवी सैनिकों और नागरिकों की भाषा 'दाक्षिणात्या' (वैदर्भी) है। शवरां और शक-यवन आदि लोगों की भाषा 'शावरी' है। उदीच्य (उत्तर के) लोगों की भाषा 'वाह्लीक' और द्राविडों (दक्षिण के लोगों) की भाषा 'द्राविडी' है। आभीरों की भाषा 'आभीरी' और चण्डालों की भाषा 'चण्डाली' हुआ करती है। लकड़ी का काम करनेवालों की भाषा 'आभीरी' अथवा 'शावरी' दोनों में से कोई भी हो सकती है। लोहार आदि की भाषा 'पैशाची' हुआ करती है। उत्तम और मध्यम श्रेणी की चेटीओं की भाषा 'शौरसेनी' है। साथ ही साथ बालकों, नपुसकों, छोटे ज्योतिषियों, उन्मत्तों और आतुर लोगों की भाषा भी 'शौरसेनी' ही हुआ करती है। कहीं-कहीं इन्हें 'संस्कृत' बोलते हुए भी प्रदर्शित किया जाया करता है। धनोन्मत्त अथवा दरिद्र और साथ ही साथ भिन्नुक अथवा परित्राजिकाओं की भाषा 'प्राकृत' रखी जाया करती है। उत्तम जाति की ब्रह्मचारिणियों अथवा परिव्राजिकाओं की भाषा 'संस्कृत' हुआ करती है। कुछ नाट्याचार्य रानी, सचिवपुत्री

कार्यतद्योत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः ॥ १६८ ॥

योपित्सर्त्तुवालेवेत्याकितवाप्सरसां तथा ।

वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तगन्तरा ॥ १६९ ॥

• एषाहुर्वाह्मण्यक्षरेषु द्वेद्वयानि । भाषातद्ज्ञानि नन तावपादानां
भाषार्णवे ।

(नञ्-‘तन्’ और नञ्-‘अन्तः’)

षट्त्रिंशद्वक्ष्यान्यत्र, नात्र्यालंकृतयस्तथा ।

त्रयत्रिंशन्प्रयोज्यानि वीर्य्यज्ञानि त्रयोदश ॥ १७० ॥

लाम्याज्ञानि दश ययालाभं रसव्यपेक्षया ।

(३६ लक्षणों का नाम निर्देश)

तत्र लक्षणानि—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणं तथा ॥ १७१ ॥

हेतुसंशयदृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पदोच्चयः ।

निदर्शनाभिप्रायो च प्राप्तिर्विचार एव च ॥ १७२ ॥

दिष्टोपदिष्टे च गुणातिपातातिशयौ तथा ।

विशेषणनिरुक्ती च सिद्धिभ्रंशविपर्ययौ ॥ १७३ ॥

दाक्षिण्यानुनयौ मालार्थापत्तिर्गर्हणं तथा ।

पृच्छा प्रसिद्धिः सारूप्यं संक्षेपो गुणकीर्तनम् ॥ १७४ ॥

लेशो मनोरथोऽनुक्तमिद्धिः प्रियवचस्तथा ।

विमर्श—‘नाट्य-लक्षण’ और ‘नाट्यालङ्कार’ का एकमात्र उपयोग नाटक के इतिवृत्तरूप शरीर में रसाभिव्यञ्जन-सामर्थ्य का अधिकाधिक आधान है। वीथ्यङ्गों की योजना से ‘नाटक’ का इतिवृत्तात्मक शरीर क्षण क्षण नवीन हुआ करता है और रमणीय लगा करता है। ‘वीथी’ वस्तु ‘भारतीवृत्ति’ की ही एक सुन्दर झाँकी है। सभी रूपक-प्रबन्ध ‘वीथी’ (वक्र मार्ग) से हो चर करते हैं। ‘लास्याङ्गों’ का नाटक में उपयोग कवि और अभिनेता दोनों की दृष्टि से है और इसका कारण ‘रञ्जनावैचित्र्य’ है। वैसे तो विश्वनाथ कविराज के पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रीय प्रकरणों ने भी इनका विवेचन छोड़ दिया था क्योंकि इन प्रकरणों का उद्देश्य नाटक-निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषण था न कि अभिनय-प्रक्रिया का। विश्वनाथ कविराज ने प्राचीन नाट्यशास्त्र-मर्याद के निर्देशरूप से ही इनका निरूपण किया है न कि समसामयिक ‘रगमच’ की कार्यप्रणाली के विश्लेषणरूप से।

अनुवाद—(१) भूषण, (२) अक्षरसंघात, (३) शोभा, (४) उदाहरण, (५) हेतु, (६) सहाय (७) दृष्टान्त, (८) तुल्यतर्क, (९) पदोच्चय, (१०) निदर्शन, (११) अभिप्राय, (१२) प्राप्ति (१३) विचार, (१४) दिष्ट, (१५) उपदिष्ट, (१६) गुणातिपात, (१७) गुणातिशय (१८) विशेषण, (१९) निरुक्ति, (२०) सिद्धि, (२१) भ्रंश, (२२) विपर्यय, (२३) दाक्षिण्य (२४) अनुनय, (२५) माला, (२६) अर्थापत्ति, (२७) गर्हण, (२८) पृच्छा, (२९) प्रसिद्धि (३०) सारूप्य, (३१) संक्षेप, (३२) गुणकीर्तन, (३३) लेश, (३४) मनोरथ, (३५) अनुक्त सिद्धि और (३६) प्रियवचन।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह पट्टिषोडशलक्षण-निरूपण भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के १६ अध्याय के लक्षणनिरूपण-प्रकरण के इस पाठान्तर का अनुसरण करता है—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणे तथा ।

हेतुसंशयदृष्टान्ताः प्राप्यभिप्राय एव च ॥

निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिश्चाथ विशेषणम् ।

गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥

दिष्टं चैवोपदिष्टं च विचारोऽथ विपर्ययः ।

भ्रंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ॥

(२—अक्षरसंघात)

वर्णनाक्षरसंघातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मितैः ।

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—कश्चित्सखीं वो नातिवाधते शरीरसंतापः ।

प्रियंवदा—सम्पदं लघोसहो उअसम गमिस्सदि’ [साम्प्रतं लब्धौषधं गमिष्यति] ।

(३—शोभा)

सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ॥ १७६ ॥

श्लिष्टश्लक्ष्णचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ।

यथा—

‘सद्वंशसम्भवः शुद्धः कोटिदोऽपि गुणान्वितः ।

कामं धनुरिव क्रूरो वर्जनीयः सतां प्रभुः ॥’

अलङ्कारों से युक्त कथाशरीर अधिकाधिक रसोद्योतक हुआ करता है। माधुर्यादि गुण और उपमादि अलङ्कारों से युक्त कथाशरीर में वह वस्तु, जिनके होने पर रसोद्योतना प्रबल रूप से समभव है, वस्तुतः एक विशिष्ट कविन्यापार ही है जो शब्द और अर्थ के व्यापारों में स्फुरित हुआ करता है। जैसा कि ध्वनिकार की इस उक्ति अर्थात्—

‘ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।

रूपकादिरलङ्कारवर्गं एति यथार्थताम् ॥’

का सकेत है। इस बहुविध कविन्यापार की एक श्लोक वह है जिसे ‘भूषण’ नामक लक्षण के रूप में प्राचीन काव्य-नाट्य-कोविदों ने देखा-दिखाया है।

अनुवाद—‘अक्षरसंघात’ नामक लक्षण वह लक्षण है जिसे स्वल्प किन्तु श्लिष्ट अर्थों द्वारा विचित्र अर्थ का उपवर्णन कहा गया है। जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—क्या यह शरीरसतापतुम्हारी सखी को बहुत अधिक तो कष्ट नहीं पहुँचा रहा है!

प्रियंवदा—अब जब कि इसे दवा मिल गयी तब तो शान्त हो ही जायगा ।’

में, यह ‘अक्षरसंघात’ नामक (कविन्यापाररूप) लक्षण ही है जिससे यहाँ नाटक का कथाशरीर मनोरम और हृदयग्राही लग रहा है।

विमर्श—‘अक्षरसंघात’ एक यदृच्छा शब्द है और इसे ‘अल्प किन्तु श्लिष्ट शब्द-प्रयोग द्वारा रसोचित विभावादिरूप अर्थ के उपवर्णन’ के लिये सकेतित किया गया है। अभिनवगुप्ताचार्य ने बड़ी सुन्दरता से ‘अक्षरसंघात’ नामक लक्षण का स्वरूप समझाया है—

‘तथाहि मानिनीत्यक्षराणि ईर्ष्याविप्रलम्भे, तरुणोत्पाभिलाषिके, वरतनुरिति समोणे विभावतां तामेव प्रापयन्ति । (अभिनवभारती, पृष्ठ ३००)

अनुवाद—‘शोभा’ वह लक्षण है जिसके कारण अप्रसिद्ध भी अर्थ सिद्ध अर्थ के समान प्रकाशित हुआ करता है। अप्रसिद्ध अर्थ के सिद्ध अर्थ के समान प्रकाशित होने का अभिप्राय यह है कि साधारण भी वर्ण्य विषय इसके कारण सहृदयहृदयहारी और सरस बन जाया करता है। जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

‘मनस्वी लोगों को कुटिल हृदय राजा से, चाहे वह ‘सद्वंशसम्भव’ (सत्कुलप्रसूत)

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ॥ १७७ ॥
साध्यतेऽभिमतत्त्वार्थस्तदुदाहरणं मतम् ।

‘अनुयान्त्या जनातीत कान्तं साधु त्वया कृतम् ।
का दिनग्री विनर्केण का निशा शशिना विना ॥’

विमर्श—'शोभा' का अभिप्राय वक्र रेखा चरित्रव्यापार (राष्ट्रार्थ-व्यापार) है जिससे अशोभन का अर्थ शोभित होने लगता है। पाचार्य अनिरुद्ध ने अभिमानशाकुन्तल का इस मूलि अर्थ—

नै, 'शोभा' का दर्शन किन्ना है क्योंकि वहाँ एज्जाय परिचापार एा अनुनित नौ अर्थ को औनित्यपूर्ण दिग्गार एा है।

'जनककुमारी'। तूने अपने 'जनातांत'-जनवाम के लिये भ्रमर (तथा होकोत्तर) प्रियतम राम का अनुगमन कर रखा ही अच्छा किया। बिना सूर्य के दिन-भी क्या और बिना चन्द्र के रात्रि क्या ।'

विमर्श—नाट्यशास्त्रे मन्त्रमुनि के 'उपाख्यान' की २० परिभाषा पा है—

शिवः अनित्यभारतंगिरस्य नाशः यद् (—

अन्तर्गतिसाया नृपधारयनम्—

अभिलषन्मभिसूनयन्ता नलपूजामत्र नाटके रचना ॥'

‘क्षत्रानि स राजन्नेव प्रसून्त स गन्तोषाय ह्ययं माप्यते ।’

(अभिज्ञानान्ता नाट्यशास्त्र १६ अध्याय साठवा)

मै जो 'साधारण-शिक्षण' है वह भाषाविद्गों की प्रतीति होगी।

(५—हेतु)

हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद्देतुदर्शनात् ॥ १७८ ॥

यथा वेण्यां भीमं प्रति—

‘चेटी—एव मए भणिद भाणुमदि तुह्माण अमुकेसु केसेसु कह देवी केसा संजमिआन्तत्ति’ [एव मया मणित, भानुमति ! युष्माकममुक्तं केशेषु कथं देवं केशा सम्यन्ते] ।

(६—सशय)

संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद्यदनिश्चयः ।

यथा ययातिविजये—

‘इयं स्वर्गाधिनाथस्य लक्ष्मी’ किं यक्षकन्यका ।

किं चास्य विषयस्यैव देवता किमु पार्वती ॥’

(७—दृष्टान्त)

दृष्टान्तो यस्तु पक्षेऽर्थसाधनाय निदर्शनम् ॥ १७९ ॥

अनुवाद—‘हेतु’ वह लक्षण है जिसे सचित्त तथा युक्तिपूर्ण किन्तु अभिमत अभिप्राय का अवबोधक वाक्य कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘चेटी—(भीम के प्रति)—मैंने कहा था—भानुमति ! जब तक तुम्हारे केश न खुलें तब तक द्रौपदी के केश क्योंकर बँध जाँय ।’

आदि में, जो लक्षण है वह ‘हेतु’ है ।

विमर्श—अभिनवभारतीकार ने ‘हेतु’ का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

‘फलसाधनशक्तियुक्तं मितशब्दार्थं विचित्रभङ्गयुक्तं वचनम्’ ।

(अभिनवभारती . १६ अध्याय पाठान्तर)

अनुवाद—‘सशय’ वह लक्षण है जिसे किसी वाक्य में, किसी अज्ञात किन्तु सारभूत अर्थ के समबन्ध में अनिश्चय का उपन्यास कहा गया है । जैसे कि ‘ययातिविजय’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘क्या यह सुन्दरी इन्द्र की राजलक्ष्मी है ? कोई यक्षकन्या है ? इस राज्य की अधिष्ठात्री देवी है ? साक्षात् पार्वती है ?’ आदि में, जो लक्षण है वह ‘सशय’ है ।

विमर्श—साहित्यदर्पण की संस्कृत किंवा हिन्दी व्याख्याओं में ‘सशय’ नामक लक्षण का जो अभिप्राय बताया गया है वह सशयात्मक ही रह गया है । ‘सशय’ तो उस काव्य अथवा नाट्य वाक्य का सौन्दर्य है जिसे कवि अथवा नाटककार इस प्रकार रचा करता है जिसमें वह भावों किंवा विकारों के आधिक्य के कारण असमाप्तप्राय तथा अपरिहोयार्थक-सा लगा करे । इस ‘लक्षण’ का दर्शन, अभिज्ञानशाकुन्तल के निम्न सदृश में, जैसा कि अभिनवभारतीकार ने किया है, स्पष्टतया किया जा सकता है—

‘निष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति

स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावाद्गमस्या मनः ।

तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं

। सा चात्यन्तमगोचरे नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥’

नुवाद—‘दृष्टान्त’ वह लक्षण है जिसे पदार्थसाधकहेतु का मनोहर निदर्शन कहा

यथा वेद्याम्—

‘सहदेवः—आर्य । उचितमेवैतत्तत्स्या यतो दुर्योधनकलत्र हि सा’ इत्यादि ।

(८—तुल्यतर्क)

तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतिगामिना ।

यथा तत्रैव—

‘प्रायेणैव हि दृश्यन्ते काम स्वप्ना शुभाशुभा ।

शतसंख्या पुनरिय सानुज स्पृशतीव माम् ॥’

(९—पदोचय)

मंचयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोचयः ॥ १८० ॥

यथा शाकुन्तले—

‘अथर किञ्चित्परागः कोमलविटपानुकारिणीं बाहू ।

कुसुममिव लोभनीय यौवनमङ्गेषु मनद्धम् ॥

अत्र पदपदार्थयोः सौकुमार्यं सदृशमेव ।

या करता है । जैसे कि ‘बेनीसहार’ में—

‘सहदेव—आर्य । उनके (भानुमती के) लिये तो यह सय उचित ही है क्योंकि तो दुर्योधन को पत्नी है ।’

दि जो सदर्भ है वह ‘दृष्टान्त’ रूप लक्षण से ही विभूषित है ।

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार ‘दृष्टान्त’ लक्ष्य का दो स्वरूप है—

‘सर्वलोक्मनोप्राप्ती यस्तु पदार्थमाधक ।

हेतोर्निदर्शनकृत् स दृष्टान्त इति स्मृत ॥’

(नाट्यशास्त्र १६।१२)

हे अभिनवभारतीश्वर ने इन प्रकार स्पष्ट किया है—

‘धर्माविरहितया सर्वलोक्मनोप्राप्ती उच्यते निदर्शनेऽप्यगम दृष्टान्तमशक लक्षणम्’ ।

(अभिनवभारती १६।१२)

अन्वय—‘तुल्यतर्क’ का अभिप्राय है प्रकृत (प्रत्यक्ष) अर्थ के परामर्श के द्वारा

सूचित (अप्रत्यक्ष) अर्थ के प्रसादन का । जैसे कि ‘बेनीसहार’ के इस मन्दर्भ—

‘शुभ और अशुभ स्वप्न तो प्रायः लोग देखा ही करते हैं किन्तु ‘एक सौ सपनों के रत्ने’ का यह स्वप्न-दर्शन सुखे, जिसके एक सौ भाई हैं, कुछ खटखटा सा रहा है ।’

तो लक्षण है वह ‘तुल्यतर्क’ ही है ।

अन्वय—‘पदोचय’ का अभिप्राय है अर्थानुरूप पद-मन्दर्भ का । जैसे कि ‘अभिज्ञान-कुन्तला’ के इस मन्दर्भ—

‘शकुन्तला का अधर कोमल ललाटमलय को लालिमा लिये है, उनमें यों ही लाला की ललितियों की कोमलता लिये है और यौवन तो हल ही भाँति खिल-खिल में झलक रहा है ।’

तो लक्षण है, वह ‘पदोचय’ है क्योंकि यहाँ सुकुमार अर्थ के अनुरूप सुकुमार पद-योजना स्पष्ट प्रतीत हो रही है ।

(१०—निदर्शन)

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।

परपक्षव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १८१ ॥

यथा—

‘क्षेत्रधर्मोचितैर्धर्मैरल शत्रुवधे नृपाः ।

किं तु वालिनि रामेण मुक्तो बाणः पराङ्मुखे ॥’

(११—अभिप्राय)

अभिप्रायस्तु सादृश्यादभूतार्थस्य कल्पना ।

यथा शाकुन्तले—

‘इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःकृतं साधयितुं य इच्छति ।

ध्रुव स नीलोत्पलपत्रधारया शमीतरुं छेत्तुमृपिर्व्यवस्यति ॥’

(१२—प्राप्ति)

प्राप्तिः केनचिदंशेन किञ्चिद्यत्रानुमीयते ॥ १८२ ॥

यथा मम प्रभावत्याम्—

‘अनेन खलु सर्वतश्चरता चञ्चरीकेणावश्यं विदिता भविष्यति प्रियतमा प्रभावती ।’

अनुवाद—‘निदर्शन’ का अभिप्राय है प्रसिद्ध अर्थ के परिकीर्तन का जिसमें वहाँ के अन्य संभावना न हो सके । जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

‘यह तो ठीक ही है कि राजगण चित्रियोचित संग्राम-धर्म से शत्रुओं का वध कि करते हैं किन्तु राम ने जो वालि पर बाण छोड़ा वह उसके पराङ्मुख रहने पर छो (समुख रहने पर नहीं) ।’

में, जो लक्षण है वह ‘निदर्शन’ है ।

विमर्श—‘साहित्यदर्पण की यह कारिका नाट्यशास्त्र (१६।१५) की ही कारिका उद्धरणरूप है ।

अनुवाद—‘अभिप्राय’ का तात्पर्य सादृश्य के कारण अभूतपूर्व अर्थ की कल्पना है जैसे कि, ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ की इस सूक्ति अर्थात्—

‘ओह ! इस निसर्गसुन्दर (शाकुन्तला के) शरीर को जो तपस्या के कष्टों के सह योग्य बनाना चाहता है वह वस्तुतः नीलकमल के किसलय के किनारे से शमी वृक्ष काटना चाहता है ।’

में, जो लक्षण है वह ‘अभिप्राय’ है ।

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार ‘अभिप्राय’ का स्वरूप यह है—

‘अभूतपूर्वो यो ह्यर्थ सादृश्यात् परिकल्पितः ।

लोकस्य हृदयग्राही सोऽभिप्राय इति स्मृतः ॥’ (नाट्यशास्त्र : १६।१४)

अनुवाद—‘प्राप्ति’ का अभिप्राय है—किसी वस्तु के अंश मात्र से उस वस्तु अनुमान । जैसे कि मेरी अपनी कृति ‘प्रभावतीपरिणय’ की इस उक्ति अर्थात्—

‘यह भ्रमर जो सर्वत्र विचरा करता है अवश्य जानता होगा कि मेरी प्रियतमा प्रभावती कहाँ है ।’

(१३—विचार)

विचारो युक्तिवाक्यैर्यदप्रत्यक्षार्थसाधनम् ।

यथा नम चन्द्रकलायाम्—

‘राजा—नूनमियमन्त पिहितमदनविकारा वर्तते ।

यत—

हन्ति परितोपरहित निरीक्ष्यनाणापि नेक्षते किञ्चिन् ।

सत्यामुदाहरन्त्यामममञ्जनमुत्तर वृत्ते ॥’

(१४—दिष्ट)

देशकालस्वरूपेण वर्णना दिष्टमुच्यते ॥ १८३ ॥

यथा वेण्याम्—

सहदेवः—

‘यद्वैद्युतमिव ज्योतिरायं कुद्धेऽद्य सन्वृतम् ।

तत्प्रावृट्पि कृष्णेयं नूनं नवर्द्धयिष्यति ॥’

मैं, जो लक्षण है वह ‘प्राप्ति’ ही है (क्योंकि चञ्चरीय के विवरण में, उन (चञ्चरीय) के प्रभावतीविषयक ज्ञान का अनुमान हो रहा है) ।

विमर्श—मनस्सुनि का ‘प्राप्ति’-रूप पर है—

‘इद्वैवाद्ययान् काश्चिद् भावो यत्रानुमीयते ।

प्राप्तिं तानभिजानीयात्तद्वृत्तं नाटकाश्रयम् ॥’ (नट्यशास्त्र • १३।१३)

अनुवाद—‘विचार’ का अभिप्राय है—युक्तियुक्त वाक्य में अप्रत्यक्ष वस्तु के साधन का ।

जैसे कि मेरी लपती वृत्ति ‘चन्द्रकला’ के रूप मन्दर्भ लपती—

‘राजा—अथर्व ही यह अपने हृदय में प्रेम छिपाये हुए है क्योंकि—यह हँसती है किन्तु प्रसन्नता में नहीं, इसे मरिचों देखती है किन्तु यह उन्हें नहीं देखती और इसमें मरिचों बहुत कुछ कहती है किन्तु वह उनमें कुछ नहीं देखती ।’

मैं, जो लक्षण है वह ‘विचार’ है ।

विमर्श—मनस्सुनि के नट्यशास्त्र में ‘विचार’ का तात्पर्य विचार होता है—

‘द्वयान्वयमनान्वयप्रत्यक्षार्थसाधने ।

अनेकोपाधिसमुद्भूते विचारः परितोऽनितः ॥’ (नट्यशास्त्र • १३।१४)

विमर्श—विचार—मैं, जो लक्षण है वह ‘विचार’ है—

‘साधने विधिमन्त्रयेन धर्तुः विमर्शस्ये न्यति

स्वातु य विमर्शो भवति यत्र साधनं सिद्धये ।

यत्रापि स्वयमेव हानुमन्तो वरे विमर्शः यत्र

तन्वयात् वरगेन धर्तुः स्वयं स्वमिति निम्रः ॥’ (नट्यशास्त्र • १३।१५)

अनुवाद—‘विचार’ का अभिप्राय है—प्रेम और प्रेम के सम्बन्धित वस्तु अनुमान का ।

जैसे कि ‘मेरी लपती’ के रूप मन्दर्भ लपती—

‘सहदेव—यह प्रेम में मैं बहुत लपती हूँ मैं जो प्रेमिणीय-व्यथा धरती रही है वह अथर्वमेव वर में ही प्रेम के कारण और मैं ममर दूँगी ।’

मैं, जो लक्षण दिक्तापी है रहा है वह ‘विचार’ ही है ।

(१५—उपदिष्ट)

उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः ।

यथा शाकुन्तले—

‘शुश्रूपस्व गुरून्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,

भर्तुर्विप्रकृतापि रोपणतया मा स्म प्रतीप गमः ।

भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,

यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो, वामाः कुलस्याघयः ॥’

(१६—गुणातिपात)

गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान्प्रति ॥ १८४ ॥

यथा मम चन्द्रकलायां चन्द्र प्रति—

‘जइ सह्रिज्जिड तमो घेप्पइ सअलेहि ते पाओ ।

वससि सिरे पसुबइणो तहवि ह इत्थीअ जीअण हरसि ॥’

[यदि सङ्घियते तमो गृह्यते सकलैस्त्व पाद ।

वमसि शिरमि पशुपतेस्तथापि स्त्रीणां जीवन हरसि ॥]

(१७—गुणातिशय)

यः सामान् गुणोद्रेकः स गुणातिशयो मतः ।

विमर्श—परतमुनि ने ‘दिष्ट’ में कुछ और बातें भी देखी हैं—

‘यथादेशं यथाकालं यथारूपं च वर्ण्यते ।

यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा दृष्टं (दिष्टं) तद्दर्शनतोऽपि वा ॥’ (नाट्यशास्त्र : १६

अनुवाद—‘उपदिष्ट’ वह लक्षण है जिसे शास्त्रानुसार मनोहरवाक्य-विन्यास गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘यह बूढ़ों की सेवा करना, सपत्नीओं के प्रति प्रियसखी-भाव रखना, पति से कारण अप्रसन्न होने पर भी उनके विरुद्ध आचरण न करना, परिजनवर्ग के प्रति भाव रखना और सौभाग्य वृद्धि में भी अभिमान से दूर रहना । ऐसा यदि तूने कि महाराज दुष्यन्त की सखी गृहिणी बन जायेगी । ऐसा न करनेवाली ही वामा कुल की पीढ़ा बनी रहती है ।’

में, जो लक्षण है वह ‘उपदिष्ट’ ही है ।

विमर्श—मरतमुनि के अनुसार ‘उपदिष्ट’ का यह लक्षण है—

‘परिगृह्य तु शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते ।

विद्वन्मनोहरं स्वन्तमुपदिष्टं तदुच्यते ॥’ (नाट्यशास्त्र : १६ २४)

अनुवाद—‘गुणातिपात’ का अभिप्राय ऐसा गुणवर्णन है जिसमें गुणविरोध आभास हुआ करे । जैसे कि मेरी अपनी कृति ‘चन्द्रकला’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘भले ही तुम अंधेरा दूर किया करो किन्तु संसार के प्राणी तुम्हारे पैरों (कि को खींचना ही चाहा करते हैं । भले ही तुम भगवान् शङ्कर के मस्तक पर विराजो । वियोगिनीओं का प्राण लेनेवाले भी तुम्हीं हो ।’

में, जो चन्द्रोपालम्भवर्णन है वह ‘गुणातिपात’ का ही उदाहरण है ।

अनुवाद—‘गुणातिशय’ का अभिप्राय है—गुण-सामान्य के कीर्तन से गुणविशे

यथा तत्रैव—

‘राजा—(चन्द्रकलाया मुख निर्दिश्य)

असावन्तश्चन्द्रकिंचनवनीलाब्जयुगल-

स्तलस्फूर्जत्कन्युघिलमदलिनघात उपरि ।

विना दोषामङ्गं सततपरिपूर्णारिलकल

कुन प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कं सुमुखि । ते ॥’

(१८—विशेषण)

सिद्धानर्थान् बहुनुक्त्वा विशेषोक्तिर्विशेषणम् ॥ १८५ ॥

यथा—

‘तृष्णापहारी विमलो द्विजायामो जनप्रिय’ ।

द्वद पद्माकर किन्तु बुधस्त्व स जलाशय ॥’

(१९—निरुक्ति)

पूर्वमिद्वार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते ।

यथा वेद्याम्—‘निष्ठाशेषकौरव्य’—’ इत्यादि ।

अनुकीर्तन का । जैसे कि मेरी ही कृति ‘चन्द्रकला’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘राजा—(चन्द्रकला के मुख की लक्ष्यकर)—

‘धरी सुमुखि ! यह तो यथा कि तुझे यह निष्कलङ्क किंवा विना ‘दोषामङ्ग’ (रात्रि किंवा दोषों के सम्पर्क) के ही, निरन्तर पौडश कलाओं से परिपूर्ण (सगीतादि कलाओं से सुशोभित), चन्द्र (मुख) कहाँ से मिल गया, जिसके भीतर इतने सुन्दर नीलकमल युगल (नयन) मिले दीन रहे हैं, जिसके नीचे इतना सुन्दर कन्यु (दाँव तथा ग्रीवा भाग) चमक रहा है और जिसके ऊपर अमरमनूह (केतुपादा) मँदराने लग रहे हैं ।’
मैं, जो लक्षण है वह ‘गुणातिशय’ है ।

अनुवा—‘विशेषण’ यह लक्षण है जिसे ‘प्रसिद्ध अर्थ के उपपन्न के अनन्तर उसके परिनिष्ठ का अनुकीर्तन करा गया है । जैसे कि इस मूर्ति अर्थात्—

‘तृष्णापहारी’ (जलाशयपक्ष में—पद्मा मिटानेवाला और वर्ण्य पुरस्सपक्ष में याचक जन की आश्रया के निवर्तक) ‘विमल’ (जलाशयपक्ष में—न्यस्तजलता और पुरस्सपक्ष में—निर्मल हृदय) ‘द्विजायाम’ (जलाशयपक्ष में—जलपक्षियों के नियामनूत और पुरस्सपक्ष में प्रादुर्भाव के साधयदाता) ‘जनप्रिय’ (जलाशयपक्ष में—सुन्दर किंवा पुरस्सपक्ष में हितकार) और ‘पद्माकर’ (जलाशयपक्ष में—कमलों के भाग्य और पुरस्सपक्ष में—पद्मों के आश्रय) जैसे भाव हैं वन्ता ही जलाशय में है । किन्तु आप ‘बुध’ पण्डित शर और जलाशय ‘जलाशय’ मूर्ति (चित्रन) ही करा ।

अनुवा—‘निरुक्ति’ यह लक्षण है जिसे पूर्वमिद्वार्थकथन कहा गया है । जैसे कि ‘विमल’ की ‘निष्ठाशेषकौरव्य’ आदि विशेषण मूर्ति में जो लक्षण है वह ‘निरुक्ति’ ही है ।

विमल—यथा अर्थ निर्दिष्ट है—

‘विरहपक्ष पारपक्ष प्रयोगधर्मिष्ठः ।

यद्वदने गु वपन निरुक्त सद्गुणान् ॥’

(२०—सिद्धि)

वहूनां कीर्तनं सिद्धिरभिप्रेतार्थसिद्धये ॥ १८६ ॥

यथा—

‘यद्वीर्यं कूर्मराजस्य यश्च शेषस्य विक्रमः ।
पृथिव्या रक्षणे राजन्नेकत्र त्वयि तस्मिन्तम् ॥’

(२१—अश)

दृष्टादीनां भवेद्भ्रंशो वाच्यादन्यतरद्वयः ।

यथा वेण्याम्—कञ्चुकिन प्रति

‘दुर्योधनः—

सहभृत्यगणं सबान्धव सहमित्र ससुत सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥’

(२२—विपर्यय)

विचारस्यान्यथाभावः संदेहात्तु विपर्ययः ॥ १८७ ॥

यथा—

‘भत्वा लोकमदातार संतोषे यैः कृता मतिः ।
त्वयि राजनि ते राजन्न तथा व्यवसायिनः ॥’

(२३—दाक्षिण्य)

दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्तनम् ।

अनुवाद—‘सिद्धि’ वह लक्षण है जिसे एक अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिये अनेकों अभिप्रेत अर्थों का वर्णन कहा गया है। जैसे कि, इस सूक्ति अर्थात्—

‘महाराज ! पृथिवी के रक्षण में जो भी कूर्मावतार विष्णु का वीर्य है और जो भी शेषनाग का विक्रम है वह सब एक आप ही में एकत्रित है।’ में, जो लक्षण है वह ‘सिद्धि’ है।

अनुवाद—‘अश’ वह लक्षण है जिसे ‘किसी छुब्ध व्यक्ति का, किसी विषय के वर्णन के स्थान पर, विषयान्तर का वर्णन करना’ कहा करते हैं। जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुर्योधन (कञ्चुकी से)—अब क्षीघ्र ही सग्राम में, क्या भृत्यवर्ग, क्या बन्धुबान्धव, क्या मित्र और क्या अनुज-सबके साथ, सुयोधन को, पाण्डुपुत्र, अपने पराक्रम से मार गिरा देगा।’

में, जो लक्षण है वह ‘अश’ है (क्योंकि क्षोभ में आकर दुर्योधन पाण्डवों को स्वयं मार डालने के बदले पाण्डवों द्वारा अपने मारे जाने का वर्णन कर डालता है) ।

अनुवाद—‘विपर्यय’ वह लक्षण है जिसे संदेह के कारण पूर्वविचार का परिवर्तन कहा जाया करता है। जैसे कि, इस सूक्ति अर्थात्—

‘महाराज ! वे लोग, जो यह सोचकर कि ‘कोई भी ऐसा नहीं है जो दान दे सके’ सन्तोष-साधन कर चुके थे, अब, आपके रहते, अपना निश्चय बदल चुके हैं।’

, जो लक्षण है वह ‘विपर्यय’ है।

अनुवाद—‘दाक्षिण्य’ वह लक्षण है जिसे चेष्टा अथवा वाणी द्वारा परचित्त के अनुवर्तन वर्णन में देखा जा सकता है। जैसे कि, इस सन्दर्भ अर्थात्—

वाचा यथा—

‘प्रसाधय पुरी लब्ध्वा राजा त्वं हि विभीषण ।

आर्येणानुगृहीतस्य न विन्नः सिद्धिमन्तरा ॥’

एवं चेष्टयाऽपि ।

(२३—अनुनय)

वाक्यैः क्षिणैरनुनयो भवेदर्घ्यस्य साधनम् ॥ १८८ ॥

यथा वेष्ट्याम्—अन्वन्थानामातं प्रति—

‘रूप — दिव्यास्त्रनामजोविदे भारद्वाजतुल्यपराक्रमे किं न नभाव्यते त्वयि ।’

(२४—माला)

माला न्याद्यदभीष्टार्थं नैकार्थप्रतिपादनम् ।

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—

किं शीकरैः क्लमविनर्जिभिरार्द्रात सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तम् ।

अहं निवेग्य चरणानुत पद्मताम्रौ नवाभ्यानि करभौन । यथास्तु ते ॥’

(२६—अर्थावति)

अर्थावतिर्यदन्याथोऽर्थान्तरोक्तेः प्रतीयते ॥ १८९ ॥

यथा वेष्ट्याम्—द्रोणोऽन्वन्थानामातं राज्येऽभिपेक्षुमिच्छतीति कथयन्तं प्रति—

‘राजा—माधु जङ्गराज ’ माधु, जयमन्यया—

‘राष्ट्रसराज विभीषण । अथ तुम राजा हो, लब्ध्वा ही राजधानी अथ दूसरी में प्रेमिता हो गो । महा कार्य राम का अनुग्रह हो और कार्यमिश्रि के दिना कोरे दिन पर जाय ।’

में ‘पान्’ द्वारा परचितानुवर्तमान ‘दादिप्य’ स्पष्ट है ।

अनुनय—‘अनुनय’ वह लक्षण है जिसे मिश्र चर्चों द्वारा अभिप्रेत अर्थ का साधन कहा गया है । जैसे कि, ‘विनीमसार’ के इस प्रसंग अर्थ—

‘रूप—(लक्षणात्मा मे) दिव्यान्त्रों के एक पवित्र और आचर्य डोम मरीने पराक्रमी तुमसे परा हुआ नहीं हो मरना ।’

अदि में ‘अनुनय’ नामक लक्षण का स्पष्ट स्पष्ट है ।

अनुनय—‘माला’ वह लक्षण है जिसे अर्थ है प्रतिपादक अनेक अभिप्रेत अर्थों का उद्घाटन कहा करते हैं । जैसे कि, ‘विनीमसार’ के इस प्रसंग अर्थ—

‘राजा—प्रिय । परा दलित आदिपुत्रों में अतिशय नम्रता से तुमसे परा हूँ । परा मेरे समानम कोना पावों को मेरे में लेकर दयाई, जिसमें तुम अरुण हों । दयादि में, जो मरना है वह ‘माला’ है ।

अन्वन्थ—‘अर्थावति’ वह लक्षण है जिसे किमं एक शब्द के अर्थ में, किमं दूसरी शब्द का प्रमाणन कहा गया करता है । जैसे कि, ‘विनीमसार’ के इस प्रसंग अर्थ—

‘(कर्म है वह करने पर कि डोम लक्षणा को राजा दाना पावों है) अर्थावति— अथ न । अथ और कहा तुमने । नहीं नो—

दत्त्रामयं सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना ।
सिन्धुराजमुपेक्षेत नैव चेत्कथमन्यथा ॥'
(२.—गर्हण)

दूषणोद्धोषणायां तु भर्त्सना गर्हणं तु तत् ।

यथा तत्रैव—कर्णं प्रति—

‘अश्वत्थामा—

निर्वीर्यं गुह्यशापभाषितवशात्किं मे तवेवायुध ?
सम्प्रत्येव भयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा ?
जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां किं सारथीना कुले ?
क्षुद्रारातिकृताप्रिय प्रतिकरोम्यस्त्रेण नास्त्रेण यत् ?'
(२८—पृच्छा)

अभ्यर्थनापरैर्वाक्यैः पृच्छार्थान्वेषणं मता ॥ १९० ॥

यथा तत्रैव—

‘सुन्दरकः—अज्ञा, अवि णाम सारथिदुट्ठिओ दिट्ठ तुहोहिं महाराओ दु
धणे ण वेत्ति ।’ [आर्या, अपि नाम सारथिद्वितीयो दृष्टो युष्माभिर्महाराजो दुषे
न वेत्ति]

(२९—प्रसिद्धि)

प्रसिद्धिलोकसिद्धार्थैरुत्कृष्टैरर्थसाधनम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

वे अतिरथ आचार्य द्रोण, सिन्धुराज (जयद्रथ) को स्वयं अभयदान देकर
क्योंकर चुपचाप बैठे रहे जब कि अर्जुन सिन्धुराज को मार रहा था ।
आदि में, जो लक्षण है वह ‘अर्थापत्ति’ है ।

अनुवाद—‘गर्हण’ वह लक्षण है जिसे ‘दोषोद्धोषण होने पर भर्त्सना का प्रका
कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अश्वत्थामा (कर्ण के प्रति)—क्या गुरु के शाप-वचन से तुम्हारी तरह मेरा
अस्त्र निर्वीर्य हो गया ? क्या मैं भी तुम्हारी तरह कभी संग्राम से भाग निकला हूँ ?
मैं भी तुम्हारी तरह राजवंशावली के गुणगायक सारथियों के कुल में जन्मा हूँ ?
इन छुद्र शत्रुओं के अपकार का प्रतिकार अस्त्र से न देकर, रोने-धोने से हूँ ?
मैं, जो लक्षण है वह ‘गर्हण’ नामक लक्षण है ।

अनुवाद—‘पृच्छा’ वह लक्षण है जिसे ‘अभ्यर्थनापरक वचनों से अभिमत अर्थ
‘अन्वेषण’ कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सुन्दरक—अरे भले लोगो ! क्या आपने सारथि के साथ महाराज दुर्योधन
झूठ कहीं देखा है ?’

आदि में, ‘पृच्छा’ नामक ही लक्षण स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

अनुवाद—‘प्रसिद्धि’ वह लक्षण है जिसे किसी उत्कृष्ट और लोकप्रसिद्ध अर्थ
आधार पर, किसी अभिमत अर्थ का साधन कहा गया है । जैसे कि ‘विक्रमोर्वशीय
इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।

स्वय कृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥’

(३०—सारूप्य)

सारूप्यमनुरूपस्य सारूप्यात्क्षोभवर्धनम् ॥ १९१ ॥

यथा वेद्याम्—दुर्योधनभ्रान्त्या भीम प्रति—

‘युधिष्ठिरः—दुरात्मन् ! दुर्योधनहतक !—’ इत्यादि ।

(३१—मत्तेप)

संक्षेपो यत्तु संक्षेपादात्मान्यार्थे प्रयुज्यते ।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—

‘राजा—प्रिये ।

अङ्गानि खेदचसि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि मुधा ।

(आत्मान निर्दिश्य—)

अयमीहितकुसुमाना सम्पादयिता तवास्ति दानजन ॥’

(३२—गुणकीर्तन)

गुणानां कीर्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्तनम् ॥ १९२ ॥

यथा तत्रैव—

‘नेत्रे तल्लनगल्लने सरसिजप्रत्यधि—’ इत्यादि ।

‘राजा—मैं पृष्ठ रहा हूँ । मैं वह हूँ जिसके मातामह और पितामह सूर्य और चन्द्र हैं और जिसे उर्वशी और पृथिवी, दोनों ने अपना पति वरण किया है ।’

मैं, जो लक्षण है, वह ‘प्रमिद्धि नामक ही लक्षण है ।

मुग़ाद—‘सारूप्य वह लक्षण है जिसे ‘किसी पुरुषमूत वस्तु का मन प्रोभकारक सारूप्यवर्जन’ कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के हम प्रमत्त अर्थात्—

‘(दुर्योधन के भ्रम से भीम को लपककर) युधिष्ठिर—नोच । महापति दुर्योधन ।’ इत्यादि में जो कथासविधान का मौन्दुर्य है वह ‘सारूप्य’ नामक लक्षण के ही कारण है ।

मुग़ाद—‘सत्तेप’ वह लक्षण है जिसे किसी अन्य पदार्थ के स्थाय पर, सत्तेप के लिये, क्षामानुकीर्तन कहा गया है । जमे कि मेरी अपनी वृत्ति ‘चन्द्रकला’ के हम प्रमत्त अर्थात्—

‘राजा—प्रिये । शिरीषकुसुम की भाँति कोमल अपने लक्षों को न स्वीकार वह दे रही है ?

(अपने भाव को निर्दिष्टकर) तेरे मन चाहे जगों को सुनने के लिये तो तेरा वह दाम लदा ही है ।’

मैं, जो लक्षण है वह ‘सत्तेप’ ही है ।

—‘गुणकीर्तन’ वह लक्षण है जिसे गुणों का उपवर्जन कहा गया है ।

जैसे कि मेरी अपनी वृत्ति ‘चन्द्रकला’ की ‘नेत्रे तल्लनगल्लने सरसिजप्रत्यधि’ आदि पद्योद्भूत वृत्ति ‘गुणकीर्तन’ का ही स्थान है ।

(३३—लेश)

स लेशो भण्यते वाक्यं यत्सादृश्यपुरःसरम् ।

यथा वेण्याम्—

‘राजा—

हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।

या श्लाघा पाण्डुपुत्राणां सैवाऽस्माकं भविष्यति ॥’

(३४—मनोरथ)

मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्भङ्ग्यन्तरेण यत् ॥ १९३ ॥

यथा—

‘रतिकेलिकलः किञ्चिदेव मन्मथमन्थरः ।

पश्य सुभ्रु । समालम्भात्कादम्बश्चुम्बति प्रियाम् ॥’

(३५—अनुक्तसिद्धि)

विशेषार्थो हविस्तारोऽनुक्तसिद्धिरुदीर्यते ।

यथा—

‘गृहवृक्षवाटिकायाम्—

दृश्येते तन्वि ! यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति ।

प्राज्ञे कल्याणनामानावुभौ तिष्यपुनर्वसू ॥’

अनुवाद—‘लेश’ वह लक्षण है जिसे सादृश्यप्रकाशनसमर्थ वाक्य का उपन्यास जाया करता है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ की इस सूक्ति अर्थात्—

‘राजा—अभिमन्यु के मारने पर हमारी भी वही प्रशंसा होगी जो शिखण्डी को कर, भीष्म के मारने पर, पाण्डुपुत्रों की प्रशंसा हुई ।’
में, जो लक्षण है वह ‘लेश’ है ।

अनुवाद—‘मनोरथ’ वह लक्षण है जिसे किसी अभिमत अभिप्राय का, विविध के साथ, प्रकाशन कहा गया है । जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

‘अरी सुन्दरी ! रतिकेलि में मधुर कूजन करनेवाला किंवा काममोहित यह आनन्द के साथ हसी का चुम्बन करता दिखाई दे रहा है ।’
में, जो लक्षण है वह ‘मनोरथ’ है ।

अनुवाद—‘अनुक्तसिद्धि’ वह लक्षण है जिसे किसी (अवर्णित भी) अर्थविशेष उह अथवा तर्कणा द्वारा विस्तार कहा गया है । जैसे कि ‘गृहवृक्षवाटिका’ के इस अर्थात्—

‘बुद्धिमति सीते ! कान्तिमान् चन्द्र के समीप जो वे दो दिखायी दिया करते हैं ही स्वनामधन्य ‘तिष्य’ और ‘पुनर्वसू’ कहा करते हैं ।’
में, जो लक्षण है वह ‘अनुक्तसिद्धि’ ही है (क्योंकि यहाँ विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण अवर्णित भी अभिप्राय उह द्वारा ही विशदरूप से प्रतीत हो जाता है) ।

(३६—प्रियोपि-प्रियवचन)

म्यात्प्रमाणयितुं प्लुत्यं प्रियोक्तिर्हर्षभाषणम् ॥ १९४ ॥

यथा शास्त्रेण—

‘उदेति पूर्वं कुसुम ततः फलं घनोदयं प्राक्कदनन्तरं पयः ।

निमित्तनैमित्तिकयोरयं विधिस्तत्र प्रसादस्य पुरस्तु नन्यदः ॥

(नट्याल्लार - नामनिर्देश)

अथ नाट्यालक्षणा—

आगोराक्रन्दकपटाक्षमागर्वोद्यमाश्रयाः ।

उत्प्राप्तनस्पृहाशोमपश्वात्तापोपपत्तयः ॥ १९५ ॥

आग्नमाव्यवसायौ च विमर्षोल्लेखमंजितौ ।

उत्तेजनं परीवादो नीतिर्यविशेषणम् ॥ १०,६ ॥

प्रोत्साहनं च माहाव्यमभिमानोऽनुवर्तनम् ।

उत्कीर्त्तनं तथा यात्रा परिवारो निवेदनम् ॥ १०,७ ॥

प्रवर्तनाख्यानयुक्तिग्रहर्पाधोपदेशनम् ।

इति नाट्यालङ्कृतयो नाट्यभूषणहेतवः ॥ १९८ ॥

[illegible]

‘प्रणादेनैव नोपैत्यं कृत्वा यत्र प्रतीयते ।

दधनेन विनाशुजसिद्धि मा परिर्हतिता ॥' (न - - -)

—प्रियोत्ति (प्रियव्रज) यह लगता है जिसे पूरा लोगों की जिज्ञासा के कारण प्रियव्रज नाम रखा गया है। जैसे कि 'अभिमाननाम्नर' के इस प्रसंग—

मेमार में वारन और शाय का यही नियम है कि पहले वार वारना है तब शाय शायना है पहले मेम में वारना है तब शाय होती है। किन्तु महरि शाय के शुरुआत और महरि के वारना में यह एक ही नियम लागू नहीं होता।

— 'सुखं हि जगद्विभक्तम् ।

[illegible]

नृप-नाट्य-द्वार वै हं नो हि नाट्य वै शोभायत्यहं ह्य-मने न-

[illegible]

(१—आशी)

आशीरिष्टजनाशंसा—

यथा शाकुन्तले—

‘ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्वहुमता भव ।

पुत्रं त्वमपि सम्राज सेव पूरुमवाप्नुहि ॥’

(२—आक्रन्द)

—आक्रन्दः प्रलपितं शुचौ ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के १६ वें अध्याय में ३६ नाट्यलक्षणों (अथवा न भूषणों) का निरूपण है । प्राचीन काल से ही इस अध्याय का पाठभेद चला आ रहा है । नाट्यशास्त्रकारों ने एक पाठ अपनाया है और कुछ ने दूसरा । १२ वीं शताब्दी के भोजरा दोनों पाठों को अपनाकर नाट्यलक्षण की सख्या दूनी कर दी है । साहित्यदर्पणकार ने पाठों को अपनाकर एक के आधार पर ३६ नाट्यलक्षण और दूसरे के आधार पर ३३ न लक्ष्मणों की कल्पना की है । ‘अभिनवभारती’ के अनुशीलन करनेवालों को यह स्पष्ट हो है कि—‘नाट्यालङ्कार’ और ‘नाट्यलक्षण’ की पृथक् कल्पना कुछ ऐसी है जिसके सम्बन्ध निःसन्देह विमर्श सम्भवतः कहीं नहीं हुआ है । भरतमुनि के अनुसार तो ‘लक्षण’ काव्यलक्षण हैं (काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्या पट्विशलक्षणांविता —नाट्यशास्त्र १६ १६९) और ‘विभूषण’ का अभिप्राय रखते हैं किन्तु भरतमुनि के अनुयायियों में ‘लक्षण’ के सम्बन्ध में भिन्न मत प्रचलित रहे हैं । श्री मधुसूदन तथा अभिनवगुप्ताचार्य तो ‘लक्षण’ का सम्बन्ध से मानते हैं किन्तु भोजराज, शारदातनय, विश्वनाथ कविराज आदि के अनुसार ‘लक्ष’ सम्बन्ध ‘नाट्य’ से है । इसके अतिरिक्त कतिपय नाट्यशास्त्रकार ‘लक्षण’ और ‘अलङ्कार’ भिन्न-भिन्न नाट्यधर्म के रूप में देखते हैं और कतिपय ऐसे हैं जिन्होंने ‘लक्षण’ को ‘अ’ (विभूषण) का ही समानार्थक मान लिया है । विश्वनाथ कविराज ने अपने सभी पूर्वार्च ‘लक्षण’ और ‘अलङ्कार’ विषयक मर्तों का सामञ्जस्य स्वीकारकर ३६ नाट्यलक्षणों और ३३ लक्ष्मणों का निरूपण कर डाला है । ‘भावप्रकाशन’कार शारदातनय के प्रभाव में वि कविराज ने नाट्य के ‘लक्षण’ और ‘अलङ्कार’ का विवेचन किया है । विश्वनाथ कविराज के ‘गर्व’, ‘उत्प्रासन’, ‘आशंसा’, ‘अध्यवसाय’, ‘विसर्प’, ‘टल्लेख’, ‘साहाय्य’, ‘उत्कीर्तन’, ‘उ’ ‘उपदेशन’ और ‘प्रवर्त्तन’ नामक नाट्यालङ्कार (अथवा ‘नाट्यलक्षण’) भरत नाट्य ‘शृङ्गारप्रकाश’, ‘दशरूपक’ आदि में कहीं नहीं उपलब्ध होते । ‘भावप्रकाशन’ के आजक अंश में सम्भवतः इनका पूर्वनिर्देश हुआ हो । जो कुछ भी हो, ‘लक्षण’ अथवा ‘अलङ्कार’ विस्पष्ट विवेक विश्वनाथ कविराज ने भी नहीं किया । इनके ‘भेद’ और ‘अभेद’ और ‘भेदा’ त्रिवेणी विश्वनाथ कविराज के भी सामने पूर्ववत् ही (अव्यक्त रूप से) बहती दिखायी दे र

अनुवाद—‘आशी.’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे इष्टजन की आशंसा अथवा अ कामना कहा गया है । जैसे कि, ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘जैसे महाराज ययाति के लिये महारानी शर्मिष्ठा रही वैसे ही अपने पति के हो जा और जैसे महारानी शर्मिष्ठा ने सम्राट् पुरु को जन्म दिया वैसे ही तू भी एक पुत्र से पुत्रवती होवो ।’

में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘आशी.’ है ।

अनुवाद—‘आक्रन्द’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे शोकादि के आवेग के कारण

यथा वेद्याम्—

'कञ्जुकी—हा देवि ! कुन्ति । राजभवनपताके !—' इत्यादि ।

(:—कण्ट)

कण्टं मायया यत्र रूपमन्यद्विभाव्यते ॥ १९९ ॥

यथा कुरुपत्यङ्गे—

'मृगतुल्य परित्यज्य विधाय कण्ट वपुः ।

नीयते रत्नात्मा तेन लक्ष्मणो युवि तशायम् ॥

सादि के उपरान्त में देखा जा सकता है । जैसे हि, 'दीर्घाहार' के रूप प्रकाश कथ्य—
'कञ्जुकी—हा देवि ! कुन्ति । हा राजभवनपताके !' आदि में 'कान्ता' की ही शोभा-
शक्तता दिखाई देती है ।

विमर्श—कण्टाकार के रूप कण्ट का 'कण्टाकार' पर है—

'कान्तामनुसन्धाय परमात्मसुखिनि ।

नैवार्थमात्रं यन्वाशङ्कन्मनु कीर्तिनः ॥'

विमर्श—परित्यज्य कण्टाकार पर है—

'नैव मायावशात् योऽर्थस्तस्य पर प्रति सादृश्येन प्रकटितं निमित्तं प्रभुते

का नाममन्त्रं साधनं कुरुपत्यङ्गे तद्विभवाव विच्छिन्नप्रधान वाशङ्कन्ते नाम लक्ष्मणम् ।

यथा मन्त्रे—

'किं पश्य स्वामे दितोऽप्य निनां वा धनुर्गुणी पश्यता

कण्टं सुनिर्मुक्तं प्रकटयत्यग्रे मगगा स्थितिम् ।

यथा मायामात्रं कुरुपत्यङ्गे निमित्तं न शक्यते

प्रतिप्रकटयते मन्त्रेण तुल्यं निमित्तं लक्ष्मणं सुखम् ।

अत्रोच्यते किं प्रकटयते मन्त्रेण मन्त्रेण निमित्तं लक्ष्मणं इति उच्यते मन्त्रेण

मायामात्रं । मन्त्रेण कुरुपत्यङ्गे प्रभुते निमित्तं निमित्तं लक्ष्मणं इति

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण मन्त्रेण

(४—अक्षमा)

अक्षमा सा परिभवः स्वल्पोऽपि न विपद्यते ।

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—भोः सत्यवादिन् ! अभ्युपगतं तावदस्माभिः । किं पुनरिमामि
सन्धाय लभ्यते ।

शार्ङ्गरवः—विनिपातः—’ इत्यादि ।

(५—गर्व)

गर्वाऽवलेपजं वाक्यं—

यथा तत्रैव—

‘राजा—ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः ।’

(६—उद्यम)

—कार्यस्यारम्भ उद्यमः ॥ २०० ॥

यथा कुम्भाङ्के—

‘रावणः—पश्यामि शोकविवशोऽन्तकमेव तावत् ।’

(७—आश्रय)

ग्रहणं गुणवत्कार्यहेतोराश्रय उच्यते ।

यथा विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्के—

‘विभीषणः—राममेवाश्रयामि’ इति ।

अनुवाद—‘अक्षमा’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किञ्चिन्मात्र भी अनादर की असह्य शीलता का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—अरे सत्यवादी मुनिराज ! मैंने समझ लिया कि मैं प्रवञ्चक ठहरा । लेकिन इस नारी की प्रवञ्चना से मुझे क्या मिलेगा, यह नहीं समझ सका !

शार्ङ्गरव—सर्वनाश मिलेगा महाराज । सर्वनाश ।’

इत्यादि में, ‘अक्षमा’ की शोभाधायकता इतिवृत्त को सुन्दर बना रही है ।

अनुवाद—‘गर्व’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे अभिमानपूर्वक किसी वचन का उपनिषद् कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—ओह ! मेरे घर पर भी जीवजन्तुओं का आक्रमण ।’

आदि में, ‘गर्व’ ही नाट्यालङ्कार के रूप में दिखाई दे रहा है ।

अनुवाद—‘उद्यम’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे कार्यारम्भ का वर्णन कहा गया है । कि ‘कुम्भाङ्क’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘रावण—हन्द्रजित् न रहा, मैं अब अपने आप को ही साक्षात् यमराज के रूप देख रहा हूँ ।’

आदि में, ‘उद्यम’ का स्वरूप स्पष्ट है ।

अनुवाद—‘आश्रय’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे कार्यसिद्धि के लिये, गुणयुक्त जनार्ति आश्रय लेने का वर्णन आदि कहा गया है । जैसे कि ‘विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्क’ के प्रसङ्ग अर्थात्—

(८—उग्रामन)

उग्रामनं तृप्तानो योऽन्वाधौ साधुमानिनि ॥ २०१ ॥

यथा गाह्वर्ये—

'शार्ङ्गरेवः—राजन्' अथ पुनः पूर्ववृत्तान्तमन्यनद्वाद्विस्तृतो भवन् ।
नन्वयनयमर्मातोर्गपरित्यागः—' इत्यादि ।

(९—प्रवृत्तः)

आकाङ्क्षा रमणीयत्वाद्वस्तुनो या मृता तु ना ।

यथा तत्रैव—

'राजा—

चान्पा मृदुरितेनायनपरित्यक्तमन् ।

मिपान्तो मनातुजा दृष्टानेव प्रियावरः ॥'

(१०—येः)

अविशेषवचःकार्गो क्षोभः प्रोक्तः न एव तु ॥ २०२ ॥

यथा—

त्रया नपत्तिचाण्डाल ! प्रच्छन्नवयवनिना ।

न केवलं हनो बाली म्वात्मा च परलोचन ॥'

'विर्मन्—अर्जुन' यत्र है मर में राम की शरण लेंगा ।

अदि में, 'आत्म' ही इतिवृत्तमैत्यर्थ का दर्शन है ।

भुज—'उग्रामन' यह मन्त्राङ्कुर है जिसे अपने ऊपर को मन्त्र माननेवाले

मन्त्रों के वरदान का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस

मन्त्र अर्थ—

'राजन्—राजन्' यदि पक्ष दत्त (मन्त्रवादी) में भवतः गान्धर्वविष्णु) या

कदाचित् होने के कारण भूत गये हैं तब भी मन्त्र में दत्तव्य के आकर का धर्मवर्णन

परित्याग किया ।

अदि में, 'उग्रामन' ही इतिवृत्त का दत्तव्य अङ्कुर है ।

भुज—'मन्त्र' पर मन्त्राङ्कुर है जिसे विर्मन् यन्त्र की मन्त्रवादी के कारण

उपार्जित होने का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस

मन्त्र अर्थ—

'राजन्—यद्यपि भुजवर्जित होने के कारण अविशेष के मन्त्र विवक्षा की पर मन्त्र

परित्याग, ऐसा दर्शाता है, मुझे मन्त्रवादी की भुजवादी में दे रहा है ।

अदि में 'आत्म' का ही उपनिषद ।

भुज—'विर्मन्' पर मन्त्राङ्कुर है जिसे अविशेष के दत्त का वर्णन मन्त्र

में किया है । जैसे कि, इस मन्त्र अर्थ—

'ये मन्त्रवादी ! राम ! जिसका माननेवाले को मन्त्र वादी के ही मन्त्रों का

अर्थ मन्त्रों में परित्याग के लिये मन्त्र कर दिया ।'

अदि में, इतिवृत्त का ही अङ्कुर है पर 'विर्मन्' ही ।

(११—पश्चात्ताप)

मोहावधीरितार्थस्य पश्चात्तापः स एव तु ।

यथानुतापाङ्के—

‘रामः—

किं देव्या न विचुम्बितोऽस्मि बहुशो मिथ्याभिप्राप्रस्तदा ।’ इति ।

(१२—उपपत्ति)

उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये ॥ २०३ ॥

-यथा वध्यशिलायाम्—

‘म्रियते म्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति ।

तां यदीच्छसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममासुभिः ॥’

(१३—आशंसा)

आशंसनं स्यादाशंसा—

-यथा श्मशाने—

‘माधवः—

तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम् ।’ इति ॥

(१४—अध्यवसाय)

—प्रतिज्ञाध्यवसायकः ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

अनुवाद—‘पश्चात्ताप’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे मोहवश अवधीरित वस्तु के । अनुताप का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अनुतापाङ्क’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राम—ओह ! सीता ने मुझ पर कितने प्रेमापराध लगाये, मेरा चुम्बन भी उ हवीकार न किया ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘पश्चात्ताप’ है ।

अनुवाद—‘उपपत्ति’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे कार्यसिद्धि के लिये उपयुक्त साधन का उपन्यास कहा गया है । जैसे कि, ‘वध्यशिला’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘जो तेरे मरने पर मर जायगी और जीने पर जीती रहेगी, उसे यदि जीवित रखना चाहता हो तो मेरे प्राण से अपने आपको बचा ले ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘उपपत्ति’ है ।

अनुवाद—‘आशंसा’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिये आशा का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘मालतीमाधव’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘माधव—यदि मैं काम के मङ्गलावास प्रियामुख को बारबार देखता तो कैसा अच्छा होता !’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘आशंसा’ है ।

अनुवाद—‘अध्यवसाय’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी कार्य पर आरुढ़ होने के निश्चय का वर्णन कहा गया है । जैसे कि, मेरी अपनी कृति ‘प्रभावतीपरिणय’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गजयानया ।

लीलयोन्मूलयान्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥’

(१२—विमर्ष)

विसर्पो यत्समारब्धं कर्मानिष्टफलप्रदम् ॥ २०४ ॥

यथा वेण्याम्—

‘एकस्यैव विपाकोऽयम्—’ इत्यादि

(१३—उद्देख)

कार्यग्रहणमुल्लेख—

यथा शाकुन्तले—राजा न प्रति—

‘तापसौ—समिधाहरणाय प्रस्थितावावाम् । इह चात्मदुःखो कष्वत्सव
कुत्तपनेः साविद्वेष इव शाकुन्तलयानुमालिनीतीरनाश्रमो दृश्यते । न चेदन्य-

(धा) नार्यातिपात प्रविश्य गृह्यतामतिथिसत्कारः’ इति ।

(१५—उद्देख)

—उत्तेजनमिति ध्यते ।

स्वकार्यसिद्धयेऽन्यस्य प्रेरणाय कठोरवाक् ॥ २०५ ॥

यथा—

‘इन्द्रजिघृक्षुर्वीर्योऽस्ति नान्तैव चलवानसि ।

यिग्विकप्रच्छन्नत्पेण दुष्यसेऽस्मद्भयाकुलः ॥’

‘वज्रनाभ—इनमें मैं अपनी इस गदा से इसकी छाती चुर-चुरकर लब में दोनों
लोकों का मनुष्येन्मूलन कर दिताता हूँ ।

आदि में, जो ‘ललङ्कार’ है वह ‘अप्यवसाय’ ही है ।

उत्तर—‘विमर्ष’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी अनिष्टकारक कार्यात्मन का
व्यवर्णन कहा गया है ।

जैसे कि ‘विनीमहार के प्रसंग ‘एकस्यैव विपाकोऽयम्’ आदि में जो नाट्यालङ्कार है
वह ‘विमर्ष’ ही है ।

उत्तर—‘उद्देख’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी कार्य के करने की स्वीकृति का
वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसंग व्यंश—

‘देवी तापन (राजा ने)—हम दोनों तो समिधा लाने निकले हैं । यहाँ नाट्य-
तीर पर माक्षद देवी की भाँति शाकुन्तला के सारस में, हमारे कुत्तपने कष्व का आश्रम
है । यदि आपकी कोई विनये कार्य न हो, तो वहाँ बलें और हमारा आविष्य स्वीकार करें ।
आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘उद्देख’ है ।

उत्तर—‘उत्तेजन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे अपनी कार्यमिष्टि के निमित्त, किसी
दूसरे को प्रेरित करने के लिये, कठोर वचन का व्यवसाय कहा गया है । जैसे कि
इस प्रसंग व्यंश—

‘इन्द्रजिघृक्षुः तो प्रवचनार्थ है, तब नाम से ही तबरी शक्ति का महत्त्व स्पष्ट हुआ

(१८—परीवाद)

भर्त्सना तु परीवादो—

यथा सुन्दराङ्के—

‘दुर्योधनः—धिग् धिक् सूत ! किं कृतवानसि ।

वत्सस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य पापं पापं विधास्यति—’ इत्यादि ।

(१९—नीति)

—नीतिः शास्त्रेण वर्तनम् ।

यथा शाकुन्तले—

‘दुष्यन्तः—विनीतवेषप्रवेश्यानि तपोवनानि ।’ इति ।

(२०—अर्थविशेषण)

उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकधा ॥ २०६ ॥

उपालम्भविशेषेण तत् स्यादर्थविशेषणम् ।

यथा शाकुन्तले राजानं प्रति—

‘शार्ङ्गरवः—आः कथमिदं नाम, किमुपन्यस्तमिति ? ननु भवानेव नितरां लोकवृत्तान्तनिष्णातः ।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।

अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥’

करता है, कितने दुःख की बात है कि तब भी तू मुझसे डर रहा है और छद्मरूप में मुझसे लड़ना चाहता है !

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘उत्तेजन’ है ।

अनुवाद—‘परीवाद’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे भर्त्सनायुक्त वचन का उपनिबन्ध कहा गया है । जैसे कि (वेणीसहार के) ‘सुन्दराङ्क’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुर्योधन—धिक्कार है तुझ सारथी को ! यह तूने क्या किया ? ओह ! अब तो वह नीच भीम मेरे प्रिय अनुज दुःसाधन को मार ही डालेगा ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘परीवाद’ ही है जो कि यहाँ इतिवृत्त को सुन्दर बना रहा है ।

अनुवाद—‘नीति’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे शास्त्रानुसरण का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुष्यन्त—तपोवन के भीतर चलना है । ऐसे वेष में चलना होगा जिसमें नम्रता झलके ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार-योजना है वह ‘नीति’ की ही योजना है ।

अनुवाद—अर्थविशेषण वह नाट्यालङ्कार है जिसे पूर्वोक्त भी अर्थ का, उपालम्भ के अभिप्राय से, अनेकवार पुनर्वचन कहा गया है । जैसे कि, ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘शार्ङ्गरव (राजा से)—ओह ! क्या तुमने कहा कि ‘यह सब क्या ?’ अरे लोक-वृत्तान्तनिपुण तुम्हारे जैसे राजा लोग होंगे, हम वानप्रस्थी भला ऐसे कहें—

देखा तो यही जाता है कि लोग, सती भी सधवा स्त्री पर, यदि वह अपने माता-पिता के घर ही रहती रहे, तरह तरह की शकाएँ करने लगते हैं । इसीलिए सभी माता-पिता यही

(२१—प्रोत्साहन)

प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनम् ॥ २०७ ॥

यथा बालरामायणे—

‘कालरात्रिकरालेय स्त्रीति किं विचिक्चिन्तसि ।

तज्जगत्त्रितयं त्रातुं तात ! ताडय ताडकाम् ॥’

(२२—साहाय्य)

साहाय्यं सङ्कटे यत्स्यात् सानुकूल्यं परस्य च ।

यथा वेण्याम्—कृपं प्रति—

‘श्रध्वत्थामा—त्वमपि तावद्वाज्ञं पार्श्ववर्ती भव ।

कृपः—वाञ्छाम्यहमद्य प्रतिकर्तुम्—’ इत्यादि ।

(२३—अभिमान)

अभिमानः स एव स्यात्—

यथा तत्रैव—

‘दुर्योधनः—मातः किमप्यसदृशं कृपण वचस्ते—’ इत्यादि ।

चाहते हैं कि उनकी विवाहिता पुत्री, चाहे वह अपने पति की प्यारी हो या न हो, पति के पास ही रहे ।

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘लयविशेषण’ है ।

अनुवाद—‘प्रोत्साहन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी को किसी कार्यमिद्वि की ओर प्रवृत्त करने के लिये, उत्साहवर्धक वचन का विन्यास कहा गया है । जैसे कि (महाकवि राजशेखरकृत) ‘बालरामायण’ के इस सदृश लयाव—

‘तात ! यह ताडका तू नहीं, कालरात्री भी एक विभीषिका है । त्रिभुवन की रक्षा के लिये इसे मारना ही उचित है ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘प्रोत्साहन’ है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के अनुसार ‘प्रोत्साहन’ का चार स्वरूप हैं—

‘उत्साहजननैः स्पर्धयैरौपम्यनम्रयैः ।

प्रतिस्तेरुगूढ च ज्ञेयं प्रोत्साहनं युषे ॥’ (नाट्यशास्त्र १६ १०)

जिन्होंने ‘अभिनवभारती’ द्वारा इसे चार स्वरूपों में जाना है कि ‘प्रोत्साहन’ के शास्त्राचार्य-नाट्य के द्वािकृतारों का मौन्दर्द निम्नता ज्ञात करना है ।

अनुवाद—‘साहाय्य’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे मङ्गलकाल में किसी दूसरे के प्रति महायता का उपवर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीमहार’ के इस सदृश लयाव—

‘अश्वत्थामा (कृप से)—आर भी अब महाराज के मनोप पहुँचे ।

कृप—मैं भी चाहता हूँ कि शत्रुओं से बदला ले लूँ ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘साहाय्य’ है ।

अनुवाद—‘अभिमान’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे अभिमानसूचक वाक्य प्रयोग कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीमहार’ के इस सदृश लयाव—

‘दुर्योधन—माँ ! तुम्हारी यात (लयाव पाण्डवों को माय देने की यात) यही ईश्वर-भरी और तुम्हारे लिये सर्वथा अनुचित भी लग रही है ।’

(२४—अनुवर्तन)

—प्रश्रयादनुवर्तनम् ॥ २०८ ॥

अनुवृत्तिः—

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—(शकुन्तलां प्रति) अयि ! तपो वर्धते ?

अनुसूया—‘शाणि अदिधिविसेसलाहेण’ [इदानीमतिथिविशेषलाभेन] इत्

(२५—उत्कीर्तन)

—भूतकार्याख्यानमुत्कीर्तनं मतम् ।

यथा बालरामायणे—

‘अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवहेवरे ।

गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहतः ।’ इत्यादि ?

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह अभिमान है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ‘अभिमान’ की यह परिभाषा है—

चार्यमाणस्तु बहुभिर्वचनैः कार्ययुक्तिभिः ।

न यः पर्यवतिष्ठेत् सोऽभिमानस्तु संश्रितः ॥ (नाट्यशास्त्र १)

और अभिनवभारतीकार ने इसे ‘अभिधान’ कहकर इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—

‘शीतांशोरमृतच्छटा यदि करा’ कस्मान्मनो मे मृशं

संप्लुप्यन्त्यथ कालकृष्टपटलीसंवाससधुक्षिता ।

किं प्राणान् न हरन्त्युत प्रियतमासंजल्पमन्त्राक्षरै-

र्वार्यन्ते किमु यद्विमोहविवशात् सन्तापतन्त्रा स्थितिः ॥’

के आधार पर इसे इस प्रकार समझाया है—

‘अत्र हि तादृशयर्थस्यार्थेन घटना कृता यस्यां कार्ययुक्तिभिः फलयोजनाभिः

चार्यमाणोऽपि वा न निवर्तते ।’.....‘तथाभूतोऽर्थोऽलौकिकस्वात्तावानुपायः’

जिससे ऐसा लगता है जैसे नाट्यालङ्कारों का नाम भी आचार्य-भेद से भिन्न-भिन्न चला गया है ।

अनुवाद—‘अनुवर्तन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे विनयपूर्वक किसी के सत्काराभि-
वर्णन कहा जाया करता है ।

जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘राजा (शकुन्तला से) कहिये, आप की तपस्या तो निर्विघ्न चल रही है ?

अनुसूया—अब विशेषतया, जब कि आप जैसे अतिथिविशेष मिल गये हैं ।’

आदि में, ‘अनुवर्तन’ का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

अनुवाद—‘उत्कीर्तन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे भूतपूर्व कार्यों अथवा वृत्तान्तों
उपवर्णन कहा गया है । जैसे कि, इस सन्दर्भ अर्थात्—‘यही वह स्थान है जहाँ हम लोग नागपाश में बाँधे गये थे, यह वह स्थान है
सुम्हारे देवर की छाती में मेघनाद की शक्ति (अस्त्रविशेष) ने चोट की थी और हनु
उनके लिये द्रोणाचल (के साथ-साथ संजीवनी वृद्धी) ठठा लाये थे ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘उत्कीर्तन’ है ।

(२६—याच्ना)

याच्ना तु कापि याच्ना या स्वयं दूतमुखेन वा ॥ २०६ ॥

यथा—

‘अद्यापि देहि वैदेहीं दयालुस्त्वयि राघव’ ।
‘शिरोभि’ कन्दुकक्रीडा किं कारयसि वानरान् ॥’

(२७—परिहार)

परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम् ।

यथा—

‘प्राणप्रचाणदु त्वार्तं उच्चवानस्न्यनक्षरम् ।
तत्क्षमस्व विभो । किं च सुग्रीवस्ते समर्पित ॥’

(२८—निवेदन)

अवधीरितकर्तव्यकथनं तु निवेदनम् ॥ २१० ॥

यथा राघवाभ्युदये—

अनुवाद—‘याच्ना’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे स्वयं या दूतमुख से, किसी से किसी वस्तु की याचना का उपनिबन्ध कहा गया है । जैसे कि, इस संदर्भ अर्थात्—

‘अभी समय है तुम सीता को लौटा दो । राक्षसों के मुण्डों से वानरसैनिकों की कन्दुक-क्रीडा क्यों प्रारम्भ कराओ ? राम दयालु हैं । सोच लो ।’
छाटि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘याच्ना’ है ।

विमर्श—नरन-नाट्यशास्त्र में ‘याच्ना’ का यह उदाहरण है—

‘आदौ यत्क्रोधजननमन्ते हर्षप्रवर्धनम् ।

यत्र प्रियं पुनर्वाक्यं न याच्ना परिकीर्तिता ॥’ (नाट्यशास्त्र . १६ ००)

जिसे अनिवार्यकारणों से अपनी इस स्वरचित मूर्ति स्मरित—

‘भूमि’ कण्ठकिनी पुरो विटपिनि प्रायो यहृपट्रवा
भूयश्चैष दिवाकरो नृगयने मन्ध्यान्नासन्नम् ।
तद्विधन्य जनोऽयमत्र मदने प्राग्योचितं सेव्यता
प्रातः पान्य विचार्य चेतमि चिर स्यातामि गन्तामि वा ॥’

के आधार पर इस प्रकार मन्त्राया है—

‘प्रथम यत्तदात्वे पश्यमायत्या च मत्फलं वस्तुच्यते ततश्च प्रियम् । पुन शब्दात्ततो हितं पुन प्रियमित्येवं प्रयोध्यस्य प्रयोधधिया याचनाद् याच्ना ।’

अनुवाद—‘परिहार’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी पूर्वकृत अनुचित कार्य के परिहार का वर्णन कहा गया है जैसे कि इस संदर्भ अर्थात्—

‘हे राम ! अपने प्राणों के वियोग में व्याकुल मैंने तुम्हें जो भी अनुचित कहा उसके लिये क्षमा चाहता हूँ । तुम्हारी सेवा के लिये सुग्रीव को सौंप रहा हूँ ।’
छाटि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘मार्जन’ है ।

अनुवाद—‘निवेदन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे पहले तिरस्कृत विषय का पुनः स्वीकार-वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘राघवानुदय’ के इस संदर्भ अर्थात्—

‘लक्ष्मणः—आर्य ! समुद्राभ्यर्थनया गन्तुमुद्यतोऽसि तत्किमेतत् ।’

(२९—प्रवर्त्तन)

प्रवर्त्तनं तु कार्यस्य यत्स्यात्साधुप्रवर्त्तनम् ।

यथा वेण्याम्—

‘राजा—कञ्चुकिन् । देवस्य देवकीनन्दनस्य बहुमानाद्वत्सस्य भीमसेनस्य विजयमङ्गलाय प्रवर्त्त्यन्तां तत्रोचिताः समारम्भाः ।’

(३०—आख्यान)

आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः—

यथा तत्रैव—

‘देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः—’ इत्यादि ।

(३१—युक्ति)

—युक्तिरर्थावधारणम् ॥ २११ ॥

यथा तत्रैव—

‘यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।

अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिन यशः कुरुष्वम् ॥’

‘लक्ष्मण—आर्य ! आप तो समुद्र की ही अभ्यर्थना से प्रयाण के लिये उद्यत हुए, लेकिन अब क्या ?’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘निवेदन’ है ।

अनुवाद—‘प्रवर्त्तन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी अभिलषित कार्य की ओर प्रवृत्ति-वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—कञ्चुकी ! भगवान् देवकीनन्दन कृष्ण के कहने से, भीमसेन के विजयमङ्गल की तैयारियाँ शुरू हों ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘प्रवर्त्तन’ है ।

अनुवाद—‘आख्यान’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे पूर्ववृत्तान्त का अनुवर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अश्वत्थामा—यही वह स्थान है जहाँ शत्रुओं के रक्तजल से जलाशय भर दिये गये थे ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘आख्यान’ है ।

अनुवाद—‘युक्ति’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे उद्देश्य-निश्चय का वर्णन कहा गया है । जैसे कि, ‘वेणीसहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अश्वत्थामा—वीरो ! यदि सग्राम के अतिरिक्त अन्यत्र मरने का डर नहीं तब तो भाग जाओ । लेकिन, यदि एक न एक दिन सबको मरना ही है तो वीरयश को क्यों कलङ्कित करते हो ?’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘युक्ति’ है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ‘युक्ति’ का यह स्वरूप है—

‘साध्यते योऽर्थसम्बन्धो महद्भि समवायतः ।

परस्परानुकूल्येन सा युक्तिः परिकीर्तिता ॥’ (नाट्यशास्त्र : १६. ३५)

(३२—प्रहर्ष)

प्रहर्षः प्रमदाधिक्यं—

यथा शाकुन्तले—

राजा—उत्किमिदानीमात्मानं पूर्णमनोरथं नाभिनन्दामि ।

(३३—उपदेशः)

—शिक्षा स्यादुपदेशनम् ।

यथा तत्रैव—

‘सहि. पा जुत्तं अत्समवासिणो जणस्स अकिञ्चकार अविधिविसेत्तं उक्खिअ सच्चन्द्रदी गमनम्’ [‘सहि’ = ‘सुखानुपवसिणे अत्स अत्समकारण-विधिविशेषमुक्खिता स्वच्छन्दगे गमनम्’] ।

(नाट्य-रसज्ञ और नाट्य-तज्ञ ‘वाल्मीकि ऐक्यञ्च और भेद-निर्देशन की परम्परा)

एषां च लक्षणनाट्यालङ्काराणां सामान्यत एकत्वत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गङ्गुलिकप्रवाहेण ।

जिसे अनिन्दनारतोंनार ने इस मूर्ति बर्णित—

‘लावण्यनिष्ठपरैव हि केचनत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह मंथयन्ते ।
उन्नमति द्विरदकुम्भतटे च यत्र
यत्रानरे कदलिकाण्डसृगातदण्डा ॥’

के जानार पर इस प्रहार मन्द निन्द है—

अत्र महर्षिलक्ष्मैर्नववदनादिभिः परस्परशोभा नक्तानुवृत्त्योपलब्धितेन मनवायेनैक-विधानपार्थ्यं तवत्प्रमान उच्यते नानोऽनूर्वतरहिमोलङ्घनं नापित इति योजनादियं युक्तिः । प्रतीयमानं रूपकमत्रेति चेत् किं ततः शरीरं लङ्घनयनेवेत्युक्तमनङ्गम् ।

बनुवद—‘प्रहर्ष वह नाट्यालङ्कार है जिसे अनन्दान्तिके का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग बर्णित—

‘राजा—तब तो सुते अपने आप के पूर्णमनोरथ मनसने हुए प्रमदता में भर उठना चाहिये ।

जादि मैं, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘प्रहर्ष’ है ।

बनुवद—‘उपदेशन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे शिक्षादान का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के ही इस प्रसङ्ग बर्णित—

‘अनसूया—अरी मर्त्यो ! हम लोग काग्रम के रहनेवाले हैं इसलिए किसी अनिष्ट-विशेष का मङ्कार किये बिना, स्वच्छन्दता में कहीं चला जाना, हमारे लिये ठीक नहीं ।’

जादि मैं, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘उपदेशन’ है ।

बनुवद—अब तक जिन ‘मूपा’ जादि नाट्यालङ्कारों और ‘आमी’ जादि नट्यालङ्कारों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया उनके मङ्गल्य में यह जान लेना आवश्यक है कि वस्तुतः तो नाट्य के ‘लङ्घन’ और ‘अलङ्कार’ एक ही तत्व हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य नाट्य के इच्छित-शरीर की शोभाषायकता ही है । अथ नाट्यालङ्कारों ने जो उन्हें निम्न निम्न नाम और रूप का मान रखा है उसका एक ही कारण प्रतीत होता है और वह ‘गङ्गुलिकप्रवाह’ अथवा ‘गङ्गुलिकविकृता’ है ।

(नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार उपयोग-भेद और अनिवार्य योजना
एषु च केषांचिद्गुणालङ्कारभावसंध्यङ्गविशेषान्तर्भावोऽपि नाटके
कर्त्तव्यत्वात्तद्विशेषोक्तिः ।

एतानि च—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःपट्यङ्गसंयुतम् ।
षड्विंशलक्षणेपेतमलङ्कारोपशोभितम् ॥
महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम् ।
महापुरुषसत्कारं साध्याचारं जनप्रियम् ॥
सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोग सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिधानं च कविं कुर्यात्तु नाटकम् ॥

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'नाट्यलक्षणालङ्काराभेदवाद' भरतमुनि
मान्यता अर्थात्—

'पटत्रिंशदेतानि तु लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषणसमितानि ।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु ॥

(नाट्यशास्त्र)

के आधार पर प्रवृत्त हुआ है। उचित भी यही है कि 'लक्षण' और 'अलङ्कार' का
माना जाय। विश्वनाथ कविराज ने यहाँ वस्तुदृष्टि अपनायी। यह तो अच्छा ही किया
पहले ही यदि 'लक्षण' और 'अलङ्कार' का ऐकरूप्य निर्दिष्ट कर दिया गया होता
पृथक् विवेचन का यह सब आयास-प्रयास न करना पड़ा होता। ऐसा लगता है कि मा-
कार के प्रभाव में पढ़ने से साहित्यदर्पणकार ने यह सब दुर्घट प्रयास किया है।

अनुवाद—ऊपर निरूपित नाट्य लक्षणों और नाट्यालङ्कारों में कतिपय ऐसे हैं
और 'अलङ्कार' हैं जो माधुर्यादि गुण, रूपकादि अलङ्कार, विभावादि भाव किंवा
सन्ध्यङ्गों में स्वभावतः अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं। किन्तु तब भी इन्हें गुण, अल-
और सन्ध्यङ्गों से पृथक् मानकर जो निर्दिष्ट किया गया उसका एक कारण है और
है कि काव्य-नाट्य में लक्षणयोजना और अलङ्कारयोजना के प्रति कवि को
होने की आवश्यकता है। इसीलिये नाट्याचार्य भरतमुनि की यह मान्यता है—

'कवि को ऐसे नाटक की रचना करनी चाहिये जिसमें सन्धिपञ्चक का वि-
वृत्तिचतुष्टय का उपनिबन्ध हो, ६४ सन्ध्यङ्गों की योजना हो, ३६ लक्षणों का
हो, अलङ्कारों की शोभाधायकता हो, पुरुषार्थोपयुक्त रसों का सञ्चार हो, अ-
मनोरञ्जक रसभावों का अनुप्राणन हो, शब्द और अर्थ के गुणों का समुचित
महापुरुषों के चरित की चर्चा हो, जीवनोपदेश की भरमार हो, सामाजिक
मनोरञ्जनसामग्री हो, सन्धियों और सन्ध्यङ्गों का सुसश्लिष्ट विन्यास हो, ला-
योजना हो, छन्दों और वृत्तों का वैचित्र्य हो और मधुर किंवा प्रसन्न शब्दों द्वारा
हो (नाट्यशास्त्र : १९. १३९-१४१) ।

तात्पर्य यह है कि नाटक में लक्षण और अलङ्कारों की योजना अत्यन्त अ-
क्योंकि इससे रसाभिव्यञ्जन का संबन्ध है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज 'अभिनवभारती' की लक्षणमीमांसा से पूर्ण परिचित
उन्होंने लक्षण के संबन्ध में अभिनवभारतीकार की 'दशपक्षी' का निर्देश किया है।

और 'गुण' का वास्तविक स्वरूप और व्यावहारिक भेद भी 'क' लक्ष्यविषयक सिद्धान्त है जैसा कि 'अभिनवभारती' की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'एकैषा तु दर्शन—कवेर्यं प्रतिभाता प्रथमपरिस्पन्द' तद्व्यापारवलोपनता गुणा, प्रतिभावत एव हि रमान्वित्यञ्जनमामर्ष्यं माधुर्यादेत्यनिबन्धनमामर्ष्यं, न नामान्यकवे । वनेन शब्देनेन वस्तु वर्णयामीत्येवभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापारसपाचास्वलङ्कारा ।'

'शब्दानमीनि शब्दरंर्यान्मीभिरर्थे' सषट्पयामीत्येवनाम्नकस्तु यस्तृतीयः कवे परिस्पन्द' तदधोनाम्नलानादिशब्दान्मार्थात्मककाव्यशरीरसञ्चितानि वक्ष्यमाणग्लेपादि-गुणदशकसमन्वित्यञ्जनपराणि शब्दायोपसत्कारकलानि क्रियारूपाणि लज्जगानीनि, यदुक्त तत्रैव—

काव्येष्यसि तथा कश्चित् स्निग्ध स्वरसोऽर्थशब्दयो ।

य. ग्लेपादिगुणव्यक्तिद्वयं स्याद्वज्जस्थितः ॥'

(अभिनवभारती . नाट्यशास्त्र : १६ अध्याय

अर्थात् 'गुण', 'अन्तार' और 'लक्षणा' वि की श्रेणियों के विविध स्वरूप में भी विविध रूप हैं । कविशिल्पी का प्रथम उन्मेष माधुर्यरूप में, द्वितीय उन्मेष अन्तारप्रयोजना में और तृतीय उन्मेष लक्षणास्वरूप में परिस्पन्दित होता है । किन्तु शब्दों का सम्बन्ध गुणनवैविध्य और शब्दों का वास्तविक स्वरूपनैवैविध्य ईमे 'गु' का स्वरूप है ईमे ही 'लक्षणा' का भी और इन दृष्टि में 'गु' और 'लक्षणा' का स्वरूप भी है ।

इस भाँति 'लक्षणा' और 'अन्तार' का भी स्वरूप और भेद लक्ष्यविषयक ही सिद्धान्त है । जो कि अभिनवभारती की निम्न पंक्तियों में प्रतीत होता है—

'काव्ये तावद्वज्ज शरीर, तत्सोपमात्रयन्त्रयोऽर्थभागो, यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते तथोपमानेन शशिना तन्माहम्येन वा कविवुद्धिचञ्चलतया परिवर्तमानत्वात् पृथक् मिद्वेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुन्दरीक्रियत इति तदेवालङ्कारः । उपाध्यायन-तन्तु—लक्षणाबलादलङ्काराणां वेचित्यमागच्छति । तथा हि—गुणानुवादानाग्न लज्जगेन योगात् प्रशमोपमा, जतिशयनान्नाऽतिशयोक्तिः, मनोरथान्वयेनाप्रस्तुतप्रशंसा, निराध्वममायेनापहृतिः, मिद्वया तुल्ययोगितेति, एवमन्यदुल्लेखम् । लज्जगानाद्य परस्परवेचिन्यादप्यनन्तो विचित्रभावः, यथा प्रतिपेधमनोरथयोः समेलनादाज्ये इति ।'

(अभिनवभारती . अज्जय १० ।

अर्थात् 'लक्षणा' और 'अन्तार' में उन्मेषनैवैविध्यमान होने में दोनों पक्षों में ही और 'लक्षणा' और 'अन्तार' के वास्तविक वैविध्यमयो में भूत वास्तविक की दृष्टि में दोनों का सम्बन्ध भी सम है ।

'लक्षणा' और 'अन्तार' के भेदभेद का भी सिद्धान्त लक्ष्यविषयक ही सिद्धान्त है जैसा कि निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है—

'अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तवण्डलकान्येव मन्यन्तक नि लज्जगानीनि च व्यपदिश्यन्ते । निमित्तमेदात् पूर्वापरमन्यधेन दीजेपक्षितेऽर्थे निबन्धनपर्यन्ते परस्परमन्यापक्येन मन्यन्त-तया व्यपदेशः, रमविशेषयोगितया वृत्त्यध्याचोपुक्तिः, काव्यगतानिनागमन्योपयोति-तया महापुरुषगतपादपञ्चादग्नेवादिवह्वज्जदृष्टवाच्यता' (अभिनवभारती . अध्याय १६) अर्थात् 'लक्षणा' और 'लक्षणा' स्वरूप भी है और सिद्धान्त भी । इतिवृत्त शरीर के मन्यन्त होने के लिये भी 'लक्षणा' और 'अन्तार' स्वरूप है किन्तु निमित्तभेद में दोनों में भेद का सिद्धांत है । इतिवृत्तों में, इन दृष्टि में कि वे पक्षों में इन्हें में सिद्ध है, लक्षणा

इति मुनिनोक्तवान्नाटकेऽवश्यं कर्तव्यान्येव ।

(वीथ्यङ्गः संकेतः)

वीथ्यङ्गानि वक्ष्यन्ते ।

(लास्य के अङ्ग - निर्देश)

लास्याङ्गान्याह—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ॥ २१२ ॥

प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ।

उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ॥ २१३ ॥

लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गमुक्तं मनोपिभिः ।

(१—लास्याङ्ग गेयपद)

तत्र—

तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ॥ २१४ ॥

शुद्धं गानं गेयपद—

यथा—

गौरीगृहे वीणा वादयन्ती मलयवती—

ना शरीर-संस्थान वनात् इह 'सन्ध्यङ्ग' कहा जा सकता है और इस दृष्टि से कि इनके द्वारा काव्य में ख्याति और प्रशस्ति आया करती है, 'लक्षण' भी माना जा सकता है ।

'लक्षण' और 'विभाव' के भेदाभेदवाद में भी उपर्युक्त दृष्टि ही कारणरूप से दिखाई देती है ।

(ख) 'लक्षण' के सम्बन्ध में इस दशपक्षी का निष्कर्ष 'गड्डुलिकाप्रवाह' के रूप में तो निकाला जा सकता है जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने निकाला है किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि साहित्यदर्पणकार इस 'गड्डुलिकाप्रवाह' में प्रवाहित कैसे हुये ।

अनुवाद—नाटक में वीथ्यङ्गों का भी उपयोग है । 'वीथी' के जो-जो अङ्ग हैं उनका वेवेचन यथावसर किया जा रहा है ।

अनुवाद—(नाट्योपयोगी) लास्याङ्गों का निरूपण किया जा रहा है—लास्य के ये १० अङ्ग हैं जो नाट्य के लिए उपयोगी हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ, (७) सैन्धव, (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उक्तप्रत्युक्त ।

विमर्श—कवि और आमनेता के लिये नाट्य में लास्याङ्गों का समुचित विनियोग इसलिये आवश्यक माना गया है क्योंकि इससे 'रञ्जनावैचित्र्य' की निष्पत्ति हुआ करती है । आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—'यानि लास्याङ्गानि वक्ष्यन्ते तेभ्यः कश्चिद्वचिष्यांशो लोकापरिदृष्टोऽपि रञ्जनावैचित्र्याय कविप्रयोक्तृभिर्नाट्ये निबन्धनीयः ।'

(अभिनवभारती - नाट्यशास्त्र १९ १२०)

अनुवाद—'गेयपद' वह लास्याङ्ग है जिसे तन्त्री भाण्ड अर्थात् सर्वविध आतोद्यपूर्वक, रगमच पर, स्वस्थ चित्त बैठे हुये गायकों का शुद्ध (वस्तुतः शुष्क अथवा अभिनयशून्य) गायन कहा जाया करता है । जैसे कि 'रत्नावली' में प्रयुक्त, पार्वतीमन्दिर में वीणा बजाती 'मलयवती' का—

‘उत्सुककमलकेसरपरागगौरद्युते । मम हि गौरि ! ।
अभिवाञ्छितं प्रतिष्यतु भगवति । युष्मत्प्रसादेन ॥’

(२—न्यतपाठ्य)

—स्थितपाठ्यं तदुच्यते ।

मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता ॥ २१५ ॥

अभिनवगुप्तपादास्त्वाह —

उपलक्षणं चैतन् । औघोद्भ्रान्तस्यापि प्राकृतपठनं स्थितपाठ्यम् । इति ।

(३, ४, ५—आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक)

निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्वितावला ।

अप्रमाधितगात्रं यदासीनासीनमेव तन् ॥ २१६ ॥

आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविगानि च ।

स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका ॥ २१७ ॥

‘विक्रमित कमलकेसरपराग मो गौरवर्ज वाली भगवति गौरि । आर्य को अनुकम्पा हो, मेरे मनोरथ पूर्ण हों ।

आदि अभिप्रायपूर्ण गान ‘गेयपद’ नामक लाम्पाद की ही योजना है ।

विमर्श—अर्थात् अभिनवगुप्त के अनुसार ‘गेयपद’ यह है—

‘श्रुवागानपञ्चकमन्तरालापन्वरहित यत्र प्रयोगयोग्य भवति, स काव्यप्रयोगो गेयपदमिच्छुक्त भवति’ अभिनवभारती : १३ १०१)

अन्वय—‘स्थितपाठ्य’ वह लाम्पाद है जिसे किसी कामशीलता का, भावावेश के साथ प्राकृतसूक्तिपाठ कहा गया है ।

‘स्थितपाठ्य’ के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत है—भरतमुनि का ‘न्यतपाठ्य’ के सम्बन्ध में यह कथन कि यह ‘मदनानलनसाग्नि’ का प्राकृतपाठ है वस्तुतः यह अभिप्राय रखता है कि श्लेष में पाठ्य व्यक्ति का जो प्राकृतपाठ ‘न्यतपाठ्य’ ही है (क्योंकि यहाँ ‘मदनानलनसाग्नि’ पद श्लेषादिके भावेश में आये लोगों का उपलक्षण है) ।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने आचार्य अभिनवगुप्त को ये समझा है—

‘एतद्भावेशोपलक्षणं तेन श्लेषाविष्टेऽपि मस्त्वेन पठनीयाद्यपि (स्थितपाठ्यमेव) मननव्यम् ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि भावेशोपलक्षण ने स्तुति के अन्धा से अभिनवगुप्तपाठ के मत का इतना किया है ।

अन्वय—‘आसीन’ वह लाम्पाद है जिसे शोकाकुला किंवा चिन्ता में दृष्टी अभिनेत्रां शुन्दरी का, जिना किसी आनन्द और चिन्ता किसी गात्रप्रसर (आह्वित अभिनय) के, रगमत् पर आसीन होना कहा जाया करता है । ‘पुष्पगण्डिका’ उस लाम्पाद को कहते हैं जिनमें विविध छन्दों में आतोद्य के साथ गान हुआ करता है और जो पुरर दन्तर और पुरर को घने अभिनय किया करते हैं । और ‘प्रच्छेदक’ वह लाम्पाद है जिसे किसी

अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।

वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥ २१८ ॥

(६—त्रिगूढक)

स्त्रीवेषधारिणां पुंसां नाट्यं श्लक्ष्णं त्रिगूढकम् ।

यथा मालत्याम्—

‘मकरन्दः—एषोऽस्मि मालतीसंवृत्तः ।’

सुन्दरी का, अपने पति को किसी अन्य सुन्दरी के प्रति अनुरक्त देख, प्रेमभङ्ग के कारण, वीणावादनपूर्वक गान कहा गया है ।

विमर्श—‘आसीन’नामक लास्याङ्ग को करुणरसप्रधान नाट्य का उपरञ्जक कहा गया है । (आसीनपाठ्याहुपजीवितेनासनांशेन योगतश्च सर्वत्र करुणादौ रक्षनोपयोगि—अभिनव भारती) ।

‘पुष्पगण्डिका’ का तात्पर्य अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह है—‘मालासादृश्यात् पुष्पगण्डिका गाननृत्तगीतगतवैचित्र्ययोगात्’ । अर्थात् माला की भाँति जहाँ मृत्, गान और गीत का सम्मिश्रण-वैचित्र्य हो वह ‘पुष्पगण्डिका’ है ।

नाट्यशास्त्र में ‘प्रच्छेदक’ का यह लक्षण है—

‘प्रच्छेदकस्स विज्ञेयो यत्र चन्द्रातपाहताः ।

स्त्रियः प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विप्रियकारिषु ॥’ (नाट्यशास्त्र : १९. १२६)

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार समझाया है—

‘प्रच्छेदक’ इति लास्यविधाने (नाट्यशास्त्र . अध्याय ३१) वक्ष्यते । ‘ज्योत्स्नायां मदिरायां वा दर्पणे सलिलेऽथवा । छायासादृश्यान्तस्य प्रहर्षार्थविभूषितम् ।’ इति (नाट्यशास्त्र : अध्याय ३१) त्रिधा प्रच्छेदकस्य लक्षणमुक्तम् । तत्र जलक्रीडायां जले, प्रसाधने दर्पणे, पानगोष्ठ्यां पान ईषत्प्रतिफलिततत्तदाकृतिदर्शने सति कान्ताया प्रहर्ष इति त्रिधा प्रच्छेदं प्रतिविफलनमितिपर्यायात् एवं रसोपयोग्यलौकिककालविशेषग्रहणं प्रच्छेदकाहुपजीवितम् । यदाहुरुपाध्यायपादाः—

यद् यत्रास्ति न तत्रास्य कविर्वर्णनमर्हति ।

यन्नासंभवि तत्रास्य तद्वर्ण्यं सौमनस्यदम् ॥

देशोऽन्विदन्तुरो धीर्वा तटित्कुण्डलमण्डिता ।

ईदृक्स्यादथवा न स्यात् किं कदाचन कुत्रचित् ॥ इत्यादि ।

अनुवाद—‘त्रिगूढक’ वह लास्याङ्ग है जिसे स्त्रीवेषधारी पुरुषनों का मनोहर अभिनय कहा गया है । जैसे कि ‘मालतीमाधव’ में ‘मकरन्द’ का ‘मालती’रूप में जो अभिनय है वह ‘त्रिगूढक’ नामक लास्याङ्ग है (जिसकी, भवभूति ने, अपने मालतीमाधव में योजना की है) ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ‘त्रिगूढक’ की यह परिभाषा है—

‘अनिष्टुरश्चरणपदं समवृत्तैरलङ्कृतम् ।

नाट्य पुरुषभावाद्यं त्रिगूढकमिति स्मृतम् ॥’ (नाट्यशास्त्र : १९. १३०)

(७—सैन्धव)

कश्चन भ्रष्टसंकेतः सुव्यक्तकरणान्वितः ॥ २१६ ॥

प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत्सैन्धवं मतम् ।

करण वीणाविक्रिया ।

(८—द्विगूढक)

चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम् ॥ २२० ॥

द्विगूढं रसभावाढ्यम्—

अनुवाद—‘सैन्धव’ वह लास्याङ्ग है जिसे (रसाभिन्यजनसमर्थ) वीणावादन-पूर्वक, किसी ‘भ्रष्टसंकेत’ (रसोचित ध्वनिविकार को भूले हुये) अभिनेता का, प्राकृत प्रायः सूक्तिओं का पाठ कहा गया है। यहाँ ‘करण’ का अभिप्राय वीणादिवादन का अभिप्राय है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ‘सैन्धव’ अथवा ‘सैन्धवक’ नामक लास्याङ्ग का यह लक्षण है—

‘पात्र विभ्रष्टसंकेतं सुव्यक्तकरणान्वितम् ।

प्राकृतं वचनैर्युक्तं विदुः सैन्धवकं बुधा ॥’ (नाट्यशास्त्र . १९-२३)

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘अथ सैन्धवकादुपजीव्यमश स्वीकर्तुमाह—पात्र विभ्रष्टसंकेतमिति—

सैन्धवीमाश्रिता भाषा ज्ञेय तत्सैन्धव बुधैः । सूषवाद्यादिसयुक्तम्’ इति च लास्याङ्ग विधाने (अध्याय ३१) वक्ष्यते । तत्र यदा नान्यप्राकृतादिभाषोपकरणरथेन सैन्धवी-प्राया आश्रीयते तद्रसोपयोगि रञ्जनाधिक्यात्, अलौकिकोऽयमर्थो रञ्जनोपयोगी लास्याङ्गात् स्वीकृतो भवति । तथा हि शृङ्गाररसे सातिशयोपयोगिनी प्राकृतभाषेति सट्टक कर्पूरमञ्ज-र्याख्यो राजशेखरेण तन्मय एव निबद्ध भेजलेन राधाविप्रलम्भारयो रासकाङ्क्ष सैन्धव-भाषाबाहुल्येन, चन्द्रकेन स्वानि रूपकाणि वीररौद्राधिकोपयोगिनि सस्कृतभाषयैव । अत एव च तत्तद्रसोपयोगतारतम्यादेवैकतमस्यातोऽन्यस्यात्र प्राधान्यं कल्प्यते ।

(अभिनवभारती १० १३१)

अर्थात् रसोचित ‘सैन्धवी’ आदि प्राकृतभाषानिबद्ध सूक्ति का पाठ सैन्धव है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ‘सैन्धव’ नामक लास्याङ्ग का करपना ‘सैन्धवी’ भाषा-निरुद्ध पाठादि के कारण हुई है न कि चञ्चल पुरुष द्वारा प्रयुक्त होने के कारण, जैसा कि ‘माहित्यदर्पण’ के एक संस्कृतव्याख्याकार ने कहा है—‘कश्चन पुरुषो यत्र प्राकृत वचनं वक्ति तत्र सैन्धवे-नाश्वेनेव चञ्चलेन पुरुषेण प्रयुक्तत्वात् सैन्धव नाम लास्याङ्गं विदुः’ । यथा—स्वप्नवासवदत्ते- (राजा)—श्रुतिसुखनिनन्दे कथं नु देव्या । इत्यादि ।

(माहित्यदर्पण ‘लक्ष्मी’ व्याख्या पृष्ठ ४३३)

अनुवाद—‘द्विगूढक’ वह लास्याङ्ग है जिसमें ‘मुख’ और ‘प्रतिमुख’ नामक अर्थों में युक्त किंवा रसभावरमणीय चतुरस्रपद गीत की योजना हुआ करती है ।

विमर्श—माहित्यदर्पण की नस्कृत और हिन्दी व्याख्याओं में ‘मुखप्रतिमुखान्वितम्’ पद में ‘मुख’ और ‘प्रतिमुख’ सन्धि का अभिप्राय लिया गया है (विमर्श टीका . पृष्ठ ३०५ और लक्ष्मी टीका, पृष्ठ ४२३) जो कि सर्वथा असंगत है । अभिनवभारतीकार ने स्पष्ट कहा है—‘मुख-प्रतिमुखौ सन्धी हृत्येतदपि न समीचीनम् अनुपयोगादस्यार्थस्य, ‘मुखप्रतिमुखे गीतका-द्वयेन हि’ इत्यादि ।

(९—उत्तमोत्तमक)

—उत्तमोत्तमकं पुनः ।

कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम् ॥ २२१ ॥

(१०—उक्तप्रत्युक्त)

हावहेलान्वितं चित्रश्लोकबन्धमनोहरम् ।

उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत् ॥ २२२ ॥

विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ।

स्पष्टान्युदाहरणानि ।

(महानाटक क्या है)

एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्युतम् ॥ २२३ ॥

अङ्कैश्च दशभिर्धोरा महानाटकमूचिरे ।

एतदेव नाटकम् ।

अनुवाद—‘उत्तमोत्तमक’ वह लास्याङ्ग है जिसे कोप किंवा प्रसादसम्भूत, आक्षेप उत्तरोत्तर रसमनोहर, हेला तथा हाव से युक्त और चित्र-विचित्रपद-बन्धमय गा कहा जाया करता है ।

विमर्श—‘उत्तमोत्तमक’ की यह निरुक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘उत्तमानि तावद्वास्याङ्गानि, तेभ्योपीदमुत्तमम्, सर्वं हि रसपर्यायीति दर्शितं प्रा ततः सज्ञायां कन्’ (अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र १९ १३४)

अनुवाद—‘उक्तप्रत्युक्त’ वह लास्याङ्ग है जिसे आकाशभाषित, स्वगत आदि रूप (अलीकवत्) उक्ति प्रत्युक्तिमय, उपालम्भपूर्ण, विलासयुक्त गीतप्रयोग कहा गया है । इसके और पूर्वनिर्दिष्ट लास्याङ्गों के उदाहरण स्पष्ट हैं ।

विमर्श—लास्याङ्गों के प्रयोग और उपयोग का परम प्रयोजन नाट्य का रजनावैचित्र्य जो कि रसास्वाद में सहायक है । अभिनवभारतीकार ने स्पष्ट कहा है—

‘तथा ह्यलौकिककैशिक्युपयोगि रसाशे सर्वथोपकारि यद्वैचित्र्यं तद्वास्याङ्गद्वारेणाह ।’

किन्तु साहित्यदर्पणकार के लिये यह सब लास्याङ्गसम्बन्धी रजनावैचित्र्य-निरूपण पर का अनुसरण मात्र लगता है न कि समसामयिक रङ्गमञ्च की परिस्थिति का उपवर्णन ।

अनुवाद—वह नाटक ‘महानाटक’ कहा जाया करता है जिसमें चतुर्विध पताकास्था की योजना रहा करती है और जिसका वस्तु-चरित-वर्णन १० अङ्कों में किया गया होता यहाँ कारिका में ‘एतदेव’ से ‘नाटक’ का अभिप्राय लिया गया है (न कि पूर्वपरा उक्तप्रत्युक्तरूप लास्याङ्ग का) । महानाटक के उदाहरणरूप में (महाकवि राजशे कृत) ‘बालरामायण’ नाटक लिया जा सकता है ।

विमर्श—‘महानाटक’ की कल्पना ‘महाकाव्य’ की कल्पना सरीखी है । यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अलङ्कारशास्त्र में ‘महारस’ की कोई कल्पना नहीं और इसलिये ‘महानाटक’ अथवा ‘महाकाव्य’ का नियामक रस-विस्तार नहीं अपि तु शरीर-विस्तार ही है ।

यथा—

बालरामायणम् ।

(२५ रूपक-भेद : प्रकरण * सभेद निरूपण)

अथ प्रकरणम्—

• भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥ २२४ ॥

शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ।

सापायधर्मकामार्थपरा धोरप्रशान्तकः ॥ २२५ ॥

विप्रनायक यथा मृच्छकटिकम् । अमात्यनायक मालतीमाधवम् । वणि-
ङ्गनायक पुष्पभूषितम् ।

नायिका कुलजा कापि वेश्या कापि द्वयं क्वचित् ।

तेन भेदाख्यस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः । २२६ ।

कितवधूतकारादिविटचेटकसंकुलः ।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते । वेश्या तु रङ्गवृत्ते । द्वे अपि मृच्छकटिके । अस्य नाट-
कप्रकृतिवाच्येप नाटकवत् ।

अनुवाद—‘प्रकरण’ वह रूपकविशेष है जिसका वृत्त लौकिक किंवा कवि-कल्पित हुआ करता है, जिसमें शृङ्गार की अभिव्यञ्जना अङ्गी-रस के रूप में हुआ करती है, जिसका नायक विप्र, अमात्य और वणिक् श्रेणी में से किसी एक का हो सकता है और जिसमें नायक को ‘धोरशान्त’ प्रकृति तथा विपरीत परिस्थिति में पड़े रहने पर भी धर्म-अर्थ और काम-वरायण रूप में चित्रित किया जाया करता है ।

जैसे कि (महाकवि शूद्रक-रचित) ‘मृच्छकटिक’, जिसका नायक (चारुदत्त) एक ब्राह्मण है, (महाकवि भवभूति-रचित) ‘मालतीमाधव’ जिसका नायक (माधव) एक राजमन्त्री है और ‘पुष्पभूषित’, जिसका नायक एक वणिक् है ।

नायिकाभेद में भी प्रकरण में भेद दिखायी देता है । जैसे कि कोई प्रकरण ऐसा है जिसमें कुलजा नायिकारूप में चित्रित की गयी है, कोई ऐसा, जिसमें वेश्या को नायिका बनाया गया है और कोई ऐसा, जिसमें कुलजा और वेश्या दोनों नायिकारूप में वर्णित की गयी है । इन तीनों ‘प्रकरण-भेदों’ में तीसरा अर्थात् ‘कुलजा-वेश्या-नायिका-द्वयान्वक’ जो ‘प्रकरण’ है उसमें धूर्त, धृत्कार, विट और चेट आदि का भी पर्याप्त चित्रण रहा करता है ।

जैसे कि ‘पुष्पभूषित’ नामक प्रकरण में, कुलजा का नायिकारूप में चित्रण, ‘तरङ्गदत्त’ नामक प्रकरण, में वेश्या का नायिकारूप में चित्रण और ‘मृच्छकटिक’ में कुलजा और वेश्या—दोनों का नायिकारूप में चित्रण स्पष्ट दिखायी देता है ।

प्रकरण की अन्य विशेषतायें नाटक की विशेषतायें हैं क्योंकि यह रूपक-प्रकार नाटक का ही निष्पन्दरूप है ।

विमर्श—(क) नाट्याचार्य मत्स्युनि ने ‘प्रकरण’ का यह विन्दव विवेचन किया है—

‘यत्र कवितामहात्म्या वस्तु शरीरं च नायक चैव ।

लौक्यस्तिक प्रकृतने प्रकरणमिति तदुपधेयम् ॥

यदनार्धमनाहार्यं काव्यं प्रकरोत्यभूतगुणयुक्तम् ।
उत्पन्नवोजवस्तु प्रकरणमिति तदपि विज्ञेयम् ॥
यन्नाटके मयोक्तं वस्तु शरीरं च वृत्तिभेदाश्च ।
तत्प्रकरणेऽपि योज्यं सलक्षणं सर्वसन्धिषु तु ॥
विप्रवणिकसचिवानां पुरोहितामात्यसार्यवाहानाम् ।
चरितं यक्षकविधं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ॥
नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसम्भोगम् ।
वाह्यजनसम्प्रयुक्तं तज्ज्ञेयं प्रकरणं तज्ज्ञेयं ॥
दासविट्श्रष्टियुतं वेशस्युपचारकारणोपेतम् ।
मन्दकुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रकरणे तु ॥ (नाट्यशास्त्र १८४)

जिसका अभिप्राय यह है—प्रकरण वह रूपक-प्रकार है जिसके इतिवृत्तशरीर, चरित किंवा उद्देश्य-निरूपण में कवि की कल्पना का हाथ रहा करता है (प्रकरणेण क्रियते क नेता, फलं वस्तु वा व्यस्त-समस्ततयाऽत्रेति प्रकरणम्) । इस रूपक-प्रकार में भी वै भेद हैं । एक प्रकार का वह प्रकरण हो सकता है जिसमें नेता कल्पित हो और वृत्त तथा अकल्पित हों, दूसरे प्रकार का वह, जिसमें वृत्त कल्पित हो और नेता और फल अकल्पित तीसरे प्रकार का वह, जिसमें फल कल्पित हो और नेता और वृत्त अकल्पित हों; चौथे प्रकार का वह, जिसमें नेता और वृत्त कल्पित हों और फल अकल्पित हो, पाँचवें प्रकार का वह, नेता और फल कल्पित हों और वृत्त अकल्पित हो, छठे प्रकार का वह जिसमें फल और कल्पित हों और नेता अकल्पित हो और सातवें प्रकार का वह जिसमें नेता, फल और वृत्त के तीनों कल्पित हों ।

(ख) नायिका-भेद के कारण 'प्रकरण' के इक्कीस भेदों का परिगणन किया गया है । दर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

‘कुलस्त्री गृहवार्तायां पण्यस्त्री तु विपर्यये ।
विटे पत्यौ द्वय तस्मादेकविंशतिधाऽप्यद’ ॥

गृहवार्तायां गार्हस्थ्योचितपुरुषार्थसाधके वृत्ते कुलजैव स्त्री नायिकात्वेन वणिग निबन्धनीया यथा पुष्पदूषितके । विपर्यये तु गार्हस्थ्यधर्मोचितपुरुषार्थवर्णने : नायिकात्वेन निबन्धनीया यथा तरङ्गदत्ते । उभययोगस्य विट एव विधानादनयोः धारणम् । विटे गीत-नृत्य-वाद्यविचित्रे घूत-पान-वेश्यादिषु प्रसक्ते कलाकुशले मूलं नायकत्वेन विवक्षिते । कुलस्त्री चेति द्वय तदुचितगार्हस्थ्यपुरुषार्थापेक्षया निबन्धनीयतः शुद्धसंकीर्णभेदत्रयरूप सप्तभेद प्रकरण, तस्मादेकविंशतिधाऽप्यद प्रकरणम् । चतुर्दश शुद्धाः, सप्त संकीर्णा प्रकरणभेदाः ।’ (नाट्यदर्पण : २ य विवेक)

विश्वनाथ कविराज ने केवल तीन प्रकरणभेदों का निर्देश किया है । ऐसा करना ठीक भी है क्योंकि कविकल्पना का हाथ होने से प्रकरण में अन्यविष भी कल्पनायें हो सकती कि नायिका का कल्पित होना अथवा अकल्पित होना आदि-आदि किंतु इस प्रकार प्रकरण भेदसंख्या अत्यधिक हो जायगी । ‘प्रकरण’ अथवा ‘प्रकल्पन’ का सामान्य धर्म स्वीकार कर ले चाहे जितनी भी अन्यान्यविध विचित्रतायें हों, प्रकरण-भेद की संख्या नहीं बढ़ सकेगी ।

(ग) साहित्यदर्पण के उपलब्ध संस्करणों में वणिङ्नायकात्मक प्रकरण का दृष्टान्त ‘भूषित’ नामक प्रकरण दिया गया है किन्तु यह पाठ अशुद्ध है । यहाँ ‘पुष्पदूषित’/‘पुष्पदूषितक’ पाठ होना चाहिये । अभिनवभारतीकार ने ‘पुष्पदूषितक’ नाम का उल्लेख किया

(त्रय रूप-प्रकार : भाग)

अथ भाग.—

भागः स्याद्धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः ॥ २२७ ॥

एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विदः ।

रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा ॥ २२८ ॥

संशोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।

सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः ॥ २२९ ॥

तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती ।

मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ॥ २३० ॥

अत्राकाशभाषितरूपपरवचनमपि स्वयमेवानुवदन्तुत्तरप्रत्युत्तरे कुर्यात् ।
शृङ्गारवीरसौ च सौभाग्यशौर्यवर्णनया न चयेत् । प्रायेण भारती कापि

‘एतदेवानिनन्यमानेन पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य शब्दा
पोषनिबद्धा सा न दोषाय’

नाट्यदर्पाकार की मो ‘पुष्पदूषित’ का ही पता है—

‘एव च पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य नन्दयन्त्रा या न्यली-
कशब्दोपनिबद्धा सा न दोषाय’

इसी प्रकार ‘रघुवृत्त’ (वेम्पा तु रघुवृत्ते) पाठ अशुद्ध है क्योंकि इस शब्द का नाम ‘रघु-
वृत्त’ है (यथा नृसिंह-पुष्पदूषित-नन्दयन्त्रादिपु-नाट्यदर्पा . २२ विवेक) ।

अनुवाद—‘भाग’ वह रूप-प्रकार है जिसमें धूर्तचरित का चित्रण हुआ करता है,
नानाविध लोकोपयोगी व्यवहारों का उपनिबन्ध रहा करता है और जिसकी रचना एक
अङ्क में ही सम्पूर्ण हुआ करती है । इसमें एक ही इशाल कि वा बुझाना नामक, जो कि
‘विद’ हुआ करता है, त्वानुभूत अथवा परानुभूत विषयों का रत्न-नामाजिह्वों से परिचय
दिया करता है । इस प्रकार के विषय परिचय में वह ‘आकाशभाषित’ जाति का आश्रय
लेकर, किसी न किसी को सम्बोधित किया करता है और उक्ति प्रत्युक्ति द्वारा अपना
अभिप्राय सामाजिकों पर प्रकाशित किया करता है । इसमें शृङ्गार और वीर रसों की
अभिप्रेक्षणा हुआ करती है जिनके लिये विलास-वर्णन और शौर्य वर्णन अपेक्षित रहा
करते हैं । इसका इतिवृत्त कवि-कल्पित हुआ करता है । इसमें प्रायः भारती वृत्ति का ही
वाहुल्य रहा करता है । सन्धिपञ्चक में ‘सुध’ और ‘निर्वहण’ सन्धियों की योजना रहा
आवश्यक है । मनोरञ्जन-वैचित्र्य की दृष्टि से इसमें दोनों लक्ष्याङ्गों का उपन्यास उचित
माना गया है ।

यहाँ ‘आकाशभाषित’ की योजना का तात्पर्य यह है कि किसी अन्य पात्र के न होने पर
नौ, विद, स्वयं ही, अन्य पात्र की उक्ति की कल्पना कर लिया करता है और उत्तर-प्रत्युत्तर
रूप में विषय का विस्तार कर दिया करता है । शृङ्गार और वीर रसों की सूचना के लिये
यहाँ सौभाग्य और शौर्य के वर्णन ही साधन माने गये हैं । यहाँ प्रायः भारती वृत्ति के
वाहुल्य होने का अभिप्राय यह है कि कहीं-कहीं कैसिकी वृत्ति भी यहाँ अपेक्षित रहा

कैशिक्यपि वृत्तिर्भवति। लास्याङ्गानिगेयपदादीनि। उदाहरणं-लीलामधुकर'
(४र्थ रूपक-प्रकार • व्यायोग)

अथ व्यायोग—

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः ।

हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्वहुभिराश्रितः ॥ २३१ ॥

एकाङ्गश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः ।

कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः ॥ २३२ ॥

राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्वीरोद्धतश्च सः ।

करती है। यहाँ 'लास्याङ्गों' का अभिप्राय 'गेयपद' आदि पूर्वनिर्दिष्ट दस लास्याङ्गों का अभिप्राय है। इस रूपक-प्रकार के उदाहरण के लिये 'लीलामधुकर' को लिया जा सकता है।

विमर्श—'भाण' शब्द की यह व्युत्पत्ति है—

'भण्यते व्योमोक्त्या (आकाशभाषितेन) नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाशयतेऽत्रेति भाण' अर्थात् 'भाण' वह रूपकप्रकार है जिसमें नायक 'आकाशभाषित' के द्वारा स्ववृत्त और परवृत्त का प्रकाशन किया करता है।

'भाण' में शृङ्गार और वीर रस का ही प्राधान्य हुआ करता है किन्तु यह भी विलास और विक्रम के वर्णन के आधार पर ही अपेक्षित माना गया है, न कि विशद-चरित-विकास के आधार पर।

'भाण' के लिये 'लोकानुरजक' होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये इसमें 'विट' 'वेदया' आदि के वृत्तान्त का वर्णन स्वभावन' अपेक्षित हुआ करता है। इसकी उपयोगिता का निर्देश करते हुये—'नाट्यदर्पण'कार ने यह कहा है—

'अत्र विटादीनां परवञ्चनात्मकं वृत्त प्रेक्षकाणामवञ्चनीयत्वापादनार्थं व्युत्पाद्यत इति ।'

अर्थात् 'भाण' में 'विट-चरित-चित्रण' का उद्देश्य धूर्तजन की वञ्चना से सामाजिकों को अवगत और सतर्क करना है।

नाट्यशास्त्र का यह भाण-लक्षण भाण के स्वरूप और प्रयोजन का पूर्णतया परिचायक है—

'आमानुसूतशाली परसश्रयवर्णनाविशेषस्तु ।

विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च ॥

परवचनमात्मसंस्थ प्रतिवचनैरुत्तरोत्तरग्रथितैः ।

आकाशपुरुषकथितै रङ्गविकारैरभिनयैश्चैव ॥

धूर्तविटसप्रयोज्यो नानावस्थान्तरारामकश्चैव ।

एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः ॥'

(नाट्यशास्त्र • १८ १०८-११०)

अनुवाद—व्यायोग :—'व्यायोग' उस रूपक प्रकार का नाम है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात हुआ करता है, जिसमें स्त्रीपात्रों की सख्या बहुत कम और पुरुषपात्रों की सख्या प्रचुर हुआ करती है, जिसके लिये 'गर्भ' और 'विमर्श' सन्धिओं की योजना अपेक्षित नहीं रहा करती और जिसकी एक अङ्क में ही समाप्ति आवश्यक मानी गयी है। इसमें ऐसे संग्राम का वर्णन हुआ करता है जिसका कारण स्रो न हो। इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं रहा करती। इसका नायक कोई प्रसिद्ध पुरुष हुआ करता है जिसके लिये राजर्षि

हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रमाः ॥ २३३ ॥

यथा सौगन्धिकाहरणम् ।

(५म रूपक-भेद नमवकार)

• अथ समवकार —

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ।

सन्धयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ॥ २३४ ॥

अथवा देवविशेष होना आवश्यक है। हममें धीरोदात्त प्रकृति के ही नायक का चित्रण अपेक्षित है। इसमें हास्य, शृङ्गार और शान्त—इन तीन रसों को छोड़कर, अन्य रसों में से किसी को भी अङ्गी अथवा प्रधानरूप में रखा जा सकता है।

‘व्यायोग’ के उदाहरण के लिये ‘सौगन्धिकाहरण’ को लिया जा सकता है।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में ‘व्यायोग’ का यह लक्ष्य है—

‘व्यायोगस्तु विधिनै कार्यं प्रत्यातनायकशरीरं ।

अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहृतस्तथा चैव ॥

वहवश्च तत्र पुरुषा व्यायच्छन्ते यथा समवकारे ।

न च तद्वर्माणयुक्त कार्यस्त्वेकाहृत एवायम् ॥

न च दिव्यनायककृतं कार्यो राजर्षिनायकनिवद् ।

युद्धनियुद्धाधर्षणसंघर्षकृतश्च कर्तव्यः ॥

एवविधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकान्तरसयोनिः ।’

(नाट्यशास्त्र १८ १०-१२)

‘व्यायोग’ शब्द की व्युत्पत्ति से ही इन रूपक-प्रकार का स्वरूप पहचाना जा सकता है।

‘व्यायोग’ की व्युत्पत्ति यह है—

‘विशेषेण वा समन्तात् युज्यन्ते कार्याथं सरमन्तेऽत्रेति व्यायोगः ।’

नाटक और प्रकरण तो ‘पूर्णमन्धि’ रूपकप्रकार हैं किन्तु भाग और व्यायोग चाटि ‘न्यूनमन्धि’ रूपकभेद हैं। रूपकों के ‘पूर्णमन्धि’ और ‘अपूर्णमन्धि’ होने का यह अन्विष्ट है—

‘नाटकादिनायकस्य तु प्रेक्षापूर्वकारित्वेनातिसहस्रत्वाद् हितबहुफलकर्तव्यारम्भत्वेन विनिपातप्रत्ययापाकरणाच्च सर्वावस्थामभवेन पञ्चापि सन्धयो भवन्त्येव । अत्र (व्यायोगे) च गर्भविमर्शसन्धिप्रतिपेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदिके प्राप्त्याशा-नियतासी भवन्ते अपि प्रतिपिद्धे एव ।’ (नाट्यदर्पण २५ विवेक)

अर्थात् ‘नाटक’ में तो मन्धिप्रसक्त की माहोपास योजना अपेक्षित रहा करती है यद्यपि यहाँ का नायक एक अनुकरणीयचरित नराणुस्य हुआ करता है जो कि आशा निगम के दृष्ट में पटा, अपनी कार्यमिष्टि के लिये, मन्त जागृतक रहा करता है किन्तु ‘व्यायोग’ में ऐसी बात नहीं हुआ करती। यहाँ युद्ध निरुद्ध-स्वर्ष चाटि के वर्णन-वर्चन का हा महत्त्व है जो-इमन्तिदे नायक की प्राप्त्याशा और नियतासि की अवस्थाओं का निरूपण आवश्यक नहीं।

अनुवाद—समवकार — ‘समवकार’ वह रूपकभेद है जिसका वृत्त देवविशेषक अथवा असुरविशेषक हुआ करता है और पुराणादिप्रसिद्ध हुआ करता है। इसमें ‘विमर्श’मन्धि को छोड़कर और सन्धियों की रचना अपेक्षित है। इसकी रचना तीन लक्ष्यों में सम्पूर्ण हुआ करती है, जिनमें, पहले लक्ष्य में, सुख और प्रतिमुग्धमधि, दूसरे में, गर्भमन्धि और

सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ।

नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ॥ २३५ ॥

फलं पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः ।

वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ २३६ ॥

वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश ।

गायत्र्युष्णिङ्मुखान्यत्र च्छन्दांसि विविधानि च ॥ २३७ ॥

त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः ।

वस्तु द्वादशनालीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम् ॥ २३८ ॥

द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके ।

नालिका घटिकाद्वयमुच्यते । बिन्दुप्रवेशकौ च नाटकोक्तावपि नेह विधातव्यौ । तत्र—

धर्मार्थकामैस्त्रिविधः शृङ्गारः कपटः पुनः ॥ २३९ ॥

स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवजो विद्रवः पुनः ।

तीसरे में निर्वहणसन्धि की योजना आवश्यक है । इसमें १२ नायकों का चरित्र-चित्रण हुआ करता है जिनके लिये धीरोदात्त होना, प्रख्यात होना और दिव्य अथवा अदिव्य होना आवश्यक है । इन १२ नायकों में प्रत्येक का प्रयोजन पृथक् पृथक् हुआ करता है । इसमें वीर रस की ही 'अङ्गी'-रूप में अभिव्यक्ति अपेक्षित है और अन्य रस अङ्गरूप से उपनिबद्ध हुआ करते हैं । इसमें 'कैशिकी' के पुट के साथ-साथ और तीनों वृत्तियाँ आवश्यक हैं । इसके लिए 'बिन्दु'-निक्षेप की आवश्यकता नहीं और न 'प्रवेशक'-योजना की ही अपेक्षा है । इसमें उपयोगिता की दृष्टि से, जहाँ-तहाँ वीथी के १३ अङ्गों का उपन्यास आवश्यक है । इसमें गायत्री और उष्णिक् छन्दों के प्राधान्य के साथ-साथ वृत्त-वैचित्र्य भी अपेक्षित है । समवकार के लिये 'त्रिशृङ्गार', 'त्रिकपट' और 'त्रिविद्रव' होना आवश्यक है । इसके प्रथमाङ्क का इतिवृत्त २२ घड़ी में, द्वितीयाङ्क का इतिवृत्त ८ घड़ी में और तृतीयाङ्क का इतिवृत्त ४ घड़ी में समाप्त किया जाया करता है ।

यहाँ (कारिका में) 'नालिका' का अभिप्राय 'दो घड़ी' का है । वैसे तो नाटक का लक्षण समवकार आदि रूपक-प्रकारों में भी अनुगत माना गया है किन्तु समवकार के लिये 'बिन्दु'-निक्षेप और 'प्रवेशक'-योजना आवश्यक नहीं समझी गयी है और इसीलिये इसके लक्षण में 'नात्र बिन्दुप्रवेशकौ' पद उपन्यस्त है ।

'समवकार' के 'त्रिशृङ्गार' होने का अभिप्राय 'त्रिविधशृङ्गारपूर्ण' होना है । 'त्रिविध शृङ्गार' का अभिप्राय धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार और कामशृङ्गार का अभिप्राय है । समवकार 'त्रिकपट' हुआ करता है—इसका अभिप्राय यह है कि इसमें स्वाभाविक, कृत्रिम और दैवज-तीन प्रकार के कपट की योजना हुआ करती है । इसी प्रकार 'समवकार' के

यथा—समुद्रमथनम् ।

(षष्ठ रूपक-भेद • डिम)

अथ डिमः—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।

उपरगैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः ॥ २४१ ॥

धन-धान्यादि के द्वारा स्त्री-पुरुषयुगल का परस्पर सयोग अथवा 'अर्थ' के लिये स्त्री-पुरुषयुगल परस्परिक सम्बन्ध । नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट लिखा है—

‘धर्मकामार्था’ फलं हेतवश्च यस्य (शृङ्गारस्य) तत्र पत्नीसंयोगरूपस्य शृङ्गार परदारवर्जनादिको धर्मः फलम्, दानादिकस्तु धर्मः स्यादिलाभस्य हेतुः । काम-शृङ्गा शब्दाभ्यां स्त्रीपुंसयो रतिस्तद्धेतुश्च स्त्रीपुसादिगृह्यते । तत्र स्त्रीपुसादिरूपशृङ्गारस्य रतिरु कामः फलम् । रतिरूपस्य शृङ्गारस्य स्त्रीपुंसादिरूपः कामो हेतुः । अत्र च कामशृङ्गारे परस्त्री कन्या च ग्राह्या, न पुनः स्वदारा वेश्या वा । यथा शुक्रस्याहल्या । स्वदारादौ धर्मस्याप्यनुप्रवेशेन केवलस्यैव कामस्य फल हेतुभावो न स्यात् । अर्थो राज्य-सुवर्ण-धान्य-वस्त्रादि । तत्र पण्ययोपितां केपाचित् सुभगानां पुंसां चार्थफल शृङ्गारः । वेश्यादि च पुंसामर्थहेतुकः शृङ्गारः । देवादीनामपि गन्धर्व-यक्षादिरूपाणां राज्याद्यर्थसमी भवत्येव । तदाराधकाना चार्थप्राप्तिः ।’ (नाट्यदर्पण . २५ विवेक)

(ग) ‘त्रिकपट’ का तात्पर्य अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह है—

‘कपटो वञ्चना ।’ ‘त्रिधा तत्र वञ्चना, बुद्धयैव कदाचित् केवलया कपटो भवति स । वस्तुगतक्रमविहितं वस्तु फल तत्प्राप्तौ वस्तुगतः फलसाधकः कर्ता, तस्य यः कः उपायचिन्तनादि तेन विहित यन्त्रानपराद्ध एव वञ्चकेन वञ्च्यते स एवमुक्तः । अत्र वञ्चनीयोऽपि सापराधः स परप्रयुक्त कपटः । ‘यत्र तु द्वयोरपि न कश्चिदभिसन्धिदोषा काकतालीयेन तुल्यफलाभिसन्धानवतोरप्येक उपचयेनापरस्वपचयेन युज्यते तत्र वञ्चन सा दैवकृता वञ्चना ।’

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने ‘वस्तुगतक्रमविहित’ को ‘स्वाभाविक’, ‘परप्रयुक्त’ को ‘कृत्रिम’ और ‘दैववशसम्भूत’ को ‘दैवज’ मानकर ‘त्रिकपट’ का लक्षण किया है ।

(घ) ‘त्रिविद्रव’ का अभिप्राय यह है—

‘विद्रवन्ति त्रस्यन्ति जना अस्मादिति विद्रवोऽनर्थः । ‘त्रिः’ इति प्रकारत्रययुक्तः । तः जीवोत्थो हस्यादिजः । अजीवोत्थो शस्त्रादिजः । जीवाजीवोत्थो नगरोपरोधजः ।’

(नाट्यदर्पण २५ विवेक)

साहित्यदर्पणकार ने ‘जीवोत्थ’ को चेतनविद्रव, ‘अजीवोत्थ’ को अचेतनविद्रव और जीवा जीवोत्थ को चेतनाचेतनविद्रव मानकर ‘त्रिविद्रव’ का अभिप्राय स्पष्ट किया है । ‘त्रिविद्रव’ के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र की ये पक्तियाँ बहुत स्पष्ट हैं—

‘युद्धजलसमवो वा वाय्वग्निगजेन्द्रसभ्रमकृतो वा ।

नगरोपरोधजो वा विज्ञेयो विद्रवस्त्रिविधः ॥’ (नाट्यशास्त्र १८ ७०)

अनुवाद—डिम.—‘डिम’ वह रूपकप्रकार है जिसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम किंवा क्रोधादि से व्यग्रहृदय व्यक्तियों की चेष्टाओं का वाहुल्य रहा करता है और जिसमें निर्वात-उल्कापात-सूर्यचन्द्रोपराग आदि का वर्णन हुआ करता है । इसका इतिवृत्त

अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः ।

चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ ॥ २४२ ॥

नायका देवगन्धर्वयज्ञरक्षोमहोरगाः ।

भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ॥ २४३ ॥

वृत्तयः कैशिकीहीना निविमर्शाश्च सन्धयः ।

दोषाः स्युः पङ्क्ताः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः ॥ २४४ ॥

अत्रोदाहरणं च 'त्रिपुरदाह' इति महर्षिः ।

(७म रूपक-भेदः ईहामृग)

अथेहामृग—

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्गः प्रकीर्तितः ।

प्रख्यात होना चाहिये । इसमें रौद्र तो अङ्गो अथवा प्रधान रस हुआ करता है और अन्य रस अङ्गरूप से उपनिषद् किये जाया करते हैं । इसकी रचना के लिये अङ्गचतुष्टय पर्याप्त है । इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक की योजना आवश्यक नहीं । इसके १६ नायक हुआ करते हैं जो कि देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, भूत, प्रेत, पिशाचादि जैसे अत्यन्त उद्धतप्रकृति के जीव हुआ करते हैं । इसमें कैशिकी को छोड़कर अन्य तीनों वृत्तिओं का विन्यास रहा करता है । इसमें 'विमर्श' सन्धि के अतिरिक्त अन्य सन्धिओं की योजना अपेक्षित है । इसके लिये शान्त, हास्य और शृङ्गार को छोड़कर अन्य ६ रसों की दीप्ति अव्यावश्यक है ।

'दिम' का उदाहरण 'त्रिपुरदाह' है जैसा कि महर्षि भरत का कथन है ।

विमर्श—अभिनवभारती के अनुसार 'दिम' की व्युत्पत्ति यह है—

'दिमो दिग्गो विद्रव इति पर्याया, तद्योगादयं दिम । अन्ये तु उद्यन्त इति दिमा' उद्धतनायकास्तेषां वृत्तिर्यत्रेति ।'

अर्थात् 'दिम' कहते हैं विद्रव अथवा उत्पान की ओर निरन्तर रूपप्रकार में उपायवान् गत वास्तव्य हो वह रूपप्रकार दिम है । नाट्यशास्त्र में 'दिम' का यह अर्थ है—

'प्रख्यातवस्तुविषय प्रख्यातोदात्तनायकश्च ।

पङ्कसलक्षणयुक्तश्चतुरङ्गो चैव दिमः कार्यः ॥

शृङ्गारहास्यवर्जं शेषं सर्वं रसं समायुक्तं ।

दीप्तिरस्यकाव्ययोनिर्नामाशेषमस्य ॥

निर्वातोत्कापातरपरामोहेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।

युद्धनियुद्धाधर्पणमफेदहनश्च कर्तव्यं ॥

मायेन्द्रजालमहुलोऽहुपुस्तोऽयानयोगयुक्तश्च ।

देवभुवनोन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावहीर्णश्च ॥

षोडशनायकयुल्लेखमावन्त्यारभतिवृत्तिमप्यं ।

कार्यं दिमः प्रख्यातानाश्रयभावमवगम्य ॥'

(नाट्यशास्त्र १८ ८१-८८)

अनुवाद—ईहामृग.—'ईहामृग' यह रूपप्रकार है जिसका इतिवृत्त ऐतिहासिक

मुखप्रतिमुखे सन्धी तत्र निर्वहणं तथा ॥ २४५ ॥
 नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ ।
 ख्यातौ धीरोद्धतावन्यो गूढभावादयुक्तकृत् ॥ २४६ ॥
 दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
 शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ २४७ ॥
 पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः ।
 युद्धमानोय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते ॥ २४८ ॥
 महात्मानो वधप्राप्ता अपि वध्याः स्युरत्र नो ।
 एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः ॥ २४९ ॥
 दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः पडितीतरे ।

मिश्रं ख्याताख्यातम् । अन्यः प्रतिनायकः । पताकानायकास्तु नायकप्रतिनायकयोर्मिलिता दश । नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीह मृगः ।

और कल्पित वृत्तों का सम्मिश्रण हुआ करता है और जिसकी रचना के लिये अङ्कवृत्त पर्याप्त माना गया है । इसमें मुख, प्रतिमुख और निर्वहण की तीन ही सधियाँ आवश्यक हैं । इसमें नायक और प्रतिनायक के देव और मानव—दोनों होने में कोई रोक टोक नहीं (अर्थात् यदि नायक देव हो तो मानव भी प्रतिनायक हो सकता है और यदि प्रतिनायक देव हो तो नायक के रूप में मानव का भी चित्रण हो सकता है । इसके नायक और प्रतिनायक के लिए प्रख्यात और धीरोद्धत होना आवश्यक है । इसका प्रतिनायक प्रच्छन्न आचारवाला और अनुचित कर्मों में तत्पर रहा करता है । इसमें प्रतिनायक के आश्रय से शृङ्गाराभास की भी कुछ थोड़ी सी अभिव्यञ्जना स्वाभाविक है क्योंकि यहाँ प्रतिनायक के कार्यों में, उसके प्रेम की अनिच्छुक किसी दिव्याङ्गना का अपहरण आदि भी वर्णित रहा करता है । इसके पताकानायक दस हुआ करते हैं जो कि दिव्य अथवा मानव-दोनों प्रकार के हो सकते हैं । यहाँ प्रतिनायक का बल, युद्धस्थान में प्रदर्शित करके, किसी न किसी बहाने, समाप्त कर दिया जाता करता है । यहाँ वधयोग्य भी लोगों के वध का वर्णन नहीं किया जाता करता । कुछ नाट्याचार्यों ने 'ईहामृग' के लिये, एक अङ्क की ही रचना पर्याप्त मानी है और देव को ही नायकरूप में स्वीकार किया है । कुछ और आचार्यों के अनुसार इस रूपकप्रकार में छ नायक आवश्यक हैं जो कि किसी दिव्याङ्गना के कारण परस्पर लड़ते-झगड़ते चित्रित किये जाया करते हैं ।

कारिका में 'मिश्र' पद से प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध (प्रख्यात और-कल्पित) इतिवृत्त का अभिप्राय लिया गया है । 'अन्य' पद का अभिप्राय 'प्रतिनायक' का अभिप्राय है । इसके पताकानायकों अर्थात् नायक के सहायकों और प्रतिनायक के सहायकों की संख्या दस हुआ करती है । 'ईहामृग' को इसलिये ईहामृग कहते हैं क्योंकि इस रूपकप्रकार में नायक मृग की भांति ऐसी नायिका की 'ईहा' अथवा कामना में निरत चित्रित किया जाता करता है जो कि अलभ्य अथवा दुष्प्राप्य हुआ करती है ।

यथा-कुसुमशेखरविजयानि ।

(८म रूपक-प्रकरणे)

अथाहुः —

उत्सृष्टिकाङ्क्ष एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ॥ २५० ॥

रसोऽत्र करुणः स्यायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।

प्रख्यातमिति वृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ २५१ ॥

भाणवत्मन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।

इतः रूपकप्रकार के उदाहरण 'कुसुमशेखरविजय' नादि हैं ।

विमर्श—(क) नरनाट्यशाला में

'इदानीं' की वृत्त परिभाषा है—

'दिव्यपुत्रपाश्र्वकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतपुङ्गव ।

सुविहितवस्तुनिबद्धो विप्रत्ययकारकरचैव ॥

उद्धतपुत्रप्रायः स्त्रीरूपप्रयितकाव्यबन्धश्च ।

मञ्जोभविष्यकृत नष्टकृतस्तथा चैव ॥

स्त्रीनिन्दनापहरणावनर्दनमाहवन्तु मृद्गार ।

इहामृगस्तु कार्यं सुसमाहितकाव्यग्रन्थश्च ॥

यद्व्यायोगे कार्यं ये पुत्र्या वृत्तयो रनारचैव ।

इहानृगेऽपि ते स्युः केवलमनरन्ध्रिया योगे ॥

यत्र तु वधेऽप्यिताना वधो ह्यत्रो भवेद्वि पुत्र्याणाम् ।

किञ्चिद् व्याज कृत्वा तेषां युद्धं दानमनन्तरम् ॥

युद्धं च वाचा कर्त्तव्यं निर्वेदवचनं बहु ॥ २५२ ॥

इमं च केचित् नाटकाद्यन्तःपात्यङ्कपरिच्छेदार्थमुत्सृष्टिकाङ्कनामानम् ।
अन्ये तु—उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः । यथा—श
ययातिः ।

(९म रूपक-भेद : वीथी : वीथी के १३ अङ्ग)

अथ वीथी—

वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते
आकाशभाषितैरुक्तेश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः ॥ २५३ ॥
सूचयेद्भूरि शृङ्गारं किञ्चिदन्यान् रसान् प्रति ।

आदि वाणी द्वारा प्रकाशित किये जाया करते हैं । साथ ही साथ इसमें निर्वेदप्राय
का भी याहुल्य रहा करता है ।

कतिपय नाट्याचार्य इस रूपक-प्रकार का 'उत्सृष्टिकाङ्क' नाम अधिक उचित
हैं । उनका कहना यह है कि 'अङ्क' तो नाटकादि रूपक-प्रवन्धों का सर्वसम्मत
विभाग है और इसलिये 'अङ्क' शब्द के द्वारा एक रूपकभेद को सूचित करना उचित
कुछ नाट्याचार्य 'उत्सृष्टिकाङ्क' की यह व्युत्पत्ति बताते हैं—

वह रूपकप्रकार 'उत्सृष्टिकाङ्क' है जिसकी (इतिवृत्तरचना आदि-) सृष्टि
अथवा अन्य रूपकप्रकारों से उलटी हुआ करती है ।

'उत्सृष्टिकाङ्क' का उदाहरण 'शर्मिष्ठायाति' है ।

विमर्श—(क) 'भावप्रकाशन'कार ने 'अङ्क' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्क' का यह स्वर
किया है—

'उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातमिति वृत्तं क्वचिद् भवेत् ।

कदाचिदेतदुत्पाद्यमप्रख्यातं कवेर्धिया ॥

दिव्यैरयुक्तं पुरुषैः शेषैरन्यैः समन्वितः ।

कैशिकीवृत्तिहीनश्च सारवत्यारभटीयुतः ॥

नियुद्युद्धसफेटप्रहारनिधनोद्धतः ।

प्रभूततरुणस्त्रीणां परिदेवितमेदुरः ॥

निर्वेदभाषितैः स्त्रीणां नानाव्याकुलचेष्टितैः ।

क्वचिद्भयानकप्रायः कर्त्तव्योऽभ्युदयान्तिमः ॥

एवमुत्सृष्टिकाङ्कस्तु कर्त्तव्यः काव्यवेदिभिः ॥'

(भावप्रकाशन : अष्टम अ

(ख) 'अभिनवभारती' में 'उत्सृष्टिकाङ्क' पद की एक और प्रकार की ही व्युत्पत्ति दी
'उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवित प्राणा यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ता
इति तथोक्तः ।' (अभिनवभारती . १८ अध्याय)

अनुवाद—वीथी.—'वीथी' वह रूपकप्रकार है जिसमें एक ही अङ्क हुआ करता
एक ही नायक 'आकाशभाषित' के द्वारा, चित्र-विचित्र उत्तर-प्रत्युत्तर-पूर्वक, ।
काल्पनिक पात्रों से, आलाप-सलाप करते हुये चित्रित किया जाया करता है । इस
रस की अभिव्यक्ति अधिक और अन्य रसों की अभिव्यक्ति कम रखी जाया क

मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥ २५४ ॥

कश्चिदुत्तमो मध्यमोऽधमो वा शृङ्गारबहुलत्वाच्चास्या कैशिकीवृत्तिबहु-
लत्वम् ।

अस्यास्तयादशाङ्गानि निर्दिशन्ति मनीषिणः ।

उद्गात्य(त)कावलगिते प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम् ॥ २५५ ॥

वाक्केल्यधिवले गण्डमवस्यन्दितनालिके ।

असत्प्रलापव्याहारमृद(मार्द)वानि च तानि तु ॥ २५६ ॥

(वीथ्यङ्ग-लक्षण १-उद्गात्यक, २-अवलगित)

तत्रोद्गात्य(त)कावलगिते प्रस्तावनाप्रस्तावे सोदाहरण लक्षिते ।

(३-प्रपञ्च)

मिथो वाक्यमसद्भूतं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ।

इसमें सन्धियाँ तो केवल 'मुख' और 'निर्वहण' दो ही हुआ करती हैं किन्तु अर्थ प्रकृतियाँ पाँचों ।

यहाँ कारिका में 'कश्चित्' का अभिप्राय उत्तम, मध्यम अथवा अधम प्रकृति के नायक का अभिप्राय है । 'वीथी' में शृङ्गार-बहुल्य का अभिप्राय कैशिकी-प्राचुर्य का अभिप्राय है ।

नाट्यशास्त्रकोविदों ने 'वीथी' के १३ अङ्ग बताये हैं—(१) उद्गात्यक, (२) अवलगित, (३) प्रपञ्च, (४) त्रिगत, (५) छल, (६) वाक्केल, (७) अधिवल, (८) गण्ड, (९) अवस्य-न्दित, (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार और (१३) मृदव (अथवा मार्दव) ।

विमर्श—'वीथी' भारतीयवृत्ति का एकदेश है । भारतीयवृत्ति के एकदेश होने के कारण हमने यकोत्तिर्वचन्य का बाहुल्य रखा करता है । हमलिये वीथी को यह निम्नलिखित है—

'यकोत्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी'

अर्थात् वीथी को हमलिये 'वीथी' कहते हैं क्योंकि यह वीथी (गली) की भाँति देहा नेत्रा (उत्स्विक्रान्तपूर्णा) हुआ जानी है । 'वीथी' के १३ अङ्ग समुत्तम हमके यकोत्ति-वचन्य के ही भिन्न भिन्न रूप हैं । हमलिये नाट्यशास्त्र वीथी को स्वरनाय के लिये उपकारक माना गया है जैसा कि अभिनवभारतीकार का मत है—

'नाटिकादिभाषान्तसमन्तरूपसोपजीव्यत्वाद् वीथीं लक्षयति ।'

और जैसा कि हमका नाट्यशास्त्राचार्य ने यह समर्थन है—

'मर्षेणा रूपभाषा नाटकादीना यकोक्त्यादिमदुल्लस्योदना, प्रयेनेनोपयोगिनः चधि-
प्रकारिका ।'

'वृत्ति'—इन नेत्रा अङ्गों में (१) उद्गात्यक और (२) अवलगित या स्वरूप नाट्य की प्रस्तावना अथवा आशुत के निरूपण-प्रसङ्ग में पड़े हैं । निर्दिष्ट किया जा चुका है (हमलिये यहाँ इनसे अतिरिक्त अङ्गों का ही स्वरूप निरूपण किया जा रहा है) ।

'वृत्ति'—'प्रपञ्च' यह वाक्यमन्दर्भ है जो परस्पर हासजनक किया गियारूप

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

वलभीस्थविदूषकचेट्योरन्योन्यवचनम् ।

(४—त्रिगत)

त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः ॥ २५७ ॥

यथा तत्रैव—

‘राजा—

सर्वक्षितिभृतां नाथ, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।

रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया ॥

(नेपथ्ये तत्रैव प्रतिशब्दः)

राजा—कथं दृष्टेत्याह ।’ अत्र प्रश्नवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम् । नदा तयविषयमेवेदमिति कश्चित् ।

हुआ करता है । जैसे कि ‘विक्रमोर्वशीय’ में वलभी पर बैठे विदूषक और चेटी का ४ सलाप ।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार ‘प्रपञ्च’ का यह स्वरूप है—

‘यदसद्भूत वचन सस्तवयुक्त द्वयोः परस्पर यत्तु ।

एकस्य चार्थहेतोः स हास्यजननः प्रपञ्चः स्यात् ॥’ (नाट्यशास्त्र * १८

अर्थात् दो पात्रों के परस्पर परिचयात्मक अथवा प्रशंसात्मक किंवा हासोपहासपूर्ण मित्र का नाम प्रपञ्च है । परस्पर वार्तालाप में एक दूसरे के अभिप्राय का प्रपञ्चन अथवा स्वामाविक है । यह भी स्वामाविक है कि इस प्रकार के वार्तालाप में झूठमूठ बातें बनायी ‘प्रपञ्च’ तो वस्तुतः लोकजीवन की ही वस्तु है । किन्तु लोकजीवन में इसके द्वारा शुद्ध मन की समावना नहीं । इसका नाट्य के क्षेत्र में पदार्पण इसे शुद्ध मनोरञ्जनात्मक बना दे इसीलिये कतिपय नाट्याचार्य परस्त्रीप्रेमकुशल विद-चेट के ऐसे वार्तालाप में इसका स्वरूप किया करते हैं:—

‘रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मद्वारा मय मांसं खाद्यते पीयते वा ।

मिष्टा भाज्यं चर्मखण्ड च शय्या कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः ॥’

अनुवाद—‘त्रिगत’ वह है जिसे श्रुति-साम्य के कारक अनेक अर्थों की योजना करते हैं । जैसे कि ‘विक्रमोर्वशीय’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—क्षितिभृन्नाथ ! इस वनान्त में खोई हुई सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी को कहीं देख

(नेपथ्य में प्रतिध्वनि)

ओह ! इसने तो कहा कि देखा है ।’ आदि में जो वीथ्यङ्ग है वह ‘त्रिगत’ है ।

कुछ नाट्याचार्य (जैसे कि दशरूपककार आदि) ‘त्रिगत’ को इसलिये ‘त्रिगत’ हैं क्योंकि यह नट, नटी और सूत्रधार—इन तीन अभिनायकों द्वारा प्रयुक्त किया करता है (किन्तु इस मान्यता की कोई विशेष प्रामाणिकता नहीं) ।

विमर्श—(क) भरतनाट्यशास्त्र में ‘त्रिगत’ का यह लक्षण है—

‘श्रुतिसारूप्याद्यस्मिन् बहवोऽर्था युक्तिभिर्नियुज्यन्ते ।

(५—छन्द)

प्रियाभैरप्रियैर्वान्यैर्विलोभ्यच्छलनाच्छलम् ।

यथा वेण्याम्—

‘भीमार्जुनो—

कर्ता श्रुतच्छलाना जतुमगशरणोहीपन सोऽभिमानो

राजा तु शाननादेर्गुरुनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटु पाण्डवा यस्य दासाः

काऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न नृपा द्रुपदमभ्यागतौ स्व ॥

यहाँ ‘दुर्निमात्प्य’ का अन्विमात्र शब्द-सादृश्य का अन्विमात्र है जो ‘प्रि’ में तीन का ही नहीं अपितु अनेक का अर्थ लिया गया है । अन्विमात्रातीतार ने इतना ही कहा है—

‘त्रिषद्वोऽनेकोपलक्षणम्, अनेकमर्थं गतमिति त्रिगतम् । वाक्ये मुख्यमुत्तरमनेकप्ररन-
माधारणम् । इह तु य एव प्ररनस्तदेव प्रतिवचनमिति विशेष यथा—

सर्वचित्तिमृता नाथ । इत्यादि ।’

(ख) भावप्रकाशनकार ने कतिपय नाट्यचार्यों के नानानुसार नट्यादिप्रितयागत को भी त्रिगत’ कहा है और यह बताया है कि यह ‘त्रिगत’ नाटक की प्रस्तावना में ही प्रयुक्त होता है—

‘श्रुतिनान्यादनेकार्ययोजन त्रिगत स्थिह । नट्यादिप्रितयागत पूर्ववत् तदिष्यते ॥

एतद्व्यस्तावनामेति कथ्यते नाट्यवेदिनि ॥’

(ग) नाट्यदर्शनकार ने ‘त्रिगत’ का एक ही भी स्वरूपनिर्देश किया है जो कि कतिपय नाट्यचार्यों को मान्य है—

‘यद्वा शब्दोऽव्यक्त ध्वनिमात्र तत्मान्नेनानेकार्ययोजन त्रिगतम् । यथेन्दुलेखाया
वीध्याम्—

राजा—वयस्य ।

किं नु कल्हसनादो मधुरो मधुपायिना नु क्षह्वार ।

हृदयगृहद्वेतायान्तस्या नु सनूपुरक्षरण ॥’ (नाट्यदर्शन : २२ विवेक)

अनुवाद—‘छल’ का अन्विमात्र वस्तुतः अप्रिय किन्तु प्रिय प्रतीत होनेवाले वाक्यों द्वारा किसी की वस्तुना का अन्विमात्र है । जैसे कि ‘वेणीमहार’ की हम सूक्ति अर्थात्—

‘नीम और अर्जुन—यथाज्ञो कहाँ है छतकर का वह लुप्त कलाकार, लाशागृह का वह निमांता और दाहक, अन्विमान का वह धर्मी, दुःशासननादि का वह राजा, अनुजशत का वह क्षत्रज, अक्षराज का वह मित्र, औषध के केशाग्रकर्षण का वह व्यसन, और दासतापान में पाण्डवों को बाधनेवाला वह दुरोधन । हम उसके दर्शन के लिए आये हैं, क्रोध में नहीं ॥’

आदि में, जो वाक्यों का अर्थ है वह ‘छल’ है ।

विमर्श—अन्विमात्र का वाक्य-विमर्श ‘अन्विमात्र’ का अर्थ है—

‘प्रियप्रियाप्रियवन्त्यविलोभ्य छलनाच्छलम् ।’ (नाट्यदर्शन : ८६ परिच्छेद)
ही उदाहरण में ‘छल’, ‘व्यस्तावना’ आदि का है

('छल' विषयक मतभेद)

अन्ये त्वाहुश्छलं किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य कस्यचित् ॥ २५८ ॥

उदीर्यते यद्वचनं वञ्चनाहास्यरोपकृत् ।

(६—वाक्केलि)

वाक्केलिर्हास्यसम्बन्धो द्वित्रिप्रत्युक्तितो भवेत् ॥ २५९ ॥

द्वित्रीत्युपलक्षणम् ।

यथा—

‘भिक्षो ! मांसनिपेचणं प्रकुरूपे, कि तेन मद्यं विना

मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।

वेश्याऽप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा

चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो, नष्टस्य कान्या गतिः ॥’

(वाक्केलिविषयक मतभेद)

केचित्—‘प्रक्रान्तवाक्यस्य साकाङ्क्षस्यैव निवृत्तिर्वाक्केलिः’ इत्याहुः । अन्ये ‘अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम् ।’

अनुवाद—कुछ नाट्याचार्य ‘छल’ का यह लक्षण करते हैं—

‘छल’ वह वञ्चनात्मक, हासजनक किंवा रोपकारक वचन है जिसे किसी उद्देश्य विशेष से किसी के प्रति प्रयुक्त किया जाता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने भरतमुनि का यह छल-लक्षण अर्थात्—

‘अन्यार्थमेव वाक्यं छलमभिसन्धानहास्यरोपकर्म ।’

आदि मतान्तररूप में स्वीकार किया है ।

अनुवाद—‘वाक्केलि’ का अभिप्राय कतिपय उक्ति-प्रत्युक्तिओं द्वारा हास-परिहास की सृष्टि का अभिप्राय है । यहाँ कारिका में ‘द्वित्रि’—‘दो-तीन’ का अभिप्राय दो-तीन का नहीं अपितु अधिक का है क्योंकि ‘द्वित्रि’ पद ‘अधिक’ का उपलक्षण है ।

जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

‘(गृहस्वामी) भिक्षुदेव ! क्या मांस खा रहे हैं ? (भिक्षु) विना मदिरा के मांस खाया भी तो क्या खाया ! (गृहस्वामी) तो क्या मदिरा भी चाहिये ? (भिक्षु) मदिरा तो चाहिये ही किन्तु साथ साथ वाराङ्गना मिल जाय तो और भी अच्छा । (गृहस्वामी) लेकिन, वाराङ्गना तो पैसे से मिल पायेगी, आप के पास पैसा कहाँ ? (भिक्षु) धन की क्या कमी, चोरी और जूआ आबाद रहें ! (गृहस्वामी) ओह ! तो आप चोर और जुआरी भी हैं ? (भिक्षु) अरे भाई ! बरवादी में चारा ही क्या ?’

आदि में, जो हास-परिहास की सृष्टि है वह ‘वाक्केलि’ के ही कारण है ।

विमर्श—‘वाक्केलि’ एक वचन क्रीडा है । वचनक्रीडा ‘छेकोक्ति’ और ‘प्रत्युक्ति’ दोनों प्रकार से समव है । साहित्यदर्पणकार का ‘वाक्केलि’-उदाहरण प्रत्युक्तिपूर्वक वाक्केलि का उदाहरण है ।

अनुवाद—कतिपय नाट्याचार्यों (जैसे कि दशरूपककार आदि) के मत में ‘वाक्केलि’ का अभिप्राय किसी साकाक्ष प्रस्तुत वचन की समाप्ति है । कतिपय ऐसे भी नाट्याचार्य हैं जो ‘वाक्केलि’ को अनेक प्रश्नों का एक उत्तर मानते हैं ।

(७—अधिवल)

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिवलं मतम् ।

यथा नम प्रभावत्याम्—

‘वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मल्य गदयानया ।

लीलयोन्मूलयान्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥

प्रद्युम्नः—अरे अरे असुरापनद ! अलमनुना बहुप्रलापेन ।

नम खलु—

अद्य प्रचण्डभुजदण्डनमपितोरके दण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः ।

अस्तां समस्तद्विजयतजोभिनेय क्षोणिः अणेन पिशिताग्नतोभनीया ॥’

(८—गण्ड)

गण्डं प्रस्तुतसंवेन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः ॥ २६० ॥

यथा वेदयाम्—

राजा—

अव्यासितु तव चिराजघनन्यत्स्य पर्याप्तनेव करभोत ! नमोन्तुमम् ॥

अन्तरम् । (प्रविश्य)

विमर्श—इदं रूपम्—ने ‘प्रस्तुत सत्वरं वचः का नममि को वदति वरा हैः—

‘वाक्यन्य प्रस्तुतस्य साक्षात्स्य विनिवर्तनं वाहेति ॥’ (गुरुवच ३/७)

यै- इमका का वदति दिया है—

‘तव जीवित त्वनमि मे दण्ड द्वितीय तव लौमुदी नयनयोरनृत त्वनरे ।

इत्यादिभिः प्रियदनेरनुरूप सुगन्धा नामैव शान्तमयवा हिमन परेण ॥’

‘मुवा’—‘अधिवल’ कहते हैं परस्पर स्पर्धापूर्वक दण्ड-चक्र कराना करने को ।

जैसे कि मेरी ही वृत्ति ‘प्रभावतीपरित्याग’ के इस प्रसङ्ग व्यर्थ—

‘वज्रनाभ—इस गदा मे घन भर में इसका वक्षस्य विद्वेष कर दूँगा और तुम दोनों का इहलोक और परलोक, सुटकी यजाते, मिट्टे में मिला दूँगा ।

प्रद्युम्न—अरे नीच राक्षस ! पन्ध कर करना प्रलाप, देव—

राजा, मेरे प्रचण्ड भुजदण्ड में सुशोभित इस भीषण कोदण्ड (घनुर) मे लूटनेवाले यान हज्ज-भर में दैत्यवरा के रक्त में पृथिवी भिगो देंगे और नाममोजी प्राणियों को प्रमत्त कर दालेंगे ।’

आदि में, जो ‘वीर्यम्’ है वह अधिवल है ।

विमर्श—मरिचदंशक का ‘अधिवल’—इहं दण्डरक्त के ‘अधिवल’—इहं का ही वदति है । ‘अधिवल’ के सुन्दर इष्टान ‘वीर्यम्’ में वदति देने का कहते हैं । वनि-स्तुति में स्तुति का ही वदति का कहता है यै- इनीन्द्रे वनी ‘मन्त्र’ को ही नम नम नम नम है ।

‘मुवा’—‘गण्ड’ कहते हैं प्रस्तुत विषय में नदद हिन्दु विरदार्यक वचन के सहसा वदत्याम है । जैसे कि ‘देवीमहारा’ के इस प्रसङ्ग व्यर्थ—

‘राजा—अरी सुन्दरी ! मेरा यह लज्जुगन्ध मेरे जवन्मण्डल का सामान दाने के दिने पूर्णरूप में वदति है ।

कञ्चुकी—देव ! भग्नं भग्नम्—इत्यादि ।'

अत्र रथकेतनभङ्गार्थं वचनमूरुभङ्गार्थं सम्बन्धे सम्बद्धम् ।

(९—अवस्यन्दित)

व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथावस्यन्दितं भवेत् ।

यथा छलितरामे—

‘सीता—जाद ! कालं क्व अओज्झाएण गन्तव्वम्, तर्हि सो राजा विणएण पणयिदव्वो [जात ! कलय खलु अयोध्यायां गन्तव्यम्, तत्र स राजा विनयेन पणा गितव्यः] ।

लवः—अथ किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ।

सीता—जाद ! सो क्व तुम्हाणं पिदा [जात ! स शुम्भाक पिता] ।

लवः—किमावयो रघुपतिः पिता ?

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—महाराज ! वह तो टूट चुका ।'

आदि में, जो 'वीथ्यङ्ग' है वह गण्ड है क्योंकि यहाँ रथ के ध्वजदण्ड के टूटने से सम्बद्ध कञ्चुकी-वचन, दुर्योधन के ऊरुयुगल के भङ्गरूप अर्थ में भी सम्बद्ध हो रहा है ।

विमर्श—(क) उत्तररामचरित का निम्न प्रसङ्ग भी 'गण्ड' का एक सुन्दर निदर्शन है—

‘रामः—इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो—

रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।

अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः ।

किमस्या न प्रयो यदि परमसद्यस्तु विरहः ॥

(प्रविश्य) प्रतिहारी—देव उअत्थिदो (देव ! उपस्थितः) ।'

(ख) भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार 'गण्ड' का यह स्वरूप है—

‘सरम्मसंभ्रमयुतं विवादयुक्तं तथापवादकृतम् ।

बहुवचनाच्चेपकृतं गण्डं प्रवदन्ति तत्त्वज्ञा ॥’ (नाट्यशास्त्र १८ २५)

‘गण्ड’ का शब्दार्थ फोहा भी होता है । जैसे किसी फोहे में दुष्ट रक्त भरा रहता है वैसे ही इस वीथ्यङ्ग में दुष्ट अर्थ भरा रहता है जिसके कारण इसे गण्ड कहते हैं—

‘अन्याभिप्रायेणाकस्मात् प्रत्युक्तं प्रतिवचनतयाऽनुच्चारितमपि प्रतिवचनरूपतया प्रकान्तेन यत् संबद्ध वचन तद् दुष्टार्थगर्भत्वाद् दुष्टशोणितगर्भगण्ड इव गण्डः ।’

(नाट्यदर्पण • २५ विवेक)

अनुवाद—‘अवस्यन्दित’ कहते हैं स्वाभिप्राय के प्रकाशक वचन के अन्यथा व्याख्यान को । जैसे कि ‘छलितराम’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सीता—पुत्र ! तुम्हें अयोध्या में सावधानी से जाना है । वहाँ राजा के साथ विनय पूर्वक मिलना है ।

लव—तो क्या हम दोनों भाई राजा की सेवा करेंगे ?

सीता—वे तुम्हारे पिता हैं ।

लव—क्या रघुराज हमारे पिता हैं ?

(११—असत्प्रलाप)

असत्प्रलापो यद्वाक्यमसंबद्धं तथोत्तरम् ।

अगृह्यतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्च हितं वचः ॥ २६२ ॥

तत्राद्यं यथा मम प्रभावत्याम्—

‘प्रद्युम्नः—(सहकारवल्लीमवलोक्य सानन्दम्) अहो कथमिहैव—

अलिकुलमञ्जुलकेशी परिमलबहुला रसावहा तन्वी ।

किसलयपेशलपाणिः कोकिलकलभापिणी प्रियतमा मे ॥’

एवमसंबद्धोत्तरेऽपि । तृतीय यथा—वेण्यां दुर्योधनं प्रति गान्धारीवाक्यम् ।

(१२—व्याहार)

व्याहारो यत्परस्यार्थे हास्यक्षोभकरं वचः ।

यथा मालविकाग्निमित्रे—‘(लास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तुमिच्छति) ।

चिदूषकः—मा दाव उवदेसमुद्धा गमिस्ससि [मा तावदुपदेशमुग्धा गमिप्पसि ।

(इत्युपक्रमेण)

अनुवाद—‘असत्प्रलाप’ कहते हैं असंबद्ध वाक्य अथवा उत्तर को । साथ ही साथ न समझनेवाले व्यक्ति के लिये हितकारक वचनोपन्यास भी ‘असत्प्रलाप’ ही है ।

जैसे कि ‘असंबद्ध-वाक्य’रूप असत्प्रलाप का यह उदाहरण जो कि मेरी ही कृति ‘प्रभावतीपरिणय’ की सूक्ति है—

‘प्रद्युम्न (सहकारवल्ली को देखकर, प्रसन्नता से)—ओह ! तो क्या यहीं— मेरी वह ‘अलिकुलमञ्जुलकेशी’ अमरों की भाँति काले-काले केशोंवाली (और अमररूप केशपाशवाली), ‘परिमलबहुला’-रतिपरिमल से भरी (और सौरभवाली) ‘रसावहा’-आनन्द देनेवाली (और रस से भरी), ‘तन्वी’-युवती (और छोटी सी), ‘किसलयपेशलपाणि’-पल्लवोपम कोमल हाथवाली (और पल्लवरूप हाथवाली) और ‘कोकिलकलभापिणी’ कोकिल की भाँति मीठी बोलीवाली (और कोकिलकूजनरूप वाणी वाली) प्रियतमा है ।’

इसी भाँति ‘असंबद्ध उत्तररूप’ असत्प्रलाप का दृष्टान्त हूढ़ लिया जा सकता है । तीसरे प्रकार के ‘असत्प्रलाप’ का निदर्शन ‘वेणीसहार’ में दुर्योधन के प्रति गान्धारी का वाक्य है ।

विमर्श—दर्शककार के अनुसार ‘असत्प्रलाप’ का यह स्वरूप है—‘असंबद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः ।’ नाटक में ‘असत्प्रलाप’ चरितचित्रण के लिये आवश्यक है । इस ‘असंगति’रूप वाक्यदोष का दर्शन नहीं किया जा सकता क्योंकि उत्स्वप्नायित, मदोन्माद शैशवमौग्ध्य आदि-आदि के निरूपण में ‘असत्प्रलाप’ का ही सौन्दर्य और उपयोग दिखा पड़ा करता है ।

अनुवाद—‘व्याहार’ कहते हैं दूसरे के लाभार्थ हासजनक अथवा क्षोभकारक वचन विन्यास को । जैसे कि ‘मालविकाग्निमित्र’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘(लास्यप्रयोग के बाद मालविका नाट्यगृह से जाना चाहती है)

चिदूषक—तू शास्त्र का उल्लंघन कर यहाँ से नहीं जा सकती ।’

तथा नाटकादिषु विनिविष्टान्यपीहोदाहृतानि । वीथीव नानारसाना चात्र ।
रूपतया स्थितत्वाद्बीथीयम् । यथा—मालविका ।

(१०म रूपक-प्रकार ' प्रहसन सप्रभेदनिरूपण १म भेद शुद्ध प्रहसन)

अथ प्रहसनम्—

भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गाङ्गैर्विनिर्मितम् ।

भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ॥ २६४ ॥

अत्र नारभटी, नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ ।

अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा ॥ २६५ ॥

तत्र—

तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः ।

एको यत्र भवेद्दृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते ॥

यथा कन्दर्पकेलिः ।

(२यमेद सङ्कीर्ण प्रहसन)

आश्रित्य कञ्चन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः ॥ २६६ ॥

यथा—धूर्तचरितम् ।

किन्तु 'वीथी' नामक रूपकप्रकार में इनकी योजना अनिवार्य मानी गयी है और इस 'वीथी' के निरूपणप्रसङ्ग में इनका सोदाहरण निरूपण किया गया है । 'वीथी' को इस वीथी कहा करते हैं क्योंकि यह रसभावों की वीथी अथवा पंक्ति (माला) सी रची करती है । उदाहरण के लिये 'मालविका' ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'वीथी' नामक रूपकप्रकार का उदाहरण 'मालविका' है । यह रूपक प्रबन्ध 'मालविकाग्निमित्र' के अतिरिक्त अन्य कोई रूपकप्रबन्ध होगा । भाव शनकार ने 'बकुलवीथी' और 'शन्दुलेखा' नामक वीथी रूपकों का निर्देश किया है ।

अनुवाद—'प्रहसन' वह रूपक-प्रकार है जिसमें सधि, सध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अङ्ग रचना 'भाण' की भाँति हुआ करती है । इसका इतिवृत्त अधम प्रकृति के नायक इतिवृत्त होता है और कविकल्पित होता है ।

प्रहसन में 'आरभटी' वृत्ति नहीं हुआ करता और न विष्कम्भक और प्रवेशक रचना की जाया करती है ।

प्रहसन का अङ्गी रस हास्य रस हुआ करता है । इसमें वीथ्यङ्ग-योजना ऐच्छि अनिवार्य नहीं ।

वह प्रहसन 'शुद्ध' प्रहसन कहा जाया करता है जिसमें तपस्वी, सन्यासी और ब्राह्मेणी के व्यक्तिओं में से किसी एक श्रेणी के व्यक्ति को छष्टनायक के रूप में चित्रित किया जाया करता है । जैसे कि 'कन्दर्पकेलि' नामक प्रहसन-प्रबन्ध ।

इसके अतिरिक्त 'सकीर्ण प्रहसन' वह प्रहसन-प्रकार है जिसमें किसी भी अधम प्रकार के व्यक्ति का नायकरूप में चित्रण किया जाया करता है । जैसे कि 'धूर्तचरित' नामक प्रहसन-प्रबन्ध ।

('सकीर्ण' प्रहसनविषयक मतभेद तथा 'विकृत' नामक प्रहसननिरूपण)

वृत्तं वहूनां धृतानां सङ्कीर्णं केचिद्विचरे ।

तत्पुनर्भवति द्वयङ्गमथवैकाङ्गनिर्मितम् ॥ २६७ ॥

यथा—लटकमेलकादि ।

मुनिस्त्वाह—

'वेश्याचेटनपुसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्यु ।

अविकृतवेषपरिच्छेदचेष्टितकरण तु सङ्कीर्णम्' ॥ इति ।

विकृतं तु विदुर्यत्र पण्डकश्रुकितापसाः ।

भुजङ्गचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्युताः ॥ २६८ ॥

इदं तु सङ्कीर्णेनैव गतार्थमिति मुनिना पृथङ्नोक्तम् ।

विमर्श—प्रहसन' शैली के रूपों का अपना ही उपयोग है जैसा कि नाट्यदर्पाकार का यथेष्ट—

'प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखं पुरुषो न भूयस्तान् वञ्च-
नानुपसर्पति ।'

अर्थात् 'प्रहसन' में दम्भपाखण्ड आदि दुर्गुणोंवाले नायकचरित का जो चित्रण हुआ करता है उल्लेख नानाजिह्वों को यह लाभ हुआ कत्ना है कि वे दम्भी, पाखण्डों आदि लोगों के फेर में उल्लेख से बच जाते हैं ।

अनुवाद—कतिपय नाट्याचार्य उस प्रहसन को सकीर्ण प्रहसन कहा करते हैं जिसमें कोई एक छटनायकों का चरितचित्रण रहा करता है और जो एक अङ्ग अथवा दो अङ्ग का हुआ करता है । 'सकीर्ण' प्रहसन का उदाहरण 'लटकमेलक' आदि प्रहसन प्रबन्ध है ।

यहाँ भगवन्मुनि का मत यह है—

'सकीर्ण प्रहसन वह 'प्रहसन' है जिसमें वेदया, विट, चेष्ट, बन्धकी, नपुमक और विदूषक आदि का चरित चित्रित रहा करता है और उनकी वेष-भूषा और प्रवृत्ति-चेष्टा का अविकल अनुकरण किया जाता करता है ।'

इससे अतिरिक्त 'विकृत' प्रहसन वह प्रहसन-प्रकार है जिसमें नपुमक, वज्रुकी और तापमल्लो, कामुक, चारण और योद्धा लोगों की वेष-भूषा और योल-चाल का अनुकरण किया करते हैं ।

भरतमुनि ने इस तृतीय प्रहसन-प्रकार का निरूपण नहीं किया है क्योंकि उनके अनुसार यह भी द्वितीय प्रहसन प्रकार अर्थात् 'सकीर्ण प्रहसन' में ही अन्तर्भूत है ।

विमर्श—नावप्रकाशकार ने त्रिभिः प्रहसन का यह स्वरूप बताया है—

'भागवत् स्यात् प्रहसनं तत्रिधा परिभिद्यते ।

शुद्धं शाप्यं सङ्कीर्णं क्वचिद् वेदनमिदपि ॥

तत्र धोत्रिचनिग्रन्थशागयादीनां यथायथम् ।

भाषाचेष्टिततद्रूपस्यवाच्यमन्यितम् ॥

चेष्टचेष्टीविद्व्यास शुद्धं प्रहसनं भवेत् ।

लङ्कायकादिशाप्यं सङ्कीर्णमुच्यते ॥

विद्वानुक्तेष्टादिवचोवेषपरम्परा यत् ।

परिवाग्मुनिपञ्जादे रूतं वेदनमुच्यते ॥

(उपरूपक-निरूपण : १ला प्रकार नाटिका)

अथोपरूपकाणि । तत्र—

नाटिका वल्लभवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्गिका ।

प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥ २६९ ॥

स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा ।

नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥ २७० ॥

सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।

देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ २७१ ॥

पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः ।

वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥ २७२ ॥

द्वयोर्नायिकानायकयोः ।

यथा—रत्नावली—विद्धशालभञ्जिकादिः ।

‘सैरन्ध्रिका’ स्यात् सकीर्णा शुद्धा ‘सागरकौमुदी’ ।

‘कलिकेलि’प्रहसन यत्तद्वैकृतमीरितम् ॥’

(भावप्रकाशन ८ अधिप)

अनुवाद—अब उपरूपकों का निरूपण किया जा रहा है । इन उपरूपकों में—
सर्वप्रथम जो उपरूपक है वह ‘नाटिका’ है । ‘नाटिका’ वह उपरूपक है जिसका वृत्त द्वारा कल्पित हुआ करता है । इसमें स्त्री-चरित ही अधिकाधिक चित्रित हुआ करता है । इसका चार अङ्गों में समाप्त होना आवश्यक है । इसमें किसी प्रख्यात राजवंश के, ललित प्रकृति वाले, राजा को ‘नायक’ रूप में रखा जाया करता है । इसमें जो ‘नायिका’ हुआ करती है उसके लिए नायक के अन्तःपुर से सम्बद्ध होना अथवा सगीतकला निपुण होना, राजकुलोत्पन्न होना तथा नवानुरागवती कन्या होना अपेक्षित है । नायक राजा का नायिका के प्रति रतिभाव देवी अथवा राजमहिषी के भय से अनुप्राय रूप से ही प्रकाशित किया जाया करता है । यहाँ ‘देवी’ से अभिप्राय राजकुल में रहने वाली किंवा ‘प्रगल्भा’ प्रकृति वाली राजरानी से है जो कि पग पग पर मान करती है । नायक की जाया करती है तथा जिसकी अनुकम्पा पर ही नायक और नायिका का प्रेम मिलन वर्णित हुआ करता है । इसमें कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य रहा करता है और अश्लेष विमर्श सन्धि के साथ सन्धि-चतुष्टय की रचना हुआ करती है ।

यहाँ (पदे पदे मानवती आदि कारिका में) ‘द्वयोः’ का अभिप्राय ‘नायिकानायक’ नायक और नायिका (के प्रेम मिलन) का अभिप्राय है । उदाहरण के लिये (महाकवि हर्ष रचित) ‘रत्नावली’ (महाकवि राजशेखर-रचित) ‘विद्धशालभञ्जिका’ आदि उपरूपक पर्याप्त हैं ।

विमर्श—‘नाटिका’ नामक उपरूपक वस्तुतः ‘नाटक’ और ‘प्रकरण’ नामक रूपों के वैचित्र्य-सम्मिश्रण से रचा जाया करता है । इसकी ‘इतिवृत्त रचना’ का कल्पित होना आवश्यक है और इसमें ‘नायक’ का राजकुलोत्पन्न होना भी अपेक्षित है, इस प्रकार ‘प्रकरण’ की

(२ रा प्रकारः त्रोटक)

अथ त्रोटकम्—

समाष्टनवपञ्चाङ्गं दिव्यमानुषमंत्रयम् ।

त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्गं सविद्वक्त्रम् ॥ २७३ ॥

प्रत्यङ्गसविद्वक्त्रादत्र शृङ्गारोऽङ्गी । समाह्वयथास्तन्मित्ररन्मम् । पञ्चाह्व

(३ रा प्रकार • गोष्ठी)

अथ गोष्ठी—

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलंकृता ।

नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥ २७४ ॥

हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चपङ्क्त्योपिदन्विता ।

कामशृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ २७५ ॥

यथा—रैवतमदनिका ।

(चौथा प्रकार सट्क)

अथ सट्कम्—

सट्कं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् ।

न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः ॥ २७६ ॥

अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यनाटिकासमम् ।

यथा—कर्पूरमञ्जरी ।

अनुवाद—गोष्ठी-‘गोष्ठी’ वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें नव या दस साधारण श्रेणियों के पुरुषों का चरित वर्णित हुआ करता है। इसीलिये इसमें उदात्त वचन नहीं पाये जाते। इसमें कैशिकी वृत्ति ही प्रधान वृत्ति है। इसमें ५ या ६ स्त्री पात्र आ सकते हैं। सन्धि में गर्भ और विमर्श का यहाँ कोई स्थान नहीं। यहाँ ‘कामशृङ्गार’ अपेक्षित माना गया है। इसकी रचना एक अङ्क में ही की जाया करती है। उदाहरण के लिये ‘रैवतमदनिका’ नामक उपरूपक लिया जा सकता है।

‘विमर्श’—भावप्रकाशनकार शारदातनय के अनुसार ‘गोष्ठी’ का यह स्वरूप है—

‘अथोत्पाद्यकथैकाङ्का गोष्ठी शृङ्गारमन्थरा ।

रूपसौन्दर्यलावण्योपेतपटपञ्चनायिका ॥

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिः दशभिर्वाऽप्यलङ्कृता ।

गर्भावमर्शसन्धिभ्यां शून्या नोदात्तवाकृता ॥

अत्र स्यात् कैशिकी वृत्तिः मृद्वी नान्यरसाश्रया ।

न कुञ्जरघटाघातपात्रं भवति कन्दली ॥’

(भावप्रकाशन : ८म अधिकांश)

विश्वनाथ कविराज का भी गोष्ठी-लक्षण वस्तुतः इसी आशय का है।

अनुवाद—सट्क-‘सट्क’ नामक उपरूपक वह है जिसकी रचना, आरम्भ से अन्त तक, प्राकृत भाषा में की जाया करती है। इसमें ‘प्रवेशक’ और ‘विष्कम्भक’ दोनों में किसी की भी आवश्यकता नहीं हुआ करती। इसका प्रधान रूप से अभिव्यक्त्यर्थ ‘अञ्जुत’ रस हुआ करता है। इसकी और विशेषतायें ‘नाटिका’ की ही विशेषतायें हैं। केवल इसके ‘अङ्कों’ का नाम ‘जवनिका’ हुआ करता है। उदाहरण के लिये (महाकाव्य राजशेखर-प्रणीत) ‘कर्पूरमञ्जरी’ पर्याप्त है।

विमर्श—आचार्य शारदातनय के अनुसार ‘सट्क’ का यह लक्षण है—

(पौर्णवर्षी प्रचार * नाट्यरानक)

अथ नाट्यरासकम्—

नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति ॥ २७७ ॥

उदात्तनायकं तद्वत्पीठमदोषनायकम् ।

तस्योऽङ्गयत्र समृद्धारो नारी वासकसञ्जिका ॥ २७८ ॥

मुखनिर्वहणे सन्धी लाम्याङ्गानि दशापि च ।

केचित्प्रतिमुखं सन्धिपिह नेच्छन्ति केवलम् ॥ २७९ ॥

तत्र सन्धिद्वयवती यथा—नर्मवती । सन्धिचतुष्टयवती यथा—विलासवती ।

‘सदृक नाटिकाभेदे नृत्यभेदात्मक भवेत् ।

केशिकीभारतीयुक्छ्हीनरौडरमादिकम् ॥

सर्वसन्धिविहीनञ्च नाटिकाप्रतिरूपकम् ।

शृंगमेननहाराष्ट्रवाच्यभाषादिकल्पितम् ॥

नङ्कृत्यानीयविच्छेदचतुर्यवनिकान्तरम् ।

छादनस्त्वलनभ्रान्तिनिह्ववादेरमभवात् ॥

न वदेत् प्राकृती भाषा राजेति कतिचिज्जगु ।

नागण्या शौरसेन्या वा वदेद्राजेति केचन ॥

नाटिकाप्रतिरूप यद्विदोषो रूपकस्य तत् ।

सदृक तेन तस्याहु भाषा ता प्राकृती परे ॥

राजशेखरबल्लुत तद् यथा कर्पूरनञ्जरी ।’ (भावद्वय

—नाटिकाप्रतिरूप

(छठा प्रकार • प्रस्थानक)

अथ प्रस्थानकम्—

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः ।

दासी च नायिकावृत्तिः कैशिकी भारती तथा ॥ २८० ॥

सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहतिः ।

अङ्गौ द्वौ लयतालादिविलासो बहुलस्तथा ॥ २८१ ॥

यथा—शृङ्गारतिलकम् ।

(७ वें प्रकार • उल्लाप्य)

अथोल्लाप्यम्—

उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम् ।

शिल्पकाङ्गैर्युतं हास्यशृङ्गारकरुणै रसैः ॥ २८२ ॥

उल्लाप्यं बहुसंग्राममस्रगीतमनोहरम् ।

रसाभिव्यञ्जना आदि-आदि विशेषताओं का भी उद्देश किया है । विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्दिष्ट 'नर्मवती' और 'विलासवती' नामक नाट्यरसक आजकल अनुपलब्ध हैं ।

अनुवाद—प्रस्थानक—'प्रस्थानक' वह उपरूपक-भेद है जिसमें कोई भृत्य 'नायक' रूप में चित्रित हुआ करता है और उसका उपनायक वससे भी हीन श्रेणी का रहा करता है । इसमें किसी दासी को 'नायिका' रूप में रखा जाया करता है । यहाँ 'कैशिकी' और 'भारती' दो वृत्तियाँ अपेक्षित हैं । इसके उपस्थापित विषय की समाप्ति मदिराविनोद वर्णन के साथ हुआ करता है । इसे दो अङ्गों में ही रचा जाया करता है । इसमें लय और ताल आदि आदि सङ्गीतारमक विलास अधिक मात्रा में रहा करते हैं । उदाहरण के लिए 'शृङ्गारतिलक' को लिया जा सकता है ।

विमर्श—भाचार्य शारदातनय ने 'प्रस्थानक' (अथवा प्रस्थान) का यह लक्षण किया है—

'प्रस्थान कैशिकीवृत्तियुत हीनोपनायकम् ।

आपानकेलिललित लयतालकलानुगम् ॥

दासादिनायकं द्वयङ्क विटचेटादिनायकम् ।

मुखनिर्वहणोपेत शृङ्गारतिलक यथा ॥'

(भावप्रकाशन ९म अधिकांश)

वस्तुतः आचार्य शारदातनय और विश्वनाथ कविराज का 'प्रस्थानक' लक्षण एक समान है । दोनों आचार्यों ने 'शृङ्गारप्रकाश' को प्रस्थानक के ही उदाहरण-रूप में स्वीकार किया है ।

अनुवाद—उल्लाप्य—'उल्लाप्य' (अथवा उल्लाप्यक) वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें किसी उदात्त प्रकृति के नायक का चरित-चित्र खींचा जाया करता है । इसका वृत्त देवता सवन्धी वृत्त हुआ करता है । इसमें एक अंक का ही विधान अपेक्षित है । (आगे निर्दिष्ट 'शिल्पक' नामक उपरूपक-प्रकार के (आशसनादि) अंक इसमें भी निबद्ध किये जा सकते हैं । इसमें शृङ्गार, हास्य और करुण रस का अवतार अपेक्षित माना गया है । इस सुन्दर बनाने के लिये संग्राम के वर्णन और 'अन्नगोत' (अन्तर्जवनिक—परदे के पीछे) गायान जाने वाला किंवा प्रस्तुत विषय सूचक गीत के गायन का सहारा लिया जा

चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन ॥ २८३ ॥

शिन्पञ्चाङ्गानि वन्द्यनागानि । दया-देवीमनोदेवम् ।

(८ वा प्रज्ञा—ज्वर)

अथ काव्यम्—

काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कं हान्यनङ्कुलम् ।

खण्डमात्रादिपदिकाभग्नतालैरलङ्कृतम् ॥ २८४ ॥

वर्णमात्राच्छृङ्गणिकायुतं शृङ्गाग्भाषिनम् ।

नेता त्वी चाप्युदात्तात्र नन्धो आद्यौ तथान्तिमः ॥ २८५ ॥

यथा—दादयोदयम् ।

(९ वा प्रकार—प्रेक्षण)

अथ प्रेक्षणम्—

गर्भावमर्शरहितं प्रेक्षणं हीननायकम् ।

असूत्रधारमेकाङ्गमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥ २८६ ॥

नियुद्धसम्प्रेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम् ।

नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

यथा—वालिबधः ।

कुलाङ्गनावेशयुत ललितोदात्तनायकम् ।

एव प्रकल्पयेत् काव्य तद् गौडविजयो यथा ॥

विप्रामात्यवणिक्पुत्रनायिकानायकोज्ज्वलम् ।

मुदितप्रमदाभापाचेष्टितैरन्तरान्तरा ॥

प्रथित विटचेटादिवेपभापाभिरेव वा ।

एव वा कल्पयेत् काव्य यथा सुग्रीवकेलनम् ॥'

(भावप्रकाशकन ९ म अधिका

‘काव्य’ नामक उपरूपक और श्रव्य-काव्य का अवान्तर भेद ‘काव्य’ परस्पर भिन्न भिन्न कृतियाँ हैं। शारदातनय का ‘काव्य’लक्षण साहित्यदर्पण के ‘काव्य’लक्षण से कुछ भिन्न है। शारदातनय को ‘सुग्रीवकेलन’ नामक एक और ‘काव्य’ का पता है।

अनुवाद—‘प्रेक्षण’ वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें नीच प्रकृति का नायक चित्रित किया जाया करता है। इसमें ‘गर्भ’ और ‘विमर्श’ दोनों सन्धियाँ नहीं रची जा सकती। इसमें सूत्रधार की कोई आवश्यकता नहीं। इसके लिये एक अङ्ग की रचना अपेक्षित है। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक दोनों में से कोई नहीं रचा जाया करता इसमें नियुद्ध (द्वन्द्वयुद्ध) और सम्प्रेट (सरोप भाषण) आवश्यक है। इसमें सभी वृत्ति अपेक्षित हैं। इसमें नेपथ्य में ही ‘नान्दी-नायन’ किया जाया करता है और ‘प्ररोचना’ (कवि-नट-सामाजिक आदि की प्रशंसा) भी कर दी जाया करती है। इसका उदाहरण ‘वालिबध’ है।

विमर्श—‘प्रेक्षण’ को ही ‘प्रेक्षणक’ भी कहते हैं। शारदातनय ने ‘प्रेक्षणक’ (प्रेक्षण) यह लक्षण दिया है—

‘पदार्थामिनय यस्य ललित च लयान्वितम् ।

कुरुते नर्तकी यत्र सोऽपि नर्तनक पुनः ॥

लास्य द्विधा स्याच्छ्लिष्य समरथ्यासमन्वितम् ।

सुतालचतुरस्त्राभ्यां यत्र कर्तुं प्रवर्तते ॥

गर्भावमर्शरहित सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।

प्रभूतमागधीशौरसेनीकं रसभावयुक् ॥

द्विसन्धीति वदन्त्येतदुत्तमाधमनायकम् ।

भारत्यारभटीयुक्त कचिहस्तात्तत्र सारवती ॥

यथा वालिवधाल्यश्च नृसिंहविजयो यथा ।

पूर्णनेपथ्यपाठैर्वा नान्दी तस्य विधीयते ॥

(१०वा प्रकर—रामक)

अथ रामकम्—

रामकं पञ्चपात्रं न्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।
भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैंगिकीयुतम् ॥ २८८ ॥
अमृत्रधारमेकाङ्गं सवीथ्यङ्गं कलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुतं रूपातनायिकं मूर्खनायकम् ॥ २८९ ॥
उदात्तभावविन्यामनश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते ॥ २९० ॥
यथा—मेनकाहितम् ।

कचिद् रामावमशौ स्त' कचिद् वृत्तिचतुष्टयम् ।
कचिन्नेपथ्यवाक्पाठ्य न कदाचन सूत्रष्टम् ॥
एव प्रेक्षक विधाद् यथा त्रिपुरनर्दनम् ॥'

शारदातनय के अनुसर 'नन्दक' और 'प्रेक्षक' दोनों प्रेक्षक-प्रका है। विद्वन्नाथ विराज ने 'नन्दक' को छोड़ दिया है। शारदातनय के समय तक तीन प्रेक्षक सम्भव प्रतीत होते हैं जबकि विद्वन्नाथ विराज को एक अर्थात् 'वर्णिक' का ही पता है।

अनुगत—'रामक' वह उपरूपक-भेद है जिसमें पांच-पांच पात्र रहा करते हैं। इसमें 'मुख' और 'निर्वहण' दो सधिया ही रची जाया करती है। इसमें 'भाषा' और 'विभाषा' दोनों का अधिकाधिक प्रयोग हुआ करता है। इसके लिये भारती और कैंगिकी—दो वृत्तिया पर्याप्त है। इसमें भी 'सूत्रधार' नहीं रहा करता। इसकी रचना एक लहू में ही की जाया करती है। इसमें 'वीथी' के सभी लहू की योजना आवश्यक है। इसके लिये नृप-नात आदि-आदि कलाओं की सपेक्षा हुआ करती है। इसका नाम्नी गायन गिट्ट पर द्वारा किया जाया करता है। इसकी नायिका कोई प्रसिद्ध रमणी हुआ करती है और इसका नायक कोई मूर्ख पन्थ। इसमें उत्तरोत्तर उदात्त भाषों का विन्यास किया जाया करता है। कुछ नाट्याचार्य इसके लिये प्रतिमुख सन्धि की भी रचना आवश्यक मानते हैं। इसका उदाहरण 'मेनकाहित' नाम का उपरूपक-ग्रन्थ है।

विमर्श—'रामक' का नामात्मक के सम्बन्ध में कदाचित् ही न होता है, मेनकाहित के नामात्मक-नामों मिलते हैं। विद्वन्नाथ विराज ने इसका भेद किया है।

'रामिकाभाषा' का 'रामक' नाम विद्वन्नाथ विराज के नाम-रूप में मिल है—

'नन्दकनर्तकी योज्य चित्रतालव्यान्वितम् ।

भाषतुष्टिष्टिगुलाट्टावक मसूनेष्टनम् ॥'

यथा—'राम' का सूत्र-नाम प्रका है न कि नन्दकम् ।

विद्वन्नाथ विराज का राम-नाम आवश्यकतान्ता के पर प्रका है राम-नाम के सम्बन्ध में—

'सथ राममेकाङ्ग सूत्रयोगे यज्ञितम् ।

सुश्लिष्टनान्दीयुष्टन्य पञ्चपात्र त्रिसन्धिरम् ॥

रामाभाविभाषानि कैंगिकीनारम्भयुतम् ।

(११ वा प्रकार—संलापक)

अथ संलापकम्—

संलापकेऽङ्गाश्चत्वारस्त्रयो वा नायकः पुनः ।

पापण्डः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकरुणेतरः ॥ २९१ ॥

भवेयुः पुरसंरोधच्छलसंग्रामविद्रवाः ।

न तत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कैशिकी ॥ २९२ ॥

यथा—मायाकापालिकम् ।

(१२ वा प्रकार—श्रीगदित)

अथ श्रीगदितम्—

प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।

प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम् ॥ २९३ ॥

वीथ्यङ्गमण्डित मुख्यनायक प्रख्यातनायिकम् ।

गर्भावमर्शश्च कलापोद्देशभूषितम् ।

उदात्तभावविन्यासभूषित सोत्तरोत्तरम् ॥

एवं लक्षणमुद्दिष्ट रसकस्यात्र कैश्चन ।

(भावप्रकाशन • ९ म अधिकार)

अनुवाद—‘संलापक’ वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना तीन या चार अङ्कों हुआ करती है, जिसमें किसी पापण्डी को नायकरूप में चित्रित किया जाया करता और जिसमें, शृङ्गार और करुण को छोड़कर और कोई भी एक रस अङ्गीरूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है । इसमें नगरोपरोध, छल, संग्राम, भ्रम-सभ्रम आदि आदि वर्णना का वाहुल्य रहा करता है । इसके लिये न तो भारती वृत्ति अपेक्षित है और कैशिकी, इसका उदाहरण ‘माया-कापालिक’ है ।

विमर्श—भावप्रकाशनकार ने ‘संलापक’ का यह विशद लक्षण किया है—

‘सञ्ज्ञापस्येतिवृत्त यख्यात चोत्पाद्यमेव वा ।

मिश्र वा तत्र शृङ्गारहास्यौ नैवार्हतः क्वचित् ॥

शबलो वीररौद्राभ्यासङ्गान्यन्ये रसा स्मृताः ।

प्रायः सपन्नशान्तश्च क्रुद्धपाषण्डनायकः ॥

दैवारिजन्यकपटयुद्धस्थानोपरोधवान् ।

सात्वत्यारभटीवृत्तिसहितश्च सविद्रवः ॥

अङ्गास्त्रयो द्वितीयेऽङ्के तालप्राचुर्ययुग्मवेत् ।

वृत्तयोऽङ्क सकपटः प्रथमोऽङ्क सविद्रवः ।

चतुःसन्धि प्रतिमुखश्चन्यः सञ्ज्ञापको भवेत् ॥’

(भावप्रकाशन ९ म अधिकार)

अनुवाद—श्रीगदित—‘श्रीगदित’ वह उपरूपकभेद है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात वृत्त का बना हुआ होता है, जिसकी रचना एक अङ्क में समाप्त होती है और जिसमें किसी और धीरोदात्त प्रकृति के नायक का चरित चित्रित किया हुआ होता है । इसका

भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम् ।

मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम् ॥ २६४ ॥

यथा—क्रीडारसातलम् ।

श्रीरामीना श्रीगदिते गायेल्लिचिन्पट्टेदपि ।

एकाङ्को भारतीप्राय इति केचित्प्रचक्षते ॥ २६५ ॥

उद्यमुदाहरणम् ।

(१२ वा प्रकार-शिल्पक)

अथ शिल्पकम्—

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः म्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा ।

अशान्तहास्याश्च गसा नायको ब्राह्मणो मतः ॥ २६६ ॥

वर्णनात्र श्मशानादेर्हीनः म्यादुपनायकः ।

सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु ॥ २६७ ॥

आगमातर्कसंदेहतापोद्देशप्रमत्तयः ।

गयिका के लिये प्रख्यात होना आवश्यक है । इसमें गमन और विमर्श सधियों नहीं हुआ जती । इसमें भारती वृत्ति का बाहुल्य रहा करता है और 'श्री' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ करता है ।

इसका उदाहरण 'क्रीडारसातल' नामक उपरूपक-प्रबन्ध है ।

'श्रीगदित' का एक और भी प्रकार है जिसे कनिष्व नाट्याचार्य माना करते हैं । इस श्रीगदित-प्रकार में श्रीवेषधारिणी नटी रगमच पर बैठ कर कुछ गायी और पद पढ़ती श्रवणी जाया करती है । इसमें एक अङ्क हुआ करता है और भारती वृत्ति का प्राचुर्य हा करता है ।

इसका उदाहरण हंदा जा सकता है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार का द्वितीय 'गतानि' नहुन मोन्नाज के इन गंगदिन-
न हुन्ना कता है—

‘तत्र श्रीतिव दानउल्लोचनिन कुलादना पयु ।

वर्णयति नौर्यधयप्रभृतिगुणानप्रत्यम्ना ॥

एव्या च विप्रलम्भा गानये तान् प्रमादवाचने ।

श्रीगदितमिति मनीषिभिर्ज्ञातान्तेऽर्था पयामिनय ॥’ (२६७२२२)

प्रयत्नग्रथनोत्कण्ठावद्विधाप्रतिपत्तयः ॥ २६८ ॥

विलासालस्यवाष्पाणि प्रहर्षाश्वासमूढताः ।

साधनानुगमोच्छ्वासविस्मयप्राप्तयस्तथा ॥ २६९ ॥

लाभविस्मृतिसंफेदा वैशारद्यं प्रबोधनम् ।

चमत्कृतिश्चेत्यमीपां स्पष्टत्वाल्लक्ष्म नोच्यते ॥ ३०० ॥

संफेदग्रथनयोः पूर्वमुक्तत्वादेव लक्ष्म सिद्धम् ।

यथा—कनकावतीमाधवः ।

(१४ वा प्रकार-विलासिका)

अथ विलासिका—

शृङ्गारबहुलैकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता ।

विदूषकविटाभ्यां च पीठमर्देन भूषिता ॥ ३०१ ॥

हीना गर्भविमर्शाभ्यां संधिभ्यां हीननायका ।

स्वल्पवृत्ता सुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका ॥ ३०२ ॥

(६) प्रसक्ति, (७) प्रयत्न, (८) ग्रथन, (९) उत्कण्ठा, (१०) अवहित्या, (११) प्रति
(१२) विलास, (१३) आलस्य, (१४) वाष्प, (१५) प्रहर्ष, (१६) आश्वास, (१७)
(१८) साधनानुगम, (१९) उच्छ्वास, (२०) विस्मय, (२१) प्राप्ति, (२२)
(२३) विस्मृति, (२४) संफेद, (२५) वैशारद्य, (२६) प्रबोधन और (२७) चमत्कृति
अङ्गों के लक्षण इनके नाम से ही स्पष्ट हैं ।

इनमें 'संफेद' और 'ग्रथन', जो अधिक पारिभाषिक हैं, पहले ही स्पष्ट कर दिये ।
इस उपरूपक-प्रकार का उदाहरण 'कनकावतीमाधव' नामक उपरूपक-प्रबन्ध है ।
विमर्श—विश्वनाथ कविराज का 'शिल्पक'-लक्षण भावप्रकाशनकार के इस शिल्पक
का अनुसरण करता है—

'शिल्पकश्चतुरङ्कः स्याच्चतुर्वृत्तिविराजितः ।

हास्यं विना रसैः पूर्णः स्वतो ब्राह्मणनायकः ॥

हीनोपनायकः क्वापि श्मशानादिसमाकुलः ।

ऊढा पुनर्भूः कन्या वा ताः स्युः सच्चिवविप्रजाः ॥

मालती माधवस्येव कमलस्य कलावती ।

अङ्गानि सप्तविंशत्युत्कण्ठादीनि च क्रमात् ॥

(भावप्रकाशन ९ म अंश)

अनुवाद—विलासिका—'विलासिका' वह उपरूपक-प्रकार है जो शृङ्गाररस
हुआ करता है और जिसकी रचना के लिये एक अङ्क पर्याप्त माना गया है । इसमें
के दसों अङ्गों की योजना आवश्यक है । इसमें विदूषक, विट और पीठमर्द का चरित्र
अपेक्षित है । इसमें गर्भ और विमर्श सधियां नहीं हुआ करतीं । इसका नायक
प्रकृति का पुरुष हुआ करता है । इसमें वृत्त की मात्रा थोड़ी रहा करती है ।
वेशभूषा पर विशेष ध्यान रखा जाया करता है ।

केचित्तु तत्र विलामिकान्याने विनायिकेति पठन्ति । तन्ग्रन्थे 'दुर्मल्लिका-
गमन्तर्भाव' इत्यन्ये ।

(१४ वाँ प्रकार-दुर्मल्लिका)

अथ दुर्मल्लिका—

दुर्मल्ली चतुरङ्गा स्यात् कैशिकीभारतीयुता ।

अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता ॥ ३०३ ॥

त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कास्यां विटक्रोडामयो भवेत् ।

पञ्चनालिद्वितीयोऽङ्को विदूषक विलासवान् ॥ ३०४ ॥

षण्णालिकस्तृतीयन्तु पीठमर्दविलासवान् ।

चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रोडितनागः ॥ ३०५ ॥

यथा—विन्दुमती ।

कतिपय नाट्याचार्य होने 'विलासिका' न कह कर 'विनायिका' कहा करते हैं । और
कुछ 'विनायिका' को 'दुर्मल्लिका' नामक उपरूपक-भेद में लम्बर्भूत देखा करते हैं ।

विमर्ग—नावप्रकाशनकार ने इन उपरूपक-प्रकार का कोई निर्देश नहीं किया है ।

अन्वय—दुर्मल्लिका—'दुर्मल्लिका' वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना चार अङ्कों
की जाया करती है और जिसमें कैशिकी और भारती वृत्ति का उपनिर्गन्धन हुआ करता
है । इसमें गर्भ सन्धि नहीं हुआ करती । इसके पात्र कटाक्षाल हुआ करते हैं । इसका
नायक नीच प्रवृत्ति का व्यक्ति हुआ करता है । इसका प्रथम अङ्क देखा हुआ करता है
जिसका अभिनय तीन नाट्य (६ घण्टी) का समय लिया करता है और विट की विविध
झांझों में परिपूर्ण रहा करता है । इसके दूसरे अङ्क के अभिनय में पाँच नाट्य (१० घण्टी)
का समय लगा करता है और विदूषक को लीलायें प्रचुर मात्रा में रहा करती हैं । इसका
तीसरा अङ्क ६ नाट्य (१२ घण्टी) का समय लिया करता है और पीठमर्द की भावभंगिओं
से भरपूर हुआ करता है । इसके चौथे अङ्क में दश नाट्य (२० घण्टी) का समय लगा
करता है और नायक को झोठापें प्रदर्शित की जाया करती हैं ।

इसका उदाहरण 'विन्दुमती' नामक उपरूपक प्रस्तुत है ।

विमर्ग—नावप्रकाशनकार ने 'दुर्मल्लिका' का कोई उदाहरण नहीं दिया है —

अथ दुर्मल्लिकानाम प्राञ्जनागरनायिका ।

चतुरङ्गा चतुर्म्मन्थिगर्भमन्थिप्रिनाहृता ॥

प्रियो प्रियमति स्वेन प्रथमाहो प्रियलज्जिका ।

विदूषके द्वितीयेष्टे मित्तवस्त्रनायिका ॥

पीठमर्दो विहरति तृतीये मत्त नायिका ।

विदाविप्रितदर्थज्ञा चतुर्थे दश नायिका ॥

द्वैचरति प्रणिभेद यूनेरनुगागमनं एवम् ।

यत्र मन्त्रक्याभि दुरते त्वि दृष्टिना रतिमि ॥

मन्त्रपति घनद्विचरन्त्यज्ञातिभेद यात्रनेष यन्तु ।

एवम्पारि लघुमित्रनिषा मा दुर्मल्लिका नायिका ॥

(१६ वाँ प्रकार—प्रकरणिका)

अथ प्रकरणिका—

नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाद्वादिनायका ।

समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका ॥ ३०६ ॥

मृग्यमुदाहरणम् ।

(१७ वाँ प्रकार—हल्लीश)

अथ हल्लीश—

हल्लीश एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः ।

वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्ज्वला ।

मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः ॥ ३०७ ॥

यथा—केलिरैवतकम् ।

पुनां दुर्मल्लिकां मन्ये प्राहुर्मल्लिकामिति ।

यस्यामुद्गाव्यः स्यात् पुरोहितामात्यतापसादीनाम् ॥

प्राग्धानिर्वाहः सापि च मल्लिका भवति ।

सुद्रकथा मल्लिका येह महाराष्ट्रभाषया भवति ॥

गोरोचने च कार्याऽनङ्गवती भावरसविद्या ।

(भावप्रकाशन . ९ म अधिका)

साहित्यदर्पणकार का 'दुर्मल्लिका' लक्षण 'भावप्रकाशन' के प्रथम दुर्मल्लिका-प्रकार का लक्षण

अनुवाद—प्रकरणिका—'प्रकरणिका' (प्रकरणी) वस्तुतः उस नाटिका को कहा है हैं जिसमें नायक के रूप में सार्थवाह (सेठ) आदि का चित्रण किया जाया करत और नायिका के रूप में उसकी सजातीय किसी स्त्री का ।

इसका उदाहरण हृदना चाहिये ।

विमर्श—'प्रकरणी' का निरूपण नाट्यदर्पणकार ने भी किया है किन्तु इसे 'रूपक' की। में स्थान दिया है न कि उपरूपक की । 'नाटिका' और 'प्रकरणी' वस्तुतः नाटक और प्रकरण विशेषताओं के साङ्ख्य के परिणाम हैं (कैशिकीवहुलत्वं च नाटकधर्मः, प्रकरणस्यात्यर्थं कीत्वात् । कल्प्यार्थत्वं वणिगादिनायकत्वं च प्रकरणधर्मः । तथा नाटकप्रकरणोऽप्यित्येवम्)

(नाट्यदर्पण २ य वि०)

अनुवाद—हल्लीश—'हल्लीश' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें एक ही अङ्क रहा है और सात, आठ या दस स्त्रीपात्र हुआ करते हैं । इसका नायक उदात्तवाणी का हुआ करता है । इसमें कैशिकी वृत्ति का बाहुल्य अपेक्षित है । इसमें मुख और निः केवल दो ही सधिया पर्याप्त हैं । इसमें राग, चाल, लय आदि का प्राचुर्य रहा करता है ।

उदाहरण के लिए 'केलिरैवतक' पर्याप्त है ।

विमर्श—अभिनवभारतीकार का हल्लीशक लक्षण यह है—

'मण्डलेन तु यन्मृत्त हल्लीसकमिति स्मृतम् ।

एकस्तत्र तु नेता स्यात् गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥'

(अभिनवभारती पृष्ठ १)

(१८ वॉ प्रकर—भाणिका)

अथ भाणिका—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता ।

कैशिकीभारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ३०८ ॥

उदात्तनायिका मन्दनायकात्राङ्गमसक्तम् ।

उपन्यासोऽथ विन्यासो विवोधः नाध्वनं तथा ॥ ३०९ ॥

समर्पणं निवृत्तिश्च मंदार इति मस्रमः ।

उपन्यासः ग्रमङ्गेन भवेत्कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥

निवेदेवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति न स्मृतः ।

आन्तिनागो विवोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु नाध्वनम् ॥ ३११ ॥

नोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम् ।

निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिगिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥

मंदार इति च प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम् ।

(२—पद्यात्मक स्रव्य-प्रकार • युग्मक)

युग्मक यथा मम—

‘किं करोपि करोपान्ते कान्ते । गण्डस्थलीमिमाम् ।
 प्रणयप्रवणे कान्तेऽनैकान्ते नोचिता’ क्रुधः ॥
 इति यावत्कुरङ्गाक्षी वक्तुमीहामहे वयम् ।
 तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ॥’
 एवमन्यान्यपि ।

‘मुक्तक’ और ‘रस’ का सम्बन्ध अदृष्ट है । प्रबन्धकार्यों में तो विभावादियोजना का प्रसङ्ग दिखाया गया करता है किन्तु ‘मुक्तक’ में रस-योजना के पृथक् पृथक् तत्त्व इतने दृश्यालु हुआ करते हैं कि एक से ही अन्य-ममाक्षेप हो जाया करता है और रस का आप्त प्रारम्भ हो जाता है ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ‘मुक्तक’ की जो यह निरुक्ति बतायी है—

‘मुक्तमन्येनानालिङ्गित तस्य सञ्ज्ञाया कन् । तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराप्त सार्धमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते—(ध्वन्यालोकलोचन • ३ य उद्योत) ।’
 उसमें ‘मुक्तक’ के स्वरूप की सुन्दर झाँकी दिखायी देती है ।

अनुवाद—इसी प्रकार ‘युग्मक’ का उदाहरण भी निम्न स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—
 ‘जैसे ही मैंने उस मृगनयनी सुन्दरी को कहना चाहा—प्रिये ! तू क्योंकि अपने हृदय पर कपोलस्थली रखे पड़ी है, तेरा प्रियतम तो एकमात्र तेरे ही प्रेम में पगा है, ऐसे प्रेमी के प्रति मान-कोप की क्या आवश्यकता—कि आम्न-मञ्जरियों के झुरझुर मधुर श्रमर गुजार सुनाई पड़ने लगी ।’

इसी भाँति और पद्यात्मक काव्य-प्रकारों जैसे कि सांदानितक आदि के उदाहरण स्वयं उद्धृत किये जा सकते हैं ।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने ‘युग्मक’ और ‘सांदानितक’ को दो पृथक् प्रकार का काव्य कहा है किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार ‘युग्मक’ ही ‘सांदानितक’ प्रतीत है । ‘सांदानितक’ का लक्षण आचार्य अभिनवगुप्त ने यह किया है—‘द्वाभ्यां क्रियासम सन्दानितकम्’ (ध्वन्यालोकलोचन ३ य उद्योत) । काव्यानुशासनकार हेमचन्द्राचार्य अनुसार भी ‘युग्मक’ कोई पृथक् पद्यकाव्य-प्रकार नहीं अपितु ‘सांदानितक’ ही, दो पद्य पूर्ण होने के कारण, ‘युग्मक’ कहा जा सकता है ।

विश्वनाथ कविराज ने आचार्य अभिनवगुप्त और हेमचन्द्राचार्य के ‘विशेषक’ नामक का प्रकार को, जो तीन पथों में पूर्ण हो जाया करता है, (त्रिभिर्विशेषकम्) ‘सांदानितक’ मान रखा है । इस ‘विशेषक’ अथवा ‘सांदानितक’ का उदाहरण महाकवि माधव का यह ‘विशेषक’ (असांदानितक) है—

‘अशिथिलमपराऽवसज्य कण्ठे दृढपरिरब्धबृहद्बहिस्तनेन ।
 हृषिततनुरुहो भुजेन भर्तुर्भृदुममृदुव्यतिषद्भमेकबाहुम् ॥
 सुहुरसुसममाप्तती नितान्त प्रणदितकाञ्चिनितम्बमण्डलेन ।
 विषमितपृथुहारयष्टितिर्यक्कुचमितर तदुर-स्थले निपीड्य ॥
 गुरुतरकलनूपुरानुनाद सललितनर्तितवामपादपद्मा ।
 इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमथर जगाम ॥’

(महाकाव्य स्वरूप-विनिश्चय)

मर्गवन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१५ ॥

किन्तु आचार्य महिनाय ने महाकवि नाय के निम्न 'मृदान्तिक' कथात्--

'विरोधिवचसो मूकान् वागोशानपि कुर्वते ।

जडानप्यनुलोमार्थान् प्रवाच कनिना गिर ॥

सहितस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयम् ।

सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥'

(विशुनालकथ = २४, २७)

१ वहैख मिया है जिनकी रचना दो पद्यों में ही पूर्ण है ।

'कलापक' को परिभाषा आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यह है--'चतुर्भिः कलापकम्'
अर्थात् दो काव्यवन्ध 'कलापक' है जो चार पद्यों का बना होता है । इसका उदाहरण यह है--

'या धर्मभामस्तनयापि शीतलं स्वमा यमस्यापि जनस्य जीवने ।

कृष्णाऽपि शुद्धैरधिक विधातृभिर्विहन्तुमहानि जलैः पटीयसी ॥

यस्या महानीलतटीरिव द्रुता प्रयान्ति पीत्वा हिमपिण्डपाण्डव ।

कालीरपस्ताभिरिवाऽनुरज्जिवा क्षणेन भिनाञ्जनवर्णतां वना ॥

व्यक्तवलीयान् यद्वि हेतुरागनादपूरयत् ना जलधि न जाह्नवी ।

गङ्गाधनिर्भस्मितशङ्खमुक्थरासवर्णनर्णं कथमन्यथाऽस्य तत् ॥

अभ्युद्यतस्याक्रमितु जवेन गा तनालनीला नितरा धृतायनि ।

नीमेव सा तस्य पुर जग वनौ जलान्वुरागेर्महतो महापता ॥

(निम्नलिखित -- --)

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।

एकवंशमवा भूपाः कुलजा वहवोऽपि वा ॥ ३१६ ॥

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।

अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ॥ ३१७ ॥

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥ ३१८ ॥

आदौ नमस्कियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।

कचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ ३१९ ॥

एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।

नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥ ३२० ॥

नानावृत्तमयः कापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।

या प्रख्यात राजवंश का राजा हो, ऐसा हुआ करता है जिसमें 'धीरोदात्त' नायक के गुण विद्यमान रहा करते हैं। किसी किसी महाकाव्य में एक राजवंश में उत्पन्न, अनेकों कुलीन राजाओं की भी चरित्र चर्चा दिखाई देती है। (रसामिव्यञ्जन की दृष्टि से) शृंगार, वीर और शांत रसों में से कोई एक हो रस किसी महाकाव्य में 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' रूप से परिपुष्ट किया जा सकता है। इन तीनों रसों में से जो रस भी 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' रखा जाय, उसकी अपेक्षा अन्य सभी रस 'अङ्ग' अथवा 'अप्रधान' रूप से अविवक्षित किये जा सकते हैं। (संस्थान-रचना की दृष्टि से) नाटक की सभी सन्धिया महाकाव्य में आवश्यक मानी गई हैं। (इतिवृत्त-योजना की दृष्टि से) कोई भी ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोकप्रसिद्ध वृत्त यहाँ वर्णित किया जा सकता है। वैसे तो (उपयोगिता की दृष्टि से) महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय का काव्यात्मक निरूपण किया जाया करता है किन्तु परम फल के रूप में किसी एक का ही सर्वतोभद्र उपनिबन्ध युक्तियुक्त माना गया है।

इन उपर्युक्त स्वरूप सगत विशेषताओं के अतिरिक्त कतिपय अन्यान्य भी विशेषताएँ हैं जो सर्गबन्धरूप महाकाव्य में पायी जाया करती हैं। जैसे कि—(१) महाकाव्य का आरम्भ मङ्गलात्मक हुआ करता है। यह मङ्गल या तो 'नमस्कारात्मक' हो, या 'आशीर्वादात्मक' हो या 'वस्तुनिर्देशात्मक' हो, महाकवि की इच्छा कि वा विषय वर्णन पर निर्भर है। (२) किसी किसी महाकाव्य में 'खलनिन्दा' (दुष्ट प्रकृति के आलोचकों की निन्दा) तथा 'सप्रशंसा' (साधु प्रकृति के आलोचकों की प्रशंसा) भी उपनिबद्ध रहा करती है। (३) प्रत्येक सर्ग में किसी एक वृत्त में बद्ध पद्य रचे जाया करते हैं और प्रत्येक सर्गान्त में, उस वृत्त को छोड़ कर अन्य वृत्त में पद्य-रचना की जाया करती है। (४) आठ सर्ग से कम सर्ग महाकाव्य में नहीं हुआ करते और ये सर्ग भी ऐसे हुआ करते हैं जो न तो बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े। (५) किसी किसी महाकाव्य में भिन्न भिन्न वृत्तों में भी बद्ध पद्यों से सर्ग-निर्माण हुआ करता है। (६) किसी सर्ग के

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥ ३२१ ॥

संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥ ३२२ ॥

संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।

रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥ ३२३ ॥

वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।

कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ ३२४ ॥

नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।

सन्ध्यङ्गानि यथालाभमत्र विधेयानि 'अवसानेऽन्यवृत्तकै' इति बहुवचनम-
विवक्षितम् । साङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः ।

यथा—रघुवश-शिशुपालवध-नैषधद्वय ।

अन्त में उसके अगले सर्ग में जाने वाले वृत्त की सूचना आवश्यक हुआ करती है । (७)
सर्गबन्धात्मक काव्य में इन इन विषयों का यथास्थान किंवा यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग
वर्णन किया जाता करता है—(१) संध्या (२) सूर्य (३) चन्द्र (४) रात्रि (५)
प्रदोष (६) अन्धकार (७) दिन (८) प्रातः काल (९) मध्याह्न (१०) मृगया
(११) पर्वत (१२) ऋतु (१३) वन उपवन (१४) समुद्र (१५) संभोग (१६)
विप्रयोग (१७) मुनि (१८) स्वर्ग (१९) नगर (२०) यज्ञ (२१) मन्त्राम (२२)
यात्रा (२३) विवाह (२४) सामाधुपायचतुष्टय (२५) पुत्रजन्म आदि आदि । (८)
महाकाव्य का नामकरण-मस्कार कवि के नाम पर वर्ण्य चरित के आधार पर, नायक के
नाम के अनुसार अथवा इनके अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर किया हुआ रहता
है और (९) महाकाव्य के सर्ग का भी नाम रखा जाता करता है जो कि उसमें
वर्ण्य वृत्त के अनुसार हुआ करता है ।

महाकाव्य में सन्धिपञ्चक की रचना तो अनिवार्यतः हुआ करती है किन्तु सन्धिपञ्चकों
की रचना (अनिवार्य नहीं अपि तु) उनकी उपयोगिता की दृष्टि से ही चयन-चयनी
जाया करती है ।

यहाँ ('एकवृत्तमयं पद्य' आदि कारिका में) 'अवसानेऽन्यवृत्तक' (अन्त में भिन्न
वृत्तों में रचना) का अभिप्राय (सर्ग-रचना में व्यवहृत वृत्त की अपेक्षा) सर्गान्त में
किसी एक भिन्न वृत्त की रचना का अभिप्राय है (न कि अनेकानेक भिन्न वृत्तों का)
क्योंकि यहाँ बहुवचन के प्रयोग में बहुत्व का अभिप्राय विवक्षित नहीं ।

संध्यादि के 'साङ्गोपाङ्ग' वर्णन का तात्पर्य जलकेलि, मधुपान आदि-आदि, उन-उन
कालों अथवा स्थानों आदि में समस्त मानव कार्य-कलापों तथा मनोविनोदों के वर्णन का
तात्पर्य है ।

सर्गबन्धरूप 'महाकाव्य' के उदाहरण के रूप में 'रघुवश' (जिसका नाम उग्र
नायक के वंशज एक महाप्रतापी राजा के नाम पर है), 'शिशुपालवध' (जिसका नाम
प्रतिनायक सखन्धी वृत्त के नाम पर है और 'नैषध' (जिसका नाम नायक के उपनाम

यथा वा मम—राघवविलासादिः ।

पर है) आदि देखे जा सकते हैं । अथवा मेरी 'राघवविलास' आदि 'सर्गबन्ध' 'महाकाव्य' के निदर्शनार्थ पर्याप्त है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का 'महाकाव्य'-लक्षण जितना विशद और पूर्ण है उ आलङ्कारिकों का नहीं । साहित्यदर्पणकार ने शतशृत्त, चरितचित्रण और रसभावों तीनों की दृष्टि से 'महाकाव्य' का स्वरूप-निरूपण किया है । साहित्यदर्पण का महाक वस्तुतः लोचनकार के इस सूक्ष्म संकेत अर्थात्—'महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः सम वर्णनाप्रबन्ध सर्गबन्ध संस्कृत एव ।' (ध्वन्यालोकलोचन . ३५ उद्योत) का विशद

यहाँ महाकाव्य में सन्धि-सन्ध्यद्वादि योजना का निर्देश ध्वनिकार की इस मान्य समर्थन है—

‘विभावभावानुभावसञ्चार्योचित्यचारुणः ।

विधिः कथाशरीरस्य घृतस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥

इतिवृत्तवशायातां त्यक्तवाननुगुणां स्थितिम् ।

• उत्प्रेक्षयाऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोक्तयः ॥

सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिग्नयपेक्षया ।

न तु केवलया शास्त्रस्थितिसपादनेच्छया ॥

उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।

रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥

अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुस्यूतेन योजनम् ।

प्रबन्धस्य रसादीनां व्यक्षकत्वे निबन्धनम् ॥' (ध्वन्यालोक ३

साहित्यदर्पणकार ने 'महाकाव्य' की और जिन छोटी-मोटी विशेषताओं का उल्लेख है वस्तुतः सभी उपलब्ध महाकाव्यों की विशेषतायें हैं ।

भावप्रकाशनकार ने 'सर्गबन्ध' का तो लक्षण अवश्य किया है किन्तु इसे 'महाक कहा है—

‘यत्र श्रुतीतिहासार्थाः पेशला वाप्यपेशला ।

निबद्धा वर्णनोपेता सर्गबन्धः स इष्यते ॥

सर्गबन्धेन तुल्यो यः प्राकृतेन निबध्यते ।

आश्वासबन्धः स इति सेतुबन्धवदुच्यते ॥

अपभ्रंशेन चट्टो यः मात्राच्छन्दोभिरन्वितः ।

स सन्धिवन्धो विज्ञेयः यथाऽन्धिमथनादिकः ॥

वृत्तान्ता विप्रकीर्णा स्युः सहिता यत्र कोविदैः ।

सा सहितेत्यभिहिता रघुवशो यथा कृत ॥’

(भावप्रकाशन ९ म अ

पेसा प्रतीत होता है कि सर्गबन्धों में 'महाकाव्य' की कल्पना विश्वनाथ कविराज की एक देन है । भावप्रकाशनकार के अनुसार 'रघुवश' 'सहिता' है किन्तु साहित्यदर्पण अनुसार 'महाकाव्य' । वस्तुतः 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' की कल्पना ने ही 'महाक कल्पना की है ।

(महाकव्य-सम्बन्धी कतिपय आनुपमिक विशेषतायें आर्य-महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'आख्यान' रचना)

अस्मिन्नापे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यातसंज्ञकाः ॥ ३२५ ॥

अस्मिन्महाकाव्ये । यथा—महाभारतम् ।

अनुवाद—यही 'सर्गवन्ध' काव्यप्रकार, जिसे प्राचीन ऋषि कवियों ने रचा है 'मर्ग' के
इले 'नाल्यान' में विभाजित किया गया है।

यहां (कारिका में) 'अस्मिन्' से 'महाकाव्ये' (महाकाव्य में) का अर्थ लिया जा है। इसके उदाहरण के लिये (महर्षि-महाकवि व्यास-प्रणीत) 'महाभारत' लिया जा सकता है।

विमर्श—'नहपि व्यासः प्रणीतः 'नहानारत' अपि नहकाव्य है—इस धारा के प्रवर्तक
हित्तिदर्शक हैं। धनिकार आनन्दवर्धन ने नहानारत को नहकाव्य नहीं बल्कि
नहकाव्यात्मक शान्त' कहा है—'नहानारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायावन्निधिं वृष्णिषाण्डव-
रसावमानवैमनस्यदायिनी मनसिनुपनिब्रजता नहानुनिता वेराग्यजनन्तात्पर्यं
प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्ष्णं पुरुषार्थं शान्तो रमश्च सुरयतया विवक्षा-
वपयत्वेन सूचित'। " " " " "तदेवमनुक्रमणीनिदिष्टेन वाक्येन भगवद्ग्यविरेकिण
तवस्यान्यस्यानित्यता प्रकाशयता मोक्षलक्ष्णं पूर्वैकं परं पुरुषार्थं शान्तनये, काव्यनये
ऽवृष्णाद्यसुखपरिपोषलक्ष्णं शान्तो रमो नहानारतस्याद्विष्टेन विवक्षित इति सुप्रनि-
र्दिष्टम् (ध्वन्यालोक, ४. ४४ लघु)। अर्थात् मोक्षरूप परम पुण्याय व प्रतिपादन का
प्रति है तो नहानारत 'शान्त' है किन्तु शान्त रम को नष्ट करने के लिये ही प्रोत्साहित है।

'नरानारत' आदि आषडविंशद्भ्यां के ही देखने अन्य आचार्यों ने नाम के अन्वयित्व के नाश किये हैं —

'शास्त्रं कान्य शास्त्रकान्य कान्यशास्त्रं च भेदत ।

चतुष्प्रकारं प्रथमं मता मारत्वनो नव ॥

शास्त्र काव्यविदः प्राहुः सर्वकाव्यान्तद्वजम् ।

काव्य विशिष्टशब्दार्थसाहित्यमङ्गलद्वयम् ॥

शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायः सर्वोपदेशकः ।

महि-भौमरुद्राद्यादि काव्यशास्त्र प्रचक्षते ॥

नास्त्र कुर्यात् प्रशत्नेन प्रनञ्चार्यननुष्टुभा ।

येन सर्वोपकाराय यानि साध्यामेतानि ॥

काल्ये रत्नानुसारेण वर्गनाङ्गणेन च ।

सुदर्शनं नन्दवृत्तानां विनिर्गणं विनागवित्र ॥

नास्त्वक्षयैऽतिदीर्घाणां वृत्तानां न प्रयोजनम् ।

काव्यशास्त्रेऽपि वृत्तानि रम्यावृत्तानि काव्यवित् ॥

पुराणप्रतिविन्देय प्रत्यक्षोपायवर्त्मनः ।

वपदेनाप्रधानेपु वयानिर्व्वेज्जनप्यसह

नागाप्रतिविम्बपाल कवे गल्लग्य शालगाव ।

यान्ति प्रमोरिवात्यन्तनमोग्दा इषि योग्यवान् ॥"

इति विचार्य श्री भुक्तान्तरात् 'नान्यथा' इति शब्दो न विचार्यते । विचार्यते ।

(प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'आश्वास' की रचना)

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।

छन्दसा स्कन्धकेनैतत्कचिद्गलितकैरपि ॥ ३२६ ॥

यथा—सेतुबन्धः । यथा वा मम—कुवलयश्वचरितम् ।

(अपभ्रंश भाषा में रचित महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'कुडवक' की रचना)

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः ।

तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि ॥ ३२७ ॥

यथा—कर्णपराक्रमः ।

(काव्य : स्वरूप-निरूपण)

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम् ।

एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्र्यवर्जितम् ॥ ३२८ ॥

यथा—भिक्षाटनम् , आर्याविलासश्च ।

कविराज ने महामारत को 'आर्य महाकाव्य' कहकर अपने काव्यविषयक सिद्धान्त (वाक्य रत्मक काव्यम्) का बड़ा सुन्दर पुष्टीकरण किया है ।

अनुवाद—यही महाकाव्य यदि प्राकृत भाषा में रचा गया हो तो 'सर्गों' में रचित होकर 'आश्वासों' में रचित हुआ करता है । इन 'आश्वासों' में जो छन्द प्रयुक्त होते हैं वे अधिकतर 'स्कन्धक' अथवा 'गलितक' नाम के छन्द हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिए (महाकवि प्रवरसेन-विरचित) 'सेतुबन्ध' । अथवा मेरी रचना—'कुवलयश्वचरित' ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यत्मकता की दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत के महाकाव्यों को भेद नहीं किया है और यह सर्वथा सचित ही है । 'सर्ग' के स्थान पर 'आश्वास' को प्राचीन निर्माण परम्परा का अनुसरण मात्र है न कि अन्य कुछ ।

अनुवाद—यही महाकाव्य यदि अपभ्रंश भाषा में रचा जाय तो उसमें 'सर्गों' के बदले 'कुडवक' की रचना हुआ करती है । इन 'कुडवकों' में अपभ्रंश भाषा के अनेकानेक छन्द रचे जाया करते हैं ।

उदाहरण के लिये—'कर्णपराक्रम' ।

अनुवाद—(महाकाव्य के अतिरिक्त) 'काव्य' पद्य-प्रबन्ध का वह प्रकार है जो संस्कृत किंवा अपभ्रंश भाषा में निबद्ध किया जाया करता है । इसमें 'सर्गों' का आवश्यक नहीं, और न सन्धिपक्ष की सम्पूर्ण रचना ही अपेक्षित है । इसकी रूप 'एकार्थप्रवण' अर्थात् एक वृत्त अथवा चरित से सम्बद्ध पद्य-कदम्ब से ही पूर्ण हो सकती है ।

उदाहरण के लिये—'भिक्षाटन काव्य' और 'आर्याविलास' आदि ।

(खण्डकाव्य : लक्षण और उदाहरण)

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

यथा—नेषदूतादि ।

('कोष' रूप पद्य-ग्रन्थ . स्व-परिनिर्देश)

कोषः श्लोकमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ॥ ३२९ ॥

ब्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ।

मजातीयानामेकत्र सन्निवेशो ब्रज्या । यथा मुक्तावल्यादिः ।

(२ य ग्रन्थकाव्य-प्रकार . गद्यमय अथवा गद्य-काव्य)

अथ गद्यकाव्यानि ।

तत्र गद्यम्—

वृत्तगन्योज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥ ३३० ॥

भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।

अनुवाद—'काव्य' अथवा 'महाकाव्य' के कतिपय स्थलों से युक्त जो पद्य-ग्रन्थ है उसे 'खण्डकाव्य' कहा करते हैं। जैसे कि (महाकवि कालिदास रचित) 'नेषदूत' इत्यादि ।

विमर्श—'नेषदूत' मुक्तकों का बना खण्डकाव्य है। नेषदूत के मुक्तकों के सम्बन्ध में आचार्य जमिन्बुत्त ने कहा है—'पूर्वापरनिरपेक्षेण हि येन रमचवंगा क्रियते तदेव मुक्तकम् । यथा—त्वामालित्य प्रगयकुपितामिस्यादिरश्लोकः । (धन्यायेत्येवम् . ३ य स्थले)

अनुवाद—'कोष' पद्यों का वह संग्रह है जिसमें मनों पद्य परस्पर स्वतंत्र बलित्व रत्ना करते हैं। यह 'कोष' तब अधिक सुन्दर लगा करता है जब कि मजातीय पद्य एक-एक स्थान पर संगृहीत रहा करते हैं।

यहाँ 'ब्रज्या' का अन्विष्ट मजातीय पद्यों के एकत्र सन्निवेश का अन्विष्ट है। उदाहरण के लिए 'मुक्तावली' (मुक्तिमुक्तावली) आदि ।

विमर्श—इत्यादिगणनका ऐनचन्द्राचार्य के अनुसार 'कोष' (कोश) का पद्यग्रन्थ का अन्विष्ट स्वरचित अथवा अन्वरचित मूल्यों का संग्रह है—'अथान्वयमन्विष्टमुक्तकः कोषः' (काव्यालोक . ८ पृष्ठ) । मूल्य काव्य-कालित्य में अनेकानेक पद्यग्रन्थों का संग्रह होता है जो 'कोष' का ही स्वरूप है। 'आर्षान्वयः' आदि पद्यग्रन्थ यदि स्वरचित मूल्यों के संग्रह हैं तो 'मुक्तिमुक्तक' आदि पद्यग्रन्थ अन्याय अन्विष्ट मूल्यों के संग्रह हैं। इन कोष ग्रन्थों के निर्माण में विविधविध काव्य-मूल्यों का प्रयोग मूल्य का संग्रह होता है। मूल्योपलब्धि और उद्देश—ये दोनों ही कोष ग्रन्थों के ही प्रमाण होते हैं।

अनुवाद—अथ ग्रन्थकाव्य के २ य प्रकार 'गद्यकाव्य' का निरूपण किया जा रहा है। यहाँ 'गद्य' का अन्विष्ट यह है—

'गद्य' वह गद्यार्थ योजना है जो छन्दोबद्ध नहीं हुक्ता करती। गद्य के चार प्रकार हैं—(१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिकाप्राय और (४) चूर्णक। इनमें (१) 'मुक्तक' वह गद्य-ग्रन्थ है जो सम्प्रसार पद्यों में रचा जाया करता है, (२) 'वृत्तगन्धि', वह गद्य-प्रकार है जिसमें वृत्तों के अन्तःप्रत्यय प्रतीत हुआ करते हैं, (३) 'उत्कलिकाप्राय', वह गद्य-

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥ ३३१ ॥

अन्यद्दीर्घसमासाद्यं तुयं चान्पसमासकम् ।

मुक्तकं यथा—‘गुरुर्वचसि पृथुरसि’ इत्यादि ।

वृत्तगन्धि यथा मम—

‘समरकण्डूलनिविडमुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिखिनीटकारोजागरितवैरिनगर’ इत्यादि । अत्र ‘कुण्डलीकृतकोदण्ड’—इत्यनुष्टुप्वृत्तस्य पादः, ‘समरकण्डूल’ इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः ।

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव—‘अणिसविसुमरणिसिदसरविसरविदलितसमरपरिगदपवरपरवल—’ [‘अनिश-विसुमर-निशित-शर-विसर-विदलित-समर-परितप्रवर-परवल] इत्यादि ।

चूर्णकं यथा मम—‘गुणरत्नसागर ! जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! जनरञ्जन !’ इत्यादि ।

(गद्यकाव्य के श्रवान्तर भेद—(१) कथा)

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥

क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।

आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकोर्तनम् ॥ ३३३ ॥

भेद है जो लम्बे लम्बे समस्त पदों में रचा गया होता है और (४) ‘चूर्णक’ वह गद्य रचना है जिसमें छोटे २ समस्त पदों का उपनिबन्ध हुआ करता है ।

उदाहरण के लिये—(१) मुक्तकगद्यकाव्य ‘गुरुर्वचसि पृथुरसि’ (वचन गौरव रखने वाला तथा बृहस्पतितुल्य, बल में विशाल तथा महाराज पृथु के तुल्य आदि (जहां यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पद ‘मुक्त’ अथवा अन्य पद-निरपेक्ष रहने के कारण सुन्दर लग रहा है), (२) वृत्तगन्धि गद्य-काव्य (मेरी स्वरचित कृति)—‘समरकण्डूलनिविडमुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिखिनीटकारोजागरितवैरिनगर ।’ इत्यादि, जहाँ ‘कुण्डलीकृतकोदण्ड’ पद अनुष्टुप् छन्द का चरण लग रहा है और ‘समरकण्डूल’ पद पहले के दो अक्षरों को हटा देने पर अनुष्टुप् छन्द का ही चरण बन जाता है, (३) उत्कलिकाप्राय गद्य-काव्य (मेरी स्वरचित कृति)—‘अनिश-विसुमर-निशितशरविसरविदलित-समर परिगतप्रवर-परवल !’ इत्यादि (जहां लम्बे समस्त पद स्पष्ट दिखायी पड़े हैं और (४) ‘चूर्णक’ गद्यकाव्य (स्वरचित कृति)—‘गुणरत्नसागर ! जगदेक नागर कामिनीमदन ! जनरञ्जन !’ इत्यादि (जहां स्वल्प समास वाले पदों की योजना सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है) ।

अनुवाद—गद्यकाव्य का एक प्रभेद ‘कथा’ है जिसमें सरस इतिवृत्त की रचना हुई करती है । इस ‘कथा’ की यह भी विशेषता है कि इसमें कहीं-कहीं ‘आर्या’ छन्द रचा जाया करता है, और कहीं ‘वक्त्र’ और ‘अपवक्त्र’ छन्दों की भी रचना हुआ करती है इसके प्रारम्भ में नमस्कारात्मक ‘मङ्गल’ किया जाया करता है और खल-निन्दा तथा सज्जन-प्रशंसा-सम्बन्धी पद्य भी उपन्यस्त रहा करते हैं । उदाहरण के लिये (महाकाव्यरचित) ‘कादम्बरी’ आदि पर्याप्त हैं ।

यथा—कादम्बर्यादिः ।

(२-आख्यायिका)

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वशांनुकीर्तनम् ।

अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं कचित्कचित् ॥ ३३४ ॥

कथंशानां व्यवच्छेद आश्रय इति वक्ष्यते ।

आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दमायेन केनचित् ॥ ३३५ ॥

अन्यापदेशेनाश्वाममुखे भाव्यर्थमूचनम् ।

यथा—हर्षचरितादिः । 'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैर्द्वीरणात् ।' इति 'एड्याचार्यवचनान् केचित् आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः । तदुक्तम् । आख्यानादयश्च कथास्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न प्रथगुक्ता ।

यदुक्तं दण्डिना—

अत्रैवान्तर्भवित्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।' इति ।

एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि ।

विमर्श—'कथा' शब्दो ज्ञानं प्रकटविशेषः है । 'कथा' नै विवद वन्मन्त्राचुर्ये नो शोभा है किन्तु इमका रमयन् वैमिन्त्र हो इने 'कथ्य-श्रेण' नै म्यागिज करने नै मध्य होना है—
क १५ तु विवदवन्मन्त्राचुर्येऽपि गद्यस्य रमयन्धोक्तमौचित्यमनुमर्त्यम्' (ध्वन्यालोकः : ८ उच्यते) ।

अनुवाद—'आख्यायिका' भी 'कथा' की ही भांति गद्यकाव्य का एक प्रकार है । इसमें भी प्रायः 'कथा' की ही विवेकपाठ्य रहा करती हैं । इसमें कवि अपने वक्ता का अनुकीर्तन करता है और यत्रतत्र अन्य कवियों की भी चर्चा किया करता है । इसमें जहाँ-जहाँ पद्य-शुद्धियाँ भी रहा करती हैं । इसके कथाओं का व्यवच्छेद (परिच्छेद) 'आश्रय' नाम से निर्दिष्ट किया जाता करता है । इसमें, 'आश्रय' के आश्रय में, वायों, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में से किसी एक के द्वारा, किसी विषय-वर्णन के ग्रहण, वर्णनीय विषय की सूचना भी दी जाता करती है ।

इसके उदाहरण रूप में (महाकवि बाण आदि हूँ) 'हर्षचरित' आदि आख्यायिका-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं ।

कुछ काव्याचार्यों का यह कहना कि 'आख्यायिका' नायक द्वारा कथित आश्रयान्तर है' ठीक नहीं है क्योंकि काव्याचार्य दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि 'आख्यायिका' में नायक द्वारा आश्रयान्तरण का कोई निषेध नहीं क्योंकि कतिपय आख्यायिकाएँ ऐसी भी हैं जिनके आश्रयान्तरण नायकनिष्ठ पात्रों द्वारा भी किये गये पाये जाते हैं । 'कथा' और 'आख्यायिका' के अतिरिक्त 'आश्रयान्' आदि को भिन्न प्रकार के गद्यकाव्य मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्हें 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही सम्मिलित किया जा सकता है । यन्तुत आचार्य दण्डी का भी यही मत है—'अन्य अनेक आश्रयान्तरणानिदां 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही सम्मिलित है । इन आश्रयान्तरणानिदां के उदाहरण-ग्रन्थ में 'पञ्चतन्त्र' आदि रचनाएँ देयी जा सकती हैं ।

(गद्यपद्यात्मक काव्य-प्रबन्ध १-चम्पू)

अथ गद्यपद्यमयानि—

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥ ३३६ ॥

यथा—देशराजचरितम् ।

(२—विरुद)

गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते ।

यथा—विरुदमणिमाला ।

(३—करम्भक)

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ॥ ३३७ ॥

यथा मम—पोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली ।

(अन्यान्य काव्यप्रकारों का निर्दिष्ट काव्यभेदों में अन्तर्भाव)

एवमन्येऽपि भेदा उद्देशमात्रप्रसिद्धत्वादुक्तभेदानतिक्रमाच्च न पृथग्लक्षिता

इति साहित्यदर्पणे दृश्यप्रत्यकाव्यनिरूपणो नाम पट्ट. परिच्छेद ।

अनुवाद—गद्यपद्यात्मक काव्यबन्ध—वह काव्यप्रकार जो गद्यपद्यमय हुआ करे 'चम्पू' कहा जाया करता है ।

इस काव्यप्रकार के उदाहरणरूप में 'देशराजचरित' आदि देखे जा सकते हैं ।

अनुवाद—'विरुद' भी एक गद्य-पद्यमय काव्यप्रबन्ध है जिसमें राज प्रशस्ति जाया करती है ।

इसका उदाहरण 'विरुदमणिमाला' है ।

अनुवाद—'करम्भक' वह काव्य-प्रकार है जो विविध भाषाओं में रचा जाया करता इसका उदाहरण मेरी कृति 'प्रशस्तिरत्नावली' है जिसमें १६ भाषाएँ प्रयुक्त हैं ।

अनुवाद—इन उपरिनिर्दिष्ट काव्यप्रकारों के अतिरिक्त भी अनेकानेक काव्यप्रकार गिनाये गये हैं । किन्तु इनका यहाँ पृथक् लक्षण-निरूपण अभिप्रेत नहीं क्योंकि इनके निर्दिष्ट काव्य-प्रकारों के स्वरूप में कोई भेद नहीं प्रतीत होता ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने जिन काव्य-प्रकारों का स्वरूप-निरूपण किया है उनके अति निम्न काव्य प्रकारों का नाम निर्देश मिलता है—

‘येन केनापि तालेन गद्यपद्यसमन्वितम् । जयेत्युपक्रम मालिन्यादिप्रासविचित्रितं तदुदाहरण नाम्ना विभक्त्यष्टाङ्गसयुतम् । स बोधनविभक्त्या यत् प्रचुरं पद्यपूर्वका विमुक्तपुनराकृष्टशब्द स्याच्चक्रवालकम् । आद्यन्तपद्यसयुक्ता सस्कृतप्राकृतास्मिन् अष्टभिर्वा चतुर्भिर्वा वाक्यैः स्कन्धसमन्विता । प्रतिस्कन्ध भिन्नवाक्यरीतिर्देवतृपोक्ति सर्वतो देवशब्दादिरेषा भोगायली मता । वर्ण्यनामाङ्कविरुदवर्णनप्रचुरोज्ज्वल वाक्याहम्बरसयुक्ता कथिता विरुदावली । ताराणां संख्यया पद्ययुक्ता तारावली म विश्लेषा संख्यया पद्ययुक्ता विरुदावली मता । रत्नानां संख्यया पद्ययुक्ता रत्नावली मत पद्यैश्च पञ्चभिर्युक्ता प्रोक्ता पञ्चाननावली ।

साहित्यदर्पण का छठा परिच्छेद समाप्त

सप्तमः परिच्छेदः

(काव्य के दोष - स्वरूप-निरूपण)

इह हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणरीत्यलङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः . न प्रति
के त इत्यपेक्षायामुद्देशक्रमप्राप्त्यानां दोषाणां स्वरूपमाह—

रसापरुषका दोषाः,—

नृत्यार्थं प्रागेव स्फुटीकृतः । तद्विशेषमाह—

(दोष-तन्त्र-प्रकार-निरूपण)

—ते पुनः पञ्चधा मताः ।

पदे तदंगे वाक्येऽप्ये संभवन्ति गतेऽपि यत् ॥ १ ॥

स्पष्टम् । तत्र—

(पद-पदांश-वाक्य-गत दोष निर्देश)

दुःश्रवत्रिविधाश्लीलानुचितार्थाप्रयुक्तताः ।

ग्राम्याप्रतीतसन्दिग्धनेयार्थनिहतार्थताः ॥ २ ॥

अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता ।

अविमृष्टविधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः ॥ ३ ॥

दोषाः केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदे परे ।

निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ॥ ४ ॥

(पददोष-निरूपण १-दुःश्रवत्व)

परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम् ।

यथा —

‘कार्तार्थ्यं यातु तन्वद्गी कदाऽनङ्गवशवदा ।’

(०—अश्लीलत्व त्रिविध)

अश्लीलत्व व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात्रिविधम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

अनुवाद—पदगत दोष ये हैं—(१) दुःश्रवत्व (श्रुतिकटुत्व), (२) त्रिविध अश्लीलत्व (३) अनुचितार्थत्व, (४) अप्रयुक्तत्व, (५) ग्राम्यत्व, (६) अप्रतीतत्व, (७) सन्दिग्धत्व, (८) नेयार्थत्व, (९) निहतार्थत्व, (१०) अवाचकत्व, (११) क्लिष्टत्व, (१२) विरुद्धमतिकारित्व, (१३) अविमृष्टविधेयांशत्व, (१४) निरर्थकत्व, (१५) असमर्थत्व और (१६) संस्कारत्व । इनमें ‘निरर्थकत्व’, ‘असमर्थत्व’ और ‘च्युतसंस्कारत्व’ तो केवल पदगत हैं किन्तु अन्य वाक्यगत भी हैं । साथ ही साथ इन्हीं में कतिपय जैसे कि ‘दुःखादि’ ऐसे हैं जो ‘पदांशगत’ भी हुआ करते हैं ।

अनुवाद—‘दुःश्रवत्व’ पद अथवा पदांश की वह परुषवर्णता है जो काव्य-यकानों को दुःखित किया करती है । जैसे कि इस पक्ति अर्थात्—

‘अनङ्गवशवदा (कामान्माद के वशीभूत) यह तन्वद्गी (सुन्दरी) कव प्रियतम के मिलन सुख से) ‘कार्तार्थ्य’ (प्रेम की कृतार्थता) पायेगी ?’

[यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘कार्तार्थ्य’ पद की कर्कश वर्णध्वनिया कानों के पर्दे छेद हैं जिससे ‘अनङ्गवशवदा तन्वद्गी’ का विप्रलम्भ काव्य-पाठक के हृदय तक नहीं पहुँच

विमर्श—‘दुःश्रवत्व’ का हा दूसरा नाम ‘कष्टत्व’ है । पद के कष्टकर श्रवण से सा का चित्त उद्धिप्त हो उठता है और अर्थ परामर्श के प्रति उन्मुख नहीं होना चाहता । दुःश्रवता से निम्न पक्तिया अत्यन्त नीरस लग रही हैं—

‘वर्षष्टि जलदो यत्र यत्र दर्धर्ष्टि चातकः ।

पोफुल्लित नीपः कालोऽयं चर्कति हृदय मम ॥’

अनुवाद—‘अश्लीलत्व’ वह दोष है जो कि पद अथवा पदांश में व्रीडा (लजा), (३) (वृणा) और अमङ्गल के अभिप्राय के अभिव्यञ्जन के कारण त्रिविध रूपसे देखा जा सकता है ।

इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(श्रोताभिव्यञ्जनरूप अश्लीलत्व)

‘द्वारारिविजये राजन् । साधनं सुमहत्तव ।’

(जुगुप्सा और अमङ्गल के अभिव्यञ्जन में अश्लीलत्व)

‘प्रससारं शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि । ते तदा ।’

अत्र साधन-वायु-विनाश-शब्दा अश्लीला ।

(३—अनुचितार्थत्व)

‘शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे ।’

अत्र पशुत्वं कातर्यमभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थत्वम् ।

(४—अप्रयुक्तत्व)

अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् ।

‘राजन् । दर्प में चूर शशुगण पर विजय पाने के लिये आप का ‘साधन’ (सैन्यबल) महान् है ।’

‘अरी सुन्दरी । तेरे ‘विनाश’ (अद्वर्शन) के समय ऐसा हुआ कि ‘वायु’ धीरे धीरे निकल पड़ी ।’

यहाँ ‘साधन’ पद (यद्यपि सैन्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु) ‘लिंग’ के जास्पद अभिप्राय का अभिव्यञ्जन करने के कारण अश्लील है, ‘वायु’ पद (यद्यपि पवन, अर्थ में प्रयुक्त है किन्तु) ‘अपानवायु’ के घृणास्पद अभिप्राय के अभिव्यञ्जन से अश्लील ; और ‘विनाश’ पद (भले ही इसे ‘न देखने’ के अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो) ‘मृत्यु’ के अमङ्गलास्पद अभिप्राय का अभिव्यञ्जक होने के कारण अश्लील लगा रहा है ।

विमर्श—नाट्यलिङ्गधार ने काव्यप्रसाद में उद्भूत अनेक सूक्तियों के उत्तरण के लिये उन सूक्तियों के अश्लील पदों को लेकर अपने लोक बनाये हैं और श्रोता जुगुप्सा कि वा अमङ्गल के अभिव्यञ्जन त्रिविध ‘अश्लीलत्व’ के उत्पत्ति दिये हैं । ‘द्वारारिविजये’ आदि में ‘साधन’ पद वस्तुतः श्रोताभिव्यञ्जक है क्योंकि इससे वर्ण्य भूषण का उन्नाद उपविषयक उन्नाद के रूप प्रकाशित होने के बड़ले कानलम्बता के उन्नाद के रूप में प्रकाशित होने लगता है । इसी भाँति ‘प्रससार’ शब्द में ‘वायु’ और ‘विनाश’ पद ‘जुगुप्सा’ और ‘अमङ्गल’ के अभिव्यञ्जक हैं क्योंकि उनके द्वारा यहाँ नायक-उदय में नायिका के पिराने में समन्वित वायु के प्रेमीभाव का अभिव्यञ्जन प्रकाशित होता है कि नायक की लम्बता का भी अभिव्यञ्जन अभिव्यञ्जन होता है ।

अनुवाद—‘अनुचितार्थत्व’ पद का यह दोष है जिसके द्वारा ऐसे अर्थ का अभिव्यञ्जन करता है जिससे वर्ण्य विषय में अनौचित्य प्रतीय होने लगता है । जैसे कि शूर-वीर जो सप्तामयज्ञ के पशु (भैंसे और यक्रे) हैं, यन्त्रुत अमर हो जायें आदि में ‘पशु’ पद में ‘अनुचितार्थत्व’ स्पष्ट है क्योंकि उसके द्वारा यहाँ शूर-वीर विपदाता और दयनीयता का अभिप्राय प्रकाशित किया जा रहा है जो कि विषय के लिये सर्वथा अनुचित है ।

[‘अनुचितार्थत्व’ उस कवि के पद प्रयोग में सम्भव है जो जटुगुण हो । यद्यपि ही उचितानुचितता का परिज्ञान सम्भव है ।]

अनुवाद—‘अप्रयुक्तत्व’ यह दोष है जिसे किसी पद की, कोप आदि में उस प्रसिद्धि होने पर भी, कवि सन्देह में अप्रयुक्त कहा गया है । जैसे कि—

यथा—

‘भाति पद्मं सरोवरं ॥’

अत्र पद्मशब्दः पुंलिङ्गः ।

(१—ग्राम्यत्व)

ग्राम्यत्व यथा—

‘कटिस्ते हरते मनः ॥’

अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः ।

(६—अप्रतीतत्व)

अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धत्वम् ।

यथा—

‘योगेन दलिताशयः ॥’

अत्र योगशास्त्र एव वासनार्थ आशयशब्दः ।

‘सरोवर में पद्म (पद्म-पुंलिङ्ग) सुशोभित हो रहा है ।’ आदि में पुलिङ्ग ‘पद्म’ शब्द में ‘अप्रयुक्तत्व’ स्पष्ट है क्योंकि कोपादि में तो ‘पद्म’ शब्द पुलिङ्ग रूप में प्रसिद्ध है किन्तु कविसम्प्रदाय में ‘पद्म’ शब्द सदा नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयुक्त हुआ करता है ।

[‘अप्रयुक्तत्व’ दोष उसी कवि की रचना में रह सकता है जिसमें ‘व्युत्पत्ति’ का अभाव हो । ‘व्युत्पत्ति’ केवल शब्दानुशासन में प्रवीणता नहीं, अपितु काव्यानुशासन में विदग्धता भी है । ‘अप्रयुक्तत्व’ दोष से वही कवि बच सकता है जिसने काव्य-साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन किया हो ।]

अनुवाद—‘ग्राम्यत्व’ वह दोष है जिसे पदों का गँवौरूपन कहा जाया करता है । जैसे कि—‘तेरी ‘कटि’ (कमर) तो मेरा चित्त चुरा रही है ।’ आदि में ‘कटि’ पद ग्राम्य है क्योंकि इसे गँवौर लोग ही प्रयोग में लाया करते हैं इसके प्रयोग से यहाँ कवि का गँवौरूपन झलकता है ।

विमर्श—पदों के प्रयोग में ग्रामीणता और विदग्धता अथवा असम्भ्यता और सम्भ्यता के छान-बीन से ‘ग्राम्य’ दोष की कल्पना हुई है । विदग्ध अथवा सम्भ्य कवि ‘नितम्ब’ पद का प्रयोग करता है । यद्यपि ‘कटि’ और ‘नितम्ब’ का अर्थ एक ही है किन्तु विदग्ध गोष्ठी में ‘नितम्ब’ पद का प्रयोग हुआ करता है न कि ‘कटि’ का । ‘नितम्ब’ पद के साथ जो विदग्ध भावनार्य जुड़ीं उनका ‘कटि’ पद से कोई सपर्क नहीं । ‘कटि’ पद के प्रयोग से शृंगारभाव की उद्घोषि में ग्रामीणता अथवा असम्भ्यता की भी गन्ध आ जाती है । इसलिए आलङ्कारिकों ने ऐसे पदों को ग्राम्य कहा है ।

अनुवाद—‘अप्रतीतत्व’ वह दोष है जिसे पद की एकदेशिता अथवा एकशास्त्रमात्र प्रसिद्धि कहा गया है ।

जैसे कि—‘योग (चित्तवृत्तिनिरोध) से विनष्ट आशय (वासना) वाला (मो प्राप्त करता है)’ आदि में । यहाँ ‘आशय’ पद ऐसा है जो एकमात्र योगदर्शन में । ‘वासना’ के अर्थ में प्रसिद्ध है (न कि लोक अथवा काव्य में) ।

विमर्श—कविजन के लिए प्रतीत पदों का प्रयोग अपेक्षित है न कि अप्रतीत पदों का भिन्न-भिन्न शास्त्रों के पदों के प्रयोग से कवि का पाण्डित्य-प्रदर्शन भल ही हो जाय, काव्य निर्मा नहीं हो सकता ।

(७—सदिग्धत्व)

‘आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपा कुरु ।’
अत्र वन्द्यामिति किं वन्दनीभूतायामुत वन्दनीयामिति सन्देहः ।

(८—नेयार्थत्व)

नेयार्थत्वं रुढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम् ।
यथा—

‘कमले चरणाघातं मुञ्च मुमुत्स ! तेऽकरोन् ।’

अत्र चरणाघातेन निजितत्वं लक्ष्यम् ।

अनुवाद—‘सदिग्धत्व’ वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा सन्देहात्मक अर्थ का उपस्थापन कहा गया है। जैसे कि—

‘महाराज ! आप प्रशंसा से भरी (वन्द्या) आशीर्वाद-परम्परा सुनें और कृपा करें ।’
यहाँ ‘वन्द्याम्’ पद में ‘सदिग्धत्व’ स्पष्ट दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि इससे ‘प्रशंसापूर्ण’ का अर्थ लिया जाय या ‘यन्त्री बनायो गयी नारी’ का ।

विमर्श—‘वन्द्या’ प्रयोग ऐसा है जो ‘वन्द्या’ (वन्दनीया) शब्द का द्विगता के लक्षण का रूप है और ‘वन्त्री’ शब्द की मूल्य के भी एक लक्षण का रूप है। दोनों का मिलन संभव है। ऐसे पद के प्रयोग में मध्यम शब्द-बाधक वदित हो जाता है क्योंकि उसे कवि का भावार्थ निश्चित नहीं प्रतीत हुआ करता। जब तक कवि का भावार्थ निश्चित न प्रतीत हो तब तक का अनुवाद क्यों कर लिये ?

अनुवाद—‘नेयार्थत्व’ वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा ऐसे लक्ष्यार्थ का प्रकाशन किया गया है जिसमें न तो कोई रुढ़ि हो और न प्रयोजन और जिसका कारण एकनाश प्रतीति की अशक्ति अर्थात् अशुल्कता हो। उदाहरण के लिये—

‘जरी सुनुवि ! तेरे मुख ने तो कमल पर चरणाघात (पादप्रहार) कर दिया ।’

यहाँ ‘चरणाघात’ पद में ‘नेयार्थत्व’ दोष है क्योंकि इसमें ‘जीत लेने’ का जो लक्ष्यार्थ निकलता है (‘चरणाघात’ पद का वाच्यार्थ यहाँ अनुपपन्न है। भला ‘मुख’ के साथ चरणाघात—लात मारने—की क्रिया का क्या सम्बन्ध !) वह रुढ़ि और प्रयोजन शून्य है और वस्तुतः प्रयोक्ता के असामर्थ्य के कारण है।

विमर्श—‘नेयार्थ’ पद उन पदों को कहा करते हैं जो निषिद्ध शक्ति-पद हैं जिनका वाच्यार्थ उन्मार्शित हो जाता है—

‘निरुद्धा लक्षणा काश्चित्पान्थादभिधानयन् ।

क्रियन्ते साप्रत काश्चित् काश्चित्पेय्यशक्तिः ॥’

अर्थात् कुछ लाक्षणिक पद तो ऐसे हैं जो प्रयोग-प्रवाह में पड़कर ‘जाचक’ मरीये घन हो जाते हैं जैसे कि ‘कुशल’ आदि पद। कुछ पद ऐसे हैं जो प्रयोजनवश, प्रयाममय और प्रयाममय लाक्षणिक बन जाया करते हैं जैसे कि ‘गद्गाया घोष’ आदि में ‘गद्गा’ आदि पद। किन्तु यहाँ रुढ़ि अथवा प्रयोजन के ही जो पद लाक्षणिक मान लिये जाया करते हैं जैसे कि ‘रुखो घट’ आदि में, रूपमान् के अर्थ में ‘रुख’ आदि पद, वे वस्तुतः निषिद्ध लाक्षणिक पद हैं और प्रयोक्ता की अशुल्कता के प्रदर्शन के लिये कहने हैं।

इस प्रकार निषिद्ध लाक्षणिक पदों के प्रयोग में ‘नेयार्थत्व’ का दोष स्वाभाविक ही है।

(९— निहतार्थत्व)

निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः ।

यथा—

‘यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत् ।’

शम्बरशब्दो दैत्ये प्रसिद्धः, इह तु जले निहतार्थः ।

(१०—अवाचकत्व)

यथा—

‘गीतेषु कर्णमादत्ते ।’

अत्राङ्-पूर्वो दाञ्-धातुर्दानार्थेऽवाचकः ।

यथा चा—

‘दिन मे त्वयि संप्राप्ते ध्वान्तच्छत्राऽपि यामिनी ।’

अत्र दिनामिति प्रकाशमयार्थेऽवाचकम् ।

अनुवाद—‘निहतार्थत्व’ वह दोष है जिसे किसी उभयार्थक पद का अप्रसिद्ध अ प्रयोग कहा गया है । उदाहरण के लिये—

‘यमुनाशम्बर (यमुना का जल) आकाश में व्याप्त हो गया ।’

यहां ‘शम्बर’ शब्द में ‘निहतार्थत्व’ स्पष्ट है कि क्योंकि इसे इसके अप्रसिद्ध ‘ रूप अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जो कि इसके प्रसिद्ध दैत्यरूप अर्थ से (जे अनायास अविलम्ब प्रतीत हो उठता है) तिरोहित अथवा तिरस्कृत हो रहा है ।

विमर्श—पदों के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थों का विवेक ‘निहतार्थत्व’ दोष से बचने का है । कोशादि से पदों का चयन काव्य निर्माण के उपयुक्त नहीं क्योंकि कोशादि से यह पता च कठिन है कि किसी पद का कौन अर्थ प्रसिद्ध है और कौन अप्रसिद्ध । अर्थ को प्रसिद्ध अप्रसिद्ध तो लोक व्यवहार के परिशान से ही जानी जा सकती है ।

अनुवाद—‘अवाचकत्व’ वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा ऐसे अर्थ के उपस्थ में देखा जाया करता है जिसमें उसकी वाचकता नहीं रहा करती । जैसे कि—

‘वह (गीतेषु कर्णमादत्ते) गीत पर कान टे रहा है’

यहां ‘आङ्’ उपसर्गपूर्वक ‘दाञ्’ धातु (आदत्ते) का जो प्रयोग है उसमें ‘अवाचकत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘आदत्ते’ पद लेने के अर्थ का वाचक है न कि ‘देने’ के अर्थ । ‘देने’ के अर्थ की वाचकता से शून्य इस पद के प्रयोग में ‘अवाचकत्व’ तो होगा ही ।

अथवा—

‘जब तूम आ गये तब तो अँधेरी रात भी मेरे लिये (दिन) प्रकाशपूर्ण हो गए

यहां ‘दिन’ पद ‘प्रकाशपूर्णता’ के अर्थ में अवाचक है क्योंकि इसकी वाचकता ‘सूर्यावच्छिन्न समय’ के ही अर्थ में स्वीकृत है न कि प्रकाशमयता के अर्थ में भी ।

विमर्श—जब पद विवक्षित अर्थ का उपस्थापन न करे तब वह ‘अवाचक’ न हो तो क्या ‘अवाचक’ पद का प्रयोग भी कवि की अन्युत्पत्ति का ही परिणाम है । व्युत्पन्न कवि के अवाचक नहीं हुआ करते । ‘अवाचक’ पद को ‘अन्यार्थक’ भी कहा करते हैं । ‘अवाचक’ अ ‘अन्यार्थक’ पद वस्तुतः वह पद है जो कि ‘रूढिव्युत्पन्न’ हुआ करता है अर्थात् ऐसे अर्थ में प्र हुआ करता है जिसमें वह अशक्त है । निम्न उदाहरण से ‘अवाचकत्व’ का अभिप्राय बहुत हो जाता है—

(११—कृष्टत्व)

कृष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितम् .

यथा—

‘क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्ना ।’

अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्या वसति पद्म तस्य जन्मभुवो जलानि ।

(१२—विरुद्धमतिकृत्व)

‘भूतयेऽस्तु भवानीश ।’

अत्र भवानीशशब्दो भवान्या पत्यन्तरप्रतीतिकारित्वाद्विरुद्धमतिकृत् ।

(१३—अविमृष्टविधेयाशत्व)

विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वम् अविमृष्टविधेयाशत्वम् ।

‘विभजन्ते न ये भूपनालभन्ते न ते ध्रियम् ।’

आवहन्ति न ते दुःख प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम् ॥’

यहाँ ‘विभजन्ते’ को ‘भेदा’, ‘आलभन्ते’ को ‘प्राप्त’, ‘आवहन्ते’ को ‘बहने’ अथवा ‘धारण’ और ‘प्रस्मरन्ते’ को ‘उत्पत्ति’ स्थिति’ के अर्थ में दिया गया है किन्तु इन अर्थों में इन पदों की दोष प्रतीति नहीं। विभजन्ते की शक्ति ‘नाशने’, ‘आलभन्ते’ की शक्ति ‘प्राप्तने’, ‘आवहन्ते’ की शक्ति ‘बहने’ और ‘प्रस्मरन्ते’ की शक्ति ‘मूलने’ के अर्थ में है।

अनुवाद—‘कृष्टत्व’ वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा विवक्षित अर्थ की प्रतीति के व्यवधान अथवा विलम्ब में देखा जाया करता है। जैसे कि—

‘क्षीरोदजावसतिजन्मभूमि (जल) किन्ने प्रसन्न है ।’

यहाँ ‘क्षीरोदजावसतिजन्मभू’ पद ‘कृष्टत्व’ में दूषित है क्योंकि इसके विवक्षित ‘जल’ रूप अर्थ की प्रतीति में इतना व्यवधान है कि पहले ‘क्षीरोदजा’ में ‘लक्ष्मी’ के अर्थ, फिर ‘क्षीरोदजावसति’ में ‘कमल’ के अर्थ और तब ‘क्षीरोदजावसतिजन्मभू’ में ‘कमल’ के उत्पत्ति-स्थान ‘जल’ के अर्थ तक पहुँचते-पहुँचते ऐसा होने लगता है।

विमर्श—‘विमर्श’ कहने में जो कृष्ट पद के अर्थ में देखा जाता है, किन्तु वाक्य-वचना में कृष्ट पद समाप्त हो प्रतीति के अर्थ में देखा जाता है। अतः इसमें ‘विरुद्ध’ अर्थ प्रतीति में देखा जाता है।

अनुवाद—‘विरुद्धमतिकृत्व’ अथवा ‘विरुद्धमतिकारिव’ वह दोष है जिसे किसी पद में ऐसे अर्थ के उपस्थापन में देखा जाया करता है जो कि प्रकृत अर्थ से विपरित हुआ करता है। जैसे कि—

‘भवानीपति (गङ्गा) मन्त्रा कल्याण करे’ में। यहाँ ‘भवानीपति’ पद में ‘विरुद्धमतिकृत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यह पद प्रकृत अर्थ के विपरित ‘मन्त्रा’ उपसर्ग अर्थ का अवग्रह बना रहा है (‘भवानी’ पद का अर्थ है वह देवी (पार्वती) जिन्हें पति भगवन् अथवा गङ्गा है। ‘गङ्गा’ को ‘भवानीपति’ कहने से यह अनिष्टा या अनिष्टता ही उठता है कि भवानी के और भी पति होंगे और इस प्रकार यहाँ देवविषयक रतिभाव की अनिष्टता में अधर्म के आतङ्क का भी अन्त अनिष्टता ही उठता है जो कि सर्वथा अनुचित है)।

अनुवाद—‘अविमृष्टविधेयाशत्व’ वह दोष है जिसे यहाँ देखा जाया करता है यहाँ ‘विधेय’ अथवा प्रधान रूप से परामर्श-योग्य अन्त, अवधान रूप से निदिष्ट किया गया होता है। उदाहरण के लिये, हम नृत्ति अर्थात्—

यथा—

‘स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।’

अत्र वृथात्वं विधेयम्, तच्च समासे गुणीभावाद्नुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् ।

यथा वा—

‘रक्षांस्यपि पुर स्थातुमल रामानुजस्य मे ।’

अत्र रामस्येति वाच्यम् ।

यथा वा—

‘आसमुद्रक्षितीशानाम् ।’

अत्रासमुद्रमिति वाच्यम् ।

यथा वा—

‘यत्र ते पतति सुभ्रु । कटाक्षः पष्ठबाण इव पञ्चशरस्य ।’

अत्र पष्ठ इवेत्युत्प्रेक्ष्यम् ।

‘स्वर्ग’ रूपी छोटे से टोले की लट्ट-खसोट में व्यर्थ के लिये मतवाले बने इन भुजदण्डों से क्या ?’ में । यहाँ प्रधानतया परामर्श-योग्य जो अंश है वह (उच्छूनता का) ‘वृथात्व’ (व्यर्थ होना) है, किन्तु इसे समास में डालकर अप्रधान बना दिया गया है जिससे इसमें ‘विधेयता’ के बदले ‘अनुवाद्यता’ (उद्देश्यता) प्रतीत हो उठती है ।

[यहाँ कवि को कहना है—स्वर्गरूपी छोटे से टोले की लट्ट-खसोट में इन भुजदण्डों का ‘मतवालापन व्यर्थ है’, किन्तु कवि कहता है—स्वर्गरूपी छोटे से टोले की लट्ट-खसोट में व्यर्थ के लिये ‘मतवाले बने इन भुजदण्डों का क्या काम ?’ यहाँ ‘उच्छूनता’ (मतवालापन) उद्देश्यरूप से—और ‘वृथा’ विधेयरूप से रखने योग्य है किन्तु ‘वृथोच्छूनैः’ पद में, तत्पुरुष समास में पूर्वपद की अपेक्षा उत्तरपद की प्रायः प्रधानता होने से विधेयभूत ‘वृथा’ पद गौण हो गया है और उद्देश्यभूत ‘उच्छून’ पद प्रधान बन गया है । इस प्रकार प्रधानतया परामर्श-योग्य अंश अप्रधान रूप से पढ़ा प्रतीत हो रहा है जिससे विवक्षित अभिप्राय की प्रतीति में विघ्न पड़ रहा है ।]

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—‘मुझ रामानुज के भी सामने राक्षस टिक सकेंगे ?’ में यहाँ ‘रामानुज’ इस षष्ठीतत्पुरुष समास वाले पद के बदले ‘राम के अनुज (रामस्वामिनुजः)’ इस षष्ठी विभक्त्यन्त पद के प्रयोग में ‘विधेय’ अर्थात् दुर्दान्तराक्षस-संहारक राम के सम्बन्ध का ‘विमर्श’ अपेक्षित था क्योंकि तभी लक्ष्मण का वीर्याहङ्कार अधिकारि अभिव्यक्त हो सकता था किन्तु ऐसा न होने से ‘अविमृष्टविधेयांशता’ का दोष लग गया ।

अथवा (महाकवि कालिदास की) इस सूक्ति अर्थात्—‘समुद्रपर्यन्त पृथिवी सन्नदाओं का’ आदि में । यहाँ ‘आसमुद्र क्षितीशानाम्’ इस असमस्त पद के प्रयोग से कवि का यह विवक्षित अभिप्राय कि ‘रघुवशी राजाओं का आधिपत्य पृथिवी के साथ-साथ समुद्र पर भी था’, प्रकाशित हो सकता था किन्तु ‘आसमुद्रक्षितीशानाम्’ इस समस्त पद के प्रयोग से केवल यही प्रतीत हो पाता है कि ‘रघुवशी राजाओं का अधिकार समुद्रपर्यन्त पृथिवी पर ही था’ । इस प्रकार यहाँ विधेय रूप से प्रयोग-योग्य ‘आसमुद्रम्’ पद ‘क्षितीश’ पद के साथ समस्त कर देने से ‘विधेयाविमर्श’ दोष स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—‘अरी सुन्दरी ! पञ्चशर (काम) के षष्ठ बाण (छठे बाण) से तू मुझे मरेगी’ में । यहाँ ‘पञ्चशर’ (काम) के षष्ठ बाण (छठे बाण) के प्रयोग से केवल यही प्रतीत हो पाता है कि ‘रघुवशी राजाओं का अधिकार समुद्रपर्यन्त पृथिवी पर ही था’ । इस प्रकार यहाँ विधेय रूप से प्रयोग-योग्य ‘आसमुद्रम्’ पद ‘क्षितीश’ पद के साथ समस्त कर देने से ‘विधेयाविमर्श’ दोष स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

यथा वा—

‘अनुक्ता भवता नाय ! सुहूर्त्तमपि ना पुता ।’

अत्रामुत्तेन्यत्र ‘नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्व मिति विधेयत्वमेवोचितम् ।

(नञ का ‘प्रसज्यप्रतिषेध’ रूप अभिप्राय और नञ नामाव ने इसकी रक्षा)

यथाह —

‘अप्राधान्यं विवेच्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।

प्रसज्यप्रतिषेधोऽस्ती क्रियया सह यत्र नञ् ॥’

‘प्रतिषेध’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो कवि का उद्देश्य है वह ‘पठन्’ है और यही विधेय है जिसे वाग के साथ नमन् पद बना कर गाँज कर दिया गया है । यहाँ ‘पठ इव’ का प्रयोग होना चाहिये था जिसमें ‘विधेय’ का विनर्श स्पष्ट होता और उद्देश्य का चमत्कार

यथा—

‘नवजलधर’ संनद्धोऽयं न ह्यनिशाचरः ।’

उक्तोदाहरणे तु तत्पुरुषसमासे गुणीभावे नवः पर्युदासतया निषेधस्य विधेयतयानवगमः ।

यदाहुः—

‘प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।

पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥’

तेन—

‘जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।

अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥’

अत्रात्रस्तताद्यनूयात्मगोपनाद्येव विधेयमिति नञः पर्युदासतया गुणीभावो युक्तः ।

ननु ‘अश्राद्धभोजी ब्राह्मण’ ‘असूर्यपश्या राजदारा’ इत्यादिवत् ‘अमुक्ता’

(महाकवि कालिदास की) यह सूक्ति अर्थात्—

‘यह तो नवजलधर सज्जद खड़ा है न कि हस निशाचर ।’

में । यहाँ ‘नञ्’ को इसलिये समास में नहीं डाला गया है क्योंकि यहाँ प्रधान रूप से निषेध (हस निशाचर के प्रतिषेध) का ही अभिप्राय विवक्षित है ।

किन्तु ‘अमुक्ता’ आदि सूक्ति में ‘नञ्’ को तत्पुरुष समास में समस्त करके गौण बना दिया गया है जिससे इसका ‘प्रसज्यप्रतिषेधार्थक’ अभिप्राय न निकल कर ‘पर्युदासात्मक’ अभिप्राय निकल रहा है जिससे निषेध की प्रधानता नहीं प्रतीत हो पाती ।

यहाँ ‘नञ्’ की पर्युदासात्मकता के सम्बन्ध में यह प्रमाण ध्यान देने योग्य है—

‘जहाँ विधेश प्रधान रूप से और प्रतिषेधांश अप्रधान रूप से प्रतीत हो और ‘नञ्’ का सम्बन्ध उत्तरपद के साथ हो वहाँ जो ‘नञ्’ का अभिप्राय हुआ करता है वह पर्युदासात्मक हुआ करता है ।’ जैसे कि—

(महाकवि कालिदास के रघुवश की) यह सूक्ति अर्थात्—

‘महाराज दिलीप निर्भीक होकर अपने शरीर की रक्षा करते रहे, नीरोग रहते हुए धर्म का पालन करते रहे, अलोलुप होकर अर्थ-संग्रह करते रहे और अनासक्त रहते हुए सुखभोग करते रहे ।’

यहाँ ‘अत्रस्त’ आदि में ‘नञ्’ को समास में डाल दिया गया है जो कि उचित ही । क्योंकि यहाँ ‘अत्रस्त (निर्भीक) रहते हुये’ आदि उद्देश्य हैं न कि विधेय । यहाँ विधेय है वह तो ‘आत्मरक्षण’ आदि है । इस प्रकार यहाँ ‘नञ्’ का अभिप्राय ‘पर्युदास रूप है (न कि प्रसज्यप्रतिषेधरूप) और इसलिये इसका तत्पुरुष समास में अप्रधान जाना खटकता नहीं अपितु सर्वथा समीचीन लगता है ।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है—जैसे ‘अश्राद्धभोजी ब्राह्मण’ अथवा ‘असूर्यपश्या राजदारा’ इत्यादि प्रसङ्गों में, नञ् के समास में पड़ जाने पर भी, ‘नञ्’ का अभिप्राय ‘प्रसज्यप्रतिषेध’ रूप लिया जा सकता है (क्योंकि ब्राह्मण के ‘अश्राद्धभोजी’ कहे जाने से उस श्राद्धभोजन का अभाव और राजदारा के ‘असूर्यपश्या’ कहे जाने से उसमें सूर्यदर्शन का अभाव ही प्रतीत होता है) वैसे ही ‘अमुक्ता’ आदि पूर्वोद्धृतप्रसङ्ग में, समास में

त्रापि प्रसज्यप्रतिषेधो भवतीति चेद् ? न. अत्रापि यदि भोजनादिरूप-
गशेन नञः सम्बन्धः स्यात्तदैव तत्र प्रसज्यप्रतिषेधत्व वक्तुं शक्यम्, न च
१, विशेष्यतया प्रधानेन तद्भोज्यार्थन कर्त्रशेनेव नञः सम्बन्धान् ।

गृह —

‘श्राद्धभोजनशीलो हि यत कर्ता प्रतीयते ।

न तद्भोजनमात्रं तु कर्तरीनेर्विधानतः ॥’ इति ।

‘अमुक्ता’ इत्यत्र तु क्रियेव सह सम्बन्ध इति दोष एव ।

१’ का अभिप्राय प्रसज्यप्रतिषेधामक (भोजन का समावरूप) क्योंकि न लिया
१ ? किन्तु इसका समाधान यह है—‘अश्राद्धभोजी ब्राह्मण’ वादि प्रसङ्गों में भी ‘नञ्’
अभिप्राय प्रसज्यप्रतिषेधरूप नहीं अपितु वस्तुतः पर्युदासरूप ही है । यहाँ ‘नञ्’
अभिप्राय तब कहीं प्रसज्यप्रतिषेधरूप हो सकता जब कि हमका सम्बन्ध ‘भोजन’
तौर दर्शन) वादि रूप क्रिया भाग के साथ जुड़ पाना । किन्तु यहाँ तो ‘नञ्’ का
बन्ध (विशेष्यभूत भोजन क्रिया अथवा दर्शन क्रिया के साथ नहीं अपितु) विशेष्य-
। और हमीलिये प्रधान रूप से अवस्थित कर्तृरूप अश के साथ जुड़ा है । तभी तो
१ गया है—

‘श्राद्धभोजी पद में जो (‘सुप्यजातौ गिन्तिस्त्वाच्छील्ये’ इस सूत्र से) ‘इति’ प्रत्यय है
कर्ता के अर्थ में है और इसलिये इसका अभिप्राय ‘श्राद्धभोजनशील’ हुआ करता है
के श्राद्धभोजन मात्र (इसने य- स्पष्ट है कि ‘अश्राद्धभोजी’ पद में ‘नञ्’ का सम्बन्ध
प्राग के साथ नहीं अपितु कर्त्रश-प्रत्ययार्थ-के साथ है और ‘नञ्’ का अर्थ पर्युदा-
‘मक है ।)

इस नञ्विभक्त का निष्कर्ष गृहीत कि ‘अमुक्ता’ आदि में विधेयाविभक्त दोष
उत्पन्न ही रहा क्योंकि यहाँ प्रसज्यप्रतिषेधार्थक ‘नञ्’ का सम्बन्ध क्रिया के साथ है
र इसलिये इसे समाप्त में डाल कर अप्रधान नहीं रखा जा सकता ।

विभक्त—यों मात्स्विकपदों का यह विचारविभक्त स्वस्तिविकरण आचार्य गरि
का इन विभक्तों का उल्लेख कर गया है—

‘नञ्वश्राद्धभोज एव प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि यथा समानं दृश्यते तद्विहारि नविप्रति ।
नैव शक्यम्, यतः न तावद्यत्र नञ् श्राद्धेनोत्तरपदार्थनाभिसम्बन्ध कश्चित् प्रती-
१, अपि तु विशेष्यतया प्रधानेन तदन्वयेऽप्यर्थेनैव । तत्रापि कर्त्रश एव प्रधान न
प्राग । श्राद्धभोजनशीलो एतः कर्ता प्रतीयते न तद्भोजनमात्रं कस्मिन् जिनेविधा-
त् । ततस्तदभिसम्बन्ध एव शब्दो न क्रियाभिसम्बन्धः । सा हि सामर्थ्यादवर्त्तयते,
दुपादानमन्तरेण कर्तृशानुपपत्तेः । तत्तद्व्यवसायविप्रलम्भनवृत्तधाय प्रसज्यप्रतिषेधश्च,
पुनरावृत्त्येन तत्र तद्व्यवसाय नाम कश्चित् मनवति । सा हि वाक्यादेशावर्त्तयते न वृत्ते,
ते निद्विषाव्याप्यनिष्ठतया निद्विषाव्याप्यादिनि नविनव्यमेव तत्र समानेन । एवमव्यवसा-
गदिष्वपि दृष्टव्यम् । इह तु प्रतिषेधस्य प्राधान्यविशेषात् न विधेः, ततः कोऽप्यप्राग-
नामस्य ।’ (अन्तिम दोष — विभक्त)

नञ् के ‘-भोजनी’ (नञ् का जुड़े श्राद्धभोजनी) यदि प्रसङ्गों में, समाप्त में
‘अश्राद्धभोजी’ का ‘नञ्’, ‘श्राद्धभोजी’ होने से गाना, प्रसज्यप्रतिषेध ही माना
जा रहा है जैसे ही ‘श्राद्ध’ आदि में भी, समाप्त में ‘अश्राद्धभोजी’ नञ् को ‘प्रसज्य-
प्रतिषेध’ माना जा रहा है ।

(क्लृप्त-विरुद्धमतिकारित्व और अविमृष्टविधेयांशत्व की पदगतता की व्यवस्था)
एते च क्लृष्टत्वादयः समासगता एव पददोषा ।

(वाक्यगत दोष-निष्पण १ दुःश्रवत्वं)

वाक्ये दुःश्रवत्वं यथा—

‘स्मरार्त्त्यन्धः कदा लप्स्ये कार्त्ताश्र्यं विरहे तव ॥’

(२ अश्लीलत्व)

कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्त समश्नुते ॥

अत्र जुगुप्साव्यञ्जिकाश्लीलता ।

(३—नेमार्यत्व)

‘उद्यत्कमललौहित्यैर्वक्राभिर्भूषिता तनु’ ॥’

प्रतिषेध’ हा क्योंकर न माना जाय और ‘अविमृष्टविधेयांशत्व’ का समावना न का जाय ? कि यहा बात वस्तुतः यह है कि ‘अश्राद्धमोजी’ आदि प्रसङ्गों में नञ् प्रमज्यप्रतिषेधात्मक नहीं बल्कि पर्युदासात्मक ही है । क्योंकि ‘अश्राद्धमोजी (श्राद्ध मोजी शीलमस्येति श्राद्धमोजी न श्राद्धमोजी कश्चित् ब्राह्मण) में यदि नञ् समास की उपपत्ति देखी जाय तो यही पता चल कि यहाँ ‘नञ्’ का सम्बन्ध प्रधानभूत कर्तृरूप अश के साथ है न कि अप्रधानरूप से अवस्थित किरूप अश के साथ । अब जब कि ‘नञ्’ का सम्बन्ध किरूप अश के साथ नहीं तब इसे पर्युदासात्मक माना जायगा न कि प्रमज्यप्रतिषेधरूप ।

अनुवाद—क्लृष्ट आदि (अर्थात् विरुद्धमतिकारित्व तथा अविमृष्टविधेयांशत्व) दोष ऐसे हैं जो समास में ही पददोष कहे जा सकते हैं (क्योंकि समास के अभावे ये वाक्यदोष हैं) ।

अनुवाद—‘दुःश्रवत्वं’ दोष वाक्य का भी दोष है । जैसे कि—‘तेरे विरह में स्मर (कामपीड़ा) से अन्धे मुझे कब कार्त्ताश्र्य (कृतार्थता) की प्राप्ति होगी’ आदि में ।

[यहाँ यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य की कर्णकठोरता से सहृदय का हृदय उठि हो उठता है और विरही प्रेमी की प्रेमभावना का स्पर्श भी नहीं करना चाहता ।]

अनुवाद—‘अश्लीलत्व’ भी वाक्यगत दोष के रूप में दिखायी दिया करता है जैसे कि—‘वह कवि जो दूसरे के शब्द और अर्थ अपनाया करता है वस्तुतः (वचन) भोजन किया करता है ।’ आदि में । यहाँ वाक्यगत ‘अश्लीलत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘वान्तं समश्नुते’ आदि वाक्य एक घृणास्पद अभिप्राय का प्रकाशन कर रहा ।

विमर्श—साहित्यदर्पण की ‘विमला’ और ‘लक्ष्मी’ टीका में, यहा वाक्यदोष की सिफारिश लिये, ‘प्रवृत्ति’ पद से पुरीषोत्सर्ग का घृणास्पद अभिप्राय लिया गया है । किन्तु ‘प्रवृत्ति’ पर ‘पुरीषोत्सर्ग’ अर्थ यहा सगत नहीं । यहाँ ‘वान्तं समश्नुते’ यह पदद्वयात्मक वाक्य अश्लील है कइसीसे घृणा का अभिप्राय अभिव्यक्त हो जाता है ।

अनुवाद—वाक्यगत ‘नेमार्यत्व’ इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है—

‘वक्राभिः—सुन्दरिओं ने, ‘उद्यत्कमललौहित्यैः’—चमकीले पद्मराग मणिओं (कमल = पद्म + लौहित्यैः = रागैः = पद्मरागमणिभिः) अपने-अपने शरीर

अत्र कमललौहित्य पद्मरागः, वक्राभिर्वामाभिः, इति नेयार्थता ।

(४—क्लिष्टत्व)

‘धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकाम कुरङ्गशावाद्या’ ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानस शोभाम् ॥’

अत्र धम्मिल्लस्य शोभा प्रेक्ष्य कस्य मानस न रज्यतीति संबन्ध क्लिष्ट’ ।

(५—अविनृष्टविधेयाशत्व)

‘न्यक्कारो ह्ययमेव मे चदरय’ इति ।

अत्र चायमेव न्यक्कार इति न्यक्कारस्य विधेयत्व विवक्षितम् । तच्च शब्दरच-
नैपरीत्येन गुणीभूतम् । रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति वाक्यदोष’ ।

(अविनृष्टविधेयाशत्व (विधेयाविमर्ग) की अन्यान्य सम्भावनायें)

‘आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु’ समागत. ।’

इत्यादिषु ‘यत्तदोर्नित्यसबन्ध’ इति न्यायादुपक्रान्तन्य यच्छब्दन्य निरा-

यहाँ (विना रुद्धि अथवा प्रयाजन के) ‘कमललौहित्य’ पद से ‘पद्मरागमणि’ और
‘वामा’ पद से वामा अथवा सुन्दरिओं का लक्ष्यार्थ प्रतिपादित किया गया है । इसलिये
‘वाक्यगत’ ‘नेयार्थत्व’ स्पष्ट दिखायी दे रहा है ।

अनुवा—वाक्यगत ‘क्लिष्टत्व’, जैसे कि—

‘कुरङ्गशावाद्या’—हम मृगनयनी की, ‘अपूर्वबन्धव्युत्पत्ते’-अद्भुत विन्यासवाली,
‘मेघलस्य’—झड़ी छोटी की, ‘शोभाम्’—सुन्दरता को, निकाम प्रेक्ष्य-देख कर, ‘कस्य
नस न रज्यति’ कौन है जिसका मन मोहित नहीं हो जाता ?

यहाँ वाक्यगत ‘क्लिष्टत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘धम्मिल्लस्य शोभा प्रेक्ष्य कस्य मानस न
रज्यति’ (छोटी की सुन्दरता देख किन्तु मन सुगम नहीं हो जाता) आदि पद अपने
स्वर अन्वय में महाक्लेश उत्पत्ति दिखायी दे रहे हैं ।

विमर्श—यहाँ किनी सुन्दरा के केशपाग का रत्नद्वयक मन्द-चन्दन विवक्षित अवश्य है
तु महदय काच पाठ्य का दृश्य शक्ति सुख होने के दृश्य उद्भिन्न हो उठता है क्योंकि उसे
व प्रसुत पत्नी के परस्पर सम्बन्ध-गान में प्रेश उठाना पड़ता है । “त” में ‘रम’ का ।

अनुवा—वाक्यगत ‘अविनृष्टविधेयाशत्व’, जैसे कि—

‘अपमान तो यह है मेरा कि मेरे भी शत्रु हो गये’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति । यहा कवि
कहना है—‘यही मेरा अपमान है’ आदि, जिसमें यह स्पष्ट है कि ‘अपमान’
(न्यक्कार) विधेय रूप से विवक्षित है । किन्तु यहा शब्द-योजना ऐसी उल्टी-पल्टी कर
गयी है जिसमें विधेयवाचक ‘न्यक्कार’ पद (उद्देश्यवाचक ‘अयम्’ पद के पहले प्रयुक्त
‘दिये जाने से) अग्रधान बन गया है । हम प्रकार यहा जो ‘अविनृष्टविधेयाशत्व’ है
; वाक्यदोष के रूप में दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ दो पदों (वाक्य) की रचना में
‘त’ फेर है ।

अनुवा—ऐसे वाक्यों में भी ‘अविनृष्टविधेयाशत्व’ ही है—

‘वरी सुन्दरी’ वह जो तेरे नेत्रों को आनन्दित किया करता है, आया हुआ है ।’

यहाँ ‘अविनृष्टविधेयाशत्व’ इस प्रकार है—‘अनन्द-शत्रु’ का यह मानान्य नियम है
‘यत्’ (जो) और ‘तत्’ (वह) पद निरन्तर मध्यस्थ रहते हैं (क्योंकि ये दोनों
स्वर आपेक्ष और साक्षात् पद हैं) । अब ‘यत्’ पद उद्देश्य रूप से प्रयुक्त हो तो

काङ्क्षत्वप्रतिपत्तये तच्छब्दसमानार्थतया प्रतिपाद्यमाना इदमेतददःशब्दा विवेक
एव भवितुं युक्ताः । अत्र तु यच्छब्दनिकटस्थतया अनुवाद्यत्वप्रतीतिश्च ।
तच्छब्दस्यापि यच्छब्दनिकटस्थितस्य प्रसिद्धपरामर्शित्वमात्रम् ।

यथा—

‘यः स ते नयनानन्दकरः सुभ्रु । स आगतः ।’

यच्छब्दव्यवधानेन स्थितास्तु निराकाङ्क्षत्वमवगमयन्ति ।

यथा—

‘आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुनाऽसौ समागतः ।’

एवमिदमादिशब्दोपादानेऽपि । यत्र च यत्तदोरेकस्यार्थत्वं संभवति, तं
कस्योपादानेऽपि निराकाङ्क्षत्वप्रतीतिरिति न क्षतिः । तथाहि यच्छब्दस्योक्त
वाक्यगतत्वेनोपादाने सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्यार्थत्वम् ।

यथा—

‘आत्मा जानाति यत्पापम् ।’

उसकी अपेक्षा की पूर्ति के लिये ‘तत्’ पद के समानार्थक ‘इदम्’, ‘एतत्’ तथा ‘अद’
पदों में से कोई भी व्यवहृत हो सकता है । किन्तु जो भी व्यवहृत हो उसे विधेय रूप
ही व्यवहृत होना चाहिये । अब यहां ‘आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु समागत’ आ
में जो ‘यत्’ (य.) पद उद्देश्य रूप से प्रयुक्त है उसके लिये ‘अदस्’ (असौ) प
विधेय सा नहीं अपितु उद्देश्य सा ही लग रहा है क्योंकि ‘यत्’ के साथ इसके साक्षि
से केवल यही पता चलता है कि यह जिसका निर्देश कर रहा है वह एक प्रसिद्ध व
है । ‘अदस्’ शब्द ही क्यों यदि ‘तत्’ शब्द भी ‘यत्’ के अत्यन्त सनिहित हो, तो वह
‘यत्’ पदार्थ की प्रसिद्धि का ही बोधक मात्र रह जाता है । जैसे कि यदि कहा जाय—

‘अरी सुन्दरी ! वह, जो तेरे नेत्रों का आनन्ददायक है, आया हुआ है’ ।

तो, यहाँ ‘यत्’ (य.) पद का सन्निकटवर्ती ‘तत्’ (सः) पद भी (विधेय नहीं ब
रहा—अपि तु) ‘यत्’ पदार्थ की प्रसिद्धि का ही अवबोध करा रहा है । अभिप्राय यह
कि यदि ‘तत्’ आदि पद ‘यत्’ पद से कुछ दूर रहा करें तभी वे ‘यत्’ पद की अपेक्षापूर्ति
कर सकते हैं (और विधेय रूप में देखे जा सकते हैं) जैसे कि—

‘जो तेरे नेत्रों को आनन्दित किया करता है वह अभी आया हुआ है ।’ आदि वाक्य
में । वस्तुतः यही बात वहाँ भी लागू होती है जहाँ ‘इदम्’ आदि पद (‘यत्’ पद से ऊ
हट कर) प्रयुक्त हुआ करते हैं ।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि यदि कहीं ‘यत्’ और ‘तत्’ पद
में से कोई एक पद अप्रयुक्त होने पर भी अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत हो तो वहाँ किसी एक
प्रयोग में भी दूसरे की अपेक्षा-पूर्ति हो जाती है और (उद्देश्य-विधेय भाव में) कि
प्रकार की कोई त्रुटि नहीं दिखायी देती । जैसे कि यदि वाद के वाक्य में (उद्देश्यबोधक
‘यत्’ पद प्रयुक्त हो रहा हो तो पहले वाक्य में, (विधेयबोधक) ‘तत्’ पद के प्रयोग
‘विना भी, उसकी (‘तत्’ पद की) अर्थतः उपस्थिति हो जायगी । उदाहरण के लिये—

‘जो पाप है (उसे) अन्तःकरण स्वयं जान लेता है’

‘यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्स मेरौ स्थिते दोग्धरि दोग्धरे ।
भास्वन्ति रत्नानि महोपवीध—’

त्यादावपि ।

तच्छब्दस्य प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्वार्थत्वम् ।

एव यथा—

(१—प्रकान्तवाचक ‘तत्’ के प्रयोग में)

‘स हत्वा वालिन वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।

धातो’ स्थान इवादेश सुधीव सन्यवेशयत् ॥’

(२—प्रसिद्धि-बोधक ‘तत्’ के प्रयोग में)

‘स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्याद्योपकल्पताम् ।’

(३—पूर्वानुभूत पदार्थ के स्मारक रूप ‘तत्’ के प्रयोग में)

‘तामिन्दुसुन्दरमुखी हृदि चिन्तयामि ।’

यत्र च यच्छब्दनिर्दिष्टस्थितानामपीदमादिशब्दानां भिन्नलिङ्गविभक्तित्वं
त्रापि निराकाङ्क्षमेव ।

इसी भाँति ऐसे प्रसङ्गों जैसे कि—

‘दोहन कर्म में दूध मेरु पर्वत के दोग्धरा रहने पर भी पर्वत वृन्द ने जिसे वत्स बनाया
वसुन्धरा से महार्घ रखों और महोपवीधों को दूह लिया, (वही यह हिमालय है) ।’
१ में भी (धातु के वाक्य में प्रयुक्त ‘यत्’ पद की अपेक्षापूर्ति पहले वाक्य—‘अत्युत्तर-
म’—आदि में अप्रयुक्त किन्तु अर्थतः उक्त ‘तत्’ पद से स्वभावतः हो रहा है जिसमें
प्रातिमर्शत्व की आशङ्का दूर हो जाती है) ।

प्रयुक्त न होने पर भी ‘यत्’ शब्द इन तीन परिस्थितियों में अर्थलभ्य रहा करता है—
(१) जहाँ ‘तत्’ शब्द प्रकान्त अर्थात् प्रकरणप्राप्त के बोधकरूप से प्रयुक्त हो, (२) जहाँ
‘तत्’ शब्द प्रसिद्धि के बोधकरूप से व्यवहृत हो और (३) जहाँ ‘तत्’ शब्द में पूर्वानुभूत
पदार्थ का स्मरण करवाया गया हो । जैसे कि क्रमशः—

‘उम महावीर (राम) ने वाली को मार कर, बहुत पहले से आकाशिन, उस (वाली)
के स्थान पर, सुग्रीव को उसी प्रकार प्रतिष्ठित कर दिया जिस प्रकार (वेंगावरों द्वारा)
‘धातु’ के स्थान पर ‘आदेश’ की प्रतिष्ठा की जाया करती है ।’

[यहाँ प्रयुक्त ‘तत्’ (स) पद प्रकरणप्राप्त का बोधक है और हमलिये ‘यत्’ अर्थतः
उपस्थित हो जाता है जिसमें उद्देश्य-विधेय-भाव में कोई भ्रष्टि नहीं आता ।]

‘ये चन्द्रमेखर भगवान् शिव आप सब को अपना मातुल्य प्रदान करें ।’

[यहाँ प्रयुक्त ‘तत्’ (न) पद प्रसिद्धि-बोधक है और हमलिये ‘यत्’ पद के प्रयोग
की आवश्यकता नहीं । ‘यत्’ यहाँ अर्थतः उपस्थित है ।]

‘उम चन्द्रमुखी का स्थान मैं हृदय में कर रहा हूँ ।’

[यहाँ ‘तत्’ (तान्) पद पूर्वानुभूत वस्तु का वाचक है और हमलिये हमने ‘तत्’ शब्द
की अपेक्षा नहीं । ‘यत्’ शब्द यहाँ अर्थमानस्य से ही उपस्थित है ।]

यहाँ एक और भी बात है और वह यह है—यदि ‘इदम्’ आदि शब्द ‘यत्’ शब्द के

चिद्रूपेण स्थित सर्वात्मक वस्तु विवक्षितम् । तथाभूतस्य तस्य तच्छब्देन परामर्शः । एवमन्येषामपि वाक्यगतत्वेनोदाहरण बोध्यम् ।

(पदारागत दोषः १-दुःश्रवत् स्वस्व तथा निदर्शन)

पदार्थे दुःश्रवत् यथा—

‘तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यम् ।’

(२—निहतार्थत्वं)

‘धातुमत्ता गिरिवर्त्ते ।’

‘यदुवाच न तन्निष्ठा यद् ददौ न जहार तत् ।’

यथा च—

‘म दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः स पूयकर्मा मुहता शृणोति यः ॥’ इति । एकतरन्योपादाने मत्तार्थं तदितरस्यार्थमानस्येनोपज्ञेपात् । तत्र तद् केवलन्योपादाने मत्तार्थ-निधिषः प्रसिद्धानुभूतप्रक्रान्तवस्तुविषयतयोपकल्पितमस्तिधिनः यदा तन्नाभिन्नमन्यन्धात् ।

केचित् पुनरुपात्तवस्तुविषयतयोपकल्पितयोर्द्वयोरप्याज्ञेपादस्य अनुर्थमपि प्रकार-निच्छन्ति । यथा—

‘ये नाम केचिदिह न प्रययन्प्रवृत्ता जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नप यतः ।

एतस्यैतस्मिन् मनः कोऽपि नमानधर्मा कालोऽयं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥’

अत्र स कोऽप्युपस्थिते यः प्रति यतो नैकफलाभविषयतीत्युभयोरपि तयो रर्यादाज्ञेयः ।

यश्चेत्स्वार्थे कर्तुं चेन्नोक्तो यश्चेदनादिभिः । तच्छब्देन परामर्शो न तदन्तर्यत्वेन ॥

यतोऽप्यज्ञायमानोऽर्थः स तेभ्यः प्रतिपद्यते । न चामो तत्परामर्शमहिष्कारममन्वराष्ट ॥

तस्मादपेक्षप्रक्रान्तमन्वराष्टयः यदोऽनुपपन्नप्रक्रान्तमानस्यन्तुमन्व-यस्यैकाकिनः सार्थप्रत्ययेव तदस्तिनः पथिकस्य मन्नागोपदेशिकः तच्छब्दाप्राहारमेवैक-शरणमन्तरेण नापराऽभिमतार्थमनोपात्र समवति । न चेवविधेः सुक्तिरानेनु कदा-यमानो मनागपि न वाक्यमात्रिष्यवैकटिकानां सचेनमा मनास्याप्यपिदुमलमिति ।

(‘वत्तिविदे’ २२ विना)

अनुवा—हमी भाति अन्य दोषों के भी वाक्यगत रूप ग्रहण करने जा सकते हैं ।

विमर्श—‘वाक्यगत’ ने अनुपपन्न मना दोषों के वाक्यगत स्वस्व का संशयान्ति-निवृत्ति । जैसे कि वाक्यगत ‘मानस’ का निवृत्ति—

‘तामूतकृतगल्लोऽयं मल्ल उल्लरति मानुषः । करोति स्वादन पान मद्यं तु यथा तथा ॥’
लादि ।

अनुवा—हमी भाति पद के अन्त में भी ‘दुःश्रवत्’ समभव है जैसे कि (महाशयि-कालिदास के कुमारसम्भव की) इस उक्ति में ही—

‘अयं जाज्ञे, तुम्हारा काय मिट हो, देवकार्य मकर हो ।’

[यहाँ ‘गच्छ’ के ‘उठ खीर’ ‘मिदप’ के ‘उधे’ में कर्मावृत्ता स्पष्ट है क्योंकि एतद् के द्वारा मदन के प्रति निवेदन के प्रसङ्ग में धुनिमत्त हो पद कि या पदार्थ-वर्णियों सुमार्श-देनी चाहिए थीं ।]

अनुवा—पदार्थ में निहतार्थत्वं—

अत्र मत्ताशब्दः क्षीवार्थं निहितः ।

(३—अवाचकत्व)

‘वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः ।’

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः ।

(४—अश्लीलत्व)

‘पाणिः पल्लवपेलवः ।’

पेलवशब्दस्याद्याक्षरे अश्लीले ।

(५—नेयार्थत्व)

‘संग्रामे निहताः शूरा वचोवाणत्वमागताः ।’

अत्र वचशब्दस्य गीः शब्दवाचकत्वे नेयार्थत्वम् । तथा तत्रैव वाणस्यांशरेति पाठे । अत्र पदद्वयमपि न परिवृत्तिसहम् । जलध्यादौ तूत्तरपदम्, वा वानलादौ पूर्वपदम् ।

‘यह पर्वत धातुमत्ता (गन्धक, अभ्रक आदि धातुओं की भरमार) धारण करता है यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘धातुमत्ता’ पद का ‘मत्ता’ रूप अंश ‘मदमाती नारी’ के अर्थ प्रसिद्ध है जिससे यहाँ विवक्षित ‘मनुप्’ प्रत्यय का अर्थ निहत अथवा तिरस्कृत दिया गया है ।

अनुवाद—पदांशगत अवाचकत्व—

‘उन महासेन का क्या बखान किया जाय जो तारकासुर को जीत चुके हैं ।’

यहाँ ‘विजेय’ पद में जो कृत्यसञ्ज्ञक ‘यत्’ (अचो यत् से विहित) प्रत्यय है वह य विवक्षित (भूतकालवाचक) ‘क्त’ प्रत्यय के अर्थ में अवाचक है ।

[‘विजेय’ पद का अशभूत ‘यत्’ प्रत्यय यहाँ अवाचक है । इसलिये यहाँ जो अचकत्व है वह पदांशगत है न कि पदगत ।]

अनुवाद—पदांशगत अश्लीलत्व (व्रीहान्यञ्जक अश्लीलत्व)—

‘इसका हाथ पल्लव की भाँति पेलव (कोमल) है ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘पेलव’ पद का ‘पेल’ रूप अंश अश्लील है (क्योंकि इस अभिप्राय अण्डकोप है जो कि व्रीहान्यञ्जक है) ।

अनुवाद—पदांशगत नेयार्थत्व—

‘संग्राम में मर मिटने वाले शूरवीर ‘वचोवाण’ (देव) रूप हो जाते हैं ।’

यहाँ पद का ‘वचस्’ रूप अंश नेयार्थ है क्योंकि ‘देवता’ के अर्थ में ‘गीर्वाण’ प्रसिद्ध है न कि ‘गिर्’ और ‘वाण’ का पर्यायभूत अन्य वचोवाण आदि पद (बिना श अथवा प्रयोजन के ‘वचस्’ शब्द का ‘गिर्’ के अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग नेयार्थता अतिरिक्त और कुछ नहीं) । ‘गीर्वाण’ पद के उत्तरवर्ती ‘वाण’ रूप अंश के बदले उसके पर्यायभूत ‘शर’ पद को रख दें तब भी यहाँ पदांशगत नेयार्थत्व रह ही जाय वस्तुतः बात यह है कि ‘गीर्वाण’ पद के पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अंशों को उनके पद के द्वारा बदला नहीं जा सकता (क्योंकि बदले जाने पर नेयार्थता का दोष लग जायगा कुछ ऐसे भी पद हैं जिनके उत्तरवर्ती अंश का उनके पर्यायों में परिवर्तन अक्षम्य है कि ‘जलधि’ पद (क्योंकि यदि ‘धि’ रूप अंश को बदल कर ‘धर’ कर दें तो ‘जलधि’ अर्थ में ‘जलधर’ पद नेयार्थ हो जायगा) । कुछ पद ऐसे भी हैं जिनके पूर्ववर्ती अंश

(पदाशङ्गत दोष उपसंहार)

एवमन्येऽपि यथासम्भव पदाशङ्गोपा ज्ञेयाः । निरर्थकत्वादीनां त्रयाणा च पदमात्रगतत्वेनैव लक्ष्ये सम्भवः ।

क्रमतो यथा—

(निरर्थकत्व दोष)

‘मुञ्च मान हि मानिनि । ॥’

अत्र हिशब्दो वृत्तपूरणमात्रप्रयोजनः ।

(अममर्षत्व दोष)

‘कुञ्ज हन्ति कृशोदरी ।’

अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम् ।

(‘च्युतसंस्कृतित्व’ दोष)

‘गाण्डीवी कनकशिलाभिर्भुजाभ्यामाजव्ने विपमविलोचनस्य वक्षः ।’

‘आहो यमहनः’, ‘स्वाङ्गकर्मकाक्ष’ इत्यनुशाननबलादाहपूर्वस्य हनं स्वाङ्ग-कर्मकस्यैवात्मनेपदं नियमितम् । इह तु तल्लङ्घितमिति व्याकरणलक्षणहीनत्वान् च्युतसंस्कारत्वम् ।

उनके पर्यायों में परिवर्तन अनुचित है जैसे कि ‘वाडवानल’ पद (क्योंकि यदि ‘वडवानल’ पद के पूर्ववर्ती ‘वडवा’ रूप अक्ष को बदल कर ‘अश्वानल’ कर दिया जाय तो ‘वडवाग्नि’ की प्रतीति न हो पायगी और नेयार्थता का दोष लग जायगा) ।

अनुवाद—इसी भाँति अन्य दोषों के भी पदाशङ्गत रूप यथानुसंगत्व देखे जा सकते हैं ।

इन दोषों में निरर्थकत्व आदि अर्थात् (निरर्थकत्व, अममर्षत्व और च्युतसंस्कृतित्व) दोष ऐसे हैं जो केवल पदगत रूप में ही काव्य-साहित्य में दिखायी देते हैं (न कि पदाशङ्गत अथवा वाक्यगत रूप में भी) । जैसे कि क्रम से—

‘वरी मान करने वाली ! अथ तो अपना मान छोड़ ।’

यहाँ उपर्युक्त उक्ति में ‘हि’ पद केवल वृत्तपूरि के ही लिये प्रयुक्त है (क्योंकि इसका कोई भी अर्थ यहाँ अन्वित नहीं होता) । अथवा, जैसे कि—

‘यह कृशोदरी कुञ्ज में जा रही है (कुञ्ज हन्ति) ।’

यहाँ जो ‘हन्ति’ पद प्रयुक्त है वह शब्द-शान्ति में गमन के अर्थ में निदिष्ट तो है किन्तु गमन के अभिप्राय का प्रत्यायक कदापि नहीं हो सकता ।

इसी भाँति ‘गाण्डीवधारी अर्जुन ने, विलोचन शिव के कनकशिला-मरीचे वरान्धल पर, अपनी भुजाओं से प्रहार प्रारम्भ कर दिया (आजवने) ।’

(महाकविभारविणी) इस सूक्ति में जो ‘आजवने’ पद है उसमें ‘च्युतसंस्कृतित्व’ स्पष्ट है । कारण यह है कि ‘आज्’ उपसर्गपूर्वक ‘एज्’ धातु का आत्मनेपद में प्रयोग पाणिनीय व्याकरणशास्त्र के ‘आहो यमहनः’ (१ ३. २८) सूत्र के अनुसार होना अवश्य है किन्तु ‘स्वाङ्गकर्मकाक्ष’ आदि वाकिक की अनुश्रुति के कारण तभी होगा है जब कि मारने की क्रिया का कर्म ‘मार्त’ (मारनेवाले का अपना अङ्ग) हुना करना है ।

नन्वत्र 'आजघ्ने' इति पदस्य स्वतो न द्रष्टता, अपि तु पदान्तरापेक्षैत इत्यस्य वाक्यदोषता ? मैवम्, तथाहि गुणदोषालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वे व्यवस्थितेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं हेतुः । इह तु दोषस्य 'आजघ्ने' इति पदमात्रस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम्, पदान्तराणां परिवर्त्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यादिति पददोषत्वमेव । तथा यथेहात्मनेपदस्य परिवृत्तावपि न पद दोषः, तथा हन्प्रकृतेरपीति न पदाशदोषः ।

एव 'पद्म.' इत्यत्राप्रयुक्तस्य पदगतत्वं बोध्यम् । एवं प्राकृतादिव्याकरण लक्षणहीनावपि च्युतसंस्कारत्वमूहम् ।

(कतिपय दोषों के स्वरूप-भेद)

इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम् । विरलप्रयोगे निहतार्थत्वम् । निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम् । अप्रतीतत्व त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य

यहाँ (भारवि ने) इस नियम का उल्लङ्घन किया है जिससे यह प्रयोग व्याकरण के नियम के विरुद्ध है और यहाँ 'च्युतसंस्कृतिस्त्व' दोष आ लगा है ।

यहाँ ('आजघ्ने' आदि में) यह कहा जा सकता है कि अपने आप में तो 'आजघ्ने' पद व्याकरण से अनुमोदित है और इसमें जो भी दोष है वह दूसरे पद (अर्थात् विपरीत विलोचनस्य वक्षः) की अपेक्षा से है जिमके देखते यहाँ 'वाक्यगत' च्युतसंस्कृतिस्त्व कल्पना की जा सकती है (न कि पदमात्रगत दोष की) । किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं वात यह है कि गुण, दोष किंवा अलङ्कारों को शब्दगत अथवा अर्थगत रूप से व्यवस्थित माना गया है उसका कारण 'अन्वयव्यतिरेक' का सिद्धान्त है (अर्थात् दोष अथवा गुण अथवा अलङ्कार जिस शब्द अथवा अर्थ के रहने पर रहे और न रहने पर न रहे वह उसी शब्द अथवा अर्थ का दोष अथवा गुण अथवा अलङ्कार माना जाया करता है) । यहाँ जो च्युतसंस्कृतिस्त्व है वह 'आजघ्ने' इस एक पद के रहने से ही है क्योंकि इसे हटा देने से यह दोष हट जाता है । इसलिये यहाँ 'च्युतसंस्कृतिस्त्व' पददोष है (न कि वाक्यदोष) क्योंकि अन्यपदों के बदल देने पर भी यह दोष घना ही रह जाता है । यहाँ ही पदाशगत दोष भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जैसे 'आत्मनेपद' को बदल देने पर यह दोष हट जाता है वैसे ही 'हन्' धातु को बदल देने पर भी (पदाश दोष तो यह तब होता जब कि प्रकृति और प्रत्यय दोनों में से किसी एक के बदल देने पर भी घना रहता) ।

इसी भाँति 'पद्मः' (पुष्पिण्य में पद्म शब्द) आदि में जो 'अप्रयुक्तस्त्व' दोष है वह 'प्रयुक्त' ही माना जाना चाहिये । साथ ही साथ प्राकृत भाषाओं के व्याकरण नियमों के विरुद्ध जो प्रयोग हैं उनमें भी वस्तुतः 'च्युतसंस्कृतिस्त्व' दोष ही देखा जाना चाहिये ।

अनुवाद—यहाँ इन कतिपय उपर्युक्त दोषों का परस्पर भेद इस प्रकार समझा चाहिये—'असमर्थत्व' तब हुआ करता है जब कि किसी शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जाय जिसमें उसे कभी प्रयुक्त नहीं किया जाया करता । 'निहतार्थत्व' ऐसे शब्द के प्रयोग में रहा करता है जिसका किसी अर्थ में कदाचित् ही (जैसे कि श्लिष्टप्रसङ्ग में) प्रयोग किया जाया करता है । 'निहतार्थत्व' की सम्भावना तो अनेकार्थक शब्द के प्रयोग (वस्तुतः विरल प्रयोग में) है किन्तु 'अप्रतीतत्व' ऐसे एकार्थक अथवा अनेकार्थक शब्द के भी प्रयोग में सम्भव है जो कि उस अर्थ में सर्वत्र प्रयुक्त न होता हो जिसमें उसे प्रयुक्त

पार्थविकप्रयोगविरह' । अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम् । असमर्थत्वमनेकार्थ-
शब्दविषयम् । असमर्थत्वे हन्त्यादयोऽपि गमनार्थे पठिताः । अवाचकत्वे दिना-
य प्रकाशमयाद्यर्थ न तथेति परस्परभेद ।

(वाच्यदोष स्वल्प तथा भेद-निरूपण)

एवं पददोषसजातीया वाच्यदोषा उक्ताः सम्प्रति तद्विजातीया उच्यन्ते—

‘वर्णानां प्रतिकूलत्वं, लुप्ताऽऽहतविमर्गते ।

अधिकन्पूनकथितपदतादृतवृत्ता ॥ ५ ॥

पतत्प्रकर्षता, सन्तौ विश्लेषाक्षीलकष्टताः ।

अर्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥ ६ ॥

अभयन्मतसम्बन्धाक्रमामतपरार्थताः ।

वाच्यस्यानभिधानं च भग्नप्रक्रमता तथा ॥ ७ ॥

त्यागः प्रमिद्वेगस्थाने न्यासः पदसमामयोः ।

संकीर्णता गर्भितता दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥ ८ ॥

क्या गया है । ‘अप्रयुक्तत्व’ दोष का विषय वह शब्द है जो प्रत्यर्थक हुआ करता है
‘असमर्थत्व’ दोष का वह जो अनेकार्थक हो । ‘असमर्थत्व’ और ‘अवाचकत्व’ का
वाहक से हो स्पष्ट है । ‘असमर्थत्व’ दोष का वाहक ‘गमन’ के भी अर्थ में ।
हन् धातु (हन् हिंसाकर्तृ) का (हिंसा के बदले) गमन के अर्थ में प्रयोग है (व
नष्टा, पदति आदि शब्दों के धातुविक्र) इसे गमन के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया
गता (‘गच्छति के बदले ‘हन्ति’ का प्रयोग सर्वथा स्पष्ट प्रयोग है) । ‘अवाचक
वाहक-रूप में ‘प्रकाशमय’ आदि अर्थों में प्रयुक्त ‘दिन’ आदि शब्दों को किया जा
जो कि इन अर्थों में शब्दगान में कदापि निमित्त नहीं ।

अनुवाद— अथ ये वाच्यदोषों का निरूपण किया जा रहा है जो कि पञ्चमात्र
तन रचना करते हैं क्योंकि अथ तक जिन वाच्यदोषों का निरूपण किया गया है ।
सजातीय ये । ये दोष प्रमात्र वाच्यदोष हैं—

- | | |
|--------------------|-----------------------|
| १ प्रतिकूलत्व | १३ समाप्तपुनरात्तता |
| २ असमर्थत्व | १४ अभयन्मतसम्बन्धता |
| ३ अर्धान्तरैकपदता | १५ भग्नप्रक्रमता |
| ४ अतिरूपता | १६ अन्वयार्थता |
| ५ न्यूनपदता | १७ वाच्यदाननिधान |
| ६ उचितपदता | १८ भग्नप्रक्रमता |
| ७ अन्वयता | १९ प्रमिद्वेगस्थान |
| ८ पतत्प्रकर्षता | २० भग्नप्रक्रमता |
| ९ सन्धिपिण्डता | २१ अन्वयार्थमामात्रता |
| १० सन्धिपिण्डता | २२ संकीर्णता |
| ११ सन्धिपिण्डता | २३ गर्भितता |
| १२ अर्धान्तरैकपदता | २४ गर्भितता |

(वाक्यगतदोष . १ प्रतिकूलवर्णत्व)

वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम् ।

यथा मम—

‘ओवट्टइ उल्लट्टइ सअणे कर्हिपि मोट्टाअइ णो परिहट्टइ ।

हिअएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा ॥’

(उद्धर्तयति उल्लोटयति शयने कट्टयति मोट्टयति नो परिघट्टयति ।

हृदयेन स्फिट्टयति लज्जया खुट्टयति घृते. सा ॥)

अत्र टकाराः शृङ्गाररसपरिपन्थिनः केवलं शक्तिप्रदर्शनाय निवद्धाः । एषं चैकद्वित्रिचतुःप्रयोगे न तादृग्रसभङ्ग इति न दोषः ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार-सम्मत वाक्यदोषों का ही निरूपण किया है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार वाक्यमात्रगत दोषों का संख्या २१ है । साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाश निरूपित ‘विसन्धित्व’ दोष को ‘सन्धिविच्छेद’, ‘सन्ध्यश्लीलत्व’ और ‘सन्धिकट्टत्व’ नामक तीन दोषों के रूप में देखा है जिससे साहित्यदर्पणकार की वाक्यदोषसंख्या २३ हो गयी है ।

अनुवाद—‘प्रतिकूलवर्णत्व’ वह दोष है जिसे रसाभिव्यञ्जन के प्रतिकूल वर्णों की योजनावाले वाक्य में देखा जाया करता है । उदाहरण के लिये इस स्वरचित काव्यवाक्य अर्थात्—

‘तुम्हारे विरह में यह सुन्दरी पलंग पर करवटें बदला करती है, हाथ-पैर पटका करती है, मोट्टायित में लगा करती है, और सभी काम छोड़-छाड़कर पड़ी रहा करती है, इसका हृदय फटा पड़ता है और लज्जा के कारण इसकी बेचैनी बढ़ती दिखायी दिया करती है ।’ आदि में । यहाँ ‘प्रतिकूलवर्णत्व’ इसलिये है क्योंकि यहाँ कवि ने शक्तिप्रदर्शन के लिये (प्रतिकूलवर्णत्व के निदर्शन में अपना कवि कौशल दिखाने के लिये) यहाँ के कोमल रस-चस्तुतः शृङ्गार रस-के विरुद्ध ट्वर्गवर्णों की योजना की है । वैसे यदि दो-एक अथवा तीन-चार बार इनका प्रयोग हो जाय तो कोई विशेष रसभग अथवा दोष नहीं होता किन्तु इनका अनेक बार प्रयोग, जैसा कि यहाँ स्पष्ट है, दोषावह ही लग रहा है ।

विमर्श—सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार ‘प्रतिकूलवर्णत्व’ दोष का नाम ‘अरीतिमत्’ है—‘गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः । अरीतिमदिति प्राहुस्तत् त्रिधैव प्रचक्षते । शब्दार्थोभययोगस्य प्राधान्यात् प्रथम त्रिधा । भूत्वा श्लेषादियोगेन पुनस्त्रेधोपजायते । अत्र यः श्लेषसमतासौकुमार्यविपर्ययः । शब्दप्रधानमाहुस्तमरीतिमतिदूषणम् । विपर्ययेण श्लेषस्य सदर्थं शिथिलो भवेत् । भवेत्स एव विषमो समताया विपर्ययात् । सौकुमार्यविपर्यासात् कठोर उपजायते । या तु कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनामन्यथागतिः । अर्थप्रधानं प्रोक्तस्स वाक्ये गुणविपर्ययः । अप्रसन्नं भवेद् वाक्य प्रसादस्य विपर्ययात् ॥’

(सरस्वतीकण्ठाभरण १ २८-३४)

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य आदि गुणों के योग से तो वाक्यों में काव्यता की प्रतीति हुआ करती है किन्तु इनके अभाव में वाक्य काव्याभास में बदल जाते हैं । गुणों के विपर्यय में रीतिभङ्ग स्वाभाविक है क्योंकि गुणवती पदरचना का ही नाम ‘रीति’ है । ‘श्लेष’ के विपर्यय में, सदर्थ में शैथिल्य, ‘समता’ के विपर्यय में, बन्ध में वैषम्य और सौकुमार्य के विपर्यय में, रचना में कठोरता का होना निश्चित ही है ।

(२—लुप्तविसर्गत्व)

‘गता निशा इमा बाले ।’

अत्र लुप्ता विसर्गा ।

(३—आहृतविसर्गत्व)

आहृता ओत्वा प्राप्ता विसर्गा यत्र ।

ग—‘धीरो वरो नरो याति ।’

(४—अधिकपदत्व)

‘पल्लवाकृतिरकोष्ठी ।’

अत्राकृतिपदमधिकम् ।

(‘अधिकपदत्व’विषयक विशेष विचार)

रम्—

‘सदाशिव नौमि पिनाकपाणिम् ।’

इति विशेषणमधिकम् ।

यहाँ यह तो निश्चिन्त है कि नास्तित्यदर्शककार ने ‘काचप्रकाश’ के अनुरोध पर ‘प्रतिहृतमान्’ वरूप निरूप्य किया है किन्तु ‘रोति’ को काच्योत्कर्षकारक प्रतिरिक्त तन्त्र माननेमाने लानाचर्च ‘अरीन्मिद्’ का स्वरूप-निरूपण ब्रह्मनिष्ठ युक्तिमग्न रोज ।

अनुवाद—‘अरी बुन्दरी । ये रातें यों ही बीत गयीं ।’

(‘गता निशा इमा बाले’ आदि में) विसर्गों का लोप है जिसमें ‘लुप्तविसर्गत्व’ दिवायी दे रहा है ।

[सकार के ‘समजुपोर’ से न्यव, ‘भोभगोअघोऽपूर्वस्य चोऽति’ से यत्र तथा ‘हृति पाम्’ और ‘लोप’ शाकल्यस्य’ से यलोप होने पर ‘लुप्तविसर्गत्व’ का जन्म होता है । वाच्य में विसर्ग का उच्चारण हो उसमें पाठ-सोन्धर्य किंवा पाठ-माधुर्य रहा करता है । तु यदि विसर्ग लुप्त रहे तो पाठ में अस्वीक्य तो होता ही है साथ ही साथ नीरसता उत्पन्न हो जाती है ।]

अनुवाद—‘आहृतविसर्गत्व’ यहाँ होता है जहाँ विसर्ग ओंकार के रूप में परिवर्तित जाया करते हैं । जैसे कि ‘धीरो वरो नरो याति’ मरीचे वाच्य में ।

[विसर्गों के ओंकार में परिवर्तन से वाच्यपाठ में नीरसता आ जाती है विसर्गों के कारण हृतविसर्गत्व’ अथवा ‘उपहृतविसर्गत्व’ को वाच्य-लोप माना गया है ।]

अनुवाद—‘अधिकपदत्व’, जैसे कि—

‘परलव की आहृति की भौति लाल छोटीयाली ।’ यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘आहृति’ पद अनुपयुक्त होने के कारण अधिक लग रहा है (क्योंकि नादिका के छोटी की पुनरावृत्ति से ही की जाया करती है, उसकी आहृति से नहीं ।

अनुवाद—‘एनी भौति एम उफि जेमे रि—

‘पिनाकपाणि सदाशिव (भगवान् गङ्गा) को प्रणम ।’ आदि में, विशेषणरूप में ‘पिनाकपाणि’ पद अधिक प्रतीत हो रहा है (क्योंकि भगवान् गङ्गा की स्तुति के अन्त में इसका उपयोग अतिशय्यकर ही है) । किन्तु (गङ्गावि दामिदाम के पुनरावृत्ति की) इस सूक्ति अर्थात्—

‘कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे.’ इति ।

अत्र तु पिनाकपाणिपद विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तमिति युक्तमेव ।

यथा वा—‘वाचमुवाच कौत्सः ।’

अत्र वाचमित्यधिकम् । उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वाद् ।

कचित्तु विशेषणदानार्थं तत्प्रयोगो युज्यते ।

यथा—‘उवाच मधुरां वाचम्’ इति ।

केचित्त्वाहुः—यत्र विशेषणस्यापि क्रियाविशेषणत्वं सम्भवति तत्रापि तत्प्रयोगो न घटते ।

यथा—‘उवाच मधुरं धीमान्’ इति ।

(५—न्यूनपदत्व)

‘यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा ।’

अत्र प्रथमे त्वयेति पदं न्यूनम् ।

(६—कथितपदत्व)

‘रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन् ।’

अत्र लीलाशब्दः पुनरुक्तः ।

‘पिनाकपाणि महादेव का भी धैर्य ढिगा दूँ ...’ आदि में विशेषणरूप से प्रयुक्त यही ‘पिनाकपाणि’ पद सर्वथा (सार्थक किंवा) निर्दुष्ट है क्योंकि इसके द्वारा भाग्यशङ्कर की एक विशेषता (वस्तुतः दुर्जेयता) का अवगोध कराया जा रहा है ।

‘अधिकपदत्व’ का यह भी एक स्पष्ट उदाहरण है—

‘कौत्स वचन बोले’—(‘वाचमुवाच कौत्सः’ रघुवशः ५ म सर्ग) यहाँ ‘वाचम्’ पद अधिक है क्योंकि ‘उवाच’ पद के प्रयोग से ही ‘वचन’ के उच्चारण का अभिप्राय निवृत्त होता जाता है । किन्तु कभी-कभी विशेषण के प्रयोग की सार्थकता के लिये इस पद का प्रयोग आवश्यक हो जाता है जैसे कि—

‘वह बड़ा मीठा वचन बोला ।’ किन्तु यहाँ कतिपय आचार्य (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) ‘अधिकपदत्व’ ही मानते हैं क्योंकि उनका कहना यह है कि यहाँ विशेषण (जैसे कि ‘उवाच मधुरां वाचम्’ में ‘मधुराम्’ पद) को क्रियाविशेषण (‘उवाच मधुरं धीमान्’ में मधुरम् पद) के रूप में व्यवहृत किया जाय तब यह स्पष्ट हो जाय कि ‘वाचम्’ आदि पद अधिक है और प्रयोग योग्य नहीं हैं । इसीलिये—‘उवाच मधुरं धीमान्’ आदि वाक्य निर्दुष्ट हैं (क्योंकि यहाँ कोई पद अनुपयुक्त होने से अधिक नहीं है)

अनुवाद—‘न्यूनपदत्व’ जैसे कि—

‘यदि (आपने) मेरी ओर कृपा-दृष्टि की तो मुझे इन्द्र के पद की भी कोई चिन्ता नहीं ।’ यहाँ (यदि मय्यर्पिता दृष्टिः—इस) प्रथम चरण में ‘त्वया’ पद की कमी रह गयी जिससे इसमें ‘न्यूनपदत्व’ का दोष आ लगा है ।

अनुवाद—‘कथितपदत्व’ जैसे कि—

‘यह लीला करती घटती समीर रतिलोला की श्रान्ति भगा रही है ।’

यहाँ ‘लीला’ पद पुनरुक्त है क्योंकि ‘सलीलम्’ के विशेषण के रहते हुये ‘रतिलीलाश्रम’ में ‘लीला’ पद अनावश्यक प्रतीत हो रहा है ।

२—‘जलुर्विसं धृतविकासिविसप्रसूना ।’

अत्र विसशब्दस्य धृतपरिस्फुटतत्प्रसूना इति सर्वनान्वयैव परामर्शो युक्तः ।

(७—हतवृत्तम्)

हतवृत्तम्—लक्षणानुसरणेऽप्यश्रवणम् . रसाननुगुणम् , अप्राप्रगुरुभावान्त-
व । क्रमेण यथा—

‘हन्त ! सततमेतस्या हृदय भिन्ते मनोभव’ कुपित ।’

‘अयि ! मयि नानिति । मा हन् मानम् ।’

उद् वृत्त हास्यरसस्यैवाऽनुकूलम् ।

‘विकसित-सहकार-भार-हारि-परिमल एष सनागतो वसन्त’ ।

नी नीति (महाकवि नाथ के शिगुपालवध ५० सर्ग की) इस सूक्ति अर्थात्—
‘यों मैं कमल के फूल (विमप्रसून) लिये हुये मैनों को ने कमलताल (विम)
प्रारम्भ किया ।’

१ ‘धृतविकासिविसप्रसूना’ पद है उनमें ‘विम’ पद पुनरुक्त है क्योंकि यहाँ ‘धृत-
विसप्रसूना’ पद का प्रयोग होना चाहिये था जिसमें पूर्वप्रयुक्त ‘विम’ का ‘तत्’
वर्नाम पद द्वारा परामर्श हो जाना और ‘उधितवदन्व’ की कोई मनायना भी न
ती ।

उदाहरण—‘हतवृत्त’ उस प्रकार का वृत्त है ज (१) छन्द गान्ध के नियमानुसार टंक
र भी, सुनने में गटक जाया जाता है, (२) प्रहृत रस के अनुगुण अथवा प्रतितुल्य
होना है और (३) जिसके पाद के अन्त का अनुगुण गुण नहीं हो पाता (जमा कि
नुसार उसे होना चाहिये) । इस प्रकार के वृत्त में उद् काव्यशास्त्र ‘हतवृत्तम्’
वर्णित रहा करता है । उदाहरण के लिये—

गोह ! निरन्तर ही ऐसा होता है कि कामदेव क्रुद्ध होकर इन सुन्दरी के हृदय पर
क्रिया करते हैं ।’

यहाँ अर्थात् ‘हन्त सततमेतस्या हृदय भिन्ते मनोभव’ कुपित’ में ‘हतवृत्तम्’ इस
क्योंकि ऐसे तो यह आपां छन्द गान्ध के नियम अर्थात्—

‘यस्या पादे प्रथमे द्वादश मात्रा तथा तृतीयेऽपि ।

अष्टादश द्वितीये चतुर्थे पञ्चदश नाऽऽन्ता ॥’

का अनुसरण कर रही है किन्तु सुनने में गटक जाता है क्योंकि प्रथम चरण ‘अनुष्टुप्’
भाषी पड़ता है और बाद में आपा की बात प्रतीत होती है ।]

अथवा

रही मान करने वाली । वृत्त पर मान न कर ।

हो भी ‘हतवृत्तम्’ है क्योंकि यहाँ का जो (पञ्चदश मात्रा) वृत्त है वह हान्य
अभिप्राय के अनुष्टुप् हुआ करता है (जब कि यहाँ का रस श्लाघ्य है) ।

अथवा

यहाँ हुई आन की मञ्जरियों के मञ्जर मञ्जर में मना उमन्त का समय का पञ्च ।

यत्पादान्ते लघोरपि गुरुभावः उक्तः, तत्सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपादविषयम्।
प्रथमचतुर्थपादविषयन्तु वसन्ततिलकादेरेव ।

अत्र 'प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः' इति पाठो युक्तः ।

यथा वा—

‘अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा

सम्भारः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेप सृष्टो युवा ।

श्रीमत्कान्तिजुपां द्विपां करतलात् स्त्रीणां नितम्बस्थलात्

दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च’ ॥

अत्र ‘वस्त्राणि च’ इति बन्धस्य श्लथत्वश्रुतिः । ‘वस्त्राण्यपि’ इति पाठो तु
दाढ्यमिति न दोषः । ‘इदमप्राप्तगुरुभावान्तलघु’ इति काव्यप्रकाशकारः । वस्तु
तस्तु ‘लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्’ इत्यन्ये ।

यहाँ ‘हतवृत्तत्व’ इसलिये है क्योंकि ‘विकसितसहकारभारहारि’ इस प्रथम चरण के
अन्त का लघुवर्ण गुरुवर्ण के रूप में नहीं सुनायी देता (जैसा कि नियमानुसार वे
सुनायी देना चाहिये) । छन्दःशास्त्र का यह नियम कि पाद के अन्त का लघुवर्ण गुरुवर्ण
के रूप में (विकल्पतः) सुनायी पड़ना चाहिये, वस्तुतः और छन्दों के तो द्वितीय और
चतुर्थ चरणों के लिये अनिवार्य है किन्तु ‘वसन्ततिलक’ आदि वृत्तों के प्रथम और द्वितीय
चरणों में भी इसे लागू माना गया है (इसलिये यहाँ के पुष्पिताम्रा वृत्त के प्रथम चरण
में इसे लागू होते न देखकर ‘हतवृत्तत्व’ की प्रतीति स्वाभाविक है) ।

यहाँ यदि ‘(विकसितसहकारभारहारि) प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः’ यह पाठ ही
दिया जाय तो ‘हारि’ का ‘रि’ आगे के संयुक्त ‘प्र’ के प्रभाव से गुरुवर्ण के रूप में सुनायी
पड़ने लगता है और ‘हतवृत्तत्व’ का दोष हट जाता है ।

अथवा

‘गुणरत्नों की उत्पादिका वह भूमि कोई और ही भूमि है, वह सौभाग्यशालिनी मिट्टी
कोई और ही मिट्टी है और वे सम्भार (साधन) कोई और ही सम्भार हैं जिनसे विद्या
ने इस युवक को बनाया है । तभी तो यह बात है कि इसके देखते (भय अथवा काम से)
सुग्ध हृदय वने शत्रुओं के हाथ से शस्त्र और सुन्दरियों के नितम्ब से वस्त्र सहसा हट
पड़ते हैं ।’

यहाँ भी ‘हतवृत्तत्व’ है क्योंकि (यहाँ के ‘शार्दूलविक्रीडित’ वृत्त के अन्तिम चरण के
अन्त में) ‘वस्त्राणि च’ में जो अन्तलघु वर्ण है उसके कारण यह वृत्त ढीला-ढाला सुनायी
पड़ रहा है । यही यदि ‘वस्त्राणि च’ के बदले ‘वस्त्राण्यपि’ कर दिया जाय तो (बन्ध
शैथिल्य हट जाता है और) बन्ध में ढलता अथवा गम्भीरता आ जाती है ।

काव्यप्रकाशकार (आचार्य मम्मट) ने भी इसे (‘अन्यास्ता’ आदि को) ‘हतवृत्त’
ही माना है किन्तु ‘अप्राप्तगुरुभावान्तलघु’ रूप ‘हतवृत्त’ कहा है (अर्थात् यहाँ ‘हतवृत्तत्व’
इसलिये है क्योंकि ‘वस्त्राणि च’ का अन्तिम लघुवर्ण किसी प्रकार से भी गुरुवर्ण के रूप में
नहीं सुनायी देता जैसा कि इसके लिये आवश्यक है) । किन्तु इसकी ‘हतवृत्तता’ जैसा
कि अन्य आचार्यों का कहना है, ‘(छन्दोलक्षण के अनुसरण में भी) अश्रव्यता के कारण
मानी जानी चाहिये ।

(८—पतत्प्रकर्षत्य)

‘प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छट. ।

श्वासक्षिप्तकुलक्षमाभृत् पातु वो नरकेशरी ॥'

त्र क्रमेणानुप्रासप्रकर्ष पतित ।

(१—सन्धिविश्लेष)

‘दलिते उत्पले एते क्षत्रिणी अमलाङ्गि । ते’ ।

मर्श—मवादा का यान्त्रिक 'एतच्छ्रुता' को एक बड़ा दोष मानते हैं। श्रुत और रस का सम्बन्ध है और रसानुबन्ध रसानुगुण श्रुत का रचना आवश्यक मानी गयी है। मराक़ि ने ठीक ही कहा है—

‘ये रत्नानुसारेण वर्णनानुगुणेन च । कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोग विभागवित् ॥’

रत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता । कथयस्यज्ञानमेव मेघलेख गले कृता ॥

(सुसूचितिलक इय विन्यास)

पृष्ठरचना के पहले 'गुप्त' और 'वर्णवस्तु' का विचार आवश्यक है। जो पृष्ठ गन्तानु र वर्णानुक्रम होता है वही काव्य का वास्तविक नाट्य है। यदि बिना मोहोन्मत्तों को देखने के गले में छन्दों को माला पहना दे तो वह अपनी ही मूर्खता प्रदर्शित करता है। जो कित्ती सुन्दरी के गले में पहानेवाला मूर्ख है तो है।

त' और 'रत' के अनुप्रास के मन्दन्ध में मां क्षेमेन्द्र को ये पत्तियाँ ध्यात देने योग्य हैं—

पारलम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् । वसन्तादितदन्न च मच्छायमुदगाग्निः ॥

ता विभाषेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु । पाद्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वगम्येन विराजते ॥

नित्यं भाति सद्गुरो वीर-रौद्रयो । उपपन्नपरिच्छेदकाले शिरसि । मता ॥

प्रयत्नचर॥ चित्त्यविचारं गतिना वरा । साधपश्चादधिष्ठानं परं कृतं । भरणमा ॥

प्रावृट्प्रवासव्यसन मन्दाक्रान्ता विराजते ।' (सुवृत्तनिर्णय ३३ विन्द्याम)

हुवा—‘पतप्रकर्षव’ (वह दोष है जिसे ग्रन्थ के क्रमिक प्रकर्ष के हास में देया करता है), जैसे कि—

चण्ड ज्वलन (धग्नि) की ज्वाला की भौति प्रियाल और भयङ्कर सदाभार वाले 'सामोच्यम से कुलाचलों को डिगा देने वाले ये नरसिंह भगवान् आप सब का करें।'।

हो 'पतम्परपरेव' स्पष्ट है क्योंकि अनुमान का प्रकरण समझ गिरता ही दिखायी है।

मर्त्य—तब मैं अपने प्रभु के पास जाऊँगी यदि वह चाहे। प्रभु ने जहाँ-
 १. कहा वह देखे, वहाँ जाऊँगी। २. हमिनाम वहाँ होना चाहता है। तब वह वहाँ
 ३. हमिनाम के साथ है। ४. हमिनाम, जो किने ५. हमिनाम, माना है ६. ७.
 ८. तो वे निम्ने कथितों को रोसावना है।

न -— 'मन्विप्रिन्नेव' (वह दोष है जिसे इच्छास्मार कथया नान्नाम के निद-
र मन्वि के क्षमाय में देया जाया करता है ।) जैसे कि—
तरी सुन्दरी । तेरी ये क्षमिं गिये नाटकम् हैं ।

एवंविधसन्धिविश्लेषस्य असकृत् प्रयोग एव दोषः । अनुशासनमुल्लङ्घ्य
वृत्तभङ्गभयमात्रेण सन्धिविश्लेषस्य तु सकृदपि ।

यथा—

‘वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनविन्दुवत् ।’

(१०—सन्धिशलीलत्व)

‘चलण्डामरचेष्टितः’ इति ।

अत्र सन्धौ जुगुप्साव्यञ्जकमश्लीलत्वम् ।

(११—सन्धिकष्टत्व)

‘उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्चवस्थितिः’ ।

अत्र सन्धौ कष्टत्वम् ।

(यहाँ ‘ढलिते उत्पले एते अचिणी अमलाङ्गि’ आदि पदों में, प्रगृह्य सज्ञा के का
कहीं भी सन्धि नहीं । इसलिये यहाँ ‘सन्धिविश्लेष’ का दोष स्पष्ट दिखायी देजाता है
इस प्रकार के ‘सन्धिविश्लेष’ को इसलिये दोष माना जाता है क्योंकि अनेक बार सन्धि
ठीक नहीं (अनेक बार सन्धिभङ्ग से तो पाठ-सौन्दर्य बिगाड़ जाता है) । व्याकरण
के नियम के उल्लंघन में किया गया सन्धिभङ्ग, चाहे वह छन्दोभङ्ग से ही क्यों न व
‘सन्धिविश्लेष’ का ही दोष है । उदाहरण के लिये—

‘वासवाशा मुखे भाति इन्दुश्चन्दनविन्दुवत् (पश्चिम दिशा के मुखमण्डल पर व
ऐसा चमक रहा है मानो चन्दन-विन्दु हो)’ आदि प्रसङ्गों में, छन्दोभङ्ग से वचने के
जो (‘भाति-इन्दु’, में) सन्धि न की गयी उसमें व्याकरणशास्त्र के सन्धि नियम के उ
घन के कारण, भले ही वह एक बार ही क्यों न किया गया हो, ‘सन्धिविश्लेष’ का ही
फलक जाता है ।

अनुवाद—‘सन्धिशलीलत्व’ (वह दोष है जिसे सन्धि के कारण अश्लीलता की प्र
में देखा जाया करता है) जैसे कि—

‘(वेगादुद्धीय गगने) चलण्डामरचेष्टित ।

(अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु ॥)’

आदि प्रसङ्गों में, ‘चलन्+डामरचेष्टित’ में सन्धि के कारण जो ‘लण्डा’ (‘
‘लण्ड’) की श्रुति हो रही है उसमें एक लज्जास्पद अभिप्राय (स्थूल किंवा दीर्घ
अथवा पुरुष के जननेन्द्रिय) की प्रतीति के हो जाने के कारण अश्लीलता उत्प
जाती है ।

अनुवाद—‘सन्धिकष्टत्व’ (वह दोष है जिसे सन्धिविधान के कारण उत्पन्न होने
श्रुतिकटुता अथवा श्रुतिकर्कशता में देखा जाया करता है) जैसे कि—

‘इस ‘मर्वन्त’ (मरुभूमि के प्रान्तभाग) में, ‘चार्चवस्थिति’ (बड़ी सुन्दर
वाली) और (उर्वी) बहुत बड़ी ‘तर्वाली’ (वृत्तपक्ति) दिखायी पड़ रही है ।’
आदि प्रसङ्गों में, जो (व्याकरण के नियमानुसार) सन्धिविधान दिखायी दे
है उसके कारण श्रुतिकर्कशता उत्पन्न हो रही है (जिसमें ‘सन्धिकष्टत्व’ स्पष्ट
उठता है) ।

(१२—अर्धान्तरैकपदम्)

‘इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्ववत्तयन् करैः ।
जगन्मा कुतु तन्वद्भि ! मान पादानते प्रिये ॥’
जगदिनि प्रथमादि पठितमुचितम् ।

(१३—ममत्पुनरागतम्)

‘नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः ।
पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्षमातलम् ॥’
चतुर्थपादो वाक्यममानावपि पुनरुपात्तः ।

(१ —अनवन्तमवन्धवः)

मत्तसन्दन्धो यथा—

‘य जयन्तीर्मतो जस्य यथा जगदलङ्कृतम् ।
यानेपाङ्गी विना प्राणा विफला ने कुतोऽय सा ॥’
यच्चन्द्रमणिदिष्टानां वाक्याना परस्परनिरपेक्षत्वात् तदेकान्तपातिना
विदेन अन्येषा मन्दन्धः कवेरभिमतो नोपपद्यत एव ।

१२—अर्धान्तरैकपदम् (वह दोष है जिसे किसी श्लोक-वाक्य के पूर्वार्ध के पद
में लगे रहने अथवा उत्तरार्ध के पद के पूर्वार्ध में चले जाने में देखा जाता
) जैसे कि—

सुन्दरी ! यह चन्द्रमा कर्पूर की भाँति शुभ्र शिरों में घबल बनाते हुए, कमर
गान को । पैरों पर गिरे अपने मित्रत्व पर क्षमा मान न कर । आदि मूर्खों
पर है वह ‘अर्धान्तरैकपदम्’ का ही दोष है क्योंकि यहाँ पूर्वार्ध में रहने योग्य
उत्तरार्ध में रखा हुआ दिनाङ्ग दे रहा है ।

१३—‘ममत्पुनरागतम्’ (वह दोष है जिसे वाक्य के समाप्त हो जाने पर भी
में ममन्विन होनेवाले पद के प्रयोग में देखा जाता करता है) जैसे कि—

अंधरे को दृष्टि-भिन्न करने वाली विदेगियों के मत्त करती चन्द्र शिरों भाँटे
हैं, धरातल के समकारी हुए ।

(तीसरे पदों में) वाक्य के समाप्त हो जाने पर भी जो चतुर्थ पद (भास-
मातलम्—धरातल के समकारी हुए) रखा गया है उसमें ‘ममात्पुनरागतम्’
आ गया है ।

१४—‘अनवन्तमवन्धवः’ (वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाता करता है
जो पद का अभिव्यक्त सम्बन्ध अथवा अन्यत्र उपरान्त न हो सके) जैसे कि—

जि कामदेव की प्रियतमार्थ है, जिसके द्वारा यह समाप्त मूर्खत्व हो गया है
न सुगन्धनी के बिना मेरा जीवन निरर्थक है, आज यह कहाँ है ।

‘अनवन्तमवन्धवः’ है क्योंकि शब्द के चलने पर भी ‘प्राप्तो’ पद का सम्बन्ध,
प्राप्त्य निर्वेद (व्यक्त्य) दोनों वाक्यों (‘य जयन्तीर्मतो जस्य’ और ‘यथा
जगदलम्’) में नहीं देखा जाता । पूर्वार्ध के दोनों वाक्य परस्पर निरर्थक रूप हमारे
दोनों ‘यथा’ शब्द में जुड़ते हैं । और ‘प्राप्तो’ पद हमसे हमारे सम्बन्ध नहीं हो

‘यां विनामी वृथा प्राणा एणाक्षी सा कुतोऽद्य मे’ ।

इति तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यान्तःपातित्वेऽपि यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यैः सम्बन्धो घटते ।

यथा वा—

‘ईक्षसे यत्कटाक्षेण तदा धन्यो मनोभुवः ।’

अत्र यदित्यस्य तदेत्यनेन सम्बन्धो न घटते ।

‘ईक्षसे चेत्’ इति तु युक्तः पाठः ।

यथा वा—

‘ज्योत्स्नाचयः पयःपूरस्तारकाः कैरवाणि च ।

राजति व्योमकासारराजहंसः सुधाकरः ॥’

अत्र व्योमकासारशब्दस्य समासे गुणीभावात्तदर्थस्य न सर्वैः संयोगः ।

विधेयाविमर्शं यदेवाविमृष्टं तदेव दुष्टम् । इह तु प्रधानस्य कासारपदार्थत्वं

पाता क्योंकि यह (उत्तरार्ध के) एक वाक्य (‘यामेणाक्षी विना’ आदि) में ही अन्तर्भाव पड़ा दिखायी दे रहा है ।

यहीं यदि ‘यां विनामी वृथा प्राणा एणाक्षी सा कुतोऽद्य मे ।’-और जिसके विना मेरा जीवन व्यर्थ है वह मृगनयनी अब कहाँ है-कर दिया जाय तो ‘एणाक्षी’ पद, भले ही यह ‘तत्’ शब्द से युक्त (विधेय) वाक्य के अन्तर्गत क्यों न रहे, ‘यत्’ शब्द से निर्दिष्ट तीनों (उद्देश्य) वाक्यों से यथेष्ट रूप से सम्बद्ध हो जाता है (और यहाँ से ‘अभवन्मतसंबन्धत्व’ का दोष भी हट जाता है) ।

अथवा

‘यदि तू किसी पर कटाक्ष चलाती है तब तो कामदेव धनुर्धररूप में उसके सामने खड़ा ही हो जाता है ।’

यहाँ भी ‘अभवन्मतसंबन्धत्व’ है क्योंकि यहाँ प्रयुक्त ‘यत्’ पद (जिसका अर्थ ‘यदि’ है) ‘तदा’ पद के साथ (जो कि कालवाचक है) सम्बद्ध नहीं हो पाता । किन्तु यहाँ यदि (ईक्षसे यत् के स्थान पर) ‘ईक्षसे चेत्’ कर दिया जाय तो ‘चेत्’ और ‘तदा’ का अभिमत संबन्ध स्थापित हो जाता है (और यह दोष भी हट जाता है) ।

अथवा

‘चाँदनी जलराशि है, तारे कुमुद हैं और व्योमसरोवर का राजहंस चन्द्रमा शोभायमान है ।’

यहाँ ‘अभवन्मतसंबन्धत्व’ इसलिये है क्योंकि ‘व्योमकासार’ (गगनसरोवर) प समास में पढ़कर गौण हो गया है और पूर्वार्ध के दोनों वाक्यों (‘ज्योत्स्नाचयः पयःपूरः’ और ‘तारका कैरवाणि च’) में, जैसा कि उचित था, संबद्ध नहीं हो पाता ।

‘विधेयाविमर्श’ (अविमृष्टविधेयांशत्व) और ‘अभवन्मतसंबन्धत्व’ में परस्पर भेद ! ‘विधेयाविमर्श’ में तो वही पद दोषयुक्त माना जाया करता है जो कि (प्रधानरूप उपन्यस्त होने के बदले) अप्रधानरूप से उपन्यस्त किया गया होता है । किन्तु ‘अभवन्मतसंबन्धत्व’ में समस्त वाक्य के अर्थ में विरोध की प्रतीति हो उठती है क्योंकि जब कि ‘कासार’ (सरोवर) पद का अर्थ समास में पढ़कर प्रधानतया प्रतीत न हो तब तो यह

॥ धान्येनाऽप्रतीने सर्वोऽपि पय पूरादिशब्दार्थस्तद्वत्तया न प्रतीयत इति सर्व-
॥ शब्दार्थविरोधाऽवमान इत्युभयोर्भेदः ।

‘अनेन च्छिन्दता मातु करठ परशुना तत्र ।

वद्वस्पर्द्ध कृपाणोऽय लज्जते मम भार्गव । ॥’

अत्र ‘भार्गवनिन्दायां प्रयुक्तस्य मातृकृष्टच्छेदनकर्तृत्वस्य परशुना नन्वन्वो
न युक्तः’ इति प्राच्याः । ‘परशुनिन्दामुखेन भार्गवनिन्दाविक्रयनेव वैदग्ध्यं द्योत-
यति’ इत्याधुनिकाः ।

(१५—अक्रमत्व)

अक्रमता यथा—

‘समय एव करोति बलाबल प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।

शरदि हसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम् ॥’

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेति शब्दोपयोगो युज्यते, न तु ‘प्रणिगदन्त’ इत्यनन्तरम् ।

एवम्—

‘द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥’

अत्र त्वमित्यनन्तरमेव चकारो युक्तः ।

‘(चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी इत्यादौ) भार्गवस्य निन्दाया तात्पर्यम्, कृतवतीति सा प्रतीयते कृतवत इति तु पाठे मतयोगो भवति ।’ (काव्यप्रकाश . ७म उहास)

यहाँ साहित्यदर्पणकार की जो आलोचना है उसमें कोई विशेष तत्त्व नहीं । ‘शस्त्र की निन्दा शस्त्रधारी की निन्दा की पराकाष्ठा’ का अभिप्राय अभिव्यक्त तो हो सकता है किन्तु इसकी कौन-सी व्यक्ति का माध्यम वर्ण सूक्ति है जिसमें ‘अभवन्मतमम्बन्धत्व’ का दोष लगा है । यहाँ साहित्यदर्पणकार यह नहीं स्पष्ट कहते कि ‘अनेन चिद्रन्ता’ आदि में यह दोष गुण हो गया है ?

अनुवा—‘अक्रमता’ अथवा ‘अक्रमत्व’ (वह दोष है जो कि, जिस पद के पहले पढ़ें जिस पद का प्रयोग उचित हो, उसे वहाँ न कर अन्यत्र करने में देखा जाया करता है) जैसे कि (महाकवि माघ के ‘क्षिणुपालवध’ की) इस सूक्ति अर्थात्—‘मानो इस बात कहते हुये कि सत्तार में ‘सबका बलाबल समय के ही अधीन है’ शब्द श्रुति में कलह की ध्वनि, मयूरों की केका को कठोर बनाती हुई, बड़ी मनोरम लग रही है ।’ में, जो दोष है वह ‘अक्रमत्व’ है । यहाँ ‘इति’ शब्द का प्रयोग, वस्तुतः, ‘समय एव करोति बलाबलम्’ इस वाक्य के बाद होना चाहिये था क्योंकि ‘इति’ शब्द के द्वारा इसी वाक्य का परामर्श अपेक्षित है । ऐसा न करके ‘प्रणिगदन्तः’ पद के बाद जो ‘इति’ का प्रयोग किया गया है उसमें ‘अक्रमत्व’ दोष आ लगा है ।

इसी प्रकार (महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव की) इस सूक्ति अर्थात्—

‘कपालपाणि शिव के समागम की कामना के कारण संप्रति दो वस्तुयें शोचनीय गयी हैं—एक तो चन्द्रमा की वह (जगत्प्रसिद्ध) कान्तिमती कला और दूसरी लोचन की चन्द्रिका तू (अर्थात् पार्वती) ।’

में, भी यह ‘अक्रमत्व’ ही दिखाई दे रहा है क्योंकि यहाँ ‘त्वम्’ पद के बाद ही ‘व’ का प्रयोग उचित था (न कि ‘अस्य लोकस्य’ के बाद । यहाँ तो ‘व’ के द्वारा ‘चन्द्रमा’ और ‘लोकलोचन की चन्द्रिका पार्वती’ का समुच्चय अभिप्रेत है ‘लोक’ का नहीं) ।

विमर्श—अक्रमत्व का ही दूसरा नाम ‘क्रमभेद’ है । मले ही यह दोष पदों के सही क्रम के विपर्यय के कारण हो किन्तु इसका प्रभाव श्रोता की प्रतीति पर पड़ता है और वाक्य में विसरगुलता उत्पन्न कर देता है जिससे ‘वाक्य’-रचना के दूषित होने का निश्चय हो जाता ‘समय एव करोति बलाबल’ आदि सूक्ति में परामर्शनीय पदार्थ के परिच्छेद के लिये ‘इति’ पद का प्रयोग है किन्तु यहाँ जो परामर्शनीय पदार्थ है वह ‘समय एव करोति बलाबलम्’ न कि ‘समय एव कसेति बलाबलं प्रणिगदन्त’ है । इसलिए यह स्पष्ट है कि ‘इति’

(१६—अमत्तपरार्थत्व)

अमत्तपरार्थता यथा—

‘राममन्मथशरेण ताडिता—’ इत्यादि ।

अत्र शृङ्गाररसस्य व्यञ्जको द्वितीयोऽर्थः प्रकृतरसविरोधित्वादनष्टः ।

(१७—वाच्यानभिधान)

वाच्यानभिधानं यथा—

न नै यद्वा वाक्य वित्तुल्य हो रहा है और ‘अक्रान्त’ का निदर्शन लग रहा है । यहाँ विवेककार वाच्यार्थ महिनमद्र की ये पन्धिया ध्यान देने योग्य हैं—

‘उच्छिस्वरूपावच्छेदफलो यत्रेतिरिप्यते ।

न तत्र तस्मात् प्राक् किञ्चिदुच्चेरन्यत् पद वदेत् ॥

उपाधिभावात् स्वा शक्ति स पूर्वत्रादधाति हि ।

न च स्वरूपावच्छेद पदस्यान्यस्य सम्मत ॥

इतिनैवेतरेषामप्यव्ययानां गति समा ।

ज्ञेयेत्यमेवनादीनां तज्जातीयार्थयोगिनाम् ॥

यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम् ।

तदर्थमेवावच्छिन्धुरात्मक्षत्पमन्यथा ॥

अद्यानन्तर्यनिघमस्तेषामर्थोचितीवशात् ।

अन्यतस्तर्हि तत्कार्यसिद्धेस्ते स्युरपार्थका ॥

कैश्चिदेव हि केषाञ्चिद् दूरस्थैरपि सङ्गति ।

न जातु सर्वे सर्वेषामित्येतदभिधास्यते ॥ (चन्द्रिवि- न्य विमर्श)

अर्थ—जहाँ किता उक्ति के स्वरूप-व्यवच्छेद के लिए ‘इति’ शब्द प्रयुक्त हो रहा है वह पद है कि इस ‘इति’ के पहले वह उक्ति के अनिश्चित अन्य विन्ने की पद का प्रयोग न जान । ‘इति’ शब्द वस्तुत् पूर्ववाक्य का व्यवच्छेदक हुआ करता है क्योंकि यह उक्ता वस्तु है इसलिए इसके पूर्व, अन्य वस्तु के अनिश्चित, अन्य विन्ने भी पद का निवेश बन है । यही बात ‘इत्यन्’ ‘इवन्’ आदि अन्य अव्यय-पदों की भी है । क्योंकि उन्ने पार्थक्य ‘च’ अपने पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थ का व्यवच्छेदक अथवा परामर्शवाक्य हुआ करता है तो ‘इत्यन्’, ‘इवन्’ आदि भी । यदि ऐसी बात न हो तो अर्थ हो नाना हो जाता ।

वाच्य विन्यास एक कला है । इन कला में कवि को जितना समर्थ होना चाहिये इनका बड़ा विवेक ‘अक्रान्त’ के निरूपण में किया गया है ।

अनुवाद—‘अमत्तपरार्थत्व’ वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है का (अप्रकृत-रूप से अभिव्यङ्ग्य) अर्थ प्रकृत अर्थ के विरुद्ध हुआ करता है । जैसे (महाकवि कालिदास के रघुवश की) इस सूक्ति अर्थात्—

‘रामरूपी मन्मथ के द्वारा वाणों से बाहत (ताडका)—आदि में ।

यहाँ ‘अमत्तपरार्थत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो दूसरा शृङ्गारपरक (अप्रकृत) अर्थ ल रहा है वह प्रकृत रस (वस्तुतः वीभत्स रस) रूप वाच्यार्थ का विरोधी होने के ग ‘अमत्त’ अथवा अनुचित है ।

अनुवाद—‘वाच्यानभिधान (वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है में ‘वाच्य’ अथवा अवश्यवक्तव्य पद का ‘अभिधान’ नहीं रहा करता) जैसे कि—

‘व्यतिक्रमलव्यं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ।’

अत्र व्यतिक्रमलवमपीत्यपिरवश्य वक्तव्यो नोक्तः ।

न्यूनपदत्वे वाचकपदस्यैव न्यूनता विवक्षिता, अपेस्तु न तथात्वमित्यत्र भेदः । एवमन्यत्रापि ।

यथा वा—

‘चरणान्तकान्तायास्तन्वि । कोपस्तथापि ते ॥’

अत्र चरणान्तकान्तासीति वाच्यम् ।

‘अरी सुन्दर नयनों वाली । तुमने मुझमें कौन सा प्रेम-व्यतिक्रम का छेद देता रह्यो हो गयी ?’

यहां ‘व्यतिक्रमलवम्’ के वाद ‘अपि’ (भी) का अभिधान आवश्यक था जिससे होने से ‘वाच्यानभिधान’ का दोष आ लगा है क्योंकि बिना ‘अपि’ के अभिप्रेत अर्थ प्रतीति असम्भव है । यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि ‘वाच्यानभिधान’ और ‘पदत्व’ एक नहीं अपितु परस्पर भिन्न दोष हैं । ‘न्यूनपदत्व’ तो वहाँ हुआ करता है (किसी अवश्य वक्तव्य) वाचक पद की कमी रहा करती है । उपर्युक्त उद्धरण में वाचक पद नहीं, इसलिये यहाँ ‘न्यूनपदत्व’ नहीं अपितु ‘वाच्यानभिधान’ दोष है । प्रकार अन्य प्रसङ्गों में भी ‘न्यूनपदत्व’ और ‘वाच्यानभिधान’ का परस्पर भेद स्वयं सा जा सकता है । जैसे कि इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अरी सुन्दरी ! तुम्हारा, जिसके चरणों पर प्रियतम गिरा पड़ा हो, फिर भी, यह मान नहीं हटता ।’

आदि में ‘वाच्यानभिधान’ इसलिये है क्योंकि यहाँ अवश्यवक्तव्य पद ‘चरणान्ताऽसि’ है जिसे प्रयुक्त न कर ‘चरणान्तकान्तायाः’ का प्रयोग किया गया उचित नहीं ।

विमर्श (क)—काव्यप्रकाशकार का ‘अनभिहितवाच्यत्व’ और साहित्यदर्पणकार निर्दिष्ट ‘वाच्यानभिधान’-दोनों, वस्तुतः एक ही दोष के दो नाम हैं । काव्यप्रकाशकार ‘विक्रमोर्वशीयम्’ की इस सूक्ति अर्थात्—

‘त्वयि निवद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।

कमपराधलव मम पश्यसि त्यजसि मानिनि ! दासजन यतः ॥’

में ‘अनभिहितवाच्यत्व’ की खानबीन की है और इसे इस प्रकार निरूपित किया है—

‘अत्रापराधस्य लवमपीति वाच्यम्’—(काव्यप्रकाश ७ म उल्लास)

किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इस दोष के ही निदर्शनार्थ ‘विक्रमोर्वशीयम्’ की उपर्युक्त पंक्ति को तोड़ मरोड़ कर यह लिखा है—

‘व्यतिक्रमलव कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ।

अत्र व्यतिक्रमलवमपीत्यपिरवश्य वक्तव्यो नोक्तः ॥’

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने ‘व्यतिक्रमस्य लवमपि’ के बदले, बिना सोचे समझ समस्त ‘व्यतिक्रमलवम्’ पद को ‘अवश्यवक्तव्य’ पद बताया है । काव्यप्रकाश से भिन्नता नवीनता के आग्रह के कारण कविराज विश्वनाथ ने यहाँ ऐसी असङ्गत बात लिख दी है कदापि क्षम्य नहीं । जब तक ‘व्यतिक्रमलवम्’ पद को असमस्त रूप से (व्यतिक्रमस्य लवम्) रूप से) प्रयुक्त न किया जाय तब तक ‘अपि’ की ‘अवश्यवक्तव्यता’ युक्तियुक्त नहीं हो सका

(१८—भग्नप्रक्रमत्व)

भग्नप्रक्रमता यथा—

‘एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः’ प्रत्यभाषत ।’

अत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैव वक्तुमुचितम् । तेन ‘रावणः त्यवोचत’ इति पाठो युक्तः । एवं च सति न कथितपदत्वदोषः, तस्योद्देश्य-

यतिरिक्तविषयकत्वात् । इह हि वचनप्रतिवचनयोरुद्देश्यप्रतिनिर्देशात्मम् ।

यथा—

‘उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।’

(स) ‘वाच्याननिधान’ दोष को एक और भी रूपरेखा है जिसे न तो काव्यप्रकाशकार ने रखा है और न कविराज विश्वनाथ ने ही । व्यक्तिविवेककार आचार्य महिनन्द के अनुसार वाच्याननिधान (वाच्यावचन) की यह रूपरेखा किन्हीं सूक्ति के लिये अपेक्षित किन्हीं बलद्वारा ‘वचन’ अथवा ‘अननिधान’ (योजना के न करने) में दिखायी दिया करती है—

‘यत्रान्यस्यालङ्कारस्य विषयेऽलङ्कारान्तरनिबन्धस्तोऽपि वाच्यावचन दोषः । तत्र तस्मात्सोक्तिविषये श्लेषस्योपनिबन्धो यथा—

सलकात्कुलाकीर्णनारक्तच्छन्दसुन्दरम् ।

जानोद्विकर्णिकाकान्त भाति तेऽञ्जमिवाननम् ॥

अत्र हि अवज्ञसमुचितविशेषगोपादानसामर्थ्याद्विस्तारान्वयस्योपमानभाववाग्वगन’ तस्मात्सोक्तेरेव विषयो युक्तो न श्लेषस्य, तत्रैव तस्यानुमीयमानतया सचेतनचमत्कारकारित्वोपपत्तेः, श्लेषे तस्य वाच्यतया तद्विपरीतत्वादित्युक्तम् ।

(व्यक्तिविवेक २५ परानर्श)

अर्थात् ‘वाच्यावचन’ अथवा ‘वाच्याननिधान’ का एक प्रकार यह है जहाँ किन्हीं एक बलद्वारा के द्वारा न दूसरे बलद्वारा का स्तनावेश कर दिया गया करता है ।

अनुवाद—‘भग्नप्रक्रमत्व’ वह दोष है जिसे विना कारण के किसी क्रम अथवा परिपाटी को छोड़ देना कहा जाता करता है) जैसे कि—

‘मुख्य मुख्य मन्त्रियों के द्वारा इस प्रकार कहे-सुने गये (उक्त) रावण ने उन्हें यह प्रतिभाषण दिया (प्रत्यभाषत) ।’

यहाँ ‘उक्त’ पद में ‘वच्’ धातु का उपक्रम है और इसलिये (उपसहार में भी) ‘प्रत्यभाषत’ के बदले ‘प्रत्यवोचत’ पद का ही प्रयोग उचित था (ऐसा न होने से यहाँ ‘भग्नप्रक्रमत्व’ का दोष आ जाता है) । यहाँ यह कहना कि ‘एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यवोचत’ कहने में ‘कथितपदत्व’ दोष हो जाता है, ठीक नहीं । बात यह है कि ‘कथित-पदत्व’ वहीं होता है जहाँ ‘उद्देश्य प्रतिनिर्देश-भाव’ नहीं रहा करता । यहाँ (‘एवमुक्तः ’ .. प्रत्यवोचत ।’ वादि सूक्ति में) ‘कथितपदत्व’ कैसे हो सकता है जबकि ‘वचन’ और ‘प्रतिवचन’ में ‘उद्देश्यप्रतिनिर्देशभाव’ झलक रहा है । (यह ‘उद्देश्य-प्रतिनिर्देशभाव’ है—‘उद्देश्योऽनूय स एव प्रतिनिर्देश्य प्रतीतिमान्धर्मपरिहारार्थं पुनरभिधेयो यत्र स’ अर्थात् ‘उद्देश्य-प्रतिनिर्देशभाव’ वहाँ हुआ करता है जहाँ ‘उद्देश्य’ अथवा पूर्व उच्चारित का, प्रतीति की एकरसता की दृष्टि से, पुन उच्चारण किया जाय) । ‘उद्देश्यप्रतिनिर्देश-भाव’ इस उदाहरण से स्पष्ट समझा जा सकता है—

‘सूर्य लाल-लाल ही उदित होता है और लाल-लाल ही हूँवता है ।’

इत्यत्र हि यदि पदान्तरेण स एवार्थः प्रतिपाद्यते तदान्योऽथं इव मानः प्रतीतिं स्यगयति ।

यथा वा—

‘ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।

सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विस्मृष्टाः खमुद्ययुः ॥’

अत्र ‘अस्मै’ इतीदमा प्रकान्तस्य तेनैव तत्समानाभ्यामेतददःशब्दाभ्यां परामर्शो युक्तो न तच्छब्देन ।

यथा वा—

‘उदन्यच्छिन्ना भूः स च पतिरपां योजनशतम् ।’

अत्र ‘मिता भूः पत्यापां स च पतिरपाम्’ इति युक्तः पाठः ।

एवम्—

‘यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्तया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।

निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥’

अत्र ‘सुखमीहितुम्’ इत्युचितम् ।

यहां यदि ‘लाल लाल’ के अभिप्राय का ‘ताम्र’ पद के अतिरिक्त अन्य किसी (अथवा लोहित आदि) पद से प्रतिपादन किया जाय तब (पदभेद के कारण) इस में भी कुछ भिन्नता प्रतीत होने लगेगी और (उदय किंवा अस्त के समय लाल-रक्त रूप) अर्थ की एकरस प्रतीति (जो यहां अपेक्षित है) स्यगित हो जायगी ।

अथवा जैसे कि—‘उन मरीचि आदि ऋषि-मुनियों ने हिमालय से विदा ली, महादेव का दर्शन किया, उन्हें पार्वती के विवाह की पक्षी यात वतायी और आज्ञा लेकर स्वर्ग मार्ग की ओर प्रस्थान किया ।’ (कुमारसम्भव ‘स

यहां भी ‘भग्नप्रक्रमत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘अस्मै’ पद में, ‘इदम्’ के द्वारा शूली म का परामर्श प्रारम्भ किया गया है और इसलिये ‘इदम्’ के ही द्वारा अथवा ‘इदं समानार्थक’ ‘एतत्’ अथवा ‘अदस्’ शब्द के द्वारा इसका उपसहार भी किया जाना था न कि ‘तत्’ शब्द के द्वारा (‘इदम्’ शब्द तो पूर्वानुभूत किंवा पुरोवर्ती वस्तु का है और ‘तत्’ शब्द पूर्वानुभूत किंतु अप्रत्यक्ष वस्तु का । ‘इदम्’ के बदले ‘तत्’ के से कवि का विवक्षित अर्थ एकरस नहीं प्रतीत होता) ।

अथवा जैसे कि ‘पृथ्वी समुद्र से घिरी है और सागर सैकड़ों योजन विस्तीर्ण है ।

यहां भी ‘भग्नप्रक्रमत्व’ ही है । यहा यदि ‘मिता भूः पत्यापा स च पतिरपा दिया जाय तो यह दोष दूर हो जायगा और अर्थ की अपेक्षित ऐक्य-प्रतीति होती रहेगी ।

अथवा जैसे कि—‘यश पाने के लिये, सुख पाने की इच्छा से अथवा स सर्वश्रेष्ठ बनने के लिये, जो लोग निष्काम रूप से सतत कर्त्तव्यपरायण रहा वस्तुतः उन्हीं के पास सफलता उत्सुकता से पहुँच सकती है—

(किरातार्जुनीय १

यहां भी ‘भग्नप्रक्रमत्व’ झलक रहा है । यहां यदि (‘सुखलिप्तया’ के ‘सुखमीहितुम्’ कर दिया जाय तो यह दोष दूर हो जायगा ।

अत्राद्ययोः प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः । तृतीये पर्यायविषयः, चतुर्थे प्रत्यय-
षयः । एवमन्यत्रापि ।

(१९—प्रसिद्धित्याग)

प्रसिद्धित्यागो यथा—

‘घोरो वारिमुचां रवः ।’

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम् । यदाहुः—

‘मञ्जीरादिषु रणितप्राय पक्षिषु च कूजितप्रभृति ।

स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥’ इत्यादि ।

इन उपर्युक्त उदाहरणों में, पहले दोनों (अर्थात् ‘एवमुक्तो मन्त्रिमुखैः’ और
हिमालयमामन्त्र्य’) में ‘भग्नप्रक्रमत्व’ ‘प्रकृतिविषयक’ है; तौमरे (अर्थात् ‘उदन्व-
द्वा भू’ आदि) में ‘पर्यायविषयक’ है और चौथे (अर्थात् ‘यशोऽधिगन्तुम्’ आदि)
‘प्रत्ययविषयक’ है । इसी भाँति अन्यत्र अन्यान्यविषयक ‘भग्नप्रक्रमत्व’ स्वयं
जा सकता है ।

विमर्श—‘भग्नप्रक्रमत्व (प्रक्रमभेद) की व्यक्तिविवेककार इन यह नानाना यहा ध्यान
ने योग्य है—

‘प्रक्रमभेदोऽपि शब्दानौचित्यमेव । स हि यथा प्रक्रममेकरसप्रवृत्ताया प्रतिपत्तृप्रवृत्ते-
त्वात् इव परिस्वरलनखेददायी रसमहाय पर्यवस्यति । किञ्च सर्वत्रैव शब्दार्थव्यवहारे
द्विभिरपि लौकिकक्रमोऽनुसर्त्तव्यः । लोकश्च ना भूदसात्त्वादप्रतीते परिन्लानतेति यथा-
क्रममेवेनमाद्रियते नान्यथा । स चायमनन्तप्रकारं सम्भवति । प्रकृति-प्रत्यय-पर्यायादीनां
द्विषयभावानिमित्तानामानन्त्यात् । . . . ;

(व्यक्तिविवेक च विमर्श)

अर्थात् प्रक्रमभेद एक प्रकार का शब्दानौचित्य है । जैसे कोई रथारोही ऊबड़-खाबड़ रास्ते
पर चलने में निरन्तर गिरने से डरा जाता है और रथारोहण का आनन्द भी नहीं पाता करता
है ही ‘प्रक्रमभेद’ के प्रमदों में महदय मानाजिक रसत्वाद में वञ्चित रहा करना है । प्रक्रम का
य काव्य का एक अक्षय्य अपराध है । इसके प्रकार अनन्त हैं । प्रवृत्ति-प्रक्रमभेद, नवतान-
क्रमभेद, प्रत्यय-प्रक्रमभेद, पर्याय-प्रक्रमभेद, विमर्श-प्रक्रमभेद, उपसर्ग-प्रक्रमभेद, वचन-प्रक्रमभेद,
गलविशेष-प्रक्रमभेद, कारकशक्ति-प्रक्रमभेद आदि-आदि प्रकर इनके प्रमुख भेदों में गिने जाया
रहे हैं ।

अनुवाद—‘प्रसिद्धित्याग’ (वह दोष है जिसे ‘कविसमय’ प्रसिद्धि का त्याग कहा
जाया है) जैसे कि—

‘यह मेघों का भयङ्कर रव’ ‘आदि’ सूक्ति ।

यहाँ ‘प्रसिद्धित्याग’ इसलिये है क्योंकि मेघों के सम्बन्ध में ‘गर्जित’ शब्द प्रसिद्ध है
कि ‘रव’ । जैसे कि (रुद्र के काव्यालङ्कार में) कहा भी गया है—

‘मञ्जीर आदि की ध्वनि के सम्बन्ध में ‘रणित’ प्रभृति, पक्षियों के शब्द के सम्बन्ध में
‘कूजित’ प्रभृति, समुद्र के शब्द के प्रसङ्ग में ‘स्तनित’, ‘मणित’ आदि और मेघ आदि के
सम्बन्ध में ‘गर्जित’ प्रभृति शब्द प्रसिद्ध हैं ।’

विमर्श—यहाँ ‘प्रसिद्धि’ का अन्विष्ट ज्ञान कि काव्यप्रकाशिका का कथन है, एक प्रकार के
‘कवि-मन्य’ का अन्विष्ट है—

(२०—अस्थानस्थपदत्व)

अस्थानस्थपदता यथा—

‘तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।

अयन्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥’

अत्र तदीयपदात्पूर्वं गङ्गामित्यस्य पाठो युक्तः । एवम्—

‘हितात्र यः संश्रृणुते स किंप्रभुः ॥’

अत्र संश्रृणुत इत्यतः पूर्वं नञः स्थितिरुचिता ।

अत्र च पदमात्रस्यास्थाने निवेशेऽपि सर्वमेव वाक्यं विवक्षितार्थप्रत्या
मन्थरमिति वाक्यदोषता । एवमन्यत्रापि । इह केऽप्याहुः—‘पदशब्देन वा

‘मञ्जीरादिषु रणितप्राय पक्षिषु च कृजितप्रभृति ।

स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥’

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् । यथा—

‘महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक—

प्रचण्डघनगर्जितप्रतिस्तानुकारी मुहुः ।

रवः श्रवणभैरवः स्यगितरोदसीकन्दरः

कुतोऽद्य समरोदधे रयममृदपूर्वः पुरः ॥’

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहादे ।

और इस ‘प्रसिद्धि’ के त्याग में प्रभिक्षित्याग अथवा ‘प्रसिद्धिहृतत्व’ की समावना स्वाभाविक है ।

अनुवाद—‘अस्थानस्थपदत्व’ (वह दोष है जिसे अनुचित स्थान में किसी पद
विन्यास में देखा जाया करता है) जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवश
यह सूक्ति)—‘उसके तीर्थ अथवा जलावतरणस्थान पर, गजसमूह के द्वारा सेतु का निर्माण
जय कि महाराज कुश प्रतिकूलगामिनी गङ्गा को पार किया करते थे, तब आकाश
के पार करने में चञ्चल पक्षुवाले हंस, उनके लिये अकृत्रिम चमर का काम करने लगतेयहाँ ‘अस्थानस्थपदत्व’ इसलिये है क्योंकि ‘तदीय’ पद अनुचित स्थान पर
हुआ है । यहाँ यदि ‘तदीय’ पद के पहले ‘गङ्गाम्’ का प्रयोग कर दिया जाय, तो (‘
के द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट ‘गङ्गा’ का परामर्श होने से) यह दोष हट जाय ।

इसी प्रकार (महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय की) यह सूक्ति—

‘जो राजा अपने हितचिन्तकों से हित की बात नहीं सुनता .. ’ आदि ।

यहाँ भी ‘अस्थानस्थपदत्व’ है क्योंकि ‘नञ्’ का प्रयोग अनुचित स्थान पर
हुआ है । यहाँ ‘संश्रृणुते’ के पहले ‘न’ का प्रयोग उचित होता (और तब यह दोष
हट जाता) ।यहाँ यह शङ्का ठीक नहीं कि जब पदमात्र के, अस्थान (अनुचित स्थान) पर रहने
कारण ‘अस्थानस्थपदत्व’ दोष उत्पन्न होता है तब इसको पददोष क्यों न माना जा
कारण यह है कि किसी पद के अनुचित स्थान पर पड़े रहने पर, समस्त वाक्य अभि
अर्थ की प्रतीति में शिथिल हो जाता है जिससे इसे ‘वाक्यदोष’ मानना ही युक्ति-
है । यही बात वस्तुतः अन्य वाक्यगत दोषों के सम्बन्ध में भी लागू होती है ।

यहाँ कुछ लोग यह कहते हैं कि ‘अस्थानस्थपदत्व’ में जो ‘पद’ शब्द है उससे वाक्य

नेव प्रायशो निगद्यते, न च नवो वाचकता, निर्विवादत्वात्तन्त्र्येणार्थबोधन-
विरहात्' इति । यथा—'द्वय गतम्' इत्यादौ त्वमित्यनन्तर चकारानुपादानाद्-
क्रमता तथात्रापीति ।

(२१—अस्यानस्यसमासत्वं)

* अस्यानस्यसमासता यथा—

'अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिचालोहित ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकर. कर्षत्यसौ तत्क्षणा-
स्तुल्लत्करवक्रोपनि सरदलिश्रेणीकृपाण शशी ॥'

पद का ही ग्रहण हुआ करता है और इसलिये जब कि 'हितान्न य' लक्ष्युने आदि में
'नञ्' वाचक पद नहीं, क्योंकि निर्विवाद और त्वनन्तर रूप में इसमें अर्थबोधना नहीं
रहा करती, तब यहाँ यह दोष भी नहीं माना जा सकता । यहाँ तो जैसे (द्वयं गतम्)
आदि सूक्ति में, 'त्वन्' के बाद 'च' के अनुपादान में 'अक्रमत्व' माना जाना करता है,
वैसे ही 'अक्रमत्व' ही मानना ठीक है (अस्यानस्यपदत्व नहीं) ।

विनर्श—यहाँ वह वान विचारनाय है कि नादित्यदर्शकार ने जो नहान्वि वानिद्वान् वं
'तोर्थे तदर्थे गजसेतुदन्धाद्' आदि सूक्ति में 'अस्यानस्यपदत्व' का निरोध किया है और
तत्त्वं वाक्यान्वायं नहि नन्द ने क्रमभेद, जैसा कि इन पदिकों में स्पष्ट है—

'तीर्थं तदर्थे गजसेतुदन्धाद् प्रतीपगानुत्तरतोऽस्य गङ्गान् । इति । अत्र हि परानर्श-
नीयमर्थननुक्त्वैव यस्तस्य सर्वनामपरानर्श' स क्रमभेदो दोष । तस्य हि प्रक्रान्तोऽर्थो
विषय इष्टो न प्रकृत्यमान, तस्य स्मृतिपरामर्शरूपत्वात् । स्मृतेश्चानुवृत्त एवार्थो विषयो
नानुमविप्पनाणः । अत्र च प्रतीतिमात्रमनुमवोऽभिनतो नेन्द्रियविषयभाव । न स गङ्गार्थ
प्रतीतपूर्वो च परानुश्यतेति परामर्श-क्रमभेदो दोष ।' (व्यक्तिविवेकः २५ विनर्श)
अर्थात् 'तोर्थे तदर्थे' आदि में 'क्रमभेद' है क्योंकि यहाँ परामर्शदोष अर्थ का निरूप-
किये बिना हो, वैसे 'तद्' सर्वनाम द्वारा निर्दिष्ट किया गया है । प्रक्रान्त (वर्तन से लिये उपस्थान)
अर्थ हो 'तद्' के द्वारा परामर्श योग्य माना जा सकता है न कि प्रकृत्यमान अर्थ (वत् वत्
स्मिन्वा निरूपण किये किया जाय) । उद गद्यरूप अर्थ का पढ़ने कोट पता नहीं, उद उमक।
('तदर्थे') 'तद्' द्वारा जैसा परामर्श इन्द्रिय परामर्श के क्रम का ना होने से यहाँ
'क्रमभेद' निश्चित है ।

वस्तुतः यहाँ व्यक्तिविवेकार का जो दोष-समाप्ति होना है, नादित्यदर्शकार को नहीं । वान
यह है कि 'तोर्थे तदर्थे' आदि सूक्ति में पदनिवेद के अनौचित्य से क्रमभेद अर्थ की प्रतीति नहीं
हो जाती जिसके कारण यहाँ क्रमभेद अथवा अक्रमत्व मानना हा उचित है । 'अस्यानस्यपदत्व'
में प्रकृत अर्थ प्रतीत होता है और पदनिवेद स्पष्ट करता है ।

अनुवाद—'अस्यानस्यसमासत्वं (वह दोष है जिसे किसी वाक्य में, किसी समस्त
पदावली के अनुचित प्रयोग में देखा जाया करता है) जने कि—

'अरे ! यह चन्द्रमा तो समस्त यह सोचकर कि उसके मानने भी, लानों के 'शैल
दुर्ग' में विह्वल, रमणिलों के हृदय में प्रेम-कोप स्थान पाना चाहता है, क्रोध से तमननाया

अत्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः, कवेरुक्तौ कृतः ।

(२२—सङ्कीर्णत्व)

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्कीर्णत्वम् । यथा—

‘चन्द्रं मुञ्च कुरङ्गाक्षि ! पश्य मानं नभोऽङ्गने ।’

अत्र नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य मानं मुञ्चेति युक्तम् ।

‘छिष्टत्वमेकवाक्यविषयम्’ इत्यस्माद्विभ्रम् ।

(२३—गर्भितत्व)

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्भितता । यथा—

‘रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना ।

वदामि सखि । तत्त्वं ते कदाचिन्नोचिताः क्रुधः ॥’

आ अपने लम्बे-लम्बे किरण-हस्त को फैलाये, शीघ्रता के साथ विकसित कुमुद-कोश । मरावली के रूप में, अपनी कटार खींचता दिखायी पड़ रहा है ।’

यहाँ ‘अस्थानस्थसमासत्व’ है क्योंकि क्रुद्ध (चन्द्रमा) की उक्ति में समास नह
या गया (जोकि वन्धदाह्य के लिये उचित था) और कवि की उक्ति (अर्थात् प्रोद्य
रतरप्रसारितकर” और ‘कुल्लत्कैरवकोशनि सरदलिश्रेणीकृपाण.’) में समास कर दि
या (जहाँ वन्ध सौकुमार्य कहीं अधिक अच्छा लगता) ।

विमर्श—‘अस्थानस्थसमासत्व’ का साहित्यदर्पणकारकृत निरूपण वस्तुतः ‘कायप्रकाश’ व
क्षरश अनुकरण अथवा अनुसरण है । ‘अस्थानस्थसमासत्व’ इसलिये वाक्यदोष है क्योंकि व
ओजस्विता के विना रसभाव का समुचित आस्वाद नहीं मिल सकता ।

अनुवाद—‘सङ्कीर्णत्व’ वह दोष है जिसे एक वाक्य के अन्तर्गत प्रयोगोचित पदों क
सरे वाक्य में अनुप्रवेश कहा करते हैं । जैसे कि—

‘अरी मृगनयनी ! चन्द्रमा को छोड़, देख अपने मान को, इस आकाश
गन में ।

यहाँ युक्तियुक्त वाक्य यह होता—‘नभोङ्गने चन्द्र पश्य, मानं मुञ्च’—(आकाश
गन में चन्द्रमा को देख और अपना मान छोड़) ।’

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ‘सङ्कीर्णत्व’ और ‘छिष्टत्व’ में परस्पर भेद है
सङ्कीर्णत्व’ अनेक वाक्यविषयक दोष है और ‘छिष्टत्व’ एक वाक्यविषयक ।

विमर्श—सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज के अनुसार सङ्कीर्णत्व’ का यह स्वरू
मर्श है—

‘वाक्यान्तरपदैर्मिश्रं सङ्कीर्णमिति तद्विदुः । यथा—

काक खादति क्षुधितं क्रूरं फेहति निर्भरं रुष्टः ।

श्वानं गृह्णाति कण्ठे हृक्कायति नसारं स्थविरः ॥’

जैसे ‘रत्नदर्पणकार’ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘वाक्यान्तरसवलितानि पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविश्य तथा प्रतीतिं विव्रन्ति, य
मुदाय एव दूषितो भवति ।’

अनुवाद—‘गर्भितत्व’ वह दोष है जिसे एक वाक्य के भीतर दूसरे वाक्य का अनुप्रवे
हा गया है । जैसे कि—

‘अरी सखी ! जब कि प्रियतम पैरों पर चमायाचना के लिये गिरा पड़ा हो, तब इ
समय, मेरा तुझसे यही कहना है कि, क्रोध करना उचित नहीं ।’

(अर्थदोष - स्वरूप तथा भेद)

अर्थदोषानाह—

अपुष्टदुष्क्रमग्राम्यव्याहताश्लीलकष्टताः ।

अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशितविरुद्धताः ॥ ६ ॥

सन्दिग्धपुनरुक्तत्वे ख्यातिविद्याविरुद्धते ।

साकाङ्क्षता सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥ १० ॥

अविशेषे विशेषश्चानियमे नियमस्तथा ।

तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ ११ ॥

निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ।

तद्विपर्ययो विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियमः ।

(१—अपुष्टत्वं)

अत्रापुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम् । यथा—

‘विलोक्य वितते व्योम्नि विधु मुञ्च त्वं प्रिये !’

अत्र विततशब्दो मानत्यागं प्रति न किञ्चिदुपकुर्वते ।

[यहां ‘रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽपुना क्रुघ’ कदाचित् नोचिताः—इस वाक्य के भीतर ‘वदामि सखि ते तत्त्वम्’ यह वाक्य आ घुसा है जिससे अर्थ की प्रतीति ठीक नहीं हो पाती ।]

• अनुवाद—अर्थ के दोष ये हैं—

(१) अपुष्टत्वं, (२) दुष्क्रमत्व, (३) ग्राम्यत्व, (४) व्याहृतत्व, (५) अश्लीलत्व, (६) कष्टत्व, (७) अनवीकृतत्व, (८) निर्हेतुत्व, (९) प्रकाशितविरुद्धत्व, (१०) सन्दिग्धत्व, (११) पुनरुक्तत्व, (१२) ख्यातिविरुद्धत्व, (१३) विद्याविरुद्धत्व, (१४) साकाङ्क्षत्व, (१५) सहचरभिन्नत्व, (१६) अस्थानयुक्तत्व, (१७) अविशेष में विशेष (अविशेषपरिवृत्तत्व), (१८) अनियम में नियम (अनियमपरिवृत्तत्व), (१९) विशेष में अविशेष (विशेषपरिवृत्तत्व), (२०) नियम में अनियम (नियमपरिवृत्तत्व), (२१) विध्ययुक्तत्व, (२२) अनुवादायुक्तत्व और (२३) निर्मुक्तपुनरुक्तत्व ।

यहां ‘तयोर्विपर्ययौ’ का अभिप्राय है (अविशेष में विशेष का विपर्यय अर्थात्) ‘विशेष में अविशेष’ और (अनियम में नियम का विपर्यय अर्थात्) ‘नियम में अनियम’ ।

अनुवाद—‘अपुष्टत्वं’ वह अर्थदोष है जिसे मुख्य अर्थ के अनुपकारक किसी पदार्थ की योजना में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘प्रिये ! इस वितत व्योम में चन्द्रमा को देख और मान छोड़ दे ।’ यहां जो मुख्य अर्थ है वह ‘मानत्याग’ है और इस मुख्य अर्थ के प्रति, व्योम के विशेषणरूप से प्रयुक्त

अधिकपदत्वे पदार्थान्वयप्रतीतेः समकालमेव बाधप्रतिभासः, इह तु पश्चादिति विशेषः ।

(२—दुष्क्रमत्व)

दुष्क्रमता यथा—

‘देहि मे वाजिनं राजन् । गजेन्द्रं वा मदालसम् ।’

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम् ।

(३—ग्राम्यत्व)

‘स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये !’

अत्रार्थो ग्राम्यः ।

(४—व्याहतत्व)

कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यप्रतिपादनं व्याहतत्वम् ।
यथा—

‘हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः ।

वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥’

‘वितत’ रूप पदार्थ की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती । यहाँ ‘अधिकपदत्व’ व शका नहीं होनी चाहिये क्योंकि ‘अपुष्टत्व’ और ‘अधिकपदत्व’ में परस्पर भेद है ‘अधिकपदत्व’ में तो पदार्थों की अन्वय-प्रतीति के ही साथ बाध का भी भान हो उठता है किन्तु ‘अपुष्टत्व’ में (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट है), अन्वय-प्रतीति के बा ही बाध-प्रतीति हुआ करती है ।

अनुवाद—‘दुष्क्रमत्व’ वह अर्थदोष है जिसे वस्तुओं के निचन्चन-क्रम के अनौचित्य में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘महाराज ! मुझे एक घोड़ा दे दीजिये अथवा न हो तो एक मदोन्मत्त गजराज । दे डालिये ।’

यहाँ ‘दुष्क्रमत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘अश्वयाचन’ से पहले गजेन्द्र-याचन का उपनिबन्ध उचित होता ।

[बहुमूल्य वस्तु की मांग पहले की जाती है जिसके न मिल सकने की दशा में अल्पमूल्य वस्तु की याचना का अवसर आता है । लोक में याचना का यही क्रम है । इ बिगाड़ कर यहाँ कवि ने ‘दुष्क्रमत्व’ का आद्धान किया है ।]

अनुवाद—‘ग्राम्यत्व’ वह अर्थदोष है जिसे अविदग्ध मनुष्यों की सी बातचीत देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘तू मेरे पास सोना । प्रिये ! मैं अभी तेरे पास ही सोऊँगा ।’

यहाँ ‘ग्राम्यत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ प्रेमी और प्रेमिका का यह प्रेम प्रकाश अविदग्धता और असभ्यता-पूर्ण लग रहा है ।

अनुवाद—‘व्याहतत्व’ वह अर्थदोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ कि वस्तु का पहले उत्कर्ष या अपकर्ष दिखा कर, बाद में, उसके विपरीत अपकर्ष या उत्कर्ष वर्णन होने लगता है । जैसे कि—

‘नवोदित चन्द्र चन्द्रिका आदि के दर्शन से युवा प्रेमियों का हृदय वश में नहीं पाता । उनका हृदय तो इस सुन्दरी के दर्शन से वश में हुआ करता है जो कि लोचन की चन्द्रिका है ।’

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः ।

(५—अश्लीलत्व)

'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।

यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥'

अत्रार्थोऽश्लीलः ।

(६—कष्टत्व)

'वर्षत्येतद्दर्पतिर्न तु घनो धामस्थमच्छं पयः

सत्यं सा सवितुं सुता सुरसरित्पूरो यया प्लावितः ।

व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न क', श्रद्धा न कस्य श्रुतौ

न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वप. ॥'

अत्र यस्मात्सूर्याद्वृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवम् ।
ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम् . तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र

यहां 'व्याहतत्व' इतलिय है क्योंकि पहले तो चन्द्र-चन्द्रिका को युवा प्रेमियों का आनन्द-निदान न बताया गया (अपकर्ष-वर्णन) और अब उल्टे आनन्द के हेतु-रूप में सुन्दरी पर चन्द्रिका का आरोप कर दिया गया (उत्कर्ष-वर्णन) ।

अनुवाद—'अश्लीलत्व' वह अर्थदोष है जिसे ब्रीडा, जुगुप्सा, अनङ्गल आदि आदि के अनिव्यक्त अर्थ में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'ऐसे क्रूरहृदय पुरुष का, जो मारने में लगा रहता है, अच्छा रहा करता है और छिद्रान्वेषण में तत्पर हुआ करता है, पनन जितना शीघ्र समभव है उतना उत्थान नहीं ।'

यहाँ 'अश्लीलत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ अनिव्यक्त हो रहा है—'जो सुरतक्रीडा में, योनि-ताडन में लगा करता है, स्तब्ध है और योनिच्छिद्र को ढूँढ़ करता है' ऐसे दुष्ट शिरन (पुरुषेन्द्रिय) का पतन जितना शीघ्र समभव है उतना उत्थान नहीं ।' यह अश्लील है ।

विमर्श—अर्थगत 'अश्लीलत्व' काव्य-माहित्य में इतलिये दोष माना गया है क्योंकि काव्य का प्रयोजन नरलोपदेश भी है । 'मन्मोददेश' और 'अश्लीलत्व' साथ नहीं रह सकते । तन्मता और मत्तृति की रक्षा कविना का भी उद्देश्य है । इतलिये कविजन को अश्लीलता से विमर्श की अवतारणा में वचना आवश्यक है । अन्यथा महदय-हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो सकता है, न कि भाव-स्वेग जो कि नास्वाद में ही सम्भव है । 'अश्लीलता' अनिवार्य है । इतलिये दोष है ।

अनुवाद—'कष्टत्व' वह अर्थदोष है जिसके कारण कोई अर्थ कष्टपूर्वक अवगत हुआ करता है । जैसे कि—

'वह सूर्य है जो कि अपने मण्डलान्तर्गत निर्मल जल की वर्षा किया करता है, मेघ भला यह वर्षा कैसे करे । वह सूर्यसुता यमुना है जो कि सुरनदी गङ्गा को बाप्लावित किया करती है, न कि और कोई । भला कौन है जो महर्षि व्यास के वचन (सूर्य ने वृष्टि के होने की बात) पर विश्वास न करे ? ऐसा कौन है जिसे श्रुति पर ('वादित्याज्जायते वृष्टि') आदि श्रुति-वचन पर) श्रद्धा न हो ? किन्तु यह मुग्ध नृगी ऐसी है जो सूर्यरश्मियों में जल की समावना पर बिलकुल विश्वास नहीं करती ।'

यहाँ 'कष्टत्व' है । यहाँ यह अप्रस्तुत अर्थ निकल रहा है—'वृष्टि और यमुना-दोनों का जल सूर्य से उत्पन्न होता है क्योंकि वृष्टि और यमुना-दोनों सूर्य से उत्पन्न हैं । इतलिये

जलप्रत्ययं न करोति । अयमप्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्बोधः, दूरे चास्मत्प्रस्तुतार्थबोध इति कष्टार्थत्वम् ।

(७—अनवीकृतत्व)

‘सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः ।

सदा धत्ते भुव शेषः सदा धीरोऽविकथनः ॥’

अत्र सदेत्यनवीकृतत्वम् ।

अत्रास्य पदस्य पर्यायान्तरेणोपादानेऽपि यदि नान्यद्विच्छित्यन्तर तदास्य

दोषस्य सद्भाव इति कथितपदत्वाद्भेदः ।

नवीकृतत्वं यथा—

‘भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।

विभक्तिं शेषः सततं धरित्रीं षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥’ इति ।

सूर्यरश्मियों में जल की सभावना पर विश्वास उचित है किन्तु हरिणी मतिभ्रम में पड़ी है और उसे सूर्य-किरणों में पानी का विश्वास नहीं हो रहा है ।’ यह अप्रस्तुत अर्थ स्वयं कष्टसाध्य है और इसलिये इसके आधार पर निकलने वाला प्रस्तुत अर्थ अर्थात् नायक पर नायिका के अविश्वास का अभिप्राय और भी अधिक दुःसाध्य बन रहा है ।

अनुवाद—‘अनवीकृतत्व’ वह अर्थदोष है जिसे, एक ही प्रकार से, बिना किसी विचित्रता और नवीनता के, किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘सूर्य सदा आकाश में विचरण करता है, वायु सदा वहती रहा करती है, शेषनाग सदा पृथ्वी का भार वहन किया करते हैं और गम्भीर स्वभाव के लोग सदा आत्मश्लाघा-पराङ्मुख हुआ करते हैं ।’

यहाँ ‘अनवीकृतत्व’ है क्योंकि प्रत्येक बार ‘सदा’ के प्रयोग से, चारों चरणों के अर्थ, विचित्रता और नवीनता से शून्य लग रहे हैं ।

यहाँ ‘कथितपदत्व’ की आशङ्का नहीं होनी चाहिये क्योंकि ‘कथितपदत्व’ और ‘अनवीकृतत्व’ में परस्पर भेद है । यहाँ तो ‘अनवीकृतत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘सदा’ पद के बदले इसके अन्य (सर्वदा, अजस्र आदि) पर्यायवाचक पद के प्रयोग में भी यहाँ किसी विचित्रता का आधान नहीं हो सकता (किन्तु ‘कथितपदत्व’ में पर्याय-परिवर्तन से दोष सुक्ति सभी मानते हैं) ।

उपर्युक्त सूक्ति में नवीनता का आधान इस प्रकार सम्भव है (जैसा कि महाकवि कालिदास की निम्न सूक्ति में स्पष्ट है)—

‘सूर्य एक बार ही अपने रथ में घोड़ों को जोता करता है, वायु, क्या रात और क्या दिन, निरन्तर बहा करती है, शेष सदा पृथ्वी का भार वहन किया करता है और जो षष्ठांशवृत्ति (प्रजापालक) राजगण हैं उनका भी धर्म यह सतत कर्त्तव्यशीलता ही है ।’

विमर्श—‘सदा चरति खे भानुः’ में ‘अनवीकृतत्व’ और भानु सकृद्युक्ततुरङ्ग एव’ में ‘नवीकृतत्व’ स्पष्ट है । नवीनता में चमत्कार है । पिटपेषण में चमत्कार कहाँ ? ‘सदा चरति’ आदि में तो एक प्रकार के ही अर्थ का एक प्रकार से ही अभिधान है किन्तु ‘भानु सकृद्युक्ततुरङ्ग एव’ आदि में, भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित भिन्न-भिन्न धर्मों में सबलित एक अर्थ का उपन्यास किया हुआ है ।

(८—निर्हेतुत्व)

‘गृहीतं येनासीः परिभवभयात्रोचितमपि

प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।

परित्यक्तं तेन त्वमपि सुतशोकान्न तु भया-

द्विमोच्ये शस्त्र । त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥’

अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।

(९—प्रकाशितविरुद्धत्व)

‘कुमारस्ते नराधीश । अत्रिय समधिगच्छतु ।’

अत्र ‘त्वं अत्रियस्व’ इति विरुद्धार्थप्रकाशनात्प्रकाशितविरुद्धत्वम् ।

(१०—सदिग्धत्व)

‘अचला अवला वा स्यु सेव्या व्रत मनीषिणः ? ।’

अत्र प्रकरणाभावाच्छ्रान्तशृङ्गारिणोः को वक्तेति निश्चयाभावात्सन्दिग्धत्वम् ।

अनुवाद—‘निर्हेतुत्व’ वह अर्थदोष है जिसे बिना किसी हेतु के उपन्यस्त अर्थ में देखा जाया करता है । जैसे कि (वेणीसहार, श्व अङ्क को यह नृत्ति)—

‘अरे शस्त्र ! चात्रकृत तिरस्कार के भय से, ब्राह्मणोचित आचार के प्रतिकूल भी, तुझे, जिस मेरे पूज्य पिता ने ग्रहण किया, उनके प्रभाव से तू सर्वत्र अप्रतिहत और अप्रच्युत रहता आया है । उन्होंने तेरा परित्याग कर दिया केवल पुत्र-शोक के कारण, किसी के डर से नहीं । अथ मैं भी तुझे छोड़ रहा हूँ । जा तेरा कल्याण हो ।’

यहाँ ‘निर्हेतुत्व’ इसलिये है क्योंकि (जैसे द्रोण-कृत शस्त्रपरित्याग के लिये सुतशोक को हेतुरूप से उपन्यस्त किया गया है वैसे) अश्वत्थामा द्वारा किये जानेवाले शस्त्र-परित्याग के लिये कोई हेतु उपन्यस्त नहीं किया गया ।

अनुवाद—‘प्रकाशितविरुद्धत्व’ वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अभिव्यङ्ग्य अर्थ में देखा जाया करता है जो कि विवक्षित अर्थ के प्रतिकूल लगा करता है । जैसे कि—

‘महाराज ! आपके राजकुमार को राजलक्ष्मी मिले ।’ यहाँ एक अर्थ प्रकाशित हो रहा है—‘महाराज ! अब आप मर जाँय ।’ और यह स्पष्ट है कि यह अर्थ यहाँ विवक्षित अभिप्राय के सर्वथा विरुद्ध है । इसलिये यहाँ ‘प्रकाशितविरुद्धत्व’ स्पष्ट है ।

अनुवाद—‘सदिग्धत्व’ वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अर्थ में देखा जाया करता है जो कि सदिग्ध रहा करता है । जैसे कि—

‘पण्डितगण ! आप ही बतावें कि (परमेश्वर की अराधना के लिये) पर्वत की शरण लें या (सुरत-सुख के लिये) अवलाओं की सेवा करें ।’

यहाँ ‘सदिग्धत्व’ इसलिये है क्योंकि प्रकरण के अभाव में यह निश्चय करना असम्भव है कि यहाँ का वक्ता शान्तप्रकृति का है या शृङ्गारी ।

विमर्श—तात्पर्यप्रकाशकार ने ‘सदिग्धत्व’ के निदर्शन-रूप में यह काव्य-नृत्ति उद्धृत की थी—

‘मात्मर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्या समर्यादमुदाहरन्तु ।

सेव्या नितन्वा किमु भूधगणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥’

और साहित्यदर्पणकार ने इसी को नोट-नोटका इन प्रकार बना दिया—

‘अचला अवला वा स्यु सेव्या व्रत मनीषिणः ।’

(११—पुनरुक्तत्व)

‘सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
 वृणुते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥’
 अत्र द्वितीयार्थे व्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवार्थ इति पुनरुक्तता ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज की उदाहरण सूक्ति काव्य सूक्ति नहीं और तब य दोष-निरीक्षण भी निष्प्रयोजन हो है ।

अनुवाद—‘पुनरुक्तत्व’ वह अर्थदोष है जिसे एक प्रकार से प्रतिपादित अर्थ के पु प्रकारान्तर से प्रतिपादन में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘सहसा कोई कार्य करना ठीक नहीं, अविवेकिता हो आपदाओं की जननी है । सप तो गुण खोजती है और विवेकी का स्वयवरण किया करती है ।’

यहाँ ‘पुनरुक्तत्व’ है क्योंकि (इस श्लोक के पूर्वार्द्ध के) द्वितीय पाद (अविवेक परमापदां पदम्) का ही अर्थ उत्तरार्द्ध में व्यतिरेक द्वारा (वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुण लुब्धाः स्वयमेव सम्पदः) उपन्यस्त किया हुआ है ।

विमर्श—व्यक्तिविवेककार ने ‘पुनरुक्तत्व’ (पौनरुक्त्य) का बड़ा विशद विचार किया है उनकी दृष्टि में ‘अर्थ पौनरुक्त्य’ एक महादोष है—

‘पौनरुक्त्यमर्थमेकमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न शब्द तस्यार्थभेदे सत्यदुष्टत्वात् । यद्वा ‘तच्च न शब्दपुनरुक्तं पृथग् वाच्यम्, अर्थपुनरुक्तत्वेनैव गतार्थत्वात् । न ह्यर्थभेदे शब्द साम्येऽपि कश्चिदोषः । यथा—

‘हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति ।

द्रविणकणिकाक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥’ इति

तदभेदे तु दुष्टतैव । अन्यत्र तात्पर्यभेदात् । तच्च भूषणमेव न दूषणम् । तस्यानुप्रासविशेष विषयत्वेनेष्टत्वात् ।’ (व्यक्तिविवेक २५ विमर्श)

अर्थात् ‘अर्थपुनरुक्ति’ के अतिरिक्त ‘शब्दपुनरुक्ति’ मानने की कोई आवश्यकता नहीं । ‘शब्द पुनरुक्ति’ सर्वत्र दोष भी नहीं क्योंकि अर्थभेद होने पर शब्द-साम्य में क्या दोष । अर्थ के एक हो पर ही शब्द-साम्य दोषावह हुआ करता है । किन्तु तात्पर्यभेद होने पर अर्थैक्य में भी शब्द साम्य निर्दुष्ट ही है ।

इस ‘पौनरुक्त्य’ दोष में नाना प्रकारों की समावना है जिन्हें ‘व्यक्तिविवेक’कार ने संक्षेप निरदिष्ट भी किया है—

‘सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथार्थं पुनरुक्तता ।

तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः शाब्दयपीन्यते ॥

पौनरुक्त्यमिति द्वेधा गौणमुख्यतया स्थितम् ।

तत्र दूषणमेवाधमपरं भूषणं स्मृतम् ॥

शब्दालङ्कारनिपुणैर्लटानुप्राससञ्ज्ञया ।

तच्चोदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु वितन्यते ॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदवाक्यार्थ एव च ।

विषयो बहुधा ज्ञेयः स क्रमेणोपदर्श्यते ॥

अभिज्ञ एव यत्रार्थः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।

तत् पौनरुक्त्योपहतं पदमादौ विवर्जयेत् ॥

(१२—प्रसिद्धिविलम्ब)

प्रसिद्धिविलम्बता यथा—

‘तवञ्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।’

अत्र हरेः शूल लोकेऽप्रसिद्धम् ।

यथा वा—

‘पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः ।’

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कविस-
मयख्यातिविलम्बता ।

(१३—विद्याविलम्ब)

‘अधरे करजस्तं नृगाद्या’ ।’

विहितस्य बहुव्रीहेः कर्मधारयशक्या ।

शब्दस्य नत्वधीयादेर्व्यक्तैव पुनरुक्ता ॥

.....

पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिव्यान्ननीरितम् ।

विवेक्षु को हि कात्स्न्येन शक्नोत्यवकरोत्करम् ॥’ (व्यक्तिविवेकः २५ विनर्दः)

साहित्यदर्पणकार द्वारा उदाहरण ‘पुनरुक्त्य’ वस्तुतः ‘पौनरुक्त्य’ का एक प्रकार है जिसे ‘व्यक्ति-
विवेककार’ ने इस प्रकार उल्लेखित किया है—

‘वाक्यार्थविषयं पौनरुक्त्यं यथा—

सहसा विदधीत न क्रियानविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणुते हि विनृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव मपद ॥

अत्र हि अविवेकप्रयुक्तविनृश्यकारित्वलक्षणं महासाकार्यकारित्वं नामापदानविकल-
कारणमिति तेषां कार्यकारणभावमन्वयवाक्येन प्रतिपाद्य पुनः कारणभावरूप विनृश्य-
कारित्वमनूद्य तत्कार्यमनूतविषयभाववृत्त्यां संपदां सञ्जातो भवति इति व्यतिरेकवाक्ये-
नपि तेषां कार्यकारणभाव एवाभिहित इति तस्य पुनरुक्तता। अन्वय-वाक्यादेव तदवगते ।’

(व्यक्तिविवेकः : २५ विनर्दः)

अनुवाद—‘प्रसिद्धिविलम्ब’ वह अर्थदोष है जिसे लोक-प्रसिद्धि लयवा कवि-प्रसिद्धि के
विलम्ब किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘तव तीक्ष्ण शूल धारण किये भगवान् विष्णु मग्नान में विचरण करने लगे ।’

यहाँ ‘प्रसिद्धिविलम्ब’ स्पष्ट है क्योंकि लोक में विष्णु का शूल-धारण अप्रसिद्ध है
शूल-धारण तो वस्तुतः महादेव के लिये प्रसिद्ध है, विष्णु के लिये नहीं) ।

अथवा

‘अरी सुन्दरी ! तेरे पाद प्रहार से यह अशोक पादप अङ्कुरों से भर उठा है ।’

यहाँ भी ‘प्रसिद्धिविलम्ब’ है क्योंकि कवि-मनन के अनुसार, रमणी के चरण-प्रहार
से, अशोक-पादप में पुष्पोद्गम प्रसिद्ध है, अङ्कुरोद्गम नहीं । पहले उदाहरण में तो लोक-
प्रसिद्धि के विलम्ब अर्थ के अन्विधान में ‘प्रसिद्धिविलम्ब’ रहा, किन्तु यहाँ कवि-मनन-
प्रसिद्धि के विलम्ब अर्थ के वर्णन में ‘प्रसिद्धिविलम्ब’ है ।

अनुवाद—‘विद्याविलम्ब’ वह अर्थदोष है जिसे व्याकरण-मित्र शास्त्र के विलम्ब प्रतीत
होने वाले अर्थ के अन्विधान में देखा जाया करता है (व्याकरण-मित्र इनलिये क्योंकि

अत्र शृङ्गार(काम)शास्त्रविरुद्धत्वाद्विद्याविरुद्धता ।

एवमन्यशास्त्रविरुद्धत्वमपि ।

(१४—साकाङ्क्षत्व)

‘ऐशस्य धनुषो भङ्ग क्षत्रस्य च समुन्नतिम् ।

स्त्रीरत्नं च कथं नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना ॥’

अत्र स्त्रीरत्नमुपेक्षितुमिति साकाङ्क्षता ।

(१५—सहचरभिन्नत्व)

‘सज्जनो दुर्गतौ मग्नः कामिनी गलितस्तनी ।

खलः पूज्यः समज्यायां तापाय मम चेतसः ॥’

अत्र सज्जनः कामिनी च शोभनौ तत्सहचरः खलोऽशोभन इति सहचर-भिन्नत्वम् ।

(१६—अस्थानयुक्तत्व)

‘आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं

व्याकरण के विरुद्ध अभिधान में तो ‘च्युतसंस्कारत्व’ का नित्यदोष एक पृथक् दोष है ही) । जैसे कि—

‘मृगनयनी के अधर पर यह नखक्षत’ आदि ।

यहाँ ‘विद्याविरुद्धत्व’ है क्योंकि यहाँ ‘अधर पर नखक्षत’ का जो वर्णन है वह काम-शास्त्र के विरुद्ध है ।

इसी भाँति अन्यान्य शास्त्रों के विपरीत अर्थों के अभिधान में भी ‘विद्याविरुद्धत्व’ ही माना जाया करता है ।

अनुवाद—‘साकाङ्क्षत्व’ वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अर्थ के अभिधान में देखा जाया करता है जिसकी आकांक्षा तो बनी रहे किन्तु जिसका प्रतिपादन न किया जाय । जैसे कि—‘अथ भला भार्गव परशुराम के लिये यह कैसे सम्भव हो कि वे शिव-पिनाक का भङ्ग और क्षत्रिय जाति का उत्कर्ष और साथ ही साथ स्त्रीरत्न (की उपेक्षा) सहन कर लें ।’

यहाँ ‘साकाङ्क्षत्व’ है क्योंकि यहाँ स्त्रीरत्न की ‘उपेक्षा’ के अर्थ की आकांक्षा बनी है किन्तु इसे प्रतिपादित नहीं किया गया है ।

विमर्श—अर्थ की निराकांक्ष प्रतीति के बिना रसास्वाद सम्भव नहीं । इसलिये साकांक्ष अर्थ के उपन्यास में दोष की मान्यता आवश्यक है ।

अनुवाद—‘सहचरभिन्नत्व’ वह अर्थदोष है जिसे सजातीय अर्थों के बीच किसी विजातीय अर्थ के उपनियन्ध में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘दुर्गति में पड़ा सज्जन पुरुष, उन्नत स्तनों से रहित सुन्दरी और सभा में पूजा पाने वाला खल—ये तीनों मेरे चित्त में चुभा करते हैं ।’

यहाँ ‘सहचरभिन्नत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘सज्जन’ और ‘सुन्दरी’ के शोभन अर्थों के साथ ‘खल’ के अशोभन अर्थ का उपन्यास किया हुआ है ।

अनुवाद—‘अस्थानयुक्तत्व’ वह अर्थदोष है जिसे अनुपयुक्त स्थान पर समाप्त होने वाले वाक्यार्थ में देखा जाया करता है जैसे कि—(महाकवि राजशेखर के ‘वाल्हरामायण’ के प्रथम अङ्क की यह सूक्ति)—

‘जिसकी आज्ञा मुकुट-मणि की भाँति इन्द्र को भी शिरोधार्य है, जिसके लिये शास्त्र

भक्तिभूतपतौ पिताकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी ।

उत्पत्तिर्द्विहिणान्वये च तद्गो नेद्वग्वरो लभ्यते

स्याच्चेदेष न रावणः क नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणा ॥'

अत्र न रावण इत्येतावतैव समाप्तम् ।

(१७—अविशेष न विरोध)

'हीरकाणां निघेरस्य सिन्धो' किं वर्णयामहे ।'

अत्र रत्नानां निघेरित्यविशेष एव वाच्यः ।

(१८—अनियम न नियम)

'आवर्त एव नाभिस्ते नेत्रे नीलसरोरुहे ।

भङ्गाश्च वलयस्तेन त्व लावण्याम्बुवापिका ॥'

अत्रावर्त एवेति नियमो न वाच्यः ।

(१९—विशेष न अविशेष)

'यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीध्वभिसारिका ।'

नवीन दिव्य दृष्टि का कार्य किया करते हैं, जिसकी शिवभक्ति सर्वविदित है, जिसका दिव्य स्थान लङ्कापुरी के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका जन्म ब्रह्मा के महान् वंश में हुआ है उसके समान भला और कोई वर कहाँ मिले । वस्तु एतद् वात है कि यह 'रावण' है । किन्तु सब गुण सर्वत्र रहते कहाँ हैं ?

यहाँ 'अस्थानयुक्त्य' है क्योंकि यहाँ के वाक्यार्थ को, जिसे 'स्याच्चेदेष न रावण' पर ही समाप्त हो जाना चाहिये (क्योंकि 'रावण' पद में ही 'वर के रूप में रावण के निषेध' की 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' प्रतीत हो उठती है), अनुपयुक्तस्थान पर समाप्त किया गया है ('क नु पुन सर्वत्र सर्वे गुणा' पर वाक्यार्थ का समाप्त होना तो अनुचित है क्योंकि यह विवक्षित अर्थ के विलम्ब पड़ता है) ।

अनुवाद—'अविशेष न विरोध' वह अर्थदोष है जिसे सामान्य-कथन के बदले विशेष-कथन में देखा जाया करता है (जिससे विवक्षित अर्थ प्रतीति में विलम्ब पड़ता है और रसभाव प्रतीति भी विलम्ब से हो पाती है) । जैसे कि—

'हीरों के निधान इन समुद्र का क्या वर्णन करें' आदि ।

यहाँ 'अविशेष न विरोध' का अर्थदोष स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'रत्नों के निधान' इस सामान्य-कथन के बदले 'हीरों के निधान' इस विशेष-कथन से अनिप्रेत अर्थ प्रतीति में विलम्ब लग रहा है ।

अनुवाद—'अनियम न नियम' वह अर्थदोष है जिसे अनियमित कथन के बदले नियमानुविधान में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'तेरी नाभि आवर्त हो उठरी, तेरे नेत्र नीलकमल रहे और तेरी त्रिवली तरङ्ग है—
बरी ! सचमुच ही तू लावण्य की जलवापी है ।'

यहाँ 'अनियम न नियम' का दोष स्पष्ट है क्योंकि 'आवर्त एव' इस नियमानुविधान को कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती ।

अनुवाद—'विरोध न अविरोध' वह अर्थदोष है जिसे विशेष-वचन के बदले सामान्य-अभिधान में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'नीले वस्त्र पहन कर अभिसारिकायें रातों में निकल रही हैं ।'

अत्र तमिस्रास्त्विति रजनीविशेषो वाच्यः ।

(२०—नियम में अनियम)

‘आपातसुरसे भोगे निमग्नाः किं न कुर्वते ।’

अत्र आपात एवेति नियमो वाच्यः ।

ननु वाच्यस्यानभिधाने ‘व्यतिक्रमलवम्’ इत्यादावपेरभावः, इह चैवकार-
स्येति कोऽनयोर्भेदः । अत्राह—‘नियमस्य वचनमेव पृथग्भूतं नियमपरिवृत्ते
विषयः’ इति, तन्न तथा सत्यपि द्वयोः शब्दार्थदोषतायां नियामकाभावात् ।

तत्का गतिरिति चेत् ? ‘व्यतिक्रमलवम्’ इत्यादौ शब्दोच्चारणानन्तरमेव
दोषप्रतिभासः, इह त्वर्थप्रत्ययानन्तरमिति भेदः । एवं च शब्दपरिवृत्तिसहत्वा

यहाँ ‘विशेष में अविशेष’ का दोष है क्योंकि यहाँ ‘रजनी’ (रात) इस सामान्य-
वचन का कोई प्रयोजन नहीं, यहाँ तो ‘तमिस्रा’ (अँधेरी रात) इस विशेष-वचन का
स्वारस्य है (क्योंकि नीलनिचोल वाली रमणिओं के अभिसार के लिये इसी की उप-
योगिता है) ।

अनुवाद—‘नियम में अनियम’ वह अर्थदोष है जिसे नियमतः अभिधान के बदले
अनियम से अभिधान में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘आरम्भ में अच्छे लगने वाले विषय-सुख में दूधे लोग सभी प्रकार के अकार्य किया
करते हैं ।’

यहाँ ‘नियम में अनियम’ का दोष दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ ‘आपातसुरसे’—
‘आरम्भ में अच्छे लगने वाले’ इस अनियमतः अभिधान के बदले ‘आपात एव सुरसे’—
‘आरम्भ में ही अच्छे लगने वाले’ इस नियमाभिधान की आवश्यकता प्रतीत होती है
(क्योंकि तभी ‘अन्य समय के व्यावर्तन’ का अपेक्षित अभिप्राय निकल सकता है) ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ‘वाच्यानभिधान’ और ‘नियमेऽनियमाभिधान’ में
भेद क्या ? जैसे ‘व्यतिक्रमलवम्’ आदि में ‘अपि’ के अभाव में ‘वाच्यानभिधान’ वैसे
ही यहाँ ‘आपातसुरसे’ आदि में ‘एव’ के अभाव में ‘नियमेऽनियमाभिधान’ । इसका
यह उत्तर कि ‘नियमेऽनियमाभिधान’ तो एक विशेष बात है जो कि नियम के अकथन
में देखी जाती है और जिसके कारण नियमपरिवृत्ति अथवा नियम में अनियम के अभि-
धान का दोष उत्पन्न होता है किन्तु ‘वाच्यावचन’ वह है जिसे नियमद्योतक पद के
अतिरिक्त भी पद के अभाव में देखा जाया करता है, ठीक नहीं जँचता । बात यह है कि
यदि ऐसा मान भी लिया जाय तब भी न तो ‘वाच्यानभिधान’ को शब्ददोष सिद्ध
करने का कोई कारण बताया जा सकता है और न ‘नियमेऽनियमाभिधान’ को अर्थदोष
मानने का (क्योंकि जब कि दोनों में वक्तव्य पद का अभाव ही कारण है तब दोनों को
पददोष क्यों न मान लिया जाय) ।

किन्तु यहाँ एक बात है और वह यह है—‘वाच्यानभिधान’ के प्रसङ्गों—जैसे कि
‘व्यतिक्रमलवम्’ आदि—में तो ऐसा होता है कि शब्दोच्चारण के बाद ही दोष का ज्ञान
हो उठता है किन्तु ‘नियमेऽनियमाभिधान’ के स्थल पर, जैसे कि ‘आपातसुरसे’ आदि
में, अर्थदोष के बाद पता चलता है कि कुछ खटक रहा है । इस प्रकार प्राचीन आलङ्कार-
रिकों द्वारा मान्य शब्दार्थदोष व्यवस्था का यह सिद्धान्त कि ‘शब्ददोष वह है जो शब्द
बदलने से हट जाय और अर्थदोष वह जो शब्द बदलने पर भी न हटे’, अन्ततोगत्वा इस

सहत्वाभ्यां पूर्वैराद्यतोऽपि शब्दार्थदोषविभाग एवं पर्यवस्यति—यो दोषः शब्द-
परिवृत्त्यसहः स शब्ददोष एव । यत्र पदार्थान्वयप्रतीतिपूर्वबोधः सोऽपि
शब्ददोषः । यत्रार्थप्रतीत्यनन्तरं बोध्यः सोऽर्थान्वय इति । एवं चानियमपरि-
वृत्तित्वादेर्यधिकपदत्वाद्भेदो बोद्धव्यः । अमत्तपरार्थत्वे तु 'राममन्मथश-
रेण—' इत्यादौ नियमेन वाक्यव्यापित्वाभिप्रायाद्वाक्यदोषता । अश्लीलत्वादौ
तु न नियमेन वाक्यव्यापित्वम् ।

(२१—विध्ययुक्तम्)

'आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान् हनिष्यति ।'

अत्र परपक्षं हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम् ।

(२२—अनुवादायुक्तम्)

'चण्डीशचूडाभरण ! चन्द्र ! लोकतमोपह ! ।

विरहिप्राणहरण ! कदर्यय न मां वृथा ॥'

रूप में परिनिष्ठित होता है—'वह दोष, जो शब्द-परिवर्तन के बाद भी बना रहे, शब्द-
दोष है और वह दोष भी शब्ददोष ही है जो कि पदार्थों के अन्वय-बोध के पहले ही प्रतीत
हो जाता है । इसके विपरीत अर्थदोष वह है जिसका पता अर्थबोध के बाद लगा
करता है । इस परिनिष्ठित सिद्धान्त का अनुसरण करने से यह भी निर्धारित हो जाता
है कि 'अनियमपरिवृत्ति' आदि अर्थदोष 'अधिकपदत्व' आदि पददोषों से सर्वथा भिन्न
प्रकार के दोष हैं ।

यहाँ एक और भी बात ध्यान में रखनी चाहिये और वह यह है—'अमत्तपरार्थत्व' ।
भी अर्थप्रतीति के बाद दोष-प्रतिभास होता है जैसा कि 'राममन्मथशरेण' आदि प्रसङ्गों
स्पष्ट है किन्तु इसे अर्थदोष न मान कर वाक्यदोष ही माना जाया करता है क्योंकि
दोष वस्तुतः समस्त वाक्य में व्याप्त होने से वाक्यदोष ही कहा जा सकता है । कि
इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य' आदि में 'अश्लीलत्व' भी, वा
व्यापक होने से, वाक्यदोष मान लिया जाय क्योंकि यहाँ यह आवश्यक नहीं कि अश-
लता समस्त वाक्य में ही व्याप्त हो (क्योंकि यहाँ यह 'अश्लीलता' 'हन्तुमेव' व
वाक्यांश में भी है और 'विरहिप्राणः' आदि पद में भी) ।

अनुवाद—'विध्ययुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे विधेय के अयोग्य अर्थ में विधेय-त
का समर्पण कहा जाया करता है । जैसे कि—

'अपने पत्न को आनन्दित करने वाला वह राजा परपत्न का सहार कर डालेगा ।'

यहाँ 'विध्ययुक्तत्व' है क्योंकि यहाँ जो विधेय है वह यह है—'परपत्न का सह
यह राजा अपने पत्न के लोगों को प्रसन्न कर देगा ।' इस विधेय के बदले, यहाँ ऐ
का विधेय बनाया गया है जो कि वस्तुतः विधेय बनने के योग्य नहीं ।

अनुवाद—'अनुवादायुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे ऐसे उद्देश्य के अभिधान
जाया करता है जो कि विधेय के अनुकूल नहीं प्रतीत हुआ करता । जैसे कि—

'हे चण्डीशचूडाभरण ! हे सत्कार के तमोनाशक ! हे विरहिप्राणहरण च-
व्यर्थ के लिये तग न कर ।'

अत्र विरहिण उक्तौ तृतीयपादस्यार्थो नानुवादः ।

(२३—निर्मुक्तपुनरुक्तत्व)

‘लग्नं रागावृताङ्गं या सुदृढमिह ययैवासियष्ट-चारिकण्ठे

मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।

तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गुणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता

भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिति गतेयान्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन समापितमपि वचनं तेनेत्यादिना पुनरुप

(रसदोष स्वरूप तथा प्रकार-निरूपण)

अथ रसदोषानाह—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणांरपि ॥ १२ ॥

परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।

आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥ १३ ॥

अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।

यहाँ ‘अनुवादायुक्तत्व’ स्पष्ट है क्योंकि जब कि यहाँ का वक्ता एक विरही है तब इस सूक्ति के तृतीय चरण (‘विरहिप्राणहरण’) का अर्थ क्योंकि उचित उद्देश्य के रूप में समझा जा सकता है । (अर्थात् चन्द्र के विशेषणरूप में ‘विरहिप्राणहरण’ का उपन्यास ठीक नहीं क्योंकि कोई विरही, किसी ऐसी वस्तु से, जो कि ‘विरहिप्राणहरण’ हो, प्राणमित्रा क्योंकि मोंग सके !)

अनुवाद—‘निर्मुक्तपुनरुक्तत्व’ वह अर्थदोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ पहले समास की हुई बात पुनः प्रतिपादित की जाया करती है । जैसे कि—

‘इस राजा की कीर्ति लक्ष्मी के पिता समुद्र के पास पहुँच रही है और लक्ष्मी की आज्ञा से उसे मानो यह सन्देश दे रही है कि ‘यह राजा तो मुझ लक्ष्मी को कुछ समझता नहीं, यह तो उस तलवार का प्रेमी बना है जो कि ‘रागावृताङ्गी’ (रक्त से सनी और प्रेम में पगी) शत्रुओं के गले लगा करती है और जिसे हजारों लोग मातङ्गों (हाथियों और नीच चाण्डालों) के ऊपर भी गिरती-पड़ती देखा करते हैं । इस राजा ने मुझे अपने मृत्यों तक को सौंप दिया है—यह भी जान लेना ।’

यहाँ ‘निर्मुक्तपुनरुक्तत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ तो ‘विदितं तेऽस्तु’ पर ही समास हो चुका था किन्तु इसे ‘तेनास्मि’ आदि के द्वारा पुनः प्रतिपादित किया गया ।

अनुवाद—अब रस सम्बन्धी दोषों का निरूपण किया जा रहा है । रस-दोष ये हैं—

- (१) रस की स्वशब्द-वाच्यता (रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वम्)
- (२) स्थायिभाव की स्वशब्द वाच्यता (स्थायिनः स्वशब्दवाच्यत्वम्)
- (३) व्यभिचारिभाव की स्वशब्द-वाच्यता (सञ्चारिणः स्वशब्द-वाच्यत्वम्)
- (४) प्रकृतरस विरुद्धविभावादियोजना (परिपन्थिरसाङ्गग्रहणम्)
- (५) अनुभाव की कष्ट-कल्पना (कष्टाक्षिप्तानुभावत्वम्)
- (६) विभाव की कष्ट-कल्पना (कष्टाक्षिप्तविभावत्वम्)
- (७) अकाण्ड में रस-विस्तार (अकाण्डे रसप्रथनम्)

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥ १४ ॥

अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।

अर्थानौचित्यमन्यत्र दाषा रसगता मताः ।

(१—रस की स्वशब्दवाच्यता)

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च ।

क्रमेण यथा—

‘तानुद्गोच्य कुरङ्गाक्षीं रसो न कोऽप्यजायत ।’

‘चन्द्रमण्डलमालोच्य शृङ्गारे जननन्तरम् ।’

(२—स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता)

स्थायिभावस्य स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

‘अजायत रतिस्त्वस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ।’

(३—व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता)

व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

(८) ककाण्ड नै रसच्छेदः (ककाण्डे रसच्छेदः)

(९) पुनः पुनः रसदोषि (पुनः पुनः रसोद्घोषि)

(१०) बङ्गी रस का अननुसंधान (अङ्गिमाननुसंधानम्)

(११) प्रकृत रस के अनुपकारक का अति विस्तृत वर्णन (अनङ्गरसकीर्तनम्)

(१२) बङ्गभूत रसभावादि का अतिविस्तार (अङ्गरमानिविस्तृतिः)

(१३) प्रकृति-विपर्यय

(१४) अर्थानौचित्य

अनुवाद—रसदोषों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं। सर्वप्रथम ‘रस की स्वशब्द-वाच्यता’ वह रसदोष है जिसे आत्वादात्मिक रसरूप अनुभव लयवा उसके प्रकार-वैविध्य का ‘रस’ लयवा ‘शृङ्गार’ आदि वाचक पदों द्वारा अभिवान कहा गया है। जैसे कि—

‘उस नृगमयनी को देखकर हम लोगों ने एक अपूर्व रस उत्पन्न हुआ ।’

लयवा

‘चन्द्रमण्डल की देखकर हृदय शृङ्गार में डूब गया ।’

विमर्श—‘रस’ शब्द के प्रयोग में न तो रस उल्लिखित होता है और न ‘शृङ्गार’ शब्द के प्रयोग में शृङ्गार । रस से एक अदृष्ट स्वप्रकाशमन्तरूप संवेदन है। पर स्वभाव अभिव्यक्त तत्त्व है। इसे अति बलवन्त, बलवन्त का मानना । रस वाच्य बनाने में कोई सम्भार नहीं मिल सकता । अतः जिसे ‘रस की स्वशब्दवाच्यता’ शब्द-संश्लेष के रूप में माना है ।

अनुवाद—‘स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता’, जैसे कि—

‘तुम पर दृष्टिगत क्या हुआ, उसके हृदय में रति उत्पन्न हो गयी ।’

[यहाँ शृङ्गार रस के मय की भाव रति को उसके वाचक शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। इन अभिवान से चन्द्रमय-हृदय में रति की अभिव्यक्ति कहाँ ?]

अनुवाद—‘व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता’, जैसे कि—

‘जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने ।’

अत्र प्रथमे पादे ‘आसीन्मुकुलिताक्षी सा’ इति लज्जाया अनुभावमुक्ते कथने युक्तः पाठः ।

(४—प्रकृत रस-विरुद्ध विभावादि-योजना)

‘मानं मा कुरु तन्वद्भि ! ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम् ।’

अत्र यौवनास्थैर्यनिवेदनं शृङ्गाररसस्य परिपन्थिनः शान्तरसस्याङ्गं शान्तस्यैव च विभाव इति शृङ्गारे तत्परिग्रहो न युक्तः ।

(५—अनुभाव की कष्ट-कल्पना)

‘धवलयति शिशिररोचिपि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे ।

ईषत्क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी ॥’ •

अत्र रसस्योद्दीपनालम्बनविभावावनुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति का कल्पना ।

‘प्रियतम के परिचुम्बन में वह मुग्धा लजा गयी ।’

[यहाँ लज्जा के व्यभिचारिभाव का उसके वाचक पद द्वारा जो उपस्थापन है उस रति की अभिव्यञ्जना का सम्बन्ध नहीं और न उसमें सहृदय-हृदय को ही स्पर्श का सामर्थ्य है ।]

यहाँ यदि प्रथम चरण में ‘आसीन्मुकुलिताक्षी सा’ (उसकी आँखें मुकुलित हो गयीं) कर दिया जाय तो ‘लज्जा’ रूप व्यभिचारी भाव अनुभाव द्वारा अभिव्यक्त होने लगे और यह दोष भी हट जाय ।

अनुवाद—‘प्रकृत रस-विरुद्ध विभावादि योजना’, जैसे कि—

‘अरी सुन्दरी ! यौवन टिकने वाला नहीं । तू अपना मान छोड़ ।’

यहाँ शृङ्गार रस का प्रसङ्ग है और इसलिये यहाँ उसके विरोधी शान्त रस के अङ्गभूत और शान्त के ही विभावरूप से उपयुक्त ‘यौवन के अस्थैर्य’ का वर्णन सर्वथा अनुचित है ।

विमर्श—विरोधी रस से सम्बद्ध विभावादि का परिग्रह एक मयङ्कर रसदोष है । ध्वनि दाशनिक आनन्दवर्धनाचार्य ने इसे इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

‘प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य संवन्धिनां विभावभावानुभावाना परिग्रहो रसविरोधहेतुकः संभवनीयः । तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने । विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये ।’

(ध्वन्यालोक . ३५ उद्योत) ।

अनुवाद—‘अनुभाव की कष्टकल्पना’, जैसे कि—

‘तिरछी निगाहों और विहँसते वदन वाली उस सुन्दरी को तब देखो जब कि संसार के नेत्रों को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा की शीतल चांदनी चारों ओर छिटक रही हो ।’

यहाँ शृङ्गार के उद्दीपनविभाव ‘चन्द्रदर्शन’ और आलम्बनविभाव ‘वर्णित नायिका’ दोनों के द्वारा ‘मानापनयन के आह्लाद’ रूप अनुभाव का बड़ी कष्ट कल्पना से पता चल पाता है और इस विलम्ब में रसास्वाद भी कष्टसाध्य हो जाता है (क्योंकि यहाँ जब तक नायकनिष्ठ अनुभाव का उपनिबन्ध न किया जाय तब तक नायकगत शृङ्गार की अभिव्यक्ति कैसे हो) ।

(६—विभाव की कष्ट-कल्पना)

‘परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्वलतितरां परिवर्तते च भूयः ।

इति वत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥’

अत्र रतिपरिहारादीनां कठणादावपि सन्भवात्कामिनीरूपो विभावः कृच्छ्रा-
दाक्षेप्यः ।

(७—अक्राण्ड में रसवित्तार)

अक्राण्डे प्रथमं यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के प्रवर्तमानानेकवीरसंक्षयेऽकाले
दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारप्रथनम् ।

(८—अक्राण्ड में रसच्छेद)

छेदो यथा—वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढेऽन्योन्यसंरम्भे ‘कङ्कण-
मोचनाय गच्छामी’ति राघवस्योक्तिः ।

(९—पुन पुन रसदीप्ति)

पुन. पुनर्दीप्तिर्यथा—कुमारसभवे रतिविलापे ।

(१०—अङ्गी रस का अन्तुनंघान)

लङ्गिनोऽन्तनुसधानं यथा—रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वाभ्रग्यागमने सागरिण्या
वित्प्लुतिः ।

अनुवाद—‘विभाव की कष्टकल्पना, जैसे कि—

‘मेरे मित्र की दशा बड़ी बुरी है। इसे न तो किसी वस्तु की कोई सृष्टि होती है और
न यह धैर्य ही धर पाता है, अकारण ही यह लुट इधर-उधर की बोल पड़ता है और सदा
करवटे बदला करता है। समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय ।

यहाँ ‘सृष्टि के निराकरण’ (रतिपरिहार) आदि अनुभाव ऐसे हैं जो करण रस में
भी सभवे हैं और इसलिये इनके द्वारा यहाँ का ‘कामिनी’रूप आलम्बन विभाव बड़े
कष्ट से पता चल पाता है (जिसमें रसभंग स्पष्ट है) ।

अनुवाद—‘अक्राण्ड अथवा अनवरत में रसवित्तार’, जैसे कि—

वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में, जहाँ महामुण्डर नरसंहार मचा हुआ है, अन्तमय में
ही, दुर्योधन और भानुमती का जो प्रेम प्रकाशन है वह अक्राण्ड में शृङ्गार का विपुल
वर्णन होने से एक महादोष है ।

अनुवाद—‘अक्राण्ड अथवा अनवरत में रसच्छेद’, जैसे कि—

‘महावीरचरित में, जहाँ राम और परशुराम का वीरदर्प उमड़ा पड़ रहा है, राम
का यह कथन कि ‘वे कङ्कणमोचन के लिये जा रहे हैं’ (जिसमें राम के हृदय में उन्माद
के बदले कातर्य का ही भाव प्रतीत हो उठता है और रसमग्न की अवस्था का पहुँचती है) ।

अनुवाद—‘पुन पुन रसदीप्ति’, जैसे कि—

‘कुमारसभवे’ के रतिविलाप का प्रसङ्ग (जहाँ शोक का पौनःपुन्येन आन्वाद
आनन्दामक होने के बदले उद्देगात्मक हो उठता है) ।

अनुवाद—‘रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अङ्क का वह प्रसङ्ग जहाँ कजुकी ‘वाभ्रग्य’ के
आगमन से, वत्सराज उदयन सागरिका को ही मूल जाते हैं ।

(११—प्रकृतरस के अनुपकारक का विस्तृत वर्णन)

अनङ्गस्य कीर्तनं यथा—कर्पूरमञ्जरी राजनायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तस्य वर्णनमनादृत्य बन्धिवर्णितस्य प्रशंसनम् ।

(१२—अङ्गभूत रस-भावादि का अतिविस्तार)

अङ्गस्यातिविस्तृतिर्यथा—किराते सुराङ्गनाविलासादिः ।

(१३—प्रकृतिविपर्यय)

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति । तेषां धीरोदात्तादिता । तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम् । तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः । यथा—धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः । यथा वा—कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगशृङ्गारवर्णनम् । 'इदं पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः ।

(१४—अर्थानौचित्य)

अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम् । तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासम्भवः ।

अनुवाद—'अनङ्गकीर्तन' (प्रकृत रस के अनुपकारक का विस्तृत वर्णन) जैसे कि—'कर्पूरमञ्जरी' (राजशेखरकृत सट्टक-प्रबन्ध) का वह प्रसङ्ग जहाँ दोनों राजनायिकायें स्वयवर्णित वसन्तसौन्दर्य की प्रशंसा के बदले, चारण द्वारा वर्णित वसन्त-सुपमा की प्रशंसा करने में लग जाती हैं ।

अनुवाद—'अङ्ग की अतिविस्तृति' (अङ्गभूत रसभावादि का अति विस्तृत वर्णन) जैसे कि—

'किरातार्जुनीय' में अप्सराओं के राग-रंग का अतिविस्तृत वर्णन (जिससे अर्जुननिष्ठ उत्साह की अभिव्यक्ति में विलम्ब और विघ्न दोनों पड़ते दिखायी देते हैं) ।

अनुवाद—'प्रकृतिविपर्यय' वह रसदोष है जिसे प्रकृति अर्थात् दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य रूप से त्रिविध प्रकृति और इसके धीरोदात्त आदि भेद-प्रभेद और इन भेद-प्रभेदों के भी उत्तम, मध्यम और अधम रूप प्रकार-त्रय के स्वरूप के प्रतिकूल वर्णन में देखा जाया करता है । जैसे कि, धीरोदात्त प्रकृति के राम का, धीरोद्धत प्रकृति के नायक की भौंति, छल से वालि को मारना 'प्रकृतिविपर्यय' नामक रसदोष है । अथवा 'कुमार संभव' में देवश्रेष्ठ पार्वती और परमेश्वर का संभोगशृङ्गार वर्णन, जिसे आचार्य मम्मट ने 'अपने माँ-बाप के सम्भोग-वर्णन की भौंति अत्यन्त अनुचित माना है' 'प्रकृतिविपर्यय' का एक अत्यन्त सुन्दर निदर्शन है ।

अनुवाद—'अन्यविध अनौचित्य' अथवा अर्थानौचित्य वह रसदोष है जिसे देश, काल आदि के अयथोचित वर्णन में देखा जाया करता है । यह इसलिये एक भयङ्कर रसदोष है क्योंकि ऐसे वर्णन से काव्य में असत्यता प्रतीत होने लगती है और सामाजिक, जिन्हें काव्य से शिक्षा लेनी है, ऐसे काव्य के प्रति कदापि आकृष्ट नहीं किये जा सकते ।

विमर्श—औचित्य-निर्वाह के सम्बन्ध में ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धन की यह कारिका यहाँ स्मरण रखने योग्य है—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसमङ्गस्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥' (ध्वन्यालोक श्रव्य उद्योत)

(अलङ्कार-दोष : पूर्वनिरूपित दोष-वर्ग में अन्तर्भाव, उपमादिगत दोष 'अनुचितार्थत्व')

एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव संभवः ॥ १५ ॥

एभ्य उक्तदोषेभ्यः । तथाहि—उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमानस्य जाति-
प्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम् ।
क्रमेण यथा—

‘ग्रधामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ।’

‘प्रज्वलजलधारावन्निपतन्ति शरास्तव ।’

‘चण्डाल इव राजाऽसौ संग्रामेऽधिकसाहसः ।’

‘कर्पूरखण्ड इव राजति चन्द्रविम्बम् ।’

‘हरवन्नीलकण्ठोऽयं विराजति शिखावलः ।’

‘स्तनावद्रिसमानौ ते ।’

अनुवृत्त—जिन दोषों का अब तक निरूपण किया गया उनके अतिरिक्त ‘अलङ्कार-दोष’
की प्राचीन आलङ्कारिक-सम्मत मान्यता निरर्थक है ।

यहाँ कारिका के ‘एभ्यः’ का अभिप्राय ‘उपर्युक्त दोषों’ का अभिप्राय है । तात्पर्य यह है
कि प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा माने गये उपमालङ्कार में ‘असादृश्य’ और ‘असंभव’ उपमान
में जातिगत किंवा प्रमाणगत ‘न्यूनत्व’ तथा ‘आधिक्य’ तथा ‘अर्थान्तरन्यास’ में उत्प्रेक्षित
अर्थ का ‘यथाकथञ्चित् समर्थन’ आदि जो अलङ्कारगत दोष हैं वे सब के सब ‘अनुचितार्थ-
त्व’ दोष में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । जैसे कि क्रमश—

‘मैं ऐसे काव्य-चन्द्र की रचना में लगा हूँ जिसकी अर्थ-रश्मियाँ चतुर्दिक् फैला करें ।’

[यहा उपमालङ्कार में ‘असादृश्य’ अथवा साधारण धर्म की अप्रसिद्धि के कारण
सादृश्याभाव का जो दोष है वह वस्तुतः ‘अनुचितार्थत्व’ ही है ।]

‘तुम्हारे बाण ऐसे निकल रहे हैं मानों तपे जल की धार हों ।’

[यहा उपमालङ्कार में ‘असंभव’ अर्थात् उपमान की असभावना का जो दोष है
वह भी ‘अनुचितार्थत्व’ रूप ही है ।]

‘यह राजा तो संग्राम में चण्डाल की भाँति महा साहसी दिखायी देता है ।’

[यहा उपमालङ्कार में उपमान के जातिगत न्यूनत्व का जो दोष है वह वस्तुतः
‘अनुचितार्थत्व’ दोष ही है ।]

‘यह चन्द्रविम्ब कर्पूरखण्ड की भाँति शोभित हो रहा है ।’

[यहाँ उपमालङ्कार में उपमान के प्रमाणगत न्यूनत्व का जो दोष है वह एक प्रकार
का ‘अनुचितार्थत्व’ है ।]

‘यह मयूर महादेव की भाँति नीलकण्ठ है और बड़ा ही सुन्दर लग रहा है ।’

[यहाँ उपमालङ्कार में उपमान के जातिगत आधिक्य का जो दोष है वह ‘अनुचितार्थत्व’
में ही अन्तर्भूत है ।]

‘तेरे स्तन पहाड़ की भाँति हैं ।’

[यहाँ उपमालङ्कार में उपमान के प्रमाणगत आधिक्य का जो दोष है वह ‘अनुचितार्थ-
त्व’ के अतिरिक्त कोई पृथक् दोष नहीं ।]

‘दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव ॥’

एवमादिषूत्रेक्षितार्थस्यासभूततयैव प्रतिभासन स्वरूपमित्यनुचितमेव तत्समर्थनम् ।

(यमक-दोष • अप्रयुक्तत्व)

यमकस्य पादत्रयगतस्याप्रयुक्तत्वं दोषः । यथा—

‘सहसाभिजनैः स्निग्धैः सहसा कुञ्जमन्दिरम् ।

उदिते रजनीनाथे सहसा याति सुन्दरी ।

(उत्प्रेक्षागत दोष अवाचकत्व)

उत्प्रेक्षायां यथाशब्दस्योत्प्रेक्षाद्योतकत्वेऽवाचकत्वम् ।

यथा—

‘एष मूर्तो यथा धर्मः क्षितिपो रक्षति क्षितिम् ।’

(अनुप्रासगत दोष • प्रतिकूलवर्णत्व)

एवमनुप्रासे वृत्तिविरुद्धस्य प्रतिकूलवर्णत्वम् ।

‘यही वह हिमालय है जो मानो सूर्य से डरे हुए और गुफाओं में लुके-छिपे अँधेरे की रक्षा किया करता है । और ऐसा करे भी क्यों नहीं क्योंकि जो बड़े हैं वे शरण में आए छोटों पर भी ममत्व ही रखा करते हैं ।’ (कुमारसम्भव . १ म सर्ग)

यहां अर्थान्तरन्यास में जो उत्प्रेक्षित अर्थ है वह असद्वर्ण है और इसलिये उसका समर्थन भी अनुचित है । इस प्रकार यह अर्थान्तरन्यास-दोष भी ‘अनुचितार्थत्व’ में ही अन्तर्भूत है ।

अनुवाद—‘यमक’ अलङ्कार में ‘पादत्रयवर्तिता’ का जो दोष है वह वस्तुतः ‘अप्रयुक्तत्व’ रूप ही दोष है । जैसे कि—

‘वह सुन्दरी, चन्द्रोदय होने पर, अपने स्निग्ध सखीजन के साथ (स्निग्धैः अभिजनैः सह), हँसती-मुस्कराती (सहसा = हसेन हास्येन सह इति सहसा) बिना कुछ सोचे-विचारे (सहसा) कुञ्ज-मन्दिर की ओर चल पड़ी है ।’

यहाँ यमक में ‘पादत्रयवर्तिता’ का दोष है क्योंकि अलङ्कारिकों का सिद्धांत है कि ‘यमक त्रिपात् (पादत्रययुक्त) नहीं होना चाहिये’ (यमक तु विधातव्यं न कदाचिदपि त्रिपात्) । किन्तु यह यमक-दोष वस्तुतः ‘अप्रयुक्तत्व’ में ही अन्तर्भूत दिखायी देता है क्योंकि जब कि पादत्रयवर्ती यमक प्रयोग-योग्य नहीं तब उसका घन्ध ‘अप्रयुक्तत्व’ दोष से ही दूषित माना जायगा ।

अनुवाद—‘उत्प्रेक्षा-अलङ्कार’ में ‘उत्प्रेक्षण अथवा समावन के अर्थ में, (सादृश्यार्थक) ‘यथा’ शब्द के प्रयोग में जो दोष माना गया है वह ‘अवाचकत्व’ रूप ही दोष है । जैसे कि—

‘यह राजा मानो शरीर-धारी धर्म होकर पृथ्वी की रक्षा करता है ।’

यहां ‘यथा’ के प्रयोग में जो उत्प्रेक्षा-दोष है (क्योंकि सादृश्यबोधक ‘यथा’ शब्द से उत्प्रेक्षा का अभिप्राय अभिव्यक्त नहीं हो पाता) वह ‘अवाचकत्व’ में अन्तर्भूत है ।

अनुवाद—‘अनुप्रास’ में ‘वृत्तिविरोध’ का दोष ‘प्रतिकूलवर्णत्व’ में अन्तर्भूत समझना चाहिये । जैसे कि—

यथा—

‘ओवट्टइ उल्लट्टइ—’ इत्यादौ ।

(उपमागत दोष : अधिक पदत्व, न्यूनपदत्व)

उपमायां च साधारणधर्मस्याधिकन्यूनत्वयोरधिकपदत्वं न्यूनपदत्वं च ।

* क्रमेणोदाहरणम्—

‘नयनज्योतिषा भाति शंभुभूतिसितद्युतिः ।

विद्युतेव शरन्मेषो नीलवारिदत्तखण्डधृक् ॥’

अत्र भगवतो नीलकण्ठत्वस्याप्रतिपादनाच्चतुर्थपादोऽधिकः ।

‘कमलालिङ्गितस्वारहारहारी नुर द्विषन् ।

विद्युद्विभूषितो नीलजीमूत इव राजते ॥’

अत्रोपमानस्य सत्रलाकत्वं वाच्यम् ।

(उपमागत दोष : भग्नप्रज्ञानत्व)

अत्यमेवोपमानोपनेययोलिङ्गवचनभेदस्य कालपुटविविध्यादिभेदस्य च भग्नप्रक्रमत्वम् ।

‘ओवट्टइ उल्लट्टइ’ आदि ।

यहां, शृङ्गार रस की साधुप्राप्त रचना में, लोजोगुण के समित्युक्त वर्गों की जो योजना है, जिसे प्राचीन कालकारिक ‘वृत्तिविरोध’ माना करते हैं, उसमें ‘प्रतिदूतवर्णच’ रूप ही दोष दिखायी देता है ।

अनुवाद—‘उपमालङ्कार’ में ‘धर्माधिक्यत्व’ और ‘धर्मन्यूनत्व’ के जो दोष माने गये हैं वे वस्तुतः ‘अधिकपदत्व’ और ‘न्यूनपदत्व’ में ही सम्मर्त हैं । जैसे कि क्रमशः—

‘नमस्तस्मिन्नायं से शुभ्रकान्तिवाले महादेव शङ्कर अपने मालओवन में ऐसे शोभायमान हुआ करते हैं जैसे नीलनेत्र के दुकड़े से युक्त ‘शरत्कालीन शुभ्र नेत्र विद्युत्प्रकाश में शोभायमान लगा करता है ।’

यहां उपमालङ्कार में साधारण धर्मगत ‘अधिक्य’ का दोष है क्योंकि (उपमेयमूत) महादेव शङ्कर के लिये ‘नीलकण्ठ धारण’ का साधारण धर्म प्रतिपादित नहीं । और (उपमान रूप) शरन्मेष में ‘नीलवारिदत्तखण्ड धारण’ का धर्म प्रतिपादित है । यहां इस प्रकार ‘नीलवारिदत्तखण्डधृक्’ यह चतुर्थ चरण ‘अधिकपदत्व’ दोष से दूषित है ।

‘लक्ष्मी’ से आलङ्गित तथा मनोहर मुक्ताहार से सुशोभित सुरजिह्व भगवान् विष्णु विद्युत् से विभूषित नीलनेत्र की भांति सुन्दर लगा करते हैं ।

यहां जो ‘उपमालङ्कार’ है उसमें ‘धर्मन्यूनत्व’ का दोष है क्योंकि जैसे (उपमेयमूत) भगवान् विष्णु के लिये ‘मुक्ताहार धारण’ का धर्म प्रतिपादित है वैसे ही (उपमानमूत) नीलनेत्र के लिये भी बलाका अथवा ‘वक्रपत्ति योग’ का धर्म प्रतिपादित होना चाहिये था । किन्तु यह ‘धर्मन्यूनत्व’ वस्तुतः ‘न्यूनपदत्व’ दोष में ही गन्तव्य नमस्ता जना चाहिये ।

अनुवाद—‘उपमालङ्कार’ में ही (प्राचीन कालकारिकों द्वारा मान्य) जो अन्य अलङ्कार दोष जैसे कि उपमान और उपमेय में ‘भिरलङ्घ्य’, ‘भिरवचन्य’, ‘कालभेद’,

क्रमेणोदाहरणम्—

‘सुधेव विमलश्चन्द्रः ।’

‘ज्योत्स्ना इव सिता कीर्तिः ।’

‘काप्यभिख्या तयोरासीद्ब्रजतोः शुद्धवेपयोः ।

हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥’

अत्र तथाभूतचित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीत् । अपि तु सर्वदापि भवति ।

‘लतेव राजसे तन्वि !’

अत्र लता राजते, त्वं तु राजसे ।

‘चिर जीवतु ते सूनुमार्कण्डेयमुनिर्यथा ।’

अत्र मार्कण्डेयमुनिर्जीवत्येव, न खल्वेतदस्य ‘जीवतु’ इत्यनेन विधेयम् ।

इह तु यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि न साधारणधर्मस्यान्यथाभावस्तत्र न दोषः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘मुखं चन्द्र इवाभाति ।’

‘पुरुषभेद’, ‘विभक्तिभेद’ आदि-आदि हैं वे अन्ततोगत्वा ‘भग्नप्रक्रमत्व’ में अन्तर्भूत दिखायी देते हैं । क्रमशः उदाहरण के लिये—

‘वह चन्द्रमा सुधा की भाँति निर्मल है ।’

[यहाँ ‘उपमा’ में उपमानगत जो ‘लिङ्गभेद’ है वह ‘प्रक्रमभेद’ रूप ही दोष है ।]

‘ज्योत्स्नाओं की भाँति शुभ्र कीर्ति ।’

[यहाँ ‘उपमा’ में उपमानगत ‘वचनभेद’ का दोष एक प्रकार का ‘प्रक्रमभेद’ रूप ही दोष है ।]

‘शुद्ध वेश में महर्षि वसिष्ठ के तपोवन के प्रति एकसाथ प्रस्थानोन्मुख महारानी सुदक्षिणा और महाराज दिलीप की वही शोभा हुई जो कि हिमनिर्मुक्त चित्रा और चन्द्रमा की हुआ करती है । (रघुवश १म सर्ग) ।’

यहाँ ‘उपमा’ में ‘कालभेद’ का जो दोष है क्योंकि उपमेयभूत सुदक्षिणा और दिलीप की शोभा तो अतीत से संबद्ध है जब कि उपमानभूत चित्रा और चन्द्रमा की शोभा प्रतिवर्ष की वस्तु है, वह ‘प्रक्रमभेद’ का ही रूपान्तर है ।

‘अरी सुन्दरी ! तुम तो लता की भाँति सुन्दर हो ।’

यहाँ उपमा में ‘पुरुषभेद’ का जो दोष है क्योंकि ‘लता सुन्दर है’ और ‘तुम सुन्दर हो’ कहने में पुरुषव्यत्यय स्पष्ट है वह ‘प्रक्रमभेद’ के अतिरिक्त और कोई अलङ्कारदोष नहीं ।

‘तेरा पुत्र मार्कण्डेय मुनि की भाँति चिरजीवी होवे ।’

[यहाँ ‘उपमा’ में ‘विधिभेद’ का जो दोष है क्योंकि मार्कण्डेय मुनि तो सदा चिरजीवी हैं और इसलिये उनके लिये चिरजीवन (‘जीवतु’) की विधेयता असङ्गत है, वह वस्तुतः ‘प्रक्रमभेद’ रूप ही दोष है ।]

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि जहाँ उपमा में लिङ्ग और वचन का भेद होने पर भी साधारण धर्म में कोई वैषम्य नहीं उत्पन्न हुआ करता वहाँ ‘भग्न प्रक्रमत्व’ का दोष नहीं लगा करता । जैसे कि क्रमशः—

‘मुख चन्द्रमा की भाँति चमक रहा है ।’

‘तद्वेशोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।

दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥’

पूर्वोदाहरणेषु उपमानोपमेययोरैकस्यैव साधारणधर्मणान्वयसिद्धेः प्रकान्त-
स्यार्थस्य स्फुटोऽनिर्वाहः ।

(अनुप्रासगत दोष - अप्रुष्टार्थत्व)

एवमनुप्रासे वैफल्यस्यापुष्टार्थत्वम् ।

यथा—‘अनुरागणन्मणिनेखलनविरलशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।

परितरणमरुणचरणे । रणरणकमकारणं कुस्ते ॥’

[यहाँ उपमेयभूत ‘सुख’ और उपमानभूत ‘चन्द्र’ में लिङ्गभेद स्पष्ट है किन्तु ‘आभाति’ का साधारण धर्म दोनों में समानरूप से अनुगत है । इसलिये यहाँ ‘प्रक्रमभेद’ की कोई सम्भावना नहीं ।]

(‘मधुरताभृत’) नाद्युपमेय किंवा (अन्याभिः स्त्रीभिरसदृशः तद्वेष) और त्रियों से विलक्षण उत्त सुन्दरी का वेश बैठे ही अनिवर्चनीयरूप से सुन्दर लगता है जैसे (मधुरताभृत) मधुरता से भरे तथा (अन्याभिः स्त्रीभिरसदृशः) और त्रियों से विलक्षण लगने वाले (तदीया विभ्रमा) उसके हावभाव अनिवर्चनीय रूप से सुन्दर लगा करते हैं ।’

[यहाँ ‘उपमा’ में, उपमान और उपमेय के ‘वचनभेद’ का दोष स्पष्ट है, क्योंकि ‘मधुरताभृत’, ‘असदृश’ और ‘दधते’ तो उपमेय में एकवचनान्त रूप से सबद्ध होते हैं किन्तु उपमान में बहुवचनान्त रूप से । किन्तु यहाँ ‘प्रक्रमभेद’ इसलिये नहीं क्योंकि ये साधारणधर्मबोधक पद अपने स्वरूप को अङ्गुण बनाये हुये ही उपमान और उपमेय में अनुगत हो जाते हैं ।]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वोद्धृत (‘नयनज्योतिषा’ आदि से लेकर ‘नार्कण्डेय-
मुनिर्यथा’ तक की) उदाहरण—चर्किजों में ‘मत्तप्रक्रमत्व’ क्यों माना गया है । बात यह है कि उनमें, उपमेय और उपमान में से केवल एक ही साधारण धर्म से सबद्ध हो पाता है और इस प्रकार प्रकान्त अर्थ (उपमान और उपमेय में साधर्म्य की अनुगति) का निर्वाह नहीं हो पाता और जबकि प्रकान्त अर्थ का निर्वाह न हो तब तो ‘प्रक्रमभेद’ का मानना अनिवार्य ही है ।

बुवाड—‘अनुप्रास में (वस्तुतः शब्दालङ्कार में) ‘वैफल्य’ बतवा ‘वैयर्थ्य’ का जो दोष माना गया है वह एक प्रकार का ‘अपुष्टार्थत्व’ है । जैसे कि—

‘बरी लाल कमल की भाँति लाल चरणवाली । क्या बात है कि नगिनेखला की विपुल ध्वनि तथा निरन्तर ध्वनित मञ्जीर की मोहक ललझन से सुशोभित, तेरा यह इतस्ततः सचरण, सकारण ही सुझने रणरगक (कामचिन्ता) उत्पन्न किया करता है ।’

[यहाँ जो अनुप्रास है उसमें प्रकृत रस की कोई उत्कर्षाघायकता नहीं । नगिनेखला के रगन के लिये ‘अनयु’, मञ्जु मञ्जीर के लिये ‘वविरलशिञ्जान’ आदि-आदि पद केवल अनुप्रास-बन्ध के लिये उपन्यस्त हैं । इस प्रकार अनुप्रास का यह दोष ‘अपुष्टार्थत्व’ का ही एक रूपान्तर प्रतीत हो रहा है ।]

(समासोक्ति तथा अर्थान्तरन्यासगत दोष : पुनरुक्तत्व)

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषणवशात्परार्थस्य प्रतीतावपि पुनस्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशंसायां व्यञ्जनयैव प्रस्तुतार्थावगतेः शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधत वपुः सुखमतापकरम् ।

निरकासयद्रविमपेतवसु वियदालयादपरदिग्गणिका ॥’

अत्रापरदिगित्येतावतैव तस्या गणिकात्वं प्रतीयते ।

‘आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते

मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्घत्ते मणीनां धुरम् ।

खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां

धिकसामान्यमचेतसं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥’

अत्राचेतसः प्रभोरभिधानमनुचितम् ।

अनुवाद—इसी भाँति ‘समासोक्ति’ में, जहाँ साधारण विशेषण के सामर्थ्य से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्वाभाविक है, पुनः शब्दतः प्रतीयमान अर्थ के अभिधान के कारण अथवा ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ में, जहाँ व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ का बोध समभव है, पुनः शब्दतः प्रस्तुत अर्थ के अभिधान के कारण, जो ‘अलङ्कारदोष’ हो सकता है वह वस्तुतः ‘पुनरुक्तत्व’ (पौनरुक्त्य) रूप ही दोष समझा जाना चाहिये । उदाहरण के लिये, क्रमशः—

‘पश्चिम दिशा रूप गणिका ने अनुराग युक्त (लाल) और नेत्रों के लिये सुखकर और शीतल भी सूर्य को ‘अपेतवसु’ (किरणरहित और निर्धन) समझकर गगनालय से ही बाहर निकाल दिया ।’

यहाँ (शिशुपालवध : ९म सर्ग की सूक्ति) समासोक्ति में ‘अपरदिक्’ पद से ही ‘वेर्या’ का व्यङ्ग्यार्थ निकल सकता है किन्तु ‘गणिका’ पद के द्वारा उसे जो पुनः प्रतिपादित किया गया है उसके कारण यहाँ ‘पुनरुक्तत्व’ का दोष आ लगा है ।

इसी प्रकार ‘जब पक्षियों को घुलाओ तो मच्छड़ भी अपने को विहङ्गम जाति का मान कर उनके साथ दौड़ पड़ता है, जब मणियों का लेखा-जोखा करो तो तृणमणि भी, मणि जाति का होने के कारण, उनके बीच स्थान पा जाता है; जब ज्योतिर्मय पदार्थों की गणना करो तो खद्योत (जुगनू) भी अपने आप को ज्योतिर्मय जाति का पदार्थ मानकर पहुँच जाते हैं । धिक्कार है किसी विवेकशून्य किंवा मूर्ख राजा की भाँति उस ‘सामान्य’ (जातिमात्र) को जो कहीं भी स्वरूपतारतम्य नहीं देखा करता’ ।

यहाँ (महदशतक की इस सूक्ति में) ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ में व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति समभव है । किन्तु ‘अचेतसं प्रभुम्’ इस शब्दोपादान से इसे पुनः अभिहित करके अलङ्कार-दोष से दूषित कर दिया गया है । किन्तु यह अलङ्कार-दोष भी वस्तुतः एक प्रकार का ‘पुनरुक्तत्व’ (पौनरुक्त्य) दोष ही है ।

(अनुप्रासगत अन्य दोष : ख्यातिविरुद्धत्व)

एवमनुप्रासे प्रसिद्धयभावस्य ख्यातिविरुद्धत्वम् ।

यथा—

‘चक्राधिष्ठितां चक्री गोत्रं गोत्रमिदुच्छ्रितम् ।

वृष वृषभकेतुश्च प्रायच्छन्नस्य भूभुजः ॥’

(उपर्युक्त दोष अनित्यत्वव्यवस्था, ‘दुःश्रवत्व’ की अनित्यता)

उक्तदोषाणां च कचिददोषत्वं कचिद्गुणत्वमित्याह—

वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।

रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥ १६ ॥

एषु चास्वादस्वरूपविशेषात्मकतया मुख्यगुणप्रकर्षोपकारित्वाद्गुण इति व्यपदेशो भाक्तः ।

क्रमेण यथा—

‘तद्विच्छेदकृशस्य कण्ठलुठितप्राणस्य मे निर्दयं

क्रूरः पञ्चशरः शरैरतिशितैर्भिन्दन्मनो निर्भरम् ।

शन्भोर्भूतकृपाविधेयमनसः प्रोद्दामनेत्रानल-

ज्वालाजालकरालितः पुनरसावास्ता समस्तात्मना ॥’

अनुवाद—अनुप्रास में ‘प्रसिद्धयभाव’ का जो दोष माना गया है उसे ‘ख्यातिविरुद्धत्व’

में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये । जैसे कि—

‘ये ही वे महाराज हैं जिन्हें चक्रधारी विष्णु भगवान् ने चक्रवर्तित्व दिया है, गोत्रमिदु इन्द्र भगवान् ने वश दिया है और वृषभकेतु महादेव शक्र ने धर्म दिया है ।’

यहाँ (चक्राधिष्ठिता चक्री आदि में) अनुप्रास के आवेश में कवि ने ऐसी बातों का उल्लेख कर दिया है जो पुराणादि के द्वारा प्रमाणित नहीं । यह ‘अनुप्रास-दोष’ ख्याति-विरुद्धत्व का ही एक रूपान्तर है ।

अनुवाद—उपर्युक्त दोष कैसे कहीं दोष नहीं लगते और कहीं गुण सरीखे लगा करते हैं इसका विचार किया जा रहा है—

सर्वप्रथम ‘दुःश्रवत्व’ दोष ऐसा है जो कि वक्ता के क्रोधावेश, वर्ण्य विषय के औद्धत्य तथा रौद्र आदि रसभाव के अभिव्यञ्जन में वस्तुतः गुण का ही कार्य किया करता है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त परिस्थितिओं में ‘दुःश्रवत्व’ दोष को ‘गुण’ कहने में उपचार का आश्रय लिया गया है । बात यह है कि वैसे तो ओज, माधुर्य आदि गुण आनन्दानुभवात्मक रसभाव के स्वरूपविशेष हैं किन्तु उपर्युक्त परिस्थितिओं में ‘दुःश्रवत्व’ आदि के द्वारा रसभाव के समुत्कर्ष और रसधर्मभूत ओज आदि मुख्य गुणों के अभिव्यञ्जन में साहाय्य के कारण यदि ‘दुःश्रवत्व’ आदि को ‘गुण’ कहा गया तो आपत्ति क्या ?

उदाहरण के लिये क्रमशः —

‘उसके विरह में दीन-होन और वस्तुतः कण्ठागतप्राण मेरे हृदय पर, निर्दयतापूर्वक, तीक्ष्ण बाणों से प्रहार करनेवाला यह क्रूर पञ्चशर काम, क्या ही अच्छा होता यदि,

अत्र शृङ्गारे कुपितो वक्ता ।

‘मूर्धन्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो-

दधूताम्भःक्षोददम्भात्प्रसभमभिनभःक्षिप्रनक्षत्रलक्षम् ।

ऊर्ध्वन्यस्ताडिद्भदण्डभ्रमिभररभसोद्यन्नभस्वत्प्रवेग-

भ्रान्तब्रह्माण्डखण्डं प्रवितरतु शिवं शाम्भवं ताण्डवं वः ॥’

अत्रोद्धतताण्डवं वाच्यम् । इमे पद्ये मम ।

रौद्रादिरसत्वं एतद्द्वितयापेक्षयापि दुःश्रवत्वमत्यन्तं गुणः ।

यथा—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्—’ इत्यादि ।

अत्र बीभत्सो रसः ।

(अश्लीलत्व की अनित्यत्व-व्यवस्था)

सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः ।

तथा पुनरिति गुण एव ।

जीवदया के वशवद भगवान् शङ्कर के प्रचण्ड नेत्रानल की ज्वालाओं में पुनः पूर्णरूप से भस्मसाव हो जाता ।’

यहाँ इस शृङ्गाररसमयी सूक्ति में ‘जो दुःश्रवत्व’ है वह वस्तुतः गुण का कार्य कर रहा है । कारण यह है कि यहाँ जो वक्ता है वह काम के प्रति मोधावेश से भरा हुआ है और इसलिये उसके मन चोभ के प्रकाशक कर्णकटु वर्ण खटकते नहीं अपितु अच्छे ही लगते हैं ।

और

‘भगवान् शङ्कर का वह ताण्डव, जिसमें उनके जटाजूट में चक्कर काटने वाली और अमन्द निधवान से भरी सुरनदी की तुमुलतरङ्ग-मालाओं से छिटकते जलकणों के वहाने लाखों लाख नक्षत्र गगन-मण्डल की ओर फेंके जाते दिखायी पड़ा करते हैं और जिसमें उनके ऊपर उठे चरण के इतस्ततः वेगपूर्वक नचाने से उत्पन्न प्रबल प्रभञ्जन के झोंकों के साथ समस्त ब्रह्माण्ड नाचता सा लगा करता है, आप सबका सदा कल्याण करता रहे ।’

यहाँ जो वर्ण्य विषय है अर्थात् ‘ताण्डव’ वह एक औद्धत्यपूर्ण विषय है और इसलिये यहाँ जो भी ‘दुःश्रवत्व’ है वह गुण का ही कार्य करता दिखायी दे रहा है ।

ये उपर्युक्त सूक्तियाँ स्वरचित सूक्तियाँ हैं ।

रौद्र आदि दीप्त रसों में ‘दुःश्रवत्व’ वस्तुतः उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों की अपेक्षा कहीं अधिक गुण सा लगा करता है । जैसे कि (महाकवि-भवभूति रचित ‘मालतीमाधव’ की सूक्ति)—

‘उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्’ आदि । यहाँ जो अभिव्यङ्ग्य रस है वह ‘बीभत्स’ है और यह निर्विवाद है कि यहाँ का ‘दुःश्रवत्व’ रसाभिव्यङ्गक हो रहा है ।

अनुवाद—‘अश्लीलत्व’ दोष भी काम-गोष्ठी आदि की परिस्थिति में दोष के बदले गुण का ही कार्य किया करता है ।

यहाँ (कारिका में) ‘तथा पुनः’ (पुनः उसी प्रकार होने) का अभिप्राय ‘गुणवत् होने’ का अभिप्राय है । जैसे कि—

यथा—

‘करिहस्तेन संवाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।

उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥’

अत्र हि सुरतारन्मगोष्ठ्याम्—

‘ताम्बूलदानविधिना वित्तजेद्वयस्यां

द्वयैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु’ इति कामशास्त्रस्थितिः ।

आदिशब्दाच्छ्रमकथाप्रभृतिषु बोद्धव्यम् ।

(निहतार्थत्व-अप्रयुक्तत्व अनित्यत्वनियम)

स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्ताते ॥ १७ ॥

यथा—

‘पर्वतभेदि पवित्र जैत्र नरकस्य बहुमत गहनम् ।

हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदन्म पतन्नमत ॥’

‘जब कि घमासान युद्ध में घुसकर गजराज की सूँड रास्ता बना दे, तब वीर योद्धा का विजय-ध्वज सेना के बीच पहुँच कर बड़ा भव्य दृश्य उपस्थित किया करता है ।’

[यहाँ अनिव्यङ्ग्य अश्लील अर्थ यह है—‘जब कि ‘करिहस्त’ (अर्थात् तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलिजों द्वारा योनि-शैथिल्य के लिये बनाये गये, मुद्राविशेष) के द्वारा ‘संवाध’ (योनि) में प्रवेश पाकर और उसे अच्छी तरह विलोडित करके पुरुष का ‘ध्वज’ (लिङ्ग) ‘साधन’ (योनि) के भीतर शरवार आया-जाया करता है तो सचमुच बड़ा आनन्द आता है ।]

यहाँ जो भी ‘अश्लीलत्व’ है वह ‘गुण’ हो रहा है क्योंकि यह उक्ति काल-गोष्ठी से सम्बद्ध है और काम-शास्त्र की यह नयाँदा है कि ‘सखी को पान आदि देकर बाहर भेज दिया जाय और गोपनीय कामवार्ता द्वयर्थक पदों द्वारा ही प्रकाशित की जाय’ ।

यहाँ कारिका में ‘आदि’ पद इसीलिये प्रयुक्त है जिसमें ‘कामगोष्ठी’ की भाँति ‘शमगोष्ठी’ आदि का भी ग्रहण कर लिया जाय ।

अनुवाद—‘निहतार्थत्व’ और ‘अप्रयुक्तत्व’ दोष भी श्लेष आदि के प्रसङ्गों में दोष नहीं समझे जाते । जैसे कि—

‘सुरनदी के उस पवित्र जल-प्रपात को नमस्कार है जो कि ‘हरिमिव हरिमिव हरिमिव’ विष्णु और इन्द्र और दुर्गावाहन सिंह की भाँति ‘पर्वतभेदि’—हिमालय को विदीर्ण कर प्रवाहित हुआ है । ‘पवित्रम्’ परम पावन है, ‘नरकस्य जैत्रम्’—पाप सत्ताप का नाशक है और ‘गहनम्’ अचिन्त्य प्रताप वाला है ।’

[विष्णुपञ्च में—‘पर्वतभेदि पवित्रम्’—पर्वतों के विदारक वज्र ने गोहूल के रक्षक, ‘नरकस्य जैत्रम्’—नरकासुर के संहारक, ‘बहुमतम्’—नर्वृष्ट्य, ‘गहनम्’—अचिन्तनीय महिमावाले । इन्द्रपञ्च में—‘पर्वतभेदि पवित्रम्’—पहाड़ों के पंगव काटनेवाले, पवि अथवा वज्र से देवों की रक्षा करने वाले, ‘जैत्रम्’—मर्वत्र विजयी, ‘नरकस्य बहुमतम्’ दयापात्र नानव के पूज्य, ‘गहनम्’—दुर्जेय । निहपञ्च में—‘पर्वतभेदि पवित्रम्’—पहाड़ों की गुफा में रहने वाले और अपनी वासभूमि के स्वयं एकमात्र रक्षक, ‘नरकस्य जैत्रम्’ दुर्बल मानव को तुच्छ समझने वाले, ‘बहुमत गहनम्’ अनेकानेक गजराजों के संहारक ।]

अत्रेन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहतार्थः। सिंहपक्षे मतङ्गशब्दो मातङ्गार्थेऽप्रयुक्त
(अप्रतीतत्व : अनित्यता-नियम)

गुणः स्यादप्रतीतत्वं इत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ।

यथा—

‘त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।

त्वदर्शनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥’

स्वयं वापि परामर्श—

अप्रतीतत्वं गुण इत्यनुषज्यते ।

यथा—

‘युक्तः कलाभिस्तमसां विवृद्धयै क्षीणश्च तामिः क्षतये य एषाम् ।

शुद्धं निरालम्बपदावलम्बं तमात्मचन्द्रं परिशीलयामि ॥’

यहाँ ‘पवित्र’ पद इन्द्रपक्ष में ‘निहतार्थ’ है (क्योंकि इसका लोकप्रसिद्ध अर्थ ‘पाव है, ‘पवि’ अथवा ‘वज्र’ से रक्षक नहीं)। साथ ही साथ ‘मतङ्ग’ पद, सिंहपक्ष में ‘अप्रयुक्त’ है क्योंकि यहाँ ‘मातङ्ग’ पद ही प्रयुक्त होता है। किन्तु यहाँ श्लेष का प्रसंग होने ‘निहतार्थत्व’ और ‘अप्रयुक्तत्व’ के दोनों दोष दोष नहीं प्रतीत होते।

अनुवाद—‘अप्रतीतत्व’ दोष वहाँ गुण की भाँति रहता करता है जहाँ वक्ता और वा (श्रोता) दोनों विषय के समक्षनेवाले हुआ करते हैं। जैसे कि (कुमारसम्भवः रथः स की सूक्ति) —

‘हे देवाधिदेव ! आप ही वह प्रकृति हैं जिससे पुरुषार्थचतुष्टय का प्रवर्तन हुआ कर है। हे शङ्कर ! आप ही वह पुरुष हैं जो द्रष्टामात्र रहा करता है और सदा अनासकृतस्य, चित्तस्थ है।’

[यहाँ ‘प्रकृति’, ‘पुरुष’ आदि-आदि पद के प्रयोग में ‘अप्रतीतत्व’ की आशङ्का इ लिये नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहाँ महाकवि ने ऐसे वक्ता (अर्थात् देवचन्द्र) और श्रोता (अर्थात् महादेव शङ्कर) की उद्भावना की है जो सर्वज्ञ हैं।]

यह ‘अप्रतीतत्व’ वहाँ भी गुण सा ही लगा करता है जहाँ कोई विज्ञाता वक्ता कि दुर्बोध वस्तु-परामर्श में निरत प्रतीत हुआ करता है।

[यहाँ ‘स्वयं वापि परामर्श’ के साथ ‘अप्रतीतत्व गुणः’ का, जोकि कारिका पूर्वचरण में है, अनुपपन्न अथवा सबन्ध समक्ष लेना चाहिये। जैसे कि—

‘मैं उस अपूर्व, निष्फल किंवा निरालम्ब आत्म-चन्द्र का चिन्तन करता हूँ जो अविद्यात्मक कार्यकलाप के संचालन के लिये अपनी मायाविभूति-रूपी कलाओं से ढो जाता है और इन अविद्यात्मक कार्यकलापों के संहार के लिये, अपनी मायाविभू से रहित होकर, परब्रह्मरूप से अवस्थित हो जाता है।’

[यहाँ जब कि वक्ता वेदान्त रहस्य से परिचित है और स्वयं तत्त्व-पर्यालोचन निरत है तब ‘अप्रतीतत्व’ की क्या संभावना? यहाँ औरों को प्रतीत होने वाला ‘अप्रतीतत्व’ वस्तुतः गुणरूप ही लग रहा है।]

(कथितपदत्व : अनित्यत्व-अवस्था)

—कथितं च पदं पुनः ॥ १८ ॥

विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।

दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥ १९ ॥

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।

गुण इत्येव ।

यथा—

‘उदेति सविता तान्न’— इत्यादि ।

अत्र विहितानुवादः ।

‘हन्त ! हन्त ! गतः कान्तो वसन्ते सखि ! नागतः ।’

अत्र विषादः ।

‘चित्रं चित्रमनाकाशे कथं सुमुखि ! चन्द्रमा ।’

अत्र विस्मयः ।

‘सुनयने नयने निवेदि’ इति ।

अत्र लाटानुप्रासः ।

‘नयने तत्त्यैव नयने च ।’

अनुवाद—जिसने ‘कथितपदत्व’ दोष कहा करते हैं वह निम्न परिस्थितियों में गुण-सा लगा करता है ।

(१) विहित लयवा दृश्य के प्रतिनिर्देश में, (२) विषाद में, (३) विस्मय में, (४) क्रोध में, (५) दौन्ता में, (६) लाटानुप्रास में, (७) अनुकम्पा में, (८) किसी के प्रसादन = प्रसन्न करने में, (९) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्व में, (१०) हर्ष में और (११) अवधारण लयवा विषय-निश्चय में ।

यहाँ पूर्वकारिका से ‘गुण’ पद की अनुवृत्ति का रहस्य है जिससे यह समिप्राय निकलता है कि ‘कथितपदत्व’ गुण हो जाता है । जैसेकि—

‘उदेति सविता तान्न’ (सूर्य टाल-टाल ही उगता है) आदि, यहाँ उद्देश्य का प्रतिनिर्देश करना है इसलिये ‘तान्न एवास्तनेति च’ में ‘तान्न’ पद में ‘कथितपदत्व’ दोष नहीं ।

‘लोह ! वसन्त वा गयो, लोह ! कान्त न जाये ।’

यहाँ विषाद के कारण ‘हन्त ! हन्त !’ आदि पदों में ‘कथितपदत्व’ दोष नहीं बन्ति गुण है ।

‘लरे ! लरे ! बिना आकाश के यह चन्द्रमा कहाँ से निकल पड़ा ।’

यहाँ विस्मय के कारण ‘चित्रं चित्रम्’ आदि में कथितपदत्व गुण का कार्य कर रहा है ।

‘लरी सुनयने ! लयने नयने तो इधर कर ।’

यहाँ लाटानुप्रास के कारण ‘नयने नयने’ में ‘कथितपदत्व’ गुण सा सुंदर लग रहा है ।

‘तली के नयन नयन है ।’

इत्यादावर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः ।

एवमन्यत्रापि ।

(सन्दिग्धत्व : अनित्यता-नियम)

‘सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ॥ २० ॥

गुण इत्येव यथा—

‘पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।

विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥’

(कष्टत्व : गुणव्यवस्था)

वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तारि ।

कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा—

गुण इत्येव ।

यहाँ ‘अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि’ में ‘नयने-नयने’ में प्रतीत होनेवाला ‘ध्वनि-पदत्व’ दोष नहीं अपितु गुण है । इसी भाँति अन्य प्रसङ्गों में ‘कथितपदत्व’ की गुण-स्वरूप देखी जा सकती है ।

अनुवाद—‘सन्दिग्धत्व’ दोष भी गुण हो जाता है यदि वह व्याजस्तुति में समाप्त यहाँ भी पूर्वकारिका से ‘गुणः’ की अनुवृत्ति आ रही है ।

उदाहरण के लिये—

‘महाराज ! इस समय तो हमारा और आपका भवत एक समान ही है—‘पृथुस्वरपात्रम्’ (राजपक्ष में) पृथुनि बृहन्ति कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि, भाजन यत्र—अनेकानेक स्वर्ण-पात्रों से विभूषित; (याचक-पक्ष में) पृथुकानां शिशूनां आस्य क्षुत्पिपासाध्वने पात्र स्थानम्—भूख-प्यास से चीखते-बिलबिलाते बाल-ध्वनि करुण ध्वनि से भरा, ‘भूषितनिःशेषपरिजनम्’ (राजपक्ष में) भूषिता रत्ना निःशेषा सर्वे परिजनाः सेवकाः यत्र—रत्नालकृत अनुचर-परिचरों से भरपूर; (याचक-पक्ष में) भुवि स्थण्डिले उपिताः आसनाद्यभावात् स्थिताः निःशेषा समग्राः परिजनाः पुत्रादयः यत्र—पृथ्वी पर झूँट उधर लोट लगानेवाले लोगों से भरभूर; ‘विलसत्करेणुग’ (राज-पक्ष में) विलसन्तीभिः करेणुभिः गहनम्—सुंदर-सुंदर हथिनियों से सुशोभित (याचक-पक्ष में) विलसत्का विलवर्तिनः मूषकादयस्तेषां रेणुभिर्गहनम्—बिल में चूहों की धूल से भूसर !’

यहाँ ‘सन्दिग्धत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘पृथुकार्तस्वरपात्रम्’ आदि का अर्थ-निर्णय हो पाता । किन्तु इस उक्ति के व्याजस्तुतिरूप होने से यह ‘सन्दिग्धत्व’ दोष के बंधन से लगा करता है ।

अनुवाद—‘कष्टत्व’ तथा ‘दुःश्रवत्व’ भी गुण हो जाया करते हैं यदि वक्ता और श्रोता वैयाकरण होने का अभिमान रखने वाले हों ।

यहाँ भी ‘गुणः’ की अनुवृत्ति है । उदाहरण के लिये—

यथा—

‘दीधीवेवीदत्तम्. कश्चिद्गुणवृद्धयोरभाजनम् ।

क्विप्रत्ययनिभः कश्चिच्चत्र सन्निहिते न ते ॥’

अत्रार्थः कष्टः । वैयाकरणश्च वक्ता । एवमस्य प्रतिपाद्यत्वेऽपि ।

‘अत्रात्मार्षनुपाध्याय त्वानहं न कदाचन ।’

अत्र दुःश्रवत्वम् । वैयाकरणो वाच्यः । एवमस्य वक्तृत्वेऽपि ।

(ग्राम्यत्व - अनित्यत्व-व्यवस्था)

—ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ॥ २१ ॥

गुण इत्येव । यथा सम—

‘यहाँ कुछ लोग तो ऐसे हैं जो ‘दीधीड’ और ‘वेवीड’ धातुओं के समान न तो गुण (दया दाक्षिण्य और ‘अदेड् गुण’ से परिभाषित गुण) के भाजन हैं और न वृद्धि (धन-सन्वृद्धि और ‘वृद्धिरेचि’ से परिभाषित वृद्धि) के ही । साथ ही साथ कुछ ऐसे भी हैं जो क्विप्रत्यय की भाँति सर्वलुप्त हैं और जिनके सम्पर्क में जाने से औरों को भी गुण और वृद्धि का सौभाग्य नहीं मिल पाता ।’

यहाँ जो अर्थ है वह बड़ा कष्टगन्ध है किन्तु यह सब ‘कष्ट’ इसलिये गुणवत् प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ का वक्ता एक वैयाकरण है और अपने शास्त्र शास्त्रिण्य के प्रदर्शन का इच्छुक है ।

इसी भाँति यह ‘कष्ट’ वहाँ भी गुण ही समझा जायगा जहाँ श्रोता वैयाकरण हो और अपने व्याकरण-शास्त्रिण्य का अभिमान रखता हो ।

इसी प्रकार—

‘इस विषय में मैंने कभी भी अपने उपाध्याय को स्मरण करने का कष्ट नहीं किया ।’

यहाँ ‘स्मरणम्’ आदि में ‘दुःश्रव’ है किन्तु यहाँ के श्रोता के वैयाकरण होने से इसे दोष न मानकर, गुण ही माना जायगा । इसी प्रकार यह ‘दुःश्रव’ वहाँ भी गुण ही होगा जहाँ वक्ता वैयाकरण हो ।

विमर्श—शेखरचरित्र से कष्ट की उल्लेख के उदाहरण में काचप्रकाशकर ने यह सूक्ति उद्धृत की थी—

‘यदा त्वानन्तमत्र पदविद्याविशारदम् ।

उपाध्याय तदास्त्वार्य समस्त्राच स समदम् ॥

जिसे सन्निधिराज ने टोडरौदर ‘दुःश्रव’ की उल्लेख के उदाहरण में उद्धृत किया है । किन्तु सबों ने यह दिना नहीं है कि सन्निधिराज के उदाहरण में ‘दुःश्रव’ का आशयनाश करने से मिले मूल स्वरूप बदल नहीं है ।

बहुवाद—जिसे ‘ग्राम्यत्व’ दोष कहा गया है वह, लघन लघवा लघु लोगों की उक्ति में, गुण सा ही लगा करता है ।

यहाँ भी पूर्वकारिका ने ‘गुण’ पद अनुवृत्त है ।

उदाहरण के लिये, यह स्वरचित सूक्ति—

‘एसो ससहरबिम्बो दीसइ हेअङ्गवीणपिण्डो व्व ।

एदे अस्ससमोहा पडन्ति आसासु दुद्धधार-व्व ॥’

[एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।

पते चाशुभमूहा. पतन्त्याशासु दुग्धधारा इव ॥]

इयं विदूषकोक्तिः ।

(‘निर्हेतुत्व’ की गुण व्यवस्था)

निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति ।

यथा—‘संप्रति संध्यासमयश्चक्रद्वन्द्वानि विघटयति ।’

(‘ख्यातिविरुद्धत्व’ की गुणव्यवस्था, ‘कविसमय-कीर्तन’)

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता ॥ २२ ॥

कविसमयख्यातानि च—

मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्याः

रक्तौ च क्रोधरागौ ; सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।

तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसङ्घो

ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥ २३ ॥

पादाघातादशोकं विकसति वकुलं योषितामास्यमघै-

र्युनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।

‘चन्द्रमा का यह बिम्ब ऐसा लगता है जैसे मक्खन का गोला हो और उसकी ये किरणें चारों ओर ऐसी छिटक रही हैं मानों दूध की धारायें हों ।’

यहाँ जो ‘ग्राम्यत्व’ है, वह, इसके वक्ता के विदूषक होने के कारण, गुण का कार्य कर रहा है ।

अनुवाद—‘निर्हेतुत्व’ दोष वहाँ दोष नहीं माना जाया करता जहाँ वर्ण्य विषय लोक-प्रसिद्ध हुआ करता है । जैसे कि—

‘इस समय यह संध्याकाल चक्रवाक-मिथुन को अलग-अलग करता प्रतीत हो रहा है ।’

यहाँ संध्या के समय चक्रवाक-मिथुन के परस्पर विघटन की बात वस्तुतः लोक-प्रसिद्ध बात है । इसलिये यहाँ जो भी ‘निर्हेतुत्व’ है वह खटकता नहीं ।

अनुवाद—जिसे ‘ख्यातिविरुद्धत्व’ का दोष कहा गया है, वह, कवि-समय-प्रसिद्धि के कारण, कहीं, गुण का ही कार्य किया करता है ।

यहाँ कवि-समय-प्रसिद्धि में इनकी गणना है—

‘आकाश और पाप में कृष्णवर्णता, यश, हास और कीर्ति में शुभ्रवर्णता, क्रोध और अनुराग में रक्तवर्णता, श्वेत और नील कमल का नदी-समुद्रादि में अस्तित्व, समस्त वर्ती जलाशयों में कलहंस किंवा चक्रवाक आदि का अवस्थान, चकोर पक्षी के द्वारा का का पान, वर्षाकाल में हंसों का मानसरोवर के प्रति प्रस्थान, रमणिओं के पाद-से अशोक में फूल खिलना और उनके मुखोच्छिष्ट मद्य से वकुल का विकसित

मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-

भिन्नं स्यादस्य वाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥ २४ ॥

अह्वयम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे

मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।

न स्याज्जाती वसन्ते; न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-

मित्याद्युन्नेयमन्यत्कविसमयगतं सत्कवीनां प्रवन्धे ॥ २५ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु स्पष्टानि ।

होना, युवक और युवती के भङ्गों में मुक्ताहार, वियोग में सताप से हृदय का विदीर्ण हो जाना, कामदेव की प्रत्यञ्चा के रूप में अमर-पक्ति, काम के धनुष और वाण के रूप में पुष्प, काम-वाण और नारी-कटाक्ष से युवा प्रेमियों के हृदय का विदीर्ण होना, दिन में कमल का खिलना, रात में कुमुद का विकसित होना, शुक्लपक्ष में ही चाँदनी का छिटकना, मेघ-भार्जन के समय मयूरों का नाच उठना, अशोक में फल का अभाव, वसन्त में मालती का न खिलना, चन्दन में फूल और फल का न होना और इसी भाँति काव्य-साहित्य में उपलब्ध कवि समय अथवा कवि-सम्प्रदाय की चित्र विचित्र घातें ।

इनके उदाहरण काव्य-प्रवन्धों में यत्र-तत्र स्वयं हूँदे जा सकते हैं ।

विमर्श—‘कविसमय’ क्या है ? इसकी भीमात्ता महाकवि राजशेखर के शब्दों में यह है—

‘अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायात् यमर्थमुपनिवधन्ति कवयः’ स कविसमयः ।
‘नन्वेप दोष कथङ्कार पुनरुपनिबन्धनार्ह’ इति आचार्या । ‘कविमार्गानुग्राही कथमेप. दोष ?
इति यायावरीयः ।’

अर्थात् ‘कविसमय’ वस्तुतः ऐसे काव्य-वर्णित अर्थ का नाम है जो कि अशास्त्रीय किंवा अलौकिक होने पर भी कविपरम्परा के द्वारा काव्य साहित्य में उपनिबद्ध किया जाया करता है । अशास्त्रीय और अलौकिक होने पर भी इस अर्थप्रकार का उपनिबन्ध दोषावह नहीं क्योंकि इसका कार्य काव्य-मार्ग को प्रशस्त करना है ।

यह ‘कविसमय’ तीन प्रकार का है—१. असत् का उपनिबन्ध, २ सत् का अनिवन्ध और ३ पदार्थ नियम । महाकवि राजशेखर के अनुसार इस त्रिविध कविसमय का यह अन्विष्ट है—

‘तत्र सामान्यस्यासतो निबन्धनम्—यथा नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हसादयः, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकञ्च । नदीष्वस्मानि यथा—

‘दीर्घोर्कुर्वन् पटु मदकल कूजित सारसाना
प्रत्यूपेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकपाय’ ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमग्नानुकूल
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकार ॥’

सतोऽप्यनिबन्धनम्—तद् यथा—न मालती वसन्ते, न पुष्पफल चन्दनद्रुमेषु, न फलमशोकेषु ।

अनेकत्र प्रवृत्तवृत्तीनामेकत्राचरण नियम, तद् यथा समुद्रेष्वेव मकरा, तान्नपण्यामेव मौक्तिकानि ।

('पुनरुक्तत्व' की अदोषता)

धनुर्ज्यादिषु शब्देषु शब्दास्तु धनुरादयः ।

आरूढत्वादिवोधाय—

यथा—'पूरिते रोदसी ध्वनैर्धनुर्ज्यास्फालनोद्भवैः ।'

अत्र ज्याशब्देनापि गतार्थत्वे धनुःशब्देन ज्याया धनुज्यायत्तीकरणं बोध्यते ।

असतोऽपि द्रव्यस्य निवन्धनम्—मुष्टिग्राह्यत्वं सूचिभेद्यत्वं च तमसः, कुम्भापवाह्यत्वं च ज्योत्स्नायाः ।

द्रव्यस्य सतोऽनिवन्धनम्, तद्यथा—कृष्णपत्रे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः, शुक्लपत्रे त्वन्धकारस्य ।

द्रव्यनियमः, तद्यथा—मलय एव चन्दनस्थानम्, हिमवानेव भूर्जोत्पत्तिस्थानम् । असतोऽपि क्रियार्थस्य निवन्धनम्, यथा—चक्रवाकमिथुनस्य निशि भिन्नतटाश्रयणम्, चकोराणां चन्द्रिकापानञ्च ।

सतोऽपि क्रियार्थस्यानिवन्धनम्, तद्यथा—दिवा नीलोत्पलानामविकासः, निशा निमित्तश्च शेफालिकाकुसुमानामविस्रसः ।

असतो गुणस्य निवन्धनम्, यथा—यशोहासप्रभृतेः शौक्ल्यम्, अयशसः पापप्रभृतेष्व कृष्णत्वम् ।

सतोऽपि गुणस्यानिवन्धनम्, यथा—कुन्दकुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वम्, कमलमुकुलप्रभृतेष्व हरितत्वम्, प्रियङ्गुपुष्पाणां च पीतत्वम् ।

गुणनियमस्तु तद्यथा—सामान्योपादाने माणिक्यानां शोणता, पुष्पाणां शुक्लता, मेघानां कृष्णता च ।

कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोरेकत्वेन निवन्धनं च कविसमयः ।' (काव्यमीमांसा अध्याय १४, १५)

संस्कृत काव्य-साहित्य का एक अर्थ-प्रकार, 'कविसमय' के रूप में, प्रायः सभी कवियों द्वारा उपनिबद्ध हुआ है । महाकवि राजशेखर की निम्न उक्ति से यह अनुमान किया जा सकता है कि सर्वप्रथम 'कविसमय' का निर्धारण राजशेखर का ही किया हुआ है—

'सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः ।

स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथाबुद्धिं विवोधितः ॥'

(काव्यमीमांसा, १६ अध्याय)

अनुवाद—कतिपय पदों में 'पुनरुक्तत्व' दोष नहीं माना जाता । जैसे कि 'ज्या' (धनुष की प्रत्यञ्चा) आदि के बदले 'धनुर्ज्या' आदि प्रयुक्त किये जा सकते हैं जिनके अभिप्राय धनुष पर चढ़ाई प्रत्यञ्चा आदि निकलते हैं (न कि केवल धनुष की प्रत्यञ्चा आदि जो कि 'ज्या' आदि के अभिप्राय हैं) ।

उदाहरण के लिये—

'(धनुर्ज्या) धनुष पर चढ़ी प्रत्यञ्चा के आस्फालन से उत्पन्न ध्वनियों से पृथ्वी और आकाश दोनों भर गये ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि केवल 'ज्या' पद के प्रयोग से भी 'धनुर्ज्या' का अभिप्राय निकल सकता था किन्तु 'धनुर्ज्या' कहने से 'धनुष पर चढ़ी अथवा चढ़ाई प्रत्यञ्चा का' विशेष अभिप्राय निकल रहा है जो कि यहाँ वस्तुतः विवक्षित है ।

आदिशब्दात्—

‘भाति कर्णावतंसस्ते ।’

अत्र कर्णस्थितत्वबोधनाय कर्णशब्दः । एव श्रवणकुण्डलशिरःशेखर-
प्रभृतिः । एवं निरुपपदो मालाशब्दः पुष्पस्रजनेवाभिधत्त इति स्थितावपि ‘पुष्प-
, माला विभाति ते ।’ अत्र पुष्पशब्द उक्तपुष्पबुद्धयै ।

एव ‘मुक्ताहार’ इत्यत्र मुक्ताशब्देनान्यरत्नामिश्रितत्वम् ।

—प्रयोक्तव्याः स्थिता अमी ॥ २६ ॥

धनुर्ज्यादयः सत्काव्यस्थिता एव निबद्धव्याः, न त्वस्थिता जघनकाञ्ची-
करकङ्कणादयः ।

(न्यूनपदत्व की श्रद्धा)

उक्तावानन्दमन्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः ।

यथा—

‘गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा

यहाँ (धनुर्ज्यादिषु न) ‘आदि’ पद का प्रयोग इसलिये किया गया है जिसमें अन्य
पुनरुक्तत्व प्रतीत होने वाले पदों में भी पुनरुक्त का परिहार समझ लिया जाय ।

जैसे कि—

‘तेरा कर्णावतंस बड़ा सुन्दर लग रहा है ।’

यहाँ केवल ‘अवतंस’ शब्द से ही ‘कर्णावतंस’ का अभिप्राय निकल सकता था किन्तु
‘कान्त में पहने कनकूल’ के विशेष अभिप्राय के अवबोधनार्थ ‘कर्ण’ शब्द का भी प्रयोग
किया गया है । इसी प्रकार ‘श्रवणकुण्डल’, ‘शिरःशेखर’ प्रभृति पदों में भी, इन इन
झट्टों में अवस्थिति के अवबोध के लिये, ‘श्रवण’ और ‘शिरस्’ आदि पदों का प्रयोग
निर्दुष्ट माना जायगा ।

इसी प्रकार बिना किसी उपपद के प्रयुक्त ‘माला’ शब्द में भी पुष्पहार (फूल की
माला) का अर्थ निकल सकता है किन्तु ‘तेरा पुष्पमाञ्ज बड़ी सुन्दर लग रही है’ आदि
प्रयोगों में ‘पुष्प’ पद के योग से सुन्दर-सुन्दर फूलों की गुयी माला का विशेष अभिप्राय
प्रकाशित किया जाया करता है ।

इसी प्रकार ‘हार’ के बदले ‘मुक्ताहार’ के प्रयोग से ‘अन्य रत्नों से अनिश्रित मौक्तिक
के हार’ का विशेष अभिप्राय प्रकाशित किया जाया करता है ।

किन्तु इन उपर्युक्त पुनरुक्तत्व प्रतीत होने वाले पदों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना
चाहिये कि इनमें से उन्हीं का प्रयोग दोषावह नहीं जो कि काव्य-प्रबन्धों में यत्र-उत्र
प्रयुक्त हो चुके हैं ।

जैसे कि ‘धनुर्ज्या’ आदि पद काव्य प्रबन्धों में यत्र-उत्र प्रयुक्त हैं और इनके प्रयोग में
कोई आपत्ति नहीं । किन्तु ‘जघनकाञ्ची’, ‘करकङ्कण’ आदि का प्रयोग ठीक नहीं क्योंकि
काव्य-प्रबन्धों में इन्हें प्रयुक्त नहीं किया गया ।

बुनाव—‘न्यूनपदत्व’ दोष भी वहाँ गुण ही हो जाया करता है जहाँ आनन्द में
विनोद अथवा शोकाकुल लोगों की उक्ति का उपनिन्द्य हो । जैसे कि—

‘गाढालिङ्गन से दूरे हुए स्तनोंवाली, वानन्द के रोमाञ्च से भरी, सान्द्र स्नेहस के

सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।

मा मा मानः । माति मामलमिति क्षमाक्षरोल्लापिनी

सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥'

अत्र पीडयेति न्यूनम् ।

क्वचिन्न दोषो न गुणः—

न्यूनपदत्वमित्येव । यथा—

'तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति

स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावाद्रमस्या मनः ।

तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं

सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्जातेति कोऽयं विधिः ॥'

अत्र प्रभावपिहितेति भवेदिति चेत्यनन्तरं 'नैतद्यतः' इति पदानि न्यूनानि ।

एषां पदानां न्यूनतायामप्येतद्वाक्यव्यङ्ग्यस्य वितर्काख्यव्यभिचारिभावस्योत्कर्षाकरणान्न गुणः । 'दीर्घं न से'त्यादिवाक्यजन्यया च प्रतिपत्त्या तिष्ठेदित्यादिवाक्यप्रतिपत्तेर्बाधः स्फुटमेवावभासत इति न दोषः ।

आधिक्य से नितम्ब को अनाघृत कर देनेवाली, 'अरे ! वस, वस करो, अब नहीं' इत्यादि अक्षरों को अस्फुट स्वन से निकालती, यह सुन्दरी, पता नहीं, सो गयी है या मर गयी है या मेरे मन में वस गयी है या हृदय में घुल-मिल गयी है ।'

यहाँ 'न्यूनपदत्व' प्रतीत ही है क्योंकि 'माम्' के बाद 'पीडय' पद, जो कि प्रयुक्त होना चाहिये, छोड़ दिया गया है । किन्तु यह सब इसलिये 'न्यूनपदत्व' नहीं क्योंकि आनन्दातिरेक में इतना ही पर्याप्त है और इसी से रसातिरेक का अनुभव सम्भव है ।

कहीं-कहीं पर ऐसा भी होता है कि 'न्यूनपदत्व' न तो दोष सा लगे और न गुण सा ही ।

यहाँ, 'क्वचिन्न दोषो न गुणः' आदि में 'न्यूनपदत्वम्' पद की आवृत्ति है । उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' की यह सूक्ति) ।

'क्या ऐसा तो नहीं कि मेरी प्रिया उर्वशी, प्रणय-क्रोष के कारण, अपनी अन्तर्धान विद्या के प्रभाव से, अन्तर्हित हो गयी ? किन्तु इतनी देर तक तो वह कभी क्रुद्ध नहीं हुई । क्या ऐसा तो नहीं कि वह स्वर्गलोक में उड़ कर चली गयी ? किन्तु मुझे तो वह हृदय से चाहती है । क्या ऐसा तो नहीं कि असुर उसे चुरा ले गये ? किन्तु मेरे रहते भला असुर उसे कैसे चुरा सके ! कहीं भी वह दिखाई नहीं पड़ती ! यह सब क्या हो गया ! क्या हो रहा है !'

यहाँ भी 'न्यूनपदत्व' है क्योंकि (प्रथम चरण में) 'प्रभावपिहिता' और (द्वितीय चरण में) 'भवेत्' पदों के बाद 'नैतद्यतः' (ऐसी बात नहीं, क्योंकि) पद की न्यूनता प्रतीत हो रही है । किन्तु इन पदों की यह न्यूनता यहाँ 'गुण' का कार्य इसलिये नहीं कर रही है क्योंकि इसके द्वारा, इस समस्त वाक्य में व्यङ्ग्य 'वितर्क'रूप व्यभिचारी भाव का कोई विशेष परिपोष नहीं प्रतीत होता । इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह 'न्यूनपदत्व' यहाँ दोष है । वस्तुतः यह 'न्यूनपदत्व' यहाँ दोष भी नहीं क्योंकि 'दीर्घं न सा कुप्यति' आदि प्रतिचरणगत उत्तरार्ध वाक्य के अर्थसामर्थ्य से ही 'तिष्ठेत् कोपवशात्

(अधिकपदत्व की अदोषता)

—गुणः क्वाऽप्यधिकं पदम् ॥ २७ ॥

यथा—

‘आचरति दुर्जनो यत्सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।
तत्र न जाने जाने स्पृशति मनः किं तु नैव निष्ठुरताम् ॥’

अत्र ‘न न जान’ इत्ययोगव्यवच्छेदे ।

द्वितीये ‘जान’ इत्यनेन नाहमेव जाने इत्यन्ययोगव्यवच्छेदाद्विच्छित्ति-विशेषः ।

(समाप्तपुनरात्तत्त्व की अदोषता)

समाप्तपुनरात्तत्त्वं न दोषो न गुणः क्वचित् ।

यथा—‘अन्यास्ता गुणरत्न-’ इत्यादि ।

अत्र प्रथमार्धेन वाक्यसमाप्तावपि द्वितीयार्धवाक्यं पुनरुपात्तम् ।

एवं च विशेषणमात्रस्य पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्त्व न वाक्यान्तरस्येति विज्ञेयम् ।

प्रभावपिहिता’ आदि प्रतिचरणगत पूर्वार्द्ध वाक्य के अभिप्राय का निराकरण स्पष्ट प्रतीत हो रहा है जिसके लिये ‘नैतद्यतः’ पद की न्यूनता कोई न्यूनता नहीं प्रतीत होती ।

अनुवाद—कहीं-कहीं ‘अधिकपदत्व’ गुणवत् प्रतीत हुआ करता है । जैसे कि—

‘यह बात कि ‘दुष्ट मनुष्य अकस्मात् कुछ ऐसे कार्य कर डालते हैं जिन्हें कोई सोच भी न सके’ ऐसी नहीं कि मैं न जानता होऊँ किन्तु कुछ प्रतिकार इसलिए नहीं करता क्योंकि मेरे हृदय में निष्ठुरता का भाव उत्पन्न ही नहीं होता ।’

यहाँ ‘अधिकपदत्व’ प्रतीत होता है क्योंकि ‘न न जाने’ में ‘न’ अधिक है । किन्तु यह ‘अधिकपदत्व’ यहाँ गुण का ही कार्य कर रहा है क्योंकि इससे वक्ता के साथ, प्रस्तुत दुर्जन पुरुष के आचरण के ज्ञान का जो ‘अयोग’-असंवन्ध-हो सकता था उसका व्यवच्छेद अथवा निवारण किया जा रहा है (अयोगव्यवच्छेद) जिससे ‘अह जाने एव’ का विशेष अभिप्राय अभिव्यक्त हो उठता है ।

इसी प्रकार ‘जाने जाने’ में दूसरी बार प्रयुक्त ‘जाने’ पद अधिक प्रतीत होता है किन्तु यह ‘अधिकपदत्व’ गुण सा ही लग रहा है क्योंकि इसके द्वारा ‘अहमेव जाने’ (मैं ही जानता हूँ, कोई दूसरा क्या जानेगा) का एक सुन्दर अभिप्राय प्रकाशित हो जाता है जिसमें ‘अन्ययोगव्यवच्छेद’ (वक्ता के अतिरिक्त अन्य लोगों में प्रस्तुत दुर्जन पुरुष के दुराचरण के ज्ञान के निराकरण) का मर्म अन्तर्निहित है ।

अनुवाद—कहीं-कहीं ‘समाप्तपुनरात्तत्त्व’ न तो दोष सा लगता है और न गुण सा ही । जैसे कि—

‘अन्यास्ता गुणरत्नरोहणमुक्ता’ आदि सूक्ति में ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रथमार्ध में ही वाक्य समाप्त हो चुका है किन्तु ‘ध्रीमत्कान्ति-जुषाम्’ आदि द्वितीयार्ध वाक्य के रूप में पुन उपात्त है । किन्तु तब भी यहाँ ‘समाप्त-पुनरात्तत्त्व’ कोई दोष नहीं क्योंकि यहाँ विशेषणमात्र का पुनः उपादान नहीं अपितु साक्षात् वाक्य का पुन उपादान है । ‘समाप्तपुनरात्तत्त्व’ तो विशेषणमात्र के उपादान में

(गर्भितत्व की अदोषता)

गर्भितत्वं गुणः कापि—

यथा—

‘दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते

सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।

विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो

यस्मात्प्रादुरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम् ॥’

अत्र वदन्त एवेत्यादि वाक्यं वाक्यान्तरप्रवेशात् चमत्कारातिशयं पुष्पाति’

(पतत्प्रकर्षत्व की अदोषता)

—पतत्प्रकर्षता तथा ॥ २८ ॥

तथेति क्वचित् गुणः । यथा—‘चञ्चद्भुज—’ इत्यादि ।

अत्र चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया शब्दादम्बरत्यागो गुणः ।

(रसगत दोषों की अनित्यत्वव्यवस्था)

क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः ।

अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता ॥ २९ ॥

सम्भव था । यहाँ इसे गुण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके पुनः उपादान से को चमत्कार-विशेष भी यहाँ उत्पन्न नहीं होता ।

अनुवाद—‘गर्भितत्व’ दोष भी कहीं-कहीं गुण सा लगा करता है । जैसे कि—

‘उस पृथ्वी को जीता जाता है जिसकी चारों सीमायें चारों दिग्गजों तक पहुँचा कर हैं । और ‘वह पृथ्वी जीत ली गयी’ कहते हुये जब लोग रोमाञ्चित हो उठते हैं तो उन ब्राह्मण को दान में दे दिया जाता है । हम तो, वस, यह अद्भुत कथा जिनसे उत्पन्न हु और जिनके साथ अस्त हो गयी, उन अद्वितीय दानवीर परशुराम के आगे हा जोड़े खड़े हैं ।’

यहाँ ‘गर्भितत्व’ है क्योंकि ‘वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत’ यह वाक्य ‘दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते, सिद्धा साऽपि विप्राय प्रतिपाद्यते’ इ वाक्य के बीच में घुसा पड़ा है । किन्तु तब भी इसे यहाँ गुण ही माना जायगा क्योंकि इसी के द्वारा विस्मय-चमत्कार का यहाँ अधिकाधिक परिपोष किया जा रहा है जो सर्वथा अपेक्षित है ।

अनुवाद—इसी प्रकार ‘पतत्प्रकर्षत्व’ भी कहीं-कहीं गुण हो जाता है ।

यहाँ, ‘पतत्प्रकर्षता तथा’ में ‘तथा’ से ‘पतत्प्रकर्षत्व’ के गुण होने का अभिप्राय लिखा गया है । जैसे कि—

‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ आदि पूर्वोद्धृत वेणीसंहार-सूक्ति ।

यहाँ चतुर्थ चरण (उत्तसयिष्यति कचास्तव देवि भीमः) में शब्दादम्बर का परित्याग है, जिसमें पतत्प्रकर्षत्व स्पष्ट है, वह गुणवत् प्रतीत हो रहा है क्योंकि इससे या का कोमल भाव सुदरता से अभिव्यक्त हो उठता है ।

अनुवाद—कहीं-कहीं पर, व्यभिचारिभाव का, उसके वाचक पद द्वारा अभिधान दोष नहीं हुआ करता, यदि, वहाँ अनुभाव तथा विभाव की योजना में कोई औचित्य न हो

यत्रानुभावविभावमुखेन प्रतिपादने विशदप्रतीतिर्नास्ति, यत्र च विभावानुभावकृतपुष्टिरहित्यमेवानुगुणं तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्देनोक्तौ न दोषः ।

यथा—

‘औत्सुक्येन कृतत्वरं सहस्रं वा व्यावर्तमाना हिंया

तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्य पुनः ।

दृष्ट्वाप्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे

सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥’

अत्रौत्सुक्यस्य त्वारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने सङ्गमे न ऋदिति प्रतीतिः। त्वाराया भयादिनापि सम्भवात् । ह्योऽनुभावस्य च व्यावर्तमानस्य कोपादिना सम्भवात् । साध्वसहासयोस्तु विभावादिपरिपोषस्य प्रकृतरसप्रतिकूलप्रायत्वादित्येषा स्वशब्दाभिधानमेव न्याय्यम् ।

सञ्चार्यादेविरुद्धस्य वाध्यत्वेन वचो गुणः ।

तात्पर्य यह है कि जबकि अनुभाव और विभाव की योजना से किसी व्यभिचारी भाव की विशद प्रतीति न हो सके अथवा जब कि विभाव और अनुभाव के द्वारा परिपोष न पाना ही किसी रसभाव के चमत्कार के लिये अधिक उपयुक्त हो जाय तब वाचक पद ने उस व्यभिचारी भाव का अभिधान दोष नहीं माना जा सकता । जैसे कि (रत्नावली की यह लुकि)—

‘प्रियतम शिव के साथ नवमिलन में उत्सुकता से शीघ्र चल पड़ने वाली किन्तु स्वाभाविकलज्जा से पुनः लौट पड़ने में लगी, उन-उन मखी-तहेलियों के कड़ने-सुनने से नानने लायी गयी किन्तु महादेव को वर के रूप में देखते ही भय के वशीभूत दन्ता और हँसने प्रियतम के द्वारा आलिंगन में वैधी तथा आनन्द से रोमाञ्चित वह देवी पार्वती आप नयना कल्याण करें ।’

यहाँ ‘व्यभिचारिभावों का स्वशब्दोपादान दोष नहीं क्योंकि यदि ‘औत्सुक्य’ रूप व्यभिचारी भाव को सत्वर गमन के अनुभाव द्वारा प्रतिपादित किया गया होता तो प्रेम-मिलन में औत्सुक्य की अविलम्ब प्रतीति न हो पाती । इसका कारण यह है कि सत्वर गमन भय अथवा हर्ष से भी सम्भव है औत्सुक्य ने ही क्यों ? (किन्तु यहाँ तो ‘औत्सुक्य’ की ही अभिव्यञ्जना अभिप्रेत है जोकि इसी पद के उपादान में सम्भव है) इसी प्रकार ‘ही’ (लज्जा) की विशद अभिव्यक्ति के लिये इसके वाचक पद का ही प्रयोग उचित है क्योंकि ‘व्यावर्तन’ (लौट पड़ने) के अनुभाव द्वारा इसका प्रकाशन सम्भव है । व्यावर्तन के अनुभाव का सवन्ध केवल लज्जा से ही नहीं अपितु कोप अथवा भय से भी है और इसी के निराकरण के लिये यहाँ ही’ (लज्जा) पद प्रयुक्त किया गया है ।

इसी प्रकार ‘साध्वन’ और ‘हास’ के भाव भी अपने वाचक पदों द्वारा ही यहाँ प्रतिपादित हैं और इसी में औचित्य है क्योंकि यदि विभाव आदि के द्वारा इन भावों का परिपोष किया गया होता तब तो ये सब यहाँ के शृङ्गाररस के प्रतिकूल में लगने (क्योंकि भयानक और हास्य रस के स्थायीभावों का प्रकाशन-प्रपञ्च शृङ्गार के प्रतिकूल ही पड़ेगा अनुसृत नहीं) ।

इसी प्रकार जहाँ विरुद्ध रस भाव के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की

यथा—

‘काकार्यं शशलक्ष्मणः क च कुलम्—’ इत्यादि ।

अत्र प्रशमाङ्गानां वितर्कमतिशङ्काघृतीनामभिलाषाङ्गौत्सुक्यस्मृतिर्दैन्यचिन्ताभिस्तिरस्कारः पर्यन्ते चिन्ताप्रधानमास्वादप्रकर्षमाविर्भावयति ।

विरोधिनोऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा ॥ ३० ॥

भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः ।

क्रमेण यथा—

‘अयं स रशनोत्कर्षी—’ इत्यादि ।

अत्रालम्बनविच्छेदे रतेररसात्मतया स्मर्यमाणानां तदङ्गानां शोकोदीपकतया करुणानुकूलता ।

‘सरागया सुतघनधर्मतोयया कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया ।

मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितोष्ठया रुपा नृपाः प्रियतमयेव भेजिरे ॥’

योजना इस प्रकार की गयी होती है जिसमें वे प्रकृत रस से दवे-दवाये रहा करते हैं तो वहाँ यह ‘विरुद्धविभावादिपरिग्रह’ दोष न होकर गुण ही हुआ करता है । जैसे कि—

‘काकार्यं शशलक्ष्मणः क च कुलम्—’ इत्यादि ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विरुद्धरसभावरूप ‘शम’ के अङ्गभूत वितर्क, मति, शङ्का और घृतिरूप व्यभिचारिभावों की ऐसी योजना की गई है जिसमें ये यहाँ के ‘अभिलाषविप्रलम्भ’ शृंगार के परिपोषक औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य और चिन्ता के व्यभिचारिभावों से दवा दिये गये हैं जिससे अन्त में चिन्ता की धारावाहिकता की अनन्दानुभूति हो उठती है और अधिकाधिक परिपुष्ट विप्रलम्भ का आस्वाद मिल जाता है । इस प्रकार यहाँ ‘विरुद्धविभावादिपरिग्रह’ का दोष गुण का ही कार्य करता प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध रसों के अङ्गों का एकत्र समावेश भी दोष होने के बड़े गुण ही हो जाया करता है यदि निम्न दृष्टिओं से यह विरुद्ध रस योजना हुई हो—

(क) प्रकृत रस के विरोधी रस या भाव का स्मरण-रूप से उपनिबन्ध,

(ख) परस्पर विरुद्ध रस या भाव की साम्य-विवक्षा-पूर्वक योजना और

(ग) एक प्रधान रस के साथ परस्पर विरुद्ध रसों का अङ्गरूप से अभिव्यञ्जन ।

जैसे कि (प्रकृत रस के विरोधी रस या भाव के स्मरण रूप से उपनिबन्ध में रस दोष-परिहार)—

‘अयं स रशनोत्कर्षी’ इत्यादि (महाभारतसूक्ति) ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि रतिभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो रही है क्योंकि इसका आलम्बनविभावरूप नायक भूरिश्रवा मर चुका है किन्तु तब भी इसके अङ्गभूत रशनाकर्षण आदि की ऐसी योजना की हुई है जिसमें ये अतीत की स्मृति के रूप में प्रतीत हो रहे हैं और अन्ततोगत्वा शोक को उद्दीप्त करते हुये यहाँ के करुणरस के ही परिपोषक बने दिखायी दे रहे हैं ।

अथवा

(परस्पर विरुद्ध रस या भाव की साम्यविवक्षा-पूर्वक योजना में रसदोष-परिहार)—

‘सरागया’—राग अर्थात् क्रोध या अनुराग के आवेश में लाल-लाल नेत्रों अथवा, स्नेहाद्र

अत्र सम्भोगशृङ्गारो वर्णनीयवीरव्यभिचारिणः क्रोधस्यानुभावसान्ध्येन विवक्षितः ।

‘एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितप्रायं द्वितीयं पुनः

पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे सम्भोगभावालसम् ।

अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं

शम्भोर्मित्ररस समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥’

अत्र शान्तशृङ्गाररौद्ररसपरिपुष्टा भगवद्विषया रतिः ।

यथा वा—

‘क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्त

गृहन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सभ्रमेण ।

आलिङ्गन् योऽवधूतत्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः

कामीवार्द्रापराधः स बहवु दुर्लभं शास्त्रमवो वः शराग्निः ॥’

नेत्रों वाली, ‘क्षुतघनघर्मतोयया’—‘क्रोध अथवा सत्त्व के वट्टेक से निकले स्वेद-जल से भीगी, ‘कराहतिध्वनितपृथूहपीठया’—अपने या प्रियतम के कराघात से ऊरुदेश पर चोट पड़ने से विह्वल बनी और ‘मुहुर्मुहुर्दशनविलघितोष्ठया’ बार बार जोड़ चबानी या प्रियतम के दशन क्षत में पीड़ित अधर वाली, क्रुद्धतारूपिणी प्रियतमा ने, शिशुपाळ के पक्षवाले सभी राजाओं को अपने वश में कर लिया ।’

यहाँ प्रकृत वीर रस के विरोधी सम्भोगशृङ्गार की योजना है किन्तु यह योजना इस प्रकार की गयी है जिसमें इसके अनुभाव (सरागता आदि) प्रकृत वीररस के व्यभिचारी ‘क्रोध’ के अनुभावों के समान वर्णित हैं। इसलिये यहाँ भी रसदोष की कोई संभावना नहीं ।

अथवा

(एक प्रधान रस के साथ परस्पर विरुद्ध रसों के अङ्गरूप से अभिव्यञ्जन में रसदोष-परिहार)

‘समाधित्य महादेव शङ्कर का वह पहला नेत्र जो कि ध्यान-वन्ध में बन्द सा रहा करता है, वह दूसरा नेत्र जो कि पार्वती के मुल-कमल और उद्यत उरोजों पर प्रणय-भाव रत्ना करता है और वह तीसरा नेत्र जो कि धनुर्धर कामदेव को भस्मीभूत करने वाले क्रोधानल की ज्वालाओं से जला करता है, विविध रसभावों की अनुभूति कराते हुये, आप सब का कल्याण-मङ्गल करता रहे ।’

यहाँ भगवद्विषयक रतिभाव ही मुख्य रूप से अभिव्यङ्ग्य है और इसलिये इसके परिपोषक और इसके साथ अङ्गरूप से अभिव्यङ्ग्य शान्त, शृङ्गार और रौद्ररस किसी प्रकार का पारस्परिक विरोध करते नहीं प्रतीत होते ।

अथवा

‘त्रिपुरान्तक महादेव शङ्कर का वह बाणानल जो कि त्रेसापराधी कामी की भीति, त्रिपुरासुर की विरह निहल सुन्दरियों से क्षिप्त किये जाने पर भी, उनका हाथ पकड़ा करता है, दूर किये जाने पर भी उनके वल्ल के अङ्गल दृष्टा करता है, हटा दिये जाने पर भी उनके केशपाश में हाथ लगाया करता है, मन्त्रमया बलों से परे किये जाने पर भी, उनके पैरों पर ना गिरा करता है और दूर से रोके जाने पर भी उन्हें लालिङ्गन करना चाहता है, आप सबके पाप-सन्ताप का शमन करता रहे ।’

अत्र कविगता भगवद्विषया रतिः प्रधानम् । तस्याः परिपोषकतया भगवत्-
स्त्रिपुरध्वंसं प्रत्युत्साहस्यापरिपुष्टतया रसपदवीमप्राप्ततया भावमात्रस्य करुणोऽ-
ङ्गम् । तस्य च कामीवेतिसाम्यबलादायातः शृङ्गारः ।

एवं चाविश्रान्तिधामतया करुणस्याप्यङ्गतैवेति द्वयोरपि करुणशृङ्गारयोर्भ-
गवदुत्साहपरिपुष्टद्विषयरतिभावास्वादप्रकर्षकतया यौगपद्यसम्भवादङ्गत्वेन न-
विरोधः ।

ननु समूहालम्बनात्मकपूर्णधनानन्दरूपस्य रसस्य तादृशेनेतररसेन कथं
विरोधः सम्भावनीयः ? एकवाक्ये निवेशप्रादुर्भावैर्यौगपद्यविरहेण परस्परोपमर्द-
कत्वानुपपत्तेः । नाप्यङ्गाङ्गिभावः, द्वयोरपि पूर्णतया स्वातन्त्र्येण विश्रान्तेः ।

सत्यमुक्तम् । अत एवात्र प्रधानेतरेषु रसेषु स्वातन्त्र्यविश्रामराहित्यात्पूर्ण-
रसभावमात्राच्च विलक्षणतया संचारिरसनाम्ना व्यपदेशः प्राच्यानाम् ।

अस्मत्पितामहानुजकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादानां तु खण्डरसनाम्ना ।

यहाँ प्रधानरूप से अभिव्यक्त्य जो भाव है वह कविनिष्ठ शिवविषयक रति अथवा
भक्ति का भाव है । इसके परिपोष के लिये जिस विरुद्ध भाव की यहाँ योजना है वह है
त्रिपुरध्वंस में निरत भगवान् शङ्कर के 'उत्साह' का भाव जो कि वीररस के रूप में परिपुष्ट
न हो सकने के कारण भाव रूप में ही रह गया है और जिसके अङ्ग के रूप में करुण रस
का अवभास हो रहा है जो कि वस्तुतः 'कामीव' इस साम्य-विवक्षा से आक्षिप्त शृङ्गार को
अपना अङ्ग बनाये विराजमान है । यह करुण भी यहाँ अन्तिम आस्वाद का विषय नहीं
बन रहा है । और इसीलिये अङ्गरूप से ही यहाँ इसका अनुभव हो रहा है । इस प्रकार
करुण और शृङ्गार दोनों यहाँ भगवन्निष्ठ उत्साहभाव से परिपुष्ट कविनिष्ठ भगवद्-विषयक
रतिभाव के परिपोषक बन रहे हैं और इसलिये इनका सहावस्थान रसदोष का उत्पादक
नहीं अपितु कविनिष्ठ भगवद्-विषयक रतिभाव का अधिकाधिक परिपोषक ही प्रतीत
हो रहा है ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है—जब कि 'रस' विभावादि-वर्ग का सम्बलित निष्पन्द
रूप एक अखण्ड आनन्दात्मक अनुभव है तब इसी प्रकार के दूसरे रसरूप अनुभव से
इसका विरोध क्योंकर सम्भव है ? साथ ही साथ, जब कि इस प्रकार के दो रसरूप
अनुभवों का एक काव्य-वाक्य में निवेश अथवा एक काव्य-वाक्य द्वारा अभिव्यञ्जन एक
समय में असम्भव है तब इनमें परस्पर उपमर्द-उपमर्दक-भाव की क्या सम्भावना हो
सकती है ? इसके अतिरिक्त, जबकि दो रस पूर्णतया अभिव्यक्त हों और स्वतन्त्र रूप से
आनन्दानुभव के विषय बन रहे हों तब उनमें अङ्गाङ्गिभाव भी क्योंकर माना जा सकता है ?

प्रश्न तो ठीक है और वस्तुतः इसीलिये प्राचीन आलङ्कारिक ऐसे प्रसङ्गों पर अप्रधान
तथा व्यङ्ग्य रस को 'सञ्चारी रस' कहा करते हैं क्योंकि उनके अनुसार इस प्रकार का
रस न तो स्वतन्त्र रूप से आस्वाद-विषय हो पाता है और न मुख्य रस की भाँति
पूर्णतया अभिव्यक्त्य ही हो सकता है अपितु अपनी ही सामग्री से परिपुष्ट होकर एक
विलक्षण भाव सा बना रहता है ।

और वस्तुतः इसीलिये हमारे पितामह के अनुज कवि पण्डित-प्रकाण्ड, आचार्य
श्रीचण्डीदास ने इस प्रकार के रस को 'खण्ड रस' कहा है—

यदाहुः—

‘अङ्गं वास्योऽथ संसर्गी यच्चद्वी त्याद्रसान्तरे ।

नास्वाधते समग्रं तत्ततः तण्डरसः स्तूतः ॥’ इति ।

ननु ‘आद्यः करणबीमत्तरौद्रवीरभयानकैः’ इत्युत्पत्त्येन विरोधितोर्वैरमृद्वा-
रणोः कथनेकत्र—

‘कथ्यते जानक्याः करिञ्जलभदन्तद्युतिमुषि

स्तरस्तेरस्मरौद्रमरपुलक उक्त्रकनलम् ।

सुहृं पर्यच्छृण्वन् रजनिचरसेनाकृतकलं

जवान्दुर्प्रस्थिं द्रवयति रघूणां परिकृष्ट ॥’

इत्यादौ सनावेशः । अत्रोच्यते—इह खलु रसानां विरोधिताया अविरोधि-
तायाश्च त्रिधा व्यवस्था । कथोच्चिदातन्वतैश्च्येत, कथोच्चिदाधैक्येन, कथोच्चि-
द्वैरन्तर्द्वयोति । तत्र वैरमृद्धारयोरातन्वतैश्च्येन विरोधः । तथा हास्यरौद्रबीमत्तैः
सन्मोगस्य । वैरकरणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य । (आतन्वतैश्च्येत) आकथ्यै-
क्येन च वैरभयानकयोः । तैरन्तर्यविभावैश्च्यभ्यां शान्तमृद्धारणोः । त्रिधाऽथ

‘वह रम के कि कथने काय में कहे (मुक्त) होने पर भी दूसरे रम का अङ्ग
(उपकारक) बन जाया करता है अथवा विरोधी होने पर भी, प्रहृत रम के साथ,
साम्प्रविद्वन्ना मे, एकत्र सनावेश पा जाता है अथवा बिना विरोध के, स्वप्न रूप में
ही प्रहृत रम में मग्नित्व हो जाता है, जिससे उसका पारंपरिक अस्वप्न नहीं
मिल सकता, ‘तण्डरस’ कहा जाया करता है ।’

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जबकि ‘प्रथम अर्थात् शृङ्गार रम कन-बीमत्तरौद्र-
वीर और भयानक रमों से विलक्ष पड़ता है इन पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार और और
‘शृङ्गार’ में परस्पर विरोध है तब एक कथ्यवाक्य कैसे कि—

‘एक और तो रघुनाथ राम हाथी के दाँव के दोनों की जाँच में पूर्ण अवलंबारे बीम
के सुख-कमल पर कान विह्वल और प्रेम के रेनास डेखने में निरत हैं और दूसरी और
वैराघ्यमेता का कोलहल सुनकर अपने जटानु की गोंद भी दीर्घ रहे हैं ।

इत्यादि में इनका एकत्र सनावेश क्योंका अनुचित नहीं किन्तु इसके समाधान इस
प्रकार किया जा सकता है—

‘दो रमों के विरोध या अविरोध की तीन संभावनाएँ हैं—(१) या तो दोनों का
आलम्बन एक हो (२) या दोनों का आश्रय एक हो (३) या दोनों एक दूसरे के
दाँव बिना व्यवधान के अनित्य रह रहे हों । अब वीर और शृङ्गार का जो विरोध है
उसका कारण उनके आलम्बन का एक होना है । इसी भाँति मन्मोग शृङ्गार के साथ
हास्य, रौद्र और बीमत्त के विरोध का कारण आलम्बन का ऐक्य ही है । यही बात
विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ वीर, करण और रौद्र आदि के विरोध की भी है । आश्रय की
एकता (और आलम्बन की एकता) के कारण जो विरोध सम्भव है वह वीर और
भयानक में देखा जा सकता है । अध्यवहित रूप से एक दूसरे के दाँव अनित्यजन में
और विभावैक्य के कारण शांति और शृङ्गार परस्पर विरुद्ध पड़ते हैं । वीर रम का अङ्गन
और रौद्र में उपर्युक्त दोनों संभावनाओं में अविरोध ही रहा करता है । यही अविरोध
शृङ्गार का वदन्त के साथ वीर भयानक का बीमत्त के भी साथ द्वितीय देना है ।’

विरोधो वीरस्याद्भुतरौद्राभ्याम् । शृङ्गारस्याद्भुतेन भयानकस्य बीभत्सेनेति ।
तेनात्र वीरशृङ्गारयोर्भिन्नालम्बनत्वान्न विरोधः । एवं च वीरस्य नायकनिष्ठ-
त्वेन भयानकस्य प्रतिनायकनिष्ठत्वेन निबन्धे भिन्नाश्रयत्वेन न विरोधः । यश्च
नागानन्दे प्रशमाश्रयस्यापि जीमूतवाहनस्य मलयवत्यनुरागो दर्शितः, तत्र 'अहो
गीतमहो वादित्रम्' इत्यद्भुतस्यान्तरा निवेशनान्नैरन्तर्याभावान्न शान्तशृङ्गार-
योर्विरोधः । एवमन्यदपि ज्ञेयम् । 'पाण्डुक्षामं वदनम्-' इत्यादौ च पाण्डुतादी-
नामङ्गभावः करुणविप्रलम्भेऽपीति न विरोधः ।

(सर्वदोष-प्रतिप्रसवः समस्तदोषों की अनित्यत्वव्यवस्था)

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ॥ ३१ ॥

सर्वेषां दुःश्रवत्वप्रभृतीनाम् ।

यथा—

'एष दुश्च्यवन नौमीत्यादि जल्पति कश्चन ।'

अत्र दुश्च्यवनशब्दोऽप्रयुक्तः ।

अब यदि इस दृष्टि से 'कपोले जानक्या.' आदि काव्य-वाक्य पर विचार किया जाव
तो यह स्पष्ट है कि यहाँ वीर और शृङ्गार में कोई विरोध नहीं क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न
आलम्बन पर अभिव्यक्त हो रहे हैं (अर्थात् शृङ्गार तो सीता रूप आलम्बन पर प्रकाशित
हो रहा है और वीर राक्षस-सैन्य रूप आलम्बन पर)। इसी प्रकार जब कि वीर रस नायक-
निष्ठ रूप से अभिव्यक्त हो और भयानक रस की अभिव्यक्ति प्रतिनायक के आलम्बन पर
हो तब दोनों में आश्रय-भेद के कारण जो भी विरोध है वह हट जाया करता है ।
'नागानन्द' नाटक में जो शम रूप स्थायीभाव के आश्रय (नायक) 'जीमूतवाहन' का
(नायिका) 'मलयवती' के प्रति प्रेमानुराग प्रकाशित है उसमें शान्त और शृङ्गार का
इसलिये कोई विरोध नहीं क्योंकि यहाँ इन दोनों रसों का अव्यवहित अभिव्यक्ति नहीं
है अपितु इनके बीच में 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्' आदि के द्वारा अद्भुत रस का
संचार कर दिया गया है । इसी भाँति अन्यत्र काव्य-नाट्य-प्रबन्ध में अन्य रसों के भी
अविरोध का रहस्य समझा जा सकता है ।

'पाण्डुक्षाम वदनम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में भी 'करुण' और 'करुण विप्रलम्भ' के
अगों का विरोध इसलिये नहीं क्योंकि यहाँ 'पाण्डुता' आदि करुण रस के असाधारण
अनुभाव नहीं अपितु करुण विप्रलम्भ के भी साधारण अनुभाव हैं ।

अनुवाद—इन उपर्युक्त समस्त दोषों का एक अमोघ अपवाद वह है जिसे 'अनुकरण'
कहते हैं । अर्थात् अनुकरण में कोई भी दोष दोष नहीं माना जा सकता । (क्योंकि
अनुकार्य का दोष अनुकरण में दोष नहीं हुआ करता) । जैसे कि—

'यह मैं दुश्च्यवन (इन्द्र) को प्रणाम कर रहा हूँ, ऐसी बात कोई बक झक रहा है ।'

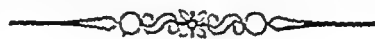
यहाँ 'दुश्च्यवन' शब्द, इन्द्र के अर्थ में अप्रयुक्त होने पर भी, प्रयुक्त किया हुआ है
किन्तु यह 'अप्रयुक्तत्व' यहाँ दोष नहीं क्योंकि यहाँ वक्ता किसी दूसरे की उक्ति का
अनुकरण करते यह सब कह रहा है ।

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।

अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥ ३२ ॥

अनुभवात्मता अदोषगुणता ।

इति साहित्यदर्पणे दोषनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ।



इस उपर्युक्त विचारधारा का अनुसरण करते हुये, औचित्य की दृष्टि से, अन्य दोषों की भी भक्ष्यता अथवा गुणरूपता अथवा अक्षय-गुणता यत्र-तत्र स्वयं बुद्धिमान् पाठक समझ सकते हैं।

यहाँ कारिका में 'अनुभयात्मता' का अभिप्राय 'बिदोष गुणता' (न तो दोष हो और न गुण हो) का अभिप्राय है ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'अनुकरण' को सनत्त पद-द्रोषों का अपवाद-स्थान
- नाग है—

‘मनुकरणे तु सर्वेषाम् ।

सर्वेषां धृतिकदुप्रसृतीनां दोषाणाम् । यथा—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम् ।

परयैष च गवित्याह सुत्रामाण यजेति च ॥' (कान्यप्रकाश ७म द्वास्त)

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार का ही नान्यता का अनुसरण किया है किन्तु देने प्रसंग में किया है जिससे वह स्पष्ट होना कठिन है कि अनुकरण पद-दोषों का ही अपवाद-स्थान है या अन्य दोषों, जैसे कि अर्थात् अथवा रसगत दोषों का भी। अर्थगत अथवा रसगत दोष अनुकार्य अथवा अनुकरण—दोनों प्रकार के वाक्यों में दोष ही प्रतीत होते हैं, युग नहीं।

साहित्यदर्पण सातवो परिच्छेद समाप्त



अष्टमः परिच्छेदः

(काव्य में गुण-तत्त्व * स्वरूप और उपयोग)

गुणानाह—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।

गुणाः—

यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो । गुणशब्दवाच्याः । तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषा माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपदसन्दर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपयिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः । यथा चैषां रसमात्रस्य धर्मत्वं तथा दर्शितमेव ।

(गुणविभाग : माधुर्य, ओज तथा प्रसाद)

माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥ १ ॥

ते गुणाः ।

अनुवाद—अब गुण-निरूपण किया जा रहा है—

‘जैसे प्राणि-शरीर में सारभूत आत्मतत्त्व के धर्म शौर्य औदार्य आदि गुण कहे गये हैं वैसे ही काव्य-शरीर में सारभूत रस-तत्त्व के धर्म माधुर्य-ओज आदि भी गुण कहे जाये करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जैसे प्राणिमात्र के शरीर-संस्थान में अस्यधिक महत्त्वपूर्ण आत्म तत्त्व के उत्कर्षकारक, शौर्य और औदार्य आदि ‘गुण’ शब्द से प्रतिपादित किये जाया करते हैं वैसे ही शब्दार्थ-शरीर रूप काव्य के परमसार रस के धर्मभूत माधुर्य ओज आदि, भी जो कि वस्तुतः रस के स्वरूपविशेष हैं, ‘गुण’ कहे गये हैं और इस लिए गुण कहे गये हैं क्योंकि ये ही वे रस-धर्म हैं जो कि रसाभिव्यञ्जक पद समुदाय के ‘काव्य’ कहे जाने के एकमात्र निदान हैं और जिनका एकमात्र कार्य अपने आधारभूत ‘रस’ का उत्कर्षवर्धन है । किस प्रकार यह ‘गुण’ रसरूप आत्मतत्त्व के ही धर्म हैं—इसका प्रतिपादन पहले ही (प्रथम परिच्छेद में) किया जा चुका है ।

विमर्श—‘गुण रस के धर्म हैं’—यह सिद्धान्त ध्वनिदाशुनिकों का एक परिनिष्ठित काव्य सिद्धान्त है । आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है—

‘तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।

अङ्गाश्रितास्त्वंलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥’

ये तमर्थ रसादिलक्षणमङ्गिन सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् । वाच्यवाचकलक्षणा-न्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् । (ध्वन्यालोक - २५ उद्योत) काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार ने इसी ‘गुणवाद’ का निरूपण और विवेचन किया है । जिसके अनुसार ‘गुण’ रसरूप काव्यात्मतत्त्व के धर्म सिद्ध होते हैं न कि शब्द अथवा अर्थ के ।

अनुवाद—ये रसधर्मभूत गुण तीन हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज और (३) प्रसाद ।

हैं कारिका में ‘ते’ का अभिप्राय ‘गुणाः’ का है ।

तत्र—

(माधुर्यनिरूपण)

चित्तद्वीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

यत्तु—केनचिदुक्तम्—‘माधुर्यं द्रुतिकारणम्’ इति तत्र द्वीभावस्यान्वाद्य-
स्वरूपाह्लादमिश्रत्वेन कार्यत्वाभावात् । द्वीभावश्च स्वाभाविकानाग्रित्वात्मक-
काठिन्यमन्युक्तेषादिकृतद्वीप्रत्ववित्स्मयहासाद्युपहितविज्ञेयपरित्यागेन रत्याद्याका-
रानुविधानन्दोद्बोधेन सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वम् । तच्च—

विमर्श—माधुर्यं कोऽन्यः प्रमत्तः स न भवेत्—विमर्शः के निर्धारः—के वाक्यप्रकाशकार के
यह कथन है—

‘इदानीं गुणानां भेदनाह—माधुर्यं जिप्रमादात्प्राप्तयस्ते न पुनर्दर्शः ।

(वाक्यप्रकाश ६८३)

जिसमें यह स्पष्ट है कि रम्य धर्म होने के नाते रम्य होना वाक्यप्रकाशकार के मन्त्र है कि
गाननादि-मन्त्र वन गुण । माहित्यदर्शनकार ने बाद विवाद की आदवा में न पुनर्दर्श का
मन्त्र छोड़ दिया है किन्तु इसका निर्देश आदवा-मन्त्र लाना है क्योंकि ध्वनिवदो आदवा में ही
नीलो रम्य के वाक्यप्रकाश नहीं मानते अनिष्ट रम्यधर्मों की कमी में न कमी ही इन वाक्यप्रकाश
मानते हैं । गाननादि-मन्त्र १० गुण इव रम्य धर्म के धर्म भवे ही हों मन्त्र धर्म कदापि
नहीं । मन्त्र और उवाच में इन मन्त्र में वाक्यप्रकाशकार का भविते माहित्यदर्शनकार का
मा कार्य मन्त्र है ।

अनुवाद—इन ‘गुणत्रितय’ में—

‘माधुर्यं वह है जिसे एक ऐसा बाह्य अथवा आन्तर कह सकने है जिसका स्वरूप
सहृदय हृदय की ‘द्रुति अथवा ‘द्वीभूतता’ (पिबड़ पड़ना) है ।

‘माधुर्य’ के सम्बन्ध में किसी काव्याचार्य (काव्यप्रकाशकार आचार्य मन्त्र) का
यह कहना कि ‘माधुर्यं चित्त की द्रुति का कारण है सर्वथा चतुरस्र नहीं लगना । वान यह
है कि जबकि ‘हृदय की द्रुति अथवा द्वीभावमयता वात्सवादात्मक बाह्य में कोई भिन्न
वस्तु नहीं तब इसे (हृदयाह्लाद रूप) ‘माधुर्य’ का कार्य कहे मान लिया जाय ? हृदय
की द्रुति अथवा द्वीभावमयता क्या है ? ‘हृदय की द्रुति अथवा द्वीभावमयता वस्तुतः
सहृदय के हृदय का पिबड़-सा पड़ना है और यह तभी समभव है जब कि सहृदय का
हृदय (उत्साहादिजन्य) वनावेश अर्थात् विषयग्रहण में समानर्प्य के स्वभाव-मुलभ
‘काठिन्य, अनुताप-अमर्ष आदि से मन्त्र ‘दीप्त्य’ किंवा हान विन्मय आदि से
उत्पन्न ‘विद्वेष’ से सर्वथा मुक्त होकर रति आदि कोमल भावों के स्वरूप में अनुविद्ध
आन्तर के अनुभव में लीन हो जाता है ।

विमर्श—यहाँ माहित्यदर्शनकार ने वाक्य मन्त्र की इन माधुर्य-मौलिक अर्थ—

‘बाह्यादिक्रम माधुर्यं स्फुरते द्रुतिकारणम् ।’

(वाक्यप्रकाश ६८४)

आदि पर आश्रय दिया है । ‘माधुर्य’ और बाह्य अथवा आन्तर यह अन्विष्ट अनुभव
है—इन सम्बन्ध में दोनों वाक्य मन्त्र हैं । दोनों में जो भेद है उसका कारण दोनों के
वाक्यविषय मन्त्र का भेद है । वाक्यप्रकाशकार के अनुसार ‘माधुर्य’ द्रुतिकारण है द्रुतिकारण
नहीं क्योंकि वैसे तो ‘माधुर्य’ स्फुरत आदि मन्त्रों का आन्तरादिभेद है किन्तु इसका अन्वि-
त्यक्ति-भेद वह दृष्टार्थ-मुल है जो कि मन्त्र स्फुरत-मुल हुआ कथन है । दृष्टार्थ-मुल के माधुर्य

(माधुर्य का अभिव्यक्ति-क्षेत्र)

संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥ २ ॥

सम्भोगादिशब्दा उपलक्षणानि । तेन सम्भोगाभासादिष्वप्येतस्य स्थिति र्ज्ञेया ।

का अभिप्राय, मधुर शृङ्गार रस के अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य है । इसीलिये गुण भी शब्दार्थ युगल के 'काव्य' होने के कारण रूप से निर्दिष्ट किये गये हैं । साहित्यदर्पणकार ने 'माधुर्य' 'आह्लाद' और 'द्रुति' को एक ही आनन्दानुभव मान लिया है । भले ही यह मान्यता साहित्य दर्पणकार की वैयक्तिक अनुभूति से प्रमाणित हो किन्तु यह निश्चित है कि जो भा शास्त्रीय प्रमाण है वह काव्यप्रकाशकार के ही पक्ष के अधिक अनुकूल है ।

ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धन की ये पक्तियाँ भी काव्यप्रकाशकार की मान्यता को ही प्रमाणित करती प्रतीत हो रही हैं—

‘शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।

माधुर्यमार्द्रता याति यतस्तत्राधिक मनः ॥’

यहाँ जब कि यह कहा गया कि 'माधुर्य' सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में और विप्रलम्भ शृङ्गार की भी अपेक्षा करुण रस में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट लगा करता है क्योंकि सहृदय के हृदय की आर्द्रता (द्रुति या द्रवीभावमयता) संभोग की अपेक्षा विप्रलम्भ में और विप्रलम्भ की अपेक्षा करुण में अधिक बढ़ी रहा करती है तब तो यह सिद्ध ही है कि माधुर्य 'आर्द्रता' का कारण है न कि 'आर्द्रता' से अभिन्न वस्तु है ।

यह 'आर्द्रता' अथवा चित्त की द्रुति या द्रवीभावमयता क्या है ? इसके सम्बन्ध में लोचनकार की यह पक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘आर्द्रतामिति—सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टवारमकं काठिन्य क्रोधादिदीप्त रूपत्वं विस्मयहासादिरागित्वं च त्यजतीत्यर्थः । (ध्वन्यालोकलोचन . २५ उद्योत)

अनुवाद—अथ 'माधुर्य' के क्षेत्र का निरूपण किया जा रहा है । यह 'माधुर्य' सम्भोग शृङ्गार, करुण रस, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रस में अनुगत रहा करता है और इनमें भी उत्तरोत्तर मधुर लगा करता है ।

यहाँ, कारिका में 'संभोग' आदि शब्द उपलक्षण-मात्र हैं और इसलिये 'संभोग' शृङ्गार' आदि की भाँति 'संभोगशृङ्गाराभास' आदि में भी 'माधुर्य' की अवस्थिति मानी जानी चाहिये ।

विमर्श—(क) माधुर्य के अभिव्यक्ति-क्षेत्र के सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार का यह कथन है—

‘करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।’ (काव्यप्रकाश ८ ६९)

साहित्यदर्पणकार यहाँ काव्यप्रकाशकार से सहमत हैं । किन्तु साहित्यदर्पणकार की यह धारणा कि 'माधुर्य' शृङ्गाराभास आदि का भी धर्म अथवा स्वरूप-विशेष है, काव्यप्रकाशकार आदि प्राचीन काव्याचार्यों में नहीं दिखाई देती ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'गुण' के अतिरिक्त 'गुणाभास' की कल्पना नहीं की है । शृङ्गाराभासमयी रचना में माधुर्य की अपेक्षा समवत माधुर्याभास (!) का अस्तित्व मानना अधिक युक्तियुक्त होता । वैसे तो आत्वादात्मक अनुभव की दृष्टि से 'रस' और 'रसाभास' में कोई तारतम्य नहीं और गुणों को रस की भाँति रसाभास का भी धर्म मानना उचित है किन्तु, 'आत्माभास' में अनुगत धर्म भी 'धर्माभास' न हो जाय, इसलिये समवत प्राचीन काव्याचार्यों ने इस 'रस-गुण'-भीमासा में विश्लेषण-बुद्धि को बहुत अधिक नहीं थकाया ।

(माधुर्य के अनिच्छित-साधन)

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टदृष्टान्विना ।

रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥ ३ ॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।

यथा—

‘अतङ्गमङ्गलमुवस्तदपाङ्गस्य भङ्ग्य’ ।

जनयन्ति मुहुर्युनामन्त सन्तापसन्ततिम् ॥’

यथा वा मम—

‘लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्

समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रचलयन् ।

मदन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्

रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं विशि विशि ॥’

व्युत्पन्न—(रसधर्मनूत) हम ‘माधुर्य’ के अनिच्छितजन के जो निमित्त हैं वे ये हैं—

(१) वर्ण, जैसे कि (कर्णकटु) ट, ठ, ड और ट को छोड़कर ‘क’ से ‘म’ पर्यन्त के वर्ण, जो कि अपने-अपने वर्ग के सन्त्य वर्ण से मिलकर ध्रुतिमधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं (जैसे कि लङ्ग, कुञ्ज आदि में), सन्त्य वर्ण से असंयुक्त रेफ और मूर्धन्य ‘ग’कार ।

(२) लसमस्त रचना ।

(३) लहरसमासवर्ती रचना और (४) मधुर पद-योजना ।

जैसे कि (अपने-अपने वर्ग के सन्त्य वर्ण से सवद्ध वर्णों की माधुर्य-न्यञ्जना)—

‘रस सुन्दरी के लपटों (नेत्रपान्तों) की वे (मङ्गिनीयें) लीलायें, जो लङ्ग की मङ्गलमयी अन्तर्मूर्धियाँ हैं, युवा प्रेमियों के हृदय में निरन्तर संताप उत्पन्न किया करती हैं।’

[यहाँ ‘लङ्ग’, ‘मङ्गल’, ‘लपट’, ‘मङ्गी’, ‘जनयन्ति’, और ‘लसत पन्तापसन्ततिम्’ में वर्ण के प्रथम वर्ण, अपने वर्गान्त्य वर्ण से सवद्ध हुए, माधुर्य की अनिच्छितजना में तत्पर लग रहे हैं ।]

हमों भाँति (लसमस्त किंवा लहर समासवर्ती रचना में उपर्युक्त प्रकार के वर्णों की माधुर्य-न्यञ्जकता)—

‘यह समीर मधुर गुञ्जन में मग्न अनुरपुञ्ज ने मरे लताकुञ्ज को चञ्चल बना रही है, प्रेमी-जन के लङ्ग-लङ्ग का लालिङ्गन करती हुई, उनके अन्तरङ्ग में लङ्ग (काम) का सञ्चार कर रही है, मन्द-मन्द मञ्जरि होती हुई अरविन्द वन को तरङ्गित कर रही है और सुरमित सुमनों के पराग का लङ्गाग लगाकर चारों ओर मकरन्द की मधुर वृष्टि करती जा रही है ।’

यह सृष्टि स्वरचित् सृष्टि है ।

[यहाँ लसमस्त लयवा लहरसमासवर्ती रचना की माधुर्य-न्यञ्जकता स्पष्ट है । यह सृष्टि विश्वनाथ कविराज की कविता का एक सुन्दर निर्माण है । विश्वनाथ कविराज कवि थे और परम रसिक थे । यहाँ कवि और रसिकत्व का नैकिकाद्वय-संयोग स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।]

(ओजोगुण • स्वरूप तथा क्षेत्र-निरूपण)

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥ ४ ॥

वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।

अस्यौजसः । अत्रापि वीरादिशब्दा उपलक्षणानि । तेन वीराभासादावप्य-
स्यावस्थितिः ।

(ओजोगुण के अभिव्यञ्जन-साधन)

वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥ ५ ॥

उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह ।

शकारश्च पकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गता ॥ ६ ॥

तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी ।

अनुवाद—जिसे 'ओज' कहते हैं वह सहृदयहृदय की वह दीप्ति अथवा प्रज्वलित-
प्रायता है जिसका स्वरूप चित्त की विस्तृति अथवा उष्णता है । यह ओज वीर, भीमस
और रौद्ररस में उत्तरोत्तर प्रकृष्टरूप से विराजमान रहा करता है ।

यहाँ कारिका में 'अस्य' पद का अभिप्राय 'ओज' का अभिप्राय है । यहाँ भी वीर
आदि शब्द उपलक्षण हैं । इसलिये वीराभास आदि में भी ओज की अवस्थिति मान्य है ।

विमर्श—यहाँ भी साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की आलोचना की है । काव्यप्रकाश
कार मम्मट के अनुसार ओज 'दीप्तिकारण' है 'दीप्तिरूप' नहीं, जैसा कि इस पक्ति से स्पष्ट है—

'दीप्त्याऽऽमविस्तृतेर्हेतुरो जो वीररसस्थितिः ।' (काव्यप्रकाश ८ ६९)

'दीप्ति' एक आस्वादविशेष है और रौद्रादि रसों के अनुभव का परिणामस्वरूप है । यह दीप्ति ही
वस्तुतः 'ओज' है और रौद्रादि रस इस दीप्ति अथवा ओज के ही आस्वादरूप हैं । रौद्रादिरसों
को ओज कहा जा सकता है किन्तु यहाँ उपचार का आश्रय मानना पड़ेगा । इसी प्रकार रौद्रादि
रस के प्रकाशनसमर्थ शब्द और अर्थ तथा दीर्घ समासयुक्त वाक्य भी उपचारतः 'दीप्ति' ही कहे
जा सकते हैं । 'चित्त की विस्तृति' चित्त की एक अवस्था है जिसकी उत्पत्ति दीप्ति अथवा ओज
अथवा रौद्रादिरसास्वाद से सबद्ध है ।

अनुवाद—इस ओज के जो अभिव्यञ्जन साधन हैं वे ये हैं—

(१) वर्ण—जैसे कि कवर्ग आदि वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प) और तृतीय
(ग, ज, ङ, द, ब) वर्णों का, उनके अपने-अपने अन्त्य वर्णों (वर्गों के प्रथम वर्णों के
अन्त्य वर्ण ख, छ, ठ, थ, फ और वर्गों के तृतीय वर्णों के अन्त्य वर्ण (घ, झ, ढ, ध, भ) से
संयोग (जैसे कि पुच्छ, बद्ध आदि में), नीचे, ऊपर अथवा दोनों ओर से, किसी वर्ण के
साथ सयुक्त रेफ (जैसे कि वक्त्र, निर्हादि आदि में) सयुक्त अथवा असंयुक्त ट, ठ, ड
और ढ, तालव्य शकार और मूर्धन्य पकार ।

(२) दीर्घसमासवती रचना ।

(३) औद्धत्यपूर्ण पदयोजना ।

यथा—

‘चञ्चद्भुज—’ इत्यादि ।

(प्रसादगुण . स्वरूप तथा क्षेत्र-निर्देश)

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥ ७ ॥

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।

व्याप्नोति आविष्करोति ।

उदाहरण के लिये (दीर्घसमासवती किंवा उद्धत पदरचना में दीप्त वर्णों की ओजो-व्यञ्जकता) ‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ आदि पूर्वोदाहृत वेणीसहार-सूक्ति ।

विमर्श—‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ आदि सूक्ति की ओजोमयता के प्रदर्शन में लोचनकार की ये पक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

‘चञ्चदिति—चञ्चद्भुजां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येय चण्डा दारुणा गदा तथा योऽभित्त सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णित पुनरनुत्थानोपहत कृतमूर्युगल युगपदे-वोरुद्वय यस्य त सुयोधनमनाहत्यैव स्यानेनाशयानतया न तु कालान्तरशुष्कतयावबद्ध हस्ताभ्यामविगलद्रूपमत्यन्तमाभ्यन्तरतया घन न तु रसमात्रस्वभाव यच्छोणित रुधिर तेन शोणौ लोहितौ पाणी यस्य स’ । अत एव स भीम कातरत्रासदायी । तवेति—यस्यास्तत्त-दपमानजात कृत देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तसयिष्यति, उत्तसवत करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणितशकलैर्लोहितकुसुमापीडेनेव योजयिष्यतीत्युपेक्षा, देवी-त्यनेन कुलकलत्रखिलीकारस्मरणकारिणा क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्व कृतमिति नात्र शृङ्गार-शङ्का कर्त्तव्या । सुयोधनस्य चानादरण द्वितीयगदावातदानाद्यनुद्यम’ । स च सञ्चूर्णितोरु त्वादेव । स्यानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रज्ञालने त्वरा सूचिता । समासेन च सन्ततवेगवहन-स्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमलभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता प्रती-तिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य पर परिपोषिका ।’ (ध्वन्यालोकलोचन २५ उद्योत)

अर्थात् ‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ आदि जो रचना है उसमें दीर्घसमास की ओजोव्यञ्जकता स्पष्ट है । दीर्घसमास के कारण सहृदय हृदय की प्रज्वलितप्रायता आरम्भ से अन्त तक अविश्रान्त रहा करता है । दीप्ति की यह अविश्रान्ति ओज का एक अनुभव विशेष है ।

अनुवाद—जिसे ‘प्रसाद’ कहते हैं वह सहृदय-हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो कि चित्त में उसी भाँति व्याप्त हो जाती है जिस भाँति सूखी लकड़ी में आग । यह ‘प्रसाद’ सभी रसों का धर्म अथवा स्वरूप-विशेष है और इसकी अवस्थिति सभी रचनाओं की विशेषता हुआ करती है ।

यहाँ कारिका में ‘व्याप्नोति’ का अभिप्राय ‘आविष्करोति’ का अभिप्राय है । चित्त का आविष्कार, चित्त के व्यासङ्ग-विक्षेप की निवृत्ति में, उसकी विमलता है ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने ‘प्रसाद’ का यह स्वरूप-विवेक किया है—

‘शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् नहसैव य ।

व्याप्तोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥

अन्यदिह चित्तम्’

(काव्यप्रकाश ८म उल्लाम)

और यही वस्तुतः ध्वनिकार-रूप भी प्रसाद-विवेक है—

(प्रसादगुण के अभिव्यञ्जन-साधन)

शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥ ८ ॥

यथा—

‘सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं

मुक्ताकलाप ! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।

बाणैः स्मरस्य शतशो विनिवृत्तमर्मा

स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥’

(माधुर्यादि गुणत्रय की शब्दगुणता • औपचारिक)

एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः ।

शरीरस्य शौर्यादिगुणयोग इव इति शेषः ।

‘समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।

स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥’ (ध्वन्यालोक • २४ उ

लोचनकार ने भी ‘प्रसाद’ को यही स्वरूप-मीमांसा की है—

‘समर्पकत्वम्—सम्यगर्पकत्वं हृदयसवादेन प्रतिपत्तुं प्रति स्वात्मावेशेन व्यापा
 झदिति शुष्ककाष्ठामिदृष्टान्तेन । अकलुषोदकहृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम
 रसानां गुणः । उपचारात्तु, तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रस
 तमेव व्याचष्टे—प्रसादेति—ननु रसगतो गुणस्तत् कथं शब्दार्थयोः स्वच्छतेत्याशङ्क्या
 चेति । च शब्दोऽवधारणे । सर्वरससाधारण एव गुणः । स एव च गुण एवविधः ।
 येयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारणः ।’

(ध्वन्यालोकलोचन • २४ उ

अनुवाद—इस ‘प्रसाद’ के अभिव्यञ्जन-साधन वे शब्द हैं, जिनके अर्थ, उनके ।
 मात्र से ही झलक उठते हैं ।

उदाहरण के लिये—

‘अरे मुक्ताहार ! जब कि एक बार भी (गूँथे जाने के समय) सूची के अग्र भ
 विद्ध होने पर, तू, किसी प्रेयसी के स्तनों पर लोटने लगता है तो सहस्रों बार क
 बाणों से छिन्न-भिन्न हृदयवाले मुखे, वह प्रेयसी, क्या चात है कि, स्वप्न में भी कभी
 दीख पड़ती ।’

विमर्श—‘प्रसाद’ के उदाहरण-रूप में काव्यप्रकाशकार द्वारा उद्धृत यह सूक्ति बड़ी सुन्द
 ‘परिमलानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरित
 इदं व्यस्तन्यास श्लथभुजलताक्षेपवलनैः कुशाङ्गव्याः सन्ताप वदति बिंसीनीपत्रशयन
 (काव्यप्रकाश • ८ म व

अनुवाद—आलङ्कारिक आचार्य, (उपर्युक्त) माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को
 गुण भी कहा करते हैं किन्तु ऐसा कहने में ‘गुणवृत्ति’ अथवा ‘उपचार’ का ही उ
 लिया करते हैं ।

यहाँ ‘गुणवृत्ति’ अथवा ‘उपचार’ से माधुर्यादि के शब्दगुण होने में जो अ
 त्रुपा है वह यह है—जैसे आत्ममात्र के धर्म भी शौर्य और औदार्य आदि (स्वा
 र्थित्वरूप परम्परासंबन्ध से) शरीर के धर्म के रूप में कल्पित किये जा सकते हैं ।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत श्लेष, समाधि, औदार्य तथा

प्रसाद का ओजोगुण में अन्तर्भाव)

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ॥ ९ ॥

गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ।

ओजसि भक्त्या ओज.पदवाच्ये शब्द(अर्थ)धर्मविशेषे ।

तत्र श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा ।

यथा—

‘उन्मज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धताः

सर्वा पर्वतकन्दरोदरभुव कुर्वन् प्रतिध्वानिनीः ।

उच्चैरुच्चरति ध्वनि. श्रुतिपथोन्माथी यथाय तथा

प्रायःप्रेतदसंख्यशङ्खधवला वेल्लेयमुद्रच्छति ॥’

ही रसमात्र के धर्म माधुर्य और ओज आदि भी (स्वाध्यायधयित्वरूप परम्परासबन्ध से) शब्द अथवा अर्थ के गुण रूप में मान लिये जाया करते हैं ।

विमर्श—रत्नधर्मभूत नाधुर्यादि गुणत्रय के शब्दगुण और अर्थगुण कहे जाने में ‘उपचार’ के आश्रय का जो अभिप्राय है वह लोचनकार की इन पंक्ति से अत्यधिक स्पष्ट है—

‘एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुण । तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरित मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम् ।’

और इन पंक्ति में भी—

‘एव माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण । ते च प्रतिपन्नास्वादमया मुरयतया तत आत्वाचे उपचरिता रसे ततस्तद्वयञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम् ।’

(ध्वन्यालोकानुचिन न्य उद्योत)

अर्थात् वस्तुतः नाधुर्यादि तानों गुण महद्वय मानाजिक के आत्मारूप हैं । इन्हें रसगुण कहने में उपचार का आश्रय लिया गया है और उपचार से ही इन्हें शब्द और अर्थ के भी गुण कहा जा सकता है जैसा कि कहा भी गया है ।

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिकों (जैसे कि भाचार्य वामन आदि) के द्वारा, शब्द-गुण के रूप में गिनाये गये ‘श्लेष’, ‘समाधि’, ‘औदार्य’ और ‘प्रसाद’ गुण कोई अतिरिक्त गुण-तत्त्व नहीं अपितु ‘ओज’ में ही अन्तर्भूत दिखायी देते हैं ।

यहाँ ‘श्लेष’ आदि के ‘ओज’ में अन्तर्भूत होने का अभिप्राय वस्तुतः ‘ओज’ पद की उपादानलक्षणा-द्वारा लक्षित ओजोमय शब्द-धर्म वयवा यन्धगादित्य में अन्तर्भूत होने का अभिप्राय है ।

जैसे कि वामनादि-सम्मत ‘श्लेष’रूप शब्दगुण, जोकि अनेकों पदों के ऐसे यन्ध का नाम है जिसमें वे एक पद की भाँति मण्डित प्रतीत हुआ करते हैं और जिसे निम्न सूक्ति जमे कि—

‘कानों के परदों को फाड़ डालनेवाली किंवा ऊपर उठने हुये भीनकाय गजाकार तरङ्गों के निरन्तर सवेग आस्फालन से विरूट लगने वाले समस्त पर्वत-कंदरागर्भ को प्रतिध्वनित करने वाली यह घोर ध्वनि ऐसी उठ रही है जिससे यही पता चलता है जैसे

अयं बन्धवैकल्यात्मकत्वादोज एव ।

समाधिरारोहावरोहक्रमः । आरोह उत्कर्षः, अवरोहोऽपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यतानावहो विन्यासः । यथा—‘चञ्चद्भुज-’ इत्यादि । अत्र पादत्रये क्रमेण बन्धस्य गाढता । चतुर्थपादे त्वपकर्षः । तस्यापि च तीव्रप्रयत्नोच्चार्यतया ओजस्विता ।

उदारता विकटत्वलक्षणा । विकटत्वं पदानां नृत्यत्प्रायत्वम् ।

यथा—

‘सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां ऋणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च ।’

अत्र च तन्मतानुसारेण रसानुसन्धानमन्तरेणैव शब्दप्रौढोक्तिमात्रेणैव । प्रसाद ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा ।

यथा—

‘यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदात् पाण्डवीनां चमूनाम्’ इति ।

इतस्तत् चलायमान असंख्य शस्त्रों से शुभ्र-धवल लगने वाले समुद्र की प्रलयकालीन जलराशि उमड़ पड़ी हो ।

इत्यादि में, स्पष्ट देखा जा सकता है, वस्तुतः विकट गुम्फरूप ‘ओज’ के अतिरिक्त और कोई काव्य तत्त्व नहीं ।

इसी प्रकार ‘समाधि’रूप शब्दगुण, जिसे बन्ध का क्रमिक आरोह और अवरोह (उतार चढ़ाव) रूप कहा गया है—और ‘बन्ध के क्रमिक आरोह और अवरोह’ का अभिप्राय उसके आरोह अथवा उत्कर्ष और अवरोह अथवा अपकर्ष (बन्धगाढत्व और बन्ध-शैथिल्य) के ऐसे क्रम अथवा विन्यास का अभिप्राय है जिससे सामाजिक हृदय में वैरस्य (नीरसता) का संचार नहीं हुआ करता और जिसे ‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ आदि सूक्ति द्वारा उदाहृत किया गया है जिसके तीन चरणों में बन्ध-गाढत्व से और चतुर्थ चरण में बन्ध-शैथिल्य होने पर भी तीव्र प्रयत्न से उच्चारण किये जाने के कारण, ओजोमयता स्पष्ट है, वह भी वस्तुतः ओज में ही अन्तर्भूत है ।

इसी प्रकार ‘औदार्य’रूप शब्दगुण, जिसे पदों का विकटत्व अथवा नृत्यत्प्रायत्व कहा गया है और जिसे इस सूक्ति अर्थात्—

‘नर्तकियों के सुन्दर चरणों में विन्यस्त नूपुरों ने ऐसी क्षणक्षणाहट पैदा की जो मिठास से भरी और सर्वत्र विस्मयजनक प्रतीत हुई ।’

के आधार पर समझाया गया है, वह भी ‘ओज’ से ही गतार्थ है । वैसे तो यहाँ वीररस के अभाव में ‘ओज’ नहीं हो सकता किन्तु, वामनादि के मत का अनुसरण करते हुये, रस के अनुसन्धान के बिना ही, केवल गाढबन्धता के देखते, इस सूक्ति को भी ओजस्विनी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं (क्योंकि यहाँ एकमात्र तात्पर्य औदार्य अथवा विकटबन्धता का ओज में अन्तर्भाव है) ।

इसी प्रकार ‘प्रसाद’ नामक शब्दगुण, जिसका स्वरूप ओज अथवा बन्धगाढत्व से संमिश्र बन्ध-शैथिल्य का सौन्दर्य है और जिसे—‘यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्’ आदि पूर्वोद्धृत वेणीसहारसूक्ति द्वारा उदाहृत किया जाया करता है, वस्तुतः ‘ओज’ में ही अन्तर्भूत है ।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'पृथक्पदत्व'स्य माधुर्य का 'माधुर्य' गुण में अन्तर्भाव)

माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम् ॥ १० ॥

पृथक्पदत्वं माधुर्य तेनैवाङ्गीकृतं पुनः ।

यथा—

'श्वासान्मुञ्चति' इत्यादि ।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थव्यक्ति का 'प्रसाद' में अन्तर्भाव)

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः ॥ ११ ॥

अर्थव्यक्तिः पदानां हि त्रित्यर्थसमर्पणम् ।

स्पष्टमुदाहरणम् ।

विमर्श—'श्लेष' की परिभाषा यह है—

'शब्दानां भिन्नानामप्येकवचनप्रतिमानप्रयोजक' सहितयैकजातीयवर्गविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्याय श्लेष ।'

'नमाधि'-लक्षण—

'वन्धगाढत्वशिथिलत्वयो' क्रमेणावस्थापनं समाधि ।'

'लौदार्य'-स्वरूप—

'कठिनवर्गघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।'

'प्रसाद'—

'गाढत्वशैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रण प्रसाद ।'

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिक-सम्मत 'माधुर्य' को भी, जिसे 'पृथक्पदत्व' कहा गया है, उस रन्धर्मभूत 'माधुर्य' में अन्तर्भूत मानना उचित है जिनकी अभिव्यक्ति असमस्त पद-रचना द्वारा हुना करती है ।

जेने कि—'श्वासान् मुञ्चति' आदि पूर्वोदाहृत सूक्ति में जो 'पृथक्पदत्व'रूप माधुर्य है उसे असमस्त पदरचना द्वारा अभिव्यक्त 'माधुर्य' का ही निदर्शन माना जा सकता है ।

विमर्श—पञ्चार्य गणन ने 'माधुर्य' रूप शब्दों का यह लक्षण दिया है—

'पृथक्पदत्व माधुर्यम्' वन्धस्य पृथक्पदत्व यत्तन्माधुर्यम् ।

'समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरश्चेतत् ।'

(आलङ्कारशास्त्र ३ : १०)

अनुवाद—इसी प्रकार प्राचीन आलङ्कारिकों का 'अर्थव्यक्ति' नामक प्रसङ्गगुण, जिसका स्वरूप पदों का अनायास अर्थबोधन है, 'प्रसाद' गुण द्वारा ही गतार्थ समझना चाहिये ।

'अर्थव्यक्ति' का उदाहरण स्पष्ट है ।

विमर्श—'अर्थव्यक्ति' का यह लक्षण है—

'सगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्ति' ।

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'नितरा पररा सरोजमाला न नृगालानि विचारपेगलानि ।

यदि कोमलतातवाङ्कानामथ का नाम कथाश्रिय पद्मवानाम् ॥'

(आलङ्कारशास्त्र १० : १०)

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'कान्ति' तथा 'सुकुमारता' : दोषत्यागरूप)

ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता ॥ १२ ॥

अङ्गीकृतेति सम्बन्धः । तच्च हालिकादिपदविन्यासवैपरीत्येनालौकिकशोभाशालित्वम् । सुकुमारता अपारुष्यम् । अनयोरुदाहरणे स्पष्टे ।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'समता' गुणत्रय में अन्तर्भाव)

क्वचिदोषस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी ।

अन्यथोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम् ॥ १३ ॥

मसृणेन विकटेन वा मार्गेणोपक्रान्तस्य सन्दर्भस्य तेनैव परिनिष्ठानं मार्गाभेदः । स च कचिद्दोषः ।

तथाहि—

‘अव्यूढाङ्गमरूढपाणिजठराभोगं च बिभ्रद्वपुः

पारीन्द्रः शिशुरेष पाणिपुटके सम्मातु किं तावता ।

उद्यद्दुर्धरगन्धसिन्धुरशतप्रोद्दामदानार्णव—

स्रोतः शोषणरोपणात्पुनरितः कल्पाग्निरल्पायते ॥’

अनुवाद—प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में वर्णित ‘कान्ति’ और ‘सुकुमारता’ नामक जो दो शब्दगुण हैं वे क्रमशः ‘ग्राम्यत्व’ और ‘दुःश्रवत्व’ दोषों के परिहाररूप ही हैं ।

यहाँ ‘ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात् कान्तिश्च सुकुमारता’ आदि कारिका में ‘तेनैवाङ्गीकृत पुनः’ आदि कारिका से, विभक्तिविपरिणाम के द्वारा, ‘अङ्गीकृता’ पद अध्याहृत समझना चाहिये । ‘कान्ति’गुण वस्तुतः हालिक (हरवाहे) प्रभृति लोगों के पद-प्रयोग से विलक्षण पद-प्रयोग में रहा करता है । अग्राम्य-पद-प्रयोग में एक अलौकिक सौन्दर्य होने के कारण ‘कान्ति’ की कल्पना की गयी है । ‘सुकुमारता’ का अभिप्राय बन्ध का अपारुष्य अथवा ‘निष्ठुर अक्षरों से राहित्य’ है । इन दोनों के उदाहरण यहाँ अपेक्षित नहीं क्योंकि ये स्वयं देखे जा सकते हैं ।

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत ‘समता’ नामक शब्दगुण, जिसे ‘मार्गाभेद’ अथवा उपक्रम और उपसंहार में बन्ध का ऐकरूप्य कहा जाया करता है, वस्तुतः तो गुण होने के बदले यत्र-तत्र ‘दोष’ सा ही प्रतीत होता है और यदि कहीं गुण सा भी लगा करता है तो उपर्युक्त प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत गुणों में ही यथासम्भव अन्तर्भूत दिखायी दिया करता है ।

यहाँ ‘मार्गाभेद’ का तात्पर्य मसृण (माधुर्याधायक) अथवा विकट (ओजोव्यञ्जक) बन्ध के रूप में रचित सन्दर्भ का उसी प्रकार से समापन है । किन्तु इस प्रकार का सन्दर्भ-समापन कहीं-कहीं दोष भी हो जाता है । जैसे कि—

‘भला इससे क्या होता है कि एक सिंह-शावक, जिसके अङ्ग पुष्ट नहीं और न जिसके हाथ, पैर, पेट आदि ही पूर्णरूपेण सशक्त हैं किसी के हाथों में आ जाय ? अरे, जब कि इसके क्रोध में वह शक्ति आती है जिससे सैकड़ों मदनोन्मत्त गजराजों के मदसमुद्र की तुल्य तरङ्गें सूखने लगती हैं, तब, पता चलता है कि कल्पान्त की अग्नि भी इसके आगे कुछ नहीं है !’

अत्रोद्धतेऽर्थे वाच्ये सुकुमारबन्धत्यागो गुण एव । अनेकविधस्याने साधुर्या-
द्विवेचान्तपातः ।

यथा—

‘लताकुञ्ज गुञ्जन्’ इत्यादि ।

(प्राचीन-अलंकारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण गुणत्रय नै अन्तर्भाव)

ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता ।

तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः ॥ १४ ॥

ओज साभिप्रायत्वरूपम् । प्रसादोऽर्थवैनान्यम् । माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम् ।
सौकुमार्यमपाठ्यम् । उदारता वत्रान्यत्वम् । एषां पञ्चानामप्यर्थगुणानां यथा-
क्रमसमुद्धार्याधिकपदानवीकृतानङ्गलरूपारलीलान्याणां निराकरणेनैवाङ्गीकारः ।
स्पष्टान्युदाहरणानि ।

अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालङ्कारेण तथा पुनः ।

रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः ॥ १५ ॥

वादि सन्दर्भ के तृतीय चरण में जहाँ वाच्य अथवा वर्णनीय विषय सौद्रम्यपूर्ण है प्रथम
और द्वितीय चरणों के प्रक्रान्त सुकुमारबन्ध का निर्वाह दोष ही होता गुण नहीं । और
वस्तुतः इसीलिये यहाँ कवि ने इसे छोड़कर विकटबन्ध का आश्रय लिया है ।

इसमें निम्न प्रकार के प्रश्नों में, यदि प्रक्रान्त मार्ग का निर्वाह अथवा ‘समता’ गुण
हो तब उसे कहीं (ललितबन्ध के देखते) नाट्य में अथवा कहीं (उद्भूतबन्ध के देखते)
ओज में अन्तर्भूत मानना ही उचित है । जैसे कि यदि ‘लताकुञ्ज गुञ्जन्’ वादि सूक्ति
में, मार्गान्तर के देखते, ‘समता’ को गुण माना जाय, तब यह स्पष्ट है कि यह ‘समता
गुण’ ललितबन्ध में अनिवार्य ‘माधुर्य’ के अनितिक और कोई वस्तु नहीं ।

स्पष्टवाद—इसी प्रकार, प्राचीन आलंकारिकों (जैसे कि आचार्य वामन वादि) द्वारा
मान्य ‘ओज’, ‘प्रसाद’, ‘माधुर्य’, ‘सौकुमार्य’ और ‘सौन्दर्य’ नामक जो अर्थगुण हैं,
वे भी, इन गुणों के अभावरूप दोष के परिहार के अनितिक और कोई गुण-भाव नहीं ।

प्राचीन आलंकारिकों ने ‘ओज’ में पदों की अभिप्राय-भारता, ‘प्रसाद’ में अर्थ-
निर्मलता, ‘माधुर्य’ में उक्ति विचित्रता, ‘सौकुमार्य’ में अपठ्यता और ‘सौन्दर्य’ में वत्रा-
श्रयता का अभिप्राय दिया है । अब ये पाँच अर्थगुण ऐसे हैं जिन्हें गुण मानने के बदले
दोषाभावरूप मानना अधिक उचित है । क्योंकि यह मानना अधिक उचित है कि
‘ओज’ ‘लघुश्रयत्व’ का अभाव प्रसाद, ‘अधिकश्रयत्व’ का परित्याग माधुर्य, ‘अन्ववीकृतत्व’
का परिहार सौकुमार्य, ‘अनगलव्यञ्जक अलंकारत्व’ का वर्जन और ‘सौन्दर्य’ ‘प्राग्भवा’
का निराकरण है । इन अर्थगुणों अथवा वस्तुतः दोषपरिहारों के उदाहरण यत्र-तत्र
स्वयं देते जा सकते हैं ।

इसी भाँति, प्राचीन आलंकारिक-सम्मत ‘अर्थव्यक्ति’ नामक जो गुण है वह भी वस्तुतः
अर्थगुण नहीं अपितु स्वभावोक्ति अलंकार का एक स्वरूप-विशेष है । और जिसे ‘कान्ति’
नामक अर्थगुण कहा गया है उसे तो रस की मुख्य अभिव्यक्ति अथवा गुणीभूत
अभिव्यक्ति में निःसंशय रूप में अन्तर्भूत मानना ही उचित है ।

अङ्गीकृत इति सम्बन्धः । अर्थव्यक्तिर्वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् । कान्तिर्दीप्त रसत्वम् । स्पष्टे उदाहरणे ।

श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम् ।

श्लेषः क्रमकौटिल्यानुत्पन्नत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा । तत्र क्रमः क्रिया सन्ततिः, विदग्धचेष्टितं कौटिल्यम्, अप्रसिद्धवर्णनाविरहोऽनुत्पन्नत्वम्, उपपादकयुक्तिविन्यास उपपत्तिः, एषां योगः सम्मेलनं स एव रूपयस्या घटनायास्तद्रूपः श्लेषो वैचित्र्यमात्रम् । अनन्यसाधारणरसोपकारित्वातिशयविरहादिति भावः ।

यथा—

‘दृष्टवैकासनसंस्थिते प्रियतमे—’ इत्यादि ।

अत्र दर्शनादयः क्रियाः, उभयसमर्थनरूपं कौटिल्यम्, लोकसंग्रह्यवहाररूपं मनुत्पन्नत्वम्, ‘एकासनसंस्थिते’, ‘पश्चादुपेत्य’, ‘नयने पिधाय’, ‘ईषद्वक्ति

यहाँ, ‘अर्थव्यक्ति कान्तिनामक. ॥’ आदि कारिका में पूर्वकारिका से, विभक्ति विपरिणाम द्वारा, ‘अङ्गीकृता,’ (स्वीकृता) का अध्याहार है । ‘अर्थव्यक्ति’ का अभिप्राय ‘वस्तुस्वभाव की स्फुटता’ का अभिप्राय है और रस की प्रतीति अथवा स्फुट अभिव्यक्ति का जो नाम है वह ‘कान्ति’ है ।

यहाँ ‘अर्थव्यक्ति’ (वस्तुतः स्वभावोक्ति) और ‘कान्ति’ (रस की स्फुट प्रतीति) के उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं क्योंकि ये स्वयं देखे जा सकते हैं ।

इसी प्रकार, प्राचीन अलंकारशास्त्र-सम्मत ‘श्लेष’ नामक अर्थ-गुण कोई गुण नहीं अपितु एक बन्ध-वैचित्र्य मात्र है । और जिसे ‘समता’ नामक अर्थ-गुण कहा गया है वह दोषाभाव के अतिरिक्त कोई और तत्त्व नहीं ।

‘श्लेष’ क्या है ? ‘श्लेष’ है—एक ऐसी घटना अथवा रचना जिसमें ‘क्रम’ और ‘कौटिल्य’ किंवा ‘अनुत्पन्नत्व’ और ‘उपपत्ति’ का समुचित मेल रहा करे ।

यहाँ ‘क्रम’ का अभिप्राय क्रियासन्तति अथवा क्रिया-परम्परा का अभिप्राय है, ‘कौटिल्य’ वस्तुतः विदग्धचेष्टा का नाम है ; ‘अनुत्पन्नत्व’ में अप्रसिद्ध वर्णन के विरह का अभिप्राय अन्तर्गर्भ है, ‘उपपत्ति’ से उपपादक युक्तियों के विन्यास का तात्पर्य लिया गया है और ‘श्लेष’ उस रचना को कहा गया है जिसका रूप ‘क्रम कौटिल्य-अनुत्पन्नत्व उपपत्ति’ के योग अथवा संमेलन का रूप है । यह ‘श्लेष’ अन्ततोगत्वा एक प्रकार का बन्ध-वैचित्र्य सा ही सिद्ध होता है । इसे ‘गुण’ कहना निरर्थक है क्योंकि गुण तो वह है जो, अधिक से अधिक अनन्य सामान्यरूप से, रस का उपकार किया करता है । बन्ध-वैचित्र्य से रसोत्कर्ष का क्या सम्बन्ध ? उदाहरण के लिये—

‘दृष्टवैकासनसंस्थिते प्रियतमे’

इत्यादि सूक्ति में ‘श्लेष’ अथवा बन्ध-वैचित्र्य है क्योंकि यहाँ ‘दर्शन’, ‘नयनपिधान’ आदि क्रिया-सन्ततिरूप ‘क्रम’, ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिकाओं के सुगन्ध तथा नयन-पिधान द्वारा अनुरञ्जन में ‘कौटिल्य’, इस प्रकार के दृश्य के लोकव्यवहारात्मक होने में ‘अनुत्पन्नत्व’ और ‘एकासन पर संस्थिति’, ‘पीछे से पहुँचने’, ‘आँखमिचौनी के खेल’, ‘गर्दन के तिरछे घुमाने’ आदि की ‘उपपत्ति’ अथवा उपपादकता के परस्पर सम्मेलन का

कन्धरः' इति चोपपादकानि, एषा योग । अनेन च वाच्योपपत्तिग्रहणव्यग्रतया रसस्वादो व्यवहितप्राय इत्यस्यागुणता ।

समता च प्रकान्तप्रकृतिप्रत्ययाविपर्यासेनार्थस्य विसवादिताविच्छेदः । [स च प्रक्रमभङ्गरूपविरह एव ।

स्पष्टमुदाहरणम् ।

न गुणत्वं समाधेश्च—

समाधिश्चायोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थदृष्टिरूपः । तत्रायोनिरर्थो यथा—
'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम् ।

अन्यच्छायायोनिर्यथा—

'निजनयनप्रतिविम्बैरन्नुनि बहुश प्रतारिता काऽपि ।

नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितुं कुसुमलावी ॥'

अत्र नीलोत्पलनयनयोरतिप्रसिद्ध सादृश्य विच्छित्तिविशेषेण निबद्धम् ।

सौन्दर्य स्पष्ट श्लोक रहा है । किन्तु यह सब रस का उपकारक नहीं अपितु व्यवधायक ही है क्योंकि जब कि सहृदय सामाजिक का मन यहाँ के वर्ण्य विषय की उपपत्ति और युक्ति में व्यग्र रहे, जैसा कि उसके लिये स्वाभाविक है, तो रसभावादि की प्रतीति तो व्यवहित-प्राय हो ही गयी । अन्ततोगत्या यही कहा जा सकता है कि 'श्लेष' गुण नहीं अपितु रचनावैचित्र्यमात्र है जो कि सर्वत्र रसानुगुण नहीं हुआ करता ।

इसी प्रकार प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'समता' नामक अर्थगुण, जिसे, उपक्रम और उपसहार-दोनों में समान प्रकृति और प्रत्यय के प्रयोग द्वारा वर्ण्य वस्तु में विसवादिता और विपमता की प्रतीति का निराकरण रूप माना जाया करता है, गुण नहीं अपितु 'भग्नप्रक्रमत्व' रूप दोष का अभावमात्र है । इसका उदाहरण भी नहीं दिया जा रहा है क्योंकि यह स्वयं स्पष्ट है ।

इसी प्रकार 'समाधि' नामक अर्थगुण को भी गुण मानना अनुचित है । यह 'समाधि' क्या है ? 'समाधि' है—'अयोनि' अर्थात् अपने बुद्धिवैभव से उपकल्पित अवर्णितपूर्व काव्यार्थ और 'अन्यच्छायायोनि' अर्थात् कवि परम्परा प्रसिद्ध काव्यार्थ के आधार पर पुनः परिकल्पित पूर्ववर्णितच्छाया काव्यार्थ—दोनों प्रकार के काव्यविषयक अर्थों का दर्शन । जेने कि 'अयोनि' अथवा त्वबुद्धिवैभव से उपकल्पित काव्यार्थ के दर्शन में 'समाधि'—

'यह नारङ्गी का फल ऐसा लग रहा है जैसे अभी-अभी मुण्डित, किसी मदनोन्मत्त यवन की टुट्टी हो ।'

इसी प्रकार 'अन्यच्छायायोनि' अथवा कवि परम्परा प्रसिद्ध काव्यार्थ के आधार पर पुनः परिकल्पित काव्यार्थ के दर्शन में 'समाधि'—

'कोई सालिन पानी में पड़ते अपने नेत्र के प्रतिविम्ब ने उगो सी होकर, नील कमल के तोड़ने में भी सोच विचार करती दिखायी दे रही है ।'

यहाँ 'निजनयन' आदि सूक्ति में 'अन्यच्छायायोनि' रूप अर्थ-दर्शन का यह अभिप्राय है—कविपरम्परा से ही नीलकमल और नयन का सादृश्य मिश्र चला आ रहा है किन्तु यहाँ कवि ने इस प्रसिद्ध सादृश्य रूप अर्थ में, अपनी कल्पना से एक और ही विचित्रता

अस्य चासाधारणशोभानाधायकत्वात् गुणत्वम्, किन्तु काव्यशरीरमात्र निर्वर्तकत्वम् ।

कचित् 'चन्द्रम्' इत्येकस्मिन् पदार्थे वक्तव्ये 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः' इति वाक्यवचनम् । कचित् 'निदाघशीतलहिमकालोष्णसुकुमारशरीरावयवा योषित्' इति वाक्यार्थे वक्तव्ये 'वरवर्णिनी' इति पदाभिधानम् । कचिदेकस्य वाक्यार्थस्य किञ्चिद्विशेषनिवेशादनेकैर्वाक्यैरभिधानमित्येवरूपो व्यासः । कचिद्बहुवाक्य प्रतिपाद्यस्यैकवाक्येनाभिधानमित्येवरूपः समासश्च, इत्येवमादीनामन्यैरुक्तान न गुणत्वमुचितम्, अपि तु वैचित्र्यमात्रावहत्वम् ।

—तेन नार्थगुणाः पृथक् ॥ १६ ॥

तेनोक्तप्रकारेण । अर्थगुणा ओजःप्रभृतयः प्रोक्ताः ।

इति साहित्यदर्पणे गुणविवेचनो नामाष्टमः परिच्छेदः ।



का आधान कर दिया है जिससे यह प्रसिद्ध काव्यार्थ नवीन सा लग रहा है । किन्तु यह सब अर्थदर्शनरूप 'समाधि' गुण नहीं क्योंकि इससे रस का कोई अनन्यसामान्य उपकार नहीं हो रहा है । यह 'समाधि' तो वस्तुतः यहाँ के अर्थात्मक काव्यशरीर के निष्पादन से ही सबद्ध है । रस सौन्दर्य के उल्लास से इसका क्या सम्बन्ध ?

इसी प्रकार, प्राचीन अलङ्कारिकों द्वारा मान्य ओज के चार भेद (क्योंकि पाँचवें भेद को पहले ही 'अपुष्टार्थत्व' रूप दोष का अभावमात्र सिद्ध किया जा चुका है) गुण नहीं अपि तु वैचित्र्यमात्र ही हैं । जैसे कि, पदार्थ में वाक्यरचना रूप 'ओज', जिसे 'चन्द्र' इस एक पदार्थ के बदले 'अत्रेर्नयनसमुत्थ ज्योतिः' (रघुवश २७५) इस वाक्यरचना में देखा जा सकता है, वाक्यार्थ में पदरचनारूप 'ओज' जो कि 'निदाघशीतल-हिमकालोष्ण सुकुमारशरीरावयवा योषित्' (गरमी में शीतल और सर्दों में उष्ण तथा सुकुमार अर्थात् वाली स्त्री) इस वाक्यार्थ के बदले 'वरवर्णिनी' इस पदबन्ध में स्पष्ट है, 'ज्यासरूप ओज', जिसे एक वाक्यार्थ के बदले, किञ्चिन्मात्र विशेषाधानपूर्वक, अनेक वाक्यार्थ की रचना में देखा जाया करता है और 'समास' रूप ओज, जो कि अनेक वाक्यार्थ के बदले एक वाक्य में विषय-प्रतिपादन का अभिप्राय रखता है और इसी भाँति अन्य आचार्यों द्वारा गुण रूप से मान्य अन्यान्य वेशिष्टय, वस्तुतः 'गुण' नहीं अपि तु वैचित्र्याधायक मात्र ही माने जा सकते हैं क्योंकि रस का इनसे क्या सम्बन्ध ?

इस विचार-विमर्श से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण माधुर्यादि गुणत्रय के अतिरिक्त कोई अन्य काव्य तत्त्व नहीं ।

यहाँ कारिका में 'तेन' का अभिप्राय 'उक्तप्रकारेण' (उपर्युक्त विचारदृष्टि से देखते हुये) का अभिप्राय है और 'अर्थगुण' का तात्पर्य ओज आदि (आचार्य वामन तथा भोजराज-प्रतिपादित) गुणों का तात्पर्य है जिनका प्रतिपादन किया जा चुका है ।

विमर्श—(क) यहाँ, साहित्यदर्पणकार ने, आचार्य मम्मट की अर्थगुण-समीक्षा के आधार पर, अर्थगुणों को, गुणत्रय में अन्तर्भूत सिद्ध किया है । प्राचीन अलङ्कारशास्त्र सम्मत अर्थगुण रत्न

के धर्म अथवा स्वस्वविशेष नहीं और इन्हें दे रहे हैं उन नाना निरर्थक है—यह सिद्धान्त वस्तुतः एक मनीषात्मक सिद्धान्त है।

(ख) इन अर्थानुसारों में 'बोध' का यह स्वस्व है—

'एकस्य पदार्थस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, बहुनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यै-
र्बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणानां साभिप्रायत्वञ्चेति पञ्चविधमोज ।'

(रत्नगणधर)

जिनमें 'पदार्थ' में वाक्स्वरचना, 'वाक्यार्थ' में पदानिधान, 'याम' और 'नमान' रूप चतुर्विध प्रौढिप्रतिपादनवैविध्य को अनिश्चित और कोई गुणनञ्च नहीं। जैसे कि 'पदार्थ' में वाक्स्वरचना—

'सरसि जवनवन्धुधूसमारम्भकाले रजनिर्मगराशये नाशमाशु प्रयाति ।

परमपुरुषवक्त्रादुद्गताना नराणा मधु मधुरगिरां च प्रादुरासीद्विनोद ॥'

यहाँ यह स्पष्ट है कि उस काल में इन एक पदार्थ के स्थान पर—'नरनिजवनवन्धुधूसमारम्भ-
क' के यह वाक्स्वरचना की गयी है जिनमें प्रौढि' को अवश्य है किन्तु रत्नगणधरान्तर्गत नहीं।

इसी प्रकार वाक्यार्थ में पदानिध न —

'खण्डितानेककञ्जालिभ्रूक्षनपण्डिता ।

मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताक्षण्डांशोर्भान्ति भागव ॥'

यहाँ 'दत्त' पराप्तनाशद पणि प्राप्नुदेऽद्वे इति वाक्यार्थ के स्थान पर 'खण्डिता' इन
एक पद के प्रयोक्तास्वतन्त्र में प्रौढि अवश्य है किन्तु यहाँ 'प्रौढि' को रत्नगणधर नहीं अभिहित
वैविध्य मात्र है।

इसी प्रकार 'याम' अथवा जित्नी वचन —

'अवाचितं सुखं दत्ते वाचितं न यच्छति ।

सर्वत्र चापि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥'

यहाँ 'नरै वैवाचीन्' इन एक वाक्यार्थ के स्थान पर 'याम' को वाक्यों की रचना में 'याम'
रूप प्रौढि है जो कि प्रत्यानन्दनवैविध्य के अनिश्चित और कोई गुणनञ्च नहीं।

इसी प्रकार 'नमान' अथवा नमिष वचन—

'तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्देवार्थमधिगत्य स ।

वासुदेवनिविष्टात्मा विवेश परम पदम् ॥'

यहाँ 'मुनिस्तपस्यति, तद्वक्त्रात् स वेदार्थमधिगतवान्, तदनन्तरं वासुदेवे परमस्थितिं मनः
प्रावेशयत्, ततश्च मुक्तोऽभूत्' इति वाक्यार्थानुसार के स्थान पर एक वाक्यार्थ की योजना, के
प्रौढि का स्वरूप स्पष्ट है। किन्तु यह भी प्रत्यानन्दनवैविध्यनञ्च नहीं है, रत्नगणधरान्तर्गत नहीं।

साहित्यदर्पण भाष्योऽपि परिच्छेदः समस्तः

नवमः परिच्छेदः

(काव्य में रीति-तत्त्व स्वरूप और उपयोग)

अथोद्देशक्रमप्राप्तमलङ्कारनिरूपणं बहुवक्तव्यत्वेनोल्लङ्घ्य रीतिमाह—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।

उपकर्त्री रसादीनां—

रसादीनामर्थाच्छब्दार्थशरीरस्य काव्यस्यात्मभूतानाम् ।

(रीतिभेद • वैदर्भी, गौडी, पाञ्च ला तथा लाटी)

—सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥ १ ॥

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ।

अनुवाद—अब काव्य में रीति-तत्त्व क्या है ? इसका विचार-विमर्श किया जा रहा है। अलङ्कार का निरूपण बाद में किया जायगा। वैसे तो 'रीति'-निरूपण के पहले, जैसा कि 'उत्कर्षहेतव' प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः' इस काव्यतत्त्व के उद्देश-क्रम से सिद्ध है, अलङ्कारों का ही निरूपण आवश्यक था, किन्तु इस विषय के विस्तृत होने के कारण, इसे बाद में ही प्रस्तुत करना उचित है।

'रीति' क्या है ?

रीति, अङ्ग-रचना की भाँति, पद-रचना अथवा पद-संघटना है जो कि रसभावादि की अभिव्यक्षना में सहायक हुआ करती है।

यहाँ कारिका में 'रसादीनाम्' का अभिप्राय 'शब्दार्थशरीररूप काव्य के आत्मभूत रसादि' का अभिप्राय है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'रीति' और 'संघटना' एक ही वस्तु है। 'रीति' अथवा 'संघटना' रस की अभिव्यक्ति का निमित्त है और इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने रसभावादि की 'उपकर्त्री' माना है। काव्यप्रकाशकार ने रीति-तत्त्व पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला था क्योंकि प्राचीन ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में 'वृत्ति' और 'रीति' का रहस्य वर्ण-संघटनावैशिष्ट्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है—

'वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि वा कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिता, ता अपि गता श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रमृतयः' और लोचनकार की भी इस सम्बन्ध में यही समीक्षा है—

'रीतयश्चेति—तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गता. श्रवणगोचरमिति सम्बन्धः । तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषां च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुढ मरिचादिरसानां संघातरूपतागमन दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषय गौडीय-वैदर्भ पाञ्चाल देशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविध रीतिरित्युक्तम् ।' (ध्वन्यालोक तथा लोचन १ म उद्योत) किन्तु साहित्यदर्पणकार 'रीति' को न छोड़ सके। संभवत रुद्रट और भोजराज के प्रभाव में पढ़कर साहित्यदर्पणकार ने 'रीति' और 'काव्य' के उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध पर यह सब जोर दिया है।

अनुवाद—रीति चार प्रकार की है—(१) वैदर्भी, (२) गौडी, (३) पाञ्चाली और (४) लाटी ।

(आचार्य रुद्रट-सम्मत वैदर्भी-स्वरूप : निर्देश)

रुद्रटस्त्वाह—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी ।

वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ॥

अत्र दशगुणास्तन्मतोक्ताः श्लोपादयः ।

(गौडीरीति : सोदाहरण स्वरूप-निर्देश)

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्वन्ध आडम्बरः पुनः ॥ ३ ॥

समासबहुला गौडी—

यथा—

‘चञ्चद्भुज—’ इत्यादि ।

(आलङ्कारिक पुरुषोत्तम-सम्मत गौडी-स्वरूप . संकेत)

पुरुषोत्तमस्त्वाह—

महाकवि विल्हण की यह वैदर्भी गुणगाथा भी ध्यान देने योग्य है—

‘अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः ।

वैदर्भीरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥’

(विक्रमाङ्कदेवचरित १९)

अनुवाद—‘वैदर्भी’ के सम्बन्ध में (काव्यालङ्कार के रचयिता) आचार्य रुद्रट का यह मत है—

‘वैदर्भी रीति अथवा ललित-पद-रचना इस प्रकार की हुआ करती है जिसमें समस्त पदावली का प्रयोग नहीं हुआ करता, जहाँ एक आध पद समस्त हो जाँय तो कोई हावि नहीं, जिसमें श्लोपादि दसों शब्दगुण विराजमान रहा करते हैं, जिसमें द्वितीय वर्ग अर्थात् चवर्ग के वर्णों का बाहुल्य सुन्दर लगा करता है और जिसमें ऐसे वर्ण रहा करते हैं जो कि स्वरूप प्रयत्न से उच्चरित हो सकते हैं ।’

यहाँ ‘युक्ता दशभिर्गुणैश्च’ में दस गुणों का अभिप्राय आचार्य रुद्रट-सम्मत ‘श्लेष’ आदि दस शब्दगुणों का अभिप्राय है ।

अनुवाद—‘गौडी’ वह रीति है जिसे ओज गुण के अभिव्यञ्जक वर्णों से पूर्ण, समास प्रचुर, उद्भट रचना कहा गया है ।

जैसे कि—

‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ आदि पूर्वोद्धृत रचना ।

विमर्श—रीतिवाद के प्रवर्तक आचार्य वामन के अनुसार ‘गौडी’ रीति का स्वरूप यह है—

‘समस्तार्युद्भटपदामोज कान्तिगुणान्विताम् ।

गौडीयामिति गायन्ति रीति रीतिविचक्षणा ॥’

(काव्यालङ्कारसूत्र

जिसमें यह स्पष्ट है कि वैदर्भी और गौडी परस्पर विषम स्वभाव की रीतियाँ अथवा पद रचनायें हैं ।

‘बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौटीया ।
रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोत्रवाक्या च ॥’

(पाताली गीति श्लोकरण न्यरूप-निरुक्त)

—वर्यैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।

समन्तपञ्चपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥ ४ ॥

द्वयोर्वेदभीर्गौट्यो ।

यथा—

‘मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुनमृद्धिमनेधितनेधया ।
मधुरराजतया सुहृन्मदध्वनिभृता निभृतादरगुज्जगे ॥’

(भोजराज-सम्मत पाताली-स्वरूप)

भोजस्त्याह—

‘समन्तपञ्चपदामोज कान्तिसमन्विताम् ।
मधुरा सुहृन्मारा च पाञ्चाली ज्वयो विदुः ॥’

यथा—

‘अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोलकोडताम्रस्तमांसि ॥’

(अन्य काव्याचार्य-सम्मत लाटी-स्वरूप)

कश्चिदाह—

‘मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा ।
उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेज्जाटी ॥’

(अन्य आलंकारिक-सम्मत रीतिचतुष्टय-स्वरूप)

अन्ये त्वाहुः—

‘गौडी डम्बरवद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा ।
पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः ॥’

(रचना के नियामक)

क्वचित्तु वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः ॥ ५ ॥

जैसे कि—

‘कमलवन को विकसित करने वाला, उदयाचल पर्वत की वनवीथिका का नवविकसित मन्दारपुष्प, विरहविधुर चक्रवाक के जोड़े का एकमात्र वान्धव किंवा कुपित कपि के कपोल की भाँति रक्तवर्ण यह सूर्य अँधेरे का उन्मूलन करते हुए उदय हो रहा है ।’

विमर्श—आचार्य रुद्रट के अनुसार ‘गौडी-पाञ्चाली-लाटी’ का स्वरूप-विवेक यह है—

‘पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिता ।

लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ॥

द्वित्रपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत् ।

शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया ॥’

(काव्यालंकार २ ४५)

अनुवाद—किसी काव्याचार्य के मत में ‘लाटी’ का स्वरूप यह है—

‘लाटी रीति ऐसी हुआ करती है जिसमें कोमल पदों के समास का सौन्दर्य देखने योग्य हुआ करता है, जिसमें सयुक्त वर्णों का प्रयोग स्वल्पमात्रा में ही हुआ करता है और जिसमें प्रकृतोपयुक्त विशेषणों से रमणीय वर्ण्य वस्तु की एक अपनी ही छटा झिटका करती है ।’

अनुवाद—कतिपय काव्याचार्यों ने रीति चतुष्टय का यह सक्षिप्त स्वरूप बताया है—

‘वैदर्भी’ रीति का अभिप्राय ‘मधुरबन्ध’, ‘गौडी’ रीति का अभिप्राय ‘उद्भूतबन्ध’, ‘पाञ्चाली’ रीति का अभिप्राय ‘मिश्रबन्ध’ और ‘लाटी’ रीति का अभिप्राय ‘मृदुबन्ध’ का अभिप्राय है ।

विमर्श—रीति-चतुष्टय का यह उपर्युक्त सक्षिप्त विवेक ‘रीति’ और ‘बन्ध’ (सघटना) के अभेद का एक सुन्दर विमर्श है । काव्य-साहित्य के चार ‘बन्ध’ चतुर्विध काव्यमार्ग से एकरूप हैं ।

अनुवाद—काव्य-साहित्य में रीति अथवा पदरचना के उपर्युक्त सिद्धान्त का अपवाद दृष्टिगत होता है जिसके कारण वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य आदि-आदि हैं ।

वन्त्रादीत्यादिगन्धद्वान्यप्रयन्धौ । रचनादीन्यादिगन्धद्वयवृत्तिवर्णौ । तत्र
यक्त्राचित्यागया—

‘मन्थायस्नाणञ्जान्भ (पुनरुक्त)रचलन्मन्दरधानधीरः

कोणावातेषु गर्जन्प्रलयगनपटान्योन्यमल्लचरट ।

कुण्ठासोधाप्रदूत कुन्तुनिधनोत्पातनिर्घातवात

केनास्मस्तिन्नादप्रतिरसितमग्रे दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥

अत्र वान्त्रकोवाग(न)भिद्वयकृतेऽपि भीममेतद्वस्तुत्वेनोदता रचनाय ।
वान्त्रौचिन्त्यागयोवाग्ने ‘मृयंवाधूयमान—’ इत्यादौ । प्रदन्त्रौचित्यागया नाट-
कादौ रौद्रेऽप्यभिनयप्रतिद्वन्द्वेन न दीर्यवमानादय । एतन्मागयापिनागा
शृङ्गारेऽपि न मन्त्रणप्रणीदय । तथावा रौद्रेऽपि नाचन्नुन्ता । एतन्मन्त्र-
दपि ज्ञेयम् ।

इति नाट्यदर्पणे गीतिविशेषनो नाम नयम परिच्छेदः ।



विमर्श—कान्यप्रकाशकार ने तो 'गुणाश्रया सघटना' के अपवाद-रूप में 'वाच्यौचित्य' आदि का निर्देश किया है किन्तु साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'वाच्यौचित्य' आदि 'रीति' के अपवादरूप हैं।

रचना के नियामकों में 'रसौचित्य' का स्थान सर्वोपरि है जैसा कि ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है—

रसबन्धोक्तमौचित्य भाति सर्वत्र सश्रिता ।

रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत् ॥ (ध्वन्यालोक ३९)

अर्थात् क्या पद्यबन्ध और क्या गद्यबन्ध-सर्वत्र रसौचित्य ही रचना अथवा सघटना का नियामक है। जहाँ-तहाँ 'विषयौचित्य' के कारण रचना में जो वैषम्य सम्भव है वह वस्तुतः 'रसौचित्य' का ही एक अवान्तरवैचित्र्य है।

रसौचित्य के बाद 'वक्त्रौचित्य' का स्थान है। 'वक्त्रौचित्य' की रचना नियामकता के सम्बन्ध में ध्वनिकार का यह विवेचन ध्यान देने योग्य है—

'तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा, कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा ... । तत्र यदा कविरपगततरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः । यदापि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव । यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमासा मध्यसमासे एव सघटने'—(ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत)

अर्थात् वक्ता के औचित्य के कारण रचना नियमन में सर्वप्रथम यह देखना है कि 'वक्ता' का अभिप्राय 'कवि' और 'कविप्रतिभोत्पापित चरित' दोनों का है। जहाँ कवि अथवा कविनिबद्ध चरित रसभावविवक्षाशून्य हों वहाँ कोई भी रचना क्षम्य है किन्तु यदि कवि अथवा कविनिबद्ध चरित रसभावसमन्वित हैं तो रचना का 'असमासा' अथवा 'मध्यमसमासा' होना अनिवार्य है।

रचना का तीसरा नियामक 'वाच्यौचित्य' है। 'वाच्यौचित्य' का अभिप्राय यह है—

'वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्ग रसाभासाङ्ग वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थ वा, उत्तम प्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम् ।' (ध्वन्यालोक . तृतीय उद्योत)

चतुर्थ रचनानियामक 'विषयौचित्य' अथवा प्रबन्धौचित्य है जैसा कि ध्वनिकार का यह कथन है—

'विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति । काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥'

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सघटनां नियच्छति । यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तक-संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशनिबद्धम् । सदानितक-विशेषक-कलापक-कुलकानि । पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथासकलकथे, सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे इत्येवमादयः । तदाश्रयेणापि संघटना विशेषवती भवति ।

(ध्वन्यालोक . तृतीय उद्योत)

जिसे लोचनकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'विषयाश्रयमिति—विषयशब्देन संघातविशेष उक्तः । यथा हि सेनाद्यात्मकसंघात निवेशो पुरुष कातरोऽपि तदौचित्यादनुगुणतयैवास्ते तथा काव्यवाक्यमपि संघातविशेषात्मकसन्दानितकादिमध्यनिविष्टं तदौचित्येन वर्तते । अपिशब्देनेदमाह—सत्यपि वक्तृवाच्यौचित्ये विषयौचित्यं केवलं तारतम्यभेदमात्राभ्यासम्, न तु विषयौचित्येन वक्तृवाच्यौचित्यं निवार्यत इति ।' (ध्वन्यालोकलोचन . तृतीय तन्त्रोत्तर)

दशमः परिच्छेदः

(काव्य में अलङ्कार-तन्त्र स्वल्प और व्युत्पत्ति)

अथावत्तरश्रमानलङ्कारानाह—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मोः शोभातिशायिनः । ✓

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदिवत् ॥ १ ॥

यथा अङ्गदिव्य शरीरशोभातिशायिन शरीरिणुपकुर्वन्ति, तथानुश्रानोप-
नादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः । अलङ्कारा अस्थिरा इति नैज
॥ १ ॥

(शब्दालङ्कार १ पुनरुक्तवदाभास)

शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालङ्कारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थो लङ्कारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालङ्कारमध्ये लक्षितत्वात्प्रथम तमेवाह—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।

पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥ २ ॥

उदाहरणम्—

‘भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ।

जगन्त्यपि सदापायादव्याचेतोहरः शिवः ॥’

अत्र भुजङ्गकुण्डल्यादिशब्दानामापातमात्रेण सर्पाद्यर्थतया पौनरुक्त्यप्रतिभासनम् । पर्यवसाने तु भुजङ्गरूप कुण्डलं विद्यते यस्येत्याद्यन्यार्थत्वम् । ‘पायादव्यात्’ इत्यत्र क्रियागतोऽयमलङ्कारः, ‘पायात्’ इत्यस्य ‘अपायात्’ इत्यत्र पर्यवसानात् ।

‘ये वाच्य-वाचकलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यरस सभविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाग्रज्ञानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽप्युपकारका हारादय इवालङ्काराः । यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः । क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति ।’ (काव्यप्रकाश ८६७)

साहित्यदर्पणकार को यह ‘अलङ्कारवाद’ सर्वथा मान्य है किन्तु ‘उत्कर्षहेतव प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः’ (साहित्यदर्पण १३) आदि उक्ति में, एक सास में हो, ‘गुण’ के साथ ‘अलङ्कारों’ का रसविषयक उत्कर्ष-योग, यदि न बताया गया होता तो क्या ही अच्छा होता ।

अनुवाद—यद्यपि यहाँ पहले शब्दालङ्कारों का हो विवेचन उचित है क्योंकि शब्द और अर्थरूप युगल तत्त्व में शब्द की ही उपस्थिति पहले हुआ करती है किन्तु यहाँ सर्वप्रथम शब्द और अर्थ-दोनों के अलङ्कार ‘पुनरुक्तवदाभास’ का निरूपण इसलिये किया जा रहा है क्योंकि प्राचीन आलङ्कारिक इसे शब्दालङ्कार में ही अन्तर्भूत मान चुके हैं।

‘पुनरुक्तवदाभास’—

‘पुनरुक्तवदाभास’ वह अलङ्कार है जिसमें अर्थ (वस्तुतः तो नहीं किन्तु) आपाततः पुनरुक्तवत् प्रतीत हुआ करता है और शब्द भिन्न आकार अथवा स्वरूप के हुआ करते हैं ।

जैसे कि—‘भुजङ्गकुण्डली’ कान में कुण्डलरूप में सर्पों को धारण करनेवाले, ‘व्यक्त शशिशुभ्रांशुशीतगुः’ (मस्तक पर) स्पष्टतया दृष्टिगत ‘शशि’ अथवा कलङ्क-चिह्न से युक्त किंवा शुभ्र किरणोंवाले ‘शीतगु’ अथवा चन्द्रमा से विभूषित ‘चेतोहरः शिवः’ वे भक्तभावन भगवान् शङ्कर ‘जगन्त्यपि सदापायादव्यात्’ इस ससार को सदा ‘अपाय’ अथवा विघ्न-बाधा से बचाते रहा करें ।’

यहाँ ‘पुनरुक्तवदाभास’ है क्योंकि आपाततः ‘भुजङ्गकुण्डली’ और ‘शशि-शुभ्रांशु-शीतगु’ आदि शब्द सर्प अथवा चन्द्र आदि रूप अर्थ के ही अभिधायक होने से पुनरुक्त से प्रतीत हो रहे हैं । यह तो अन्त में होता है कि इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ जैसे कि ‘भुजङ्गकुण्डली’ आदि के ‘भुजङ्गरूप कुण्डलं विद्यते यस्य’ (भुजङ्गरूप कुण्डलधारी) आदि अर्थ स्पष्ट हो पाते हैं । यहाँ ‘पायादव्यात्’ में क्रियाबोधक शब्दों के आपाततः

‘भुजङ्गमुडली’ इति शब्दयोः प्रथमस्यैव परिवृत्तिसङ्ख्यम् । ‘हरः शिवः’ इति द्वितीयस्यैव । ‘शशिशुभ्राङ्गु’ इति द्वयोरपि । ‘भाति सदानत्याग’ इति न द्वयोरपि । इति शब्दपरिवृत्तिसङ्ख्यासङ्ख्याभ्यामन्योभयात्तद्वारत्वम् ।

(२—अनुप्रास . भेद-प्रभेद-निर्देश)

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।

स्वरनात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावात् गणितम् । रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण
न्यासोऽनुप्रासः ।

(प्रयत्न भेद . द्वाकानुप्रास)

छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनक्रधा ॥ ३ ॥

पौनःत्वन्य में भी यही बलद्वार दितायी देता है क्योंकि वन्त में 'सदापायादव्यात्' का वनिप्राय 'सदापायात् विद्वात् लब्धात्' निकल पड़ता है।

यहाँ 'सुजङ्गकुण्डली' इन दो शब्दों में पहला अर्थात् 'सुजङ्ग' शब्द ही परिवृत्तिमह शब्द है (अर्थात् इसे बदल देने पर भी इस अलङ्कार में कोई हानि नहीं हो सकती) और 'हर शिव' में दूसरा अर्थात् 'शिव' शब्द ही बदला जा सकता है (किन्तु तब भी यह अलङ्कार अलङ्कार ही रहेगा)।

काव्यप्रकाशकार द्वारा उदाहरण इस सूक्ति अर्थात्—

'अरिवधदेहशरीर' सहनारयिचूतदुग्गपादात् ।

भाति नदान्याग त्थिरतायान्ननिनत्तिल्ल ॥'

में 'भानि नञनन्वाग' में वान और न्वाग-द्वेनों शब्द ऐसे हैं जिनका पर्याय द्वारा परि-
वर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से यहाँ इस अलङ्कार के ही नष्ट हो
जाने का डर है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह अलङ्कार शब्द और अर्थ—द्वेनों का
अलङ्कार है—शब्द का अलङ्कार इसलिए क्योंकि कहीं शब्द की परिवृत्ति में यह अलङ्कार
नष्ट हो जाता है और अर्थ का अलङ्कार इसलिए क्योंकि कहीं शब्द की परिवृत्ति में भी
इस अलङ्कार का स्वरूप नहीं दिगडता (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट हो रहा है)।

विनर्श—(तुलनात्मक) = मूलानुगतिकता का प्रमाणित प्रमाण है।
 मादिकर्तव्य—वे सभी प्रमाणित प्रमाणित हैं।
 'मादिकर्तव्य' के एक प्रमाणित प्रमाणित हैं।

सुत्र—‘सुप्राम वह शब्दात्कार है जिसे नवर के त्रैमास्य में भी, शब्द लयवा व्यञ्जन का माहय कहा गया है।’

स्वरनात्र के माध्यम में 'अनुप्रास' इसलिए नहीं माना जाता करता क्योंकि स्वर-माध्यम में कोई विचित्रता नहीं प्रतीत हुआ करती। 'अनुप्रास' को इसलिए अनुप्रास कहा करते हैं क्योंकि यह रमभावान्वित के अनुकूल एक 'प्रष्ट' अथवा चमत्कारपूर्ण शब्द-न्यास (अनु+प्र+आस) अथवा शब्दाविवृत्त अलङ्कार हुआ करता है।

[illegible]

()

मन्त्र—अनुप्रास का प्रथम स्रोत अर्थात् 'हेकानुप्रास' वह है जिसे व्यञ्जन-मनुष्य के मन्त्र लयवा एक बार होनेवाले अनेक प्रकार के साम्य में देखा जाया करता है।

छेकश्छेकानुप्रासः । अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च । रसः सर इत्यादेः क्रमभेदेन सादृश्यं नास्यालङ्कारस्य विषयः ।

उदाहरणं मम तातपादानाम्—

‘आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान् ।

अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ॥’

अत्र गन्धानन्धीतिसयुक्तयोः, कावेरीवारीत्यसयुक्तयोः, पावनः पवन इति व्यञ्जनानां बहूनां सकृदावृत्तिः । छेको विदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादेः छेकानुप्रासः ।

(२य भेद वृत्त्यनुप्रास)

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा ।

एकस्य सकृदप्येव वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥ ४ ॥

एकधा स्वरूपत एव, न तु क्रमतोऽपि । अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च । सकृदपीत्यपि शब्दादसकृदपि ।

उदाहरणम्—

‘उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-

कीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।

यहाँ कारिका में ‘छेक’ का अभिप्राय छेकानुप्रास का अभिप्राय है, ‘अनेकधा’ (साम्य) का तात्पर्य स्वरूपतः साम्य और क्रमतः साम्य का तात्पर्य है । यहाँ यह ध्यान रखना उचित है कि ‘रसः सर’ आदि पदों में, क्रमभेद से जो व्यञ्जनसादृश्य है, उसमें ‘छेकानुप्रास’ की कोई संभावना नहीं ।

जैसे कि मेरे पूज्य पितृचरण की इस सूक्ति का ‘छेकानुप्रास’—

‘कावेरी के जल-सस्पर्श से पावन पवन मन्द-मन्द गति से चल रही है और बकुल की सुरभि से सुरभित बनी, पग-पग पर भ्रमरों को मस्त बना रही है ।’

यहाँ ‘गन्धानन्धीकुर्वन्’ में सयुक्त ‘न्ध्’ ‘कावेरीवारि’ में असयुक्त ‘वार’ और ‘पावन पवन’ में अनेक असयुक्त व्यञ्जनों (प-व-न) की जो एक बार आवृत्ति है, उसमें ‘छेक’ अथवा विदग्ध कवि द्वारा प्रयुक्त इस अनुप्रास अर्थात् ‘छेकानुप्रास’ की छटा वस्तुतः दर्शनीय है ।

अनुवाद—द्वितीय अनुप्रास-भेद अर्थात् वृत्त्यनुप्रास वह शब्दालङ्कार है जिसे अनेक व्यञ्जनों की एक प्रकार की (अर्थात् स्वरूपतः) समानता अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार (स्वरूपतः और क्रमतः) आवृत्ति या एक वर्ण की एक बार किंवा अनेक बार आवृत्ति कहा करते हैं ।

यहाँ कारिका में ‘एकधा’ (साम्य) का तात्पर्य केवल ‘स्वरूपत’ (साम्य) का तात्पर्य है क्रमत (साम्य) का नहीं । ‘अनेकधा’ (साम्य) का अभिप्राय स्वरूप और क्रम—दोनों प्रकार के साम्य का अभिप्राय है और ‘सकृदपि’ में ‘अपि’ शब्द के प्रयोग से ‘असकृत्’ (अनेक बार) का भी अर्थ समुद्गीत किया गया है ।

उदाहरण के लिये—

‘वसन्त ऋतु के ये दिन, जो कि प्रचुर मात्रा में समुद्भूत पुष्परस के सौरभ से मधुपों द्वारा कम्पित आन्नमञ्जरिओं के आस्वाद में लीन कोकिलकुल की काकली के

नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-

प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥'

अत्र 'रसोल्लासैरमी' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमेणापि द्वितीये पादे, कलयोरसकृत्तेनैव क्रमेण च । प्रथमे एकस्य मकारस्य सकृत्, धकारस्य चासकृत् । रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद्वृत्त्यनुप्रासः ।

(३य भेद श्रुत्यनुप्रास)

उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।

सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥ ५ ॥

उदाहरणम्—

'दृशा दग्ध मनसिज जीवयन्ति दृशैव या' ।

विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचना' ॥'

अत्र 'जीवयन्ति' इति, 'या' इति, 'जयिनी' इति । अत्र जकारयकारयोरेकत्र स्थाने तालावुच्चार्यत्वात्सादृश्यम् । एव दन्त्यकण्ठ्यानामप्युदाहार्यम् । एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रासः ।

कलध्वनि से विरहिओं के कानों को दुःखित कर रहे हैं, वस्तुतः उन वियोगिओं के लिये, जिन्हें प्रियाचिन्तन के समय प्रियामिलन का परमानन्द मिलने लगता है, बड़े कष्टकर प्रतीत हो रहे हैं ।'

यहाँ 'रसोल्लासैरमी' में 'र-स' का एक प्रकार का ही अर्थात् स्वरूपतः ही साम्य दिखायी देता है क्रमतः नहीं । इसके दूसरे चरण में 'क ल' की, अनेक बार, स्वरूपतः किंवा क्रमशः-दोनों प्रकार की समानता है । साथ ही साथ प्रथम चरण में 'म' की एक बार और 'ध' की अनेक बार आवृत्ति स्पष्ट है । इस प्रकार इस सूक्ति में वृत्त्यनुप्रास का मौन्दर्य स्पष्ट दिखायी दे रहा है । इस अनुप्रासभेद के वृत्त्यनुप्रास कहे जाने का यह अभिप्राय है—'वृत्ति' एक ऐसी रचना है जिसमें रसाभिव्यञ्जन का सामर्थ्य रहा करता है और इस 'वृत्ति' के अनुकूल वर्णों का जो प्रकृष्ट न्यास है वह 'वृत्त्यनुप्रास' है ।

अनुवाद—'श्रुत्यनुप्रास' वह अनुप्रासभेद है जिसे तालु, दन्त आदि स्थानों में से किसी एक स्थान में उच्चरित व्यञ्जनों का सादृश्य कहा जाया करता है । उदाहरण के लिये—

'उन वामलोचनाओं (सुन्दर नयनोंवाली रमणियों) को नमस्कार है जो कि दृष्टि से दग्ध काम को दृष्टि से ही पुनरुज्जीवित किया करती हैं और इस प्रकार विरूपाक्ष भगवान् शिव को भी जीतनेवाली हैं ।'

यहाँ 'श्रुत्यनुप्रास' स्पष्ट है क्योंकि 'जीवयन्ति', 'या' और 'जयिनी' में ऐसे 'ज' और 'य' वर्णों का सादृश्य है जो कि तालु-स्थानीय हैं ।

इसी प्रकार दन्तस्थानीय, कण्ठस्थानीय आदि वर्णों के सादृश्य में श्रुत्यनुप्रास के स्वरूप स्वयं देखे जा सकते हैं ।

इस अनुप्रास प्रकार को हमलिये 'श्रुत्यनुप्रास' कहा जाया करता है क्योंकि समान स्थानीय वर्णों का सादृश्य सहृदयों को बड़ा श्रुतिसुखावह (कर्ण-प्रिय) लगा करता है ।

(४र्थ भेदः अन्त्यानुप्रास)

व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।

आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥ ६ ॥

यथावस्थमिति यथासम्भवमनुस्वारविसर्गस्वरयुक्ताक्षरविशिष्टम् ।

एष च प्रायेण पादस्य पदस्य चान्ते प्रयोज्यः ।

पादान्तगो यथा सम—

‘केशः काशस्तवकविकासः कायः प्रकटितकरभविलासः ।

चक्षुर्दग्धवराटककल्पं त्यजति न केतः काममनल्पम् ॥’

‘मन्दं हसन्त. पुलक वहन्तः’ इत्यादि ।

विमर्श—काव्यप्रकाश में ‘श्रुत्यनुप्रास’ की कोई चर्चा नहीं । कविराज विश्वनाथ ने समस्त सरस्वतीकण्ठाभरणकार के प्रभाव में पडकर, इसकी चर्चा की है । सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार ‘श्रुत्यनुप्रास’ सर्वश्रेष्ठ अनुप्रास है—

‘प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासनायक. । सनाथैव हि वैदभीं भाति तेन विचित्रिता ॥

निवेशयति वाग्देवी प्रतिभानवतः कवेः । पुण्यैरमुमनुप्रास ससमाधिनि चेतसि ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण २. ७२-७३)

अर्थात् अनुप्रास-प्रकारों में सर्वोत्तम जो अनुप्रास है वह ‘श्रुत्यनुप्रास’ है । यह अनुप्रास प्रतिभाशाली कवि की मनःसमाधि का परिणाम है । यही वह अनुप्रास है जिसे ‘वैदभीं’ की रूपरेखा का निष्पादक कहा जा सकता है ।

सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इस अनुप्रास प्रकार के अनेकानेक अवान्तर प्रभेदों का निर्देश किया है जिनमें मसृण, वर्णमसृण, वर्णोत्कट, वर्णानुत्कट आदि-आदि मुख्य हैं ।

निम्न पंक्तिओं में इस अनुप्रास-प्रकार की महिमा गायी हुई है—

‘यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमङ्गनाम् । अनुप्रासस्तथा काव्यमलङ्कृतमयं पमः ॥

अनुप्रासः कविगिरां पदवर्णमयोऽपि यः । सोऽप्यनेन स्तवकितः श्रिय कामपि पुन्यति ॥’

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ ७६ ७७)

अनुवाद—चतुर्थ अनुप्रास-भेद अर्थात् अन्त्यानुप्रास वह है जिसे प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यञ्जन की ऐसी आवृत्ति में देखा जाया करता है जोकि पद अथवा पाद के अन्त में पड़ा करती है ।

यहाँ कारिका में ‘यथावस्थम्’ का अभिप्राय अनुस्वार, विसर्ग किंवा स्वरयुक्त अक्षर के यथासंभव पूर्ववत् रहने का अभिप्राय है । यह अन्त्यानुप्रास प्रायः पाद के अन्त में अथवा जहाँ-तहाँ पद के अन्त में भी प्रयुक्त हुआ करता है ।

उदाहरण के लिये पादान्तवर्ती अन्त्यानुप्रास, जोकि मेरी इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—

‘केश हैं कास के फूल सरीखे श्वेत, काय है करम अथवा ऊँट के समान बेढगा और आँखें हैं जली कौड़ी की भाँति निस्तेज ! किन्तु मन अभी भी विषय वृष्णा में रम रहा है ।’

अथवा

‘मन्दं हसन्त. पुलक वहन्तः’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में स्पष्ट है ।

विमर्श—‘अन्त्यानुप्रास’ की मान्यता में, विश्वनाथ कविराज ने समसामयिक वगदेशीय

(५म भेद • लाटानुप्रास)

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः ।

लाटानुप्रास इत्युक्तो—

उदाहरणम्—

स्मेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते ।

पश्य निजितकन्दर्पं कन्दर्पवशा प्रियम् ॥

अत्र विभक्त्यर्थस्य पौनरुक्त्येऽपि मुख्यतरस्य प्रातिपदिकाशद्योत्यधर्मिरूपस्य भिन्नार्थत्वात्लाटानुप्रासत्वमेव ।

‘नयने तस्यैव नयने च ।’

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टत्वरूपतात्पर्यमात्रेण भिन्नार्थं यथा वा—

यस्य न सविधे वयिता ववदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।

यस्य च सविधे वयिता ववदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥’

मन्तून वविधों की रचनाओं के माधुर्य वा विमेषता किया है । पाँचवर्ष जयदेव-द्वन ‘चन्द्रालोक’ में एक अनुप्रास-प्रकार को ‘स्तुटानुप्रास’ कहा गया है—

‘श्लोकस्याद्ये तदधे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा । तदा नता नतिमतां स्तुटानुप्रासता सताम् ॥’

(चन्द्रालोक ५ •)

अर्थात् श्लोक के पूर्वांश के अन्त में आनेवाले वर्णों को श्लोक के उत्तरार्ध के अन्त में आवृत्ति का नाम ‘स्तुटानुप्रास’ है किन्तु, विधानाथ कविराज का ‘स्तुटानुप्रास औ’ पाँचवर्ष जयदेव का ‘स्तुटानुप्रास’ बल्लभ एक ही अनुप्रास-भेद के दो नाम हैं ।

अनुवाद—‘लाटानुप्रास’ वह अनुप्रासभेद है जिसे ऐसे शब्दों और अर्थों की आवृत्ति कहा करते हैं जोकि केवल तात्पर्यत भिन्न हुआ करते हैं । उदाहरण के लिये—

‘सरी ‘स्मेरराजीवनयने’ (खिले कमल नरीखे नेत्रोंवाली) ! ‘नयने किं निमीलिते’— (तूने अपने नेत्र क्यों बन्द कर लिये हैं ?) देख, अपने ‘निजितकन्दर्प’ (काम को भी मोहर्ष में परास्त करनेवाले) ‘कन्दर्पवशा’ (काम के वशाभूत) प्रियतम को तो देख ।’

यहाँ विभक्त्यर्थ की आवृत्ति के न होने पर भी, प्रातिपदिक रूप अर्थों जैसे कि ‘नयन-नयन’, ‘कन्दर्प-कन्दर्प’ आदि की आवृत्ति स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि प्रातिपदिक रूप अर्थों द्वारा बोध्य प्रधानभूत धमीरूप (नेत्र और काम) अर्थ लभि है (तथा तात्पर्यत भिन्न भी है) इस प्रकार यहाँ ‘लाटानुप्रास’ स्पष्ट है ।

अथवा

जैसे कि—‘नयने तस्यैव नयने च’ (बल्लभ उसी की आँख आँखें हैं) ।

यहाँ ‘नयने नयने’ में विभक्त्यर्थ की आवृत्ति है और दूसरा नयन शब्द तात्पर्यत भिन्न अर्थ का भी उपस्थापक है क्योंकि इसमें भाग्यशालिता आदि गुणों की विमेषता का लभिप्राय निगूढ़ है । इस प्रकार यह ‘लाटानुप्रास’ का एक मदांग समीचीन उदाहरण है ।

अथवा

जैसे कि—‘जिसके पाम प्रेमिका नहीं उसके लिये तुहिनदीधिति (चन्द्रमा) भी

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम् । एष च प्रायेण लाटजनप्रियत्वान्नाटानुप्रा

—ऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥ ७ ॥

स्पष्टम् ।

(३—यमक)

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।

क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ ८ ॥

अत्र दोरपि पदयोः कचित्सार्थकत्वं कचिन्निरर्थकत्वम् । कचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम् । अत उक्तम्—‘सत्यर्थे’ इति । ‘तेनैव क्रमेण’ इति दमो मोद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम् । एतच्च पादपादाद्धर्शलोकावृत्ति त्वेन पादाद्यावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततमभेदम् ।

दवदहन (दावाग्नि) है और जिसके पास प्रेमिका है उसके लिये दवदहन (दावानल) भी तुहिनदीधिति (चन्द्रमा) है ।

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति का सौन्दर्य दर्शनीय है जिससे यहाँ का ‘लाटानुप्रास’ बड़ा मनोरम बन रहा है । यह अनुप्रासभेद इसलिये ‘लाटानुप्रास’ कहा जाया करता है क्योंकि लाटदेश के कविजनों का यह बड़ा प्रिय अनुप्रास है ।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुप्रास पाँच प्रकार का हुआ करता है (अर्थात् १ छेकानुप्रास, २. वृत्त्यनुप्रास, ३. श्रुत्यनुप्रास, ४ अन्त्यानुप्रास और ५. लाटानुप्रास) ।

यह कारिकांश स्वयं स्पष्ट है ।

विमर्श—लाटानुप्रास वह अनुप्रासप्रकार है जिसे ‘लाटजनवल्लभ’ अर्थात् लाटप्रान्त के कवियों और रसिकों का परम प्रिय अनुप्रास कहा गया है । प्राचीन आलंकारिकों ने इसके भी अनेकानेक भेद-प्रभेद बताये हैं । सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इसके प्रकार-पट्टक का निरूपण किया है—

‘स चाव्यवहितो व्यस्तः समस्त उभयः पुनः ।

उभय चक्रवालं च गर्भश्चैवाभिधीयते ॥’

(सरस्वतीकण्ठाभरण २० १०२)

और इसकी अवान्तर जातियों को यमक-जातियों की भाँति प्रचुर संख्यावाली बताया है—

‘यमकानां हि यावन्त्यो वर्ण्यन्ते भेदभक्तयः ।

अनुप्रासस्य लाटानां भिदास्तावन्य एव हि ॥’

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ १०५)

अनुवाद—‘यमक’ यह शब्दालंकार है जिसे, सार्थक होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर-व्यञ्जन-समूह की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति कहा करते हैं ।

यहाँ कारिका में ‘सत्यर्थे’ (अर्थ सति, सार्थक होने पर) इसलिये कहा गया है क्योंकि ‘यमक’ में ऐसा होता है कि कहीं-कहीं तो दोनों पद सार्थक हुआ करते हैं और कहीं-कहीं दोनों निरर्थक और कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि एक पद तो सार्थक रहा करता है और दूसरा निरर्थक । ‘तेनैव क्रमेण’ (पूर्वक्रमानुसार) कहने का यह अभिप्राय है कि ‘दमो मोद’ सरीखे स्वर व्यञ्जन-समूह की आवृत्ति को ‘यमक’ न समझा जाय क्योंकि

(पदावृत्तिरूप यमञ्च)

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

'नवपञ्चाश-पलाशजनं' पुरः स्फुटपराग-पराग्रत-वह्निजम् । ॥ ५॥

मृदुलं तान्त-लवार्त्तमलोकयन् स सुरभिः सुरभिः सुनतोभरैः ॥'

अत्र पञ्चवृत्तिः । 'पलाशपलाश' इति 'सुरभि' सुरभि' इत्यत्र च द्वयोः सार्ध-
कत्वम् । 'लतान्तलतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम् । 'परागपराग' इत्यत्र
द्वितीयस्य । एवमन्यत्राप्युदाहार्यम् ।

‘यमकाशं भवेदैक्यं डलोर्वत्रोर्लोरोस्तथा ।’

-इत्युक्त्यान् 'भुजलतां जडतामवलज्जन' इत्यत्र न यमकत्वहानि ।

यहाँ 'द' और 'म' रूप स्वर-यजन-मनूह का क्रम उल्टा हुआ दितायी दे रहा है। 'यमक' की भेदस्तथा क्षतिप्रसुर है क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि-आदि प्रकार की आवृत्तियाँ 'यमक' को ही विविध रूपरेखाएँ हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार (जैसे कि पाद के आद्यभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की आवृत्ति और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि-आदि) सम्भव हैं (जो कि काव्य-साहित्य में उपलब्ध भी हुआ करते हैं)।

दिग्दर्शनमात्र के लिये उदाहरण :-

‘श्रीकृष्ण ने ‘सुननोभरै सुरभि सुरभि’ पृथ्वी से सुरभित उस ‘सुरभि’ अर्थात् वसन्त
मनम का दर्शन किया जो ‘नवपलाशपलाशवन नये-नये पलाशों अर्थात् किमल्यों से
लहलहाने पलाशवन के नौन्दर्य से मनुष्य, ‘सुन्दररागपरागनपूज्य’—जिसे हुए और
पराग अर्थात् पुष्परज से परागन अथवा व्याप्त कमलों की मोहकता से मधुर और ‘सुदु-
लान्तलान्तम्—मृदुल अर्थात् सुकुमार किंवा तान्त्र अथवा ज्ञानम से सतत लताओं
की कोमलता से रमणीय लग रहा था।’

यहाँ जो 'यमक' है वह 'पञ्चवृत्ति' प्रकार का है क्योंकि 'पल्लव', 'पराग', 'मृदुल' आदि पदों की आवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है।

यहाँ 'पलाश-पलाश', 'सुरभि-सुरभि' व दोनों पद ऐसे हैं जो सार्थक हैं। किन्तु 'लतान्त-लतान्त'—मैं पहला 'लतान्त' निरर्थक है (क्योंकि यहाँ जो पद है वह 'लतान्त' नहीं अपितु 'नृदुल'—'तान्त' है)। इसी प्रकार 'पराग-पराग' में दूसरा जो 'पराग' पद है वह कोई अर्थ नहीं रखता (क्योंकि यहाँ पद 'पराग' नहीं अपितु 'परागन्' है)।

इस भाँति 'पादावृत्ति' काटि पञ्च प्रकारों में मार्थक ल्यबा निरर्थक श्व-व्यञ्जन-तनुदाय की आवृत्ति के उदाहरण स्वयं दे दिये जा सकते हैं।

‘यमक में ‘डि’ और ‘ल’, ‘श’ और ‘व’ ज़िवा ‘र’ और ‘ल’ वर्गों में जोड़े भेदे नहीं माना जाया करता’—यह एक सर्वमान्य आल्फाबेटिक सिद्धान्त है। इसलिने ‘सुन्दरता जड़ता मन्त्रालय’ आदि प्रयोगों में यमक-व्यवस्था में कोई कानि नहीं मानी जाती।

[illegible]

‘चतुर्निहृषेकपाशेषु यमकानां विकल्पना ।

लादिनध्यान्तनध्यान्तनध्यान्तनाम् ॥

(४—वक्रोक्ति)

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।

अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥ ९ ॥

द्विधेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । क्रमेणोदाहरणम्—

(श्लेषवक्रोक्तिः सभङ्ग और अभङ्ग श्लेषवक्रोक्तिः)

‘के यूयं स्थल एव सम्प्रति वयं प्रश्नो विशेषाश्रयः

किं ब्रूते विहगः स वा फणिपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः ।

वामा यूयमहो विडम्बरसिकं कीदृक् स्मरो वर्तते

येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्वेव योपिद्भ्रमः ॥’

अत्र विशेषपदस्य ‘विः पक्षी’, ‘शेषो नाग’ इत्यर्थद्वययोग्यत्वात् सभङ्गश्लेषः ।

अन्यत्र त्वभङ्गः ।

(काकुवक्रोक्तिः)

‘काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे ।

कृतागसः परित्यागात्तस्याश्चेतो न दूयते ॥’

अत्यन्तबह्वस्तेषां भेदाः सभेदयोनयः ।

सुकरा दुष्कराश्चैव दर्शयन्ते तत्र केचन ॥’

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ ६१ ६२)

अनुवाद—‘वक्रोक्ति’ वह शब्दालङ्कार है जहाँ ‘श्लेष’ के कारण अथवा ‘काकु’ (ध्वनि-विकार) के कारण, किसी के अन्यार्थक वाक्य को किसी अन्य अर्थ में लगा लिया जाया करता है । ‘श्लेष’ के कारण ऐसा होने से ‘श्लेष वक्रोक्ति’ और ‘काकु’ के कारण ऐसा होने से ‘काकु वक्रोक्ति’ इस प्रकार वक्रोक्ति के दो प्रकार हुआ करते हैं ।

यहाँ कारिका में ‘द्विधा’ (दो प्रकार की) कहने का अभिप्राय ‘श्लेषवक्रोक्ति’ और ‘काकुवक्रोक्ति’ रूप से वक्रोक्ति के दो प्रकारों के संग्रह का अभिप्राय है ।
क्रमशः उदाहरण—

‘(वक्ता-) के यूयम्—कौन हैं आप लोग ? (श्रोता-) ‘स्थल एव सम्प्रति वयम्’—हम लोग तो अभी सूखी जमीन पर हैं (‘के’ का अर्थ ‘जल पर’ लिया गया है जिसके प्रत्युत्तर में ‘स्थले’ (स्थल पर) कहा गया है) । (वक्ता-) ‘प्रश्नो विशेषाश्रयः’—हम तो आप लोगों के बारे में जानना चाहते हैं ? (श्रोता-) क्या आप ने किसी ‘पक्षिविशेष’ के बारे में पूछा या ‘फणिराज’ शेषनाग के बारे में—साफ बताइये ? (यहाँ ‘वि+शेष’ का भंग कर पक्षी और शेषनाग अर्थ लिया गया है) (वक्ता-) आप भी बड़े टेढ़े हैं ! (श्रोता-) अरे ! आप कम नहीं, आप भी बड़े ठग हैं, अरे, कहाँ से ऐसा प्रेम आप के गले लग गया जिससे हम पुरुषों में, आप को, स्त्री का भ्रम होने लगा ? (यहाँ ‘वामा’ का अर्थ ‘स्त्री’ लिया गया है ।)

यहाँ ‘विशेष’ पद में ‘वि=पक्षी और शेष=शेषनाग’ ये दो अर्थ हैं जिससे यहाँ जो ‘श्लेष’ है वह सभङ्ग श्लेष है । किन्तु अन्यत्र (जैसे कि ‘के’ आदि में) अभङ्ग श्लेष है । इस प्रकार यहाँ ‘द्विविध श्लेषवक्रोक्ति’ स्पष्ट है ।

‘कोकिल की कूक से मधुर और आनन्दमञ्जरी से मनोहर इस वसन्त में, अपराधी प्रेमी के परित्याग से उस सुन्दरी का हृदय दुःखित नहीं होता ।’

अत्र कयाचित्सख्या निषेधार्थं नियुक्तो नञ् अन्यथा काका दूयते एवेति विध्यर्थे घटितः ।

(५—भाषानमक)

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि ।

वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते ॥ १० ॥

यथा सम—

‘मञ्जुलमणिमञ्जोरे कलगन्भीरे विहारसरनीतीरे ।

विरसासि केलिकीरे किमालि’ धीरे च गन्धसारसमीरे ॥’

एष श्लोक सस्कृत-प्राकृत-शौरसेनी-प्राच्यावन्तीनागरापभ्रंशेष्वेकत्रिव एव ।

‘सरस कङ्कण कव्वम् ।’

इत्यादौ तु ‘सरसम्’ इत्यत्र सस्कृतप्राकृतयो साम्येऽपि वाक्यगतत्वाभावे वैचित्र्याभावात्त्रायमलङ्कारः ।

(६—श्लेष)

श्लिष्टैः पदैर्गनैकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।

यहाँ ‘काकुवक्रोक्ति’ इसलिये है क्योंकि ‘न दूयते’ का निषेधार्थक नञ्, विनग्न सखी द्वारा, काकु (गले की भावाज) से, ‘दूयते एव’ (अवश्य दुखित होता है) के अर्थ में बदल दिया गया है जिससे यह निषेधार्थक वाक्यविध्यर्थक बन रहा है ।

अनुवाद—‘भाषासम’ (अथवा भाषासमक) वह शब्दालङ्कार है जिसे देखने में एक प्रकार के किन्तु वस्तुतः विविध भाषाओं के शब्दों से बने वाक्य के सौन्दर्य में देखा जाया करता है ।

जैसे कि मेरी यह स्वरचित सूक्ति—

‘अरी सखी ! मधुर और गन्भीर ध्वनि वाले मञ्जुल मणि-मञ्जोरी से क्या रुटना ? क्रीडा-वापिका के तीर से क्या रोप ? क्रीडाशुक पर क्या शोभ ? और इस चन्दन-सुरभित मलय समीर से कैसी अनयन ? अरे, लड़ो अपने प्रेमी पर, इन्हें तो अपनाओ !’

यहाँ ‘भाषासम’ इसलिये है क्योंकि यह श्लोक-वाक्य सस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती, नागर और अपभ्रंश भाषाओं में एक सा ही लगेगा ।

‘सरस कङ्कण कव्व’ इत्यादि में, सस्कृत और प्राकृत में एक प्रकार से लगने वाले ‘सरस’ पद के देखते, ‘भाषासम’ का भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि यह अलङ्कार तो विविध भाषाओं के एक समान लगने वाले शब्दों द्वारा घटित वाक्य उन्व या वैचित्र्य है । ‘सरस’ इस एक पद में कोई वैचित्र्य नहीं और इसलिये यहाँ इस अलङ्कार की भी कोई सम्भावना नहीं ।

विमर्श—‘भाषानमक’ प्राचीन भाषाओं का अलङ्कार नहीं । ‘भाषानमक’ का अर्थ है ‘भाषा समक’ वा रूपरेखा का पार्यन्त १४ वीं शतक की ‘भाषासम’ का अर्थ है ‘सम’ है विभिन्न विधानों का इसके प्रथम प्रयोजन हो ।

अनुवाद—‘श्लेष’ वह अलङ्कार है जिसे श्लिष्ट पदों द्वारा अनेक अर्थों के अभिधान में

वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥ ११ ॥

श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१—वर्णश्लेष)

‘प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।

अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥’

अत्र ‘विधौ’ इति विधुविधिशब्दयोरुकारेकारयोरौकाररूपत्वाच्छ्लेषः ।

(२—प्रत्ययश्लेष)

‘किरणा हरिणाङ्गस्य दक्षिणश्च समीरण’ ।

कान्तोत्सङ्गजुषां नूनं सर्व एव सुधाकिरः ॥’

अत्र ‘सुधाकिरः’ इति किप्-क-प्रत्यययोः । कि चात्र बहुवचनैकवचनयोरैक रूप्याद्वचनश्लेषोऽपि ।

देखा जाया करता है । यह श्लेष आठ प्रकार का हुआ करता है—(१) वर्णश्लेष, (२) प्रत्ययश्लेष, (३) लिङ्गश्लेष, (४) प्रकृतिश्लेष, (५) पदश्लेष, (६) विभक्तिश्लेष, (७) वचनश्लेष और (८) भाषाश्लेष ।

श्लेष के इन आठ प्रकारों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

(१—वर्णश्लेष)

‘विधौ—विधि के और चन्द्रमा के प्रतिकूल हो जाने पर, सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं । तभी तो सूर्य के ‘करसहस्र’ किरण-समूह और हस्त-समूह, अस्तकाल के समय, उसे सहारा देने में असमर्थ रहा करते हैं ।’

यहाँ (शिशुपालवध की उपर्युक्त सूक्ति में) ‘वर्णश्लेष’ स्पष्ट है क्योंकि ‘विधौ’ पद ऐसा है जिसमें ‘विधि’ और ‘विधु’ के अन्तिम वर्ण, इकार और उकार, सप्तमी विभक्ति के एक वचन में ‘औ’ के एक रूप में परिणत दिखायी दे रहे हैं ।

(२—प्रत्ययश्लेष)

‘कान्तोत्सङ्गजुषाम्—कान्ता (प्रिया) अथवा कान्त (प्रियतम) के आलिङ्गन में आनन्दित प्रेमी अथवा प्रेमिकाओं के लिये, हरिणाङ्गस्य किरणाः दक्षिणश्च समीरणाः—चन्द्रमा की चाँदनी और मलय समीर, नूनं सर्व एव-वस्तुतः सब कुछ, ‘सुधाकिरः’—(बहु वचनान्त ‘किरणाः’ के योग में, सुधा किरन्तीति सुधाकिरः और एकवचनान्त ‘समीरण के साथ सुधां किरतीति सुधाकिरः) अमृत की वर्षा करने वाले ही लगा करते हैं ।’

यहाँ ‘सुधाकिरः’ में ‘किप्’ और ‘क’ दोनों प्रत्ययों के मेल के कारण ‘प्रत्ययश्लेष’ स्पष्ट है (‘किरणा सुधाकिरः’ = ‘सुधां किरन्तीति सुधाकिरः’, सुधा+कृ+किप् प्रथमा बहु वचनान्त रूप और ‘समीरणः सुधाकिरः’ = सुधां किरतीति सुधाकिर, सुधा+कृ+क प्रथमा एकवचनान्त रूप) ।

‘सुधाकिरः’ में (श्लेष का सप्तम प्रकार) वचनश्लेष भी माना जा सकता है क्योंकि यहाँ बहुवचन और एकवचन के रूप एक सरीखे लग रहे हैं ।

(३—लिङ्गश्लेष)

‘विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्या’ स्तनद्वयी ।

तव दत्ता सदा मोद लसत्तरलहारिणी ॥’

अत्र नपुंसकलीलिङ्गयोः श्लेषो वचनश्लेषोऽपि ।

(४—प्रकृतिश्लेष)

‘अयं सर्वाणि शालाणि हृदि जेषु च वक्ष्यति ।

सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥’

अत्र ‘वक्ष्यति’ इति वहि-वच्यो, ‘सामर्थ्यकृन्’ इति कृन्तति-करोत्यो प्रकृत्यो ।

(५—पदश्लेष)

‘पृथुकार्तस्वरपात्रम्-’ इत्यादि । अत्र पदभङ्गे विभक्तिसमासयोरपि वैलक्षण्य-
स्यात्पदश्लेषः । न तु प्रकृतिश्लेषः ।

(३—लिङ्गश्लेष)

‘तन्व्या लसत्तरलहारिणी विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा स्तनद्वयी—इमं सुन्दरी के वे खिले कमल नरीखे नेत्र (विकसन्नेत्रनीलाब्जे), जो कि ‘लसत्तरलहारिणी’ (लसन्ती शोभमाने तरले चञ्चले हारिणी मनोजे चेति-नपुंसकलिङ्ग प्रथमा द्विवचनान्त रूप) वडे सुन्दर, वडे चञ्चल किंवा वडे मनोहर हैं और इसकी ‘स्तनद्वयी’ जो ‘लसत्तरलहारिणी’ (लसन् शोभमान तरल मध्यमगिर्यस्य स हारो यस्या सा-स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचनान्त रूप) सुन्दर मध्यमगिसे सुशोभित सुत्ताहार से मनोरम है—ये दोनों, ‘तव धामोदन् मदा दत्ताम्’ मदा तुम्हें प्रमत्ता प्रदान करें (विकसन्नेत्रनीलाब्जे के साथ ‘दत्ताम्’ = दधाताम्, लोट् परस्मैपद द्विवचन और तन्व्या के साथ ‘दत्ताम्’ = दधात्, लोट् आत्मनेपद एकवचन) ।

यहाँ ‘लसत्तरलहारिणी’ में नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के मेल के कारण लिङ्गश्लेष स्पष्ट है । यहाँ ‘दत्ताम्’ में द्विवचन और एकवचन के मेल से ‘वचनश्लेष’ भी दर्शनीय लग रहा है ।

(४—प्रकृतिश्लेष)

‘अयं नृपात्मज—यह राजकुमार, अमित्राणां मित्राणाञ्च नाम-यकृन्—जो कि शत्रुओं का ‘नामार्थकृन्’ (नामार्थं कृन्तति छिनत्तीति) बल-महारथ है और मित्रों का भी ‘नामार्थकृत्’ (नामार्थं करोतीति) बल-वर्द्धक है, सर्वाणि शालाणि हृदि जेषु च वक्ष्यति—अपने हृदय और विद्वन्महाजने सभी शास्त्रों का धारण और प्रवचन द्वारा प्रतिपादन करेगा ।’

यहाँ ‘प्रकृतिश्लेष’ इसलिये है क्योंकि ‘वक्ष्यति’ में वह धातु और वच् धातु, परस्पर मिली-जुली दिखायी दे रही हैं और ‘नामार्थकृत्’ में कृत् और कृञ् धातुओं का परस्पर मेल दर्शनीय है ।

(५—पदश्लेष)

‘पृथुकार्तस्वरपात्रम्’ आदि पूर्वोक्त सूक्ति । यहाँ ‘पदश्लेष’ है प्रकृतिश्लेष नहीं क्योंकि पदों के भङ्ग करने (जैसे कि पृथु + कार्तस्वर, पृथक् + आर्तस्वर आदि रूप में पृथक्-पृथक् करने) पर, विभक्ति और समास दोनों पृथक्-पृथक् प्रतीत होने लगते हैं । ‘पद-श्लेष’ में ‘प्रकृतिश्लेष’ से यही भेद है कि पदश्लेष में तो पद के साथ-साथ विभक्ति और समास भी पृथक्-पृथक् प्रतीत हुआ करते हैं किन्तु ‘प्रकृतिश्लेष’ में विभक्ति और समास का वैलक्षण्य अथवा पार्थक्य नहीं रहा करता । इस दृष्टि से, इस सूक्ति अर्थात्—

एवञ्च—

‘नीतानामाकुलीभाव लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः ।

सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥’

अत्र लुब्धशिलीमुखादिशब्दानां श्लिष्टत्वेऽपि विभक्तेरभेदात्प्रकृतिश्लेष
अन्यथा सर्वत्र पदश्लेषप्रसङ्गः ।

(६—विभक्तिश्लेष)

‘सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।

नयोपकारसामुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥’

अत्र ‘हर’ इति पक्षे शिवसम्बोधनमिति सुप् । पक्षे हृधातोस्तिङि
विभक्तेः । एवं ‘भव’ इत्यादौ ।

(७—वचनश्लेष)

अस्य च भेदस्य प्रत्ययश्लेषेणापि गतार्थत्वे प्रत्ययान्तरासाध्यसुवन्ततिङन्त-
गतत्वेन विच्छित्तिविशेषाश्रयणात्पृथगुक्तिः ।

‘तदीक्षणे, उस सुन्दरी के नेत्र ‘लुब्धैः भूरिशिलीमुखैः आकुलीभाव नीतानां वनवृद्धानां कमलानां सदृशे’—ऐसे हैं जिन्हें बहुत अधिक वाणों से सजे धजे व्याधों द्वारा व्याकुल किये गये वनवासी मृगों के नेत्र किंवा सौरभ के प्रेमी अनेकानेक भ्रमरों द्वारा घिरे जलवासी कमलों के दलों के समान कहा जा सकता है ।’

में, ‘प्रकृतिश्लेष’ मानना ही उचित है क्योंकि यहाँ ‘लुब्ध’, ‘शिलीमुख’ आदि शब्दों में श्लिष्टता रहने पर भी, विभक्ति (और साथ ही साथ समास) में कोई भेद नहीं प्रतीत होता । यदि ऐसी बात न मानी जाय (अर्थात् यदि विभक्ति आदि के अभेद में भी पद श्लेष ही माना जाया करे) तब तो सर्वत्र पदश्लेष ही हुआ करे और प्रकृतिश्लेष का कहीं भी कोई क्षेत्र न रह जाय ।

(६—विभक्तिश्लेष)

‘(शिव के प्रति शिवभक्त की उक्ति) हे शङ्कर महादेव ! ‘त्व सर्वस्य सर्वस्वम्’—तुम्हीं इस चराचर जगत् के सर्वस्व हो, ‘त्व भवच्छेदतत्परः’ तुम्हीं प्राणिमात्र के लिये इस ससार अथवा जन्म-मरण-परम्परा के तोड़ने वाले हो और ‘त्व नयोपकारसामुख्यं तनुवर्तनमायासि, तुम्हीं ऐसे हो जो समय-समय पर ऐसा शरीर धारण किया करते हो जो सदाचरण और सद्गुणदेश से सबका कल्याणकारी हुआ करता है ।’

(अपने पुत्र के प्रति चोर की उक्ति) हे पुत्र ! त्व सर्वस्य सर्वस्वं हर, तू सब का सब कुछ चुराया कर, त्व छेदतत्परो भव—जो कोई भी तुझे रोके-टोके, उसे मिट्टी में मिला दे, आयासि वर्तनं तनु—ऐसा व्यवहार कर जिसमें लोग तग हो जाय और ‘उपकारसामुत्पन्नय’—किसी के साथ कोई भी उपकार न कर ।’

यहाँ एक पक्ष (अर्थात् शिवपक्ष) में ‘हर’ पद सम्बोधन का पद है जिससे यहाँ ‘सु’ विभक्ति आयी है और दूसरे अर्थात् चोर-पक्ष में यह पद (हरणार्थक) ‘हृ’ धातु से (छोटलकार में) विहित ‘सिप्’ विभक्ति का रूप है । इसी प्रकार ‘भव’ पद, शिवपक्ष में सम्बोधन की ‘सु’ विभक्ति का रूप है और चोरपक्ष में भू धातु से (छोटलकार में) विहित ‘सिप्’ विभक्ति का रूप है । इस प्रकार यहाँ ‘विभक्तिश्लेष’ का सौन्दर्य स्पष्ट है ।

यद्यपि इस प्रकार के विभक्तिश्लेष को प्रत्ययश्लेष में अन्तर्भूत भी किया जा सकता है

(८—भाषारलेप)

‘महदे सुरसन्ध मे तमव समासङ्गमागमाहरणे ।

हर बहुसरण त चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥’

अत्र सस्कृतमहाराष्ट्रयो ।

(श्लेषगत भेद-प्रभेद)

पुनस्त्रिधा समङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः ॥ १२ ॥

एतद्भेदत्रय चोक्तभेदाष्टके यथासम्भव ज्ञेयम् ।

यथा वा—

‘येन ध्वस्तमनोभवेन वलिजित्काय पुरास्त्रीकृतो

यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारचलयो गङ्गा च योऽधारयत् ।

यस्याहु शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामरा

पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधव ॥’

क्योंकि सुप् और तिङ् विभक्ति भी प्रत्ययरूप हो हैं किन्तु इसे हमलिये एक पृथक् श्लेष-प्रकार माना गया है क्योंकि यह और प्रत्ययों (जैसे कि क्षिप् आदि) से निष्पन्न न होने और एक मात्र सुवन्त और तिङन्तरूप होने के कारण एक अपने ही विचित्रता रखता प्रतीत होता है ।

‘(सस्कृत भाषा में अर्थ) हे महदे । हे उमे । हे भक्तजनों को धानन्दिता करनेवाली देवी पार्वती ! आगमाहरणे सुरसन्ध मे समासङ्गभव—आगम-ज्ञान के उपार्जन में, देवों द्वारा अभिलषित ज्ञान प्रेम को, मुझ में स्थापित करो, अवसर बहुसरण त चित्तमोह सहसा हर—और समय समय पर, मेरे मन के उस मोहान्धकार का शीघ्र नाश करती रहो जो कि उसे नाना प्रकार से घेरा करता है ।’

‘(महाराष्ट्री में अर्थ) हे हरवहु ! हे गौरी ! हे पार्वती ! धमे मह रम देसु-धर्म में मेरा प्रेम बढ़ाओ, तमवस आस गमागमा हर—इस जन्ममरणरूप समार से, मेरी तमोमयी कृष्णा को, दूर हटा दो, त सरण-तुम ही मेरे लिये एक मात्र शरण हो, मे चित्तमोह अवसरठ-और मेरे चित्त के सभी व्यामोहों को दूर कर दो ।’

यहाँ सस्कृत और महाराष्ट्री भाषाओं का श्लेष स्पष्ट है ।

अन्वा—यह श्लेष, पदों के भद्र अमभद्र के कारण, तीन प्रकार का हो जाया करता है—(१) समङ्गश्लेष, (२) अमङ्गश्लेष और (३) समङ्गाभङ्गश्लेष ।

श्लेष का यह भेदत्रय इसके उपर्युक्त आठ प्रकारों में ही यथानुभव अनुगत समझ लेना चाहिये । अथवा इसके लिये यह निम्न सूक्ति उदाहरन की जा रही है जिसमें समङ्ग, अमङ्ग और समङ्गाभङ्ग श्लेष का स्वरूप एकत्र स्पष्ट है—

‘(विष्णु पद्य में) स माधव द्वा पायात्-वे मा-यव अर्थान् लक्ष्मीपति विष्णु तुम्हारी रक्षा करें, येन अमवेन अत ध्वस्तम्-जो अजन्मा हैं और (कृष्णरूप में) गङ्गासुर के सहारक हैं, येन पुरा वलिजित्काय स्त्रीकृत-जिन्होंने, अनृतमथन के समय, वलिदान के सहारक अपने रूप को ‘मोहिनी’ रूप में परिवर्तित किया है, यश्च उद्वृत्तभुजङ्गहा-जो अनाचारी कालियनाग का दमन कर चुके हैं, य रवत्य-जो क्षुतियों और उपनिषदों के अन्तिम रहस्य हैं, य अग गात्र आधारयत्-जिन्होंने (कृष्णरूप में) गोप्रधान पर्वत

अत्र 'येन-' इत्यादौ सभङ्गश्लेषः । 'अन्धक-' इत्यादावभङ्गः । अनयोश्चैकत्र सम्भवात्सभङ्गाभङ्गात्मको ग्रन्थगौरवभयात्पृथङ्नोदाहृतः ।

(श्लेषविषयक शास्त्रार्थ)

इह केचिदाहुः—'सभङ्गश्लेष एव शब्दश्लेषविषयः । यत्रोदात्तादिस्वरभेदाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन भिन्नयोः शब्दयोर्जतुकाष्टन्यायेन श्लेषः । अभङ्गस्त्वर्थश्लेष एव । यत्र स्वराभेदादभिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दाभेदादर्थयोरेकवृत्तगतफलद्वयन्यायेन श्लेषः । यो हि यदाश्रितः स तदलङ्कार एव । अलङ्कार्यालङ्कारणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तिः' इति ।

और (कूर्मरूप में) इस पृथिवी को धारण किया है, यस्य च शशिमन्त्रिरोहर इति स्तुत्यं नाम अमरा आहुः—जिन्होंने देवता लोग शशिमत् अर्थात् चन्द्रमा के नाशक राहु के मस्तक का काटनेवाला कहा करते हैं, अन्धकक्षयकरः—जो कि यादवों के निवास (द्वाका धाम) के संस्थापक और संहारक-दोनों हैं, सर्वदः—और जो कि सब कुछ के दाता हैं, सब के मनोरथ सफल करने वाले हैं ।'

(शिव पञ्च में) येन इवस्तमनोभवेन वलिजित्कायः पुरा अस्त्रीकृतः—मनोभव अथवा काम के संहारक, जिन्होंने, त्रिपुरदाह के समय, वलजित् विष्णु के शरीर को अपने असुररूप में प्रयुक्त किया, यश्च उद्धृतभुजङ्गहारवलयः—जिन्होंने लपेटे हुये सर्पराज को अपना हार और वलय घनाया, यः गङ्गाञ्च अधारयत्—जिन्होंने अपने मस्तक पर गङ्गा को समहाला, यस्य च स्तुत्यं शिरः शशिमत् इति हर इति च स्तुत्यं नाम अमरा आहुः—जिनका चन्द्रालकृतमस्तक और स्तुत्य 'हर' नाम देवगण की चन्दना का विषय है, स्वयमन्धकक्षय कर—जिन्होंने अन्धकासुर का संहार किया, उमाधवः—और जो उमा के पति हैं वे भगवान् शङ्कर सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें ।'

यहाँ सभङ्ग, अभङ्ग और सभङ्गाभङ्ग—तीनों प्रकार के श्लेष दर्शनीय हैं । इस एक ही सूक्ति में, 'येन' इत्यादि में सभङ्गश्लेष, 'अन्धकक्षयकरः' में अभङ्गश्लेष और अन्यत्र सभङ्गाभङ्गश्लेष की अवस्थिति देखते हुये यह आवश्यक नहीं कि इन्हें भिन्न-भिन्न सूक्तियों द्वारा उदाहृत किया जाय क्योंकि ग्रन्थ के आकार प्रकार के बढ़ने का भी तो डर है ।

अनुवाद—यहाँ कतिपय काव्याचार्यों (जैसे कि अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रुच्यक आदि) का यह कहना है कि 'सभङ्ग श्लेष की गणना शब्दालङ्कारों में की जानी चाहिये क्योंकि यही श्लेष प्रकार शब्दश्लेष का विषय है क्योंकि यहीं ऐसा समभव है कि उदात्तादि स्वरों के भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रयत्नों द्वारा उच्चारण करने योग्य, भिन्न भिन्न भी शब्द, 'जतु' (लाख) और 'काष्ठ' (लकड़ी) की भाँति, परस्पर, एक दूसरे से, श्लिष्ट अथवा मिले-जुले से प्रतीत हुआ करते हैं' । अभङ्गश्लेष को तो अर्थालङ्कार मानना उचित है क्योंकि यह श्लेष-प्रकार अर्थश्लेष का विषय है । यहाँ उदात्तादि स्वरों की अभिन्नता से, उच्चारण के बाह्य और आन्तरिक प्रयत्नों में भेद न होने के कारण, शब्दों में भेद नहीं हुआ करता और अर्थ एक गुच्छे में लटके दो फलों की भाँति परस्पर श्लिष्ट अथवा जुड़े जुड़ाये लगा करते हैं । कोई अलङ्कार इसीलिये शब्द अथवा अर्थ का अलङ्कार कहा जाया करता है क्योंकि वह शब्द अथवा अर्थ पर आश्रित रहा करता है । जिसे काव्य में अलङ्कार्य-अलङ्कारणभाव कहते हैं उसमें वस्तुतः, लोक के अलङ्कार्य अलङ्कारणभाव की ही भाँति आश्रयाश्रयिभाव (आधारार्थभाव) रूप सवन्ध ही ठीक जँचता है ।'

तदन्त्ये न क्षमन्ते । तथाहि—अत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यदोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन नियम इति ।

न च 'अन्धकक्ष्य-' इत्यादौ शब्दाभेदः 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शनात् । किं चात्र शब्दस्यैव मुख्यतया वैचित्र्यबोधोपायत्वेन कविप्रतिभयोद्भूता-च्छदालङ्कारत्वमेव । विसदृशशब्दद्वयस्य वन्धे चैवविषयस्य वैचित्र्याभावाद् वैचित्र्यस्यैव चालङ्कारत्वान् । अर्थमुखप्रेक्षितया चार्थालङ्कारत्वेऽनुप्रासादीनामपि रसादिपरत्वेनार्थमुखप्रेक्षितयार्थालङ्कारत्वप्रसङ्गः । शब्दस्याभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेनार्थालङ्कारत्वे 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' इत्यादौ शब्दभेदेऽप्यर्थालङ्कारत्वतवापि प्रसज्यतीत्युभयत्रापि शब्दालङ्कारत्वमेव । यत्र तु शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डनाः तत्र—

किन्तु अन्य काव्याचार्यो (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट आदि) को यह मय मान्य नहीं । उनका कहना यह है—ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, दोष, गुण और अलङ्कार की शब्दगतता अथवा अर्थगतता की व्यवस्था का एकमात्र नियामक 'अन्वयव्यतिरेक' का सिद्धान्त है । यहाँ 'आध्यायप्रतिभाव' अथवा 'आध्यायप्रतिभाव का क्या काम ? इसलिये शब्द के भेद अथवा अभेद से, 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि सूक्ति में, वहाँ शब्दरलेप (समझलेप) और वहाँ जैसे कि 'अन्धकक्ष्य' आदि में अर्थरलेप (अभिन्नरलेप) का मानना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'अन्धकक्ष्य' आदि में जब कि अर्थ भिन्न है, तब, शब्द की अभिन्नता कैसी ? क्योंकि यह तो एक मान्य सिद्धान्त है कि 'यदि कहीं अर्थ भिन्न-भिन्न है तो वहाँ शब्द भी भिन्न भिन्न ही होंगे ।

साथ ही साथ 'अन्धकक्ष्य' आदि में शब्दरलेप की मान्यता अधिक युक्तिमग्न दिखायी देती है क्योंकि यहाँ जो भी चमत्कार है वह एकमात्र इस शब्द के ही कारण है जिसे कवि की प्रतिभा यहाँ लट्ठकित कर रही है । यदि यहाँ अन्य प्रकार के दो शब्द रख दिये जायें तो यह चमत्कार नष्ट होता दिखायी देगा और जब चमत्कार ही नष्ट हो जायगा तो अलङ्कार कहाँ से रह पायगा क्योंकि जो भी 'अलङ्कार' है वह तो 'वैचित्र्य' रूप है । इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अर्थ की दृष्टि से इस अलङ्कार को अर्थालङ्कार मानना है तो अनुप्रास आदि को भी अर्थालङ्कार ही मानना पड़ेगा क्योंकि अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार भी (अर्थनिरपेक्ष नहीं अपितु) रसभावादि रूप अर्थ की अपेक्षा रखा करते हैं । यहाँ यह भी कहना उचित नहीं कि जब कि 'अन्धकक्ष्य' आदि शब्द एक ही प्रपञ्च में उच्चारण किये जाने योग्य हैं तब इन्हें अर्थरलेप का ही विषय मानना ठीक है क्योंकि तब तो 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' आदि में भी, जहाँ 'विधि' और 'विधु' शब्द के मसमी एकवचनान्तरूप बल्लुव भिन्न-भिन्न होने पर भी, एक प्रपञ्च से दृष्टरित हो सकते हैं, अर्थरलेप ही मानना पड़ जायगा । इसलिये यहाँ यही मानना ठीक है कि समझ और वनझ दोनों प्रकार के रलेप शब्दालङ्कारन्य ही हैं (और 'अन्धकक्ष्य' आदि तथा 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' आदि में जो रलेप है वह शब्दरलेप ही है) । इसका यह अभिप्राय नहीं कि अर्थरलेप का कोई विषय ही नहीं पच पाता । अर्थरलेप का विषय वह है जहाँ शब्द के बदल देने पर भी रलेप में कोई छति नहीं आता करती । जैसे कि निम्नसूक्ति अर्थात्—

‘स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।

अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥’

इत्यादावर्थश्लेषः । अस्य चालङ्कारान्तरविविक्तविषयताया असम्भवाद्भिद्य मानेष्वलङ्कारान्तरेष्वपवादत्वेन तद्वाचकतया तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वमिति केचित् ।

इत्थमत्र विचार्यते—समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादौ द्वितीयार्थस्यानभिधेय तया नास्य गन्धोऽपि । ‘विद्वन्मानसहंस—’ इत्यादौ श्लेषगर्भे रूपकेऽपि मानस-शब्दस्य चित्तसरोरूपोभयार्थत्वेऽपि रूपकेण श्लेषो बाध्यते । सरोरूपस्यैवार्थस्य विश्रान्तिधामतया प्राधान्यात्, श्लेषे ह्यर्थद्वयस्यापि समकक्षत्वम् ।

‘सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च’ इत्यादौ विरोधाभासेऽपि विरुद्धार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावान्न श्लेषः । एवं पुनरुक्तवदाभासेऽपि ।

‘थोड़े में ही ऊपर उठना और थोड़े में ही नीचे गिरना यही वह चाल है जो कि तराजू की डढ़ी और खल की एक समान चाल है’ ।

में, जो श्लेष है वह अर्थश्लेष है (क्योंकि ‘स्तोकेन’ आदि पदों के बदले ‘स्वहृपेन’ आदि रख देने पर भी यहाँ ‘श्लेष’ तो अक्षुण्ण ही दिखायी देता रहता है) ।

यहाँ प्राचीन काव्याचार्यों (जैसे कि आचार्य उद्भट और आचार्य रुच्यक) की यह मान्यता भी ठीक नहीं जँचती कि ‘श्लेष का क्षेत्र अन्य अलंकारों से असंकीर्ण रहा करता है, श्लेष अन्य अलंकारों के आभासमात्र का उत्पादक हुआ करता है और ‘श्लेष’ अन्य अलंकारों का अपवादरूप होने से उनका वाचक है (अर्थात् अन्य अलंकार सामान्य रूप है और श्लेष, विशेष रूप होने से, वाचक है) । यहाँ इस प्रकार देखना है—‘समासोक्ति’, ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ आदि के प्रसङ्गों में श्लेष की गन्ध भी नहीं रहती क्योंकि वहाँ प्रतीत होनेवाला जो दूसरा अभिप्राय हुआ करता है वह अभिधेयरूप नहीं अपितु व्यङ्ग्यरूप ही हुआ करता है (और श्लेष के लिये दोनों अर्थों का वाच्यरूप होना ही सर्वमान्य है) । ‘विद्वन्मानसहंस’ आदि सूक्ति में भी, जहाँ श्लेषगर्भ रूपक है और ‘मानस’ शब्द मन और सरोवररूप दोनों अर्थों का वाचक है, ऐसा नहीं कि श्लेष द्वारा रूपक बाधित हो, अपितु ऐसा है कि रूपक द्वारा ही श्लेष बाधित हो रहा है क्योंकि यहाँ अन्ततोगत्वा रूपक चमत्कार के कारण, ‘सरोवररूप’ अर्थ पर ही सहृदय की आस्था जमती है । यहाँ श्लेष की सभावना तो तब होती जबकि सरोवररूप और मनरूप दोनों अर्थ परस्पर निरपेक्ष होते और प्रधानतया विराजमान प्रतीत होते ।

इसी प्रकार यदि ‘सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च’ (विरोध—कुछ-कुछ अन्धकार युक्त और सूर्य की मूर्ति; विरोधपरिहार—केशरूप अन्धकार से युक्त और प्रकाशमान रूपवाली) आदि विरोधाभास के प्रसङ्गों को देखा जाय तो यहाँ भी (आपातत विरुद्ध और अन्तत अविरुद्ध अर्थों के मेल के कारण) ‘श्लेष’ की सभावना नहीं दिखायी पड़ती क्योंकि यहाँ जो विरुद्ध अर्थ है वह आपातत भले ही प्रतीत हो, अन्ततः तो कदापि अवस्थित नहीं रहता । यही बात ‘पुनरुक्तवदाभास’ के स्थलों पर भी लागू होती है (क्योंकि वहाँ भी दूसरे अर्थ के आभासमात्र रूप से ही रह जाने के कारण ‘श्लेष’ की सभावना समाप्त हो जाती है) ।

तेन 'येन ध्वस्त-' इत्यादौ प्राकरणिकयो, 'नीतानाम्-' इत्यादावप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगितायाम्.

'स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति वक्तु
देहीति मार्गणशतैश्च ददाति दुःखम्।

मोहात्समुत्क्षिपति जीवनमप्यकाण्डे
कष्ट प्रसूनविशिखं प्रभुरल्पबुद्धिः ॥'

इत्यादौ च प्राकरिकाप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसम्बन्धाद्दीपके।

'सकलकलं पुरमेतज्जात सप्रति सुधांशुविन्मिव'।

इत्यादौ चोपमाया विद्यमानायामपि श्लेषस्यैतद्विषयपरिहारेणासंभवाद्
एषा च श्लेषविषयपरिहारेणापि स्थितेरेतद्विषये श्लेषस्य प्राधान्येन चमत्का-

इससे जो निष्कर्ष निकल सकता है वह यही है कि 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में विष्णुपरक और शिवपरक-दोनों प्राकरणिक (प्रकृतरूप से विवक्षित) अर्थों और 'नीतानामाकुलीभावम्' आदि में, (कमल और हरिणरूप) दोनों अप्राकरणिक (अप्रकृत) अर्थों में, एक धर्म ('येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में 'अन्धकश्यकरत्व' आदि और 'नीतानामाकुलीभावम्' आदि में 'वनवृद्धत्व' आदि) के अनुप्रवेश के कारण 'तुल्ययोगिता' (पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्। एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता) की संभावना होने पर भी 'श्लेष' की ही मान्यता युक्तिमंगत है। इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

'बड़े दुःख की यात है कि प्रसूनविशिख (पुष्पयाण) कामदेव और अल्पबुद्धि राजा दोनों समानरूप से ही दुःखदायी हुआ करते हैं—स्वेच्छोपजातविषयोऽपि देहीति वक्तु न याति—कामदेव स्वेच्छामात्र से प्राणिमात्र को अपने वाणों का लक्ष्य बनाया करता है और सदा अनङ्ग ही कहा जाया करता है और अल्पबुद्धि राजा भी स्वेच्छया देश-देशान्तरों पर प्रमुख प्राप्त करता है किन्तु किसी के द्वारा 'कुच्छ दीजिये' की याचना से अटूता रहा करता है, मार्गणशतैश्च दुःख ददाति—कामदेव अपने वाणों से प्राणिमात्र को विद्ध करता है, और अल्पबुद्धि राजा याचना की यातनाओं से लोगों को पीड़ित किया करता है और, मोहात् अकाण्डे जीवनमपि समुत्क्षिपति—कामदेव प्राणिमात्र के हृदय में प्रेम-मोह उत्पन्न करके अचानक प्राण भी हर लेता है और अल्पबुद्धि राजा भी मोहवश प्रजाजन का प्राण हरण किया करता है।'

आदि में, प्राकरणिक (राजरूप) और अप्राकरणिक (कामरूप) अर्थों में, एक धर्म (स्वेच्छोपजातविषयत्व आदि) के अभिसम्बन्ध के कारण 'दीपक' (अप्रस्तुत प्रस्तुतयोर्दीपक तु निगद्यते) की संभावना होने पर भी, 'श्लेष' मानना ही अधिक उचित है। यही बात 'सकलकलं पुरमेतज्जात सप्रति सुधांशुविन्मिव' (सकलकल-कोलाहल से युक्त यह नगर इस समय सकलकल-सम्पूर्ण कलाजवाले-चन्द्रशिखर की भाँति लग रहा है) आदि प्रसङ्गों में भी लागू होती है। क्योंकि यहाँ 'रम्या' का संभावना होने पर भी, 'श्लेष' की ही मान्यता युक्तिमङ्गल प्रतीत होती है। अत्र इन उपर्युक्त अलङ्कारों के प्रसङ्गों में अन्तर्तोकाया 'श्लेष' की ही मान्यता क्यों युक्तिमङ्गल होती है? इस पर यदि विचार किया जाय तो यही कहा जायगा कि इन अलङ्कारों के चित्रों के अतिरिक्त 'श्लेष' का कोई चित्र नहीं बचता और इन अलङ्कारों के चित्र ऐसे हैं जहाँ 'श्लेष' की कोई छद्मा-

रित्वप्रतीतेश्च श्लेषेणैव व्यपदेशो भवितु युक्तः, अन्यथा तद्व्यपदेशस्य सर्वथा-
भावप्रसङ्गाच्चेति ।

अत्रोच्यते—न तावत्परमार्थतः श्लेषस्यालङ्कारान्तराविविक्तविषयता 'येन
ध्वस्त-' इत्यादिना विविक्तविषयत्वात् । न चात्र तुल्ययोगिता, तस्याश्च द्वयोर-
प्यर्थयोर्वाच्यत्वनियमाभावात् । अत्र च माधवोमाधवयोरेकस्य वाच्यत्वनियमे
परस्य व्यङ्ग्यत्वं स्यात् । किञ्च—तुल्ययोगितायामप्येकस्यैव धर्मस्यानेकधर्मि
सबन्धितया प्रतीतिः इह त्वनेकेषां धर्मिणां पृथक्पृथक्धर्मसंबन्धतया । 'सक-
लकलम्—' इत्यादौ च नोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः । पूर्णोपमाया निर्विष-
यत्वापत्तेः 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्याद्यस्ति पूर्णोपमाया विषय इति
चेत् ? न, यदि 'सकल-' इत्यादौ शब्दश्लेषतया नोपमा तत्किमपराद्ध 'मनो-
ज्ञम्' इत्यादावर्थश्लेषेण ।

छूत नहीं रहती । साथ ही साथ जब कि इन उपर्युक्त प्रसङ्गों में 'श्लेष' का ही प्राधान्य
स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि जो भी वैचित्र्य है वह श्लेष-जन्य ही है तो इन्हें 'श्लेष'
मानने में क्या आपत्ति है ? क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तब तो 'श्लेष' नाम का कोई
अलङ्कार ही कहीं प्रतीत नहीं होता । किन्तु 'श्लेष' के सम्बन्ध में यह विचार विमर्श
सर्वथा चतुरस्त्र नहीं । यहाँ जो समझना है वह यह है—वस्तुतः ऐसी बात नहीं कि
'श्लेष' का क्षेत्र सदा अन्य अलङ्कारों से सकीर्ण ही रहा करता है क्योंकि 'येन ध्वस्त-
मनोभवेन' आदि से ही यह स्पष्ट है कि किस प्रकार 'श्लेष' का क्षेत्र अन्य अलङ्कारों से
सर्वथा विविक्त अथवा भिन्न हुआ करता है । 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में, विष्णुपरक
और शिवपरक रूप से विवक्षित दोनों प्राकरणिक अर्थों में 'तुल्ययोगिता' की तो संभा-
वना ही नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ ये दोनों अर्थ स्पष्टतया वाच्यरूप से विवक्षित हैं
जब कि 'तुल्ययोगिता' के लिये यह आवश्यक नहीं कि जिन दो प्राकरणिक अर्थों में
एक धर्म का योग हो वे दोनों अर्थ वाच्य रूप ही हुआ करें । यहाँ यह कहना भी ठीक
नहीं कि 'मा-धव' (विष्णु) और 'उमा-धव' (शिव) रूप अर्थों में कोई एक अर्थ
वाच्य है क्योंकि तब दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य हो जायगा और 'श्लेष' की गन्ध ही उड़
जायगी । यहाँ 'तुल्ययोगिता' की इसलिये भी कोई संभावना नहीं क्योंकि 'तुल्ययोगिता'
में तो ऐसा हुआ करता है कि एक ही धर्म अनेकों धर्मियों से सम्बद्ध प्रतीत हुआ करता
है और यहाँ ऐसा है कि अनेकों धर्मों भिन्न-भिन्न धर्मों से सम्बद्ध प्रतीत हो रहे हैं । (अर्थात्
यदि शिव-पक्ष में मनोभवध्वस आदि धर्म अनुगत हैं तो विष्णु-पक्ष में शकटासुरवध
आदि धर्म समवेत प्रतीत हो रहे हैं) ।

इसी प्रकार यदि 'सकलकलम्' आदि सूक्ति को लिया जाय तो यह स्पष्ट दिखायी
देगा कि यहाँ जो 'श्लेष' है वह उपमा के प्रतिभासमात्र का कारण नहीं जिससे यह सिद्ध
हो जाय कि यहाँ जो अलङ्कार है वह श्लेष ही है उपमा नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर तो
'पूर्णोपमा' का विषय ही उच्छिन्न हो जायगा ! अब यदि यह कहा जाय कि पूर्णोपमा के
विषय तो 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' आदि आदि काव्य-सन्दर्भ हैं ही और इसलिये
'सकलकलम्' आदि में, श्लेषद्वारा पूर्णोपमा के वक्षित हो जाने से, ऐसा नहीं हो सकता
कि पूर्णोपमा का क्षेत्र ही कहीं न दिखायी दे, तब यहाँ यह उत्तर दिया जायगा कि
'यदि सकलकलम्' आदि में शब्दश्लेष मानने से उपमा मानना अनुचित हो, तब 'कमल

‘स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ, किन्तु ।
आश्रित्य शब्दमात्र सामान्यमिहापि सभवत ॥’

इति रुद्रटोक्तदिशा गुणक्रियासाम्यवच्छेदसाम्यस्याप्युपमाप्रयोजकत्वान् ।

ननु गुणक्रियासाम्यस्यैवोपमाप्रयोजकता युक्ता तत्र साधर्म्यस्य वास्तव-
त्वान् । शब्दसाम्यस्य तु न तथा, अत्र साधर्म्यस्यावास्तवत्वात् । तत्र पूर्णोप-
माया अन्यथानुपपत्त्या गुणक्रियासाम्यस्यैवार्थश्लेषविषयतया परित्यागे पूर्णोप-
माविषयता युक्ता, न तु ‘सकल-’ इत्यादौ शब्दसाम्यस्यैवेति चेत् ? न-‘साध-
र्म्यमुपमा’ इत्येवाविशिष्टस्योपमालक्षणस्य शब्दसाम्याद्व्यावृत्तेरभावान् । यदि
च शब्दसाम्ये साधर्म्यमवास्तवत्वान्नोपमाप्रयोजकम्, तदा कथं ‘विद्वन्मानस-
’ इत्यादावाधारभूते चित्तादौ सरोवराचारोपो राजादेर्हसाचारोपप्रयोजक ।

किञ्च-यदि वास्तवसाम्य एवोपमाङ्गीकार्य, तदा कथं त्वयापि ‘सकल-

मित्रं मुखं मनोज्ञमेतत्’ में भी उपमा न मानकर, अर्थश्लेष ही क्यों न मान लिया जाय,
(क्योंकि यहाँ ‘मनोज्ञत्व’ आदि धर्म उपमान और उपमेय—दोनों में अन्वित होने से छिप
ही तो है) ? यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं कि ‘इव’ शब्द की उपस्थिति में ‘उपमा’ की
ही मान्यता युक्तियुक्त होगी क्योंकि तब तो ‘सकलकलम्’ आदि में भी ‘उपमा’ ही
मानना पड़ जायगा क्योंकि औपम्य जैसे ‘इव’ शब्द के सङ्गाव में सभव है वैसे ही शब्द-
साधर्म्य में भी, जैसा कि ‘सकलकलम्’ आदि में स्पष्ट ही है । तभी तो आचार्य रुद्रट का
यह कथन है—

‘यह ठीक है कि अर्थाश्रित होने से उपमा और समुच्चय—दोनों निस्सङ्गिधत्त्व से अर्थ
के ही अलङ्कार हैं किन्तु यह भी ठीक है कि कहीं शब्द-साधर्म्य के आधार पर, इन्हे शब्द-
गत भी मान लिया जाय ।’

जिसके देखते यही मानना उचित है कि जैसे गुण-साम्य और क्रिया-साम्य उपमा के
नियामक हैं वैसे ही शब्द-साम्य भी उपमा का एक नियामक ही है । अब यहाँ यदि यह
कहा जाय कि गुण-साम्य और क्रिया-साम्य तो उपमा के वास्तविक प्रयोजक हैं क्योंकि—
ये ही दोनों ऐसे हैं जिन्हें वास्तविक साधर्म्य का आश्रय माना जा सकता है और जो
शब्दसाम्य है उसमें उपमा की कोई प्रयोजकता नहीं क्योंकि ऐसा साम्य वास्तविक
साधर्म्य का आश्रय नहीं और इस दृष्टि से जहाँ कहीं (जैसे कि कमलमिव आदिमें, गुण-
साम्य और क्रिया-साम्य हो, वहाँ, अर्थश्लेष न मानकर (क्योंकि उपमा ऐसे प्रसङ्गों में
अर्थश्लेष का अपवाद है) पूर्णोपमा ही माना जायगा और जहाँ जैसे कि ‘सकलकलम्’
आदि में, केवल शब्द-साम्य हो वहाँ पूर्णोपमा नहीं मानी जायगी क्योंकि बिना ऐसी
ध्वनिता के पूर्णोपमा का विषय ही नहीं मिल पायेगा, तो इसका सीधा उत्तर यह
होगा कि जब कि ‘भेद में साधर्म्य’ (साधर्म्यमुपमा) ही उपमा का लक्षण है और
साधर्म्य में सभी प्रकार के (अर्थात् शब्दरूप भी) साधर्म्य समूहीन है तो या कदापि
नभव नहीं कि शब्द साधर्म्य में उपमा न मानी जाय ।

यहाँ यह कहकर भी छुटकारा मिलना कठिन है कि शब्दरूप साधर्म्य अवास्तविक
साधर्म्य है और इसलिए इसे उपमा का प्रयोजक नहीं माना जायगा क्योंकि तब तो
‘विद्वन्मानसम्’ आदि उक्ति में राजादिरूप अर्थ पर हमादिरूप अर्थ के आरोप (रूपग)

कलम्—' इत्यादौ बाध्यभूतोपमाङ्गीक्रियते ? किञ्च अत्र श्लेषस्यैव साम्यनिर्वाहकता, न तु साम्यस्य श्लेषनिर्वाहकता, श्लेषबन्धतः प्रथमं साम्यस्यासंभवात्, इत्युपमाया एवाङ्गित्वेन व्यपदेशो ज्यायान् 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायात् ।

ननु शब्दालङ्कारविषयेऽङ्गाङ्गिभावसङ्करो नाङ्गीक्रियते तत्कथमत्र श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्कर इति चेत् ? न, अर्थानुसधानविरहित्यनुप्रासादावेव तथानङ्गीकारात् । एवं दीपकादावपि ज्ञेयम् ।

‘सत्पक्षा मधुरगिरिः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भा ।

निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥’

के निमित्तरूप से चित्तादिरूप अर्थपर सरोचरादिरूप अर्थका अमेदारोप (रूपण), जो कि शब्द साधर्म्यकृत होने पर भी मान्य है, अमान्य हो जायगा ।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि वास्तविक साम्य में हो उपमा की मान्यता ठीक है तब अवास्तविक साम्य के प्रसङ्ग जैसे कि ‘सकलकलम्’ आदि में उपमा की चर्चा भी नहीं होनी चाहिये, चाहे उसे अन्त में श्लेष द्वारा बाधित ही क्यों न कह दिया जाय । वैसे ‘सकलकलम्’ आदि के सम्बन्ध में वस्तुतः जो बात है वह तो यह है— यहाँ (शब्द) श्लेष ही साम्य का निर्वाह कर रहा है न कि साम्य द्वारा श्लेष का निर्वाह किया जा रहा है क्योंकि श्लेष के पहले साम्य की संभावना ही असंभव है और इस दृष्टि से यहाँ ‘उपमा’ ही प्रधान (अङ्गी) रूप से विराजमान है (क्योंकि श्लेष तो उपमा के अङ्ग अथवा साधनरूप से ही चरितार्थ हो चुका है) और इस नियम अर्थात् ‘जो प्रधान हुआ करता है उसी का नाम लिया जाया करता है’ के देखते यहाँ जिस अलङ्कार का नाम लिया जायगा वह ‘उपमा’ है, श्लेष नहीं ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ‘सकलकलम्’ आदि में ‘श्लेष’ और ‘उपमा’ का अङ्गाङ्गिभाव सकर मानना ठीक नहीं क्योंकि शब्दालङ्कारों (‘सकलकलम्’ में शब्द-श्लेष और शब्द साधर्म्याश्रित उपमा) में अङ्गाङ्गिभाव सकर नहीं माना जाया करता । किन्तु इसका उत्तर यह होगा कि जिन शब्दालङ्कारों में अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर नहीं माना जाया करता वे अनुप्रास आदि ही हैं क्योंकि उन्हीं में अर्थ के अनुसधान की आवश्यकता नहीं पड़ा करती । (किन्तु जहाँ जैसे कि ‘सकलकलम्’ आदि में शब्द-श्लेष और शब्दसाधर्म्याश्रित उपमा में अर्थानुसधान की आवश्यकता है वहाँ तो अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर की मान्यता युक्तियुक्त ही है ।)

यही उपर्युक्त दृष्टि शब्द साधर्म्यकृत दीपक आदि अलङ्कारों के प्रसङ्गों में जो श्लेष हो, वहाँ भी रखनी चाहिये ।

अन्त में वेणीसहार की इस सूक्ति अर्थात्—

‘सत्पक्षा’—सुन्दर पंखोंवाले, मधुरगिरिः—मधुर शब्द करते, प्रसाधिताशा—सर्वत्र शर-सौन्दर्य बिखेरते, मदोद्धतारम्भः। शरदागम के आनन्द में स्वच्छन्द विहार करते, धार्तराष्ट्रा—ये हंस, कालवशात्-इस शरत्समय में, मेदिनीपृष्ठे निपतन्ति इतस्तत् सर्वत्र पृथिवी पर विचरते दिखायी दे रहे हैं ।’

अत्र शरद्वर्णनया प्रकरणेन धार्तराष्ट्रादिशब्दानां हसाद्यर्थाभिधाने नियम-
नाद्दुर्योधनादिरूपोऽर्थः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः । इह च प्रकृतप्रबन्धाभि-
धेयस्य द्वितीयार्थस्य सूच्यतयैव विवक्षितत्वादुपमानोपमेयभावो न विवक्षित
इति नोपमाध्वनिर्न वा श्लेष इति सर्वमवगतम् ।

(७—चित्रालङ्कार)

पद्माद्याकारहेतुन्ये वर्णानां चित्रमुच्यते ।

आदिशब्दात्स्वप्न-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः । अस्य च तथाविधलिपिसन्नि-
वेशविशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायवि-

मै, 'उपमाध्वनि' और 'श्लेष' का जो समादा है उसका भी निपटारा कर दिया जा रहा है ।
यहाँ कुछ काव्याचार्य 'उपमाध्वनि' मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार यहाँ यह अभिप्राय
निकलता है कि जैसे 'सत्यज्ञा-बड़े बड़े महायज्ञोंवाले, नधुरगिरि' मिष्टभाषी, प्रमाधिताशा -
विजय की आकांक्षा से भरे, मगद्विजयारम्भा-वीर्य में चुर होकर समान की तैयारी करि,
धार्तराष्ट्रा दुर्योधन आदि कौरवराजकुमार, कालवशात्-मनय के फेर से, मेदिनीशृष्टे निप-
तन्ति सर्वत्र युद्ध क्षेत्रमें भर-कट कर गिर-पड रहे हैं वैसे ही सत्यज्ञा-सुन्दर पत्नीवाले . .
धार्तराष्ट्रा-ये हम्' 'इतस्तत् . . विचरते दिखायी दे रहे हैं ।'

किन्तु वस्तुतः यह सब उपमाध्वनि नहीं क्योंकि यहाँ 'सत्यज्ञा' आदि शरद्वर्णन-मगन्धो
सन्दर्भ का जो दुर्योधन-सम्बद्ध दूसरा अभिप्राय है उसमें उपमानोपमेयभाव की विवक्षा
नहीं अपितु नाटकीय इतिवृत्त की सूचना ही विवक्षित है । यहाँ 'श्लेष' की भी कोई
सभावना इसलिये नहीं क्योंकि हमपरक वाच्यार्थ और दुर्योधनादिपरक व्यङ्ग्यार्थ में
श्लेष कैसा ? यहाँ तो वस्तुतः शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि का मौन्दर्भ दर्शनीय है क्योंकि
जहाँ एक ओर शरद्वर्णन रूप प्रकरण के कारण 'धार्तराष्ट्र' आदि शब्दों की अभिधा 'हम्'
आदि अर्थों के प्रतिपादन में नियन्त्रित हो रही है वहाँ दूसरी ओर शब्दशक्ति की महिमा
से (शब्दों व्यञ्जना के कारण) दुर्योधनादिपरक द्वितीयार्थ भी प्रकाशित हो रहा है ।

इस विशद विचार से श्लेष का स्वरूप स्पष्ट हो गया इसमें कोई संदेह नहीं ।

अतः—'चित्र' वह शब्दालङ्कार है जिसे वर्णों के ऐसे विन्यास वैविध्य में देखा
जाया करता है जिसमें पद्म-नादि की रूपरेखा कल्पित जाया करती है ।

यहाँ कारिका में 'आदि' पद का प्रयोग इसलिये है जिसमें स्वप्न, मुरज, चक्र,
गोमूत्रिका आदि आदि चित्रों की रूपरेखा का भी ग्रहण कर लिया जाय ।

'चित्र' को शब्दालङ्कार कहने में उपचार का आश्रय लिया जाया करता है । यहाँ
'उपचार' के आश्रय का अभिप्राय यह है—वस्तुतः तो शब्दालम्बन वर्ण आकाश के गुण
हैं और समवाय सम्बन्ध से आकाश में ही रहा करने हैं और चित्रालङ्कार के रूप में
जो वर्ण विन्यास है वह पद्मादि रूपमें रचित लिपिचित्रों के अनुरूप और उद्भूत
नहीं । किन्तु वैविध्याधायक लिपिचित्रों के वर्णों का वैविध्याधायक श्रोत्राका-
शममयेन वर्णों से कोई भेद नहीं हुआ करता । इसलिये यह निश्चित ही है कि आकाश
निष्ठ वर्णों की उपचारित आकारनिष्ठ मान लिया जाय । इस प्रकार आकाशममयेन
वर्णों का पद्माद्याकारनिष्ठ वर्णों से औपचारिक भेद ही 'चित्रालङ्कार' के शब्दाल-
ङ्कार होने का कारण है ।

शेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णैरभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वम् । तत्र पदम-
बन्धो यथा मम—

‘मारमा सुपमा चारु-रुचा मारवधूतमा ।
मात्तधूर्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मा रमा ॥’

एषोऽष्टदलपदमबन्धो दिग्दलेषु निर्गमप्रवेशाभ्यां श्लिष्टवर्णः, किन्तु विदि
दलेष्वन्यथा, कर्णिकाक्षरं तु श्लिष्टमेव । एवं खड्गवन्धादिकमप्यूह्यम् ।

काव्यान्तर्गड्भूततया तु नेह प्रपञ्च्यते ।

उदाहरण के लिये यह स्वरचित ‘पञ्चबन्ध’—

‘मारमा सुपमा.....’

[जिसका अर्थ यह है—मार-मा-सुपमा=मार अर्थात् कामदेव की मा=शोभा की
भाँति सुपमा अथवा शोभावाली, चारु-रुचा मारवधूतमा=अपनी सुन्दरता से मार अर्थात्
कामदेव की वधू रति को भी पराजित करनेवाली, मात्तधूर्ततमावासा=विट वेद
आदि के द्वारा अप्राप्य भवन में विराजमान, सा वामा=वह सुन्दरी, मेऽस्तु=मुझे मिल
जाय, रमा माऽस्तु=भले ही, लक्ष्मी न मिले]

यह उपर्युक्त पञ्चबन्ध ‘अष्टदल-पञ्च’-बन्ध है । इसके अष्टदलपञ्चबन्ध होने का
अभिप्राय यह है कि इसके कतिपय वर्ण चारों दिशाओं में फैले दलों अथवा किसलयों
पर निर्गम और प्रवेश अर्थात् अनुलोम और प्रतिलोम-पाठ में श्लिष्ट अथवा एकरूप के
लगा करते हैं और कतिपय ऐसे भी रहा करते हैं जो विदिशाओं में विस्तृत दलों पर
केवल प्रवेश अथवा निर्गम (केवल अनुलोम अथवा केवल प्रतिलोम पाठ) के कारण
श्लिष्ट अथवा एकरूप नहीं रहा करते । इसका जो कर्णिकाक्षर है वह श्लिष्ट अथवा
एकरूप का ही रहा करता है । इस प्रकार के चित्र-बन्ध की भाँति अन्य भी चित्र-
प्रकार जैसे कि खड्गवन्ध आदि स्वयं समझ लिये जा सकते हैं ।

यहाँ चित्रालङ्कार का भेद-प्रभेद सविस्तर नहीं बताया जा रहा है क्योंकि काव्य के
लिये यह अलङ्कार एक ऐसी गाँठ का काम करता है जिससे रस का प्रवाह विच्छिन्न हो
जाता है और सहृदयहृदय उद्विग्न हो उठता है ।

विमर्श—(क) प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने ‘चित्र’ अलङ्कार की चर्चा की है । ध्वनिवादी
आलङ्कारिक इसे आभ्यासिक कवि की रचना कहा करते हैं । चित्रालङ्कार का निर्माण-नैपुण्य
काव्य की एक तान्त्रिक साधना है । इस साधना का अभ्यास प्रायः सभी संस्कृत के कवि
कर चुके हैं ।

(ख) विश्वनाथ कविराज का चित्रालङ्कार-लक्षण ‘अलङ्कारसर्वस्व’ के इस चित्र-लक्षण का
अनुसरण करता है—

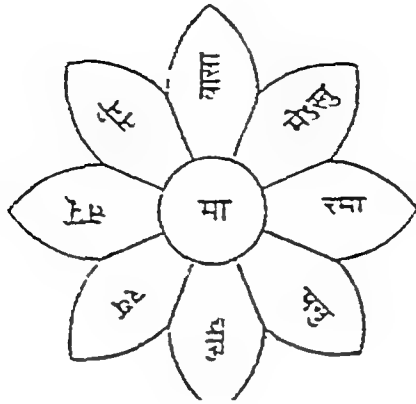
‘वर्णानां स्रग्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम् ।

पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्यात्मक चित्रवचनम् । यद्यपि लिप्य-
चराणां खड्गादिसनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेत वर्णात्मक-शब्दाभेदेन तेषां
लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालङ्कारोऽयम् ।

—अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०

(ग) विश्वनाथ कविराज द्वारा उदाहृत ‘अष्टदलपञ्चचित्र’ इस प्रकार देखा जा सकता है—

(लष्टवत्पद्मचित्र)



‘वारणागगभीरा सा साराभीगगणारवा । कारितारिवधा सेना नासेधावरितारिका ॥’

बन्ध-नियम से ‘चित्र’ के अनेकानेक भेद निकल पड़ते हैं जिनमें ‘द्विचतुष्कचक्रबन्ध’, ‘द्विष्टाट्कचक्रबन्ध’, ‘विविडितबन्ध’ आदि मुख्य हैं । उदाहरण के लिये ‘व्योमगन्ध’—

‘कमलावलिहारिविकासविशेषवहं जनकाङ्क्ष
न नगामिकरं दिवि सारमनारमणं जरता न ।
तमसां चलहानि विलासवशेन वरं जनकान्त
न नमामि चिरं सवितारमनादिमहं जगतां न ॥’

‘चित्र’ की भेद-गणना असंभव है । साथ ही साथ काव्य साहित्य में इसका कोई विशेष उपयोग भी नहीं । सरस्वतीकण्ठाभरणकार का इसीलिये यह कथन है—

‘दुष्करत्वात् कठोरत्वात् दुर्वोधत्वाद् विनावधेः ।
दिङ्मात्र दर्शितं चित्रे शेषमूढ्य महात्मभि ॥’

(ङ) साहित्यदर्पणकार ने उपर्युक्त चित्र-भेदों में केवल आकृति नियम के चित्र भेदों का निर्देश किया है जिनमें ‘अष्टदलपद्मचित्र’ की रचना का संकेत भी कर दिया है । ‘अष्टदलपद्मचित्र’ के निर्माण का यह नियम है जैसा कि सरस्वतीकण्ठाभरणकार का कथन है—

‘कर्णिकाया न्यसेदेक द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च ।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्टदलागुजे ॥’

अर्थात् ‘अष्टदलपद्म’ में एक वर्ण कर्णिका अथवा वीजकोप के केन्द्र में रहना चाहिये और पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं तथा पूर्व-पश्चिम आदि विदिशाओं में दो-दो वर्णों को विन्यस्त करना चाहिये दिशाओं में विन्यस्त वर्णों का अनुलोम-प्रतिलोम पाठ हुआ करता है और विदिशाओं में स्थित वर्ण केवल अनुलोमत. या केवल प्रतिलोमत पढ़े जाया करते हैं ।

कभी-कभी कविजन अपने काव्यों को देवार्पण करने के लिये ‘अष्टदलपद्म’ चित्र रचा करते हैं और उसमें अपने नाम भी अंकित रखा करते हैं । उदाहरण के लिये महाकवि राजशेखर-रचित यह ‘अष्टदलकमल’ चित्र जो कि ‘राजशेखरकमल’ कहा जाया करता है—

‘रातावद्याधिराज्या विसरररसविद्व्याजवाक्क्षमापकारा
गका पद्मभाभशेषा नयननयनस्वा स्वया स्तव्यमारा ।
रामा व्यस्तस्थिरत्वा तुहिनननहितु श्रीः करधारधारा
राधा रक्षास्तु मद्य शिवमममवशिष्यालविद्यावतारा ॥’

(च) ध्वनिवादी आलङ्कारिकों के लिये अलङ्कार-विवेचन आवश्यक है । विश्वनाथ कविराज ध्वनिवादी आलङ्कारिक हैं । विश्वनाथ कविराज ने ‘चित्रालङ्कार’ का सोदाहरण लक्षण-निरूपण किया है और इसे ‘काव्यान्तर्गड्भूत’ कहा है । किन्तु विश्वनाथ कविराज का यह सब विवेचन अलङ्कारशास्त्र की प्राचीन परम्परा का अनुसरण भले ही हो, ‘रसात्मक वाक्य की अलङ्कार-योजना’ का निरूपण कदापि नहीं । विश्वनाथ कविराज को ‘चित्रकाव्य’ नामक काव्य-प्रकार मान्य नहीं किन्तु शब्दालङ्कारों में ‘चित्रालङ्कार’ अवश्य मान्य है । ऐसा लगता है जैसे प्राचीन साहित्यिक परम्परा और नवीन काव्य मर्यादा के द्वन्द्व में ही ‘साहित्यदर्पण’ की रचना हुई है और इसलिये साहित्यदर्पणकार का समीक्षणात्मक सतुलन जहाँ तहाँ शिथिल हो गया है । चित्रालङ्कार यदि ‘काव्यान्तर्गड्भूत’ है और रसात्मक वाक्य को काव्य मानने वाले आचार्य के लिये तो ऐसा ही है—तब इसके लक्षण-निरूपण की भी कोई आवश्यकता न थी । किन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रघुपति और सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज के प्रभाव में पड़कर विश्वनाथ कविराज ने चित्रालङ्कार को भी ‘साहित्यदर्पण’ के ही भीतर देख लिया है और सहृदयों को भी दिखाने का प्रयास कर दिया है । साहित्यिक रूढियों से लड़ना कितना कठिन है !

(प्रहेलिका : इल्लहारत्वचन्दन)

रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका ॥ १३ ॥

उक्तिर्वैचित्र्यमात्रं सा व्युत्पत्ताक्षरादिका ।

व्युत्पत्ताक्षरा दत्ताक्षरा व्युत्पत्ताक्षरा च ।

हरणम्—

‘वृजन्ति के किलाः साते यौवने पुञ्जमन्दुजम् ।

किं करोतु कुक्काशी वदनेन निपीडिता ॥’

अत्र ‘रसाते’ इति वक्तव्ये ‘साते’ इति र व्युत्पत्तः । वने’ इत्यत्र ‘यौवने’
‘यौ’ इति । ‘वदनेन’ इत्यत्र ‘मदनेन’ इति ‘म’ व्युत्पत्तः ‘व’ इति । आदि-
शक्तिव्यापारकत्वात्पुण्यद्वय ।

त्र क्रियागुनिर्णय—

‘पाण्डवानां समानव्ये दुर्योधन उपागत’ ।

तस्मै गा च सुवर्णं च सर्वाण्यभरणानि च ॥’

अत्र ‘दुर्योधनः’ इत्यत्र ‘ऋदुर्योऽवन’ इति । ‘ऋदु’ इति क्रियागुनि-
जन्यत्रापि ।

(अर्थालंकार . १—उपमा)

अथावसरप्राप्तेष्वर्थालङ्कारेषु सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामभ्युपजीव्यत्वे प्राधान्यात् प्रथममुपमामाह—

✓ साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥ १४ ॥

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्यापुक्तिः, उपमे योपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः ।

उपागत" । इसी प्रकार 'कारकगुप्ति' आदि रूप की प्रहेलिकाओं के उदाहरण स्वयं दे लिये जा सकते हैं ।

विमर्श—(क) चित्रालङ्कार 'कान्यान्तर्गडुभूत' है और प्रहेलिका 'रसपरिपन्थिनी' है । त इनका सोदाहरण लक्षण निरूपण करना 'गडुरिकाप्रवाह' नहीं तो और क्या है ?

(ख) विश्वनाथ कविराज का 'प्रहेलिका'-निरूपण सरस्वतीकण्ठाभरणकार के प्रभाव में हुआ है । 'प्रहेलिका' क्या है ? सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने 'प्रहेलिका' को 'पहेली-सुझीवल' कहा है और इसके ६ प्रकारों का सविस्तर निरूपण किया है—

'प्रहेलिका सकृत्प्रश्नः साऽपि पोढा च्युताक्षरा । दत्ताक्षरोभय मुष्टिर्विन्दुमथ्यर्थवत्यपि ॥
क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्जैराकीर्णमन्त्रणे । परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ १३३ ३४)

'प्रहेलिका' का उपयोग गोष्ठी-विनोद, रहस्यभाषण और दूसरे को व्यामोहित करने में ही है इससे यह स्पष्ट है कि काव्य में 'प्रहेलिका' का कोई स्थान नहीं ।

(ग) विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्दिष्ट 'क्रियागुप्ति' 'कारकगुप्ति' आदि प्रहेलिका प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार 'गूढ' के भेद-प्रभेद हैं—

क्रियाकारकसंबन्धे पदाभिप्रायवस्तुभिः । गोपितैः पद्विध प्राहुर्गूढ गूढार्थवेदिनः ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण २ १३५)

इनमें 'क्रियागुप्ति' का यह उदाहरण बड़ा सुन्दर है—

'स्तनजघनभराभिराममन्दं गमनमिदं मदिरारुणेक्षणाया' ।

कथमिव सहसा विलोक्यन्तो मदनशरज्वरजर्जरा युवानः ॥'

यहाँ 'स्त' क्रियापद गुप्त है क्योंकि उपयुक्त श्लोक-वाक्य इस प्रकार है—'जघनभराभिराममन्द मदिरारुणेक्षणायाः गमनमवलोक्यन्तो हे युवानः । कथमिव यूयं मदनशरज्वरजर्जरा न स्थ ।'

अनुवाद—अब, अर्थालंकारों के निरूपण के आरम्भ में, सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों के विवेचन आवश्यक समझ कर, सर्वप्रथम 'उपमा' का स्वरूप विवेक किया जा रहा है । क्योंकि यही वह अलङ्कार है जिसे सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का मूल माना गया है और जो कि वस्तुतः एक सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण अलङ्कार है .—

✓ 'उपमा' क्या है ? 'उपमा' वह अलङ्कार है जिसे उपमान और उपमेय का ऐस साम्य अथवा 'सादृश्य' कहा करते हैं जो कि स्पष्टतः एक वाक्य में प्रतिपादित रहा करता है और जिसमें वैधर्म्य की कोई भी चर्चा नहीं हुआ करती ।

'उपमा' दो पदार्थों का वह वैधर्म्यवाच्य साम्य है जो कि एक वाक्य-प्रतिपाद्य हुआ करता है—इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि उपमा 'रूपक' आदि अलङ्कारों से भिन्न जिनमें (दो पदार्थों का) साम्य (वाच्य नहीं अपितु) व्यङ्ग्य हुआ करता है, 'व्यतिरेक

(उपमा के भेद-प्रभेद - १म पूर्णोपमा श्रौती और आर्यी)
सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।

उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्—

सा उपमा । साधारणधर्मो द्वयो सादृश्यहेतू गुणक्रिये मनोज्ञत्वादि । औप-
म्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमान चन्द्रादि ।

ने पृथक् है जिसमें (साम्य के साथ साथ) वैधर्म्य की भी चर्चा रहा करती है, 'उपमेयो-
पमा' से एक रूप नहीं जिसमें साम्य (एक वाक्य में नहीं अपितु) दो वाक्यों में
प्रतिपादित हुआ करता है और 'अनन्वय' से भी भटका है जिसमें (दो पदार्थों का नहीं
अपितु) एक पदार्थ का ही साम्य वर्णित रहा करता है ।

विमर्श—(क) काव्य में 'उपमा' की उपयोगिता और उक्त्याभावकता के मध्य में एक कवि
कह रहा—

‘अलङ्कारशिरोरत्न सर्वस्व काव्यसपदाम् ।

उपमा कविवशस्य मातेवेति मतिर्मम ॥’

अर्थात् 'उपमा' वस्तुतः कविता की जननी है । 'उपमा' पर कविवाद का अस्तित्व निर्भर है ।
उपमा' कविता का सर्वत्व है और यही वह अङ्कार है जो कि कविता का चूडाना है ।

आल्पात्मिक 'उपमा' की अलङ्कार वृक्ष या बीज मानने हैं—

‘उपमेवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारधीजभूतेति प्रथम निर्दिष्टा ।’

(रघुपदक - अलङ्कारसर्वस्व)

अर्थात् 'उपमा' में वह शक्ति है जो कि अनेकानेक अङ्कारों को जन्म दे सकती है । अलङ्कार
का नातर्य वैचित्र्य है और उपमा मूलतः वैचित्र्य की मातृभूमि है ।

(ग) 'उपमा की 'अवैधर्म्य साम्य' मानने का यह अभिप्राय है—'साम्य' अथवा 'साधर्म्य'
के तीन प्रकार हैं—(१) भेदप्राधान्य जैसे कि 'व्यतिरेक' में, (२) अनेकप्राधान्य, जैसे कि
रसक में और (३) भेदाभेदतुल्यत्व । इन साम्य अथवा साधर्म्य के तृतीय प्रकार अर्थात् 'भेद-
तुल्यत्व' की स्थापना में जो सादृश्य की अनुभूति है वह उपमा है (एवं च भेदाभेदतुल्य-
विविधये च सादृश्यप्रत्ययो जायते तस्योपमाविषयत्वमुक्तम्—आचार्य आर्यभट्ट) । अलङ्कार
सर्वस्वकार ने भी इसी भाँति कहा है—

‘यत्र किञ्चित् सामान्यं कश्चिच्च विशेषं स विषयं सदृशतायाः ।’

अर्थात् सादृश्य की प्रतीति का विषय वह वस्तु है जिसमें अनेकतुल्य सामान्य और भेदरसक
वेदोपमेयो गता गताः ॥

अतः—यह उपमा तब 'पूर्णोपमा' हुआ करती है जबकि हममें उपमेय, उपमान,
साधारण धर्म और उपमावाचक पद सभी स्पष्टतया प्रतिपादित रहा करते हैं ।

यहाँ कारिका में 'सा' का अभिप्राय 'उपमा' का है, 'साधारण धर्म' का अभिप्राय
उपमान और उपमेयरूप से अवस्थित दो पदार्थों के पारस्परिक सादृश्य के नियामक
मनोज्ञत्व (सौन्दर्य) आदि गुण किंवा क्रिया आदि का है और 'औपम्यवाचक' का
अभिप्राय सादृश्य के साक्षात् प्रतिपादक 'द्वय' नामि पदों का अभिप्राय है । 'उपमेय'
जैसे कहते हैं जो कि सादृश्य का आश्रयभूत पदार्थ हुआ करता है जैसे कि 'सुख' आदि
और 'उपमान' वह है जिसे सादृश्य का निश्चितरूप से मध्यस्थ पदार्थ कहा जाया करता
है जैसे कि 'चन्द्र' आदि ।

—इयं पुनः ॥ १५ ॥

श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।

आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥ १६ ॥

यथेववादयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसम्बन्धं बोधयन्तीति तत्सद्भावे श्रौत्युपमा। एवं 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने। तुल्यादयस्तु—'कमलेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेय एव। 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादावुपमान एव। 'कमलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादावुभयत्रापि विश्राम्यन्तीत्यर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे आर्थी। एवं 'तेन तुल्यम्—' इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

यह 'पूर्णोपमा' दो प्रकार की हुआ करती है—(१) वह, जिसे 'श्रौती' पूर्णोपमा कहा करते हैं क्योंकि इसमें 'यथा', 'इव', 'वा' आदि जैसे औपम्यवाचक पद अथवा 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय का प्रयोग हुआ करता है जिसके श्रवणमात्र से ही सादृश्य का अभिप्राय प्रतीत हो उठता है और (२) वह, जो कि 'आर्थी' पूर्णोपमा कही गई है क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'तुल्य', 'समान' आदि औपम्यवाचक पद अथवा तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय से जो सादृश्य प्रतीत हुआ करता है वह (साक्षात् नहीं अपितु) अर्थानुसन्धानपूर्वक ही प्रतीत हुआ करता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि क्योंकर 'यथा', 'इव', 'वा' आदि जैसे किसी पद के प्रयोग में उपमा 'श्रौती' हुआ करती है। 'यथा', 'इव', 'वा' आदि के रहने से उपमा इसलिये 'श्रौती' हुआ करती है क्योंकि ये पद ऐसे हैं जो कि उपमान के वाद 'प्रयुक्त' किये जानेवाले 'तुल्य' आदि पदों के समान होने पर भी, श्रवणमात्र से ही उपमान और उपमेय दोनों में अनुगत सादृश्य के स्वरूप को स्पष्ट प्रकट कर दिया करते हैं। इसी भाँति 'तत्र तस्येव' (५-१ ११६) इस पाणिनि सूत्र से 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय के प्रयोग में भी उपमा 'श्रौती' ही हुआ करती है क्योंकि इस प्रत्यय का श्रवणमात्र ही उपमान और उपमेय के पारस्परिक साम्य का स्पष्ट परिचय दे दिया करता है।

किन्तु 'तुल्य' आदि पदों के प्रयोग में उपमा 'आर्थी' हुआ करती है। 'तुल्य' आदि पदों के प्रयोग में उपमा के 'आर्थी' होने का कारण यह है कि उपमान और उपमेय दोनों में अनुगत सादृश्य के मूलभूत साम्य अथवा साधर्म्य का प्रतिपादन इनके श्रवणमात्र से नहीं अपितु इनके अर्थावबोध के कारण हुआ करता है क्योंकि कहीं जैसे कि 'कमल के तुल्य मुख है' आदि में 'तुल्य' आदि पद केवल उपमेय से संबद्ध प्रतीत होते हैं, कहीं जैसे कि 'कमल मुख के तुल्य है' आदि में 'तुल्य' आदि पद केवल उपमान से संबद्ध दिखाई देते हैं और कहीं कहीं जैसे कि 'कमल और मुख तुल्य हैं' आदि में ऐसा भी होता है कि ये पद उपमान और उपमेय दोनों में संबद्ध लगा करते हैं (इसलिये जब तक इनके अर्थ का पर्यालोचन न हो तब तक उभयगत साम्य अथवा साधर्म्य का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता)। इसी प्रकार 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५ १-१५) इस पाणिनिसूत्र से विहित 'वति' प्रत्यय के अर्थानुसन्धान से साम्य का अवबोध होने के कारण, इस प्रत्यय के योग में भी उपमा 'आर्थी' ही हुआ करती है।

(पूर्णोपमागत भेद तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा पूर्णोपमा)

द्वे तद्धिते समासेऽथ वाक्ये—

द्वे श्रौती आर्थी च । उदाहरणम्—

(तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा)

सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनी पीनी ।

हृदय मदयति वदनं तत्र शरदिन्दुर्यथा बाले ।।

अत्र क्रमेण त्रिविधा श्रौती ।

विमर्श—उपमा के 'श्रौती' होने का नात्वर्ण नाट्य का 'स्वादि' शब्द ने प्रतिपादित होना है—स्वादि शब्द दो भिन्न वस्तुओं के नाट्य के अभिधायक हुआ करने हैं—'यथैवशब्दो सादृश्यमाहुर्ग्यतिरेकिणो' (मानह) ।

'उपमा' का 'आर्थी' होना 'तुल्यादि' शब्द से नाट्य का प्रत्यायन है जैसा कि आचार्य महिनाथ का कथन है—

'इवादीनामप्यर्थात् सदृशपर्यवसानं ध्रुत्या तु सादृश्यसमस्तमेवेति तत्प्रयोगे श्रौती-त्यर्थः । तुल्यादिशब्दानां तु ध्रुत्या सदृशपरत्वमर्थात् सादृश्यपर्यवसानमिति तेषां प्रयोगे स्वाधीत्याह ।'

अनुवाद—'श्रौती' और 'आर्थी' प्रकारों की यह द्विविध पूर्णोपमा तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा होने के कारण ६ प्रकार की हो जाया करती है ।

यहाँ कारिका में 'द्वे' से श्रौती और आर्थी दोनों प्रकार की पूर्णोपमाओं का अभिप्राय लिया गया है । जैसे कि—

अनुवाद—'बरी सुन्दरी । तेरे मुख का सौरभ कमलवत् है, तेरे दोनों स्तन दो घड़ों की भौंति-पीन (मोटे) हैं और तेरा मुख उनी प्रकार हृदय को आनन्दित किया करता है जिस प्रकार शरद् शत्रु का चन्द्रमा ।'

यहाँ पूर्वार्द्ध के प्रथम और द्वितीय वाक्य में क्रमशः 'तद्धितगा' और 'समासगा' श्रौती पूर्णोपमा हैं और उत्तरार्द्ध में 'वाक्यगा' श्रौती पूर्णोपमा परिलक्षित हो रही है ।

[यहाँ 'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य' में तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा है—उपमेय 'मुख' है, उपमान अम्भोरुह है, सौरभ दोनों में अनुगान साधारण धर्म है और 'अम्भोरुहवत्' (अम्भोरुहस्येव अम्भोरुहवत्) में 'हव' के धर्म में विहित तद्धित प्रत्यय 'वति' के रूप में लोपग्यवाचक पद भी विराजमान है । इसी प्रकार—'कुम्भाविव स्तनी पीनी' में समासगा श्रौती पूर्णोपमा दिखायी दे रही है क्योंकि यहाँ उपमेय 'स्तन', उपमान 'कुम्भ', साधारण धर्म 'पीनत्व' और उपमावाचक पद 'हव'—ये उपमा के चारों अङ्ग विराजमान हैं । यह श्रौती पूर्णोपमा 'समासगा' इसलिए है क्योंकि यहाँ 'कुम्भाविव' समस्तपद है जिसमें 'हवेन समामो विनक्ष्यतोप पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वच' इस यानिक के अनुसार समान तथा विभक्ति के लोप का अभाव दोनों स्पष्ट है । इसी भाँति 'हृदय मदयति वदनं तत्र शरदिन्दुर्यथा बाले' में वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का स्वरूप स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'वदन' उपमेय है, 'शरदिन्दु' उपमान है, 'नादकता' साधारण धर्म है और 'यथा' के रूप में लोपग्यवाचक पद भी विद्यमान है ।]

(तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा)

‘मधुरः सुधावद्धरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः ।

चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः ॥’

अत्र क्रमेण त्रिविधा आर्थी ।

—पूर्णा पडेव तत् ।

स्पष्टम् ।

(लुप्तोपमा • भेद-प्रभेद)

लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ॥ १७ ॥

त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ।

सा लुप्ता ।

अनुवाद—‘उस सुन्दरी का अधर सुधावत् मधुर है, हाथ पल्लवतुल्य सुकुमार हैं और नेत्र चकित मृग के नेत्रों के समान चञ्चल हैं ।’

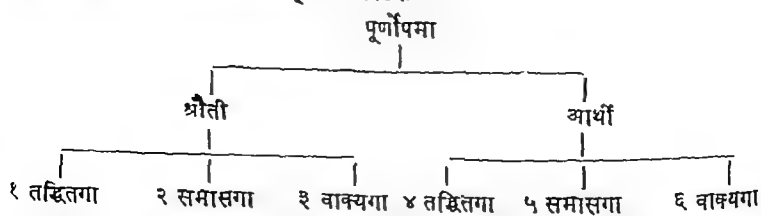
यहाँ प्रथमार्ध के प्रथम वाक्य में ‘तद्धितगा’, द्वितीय वाक्य में ‘समासगा’ और उत्तरार्ध में ‘वाक्यगा’ आर्थी पूर्णोपमा क्रमशः दिखायी दे रही हैं ।

[‘मधुरः सुधावद्धरः’ में तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा है क्योंकि यहाँ अधर ‘उपमेय’, सुधा ‘उपमान’, माधुर्य ‘साधारण धर्म’ और (सुधावत् में) ‘तेन तुल्यं क्रिया चेद्वृत्तिः’ (५१.११५) इस पाणिनि-सूत्र से ‘तुल्य’ के अर्थ में विहित तद्धित ‘वति’ प्रत्ययरूप औपम्यवाचक पद—ये चारों विराजमान हैं । ‘पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः’ में समासगा आर्थी पूर्णोपमा का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है क्योंकि यहाँ उपमेय ‘पाणि’, उपमान ‘पल्लव’, साधारण धर्म ‘सौकुमार्य’ और (पल्लवतुल्य में) औपम्यवाचक समासगत ‘तुल्य’ पद, ये सभी उपमा के अङ्ग उपस्थित हैं । इसी प्रकार ‘चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः’ में वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा की शोभा दिखायी दे रही है क्योंकि यहाँ लोचन ‘उपमेय’, चकितमृगलोचन ‘उपमान’, चपलता ‘साधारणधर्म’ और सदृश के रूप में ‘औपम्यवाचक’ पद, ये चारों उपमा के अङ्ग विद्यमान हैं ।]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि पूर्णोपमा ६ प्रकार की हुआ करती है ।

‘पूर्णा पडेव तत्’ आदि कारिकांश स्वयं स्पष्ट है ।

विमर्श—‘पूर्णोपमा’ के प्रकारवृत्त का कोष्ठक —



अनुवाद—‘लुप्तोपमा’ वह है जिसमें उपमा के साधारण धर्म आदि अङ्ग-चतुष्टय में से एक या दो या तीन लुप्त रहा करते हैं । ‘पूर्णोपमा’ की ही भाँति लुप्तोपमा भी मुख्यतः ‘श्रौती’ और ‘आर्थी’ दो रूपों की हुआ करती है ।

यहाँ कारिका में ‘सा’ का अभिप्राय ‘लुप्तोपमा’ का अभिप्राय है ।

तद्वेदमाह—

पूर्णावद्धर्मलोपे सा विना श्रौतीं तु तद्धिते ॥ १८ ॥

सा लुप्तोपमा धर्मस्य साधारणगुणक्रियारूपस्य लोपे पूर्णावदिति पूर्वोक्त-
तेत्या पदप्रकारा, किं त्वत्र तद्धिते श्रौत्या असम्भवात्पञ्चप्रकारा ।

उदाहरणम्—

‘मुखमिन्दुर्यथा पाणि पल्लवेन समः प्रिये ।

वाच’ सुधा इवोष्ठस्ते त्रिम्बतुल्यो मनोऽश्मवत् ॥’

इस ‘लुप्तोपमा’ का भेद-परिगणन किया जा रहा है—

सर्वप्रथम वह लुप्तोपमा, जिसमें साधारण धर्म लुप्त अथवा अप्रतिपादित रहा करता
; और जिसे ‘धर्मलुप्ता उपमा’ कहा जाया करता है, पूर्णोपमा की भाँति ६ प्रकार की होनी
चाहिये किन्तु तद्धित में इसके ‘श्रौतीरूप’ की अस्मभावना के कारण, पाँच प्रकार की हो
गनी जाया करती है ।

तात्पर्य यह है कि गुण अथवा क्रियारूप साधारण धर्म के लोप अथवा अनुपादान में
जो ‘लुप्तोपमा’ हुआ करती है उसमें, पूर्वप्रतिपादित प्रकार से, पूर्णोपमा की भाँति, प्रकार-
ट्क की सम्भावना है किन्तु वस्तुतः इसके जितने प्रकार माने जाया करते हैं वे पाँच ही हैं
‘यौकि’ ‘तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा’ नामक प्रकार की कोई रूप-रेखा यहाँ बनती नहीं
देखायी देती (कारण यह है कि ‘तत्र तस्येव’ सूत्र से पष्ठ्यन्त अथवा सप्तम्यन्त साधर्म्य
वाचक पद के ही सहारे ‘वनि’ रूप तद्धित प्रत्यय विहित हो सकता है किन्तु जब कि यहाँ
साधर्म्यवाचक पद का लोप अथवा अनुपादान है तब तो यह निश्चित ही है कि ‘वनि’
प्रत्यय प्रयुक्त ही नहीं हो सकता और साधारण धर्म के लोप में ‘तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा’
की कोई सम्भावना भी नहीं हो सकती) ।

उदाहरण के लिये—

‘प्रिये ! तुम्हारा मुख सन्ध्या की भाँति है, तुम्हारा हाथ पल्लव के समान है, तुम्हारी
पाणी सुधा मरीची है, तुम्हारे ओठ त्रिम्बतुल्य हैं किन्तु तुम्हारा मन अश्मवत् (पथर की
भाँति) है ।’

[‘मुखमिन्दुर्यथा’ में वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्तोपमा है क्योंकि मुख ‘उपमेय’, इन्द्र-
उपमान’ तथा ‘यथा’ लौप्यवाचक पद—ये तीनों तो यहाँ, इस वाक्य में, उपस्थित हैं
किन्तु ‘मदयति अथवा आनन्दयति’ का साधारण धर्म लुप्त अथवा अप्रतिपादित पदा है ।
पाणि पल्लवेन सम’ में वाक्यगा आधी धर्मलुप्तोपमा है क्योंकि पाणि के रूप में ‘उपमेय’
। हाथ के रूप में ‘उपमान’ और सम के रूप में ‘लौप्यवाचक’ पद तो हैं किन्तु कोमाना
ज साधारण धर्म लुप्त है । ‘वाच सुधा इव’ में समानगा श्रौती धर्म लुप्तोपमा है क्योंकि
यहाँ साधर्म्यरूप साधारण धर्म तो अप्रयुक्त है किन्तु उपमेय ‘पाणी’ उरमान ‘सुधा’ और
सुधा इव’ में ‘इवेन सा’ आदि वाकिक के अनुसार, विभक्त्यल्लोप के साथ, लौप्यवाचक
समानगत ‘इव’ पद—तीनों उपस्थित हैं । ‘ओष्ठस्ते त्रिम्बतुल्य’ में समानगा आधी धर्म-
लुप्तोपमा दिग्गधी दे रहा है क्योंकि यहाँ ‘रचना का साधारण धर्म अनुपात है और
उपमेय के रूप में ‘ओष्ठ’, उपमान के रूप में ‘त्रिम्ब’ और लौप्यवाचक पद के रूप में
समानगत ‘तुल्य’ शब्द प्रयोजमान हैं । इसी प्रकार ‘मनोऽश्मवत्’ में तद्धितगा आधी
धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट है क्योंकि यहाँ तृतीयान्त ‘अश्मवत्’ शब्द से ‘तुल्य’ के अर्थ में ‘तेन

(धर्मलुप्तोपमा के पाँच-प्रकार)

आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि ।

कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः ॥ १६ ॥

(१—आधार और २ कर्म से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में धर्मलुप्तोपमा)

'धर्मलोपे लुप्ता' इत्यनुपज्यते । क्यच्-क्यङ्-णमुलः कलापमते इत्युच्यते ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘अन्तःपुरीयसि रणेपु, सुतीयसि त्व

पौरं जन तव सदा रमणीयते श्री ।

दृष्ट प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र-

सञ्चारमत्र भुवि सञ्चारसि क्षितीश ! ॥’

अत्र ‘अन्तःपुरीयसि’ इत्यत्र सुखविहारास्पदत्वस्य, ‘सुतीयसि’ इत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य च साधारणधर्मस्य लोपः ।

तुल्यं क्रिया चेद्विती’ से विहित ‘वति’रूप औपम्यवाचक तद्वित प्रत्यय, उपमान के रूप में ‘अश्म’ और उपमेय के रूप में ‘मन’—ये तीन तो स्पष्टतया प्रतिपादित हैं किन्तु कठिनता का साधारण धर्म लुप्त है । इस प्रकार यहाँ ‘धर्मलुप्तोपमा’ के प्रकार पञ्चक का निर्देश स्पष्ट है ।]

विमर्श—धर्मलुप्तोपमा को सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने ‘लुप्तपूर्ण’ उपमा कहा है—‘लोपे सामान्यधर्मस्य लुप्तपूर्णोति गद्यते’ (सरस्वतीकण्ठाभरण ४ १७) । ‘लुप्तपूर्णा’ का उदाहरण यह है—

‘राजीवमिव ते वक्त्र नेत्रे नीलोत्पले इव । रम्भास्तम्भाविवोरु च करिकुम्भाविव स्तनौ ।

धर्मलुप्तोपमा के उपर्युक्त पाँचों प्रकार वस्तुतः ‘लुप्तपूर्णा’ की कल्पना में अन्तर्भूत प्रतीत हैं । ऐसा लगता है कि विमाजन के आग्रह के कारण अन्य आलङ्कारिकों को ‘लुप्तपूर्णा’ मान नहीं हुई ।

अनुवाद—इस धर्मलुप्तोपमा के ये अन्य भी पाँच प्रकार हुआ करते हैं—(१) आधार अथवा अधिकरण से विहित ‘क्यच्’ प्रत्यय के प्रयोग में, (२) कर्म से विहित ‘क्यङ्’ प्रत्यय के प्रयोग में, (३) कर्ता से विहित ‘क्यङ्’ प्रत्यय के प्रयोग में, (४) कर्मोप ‘णमुल’ प्रत्यय के प्रयोग में और (५) कर्तृपद ‘णमुल्’ प्रत्यय के प्रयोग में ।

यहाँ कारिका में पूर्वकारिका से ‘धर्मलोपे लुप्ता’ इस पद का अध्याहार है । पाणिनि व्याकरण के मत में जो ‘क्यच्’, ‘क्यङ्’ और ‘णमुल्’ प्रत्यय हैं, वे ही कलाप अर्थात् कालान्तर व्याकरण के मत में क्रमशः ‘हन्’, ‘आयि’ और ‘णम्’ कहे जाये करते हैं ।

धर्मलुप्तोपमा के इन पाँचों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

‘महाराज ! आप ही ऐसे हैं जो सप्राप्ति में ऐसा किया करते हैं जैसे अन्तःपुर आप ही ऐसे हैं जो अपने प्रजाजन के प्रति पुत्र की भाँति व्यवहार किया करते हैं, १ ही ऐसे हैं जिनके लिये राजलक्ष्मी रमणी की भाँति रहा करती है, आप ही ऐसे हैं अपनी प्रेमिकाओं द्वारा चन्द्र की भाँति देखे जाये करते हैं और आप ही ऐसे हैं जो मूलोक में इन्द्र की भाँति विचरण किया करते हैं ।’

यहाँ ‘अन्तःपुरीयसि’ (अन्तःपुरेष्वाचरसि—अन्तःपुरीयसि—‘उपमानादात्

न्यत्र ।

इ च यथादितुन्यादिबिरहाच्छ्रौत्यादिविशेषचिन्ता नास्ति । इदं च केचि-
प्रतिपादकस्येवादेर्लोप उदाहरन्ति, तद्युक्तम्—क्यडादेरपि तदर्थविहि-
पन्यप्रतिपादकत्वात् ।

तु क्यडादिषु सन्यगौपन्यप्रतीतिर्नास्ति प्रत्ययत्वेनास्त्वतन्त्रत्वाद् उवादि-
भावाच्चेति न वाच्यम् । कल्पवादागपि तथाप्रसङ्गात् । न च कल्पवादी-

१०) सूत्र के अन्तर्गत 'अधिकरणाच्चेति' इयं वार्तिक के द्वारा, उपमानवाचक
रि'रूप अधिकरण पद से आचार के अर्थ में विहित क्यच् प्रत्यय) में 'सुन्-
ब्रह्म' का साधारण धर्म लुप्त है और 'सुनीयमि' (सुन पुत्रमिवाचरमि सुनीयमि-
वादाचरे' सूत्र से उपमानवाचक 'सुन रूप कर्मपद से आचार के अर्थ में विहित
प्रत्यय) में 'मैहाधिक्य का साधारण धर्म अनुपात है । इसी भाँति 'रमणीयते'
। इयं आचरति रमणीयते-कर्तुं क्यङ् मलोपश्च' ३-१-११ सूत्र से उपमानवाचक
रूप कर्तृपद से आचार के अर्थ में विहित 'क्यट्' प्रत्यय) 'वशवदना अथवा
ग' के साधारण धर्म का लोप, 'अमृतप्रतिदर्शनम्' (अमृतद्युनिमित्र दृष्टा-अमृतद्यु
३-उपमाने कर्मणि च' २३-२३ सूत्र से, उपमानवाचक 'अमृतपनिम्' इयं कर्मो-
, दन् धातु से भाव में 'णमुल्' प्रत्यय तथा 'क्यादिषु यथाविप्यनुप्रयोग'—
, यन्माणसुलुप्तं न एव धातुरुपयोक्तव्यं के अनुमा ग धातु का अनुप्रयोग)
चनाहादकत्व' के साधारण धर्म का लोप और 'इन्द्रमज्जार मज्जरमि' (इन्द्र
रत्वा इन्द्रमज्जार मज्जरमि, उपमाने कर्मणि च ३-१-३२ सूत्र से उपमानवाचक इन्द्र-
रूपपद से 'नन्' उपसर्गपूर्वक 'चर्' धातु से भाव में 'णमुल्' प्रत्यय) में 'अप्रतिहत-
' के साधारण धर्म का लोप स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

लुप्तोपमा के इन उपर्युक्त पाँचों प्रकारों में 'श्रीती' और 'आधी' रूपों के अनुमान
(आद्यव्यक्ता नहीं क्योंकि यहाँ 'यथा' इयं आदि पद, जो कि उपमा के 'श्रीती'
सूचक है और तुल्य, तदग आदि पद जो कि उसके 'आधी' रूप के परिचायक हैं,
ही नहीं हो सकते ।

तेषां काव्याचार्य (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) क्यच् आदि प्रत्ययों
ग में निदिष्ट उपर्युक्त धर्मलुप्तोपमा का 'वाचकलुप्तोपमा' कहा करते हैं क्योंकि
इष्टि में यहाँ उपमावाचक पद का लोप दिखायी दिया करता है । किन्तु ऐसा कहना
ही क्योंकि 'क्यङ् आदि प्रत्यय ऐसे हैं जो 'इव' के अर्थ में विहित हुआ करते हैं
। प्रत्यय का अभिप्राय रखा करते हैं जिसमें उनके प्रयोग में 'वाचकलुप्तोपमा' की
प्रयोग होती मित्र हो जाती है (यही तो धर्मलुप्तोपमा ही है मान्यता युक्ति-
और प्रमाणविद् भी है) ।

तो यह कहना भी ठीक नहीं कि जब कि 'क्यङ् आदि प्रत्यय सन्यत्र नहीं और
ही नाय जब कि यहाँ 'इव' आदि पदों का भी प्रयोग नहीं, तब हमें साध्य की
प्रतीति क्योंकि युक्तिमान हो । जान यह है कि यदि 'क्यट् आदि के प्रयोग
की प्रतीति समीचीन नहीं मानी जा सकती तब 'क्यङ् आदि प्रत्ययों के
में औपम्य की प्रतीति क्योंकि समीचीन मान ली जाय' यहाँ यह कहना भी
ही है कि 'क्यङ् आदि प्रत्यय तो 'इव' आदि की भाँति औपम्य के अभिप्रायक

नामिवादि तुल्यतयौपम्यस्य वाचकत्वम्, क्यडादीनां तु द्योतकत्वम्; इवादीनामपि वाचकत्वे निश्चयाभावात् । वाचकत्वे वा 'समुदितं पदं वाचकम्' 'प्रकृतिप्रत्ययौ स्वस्वार्थबोधकौ' इति च मतद्वयेऽपि वत्यादिक्यडाद्योः साम्यमेवेति । यच्च केचिदाहुः—'वत्यादय इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यडादयस्त्वाचाराद्यर्थे' इति, तदपि न; न खलु क्यडादय आचारमात्रार्था अपि तु सादृश्याचारार्था इति । तदेवं धर्मलोपे दशप्रकारा लुप्ता ।

हैं किन्तु 'क्यड्' आदि ऐसे हैं जिन्हें औपम्य का अभिधायक अथवा वाचक नहीं अपितु द्योतक अथवा व्यञ्जक ही कहा जा सकता है क्योंकि इसका कहाँ से निश्चय कि 'इव' आदि औपम्य के वाचक ही है (द्योतक नहीं), और यदि 'कल्पप्' आदि को औपम्य का वाचक ही माना जाय तब इसी सिद्धान्त के अनुसार ऐसा माना जा सकता है कि 'प्रकृतिप्रत्ययरूप समुदित पद ही वाचक पद है' और 'प्रकृति तथा प्रत्यय अपने-अपने अर्थ के बोधक हुआ करते हैं ।' किन्तु तब 'कल्पप्' तथा 'वति' और 'क्यड्' आदि प्रत्ययों में समानता ही माननी पड़ेगी (क्योंकि जैसे 'कल्पप्' प्रत्यय सादृश्य का वाचक अथवा द्योतक है वैसे ही 'वति' और 'क्यड्' आदि प्रत्यय भी सादृश्य के वाचक अथवा द्योतक ही प्रत्यय हैं) ।

यहाँ कुछ आलङ्कारिकों का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं कि 'वति आदि प्रत्यय तो इव आदि के अर्थ में विहित हुआ करते हैं और क्यड् आदि ऐसे हैं जो आचार आदि के अर्थ में अनुशिष्ट हैं (और इसलिये क्यड् आदि के द्वारा औपम्य की समीचीन प्रतीति असंभव है) ।' कारण यह है कि 'क्यड्' आदि प्रत्यय केवल आचार का ही नहीं अपितु सादृश्यान्वित आचार का अभिप्राय रखा करते हैं (जिससे इनके प्रयोग में उपर्युक्त 'अन्तःपुरीयति' आदि सूक्ति में वाचकलुप्तोपमा की अपेक्षा धर्मलुप्तोपमा की ही मान्यता अधिक युक्तियुक्त प्रतीत हो रही है) ।

इस प्रकार साधारणधर्म के लोप में दस प्रकार की धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट है ।

विमर्श—(क) काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'समासगता', 'कर्मक्यजगता', 'आधारक्यवगता', 'क्यङ्गता', 'कर्मणमुल्लगता' और 'कर्तृणमुल्लगता' लुप्तोपमायें 'वाचकलुप्ता' के भेद-प्रभेद हैं किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इन्हें धर्मलुप्तोपमा के प्रकारपञ्चक के रूप में स्वीकार किया है । साहित्यदर्पणकार की यह मान्यता ही पण्डितराज जगन्नाथ की इस समीक्षा को जन्म देती है—

'अत्रेदमवधेयम्—कर्माधारक्यचि, क्यडि च वाचकलुप्तोदाहरण प्राचामसगतमिव धर्मलोपस्यापि तत्र सभवात् । न च क्यङाद्यर्थ आचार एव साधारणधर्मोऽस्तीति वक्तव्यम् । धर्ममात्ररूपस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वाभावात् । 'नारीयते सपत्नसेना' इत्यादौ वृत्त्यन्तर निवेदितैः कातरत्वादिभिरभिन्नतयाऽव्यवसितस्याचारस्योपमानिष्पादकत्वात् । यदि च क्यङर्थे आचारमात्रमुपमानिष्पादक स्यात्तदा 'त्रिविष्टप तस्खलु भारतायते' इत्यादौ सुप्रसिद्धत्वादिरूपाचारोपस्थितावप्युपमालङ्कृतेरनिष्पत्तेः तस्यैव च 'सुपर्वभि शोभित मन्तराश्रितैः' इति चरणान्तरनिर्माणे तस्या निष्पत्तेः क्यङाद्यर्थ साधारणोऽपि नोपमा प्रयोजयति । उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूपेण साधारणधर्मवाचकशून्यत्वस्यैव धर्मलोपशब्देनाभिधानात् । अन्यथा 'मुखरूपमिव वस्तु प्रफुल्लमिव पङ्कजम्' इत्यादौ पूर्णोपमा पत्तेरिति दिक् ।' (रसगङ्गाधर उपमाप्रकरण)

(ख) 'इव' आदि की 'वाचकता द्योतकता' के सबन्ध में रसगङ्गाधरकार की ये पक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

(उपमानलुप्तोपमा वाक्यगा तथा समासगा)

उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः ।

उदाहरणम्—

‘तस्या मुखेन सदृश रम्य नास्ते न वा नयनतुल्यम् ।

अत्र मुखनयनप्रतिनिधिवस्त्वन्तरयोर्गम्यमानत्वादुपमानलोपः । अत्रैव च ‘मुखेन सदृशम्’ इत्यत्र ‘मुख यथेदं’ ‘नयनतुल्यम्’ इत्यत्र ‘दृगिव’ इति पाठे श्रुत्यपि सभवतीति । अनयोर्भेदयोः प्रत्येक श्रोतार्थीत्वभेदेन चतुर्विधत्वसम्भवेऽपि प्राचीनानां रीत्या द्विप्रकारत्वमेवोक्तम् ।

(वाचकलुप्तोपमा समासगा और क्लिप्तप्रत्ययगा)

औपम्यवाचिनो लोपे समासे क्लिपि च द्विधा ॥२०॥

‘तत्रेवादीनां द्योतकत्वमेव न वाचकत्वम्, निपातत्वादुपमर्गवत् । द्योतकत्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदान्तरेण शक्यं लक्षणया वा तादृशार्थगोधने नात्यर्थग्राहकत्वेनोपयोगित्वमिति वैयाकरणः । उपमर्गाणां द्योतकत्वमावश्यकम् । अन्यथा ‘उपास्यते गुरः’, ‘अनुभूयते सुखम्’ इत्यादौ गुर्वादिलेनाभिधानं न स्यात् । धावर्धकर्मनाविरहात् । इवादीनां तु वाचकत्वम्, बाधकाभावात् । प्रागुक्तहेतुसर्वप्रयोजकत्वान् नाधकः । अन्यथा अव्ययत्वादिति हेतुना अव्ययमात्रस्येव द्योतकापत्तिरिति नैयायिका ।’

(समग्रापर वचनाप्रकृत)

अनुवाद—उपमान के लोप में जो ‘उपमानलुप्तोपमा’ हुआ करती है वह दो प्रकार की है—(१) वाक्यगा उपमानलुप्तोपमा और (२) समासगा उपमानलुप्तोपमा ।

जैसे कि—

‘उसके मुख के सदृश कोई वस्तु सुन्दर नहीं और न उसके नयनतुल्य ही कोई सुन्दर वस्तु है ।’

यहाँ उपमान का लोप है क्योंकि न तो यहाँ ‘मुख’ के प्रतिनिधिरूप में किसी अन्य वस्तु का उपादान है और न नयन के प्रतिनिधिरूप में ही किसी दूसरी वस्तु का प्रतिपादन है । यहाँ तो ‘मुख’ और ‘नयन’ के उपमानरूप में चन्द्र और परमरूप वस्तुओं की अभिव्यक्ति हो जाती है (और उपमानलुप्ता उपमा की रूप रेखा स्पष्ट झलक उठती है) । यहाँ यदि ‘मुखेन सदृशम्’ के स्थान पर ‘मुख यथेदम्’ और ‘नयनतुल्यम्’ के स्थान पर ‘दृगिव’ कर दिया जाय तो उपमानलुप्तोपमा के ‘श्रौती’रूप की भी सम्भावना स्पष्ट दिखायी दे जाय । वैसे तो ‘वाक्यगा’ किंवा ‘समासगा’ उपमानलुप्तोपमा में भी ‘श्रौती’ और ‘आर्थी’ भेदों की सम्भावना है जिसमें हमके चार प्रकार माने जा सकते हैं किन्तु प्राचीन व्याकरणियों की रीति का अनुसरण करते हुये, यहाँ हमारे वाक्यगत और समासगत भेदों की ही गणना की गयी है ।

विमर्श—‘उपमानलुप्तोपमा’ दो प्रकार की होगी—‘वाक्यगा’ और ‘समासगा’—दो प्रकारों की ही तो ‘श्रौती’ है इसके अन्तर में प्रतीतिवाचक का चित्र प्रतिपादन देने योग्य है—

‘न वा श्रौती । इवादीनानुपमानमाशान्वितया तदनुपादाने नैषानुपानुपादानात् नतो वाक्यसमासयोरेव । तयोरेषार्थी ष्वेति द्विप्रकारा लुप्तोपमानोपमा ।’

अनुवाद—औपम्यवाचक पद के लोप में जो वाचकलुप्तोपमा हुआ करती है उसके दो भेद हैं—(१) समासगा वाचकलुप्तोपमा और (२) क्लिप्ता वाचकलुप्तोपमा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(समासगा वाचकलुप्तोपमा)

‘वदन मृगशावाध्याः सुधाकरमनोहरम् ।’

(क्षिप्वा वाचकलुप्तोपमा)

‘गर्दभति श्रुतिपरुषं व्यक्तं निनदन् महात्मनां पुरतः ।’

अत्र ‘गर्दभति’ इत्यत्रौपम्यवाचिनः क्षिपो लोपः । न चेहोपमेयस्यापि लोपः, ‘निनदन्’ इत्यनेनैव निर्देशात् ।

(धर्मोपमानलुप्तोपमा भेदद्वय)

द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मोपमानयोः ।

इनके क्रमशः उदाहरण ये रहे—

‘इस मृगनयनी का मुख चन्द्रसुन्दर है ।’

‘वदे लोगों के सामने कर्कशतापूर्वक और जोर से बोलता हुआ यह मनुष्य गधे का सा काम कर रहा है ।’

(यहाँ ‘वदन मृगशावाध्या सुधाकरमनोहरम्’ में समासगा वाचकलुप्तोपमा है क्योंकि उपमेय ‘वदन’, उपमान ‘सुधाकर’ और साधारणधर्म ‘मनोहरत्व’ तो स्पष्ट प्रतिपादित हैं किन्तु ‘सुधाकर इव मनोहरम् सुधाकरमनोहरम्’ में उपमावाचक ‘इव’ पद लुप्त है) इसी प्रकार ‘गर्दभति’ (गर्दभ इव आचरति गर्दभति ‘सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्तिन्वा वक्तव्यः’ इस वातिक नियम के अनुसार उपमानवाचक ‘गर्दभ’ पद से आचार के अर्थ में क्तिप् प्रत्यय और क्तिप् का सर्वापहारी लोप) में औपम्यवाचक क्तिप् के लोप में वाचक लुप्तोपमा स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ ‘निनदन्’ के रूप में ‘उपमेय’, ‘गर्दभ’ के रूप में ‘उपमान’ और ‘श्रुतिपारुष्य’ के रूप में साधारणधर्म स्पष्टतया प्रतिपादित हैं) ।

‘गर्दभति श्रुतिपरुषम्’ आदि में उपमेय के लोप की आज्ञा नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहाँ ‘निनदन्’ इस कर्तृपद से ही यहाँ उपमेय का निर्देश स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श—रसगङ्गाधरकार के अनुसार ‘क्तिप्वा’ लुप्तोपमा केवल वाचकलुप्तोपमा नहीं अपितु ‘वाचकधर्मलुप्तोपमा’ है—

‘वाचकधर्मलुप्ता किञ्चिता यथा—

कुचकलशेषबलानामलकायामथ पयोनिधेः पुलिने ।

चित्तिपालकीर्तयस्ते हारन्ति हरन्ति हीरन्ति ॥’

अत्र हार हर-हीर शब्दाः आचारार्थके क्तिप् लुप्ते धातवः । तत्र हारादिशब्दा लक्षण्या हारादिशादृश्य बोधयन्ति । लुप्तोऽपि स्मृतः क्तिवाचारमिति पक्षे वाचकधर्मलोप स्पष्ट एव । हारादिशब्दा एव लक्षण्या तादृशादृश्याभिज्ञमाचारमिति पक्षे सादृश्यस्येव धर्मस्यापि तन्मात्रबोधकाभावाद्धोप एव ।’ (रसगङ्गाधर उपमाप्रकरण)

अनुवाद—साधारणधर्म और उपमान-दोनों के लोप में जो ‘धर्मोपमानलुप्तोपमा’ हुआ करती है वह दो प्रकार की है—(१) समासगा धर्मोपमानलुप्तोपमा और (२) वाक्यगा धर्मोपमानलुप्तोपमा ।

‘तस्या मुखेन’ इत्यादी ‘रन्त्यम्’ इति स्थाने ‘लोके’ इति पाठेऽनयोत्तरा-
हरणम् ।

(धर्मवाचकलुप्तोपमा भेदद्वय)

किप्समासगता द्वेधा धर्मेवादिविलोपने ॥२१॥

उदाहरणम्—

‘विधवति सुखाञ्जनस्याः’

अत्र ‘विधवति’ इति मनोहरत्व-किप्रत्यययोलोपः । ‘सुखाञ्जम्’ इति च
समासगा । केचित्त्वत्राचिप्रत्ययलोपमाहुः ।

(उपनेयलुप्तोपमा)

उपमेयस्य लोपं तु स्यादेका प्रत्यये क्यत्रि ।

यथा—

‘अरातिविक्रमालोक्त्रिकस्वरविलोचनः ।

कृपाणोदप्रदोर्दण्डः स सहायुधीयति ॥’

‘तस्या मुखेन नदरा रन्त्य नास्ते न वा नयननुत्पन्नम् ।’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में ‘रन्त्यम्’
के बदले ‘लोके’ कर देने से (अर्थात् ‘तस्या मुखेन नदरा लोके नास्ते न वा नयननुत्पन्नम्’
आदि पाठमें) धर्मोपमानलुप्तोपमा के ‘वाक्यगत’ और ‘समानगत’ दोनों रूपों के उदाहरण
मिल जायेंगे ।

विमर्श—‘मनोन्मानुना क न नदरा रन्त्य नास्ते न वा नयननुत्पन्नम्’—

‘गाहितमन्त्रित विपिन परितो दृष्टाश्च विदपिन नर्वे ।

नहकार न प्रपेदे नलपेन तथापि ते मन जगति ॥’

यहाँ ‘न्यत्रिने मनम्’ के बदले नयनम् का देने पर ‘मानाना धर्मोत्तमानुना दि-
ने नास्ते’ ।

‘लुप्त’—माधारण धर्म और उपमावाचक पद के लोप में जो ‘धर्मवाचकलुप्तोपमा’
हुआ करती है उसके दो प्रकार हैं—(१) किप्सगा धर्मवाचकलुप्तोपमा और (२) समा-
सगा धर्मवाचकलुप्तोपमा । जैसे कि—

‘विधवति सुखाञ्जनस्याः’ (इसका मुखकमल चन्द्र-मा लग रहा है) ।

यहाँ जो ‘विधवति’ (विधुस्त्रिवाचरति विधवति) पद है उसमें ‘मनोहरत्व’ रूप
माधारणधर्म और किप्सप्रत्ययरूप लोपप्रत्ययवाचक-दोनों लुप्त हैं । इसी प्रकार ‘सुखाञ्जम्’
में समानगा धर्मवाचकलुप्तोपमा है (क्योंकि यहाँ भी ‘मनोहरत्व’ रूप माधारणधर्म
और ‘इव’ रूप उपमावाचक पद-दोनों लुप्त हैं) ।

कुछ लोग ‘विधवति’ में ‘आदि’ प्रत्यय का लोप मानने हैं (किन्तु यहाँ जो धर्मवाचक
लुप्तोपमा है वह धर्म और ‘आदि’ प्रत्यय के लोप के कारण नहीं बल्कि धर्म और माधारण
वाचक प्रत्यय के लोप के ही कारण है) ।

अब—उपमेय के लोप में जो ‘उपमेयलुप्तोपमा’ हुआ करती है वह उपमेय प्रत्यय
के प्रयोग में ही हुआ करती है और एक प्रकार की ही हुआ करती है ।

जैसे कि—

‘रघुसौ के पराक्रमतां हृषी के दर्शन से प्रसन्न भेगवाला और हृषी-घात से

अत्र 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' इति वाक्ये उपमेयस्यात्मनो लोपः। न चेहौपम्यवाचकलोपः, उक्तादेव न्यायात्। अत्र केचिदाहुः—'सहस्रायुधेन सह वर्तते इति ससहस्रायुधः स इवाचरतीति वाक्यात्ससहस्रायुधीयतीति पद सिद्धौ विशेष्यस्य शब्दानुपात्तत्वादिहोपमेयलोपः' इति, तत्र विचारसहम्। कर्तरि क्यचोऽनुशासनविरुद्धत्वात्।

(धर्मोपमेयलुप्तोपमा)

धर्मोपमेयलोपेऽन्या—

यथा—

भयङ्कर भुजदण्डवाला वह शूरवीर राजा अपने आप को सहस्रायुध की भाँति (सम्राट् में) प्रकाशित कर रहा है।'

यहाँ 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' (उपमानादाचारे ३ १.१० सूत्र से उपमानवाचक 'सहस्रायुधम्' इस कर्मपद से आचार के अर्थ में 'क्यच्' = सहस्रायुधीयति) इस वाक्य में उपमेयभूत 'आत्मानम्' (स्वयं) का लोप है जिससे यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ उपमान 'सहस्रायुध', साधारणधर्म 'अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनाय' आदि और क्यच् प्रत्यय के रूप में उपमावाचक पद—ये तो तीनों विराजमान हैं)।

यहाँ 'वाचकलुप्तोपमा' की आशका नहीं करनी चाहिये (जो कि काव्यप्रकाशकार ने की है) क्योंकि, जब कि 'क्यच्' आदि प्रत्यय सादृश्य वाचक प्रत्यय हैं और यहाँ 'क्यच्' की उपस्थिति है, तब वाचकलुप्तोपमा की यहाँ क्या संभावना !

कतिपय आलङ्कारिकों (चण्डीदास आदि) ने यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' की स्वरूप-सिद्धि के लिये, जो यह कहा है कि (यहाँ 'ससहस्रायुधीयति' में 'स' और 'सहस्रायुधीयति' को पृथक्-पृथक् पद मानकर उपमेयलुप्तोपमा की रूप-रेखा नहीं देखी जा सकती और इसलिये) यहाँ जो पद है वह 'ससहस्रायुधीयति' है, जिसकी निष्पत्ति 'सहस्रायुधेन सह वर्तते इति ससहस्रायुधः स इवाचरतीति' आदि रूप से हुआ करती है और इस प्रकार यहाँ 'ससहस्रायुधीयति' इस क्रिया के कर्तृपद का अनुपादान हो दिखायी दे रहा है जिससे यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' स्पष्ट है, वह सब वस्तुतः युक्तियुक्त नहीं। कारण यह है कि 'उपमानादाचारे' के द्वारा कर्मोपपद से ही 'क्यच्' का विधान हो सकता है न कि कर्तृपद से भी (यहाँ 'ससहस्रायुधीयति' में कर्तृपद से क्यच् विधान तो सर्वथा अपाणिनीय है)।

विमर्श—रसगङ्गाधरकार के अनुसार 'क्यङ्गा' लुप्तोपमा केवल उपमेयलुप्ता नहीं अपि तु वाचकोपमेयलुप्ता उपमा हुआ करती है—

'तथा तिलोत्तमोयन्त्या मृगशावकचक्षुषा।

ममाय मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत् ॥

तिलोत्तमीयन्त्येति तिलोत्तममिवात्मानमाचरन्त्येत्याचारार्थके क्यचि तिलोत्तमापदस्य तिलोत्तमासादृश्ये लाक्षणिकतया वाचकस्य, स्फुटत्वेन प्रतीयमानतया आत्मन उपमेयस्य वानुपादानाल्लोपः। स्वयं तु सा नोपमेया। आचारकर्मण उपमानस्य तिलोत्तमारूपस्य तत्कर्त्र्यानुपमेयायानुपमानत्वासंगते। अत आत्मैवात्रोपमेयतयोन्नेयः।' (रसगङ्गाधर. उपमाप्रकरण)

अनुवाद—साधारण धर्म और उपमेय के लोप में जो 'धर्मोपमेयलुप्तोपमा' हुआ करती है वह भी एक प्रकार की ही है। जैसे कि—

‘यशसि प्रसरति भवतः क्षीरोदीयन्ति सागराः सर्वे ।’

अत्र क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्तीत्युपमेय आत्मा साधारणधर्मः शुक्लता च लुप्तौ ।

(त्रिलोपोपमा)

—त्रिलोपे च समासगा ॥ २२ ॥

यथा—

‘राजते मृगलोचना ।’

अत्र मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या इति समासे उपमाप्रतिपाद-
कसाधारणधर्मोपमानानां लोपः ।

(उपमाभेद-सत्कलन)

तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः ।

पूर्णा पङ्क्तिविधा, लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्तविंशतिप्रकारोपमा ।
एषु चोपमाभेदेषु मध्येऽलुप्तसाधारणधर्मेषु भेदेषु विशेष प्रतिपाद्यते—

‘आपके यश के फैलते हुये, ऐसा लगता है जैसे, सभी सागर क्षीरसागर बन रहे हैं ।’
यहाँ ‘धर्मोपमेयलुप्तोपमा’ इसलिये है क्योंकि यहाँ ‘क्षीरोदीयन्ति’ ‘क्षीरोदमिवात्मान-
माचरन्ति’ में उपमेयभूत ‘आत्मानम्’ और ‘शुक्लत्वादि’ रूप साधारणधर्म—दोनों लुप्त हैं ।

अनुवाद—उपमान, साधारणधर्म और औपम्यवाचक पद, तीनों के लोप में जो ‘धर्मो-
पमानवाचकलुप्तोपमा’ हुआ करती है वह केवल ‘समासगा’ ही हुआ करती है ।

जैसे कि—‘वह मृगलोचना यकी सुन्दर है ।’

यहाँ ‘मृगलोचना’ इस समस्त पद में, जिसका विग्रह ‘मृगस्य लोचने इव चञ्चले
लोचने यस्या’ है, उपमानभूत ‘लोचन’, वाचक रूप ‘इव’ और साधारणधर्मरूप ‘चाञ्चल्य’—
तीनों लुप्त दिखायी दे रहे हैं ।

विमर्श—‘मृगलोचना’ में त्रिलुप्तोपमा का जो विग्रह है वह ‘मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या’
प्रकार है—

‘अत्र यदि मृगशब्देन लक्षणया तल्लोचने विवक्ष्यते तदा नेदमुदाहरणम् । यदा तु
मृगलोचने इव लोचने यस्या इत्यर्थो विवक्ष्यते तदा ‘मृगस्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिसत्तर
पदलोपश्च इत्यनेन मृगलोचनेऽप्युपमानपूर्वपदस्य नयनशब्देन प्रतीयते । उपमानवाचिनि
मृगलोचने इति पूर्वपदे उत्तरपदभूतस्य लोचनशब्दस्य लोपे उपमेयभूतस्य नयनमात्रस्यो-
पादानादिदमुदाहरणम् ।’

अनुवाद—इस प्रकार ‘उपमा’ के सप्त मिलकर २७ प्रकार सिद्ध हुए ।

उपमा के २७ प्रकारों का अभिप्राय यह है—पूर्वोपमा के ९ भेद+लुप्तोपमा के
२१ भेद=उपमा के २७ प्रकार ।

विमर्श—(क) विश्वनाथ कविराज-सम्मत 'उपमा-भेद' यह है—

पूर्णोपमा के ६ प्रकार

- १—तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा—'सौरभमम्भोरुहवत् ।'
- २—समासगा श्रौती पूर्णोपमा—'कुम्भाविव स्तनौ पीनौ ।'
- ३—वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा—'हृदय मदयति वदन तव शरदिन्दुर्यथा ।'
- ४—तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा—'मधुरः सुधावदधरः ।'
- ५—समासगा आर्थी पूर्णोपमा—'पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः ।'
- ६—वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा—'चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशो चपले च लोचने तस्याः ।'

लुप्तोपमा के २१ प्रकार

- १—तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा—'मनोऽश्मवत् ।'
- २—समासगा श्रौती लुप्तोपमा—'वाच सुधा इव ।'
- ३—वाक्यगा श्रौती लुप्तोपमा—'मुखमिन्दुर्यथा बाले ।'
- ४—समासगा आर्थी लुप्तोपमा—'ओष्ठस्ते विम्वृतुल्यः ।'
- ५—वाक्यगा आर्थी लुप्तोपमा—'पाणिः पल्लवेन समः ।'
- ६—आधारक्यचूनिवन्धना लुप्तोपमा—'अन्तःपुरीयसि ।'
- ७—कर्मक्यचूनिवन्धना लुप्तोपमा—'पौर जन सुतीयसि ।'
- ८—कर्तृपदक्यचूनिवन्धना लुप्तोपमा—'श्रीस्तव रमणीयते ।'
- ९—कर्मोपपदणमुल्लनियन्धना लुप्तोपमा—'अमृतद्युतिदर्श इष्टः ।'
- १०—कर्तृपदणमुल्लनियन्धना लुप्तोपमा—'इन्द्रसञ्चार सञ्चारसि ।'
- ११—समासगा उपमानलुप्तोपमा—'न वा नयनतुल्य (रम्यमास्ते) ।'
- १२—वाक्यगा उपमानलुप्तोपमा—'तस्या मुखेन सदृश रम्य नास्ते ।'
- १३—समासगा वाचकलुप्तोपमा—'सुधाकरमनोहर वदनम् ।'
- १४—क्लिप्ता वाचकलुप्तोपमा—'गर्दभति श्रुतिपरुषम् ।'
- १५—समासगा धर्मोपमानलुप्तोपमा—'लोके न वा नयनतुल्यमास्ते ।'
- १६—वाक्यगा धर्मोपमानलुप्तोपमा—'तस्या मुखेन सदृश रम्यं लोके नास्ते ।'
- १७—समासगा धर्मोपमवाचकलुप्तोपमा—'मुखाब्जमस्या ।'
- १८—क्लिप्ता " " " " —'विधवति मुखाब्जमस्या ।'
- १९—उपमेयलुप्तोपमा—'विकस्वरत्रिलोचनः स सहस्रायुधायति ।'
- २०—धर्मोपमेयलुप्तोपमा—'चीरोदीयन्ति सागरा ।'
- २१—धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमा—'राजते मृगलोचना ।'

इस प्रकार सब मिलकर उपमा के २७ भेद हैं ।

(ख) शशानुशासनशास्त्र (व्याकरण) के आधार पर 'उपमा' के भेद-प्रभेद की परम्परा आचार्य उदभट्ट द्वारा प्रवर्तित हुई है—

'यथेवशब्दयोगेन सा श्रुत्यान्वयमर्हति । सदृशादिपदश्लेषादन्यथेत्युदिता द्विधा । सत्तेषाभिहिताप्येषा साम्यवाचकविच्युते । साम्योपमेयतद्वाचिवियोगाच्च निवध्यते । उपमानोपमेयोक्तौ साम्यतद्वाचिविच्यवात् । क्वचित् समासे तद्वाचिविरहेण क्वचिच्च सा । ।थोपमानादाचारे क्यच्प्रत्ययबलोक्तिः । क्वचित्सा कर्तुराचारे क्यङा सा च क्रिया क्वचित्

(उपमा में साधारण धर्म स्वरूप तथा प्रकार-निर्देश)

एकरूपः क्वचित्क्वापि भिन्नः साधारणो गुणः ॥ २३ ॥

भिन्ने विम्वानुविम्वत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा ।

तत्र एकरूपे यथा उदाहृतम्—‘मधुर सुधावदधर—’ इत्यादि ।

विम्वप्रतिविम्वत्वे यथा—

‘भल्लापवजितैस्तेषा शिरोभि’ रमन्तुलैर्महीम् ।

तस्तार सरधान्यात्रै स क्षौद्रपटलैरिव ॥’

अत्र ‘रमन्तुलै’ इत्यस्य ‘सरधान्यात्रै’ इति दृष्टान्तवत्प्रतिविम्वन्तम् ।

उपमाने कर्मणि वा कर्तरि वा यो णमुल् कृपादिगत ।

तद्वाच्या सा वतिना च कर्मसामान्यवचनेन ॥

पृष्टीसप्तम्यन्ताच्च यो वतिर्नामतस्तदभिधेया ।

कलरप्प्रमृतिभिरन्येष तद्धितैः सा निवध्यते कश्चिभि ॥ (अन्तर्यामिन्प्र.)

किन्तु व्याकरणशास्त्र के आधार पर उपमा के विमान्न के अनीचित्य के नद्वय में अप्यवरोक्ति को यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘एवमय पूर्णालुसाविभागो वाक्य-मनास-प्रत्ययविशेषगोचरतय । शब्ददास्यव्युत्पत्ति-कौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवाल्ङ्कारशाल्ये व्युत्पाद्यमानर्हति । न वा लुप्तानामय सामस्येन विभाग ।’ (निघ्ननामाना)

अनुवाद—‘उपमा’ के उपर्युक्त २७ प्रकारों में से अथ उन प्रकारों की कतिपय विशेषताएँ निदिष्ट की जा रही हैं जिनमें साधारण धर्म का लोप नहीं हुआ करता—

जिन उपमा-मेदों में साधारण धर्म लुप्त नहीं हुआ करता, उनमें उम्की (साधारण धर्म की) के कतिपय अवस्थाएँ हुआ करती हैं—

(१) कहीं-कहीं (उपमान और उपमेय दोनों में) साधारण धर्म एक रूप का ही रहा करता है ।

(२) कहीं-कहीं साधारण धर्म भिन्नरूप का हुआ करता है (अर्थात् उपमानगत साधारण धर्म से उपमेयगत साधारण धर्म भिन्न लगा करता है) और साधारण धर्म की इस भिन्नरूपता की दो सम्भावनाएँ हुआ करती हैं—(क) या तो उसमें विम्व-प्रति-विम्वभाव का सम्बन्ध हो या (ख) केवल शब्दमात्र का भेद हो ।

साधारण धर्म की पहली अवस्था अर्थात् ‘एकरूपता’ की अवस्था को पहचान के लिये ‘मधुर सुधावदधर’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है (जहाँ ‘सुधा’ उपमान और ‘अधर’-उपमेय में ‘माधुर्य’ का साधारण धर्म एक रूप से ही विराजमान दितायी दे रहा है) ।

साधारण धर्म की दूसरी अवस्था अर्थात् भिन्नरूपता में ‘विम्वप्रतिविम्वभाव’ की अवस्था के निदर्शन के लिये (महाकवि कालिदास की) यह सूक्ति दर्शनीय है—

‘महाराज रघु के द्वारा, यानों से काटे गये यवनों के दाढ़ीभरे मिर जमीन पर ऐसे घिघने लगे जैसे मधुमक्खियों से भरे मधु के छत्ते घिघे हों ।’

यहाँ, जैसा कि ‘दृष्टान्त’ अलङ्कार में दिखाया दिया करता है, उपमेयगत ‘रमन्तुलना’ और उपमानगत ‘सरधान्यासता’ के भिन्नरूप साधारण धर्मों में विम्व प्रतिविम्वभाव का सम्बन्ध स्पष्ट क्लृप्त रहा है ।

शब्दमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

‘स्मेरं विधाय नयन विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा ।

कथयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकृतम् ॥’

अत्रैके एव स्मेरत्वविकसितत्वे प्रतिवस्तूपमावच्छब्देन निर्दिष्टे ।

(उपमा के अन्यान्य वैचित्र्य (क) एकदेशविवर्तिनी उपमा)

एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते ॥ २४ ॥

भवेतां यत्र साम्यस्य—

यथा—

‘नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः ।

पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव ॥’

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादृश्यं वाच्यं सरःश्रीणां चाङ्गनासाम्यं गम्यम् ।

इसी प्रकार शब्दमात्र के भेद से साधारण धर्म की भिन्नरूपता के उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

‘उस कृशाङ्गी सुन्दरी ने खिले नीलकमल सरीखे अपने विहँसते नेत्रों को मेरे सामने किया और (बिना बोले ही) अपने हृदय के समस्त भावों को मुख पर प्रकाशित कर दिया ।’

यहाँ, जैसे कि ‘प्रतिवस्तूपमा’ अलङ्कार में हुआ करता है, एक रूप के ही प्रतीत होनेवाले उपमानगत ‘विकसितत्व’ और उपमेयगत ‘स्मेरत्व’ में, शब्दभेद से भिन्नरूपता स्पष्ट झलक रही है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार का यह साधारणधर्मस्वरूप-विवेचन ‘अलङ्कारसर्वस्व’ की इन पङ्क्तियों पर अवलम्बित है—

‘तत्रापि साधारणधर्मस्य कचिदनुगामितया ऐकरूप्येण निर्देशः । कचिद् वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ्निर्देशः । पृथङ्निर्देशे च सवन्धिभेदमात्रम् (न पुनः स्वरूपभेदः कश्चिद्व्यर्थः—जयरथ) प्रतिवस्तूपमावत् । विम्बप्रतिविम्बभावो वा दृष्टान्तवत् ।

(ख) ‘वस्तुप्रतिवस्तुभाव’ का अभिप्राय यह है—

‘एकस्यैव धर्मस्य सवन्धिभेदेन द्विरूपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः ।’

और ‘विम्बप्रतिविम्बभाव’ का अभिप्राय है—

‘वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरूपादानं विम्बप्रतिविम्बभावः ।’

अनुवाद—यह भी उपमा की एक विचित्रता ही है जिसे ‘एकदेशविवर्तिनी’ उपमा कहा करते हैं । यह ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ वह है जहाँ साम्य (अथवा सादृश्य) वाच्य और व्यङ्ग्य—दोनों रूपों में दिखायी दिया करता है ।

जैसे कि—

‘शरत्कालीन सरोवर सुषमा, नेत्रों की भाँति उत्पलों, मुख की भाँति कमल और स्तनों की भाँति चक्रवाकयुगलों से सुशोभित लगती रही ।’

यहाँ ‘नेत्र’ और ‘उत्पल’, ‘मुख’ और ‘पद्म’ तथा ‘स्तन’ और ‘चक्रवाक’ का सादृश्य तो वाच्य है (साक्षात् शब्दतः प्रतिपादित है) किन्तु ‘सरोवर-सुषमा’ और ‘रमणी’ का — व्यङ्ग्यरूप से विवक्षित है ।

(स—रसनोपमा)

—कथिता रसनोपमा ।

यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥ २५ ॥

यथा—

‘चन्द्रायते शुक्ररुचापि हसो हसायते चारुगतेन कान्ता ।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहाय ॥’

(ग—मालोपमा)

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते । ✓ ५ 7

यथा—

‘वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी ।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा ॥’

विमर्श—तादृश्यदर्पणकार की ‘एकदेशविवर्तिनी’ उभना की मान्यता ने रसगताधरवार की निम्न उपमा-कल्पना को प्रभावित किया है—

‘इयमपि रूपकवत् केवलनिरवयवा, मालारूपनिरवयवा, समस्तवस्तुविषयसावयवा,
एकदेशविवर्तिसावयवा, केवलश्लिष्टपरम्परिता, मालारूपश्लिष्टपरम्परिता, केवलशुद्धपरम्परिता, मालारूपशुद्धपरम्परिता चेत्यष्टधा ।’ (रसगताधर उभनाप्रकरण)

अनुवाद—उपमा की दूसरी विचित्रता ‘रसनोपमा’ है । ‘रसनोपमा’ वह उपमा है जिसमें उपमेय उत्तरोत्तर उपमानरूप में परिणत होते चलते दिखाई दिया करना है ।

जैसे कि—

‘शरद् ऋतु की महिमा से इस स्वच्छ सरोवर में, यह हम, अपनी शुभ्र कान्ति में, चन्द्रमा-मा लग रहा है, यह सुन्दरी, अपनी सुन्दर चाल से, हम भी चलनी दिखाई दे रही है, यह जल, अपने आनन्ददायक स्पर्श में, रमणी का मा आनन्द दे रहा है और यह आकाश, अपनी निर्मलतासे अपने आपको ऐसा दिवा रहा है जैसे निमल जल हो ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्णित उपमेय उपमानरूप में परिचलित होता चल रहा है जैसे कि ‘हम’ जो प्रथम वाक्य में चन्द्र की अपेक्षा उपमेय था, द्वितीय वाक्य में ‘रमणी’ की अपेक्षा उपमान बन रहा है और ‘जल’ जो कि उत्तरार्ध के पूर्व वाक्य में रमणी की अपेक्षा उपमेय था, उत्तर वाक्य में ‘आकाश’ की अपेक्षा उपमान बन गया है ।

विमर्श—रसगताधर की ना ‘रसनोपमा’ नाय है—

‘उपमेयानां स्वस्वोपमानानुपमानानामुपमेयताया रसनोपमा । यथा—

‘भूपरा एव मत्तेना नत्तेना एव नूनय ।

सुता एव भटान्नस्य परमोऽन्तप्रिया ॥’

अनुवाद—मालोपमा भी उपमा की ही एक विचित्रता है । ‘मालोपमा’ वह उपमा है जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमान दिखाया दिया करने हैं ।

‘राजनय में राजलक्ष्मी हम प्रभार मनोरम लगा करती है जिस प्रकार वन में सरसी, चन्द्रमा से रात्रि और यौवन से रमणी मनोरम लगा करती है ।’

(उपमा के अनन्त वैचित्र्य : वर्गीकरण की असम्भवा)

कचिदुपमानोपमेययोरपि प्रकृतत्वं यथा—

‘हसश्चन्द्र इवाभाति जल व्योमतल यथा ।

विमलाः कुमुदानीव तारकाः शरदागमे ॥’

‘अस्य राज्ञो गृहे भान्ति भूपानां ता विभूतयः ।

पुरन्दरस्य भवने कल्पवृक्षभवा इव ॥’

अत्रोपमेयभूतविभूतिभिः ‘कल्पवृक्षभवा इव’ इत्युपमानभूता विभूतय आक्षिप्यन्त इत्याक्षेपोपमा । अत्रैव ‘गृहे’ इत्यस्य ‘भवने’ इत्यनेन प्रतिनिर्देशात्प्रतिनिर्देशोपमा इत्यादयश्च न लक्षिताः, एवंविधवैचित्र्यस्य सहस्रधा दर्शनात् ।

✓ (१—अनन्वय)

✓ उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥ २६ ॥

अनुवाद—(उपमा-वैचित्र्य का वर्गीकरण असम्भव है क्योंकि प्राचीन अलङ्कारशास्त्र की यह मान्यता कि ‘उपमान सदा अप्रकृत हुआ करता है’ इस वास्तविकता के देखते ठीक नहीं जँचती कि) कहीं-कहीं काव्य-साहित्य में उपमेय की भाँति उपमान भी प्रकृत ही रहा करता है जैसे कि—

‘शरद् के आगमन पर, हस चन्द्रमा की भाँति, जल आकाश की भाँति और कुसुम तारागण की भाँति सुन्दर लगा करते हैं ।’

‘हस महाप्रतापी राजा के भवन में सामन्त राजगण की वे विभूतियाँ इस प्रकार सुशोभित लगा करती हैं जिस प्रकार पुरन्दर इन्द्र के भवन में कल्पवृक्ष की विभूतियाँ ।’

[यहाँ ‘हसश्चन्द्र इवाभाति’ आदि में यह स्पष्ट है कि ‘हस’ आदि उपमेय की भाँति ‘चन्द्र’ आदि उपमान भी प्रकृत रूप से विवक्षित हैं क्योंकि शरद्-वर्णन में दोनों ही अपेक्षित हैं । किन्तु इस प्रकार के वैचित्र्य के आधार पर उपमा की भेद-गणना असम्भव है ।]

इसी प्रकार ‘अस्य राज्ञो गृहे’ आदि सूक्ति में एक विचित्र ही उपमा (आक्षेपोपमा) दिखायी दे रही है क्योंकि यहाँ उपमेयरूप से अवस्थित ‘सामन्त राजगण की विभूतिओं’ द्वारा उपमान रूप से अवस्थित ‘कल्पवृक्ष की विभूतिओं’ का आक्षेप अथवा अभिव्यञ्जन हो रहा है जिसमें ‘कल्पवृक्षभवा इव’ की शाब्दी व्यञ्जना का हाथ स्पष्ट दिखायी दे रहा है । यहाँ ‘(राज) गृहे’ का ‘(पुरन्दरस्य) भवने’ द्वारा जो प्रतिनिर्देश है उसमें ‘प्रतिनिर्देशोपमा’ की विचित्रता झलक रही है । किन्तु इस प्रकार के उपमावैचित्र्य की गणना ही वस्तुतः असम्भव है । इसलिये यहाँ इनके आधार पर सम्भव उपमाभेदों का निर्देश अपेक्षित नहीं ।

विमर्श—उपमा की विचित्रताओं को ही लक्ष्यकर अप्रयदीक्षित ने इसे एक ऐसी ‘शैली’ अथवा नर्तकी कहा है जो कि काव्य के रङ्गमञ्च पर विविध हावभावों के साथ नाचती रह करती है ।

अनुवाद—‘अनन्वय’ वह अलङ्कार है जिसमें एक ही वस्तु उपमान और उपमेय—दोनों रूपों में कल्पित की जाया करती है—

अर्थादेकवाक्ये । यथा—

‘राजीवमिव राजीव जलं जलमिवाजनि ।

चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः शरत्समुद्योगमे ॥’

अत्र राजीवादीनामनन्यसदृशत्वप्रतिपादनार्थमुपमानोपमेयभावो वैवक्षिकः ।
‘राजीवमिव पायोजम्’ इति चास्य लाटानुप्रासाद्विविक्तो विषयः । किन्त्वत्रो-
चितत्वादेकशब्दप्रयोग एव श्रेयान् ।

ननुक्तम्—

‘अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुपज्ञिकम् ।

अस्मिन्स्तु लाटानुप्रासे नाद्वादेव प्रयोजकम् ॥’ इति ।

यहाँ ‘एक ही वस्तु की उपमान और उपमेय रूप में कल्पना’ के निर्देश में यह स्पष्ट पता चल जाता है कि ऐसी सम्भावना तभी हो सकती है जब कि ‘वाक्य भी एक ही हो ।’ जैसा कि—

‘शरद् शत्रु के समुहाम का आरम्भ क्या हुआ कमल कमल मरीचा, जल जल मरीचा और चन्द्रमा चन्द्रमा मरीचा निर्मल लगने लगा ।’

यहाँ ‘अनन्वय’ अलङ्कार है क्योंकि एक ही वाक्य में ‘कमल’ आदि वस्तुओं की उपमान और उपमेय-श्रेणों रूपों में जो कल्पना है उसमें ‘अनन्वय’ अर्थात् अन्य उपमानों के सङ्घात और सादृश्य के ‘अभाव’ (अनन्वय) का कविदृश्य-सम्मत अभिप्राय स्पष्ट घटित हो रहा है ।

‘अनन्वय’ और ‘लाटानुप्रास’ परस्पर भिन्न भिन्न अलङ्कार हुआ करते हैं क्योंकि ‘राजीव-मिव पायोजम्’ आदि में, शब्द भेद होने पर भी, एक ही पदरूप वस्तु में, उपमान और उपमेयरूपता की कल्पना के कारण ‘अनन्वय’ की स्वरूपा तो स्पष्ट हो जाती है किन्तु ‘लाटानुप्रास’ की कोई भी सम्भावना नहीं दिखायी देती । किन्तु हमसे यह निराश्रय ना निकाल लेना चाहिये कि यदा कदा ‘अनन्वय’ में शब्द भेद आ भी होता अनेक किन्तु ‘अनन्वय’ के लिये यही उचित है कि उपमान और उपमेय-सादृश्य शब्दों में के स्वरूप भेद नहीं प्रतीत हुआ करे । इसीलिये ऐसा कहा भी गया है—

‘अनन्वय’ में (उपमान और उपमेय विषयक) शब्द की जो अनि-रूपता है वर्ण्य वस्तु की, उपमान और उपमेयरूपता की कल्पना के औचित्य की दृष्टि में स्वा-
यिक ही है (यह एक दूसरी बात है कि कहीं शब्द-भेद होने पर भी ‘अनन्वय’ ही हो किन्तु जिसे ‘लाटानुप्रास’ कहते हैं उसके लिये तो शब्द की एक-रूपता अनिव-
(क्योंकि शब्द-भेद में ‘लाटानुप्रास’ हो ही नहीं सकता) ।

विमर्श—(-) अनन्वय की धातु-रूपि है—

‘न विद्यते उपमेयस्य उपमानान्तरेण अनन्वयः सदन्वयो पाठेति अनन्वयः ।’

‘अनन्वय’ का अर्थ है कि उपमेय, अपने अभिन्न विषय अन्य उपमान में बिना प्र-
त्यक्ष रूप से प्रतिपादित किए जाता है । इस लिये ‘अनन्वय’ का प्रयोग ‘द्वय-
विमर्श’ का अर्थ है कि अनन्वय उपमान का विषय है । उदाहरण—
‘अनन्वय’ के अर्थ में ‘अनन्वय’ का अर्थ है कि—

‘यत्र तेनेय तस्य स्यादुपमानोपमेयता । अयमस्वयमिष्टानन्वयि वातुरनन्वयस्य
अनन्वय-शब्दों में प्रयोग है—

‘अन्य वाली स्वामीय स्वामिनेय क्रिया-अनन्वय ।

रूप स्वमिष रूपं च लोकगोचरान्तेभ्यम् ॥’

(३—उपमेयोपमा)

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता ।

एतदुपमानोपमेयत्वम् । अर्थाद्वाक्यद्वये ।

यथा—

‘कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनुः ।

धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी, सततं विभाति वत यस्य ॥’

अत्रास्य राक्षः श्रीबुद्ध्यादिसदृशं नान्यदस्तीत्यभिप्रायः ।

(ख) ‘अनन्वय’ और ‘लाटानुप्रास’ का भेद निर्देश आलङ्कारिकों की परम्परा से चलता रहा है । अनन्वय में शब्द-भेद क्षम्य है किन्तु लाटानुप्रास में शब्द-भेद अक्षम्य माना गया । ‘अनन्वय’ में ‘अर्थपौनरुक्त्य’ रहा करता है किन्तु लाटानुप्रास के लिये ‘शब्दार्थपौनरुक्त्य’ अपेक्षित है । इसीलिये ‘राजीवमिव पाथोजम्’ में ‘अनन्वय’ हो सकता है किन्तु लाटानुप्रास नहीं वैसा ‘अनन्वय’ को सर्वतोभद्र बनाने के लिये शब्दैक्य की अपेक्षा अवश्य है क्योंकि तभी उपम और उपमेय की एकरूपता निस्सदिग्ध प्रतीत हो सकती है । ‘एकावली’कार ने ‘अनन्वय’ व ‘लाटानुप्रास’ के भेद के सम्बन्ध में इसीलिये कहा है—

‘पौनरुक्त्यस्य तात्पर्यमात्रमिन्नस्यात्र प्रयोजकत्वात् अनन्वये चार्थमात्रगतयुगपदुपानोपमेयभावस्य उपयुक्तत्वात् । शब्दैक्यस्य पुनरौचित्यविशेषेण प्रसङ्गसङ्गतत्वात् ।’

‘औचित्यविशेष’ से अथवा औचित्य के कारण ‘अनन्वय’ में शब्दैक्य का अभिप्राय यह है—

‘उद्देशप्रतिनिर्देशयोरैकरूप्यमिति न्यायवलेनान्यथा पर्यायप्रक्रमभङ्गापत्तेर्न तु लक्षणनेत्यर्थः ।’ (तरलव्याख्या)

अर्थात् ‘अनन्वय’ के लक्षण का अनुसरण करते अनन्वय में शब्दैक्य नहीं माना जाया करता । अनन्वय में शब्दैक्य तो उद्देश और प्रतिनिर्देश की एकरूपता की रक्षा के ही लिये आवश्यक है ।

अनुवाच—‘उपमेयोपमा’ वह अलङ्कार है जहाँ, दो वस्तुयें, बारी-बारी से, परस्पर उपमान और उपमेयरूप में कल्पित दिखायो दिया करते हैं ।

यहाँ कारिका में ‘एतत्’ का अभिप्राय ‘उपमानोपमेयत्व’ का अभिप्राय है (क्योंकि ‘एतत्’ शब्द से पूर्व कारिका के ‘उपमानोपमेयत्व’ का निर्देश किया जा रहा है) ।

यहाँ ‘दो वस्तुओं में परस्पर उपमानोपमेय-भाव की कल्पना’ से यह स्पष्ट पता चल रहा है कि ऐसी सम्भावना दो वाक्यों में ही हो सकती है (अनन्वय की भाँति एक वाक्य में नहीं) । जैसे कि—

‘कितने आश्चर्य और आनन्द की बात है कि ये महाराज ऐसे हैं जिनकी बुद्धि लक्ष्मी सरीखी, लक्ष्मी बुद्धि-सरीखी, कान्ति दिव्य देह-सरीखी, दिव्य देह कान्ति-सरीखी, धृति पृथिवी-सरीखी और पृथिवी धृति सरीखी विराजमान हैं ।’

यहाँ ‘उपमेयोपमा’ का एक निगूळ अभिप्राय है और वह यह प्रकाशित करता है कि वर्ण्य भूपाल की बुद्धि और लक्ष्मी आदि के समान और किसी की बुद्धि और लक्ष्मी आदि नहीं हैं ।

विमर्श—‘उपमेयोपमा’ में वस्तुओं के पारस्परिक उपमानोपमेयभाव का पर्यायत (बारी-बारी से) परिवर्तन स्वभाविक है क्योंकि ‘उपमेयोपमा’ का अभिप्राय ‘उपमेय के द्वारा उपमा’ है—‘अत एव उपमेयेनोपमा इत्यस्या अन्वर्थाभिधानम्’ । ‘उपमेय के द्वारा उपमा’ वहीं हो सकती है,

(६-स्मरणालङ्कार)

सदृशानुभवाद्बस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ २७ ॥

यथा—

'अरविन्दमिदं वीज्य खेत्तव्यञ्जनमञ्जुलम् ।
 न्मरामि वदन् तस्याश्वात् चञ्चललोचनम् ॥'

जहाँ से वाक्य हों। पूर्ववाक्यका समाप्ति के बाद द्वितीय वाक्यका प्रारम्भ के लिये ५वां
महत्त्वपूर्ण दो वाक्यों की सी कड़ी बन गई है।

[illegible]

‘सविता विधवति विष्टरति सवितरति तथा दिन्ति दानिन् ।

यानिन्यन्ति दिनानि च सुखदुःखवशात् न नमि ।'

[illegible]

'वनिव जल जलनिव न हंसश्चन्द्र इव हस इव चन्द्र ।

कुमुदाकारितारास्तराकाराणि कुमुदाणि ॥

यहाँ यह कहते हैं कि मंत्र ब्रह्मदेव ही ब्रह्मचर्य में निश्चय का एक ही मंत्र है।
मंत्रों ही मंत्र हैं।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥
 ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

‘मरुताय नमो जगदना
मरुताय नमो जगदना ।

वाग्देष्टुना हवानानि यत्र वाप्य इवहना ।

— २२ —

‘मन्त्र’ पालनकृत्वा विद्वन्निग्रहेऽप्यगन्तव्यम् ।

लतिका इय ता अन्नि वन्नि इय रेज्जि लतिका ॥

$\frac{1}{2} \cdot \frac{1}{2} = \frac{1}{4}$

[illegible]

‘जय हिन्द’ स्वर के डीना है जो कि पाय दिखते गान दुन में सुनने लग रहा है तब उस सुनने के उस सुन का स्वर ही जाना है जिसे दोहे जय-जयों की सेवा प्राप्तमान रहा करती है।

‘मयि सकपटम्—’ इत्यादी च स्मृतेः सादृश्यानुभवं विनोत्थापितत्वात्त्राय मलङ्कारः । राघवानन्दः महापात्रास्तु—वैसादृश्यात्स्मृतिर्माप स्मरणालङ्कारमिच्छन्ति । तत्रोदाहरणं तेषामेव ।

यथा—

‘शिरीषमृद्धी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता ।
तदा तदास्याः सद्नेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः ॥’

‘स्मरण’ अलङ्कार तो सादृश्य-दर्शन से उत्थापित स्मृति-रूप ही हुआ करता है और इसीलिये ‘मयि सकपटं किञ्चित् कापि प्रणीतविलोचने’ आदि (तृतीय परिच्छेद में ‘स्मृति’ रूपव्यभिचारी भाव के उदाहरणार्थ उद्धृत) सूक्ति में ‘स्मरण’ अलङ्कार को कोई सभावना नहीं क्योंकि यहाँ जो ‘स्मृति’ है वह सादृश्य-दर्शन से उत्थापित स्मृति नहीं अपि तु प्रणय की चिन्ता से उत्पन्न ‘स्मृति’ है ।

‘सादृश्यदर्शन से सभूत स्मृति के अतिरिक्त वैसादृश्यदर्शन से सभूत स्मृति भी ‘स्मरण’ अलङ्कार है’—यह ‘स्मरण’-सबन्धी मत राघवानन्द महापात्र ने अपनाया है । इस मत में ‘स्मरण’ का यह उदाहरण उन्हीं का दिया हुआ है—

‘जब जब शिरीषकोमलाङ्गी सीता पहाड़ी जगहों पर तरह तरह से व्यथित दिखायी पड़ी, तब तब राम, आँखों से आँसू बहाते, राजमचन में सुलभ, उसके अगणित सुखों का ध्यान करते रहे ।’

विमर्श—विश्वनाथ कविराज का ‘स्मरण’-लक्षण अलङ्कार सर्वस्व और काव्य प्रकाश ‘स्मरण लक्षणों का अनुसरण करता है । अलङ्कार सर्वस्व और काव्यप्रकाश में ‘सदृशानुभव वस्त्वन्तर की स्मृति’ को ‘स्मरण’ अलङ्कार कहा गया है—‘सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृति स्मरणम्’ (अलङ्कार-सर्वस्व), ‘यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृति । स्मरणम् (काव्यप्रकाश) । स्मरण अलङ्कार केवल ‘स्मृति’ नहीं अपि तु सादृश्योत्थापित स्मृति है—यह धारणा प्रायः सभी आलङ्कारिकों की है । आचार्य रुच्यक (अलङ्कारसर्वस्वकार) ने स्पष्ट कहा है—

‘सादृश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलङ्कारः ।’

विश्वनाथ कविराज भी वस्तुतः ‘सादृश्योत्थापित स्मृति’ को ही स्मरण अलङ्कार मानते किन्तु सादृश्य की भाँति वैसा दृश्य भी स्मृति का कारण हो सकता है और इसलिये ‘वैसादृश्योत्थापित स्मृति’ को भी स्मरण अलङ्कार मानने वाले आचार्य हो चुके हैं जिनमें राघवान महापात्र का नामोल्लेख स्वयं विश्वनाथ कविराज ने ही किया है ।

‘स्मरण’ अलङ्कार की रूपरेखा के सम्बन्ध में ‘अलङ्कारसर्वस्व’ के व्याख्याकार आनन्द जयरथ की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘अतएव स्मर्यमाणेनानुभूयमानस्य, अनुभूयमानेन वा स्मर्यमाणस्य सादृश्यकल्पनमयमलङ्कारः । यदुक्तम्—

यथा दृश्येन जनिता साम्यधीः स्मर्यमाणगा ।

स्मर्यमाणकृताप्यस्ति तथेय दृश्यगामिनी ॥’

अर्थात् ‘स्मरण’ अलङ्कार अथवा ‘सदृशानुभव से वस्त्वन्तर स्मृति’ का अभिप्राय स्मरण जाती हुई वस्तु से अनुभव की जाती हुई वस्तु की सादृश्य-कल्पना अथवा अनुभव की

(५—रूपक)

रूपकं रूपितारोपाद्धि (पो वि) यये निरपह्नवे ।

हृदं वस्तु ने स्मरण की जाती हुई वस्तु की मादृश्य-कल्पना है। अनुभव की जाती हुई वस्तु में स्मरण की जाती हुई वस्तु की मादृश्य-परिकल्पना में 'स्मरण' का स्वल्प निम्न नेचदून मूर्ति में देखिये—

'तस्यास्तीरे रचितशिखर' पेशलैरिन्दुनीले ।
क्रीडाशैल कनकहृदलीवेष्टनप्रेक्षणीय ॥
मदूरोहिण्या प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण ।
प्रेषयोपान्तस्फुरिततद्वित स्वा तमेव स्मरानि ॥'

यहाँ प्रत्यक्षदृश्य भेष और स्मृति-मिल क्रीडाशैल का मादृश्य-कल्पना में 'स्मरण' अलङ्कार को स्मरेखा वली सुन्दरता में उभार आया है ।

(२) पण्डितराज जगन्नाथ की 'स्मरण' अलङ्कार के रस उद्बुद्ध मूर्ति पर आपत्ति है क्योंकि उनके अनुसार 'स्मरण' का लक्ष्य यही है—

'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धमस्कारप्रयोज्य स्मरण स्मरणालङ्कार'

यहाँ 'मादृशवानुभव' के बढते 'मदृशमान' में उद्बुद्ध स्मृति को स्मरण अलङ्कार माना गया है जिसमें सदृशानुभव को मूर्ति सदृशस्मृति ने मा उत्पन्न स्मृति में 'स्मरण' मूर्ति का दर्शन किया जा सके । वान की वस्तु ठीक हो । पण्डितराज ने स्पष्ट कहा है—

'यदपि 'सदृशानुभवाद्बलवन्तरस्मृति स्मरणम्' इत्यलङ्कारसर्वस्वरत्नाकरयो स्मरणालङ्कारलक्षणमुक्तम्' तदपि न । सदृशस्मरणोद्बुद्धेन मन्त्राग्ने जनिने स्मरणे अग्न्याग्ने । यथा—

'सन्त्येवास्मिन् जगति बहव पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषा मध्ये मन तु महती वामना घातकेषु ।
चैरभ्यर्चय निजमख नीरड स्मारयद्भि
स्मृत्यारुढ भवति किमपि द्रव्य कृष्णानिधानम् ॥'

अत्र च घातकदर्शनादिकमग्न्यन्धिज्ञानादुत्पत्तेनापरसग्न्यन्धिनो जलधरस्य भगवत्सदृशस्य स्मरणेन जनिता भगवत स्मरण भगवद्विषयकरतिभाषात् । यदि च 'मदृशानुभवात्' इत्यपहाय 'मदृशजानात्' इति लक्षणे निदेश्यते तदा भयवग्न्यापि समग्र इति दिक् ।'

यहाँ 'मदृशानुभव' की मूर्ति 'मदृशमान' में उद्बुद्ध स्मृति में 'स्मरण' अलङ्कार है ।

(३) 'स्मरण' अलङ्कार की सम्मूर्ति वस्तु उभार है । उभार : मादृश्य-कल्पना में स्मरण और निमित्तता में निमित्त-विशेषता का, उभार-विशेषता का ही 'स्मरण' अलङ्कार है ।

उदा—'रूपक यद् अलङ्कार है जिसे (विषयी अथवा उपमान द्वारा) नगद्वारा (न उपाये गये) विषय (आरोप विषय-उपमेय) पर विषयी (उपमान) का अर्थ-उपरोप कहा जाया करता है ।

‘रूपित—’ इति परिणामाद्यवच्छेदः । एतच्च तत्प्रस्तावे विवेचयिष्यामः ।
‘निरपह्वे’ इत्यपह्नुतिव्यवच्छेदायम् ।

तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥ २८ ॥

तद्रूपकम् ।

(परम्परितरूपकः सप्रभेद निरूपण)

तत्र—

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् ।

तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥ २९ ॥

प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम् ।

यहाँ कारिका में ‘रूपित’ पद का प्रयोजन ‘परिणाम’ अलङ्कार से ‘रूपक’ व्यवच्छेद अथवा पार्थक्य का प्रदर्शन है और इसका विवेचन ‘परिणाम’ अलङ्कार निरूपण-प्रसङ्ग में किया जा रहा है । साथ ही साथ यहाँ ‘निरपह्वे’ पद इसलिये आया है जिसमें ‘अपह्नुति’ से (जिसमें विषय का निषेध रहा करता है) ‘रूपक’ स्वरूप-व्यवच्छेद स्पष्ट होता रहे ।

विमर्श—अलङ्कारसर्वस्वकार ने ‘रूपक’ की इस व्युत्पत्ति में ही ‘रूपक’ का संज्ञा दिया है—

‘विषयिणा विषयस्य रूपवत्तः करणानुरूपकम् ।’

‘एकावली’ की यह ‘रूपक’-व्युत्पत्ति भी युक्तियुक्त ही है—

‘यदा तु विषयी विषयं रूपयति रूपवन्तं करोति तदान्वयोभिधानं रूपकम् ।’

अनुवाद—‘रूपक’ के तीन (मुख्य) प्रकार हैं—(१) परम्परित, (२) साङ्ग (३) निरङ्ग ।

यहाँ (कारिका में) ‘तत्’ से ‘रूपक’ का निर्देश किया जा रहा है ।

विमर्श—‘साङ्ग’ रूपक को ‘सावयव’ और ‘निरङ्ग’ को ‘निर्वयव’ भी कहा जाया है । साङ्ग अथवा सावयव रूपक का अभिप्राय है—‘सहावयवैरारोप्यमाणो वर्तते यत्र (अर्थात् उपमेय का ऐसा रूपण जिसमें उसके अवयव भा रूपा हुये करें), ‘निरङ्ग’ अ निर्वयव रूपक का तात्पर्य है—‘अवयवैर्यो निष्क्रान्त आरोप्यमाणो यत्र तत्’ (अ अवयव रहित उपमेय का उपमान में तादात्म्यारोप) और ‘परम्परित’ रूपक का अर्थ है स्वरूपैकस्य माहात्म्यादपरस्यारूपणत्वमायात यत्र तत्’ (अर्थात् एक के तादात्म्यारोप कारण अन्य का तादात्म्यारोप) ।

अनुवाद—रूपक के उपर्युक्त भेदत्रय में—

‘परम्परित’ रूपक वह रूपक है जिसमें एक का अभेदशेष दूसरे के अभेदशेष कारण हुआ करता है । इसके दो भेद हैं—(१) श्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित (२) अश्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित । (१ ला) अर्थात् श्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित भी दो प्रकार का है—श्लिष्टशब्दनिबन्धन-‘केवल’परम्परित और श्लिष्टशब्दनिबन्धन-‘माला’परम्परित । इसी प्रकार (२ ला) अर्थात् अश्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित भी ‘केवल’ और ‘माला’ रूप होने से दो प्रकार का ही है ।

शेषं वक्तव्यम्

तत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितम् ।

यथा—

च विद्या ॥ १॥

‘आहवे जगदुदण्ड ! राजमण्डलराहवे ।

भीमसिंहमहीपाल ! स्वस्वस्तु तव वाहवे ॥’

नेर निहार)

अत्र राजमण्डलं नृपसमूह एव चन्द्रविन्ध्यमित्यारोपो राजबाही राहुत् निमित्तम् ।

मालारूप यथा—

मालापरम् ।

‘पद्मोदयदिनाधीश सदागतिसमीरण ।

भूमृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान् भुवि ॥’

विदितव्यम् ॥ १॥

ते चतुर्विधम् ।

अत्र पद्माया उदय एव पद्मानामुदय, सतामागतरेव सदागमनम्, राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वाद्यारोपनिमित्तम् ।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धन केवल यथा—

तेजः परितः का-

र इन्द्रा निम्न- ५-

श्री साय यहाँ लिखे ५-

पय का निवेद तात्पर्य-

‘पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशाः ।

त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिचापव ॥’

जैसे कि श्लिष्टशब्दनिबन्धन ‘केवल’ परम्परित—

‘हे नृसिंह महीपाल ! हे महापराक्रमी महाराज ! समान में प्रचण्ड शस्त्र मण्डल’ रूपी चन्द्रमा के लिये राहुस्वरूप आप का भुजदण्ड सदा विजयी हो ।’

यहाँ ‘राजमण्डल’ शब्द श्लिष्ट है क्योंकि इसका अभिप्राय ‘राजसमूह’ और दोनों है । इस प्रकार यहाँ ‘राजमण्डल’ (राजसमूह) रूप विषय पर ‘राजमण्डल’ रूप विषयी का आरोप स्पष्ट है । और जैसा कि यह आरोप वर्ण्य-दण्ड पर राहु के आरोप का निमित्त लग रहा है, यहाँ श्लिष्टशब्द नि परम्परित रूपक का लक्षण स्पष्टतया घटित हो रहा है ।

इसी प्रकार, श्लिष्टशब्दनिबन्धन ‘माला’ परम्परित, जैसे कि—

‘हे महाराज ! इस जगतीतल पर आप ही एक ऐसे हैं जो ‘पद्मोदय’ काष्ठा) रूप ‘पद्मोदय’ (कमलविक्रम) के लिये सूर्यरूप, ‘सदागति’ रूप ‘सदागति’ (निरन्तर विचरण) के लिये परम रूप और ‘भूमृदावलि’ रूप ‘भूमृदावलि’ (पर्वतसमूह) के लिये वज्ररूप से सदा विराजमान हैं यहाँ भी ‘पद्मोदय’, ‘सदागति’ और ‘भूमृदावलि’ पद श्लिष्ट पद हैं । लक्ष्मी के उदय (पद्मोदय) पर, पद्मों के उदय (पद्मोदय = कमलविक्रम) सज्जनों के आगमन (सदागति) पर सदा आगमन (सदागति) या दावलि’ (राजसमूह) पर भूमृदावलि (पर्वतसमूह) का आरोप स्पष्ट है कि यह आरोप वर्ण्य भूषण पर सूर्य, परम और वज्र हैं निमित्त लग रहा है ।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धन ‘केवल’ परम्परित का उदाहरण यह है—

‘मेव के समान शराम, शार्ङ्ग धनुष की प्रयत्ना के आशङ्कान्त मे । रूपी मण्डप के स्तम्भरूप, भगवान् विष्णु के चारों भुजदण्ड आप मे यहाँ कोई भी शब्द श्लिष्ट नहीं और प्रतीक पर मण्डप का जो प्रतीक से प्रतीक हो रहा है ।

हो शत कुलटि ॥ १॥

वक्तव्य का निबन्धन

लिखित है—

न करोति तद्वन्निबन्धन

प्रकार है—(१) समान

का निदेश किया जा रहा है।

और लिखित है निम्न—

गद्य है—सहायकपदाओं के

के अन्वय न ही है—

जो निष्कलित भावों के

व्यक्त और—

भाषा पर वर (नहीं) रहे—

यहाँ—

विषयों एक का अन्वय ही है—

नेद है—(१) निम्नलिखित

प्रकार—

अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारोपो हरिवाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम् ।

मालारूपं यथा—

‘मनोजराजस्य सितातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः ।

विराजते व्योमसरः सरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुविम्बम् ॥’

अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारोपश्चन्द्रविम्बस्य सितातपत्रत्वाद्यारोपे निमित्तम् ‘तत्र च राजमुजादीनां राहुत्वाद्यारोपो राजमण्डलादीनां चन्द्रमण्डलत्वाद्यारोपे निमित्तम्’ इति केचित् ।

इसी प्रकार अश्लिष्टशब्दनिबन्धन ‘माला’ परम्परित का उदाहरण—

‘कामरूप राजराजेश्वर का श्वेत राजच्छत्र, पूर्वदिशारूप सुन्दरी का चन्दनतिष्ठ और गगनरूप सरोवर का कमल यह कर्पूरशुभ्रचन्द्रविम्ब कितना सुन्दर लग रहा है ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘काम’ आदि पर ‘राजा’ आदि का जो अभेदारोप है वह ‘च विम्ब’ आदि पर ‘श्वेतच्छत्र’ आदि के अभेदारोप के निमित्तरूप से विराजमान है । इस प्रकार इस आरोप-माला में, अश्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण, अश्लिष्टशब्दनिबन्धन ‘माला’ परम्परित रूपक स्पष्ट क्षलक रहा है ।

उक्त चतुर्विध परम्परित रूपक के सम्बन्ध में कतिपय काव्याचार्यों का यह कहना । ‘राजमण्डलराहवे’ आदि में, एक के रूपण को दूसरे के रूपण का निमित्त ‘इस प्रमानना उचित है कि ‘राजवाहु’ आदि पर ‘राहु’ आदि के अभेदारोप को ‘राजमण्डल (राजवर्ग) आदि पर ‘राजमण्डल’ (चन्द्रविम्ब) आदि के अभेदारोप का निमित्त माना जाय (इसलिये ‘राजमण्डल आदि पर ‘राजमण्डल’ आदि के अभेदारोप को ‘राजवाहु आदि पर ‘राहु’ आदि के अभेदारोप का निमित्त मानना ठीक नहीं) ।

विमर्श—‘एक के आरोपमाहात्म्य से दूसरे के अभेदारोप में परम्परित रूपक की मान तो सभी आलङ्कारिकों की है किन्तु ‘किसका आरोप-माहात्म्य किसके अभेदारोप का निमित्त इस सम्बन्ध में, विश्वनाथ कविराज ने उदाहृत प्रसङ्गों में, अपने मत का निर्देश कर, निन काव्यचार्यों के भिन्न मत का उल्लेख किया है उनमें अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रय्यक मुख्य हैं । हम’ ने श्लिष्टशब्दनिबन्धन ‘माला’ परम्परित का यह उदाहरण दिया है—

‘विद्वन्मानसहस वैरिकमलासंकोचदीप्तशुते

दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर ।

सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो

साम्राज्यं वरवीर वत्सरक्षत वैरिश्चमुञ्चे’ क्रिया’ ॥’

और हममें ‘परम्परित’ का लक्षण इस प्रकार घटाया है—

‘अत्र स्वमेव हस हृयारोपणपूर्वको मानसमेव मानसमित्याद्यारोप इति श्लिष्टशब्द मालापरम्परितम् ।’

जिते, आचार्य जयरथ ने, इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

‘विद्वदित्यादिहसरूपणा माहात्म्यान्मानसरूपणेति परम्परितम्’ ...

आचार्य रय्यक का यह मत सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार द्वारा ही खण्डित किया गया है—

‘अत्र (विद्वन्मानसहस हृयादौ) मानसमेव मानसम्, कमलाया संकोच एव कमलानामसकोच, दुर्गानाममार्गणमेव दुर्गाया मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधा

(साहस्यञ्च समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति)

अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपं साङ्गमेव तत् ॥ ३० ॥

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।

तत्र—

आगेप्याणामगेपाणां शब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥ ३१ ॥

प्रथम समस्तवस्तुविषयम् ।

यथा—

‘रावणावग्रहकलान्तमिति वागमृतेन स ।

अभिवृष्य मत्तस्तस्य कृष्णनेषस्तिरोदधे ॥’

अत्र कृष्णस्य नेषत्वारोपे वागाजीनामनृतत्वादिकनारोपितम् ।

यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।

स्वीकार, मत्ते प्रीतिरेव सत्यामप्रीति, विजय पराभव एव विजयोऽर्हन्त एवमारोपण-
निमित्तो ह्यसादेरारोपः ॥ (वाचस्पति १० १०)

इन दोनों नमों में, विधन्य कवेरान और आवाय मन्मद का मत एक ही है । दोनों का भावाद अन्तर्गतमवस्था का स्वरूप करते हैं । किन्तु निम्न भाव में दोनों अन्तर्गतमवस्था का ही मत अधिक युक्तमान लगता है । कर्ण यह है कि जब कि कवि का ‘अपन मुक्त रूप निम्न (और हमन्दिने सुख करोत विष्णु) प्रकृत भूतान का है तो उन का जो जने राजे’ ‘एव आदि को अन्तर्गतमान ही सुख आरोपमान है किन्तु’ इति से जानना पर ‘मन्मद’ आदि के आरोप का स्वाभाव और मध्यम होने तक समान हो सकता है ।

अन्वय—रूपक का द्वितीय भेद ‘मात्र रूपक वह रूपक है जिसमें जनों के रूप के साथ-साथ जनों का रूपन हुआ करता है । इस रूपक-प्रकार के भी दो भेद हैं—(१) समस्तवस्तुविषय और (२) एकदेशविवर्ति ।

इन्में (१ वा) अर्थात् ‘समस्तवस्तुविषय’ मात्ररूपक वह रूपक हुआ करता है जिसमें (कवि-निरूपित) समस्त आरोपमान (उपमान) शब्दोंन उपान रहा करते हैं ।

यहाँ (कारिका में) ‘प्रथम’ का तात्पर्य ‘समस्तवस्तुविषय प्रकार के रूपक का तात्पर्य है ।

इसका उदाहरण यह है—

‘जब कि विष्णुस्त्री ने अपने रावन्सी अग्रज (अग्र्य) से हृत्त देवगुन्दन मग्न (धान्य शान्ति-मेघ) को चर्च मर्द कलनयन से सींच दिया तब वह प्रियेति हो गया ।’

यहाँ रूपक की ‘मान्ना और ‘समस्तवस्तुविषयता’ हमन्दिने से प्रतीति प्रति ने भरी रूप से अवस्थित ‘मेघ रूप आरोपमान’ (उपमानभूत) पदार्थों के अन्तर्गत प्रति-
पादित किया है और इसके अन्तर्गत से निरूपित ‘समस्त रूप’ ‘अग्रज और ‘अनृत
नर आरोपमान’ पदार्थों के भी अन्तर्गत हैं, उपनिर्दिष्ट किया है ।

और (२ वा) अर्थात् ‘एकदेशविवर्ति’ मात्ररूपक वह रूपक प्रकार है जिसमें (जिस
न जिस का से मन्मद) कोई न कोई आरोपमान (उपमानभूत पदार्थ) पदार्थ
अन्तर्गत प्रतिपादित न हो कर अन्तर्गत रहा करता है ।

कस्यचिदारोप्यमाणस्य ।

यथा—

‘लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।

लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते ? ॥’

अत्र लावण्यादौ मधुत्वाद्यारोपः शाब्दः, मुखस्य पद्मत्वारोप आर्थः ।

न चेयमेकदेशविवर्तिन्युपमा विकस्वरत्वधर्मस्यारोप्यमाणे पद्मे मुख्यतया वर्तमानात् मुखे वोपचरितत्वात् ।

यहाँ, कारिका में, ‘कस्यचित्’ का अभिप्राय ‘आरोप्यमाण’ (उपमान) का अभिप्राय है। इसका उदाहरण यह है—

‘लोगों के कौन ऐसे नेत्ररूपी अमरसख नहीं हैं जो कि लावण्यरूपी मधु रस से भी इसके खिले मुख के पान के लम्पट हैं ।’

यहाँ रूपक की ‘साझता’ और ‘एकदेशविवर्तिता’ इसलिये है क्योंकि कवि ने ‘रोलम्ब’ को अङ्गी आरोप्यमाण मानकर, अङ्गरूप से अवस्थित ‘मधु’रूप आरोप्यमाण को तो शब्दतः प्रतिपादित किया है किन्तु (‘आस्य’ के लिये) ‘कमल’ आदि रूप आरोप्यमाण को अर्थतः ही प्रकाशित छोड़ दिया है। यहाँ (‘नेत्रैरिवोत्पलैः...’ आदि की भाँति) ‘एकदेशविवर्तिनी’ उपमा की आशङ्का न होनी चाहिये क्योंकि यहाँ कवि ने ‘विकस्वरता’ (खिल उठने) के धर्म का जो उल्लेख किया है वह (जैसा कि ‘रूपक’ के लिये आवश्यक है) आरोप्यमाणभूत ‘कमल’ में तो अवश्य अवस्थित है (किन्तु, जैसा कि ‘उपमा’ के लिये स्वभाविक है) ‘मुख’ में (अवस्थित नहीं अपि तु) उपचरित अथवा कल्पित ही प्रतीत हो रहा है (जिससे यहाँ रूपक की मान्यता ही युक्तियुक्त दिखायी दे रही है) ।

विमर्श—(क) सप्रभेद ‘साङ्ग’ अथवा ‘सावयव’ रूपक का पण्डितराज जगन्नाथ-कृत यह लक्षण बड़ा स्पष्ट है—

‘परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां सघातः सावयवम् ।’

तत्रापि—

‘समस्तानि वस्तून्यारोप्यमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम् ।’

‘यत्र च कचिदवयवे शब्दोपात्तमारोप्यमाण कचिच्चार्यसामर्थ्याच्च तदेकदेशे शब्दात् उपात्तविषयिके अवयवरूपके विवर्तनात् स्वस्वरूपगोपनेनान्यथात्वेन वर्तनादेकदेशविवर्ति ।’

यद्वा—

‘एकदेशे उपात्तविषयिके अवयवे विशेषेण स्फुटतया वर्तनादेकदेशविवर्ति ।’

(रसगङ्गाधर . रूपक प्रकरण)

(ख) ‘एकदेशविवर्ति रूपक’ और ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ का भेद साधारण धर्म की उपमान सगति और उपमेय-सगति के भेद के आधार पर स्पष्ट हो जाता है। जैसे कि ‘मुखकमल विकस्वरम्’ में विकस्वरता का धर्म कमल में तो समवेत है किन्तु मुख में असंगत और इसलिये यहाँ ‘मुखमेव कमलम्’ इस अमेदारोप में रूपक ही मान्य होगा। इसके अतिरिक्त ‘मुखकमल विहसति’ में ‘विहसन’ का धर्म मुख में तो वस्तुतः सगत लगता है किन्तु कमल में केवल उपचारत ही सगत प्रतीत होता है। इसलिये यहाँ ‘मुख कमलमिव’ इस उपमित समास में ‘उपमा’ ही नी नायगी ।

(निरूपण - भेदद्वय)

निरङ्गं केवलस्यैव रूपं तदपि द्विधा ॥ ३२ ॥

मालाकेवलरूपत्वात्—

तत्र मालात्पं निरुद्धं यथा—

‘निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोकचक्षुषाम् ।

कीडागृहमनङ्गस्य सेचनिन्दीवरेक्षणा ॥'

केवल यथा—

'दासे कृतागसि भवत्युचित' प्रभूणां

पादप्रहार इति सुन्दरि ! नात्र दूये ।

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कितकटकाभिः

यद्भिद्यते नृद पद ननु सा व्यया ने ॥'

(रूपकनेद . मञ्जुन)

—तेनाष्टौ रूपके भिदाः ।

‘चिरन्तनं नृपा’ इति शेषः ।

अनुवाद—रूपक का कर्त्तापक्ष 'निद्रा' रूपक वह रूपक है जिसमें कर्त्तात्व में अवस्थित आरोप्यमान (उपमान) का ही लभेदात्पेप हुना करता है। यह भी ओ प्रकार का है—

(१ ला) 'माना' निरुत्पन्नक और (२ रा) 'देव' निरुत्पन्नक।

(१ ले) जयानि 'माला निरुत्तरक का उदाहरण यह है—

‘यह कमलनयनी सुन्दरी विद्याना की निर्माणवादी है, लोकसेवा की पद्धति है और वन्द्य की विलामयुक्ति है।’

[यहाँ ललक को 'निरुहना' और 'भावान्वयना' इत्यदि हे श्रौतिक कवि ने यहाँ अपने प्रधान वर्गों विरद 'सुन्दरी' का ही जीवन जीन अपने प्रमाण पद्यों जैसे कि 'निर्माण-सुन्दरी', 'अनिरुहना' और 'विलासश्रुति' में तादात्म्यानुसंग म्यादिन किया है, न कि इसमें मन्दक वर्गों का भी ।]

(२३) अर्थात् 'द्विज' निरूपक का उदाहरण यह रहा—

‘करी सुन्दरी ! हमका सुनें तो नहीं कि यदि काम भराध के नो लमे मयमी का पदप्रसर सहना हो पटना है । तुमने नो हमका दर है कि नोरे पत-नराम से वरद, नोरे वरद के पतकाएनरमी कौटो मे, नोरे कोन पतन न जिउ जय ।

[यहाँ 'केवल' निरुद्ध रूपक इत्यन्ति है यद्यपि कवि ने 'सुखदुःख' विषय का ही वस्तुतः रूप विषयो मे समेष्टरोप न्यासित किया है न कि वस्तुमे समेष्ट रूपों का भी ।]

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥
 ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

—इस प्रकार 'नयन' शब्दों के नर निगार आठ भेद हैं।

यहाँ काठिया में 'सुरक्षा' के आठ प्रकारों का जो निर्देश है वह भारतीय राजकारियों के मनाबुसार है।

(रूपक-वैचित्र्य)

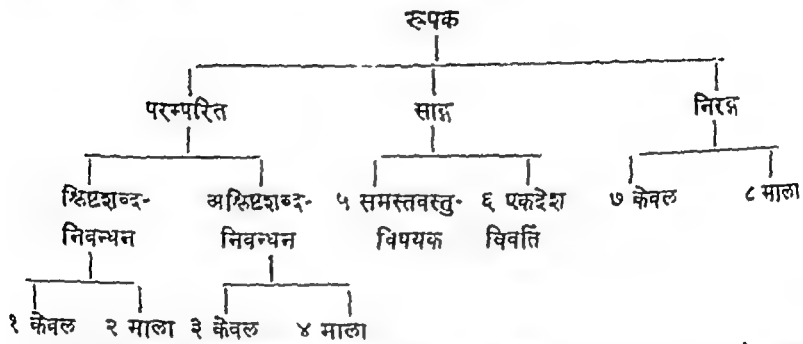
कचित्परम्परितमप्येकदेशविवर्ति यथा—

‘खड्गः क्षमासौविदहः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥’

अत्रार्थः क्षमायां महिषीत्वारोपं खड्गे सौविदहत्वारोपे निमित्तम् ।

अस्य भेदस्य पूर्ववन्मालारोपत्वेऽप्युदाहरणं मृग्यम् ।

विमर्श—(क) ‘रूपक’ का भेद कोष्ठक इस प्रकार है—



(ख) विश्वनाथ-कविराज का उपर्युक्त रूपक-विभाजन आचार्य रघ्यक और आचार्य मन्मट के रूपक-विभाजन का अनुसरण करता है । आचार्य रघ्यक ने ‘अष्टविध’ रूपक का यह उल्लेख किया है—

‘इदं तु निरवयव सावयव परम्परितमिति त्रिविधम् । आद्यं केवल मालारूपकं चेति द्विधा । द्वितीयं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति द्विधैव । तृतीयं क्षिप्रक्षिप्रशब्द निबन्धनत्वेन द्विविधं सत् प्रत्येक केवल मालारूपकत्वाच्चतुर्विधम् । तदेवमष्टौ रूपकभेदाः ।’
(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ४५)

(ग) किसी प्रयोजनविशेष के ही कारण कविजन एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से अनेक आरोप स्थापित किया करते हैं, भ्रमवश नहीं । सादृश्यनिमित्तक आरोप ही ‘रूपक’ है । किन्तु कुछ कान्याचार्य अन्यनिमित्तक आरोप को भी ‘रूपक’ मानते हैं । जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—
‘अमृतकवल, शोभाराशिः प्रमोदरसप्रभा सितिमशकट ज्योत्स्नावापी तुषारधरट्टिका ।
मनसिजवृक्षो शृङ्गारश्रीविमानमहो नु भो निरवधिसुखश्रद्धा दृष्टेः कृती मृगकेतनः ॥’
में ‘शृङ्ग’रूप कारण पर कार्यरूप श्रद्धा का जो आरोप है वह सादृश्यनिमित्तक नहीं अपितु सम्बन्धान्तरनिमित्तक है, किन्तु है ‘रूपक’ ही ।

अनुवाद—उपर्युक्त अष्टविध रूपक के अन्यविध भी वैचित्र्य काव्य-साहित्य में दृष्टिगत हुआ करते हैं । जैसे कि, कहीं-कहीं ‘परम्परित’ रूपक में ‘एकदेशविवर्तिता’—

‘मालव के आखण्डल मालवेन्द्र का खड्ग जो कि पृथिवी का काञ्चुकीय है, सग्राम में विजयशील ही रहा करता है ।’

यहाँ ‘परम्परित’ रूपक में ‘एकदेशविवर्तिता’ का वैचित्र्य इसलिये झलक रहा है क्योंकि ‘खड्ग’ पर ‘काञ्चुकीयत्व’ का जो आरोप है वह ‘क्षमा’ (पृथिवी) पर, अर्थ सामर्थ्य से लब्ध, ‘राजमहिषीत्व’ के आरोप के कारण है ।

इस ‘एकदेशविवर्ति’ परम्परित रूपक में ‘माला’रूप की भी सम्भावना है जिसका उदाहरण हटा जा सकता है ।

दृश्यन्ते कचिदारोप्याः शिल्पाः साङ्गैऽपि रूपके ॥ ३३ ॥

तत्रैकदेशविवर्ति श्लिष्टं यथा नम—

‘करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततम पटलाशुके निवेश्य ।

विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बलयममरेशदिशो मुख सुधांशु ॥’

समस्तवस्तुविषय यथा—अत्रैव ‘विचुम्बति—’ इत्यादौ चुचुम्बे हरिदवला-
मुखमिन्दुनायकेन’ इति पाठे । न चात्र श्लिष्टपरम्परितम् ? अत्र हि ‘भूभृदा-
वलिदम्भोलि—’ इत्यादौ राजादौ पर्वतत्वाद्यारोप विना वर्णनीयस्य राजादेर-

[‘माला’ एकदेशविवर्ति परम्परितरूपक का उदाहरण यह रहा—

‘उन्नमित शान्तरनाग्रवस्य श्रीऽर्णवचित्र हरिनोऽवगाथा ।

विराजते चार नभःपरोजः कर्पूरपूरममिन्दुनिग्दम् ॥

यहाँ शान्तरनाग्र पर अर्णवस्य ‘राजत्व’ के आरोप से एकदेशविवर्तिता और एकनिमित्तक
अन्धकारोप की माला के कारण ‘माला परम्परित’ रूपक का स्वरूप स्पष्ट है ।]

इसी प्रकार कहीं कहीं ‘मान्’ रूपक भी (परम्परित की भाँति) श्लिष्ट शब्द निगन्धन
रूप में दिखायी दिया करता है क्योंकि कतिपय आरोप्यमाण श्लिष्ट शब्दों द्वारा उपात्त
रहा करते हैं ।

उदाहरण के लिये ‘एकदेशविवर्ति’ प्रकार का श्लिष्ट-शब्द-निगन्धन मान् रूपक—

‘यह चन्द्रमा, उदयाचलरूपी स्तनाग्रभाग पर, जिस पर से अन्धकाररूपी अक्षर
गिर गया है, अपने किरणरूपी हाथ रख रहा है और पश्चिम दिशा के विकसित कुमुद
रूपी नेत्रों से रमणीय मुख का लुग्दन करता दिखायी दे रहा है ।’

यही यदि ‘विचुम्बलयममरेशदिशो मुख सुधांशु’ के न्याय पर (चुचुम्बे हरिदवला
मुखमिन्दुनायकेन । पश्चिमदिशारूपी रमणी के मुख का चन्द्ररूपी नायक लुग्दन कर रहा
है) कर दिया जाय तो ‘समस्तवस्तुविषय’ प्रकार के श्लिष्टनग्ननिगन्धन मान् रूपक का
स्वरूप स्पष्ट हो सारगा (क्योंकि पश्चिम दिशा पर ‘नायिका’ और चन्द्रमा पर ‘नायक’
का आरोप शब्दों उपात्त दिखायी देने लगेंगे) ।

यहाँ ‘करमुदयमहीधरस्तनाग्रे’ आदि एकदेशविवर्ति-श्लिष्टशब्द-निगन्धनमान् रूपक-
सूक्ति में ‘श्लिष्टपरम्परित’ रूपक का भ्रम नहीं होना चाहिये । जहाँ यह है कि ‘परम्परित’
रूपक के ‘भूभृदावलिदम्भोलि’ आदि पृथोद्वृत्त प्रयोगों में ‘राजपर्व’ आदि पर ‘पर्वत’
आदि के आरोप के बिना उर्ध्व भूषण आदि पर ‘पद्म’ आदि के आरोप की ‘समन्वित’ के
देवने यहाँ निरूपित किया जा सकता है कि ‘परम्परित’ शब्द को हुआ करता है जहाँ
एक के आरोप-माशङ्क्य में दूसरे के आरोप में सम्मिश्रित माशङ्क्य का भी निमित्त बना
करता है (‘करमुदयमहीधरस्तनाग्रे’ आदि में ऐसी बात नहीं है यहाँ ‘कर’ (हाथ) का
‘कर’ (किरण) पर आरोप, ‘नायक’ का ‘सुधांशु’ पर आरोप और ‘नायिका’ का ‘पश्चिम
दिशा’ पर आरोप ऐसा नहीं जो एक दूसरे के आरोप पर निर्भर हो और न यहाँ ‘रोप’
का निमित्त सम्मिश्रित माशङ्क्य हो दिखायी दे रहा है) ।

किन्तु ‘भूभृदावलिदम्भोलि’ आदि में ‘परम्परित’ की उपर्युक्त समन्वित के देवने ‘पद्म’
उपदिनाशङ्क्य’ आदि में ‘परम्परित’ की समन्वित करने में माया जाय । ‘पद्म’ उपदिनाशङ्क्य’
आदि में ‘परम्परित’ मानना इसलिये ठीक नहीं लगता कि यहाँ मूल शक्ति के माध्यम से

म्भोलितादिरूपणं सर्वथैव सादृश्याभावादसङ्गतम् । तर्हि कथं 'पद्मोदयदिना-
धीशः—' इत्यादौ परम्परितम्, राजादेः सूर्यादिना सादृश्यस्य तेजस्वितादिहेतु
कस्य संभवादिति न वाच्यम् । तथा हि—राजादेस्तेजस्वितादिहेतुकं सु-युक्तं
सादृश्यम्, न तु प्रकृते विवक्षितम्, पद्मोदयादेरेव द्वयोः साधारणधर्मतया वि-
वक्षितत्वात् । इह तु महीधरादेः स्तनादिना सादृश्यं पीनोत्तुङ्गत्वादिना सुयुक्त-
मेवेति न श्लिष्टपरम्परितम् ।

क्वचित्समासाभावेऽपि रूपकं दृश्यते—

'मुख तव कुरङ्गाक्षि ! सरोजमिति नान्यथा ।'

क्वचिद्वैयधिकरण्येऽपि यथा—

'विदधे मधुपश्रेणीमिह भ्रूलतया विधिः ।'

क्वचिद्वैधर्म्येऽपि यथा—

भूपाल आदि का, तेजस्विता की दृष्टि से, प्रसिद्ध सादृश्य विद्यमान है और साथ ही साथ
इस आरोप के निमित्तरूप से 'पद्मोदय' आदि पर 'पद्मोदय' आदि का आरोप भी नहीं
दिखायी देता (और इसलिये यहाँ 'साङ्ग' रूपक भले ही माना जाय 'परम्परित' तो नहीं
ही माना जा सकता) । किन्तु, इस समस्या का समाधान यह है—'पद्मोदयदिनाधीश'
आदि में, सूर्य के साथ वर्ण्य भूपाल का, तेजस्विताहेतुक सादृश्य स्पष्ट तो अवश्य है किन्तु
अभिप्रेत नहीं । यहाँ जो सादृश्य अभिप्रेत है वह 'पद्मोदयत्व' हेतुक ही सादृश्य है और
साथ ही साथ 'पद्मोदय' (लक्ष्मी के अभ्युदय) पर 'पद्मोदय' (कमलविकास) का जो
आरोप है वह 'वर्ण्यभूपाल' पर 'सूर्य' के आरोप के निमित्तरूप से भी दिखायी पड़ रहा
है (जिससे 'पद्मोदयदिनाधीशः' में साङ्गरूपक की संभावना निर्मूल हो जाती है) ।
इस प्रकार 'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे' आदि में जो 'रूपक' है वह 'परम्परित' नहीं अपितु
श्लिष्टशब्दनिबन्धन एकदेशविवर्ति 'साङ्ग' रूपक ही है क्योंकि 'स्तन' आदि के साथ
'महीधर' आदि का जो सादृश्य है उसमें 'पीनता' और 'उत्तुङ्गता' की हेतुता स्वयं अति
परिस्फुट है ।

कहीं कहीं समास के अभाव में भी 'रूपक' का दर्शन स्वाभाविक है । जैसे कि—
'अरी मृगनयनी ! यह सच है कि तेरा मुख सरोज है ।'

(इस प्रकार 'रूपक' में 'व्यस्त', 'समस्त' और 'व्यस्तसमस्त' आदि वैचित्र्य भी पाये
ही जाते हैं) ।

('सामानाधिकरण्य' की भाँति) 'वैयधिकरण्य' में भी 'रूपक' का सौन्दर्य विराजमान
रहा करता है । जैसे कि—

'विधाता ने इस सुन्दरी के मुखपङ्कज पर, भ्रूलता के रूप में अमरश्रेणी की रचना
कर दी है ।'

[यहाँ यह स्पष्ट है कि 'भ्रूलता' और 'मधुपश्रेणी' भिन्न भिन्न विभक्तियों में हैं किन्तु
'भ्रूलता' पर 'मधुपश्रेणी' का आरोप अवश्य प्रतीत हो रहा है ।]

कहीं-कहीं (साधर्म्य की भाँति) वैधर्म्य में भी 'रूपक' दिखायी दिया करता है ।
जैसे कि इस सूक्ति में ही—

‘सौजन्यान्धुनरस्यती सुनरितानेत्स्यभित्तुर्गुण-

ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्ग्री सरलतायेनश्चपुच्छच्छदा ।

येषापि दुरागया क्तिन्नुगे राजवली मेविता

तेषां शूलिनि भक्षिमात्रसुखमे सेवा किन्तुकीगतम् ॥’

इदं नमः ।

अत्र च केषाञ्चिद्रूपरूपां गच्छन्नेषमून्त्वेऽपि रूपविशेषत्वादयान्धार-
मध्ये गणनम् । एव वदप्रमाणात्पुत्रेषु च धम् ।

अधिकरुद्वैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत् ।

तदेवाधिकरुद्वैशिष्ट्यसत्तत्तम् ।

यथा नमः—

‘इदं वक्त्रं माहाद्वित्रितकण्डू’ राजवरं सुजायाराधारश्चिरपरिपन्न विन्दनधरः ।
इमे नेत्रे रात्रिन्निद्रमधिकोभे कुचले तनुर्लाभरयाना जलधिरयगाहे सुखतर ॥’

अत्र कण्डूगतिरिति विनाधिक वैनिद्रयम् ।

‘इमं वक्त्रं माहाद्वित्रितकण्डू’ राजवरं सुजायाराधारश्चिरपरिपन्न विन्दनधरः ।
इमे नेत्रे रात्रिन्निद्रमधिकोभे कुचले तनुर्लाभरयाना जलधिरयगाहे सुखतर ॥’
अत्र कण्डूगतिरिति विनाधिक वैनिद्रयम् ।

[यहाँ ‘नन्मूनिव’ आदि विरह धर्मों के कारणों में भी ‘नन्मू’ शब्दों ही दिग्विती
दे रहा है ।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कौं नन्मू ऐसे भी हुआ करते हैं जो कि नन्मू
के आधार पर रहित रहा करते हैं । किन्तु ये भी नन्मू के ही विविध वैशिष्ट्य रूप हैं और
इसीलिये इन्हें नन्मू नन्मू अर्थात् नन्मू नन्मू नन्मू के ही धर्मगत मान लिया गया है ।
यहाँ ध्यान धर्म प्रतिपादन कलहों में भी नन्मू धर्मों ।

एव और भी नन्मूधर्मों है जिसे ‘अधिकरुद्वैशिष्ट्य’ मन्त्र ‘नन्मू’ कहा करते
हैं क्योंकि इसमें नन्मू धर्म (नन्मू) की कल्पना कारणधर्म (नन्मू) में नन्मू
वैशिष्ट्य (विशेषण-योग) भी प्रकटमान रहा करता है । उदाहरण के लिये हम स्वरचित
सूक्ति में अधिकरुद्वैशिष्ट्य नन्मू—

‘इमं नन्मू’ का सुख नन्मू कण्डूगतिरिति धर्म है, नन्मूधर्मों का आधार नन्मू
धर्म सुख नन्मूधर्म है, नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म
नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म

यहाँ ‘अधिकरुद्वैशिष्ट्य’ धर्मों है क्योंकि नन्मूधर्मों (नन्मू) में ‘नन्मू-
रहित’ धर्मों की यह विशेषता प्रकटमान है जो कि नन्मूधर्मों (नन्मू) में नहीं
दिखायी देती ।

विशेष— १) नन्मूधर्मों के नन्मूधर्मों नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म
नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म
नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म
नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म नन्मूधर्मों का धर्म

(६—परिणाम)

विपयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ॥ ३४ ॥

परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।

आरोप्यमाणस्यारोपविपयात्मतया परिणमनात्परिणामः ।

यथा—‘स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम ।

स्तनोपपीडमाश्लेषः कृ(त)तो द्यूते पणस्तया ॥’

अन्यत्रोपायनपणी वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते । अत्र तु नायकसंभावन द्यूतयोः स्मिताश्लेषरूपतया । प्रथमार्द्धे वैयधिकरण्येन प्रयोगः, द्वितीये सामा नाधिकरण्येन ।

‘उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते । यथा बाहुलता पाणिपद्म चरणपद्मवः ॥
अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन् कुसुमानि नखार्चिषः । बाहू लते वमन्तश्चोस्त्वं नःप्रत्यक्षचारिणी ॥
इत्येतदसमस्ताख्य समस्त पूर्वरूपकम् (बाहुलता इत्यादि) ।
स्मित मुखेन्दोर्ज्योत्स्नेति समस्तव्यस्तरूपकम् ॥’

(कान्यादर्श २६३-६८)

और इसे भी विश्वनाथ कविराज ने निर्दिष्ट कर दिया है । इसके अतिरिक्त आचार्य रूयक द्वारा उद्धृत—

‘पर्यङ्को राजलक्ष्म्या’ हरितमणिमय पौरुषाब्धेस्तरङ्गो

भग्नप्रत्यर्थिवशोऽवणविजयकरिस्स्यानदानाम्बुपट्ट ।

सग्रामत्रासताम्बुमुरालपतियशो हसनीलाम्बुवाहः ।

खड्गः क्षमासौविद्ध समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥’

आदि सूक्ति में, ‘एकदेशविवर्ति परम्परित’ और ‘सौजन्याम्बुमरुस्थली’ आदि में वैधर्म्यनिमित्तक ‘परम्परित’ भी विश्वनाथ कविराज को मान्य ही है ।

(ख) रसगङ्गाधरकार का रूपक निरूपण विश्वनाथ कविराज के रूपक-निरूपण से प्रभावित है । रसगङ्गाधरकार ने रूपक-वैचित्र्य में साधारणधर्म की एकरूपता, बिम्बप्रतिबिम्बरूपता, औपचारिकता और केवल शब्दोपात्तता आदि का भी विश्लेषण किया है और साथ ही साथ पदार्थ रूपक, वाक्यार्थरूपक, आदि-आदि रूपक-प्रकारों का भी लक्षण निरूपण कर दिया है ।

अनुवाद—‘परिणाम’ वह अलङ्कार है जिसमें ‘उपमेय’ से ‘उपमान’ का अभेदारोप ऐसा हुआ करता है जो कि प्रकृतार्थोपयोगी हुआ करता है । इसके भी दो भेद हैं—
(१) तुल्याधिकरण (अर्थात् समानविभक्तिक अथवा समानाधिकरणक) परिणाम और
(२) अतुल्याधिकरणक (अर्थात् असमानविभक्तिक अथवा व्यधिकरणक) परिणाम ।
‘परिणाम’ को परिणाम इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें जो आरोप्यमाण (उपमान) रहा करता है वह आरोपविषय (उपमेय) के रूप में परिणत प्रतीत हुआ करता है ।

इसका उदाहरण यह है—

‘जब मैं अपनी प्रेमिका के पास पहुँचा तब उसने अपने स्मित के रूप में तो मुझे भेंट दी और द्यूतक्रीड़ा में गाढालिङ्गन के रूप में बाजी भी बंद दी ।’

यहाँ ‘परिणाम’ इसलिये है क्योंकि ‘उपायन’ और ‘पण’ (भेंट और बाजी) जो कि और परिस्थिति में वस्त्र अथवा आभूषण आदि के रूप में उपयुक्त होते, यहाँ प्रेमी के आनन्द और प्रेमी के साथ द्यूतक्रीड़ा की परिस्थिति में ‘स्मित’ और ‘आश्लेष’ के रूप

अत्र प्रदीपानामौपध्यात्मतया प्रकृते सुरतोपयोगिन्यन्धकारनाशे उपयोगोऽ
तैलपूरत्वेनाधिकारुढवैशिष्ट्यम् ।

(७—संदेह • सप्रभेदनिरूपण)

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ॥ ३५ ॥

शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ।

यत्र सशय एव पर्यवसान स शुद्धः ।

यहाँ 'परिणाम' इसलिये है कि 'औपधियों' पर आरोपित 'सुरतप्रदीप' औपधियों के साथ इतने एकरूप (अभिन्न) हो रहे हैं कि प्रस्तुत प्रेमविहार के उपयुक्त अन्धकार विनाशरूप कार्य का सम्पादन करते दिखायी दे रहे हैं और इसमें 'अधिकारुढवैशिष्ट्य' की विचित्रता इस प्रकार मिली है कि 'अतैलपूरता' का विशेषणयोग प्रदीपों की अपेक्षा औपधियों की ही अधिक उत्कृष्ट सिद्ध कर रहा है ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'परिणाम' अलङ्कार की कोई चर्चा नहीं की । विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व' की 'परिणाम'मान्यता के आधार पर 'परिणाम' का लक्षण परीक्षण किया है । 'अलङ्कारसर्वस्व' में 'परिणाम' का यह स्वरूप है—

'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।'

आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात् प्रकृतोपरअकवेनैव केवलेनान्वय भजते । परिणामे तु प्रकृतात्मतया—आरोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति ।

अर्थात् 'परिणाम' का अमिप्राय आरोप्यमाण अथवा उपमान की प्रकृतोपयोगिता है । 'रूपक' में जो आरोप्यमाण अथवा उपमान हुआ करता है वह प्रकृतोपयोगी नहीं हुआ करता अपितु प्रकृतोपरअक हुआ करता है किन्तु 'परिणाम' में आरोप्यमाण, प्रकृत का अङ्ग बनकर, प्रकृतोपयोगी हो जाता करता है ।

'रसगङ्गाधर'कार ने आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता का यह तात्पर्य लिया है—

'विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः ।' अत्र च विषयामेदो विषयिण्युपयुज्यते । रूपके तु नैवमिति रूपकादस्य भेदः । यथा—

अपारे ससारे विषमविषयारण्यसरणौ

मम आम्र आम्र विगलितविरामं जडमते ।

परिश्रान्तस्याय तरणितनयातीरनिलयः

समन्तात् संताप हरिनवतमालस्तिरयतु ॥'

अत्र भगवदात्मतयैव तमालस्य संसारतापनिवर्तनश्चमत्वम् । मार्गश्रान्तजनसंतापहारकत्वाद्गमणीयशोभाधारत्वाच्च तमालो विषयितयोपात्तः ।' (रसगङ्गाधर परिणाम-वकरण)

अनुवाद—'संदेह' वह अलङ्कार है जिसे प्रकृत (उपमेय) में अप्रकृत का कवि प्रतिभोत्थापित संशय कहा जाता करता है । यह तीन प्रकार का हुआ करता है—
(१) शुद्ध संदेह, (२) निश्चयगर्भसंदेह और (३) निश्चयान्त संदेह ।

'संदेह' के इन तीन भेदों में, पहला अर्थात् शुद्ध संदेह वह है जिसमें वाक्य आदि, अर्थ और अन्त में संशय में ही समाप्त रहा करता है । जैसे कि—

यथा—

‘किं तान्त्रयतरोरियं रसभरोद्विन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारानिवे ।
उद्गाढोत्कलिकायता स्वसमयोपन्यासविभ्रम्भिण.
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥’

यत्रादावन्ते च सशय एव मध्ये निश्चय स निश्चयमध्य ।

यथा—

‘अयं मार्तण्ड किं स खलु तुरगैः सप्तभिरित
कृशानु किं सर्वा प्रसरति दिशो नैप नियतम् ।
कृतान्त किं साक्षान्महिषवहनोऽमाविति पुन
समालोक्याजौ त्वा विदधति विकल्पान् प्रतिभटा ॥’

अत्र मध्ये मार्तण्डायभावनिश्चय, राजनिश्चये द्वितीयसशयोक्त्यानासभवात्
यत्रादौ सशयोऽन्ते च निश्चय स निश्चयान्त ।

यथा—

‘किं तावत्सरमि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमयभासते तरुण्या ।
सशय्य क्षणमिति निश्चिन्नाय कश्चिद्विषयोऽर्कैर्यससहवासिना परोक्षै ॥’

‘यह सुन्दरी क्या है ? क्या यह तारुण्यतरु की रसीली नवमञ्जरी है ? क्या यह
उद्देक्षित लावण्यसागर की लहर तो नहीं ? अथवा क्या यह, प्रेमिकाजन के लिये
उत्कण्ठित प्रेमीजनों को प्रणय पाठ पढ़ाने में उत्सुक, कामदेव की उपदेश यष्टि है ?’

[यहाँ उपमेयभूत कामिनी में उपमानभूत चतुरी आदि का प्रेमा मंगय विराजमान
है जो कविप्रतिभा द्वारा उत्पातित है (स्वामिक नहीं) और साथ ही साथ आदि से
अन्त तक लघुण्य बना हुआ है ।]

दूसरा अर्थात् निश्चयगर्भ मंदेष्ट यह मंदेष्ट प्रसार है जिसके आदि और अन्त में
मदय, किन्तु, मध्य में निश्चय विराजमान रहा करता है । जैसे कि

‘महाराज ! मगध में आपकी देवदेवी शत्रु सेनिक यह सेवा करने हैं—‘क्या यह
सूर्य तो नहीं ? किन्तु सूर्य के तो नात घोंटे हुआ करने हैं । क्या यह अग्नि तो नहीं ? किन्तु
अग्नि तो सर्वत्र विचरणाशी तो नहीं ? तो क्या यह यमराज है ? किन्तु यमराज तो मर्त्य-
वाहन हुआ करता है ।’

[यहाँ आदि में अन्ततक उपमेयभूत भूषात् पर, उपमानभूत ‘मार्तण्ड’ आदि का जो
कविप्रतिभेऽप्रापित मदय है, उसके मध्य में ‘मार्तण्ड’ आदि के अन्तें व्यापार (भेद)
का निश्चय भी विराजमान दिखाई दे रहा है । यहाँ यह मानना हीर नहीं कि ‘मार्तण्ड’
के अन्तर्गत निश्चय के बाद (उपमेयभूत) भूषात् का भी निश्चयामक ज्ञान हो जाता
है क्योंकि यदि ऐसा मान लिया तो आगे आनेवाले मध्य में भी आगे के अन्तें यमराज
से मदय की जो उपरति हो रही है वह क्योंकर हो पाती ?]

तीसरा अर्थात् ‘निश्चयान्त’ मंदेष्ट यह मंदेष्ट प्रसार है जिसके आदि में मदय किन्तु
अन्त में निश्चय प्रतीत हुआ करता है । जैसे कि—(निश्चयामक की यह सृष्टि)—

‘हृत् के किसी सहचर को छातर के लिये यह मदय हुआ कि हृत्, सर्वत्र में
बसल रिया है या स्नान करती हुई किसी लगी का मुख स्पर्श रहा है किन्तु जैसे ही

अप्रतिभोत्थापिते तु 'स्थागुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिसंशये नायमलङ्कारः ।

'मध्य तव सरोजाक्षि । पयोधरभरार्दितम् ।

अस्ति नास्तीति संदेहः कस्य चित्ते न भासते ॥'

अत्रातिशयोक्तिरेव, उपमेये उपमानसंशयस्यैवैतदलङ्कारविषयत्वात् ।

(८—आन्तिमान्)

साम्यादतस्मिस्तद्वुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ॥ ३६ ॥

यथा—

'मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानघो बल्लवाः

कर्णैरवशङ्क्या कुवलय कुर्वन्ति कान्ता अपि ।

उसने वहाँ एक-सहवासी कमलों में अलभ्य हाव-भाव का दर्शन किया, उसे निश्चय गया कि वह वस्तु क्या है ।'

[यहाँ आरम्भ में, उपमेयभूत तरुणीवदन में उपमानभूत कमल का संशय व अन्त में तरुणी वदनरूप वस्तुतत्त्व का निश्चय स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।]

'सदेह' अलङ्कार उस प्रकार के संशय में नहीं हुआ करता जिसमें कविप्रतिभा कोई हाथ न हो । जैसे कि 'यह ठूठ है या आदमी' आदि संशय 'सदेह' अलङ्कार न अपि तु सशयात्मक ज्ञानप्रकारमात्र है ।

कविप्रतिभोत्थापित भी 'सशय' तभी 'संदेह' अलङ्कार हो सकता है जब कि वह प्रथम में अप्रकृतविषयक संशयात्मक अनुभवरूप रहा करता है । इसलिये निम्न सूक्ति अर्थात् 'अरी कमल सरीखे नेत्रोंवाली ! स्तनों के भार से तेरी कमर ऐसी निपीटित रही है कि सब के मन में यह सन्देह हो उठता है कि वह (तेरी कमर) है भी या नहीं ।' में जो सशय है उसमें 'सदेह' नहीं अपि तु (असम्बन्ध में सम्बन्धरूप) 'अतिशयोक्ति' की ही रूपरेखा स्पष्ट है क्योंकि 'सदेह' अलङ्कार का विषय वही सशय हुआ करता है जो कि उपमेय में उपमान-विषयक सशय कहा जाया करता है ।'

विमर्श—(क) विश्वनाथ कविराज का यह 'सदेह'-निरूपण आचार्य रुय्यक की श्रुति 'सदेह'-मीमांसा से प्रभावित है—

'विषयस्य संदिग्धमानत्वे सदेह' । अमेदप्राधान्ये आरोप इत्येव । विषयः प्रकृतोऽर्थः, यन्नित्तिस्त्वेनाप्रकृतः सदिह्यते । अप्रकृतमसदेहे विषयोऽपि सदिह्यते एव । तेन प्रकृता प्रकृतगतत्वेन कविप्रतिभोत्थापिते सदेहे सदेहालङ्कार' । स च त्रिविधः । शुद्धो निश्चयगमो निश्चयान्तश्च । (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ५३) ।'

(ख) उत्तररामचरित (३११) की निम्न-सूक्ति में जो 'सदेह' अलङ्कार है उसकी रसोत्कर्षकता वस्तुतः अपूर्व है—

'प्रश्नोत्तनं तु हरिचन्दनपल्लवाना निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः ।

आतसजीविततरोः परितर्पणो मे सञ्जीवनौषधिरसो नु हृदि प्रसिक्तः ॥'

अनुवाद—'आन्तिमान्' अलङ्कार वह है जिसे, सादृश्य के कारण, एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ऐसा अनुभव कहा जाया करता है जो (स्वारसिक नहीं अपि तु) कविप्रतिभोत्थापित हुआ करता है ।

इसका उदाहरण यह है—

'चन्द्रमा की चमकती चांदनी किसके हृदय में अम नहीं पैदा करती ! मुग्ध हृदय

कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शत्रो मुक्ताफलाशङ्कया

सान्द्रा चन्द्रमनो न कस्य कुरुते चित्तभ्रम चन्द्रिका ॥'

अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलङ्कार । यथा—‘शुक्तिऋया रजतम्’ इति ।

न चान्नादृश्यमृत्ता ।

यथा—

‘सगमविरहविकल्पे वरमिह न सगमस्तस्या ।

सद्मे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मय विरहे ॥'

गोपचन्द्र, हमें दूध की धार समझ लेते हैं और उसे रोकने के लिए, गीलों के मनो के नीचे दोहन घट रखने लगते हैं, मुग्धहृदय रमणियाँ हमें देख कर, नीलकमल को भी श्वेत कमल मान लेती हैं, और कानों का बलद्धार बनाने लगती हैं और शरद्वृत्तियाँ जप हमें देखती हैं तब तो कर्कन्धु (हरपेरी) को भी मोती मानकर चुनने में लग जाती हैं।'

[यहाँ चन्द्रिका में दुग्ध, कुवलय में कुमुद और चंदरीफल में मुक्ताफल का जो कवि प्रतिभोत्थापित भ्रम है वसने 'भ्रान्तिमान्' बल्लभार का स्वरूप स्पष्टतया परिहसित हो रहा है ।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'मीप ने चादी' सरीखी भ्रान्ति को भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं माना जाया करता। 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार वह 'भ्रान्ति' है जो कि पुरु-मात्र कविप्रतिभा द्वारा उत्थापित हुआ करती है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि वही 'भ्रान्ति' भ्रान्तिमान् अलङ्कार की रूपरेखा है जो कि सादृश्यमूलक हुआ करती है। हमलिये इस प्रकार की भ्रान्ति जो कि निम्न वृत्ति अर्थात्—

‘यदि यह संचा जाय कि उस सुन्दरी के मिलन और विरह में कौन अच्छा है तब मिलन को तो कदापि अच्छा नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब कि उसमें मिलन होता है तब वह अकेली लगा करती है और जब उसमें विरह होता है तब ऐसा लगता है जैसे समस्त समार में वही व्याप्त है।’

मैं, प्रतीत हो रही है, 'आन्तिमान' अल्टार नहीं अपितु भावनामय आन्तिमाष्ट्र है।

[illegible]

‘आन्तिश्चित्रधर्म । स विद्यते यस्मिन् भवतिप्रज्ञाते स आन्तिमान् ।

From the 1st of 1st to the 1st of 2nd 1891

‘ଜୀବ-ହାଟ’ ଆନ୍ତିମକାନ୍ଦ ଉପସ୍ଥିତି ।

५१-१-२००३ : २००३

‘नमो नमो भगवते वासुदेवाय । भगवन्महादेव इति स्वयंभक्तप्रसादि ।
नमो नमो —

'प्रमादन्तर्यामिनिन्या यमिन्दते ।

म न्न निम्नानि न गन्तव्याऽहो मयैव-रिह ।।

(९—उल्लेख)

क्वचिद्भेदाद्ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित् ।

एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥ ३७ ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

(ज्ञातृभेदनिबन्धन - उल्लेख)

‘प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः ।

नारायण इति भक्तैर्त्रैलोक्यग्राहि योगिभिर्देवः ॥’

अत्रैकस्यापि भगवतस्तत्तद्गुणयोगादनेकधोल्लेखे गोपवधूप्रभृतीनां रुच्या दयो यथायोगं प्रयोजकाः ।

यदाहुः—

‘यथारुचि यथार्थित्वं यथान्युत्पत्तिं भिद्यते ।

आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधितः ॥’

अत्र भगवतः प्रियत्वादीनां वास्तवत्वाद् ग्रहीतृभेदाच्च न मालारूपकम् । न च भ्रान्तिमान्, न चायमभेदे भेद इत्येवंरूपातिशयोक्तिः । तथा हि—‘अन्य-

अनुवाद—‘उल्लेख’ वह अलङ्कार है जिसे कहीं ज्ञातृभेद से अथवा विषय भेद से, एक वस्तु का, अनेक प्रकार का उल्लेख अर्थात् ज्ञान अथवा वर्णन कहा करते हैं ।

क्रमशः उदाहरण—

‘भगवान् कृष्ण का दर्शन कर, युवनी गोपिओं ने उनमें प्रियतम का, वृद्ध गोपों ने शिशु का, देवों ने अधीश्वर का, भक्तों ने नारायण का और योगियों ने परात्पर ब्रह्म का दर्शन किया ।’

यहाँ ‘उल्लेख’ स्पष्ट है क्योंकि भगवान् कृष्णरूप वस्तु तो एकरूप ही है किन्तु उसमें प्रियत्वादिरूप अनेक धर्म हैं जिनके कारण उसका अनेक प्रकार का अनुभव किंवा वर्णन हो रहा है ।

यहाँ इस प्रकार के ‘उल्लेख’ अथवा अवधारणा का एक निमित्त है और वह निमित्त गोपी प्रभृति दर्शकों की रुचि आदि का भेद है । ‘उल्लेख’ के निमित्तों के सम्बन्ध में (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में) यह कहा गया है—

‘चाहे वस्तु एक ही क्यों न हो किन्तु उसका अनुसन्धानसाधित अथवा मनःप्रवणता पूर्वक ज्ञान द्वारा सम्भूत भी आभास रुचि-भेद, प्रयोजन-भेद और भावना-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का ही हुआ करता है ।’

(जिसके देखते यह स्पष्ट है कि ‘प्रिय इति’ आदि सूक्ति में, कृष्णरूप वस्तु का विविध आभास वर्णित है जिसमें ‘उल्लेख’ की रूपरेखा निखर रही है ।) यहाँ न तो ‘मालारूपक’ की शङ्का होनी चाहिये और न ‘भ्रान्तिमान्’ की और न अतिशयोक्ति की ही, क्योंकि भगवान् कृष्ण के प्रियत्व आदि धर्म आरोपित नहीं अपितु वास्तविक हैं और साथ ही साथ यहाँ भगवान् कृष्ण के प्रियत्व आदि विविध धर्मों के दर्शक एक नहीं अपि तु अनेक निर्दिष्ट हैं (जो कि भ्रान्त नहीं अपि तु सर्वथा निर्भ्रान्त हैं और रुच्यादिभेद से कृष्ण को

देवाङ्गलावण्यम्—' इत्यादौ लावण्यादेर्विषयस्य पृथक्त्वेनाध्यवसानम् । न चेह भगवति गोपवधूप्रभृतिभिः प्रियत्वाद्यध्यवसीयते प्रियत्वादेर्भगवति तत्काले तात्त्विकत्वात् । केचिदाहुः—'अयमलङ्कारो नियमेनालङ्कारान्तरविच्छित्तिमूल' । उक्तोदाहरणे च शिशुत्वादीनां नियमनाभिप्रायात्प्रियत्वादीनां भिन्नत्वाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिरस्ति, तत्सद्भावेऽपि ग्रहीतृभेदेन नानात्वप्रतीतिरूपो विच्छित्ति-विशेष उल्लेखाख्यभिन्नालङ्कारप्रयोजक । श्रीकण्ठजनपदवर्णने—'वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः, अम्बरविवरमिति वातिकैः' इत्यादिश्चातिशयोक्तैर्विविक्तो विषय । इह च रूपकालङ्कारयोगः ।'

वस्तुतस्तु—'अम्बरविवरम्—' इत्यादौ भ्रान्तिमन्तमेवेच्छन्ति न रूपकम् । भेदप्रतीतिपुरःसरस्यैवारोपस्य गौणीमूलरूपकादिप्रयोजकत्वान् ।

भिन्न-भिन्न रूप में देख रहे हैं । अतिशयोक्ति (अथवा वस्तुतः) भेद में भेदरूपा अतिशयोक्ति) भी यहाँ हमलिये नहीं हो सकती क्योंकि जैसे 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में नायिका के प्रकृत नारीमुलभ लावण्य को ही अप्रकृत क्षमाधारण लावण्य के रूप में अध्यवसित अथवा निश्चितरूप से प्रतिपादित किया जा रहा है वैसे यहाँ भगवान् कृष्ण में गोपवधू प्रभृति के द्वारा प्रियत्व आदि का अध्यवसान नहीं किया जा रहा है । भगवान् कृष्ण का प्रियत्व आदि तो, गोपी आदि के स्थितिकाल में, वास्तविक अथवा तात्त्विक रूप का है (न कि काल्पनिक रूप का) ।

'उल्लेख' अलङ्कार के सम्बन्ध में कतिपय काव्याचार्यों का यह भी कथन है—'उल्लेख' ऐसा अलङ्कार है जो कि नियमत अन्य अलङ्कारों के चमत्कारों के आधार पर बना करता है । इस प्रकार 'प्रिय इति' आदि सूक्ति में, ऐसा नहीं कि 'अतिशयोक्ति' न हो क्योंकि 'कृष्ण गोपवधू के लिये ही शिशु है' आदि रूप से, कृष्ण में जो 'शिशुत्व' आदि धर्मों का नियम-निर्धारण है, उसमें यह स्पष्ट है कि कृष्ण के प्रियत्वादि धर्मों में शिशुत्वादिक धर्मों का अध्यवसान अथवा भेद-निश्चय किया जा रहा है जिसमें भेद में भेदरूपा 'अतिशयोक्ति' बन चुकी है । किन्तु इस 'अतिशयोक्ति' के होने पर भी यहाँ एक और भी विचित्रता है जो कि ज्ञातृभेद से कृष्णरूप एक वस्तु के नानाविध आनाम के रूप में दिखायी दे रही है और इस विचित्रता के कारण, यह मानना पड़ता है कि यहाँ 'अतिशयोक्ति' से भिन्न एक और ही अलङ्कार है और यह अलङ्कार 'उल्लेख' है । हम दृष्टि में (महाकवि याज्ञरचित 'हर्षचरित' में) 'श्रीकण्ठजनपद' के वर्णन में आयी, 'शरणागतों ने नगर को, वज्रपञ्जर समझा, पातकों (गतिजनास्त्रिजों) ने अम्बरविवर (अम्बरविषा = रान) समझा' आदि सूक्ति में भी, 'उल्लेख' अलङ्कार की ही शोभा दिखायी देती है किन्तु यहाँ जो 'उल्लेख' है उसका मूल अतिशयोक्ति नहीं अपितु 'रूपक' अलङ्कार है (क्योंकि श्रीकण्ठजनपद पर वज्रपञ्जरत्व, अम्बरविवरत्व आदि का भेददारोप दिया हुआ है न कि लभेदाध्यवसान) ।'

घेमे, श्रीकण्ठजनपद-वर्णन की उपर्युक्त सूक्ति में जैसा कि कुछ काव्यमर्मज्ञों का कहना है, वस्तुतः जो अलङ्कार है वह 'भ्रान्तिमान' है (जिसके आधार पर 'उल्लेख' की रूपरेखा पड़ी है), न कि 'रूपक' क्योंकि गौणी लक्षणा के आधार पर निर्भर 'रूपक' के लिये जिस 'भेददारोप' की आवश्यकता हुआ करती है उसका नियामक भेदपुरस्सर अथवा भेददर्शनपूर्वक भेददारोप है (जिसकी यहाँ कोई समावना नहीं और जिस लभेदारोप

यदाहुः शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्याने श्रीवाचस्पतिमिश्राः—‘अपि च परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तते इति यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्तोः संप्रतिपत्तिः स गौणः, स च भेदप्रत्ययपुरःसरः’ इति । इह तु वातिकानां श्रीकण्ठजनपदवर्णने भ्रान्तिकृत एवाम्बरविवराद्यारोप इति ।

अत्रैव च ‘तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वेश्याभिः’ इत्यादौ परिणामालङ्कारयोगः ।

(विषयभेदनिबन्धन उल्लेख)

‘गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः ।’

इत्यादौ चानेकधोल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेद प्रयोजकः । अत्र च रूपकयोगः । ‘गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि, अर्जुनो यशसि—’ इत्यादिषु चास्य रूपकाद्विविक्तो विषय इति । अत्र हि श्लेषमूलातिशयोक्तियोगः ।

की यहाँ सभावना है वह अमपुरस्सर अभेदारोप है जो कि ‘भ्रान्तिमान्’ का नियामक हो सकता है) । अब गौणी लक्षणा क्योंकि भेदपुरस्सर अभेदारोप में ही संभव है इसके लिये (भगवत्पाद द्वाक्षराचार्यकृत) ‘शारीरक मीमांसाभाष्य’ की ‘भामती’ व्याख्या में, श्रीवाचस्पति मिश्र की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘शब्द का गौणी लक्षणारूप व्यापार वहाँ रहा करता है जहाँ, प्रयोक्ता (वक्ता) और प्रतिपत्ता (श्रोता) का यह अनुभव हुआ करता है कि भिन्न अर्थ के वाचक शब्द को, सादृश्य के रूप में प्रतीत धर्म के सम्यन्ध से, भिन्न अर्थ में व्यवहृत किया गया है । इस प्रकार गौणीलक्षणारूप शब्दव्यापार में भेदप्रतीति का पुट अनिवार्य है ।’

अब, श्रीवाचस्पति मिश्र की उपर्युक्त ‘गौणी’मीमांसा के देखते यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि श्रीकण्ठजनपदवर्णन में, श्रीकण्ठजनपद पर ‘वज्रपक्षर’, ‘असुरविवर’ आदि का जो आरोप है वह भेदप्रतीतिपुरस्सर नहीं अपितु भ्रान्तिपुरस्सर ही है (जिससे यहाँ ‘भ्रान्तिमान्’ अलङ्कार के योग से ‘उल्लेख’ मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है) ।

श्रीकण्ठजनपद वर्णन के प्रसङ्ग में ही ‘मुनिर्भो द्वारा (नगर) तपोवन समझा गया, वेश्याभो द्वारा कामायतन समझा गया’ आदि उक्ति में भी ‘उल्लेख’ ही अलङ्कार है किन्तु इसके मूल में ‘परिणाम’ अलङ्कारका वैचित्र्य पड़ा है (न कि रूपक अथवा भ्रान्तिमान् का) ।

इसी प्रकार विषयभेद में ‘उल्लेख’ का उदाहरण यह है—

‘महाराज ! आप गम्भीरता में समुद्र हैं और गौरव में पर्वत “आदि” ।’

यहाँ प्रकृत भूपाल का समुद्र आदि रूप में जो उल्लेख है उसका कारण गाम्भीर्य आदि-आदि धर्मों का भेद है जिससे इसे रूपकयोगमूलक ‘उल्लेख’ कहा जा सकता है ।

इसी प्रकार (हर्षचरित के) ‘वचन में गौरवयुक्त और बृहस्पतिरूप, वचस्थल में विशाल और पृथुराजरूप, यश में स्वच्छ और अर्जुनरूप’ आदि प्रसङ्गों में जो अलङ्कार है वह विषयभेदनिबन्धन ‘उल्लेख’ ही है जिसके मूल में श्लेषमूलक अतिशयोक्ति का योग पड़ा है ‘रूपक’ का नहीं (क्योंकि यहाँ ‘स्वप्न’ आदि विषय के निगारण और ‘समुद्र’ आदि विषयों के अध्यवसान की सी कोई भी बात नहीं दिखायी देती) ।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज का उल्लेख विमर्श बड़ा सुन्दर और सारगर्भित है । इसमें अलङ्कारसर्वस्व का आधार सर्वत्र स्पष्ट है । आचार्य रूयक ने स्पष्ट कहा है—

‘यत्रैक वस्तु अनेकधा गृह्यते सा रूपवाहुस्योल्लेखनादुल्लेख । न चेदं निर्निमित्त

(१०—अपहृति)

प्रकृतं प्रतिपिध्यान्यस्थापनं न्यादपहृतिः ।

इय द्विधा । कचिदपहवपूर्वक आरोप , कचिदारोपपूर्वकोऽपहव इति ।
क्रमेणोदाहरणम्—

(अपहवपूर्वक आरोप में 'अपहृति')

'नेद नभोमण्डलमन्धुराग्निनेताश्च तारा नवफेनभङ्गा ।

नाय शशी कुण्डलित फणीन्द्रो नासौ कलङ्क शयितो मुरारि ।'

(आरोपपूर्वक अपहव में 'अपहृति')

'एतद्विभाति चरमाचलचूडचुम्बि

डिण्डीर-पिण्ड-रुचि-शीतमरोचिन्मिवम् ।

उज्ज्वालितस्य रजनीं मदनानलस्य

धूम दधत्प्रकटलाङ्घनकैतवेन ॥'

इद पद्य मम ।

एवम्—

'विराजति व्योमवपुः पयोधिस्तारामयास्तत्र च फेनभङ्गा ।' इत्यागाकारेण
च प्रकृतनिषेधो बोध्यः ।

सुहृदेष्वमात्रमपि तु नानाविधधर्मयोगित्वात्प्रयत्नमित्तवशादेन च द्रियते । तत्र न्ययधिय-
व्युत्पत्तयो यथायोग्य प्रयोजिता ।'

अनुवाद—'अपहृति' वह अलङ्कार है जिसे प्रकृत (उपमेय) के (गन्धन अथवा
अर्थन) प्रतिषेध अथवा अन्वयव्यवस्थापन के साथ, अप्रकृत (उपमान) का आहार्य
निश्चय कहा गया है । इसके भी दो प्रकार हैं—(१) अपहव अथवा उपमेय-प्रतिषेध
पूर्वक आरोप (उपमान-व्यवस्थापन) और (२) आरोप अथवा उपमान-स्थापनपूर्वक
अपहव अर्थात् उपमेय-प्रतिषेध । क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'यह गगनमण्डल नहीं, यह तो जीरमागर है, ये तारागण नहीं, ये तो फेनभङ्ग
हैं, यह चन्द्रमा नहीं, यह तो कुण्डल यौधे दोषनाग है और या कलङ्क नहीं, यह तो
शयन करते भगवान् शिशु हैं ।'

[यहाँ शब्दों अपहवपूर्वक आरोप स्पष्ट है क्योंकि नन्धुष्टय के उपादान से,
नभोमण्डल आदि 'प्रकृत' का प्रतिषेध करके 'जीरमागर' आदि अप्रकृत की स्थापना
की गयी है ।]

'अन्ताचल' के निम्न पर विराजमान, यह फेनविच्छेद चन्द्र जिह्व के समान
रहा है जैसे स्पष्ट उदयमान पल्लव के उदगने, रातभर उल्लास तक्षमेयों जमाति की
प्रमत्तता धारण कर रहा हो ।'

यह स्वरचित नृक्ति है (इसमें अर्थन आनेपूर्वक अपहव स्पष्ट है क्योंकि 'धूम'
स्वर अप्रकृत का आरोप करके 'कलङ्क' स्वर प्रकृत का अपहव किया गया है और
नन्धुष्टय अभाव में, 'दधत्' पद के अर्थमानर्पण से ही, प्रकृत का प्रतिषेध भी स्वरचित
दिखाई दे रहा है ।

प्रकृत प्रतिषेध की और भी विचित्रताये सम्भव हैं जिन्हें 'अपहृति' कहा जा रहा है ।

(अपह्नुति का प्रकारान्तर)

गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ॥ ३८ ॥

यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत्साप्यपह्नुतिः ।

श्लेषेण यथा—

‘काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।

उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः ॥’

अत्र ‘अपतितया’ इत्यत्र पतिं विनेत्युक्त्वा पश्चात्पतनाभावेन इत्यन्यथा कृतम् ।

करता है। जैसे कि ‘यह तो आकाश के रूप में क्षीरसागर है जिसमें तारारूप में फेन दिखायी पड़ रहे हैं।’ आदि प्रकृत के प्रतिषेध की एक विचित्रता है और इस प्रकार के प्रकृतप्रतिषेध में भी ‘अपह्नुति’ की ही रूपरेखा रहा करती है।

विमर्श—‘अपह्नुति’ का अभिप्राय आरोपविषय (उपमेय) के अपह्नुत में आरोप्यमाण (उपमान) की प्रतीति है जिसकी बन्धच्छाया तीन रूपों की है—(१) अपह्नुतपूर्वक आरोप, (२) आरोपपूर्वक अपह्नुत और (३) छलादि शब्द से अपह्नुतनिर्देश। आचार्य रुच्यक का इसीलिये कथन है—

‘आरोपप्रस्तावादारोपविषयापह्नुतावारोप्यमाणप्रतीतापह्नुत्याख्योऽलङ्कारः । तस्य च त्रयो बन्धच्छाया—अपह्नुतपूर्वक आरोप, आरोपपूर्वकोऽपह्नुत, छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्नुतनिर्देशः । पूर्वोक्तभेदद्वये वाक्यभेदः । तृतीयभेदे त्वेकवाक्यम् ।’

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ६३)

‘अपह्नुति’ में सादृश्यनिबन्धन अथवा सवन्धान्तरनिबन्धनआरोप आवश्यक है। इसमें सादृश्यनिबन्धन आरोप में साधारणधर्म की एकरूपता किंवा विम्बप्रतिविम्बरूपता—दोनों सम्भव हैं। साधारणधर्म की विम्बप्रतिविम्बरूपता में आरोपधर्म ‘अपह्नुत’ का दृष्टान्त यह सुन्दर सूक्ति है—

‘न ज्योत्स्नाभरणं नभो न मिलितच्छायापयो वाम्बुदो

नो ताराप्रकरो न चेदममृतज्योतिष्मतो मण्डलम् ।

क्षीरक्षोभमयोऽप्यपांनिधिरसौ नेत्राहिना मन्दरः

पृक्तोऽयं मणिपूरा एष कलशश्चाय सुधानिर्झरः ॥’

अनुवाद—‘अपह्नुति’ का एक प्रकारविशेष वह है जिसमें, किसी गोपनीय उद्देश्य का, किसी प्रकार, द्योतन करके, पुनः श्लेष द्वारा अथवा प्रकारान्तर से, अन्य अभिप्राय के रूप में प्रकाशन हुआ करता है।

जैसे कि श्लेष द्वारा गोपनीय अर्थ के द्योतनपूर्वक अन्यथाकरण में अपह्नुति—

‘(वियोगिनी की उक्ति है—) मेघों का यह समय है, इस समय बिना प्रियतम के

(अपतितया) जीना कठिन है (नैव शक्यते स्थातुम्)। (सखी कहती है—) अरी चपले ! इतनी उत्कण्ठित क्यों हो गयी ? (वियोगिनी-उत्तर देती है—) अरी सखी ! ऐसी बात नहीं। रास्ता पिछलहर है (अपतितया स्थातुं न शक्यते—) चलने पर गिर पडना आवश्यक होगा ।’

यहाँ ‘अपतितया’ (अविद्यमान सनिधौ अवर्तमानः पतिर्यस्याः सा अपतिस्तस्या अपतिता स्या) में ‘पतिविना’ पद से एक गोपनीय अर्थविशेष को प्रकाशित करके,

अरलेपेण यथा—

‘इह पुरोऽनिलकम्पितविप्रहा
मिलति का न वनस्पतिना लता ।
स्मरसि किं सखि ! कान्तरतोत्सवं
नहि घनागमरातिदगाहता ॥’

यकोक्तौ परोक्षेन्यथाकार इह तु स्वोक्तेरेवेति भेदः । गोपनहृता गोपनी
यस्यापि प्रथममभिहितत्वाच्च व्याजास्ते ।

पुनः श्लेषे ने, (अपतितया न वनिता अपतिता तया) उमे ‘घनाभावा’ रूपे ने द्विरादा
ला रहा है ।

इसी प्रकार, बिना श्लेष के, किसी प्रकाशित होते गोपनीय अर्थ के अन्यथाकरण
अथवा अपहृति में ‘अपहृति’ का उदाहरण यह है—

‘(नायिका की उक्ति—) अरी मर्त्य ! ऐसी कौन सी लता है जो जामात की रूप
हवा में खँखरी हुई किसी वनस्पति में नहीं मट जाती ? (सखा की उक्ति—) अरी यश !
ऐसा तो नहीं कि हमें देख नू अपने प्रियतम के साथ अपना रतिविहार दाद कर उठी ।
(नायिका की उक्ति—) नहीं नहीं, मेने तो प्रसन्न के स्वभाव के धारे में कहा ।’

यहाँ ‘यकोक्ति’ की आशङ्का इसलिए नहीं होती चाहिये क्योंकि ‘यकोक्ति’ में तो
दूसरे की उक्ति का अन्यथाकरण हुआ करता है और यहाँ, जहाँ कि स्पष्ट है, अपनी ही
उक्ति का दूसरा अर्थ लिया जाया करता है । यहाँ ‘व्याजोक्ति’ की भी कोई सम्भावना
नहीं क्योंकि यहाँ यान् द्विरानेवाला गोपनीय बात को पहले ही कह दिया करता है
(जब कि ‘व्याजोक्ति’ में गोपनीय बात पहले नहीं कही जाती है) ।

विमर्श—‘अपहृति’ का अनुसंधान प्रमाणों का अनुसंधान ही मान्य नहीं । वाक्य श्रुति
में इन च उक्ति में का निम्नान् अर्थान् निश्चित है कि वाक्यार्थ (= २०४) का निम्न
अर्थों से स्पष्ट है—

‘अपहृतिरपहृतिः सिद्धिदन्त्यर्थमन्वयः ।

न पक्षेषु स्मरस्तस्य सद्यः परिणामिति ॥’

यहाँ नायिका-वक्ता ने, ‘अपहृति’ का अनुसंधान ही मान्य नहीं । वाक्य श्रुति
में इन च उक्ति में का निम्नान् अर्थान् निश्चित है कि वाक्यार्थ (= २०४) का निम्न
अर्थों से स्पष्ट है—

‘अपहृति’ के दो अर्थों में तो ‘अपहृति’ अर्थान् निश्चित है कि वाक्यार्थ (= २०४) का निम्न
अर्थों से स्पष्ट है कि वाक्यार्थ (= २०४) का निम्न अर्थों से स्पष्ट है कि वाक्यार्थ (= २०४) का निम्न
अर्थों से स्पष्ट है कि वाक्यार्थ (= २०४) का निम्न अर्थों से स्पष्ट है कि वाक्यार्थ (= २०४) का निम्न

‘अपहृतिरपहृतिः सिद्धिदन्त्यर्थमन्वयः ।

‘राजकन्यानुपसृष्टा मा रमोद्भवेन ररहा ।

अपहृतिरपहृतिः सिद्धिदन्त्यर्थमन्वयः ।

अथ राजकन्यानुपसृष्टा मा रमोद्भवेन ररहा मा रमोद्भवेन ररहा मा रमोद्भवेन ररहा मा रमोद्भवेन ररहा
यानि लक्षणादिना स्मरस्तस्य सद्यः परिणामिति । न घनये, स्मरस्तस्य सद्यः परिणामिति
यानि लक्षणादिना स्मरस्तस्य सद्यः परिणामिति । न घनये, स्मरस्तस्य सद्यः परिणामिति

(मध्यमः परिच्छेदः)

(११—निश्चय)

अन्यन्निपिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ॥ ३९ ॥

निश्चयाख्योऽयमलङ्कारः। अन्यदित्यारोप्यमाणम् ।

यथा मम—

‘वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते ।

इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर ! मुदा किं परिभ्रमसि ॥’

यथा वा—

‘हृदि विसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः

कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ।

मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि

प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग ! क्रुधा किमु धावसि ॥’

न ह्ययं निश्चयान्तं संदेहः, तत्र संशयनिश्चययोरेकाश्रयत्वेनावस्थानात् । अ
तु भ्रमरादेः संशयो नायकादेर्निश्चयः । किञ्च न भ्रमरादेरपि संशयः एक

अनुवाद—‘निश्चय’ वह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के निषेध के साथ प्रकृत का आहार्य
निश्चय कहा करते हैं ।

(प्रकृतनिषेध के साथ अप्रकृत के आहार्यनिश्चय में अपहृति कल्पना की भाँति,
अप्रकृतनिषेध के साथ प्रकृत का आहार्यनिश्चय) ‘निश्चय’ नामक एक अलङ्कार है । यहाँ
(कारिका में) ‘अन्यत्’ का अभिप्राय आरोप्यमाण (अथवा उपमान) का अभिप्राय है ।

इसका उदाहरण यह स्वरचित सूक्ति है—

‘यह मुख है कमल नहीं, ये नयन हैं इन्दीवर नहीं । अरे भ्रमर ! इस मुग्धावी
सुन्दरी के पास, इतनी प्रसन्नता के साथ, क्यों घूम रहा है ?’

अथवा यह सूक्ति—

‘अरे अनङ्ग ! मैं प्रियतमा के वियोग में एक विरही जीव ठहरा, मेरे हृदय पर कमल-
नाल का यह हार है, सर्पराज वासुकि नहीं, मेरे गले में नीलकमल के किसलय पर्व हैं,
हलाहल की काली कान्ति नहीं और मेरे शरीर में चन्दन का चूर्ण लगा है, भस्म नहीं ।
मुख पर भला शङ्कर के अम से, तू क्यों क्रोधपूर्वक दौड़ पड़ना चाहता है ।’

[यहाँ ‘वदनमिदम्’ आदि में उपमेयभूत वदन और नयन के आहार्यनिश्चय के साथ
उपमानभूत ‘सरोज’ और ‘इन्दीवर’ का निषेध है और ‘हृदि विसलताहारः’ आदि में
उपमेयभूत ‘विसलता’ आदि के स्थापन के साथ उपमानभूत ‘भुजङ्गमनायक’ का प्रतिषेध
है जिसमें ‘निश्चय’ की रूपरेखा स्पष्ट है ।]

‘निश्चय’ और ‘निश्चयान्त संदेह’ परस्पर भिन्न अलङ्कार हैं । ‘निश्चयान्त संदेह’ में
ऐसा होता है कि ‘संशय’ और ‘निश्चय’ दोनों एक ही आश्रय पर (एक ही व्यक्ति में)
अवस्थित रहते हैं । किन्तु ‘निश्चय’ में, जैसा कि उपर्युक्त ‘वदनमिदम्’ आदि सूक्ति में
स्पष्ट है, ‘संशय’ के आश्रय भ्रमर आदि हैं और निश्चय के आश्रय (वक्ता) नायक
आदि । वैसे तो वस्तुतः भ्रमर में भी यहाँ संशय नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि
भ्रमर के हृदय में संशय हो, जो कि यहाँ वदन और सरोजरूप कोटिद्वयावगाही ज्ञान है,
तब यह कैसे संभव है कि वह वदन और नयन के पास पहुँचे (क्योंकि भ्रमर के लिये
। करना तभी संभव है जब कि वह निस्सदिग्ध हो) ।

(११—निश्चय)

अन्यन्निपिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ॥ ३९ ॥

निश्चयाख्योऽयमलङ्कारः ॥ अन्यदित्यारोप्यमाणम् ।

यथा मम—

‘वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते ।

इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर ! मुदा किं परिभ्रमसि ॥’

यथा वा—

‘हृदि विसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः

कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ।

मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि

प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग ! क्रुधा किमु धावसि ॥’

न ह्ययं निश्चयान्तः संदेहः, तत्र संशयनिश्चययोरेकाश्रयत्वेनावस्थानात्
तु भ्रमरादेः संशयो नायकादेर्निश्चयः । किञ्च न भ्रमरादेरपि संशयः

अनुवाद—‘निश्चय’ वह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के निपेध के साथ प्रकृत का अ
निश्चय कहा करते हैं ।

(प्रकृतनिपेध के साथ अप्रकृत के आहार्यनिश्चय में अपहृति कल्पना की
अप्रकृतनिपेध के साथ प्रकृत का आहार्यनिश्चय) ‘निश्चय’ नामक एक अलङ्कार है
(कारिका में) ‘अन्यत्’ का अभिप्राय आरोप्यमाण (अथवा उपमान) का अभिप्रा
इसका उदाहरण यह स्वरचित सूक्ति है—

‘यह मुख है कमल नहीं, ये नयन हैं इन्दीवर नहीं । अरे भ्रमर ! इस सु
सुन्दरी के पास, इतनी प्रसन्नता के साथ, क्यों घूम रहा है ?’

अथवा यह सूक्ति—

‘अरे अनङ्ग ! मैं प्रियतमा के वियोग में एक विरही जीव ठहरा, मेरे हृदय पर
नाल का यह हार है, सर्पराज वासुकि नहीं, मेरे गले में नीलकमल के किसलय
हलाहल की काली कान्ति नहीं और मेरे शरीर में चन्दन का चूर्ण लगा है, भस्म
सुप्त पर भला शङ्कर के भ्रम से, तू क्यों क्रोधपूर्वक दौड़ पड़ना चाहता है ।’

[यहाँ ‘वदनमिदम्’ आदि में उपमेयभूत वदन और नयन के आहार्यनिश्चय :
उपमानभूत ‘सरोज’ और ‘इन्दीवर’ का निपेध है और ‘हृदि विसलताहारः’ अ
उपमेयभूत ‘विसलता’ आदि के स्थापन के साथ उपमानभूत ‘भुजङ्गमनायक’ का प्र
है जिसमें ‘निश्चय’ की रूपरेखा स्पष्ट है ।]

‘निश्चय’ और ‘निश्चयान्त संदेह’ परस्पर भिन्न अलङ्कार हैं । ‘निश्चयान्त सं
ऐसा होता है कि ‘संशय’ और ‘निश्चय’ दोनों एक ही आश्रय पर (एक ही व्यक्ति
अवस्थित रहते हैं । किन्तु ‘निश्चय’ में, जैसा कि उपर्युक्त ‘वदनमिदम्’ आदि स
स्पष्ट है, ‘संशय’ के आश्रय भ्रमर आदि हैं और निश्चय के आश्रय (वक्ता)
आदि । वैसे तो वस्तुतः भ्रमर में भी यहाँ संशय नहीं माना जा सकता क्योंकि
भ्रमर के हृदय में संशय हो, जो कि यहाँ वदन और सरोजरूप कोटिद्वयावगाही इ
तब यह कैसे संभव है कि वह वदन और नयन के पास पहुँचे (क्योंकि भ्रमर के
ऐसा करना तभी संभव है जब कि वह निस्संदिग्ध हो) ।

(११—निश्चय)

अन्यन्निपिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ॥ ३९ ॥

निश्चयाख्योऽयमलङ्कारः ॥ अन्यदित्यारोप्यमाणम् ।

यथा मम—

‘वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते ।

इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर ! मुदा किं परिभ्रमसि ॥’

यथा वा—

‘हृदि विसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः

कुचलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ।

मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि

प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग ! क्रुधा किमु धावसि ॥’

न ह्ययं निश्चयान्तः सदेहः, तत्र संशयनिश्चययोरेकाश्रयत्वेनावस्थानात् । अ
तु भ्रमरादेः संशयो नायकादेर्निश्चयः । किञ्च न भ्रमरादेरपि संशयः एक

अनुवाद—‘निश्चय’ वह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के निषेध के साथ प्रकृत का आहार
निश्चय कहा करते हैं ।

(प्रकृतनिषेध के साथ अप्रकृत के आहार्यनिश्चय में अपहृति कल्पना की गति
अप्रकृतनिषेध के साथ प्रकृत का आहार्यनिश्चय) ‘निश्चय’ नामक एक अलङ्कार है । यह
(कारिका में) ‘अन्यत्’ का अभिप्राय आरोप्यमाण (अथवा उपमान) का अभिप्राय है
इसका उदाहरण यह स्वरचित सूक्ति है—

‘यह मुख है कमल नहीं, ये नयन हैं इन्दीवर नहीं । अरे भ्रमर ! इस मुग्धा
सुन्दरी के पास, इतनी प्रसन्नता के साथ, क्यों घूम रहा है ?’

अथवा यह सूक्ति—

‘अरे अनङ्ग ! मैं प्रियतमा के वियोग में एक विरही जीव ठहरा, मेरे हृदय पर कमल
नाल का यह हार है, सर्पराज वासुकि नहीं, मेरे गले में नीलकमल के किसलय पदों हैं
हलाहल की काली कान्ति नहीं और मेरे शरीर में चन्दन का चूर्ण लगा है, भस्म नहीं
सुप्त पर भला शङ्कर के भ्रम से, तू क्यों क्रोधपूर्वक दौड़ पड़ना चाहता है ।’

[यहाँ ‘वदनमिदम्’ आदि में उपमेयभूत वदन और नयन के आहार्यनिश्चय के साथ
उपमानभूत ‘सरोज’ और ‘इन्दीवर’ का निषेध है और ‘हृदि विसलताहारः’ आदि ।
उपमेयभूत ‘विसलता’ आदि के स्थापन के साथ उपमानभूत ‘भुजङ्गमनायक’ का प्रतिषेध
है जिसमें ‘निश्चय’ की रूपरेखा स्पष्ट है ।]

‘निश्चय’ और ‘निश्चयान्त सदेह’ परस्पर भिन्न अलङ्कार हैं । ‘निश्चयान्त सदेह’
ऐसा होता है कि ‘संशय’ और ‘निश्चय’ दोनों एक ही आश्रय पर (एक ही व्यक्ति में),
अवस्थित रहते हैं । किन्तु ‘निश्चय’ में, जैसा कि उपर्युक्त ‘वदनमिदम्’ आदि सूक्ति में
स्पष्ट है, ‘संशय’ के आश्रय भ्रमर आदि हैं और निश्चय के आश्रय (वक्ता) नायक
आदि । वैसे तो वस्तुतः भ्रमर में भी यहाँ संशय नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि
भ्रमर के हृदय में संशय हो, जो कि यहाँ वदन और सरोजरूप कोटिद्वयावगाही ज्ञान है,
तब यह कैसे संभव है कि वह वदन और नयन के पास पहुँचे (क्योंकि भ्रमर के लिये
ऐसा करना तभी संभव है जब कि वह निस्सदिग्ध हो) ।

कोट्यधिके ज्ञाने, तथा समीपागमनासम्भवात् । तर्हि भ्रान्तिमानस्तु, अन्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्ति । न चेद् तस्याश्चमत्कारविवाचिन्वम्, अपि तु तर्थाश्रयनाय-
वायुक्तेरेवेति सदृश्यमवेद्यम् । किञ्चाविचक्षितेऽपि भ्रमरादेः पतनात् भ्रान्तौ
वा नायिकाचाट्यादिरूपेणैव न भवति न्यायिवेत्ति । न च रूपरूपनिरयम्,
सुखस्य कमलत्वेनानिर्धारणम् । न चापह्नुति प्रस्तुतस्यानिर्देशादिनिष्ठयोग-
यमलङ्कारश्चिरन्तनोच्चात्कारेभ्यः । शुक्तिनाया रजतशिया पतति पुन्ये शुक्तिवेद्य
न रजतमिति कस्यचिदुक्तिर्नायमलङ्कारो वैचित्र्याभावान् ।

ॐ १२—उपेक्षात्कार नम्रमेदनिष्पत्ता ।

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।

वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥ ४० ॥

वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः ।

जातिगुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥ ४१ ॥

किन्तु हमरा यह अभिप्राय नहीं कि यहाँ 'भ्रान्तिमान' मान लिया जाय क्योंकि
'भ्रमर' आदि के हृदय में, नर ज आदि की भ्रान्ति में मरेज आदि के समीप जान की
थान मगन लगने लगती है । क्यों ? हमसे ये कि यहाँ, जवा कि मरदरों का अनुभव है,
भ्रान्ति में कोई चमत्काराधारकता नहीं प्रतीत होती । यहाँ जो भी चमत्कार है वह नायिकादि
की इस प्रकार की उक्ति में ही है क्योंकि यहाँ भ्रमर आदि नायिका-वदन पर दृष्ट पड़े या
न दृष्ट पड़े या भ्रमर आदि के हृदय में भ्रान्ति हो जान हो, नायिका को प्रमत्त करने के
लिए, इस प्रकार की चट्टि नयेया नम्रवे हो और लुचितगन हो । यहाँ 'नम्र-पति'
की भी कोई संभावना नहीं क्योंकि यहाँ नायिका वदन अरु रम्य में नम्र प्रतीत
निर्धारण कहाँ किया जा रहा है ? हममें 'अपह्नुति' भी नहीं पता कि यहाँ प्रकृत (उपमन)
का विषय नहीं किया गया । हमसे ये यहाँ यहाँ माना जा रहा है कि यहाँ न
(निश्चय नामक) अलङ्कार है वह प्राचीन आचार्यों के निश्चित आचार्यों से नि-
ष्पन्न रूप का ही अलङ्कार है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि यहाँ नम्रप्रकार का उपमन प्रतीत
कहा जाय कि 'यह सीप है चाँद नहीं' तो इस प्रकार की उक्ति का निश्चय प्रतीत
माना जाय जाय, क्योंकि इस प्रकार की लीखित नम्रप्रकार प्रतीत प्रतीत प्रतीत
नहीं (और अलङ्कार के लिये उपेक्षा का उदाहरण नम्रप्रकार है) ।

विमर्श—(१) यहाँ उपेक्षा का अलङ्कार है जिसे उपेक्षा के रूप में प्रतीत की सम्भावना
कहा जाये है । हमसे प्रथम दो प्रकार हैं—(१) उपेक्षा और (२) प्रतीत
मानोपेक्षा । हमसे पहली कथा का उपेक्षा यह है जिसमें 'हृद' आदि उपेक्षा-
६३, ६४ माः

उपेक्षा का अलङ्कार है जिसे उपेक्षा के रूप में प्रतीत की सम्भावना
कहा जाये है । हमसे प्रथम दो प्रकार हैं—(१) उपेक्षा और (२) प्रतीत
मानोपेक्षा । हमसे पहली कथा का उपेक्षा यह है जिसमें 'हृद' आदि उपेक्षा-

तदपि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः ।

गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः ॥ ४२ ॥

द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति—

तत्र वाच्योत्प्रेक्षायामुदाहरणं दिङ्मात्रं यथा—

(वाच्योत्प्रेक्षा)

‘ऊरु’ कुरङ्गकटशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति ।

सपताकं कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव ॥’

अत्र विजयस्तम्भस्य बहुवाचकत्वाज्जात्युत्प्रेक्षा।

(वाच्यगुणोत्प्रेक्षा)

‘ज्ञाने मौन क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।

गुणा गुणानुबन्धित्वान्तस्य सप्रसवा इव ॥’

अत्र सप्रसवत्वं गुण ।

वाचक पदों का प्रयोग हुआ करता है और दूसरी अर्थात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वह, जिसमें ‘इव’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों का प्रयोग नहीं हुआ करता । इन दोनों प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में जो ‘उत्प्रेक्ष्य’ वस्तु है वह चतुर्विध है—१ जाति, २ गुण, ३ क्रिया और ४ द्रव्य । इस प्रकार से उत्प्रेक्षाएँ आठ प्रकार की हुईं । ये अष्टविध उत्प्रेक्षाएँ भी उत्प्रेक्ष्य में ‘भावाभिमान’ और ‘अभावाभिमान’ के द्वैविध्य से सोलह प्रकार की हुईं और इन षोडशविध उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण के निमित्त के, गुणरूप और क्रियारूप से, द्विविध होने के कारण उत्प्रेक्षा के ३२ प्रकार हो गये ।

यहाँ पहले ‘वाच्योत्प्रेक्षा’ के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

‘इस मृगनयनी का ऊरु, जिस पर हवा से हिलता अश्रुक लहरा रहा है, ऐसा लगता है मानो कामदेव का वह स्वर्णमय विजयस्तम्भ हो, जिस पर पताका फहरा रही हो ।’

यहाँ ‘वाच्योत्प्रेक्षा’ स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्षावाचक ‘इव’ शब्द प्रयुक्त है । यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह ‘जाति’रूप है क्योंकि ‘विजयस्तम्भ’ एक व्यक्ति का नहीं अपितु अनेक व्यक्तिओं में अनुगत ‘सामान्य’ अथवा ‘जाति’ (‘स्तम्भत्व’) का वाचक शब्द है । (यहाँ इस उत्प्रेक्ष्य में भावाभिमान भी स्पष्ट है क्योंकि ‘विजयस्तम्भ’ भावरूप पदार्थ है । साथ ही साथ यहाँ उत्प्रेक्षण का गुणरूप निमित्त भी है जो कि नायिका के ऊरु का ‘सौन्दर्य’ है ।)

‘महाराज दिलीप में ज्ञान था और ज्ञान के साथ मौन भी । उनमें शक्ति थी और शक्ति के साथ क्षमा भी । उनमें त्याग था और त्याग के साथ आभयश्लाघा का अभाव भी । ऐसा लगता था मानो उनके प्रत्येक गुण, परस्पर निर्विरोध रहते हुए, सहोदर से थे ।’

यहाँ भी वाच्योत्प्रेक्षा स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्षण में ‘इव’ शब्द का प्रयोग किया हुआ है । यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह ‘गुण’रूप है क्योंकि ‘सप्रसव’ पद का अभिप्राय ‘सप्रसवत्व’ गुण का अभिप्राय है (क्योंकि ‘संयोग’, ‘विभाग’ आदि पदों की भाँति ‘प्रसव’ पद भी ‘प्रसवत्व’ का अभिप्राय रखने से गुणवाचक पद है) ।

(वाच्यत्वोपप्रेक्षा)

‘गद्गान्भमि सुरत्राण । तव निशाननिस्त्वन ।

स्नातीवारिवधूवर्गंगमपातनपानकी ॥’

अत्र स्नातीति क्रिया ।

(वाच्यत्वोपप्रेक्षा)

‘मुखमेणीन्डो भाति पूर्णचन्द्र इवापरः ।’

अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तिवाचकत्वाद् द्रव्यशब्दः । एते भावाभिमाने ।

अभावाभिमाने चया—

‘कपोलफलकावस्था’ ऋष्ट भूत्वा तथात्रिधा ।

अपश्यन्ताविवान्योन्यमीन्द्रा क्षानतां गर्ता ॥’

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभाव । एवमन्यन् । निमित्तस्य गुणक्रिया-
रूपत्वे चया—‘गद्गान्भमि’ इत्याद्यौ स्नातीवेत्युपप्रेक्ष निमित्त पानास्त्व गुण ।

‘अपश्यन्तां—’ इत्याद्यौ क्षानतागमनरूप निमित्त क्रिया । एवमन्यन् ।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा चया—

‘सुल्लान् । विजययात्रा का सूचक, भाषके रणयात्र (नष्टारे) का निनाद गद्गारक । स्नान करता-भा एग रहा है मानो उसे शत्रुनारियों के गमनान के महाशक्त का पथित्त करना हो ।’

यहाँ क्रियोपेक्षा है क्योंकि यहाँ जो उपप्रेक्ष है वह ‘स्नान’ नर दिया है । साथ ही साथ ‘इव’ शब्द के प्रयोग में इस उपप्रेक्षा की वाच्यता भी स्पष्ट है ।

‘इस नृगनयनी का मुख ऐसा चमक रहा है मानो दूसरा चन्द्रमा हो ।’

यहाँ ‘द्रव्योपप्रेक्षा’ इसलिये है क्योंकि यहाँ जो उपप्रेक्ष है वह ‘चन्द्र’ शब्द द्वारा तिपादित है और चन्द्र शब्द ऐसा है जो कि एक व्यक्ति का वाचक शब्द है तथा द्रव्य शब्द है ।

ये उपप्रेक्ष उपप्रेक्षाएं ‘भावाभिमानिनी’ हैं क्योंकि इनमें जो भी जायादिनर गुण उपप्रेक्ष है वह ‘भाव’ रूप है (‘अभाव’ नर नहीं) ।

‘उपप्रेक्ष’ के अभावाभिमान में उपप्रेक्षा का वह उदाहरण देखिये—

‘इस विहारी के सुन्दर कपोल, जिनके दृग्य की बात है कि अब, ऐसे दृग्य हा रहे, मानो एक दूसरे को न देख पा रहे हों ।’

यहाँ अभावाभिमान स्पष्ट है क्योंकि ‘अपश्यन्तां’ पद में दर्शन की क्रिया के अभाव ही अस्मिन्निष्ठ निवृत्ता है जो कि उपप्रेक्ष है (और जिसका निमित्त अप्यदिश दृग्या) । इसी भाँति जति, गुण और द्रव्यनर उपप्रेक्षों में अभावाभिमान के उदाहरण लिये जा सकते हैं । इन उपप्रेक्षाओं में उपप्रेक्षन-निमित्त की गुणरूपता और क्रिया-रूपता भी स्पष्ट है क्योंकि जैसे ‘गद्गान्भमि’ भाति कृति में उपप्रेक्ष स्नान क्रिया के निमित्तस्त्व से ‘पानास्त्व’ का गुण प्रतीय हो रहा है वैसे ही ‘अपश्यन्ताविति’ भाति कृति में—अदर्शन क्रिया के निमित्तस्त्व से ‘दृग्याभाति’ की क्रिया प्रतीय हो रहा है ।

एव प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के उदाहरण दिये जा रहे हैं—

तदष्टधापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः ।

गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः ॥ ४२ ॥

द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति—

तत्र वाच्योत्प्रेक्षायामुदाहरणं दिङ्मात्रं यथा—

(वाच्योत्प्रेक्षा)

‘ऊरुः कुरङ्गकदशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति ।

सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव ॥’

अत्र विजयस्तम्भस्य बहुवाचकत्वाज्जात्युत्प्रेक्षा।

(वाच्यगुणोत्प्रेक्षा)

‘ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।

गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥’

अत्र सप्रसवत्वं गुणः ।

वाचक पदों का प्रयोग हुआ करता है और दूसरी अर्थात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वह, जिसमें ‘इव’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों का प्रयोग नहीं हुआ करता । इन दोनों प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में जो ‘उत्प्रेक्ष्य’ वस्तु है वह चतुर्विध है—१ जाति, २ गुण, ३ क्रिया और ४ द्रव्य । इस प्रकार से उत्प्रेक्षार्थों आठ प्रकार की हुईं । ये अष्टविध उत्प्रेक्षाएँ भी उत्प्रेक्ष्य में ‘भावाभिमान’ और ‘अभावाभिमान’ के द्वैविध्य से सोलह प्रकार की हुईं और इन षोडशविध उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण के निमित्त के, गुणरूप और क्रियारूप से, द्विविध होने के कारण उत्प्रेक्षा के ३२ प्रकार हो गये ।

यहाँ पहले ‘वाच्योत्प्रेक्षा’ के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

‘इस मृगनयनी का ऊरु, जिस पर हवा से हिलता अशुक लहरा रहा है, ऐसा लगता है मानो कामदेव का वह स्वर्णमय विजयस्तम्भ हो, जिस पर पताका फहरा रही हो ।’

यहाँ ‘वाच्योत्प्रेक्षा’ स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्षावाचक ‘इव’ शब्द प्रयुक्त है । यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह ‘जाति’रूप है क्योंकि ‘विजयस्तम्भ’ एक व्यक्ति का नहीं अपितु अनेक व्यक्तियों में अनुगत ‘सामान्य’ अथवा ‘जाति’ (‘स्तम्भत्व’) का वाचक शब्द है । (यहाँ इस उत्प्रेक्ष्य में भावाभिमान भी स्पष्ट है क्योंकि ‘विजयस्तम्भ’ भावरूप पदार्थ है । साथ ही साथ यहाँ उत्प्रेक्षण का गुणरूप निमित्त भी है जो कि नायिका के ऊरु का ‘सौन्दर्य’ है ।)

‘महाराज विलीप में ज्ञान था और ज्ञान के साथ मौन भी । उनमें शक्ति थी और शक्ति के साथ क्षमा भी । उनमें त्याग था और त्याग के साथ आत्मश्लाघा का अभाव भी । ऐसा लगता था मानो उनके प्रत्येक गुण, परस्पर निर्विरोध रहते हुए, सहोदर से थे ।’

यहाँ भी वाच्योत्प्रेक्षा स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्षण में ‘इव’ शब्द का प्रयोग किया हुआ है । यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह ‘गुण’रूप है क्योंकि ‘सप्रसव’ पद का अभिप्राय ‘सप्रसवत्व’ गुण का अभिप्राय है (क्योंकि ‘संयोग’, ‘विभाग’ आदि पदों की भाँति ‘प्रसव’ पद भी ‘प्रसवत्व’ का अभिप्राय रखने से गुणवाचक पद है) ।

(वाच्यक्रियोन्प्रेक्षा)

‘गङ्गान्भसि सुरत्राण । तव निःशाननिस्त्वन ।

स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥’

अत्र स्नातीति क्रिया ।

(वाच्यद्रव्योन्प्रेक्षा)

‘मुखमेणीदृशो भाति पूर्णचन्द्र इवापरः ।’

अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तिवाचकत्वाद् द्रव्यशब्दः । एते भावाभिमाने ।

अभावाभिमाने यथा—

‘कपोलफलकावस्था’ वष्ट भूत्वा तथाविधौ ।

अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षा क्षामता गर्ता ॥’

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभाव । एवमन्यन् । निमित्तस्य गुणक्रिया-
रूपत्वे यथा—‘गङ्गान्भसि’ इत्यादौ स्नातीवेत्युत्प्रेक्ष निमित्त पानाक्य गुण ।

‘अपश्यन्ता’— इत्यादौ क्षामतागमनरूप निमित्त क्रिया । एवमन्यन् ।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

‘सुस्तान ! विजययात्रा का सूचक, आपके रजवाघ (नष्टारे) का निनाद गङ्गाजल
में स्नान करता-सा दग रहा है मानो उसे शत्रुनारियों के गर्भपात के महापातक का
प्रायश्चित्त करना हो ।’

यहाँ क्रियोन्प्रेक्षा है क्योंकि यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह ‘स्नान रूप क्रिया है । माय ही
साथ ‘इव’ शब्द के प्रयोग में इस उत्प्रेक्षा की वाच्यता भी स्पष्ट है ।

‘इम नृगनयनी का मुख ऐसा चमक रहा है मानो दूसरा चन्द्रमा हो ।’

यहाँ ‘द्रव्योत्प्रेक्षा’ इसलिये है क्योंकि यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह ‘चन्द्र’ शब्द द्वारा
प्रतिपादित है और चन्द्र शब्द ऐसा है जो कि एक व्यक्ति का वाचक शब्द है अर्थात्
‘द्रव्य’ शब्द है ।

ये उपर्युक्त उत्प्रेक्षाएं ‘भावाभिमानिनी’ हैं क्योंकि इनमें जो भी जायादिन्य वस्तु
उत्प्रेक्ष्य है वह ‘भाव रूप है (‘अभाव रूप नहीं) ।

‘उत्प्रेक्ष्य’ के अभावाभिमान में उत्प्रेक्षा का यह उदाहरण देंगिये—

‘इम विरहिणी के सुन्दर कपोल, कितने दुःख की बात है कि अब, ऐसे वृत्त हो रहे
हैं मानो एक दूसरे को न देख पा रहे हों ।’

यहाँ अभावाभिमान स्पष्ट है क्योंकि ‘अपश्यन्तो’ पद में दर्शन की क्रिया के अभाव
का ही अनिप्राय निकलता है जो कि उत्प्रेक्ष्य है (और जिसका निमित्त व्यापक वृत्तना
है) । इसी भाँति जाति, गुण और उच्यरूप उत्प्रेक्ष्यों में अभावाभिमान के उदाहरण
स्वयं देने जा सकते हैं । इन उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्ष्य-निमित्त की गुणरूपता और क्रिया-
रूपता भी स्पष्ट है क्योंकि जैसे ‘गङ्गान्भसि’ आदि मुक्ति में उत्प्रेक्ष्य स्नान-क्रिया के
निमित्तरूप में ‘पातक्रिा’ का गुण प्रतीत हो रहा है वैसे ही ‘अपश्यन्तादिमि’ आदि
मुक्ति में—अदर्शन क्रिया के निमित्तरूप में ‘वृत्तनाप्राप्ति’ की क्रिया प्रतीत हो रहा है ।

अब प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के उदाहरण देने जा रहे हैं—

‘तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम् ।

हाराय गुणिने स्थान न दत्तमिति लज्जया ॥’

अत्र लज्जयेवेति इवाद्यभावात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । एवमन्यत् ।

ननु ध्वनिनिरूपणप्रस्तावेऽलङ्काराणां सर्वेषामपि व्यङ्ग्यत्वं भवतीत्युक्तम् । सम्प्रति पुनर्विशिष्य कथमुत्प्रेक्षायाः प्रतीयमानत्वम् ? उच्यते—व्यङ्ग्योत्प्रेक्षायाम्—‘महिलासहस्र—’ इत्यादावुत्प्रेक्षणं विनापि वाक्यविश्रान्तिः । इह तु स्तनयोर्लज्जाया असम्भावलज्जयेवेत्युत्प्रेक्षयैवेति व्यङ्ग्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदः ।

अत्र वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडशसु भेदेषु मध्ये विशेषमाह—

—तत्र वाच्याभिदाः पुनः ।

विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः ॥ ४३ ॥

यत्रोक्तेषु वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु मध्ये ये वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडश भेदास्तेषु च जात्यादीनां त्रयाणां ये द्वादश भेदास्तेषां प्रत्येक स्वरूपफलहेतु

‘इस सुन्दरी के स्तनयुग्म ने मानो गुणी (सूत्र में गुम्फित) हार के लिये स्थान न दिया हो, इस लज्जा से अपना मुख ही प्रकट नहीं किया ।’

यहाँ ‘इव’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पद के अभाव में ‘प्रतीयमाना’ उत्प्रेक्षा स्पष्ट है और ‘लज्जया’ पद से निमित्तभूत लज्जारूप गुण की उत्प्रेक्ष्यता भी स्पष्ट है । इसी भाँति अन्य विध प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के उदाहरण स्वयं समक्ष लिये जा सकते हैं ।

यहाँ यह आशङ्का हो सकती है कि जब कि ध्वनि-निरूपण के प्रसङ्ग में सभी वाच्यालङ्कारों की व्यङ्ग्यता का निर्देश किया जा चुका है तब यहाँ ‘उत्प्रेक्षा’ को, अलग से, ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ कहने की क्या आवश्यकता ? इसका समाधान यह रहा—‘व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा’ और ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ एक नहीं अपितु भिन्न काव्यतत्त्व हैं । ‘व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा’ के ‘महिलासहस्र’ आदि उदाहरणों में जो घात दिखायी देती है वह यह है कि वहाँ ‘अमान्तीव’ आदि की सम्भावना के विना भी वाक्यसमाप्ति में कोई झुटि नहीं आती । किन्तु वाच्यालङ्काररूप ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ के ‘तन्वङ्ग्या’ आदि प्रसङ्गों में, जब तक उत्प्रेक्षावाचक ‘इव’ आदि पद का काल्पनिक अध्याहार न किया जाय—क्योंकि अचेतन स्तनों में चेतन के धर्म लज्जा की क्या सम्भावना !—तब तक वाक्यविश्रान्ति ही असंभव लगने लगती है ।

वाच्योत्प्रेक्षा के उपर्युक्त १६ भेदों के कुछ और विशेष अथवा वैचित्र्य मिलते हैं जिसका निरूपण किया जा रहा है—

वाच्योत्प्रेक्षा के भेदों में, द्रव्यमूलक भेद-चतुष्टय को छोड़कर, जाति-गुण और क्रिया मूलक जो १२ भेद हैं उनमें प्रत्येक के तीन तीन भेद हुआ करते हैं—(१) स्वरूपोत्प्रेक्षा, (२) फलोत्प्रेक्षा और (३) हेतुत्प्रेक्षा ।

तात्पर्य यह है वाच्योत्प्रेक्षा और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के जो भेद बताये जा चुके हैं जिनमें वाच्योत्प्रेक्षा के १६ भेद निर्दिष्ट हैं उनमें जाति, गुण और क्रिया—इन तीन उत्प्रेक्ष्य प्रकारों के आधार पर हुए १२ भेद ऐसे हैं जो स्वरूप, फल और हेतुगत होने के कारण कार के हो जाते हैं । द्रव्य का उत्प्रेक्षण द्रव्य-स्वरूप का ही उत्प्रेक्षण हो सकता है

गतत्वेन द्वादशभेदतया षट्त्रिंशद्भेदा । द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव सम्भवतीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिंशद्भेदा ।

अत्र स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा पूर्वोदाहरणेषु 'स्मरस्य विजयस्तम्भ' इति । 'सप्रसवा इव' इत्यादयो जातिगुणस्वरूपगाः । फलोत्प्रेक्षा यथा—

'रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।

विवेश भुवमाख्यातुमुरगोभ्य इव प्रियम् ॥'

अत्राख्यातुमिति भ्रूप्रवेशस्य फल क्रियारूपमुत्प्रेक्षितम् ।

हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वा भ्रष्ट मया नृपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यत त्वचरणारविन्दविश्लेषदु सादिव वद्धमौनम् ॥

अत्र दु स्वरूपो गुणो हेतुत्वेनोत्प्रेक्षित । एवमन्यन् ।

उक्त्यनुक्त्योनिमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः ।

तेषु चत्वारिंशत्स्वख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगाया षोडश भेदास्ते उत्प्रेक्षानिमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद् भेदा इति मिलित्वा षट्षष्ठा-

(द्रव्यफल अथवा द्रव्यहेतु का नहीं) — हमलिये द्रव्यगत वाच्योत्प्रेक्षा के भेद चतुष्टय के साथ जात्यादिगत वाच्योत्प्रेक्षा के ३६ भेदों को मिलाकर ४० प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षाएँ मिल गईं । इन ४० प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षाओं में, स्वरूपगा वाच्योत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिये, पूर्वोदाहृत सूक्तियों में आयी 'स्मरस्य विजयस्तम्भ' आदि सूक्ति ही ली जा सकती हैं जहाँ 'स्तम्भत्व' जाति के स्वरूप की उत्प्रेक्षा स्पष्ट है । इसी प्रकार पूर्वोदाहृत 'जाने मौनम्' आदि में 'सप्रसवा इव' में जो उत्प्रेक्षा है, उसमें गुण स्वरूप का उत्प्रेक्षण देखा जा सकता है । फलोत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति देखिये—

'राम द्वारा चलाये गये बाण ने रावण के भी हृदय को विद्ध कर दिया और मानो इस प्रमत्तता की बात को सपों पर प्रकट करने के लिये, वह पृथिवी में घुस गया ।'

यहाँ भ्रूप्रवेश के फल के रूप में प्रियारथानरूप क्रिया के स्वरूप की उत्प्रेक्षा स्पष्ट है । इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण यह है—

'यही वह जगह है, जहाँ तुम्हें हँदते हुए, सुते पृथिवी पर गिरा हुआ, तुम्हारा एक नृपुर ऐसा नि शब्द दिवायी पड़ा मानो तुम्हारे चरणारविन्द के विश्लेष के दुःख में वह मौन—मूक पड़ा हो ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि दु स्वरूप गुण (वद्धमौनता के) हेतुस्वरूप से उत्प्रेक्षित है ।

इसी प्रकार अन्यविध उत्प्रेक्षाओं के दृष्टान्त स्वयं समझ लिये जा सकते हैं ।

इन उपर्युक्त स्वरूपगत, फलगत तथा हेतुगत वाच्योत्प्रेक्षा-भेदों में 'स्वच्छोत्प्रेक्षा' दो प्रकार की हुआ करती है—(१) 'उक्तनिमित्ता' स्वरूपोत्प्रेक्षा और (२) 'अनुक्तनिमित्ता' स्वरूपोत्प्रेक्षा ।

यहाँ ऐसा समझना चाहिये—'उत्प्रेक्षा' के ४० प्रकार बताये जा चुके हैं । इन ४० प्रकारों में स्वरूपोत्प्रेक्षा के १६ प्रकार हैं । इन १६ प्रकार की स्वरूपोत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण का निमित्त उपात्त भी हो सकता है और अनुपात्त भी । इस प्रकार 'स्वच्छोत्प्रेक्षा' के ३२ भेद सिद्ध हुए । अब 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' के ३० भेद और 'फल उत्प्रेक्षा' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' के

शब्दभेदा वाच्योत्प्रेक्षायाः । तत्र निमित्तस्योपादानं यथा पूर्वोदाहृते 'स्नातीव' इत्युत्प्रेक्षायां निमित्तं पातकित्वमुपात्तम् । अनुपादाने यथा—'चन्द्र इवापरः' इत्यत्र तथाविधसौन्दर्याद्यतिशयो नोपात्तः ।

हेतुफलयोस्तु नियमेन निमित्तस्योपादानमेव, तथा हि—'विश्लेषदुःखादिव' इत्यत्र यन्निमित्तं बद्धमौनत्वम् 'आख्यातुमिव' इत्यत्र च भूप्रवेशस्तयोरनुपादानेऽसङ्गतमेव वाक्य स्यात् ।

प्रतीयमानायाः षोडशसु भेदेषु विशेषमाह—

प्रतीयमानाभेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥ ४४ ॥

यथोदाहृते 'तन्वद्गन्धाः स्तनयुग्मेन' इत्यत्र लज्जयेवेति हेतुरुत्प्रेक्षितः । अस्यामपि निमित्तस्यानुपादानं न सम्भवति । इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकीर्तने उत्प्रेक्षणस्य प्रमातुनिश्चेतुमशक्यत्वात् । स्वरूपोत्प्रेक्षाऽप्यत्र न भवति, धर्मान्तरतादात्म्यनिबन्धनायामस्यामिवाद्यप्रयोगे विशेषणयोगे सत्यतिशयोक्तेरभ्युपगमात् ।

२४ भेदों को मिलाकर ५६ प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षाएँ स्पष्ट हो गयीं । निमित्त के उपादान में, स्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिये, पूर्वोदाहृत 'गङ्गाभसि' आदि सूक्ति में, 'स्नातीव' में जो उत्प्रेक्षा है उसे लिया जा सकता है क्योंकि उसमें उत्प्रेक्षण के निमित्तरूप से 'पातकित्व' का उपादान स्पष्टतया किया हुआ है । निमित्त के अनुपादान में, 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' का उदाहरण पूर्वोदाहृत 'मुखमेणीदृशो भाति' आदि सूक्ति में, 'पूर्णचन्द्र इवापरः' की उत्प्रेक्षा है जहाँ, उत्प्रेक्षण के निमित्तरूप से, असाधारण सौन्दर्य आदि का उपादान नहीं किया गया ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' की भाँति 'फलोत्प्रेक्षा' और 'हेतूत्प्रेक्षा' के भी ३६-३६ भेद नहीं हुआ करते क्योंकि फल और हेतु की उत्प्रेक्षाएँ निमित्त के उपादान के बिना हो ही नहीं सकतीं । 'फलोत्प्रेक्षा' और 'हेतूत्प्रेक्षा' में निमित्त का उपादान नितान्त आवश्यक है । उदाहरण के लिये 'सैषा स्थली' आदि सूक्ति में, 'विश्लेषदुःखादिव' में जो 'हेतूत्प्रेक्षा' है वह तब तक नहीं हो सकती जब तक 'बद्धमौनता' के निमित्त का उपादान न किया जाय । इसी भाँति 'एवास्यापि' आदि सूक्ति में, 'आख्यातुमिव' में जो फलोत्प्रेक्षा है वह तब तक असम्भव है जब तक 'भूप्रवेश'रूप निमित्त उपात्त न हो । यहाँ वस्तुतः बात यह है कि इन उत्प्रेक्षा-भेदों में निमित्त के उपादान के बिना वाक्य ही असंगत हो जाता है (और जब वाक्य असंगत हो गया तो उत्प्रेक्षा कहाँ से संगत हो जाय) ।

अब प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के १६ भेदों के अवान्तर वैशिष्ट्य का विवरण दिया जा रहा है—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के जो १६ भेद हैं उनमें, प्रत्येक के, 'फलगत' और 'हेतुगत' रूप से दो-दो प्रकार हो जाया करते हैं । जैसे कि पूर्वोदाहृत 'तन्वद्गन्धाः स्तनयुग्मेन' आदि सूक्ति में 'मुख (चूचुक) के प्रकट करने' के हेतुरूप से 'लज्जा' की उत्प्रेक्षा की हुई है । 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' में भी निमित्त का उपादान अत्यावश्यक है क्योंकि जब कि यहाँ सावाचक 'इव' आदि पद नहीं और उत्प्रेक्षण का निमित्त भी अनुपात्त हो तब यह

यथा—‘अय राजापर पाकशासन’ इति । (विशेषणाभावे च रूपकस्य,
यथा—‘राजा पाकशासन’ इति ।) तदेव द्वात्रिंशप्रकारा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ।

उक्त्यनुक्तयोः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ता उत्प्रेक्षा । उक्तौ यथा—‘ऊरु कुरङ्गकटश -’ इति ।

अनुक्तौ यथा मन प्रभावत्याम् ‘प्रद्युम्न — इह हि नन्प्रति दिगन्तरमाच्छा-
द्यता तिमिरपटलेन—

घटितमित्राञ्जनपुञ्जैः पूरितमिव नृगमन्त्रोद्वे ।

ततमिव तमालतनुभिर्वृतमिव नीलाशुकैर्भुवनम् ॥’

अत्राञ्जनेन घटितत्वादेरुत्प्रेक्षणीयस्य विषयव्याप्तस्य नोपात्तम् ।

कैसे समझें कि कोई भी यह जान सके कि वहाँ ‘उत्प्रेक्षा’ हुई है । ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ में स्वरूपगत भेद भी असम्भव ही है क्योंकि जब कि ‘स्वरूपोत्प्रेक्षा’ में एकधर्मी के साथ ‘धर्मन्तर’ (अर्थात् अन्य धर्मी) का तादात्म्य अथवा अभेद आवश्यक हो और इस आदि उत्प्रेक्षावाचक पद भी न रहें तथा साथ ही साथ असम्भवविशेषण का भी उपादान हो तब यह सब बचिन्व्य ‘अतिशयोक्ति’ की रूपरेखा का निर्देश कर सकता है न कि उत्प्रेक्षा का ।

जैसे कि ‘यह राजा दूसरा इन्द्र है’ आदि प्रसङ्गों में, स्वरूप एकधर्मी के साथ इन्द्ररूप अन्यधर्मी की तादात्म्यभावना में, ‘अपर रूप असम्भवविशेषण (‘अपर’ विशेषण इसलिये असम्भव है क्योंकि ‘इन्द्र’ एक ही है) का जो योग है (और साथ ही साथ ‘हव’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पद का भी जो अनुपादान है) उसमें ‘अतिशयोक्ति’ ही दिवायी देती है (प्रतीयमाना स्वरूपोत्प्रेक्षा नहीं) और यदि ‘यह राजा इन्द्र है’ आदि कहा जाय, तब असम्भव-विशेषण के अभाव में (और साथ ही साथ ‘हव’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पद के अनुपादान में) जो ‘अलङ्कार’ दिवायी देगा वह (प्रतीयमाना स्वरूपोत्प्रेक्षा नहीं अपितु) ‘रूपक’ अलङ्कार ही होगा । इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ के ३० ही भेद हुआ करते हैं ।

‘उत्प्रेक्षा’ के अन्तर्गत जो भेद निर्दिष्ट किये गये, उन मध्य में प्रस्तुत (प्राकरगिक अथवा उपमेय) की उक्ति और अनुक्ति के भेद से, दो-दो भेद हो जाया करते हैं ।

यहाँ (कारिका में) ‘ता’ का अभिप्राय ‘उत्प्रेक्षा’ के समस्त भेदों का अभिप्राय है (न कि पूर्वसंज्ञा ३० प्रकार की प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का) । उत्प्रेक्षा में ‘प्रस्तुत की उक्ति’ के उदाहरण के लिये ‘ऊरु कुरङ्गकटश’ आदि सूक्ति पर्याप्त हैं (जिसमें प्रस्तुत अथवा उपमेयभूत ‘ऊरु’ स्पष्टतया शब्दतः उपात्त है) । इसी प्रकार ‘प्रस्तुत की अनुक्ति’ में, उत्प्रेक्षा के उदाहरणरूप में, स्वरचित ‘प्रभावती’ नाटिका की यह सूक्ति प्यान देने योग्य है—

‘प्रद्युम्न—इस समय यह अन्धकार दिग्दिगन्त को आच्छादित कर रहा है जिससे ऐसा लगता है—

नानो मारा समार भञ्जनराजि से घना हुआ सा हो, वन्तरीचूर्न से भरा हुआ सा हो, तमालपंखी से घास सा हो और नीलाशुक से आवृत सा हो ।’

यहाँ जो उत्प्रेक्षणीय है अर्थात् उपमानभूत ‘भञ्जनघटितय’ आदि है वह ऐसा है जिसके लिये उपमेयरूप ‘निमिरव्यापन’ आदि शब्दतः उपात्त नहीं ।

यथा वा—

‘लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्पतीवाञ्जन नभः ।’

अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो नोपात्तः । अञ्जनवर्पणस्य तमः सम्पातः । अनयोः उत्प्रेक्षानिमित्तं च तमसोऽतिबहुलत्वं धारारूपेणाधःसंयोगश्च यथासंख्यम् ।

केचित्तु—‘अलेपनकर्तृभूतमपि तमो लेपनकर्तृत्वेनोत्प्रेक्षितं व्यापनं च निमित्तम्, एवं नभोऽपि वर्पणक्रियाकर्तृत्वेन’ इत्याहुः ।

‘प्रस्तुत की अनुक्ति’ में ‘उत्प्रेक्षा’ की रूपरेखा निम्न (मृच्छकटिक) सूक्ति में भी स्पष्ट है—

‘ऐसा लगता है’ जैसे अन्धकार समस्त शरीर को लेप रहा हो और आकाश अञ्जन घरसा रहा हो ।’

यहाँ अन्धकार के ‘लेपन’ रूप उपमान के लिये ‘व्यापन’ रूप प्रस्तुत अथवा विषय का उपादान नहीं किया गया है । इसी प्रकार ‘अञ्जनवर्पण’ रूप उपमान के लिये ‘तमस्संपात’ रूप प्रस्तुत अथवा विषय भी अनुपात्त ही छोड़ दिया गया है । इन दोनों उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षा का निमित्त भी दिया हुआ है जो कि क्रमशः ‘अन्धकार का बाहुल्य’ और उसका ‘धारसम्पातरूप से पृथिवी पर गिरना’ है (इस प्रकार यहाँ—प्रस्तुत की अनुक्ति में, क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का स्वरूप स्पष्ट है) ।

वैसे कुछ काव्याचार्य ‘लिम्पति’ आदि में द्वयोः उत्प्रेक्षा मानते हैं क्योंकि उनका यह कहना है कि यहाँ ‘तिमिर’, जो कि ‘लेपन’ की क्रिया का कर्ता नहीं हो सकता, ‘लेपन’ क्रिया के कर्ता के रूप में उत्प्रेक्षित है जिसके लिये ‘व्यापन’ रूप निमित्त भी प्रतीत हो रहा है और ‘आकाश’ जिसमें ‘वर्पण’ की क्रिया का कर्तृत्व असम्भव है, वर्पण क्रिया के कर्ता के रूप में उत्प्रेक्षित है ।

विमर्श—(क) ‘उत्प्रेक्षा’ की व्युत्पत्ति यह है—‘उत् + प्र + ईच्ता = उत्कृष्टा प्रकृतस्य उपमानस्य ईच्ता ज्ञानमुत्प्रेक्षा’ (उद्योत, पृष्ठ २३) । इस व्युत्पत्ति से ही यह स्पष्ट है कि उत्प्रेक्षा अलङ्कार का चमत्कार किसी ‘प्रकृत’ की उत्कृष्ट ‘अप्रकृत’ के रूप में ‘सम्भावना’ है । ‘सम्भावना’ एक ज्ञानप्रकार है । ‘सम्भावनात्मक ज्ञान’ सशय अथवा भ्रम आदि नहीं अपितु इनसे एक मित्र प्रकार का ही अनुभव है जैसा कि ‘अलङ्कारसर्वस्व’ की ‘विमर्शिनी’ व्याख्या के रचयिता आचार्य जयरथ ने कहा है—

‘उत्प्रेक्षा सम्भावनादिशब्दाभिधेयतर्कप्रतीतिमूलेति नास्याः सदेहमूलत्वम् । तस्य भिन्नलक्षणत्वात् । अथानवधारणज्ञान सशय इत्यनवधारणज्ञानत्वाविशेषात् सशयाच्चायान्तरभावस्तर्कस्थेयस्या सशयमूलत्वमिति चेत् नैतत् । अनवधारणज्ञानत्वाविशेषोऽपि सशयतर्कयोर्मिन्नरूपत्वात् । तथा हि—स्थानुर्वा पुरुषो वेति सामान्येन पक्षद्वयोर्द्वेष्टः सशयः । पुरुषेणानेन भवितव्यमित्येकतरपक्षानुकूलकारणदर्शनेन पक्षान्तरघाघनमिव तर्कः । पुरुष एवायमिति पक्षान्तरसस्पर्शनैकतरपक्षनिर्णयो निश्चय इत्यस्ति सहद्वय-साक्षिकं प्रत्ययाना त्रैविध्यम् । ... अनियतोभयपक्षावलम्बी किं त्विदिति विमर्शः सन्देहः । एकतरपक्षावलम्बी तु तर्क इति । ... तेन सदेहनिश्चयान्तरालवर्ती तद्विलक्षणः सम्भावनाप्रत्ययस्त्रिशङ्कुरिव लम्बमानोऽवश्याभ्युपगन्तव्यः ।’

अर्थात् वैसे तो 'संज्ञात्मक' और 'सम्माननात्मक' दोनों ज्ञान अनिश्चयात्मक (अनवधानात्मक) ज्ञानप्रकार हैं किन्तु दोनों में परस्पर भेद है। 'संज्ञा' में दो पक्षों का उल्लेख अनिवार्य है। 'क्या यह ठूठ है या आदमी' इसी प्रकार का ज्ञान 'संज्ञा' रूप हुआ करता है। किन्तु 'सम्मानना' में, किन्ती कारणवश, दो पक्षों में से एक पक्ष का बाध और एक का प्रतिष्ठापन स्वाभाविक है। 'यह आदमी ही होगा' इस प्रकार का ज्ञान सम्माननात्मक ज्ञान प्रकार है। इस प्रकार दोनों पक्षों के अवलम्बन करनेवाले 'संदेह' और एकपक्षावलम्बी 'तर्क' अथवा 'सम्मानना' को एक मानना अनुचित है इसलिये यह स्पष्ट है कि 'उत्प्रेक्षा' और 'मन्त्रे' पृथक्पृथक् स्वरूप के अलग-अलग अथवा कान्य-वैचिन्य हैं।

(ख) 'उत्प्रेक्षा' और 'अनिश्चयोक्ति' अध्यवसायगर्भ अलग-अलग हैं किन्तु दोनों में दो प्रकार का 'अध्यवसाय' रहा करता है जिससे दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न अलग-अलग के रूप में माने जाये करते हैं। 'अध्यवसाय' का अर्थ 'विषयनिराग' है। उत्प्रेक्षा में जो 'विषयनिराग' रहा करता है किन्तु यह 'मिद' रूप का न होकर 'माध्य' रूप का हुआ करता है। 'अनिश्चयोक्ति' में जो 'विषयनिराग' हुआ करता है वह 'माध्य' नहीं अपितु 'मिद' रहा करता है। 'विमर्शनी' कारण ने इसीलिये कहा है—

'एवमप्यनिश्चयात्मकसम्माननाप्रत्ययमूलत्वादुत्प्रेक्षायाः कथमध्यवसायमूलत्वम् । तस्य हि विषयनिरागः विषयनिश्चयश्च स्वरूपम् । न चात्रैकमपि सम्भवति । विषयोपादाना-
निश्चयाभावाच्चेति । अत्रोच्यते—इह द्विधाभ्यध्यवसायः । स्वारसिक उपादितश्च ।
तत्र स्वारसिके विषयानवगम एव निमित्तसामर्थ्यात् स्वरमन एव विषयप्रतीतेरु-
पात् । ' ' इतरत्र तु विषयमवगमश्चापि तदन्तःकारेण प्रतिपत्तौ स्वात्मपरतन्त्र-
विफलपनाद् विषये प्रतिपत्तिमुत्पादयेत् । जानान एव हि विषयिविज्ञितः विषयः तत्र प्रयो-
जनपरतया विषयिणमध्यवस्येत् । तत्राद्यो भ्रान्तिमदादिविषयः । तत्र हि प्रमात्रन्तरगता
स्वारसिक्येव तथाविधा प्रतिपत्तिर्विक्रान्नुच्यते न कृपायते । स्वारसिकश्च पुनः
कविप्रतिभानिर्वर्तितमेवेष्टम् । अन्यथा हि भ्रान्तिमात्र स्यादिति इतरन्तु प्रेक्षाविषयः
स च द्विविधः सिद्धः साध्यश्च । सिद्धो यत्र विषयस्यानुपात्ततया निर्गोणवाटप्रवर्तितप्रा-
प्त्यम् । साध्यो यत्रेवाद्युपादानात् सम्माननाप्रत्ययात्मकत्वाद्विषयस्य निर्गोर्माणत्वाटप्र-
वसायक्रियाया एव प्राधान्यम् । अत एव चात्र एचिद्विषयानुपादानम् । वाच्यो-
पयोग्यप्यवसायस्य साध्यमानत्वेनैव प्रकान्तरत्वात् । एचिच्च विषयस्यानुपादानेऽपि न
मिदत्वम् । इवाद्युपादानाद्विर्गोर्माणतायाः प्राधान्यात् सम्माननाप्रत्ययस्योद्रेकात् । अत
एव चात्र विषयस्य निर्गोर्माणत्वादौपगमोर्भवः न ग्राह्यम् । तत्र विषयस्य विषयिनया
प्रतीतिः । इह पुनर्विषयस्य निर्गोर्माणत्वेन विषयिण एव प्रतीतिः । ननु विषयनिग-
रणमध्यवसायस्य लक्षणम् , इह पुनर्विषयस्य निर्गोर्माणत्वेन कथमत्रावसायमनेति
चेत् , नेतु । 'विषय्यन्तः कृतेऽन्यमिदं सा स्यात् साध्यवसानिका' इत्याद्युक्त्याऽप्यव-
सायस्य विषयिणा विषयस्यान्तःकरणलक्षणम् । तच्च विषयस्य निगर्णेन निर्गोर्माण-
त्वेन वा भवतीति न कश्चिद्विशेषः निर्गोर्माणमपि पूर्णोक्तिर्या विषयस्योपात्तस्यानु-
पात्तस्य वा भवतीत्यपि न कश्चिद्विशेषः । एव मिदोऽध्यवसायेऽप्यवसायमिदं प्राधान्यम्
साध्ये च स्वल्पप्राधान्यमिति सिद्धम् । यदेव साध्यवसायस्य साध्यस्य नदेव सम्मानना-
मस्त्वम् । सम्मानना ऐक्यतयाऽपि विषयिणीकारेण प्रकान्तरत्वादेन च प्रादुर्भवेति-
त्यस्याः साध्याध्यवसायानुल्लेखः । नम्यापि विषयनिधित्वकारेण विषयि-
दादयेन चेत्यते ।'

(अलङ्कारसम्भारनाम्ना, ६४ ६०-७०)

(उत्प्रेक्षावैचित्र्य)

अलङ्कारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत् ॥ ४५ ॥

तत्र सापहवोत्प्रेक्षा यथा मम—

‘अश्रुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुपाद्याः ।

अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥’

(ग) ‘उत्प्रेक्षा’ सर्वप्रथम दो प्रकार का है— १. वाच्योत्प्रेक्षा और २. प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । ‘वाच्योत्प्रेक्षा’ भी ‘स्वरूपगत’, ‘फलगत’ और ‘हेतुगत’ रूप से मुख्यतया तीन प्रकार का है । इन तीनों प्रकारों में ‘स्वरूपगत वाच्योत्प्रेक्षा’ के ३२ भेद हैं । ३२ भेद इसलिए क्योंकि पहले तो अपकृत के रूप में अध्यवसेय प्रकृत के ‘जाति’, ‘गुण’, ‘क्रिया’ और ‘द्रव्य’ रूप से चार प्रकार हैं जो कि ‘भावभिमान’ और ‘अभावभिमान’ के रूप से, दो-दो प्रकार के होकर आठ प्रकार के हो जाया करते हैं । ये आठों प्रकार उत्प्रेक्षा के निमित्त के ‘गुणरूप’ और ‘क्रियारूप’ से द्विविध होने के कारण दो-दो प्रकार के होकर, १६ बन जाते हैं । इन १६ प्रकारों में, प्रत्येक में निमित्त के ‘उपादान’ और ‘अनुपादान’ के द्विविध्य के कारण, दो-दो प्रकार स्वभाविक हैं जिससे स्वरूपगत वाच्योत्प्रेक्षा के ३२ प्रकार सिद्ध हो जाते हैं ।

(२) अर्थात् ‘फलगत’ वाच्योत्प्रेक्षा में द्रव्य की फलोत्प्रेक्षा और उसके प्रकारचतुष्टय की कोई संभावना न होने के कारण वारह भेद ही संभव हैं ।

(३) अर्थात् ‘हेतुगत’ वाच्योत्प्रेक्षा भी वारह प्रकार की ही हुआ करती है क्योंकि वाच्योत्प्रेक्षा के इस भेद में द्रव्य की हेतुत्प्रेक्षा और उसके भेदचतुष्टय की संभावना नहीं रहा करती । इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के ये ५६ (स्वरूपगत के ३२, फलगत के १२, हेतुगत के १२) भेद प्रस्तुत के ‘प्रतिपादन’ और ‘अप्रतिपादन’ के द्विविध्य के कारण ११२ प्रकार के सिद्ध होते हैं ।

‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ ६४ प्रकार की है । ६४ प्रकार की इसलिये क्योंकि इसमें स्वरूपोत्प्रेक्षा के ३२ भेद असंभव हैं किन्तु १६ ‘फलगत’ और १६ ‘हेतुगत’ भेद आवश्यक हैं जो कि प्रस्तुत के ‘प्रतिपादन’ और ‘अप्रतिपादन’ के द्विविध्य के कारण ६४ हो जाते हैं ।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा की भेदसंख्या १७६ है (वाच्योत्प्रेक्षा ११२ + प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ६४ = उत्प्रेक्षा १७६) ।

(घ) किन्तु ‘रसगङ्गाधर’कार के अनुसार उपर्युक्त उत्प्रेक्षाभेद-संख्या प्राचीन आलङ्कारिकों की परम्परा सी ही है, तात्त्विक नहीं—

‘इह जात्यादयो हि भेदाः प्राचामनुरोधादुदाहृताः । वस्तुतस्तु नैषां चमत्कारे वैलक्षण्य-मस्तीत्यनुदाहार्यतैव । चमत्कारवैलक्षण्यं पुनर्हेतुफलस्वरूपात्मकानां त्रयाणां प्रकाराणां भवेति ।’

(रसगङ्गाधर उत्प्रेक्षाप्रकरण)

अनुवाद—यही ‘उत्प्रेक्षा’, यदि उसके मूल में और अलङ्कार पड़ जायँ, तो अधिकाधिक वैचित्र्य धारण करती दिखाई दिया करती है । उदाहरण के लिये, यह स्वरचित सूक्ति जिसमें ‘अपह्वति’—अलङ्कार-मूलक उत्प्रेक्षा का वैचित्र्य स्पष्ट है—

‘आहुतियों से भरी यज्ञाग्नि के धूम से कलुषित आँखोंवाली इस सुन्दरी के आँखों के बहाने, ऐसा लगता है जैसे, इसका मान, इसके अगों में न समा सकने के कारण, लावण्यजल के प्रवाह के रूप में बह निकला है ।’

श्लेषहेतुगा यथा—

‘मुक्तोत्तर. सङ्कटशुक्तिमध्याद्विनिर्गतः सारसलोचनाया’ ।

‘जानीमहेऽस्या’ कमनीयकन्धुभीवाधिवासाद्गुणवत्त्वमाप ॥’

अत्र गुणवत्त्वे श्लेष कन्धुभीवाधिवासादिवेति हेतुत्प्रेक्षाया हेतु । अत्र ‘जानीमहे’ इत्युत्प्रेक्षावाचकम् ।

एवम्—

मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादयः ।

कचिदुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

‘पारेजल नीरनिचेरपञ्चनमुरारिरानीलपलाशराशी ।

वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभा ॥’

इत्यत्राभाशब्दस्योपमायाचकत्वादुपक्रमे उपमा । पर्यवसाने तु जलधितीरे शैवालस्थिते सम्भावनानुपपत्तौ सम्भावनोत्थापनमित्युत्प्रेक्षा ।

एव विरहवर्णने—‘केयूरायितमद्गदै—’ इत्यत्र ‘विकासिनीलोत्पलतिस्म कर्णे मृगायताद्या’ कुटिल कटाक्ष’ इत्यादौ च ज्ञेयम् ।

[यहाँ ‘कुल’ शब्द के उपादान से, प्रस्तुत ‘अधु’ के प्रतिषेध के साथ, अस्तुतु ‘लावण्यवारिपूर’ के स्थापन में ‘अपहृति’ स्पष्ट है और इस ‘अपहृति’ की भित्ति पर, क्रियोत्प्रेक्षा का जो वैचिध्य है वह उगने ही योग्य है ।

इसी प्रकार ‘उत्प्रेक्षाकारमूलक उत्प्रेक्षा का उदाहरण यह रहा—

‘प्रेमा लगता है जैसे ‘मक्तशुक्ति’ (छोटी सीप और मक्खनरूप समार) के भीतर से निकला हुआ यह ‘मुक्तोत्तर’ (मोतियों और मुक्त पुरों का समूह) इस सारसलोचना (कमलनयनी) सुन्दरी के, कमनीयकन्धुप्रिया के ‘अधिवास’ (निवास या वासना) के कारण ‘गुणवान्’ (सुत्रयुक्त और सखादिगुणयुक्त) हो गया है ।’

यहाँ ‘गुणवान्’ पद स्थित है (क्योंकि इसके ‘सुत्रयुक्त’ और ‘उत्प्रेक्षा’ के दो अभिप्राय निहित हैं) । यहाँ ‘कन्धुभीवाधिवासादि’ के रूप में हेतु की भी उत्प्रेक्षा है और ‘जानीमहे’ पद उत्प्रेक्षावाचक है (इस प्रकार यहाँ श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा स्पष्ट है) ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि (‘जानीमहे’ की भाँति) और भी उत्प्रेक्षावाचक पद हैं जिनमें ‘मन्ये’, ‘शङ्के’, ‘ध्रुव’, ‘प्रायो’, ‘नूनम्’ (ननु किमु किम्) आदि प्रविष्ट हैं ।

अत्र उपमानूलक उत्प्रेक्षा का उदाहरण देंगे—

‘भगवान् कृष्ण ने, समुद्र के तीर पर, हरे-हरे पत्तों में भरी वन्यवासी यदा उठी, तब ही से निरन्तर फँकी जाती बोलबाला श्रवणी ।’

यहाँ उपमानूलक उत्प्रेक्षा हमलिये है क्योंकि यदि ने, उपक्रम में, उपमावाचक ‘आभा’ शब्द के प्रयोग में, उपमा की रचना की है और अन्त में सम्भावना स्थला उत्प्रेक्षा का उत्थान दिग्गता है क्योंकि जबकि समुद्र के तीर पर दोऽल्पक्षि की अवस्थिति अनुपपन्न है तब उसकी स्थिति का वर्णन ‘सम्भावना’ रूप ही हो सकता है । इसी भाँति—

‘प्रपास्यन्त प्रिय शुभा गोविन्द व्रजशेषिणाम् ।

तद्विज्ञानमौनानां केयूरायितमद्गदै ॥’

‘प्रियतम कृष्ण प्रिय पर जा रहे हैं—यह सुनकर बहन्नाथ मौन धारण की हुई व्रज की

भ्रान्तिमदलङ्कारे 'मुग्धा दुग्धधिया—' इत्यादौ भ्रान्तानां वल्लवादीनां विषयस्य चन्द्रिकादर्शनमेव नास्ति, तदुपनिबन्धनस्य कविनैव कृतत्वात् । इह तु संभावनाकर्तुर्विषयस्यापि ज्ञानमिति द्वयोर्भेदः ।

संदेहे तु समकक्षतया कोटिद्वयस्य प्रतीतिः, इह तूत्कटा संभाव्यभूतैः ककोटिः । अतिशयोक्तौ विषयिणः प्रतीतस्य पर्यवसानेऽसत्यता प्रतीयते, इह तु प्रतीतिकाल एवेति भेदः ।

सुन्दरियों के वाजूवद केयूर अर्थात् फगन से हो गये ।' (विरह की कृशता के कारण कान की जगह पर आ गये) आदि विरहवर्णन-सूक्ति में 'केयूरायितमङ्गदैः' में क्यङ् प्रत्यय के प्रयोग में, उपक्रम में उपमा स्पष्ट है जिसके आधार पर (अङ्गद) वाजूवन्दों की, करुण स्थान पर स्थिति की अनुपपत्ति में, स्थिति की संभावना की गयी है जिसमें उत्प्रेक्षा स्पष्ट है । यही बात—

‘नासाग्रमुक्तामधरप्रसारिरोचिर्निनायेव च विद्रुमाणाम् ।

विकासिनीलोत्पलतिस्म कर्णे मृगायताक्ष्याः कुटिलः कटाक्षः ।’

आदि सूक्ति में 'मृगनयनी के कुटिल कटाक्ष उसके कानों पर खिले नीलकमल से लगने लगे' आदि की उपक्रमोपमा में दिखायी देती है जहाँ अन्त में, कानों पर, कटाक्ष की स्थिति की अनुपपत्ति में स्थिति की 'संभावना' की गयी है और 'उत्प्रेक्षा' में वाक्य-समाप्ति होती है ।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जैसे 'मुग्धा दुग्धधिया' आदि सूक्ति में 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार का दर्शन हुआ करता है वैसे ही 'ऊरुः कुरङ्गकदशः' आदि सूक्ति में भी, नायिका के 'ऊरु' आदि में 'विजयस्तम्भ' आदि की भ्रान्ति के कारण, 'भ्रान्तिमान्' क्यों न माना जाय । किन्तु यह शङ्का इसलिये निर्मूल है कि 'मुग्धा दुग्धधिया' आदि भ्रान्तिमान् प्रसङ्गों में तो भ्रम में पड़े गोप आदि को विषय अथवा उपमेयभूत 'चन्द्रिका' आदि आदि का ज्ञान भी नहीं होता क्योंकि यह तो कवि है जो 'चन्द्रिका' का कथन करता है (और गोप आदि 'सीप में चादी' की भ्रान्ति की भाँति 'चादनी आदि में दुग्ध धार आदि' की भ्रान्ति में ही मग्न हैं) किन्तु 'ऊरुः कुरङ्गकदशः' आदि उत्प्रेक्षा-प्रसङ्ग ऐसे हैं जिनमें, संभावना करने वाले को, विषय अथवा उपमेयभूत 'ऊरु' आदि का भी ज्ञान हो रहा है । इस प्रकार 'भ्रान्तिमान्' और 'उत्प्रेक्षा' के क्षेत्र परस्पर पृथक्-पृथक् ही प्रतीत होते हैं ।

'उत्प्रेक्षा' में 'सदेहालङ्कार' का भी भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि 'सदेह' में ऐसा होता है कि उपमेय और उपमानविषयक ज्ञान की दोनों कोटियाँ समकक्ष प्रतीत हुआ करती हैं और यहाँ, 'उत्प्रेक्षा' में ऐसा कि एक ही संभाव्यकोटि उत्कटतया प्रतीत होती है । 'उत्प्रेक्षा' में 'अतिशयोक्ति' की भी भ्रान्ति असंभव ही है क्योंकि 'अतिशयोक्ति' में ऐसा होता है कि आरम्भ में विषयी का स्वरूप प्रतीत हो जाता है और अन्त में उसकी असत्यता का पता चलता है किन्तु यहाँ, उत्प्रेक्षा में, विषयी (उपमान) के स्वरूप की प्रतीति के समय में ही उसकी असत्यता की भी प्रतीति हो उठती है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कुछ कान्याचार्यों (अलङ्कारसर्वस्वकार आदि) ने (किरातार्जुनीय-नवम सर्ग की) निम्नसूक्ति अर्थात्—

‘रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामित नु गगन स्थगित नु ।

पूरिता नु विषमेषु वरित्री सद्गता नु कुकुभस्तिमिरेण ॥’

इत्यत्र यत्तर्वादी तिमिराश्रान्तता रञ्जनादिरूपेण सद्विद्यत इति सदेहाल-
ङ्कार इति चेदिहाह, तन्न-एकविषये समानबलतयाऽनेककोटिस्फुरणन्यैव सदे-
हत्वान् । इह तु तर्वादिव्याप्तेः प्रतिसवन्धिभेदो व्यापनादेर्निगरणेन रञ्जनादे-
स्फुरण च ।

अन्ये तु—‘अनेकत्वनिर्धारणरूपविच्छिन्नाग्रयत्वेनैककोट्यविवेकेऽपि भिन्नो-
ऽय सदेहप्रकार’ इति वदन्ति स्म, तदप्ययुक्तम्-निगीर्णस्वरूपन्यान्यतादात्म्य-
प्रतीतिहि सभावना, तस्याश्चात्र स्फुटतया सद्भावान् नुशब्देन चैवशब्दवत्तस्या-
द्योतनादुत्प्रेक्षैवेय भवितु युक्ता, अलमदृष्टसदेहप्रकारकल्पनया ।

‘क्या अन्धकार ने मय वृत्त और पर्वत काले रंग में रंग से दिने गये ? क्या ऐसा
तो नहीं कि आकाश नीचे गिर पड़ा या टुकड़ा गया ? क्या पृथिवी ऊँची नीची जगहों
में बराबर कर दी गयी ? अथवा क्या फेरी दिखाये मिकोड दी गयी ?

आदि में, ‘सदेहालङ्कार’ का जो दर्शन किया है और यह कहा है कि यहाँ वृक्षादि
की अन्धकारपूर्णता रञ्जनादि के रूप में सन्देहास्पद बन रही है यह ठीक नहीं । कारण
यह है कि यहाँ ‘सदेह’ की कोई सभावना ही नहीं क्योंकि जिसे ‘सदेह’ कहते हैं वह
तो एक विषय (अर्थात् उपमेय) में, समदृश्य में, अनेककोटिज्ञान का स्फुरण
हुआ करता है । यहाँ ऐसा स्फुरण कहाँ ? यहाँ तो तत्, तत्, गगन, पृथिवी आदि प्रायेक
पदार्थ की निमिराश्रान्तता निन्न-भिन्न प्रकार की प्रकटीकृत है और रञ्जन, गमन,
स्थगन आदि भिन्न भिन्न रूपों में सभावित प्रतीत हो रही है और साथ ही साथ यहाँ
यह भी स्पष्ट है कि तमोव्यापनरूप विषय के निगरण अथवा अवलोकन में रञ्जन आदि
रूप विषयी की सभावना हो रही है (जिसमें ‘उत्प्रेक्षा’ की ही रूपरेखा निगमती
दिखायी दे रही है) ।

उपर्युक्त तिमिरवर्जन सुक्ति में ही, वृत्त और अलङ्कारिकों ने पूरे और प्रकार के
सदेहालङ्कार का दर्शन किया है और यह कहा है कि यहाँ ‘सदेह’ का जो स्वरूप है
उसमें तमोव्यापन और रञ्जनादिस्वरूप ज्ञान के स्फुरण नहीं बल्कि तमोव्यापनरूप
एककोटिज्ञान का ऐसा उत्कट स्फुरण है जो कि रञ्जन, गमन, स्थगन आदि अनेक
रूपों में निघासित होने के कारण पूरे और ही विचित्र बन रहा है । किन्तु यह मत भी
अनुपपन्न ही है क्योंकि यहाँ ‘सदेह’ नहीं बल्कि ‘सभावना’ है जो कि निगीर्णस्वरूप
विषय की, अन्य अथवा विषयी के साथ, एक तादात्म्य भावना है । यह तादात्म्य भावना
यहाँ हमलिये स्पष्ट है क्योंकि ‘इयं’ शब्द के सम्मानार्थ ‘तु’ शब्द के द्वारा (जो कि
उत्प्रेक्षावाचक शब्द है) हमें यहाँ प्रतिपादित कर दिया गया है । हमलिये यहाँ जो
अलङ्कार है वह ‘उत्प्रेक्षा’ ही है । यहाँ ऐसे सदेहप्रकार की भावना की क्या आवश्यकता
जिसे और किसी ने भी नहीं माना ।

अब यह यथाना आवश्यक है कि ‘सन्देह’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों के प्रयोग में भी,
सभावना की प्रतीति के अभाव में, उत्प्रेक्षालङ्कार नहीं हुआ करना । जैसे कि निम्नसूक्ति
वर्षाव—

‘यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते

तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ।

अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-

कटाक्षोलकापातव्रणकिणकलङ्काङ्कितनुम ॥’

इयत्र ‘मन्ये’ शब्दप्रयोगेऽप्युक्तरूपाया सम्भावनाया अप्रतीतिर्वितर्कमात्रं नासावपह्नोत्प्रेक्षा ।

‘राजन् ! चन्द्रमा में काले चादल के टुकड़े मा जो दिखायी पड़ा करता है उसे लोग ‘शश’ कहा करते हैं, किन्तु मुझे यह सब मान्य नहीं । मैं तो ऐसा समझता हूँ कि चन्द्रमा में जो दाग है वह तुम्हारे दाशुओं की विरहिणी प्रेमिकाओं के कटाक्षरूपी उल्कापात से उत्पन्न व्रण का चिह्न है ।’

में, ‘मन्ये’ शब्द तो अवश्य प्रयुक्त है किन्तु यहाँ ‘निगीर्णस्वरूप विषय की अन्यतादायक प्रतीति’ रूप सम्भावना नहीं दिखायी देती । इसलिये ऐसे प्रसङ्गों में अपह्नवमूलक उत्प्रेक्षा नहीं अपि तु वितर्कमात्र ही मानना उचित है और युक्तियुक्त भी है ।

विमर्श—उत्प्रेक्षा-वैचित्र्य का अभिप्राय अन्य अलङ्कारमूलक उत्प्रेक्षा प्रवा के मौन्दर्य का अभिप्राय है । साहित्यदर्पणकार का यह उत्प्रेक्षा वैचित्र्य-विचार ‘अलङ्कारसर्वस्व’ की उत्प्रेक्षा मीमांसा से प्रभावित है । अलङ्कारसर्वस्वकार ने उत्प्रेक्षा-वैचित्र्य के रूप में ‘सापह्नोत्प्रेक्षा’ का उल्लेख किया है—‘सापह्नोत्प्रेक्षा यथा—

गतासु तीर निमिघट्टनेन ससभ्रमं पौरत्रिलासिनीषु ।

यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभानि सिप्रा ॥

अत्र इवशब्दमाहात्म्यात् सम्भावन छलशब्दप्रयोगाच्चापह्नवो गम्यते । एव छद्मादि शब्दप्रयोगेऽपि ज्ञेयम् ।’

इसी प्रकार ‘उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा’ भी उत्प्रेक्षा की ही एक विचित्रता के रूप में, आचार्य स्वयं द्वारा निर्दिष्ट है—‘उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

कस्तूरीतिलकान्ति भालफलके देव्या मुक्ताम्भोरुहे ।

रोलम्बन्ति तमालबालमुकुलोत्तमन्ति मौलावपि ॥

यां कर्णे विकचोत्पलन्ति कुचयोरङ्गे च कालागुरु-

स्यासन्ति प्रथयन्तु तास्तव शिव श्रीकण्ठकण्ठविष’ ॥

अत्र यद्यपि ‘सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्तिप्’ इत्युपमानात् क्तिविविधावामुखे उपमाप्रतीतिः स्तथाप्युपमानस्य प्रकृते संभवौचित्यात् सम्भावनात्थाने उत्प्रेक्षाया पर्यवसानम् ।’

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ-७६)

‘विमर्शनी’कार के अनुसार ‘अतिशयोक्तिमयी’ उत्प्रेक्षा में भी कान्य-साहित्य की विशेषतायें दिखायी दिया कर्ता हैं । जैसे कि—

‘गृद्धङ्गि परया भक्त्या वाणलिङ्गपरम्पराः ।

अनर्मदेव यस्यैतन्निर्ममयत नर्मदा ॥’

आदि में, ‘अभेद में भेद’ रूप अतिशयोक्तिमूलक ‘उत्प्रेक्षा’ । अथवा, जैसे कि—

‘यशसेव सहोद्भूतः श्रियेव सहवर्धितः ।

तेजसेव सहोद्भूतस्याग्नेनेव सहोत्थितः ॥’

में, कार्यकारण की तुल्यकालतारूप अतिशयोक्ति से अनुप्राणित ‘उत्प्रेक्षा’ अथवा, जैसे कि—

(१३—अतिशयोक्तिः न प्रभेदं निरूपयति)

मिद्वन्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिः निर्गद्यते ।

विषयनिगमणेनाभेदप्रतिपात्तविषयिणोऽध्यवसायः ।

अस्य चोत्प्रेक्षायां विषयिणोऽनिश्चितत्वेन निर्देशात्साध्यत्वम् । इह तु निश्चितत्वेनैव प्रतीतिरिति मिद्वन्त्वम् । विषयनिगमणं चोत्प्रेक्षायां विषयम्याध करणमात्रेण इहापि मुख्यं द्वितीयञ्चन्द्र इत्यादी ।

यदाहुः—

‘विषयन्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि मूल्यः ।

अथ करणमात्रेण निर्गोर्णत्वं प्रचक्षते ॥’ इति ।

भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययो ॥ ४६ ॥

पौषोपर्यायः कार्यहेतोः नापञ्चधा ततः ।

तद्विपर्ययोऽभेदे भेदः असम्बन्धे न सम्बन्धः । नातिशयोक्तिः । अत्र भेदेऽभेदो यथा मनः—

‘सम्बन्धवर्गस्मिन्तदनुरेण विरजमानेऽपरपहवेन ।

समुद्ध्यतः सारविषयदुराणि पौषैव मद्यो द्विपत्ता यतामि ॥’

आदि में सारविषयदुराणि पौषैव मद्यो द्विपत्ता यतामि ॥

—‘अतिशयोक्तिः’ वह अलङ्कार है जिसे ‘अध्यवसाय’ की निद्रि की प्रतीति कहा करते हैं ।

‘अध्यवसाय’ क्या है ? ‘अध्यवसाय’ है विषय (उपनेय के निगमनपूर्वक, उस (निर्गोर्णस्वरूप-विषय) के साथ विषयी (उपमान) की अभेदप्रतिपत्ति । यह ‘अध्यवसाय’ उत्प्रेक्षा में भी रहा करता है किन्तु मिद्वन्त्व का न होकर साध्यत्व का ही हुजा करता है क्योंकि जब कि ‘उत्प्रेक्षा’ में ‘विषयी’ (उपमान) का निर्देश अनिश्चित रूप से किया जाता करता है, ‘अतिशयोक्ति’ में ऐसा हुआ करता है कि ‘विषयी’ (उपमान) निश्चित रूप से निदिष्ट प्रतीत हुआ करता है । ‘उत्प्रेक्षा’ में ‘विषय-निगमण’ का अन्विष्टाव ‘विषय’ का अन्वयकरणमात्र — उसके सामान्यिक स्वरूप का अन्वयकरणमात्र है और ‘अतिशयोक्ति’ में, जमे कि ‘यह सुख दूसरा पण्डमा है आदि’ अतिशयोक्ति में, जो विषयनिगमण है उसमें भी विषय का अन्वयकरणमात्र ही दिवारा डे रहा है । इसीलिये कहा जा गया है—

‘यह विषय का दृष्टन दर्शान हो या न हो यदि उसका स्वरूप अथ दृष्ट हो लयां चिन्ता-विषया प्रतीत हो रहा है तो यहा उसका ‘निगमण’ है ।’

‘अतिशयोक्ति’ पाँच प्रकार की हुजा करती है—१ छा, भेद में भी अभेद-याना, २ री, सम्बन्ध में भा असम्बन्ध-वर्जना, ३ री, अभेद में भा भेद-याना, ४ या, सम्बन्ध में भा सम्बन्ध-वर्जना और ५ वी, कार्य-करण भाव-नियम का विषय-वर्जना ।

यहाँ कारिका में ‘तद्विपर्ययो’ का अन्विष्टाव भेद में अभेद-वर्जना और सम्बन्ध में सम्बन्ध-वर्जना के विपरीत अभेद में भेद और सम्बन्ध में सम्बन्ध-वर्जना का अन्विष्टाव है और ‘ना’ पद से अतिशयोक्ति का निदर्श किया गया है ।

इह अतिशयोक्ति-भेदों का उदाहरण दिया जा रहा है । पहली—अप्यं भेद में अभेद-वर्जना अतिशयोक्ति का यह स्वरूप उदाहरण देनिये—

‘कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।
 कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥’
 अत्र कान्ताकेशपाशादेर्मयूरकलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः ।
 यथा वा—‘विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्’ । अत्र चेतनगतमौनित्वमन्यत्, अचे-
 तनगतं चान्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदः ।

एवम्—

‘सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्प्रियः ।’

अत्राधरस्य रागो लौहित्यम्, प्रियस्य रागः प्रेम, द्वयोरभेदः ।

अभेदे भेदो यथा—

‘अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः ।

तस्याः पद्मपलाशाद्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥’

सम्बन्धेऽसम्बन्धो यथा—

‘अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

‘कैसा आश्चर्य है । ऊपर मयूर-कलाप है, नीचे अष्टमी का चन्द्रमा विराजमान है, उसके नीचे दो चञ्चल नीलकमल झलक रहे हैं, उनके नीचे तिल का फूल दिखायी दे रहा है और तब विद्रुम (मंगे) का सौन्दर्य निखर रहा है ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि कामिनी के केशपाश-भालफलक, नेत्र, नासिका और अधरोष्ठ का, मयूरकलाप, अष्टमीचन्द्र, नीलकमल, तिलपुष्प और विद्रुम से भेद होने पर भी, अभेदाध्यवसाय विराजमान है जिसमें ‘अतिशयोक्ति’ अलङ्कार झलक रहा है ।

इसी प्रकार, पूर्वोदाहृत ‘विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्’ आदि में भी, भेद में अभेदरूपा अतिशयोक्ति स्पष्ट है क्योंकि यहाँ भी चेतन के धर्मभूत ‘मौन’ (वाणी के रोकने) और अचेतन के धर्मभूत ‘मौन’ (निःशब्दता) में, भेद होने पर भी, अभेद अथवा तादात्म्य का ही अध्यवसान दिखायी दे रहा है । इसी भाँति, इस सूक्ति अर्थात्—

‘इस सुन्दरी का यौवनकाल ऐसा रहा कि इसके अधरोष्ठ के साथ साथ इसका प्रियतम भी गमय हो गया ।’

में भी, भेद में अभेद के अध्यवसान में, ‘अतिशयोक्ति’ की ही रूपरेखा दिखायी दे रही है क्योंकि अधर और प्रियतम के ‘राग’ में, भेद होने पर भी—अधर का ‘राग’ उसकी लालिमा है और प्रियतम का राग है प्रेम—अभेद का ही वर्णन किया गया है ।

दूसरी अतिशयोक्ति अर्थात् अभेद में भेदरूपा अतिशयोक्ति का उदाहरण यह रहा—
 ‘इस कमलनयनी कामिनी के अङ्गों का लावण्य भी कुछ और, मुखसौरभ भी कुछ और तथा उसकी सरसता भी कुछ और ही है ।’

[यहाँ यह स्पष्ट है कि वर्ण्य रमणी के लावण्य आदि नारीसुलभ ही लावण्य आदि हैं किन्तु कवि ने, इनमें असाधारणता की कल्पना कर भेद का अध्यवसान कर लिया है ।]

तीसरी ‘अतिशयोक्ति’ अर्थात् सम्बन्ध में असम्बन्धरूप अतिशयोक्ति का उदाहरण (विक्रमोर्वशीय की) यह सूक्ति है—

‘क्या इस उर्वशी की सृष्टि का प्रजापति कान्ति का अनवरत स्रोत चन्द्रमा है ।

वेदाभ्यासजडं कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

अत्र पुराणप्रजापतान्तर्माणसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धः ।

असम्बन्धे सम्बन्धो यथा—

‘यदि स्यान्मण्डले सत्तमिन्दोरिन्द्रीवरद्वयम् ।

तदोपमीयते तस्या वदनं चान्लोचनम् ॥

अत्र यद्यर्थबलादाहृतेन सम्बन्धेन सम्भावनया सम्बन्धः । कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति । कारणात्प्रथमं कार्यस्य भावे द्वयोः समकालत्वे च ।

क्रमेण यथा—

‘प्रागेव हरिणाक्षीणा चित्तमुत्कलिनाकुलम् ।

पञ्चादुद्भिन्नवकुलरसात्तनुकुक्षाग्रयः ॥’

‘नमनेव समान्त्रान्तं द्वयं त्रिरङ्गाभिना ।

तेन निहासनं पित्र्यं मण्डलं च मन्त्रीयिताम् ॥

या प्रेम का देवता मदन है ? या फूलों का बाकर वमन्न है ? भला वेदाभ्यास से जड़बुद्धि किंवा विषयों से विरत हृदयवाले ज्ञान का क्या सामर्थ्य जो ऐसे मनोहर रूप का निर्माण कर सके ।

यहाँ ‘सम्बन्ध में असम्बन्ध’ इसलिये स्पष्ट है क्योंकि उर्वशी की सृष्टि में जगत्पद्मा प्रेमा के सामर्थ्य का सम्बन्ध होने पर भी, ‘वेदाभ्यासजडत्व’ आदि के कारण, असम्बन्ध का ही निरूपण किया गया है ।

चौथी ‘अतिशयोक्ति’ अर्थात् ‘असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति’ का उदाहरण यह है—

‘यदि चन्द्रमा के मण्डल में दो नीलकमल जुड़े हों तब कहीं संभव है कि हम रमणी के मनोरम नयनों वाले मुख को उसमा मिल जायें ।’

यहाँ ‘असम्बन्ध में सम्बन्ध’ इसलिये है क्योंकि ‘यदि’ पद के अर्थ-सामर्थ्य से, चन्द्रमण्डल के साथ नीलकमल के वारंशित सम्बन्ध की सम्भावना स्पष्ट है ।

कार्य-कारणभाव के पौर्वापर्य के विपर्यय में होनेवाली ‘अतिशयोक्ति’ दो प्रकार की हुमा करती है क्योंकि कार्य और कारण के पूर्वापरभाव का विपर्यय दो प्रकार का है—पहला, कारण के पहले कार्य का प्रादुर्भावरूप और दूसरा, कार्य और कारण का एककालिक अवस्थानरूप । जैसे कि ‘कारण के पहले कार्य के प्रादुर्भावरूप’ कार्य-कारणभाव विपर्यय में होनेवाली ‘अतिशयोक्ति’ अर्थात् चौथी ‘अतिशयोक्ति’ का उदाहरण—

‘सुगनयनी मुन्दरिओं का हृदय प्रेममिलन की उत्कृष्टा से पहले भर उठा और घाद में पेसा हुआ कि मौलधी और काम की मन्त्रिओं में शोभा आ गिराजी ।’

इसी प्रकार कार्य और कारण के समकालिक अवस्थानरूप कार्य-कारणभाव विपर्यय में होनेवाली पौर्वशी ‘अतिशयोक्ति’ का उदाहरण—

‘गजगामी महाराज रघु ने शिवा के राजसिंहासन और समस्त राजमण्डल पर एक साथ ही करना अधिकार जमा लिया (गुप्त) ।’

इह केचिदाहुः—केशपाशादिगतो लौकिकोऽतिशयोऽलौकिकत्वेनाध्यवसीयते । केशपाशादीनां कलापादिभिरध्यवसाये 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' इत्यादि प्रकारेष्वन्यामिर्लक्षणस्य' इति ।

तन्न, तत्रापि ह्यन्यदङ्गलावण्यमन्यत्वेनाध्यवसीयते । तथाहि 'अन्यदेव' इति स्थाने 'अन्यदिव' इति पाठेऽध्यवसायस्यासाध्यत्वमेवेत्युत्प्रेक्षाङ्गीक्रियते । 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्—' इत्यत्र वकुलादिश्रीणां प्रथमभावितापि पश्चान्नावित्वे-

[यहाँ यह स्पष्ट है कि 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्' आदि सूक्ति में, कामिनिर्गो के हृदय में, उत्कण्ठारूप कार्य का प्रादुर्भाव, पहले वर्णित है और उसके कारणरूप से अवस्थित, वकुल और आम्र-मजरिओं का विकास, बाद में वर्णित है । इस प्रकार यहाँ वस्तुतः परभावित उत्कण्ठा के साथ कविकल्पना से, पूर्वभावित उत्कण्ठा के अध्यवसाय में, कार्यकारणभाव की विपर्ययरूप 'अतिशयोक्ति' का स्वरूप स्पष्ट है । इसी प्रकार 'सममेव समाक्रान्तम्' आदि सूक्ति में, पैत्रिक सिंहासन पर अधिकाररूप 'कारण' और राजमण्डलवशीकरणरूप 'कार्य' की एककालिकता के वर्णन में, कार्यकारणभाव का विपर्यय स्पष्ट है जिसमें कार्य और कारण के लौकिक पूर्वापरभाव का, उनकी काल्पनिक एककालिकता के साथ अध्यवसाय भी स्पष्ट है ।]

यहाँ कतिपय काव्याचार्यों (जैसे कि अलङ्कारसर्वस्वकार रुच्यक आदि) का यह कहना है कि—'कथमुपरि कलापिनः' आदि सूक्ति में जो 'अतिशयोक्ति' है उसमें वर्ण्यरमणी के केशपाश आदि से सबद वास्तविक सौन्दर्य (रूप धर्म) का ही कविसमर्पित सौन्दर्य (रूप धर्म) के साथ अध्यवसाय-अभेद में भेद का आहार्यनिश्चय किया हुआ है न कि उसके केशपाश आदि (रूप धर्मों) का मयूरकलापादि (रूप धर्मों) के रूप में कोई अध्यवसाय विवक्षित है क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तब 'अन्य देवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में (जहाँ सामान्य लावण्यरूप धर्म में असामान्य लावण्यरूप धर्म अध्यवसित प्रतीत हो रहा है) अभेद में भेदरूप 'अतिशयोक्ति' का लक्षण अव्याप्त हो जायगा (क्योंकि जब कि एक धर्मों का दूसरे धर्मों के रूप में 'अध्यवसाय' ही 'अतिशयोक्ति' हो तो एक धर्म का दूसरे धर्म के रूप में अध्यवसाय 'अतिशयोक्ति' न हो सकेगी) । किन्तु यह सब कथन युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'अन्य देवाङ्गलावण्यम्' आदि में जो 'अभेद में भेद के अध्यवसाय' का रूप है उसमें यह स्पष्ट है कि 'अन्यनारीसुलभ' (अभिन्न) लावण्य ही 'अनन्यनारीसुलभ' (भिन्न असाधारण, केवल प्रकृत नायिकावर्ती) लावण्य के रूप में अध्यवसित है । क्यों इसलिये कि यदि 'अन्यदेव' के बदले यहाँ 'अन्यदिव' कर दिया जाय, तो, यह, अभेद में भेद का अध्यवसाय, (सिद्ध न होकर) साध्य बन जाता है और यहाँ 'अतिशयोक्ति' न होकर 'उत्प्रेक्षा' होने लगती है (इसलिये यह स्पष्ट है कि 'अन्यदेव' के प्रयोग अभेद में भेद के अध्यवसाय के सिद्ध होने के कारण, 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में 'अतिशयोक्ति' लक्षण सर्वथा घटित हो रहा है) । यही बात 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्' आदि सूक्ति में, कार्यकारणभाव के विपर्ययरूप 'अतिशयोक्ति' में भी दिखायी देती है क्योंकि यहाँ भी वकुलशोभा आदि की 'पूर्वभावित' (रमणी हृदय में रस्युद्दे के पहले खिलनेवाली मौलशी आदि की सुन्दरता) ही उसकी 'पश्चान्नावित' (रमणी हृदय में रस्युद्दे के बाद में खिलने वाली मौलशी आदि की सुन्दरता) के रूप

नाध्यवसिता अत एवात्रापीवशब्दयोगे उन्नेक्षा एवमन्यत्र ।

अध्यवसित दिखायी दे रहों है और वस्तुतः इसीलिए यहाँ भी 'एव के बदले 'एव' कर देने से, अध्यवसाय की साधना में 'उप्रेक्षा' दिवायी पढ़ने लगती है (जिससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'एव के रहने से, अध्यवसाय की मिदना के कारण, यहाँ अतिशयोक्ति का लक्षण सर्वथा लागू हो रहा है)। (इसी प्रकार मन्दन्ध में अमन्दन्ध और अमन्दन्ध में मन्दन्ध की अतिशयोक्तियों में भी अध्यवसाय की मिदना स्पष्ट है जिसके अभाव में बर्थात् अध्यवसाय की साधना में 'उप्रेक्षा' की रूपरेखा मिद हो जाती है। निष्कर्ष यही है कि 'अलङ्कारमवेत्त' लाटि की यह मान्यता कि 'दो धर्मों-एक वान्तविक और दूसरे कविमनसित-के ही अध्यवसाय में 'अतिशयोक्ति' संभव है, न कि दो धर्मों के अध्यवसाय में होकर नहीं जैवती)।

[illegible]

‘एषु पञ्चसु भेदेषु भेदेऽभेदादिवचनं लोकाधिकान्तर्गोचरम् । अत्र चानिगद्य-
यत् फलं प्रयोजकत्वादिभिर्न तत्राऽभेदाप्यवसायः । तथा हि—‘कन्यमनन्तममि’
इत्यादौ वदनादीनां कन्याद्यैर्भेदेषु वास्तव मौन्द्यं कविमनसितेन मौन्द्येन भेदेना-
ध्यवसितं, भेदेऽभेदवचनस्य निमित्तम् । तत्र च सिद्धोऽध्यवसाय इत्यध्यवसितप्राधा-
न्यम् । न तु वदनादीनां कन्यादिभिर्भेदाप्यवसायो योजनीयः । अभेदे भेद इत्यादियु-
प्रकारेष्वप्याप्तेः । तत्र हि ‘अज्ज लट्ठहत्तज्ज’ इत्यादौ सानिगद्य लट्ठत्वनिमित्तमूत-
नभेदेनाध्यवसितम् । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।’ (अष्टाध्याय-सूत्र-८८ ।

[illegible]

‘यावता ह्यव्यवसितप्राधान्यमस्या लक्षणम् । तच्च धर्मात्मन्तु धर्माणां चेति हो
विशेषो धेनाऽप्यासि स्यात् । प्रत्युत धर्मपरेन्देदाध्यवसायानुगमे लक्षणादीनामव्यव-
सायोक्तिप्रसङ्गः स्यात् । तत्रापि धर्माणामेव नेदेऽस्मद्विवक्षणात् ।’

(- १११ -)

[illegible]

'द्वा सुतानां मया जन्मलब्धम् ।
एकं त्वमाणा अमृतमश्नतः ।
एकं कुरुष्व नृप पश्यतां मेने ।
यस्यैव शरीरेण भुवि विद्यते' ।

तदेतन्मिदं विष्णुत्वाद्वाह्यत्वात्तन्मिदं ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
श्रीकृष्णाय नमः ॥

'या निशा सर्वभूताना तस्या जगन्नि सद्यो ।

यस्यां जायन्ति भूतानि सा निजा पर्यवती भूते ।'

पवित्रयोगेति वा न न ह्यन्यत्र उक्तं - ३ ।

(१४—तुल्ययोगिता)

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ॥ ४७ ॥

एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।

अन्येषामप्रस्तुतानाम् । धर्मो गुणक्रियारूपः ।

उदाहरणम्—

(दो प्रस्तुत पदार्थों में एक क्रियारूप धर्म के योग में 'तुल्ययोगिता')

'अनुलेपनानि कुसुमान्यवलाः

कृतमन्यव' पतिषु दीपदशाः ।

समयेन तेन सुचिर शयित-

प्रतिबोधितस्मरमबोधित ॥'

अत्र सन्ध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्प्रस्तुतानामनुलेपनादीनामेकबोधनक्रियाभि-
सम्बन्धः ।

(दो अप्रस्तुत पदार्थों में एक गुणरूप धर्म के योग में 'तुल्ययोगिता')

'तदङ्गमादवं द्रष्टुं कस्य चित्ते न भासते ।

मालतीशशभुल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥'

इत्यत्र मालत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसम्बन्धः ।

अनुवाद—'तुल्ययोगिता' वह अलङ्कार है जिसे केवल प्रस्तुत (प्रकरणप्राप्त) पदार्थों
अथवा अप्रस्तुत पदार्थों का एक धर्म से अभिसम्बन्ध कहा गया है ।यहाँ कारिका में 'अन्येषाम्' का अभिप्राय 'अप्रस्तुत' अथवा 'अप्राकरणिक' पदार्थों
का अभिप्राय है और 'धर्म' से गुण अथवा क्रियारूप धर्म अभिप्रेत है । उदाहरण के लिये—
'संध्याकाल ने, चन्द्रनादि के अङ्गरागों, फूलों, पतियों पर मान-कोप करने वाली
अबलाओं और दीपकों की वस्तियों को इस प्रकार प्रतिबोधित किया जिसमें बहुत देर
तक सोया हुआ काम जग उठा ।'यहाँ, इस शिशुपालवध-सूक्ति में, यह स्पष्ट है कि सन्ध्यावर्णन के प्रसङ्ग में, जितने
भी प्रस्तुत अथवा प्राकरणिक 'अनुलेपन' आदि हैं, उन सब में, एक ही 'प्रतिबोधन'
रूप क्रिया सम्बद्ध दिखाई दे रही है ।[तात्पर्य यह है कि यद्यपि अनुलेपन, पुष्प, मानवती अबलाओं और दीपशिक्षाओं
के 'अबोधन' में—स्वरूप-भेद अवश्य है क्योंकि अनुलेपनों का 'बोध' उनका 'स्मरण',
पुष्पों का 'बोध' उनका विकास, मानवती अबलाओं का 'बोध' उनके लिये मान छोड़ने
की शिक्षा और दीपशिक्षाओं का 'बोध' उनका प्रज्वलित होना है किन्तु तब भी, धातु
की एकरूपता में, क्रियाओं की एकरूपता की कल्पना से, इन प्राकरणिक पदार्थों का
एकक्रियारूप धर्म से सम्बन्ध स्पष्ट है जिसमें 'तुल्ययोगिता' की शोभा झलक रही है ।]

इसी प्रकार—

'उस सुन्दरी के अङ्गों की सुकुमारता के दर्शन से कौन ऐसे लोग हैं जिनके मन में यह
ध्यान नहीं आता कि मालती के पुष्प, चन्द्रमा की कला और कदली के किसलय कठोरता
से भरे हैं ।'

यहाँ 'तुल्ययोगिता' इसलिये स्पष्ट है क्योंकि वर्ण्य नायिका के प्रसङ्ग में, जितने

एवम्—

‘दान वित्ताहत वाच. कीर्त्तिधर्मौ तथायुप ।

परोपकरण कायादसारात्सारमाहरेत् ॥’

अत्र दानादीना कर्मभूताना सारतारूपैकगुणसम्बन्ध एकाहरणक्रियान्बन्ध ।

भी मालती आदि अप्रस्तुत पदार्थ उपनिबद्ध है, उन सब में ‘कठोरता’ का गुणरूप धर्म सर्वथा सम्बद्ध प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार गुण और क्रियारूप द्विविध धर्म के एकत्र अभिसम्बन्धमें भी ‘तुल्ययोगिता’ ही हुआ करती है जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

‘बुद्धिमान् लोगों के लिये यह आवश्यक है कि वे धन से दान, वाणी से मत्स्य, जीवन से यश और धर्म तथा शरीर से परोपकार—इस प्रकार, अमार मे मार का ग्रहण किया करें ।’

में ही । यहाँ ‘आहरण’ की क्रिया के कर्मरूप से उपनिबद्ध दान, ऋण, कीर्त्ति, धर्म और परोपकार रूप पदार्थों के साथ ‘सारता’ रूप गुण का सम्बन्ध और साथ ही साथ ‘आहरण’ के क्रियारूप धर्म का भी सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने ‘तुल्ययोगिता’ के निम्न में यह स्पष्ट नहीं किया कि जहाँ ‘औपन्य’ अभिव्यक्त हो रहा करता है या नहीं । ‘अन्तर्गन्धर्वस्वकार’ के अनुसार ‘तुल्ययोगिता’ में औपन्य अथवा उपनानोपनेयभाव की अभिव्यक्ति आवश्यक है—

‘औपन्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुताना वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता । इवाद्यप्रयोगे औपन्यस्य गम्यत्वम् ॥’ (अन्तर्गन्धर्वस्व पृष्ठ ८०)

अर्थात् ‘तुल्ययोगिता’ उन अन्तर्गन्धर्वस्वों में है जो कि ‘गम्यमानोपन्याय’ हुआ करने है अर्थात् उपनानोपनेयभाव की अभिव्यक्ति दिया करते हैं । इस अन्तर्गन्धर्वस्व में प्रस्तुत (प्रास्तविक) पदार्थों अथवा अप्रस्तुत (अप्रास्तविक) पदार्थों में तुल्य अथवा किमान्ध धर्म का योग ‘परा’ ‘तत्त्व’ रूप से प्रतीत हुआ करता है और इसीलिये इसे ‘वाच्यार्थतत्त्व रूप से औपन्य’ वा ‘अभि-’ ‘ना’ रखने वाले ‘प्रतिबन्धना’ से सूचित किया जा सकता है ।

(ग) वरिष्ठ साहित्यदर्पणकार ने तुल्ययोगिता के भेद-चतुष्टय का निर्देश नहीं किया किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसके चारों भेद साहित्यदर्पणकार को मान्य हैं । ‘विमर्शना’ का अर्थ वरिष्ठ ने ‘तुल्ययोगिता’ के चार भेदों का निर्देश किया है—

‘अनेनैव चास्या प्रकृतानामप्रकृताना च गुणक्रियात्मकधर्मयोगाद् द्विष्येन चतुष्प्रकारत्वमुक्तम्’ (अन्तर्गन्धर्वस्वविमर्शना—पृष्ठ ९०) ।

(ग) ‘तुल्ययोगिता’ की ‘सुवृत्ति’ यह है—

‘तुल्यधर्मेण योगो (सम्बन्धो) जानोऽम्यामिति अन्वयधर्माणां तुल्ययोगिता ।’ (पृष्ठ २३०) । इस सुवृत्ति में ही ‘तुल्ययोगिता’ का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

(घ) ‘औपन्य’ की अभिव्यक्ति में तुल्ययोगिता के निर्माण के लिये सूचित पदार्थों का योग होता है—

(१) ‘शम्भोर्यमपरदिमभि प्रगमनम्वृष्टानगिष्ये गिष्यता

गता चन्द्रकला च सयजगता चन्द्रयमनाशिता ।

सुषाया परतापदाग्रिषद् कन्या वित्तगामर्मा

दूरीकार्यदिमात्तया कथमुमापाददृष्टी प्रप्यते ॥’

चरों पदार्थों की पदद्वया के योग प्रमाण में, तथा और चन्द्रकला रूप पदार्थों में

(१५—दीपकालङ्कार)

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ॥ ४८ ॥

अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्

प्रवाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।

सतीव योपिप्रकृतिः सुनिश्चला

पुमांसमध्येति भवान्तरेष्वपि ॥’

अत्र प्रस्तुतायाः सुनिश्चलायाः प्रकृतेरप्रस्तुतायाश्च योपित एकानुगमनक्रिया-
सम्बन्धः ।

—‘दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे

भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा ।

उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृह त्वदीय-

मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन ॥’

इदं मम । अत्रैकस्या नायिकाया उत्थानाद्यनेकक्रियासम्बन्धः । अत्र च
गुणक्रिययोरादिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितम्, तथाविधवैचित्र्यस्य
सर्वत्रापि सहस्रधासम्भवात् ।

‘आपादन’ की क्रिया का सम्बन्ध स्पष्ट है एव गङ्गा और चन्द्रकला में ‘बन्धत्व’ आदिरूप
औपम्य भी झलक रहा है ।

अनुवाद—‘दीपक’ वह अलङ्कार है जिसे प्रस्तुत (प्राकरणिक) और अप्रस्तुत (अप्रा-
करणिक) में एक धर्म का अभिसंबन्ध कहा जाया करता है । साथ ही साथ अनेक
क्रियाओं के साथ एक कारक का सम्बन्ध भी ‘दीपक’ ही है ।

‘दीपक’ के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

‘महापराक्रमी शिशुपाल, अपने बल के घमण्ड से, आज भी (इस जन्म में भी)
संसार को पीड़ित कर रहा है । ठीक ही है क्योंकि सती स्त्री की सौतिमानव प्रकृति भी,
जन्म-जन्मान्तर में मनुष्य का साथ दिया करती है ।’

यहाँ, ‘शिशुपालवध’ की इस सूक्ति में, स्थिर मानव प्रकृति ‘प्रस्तुत’ और ‘प्राकरणिक’
है और सती स्त्री ‘अप्रस्तुत’ अथवा ‘अप्राकरणिक’, और इन दोनों में ‘अनुगमन’रूप
क्रिया का धर्म समान भाव से सम्बद्ध निदिष्ट किया हुआ है ।

‘तुम्हारे सरीखे प्रियतम के दूर चले जाने पर, काम के चाणों से विद्ध, वह बेचारी
भी उठती है, कभी लेटती है, कभी तुम्हारे निवासस्थान पर जाती है, कभी तुम्हारे
निवासस्थान से लौटती है, कभी हँसती है और कभी-कभी आह भरा करती है ।’

यहाँ, इस स्वरचित सूक्ति में, एक नायिका का उत्थान-शयन आदि अनेक क्रियाओं
से संबन्ध वर्णित है ।

प्राचीन आलङ्कारिकों ने गुण अथवा क्रियारूप धर्म के आदि, मध्य और अन्त में
उपनिबद्ध किये जाने के कारण, ‘दीपक’ को, आदि, मध्य किंवा अन्त्य दीपक के रूप में,

तीन प्रकार का मान रखा है। किन्तु यह 'त्रिविध्य' यहाँ अनावश्यक समझा गया है क्योंकि इस प्रकार का त्रिविध्य अन्य अलङ्कारों में भी सम्भव है और सहजा प्रकार से सम्भव है (जिससे केवल 'दोषक' में इसका उल्लेख निरर्थक है)।

विमर्श—(क) कतिपय वाक्यांश, जैसे 'क' वाक्यांश 'इन्द्र-आदि, दीनक' में मा 'औपम्य' को अभिव्यक्त्यन्ता आवश्यक मानते हैं। साहित्यद्वयकार इसके विरुद्ध नहीं हैं किन्तु स्वयं यदा समर्थक भी नहीं प्रस्तावित होते। 'अनेक क्रियाओं में एक वाक्य के अभिव्यक्त्यन्ता' में दीनक का मान्यता इस बात का प्रमाण है कि साहित्यद्वयकार को यहाँ 'औपम्य' या अभिव्यक्त्यन्ता अनिवार्य नहीं प्रतीत हुए।

(ख) 'दोषक' पद को निरुक्ति यह है—

‘प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्मध्यादेऽन्त्र निदिष्ट समानो धर्मः प्रसङ्गेनान्यत्रोपकाराद् दीपनाद् दीपसादृश्येन दापकाद्यालङ्काराध्यापकः ।’ (अलङ्कारमञ्जरी पृ. ७०)

अर्थात् 'दापक' का इस्तिलाज 'दारक' करने है अर्थात् इनमें प्रकृतिक अथवा अप्रकृतिक के बीच, वही भा, एक के साथ, निश्चित धन दूसरे के साथ, उन्ना प्रकार समवन हो जाया करता है जिन प्रकार एक स्थान पर रखा दापक, उम स्थान के साथ-साथ अन्य स्थान को भा प्रकाशित किया करता है।

रत्नाधारकार ने 'शीपक' का नाम यं रत्न प्रकाश दत्ताया है—

‘प्रकृतानामप्रकृतानाञ्जैकधर्माभिमन्त्र्यो दीपकम् । प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मः प्रसन्नाद-
प्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति सुन्दराकरोतीति दीपकम् । यद्वा दीप इव दीपकम्,
तज्ज्ञाया क्व । दीपसादृश्यञ्च प्रकृताप्रकृतप्रकाशकत्वेन यापयम् ।’

(समाप्त - आरक्षकता)

(१) आनन्द भान का 'गङ्गा' विभाग का धा—

‘वादिमध्यान्तविषय त्रिधा दोषकमिष्यते । एकस्यैव श्रवण्यत्वादिनि तद्विषये त्रिधा ॥

अमृनि कुर्वतेऽन्वयमिदं स्यादयमवशिष्यतात् । त्रिभिर्निदशनश्च त्रिधा निदिश्यते यथा ॥'

(५१, ३१, २११. २ १५, १२)

निम्न पदार्थ कृष्ण से हल प्रकाशित हैं।

‘आदिमन्यान्तविषया प्राधान्येतररोगिनः । नन्तुगन्तोपना धर्मा यत्र तर्ह्येव हिनुः ॥’

— 171 —

‘श्यामला प्रावृषेद्याभिदिशो जीनूनरत्निभि । भुवध सुकुमाराभिर्नवशादूटारानिभि ॥’

ପ୍ରମାଣ 'ସ୍ୱାଧୀନତା' ଓ ଅନ୍ୟ । ଏହା ମଧ୍ୟ । ନା । ପ

[illegible]

'मालिनीरनुकृतं त्रियोऽङ्गुणे नः । एतन्मुखपत्रं नृपतानामुपपदा ॥'

परी, 'पुस्तक विधि' में । ५५ नं० १ में ३५ । १ ।

— 152 —

‘तदानीं स्फातलाव्ययपन्निस्सामरनिर्भर । जालाननेन्दुरिन्दुश्च कस्य नानन्दस्य’ अभवत् ॥”

पक्षी 'आनन्द' व. ५३ नं० ३३५, १९५१ ई.

[illegible]

(१६—प्रतिवस्तूपमा)

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ॥ ४६ ॥

एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।

यथा—

‘धन्यासि वैदर्भि । गुणैरुदारैर्यथा समाकृष्यत नैपधोऽपि ।

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यद्विधमप्युत्तरलीकरोति ॥’

अत्र समाकर्षणमुत्तरलीकरण च क्रियैकैव पौनरुक्त्यनिरासाय भिन्नवाचक
तथा निर्दिष्टा ।

इयञ्च मालयाऽपि दृश्यते यथा—

‘विमल एव रविर्विशदः शशी प्रकृतिशोभन एव हि दर्पणः ।

शिवगिरि’ शिवहाससहोदरः सहजसुन्दर एव हि सज्जनः ॥’

(घ) ‘तुल्ययोगिता’ से ‘दीपक’ का भेद इसलिये स्पष्ट है क्योंकि जहाँ ‘तुल्ययोगिता’ में केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों में एकधर्माभिसम्बन्ध अपेक्षित है वहाँ ‘दीपक’ में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एकधर्माभिसम्बन्ध अभिप्रेत है । रसगङ्गाधरकार ‘दीपक’ को पृथक् अलङ्कार न मानकर, ‘तुल्ययोगिता’ का ही एक प्रकार-वैचित्र्य मानने के समर्थक हैं—

‘तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति । धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात् । विच्छित्तिवैलक्षण्यस्यैवालङ्कारविभागहेतुत्वात् । न च धर्मस्य सकृद्वृत्तेरविशेषोऽपि धर्मिणा प्रकृतत्वाप्रकृतत्वाभ्यां प्रकृताप्रकृतकत्वेन च तुल्ययोगिताया दीपकस्य विशेष इति वाच्यम् । ... सर्वेषामप्यलङ्काराणां प्रमेदवैलक्षण्याद्वैलक्षण्यापत्तेश्च । ... तस्मात्तुल्ययोगिताया एव त्रैविध्यमुचितम् । प्रकृतानामेव धर्मस्य सकृद्वृत्तिः, अप्रकृतानामेव, प्रकृता प्रकृतानां चेति ॥’ (रसगङ्गाधर ३२६-३२७)

अनुवाद—‘प्रतिवस्तूपमा’ वह अलङ्कार है जिसे सादृश्य की अभिव्यञ्जना से भरे दो वाक्यार्थों में, पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा, एक साधारण धर्म का निर्देश माना जाया करता है।
जैसेकि—

हे विदर्भकुमारी दमयन्ती ! तुम सचमुच धन्य हो क्योंकि तुम्हीं ऐसी हो, जिसने, ‘अपने महनीय गुणों से, महाराज नल का हृदय आकृष्ट कर रखा है । मला, इससे बढ़ कर चन्द्रिका की क्या स्तुति कि वह समुद्र को भी, अपनी ओर, चञ्चल बना दिया करती है ।’

यहाँ (‘नैपथीयचरित’ की इस सूक्ति में) ‘प्रतिवस्तूपमा’ स्पष्ट है क्योंकि ‘समाकर्षण’ (आकृष्ट करने) और ‘उत्तरलीकरण’ (चञ्चल बनाने) की एकरूपवाली क्रिया ही पुनरुक्ति-दोष के निराकरण के लिये, भिन्न भिन्न वाचक शब्दों द्वारा निर्दिष्ट की गयी है ।

प्रतिवस्तूपमा का ‘माला’ रूप भी काव्यसाहित्य में दिखायी पड़ा करता है । इस सूक्ति में ‘माला-प्रतिवस्तूपमा’ देखिये—

‘सूर्य स्वभाव से ही विमल है, चन्द्रमा स्वभाव से ही विशद है, दर्पण स्वभावतः ही सुन्दर हुआ करता है, कैलास स्वभावतः ही महादेव के अट्टहास की भाँति शुभ्र है और सज्जन पुरुष भी स्वभाव से ही सज्जन —’

अत्र विनलविशद्विर्यत एक एव ।

वैधर्म्येण यथा—

‘चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकापानकर्मणि ।

विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि ॥’

(१७—दृष्टान्त)

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम् ॥ ५० ॥

नधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः । अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विधा ।
क्रमेणोदाहरणम्—

‘अविदितगुणापि सत्कविमणिति कर्णेपु वसति मधुवाराम् ।

अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृश मालतीमाला ॥’

यहाँ भी, ‘कथितपदता’ रूप दोष के निवारण के लिये, एक ही ‘स्वच्छता’ का धर्म विमल, विशद आदि-आदि निरु-भिल वाचक पदों द्वारा प्रतिपादित किया हुआ है । जिनमें ‘माला प्रतिवस्तूपमा’ का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है ।

यह ‘प्रतिवस्तूपमा’ साधर्म्य की भाँति वैधर्म्य में भी हुआ करती है, जैसे कि—

‘चन्द्रिका के पान में चकोरियाँ ही चतुर हैं । तभी तो अचन्ती की रमगियों को छेड़ कर और रमगियाँ रतिझोखा में निपुण नहीं पायीं जानीं ।’

[यहाँ ‘चतुरता’ और ‘निपुणता’ का एकरूप ही धर्म, पृथक्-पृथक् पदों द्वारा निर्दिष्ट है और ‘चकोरियों’ तथा ‘अचन्ती की रमगियों’ में नाश्वरी भी अभिव्यक्त है । ‘वैधर्म्य’ में प्रतिवस्तूपमा यहाँ इसलिये है क्योंकि आपातत ‘नैपुण्य’, निषेधार्थक नञ् के योग से, ‘वानुर्य’ से विलक्षण सा लग रहा है ।]

विमर्श—‘प्रतिवस्तूपमा’ को निम्नलिखित पर है—

‘प्रतिवस्तुप्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधनोऽस्यानिति (प्रतिवस्तूपमा) ।’

मान्य यह है कि ‘वस्तु’ शब्द वाक्यांश का सम्मिलन रहता है और इस प्रत्येक वाक्यांश में समान धर्म के अभिव्यक्ति के द्वारा ‘प्रतिवस्तूपमा’ को स्वरूप निम्न लेना है । रत्नधारणा ने इसलिये ‘प्रतिवस्तूपमा’ का उद्देश्य दिया है—

‘वस्तुप्रतिवस्तुभाषापक्षनाधारणधनकवाक्यार्थयोरापेक्षोपपत्तिः प्रतिवस्तूपमा ।’

अन्वय—‘दृष्टान्त’ वह झलझार है जिसे समान धर्म में लुप्त उपमान और उपमेय रूप वाक्यांशों (अथवा प्रकृत और अप्रकृतरूप धर्मद्वय में) सिद्ध प्रतिनिधित्व की उत्पत्ति कहा करते हैं ।

यहाँ कारिका में ‘सधर्मस्य’ पद का उपादान इसलिये है जिसमें ‘प्रतिवस्तूपमा’ में दृष्टान्त को पृथक् किया जा सके (‘प्रतिवस्तूपमा’ में साधारण धर्म में सिद्धप्रतिनिधित्व अपेक्षित नहीं अपितु धर्मद्वय में सिद्धप्रतिनिधित्वभाव अपेक्षित हुआ करना है और ‘दृष्टान्त’ में, धर्मपक्षित धर्मद्वय में प्रतिनिधित्व अथवा सिद्धप्रतिनिधित्वभाव की उत्पत्ति आवश्यक है) ।

‘दृष्टान्त’ भी, साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा, दो प्रकार का हुआ करता है । जैसे कि साधर्म्य में दृष्टान्त—

‘जिमी अच्छे कवि की सृष्टि, चारों ओरके गुन की परग हुई हो । या न दुरंगे हो, सुन्ने गले के कानों में मधुवार बरसाया करती है । और यह टोक भी है क्योंकि माउली की

‘त्वयि दृष्टे कुरङ्गाद्याः स्रसते मदनव्यथा ।

दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः ॥’

‘वसन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो नः ।

प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः किं मधुव्रतः काङ्क्षति वल्लिमन्याम् ॥’

इदं पद्यं मम । अत्र ‘मनः कुतो नः’ इत्यस्य ‘काङ्क्षति वल्लिमन्याम्’ इत्यस्य चैकरूपतयैव पर्यवसानात्प्रतिवस्तूपमैव ।

इह तु कर्णं मधुधारावमनस्य नेत्रहरणस्य च साम्प्रमेव, न त्वैकरूप्यम् । अत्र समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यासः, प्रतिवस्तूपमा-दृष्टान्तयोस्तु न तथेति भेदः ।

माला, चाहे उसकी गन्ध पहचान में आये या न आये, देखने वालों की दृष्टि को अपनी ओर वरवस खींच ही लिया करती है ।’

इसी प्रकार ‘वधर्म्य’ में दृष्टान्त—

‘जब तुम दिखायी पढ़ जाते हो तब तो उस मृगनयनी की मदनपीड़ा दूर भाग जाती है क्योंकि कुमुदावली तभी तक दीन-हीन दिखायी पढ़ा करती है जब तक चन्द्रमा उदित न हुआ हो ।’

अथवा निम्न स्वरचित-सूक्ति में ‘दृष्टान्त’ (१)

‘वसन्तलेखा में लगा हुआ हमारा मन अन्य सुन्दरियों में क्योंकर रमना चाहे ? मला खिली चमेली के मधुरस कालम्पट भौंरा क्या किसी अन्य लता को चाहा करता है ।’

यहाँ ‘मनः कुतो नः’ (हमारा मन क्योंकर लगे) और ‘काङ्क्षति वल्लिमन्याम्’ (दूसरी लता को चाहे) ये दोनों वाक्य ऐसे हैं जो कि अन्ततोगत्वा एक ही अभिप्राय रखते हैं और ‘प्रतिवस्तूपमा’ की रूपरेखा बना रहे हैं । इसलिये यहाँ ‘दृष्टान्त’ नहीं अपितु ‘प्रतिवस्तूपमा’ ही मानी जा सकती है । किन्तु ‘अविदितगुणापि’ आदि सूक्ति में ‘कानों में मधुधार की वर्षा’ और ‘नेत्रों के आकृष्ट करने’ के धर्मों में, एकरूपता के बदले, समान रूपता ही प्रतीत होती है जिससे वहाँ ‘दृष्टान्त’ के ही स्वरूप का दर्शन हो सकता है ।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ‘प्रतिवस्तूपमा’ और ‘दृष्टान्त’ में जो प्रकृत और अप्रकृत विषयक ‘समर्थ्य’ और ‘समर्थक’ वाक्यार्थ हुआ करते हैं उनमें सामान्य विशेषभाव नहीं (अपितु विस्मयप्रतिविम्बभाव) हुआ करता है । सामान्यविशेषभाव तो ‘अर्थान्तरन्यास’ में रहा करता है जहाँ ‘समर्थ्य’ और ‘समर्थक रूप से अवस्थित दो वाक्यार्थों में, सामान्य और विशेष को सम्बन्ध के माने बिना काम नहीं चलता ।

विमर्श—(क) ‘दृष्टान्त’ और ‘प्रतिवस्तूपमा’ के पारस्परिक भेद के सम्बन्ध में रसगङ्गा धरकार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘अस्य चालङ्कारस्य (दृष्टान्तस्य) प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यत्तस्यां धर्मो न प्रतिविम्बितः, किन्तु शुद्धसामान्यात्मनैव स्थितः । इह तु प्रतिविम्बितः ।’

(रसगङ्गाधार दृष्टान्तप्रकरण)

अर्थात् ‘दृष्टान्त’ और ‘प्रतिवस्तूपमा’ परस्पर भिन्न भिन्न अलङ्कार हैं । ‘दृष्टान्त’ में तो दोनों वाक्यों के धर्मों का विम्ब-प्रतिविम्बभाव आवश्यक है, किन्तु ‘प्रतिवस्तूपमा’ के लिये, दोनों वाक्यों में भिन्न पदों द्वारा प्रतिपादित एक साधारण धर्म की ही अपेक्षा है ।

(१८—निदर्शनालङ्कार)

सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित् ।

यत्र विम्बानुविम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥ ५१ ॥

तत्र सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना यथा—

‘कोऽत्र भूमिवलये जनान् मुधा तापयन् सुचिरमेति सम्पदम् ।

वेदयन्निति दिनेन भानुमानासत्तां चरमाचलं तत ॥’

अत्र रवेरीदृशार्थवेदनक्रियाया वस्तुत्वेनान्वयः सम्भवत्येव । ईदृशार्थज्ञापनसमर्थचरमाचलभानुरूपधर्मवत्त्वात् । न च रवेरस्ताचलगमनस्य परितापिना

जागर्त जगत् के अन्तर्गत ‘इष्टान्’ और ‘प्रतिबिम्बान्’ के अन्तर्गत ‘वस्तुसम्बन्ध’—

‘वस्तुसम्बन्ध’ प्रकृतार्थस्य विशेषाभिधित्वया सादृश्यार्थसंप्रकृतनर्थान्तरमुपादीयते । अत एव चात्र प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः । इष्टान्ते पुनरेवाहो वृत्तान्तोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतनर्थार्थस्याविस्पष्टा प्रतीतिनां भूदिति प्रतीतिविशदीकरणार्थमर्थान्तरमुपादीयते । (अन्तर्यामिनिर्णयः, १६ : ५)

अर्थात् ‘प्रतिबिम्बान्’ में ‘प्रकृत’ का उल्लेख, प्रकृत के सम्बन्ध में किसी विशेषता के वर्णन की इच्छा में किया जाना होता है किन्तु ‘इष्टान्’ में ‘प्रकृत’ का उल्लेख सम्बन्धि उपाय करना है जिसमें प्रकृत की विशेष प्रतीति बोध करे ।

(१८) परिच्छेदका जागृत् के अनुसार ‘इष्टान्’ और ‘प्रतिबिम्बान्’ के अन्तर्गत अन्तर्गत मानना अनावश्यक है—

‘यदि तु न तेषां दाक्षिण्य तद्वत्कस्यवाल्ङ्कारस्य द्वौ भेदौ—प्रतिबिम्बस्य इष्टान्तश्च । यच्चानयोः किञ्चिद्वैलक्षण्य तत्प्रभेदताया एव साधकम्, नालङ्कारताया इति सुवचसः ।’

(अन्तर्यामिनिर्णयः)

अर्थात् यदि प्राचीन आचार्यों के अन्तर्गतविभाजन में कोई विशेष जाहज़ नहीं माना जाय तब भी ‘वस्तुसम्बन्ध’ के ही विमर्श में ‘प्रतिबिम्बान्’ और ‘इष्टान्’ भेद का समर्थन है न कि अन्तर्गत अन्तर्गतों के अन्तर्गत ।

अतएव—‘निदर्शना’ वह अलङ्कार है जिसे सम्भव अथवा असम्भव (उपपन्न अथवा अनुपपन्न) ‘वस्तुसम्बन्ध’ अर्थात् दो वाक्यांशों के परस्परान्वय में निम्नप्रतिनिधिभाव (सदृश्य) की शक्ति कहा करते हैं ।

उपपन्न अथवा असाधित वाक्यांशों के परस्परान्वय में, निम्नप्रतिनिधिभाव की शक्ति में जो ‘निदर्शना’ होता है उसे ‘सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना’ कहा करते हैं । इसका उदाहरण यह है—

‘इस समार में ऐसा कौन है जो व्यर्थ के हिन्दू लोगों को पंदा प्युचाये और मन्दराओं का उपभोग करता रहे ।’ यद्यपि इसी वाक्य की सूचन करते हुए ‘नि’ शब्द के बाद ही सूर्य अस्तावट की ओर चला गया करता है ।

यहाँ ‘वस्तुसम्बन्ध’ की ‘सम्भाव्यता’ अथवा उपपत्ति स्पष्ट है । कारण यह है कि यहाँ इस प्रकार के वाक्य अर्थात् ‘इस समार में दूसरों को दुःख देने वाले दुष्ट दिन न रह सके’ आदि के सूचन करने (घटना) में ‘सूर्य’ की जो उपपत्ति से उद्गित किया गया है उसमें कोई अलङ्कार नहीं दिगार्ह देता क्योंकि उक्त कि ‘सूर्य’ के विन्दे

विपत्प्राप्रेष्व विम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति । असम्भवद्वस्तुनिदर्शना त्वेकवाक्या-
नेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा ।

तत्रैकवाक्यगा यथा—

‘कलयति कुवलयमालाललितं कुटिलः कटाक्षविक्षेपः ।

अधरः किसलयलीलामाननमस्याः कलानिधेर्विलासम् ॥’

अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो वहत्विति कटाक्षविक्षेपादीना कुवलयमालादि-
गतललितादीनां कलनमसम्भवात्तल्ललितादिसदृशं ललितादिकमवगमयत्कटाक्ष-
विक्षेपादेः कुवलयमालादेश्च विम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति ।

यथा वा—

‘प्रयाणे तव राजेन्द्र । मुक्ता वैरिभृगीदृशाम् ।

राजहंसगतिः पद्मभ्यामाननेन शशिद्युतिः ॥’

‘अस्ताचल की ओर चल पड़ने’ के सामर्थ्य का निर्देश किया हुआ है तब तो इस प्रकार के अभिप्राय के ‘वेदन’ में भी उस (सूर्य) का सामर्थ्य युक्तियुक्त ही है । यहाँ, इस प्रकार, सूर्य का, वस्तुत्व-क्रिया से, यह सम्बन्ध, अन्ततोगत्वा, ‘सूर्य के अस्ताचल की ओर चले जाने’ और ‘अत्याचारी लोगों के विपत्ति में पड़ने’—इन दोनों वाक्यार्थों में, विम्बप्रति-बिम्बभाव (सादृश्य) की स्थापना करता प्रतीत हो रहा है ।

इसके अतिरिक्त ऐसी ‘निदर्शना’ जो कि ऐसे वाक्यार्थों के परस्परान्वय में होनेवाले ‘बिम्बप्रतिबिम्बभाव’ में रहा करती है जो अनुपपन्न अथवा बाधित प्रतीत हुआ करते हैं, वह है जिसे ‘असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना’ कहा करते हैं । ‘असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना’ भी दो प्रकार की है—पहली एकवाक्यगा (एक वाक्य में ही होनेवाली) और दूसरी अनेकवाक्यगा (एक से अधिक वाक्यों में होने वाली) । इसके ‘एकवाक्यगा’ रूप का निदर्शन यह सूक्ति है—

‘इस सुन्दरी के कुटिल कटाक्ष नीलकमलों की माला के विलास अपनाये हुये हैं, इसका अधरोष्ठ ऐसा है जो कोमल पल्लव की लीला धारण किया करता है और इसका मुख तो चन्द्रमा के विभ्रमविलास से पूर्ण है ही ।’

यहाँ ‘वस्तुसम्बन्ध’ की अनुपपत्ति इसीसे स्पष्ट है कि यहाँ यह प्रतिपादित किया हुआ है कि ‘एक का धर्म दूसरे में सक्रान्त हो रहा है’ । जब कि ‘एक का धर्म दूसरे में नहीं सक्रान्त हो सकता’ तब यह निश्चित है कि ‘कटाक्षविक्षेप’ आदि कुवलयमाला आदि के धर्मरूप से अवस्थित विलास आदि का धारण नहीं कर सकते । इसलिये यहाँ जो तात्पर्य प्रकाशित हो रहा है वह यह है कि ‘कटाक्षविक्षेप आदि कुवलयमाला आदि के विलास आदि के समान विलास का धारण कर रहे हैं’ और यह तात्पर्य वस्तुतः ‘कटाक्षविक्षेप आदि’ और ‘कुवलयमाला आदि’ में ‘विम्बप्रतिबिम्बभाव’ अथवा सादृश्य की ही श्रलक, अन्ततोगत्वा, दिखला रहा है (यहाँ एक वाक्य में ही दो धर्मिओं का सादृश्य-निदर्शन है जिससे यहाँ ‘एकवाक्यगा’ असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना का स्वरूप दिखायी दे रहा है) ।

अथवा, इस सूक्ति में ‘एकवाक्यगा’ असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना देखिये—

‘महाराज ! जब आप शत्रुओं पर विजययात्रा के लिये चल पड़े तब उनका मृगनयनी सुन्दरियों के चरणों ने राजहंसों की चाल छोड़ दी और उनके मुखों ने चन्द्रमा की कान्ति से हाथ धो लिया ।’

अत्र पादाभ्यामसम्बद्धराजहसगतेस्त्यागोऽनुपपन्न इति तयोस्तत्सम्बन्धः कल्प्यते. स चामम्भवन् राजहसगतिमिव गतिं बोधयति ।

अनेकवाक्यगा यथा—

‘इदं किलाज्याजमनोहरं वपुस्तपक्कलम साधयितुं य इच्छति ।

ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलता छेत्तुमृषिर्न्यवस्यति ॥’

अत्र यच्छब्दनिदिष्टवाक्यार्थयोरभेदेनान्वयोऽनुपपद्यमानस्तादृशवपुस्तप-
क्कलमन्त्रमाधनेन्द्रा नीलोत्पलपत्रधारया शमीलताछेदनेच्छेवेति विन्वस्ति-
विन्वभावे पर्यवस्यति ।

यथा—

‘जन्मेद वन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्तया ।

काचमूल्येन विक्रीतो हन्त । चिन्तामणिर्मया ॥’

अत्र भवभोगलोभेन जन्मनो व्यर्थतानयनं काचमूल्येन चिन्तामणिविक्रय इति पर्यवसानम् ।

यहाँ वर्ष्यं शत्रुनारिओं के चरणों के लिये राजहसों की चाल के छोड़ने की बात अनु-
पपन्न भी लगती है। यहाँ ‘नारीचरण’ और ‘राजहसगति के त्याग’ में (धर्मधनिभावरूप)
सम्बन्ध की दृष्टिना आवश्यक हो जाती है। यह सम्बन्ध अभी उभरता होता है जब
शत्रुनारिओं की चाल और राजहसों की चाल में ‘सादृश्य’ प्रकाशित होने लगता है जिससे
यह प्रतीत होता है कि यहाँ शत्रुनारिओं के चरण राजहसों की चाल के समान चाल का
परित्याग करते वगिन किए जा रहे हैं।

इसी प्रकार ‘अनेकवाक्यगा’ अमम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिर्दर्शना का उदाहरण (महा
कवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की) यह सूक्ति है—

‘अरे ! हम निमग्नसुन्दर (शकुन्तला के) शरीर को, जिन क्षणों में, तपस्या के
कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाना जान लिया है उसने, मच्छुच, नीलकण्ठ के
किमलय की कोर में शर्मावृक्ष के काटने का निश्चय कर लिया है ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘तपस्या के कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाने’ और ‘शर्मावृक्ष
के काटने’—इन दोनों वाक्यार्थों में, जोकि ‘य’ और ‘म’ पदों में सम्यक् रूप से रचे गये
हैं, परस्पर अभेदरूप में अन्वय अनुपपन्न है किन्तु अन्तर्भोगवा इनमें हम प्रकार के
‘विश्वप्रतिबिम्बभाव’ (सादृश्य) का दर्शन हो जाता है कि ‘कैमलाद्रौ शकुन्तला के
शरीर को तपसाधन में समर्थ बनाने की इच्छा’ प्रेमी है जो कि ‘नीलोत्पलपत्र की
धार में शर्मावृक्ष के काटने की इच्छा’ के समान है। इस प्रकार इन दोनों वाक्यार्थों का
अन्वय संगत बन जाता है।

अथवा दूसरे निर्दर्शन के लिये यह सूक्ति देखिये—

‘समार के लुओं की भोगलिप्सा में मेरा मारा जीवन व्यर्थ होत गया। भाह !
मैंने तो चिन्तामणि को काच के मोल देव दारा ।’

यहाँ भी इन दोनों वाक्यार्थों का अनुपपन्न सम्बन्ध अन्त में इनके इस ‘विश्वप्रति-
बिम्ब’ भाव में विधान्त हो रहा है कि ‘भवभोग की लिप्सा में जीवन का व्यर्थयापन,
वस्तुन’, काच के मूल्य में चिन्तामणि के विक्रय के समान है’ ।

एवम्—

‘क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविपया मतिः ।

तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥’

अत्र मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमुडुपेन सागरतरणमिवेति पर्यवसानम् ।

इयं च कचिदुपमेयवृत्तस्योपमानेऽसम्भवेऽपि भवति ।

यथा—

‘योऽनुभूतः कुरङ्गाद्यास्तस्या मधुरिमाधरे ।

समास्वादि स मृद्वीकारसे रसविशारदैः ॥’

अत्र प्रकृतस्याधरस्य मधुरिमधर्मस्य द्राक्षारसेऽसम्भवात्पूर्ववत्साम्ये पर्यवसानम् ।

मालारूपाऽपि यथा मम—

‘क्षिपसि शुक्रं वृषदंशकवदने मृगमर्पयसि मृगादनरदने ।

वितरसि तुरगं माह्वविपाणे निदधच्चेतो भोगविताने ॥’

इह बिम्बप्रतिबिम्बतात्त्वेन विना वाक्यार्थापर्यवसानम् । दृष्टान्ते तु पर्यव-

इसी भाँति (महाकवि कालिदास के रघुवश की) यह सूक्ति भी इस निदर्शना प्रकार का ही उदाहरण है—

‘कहाँ तो सूर्यवश का वर्णन ! और कहाँ मेरी अल्पज्ञ बुद्धि ! ऐसा लगता है जैसे मैं अज्ञानवश उडुप (तमेइ या डोंगी) के सहारे अपार पारावार को पार करने चल पड़ा होऊँ ।’

यहाँ भी दोनों वाक्यार्थों अर्थात् ‘अल्प बुद्धि से सूर्यवश के वर्णन’ और ‘उडुप से सागर के संतरण’ में संबन्ध अनुपपन्न है किन्तु अन्त में इनकी इस ‘सादृश्य’ में विश्रान्ति हो जाती है कि ‘मेरी अल्प बुद्धि से सूर्यवश का वर्णन हो सकना ऐसा ही है जैसा कि उडुप से सागर के पार पहुँच सकना’ ।

यह निदर्शना वहाँ भी दिखायी देती है जहाँ ‘उपमेय’-संबन्धी व्यवहार ‘उपमान’ में असंभव सा प्रतीत होता है । जैसे कि यहाँ—

‘उस मृगनयनी के अधर में मुझे जिस मधुरता का आस्वाद मिला उसे रसज्ञान मृद्वीका रस (अमूर) में ही पा सके ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि वर्ण्य नायिका अधर की मधुरता द्राक्षारस में असंभव है किन्तु अन्त में यह भी स्पष्ट है कि वर्ण्य नायिका अधर की मधुरता द्राक्षारस की मधुरता के समान प्रतिपादित की जा रही है ।

यह ‘निदर्शना’ मालारूप में भी पायी जाया करती है । जैसे कि मेरी इस स्वरचित सूक्ति में जो ‘निदर्शना’ है वह ‘माला’ निदर्शना है—

‘अरे ! तुम जो अपने मन को सांसारिक भोग-विलास में रमा रहे हो, याद रखो, तोते को बिलाव के मुँह में फँक रहे हो, हिरन को बधेरे के जबड़ों में ढाल रहे हो और घोड़े को भैंसे की सींगों पर रख रहे हो ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘विषयभोग में मन के रमाने’ और ‘तोते को बिलाव के मुँह में फँकने आदि’ में, जब तक, ‘बिम्बप्रतिबिम्बभाव’ (सादृश्य) की स्थापना न हो जाय व तक वाक्यार्थ में विश्रान्ति नहीं आ सकती । यहाँ वाक्यार्थ ‘बिम्बप्रतिबिम्बभाव’

सितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्याद्विषयप्रतिविम्बताप्रत्यायनम् । नापीयमर्थापत्तिः,
तत्र 'हारोऽय हरिणाक्षीणाम्—' इत्यादौ सादृश्यपर्यवसानाभावात् ।

(१९—व्यतिरेक सप्रभेद निरूपण)

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्यूनताऽथवा ।

व्यतिरेकः—

मैं ही समाप्त होकर सगत हो जाते हैं जिसमे यह प्रतीत हो जाता है कि यहाँ 'विषय भोग में चित्त का वर्णन' वस्तुतः 'विलास के मुँह में तोते के फँकने' आदि के समान प्रति-पादित किया जा रहा है ।

यहाँ 'निदर्शना' और 'दृष्टान्त' का यह भेद समझ लेना आवश्यक है—'निदर्शना' में तो विषयप्रतिविम्बभाव के आने के बिना वाक्यार्थ ही विध्रान्त नहीं हुआ करता केन्तु 'दृष्टान्त' में वाक्यार्थ की विध्रान्ति के बाद, सामर्थ्यवश, विषयप्रतिविम्बभाव का आने पर अथवा प्रत्यायन हुआ करता है ।

'निदर्शना' और 'अर्थापत्ति' अलङ्कार में भी परस्पर भेद है—'निदर्शना' के लिये विषय-प्रतिविम्बभाव अनिवार्य है किन्तु 'अर्थापत्ति' के लिये, जमा कि 'हारोऽय हरिणा क्षीणाम्' आदि अर्थापत्ति प्रसङ्गों में स्पष्ट है, विषयप्रतिविम्बभाव अथवा सादृश्य में वाक्यार्थ की विध्रान्ति अपेक्षित नहीं ।

विमर्श—'दृष्टान्त' 'निदर्शना' के भेदक रह माना है—

'निरपेक्षयोर्वाश्रयार्थयोर्हि विषयप्रतिविम्बभावो दृष्टान्तः । यत्र च प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरूप्येन तत्र सख्यन्धानुपरतिमूला निदर्शनं युक्तं, न दृष्टान्तः । एव च—

'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुःश्रमवापिनो यदि जनस्य ।

दूरीकृता खलु गुणैर्यथालता वनलताभिः ॥'

एतत्तु दृष्टान्तबुद्धिर्न कार्या । उक्तन्यायेन निदर्शनाप्राप्ते ।' (२५ अमरस्य, पृष्ठ ९८)

अर्थात् 'दृष्टान्त' तो स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व में वाक्यार्थों का विषयप्रतिविम्बभाव ही 'निदर्शना' तब होता है जब कि प्रकृत वाक्यार्थ पर प्रकृत वाक्यार्थ के मान नापिछ-पदद्वयों के तौरों में, दोनों में, समर्थ का अनुवर्ति के निमित्त के लिये, 'म दृष्ट' बनना पड़े जाता है ।

अनुवर्त—'व्यतिरेक' वह अलङ्कार है जिसे उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य-वर्णन अथवा न्यूनता-वर्णन में देखा जाया करता है ।

यह 'व्यतिरेक' ४८ प्रकार का हुआ करता है—(१ ला) व्यतिरेक' यह है जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का 'हेतु' प्रतिपादित रहा करता है । इसमें अनिरिक्त यहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का 'हेतु' प्रतिपादित नहीं हुआ करता यहाँ 'त' (व्यतिरेक) के ये तीन प्रकार हुआ करते हैं—(१ ला) जिसमें उपमेय का अधिक्य-माधक हेतु उपनिबद्ध हो, (२ ला) जिसमें उपमेय का न्यूनता-माधक हेतु उपनिबद्ध हो और (३ ला) जिसमें उपमेय के उत्कर्ष अथवा उपमान के उत्कर्ष के माधक किसी भी हेतु का कोई भी उपनिबद्ध न हो । इस प्रकार उपमेय के उत्कर्ष-हेतु की उक्ति में एक और अलङ्कार में तीन भेदों को नित्यतर अनिरिक्त के ४ भेद मिल जायेंगे । न चारों में से प्रत्येक सामर्थ्य अथवा उपमानोपमेयभाव के सादृश्य अथवा, अथवा अथ-

स च—

—एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा ॥ ५२ ॥

चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः ।

आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा ॥ ५३ ॥

प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः ।

उपमेयस्योपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगत निकर्ष-
कारण च । तयोर्द्वयोरप्युक्तावेकः, प्रत्येक समुदायेन वानुक्तौ त्रिविध इति चतु-
विधेऽप्यस्मिन्नुपमानोपमेयत्वस्य निवेदन शब्देन अर्थेन आक्षेपेण चेति द्वाद-
शप्रकारोऽपि श्लेषे, 'अपि' शब्दादश्लेषेऽपीति चतुर्विंशतिप्रकार' । उपमानान्यु-
नतायामप्यनयैव भङ्गया चतुर्विंशतिप्रकारेति मिलित्वा अष्टचत्वारिंशत्प्रकारो
व्यतिरेकः ।

उदाहरणम्—

'अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा ।'

बोधन और आक्षेपतः प्रत्यायन के कारण तीन-तीन प्रकार के हुआ करते हैं जिससे
'व्यतिरेक' के १२ प्रकार निष्पन्न होते हैं । व्यतिरेक के ये बारहों भेद 'श्लेष' और 'अश्लेष'
दोनों में संभव हैं जिससे इसके २४ प्रकार हो गये । इसी प्रकार उपमान की अपेक्षा
उपमेय के न्यूनत्व-वर्णन में जो 'व्यतिरेक' हुआ करता है उसके भी ये ही २४ प्रकार हुआ
करते हैं । इस प्रकार सब मिलाकर 'व्यतिरेक' के ४८ प्रकार सिद्ध हुये ।

यहाँ 'व्यतिरेक' का अर्थात् उपमान से उपमेय के उत्कर्ष का जो 'हेतु' है उसका
अभिप्राय उपमेयगत उत्कृष्टता और उपमानगत निकृष्टता से सम्बद्ध किसी कारणविशेष
का अभिप्राय है । इन दोनों प्रकार के हेतुओं की 'उक्ति' में तो प्रथम प्रकार का 'व्यतिरेक'
हुआ करता है और इनकी 'अनुक्ति' में द्वितीय प्रकार का 'व्यतिरेक' जो कि तीन प्रकार
का है—(१ ला) केवल उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति में, (२ रा) केवल उपमान-
गत अपकर्ष हेतु की अनुक्ति में और (३ रा) दोनों प्रकार के हेतुओं की अनुक्ति में । इस
चतुर्विध 'व्यतिरेक' में उपमानोपमेयभाव तीन प्रकार से प्रतिपादित हो सकता है—
(१ ला) शब्दतः, (२ रा) अर्थतः और (३ रा) आक्षेपतः (अर्थात् इवादि पदों के
अभाव में भी उपमानोपमेयभाव की कल्पना द्वारा) । इसलिये इस चतुर्विध 'व्यतिरेक'
के बारह प्रकार निष्पन्न होते हैं । ये बारहों प्रकार श्लिष्टपदनिबन्धन भी हो सकते हैं और,
जैसा कि 'अपि' का अभिप्राय है, अश्लिष्टपदनिबन्धन भी । इस प्रकार उपमान की
अपेक्षा उपमेय के उत्कर्षरूप व्यतिरेक के ये २४ प्रकार हैं । इसी ढंग से, उपमान की
अपेक्षा उपमेय के अपकर्षरूप 'व्यतिरेक' के भी २४ ही प्रकार सिद्ध होते हैं और इन
दोनों को मिलाकर यह स्पष्ट है कि 'व्यतिरेक' के समस्त प्रकार ४८ हैं ।

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'उस सुन्दरी का जो निष्कलङ्क मुख है वह कलङ्की चन्द्रमा जैसा नहीं ।'

अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्वं हेतुद्वयमप्युक्तम्, यथा शब्दप्रतिपादनाच्च शाब्दमौपम्यम् ।

अत्रैव 'न कलङ्कविधूपमम्' इति पाठे आर्यम् । 'जयतीन्दु कलङ्कितम्' इति पाठे त्विववत्तुल्यादिपदविरहादाश्लेषम् । अत्रैवाकलङ्कपदत्यागे उपमेयनोत्कर्ष-कारणानुक्तिः । कलङ्कपदत्यागे चोपमानगतनिकर्षकारणानुक्तिः । द्वयोरनुक्तौ द्वयोरनुक्तिः ।

श्लेषे यथा—

'अतिगाढगुणायाम् नाञ्जवद्भ्रुवा गुणा ।'

अत्रैवार्थे वतिरिति शाब्दमौपम्यम् । उत्कर्षनिकर्षकारणयोर्द्वयोरप्युक्तिः । गुणशब्दः श्लिष्टः । अन्ये भेदाः पूर्ववद्बोद्धव्याः । एतानि चोपमेयस्योपमानादाधिक्य उदाहरणानि । न्यूनत्वे दिङ्मात्रं यथा—

यहाँ उपमेयगत उत्कर्ष के हेतुरूप में 'निकलङ्कता' और उपमानगत अपकर्ष के हेतुरूप में 'कलङ्कित' दोनों उपात्त हैं । साथ ही साथ 'यथा' शब्द के प्रयोग में, चन्द्र और सुख का 'शाब्द' उपमानोपमेयभाव भी स्पष्ट है । यहाँ यदि 'न कलङ्क विधूपमम्' के बदले 'न कलङ्कविधूपमम्' कर दिया जाय तो 'आर्थ' उपमानोपमेयभाव स्पष्ट हो जाता है और यदि 'जयतीन्दु कलङ्कितम्' (कलङ्क चन्द्रमा को पराजित कर रहा है) कर दिया जाय तो 'आजित' उपमानोपमेयभाव की प्रतीति हो जाती है क्योंकि इय, तुल्य आदि पदों के अभाव में भी जो 'उपमानोपमेयभाव' हो वह 'आजित' ही कहा जा सकता है ।

इसी उदाहरण में यदि 'अकलङ्क' पद हटा दिया जाय, तो उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति में 'व्यतिरेक' का स्वरूप दिखायी देने लगता है और यदि 'कलङ्क' पद हटा दिया जाय, तो उपमानगत अपकर्ष हेतु की अनुक्ति में जो 'व्यतिरेक' ही स्वरूप है वह स्पष्ट हो जाती है । और यदि 'अकलङ्क' और 'कलङ्क' दोनों पद हटा दिये जाय तब उपमेयगत उत्कर्षहेतु और उपमानगत अपकर्षहेतु—दोनों की 'अनुक्ति' में 'व्यतिरेक' का स्वरूप दिखायी देने लगता है । यहाँ जो व्यतिरेक है वह 'अश्लिष्टमन्त्रनिबन्धन' है ।

श्लिष्टमन्त्रनिबन्धन 'व्यतिरेक' का उदाहरण यह है—

'अत्यन्त गाढ (चिन्मयी) गुण (मौन्दर्य आदि गुण तथा तन्तुमन्त्रान्) वाली इन सुन्दरी के जो गुण हैं वे कमल की भाँति बहुत नहीं ।'

यहाँ जो औपम्य अर्थात् उपमानोपमेयभाव है वह 'शाब्द' है क्योंकि 'अत्यन्त' में जो 'वति' प्रत्यय है वह ('अत्र तन्मेय' से विहित होने के कारण) 'इय' के अर्थ में विहित है । यहाँ उपमेयगत उत्कर्षकरण के रूप में 'अतिगद्गुणम्' और उपमानगत अपकर्षकरण के रूप में 'अतुल्यगुणम्'—दोनों की उक्ति है । साथ ही साथ यहाँ 'गु' शब्द श्लिष्ट है ।

'व्यतिरेक' के और जो प्रत्यय हैं उन्हें उपर्युक्त रीति से स्पष्ट स्पष्ट-माशिर में देया जा सकता है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उदाहरण-सूक्तियों में जो 'व्यतिरेक' है वह उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिपत्य अथवा उत्कर्ष-वर्तन रूप 'व्यतिरेक' है ।

उपमान की अपेक्षा उपमेय का अपकर्ष-वर्तन रूप जो 'व्यतिरेक' प्रसार है उसके दिग्दर्शन के लिये यह सूक्ति पर्याप्त है—

‘क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।

विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति यात तु ॥’

अत्रोपमेयभूतयौवनास्थैर्यस्याधिक्यम् । तेनात्र ‘उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः’ इति केषांचिल्लक्षणे विपर्यये वेतिपदमनर्थकम्’ इति यत्केचिदाहुः । तन्न विचारसहम् । तथाहि—अत्राधिकन्यूनत्वे सत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते । अत्र च चन्द्रापेक्षया यौवनस्यासत्त्व स्फुटमेव । अस्तु वात्रोदाहरणे यथाकथंचिद्गतिः ।

‘हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विंशं हसैर्दूनपथः सितीकृतः ।’

इत्यादिषु का गतिरिति सुष्ठूक्त ‘न्यूनताऽथवा’ इति ।

‘अरी सुन्दरी ! यह तो सच है कि चन्द्रमा वार-वार क्षीण होता है और बर-बार वृद्ध भी जाता है । किन्तु यौवन यदि एक बार चला गया तो फिर लौटने का नहीं । देख ले, मान छोड़, प्रसन्न हो जा ।’

[यहाँ यह स्पष्ट है कि उपमानभूत ‘चन्द्रमा’ की अपेक्षा उपमेयभूत ‘यौवन’ के अपकर्ष का वर्णन है क्योंकि जहाँ ‘चन्द्रमा’ में ‘क्षीणता’ में भी अभिवृद्धि की विशेषता (अधिकता) का निर्देश है वहाँ ‘यौवन’ में ‘अपुनरागमन’ (चले जाने पर न लौट सकने) की न्यूनता का प्रतिपादन है ।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कतिपय काव्याचार्य (जैसे कि ‘काव्यप्रकाश’-कार आदि), इस सूक्ति में भी, उपमेयगत आधिक्य-वर्णन रूप ‘व्यतिरेक’ मानकर—क्योंकि उपमानभूत ‘चन्द्रमा’ के ‘स्थैर्य’ की अपेक्षा उपमेयभूत ‘यौवन’ में ‘अस्थैर्य’ का वर्णन उपमेय के आधिक्य का ही वर्णन है—अलङ्कारसर्वस्वकार के इस ‘व्यतिरेक’ लक्षण अर्थात् ‘व्यतिरेक’ वह है जिसमें उपमान से उपमेय का आधिक्य अथवा इसके विपर्यय (अर्थात् उपमान से उपमेय के न्यूनत्व) का वर्णन हुआ करता है’ का खण्डन कर चुके हैं क्योंकि उनके अनुसार, इस लक्षण में, ‘उपमान से उपमेय के आधिक्य के ‘विपर्यय’ का उल्लेख निरर्थक सिद्ध होना है । किन्तु इन काव्याचार्यों की यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती । कारण यह है कि ‘क्षीण’ ‘क्षीण’ आदि सूक्ति में, उपमानगत आधिक्य के रूप में ‘स्थैर्य’ का प्रतिपादन है और उपमेयगत न्यूनत्व के रूप में ‘अस्थैर्य’ का और यह सब के लिये स्पष्ट है कि चन्द्रमा की अपेक्षा यौवन अस्थिर हुआ करता है जिससे यहाँ उपमेयगत ‘न्यूनत्व’-वर्णन रूप ‘व्यतिरेक’ निःसंदिग्ध सिद्ध हो जाता है ।

अथवा, यदि यहाँ किसी प्रकार उपमेयभूत यौवन का आधिक्य-वर्णन रूप ही ‘व्यतिरेक’ मान लिया जाय तब भी निम्न सूक्ति जैसे कि—

‘हनूमान् आदि ने तो दूतमार्ग (दूत कर्म) को यश से शुभ्र बनाया किन्तु मैंने उसे शत्रुओं के हास-परिहास से शुभ्र किया ।’

आदि के लिये, उपमेयगत न्यूनत्व-वर्णन रूप व्यतिरेक का मानना, अगत्या, आवश्यक ही हो जाता है । इसलिये ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार का उपमेयगत न्यूनत्वरूप भी ‘व्यतिरेक’ मानना उचित ही है और सर्वथा चतुरस्त भी है ।

विमर्श—उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनगुणत्व में ‘व्यतिरेक’ की मान्यता और उसके तात्पर्यविशेष के सम्बन्ध में ‘विमर्शिनी’कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘शशियौवनयोर्हि समानेऽपि गत्वरत्ने शशिनः पुनरागमनमपि संभवति न तु यौवन-

(२०—महोक्ति)

मद्वार्यस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ॥ ५४ ॥

सा सद्योक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ।

अतिशयोक्तिरप्यत्र भेदाध्यवसायमूला कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययत्वा च ।
अभेदाध्यवसायमूलापि क्षेत्रभित्तिकान्यथा च ।

श्लेषोदाहरणम्—

(श्लेषमूल-अभेद-अध्यवसायमूल-अतिशयोक्तिमूलक महोक्ति)

‘महाधरदलेनास्या यौवने रागभाविप्रय’ ।

अत्र रागपदे श्लेष ।

येति तत्रेऽप्य न्यूनगुणत्वम् । तन्मय विवरणे चेति सूचित भेदः तन्मयगुणम-उत्तमाना-
दुपमेयस्य न्यूनगुणस्य वास्तव्यवत्त्वे वास्तव्यवत्त्वरूपे । यौवनस्य चात्र स्थिरपदे प्रति-
पाद्ये चन्द्रादेव्याऽधिक्याश्चमेव विवक्षितम् यदेतच्चन्द्रवच्च न स एतत्तदार्थं नि ।
अमर्त्येन—यस्य चन्द्रवद् तत् सर्वं त्रिं पुनरप्यगन्तव्यं प्रति चिरमौघं नुन्यो-
द्यतेन । कालान्तरेऽपि एव तत्त्वत्कलादिना ननुत्कार स्यात् । इदं पुनर्हन्तरीयत्वं
यान् सन् पुनर्नागन्तव्यं इत्यर्थे चन्द्रादेव्याऽधिक्याश्चमेव विवक्षितमिति
वाक्यार्थविद एव प्रमाणम् । न चेत् वास्तव्यमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम् । तन्मये मातिशय-
त्वेन प्रतिपाद्यत्वात् । प्रकृत्याधोपर्युक्तत्वे हि सर्वथा क्वे सरसम् तच्चाधिरुण्णुतेन
भववितरथा चेति को विरोधः । तस्माद् युग्मेव विपर्यये चेति सूत्रम् ।

(अन्तर्भावस्वविनिर्माण, पृष्ठ १८०)

इति तत्रेऽप्य न्यूनगुणत्वम् । तन्मय विवरणे चेति सूचित भेदः तन्मयगुणम-उत्तमाना-
दुपमेयस्य न्यूनगुणस्य वास्तव्यवत्त्वे वास्तव्यवत्त्वरूपे । यौवनस्य चात्र स्थिरपदे प्रति-
पाद्ये चन्द्रादेव्याऽधिक्याश्चमेव विवक्षितम् यदेतच्चन्द्रवच्च न स एतत्तदार्थं नि ।

युगम्—‘महोक्ति’ वह अलङ्कार है जिसे ‘मह’ शब्द के अर्थ-मानार्थ से, एक शब्द
द्वारा दो व्यर्थों को ऐसा वाचकता में देखा जाया करता है जिसके मूल में ‘अतिशयोक्ति’
का रहना आवश्यक है ।

यहाँ कविका में जिस ‘अतिशयोक्ति’ प्रकार को ‘महोक्ति’ का सूत्रमूल बताया गया
है वह अभेदाध्यवसायमूलक किंवा कार्यकारणभाव का पौर्वापर्य विपर्यय मूलक अति-
शयोक्ति प्रकार है । यह अभेदाध्यवसायमूलक अतिशयोक्तिप्रकार ‘श्लेषमूलक’ और
‘अत्येयमूलक’ दोनों रूपों का हो सकता है ।

जैसे कि प्रथम—

‘यौवन के आगमन में तब सुन्दरी के कंधरे छू के साथ ही साथ हमका प्रेम भी राग-
रुच हो गया ।’

यहाँ ‘राग’ पद छिष्ट है (और इस छिष्ट पद के एक अर्थ ‘-राग’ और दूसरे अर्थ
‘अनुराग’ में अभेद का भी अध्यवसाय है । साथ ही साथ ‘मह’ शब्द के अर्थ-मानार्थ
से, ‘राग’ पद के द्वारा हमसे दोनों अर्थ निहित भी हो रहे हैं ।

अथवा जैसे कि इस शब्दित सूक्ति में अध्यवसायमूलक अतिशयोक्तिमूलक महोक्ति—

‘असाध्वशोभनं यथा—

‘अनुयान्त्या जनातीतं फान्तं साधु त्वया कृतम् ।

का दिनश्रीर्विनार्केण का निशा शशिना विना ॥’

‘निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुविम्बम् ।

उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥’

अत्र परस्परविनोक्तिभङ्ग्या चमत्कारातिशयः । विनाशब्दप्रयोगाभावेऽपि विनार्थविवक्षायां विनोक्तिरेवेयम् । एवं सहोक्तिरपि सहशब्दप्रयोगाभावेऽपि सहार्थविवक्षायां भवतीति बोध्यम् ।

वर्षा और ग्रीष्म के सद्भाव में अशोभन हो जाया करते हैं । इस अशोभनता के अभाव का यहाँ प्रतिपादन भी स्पष्ट ही है ।]

इसी प्रकार, शोभनता की अभावरूपा ‘विनोक्ति’—

‘जनकनन्दिनि ! अपने लोकोत्तरचरित प्रियतम का अनुगमन करनेवाची तूने बड़ा ही अच्छा किया । भला सूर्य के बिना दिनश्री क्या ? और चन्द्रमा के बिना रजनी क्या ?’ इसी प्रकार ‘विना’ पद के समानार्थक पदों के योग में भी ‘विनोक्ति’ हुआ करती है जैसे कि निम्न सूक्ति में—

‘उस कमलिनी का जन्म व्यर्थ गया जिसने शीतकिरण चन्द्रमा का दर्शन न किया और उस चन्द्रमा का आविर्भाव भी निष्फल ही रहा जिसने खिली हुई कमलिनी को न देखा ।’

यहाँ एक दूसरे के बिना ‘कमलिनी’ और ‘चन्द्रमा’ की उत्पत्ति की निरर्थकता का जो वर्णन है उसमें एक विशेष चमत्कार आ गया है । यद्यपि यहाँ ‘विना’ पद का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु यह स्पष्ट है कि ‘विना’ पद के अर्थ का अभिप्राय विवक्षित है । इसलिये इसे ‘विनोक्ति’ अलङ्कार का ही निर्दर्शन माना जायगा । ‘सहोक्ति’ में भी ‘सह’ शब्द का प्रयोग नहीं अपितु ‘सह’ शब्द की अर्थविवक्षा अपेक्षित है जिससे ‘सह’ शब्द का प्रयोग न होने पर भी, ‘सह’ शब्द के अर्थ की विवक्षा में ‘सहोक्ति’ ही मानी जाया करती है ।

विमर्श—‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने ‘विनोक्ति’ का यह लक्षण किया है—

‘विना कश्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः । सर्वस्य शोभनत्वस्य भावः शोभनत्वम् । एवमसत्त्वस्याऽशोभनत्वस्य भावोऽशोभनत्वम् । ते द्वे सर्वसत्त्वे यत्र कस्यचिदसंनिधानाश्विबध्येते सा द्विधा विनोक्तिः । अत्र च शोभनत्वाशोभनत्वपत्तायामेव वक्तव्यायामसत्तामुखेनाभिधानमन्यनिवृत्तिप्रयुक्ता तश्चिद्वृत्तिरिति ख्यापनार्थम् ।’

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १०६)

‘सहोक्ति’ की कल्पना से ‘विनोक्ति’ का जन्म हुआ है । ‘विनोक्ति’ अलङ्कार वर्तन ‘सहोक्ति’ का प्रतिपक्ष है । कवि कहता है—‘विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना । रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ॥’ कवि की इस उक्ति में ‘विनोक्ति’ का चमत्कार झलक रहा है । ‘विनय’ के असङ्काव में ‘श्री’ भी असद्भूत है—इसका अभिप्राय है ‘विनय’ के रहने पर ही ‘श्री’ के रहने में सुन्दरता है अर्थात् ‘श्री’ की चिन्ता छोड़ ‘विनय’ की ही चिन्ता की जाय, आदि । ‘विना’ शब्द के अभाव में भी ‘विना’ शब्द की अर्थविवक्षा हुआ करती है और ऐसी अवस्था में भी ‘विनोक्ति’ का ही वैचित्र्य रहा करता है ।

(२२—समासोक्ति)

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।

व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥ ५६ ॥

अत्र, समेन कार्येण प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः ।

प्रथा—

‘व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया
वक्षोजयो कनककुम्भविलासभाजो ।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ॥’

अत्र गन्धवाहे हठकामुकव्यवहारसमारोपः ।

लिङ्गसान्नेन यथा—

‘अममाप्रजिगीपस्य त्वोचिन्ता का मनस्विन ।
अनाकन्य जगत्कृतं नो सन्ध्या भजते रवि ॥’

अत्र पुत्रीलिङ्गमात्रेण रविमन्ध्रयोर्नायिकाव्यवहारः ।

विशेषणमास्य तु श्लिष्टतया, साधारण्येन, औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा ।

अनुवाक—‘समासोक्ति’ वह अलङ्कार है जिसमें ‘सम’ अर्थात् (प्रस्तुत और अप्रस्तुत में) समानरूप से समन्वित होनेवाले कार्य, लिङ्ग और विशेषण के पद से, प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप कहा जाता करता है ।

उदाहरण के लिये, समानरूप से समन्वित हो सकनेवाले ‘कार्य’ के सामर्थ्य से, प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार-समारोप में ‘समासोक्ति’—

‘अरे मलयानिल ! तू धन्य है क्योंकि तू ही ऐसा है जो इस कमलनयनी सुन्दरी के, कनक कलश सराये कुँवों से, चन्द्र हटाकर, इससे अन्न-प्राप्त का दृष्टपूर्वक जालिन्न किया करता है ।’

यहाँ ‘मलयानिल’ पर (ज’ कि प्रस्तुत है क्योंकि यहाँ कवि मलयानिल का ही वर्णन कर रहा है) ‘हठकामुक’ के व्यवहार (जेसे कि शलात् जालिन्न आदि) का समारोप स्पष्ट है जिसमें ‘ममकादन्ता’ समासोक्ति की उपरान्त दृष्ट रहती है ।

इसी प्रकार ‘ममलिङ्गमूला’ समासोक्ति का उदाहरण यह सूक्ति है—

‘जिसकी विजयादाशा पूरा न हुई हो, उस और मन्मथ की संविन्ता कौन ? ऐसा कभी नहीं होता कि मृग, समस्त समार पर द्वापे दिना, सन्ध्या का मग किया करे ।’

यहाँ ‘रवि’ के पुलिन्न और ‘मलया’ के संविन्न होने के कारण ‘रवि’ और ‘मलया’ पर नायक और नायिका के व्यवहार का समारोप हो रहा है जिसमें ‘ममलिङ्गमूला’ समासोक्ति स्पष्ट है ।

‘ममविशेषणमूला’ समासोक्ति के तीन भेद हैं क्योंकि विशेषण ही समानता (१) श्लिष्टता, (२) साधारण्यता और (३) औपम्यगर्भता के कारण तीन रूपों की रथा करती है ।

श्लिष्टतया यथा मम—

‘विकसितमुखीं रागासद्भाद्रलत्तिमिरावृत्तिं

दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः ।

जरठलवलीपाण्डुच्छायो भृशं कलुपान्तरः

अयति हरितं हन्त । प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः ॥’

अत्र मुखरागादिशब्दानां श्लिष्टता । अत्रैव हि ‘तिमिरावृत्तिम्’ इत्यत्र ‘तिमिरांशुकाम्’ इति पाठे एकदेशस्य रूपणोऽपि समासोक्तिरेव, न त्वेकदेश-विवर्तिरूपकम्, तत्र हि तिमिरांशुकयो रूप्यरूपकभावो द्वयोरावरकत्वेन स्फुट-सादृश्यतया परसाचिव्यमनपेक्ष्यापि स्वमात्रविश्रान्त इति न समासोक्तिबुद्धि-व्याहन्तुमीशः ।

यत्र तु रूप्यरूपकयोः सादृश्यमस्फुटं तत्रैकदेशान्तररूपणं विना तदसङ्गतं स्यादित्यशाब्दमप्येकदेशान्तररूपणमार्थमपेक्षत एवेति तत्रैकदेशविवर्तिरूपक-मेव । यथा—

जैसे कि श्लिष्टता से विशेषण साम्य में ‘समासोक्ति’ की यह स्वरचित निदर्शन-सूक्ति—
‘चन्द्रमा ने अपने सामने ऐन्द्री दिशा (इन्द्रसवन्धिनी, पूर्व दिशा) को देखा—
‘दिनकरकरस्पृष्टा’ जो कि सूर्य के ‘कर’ (किरणों तथा हाथों) के स्पर्श मुख में विभोर पड़ी थी, ‘रागासद्भाद्र विकसितमुखी’ जिसका मुख (अग्रभाग और मुँह) राग (उपा की छालिमा और प्रेम) के आसक्त से ‘विकसित’ (प्रफुल्लित और प्रकाशित) लग रहा था, ‘गलतिमिरावृत्ति’ और जिसकी ‘तिमिरावृत्ति’ (अन्धकार का आवरण और अभिसार का कृष्णांशुक) जिसका लुकी थी और अन्त में वह (चन्द्रमा) ‘जरठलवलीपाण्डुच्छाया’ पकी लवली (हरफरवरी) के समान पीला पड़ कर तथा ‘कलुपान्तर’ (मध्य भाग में मलिन और हृदय में दुःखाकुल) होते हुये, ‘प्राचेतसी’ (प्राचेतस अथवा वह्ण-सवन्धिनी दिशा और मृत्यु) की शरण में ही जाकर शान्त हुआ ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘मुख’, ‘राग’ आदि पद श्लिष्ट हैं (जिनकी महिमा से ‘समासोक्ति’ रचना हुई है) ।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यदि ‘तिमिरावृत्तिम्’ (तिमिरस्य आवृत्तिर्यस्याः, तिमिरवच्छावृत्तिर्यस्यास्ताम्) पद के बदले ‘तिमिरांशुकाम्’ (तिमिरमेव अशुक यस्या ताम् तिमिरांशुकाम्) पद रख दिया जाय तो, एक अंश में आरोप की प्रतीति के होते रहने पर भी, इस सूक्ति में ‘एकदेशविवर्तिरूपक’ न हो सकेगा अपितु ‘समासोक्ति’ ही रहेगी । कारण यह है कि ‘तिमिर’ और ‘अशुक’ का रूप्यरूपकभाव ऐसा है जो ‘प्राची’ और ‘नायिका’ के रूप्यरूपकभाव की अपेक्षा नहीं रखता अपितु अपने आप में पूर्णतया प्रकाशित हो रहा है और इस रूप्यरूपकभाव का मूलभूत ‘आवरकत्व’ (आच्छादन) रूप सादृश्य भी ऐसा है जो परिस्फुटरूप से ही प्रतीत हो रहा है । इसलिये इस सूक्ति के एक अंश में अवस्थित ‘एकदेशविवर्तिरूपक’ में यह क्षमता नहीं कि सम्पूर्ण सूक्ति में व्याप्त ‘समासोक्ति’ को हटा सके ।

किन्तु कई ऐसे प्रसङ्ग भी हैं जहाँ ‘एकदेशविवर्तिरूपक’ का ही चमत्कार अन्त तक विराजमान रहता है और ‘समासोक्ति’ की कोई भी सभावना नहीं हुआ करती । ऐसे प्रसङ्ग वे हैं जिनमें एकदेश में रूप्यरूपकभाव रहा करता है किन्तु इस रूप्यरूपकभाव

‘जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलगलत्तम् ।
रससमुही वि सहसा परन्मुही होइ रिउसेणा ॥’

(यस्म्य रणान्त पुरके करे कुर्वाणस्य मण्डलाप्रलताम् ।
रससमुह्यपि सहसा पराङ्मुखो भवति रिपुसेना ॥)

अत्र रणान्त पुरयो सादृश्यमस्फुटमेव । कचिच्च यत्र स्फुटसादृश्यानामपि वहूना रूपण शाब्दमेकदेशस्य चार्थं तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव । रूपकप्रतीते-
र्व्यापितया समासोक्तिप्रतीतितिरोधायकत्वात् । नन्वस्ति रणान्त पुरयोरपि
सुखसचारतया स्फुट सादृश्यामिति चेत् ? सत्यमुक्तम्, अस्त्येव, किंतु वाक्यार्थ-
पर्यालोचनसापेक्षम्, न खलु निरपेक्षम्. सुखचन्द्रादेर्मनोहरत्वादिवद्रणान्त -
पुरयो. स्वतः सुखसञ्चारत्वाभावात् ।

का मूलभूत सादृश्य अस्फुट रहा करता है और अन्य अशों में रूप्यरूपकभाव की कल्पना
के बिना असंगत भी लगा करता है और हम असंगति के निवारण के लिये, अन्य अशों
में भी, शाब्द आरोप के न होने पर भी, अर्थसामर्थ्य से रूप्यरूपकभाव का आरोप कर
लिया जाया करता है । उदाहरण के लिये निम्नसूक्ति देखी जाय—

‘यह वह राजा है जिसके हाथ की पकड़ में, रणरूपी अन्त पुर में खड्गलता (तलवार)
को देख देख रणरस में पगी भी शत्रुसेना सहसा पाँछे भाग खड़ी होती है ।’

यहाँ जो अलङ्कार है वह ‘एकदेशविवर्ति’ रूपक है न कि ‘समामोक्ति’ । कारण यह है
कि हम सूक्ति के एक अंश में विराजमान ‘रण’ और ‘अन्त पुर’ का रूप्यरूपकभाव ऐसा
है जिसका आधारभूत सादृश्य अस्फुट है (और हमलिये ‘खड्गलता’ और ‘रिपुसेना’ में
स्त्रीलिङ्ग के कारण, ‘खड्गलता’ पर नायिका व्यवहार और ‘रिपुसेना’ पर प्रतिनायिका-
व्यवहार के समारोप की प्रतीति के होने पर भा ‘समासोक्ति’ की सम्भावना नहीं हो रही है
क्योंकि जब कि ‘रण’ और ‘अन्त पुर’ का रूप्यरूपकभाव ‘खड्गलता’ और ‘रिपुसेना’
पर ‘नायिकात्व’ और ‘प्रतिनायिकात्व’ के आरोप के बिना असंगत हो जाय, तब तो,
शाब्द हो या न हो, अर्थ आरोप के कारण यहाँ ‘एकदेशविवर्ति’ रूपक की मान्यता
अनिवार्य ही हो जाती है) ।

हमके अतिरिक्त ऐसे प्रसङ्गों में भी ‘एकदेशविवर्ति’ रूपक ही माना जायगा जहाँ
रूप्यरूपक भाव के मूलभूत सादृश्य के स्फुट होने पर भी, बहुत अशों में तो आरोप
शाब्द रहे किन्तु एक अंश में अर्थ सामर्थ्य सिद्ध बन जाय । कारण यह है कि ऐसे प्रसङ्गों
में, शाब्द आरोप के बाहुल्य के कारण, रूप्यरूपकभाव की प्रतीति, नि मन्दिग्ध रूप से
अधिक व्यापक हुआ करती है और ‘समामोक्ति’ की सम्भावना को ढक लिया करती है ।
किन्तु हमका निष्कर्ष यह नहीं कि ‘यस्म्य रणान्त पुरे’ वादि में भी, यह मानकर कि
यहाँ भी ‘रण’ और ‘अन्त पुर’ में ‘सुखमचरण’ रूप सादृश्य स्फुट है, ‘समामोक्ति’ की
सम्भावना कर लो जाय । क्यों ? हमलिये कि भन्ने हा उहाँ ‘रण’ और ‘अन्त पुर’ में
‘सुखमचरण’ रूप सादृश्य स्फुट हो किन्तु यह ‘सुखमचरण’ (आनन्द मे विचरण)
रूप सादृश्य ऐसा है जो (निरपेक्ष) स्वतंत्र नहीं अपितु यहाँ के सम्पूर्ण वाक्यार्थ
की पर्यालोचना पर निर्भर (सापेक्ष) है और साथ ही साथ ‘सुख’ और ‘चन्द्र’ के ‘मनो-
हरत्व’ वादि रूप सादृश्य की भाँति स्वतःसिद्ध भी नहीं (क्योंकि यह तो वन्द्य भूपाळ

साधारण्येन यथा—

‘निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसंगीतशालिनी ।

उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी ॥’

अत्र निसर्गैत्यादि विशेषणसाम्यात्सरोजिन्यां नायिकाव्यवहारप्रतीतौ स्त्रीमात्रगामिनः स्मेरत्वधर्मस्य समारोपः कारणम् । तेन विना विशेषणसाम्यमात्रेण नायिकाव्यवहारप्रतीतेरसम्भवात् ।

औपम्यगर्भत्व पुनस्त्रिधा सम्भवति, उपमारूपकसङ्करगर्भत्वात् ।

तत्रोपमागर्भत्वे यथा—

‘दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी ।

केशपाशालिवृन्देन सुवेपा हरिरोक्षणा ॥’

से सम्यक् ‘प्रताप’ रूप अर्थ की अभिव्यञ्जना है न कि ‘रण’ पर ‘अन्तःपुरत्व’ का आरोप जो कि ‘सुखसचरण’ रूप सादृश्य की स्फुट प्रतीति का निमित्त बन रहा है) ।

अब समभेदक धर्ममूल ‘समासोक्ति’ का उदाहरण देखिये—

‘दिनपति सूर्य का उदय हुआ और स्वाभाविक सौरभ से मुग्ध भ्रमरों की गुजाररूप गीतध्वनि से भरी पद्मिनी मुसकुरा उठी (विल पडी) ।’

यहाँ, साधारण धर्म की समानता में, ‘समविशेषणमूला’ समासोक्ति स्पष्ट है क्योंकि यहाँ ‘निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसङ्गीतशालित्व’ का विशेषण ऐसा है जो प्रस्तुत ‘सरोजिनी’ और अप्रस्तुत ‘नायिका’ दोनों ओर समान रूप से अन्वित हो रहा है और ‘सरोजिनी’ में ‘नायिका’ के व्यवहार की प्रतीति का निमित्त बन रहा है । किन्तु यहाँ जिसे व्यवहार-समारोप कहते हैं उसकी प्रतीति का कारण केवल ‘नायिका’ से स्रद्ध ‘स्मेरत्व’ (मुसकुराहट) धर्म को ही माना जा सकता है जो कि सरोजिनी के ‘स्मेरत्व’ अर्थात् विकास रूप धर्म पर आरोपित है क्योंकि केवल ‘निसर्गसौरभ’ आदि विशेषणसाम्य से ही यहाँ नायिका व्यवहार का समारोप नहीं सिद्ध हो पाता (तात्पर्य यह है कि ऐसे प्रसङ्गों में विशेषणसाम्य पर जो ‘समासोक्ति’ हुआ करती है वहाँ अप्रस्तुतगत धर्म का प्रस्तुत के धर्म पर समारोप ही वस्तुतः कारणरूप से अवस्थित रहा करता है) ।

अब औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य में ‘समासोक्ति’ की मान्यता अथवा अमान्यता का विचार आवश्यक है । विशेषण-साम्य में जो ‘औपम्य’ छिपा रहता है उसकी ये तीन अवस्थायें हुआ करती हैं—(१ ली) उपमागर्भता की अवस्था, (२ री) रूपकगर्भता की अवस्था और (३ री) उपमारूपक साकार्य-गर्भता की अवस्था । अब (१ ली) अर्थात् विशेषण साम्य में औपम्य-गर्भता की अवस्था निम्न सूक्ति में स्पष्ट है—

‘यह मृगनयनी, जो कि ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’ (दन्तप्रभा पुष्पाणीव तै. चिता=फूल सरीखी दाँतों की कान्ति से पूर्ण और ‘दन्तप्रभासदृशो पुष्पैश्चिता’=दाँतों की कान्ति के सदृश कान्ति वाले फूलों से भरी), ‘पाणिपल्लवशोभिनी’ (पाणि पल्लव इव तेन शोभिनी=किसलय सरीखे हाथों से सुन्दर और ‘पाणिसदृशेन पल्लवेन शोभते तच्छीला’=हाथों के सदृश पल्लवों से सुशोभित) और ‘सुवेपा’ (सुन्दर वेश भूषा से सुसज्जित) है, ‘केशपाशालिवृन्देन राजते’ भ्रमरसमूह सरीखे अपने केशपाश से बड़ी मनोहर लग रही है तथा केशपाश सरीखे भ्रमरसमूह से बड़ी मनोहर प्रतीत हो रही है (‘केशपाशः अलिवृन्दमिव तेन’ तथा ‘केशपाशसदृशेन’ अलिवृन्देन) ।

अत्र सुवेपत्ववशात्प्रथम दन्तप्रभा पुष्पाणीवेत्युपमागर्भत्वेन समास ।
अत्र च दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेत्यादिसमासान्तराश्रयेण समानविशेषण-
स्याद्वारणोक्षणाया लताव्यवहारप्रतीतिः । रूपकगर्भत्वे यथा—‘लावण्यम-
पूर्णम्’ इत्यादि । सङ्करगर्भत्वे यथा—‘दन्तप्रभापुष्प-’ इत्यादि । ‘सुवेपा’
‘परीता’ इति पाठे ह्युपमारूपकसाधकाभावात्सङ्करसमाश्रयणम् । समा-
सपूर्ववत् । समासान्तरमहिन्ता लताप्रतीतिः । एषु च येषां मते उपमास-
रेकदेशविवृतिता नास्ति तन्मते आद्यतृतीययोः समासोक्तिः ।

द्वितीयस्तु प्रकार एकदेशविवृतिरूपकविषय एव । पर्यालोचने त्वाद्ये प्रकारे
शविवृतिन्युपमैर्गङ्गीकर्तुमुचिता ।

हो ‘सुवेपा’ इम विशेषण-पद की महिमा से, जो कि उपमा का उपपादक पद है
स्तुत ‘नायिका’ में ही अन्वित हो सकता है, यह स्पष्ट है कि ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’
विशेषण भी प्रस्तुत नायिका में ही अन्वित होने योग्य हैं क्योंकि ‘दन्तप्रभापुष्प-’
‘आदि में ‘दन्तप्रभा पुष्पाणीव तैश्चिता’ आदि अर्थ में जो समास सम्भन होता है
‘उपमा’ का अन्नभाव निर्विवाद है । इसके बाद जब कि ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’
में ‘दन्तप्रभासदृशे पुष्पैश्चिता’ आदि रूप से मध्यमपदयोरी समास किया जाता
यह स्पष्ट हो जाना है कि इन विशेषणों की महिमा से, जो कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत
में समान रूप से अन्वित हो सकते हैं, प्रकृत ‘नृगनयनी’ पर ‘लता’ के व्यवहार
मारोप किस प्रकार किया हुआ है (इन प्रकार यहाँ औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य
‘मामोक्ति’ की रूपरेखा स्पष्ट दिखायी देने लगेगी) ।

नी प्रकार (२ री) अर्थात् रूपकगर्भता की अवस्था में, विशेषणसाम्य में ‘समा-’
‘के दर्शन के लिये यह पूर्वोद्धृत सूक्ति देखिये—

शवण्यरूपी मधुरम मे भरा इम सुन्दरी का विकसित मुख आदि’

यहाँ ‘लावण्यमधुमि’ आदि में ‘मयूख्यनकादयश्च’ इम सूत्र ने रूपक समास
शवण्य और ‘मधु’ आदि में ‘आहादकम्’ आदि रूप ‘मादरय’ भी स्पष्ट प्रतीत हो
। जो कि यहाँ के रूप्यरूपक भाव में मूलरूप से पड़ा है । साथ ही साथ ‘लावण्य’
आदि का रूप्यरूपक-भाव ऐसा है जो निरपेक्ष-स्वतन्त्रतया अवस्थित प्रतीत हो
। क्योंकि, इसके लिये, जैसा कि स्पष्ट है, ‘मुख’ पर ‘पद्म’ के आरोप की कोई
। नहीं दिखायी देती । किन्तु ‘पद्म’ में ही अन्वित हो सकने वाला ‘विकस्मरत्व’ का
इसी बात को सिद्ध करता है कि ‘पद्म’ का ‘विकस्मरत्व’ मुख के ‘विकस्मरत्व’ पर
पिन है जिससे ‘मुख’ पर पद्मव्यवहार की प्रतीति में ‘मामोक्ति’ स्पष्ट प्रतीत हो
। है ।]

पय, (३ री) अर्थात् उपमा रूपक-साङ्ख्यगर्भता की अवस्था में, विशेषण साम्य में
। में कि के निदर्शन के लिये पूर्वोद्धृत ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’ आदि सूक्ति ही पर्याप्त
यहाँ यदि ‘सुवेपा’ के स्थान पर ‘परीता’ कर दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा
यहाँ न तो ‘उपमा’ का साधक कोई प्रमाण रहेगा और न ‘रूपक’ का ही (क्योंकि
। प्रभापुष्पचिता’ में ‘दन्तप्रभा पुष्पाणीव तैश्चिता’ इम रूप में उपमा समास की मगन
। और ‘दन्तप्रभा एव पुष्पाणि तैश्चिता’ इम रूप में रूपकसाम्य भी उपरान्त रहेगा)
अन्त में उपमारूपक मदेह नष्ट की साम्यता बनायाम सिद्ध हो जायगी । और

अन्यथा—

‘ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरदधानार्द्रनखक्षताभम् ।

प्रमोदयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिक चकार ॥’

इत्यत्र कथं शरदि नायिकाव्यवहारप्रतीतिः, नायिकापयोधरेणार्द्रनखक्षताभ-
शक्रचापधारणासम्भवात् ।

ननु ‘आर्द्रनखक्षताभम्’ इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया ऐन्द्रे

इसके बाद जब कि, ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’ आदि पदों में उसी रूप का समासमाना जाय जो कि ‘सुवेपा’ पद के सद्भाव में, पहले माना गया, तब यह स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ किस प्रकार प्रकृत नायिका पर लता का आरोप किया गया है (क्योंकि जहाँ ‘सुवेपा’ का धर्म केवल नायिका में अन्वित प्रतीत होता था वहाँ ‘परीतत्व’ का धर्म नायिका और लता दोनों में अनुगत प्रतीत होगा और ‘नायिका’ में ‘लता’ की प्रतीति निस्संशय रूप से होने लगेगी) ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कुछ आलङ्कारिकों (जैसे कि उद्भट आदि) के अनुसार, जो कि उपमा और रूपक के सदेह सकर की ‘एकदेशविवर्तिता’ नहीं मानते, ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’ सुवेशा आदि प्रथम और ‘दन्तप्रभापुष्पचिता परीता’ आदि तृतीय उद्धारणों में तो ‘समासोक्ति’ अलङ्कार है किन्तु ‘लावण्यमधुभि’ आदि द्वितीय उद्धारण में जो अलङ्कार है वह ‘एकदेशविवर्तिरूपक’ है (क्योंकि ‘लावण्यमधुभि’ आदि में जिस ‘विकरवरत्व’ धर्म का निर्देश है वह, वैसे तो, ‘मुख’ में वाधित प्रतीत होता है किन्तु ‘मुख’ पर ‘कमलत्व’ के आरोप में उपचारत अन्वित हो जाता है) ।

किन्तु यदि उपर्युक्त समासोक्ति मान्यता पर विमर्श किया जाय तो यही निष्कर्ष निकल सकता है कि ‘दन्तप्रभा सुवेशा ...’ आदि प्रथम सूक्ति में ‘समासोक्ति’ की अपेक्षा ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ की ही मान्यता अधिक युक्तियुक्त है । अन्यथा निम्न सूक्ति अर्थात्—

‘यह शरद् ऋतु, जिसके ‘पाण्डुपयोधर’ (शुभ्र मेघमण्डल और शुभ्रपीत स्तनयुग्म) पर नूतन नखक्षत की आभावाला इन्द्रधनुष झलक रहा है, जो कि ‘सकलङ्क’ (‘शश’ रूप लाञ्छनयुक्त और परस्त्रीगमनरूप दोषयुक्त) चन्द्रमा को प्रमुदित (निमल किंवा रतिसुख में विभोर) बना रही है और सूर्य (और प्रियतम) को बहुत अधिक ‘सतप्त’ (तीक्ष्ण आतपमय और मनस्तापयुक्त) करती दिखायी दे रही है (भा पहुँची) ।’

आदि में (जहाँ इन्द्रधनुष में नखक्षत का सादृश्य और मेघ में कुच का सादृश्य तो शब्द है और शरद् ऋतु में नायिका, चन्द्रमा में उपनायक तथा सूर्य में नायक का औपम्य अर्थसामर्थ्य सिद्ध है) यह कैसे संभव है कि शरद् ऋतु में नायिका के व्यवहार की प्रतीति में ‘समासोक्ति’ होने लगे जब कि नायिकापयोधर (स्त्री के स्तन) के साथ नवीन नखक्षत की कान्तिवाले इन्द्रधनुष के धारण का धर्म अन्वित ही नहीं हो सकता (ऐन्द्र धनु आदि में यह तो ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ है जिसके दर्शन में ‘इन्द्रधनुष’ और ‘नखक्षत’, ‘शरद्’ और ‘नायिका’, ‘चन्द्रमा’ और ‘प्रतिनायक’ तथा ‘सूर्य’ और ‘नायक’ का औपम्य स्पष्ट हो जाता है) ।

यहाँ यदि ‘ऐन्द्र धनुः’ आदि में यह कहा जाय कि ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ की संभावना इसलिये नहीं होनी चाहिये क्योंकि ‘आर्द्रनखक्षताभम्’ में औपम्य शब्दतः

धनुषि सञ्चारणीयम् । यथा—‘दध्ना जुहोति’ इत्यादौ हवनस्थान्यथासिद्धेर्दध्नि सञ्चार्यते विधिः ।

एवञ्चेन्द्रचापभमार्द्रनखक्षत दधानेति प्रतीतिर्भविष्यतीति चेत् ? न, एवविधनिर्वाहे कष्टतृष्टिकल्पनादेकदेशविवर्त्युपमाङ्गीकारस्यैव ज्यायस्त्वान् ।

अस्तु वात्र यथाकथञ्चित्समासोक्तिः । ‘नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैः—’ इत्यादौ चान्यगत्यसम्भवात् । किं चोपमाया व्यवहारप्रतीतेरभावात्कथं तदुपजीविकायाः समासोक्तेः प्रवेशः ।

यदाहुः—

‘व्यवहारोऽथवा तत्त्वमौपम्ये यत्प्रतीयते ।

तन्नौपम्यं समासोक्तिरेकदेशोपमा स्फुटा ॥’

प्रतिपादित है और इसलिये यहाँ ‘समासोक्ति’ मानना ही ठीक है क्योंकि ‘भार्द्रनख-क्षताभम्’ में, जैसा कि इस सूक्ति का अर्थ-रहस्य है, ‘नखक्षत’ की उपमानता ‘इन्द्रधनुष’ में लागू मान ली जायगी और ‘इन्द्रधनुष की भाँति नखक्षत धारण करती’ इस अर्थ की प्रतीति में ‘समासोक्ति’ सिद्ध हो जायगी । अथ ‘नखक्षत’ की उपमानता का ‘इन्द्रधनुष’ में क्योंकि सञ्चार किया गया (अर्थात् नखक्षत को उपमेय मानकर इन्द्रधनुष को क्योंकि उपमान मान लिया गया) इसके लिये भीमासकों का ‘भद्रघदहनन्याय’ ही प्रमाण है जिसके अनुसार ‘अप्राप्त का ही विधान’ सम्भव है, प्रमाणान्तर से प्राप्त का नहीं अर्थात् जैसे कि ‘दध्ना जुहोति’ आदि विधिवाक्य का अभिप्राय ‘दधि’मात्र का विधान है न कि ‘अग्निहोत्र’ का भी जो कि ‘अग्निहोत्र जुहोति’ इस विधि से ही प्राप्त हो वैसे ही ‘भार्द्रनख-क्षताभम् ऐन्द्र धनुर्दधाना’ का अभिप्राय ‘ऐन्द्रचापान् नखक्षत दधाना’ ही है, जन्मा कि इस सूक्ति के पूर्वापरपर्याटोचन से सिद्ध है ।

किन्तु इस उपयुक्त ‘समासोक्ति-कल्पना’ में, जैसा कि स्पष्ट है, कष्टकरना ही प्रतीत हो रही है । इसलिये यहाँ ‘समासोक्ति’ न मानकर ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ का ही मानना श्रेयस्कर है । अथवा यदि ‘ऐन्द्र धनु’ आदि में किसी प्रकार उपमानुप्राणित ‘समासोक्ति’ मान भी ली जाय तब भी यह तो अगत्या मानना ही पड़ेगा कि ‘नेत्रै-रिवोत्पलैः’ आदि में ‘समासोक्ति’ नहीं अपितु केवल ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ ही चलकार है । यहाँ एक बात और भी विशेषरूप से विचारणीय है और वह यह है कि जब कि उपमा’ में, एक वस्तु (उपमेयरूप वस्तु) पर दूसरी (उपमानरूप) वस्तु के व्यवहार का समारोप नहीं हुआ करता अपितु एक वस्तु की, दूसरी वस्तु से सादृश्य-प्रतीति ही सब कुछ है, तब यह कैसे मान लिया जाय कि सादृश्यप्रतीति पर निर्भर ‘उपमा’ में व्यवहार-समारोप की प्रतीति पर निर्भर ‘समासोक्ति’ प्रवेश पा जाया करती है (अर्थात् ‘उपमानुप्राणित समासोक्ति’ की कल्पना निराधार-भी ही है) । तभी तो यह कहा गया है कि—

‘औपम्यं अर्थात् सादृश्यगर्भं विनोपेय प्रयोग के प्रसंगों में जो व्यवहार-समारोपरूप अथवा स्वरूप-समारोपरूप सादृश्य प्रतीत हुआ करता है उसमें ‘समासोक्ति’ नहीं हुआ करती क्योंकि उसमें तो ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ का ही घनकार प्रतीतिनिर्दिष्ट हुआ करता है ।’

एवञ्चोपमारूपकयोरेकदेशविचर्तिताङ्गीकारे तन्मूलसङ्करेऽपि समासोक्तेः प्रवेशो न्यायसिद्ध एव ।

तेनौपम्यगर्भविशेषणोत्थापितत्वं नास्या विषय इति विशेषणसाम्ये श्लिष्टविशेषणोत्थापिता साधारणविशेषणोत्थापिता चेति द्विधा । कार्यलिङ्गयोस्तुल्यत्वे च द्विविधेति चतुःप्रकारा समासोक्तिः ।

सर्वत्रैवात्र व्यवहारसमारोपः कारणम् । स च क्वचिद्भौतिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीये वस्तुनि शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः, लौकिके वा शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीये वा लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोप इति चतुर्धा ।

तत्र लौकिकवस्तुष्वपि रसादिभेदादनेकविधम् । शास्त्रीयमपि तर्कयुर्वेदज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धतयेति बहुप्रकारा समासोक्तिः । दिङ्मात्रं यथा—‘व्याधूय यद्वसनम्’—इत्यादौ लौकिके वस्तुनि लौकिकस्य हठकामुकव्यवहारादेः समारोपः ।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? यही कि जब कि ‘उपमा’ और ‘रूपक’ में ‘एकदेशविचर्तिता’ की मान्यता निर्विवाद है (जिससे इनके प्रसङ्गों में ‘समासोक्ति’ कदापि नहीं मानी जा सकती) तब यह भी निर्विवाद ही है कि उपमा और रूपकमूल सदेहसकर के प्रसङ्गों में भी ‘समासोक्ति’ की मान्यता युक्तियुक्त नहीं । इससे यह सिद्ध है कि (अलङ्कारसर्वस्वरकार आदि आलङ्कारिकों द्वारा मान्य) औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य ‘समासोक्ति’ का विषय नहीं हुआ करता ।

निष्कर्ष यह निकलता है कि वह ‘समासोक्ति’ जो कि विशेषण-साम्य में हुआ करती है केवल दो प्रकार की ही है—(१ ली) श्लिष्टविशेषणनिबन्धना समासोक्ति और (२ री) साधारणविशेषणनिबन्धना समासोक्ति । इस प्रकार समविशेषणमूला ‘समासोक्ति’ के इन दो प्रकारों के साथ, ‘समकार्यमूला’ और ‘समलिङ्गमूला’—इन (पूर्ववर्णित) दो समासोक्ति-प्रकारों को मिलाकर समासोक्ति’ के चार प्रकार युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं ।

‘समासोक्ति’ का प्रयोजक व्यवहार-समारोप ही है जो कि इसके चारों प्रकारों में व्याप्त है । इस व्यवहार समारोप के भी चार रूप हैं—(१ ला) लौकिक वस्तु पर लौकिक वस्तु का व्यवहार समारोप, (२ रा) शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार समारोप, (३ रा) लौकिक वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार समारोप और (४ था) शास्त्रीय वस्तु पर लौकिक वस्तु का व्यवहार-समारोप । इसके पहले रूप को भी अनेकों प्रकार की सम्भावनायें हैं क्योंकि लौकिक वस्तु में भी, रसभावादि के भेद से भिन्न भिन्न रूपों का दर्शन हुआ करता है । इसी भाँति दूसरे रूप के भी अनेक प्रकार प्रतीत होते हैं क्योंकि शास्त्रीय वस्तु के भी प्रकार अनेक हैं जैसा कि तर्क-आयुर्वेद-ज्योतिःशास्त्र आदि आदि भिन्न भिन्न शास्त्रों के प्रचलन और प्रवर्तन से स्पष्ट है ।

इस दृष्टि से देखते, यही कहा जा सकता है कि ‘समासोक्ति’ (चार ही प्रकार की नहीं, जैसा कि कहा गया अपितु) अनेक प्रकार की हुआ करती है जैसा कि स्पष्ट है । विग्वर्धनमात्र के लिये, यदि ‘व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया’ आदि सूक्ति की ‘समासोक्ति’ को देखें तो यह पता चल जायगा कि एक (‘मलयानिलरूप’) लौकिक वस्तु पर, दूसरी ‘हठकामुक’ रूप लौकिक वस्तु के व्यवहार का समारोप क्या है और कैसा है ? इसी प्रकार यदि निम्न-सूक्ति अर्थात्—

‘यैरैकरूपमखिलास्वपि वृत्तिषु त्वां

पश्यद्विरव्ययमसंख्यतया प्रवृत्तम् ।

लोपः कृतः किल परत्वजुषो विभक्ते-

स्तैर्लक्षणं तव कृतं ध्रुवमेव मन्ये ॥’

अत्रागमशास्त्रप्रसिद्धे वस्तुनि व्याकरणप्रसिद्धवस्तुव्यवहारसमारोपः । एव-
मन्यत्र ।

रूपकेऽप्रकृतमात्मस्वरूपसन्निवेशेन प्रकृतस्य रूपमवच्छादयति । इह तु
स्वावस्थासमारोपेणावच्छादितस्वरूपमेव तं पूर्वावस्थातो विशेषयति । अत
एवात्र व्यवहारसमारोपो न तु स्वरूपसमारोप इत्याहुः ।

उपमाध्वनौ श्लेषे च विशेष्यस्यापि साम्यम्, इह तु विशेषणमात्रस्य ।
अप्रस्तुतप्रशासायां प्रस्तुतस्य गम्यत्वम्, इह त्वप्रस्तुतरूपेति भेदः ।

‘हे प्रभो ! सोचना हूँ कि जिन लोगों ने तुम्हें, तुम्हारी विविध (सृष्टि विविध-मदति
आदि) अवस्थाओं में भी एक ही किंवा अव्यय (अनन्तर) निर्विकार और समस्त
रूपों वाला देखा है और ऐसा देव कर ‘तत्’-‘त्वम्’ आदि रूप में प्रकाशित समस्त भेद-
भाव का उच्छेद कर दिया है, उन्होंने ही तुम्हारा सचमुच लक्षण किया है (उन्होंने ही
तुम्हें सचमुच पहचाना है) ।’

आदि की ‘समासोक्ति’ पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि (एक शास्त्र
अर्थात्) वेदान्तशास्त्र में प्रसिद्ध (ब्रह्मरूप) वस्तु पर (दूसरे शास्त्र अर्थात्) व्याकरण-
शास्त्र में प्रसिद्ध (‘निपात’रूप) वस्तु का व्यवहार-समारोप क्या और कैसे हुआ करना
है । यहाँ व्याकरण प्रसिद्ध ‘निपात’रूप वस्तु के व्यवहार-समारोप का अभिप्राय ‘यैरैक’
आदि सूक्ति के इस निपातपरक अर्थ में समझा जा सकता है—‘हे निपात ! सोचता हूँ
कि जिन लोगों ने तुम्हें, अनेक (कृत् नञिन्-समास आदि) वृत्तिओं में भी परिवर्तन-
शून्य किंवा अव्यय (‘अव्यय’ पद द्वारा बोध्य) तथा वचननिर्देश से शून्य—व्याकरण
में अव्यय पदों के वचन आदि का विचार नहीं हुआ करता-माना है और ऐसा देवकर
तुममें, तुम्हारी परिवर्तिनी (सुप आदि) विभक्तिओं का लोप स्वीकार किया है, उन्होंने
ही तुम्हें सचमुच पहचाना है (तुम्हारे लिये ‘चादयोऽपत्वे’, ‘प्रादय’, आदि सूत्रों और
सिद्धान्तों को चनाया है) ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी (काव्य-साहित्य में) विविध प्रकार के व्यवहार समारोप के
उदात्त देखे जा सकते हैं ।

यहाँ ‘रूपक’ (वस्तुतः एकैकविधनिरूपक) और ‘समासोक्ति’ का यह परस्पर
भेद समझ लेना चाहिये—‘रूपक’ में जो ‘अप्रकृत’ (उपमानरूप) रहा करता है वह
अपने स्वरूप के समारोप से, ‘प्रकृत’ के स्वरूप को ढक लिया करता है किन्तु ‘समासोक्ति’
में ऐसा हुआ करता है कि ‘अप्रकृत’ अपनी अवस्था को ‘प्रकृत’ पर आरोपित किया
करता है जिससे उस (प्रकृत) का स्वरूप तो नहीं ढका करता किन्तु उसका अवस्था में
कुछ विशेषता अवश्य आ जाय करती है । वस्तुतः इसीलिये ‘समासोक्ति’ को ‘व्यवहार
समारोप’ कहा गया है न कि ‘स्वरूपसमारोप’ ।

‘समासोक्ति’ और ‘उपमाध्वनि’ भी एक नहीं और न ‘समासोक्ति’ और ‘अव्यय’
ही एक हैं । कारण यह है कि ‘उपमाध्वनि’ और ‘अर्थशेष’ में तो विशेष्य का भी

(२४—श्लेष)

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ॥ ५७ ॥

‘स्वभावादेकार्थैः’ इति शब्दश्लेषाद् व्यवच्छेदः । ‘वाचनम्’ इति च ध्वनेः ।
उदाहरणम्—

‘प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीर्मालिन्यं हरितां हरन् ।

महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः ॥’

आकृष्ट करता प्रतीत हुआ करता है ‘परिकर’ अलङ्कार की कल्पना का मूलकारण है । अलङ्कार-सर्वस्वकार ने इसीलिये कहा है—

‘विशेषणानां सामिप्रायत्व प्रतीयमानार्थगर्भाकारः । अत एव प्रसन्नगर्भीरपदत्वान्नाय ध्वनेर्विषयः । एव च प्रतीयमानाशस्य वाच्योन्मुखत्वात् परिकर इति सार्थकं नाम ।’

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १२०)

(ख) ‘परिकर’ के लिये एक विशेषण की अभिप्रायगर्भता अपेक्षित है या अनेक विशेषणों की इस सवन्ध में काव्याचार्यों में पर्याप्त मतभेद है ।

काव्यप्रकाशकार, अलङ्कारसर्वस्वकार, विमर्शिनीकार आदि के अनुसार अनेक विशेषणों की सामिप्रायता ही ‘परिकर’ की रूपरेखा है—

‘यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकार कृतः, तथाप्येकनिष्ठत्वेन यद्गुणानां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कारमध्ये गणितः ।’

(काव्यप्रकाश • परिकरलक्षण)

‘विशेषणानान्नात्र बहुत्वमेव विवक्षितम् । अन्यथा ह्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन स्वीकृतस्य पुष्टार्थस्याय विषयः स्यात् । एवमेवविधानेकविशेषणोपन्यासद्वारेण वैचित्र्यातिशयः संभवतीत्यस्यालङ्कारत्वम्’ (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १२०) ।

विश्वनाथ कविराज भी इस सवन्ध में इन्हीं आचार्यों के अनुयायी हैं । किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के मत में एक विशेषण की अभिप्रायगर्भता भी ‘परिकर’ की ही रूपरेखा मानी गयी है—

‘विशेषणानेकत्व हि व्यङ्ग्याधिक्याधायकत्वाद्वैचित्र्यविशेषाधायकमस्तु नाम । न तु प्रकृतालङ्कारशरीरमेव तदिति शक्य वक्तुम् । ‘वीचिचालितकालिमाहितपदे (स्वर्लोक-कल्लोलिनि) । त्व ताप तिरयाधुना भवभयव्यालावलीढात्मनः ॥’ इति प्रागुक्ते एकस्यैव विशेषणस्य चमत्कारिताया अनपह्वनीयत्वात् । ‘अयि लावण्यजलाशय तस्या हा हन्त मीननयनायाः । दूरस्थे त्वयि किं वा कथयामो विस्तरेणालम् ॥’ अत्रैकैकविशेषणमात्रेणैव सकलवाक्यार्थसंक्षीपनाच्च ।’ (रसगङ्गाधर परिकरप्रकरण)

अनुवाद—‘श्लेष’ वह अलङ्कार है जिसे स्वभावतः एक अर्थ के वाचक पदों द्वारा अनेक अर्थों का अभिधान अथवा प्रतिपादन कहा जाया करता है ।

यहाँ, कारिका में ‘स्वभावादेकार्थैः’ इसलिये कहा गया है जिसमें इस अलङ्कार (श्लेष अथवा अर्थश्लेष) को ‘शब्दश्लेष’ से (जिसमें शब्द स्वभावतः द्वयर्थक रहा करते हैं) पृथक् रूप से समझा जा सके । साथ ही साथ ‘अनेकार्थवाचनम्’ में ‘वाचनम्’ का प्रयोग इसलिये है जिसमें ‘ध्वनि’ से (जहाँ अनेक अर्थों की व्यञ्जना हुआ करती है) इस अलङ्कार को (जिसमें अनेक अर्थों का अभिधान अपेक्षित है) पृथक् किया जा सके । इसका उदाहरण यह है—

‘सर्वत्र धार्मिक क्रिया-कर्म में प्रवृत्ति बढ़ाते हुये, चतुर्दिक् मालिन्य का निराकरण करते हुये किं वा महनीय तेज से दीप्त ये विभाकर (भगवान् सूर्य अथवा विभाकर

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावपि राजसूर्यौ वाच्यौ ।

(२५—अप्रस्तुतप्रशंसाकार : सप्रभेद निरूपण)

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः ।

कार्यानिमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम् ॥ ५८ ॥

अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्गम्यते पञ्चधा ततः ।

अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्—

क्रमेणोदाहरणम्—

(सामान्य से विशेष की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।

स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वर रजः ॥'

अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

नामक राजा) प्रकाशित हो रहे हैं ।'

यहाँ 'प्रकरण' आदि अभिधानियामकों में एक की भी सम्भावना नहीं । इसलिये यहाँ राजपरक किंवा सूर्यपरक—दोनों अर्थ वाच्यरूप से ही विवक्षित प्रतीत हो रहे हैं (जिसमें 'श्लेष' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है) ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'श्लेष' को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार—दोनों प्रकार का अलङ्कार माना है । शब्दालङ्कार के रूप में 'श्लेष' को शब्दश्लेष कहा है और अर्थालङ्कार के रूप में इसे 'अर्थश्लेष' माना है । 'अर्थश्लेष' और 'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि' के भेद के सन्बन्ध में 'प्रदीप'कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'यत्रोभयोरर्थयोस्तारपर्यं स श्लेषः । यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत्, सामग्रीमहिम्ना तु द्विती-
यार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जनेति ।'

अलङ्कारसत्त्वकार ने 'समासोक्ति' और 'अर्थश्लेष' के भेद के सन्बन्ध में यह कहा है—

'केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तोक्तविशेषणसाम्यं त्वधिकृत्येदमुच्यते ।'

(अलङ्कारसत्त्व, पृष्ठ १२१)

अनुवाद—'अप्रस्तुतप्रशंसा' वह अलङ्कार है जिसे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की ऐसी अभिव्यञ्जना में देखा जाया करता है जिसकी ये पाँच सम्भावनायें हुआ करती हैं—(१ ली) अप्रस्तुतरूप सामान्य से प्रस्तुतरूप विशेष की अभिव्यञ्जना, (२ री) अप्रस्तुतरूप विशेष से प्रस्तुतरूप सामान्य की अभिव्यञ्जना, (३ री) अप्रस्तुतरूप कार्य से प्रस्तुतरूप कारण की अभिव्यञ्जना, (४ थी) अप्रस्तुतरूप कारण से प्रस्तुतरूप कार्य की अभिव्यञ्जना और (५ वीं) अप्रस्तुतरूप समान वस्तु से प्रस्तुतरूप समान वस्तु की अभिव्यञ्जना । इन पञ्चविध सम्भावनाओं के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा भी पाँच प्रकार की हुवा करती है ।

इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

'अपमानित होने पर भी चुप बैठ जाने वाले मनुष्य से तो वह धूल अच्छी है जो ।
पैरों तले रौंदी जाने पर भी रौंदनेवाले के सिर पर जा बैठती है ।' (शिशुपालवध)

यहाँ जो प्रस्तुत अभिव्यङ्ग्य है वह यह विशेषरूप अर्थ है—'शिशुपाल से अपमानित और किर्कत्तव्यविमूढ़ पड़े रहने वाले हम लोगों की अपेक्षा धूल अच्छी है' । इसे सामान्य

(विशेष से सामान्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।

विपमप्यमृतं कचिद्धवेदमृतं वा विपमीश्वरेच्छया ॥'

अत्रेश्वरेच्छया क्वचिदहितकारिणोऽपि हितकारित्वं हितकारिणोऽप्यहित-
कारित्वमिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः । एवञ्चात्राप्रस्तुतप्रशंसामूलोऽ-
र्थान्तरन्यासः ।

दृष्टान्ते प्रख्यातमेव वस्तु प्रतिबिम्बत्वेनोपादीयते । इह तु विपामृतयोरमृत-
विषीभावस्याप्रसिद्धेर्न तस्य सद्भावः ।

(कार्य से कारण की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'इन्दुलिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव,

प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा ।

कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेऽप्यिव प्रस्तुतं

सीताया पुरतश्च हन्त । शिखिनां वर्हाः सगर्हा इव ॥'

(अपमानित और अपमान सहने वाले मनुष्य मात्र की अपेक्षा धूल अच्छी है, आदि)
रूप अर्थ के अभिधान द्वारा अभिव्यङ्ग्य रखा गया है ।

'यदि यह फूल की माला प्राण ले लेने वाली है तो मेरी छाती पर लटकती हुई मेरा प्राण क्यों नहीं ले लेती ! ओह ! ईश्वर की भी क्या लीला है कि एक के लिये तो विप भी अमृत हो जाता है और दूसरे के लिये अमृत भी विप बन जाता है ।' (रघुवश)

यहाँ 'ईश्वर की इच्छा से अमङ्गलजनक भी वस्तु की मङ्गलकारिता और मङ्गलजनक भी वस्तु की अमङ्गलकारिता' का जो अभिप्राय है वह एक प्रस्तुतरूप 'सामान्य' अभि-
प्राय है और इसकी प्रतीति जिससे हो रही है वह यहाँ उपनिबद्ध एक अप्रस्तुतरूप विशेष अभिप्राय अर्थात् 'अमृत के विषय और विप के अमृतत्व होने' का अभिप्राय है । यहाँ एक प्रकार से 'अर्थान्तरन्यास' का भी वैचित्र्य झलक रहा है (क्योंकि यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन भी हो रहा है) किन्तु इसका भी मूल यहाँ की 'अप्रस्तुत-
प्रशंसा' ही है ।

यहाँ 'दृष्टान्त' अलङ्कार की कोई संभावना नहीं क्योंकि (वैसे भले ही यहाँ 'विष के कदाचित् अमृत और अमृत के कदाचित् विष होने' तथा 'माला के द्वारा इन्दुमती के प्राणहरण और अज के प्राणदान' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव प्रतीत हो, किन्तु) 'दृष्टान्त' में जिस वस्तु को 'प्रतिबिम्ब' (उपमान) रूप से उपन्यस्त किया जाया करता है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह प्रसिद्ध हो । यहाँ 'विष के अमृत और अमृत के विष होने' का जो उपनिबन्ध है वह एक अप्रसिद्ध वस्तु है और इसलिये यहाँ 'दृष्टान्त' की कल्पना निर्मूल ही है ।

'सीता के (मुख के) आगे चन्द्रमा ऐसा लगता है जैसे कालिख से पुता हो, (नेत्रों के आगे) हिरनियों के नयन ऐसे लगते हैं जैसे जड़ीभूत हो रहे हों, (ओठों की लाली के आगे) मूंगे के दाने ऐसे लगते हैं जैसे उनकी लाली फीकी पड़ गयी हो; (अङ्गुली के आगे) सोने की चमक ऐसी लगती है जैसे काली पड़ गयी हो, (मीठी चोली के आगे) कोयल की झूक ऐसी लगती है जैसे कर्कशता से भर उठी हो और (केशपाश के आगे) मोर के पख ऐसे लगते हैं जैसे किसी भी काम के न हों ।'

अत्र सम्भाव्यमानेभ्य इन्द्रादिगताञ्जनलिप्तत्वादिभ्यः कार्येभ्यो वदनादि-
गतसौन्दर्यविशेषरूपं प्रस्तुतं कारणं प्रतीयते ।

(कारण से कार्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'गच्छामीति यथोक्तया मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणं

त्यत्तत्वा तिर्यगवेक्ष्य बाष्पकलुपेनैकेन सां चक्षुषा ।

अद्य प्रेम मदपितं प्रियसखीवृन्दे त्वया वक्ष्यता-

मित्थं स्नेहविवर्धितो मृगशिशुः सोत्प्रासमाभाषितः ॥'

अत्र कस्यचिदगमनरूपे कार्ये कारणमभिहितम् ।

(समान वस्तु से समान वस्तु की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा श्लेषमूला सादृश्यमात्रमूला च ।
श्लेषमूलाऽपि समासोक्तिवद्विशेषणमात्रस्य श्लेषे श्लेषवद्विशेष्यस्यापि श्लेषे
भवतीति द्विधा ।

क्रमेण यथा—

(समासोक्ति की भाँति केवल विशेषण की छिष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'सहकारः सदाभोदो वसन्तश्रीसमन्वितः ।

समुज्ज्वलरुचिः श्रीमान् प्रभूतोत्कलिकाकुलः ॥'

यहाँ 'चन्द्रमा आदि में कालिख की पुताई आदि' (अप्रस्तुतरूप) कार्यों की जो
सम्भावना की गयी है उसके द्वारा, उनके कारणभूत, सीता के मुख आदि के सौन्दर्य-
विशेष की, जोकि यहाँ प्रस्तुत है, स्पष्टतया प्रतीति हो उठती है ।

'जय कि मैंने उस सुन्दरी से यह कहा कि 'मैं अब जा रहा हूँ' तब उसने लम्बी आह
खींची, आँसूभरी आँख से मुझे तिरछे देखा और प्रेम से पाले मृगदृष्टि से, एक दुखभरी
मुस्कराहट के साथ, यह कहा कि 'अब तू मेरी सखियों से वैसे ही प्यार करना जैसे
आज तक मुझसे करता रहा है ।'

यहाँ जिसका अभिधान है वह एक अप्रस्तुतरूप कारण (विरहविह्वला नायिका
की मृत्यु-सूचना) है और इसमें जिस प्रस्तुतरूप कार्य की प्रतीति हो रही है वह नायक
की देशान्तरगमननिवृत्ति का कार्य है ।

जहाँ समान वस्तु से समान वस्तु की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' हुआ करती
है वहाँ वह दो प्रकार की हुमा करती है—(१ ली) श्लेषमूला अप्रस्तुतप्रशंसा और
(२ री) सादृश्यमात्रमूला अप्रस्तुतप्रशंसा ।

यह (१ ली) अर्थात् श्लेषमूला अप्रस्तुतप्रशंसा 'समासोक्ति' की भाँति, केवल विशेषण
की छिष्टता में भी हुमा करती है और 'श्लेष' की भाँति वहाँ भी हुमा करती है जहाँ
विशेष्य भी छिष्ट रहा करता है । जैसे कि क्रमशः—

'आत्र का वृत्त भी कितना विचित्र हुआ करता है—'सदाभोद'—निरन्तर 'आभोद'
अर्थात् सौरभ और 'भोद' अर्थात् आनन्द से युक्त, 'वसन्तश्रीसमन्वित'—वसन्त की
श्री अर्थात् शोभा और वसन्तकालीन वेशभूषा से विभूषित, 'समुज्ज्वलरुचि' चमकती
कान्ति से भरपूर, 'श्रीमान्'—शोभा से पूर्ण और सुन्दर वेषधारी और 'प्रभूतोत्कलिकाकुल'
निकली हुई मजरिओं से भरा और अत्यधिक उत्कण्ठा से भरा ।'

अत्र विशेषणमात्रश्लेषवशादप्रस्तुतात्सहकारात्कस्यचित्प्रस्तुतस्य नायकस्य प्रतीतिः ।

(श्लेष की भाँति विशेष्य की भी श्रुष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

‘पुस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि

यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।

अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीय

केनापि दिक्प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥’

अत्र पुरुषोत्तमपदेन विशेष्येणापि श्लिष्टेन प्रचुरप्रसिद्ध्या प्रथमं विष्णुरेव बोध्यते । तेन वर्णनीयः कश्चित्पुरुषः प्रतीयते ।

सादृश्यमात्रमूला यथा—

‘एकः कपोतपोतः शतशः श्येनाः क्षुधाभिधावन्ति ।

अम्बरमावृत्तिशून्य हरहर शरणं विधेः करुणा ॥’

अत्र कपोतादप्रस्तुतात्कश्चित्प्रस्तुतः प्रतीयते । इयं च क्वचिद्वैधर्म्येणाऽपि भवति ।

‘धन्याः खलु वने वाताः कङ्गारस्पर्शशीतलाः ।

राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥’

यहाँ केवल विशेषणों के श्लेष से, अप्रस्तुतरूप ‘सहकार’ (आम्नवृत्त) के द्वारा किसी प्रस्तुतरूप नायक की प्रतीति हो रही है—

‘वह (‘मोहिनी’ अवतार में) चाहे पुस्त्व (वीरता अथवा पुरुष के स्वरूप) का भी परित्याग कर दे, चाहे नीचे (वराह अवतार में पाताल में या निम्न स्थान पर) भी क्यों न चला जाय, चाहे (वामन अवतार में) ‘प्रणयन’ (रूप या प्रतिष्ठा) में बढ़ा भी न हो सके, किन्तु इतना निश्चित है कि संसार का उद्धार अवश्य करता रहता है । और वस्तुतः यही तो वह आदर्श है जो कि इस विलक्षण पुरुषोत्तम (भगवान् विष्णु और पुरुषोत्तम नामक राजा) ने प्रकट कर दिखाया है ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि विशेष्यभूत ‘पुरुषोत्तम’ पद भी (विष्णुवाचक और राजवाचक होने से) श्रुष्ट है । इस पद के द्वारा, पहले, विष्णुरूप अर्थ, जो कि अधिक प्रसिद्ध है, प्रतीत हो जाता है और इसके बाद यहाँ प्रकृत पुरुषोत्तम नामक राजा की अभिव्यक्ति हो उठती है ।

अब (२ री) अर्थात् ‘सादृश्यमात्रमूला’ अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण यह है—

‘एक छोटा सा कबूतर का बच्चा उड़ रहा है । उस पर सैकड़ों भूखे वाज दूट पड़ रहे हैं । आकाश में छिपने की कोई जगह नहीं । ओह ! ईश्वर की दया का ही सहारा है ।’

यहाँ ‘कपोत’ अप्रस्तुत है और उससे किसी प्रस्तुतरूप असहाय पुरुष की प्रतीति हो उठती है ।

यह (सादृश्यमात्रमूला) अप्रस्तुतप्रशंसा कहीं-कहीं वैधर्म्य के आधार पर भी दिखायी दिया करती है—

‘कमलों के स्पर्श से शीतल वनवायु के वे झोंके सचमुच धन्य हैं जो कि विना किसी रोक-टोक के नीलकण्ठवन पराग-पराग का सफाई किया करते हैं ।’

अत्र वाता घन्या अहमघन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतः प्रतीयते । वाच्यस्य सम्भवासम्भवोभयरूपतया त्रिप्रकारेयम् । तत्र सम्भवे उक्तोदाहरणान्येव ।

असम्भवे यथा—

‘कोकिलोऽहं भवान् काक’ समान कालिमावयोः ।

अन्तरं कथयिष्यन्ति काकलीकोविदा पुनः ॥’

अत्र काककोकिलयोर्वाकोवाक्यं प्रस्तुतस्याध्यारोपण विनाऽसम्भवि ।

उभयरूपत्वे यथा—

‘अन्तर्लिङ्गद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः ।

कथं कमलनालस्य माभूवन् भङ्गुरा गुणाः ॥’

अत्र प्रस्तुतस्य कस्यचिदध्यारोपणं विना कमलनालान्तर्लिङ्गद्राणां गुणभङ्गुरीकरणो हेतुत्वमसम्भवि । अन्येषां तु सम्भवीत्युभयरूपत्वम् । अस्याश्च समासोक्तिवद् व्यवहारसमारोपप्राणत्वाच्छब्दशक्तिमूलाद्रस्तुध्वनेर्भेदः ।

यहाँ ‘वनवायु के झोंके भाग्यशाली’ हैं यह तो अप्रस्तुत है और इससे ‘मैं अभागा हूँ’ यह प्रस्तुत, जिसमें वैधर्म्य का अभिप्राय स्पष्ट है, अभिव्यक्त हो उठता है ।

यह ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ इस दृष्टि से तीन प्रकार की हुआ करती है (१) कहीं तो अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ सभाव्य हुआ करता है, (२) कहीं वह असभाव्य रहा करता है और (३) कहीं वह सभाव्य और असभाव्य दोनों रूपों में अवस्थित दिखायी पड़ा करता है । वाच्यार्थ की सभाव्यता में जो ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ हुआ करती है उसके उदाहरणरूप में तो पूर्वोद्धृत सूक्तियाँ ही देखी जा सकती हैं । और वाच्यार्थ की असभाव्यता में ‘अप्रस्तुत प्रशसा’ के उदाहरण के लिये यह सूक्ति देखने योग्य है—

‘मैं कोयल हूँ, तू कौआ है—हम दोनों में कालापन तो समान ही है किन्तु हम दोनों में जो भेद है उसे वे ही जानते हैं जो कि ‘काकली’ (स्वरमाधुरी) की पहचान रखा करते हैं ।’

यहाँ काक और कोकिल का यह वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तरपूर्ण आलाप) रूप वाच्यार्थ असभाव्य है (क्योंकि काक और कोकिल यह सब प्रश्नोत्तर क्यों कर सकें) किन्तु इसकी असभाव्यता का निराकरण इसलिये हो जाता है क्योंकि यहाँ प्रस्तुतरूप अर्थ (बाहर से समान किन्तु भीतर से असमान दो पुरुषों के व्यवहाररूप अर्थ) की अभिव्यक्षणा स्पष्टरूप से हो उठती है ।

वाच्यार्थ की सभाव्यता असभाव्यता की अवस्था में ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ का उदाहरण यह है—

‘भीतर छिद्र ही छिद्र हैं और बाहर काँटे ही काँटे । फिर भला कमलनाल के गुण क्यों कर न भगुर हुआ करें ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘कमलनाल के छिद्रों के कारण उम (कमलनाल) के गुणों (तन्तुओं) की भङ्गुरता’ का वाच्यार्थ, जो कि अप्रस्तुतरूप है, असम्भाव्य है और इस असम्भाव्यता के निराकरण के लिये यहाँ ‘किसी प्रस्तुत पुरुष के दोषों और उस (पुरुष) के गुणों की नाशवत्ता’ का व्यङ्ग्यार्थ अवश्य समझा जाया करता है । किन्तु यहाँ ‘कमलनाल के बाहर के काँटों और उस (कमलनाल) के गुणों (तन्तुओं) की भङ्गुरता’ का अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ सम्भाव्य भी है किन्तु इसकी भी उपपत्ति तभी हो पाती है

उपमाध्वनावप्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यत्वम् । एवं समासोक्तावपि । श्लेषे तु द्वयोरपि वाच्यत्वम् ।

(२६—व्याजस्तुति)

—उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ॥ ५९ ॥

निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ।

जब कि इसके द्वारा 'किसी प्रस्तुत पुरुष के छुद्र शत्रुओं और उसके दया-दाक्षिण्यादि गुणों की भङ्गुरता' का व्यङ्ग्यार्थ निकल जाता है जो कि वस्तुतः यहाँ निकल ही रहा है । इस प्रकार अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ की समाव्यता असमाव्यता के सङ्कर में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का स्वरूप यहाँ स्पष्ट झलक उठता है । यहाँ जो 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है उसके सबन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि, समासोक्ति की भाँति, इसका भी प्राण अथवा अन्तस्तल 'व्यवहारसमारोप' ही है (न कि रूपक की भाँति रूपसमारोप) । इससे यह भी स्पष्ट है कि यह 'अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकार' शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि से सर्वथा भिन्न हुआ करता है (क्योंकि शब्दशक्त्युद्भवध्वनि में व्यवहारसमारोप का कोई भी पुट नहीं रहा करता) । यह 'अप्रस्तुतप्रशंसा-प्रकार' अलङ्कारध्वनि—वस्तुतः उपमालङ्कार-ध्वनि—भी नहीं क्योंकि (जब कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुतरूप अर्थ वाच्य हुआ करता है) 'उपमाध्वनि' में अप्रस्तुतरूप अर्थ व्यङ्ग्यरूप से अवस्थित दिखायी दिया करता है । 'समासोक्ति' में भी अप्रस्तुतरूप अर्थ व्यङ्ग्य रहा करता है और इसलिये यहाँ 'समासोक्ति' का भी भ्रम नहीं हो सकता । इस 'अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकार' में श्लेषालङ्कार का भी भ्रम न होना चाहिये क्योंकि श्लेषालङ्कार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थ वाच्य रहा करते हैं (और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुतरूप अर्थ वाच्य तथा प्रस्तुतरूप अर्थ व्यङ्ग्य हुआ करता है) ।

विमर्श—(क) अप्रस्तुत और प्रस्तुत में सामान्यविशेषभाव, कार्यकारणभाव और सारूप्य की समावना के कारण, अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' की कल्पना स्वाभाविक है । 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'इहाऽप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तमप्रस्तुतत्वात् । प्रस्तुतपरत्वे तु कदाचित्चिद् युक्त स्यात् । न चाऽप्रस्तुतादसबन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः अतिप्रसङ्गात् । सम्बन्धे तु भवन्ती न त्रिविध सबन्धमतिवर्तते । तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिहेतुव्योपपत्तेः । त्रिविधश्च सबन्धः—सामान्यविशेष-भावः, कार्यकारणभावः, सारूप्य चेति ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १३२)

अप्रस्तुत और प्रस्तुत में 'सामान्यविशेषभाव' और 'कार्यकारणभाव' के सबन्ध के कारण सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य की प्रतीति तथा कार्य से कारण और कारण से कार्य की प्रतीति भी स्वाभाविक ही है और इसलिये 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के चार भेद युक्तियुक्त ही हैं । और अप्रस्तुत और प्रस्तुत में सारूप्यसबन्ध के कारण 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का पाँचवाँ भेद भी युक्तिसिद्ध ही है ।

(ख) अप्रस्तुतप्रशंसा में 'अर्थान्तरन्यास' और 'दृष्टान्त' के सौन्दर्य के आविर्भाव के सबन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'तदत्र सामान्यविशेषत्वेन, कार्यकारणत्वेन, सारूप्येण च यद्भेदपञ्चकमुद्दिष्टं तत्र द्वयोः सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यदा वाच्यरव भवति तदर्थान्तरन्यासाविर्भावः । सरूपयोस्तु वाच्यत्वे दृष्टान्तः । अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वथाऽप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १३८)

अनुवाद—'व्याजस्तुति' वह अलङ्कार है जिसे निन्दारूप वाच्यार्थ से स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः । स्तुत्या निन्दया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः ।

क्रमेण यथा—

(व्याजेन स्तुति = निन्दा के बहाने स्तुति)

‘स्तनयुगमुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव ! ।

त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता द्विट्स्त्रियो जाता ॥’

इदं मम ।

(व्याजरूपा स्तुतिः = स्तुति का बहाना मात्र)

‘व्याजस्तुतिस्तव पयोद’ मयोदितेय

यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।

स्तोत्र तु ते महदिदं घन ! घर्मराज-

साहाय्यमजयसि यत्पथिकाग्निहृत्य ॥’

और स्तुतिरूप वाच्यार्थ से निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में देखा जाया करता है ।

‘निन्दारूप वाच्यार्थ से स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ’ की प्रतीति में ‘व्याजस्तुति’ की व्युत्पत्ति है ‘व्याजेन स्तुतिः’ अर्थात् ‘निन्दा के बहाने स्तुति’ और ‘स्तुतिरूप वाच्यार्थ से निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति’ में ‘व्याजस्तुति’ की जो व्युत्पत्ति है वह है—‘व्याजरूपा स्तुतिः’ अर्थात् स्तुति का बहाना मात्र ।

क्रमशः जैसे कि—

‘महाराज ! आपके क्रुद्ध होने पर भी शत्रुनारियाँ निश्चिन्त हैं क्योंकि पहले की ही भाँति उनके स्तन अब भी ‘मुक्ताभरण’ हैं (पहले इसलिये ‘मुक्ताभरण’ थे क्योंकि मौक्तिक के आभूषणों से विभूषित थे और अब आभूषणशून्य होने के कारण ‘मुक्ताभरण’ हैं) और उनकी अङ्गयष्टि भी पूर्ववत् ही ‘कण्टककलित’ है (पहले इसलिये ‘कण्टककलित’ थी क्योंकि रतिसुख के भानन्द-रोमाञ्चों से भर उठती थी और अब इसलिये ‘कण्टककलित’ है क्योंकि प्राण लेकर जंगलों में भागते फिरने के कारण जंगली काँटों से बिंधी है) ।’

यह सूक्ति स्वरचित सूक्ति है ।

‘हे मेघ ! यह तो मैं तुम्हारी व्याजस्तुति कर रहा हूँ कि तुम्हारा जल जगत् के जीवन के लिये हैं । किन्तु वस्तुतः तुम्हारी सबसे बड़ी स्तुति तो यह है कि तुम वियोगी जनों का प्राण लेकर यमराज की सहायता किया करते हो ।’

विमर्श—‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने ‘व्याजस्तुति’ की यह स्वरूप-सोमासा को है—

‘यत्र स्तुतिरभिधीयमानाऽपि प्रमाणान्तराद् बाधितस्वरूपा निन्दया पर्यवस्यति तत्राऽसत्यत्वाद् व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन व्याजस्तुतिः । यत्रापि निन्दाशब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद् बाधितरूपा स्तुति पर्यवसिता भवति सा द्वितीया व्याजस्तुति । व्याजेन निन्दासुखेन स्तुतिरिति कृत्वा ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४२)

अर्थात् ‘व्याजस्तुति’ की दो ही समावनायें हैं । पहली समावना वह है जिसमें अप्रस्तुत स्तुतिरूप अर्थ से प्रस्तुत निन्दारूप अर्थ अभिव्यक्त हुआ करता है और दूसरी वह जिसमें अप्रस्तुत निन्दारूप अर्थ के आधार पर प्रस्तुत स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ निकला करता है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि अप्रस्तुत निन्दा अथवा स्तुतिरूप अर्थ से स्तुति अथवा निन्दारूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने पर भी ‘व्याजस्तुति’ में अप्रस्तुतप्रशमा की भ्रान्ति नहीं

(२७—पर्यायोक्त)

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ॥ ६० ॥

उदाहरणम्—

‘स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः ।

सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः॥’

अत्र हयग्रीवेण स्वर्गो विजित इति प्रस्तुतमेव गम्यं कारण वैचित्र्यविशेष-
प्रतिपत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरीसावज्ञस्पर्शरूपकार्यद्वारेणाभिहितम् । न
चेदं कार्यात्कारणप्रतीतिरूपाप्रस्तुतप्रशंसा, तत्र कार्यस्याप्रस्तुतत्वात्; इह तु
वर्णनीयस्य प्रभावातिशयबोधकत्वेन कार्यमिति कारणवत्प्रस्तुतम् ।

हुआ करती । कारण यह है कि ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ में तो अप्रस्तुत और प्रस्तुत में ‘सामान्यविशेष-
भाव’, ‘कार्यकारणभाव’ और ‘सारूप्य’ का सम्बन्ध रहा करता है किन्तु ‘व्याजस्तुति’ में, अप्रस्तुत
और प्रस्तुत में, इन तीनों सम्बन्धों से भिन्न, स्तुतिनिन्दारूप सम्बन्ध वैचित्र्य का चमत्कार मिला
करता है । इसीलिये आचार्य रय्यक का यह कथन है—‘स्तुतिनिन्दारूपत्वस्य विच्छिन्नविशे-
पस्य भावादप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४३)

‘व्याजस्तुति’ में लक्षणाभूलक ‘ध्वनि’ का भी अम निराधार है क्योंकि जहाँ ‘व्याजस्तुति’
में स्तुति अथवा निन्दारूप वाच्यार्थ, अनुपपन्न होकर, निन्दा अथवा स्तुतिरूप अर्थ के लिये जिसमें
वाक्यार्थ विश्रान्त हुआ करता है, अपने आपको समर्पित कर डालता है वहाँ ‘ध्वनि’ में ऐसा हुआ
करता है कि वाक्यार्थ की विश्रान्ति के बाद, वक्ता अथवा वाच्य के औचित्य पर्यालोचन से, स्तुति
अथवा निन्दारूप वाच्यार्थ निन्दा अथवा स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायन किया करता है ।
‘विमर्शिनी’कार आचार्य जयरथ ने इसीलिये कहा है—

‘अत एवाऽस्याः ध्वनेर्भेदः । स (ध्वनिः) हि विश्रान्ते वाक्यार्थे वक्तृवाच्यौचित्य-
पर्यालोचनाबलादवगम्यते । इह (व्याजस्तुतौ) पुनः प्रमाणान्तराद् बाधितस्सन् वाक्यार्थः
स्वयमनुपपद्यमानत्वात् परत्र निन्दादौ स्वं समर्पयति । तत्रैव प्रकृतवाक्यार्थस्य विश्रान्तेः ।’
(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १४२)

और यही अभिप्राय ‘रसगङ्गाधर’कार की इस उक्ति का भी है—

‘आमुखेत्यादि विशेषणेन (‘आमुखप्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण
पर्यवसानं व्याजस्तुतिः’ इति लक्षणसूत्र उपात्तं यद् विशेषण तेनेति) तयोः पर्यवसाना-
भाववदन् बाधितत्वमभिप्रेति । अत एव नास्या ध्वनित्वम् । ध्वनौ हि निर्वाधेन वाच्ये
नाऽऽगूरणमहिम्नाऽर्थान्तरमवगम्यते । न चैव प्रकृते ।’ (रसगङ्गाधर, व्याजस्तुतिप्रकरण)

अनुवाद—‘पर्यायोक्त’ वह अलङ्कार है जिसे व्यङ्ग्य अर्थ के उक्तिवैचित्र्यपूर्वक अभिधान
में देखा जाया करता है । इसका उदाहरण यह है—

‘(यह वह प्रतापी दैत्यराज हयग्रीव है) जिसके सैनिक हन्त्राणी के केशों के सँवारने
के काम में आने वाली, नन्दनवन की पारिजात मञ्जरियों की बढ़ी उद्दण्डता के साथ
तोड़ा करते हैं ।’

यहाँ जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है वह यह है कि ‘हयग्रीव ने स्वर्ग पर विजय पा ली है’ ।
यह व्यङ्ग्यार्थ प्रस्तुतरूप अर्थ है और कारणरूप भी अर्थ है किन्तु इसे एक विशेष प्रकार
के चमत्कार के उत्पादन के लिये, इस रूप में न कह कर, दूसरे रूप में अर्थात् कार्यरूप में
कहा गया है क्योंकि यहाँ ‘सैनिकों द्वारा पारिजात-मञ्जरियों के उद्दण्डतापूर्वक तोड़ने की बात’

। अत्र—

‘अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु ।

प्रत्यर्पिताः शश्रुविलासिनीनामाक्षेपसूत्रेण विनैव हाराः ॥’

अत्र वर्णनीयस्य राज्ञो गम्यभूतशश्रुमारणरूपकारणवत्कार्यभूत तथाविध-
वृत्तीक्रन्दनजलमपि प्रभावातिशयबोधकत्वेन वर्णनार्हमिति पर्यायोक्तमेव ।

‘राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः

कुञ्जे भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।

इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-

चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥’

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं श्रुत्वा सहसैवारयः पलायिता इति कारणं प्रस्तु-
त्म् । ‘कार्यमपि वर्णनार्हत्वेन प्रस्तुतम्’ इति केचित् ।

हयग्रीव के स्वर्गविजयरूप कारण के) कार्यरूप में ही प्रतीत हो सकती है । यहाँ (वाच्य)
कार्य से (व्यङ्ग्य) कारण की प्रतीति सी जो लग रही है उसमें कार्य से कारण की प्रतीति
में होने वाली ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ का भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ में तो
कार्य प्रस्तुत नहीं रहा करता किन्तु पर्यायोक्त में कारण की भाँति कार्य भी प्रस्तुत ही
रहा करता है जैसे कि यहाँ ही (व्यङ्ग्य) स्वर्गविजयरूप कारण की भाँति वाच्यभूत हैं
‘सैनिकजनकृत मञ्जरी-त्रोटनरूप’ कार्य भी प्रस्तुत ही लग रहा है क्योंकि इसी के द्वारा
यहाँ वर्ण्य विषय (जैसे कि यहाँ दैत्यराज हयग्रीव) के प्रभावातिशय का प्रतिपादन
किया जा रहा है ।

इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

‘इस प्रतापी भूपाल ने शत्रुनारियों के स्तनों पर मोतियों सरीखे उनके अधुकर्णों की
वर्षा करके उन्हें ऐसे मुक्ताहार से विभूषित कर दिया है जिसमें गुम्फनसूत्र की भी
आवश्यकता नहीं !’

में भी जो अलङ्कार है वह ‘पर्यायोक्त’ ही है क्योंकि यहाँ भी वर्ण्य भूपालकृत शत्रुसंहाररूप
कारण की भाँति, जो कि व्यङ्ग्य है, वाच्यरूप से अवस्थित, ‘शत्रुनारीजनसबद्ध अधुजल-
रूप’ कार्य भी प्रस्तुत ही प्रतीत हो रहा है और वर्ण्यविषय का एक प्रभावशाली प्रति-
पादन-प्रकार सा ही लग रहा है ।

इस सूक्ति अर्थात्—

‘राजन् ! आपके शत्रु के प्रासाद में पथिकों द्वारा पिंजड़ा खोलकर बाहर निकाला गया
राजशुक, सुनी अटारी में अपने चित्रलिखित स्वामी आदि को देख-देख उन सबसे इस
प्रकार कहा करता है—‘महाराज ! राजकुमारी मुझे ‘राम राम’ नहीं मिलाती, राज रानियों
भी चुपचाप बैठी हुई हैं, बरी कुञ्जे ! मुझे खाना क्यों नहीं देती, राजकुमार और उनके
सचिव लोग भी क्या अब तक उपासे पड़े हैं ?’

में भी, कतिपय काव्याचार्य (वस्तुतः साहित्यदर्पणकार और उनके अनुयायी लोग)
‘पर्यायोक्त’ ही मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार यहाँ (कारण की भाँति) कार्य (राजशुक
का अपने स्वामी आदि की मृत्यु में यह प्रलाप) भी वर्ण्य भूपाल के प्रभावातिशय के
प्रतिपादनार्थ प्रस्तुतरूप से ही उपात्त है क्योंकि यहाँ (व्यङ्ग्यरूप से अवस्थित) ‘राजन् !

अन्ये तु—'राजशुकवृत्तान्तेन कोऽपि प्रस्तुतप्रभावो बोध्यत इत्यप्रस्तुत-
प्रशंभेव' इत्याहुः ।

आपको विजययात्रा के लिये प्रस्थानोद्यत सुनकर शत्रुगण सहसा भाग खड़े हुये' आदि कारण भी प्रस्तुत ही लग रहा है ।

किन्तु कुछ काव्याचार्य उपर्युक्त 'राजन्' आदि सूक्ति में 'अप्रस्तुत प्रशंसा' ही मानते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में यहाँ 'राजशुक के वृत्तान्त से किसी प्रस्तुत प्रभावशाली राजा का ही बोध' विवक्षित है ।

विमर्श—(क) 'अलङ्कारमर्वस्व'कार का 'पर्यायोक्त'विवेचन यह है—

'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् ।

यदेव गम्यत्वं तस्यैवाभिधाने पर्यायोक्तम् । गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेत्,
गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानस्याभावात् । न हि तस्यैव तदैव तथैव विच्छिद्यया गम्यत्वं
वाच्यत्व च सम्भवति । अतः कार्यमुखद्वारेणाभिधानम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४१)

अर्थात् कोई भी अर्थ एक ही समय गम्य और वाच्य दोनों रूपों का नहीं हो सकता । इस-
लिये गम्य अर्थ का वाच्यरूप में अभिधान एक वैचित्र्य है जैसे कि यदि 'कारण'रूप प्रस्तुत अर्थ
गम्य है तो उसे 'कार्य'रूप में अभिहित किया जा सकता है और यह अभिधान-वैचित्र्य 'पर्या-
योक्त' की रूपरेखा है ।

विश्वनाथ कविराज के 'पर्यायोक्त'निरूपण पर इसका पूरा प्रभाव पड़ रहा है ।

(ख) प्राचीन अलङ्कारवादी काव्याचार्य 'पर्यायोक्त' को इसलिये एक अलङ्कारविशेष मानते रहे हैं क्योंकि इसमें व्यङ्ग्यरूप अर्थ का चमत्कार झलकता रहा है । किन्तु ध्वनिवादी काव्याचार्य भी 'पर्यायोक्त' को एक अलङ्कार मानते हैं नैमाकि आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है—

'अत एव पर्यायेण प्रकारान्तरेण अवगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सधृदभिधीयते
तदभिधीयमानमुक्तमेव सत् पर्यायोक्तमेवाभिधीयते इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति
लक्ष्यपदम्, अर्थालङ्कारत्व सामान्यलक्षणञ्चेति सर्वं युज्यते ।'

(ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३९, निर्णयसागर संस्करण)

ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र में 'पर्यायोक्त' का स्वरूप वही नहीं जो अलङ्कारवादी अलङ्कार-
शास्त्र में है । अलङ्कारवादी अलङ्कारशास्त्र के अनुसार तो प्रस्तुत अर्थ का वाच्यवाचकवृत्ति के
अतिरिक्त व्यङ्ग्यव्यञ्जकवृत्ति द्वारा अभिधान 'पर्यायोक्त' है किन्तु ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र
में 'पर्यायोक्त' वह है जहाँ गम्य अर्थ का प्रकारान्तर से अभिधान हुआ करता है । 'पर्यायोक्त' में
गम्य अथवा व्यङ्ग्य अर्थ उतना चमत्कारपूर्ण नहीं हुआ करता जितना कि उसका प्रकारान्तर
से अभिधान ।

(ग) पण्डितराज जगन्नाथ ने 'पर्यायोक्त' की अन्य सम्भावनायें भी निर्दिष्ट की हैं—

'अयं चालङ्कारः क्वचित् कारणेन वाच्येन कार्यस्य गम्यत्वे क्वचित् कार्येण कारणस्य,
क्वचिदुभयोदासीनेन सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्रस्य चेति विपुलविषयः ।'

(रसगङ्गाधर, पर्यायोक्तप्रकरण)

'तदेव संक्षेपतस्त्रिविधः । वाग्भङ्गीनां तु पर्यालोचने एकस्मिन्नेव विषयेऽनन्तप्रकारः
सम्पद्यते, किमुत विषयभेदे । यथा 'इह भवद्भिरागन्तव्यम्' इति विषये 'अयं देशोऽलङ्क-
र्त्तव्यः' इति, 'पवित्रीकर्त्तव्यः' इति, 'सफलजन्मा कर्त्तव्यः' इति, 'प्रकाशनीयः' इति,
'देशस्यास्य भाग्यान्पुजनीयानि' इति, 'तमासि तिरस्करणीयानि' इति, 'अस्मन्नयनयोः
सन्तापो हरणीयः' इति, 'मनोरथः पूरणीयः' इत्यादिः ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५५६)

(२८—अर्थान्तरन्यास)

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।

कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥ ६१ ॥

साधर्म्येणोत्तरणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(साधर्म्य के द्वारा सामान्य का विशेष से समर्थन)

‘वृत्तस्तहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।

सन्भूयान्मोघिनभ्येति महानद्या नगापगा ॥’

अत्र द्वितीयावर्गतेन विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्थगत. सामान्योऽर्थः सोपप-
त्तकः क्रियते ।

(साधर्म्य के द्वारा विशेष का सामान्य से समर्थन)

‘यावदर्थपदां वाचनेवनादाय भाववः ।

विररान सहीचांसः प्रकृत्या नितभाषिणः ॥’

(साधर्म्य के द्वारा कार्य का कारण से समर्थन)

‘पृथिव ! स्थिरा भव भुजङ्गम ! धारयैनां

त्वं कूर्मराज ! तदिदं द्वितयं दधीयाः ।

दिक्कुक्षराः ! कुरुत तत्त्रितये द्विधीर्षा

कार्यं करोति हरकारुक्नाततज्यम् ॥’

उदाहरण—‘अर्थान्तरन्यास’ वह कलङ्कार है जिसे साधर्म्य जयवा वैधर्म्य के द्वारा, ‘सामान्य’ का विशेष से, ‘विशेष’ का सामान्य से, ‘कार्य’ का कारण से और ‘कारण’ का कार्य से समर्थन कहा गया है। इन ‘अर्थान्तरन्यास’ के इस प्रकार जाठ भेद सिद्ध होते हैं। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

‘बड़े की सहायता से छोटा भी कार्य सिद्ध कर लेता है। बड़ी नदी के साथ मिली छोटी पहाड़ी नदी भी समुद्र तक पहुँच जाती है ॥’ (दिग्गन्तव्य = १००)

यहाँ पूर्वोक्त प्रतिपाद्य ‘सामान्य’रूप अर्थ द्वितीयावर्गगत ‘विशेष’रूप अर्थ से समर्थित हो रहा है जिसमें साधर्म्य का सम्बन्ध स्पष्ट है (क्योंकि कार्यान्तगमन और समुद्रगमन परस्पर समान रूप से ही विवक्षित हैं) ।

‘श्रीकृष्ण ऐसी बात बोले जिनके शब्द और अर्थ परस्पर नपे-जुले रहे और इसके बाद चुप हो गये । वस्तुतः बड़े लोगों का यह स्वभाव ही है कि वे नितभाषी हुका करते हैं ।’

यहाँ पूर्वोक्त अर्थ ‘विशेष’रूप अर्थ है जिसका उत्तरार्धगत अर्थ से, जो कि ‘सामान्य’रूप है, समर्थन किया जा रहा है। यहाँ ‘नपे-जुली बात’ और ‘नितभाषिन्’ में परस्पर साम्य जयवा साधर्म्य भी स्पष्ट है जो कि इस ‘समर्थन’ का प्रयोजक है ।

‘करी पृथिवी ! सगहल जा, करे शेषनाग ! पृथिवी को सगहालो, करे कूर्मराज ! पृथिवी और शेष दोनों को सगहालो, करे दिग्गजगण ! इन तीनों का सगहालना तुम्हारा कर्म है, देखो, कार्य राम शिव के घनुष पर प्रत्यक्षा चढ़ा रहे हैं ।’

अत्र कारणभूतं हरकामुक्तावतज्योकरणं पृथिवीस्थैर्योदेः कार्यस्य समर्थकम् ।

(साधर्म्य के द्वारा कारण का कार्य से समर्थन)

‘सहसा विदधीत न क्रियाम्’ इत्यादौ सम्पद्वरणं कार्यं सहसा विधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य कारणस्य समर्थकम् ।

एतानि साधर्म्य उदाहरणानि ।

वैधर्म्ये यथा—

‘इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् ।

शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥’

अत्र सामान्यं विशेषस्य समर्थकम् ।

‘सहसा विदधीत—’ इत्यत्र सहसाविधानाभावस्यापत्प्रदत्वं विरुद्धं कार्यं समर्थकम् । एवमन्यत् ।

यहाँ कार्य का कारण से समर्थन स्पष्ट है क्योंकि ‘पृथिवी के सम्हालने’ आदि कार्यों को ‘हरकामुक्त की प्रत्यञ्चा के चढ़ाने’ के कारण द्वारा समर्थित किया जा रहा है। यहाँ जो ‘साधर्म्य’ है वह कार्य की उत्पत्तियोग्यता और कारण की उत्पादनयोग्यता का साम्यरूप है ।

‘सहसा विदधीत न क्रियाम्’ आदि (किरातार्जुनीय-सूक्ति) । यहाँ कारण का कार्य द्वारा समर्थन स्पष्ट है क्योंकि ‘सहसा कार्य न करना अर्थात् सोच-विचार कर कार्य करना’ तो यहाँ कारणरूप से उपनिबद्ध है और ‘लक्ष्मीवरण’ (सम्पत्तिलाभ) के कार्य द्वारा समर्थित किया गया है (यहाँ ‘सम्पत्प्राप्ति’ रूप कार्य की उत्पत्तियोग्यता और ‘विमृश्य-कारित्व’ रूप कारण की उत्पादनयोग्यता में साम्य के कारण ‘साधर्म्य’ की प्रयोजकता भी स्पष्ट है) ।

ये उपर्युक्त उदाहरण तो साधर्म्यनिबन्धन समर्थ्यसमर्थक भाव के उदाहरण रहे ।

निम्न सूक्ति में ‘वैधर्म्य’ के द्वारा, विशेष का सामान्य से समर्थन’ देखिये—

‘यह तारकासुर, देवों द्वारा, इस प्रकार, आराधना पाकर भी त्रिभुवन पर अत्याचार करता जा रहा है । दुष्ट प्रत्यपकार से शान्त हुआ करता है, उपकार से कहाँ ? (कुमार संभव-२य सर्ग)’

यहाँ उत्तरार्धगत अर्थ ‘सामान्य’ रूप अर्थ है जिसके द्वारा पूर्वार्धगत ‘विशेष’ रूप अर्थ का समर्थन किया जा रहा है (यहाँ जो समर्थ्य-समर्थक भाव है उसमें वैधर्म्य का हाथ स्पष्ट है क्योंकि ‘आराधना पाकर लोकमङ्गल का कार्य किया जाता है और यहाँ उसके विरुद्ध अत्याचार का कार्य हो रहा है’) ।

इसी प्रकार ‘सहसा विदधीत’ आदि सूक्ति में वैधर्म्य द्वारा ‘कारण का कार्य से समर्थन’ देखा जा सकता है क्योंकि यहाँ आपदाओं के प्रदान (आपत्प्रदत्व) रूप कार्य से ‘सहसा क्रियाविधान के अभाव’ अथवा ‘विमृश्यकारित्व’ (सोच-समझकर कार्य करने) का समर्थन किया जा रहा है जिसमें ‘वैधर्म्य’ की प्रयोजकता स्पष्ट है क्योंकि यहाँ ‘विमृश्यकारित्व’ और ‘आपत्प्रदत्व’ (कारण और कार्य) में जो संबन्ध है वह वैधर्म्य का ही संबन्ध है (साधर्म्य का नहीं) ।

विमर्श— (क) ‘अर्थान्तरन्यास’ एक प्रसिद्ध अलङ्कार है । अलङ्कारशास्त्र के पर्वतकाचार्य

मानह ने भी इतका निरूपण किया है। आचार्य मानह के शब्दों में इस अलङ्कार का स्वरूप यह है—

‘उपन्यसनमन्यस्य यदर्धस्योदितादृते । ज्ञेयस्सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥’

(काव्यालङ्कार २. ७१)

वस्तुन यही बात आचार्य दण्डी को भी मान्य है—

‘ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन ।

तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुतः ॥ (काव्यादर्श २. १६९)

‘अर्थान्तरन्यास’ शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अभिप्राय निकलता है—

‘अर्थ्यत इति अर्थ’ प्रस्तुत इति यावत्, अन्यः अर्थ अर्थान्तरं तस्य न्यासः’

अर्थात् प्रस्तुत से अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ का ऐसा उपनिबन्ध जो कि अनन्तोगत्वा प्रस्तुत का समर्थक हो, ‘अर्थान्तरन्यास’ है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने इस अलङ्कार की यह समीक्षा की है—

‘सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः ।’

निर्दिष्टस्याभिहितस्य समर्थनार्हस्य प्रकृतस्य समर्थकात्पूर्वं पश्चाद्वा निर्दिष्टस्य यत्समर्थनमुपपादनं न त्वपूर्वत्वेन प्रतीतिरनुमानरूपा सोऽर्थान्तरन्यासः । तत्र सामान्यविशेषस्य विशेषो वा सामान्यस्य समर्थक इति द्वौ भेदौ । तथा कार्यकारणस्य कारण वा कार्यस्य समर्थकमित्यपि द्वौ भेदौ । तत्र भेदचतुष्टये प्रत्येक साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वयेऽष्टौ भेदाः । द्विशब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वोपन्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी । वैचित्र्यस्याभावात् । तस्माद् भेदाष्टकमेवेहोद्दिष्टम् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ, १३९)

अर्थात् ‘अर्थान्तरन्यास’ एक इन प्रकार का वाच्यचमत्कार है जिसमें उपपादन की अपेक्षा रखने वाले ‘प्रकृत’ का, चाहे वह पहले निर्दिष्ट किया गया हो या बाद में निर्दिष्ट किया जाय, समर्थक वाच्य द्वारा उपपादन अथवा समर्थन कहा करते हैं। ‘अर्थान्तरन्यास’ में प्रकृत का समर्थन होता है न कि उसका अनुमानन. नवीन अनुभव । ‘सामान्य’ वस्तु का विशेष से और ‘विशेष’ वस्तु का ‘सामान्य’ से उपपादन ‘हि’, ‘यत्’ आदि शब्दों के उपादान में शब्द भी हो सकता है और इन शब्दों के अनुपादान में अर्थ भी ।

(ख) ‘अर्थान्तरन्यास’ और ‘दृष्टान्त’ भिन्न भिन्न रूप के अलङ्कार हैं जैसा कि ‘उद्योत’कार का कथन है—

‘अनुपपद्यमानतया सम्भाव्यमानस्यार्थस्योपपादनार्थं यदर्धान्तरं न्यस्यते सोऽर्थान्तरन्यासः । दृष्टान्ते तु सामान्यं सामान्येन विशेषो विशेषेण समर्थ्यते इति ततो भेदः ।’

अर्थात् अर्थान्तरन्यास में तो ‘सामान्य’रूप सन्मान्य अर्थ के समर्थन के लिये, ‘विशेष’रूप अर्थान्तर का और ‘विशेष’रूप सन्मान्य अर्थ के समर्थन के लिये ‘सामान्य’रूप अर्थान्तर का उपन्यास हुआ करता है किन्तु ‘दृष्टान्त’ में देना होता है कि ‘सामान्य’ का समर्थन ‘सामान्य’ से और ‘विशेष’ का समर्थन ‘विशेष’ से ही किया जाया करता है ।

(ग) विश्वनाथ कविराज ने ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार की मान्यता का ही अनुसरण कर कार्यकारणभाव के आश्रय पर ‘अर्थान्तरन्यास’ के दो भेदों का निरूपण किया है। किन्तु ‘अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी’कार की दृष्टि में ‘अर्थान्तरन्यास’ के कार्यकारणभावनिरूपण दोनों भेद सुकियुक्त नहीं हैं—

कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिङ्गत्व ग्रन्थकृदेव वक्ष्यतीति सामान्यविशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम् (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १३९) ।

(२९—काव्यलिङ्ग)

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ॥ ६२ ॥

तत्र वाक्यार्थता यथा—

‘यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं

मेघैरन्तरितः प्रिये ! तव मुखच्छायायानुकारी शशी ।

येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-

स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥’

अत्र चतुर्थपादे पादत्रयवाक्यानि हेतवः ।

पदार्थता यथा मम—

‘त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलोपटलपङ्क्तिनाम् ।

न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारमिया हरः ॥’

अत्र द्वितीयार्धे प्रथमार्धमेकपदं हेतुः ।

अनेकपदं यथा मम—

‘पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम् ।

देव ! त्रिपथगात्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥’

‘रसगङ्गाधर’कार का भी यही मत है—

‘यत्तु कारणेन कार्यस्य कार्येण कारणस्य वा समर्थनम्’ इत्यपि भेदद्वयमर्थान्तरन्या-
सस्यालङ्कारसर्वस्वकारो न्यरूपयत्, तन्न । तस्य काव्यलिङ्गविषयत्वात् ।’ (रसग०, पृष्ठ ४७४)अनुवाद—‘काव्यलिङ्ग’ वह अलङ्कार है जिसे किसी अर्थ के उपपादन के लिये
‘वाक्यार्थ’ अथवा ‘पदार्थ’ के हेतुरूप से उपनिबन्धन में देखा जाया करता है ।

जैसे कि ‘वाक्यार्थ’ के हेतुरूप में उपनिबन्धन में ‘काव्यलिङ्ग’, जिसका उदाहरण यह है—

‘हे जानकि ! तुम्हारी नेत्र-कान्ति की भाँति कान्तिवाला नीलकमल तो पानी में
डूब गया, तुम्हारी मुख-कान्ति सी कान्तिवाला चन्द्रमा मेघों के पर्दे में छिप गया और
तुम्हारी विचित्र चाल सी चालवाले राजहंस (वर्षा के आते ही) मानसरोवर भाग
निकले । ओह ! ऐसा लगता है जैसे दैव को यह भी चर्य नहीं कि मैं तुम्हारे सादृश्य
के साथ भी अपना मन वहला सकूँ ।’यहाँ प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ चौथे चरण के वाक्यार्थ के (काव्यात्मक) उप-
पादन के लिये हेतुरूप से उपनिबद्ध हैं ।इसी प्रकार ‘पदार्थ’ के हेतुरूप में उपनिबन्धन में काव्यलिङ्ग का यह स्वरचित
निर्देशन—‘राजन् ! रणभूमि में आपके अश्वसघों के द्वारा उढ़ाई हुई धूलराशि से पंकिल गङ्गा
को, भारी बोझ के ढर से, महादेव शिव अपने मस्तक पर धारण नहीं करते ।’यहाँ प्रथम चरण का (त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलोपटलपङ्क्तिनाम्) समस्त एक पद
द्वितीय चरण के उपपादकरूप से ही उपन्यस्त दिखायी दे रहा है ।इसी भाँति ‘अनेक पदार्थ’ के भी हेतुरूप में उपनिबन्धन में काव्यलिङ्ग का यह स्वर-
रचित उदाहरण देखिए—‘महाराज ! आपके दान-सङ्करष के जल की नदी को असंख्य मागों में प्रवाहित
देख-देखकर त्रिपथगा गङ्गा अपने आपको भगवान् शिव के जटा-जूट में छिपा रही है ।’

इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्यलिङ्गेनैव गतार्थतया कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते । तदयुक्तम्, तथा ह्यत्र हेतुस्त्रिधा भवति—ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति । तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य, इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात् । तथा हि—‘यत्त्वन्नेत्र—’ इत्यादौ चतुर्थपादवाक्यम्, अन्यथा साकाङ्क्षतया समञ्जसमेव स्यात् इति पादत्रयगतवाक्य निष्पादकत्वेनापेक्षते । ‘सहसा विदधीत—’ इत्यादौ तु—

‘परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः ।

वदामि भवतस्तत्त्व न विधेया कदाचन ॥’

[यहाँ पूर्वार्ध के अनेकों पद (के अर्थ) उत्तरार्ध के अर्थ के उपपादक हेतु के रूप में उपन्यस्त हैं ।]

कुछ काव्याचार्यों (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट आदि) का यहाँ यह कहना है कि जब कि वाक्यार्थगत ‘काव्यलिङ्ग’ में ही कार्य से कारण और कारण से कार्य का समर्थन-वैचित्र्य अन्तर्भूत हो जाता है तब कार्य से कारण और कारण से कार्य के समर्थनरूप ‘अर्थान्तरन्यास’ की कोई आवश्यकता नहीं । किन्तु उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता । यहाँ इस प्रकार देखना है—‘हेतु’ तीन प्रकार का हो सकता है—(१) ज्ञापक हेतु, (२) निष्पादक हेतु और (३) समर्थक हेतु । इनमें ‘ज्ञापक’ रूप हेतु अनुमानालङ्कार का विषय है और जिसे ‘निष्पादक’ रूप हेतु कहते हैं वह ‘काव्यलिङ्ग’ का विषय है और तीसरा अर्थात् ‘समर्थक’ रूप हेतु ‘अर्थान्तरन्यास’ का ही विषय हो पाता है । इस प्रकार यह निःसंदिग्ध है कि कार्यकारणभाव का ‘अर्थान्तरन्यास’ (जिसमें समर्थक हेतु रहा करता है) कार्यकारणभावगत ‘काव्यलिङ्ग’ से (जिसके लिये निष्पादक हेतु की अपेक्षा है) सर्वथा भिन्न प्रकार का ही अलङ्कार है और इसे ‘यत्त्वन्नेत्रसमान-कान्ति आदि सूक्ति में देखा जा सकता है जिसका चौथा चरण साकाङ्क्ष पड़ा है और अपने निष्पादक हेतु के रूप में पहले तीन चरणों के वाक्यार्थ की अपेक्षा कर रहा है जिससे वह समजस बन जाता है ।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है और वह यह है कि ‘सहसा विदधीत न क्रियाम्’ आदि सूक्ति में, जिसमें कार्यकारण भाव पर आश्रित ‘अर्थान्तरन्यास’ है, ‘काव्यलिङ्ग’ की शङ्का नहीं होनी चाहिये । कारण यह है कि यहाँ विना विचारे कार्य न किया जाय’ यह वाक्यार्थ स्वयं उपपन्न है और इसे किसी अन्य उपपादक वाक्य की कोई आकाङ्क्षा नहीं दिखायी देती क्योंकि इसमें उसी प्रकार का उपदेश है जैसा कि इस सूक्ति अर्थात्—

‘परापकारी दुर्जन पुरुषों का सग कदापि न करना चाहिये—यही सच्ची बात है जिसे मैं बता रहा हूँ ।’ आदि में । ‘विमृश्यकारी व्यक्ति को सम्पत्ति स्वयं वरण करती है’—यह वाक्यार्थ ‘विना सोचे-समझे कार्य न किया जाय’ इस वाक्यार्थ का केवल समर्थन करने के लिये उपनिबद्ध है न कि इसके हेतुरूप में उपन्यस्त है । इससे यह स्पष्ट है कि कार्यकारणभाव-निवन्धन ‘अर्थान्तरन्यास’ जिसमें एक वाक्यार्थ, अपनी उपपत्ति के लिये, दूसरे वाक्यार्थ की आकाङ्क्षा नहीं किया करता ‘काव्यलिङ्ग’ से सर्वथा भिन्न है जिसमें एक वाक्यार्थ दूसरे उपपादक वाक्यार्थ की आकाङ्क्षा रखा करता है ।

इत्यादिवदुपदेशमात्रेणापि निराकाङ्क्षतया स्वतोऽपि गतार्थं सहसा विधाना-
भावं सम्पद्धरण सोपपत्तिकमेव करोतीति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः
काव्यलिङ्गात् ।

‘न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः ।

त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलिभिः पङ्क्तिला हि सा ॥’

इत्यत्र हिशब्दोपादानेन पङ्क्तिलत्वादितिवद्धेतुत्वस्य स्फुटतया नायमलङ्कारः,
वैचित्र्यस्यैवालङ्कारत्वात् ।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ उपपादक हेतु का उपन्यास हेतुरूप में
किया गया हो वहाँ ‘काव्यलिङ्ग’ नहीं हुआ करता (क्योंकि ‘काव्यलिङ्ग’ के लिये गम्यहेतु
की अपेक्षा हुआ करती है वाच्य हेतु की नहीं) । जैसे कि यदि निम्न सृक्ति अर्थात्—

‘राजन् ! महादेव ने बहुत भारी बोझ के डर से गङ्गा की अपने सिर पर रखना छोड़
दिया है क्योंकि अब वह तुम्हारी अश्वसेनाओं से उड़ायी गयी धूल के कारण कीचड़ ही
कीचड़ हो गयी है ।’

आदि को देखा जाय जहाँ (हेतुत्वबोधक) ‘हि’ (हि हेतावधारणे) शब्द के
उपादान से हेतुत्व की वाच्यता स्पष्ट है और ऐसा लगता है जैसे (त्वद्वाजिराजिनिर्धूत-
धूलिभिः) ‘पङ्क्तिलत्वात्’ के अर्थ में ही ‘हि’ पद प्रयुक्त किया गया है तो यह निस्सदिग्ध
है कि यहाँ ‘काव्यलिङ्ग’ अलङ्कार की कोई संभावना नहीं । अलङ्कार तो वैचित्र्य को कहते
हैं और जब कि हेतु की वाच्यता में वैचित्र्य ही नष्ट हो गया तब ‘अलङ्कार’ ही कहाँ रहा !

विमर्श—(क) आचार्य भामह और दण्डी आदि प्राचीन काव्याचार्य ‘काव्यलिङ्ग’ को
अलङ्कार नहीं मानते । उनकी दृष्टि में वैचित्र्य ही अलङ्कार है और काव्यलिङ्ग में कोई वैचित्र्य
नहीं, इसलिये यहाँ किसी प्रकार का ‘अलङ्कारत्व’ नहीं । ‘काव्यलिङ्ग’ केवल ‘निर्हेतुत्व’ दोष का
अभावमात्र माना जा सकता है । ‘रसगङ्गाधर’कार ने इसलिये कहा है—

‘अत्र वदन्ति—काव्यलिङ्गं नालङ्कारः । वैचित्र्यात्मनो विच्छित्तिविशेषस्याभावात् । स हि
जन्मतासंसर्गेण कविप्रतिभाविशेष तन्निर्मितत्वप्रयुक्तश्चमत्कृतिविशेषो वेत्युक्तम् । न चान-
योरन्यतरस्याप्यत्र सम्भवः । हेतुहेतुमद्भावस्य वस्तुसिद्धत्वेन कविप्रतिभानिर्वर्त्यायोगात् ।
अत एव चमत्कृतिरपि दुर्लभा । श्लेषादिसमिश्रणेन विच्छित्तिविशेषोऽत्राप्यस्तीति तु न
वाच्यम् । तस्य श्लेषाद्यंशप्रयोग्यत्वेन काव्यलिङ्गस्यालङ्कारतायास्तथाप्यसिद्धेः । यत्र
तूपस्कारकवैचित्र्याद्विलक्षणं तदुपस्कार्यवैचित्र्यं तत्रास्तु नामोपस्कारकादुपस्कार्यस्य पृथग-
लङ्कारत्वम् । यथातिशयोक्ते हेतुफलोपेक्षयोः । यत्र तूपस्कारकवैचित्र्य एव विश्रान्ति-
स्तत्रोपस्कार्यमनलङ्कार एव । यथा प्रकृते । एवं तर्हि बहुनामलङ्कारत्वेन प्राचीनैरुत्तरीकृता-
नामनलङ्कारतापत्तिरिति चेत्, अस्तु, किं नश्चिद्भ्रमः । तस्मात् निर्हेतुरूपदोषाभाव-
काव्यलिङ्गमित्यपि वदन्ति ।’ (रसगङ्गाधर० काव्यलिङ्गप्रकरण)

अर्थात् ‘काव्यलिङ्ग’ को अलङ्कार मानना अनुचित है क्योंकि ‘काव्यलिङ्ग’ में वह शोभा नहीं
जिसे विचित्रता कहा जाया करता है । न तो ‘काव्यलिङ्ग’ में कविप्रतिभा का ही कोई हाथ है
जिससे उसे अलङ्कार माना जाय और न किसी चमत्कारविशेष का ही कोई पुट है जिससे उसमें
किसी वैचित्र्य का पता चले । दो वाक्यार्थों का हेतुहेतुमद्भाव वास्तविक हुआ करता है, कवि-
प्रतिभानिर्वर्तित नहीं । यहाँ यह भी कहना ठीक नहीं कि ‘श्लेष’ आदि के अनुप्राणन से काव्यलिङ्ग
को अलङ्कार माना जा सकता है क्योंकि तब तो ‘श्लेष’ के ही अलङ्कार मानने से काम चल जाता

है 'काव्यलिङ्ग' जो पृथक् अलङ्कार मानने की क्या आवश्यकता है ? ऐसे प्रसंगों में जो भी चन्-
त्कार है वह उत्स्कारक 'श्लेष' का चन्त्कार है न कि उत्स्कार्य 'काव्यलिङ्ग' न। अन्ततोगत्वा
यही कहा जा सकता है कि 'काव्यलिङ्ग' कोई वृत्तिरिक्त अलङ्कार-नस्त्व नहीं अपितु 'निर्हेतुत्व'
शेष का अनावरण है।

(६) साहित्यदर्पणकार ने 'अलङ्कारसर्वस्व' कार के काव्यलिङ्ग-विवेचन के आधार पर 'काव्य-
लिङ्ग' का लक्षण-निरूपण किया है। किन्तु 'अलङ्कारसर्वस्वविनिर्दिशनी' कार की इन युक्तियों के
देखते यही प्रतीत होता है कि अलङ्कारसर्वस्व का काव्यलिङ्ग-विवेचन केवल प्राचीन आलङ्कारिक
(आचार्य उद्भटप्रवरिन्) परम्परा का अनुसरणमात्र है न कि वस्तुनस्त्व का पर्यालोचन—

'ननु हेतोर्वाक्यपदार्थोभयनिबन्धे न कश्चिद्विच्छिन्नविशेष प्रतीयत इति कथमस्या-
लङ्कारत्वमुक्तम् । न हि साध्यसाधनायोपात्तस्य हेतोरेवं प्रकारद्वयातिरेकेणोपनिबन्ध-
स्यात् । न च यथासंभवविनोपनिबन्धमात्रेणालङ्कारत्वं वक्तुं युक्तम् । कविप्रतिभात्मकस्य
विच्छिन्नविशेषात्मकस्यालङ्कारत्वेनोक्तत्वात् । न चैवमुपनिबन्धात् कश्चिदतिशय इति
कथमस्यालङ्कारत्वम् । सत्यम् । यद्यप्येवमुपनिबन्धस्य वस्तुवृत्तेरसम्भवात् कश्चिदति-
शय प्रतीयते तथापि ग्रन्थकृता प्राच्यैर्लक्षितत्वादेतदिह लक्षितम् । "अथ साध्यप्रतीत्ये
हेतोत्पनिबन्धादस्त्येव वैचिण्यातिशय इति चेत् तर्ह्यनुमानमेवेदं स्यान्नालङ्कारान्तरम् ।
साध्यसाधनस्य तद्व्यवहारेण वक्ष्यमाणत्वात् । एव हेतोर्वाक्यपदार्थतयोपनिबन्धस्य वास्त-
वत्त्वादस्य पृथगलङ्कारत्व न युक्तम् । उक्तवक्ष्यमाणनीत्याऽनुमान एवान्तर्भावोपपत्ते ।'

(अलङ्कारसर्वस्वविनिर्दिशनी, पृष्ठ १८३-१८४)

ऐसी स्थिति में 'साहित्यदर्पण'कार का 'काव्यलिङ्ग-निरूपण' केवल एक प्राचीन आलङ्कारिक
परम्परा का अनुसरणमात्रमाना लगना है न कि और कुछ ।

(७) साहित्यदर्पणकार ने हेतुत्रय के विभाग के आधार पर अनुमान, अर्थान्तरन्यास और
काव्यलिङ्ग का जो विषय-विभाजन किया है वह एक नवीन कल्पना है। प्राचीन काव्याचार्य
'शापक' और 'कारक' दो ही हेतु मानते रहे थे जैसा कि काव्यचन्द्रिका का कथन है—

'कारकशापकौ हेतु तौ चानेकविधौ तथा' (काव्यादर्श २०३०) ।

और जैसे अग्निपुराण (३४३, २९-३०) ने निर्दिष्ट किया है—

'सिद्धाध्यायितार्थस्य हेतुर्भवति साधक ।

कारको शापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते ॥'

इन दोनों हेतुओं में 'कारक' हेतु का अतिशय यह है—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च प्रयुक्तिं चान्तरा विशन् ।

उदासीनोऽपि वा कुर्यात् कारक तत् प्रवक्षते ॥'

(मत्स्वतन्त्राष्टावक्र, ३१३)

अर्थात् 'कारक' हेतु वह है जो कि उदात्तान्तर रहते हुये भी प्रवृत्ति, निवृत्ति और प्रवृत्ति का
अन्तर्गत हुआ करता है ।

जिसे 'शापक' हेतु कहते हैं उसका स्वरूप यह है—

'द्वितीया च तृतीया च चतुर्थी सप्तमी च यम् ।

क्रियानाविष्टमात्रे लक्षणं शापकश्च यः ॥'

अर्थात् वह हेतु जो 'शापक' हुआ करता है किन्हीं क्रिया का निर्देशक नहीं हुआ करता—
अपितु कार्य अथवा कारणरूप से रहते हुये कारण अथवा कार्य की स्थिति का मनर्धन मात्र
किया करता है ।

(३०—अनुमानालङ्कार)

अनुमानं तु विच्छिन्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।

यथा—

‘जानीमहेऽस्या हृदि सारसाद्या विराजतेऽन्तः प्रियवक्त्रचन्द्रः ।

तत्कान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गेष्वापाण्डुता कुड्मलताक्षिपद्मे ॥’

अत्र रूपकवशाद्विच्छित्तिः ।

यथा वा—

‘यत्र पतत्यबलानां दृष्टिर्निशिताः पतन्ति तत्र शराः ।

तच्चापरोपितशरो धावत्यासां पुरः स्मरो मन्ये ॥’

अत्र कविप्रौढोक्तिवशाद्विच्छित्तिः । उत्प्रेक्षायामनिश्चिततया प्रतीतिः, इह तु निश्चिततयेत्युभयोर्भेदः ।

साहित्यदर्पणकार ने ‘कारक’ हेतु को ही ‘निष्पादक’ और ‘समर्थक’ दो भिन्न रूपों में विभक्त कर ‘काव्यलिङ्ग’ और ‘अर्थान्तरन्यास’ की भेद-सिद्धि की है जिसमें नवीनता अवश्य है किन्तु शुक्तियुक्ता नहीं ।

अनुवाद—‘अनुमान’ वह अलङ्कार है जिसे, एक विचित्रता के साथ, साधन द्वारा साध्य का ज्ञान कहा जाया करता है । जैसे कि—

‘ऐसा लगता है जैसे इस कमलनयनी सुन्दरी के हृदय में उसके प्रियतम का मुखचन्द्र विराज रहा है क्योंकि तभी तो उसकी सर्वत्र फैलने वाली शुभ्र कान्ति से इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पाण्डु (श्वेत पीत) वर्ण के हो रहे हैं और नेत्रकमल भी मुकुलित (मुँदे) दिखायी पड़ रहे हैं ।’

यहाँ ‘अनुमान’ अलङ्कार है जिसमें रूपक—वस्तुतः निरङ्ग केवलरूपक (‘वक्त्रचन्द्र’ तथा ‘अक्षिपद्म’ का रूप्यरूपकभाव) के कारण एक चमत्कारविशेष की प्रतीति स्पष्ट है ।

अथवा, जैसे कि—

‘जहाँ सुन्दरियों के कटाक्ष पड़ते हैं वहीं काम के बाण वरसने लगते हैं । ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन सुन्दरियों के आगे-आगे धनुष पर बाण चढ़ाये कामदेव दौड़ता जा रहा हो ।’

यहाँ भी ‘अनुमान’ ही अलङ्कार है किन्तु इसकी विचित्रता का निदान (कोई अन्य अलङ्कार नहीं अपितु) कवि की प्रौढ़ उक्ति है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ‘उत्प्रेक्षा’ और ‘अनुमान’ भिन्न-भिन्न प्रकार के अलङ्कार हैं क्योंकि ‘उत्प्रेक्षा’ में सरभावनात्मक ज्ञान अनिश्चितरूप का रहा करता है किन्तु ‘अनुमान’ में यह निश्चितरूप का हो जाया करता है ।

विमर्श—(क) ‘अनुमान’ लोक और काव्य दोनों के क्षेत्र की वस्तु है । लौकिक ‘अनुमान’ में कोई चमत्कार नहीं रहा करता । किन्तु काव्यात्मक ‘अनुमान’ चमत्कारपूर्ण हुआ करता है । चमत्कारपूर्ण ‘अनुमान’ ही अनुमानालङ्कार है । ‘अनुमान’ में चमत्कार का आधान कविप्रतिभा का कार्य है जैसा कि ‘रसगङ्गाधर’कार का भी कथन है—

‘अनुमितिकरणमनुमानम्—

अनुमितिश्रानुमितिविवती । अनुमितित्वं चानुमिनोमीति मानससाक्षात्कारसाक्षिको

(३१—हेत्वलङ्कार)

अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह ॥ ६३ ॥

जातिविशेषः । व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मतानिश्चयजन्यज्ञान वानुमितिः । तस्याश्च करणं व्याप्ति-
प्रकारकलिङ्गनिश्चय इत्येके । व्याप्यत्वेन निश्चीयमान लिङ्गमित्यपरे । इदं च साधारणमनु-
मानम् । अस्य च कविप्रतिभोऽस्ति खितत्वेन चमत्कारित्वे काव्यालङ्कारता ।' (रसग० अनु०)

(ख) 'अनुमान' शब्द की व्युत्पत्ति, जैसा कि नैयायिकों का मत है, यह है—'अनुमीयते
अनेन इत्यनुमानम् (करणे ल्युट्) ।' इस दृष्टि से 'अनुमान' अथवा 'अनुमितिकरण' का
अभिप्राय 'परामर्श' अथवा 'तृतीय लिङ्गपरामर्श' है । कुछ नैयायिक 'लिङ्गज्ञान' अथवा 'व्याप्तिज्ञान'
को अनुमितिकरण कहा करते हैं । किन्तु आलङ्कारिकों की 'अनुमान' की व्युत्पत्ति यह है—

'अनुमीयत इत्यनुमानम् (भावे ल्युट्) ।'

अर्थात् 'अनुमान' साधन से साध्य का ज्ञान है । 'अनुमिति' ही अनुमान है । यह 'अनुमान'
(अथवा 'अनुमिति') तभी अलङ्कार हो सकता है जब कि उसमें लौकिक अनुमान से विलक्षणता
हो । लौकिक अनुमान अथवा तार्किक अनुमान लोक-जीवन की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से सबद्ध
है किन्तु काव्यात्मक अनुमान का प्रयोजन काव्यपाठक के हृदय में चमत्कार का उत्पादन है ।
आचार्य जयरथ (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी के रचयिता) ने इसीलिये कहा है—

'अतश्चास्य (अनुमानालङ्कारस्य) कविकर्मैव वैलक्षण्यनिमित्तमिति भावः । एवं च
कविकर्माभावाद् यत्र विच्छित्तिविशेषाश्रयणं न स्यात् तत्र नायमलङ्कारः । यथा—'यो
यत्कथाप्रसङ्गेच्छिन्नच्छिन्नायतोष्णनिश्वासः । स भवति त प्रति रक्तस्त्वं च तथा दृश्यसे
सुतनु ॥' अत्र रक्तत्वं प्रति विशिष्टस्य निश्वासितस्यार्थेऽपि हेतुत्वे वास्तवधात् कविप्रतिभा-
निर्वर्तितत्वाभावाच्चायमलङ्कारः । कविकर्मण एवालङ्कारनिबन्धनत्वेनोक्तत्वात् आर्थत्वस्य
तदप्रयोजकत्वात् ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८३)

(ग) अलङ्कारान्तरराम 'अनुमान' के अतिरिक्त शुद्ध 'अनुमान' भी अनुमानालङ्कार हुआ
करता है । शुद्ध 'अनुमान' के उदाहरणरूप में आचार्य रूपक ने निम्न सूक्ति उद्धृत की है—
'यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुव यत्तत्रैव पतन्ति सततममी मर्मस्पृशो मार्मणाः ।
तच्चक्रीकृतचापमञ्जितभारप्रेङ्खलकरः क्रोधनो धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्य सदासां स्मरः ॥'
यह सूक्ति कितनी सुन्दर है ! इसी सूक्ति को अपने शब्दों में गढ़ते हुये साहित्यदर्पणकार ने 'यत्र
पतत्यवलानान्' आदि सूक्ति गढ़ी है जिसमें 'अनुमान' का लक्षण तो अवश्य घटता है किन्तु
'काव्यात्मकता' नहीं घटित होती । कारण यह है कि 'अवलानाम्' की ध्वनि में वह सौन्दर्य नहीं
हो कि 'लहरीचलाचलदृश' की ध्वनि में है जो कि यहाँ अत्यन्त उपयोगी है ।

(घ) अनुमानालङ्कार के विवेचन में रसगङ्गाधरकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है । 'रसगङ्गाधर'कार
ने 'अनुमान' की रूपरेखा का यह विशद दर्शन किया है—

'अत्रेदं बोध्यम्—मन्ये इत्यादिवाचकपदोपादाने वाच्यमनुमानम् ।' 'वक्ति, कथ-
यतीत्यादि लक्षकपदोपादाने लक्ष्यम् । तदन्यतरानुपादाने साध्याक्षिसायामनुमितौ प्रती-
यमानम् ।' 'साध्यस्याप्यनुपादाने लिङ्गमात्रोपादानेन यत्रागूर्यमाण साध्य तत्र ध्वन्य-
मानम् । अतोऽनुमितिरवानुमानम् । तस्याश्च वाच्यत्वं लक्ष्यत्वं प्रतीयमानत्वं ध्वन्यमान-
त्वाना साम्राज्यम् ल्युटश्च करण इव भावेऽपि ।' (रसगङ्गाधर : अनुमानप्रकरण)

अनुवाद—'हेतु' वह अलङ्कार है जिसे हेतुमान् के साथ हेतु का अभेदरूप से वर्णन
कहा गया है ।

यथा मम—‘तारुण्यस्य विलासः—’ इत्यत्र वशीकरणहेतुर्नायिकावशीकरणत्वेनोक्ता, विलासहासयोस्त्वध्यवसायमूलोऽयमलङ्कारः ।

(३२—अनुकूलालङ्कार)

अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत् ।

यथा—

‘कुपितासि यदा तन्वि । निधाय करजक्षतम् ।

बधान भुजपाशाभ्यां कण्ठमस्य हठं तदा ॥’

इसका उदाहरण मेरी स्वरचित सूक्ति—‘तारुण्यस्य विलासः’ आदि है । यहाँ ‘हेतु’ अलङ्कार इसलिये है क्योंकि (प्रेमी युवकों के हृदय के) वशीकरण की ‘हेतु’ वर्ण्य नायिका को ‘वशीकरण’रूप से वर्णित किया गया है । साथ ही साथ (तारुण्यस्य विलासः में) ‘विलास’ और (समधिकलावण्यसंपदो हासः में) ‘हास’ में अभेदाध्यवसायमूलक ‘हेतु’ अलङ्कार स्पष्ट दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—(क) आचार्य भामह की दृष्टि में ‘हेतु’ नाम का कोई भी अलङ्कार नहीं । आचार्य दण्डी ने ‘हेतु’ को वाणी अथवा कविता का उत्तम भूषण कहा है—

‘हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।’ (काव्यादर्श २. २३५)

किन्तु आचार्य दण्डी का ‘हेतु’ अलङ्कार ‘काव्यलिङ्ग’ अलङ्कार है ।

आचार्य रुद्रट ‘हेतु’ अलङ्कार के सर्वप्रथम समर्थक आलङ्कारिक हैं—

‘हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकुञ्जवेद्यत्र ।

सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः ॥’ (काव्यालङ्कार ७ ८२)

किन्तु काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने आचार्य रुद्रट का खण्डन किया है और ‘हेतु’ को अतिरिक्त अलङ्कार न मानने का आदेश दिया है—

‘(हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः) इति हेत्वलङ्कारोऽत्र न लक्षितः । आयु-धृतमित्यादिरूपो द्वेष न भूषणतां कदाचिदहति, वैचित्र्याभावात् । ‘अविरलकमलविकास’ सकलालिप्तदश्च कोकिलानन्दः । रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥’ इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाग्रासिपुर्न तु हेत्वलङ्कारकल्पनयेति पूर्वोक्तं काव्य-लिङ्गमेव हेतुः ।’ (काव्यप्रकाश, १०म उच्छास)

किन्तु ऐसा लगता है कि काव्यप्रकाशकार के खण्डन के आवेश में विश्वनाथ कविराज ने ‘हेतु’ को ‘काव्यलिङ्ग’ और ‘अनुमान’ से पृथक् रूप का अलङ्कार मान लिया है ।

उद्योतकार ने इसीलिये यह निर्णय किया है कि ‘हेतु’ को पृथक् अलङ्कार मानना अनुचित है—

‘एव हेतुफलयोरभेदाध्यवसायेऽप्येषा (अतिशयोक्तिः) । यथा ‘विलासना समरसीमनि शात्रवाणामाजीवनं विबुधपर्षदि कोविदानाम् । समोहन सुरतससदि कामिनीनां रूप तदीयमवलोकयतोऽद्भुत मे ॥’ इत्यादौ विलासनादिपदस्य तद्धेतौ शुद्धसाध्यवसाना । एतेन ‘हेतोर्हेतुमता सार्धमभेदो हेतुरुच्यते’ इति हेत्वलङ्कारोऽयं पृथगित्यपास्तमित्याहुः ।’

अनुवाद—‘अनुकूल’ वह अलङ्कार है जिसे प्रतिकूल (वस्तु) द्वारा अनुकूलता के संपादन में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘अरी सुन्दरी ! यदि तू कुपित हो गयी तो इस (प्रेमी) के शरीर पर नखचत लगा कर, इसके गले को अपने बाहुपाश से बाँध दे ।’

अस्य च विच्छिन्तिविशेषस्य सर्वालङ्कारविलक्षणत्वेन स्फुरणात्पृथगलङ्कार-
त्रमेव न्याय्यम् ।

(३३—आज्ञेपालङ्कार)

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ॥ ६४ ॥

निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ।

तत्र वक्ष्यमाणविषये क्वचित्सर्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेधः क्वचि-
दंशोक्तावशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ । उक्तविषये च क्वचिद्वस्तुस्वरूपस्य
निषेधः, काचद्वस्तुकथनस्येति द्वौ, इत्याक्षेपस्य चत्वारो भेदा ।

यहाँ (इस सूक्ति में) एक ऐसी विचित्रता झलक रही है जिसे अन्य किसी भी
लङ्कार के वैचित्र्य में नहीं देखा जा सकता । इसलिये यही उचित है कि इस वैचित्र्य
प्रकार को एक पृथक् लङ्कार (अर्थात् ' अनुकूल लङ्कार) के रूप में स्वीकार किया जाय ।

विमर्श—' अनुकूल ' लङ्कार रमणदो विधनाथ विराज की वस्तुना की एक देन है ।
' अनुकूल ' लङ्कार की नयी वस्तुना का आधार विधन अङ्कार की प्राचीन नाम्यना है ।
विधन लङ्कार की परिभाषा यह हो—

' गुणौ क्रिये वा चेत्स्याता विरुद्धे हेतुकार्ययोः । चद्वारव्यस्य वैकल्पमनर्थस्य च समव ' ॥

विरूपयो सघटना या च तद्विषम मतम् ॥ (लाटिल्लिङ्ग)

जिनमें यह स्पष्ट है कि यदि अन्नुरूप पदार्थों का एक प्रकार का संगर्ग एक ' अलङ्कार ' है तो
अन्नुरूप पदार्थों का दूसरे प्रकार का संगर्ग भी एक ' अलङ्कार ' प्रकार अवश्य हो सकता है । किन्तु
इस वक्तव्यिन्नात्र वैलक्षण्य के आधार पर ' अनुकूल ' की अनिरिक्त नाम्यना आचार्य दण्डी के इस
अलङ्कारनिष्पन्निष्ठान्त के प्रतिकूल ही दिखायी देती है—

' काव्यशोभाकारान् धर्मानलङ्कारान् प्रवर्तते । ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान्कात्स्न्येन वक्ष्यति ॥
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यं प्रदर्शितम् । तदेव परितस्कृतुमयमस्मत्परिश्रमः ॥'

(काव्यादर्श, २. १-२)

अर्थात् लङ्कारों को रच्य अथवा अर्थ के वे धर्म अथवा वैशिष्ट्य हैं जो कि काव्य को शोभा
के समुदायक हुआ करते हैं । काव्य की शोभा के आधारक रच्य-धर्मों अथवा अर्थ-धर्मों का इयत्ता
निर्धारण नहीं हो सकता । किन्तु इन्का यह अभिप्राय नहीं कि वक्तव्यिन्नात्र वैशिष्ट्य के आधार
पर नये-नये लङ्कारों की कल्पना की जाय ।

जब से कन विधनाथ विराज को यहाँ यह देखना आवश्यक था कि ' अनुकूल ' लङ्कार
पुनः लङ्कार नामने अथवा न मानने से ' रमानक काव्य ' में विशेषता का आधार समव
अथवा नहीं । रमणनिवादी काव्याचार्य के लिये ' अनुकूल ' की अनिरिक्त लङ्कार नाम
सुचित्युक्त नहीं प्रतीत होता ।

अनुवाद—' आक्षेप ' वह लङ्कार है जिसे विवक्षित वस्तु के ऐसे आपातत निषेध
देखा जाता करता है जो कि अनन्तोगत्वा उसकी विशेषता के प्रतिपादन के लिये वि
जाया करता है । इसके ये दो प्रकार हैं—(१ ला) वक्ष्यमाण वस्तुगत निषेधाभास
आक्षेप और (२ रा) उक्त वस्तुगत निषेधामात्मरूप आक्षेप ।

वक्ष्यमाण वस्तुगत निषेधामात्मरूप ' आक्षेप ' भी दो प्रकार का हुआ करता है
(१ ला) वह, जिसमें सामान्यतया सूचित समस्त वस्तु का निषेध किया जाता है
है और (२ रा) वह, जिसमें एक वंश में सूचित वस्तु का दूसरे वंश में निषेध

क्रमेण यथा—

(सामान्यतया सूचित वस्तु का सर्वात्मना निषेधरूप वक्ष्यमाणविषयगत आक्षेप)

‘स्मरशरशतविधुराया भणामि सख्याः कृते किमपि ।

क्षणमिह विश्रम्य सखे ! निर्दयहृदयस्य किं वदाम्यथवा ॥’

अत्र सख्या विरहस्य सामान्यतः सूचितस्य वक्ष्यमाणविषये निषेधः ।

(एक अंश के वर्णन और दूसरे अंश के निषेध में वक्ष्यमाण विषयगत आक्षेप)

‘तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम् ।

हन्त ! नितान्तमिदानीम् आः किं हतजल्पितैरथवा ॥’

अत्र मरिष्यतीत्यशो नोक्तः ।

(वस्तुरवरूप के निषेध में उक्त विषयगत आक्षेप)

‘बालअ ! णाहं दूती तुअ पिओसि त्ति ण मह वावारो ।

सा मरइ तुअ अअसो एअ धम्मक्खरं भणिमो ॥’

[बालक ! नाहं दूती तस्याः प्रियोऽसि इति न मे व्यापारः ।

सा म्रियते तवायशः पतत् धर्माक्षरं भणामः ॥]

अत्र दूतीत्वस्य वस्तुनो निषेधः ।

करता है। इसी प्रकार उक्त वस्तुगत निषेधाभासरूप आक्षेप भी दो प्रकार का है—
(१ ला) वह, जिसमें वस्तु के स्वरूप का निषेध हुआ करता है और (२ रा) वह,
जिसमें वस्तु के कथन अथवा वर्णन का निषेध किया जाया करता है। इस प्रकार ‘आक्षेप’
के चार भेद सिद्ध होते हैं ।

जैसे कि क्रमशः—

‘हे सखे ! क्षण भर विश्राम करके मैं तुमसे अपनी उस सखी के विषय में कहूँगी
जिसका हृदय काम के असख्य वाणों द्वारा विद्ध हो चुका है। अथवा तुम जैसे निष्ठुरहृदय
के आगे कहूँ भी तो क्या कहूँ ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि किसी सखी द्वारा किसी नायिका की विरह-व्यथा की सामान्यतः
सूचना दी जा रही है किन्तु ‘कि भणामि’ की उक्ति से उसके सम्बन्ध में आगे कही जाने
वाली बात (वस्तुतः उसकी मृत्यु) का निषेध कर दिया जा रहा है ।

‘अरे सुभग ! तुम्हारे विरह में वह मृगनयनी सुन्दरी खिली हुई नवमालिका को
देख कर, इस समय, कितने दुःख की बात है कि, अवश्य ही.....ओह ! अथवा, इन
सुरी बातों के कहने से भी क्या लाभ ।’

यहाँ ‘हन्त नितान्तम्’ की उक्ति में वर्ण्य नायिका की दुर्दशा का अंशतः कथन है
किन्तु ‘मरिष्यति’ का आगे कहा जाने वाला दूसरा अंश निषिद्ध कर दिया गया है ।

‘वक्षे ! मैं दूती नहीं । मैं इसलिये भा नहीं आयी कि तुम उसके प्यारे हो । मैं तो
तुमसे केवल ये धर्माक्षर कहने आयी हूँ कि वह मर जायगी और सभी पाप तुम पर लगेगा ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि उक्त दूतीस्वरूप का निषेध किया गया है ।

(वस्तुकथन के निषेध में उक्त वस्तुगत आक्षेप)

‘विरहे तव तन्वङ्गी कथं क्षपयतु क्षपाम् ।

दारुणव्यवसायस्य पुरस्ते मणितेन किम् ? ॥’

अत्र कथनस्योक्तस्यैव निषेधः ।

प्रथमोदाहरणे सख्या अवश्यम्भाविमरणमिति विशेषः प्रतीयते । द्वितीयेऽ-
शक्यवक्तव्यत्वादि, तृतीये दूतीत्वे यथार्थवादित्वम्, चतुर्थे दुःखस्यातिशयः ।

न चायं विहितनिषेधः, अत्र निषेधस्याभासत्वात् ।

(आक्षेप का प्रकारान्तर)

अनिष्टस्य तथार्थस्य विघ्नाभासः परो मतः ॥ ६५ ॥

तथेति पूर्ववद्विशेषप्रतिपत्तये ।

यथा—

‘गच्छ गच्छसि चेत् कान्त ! पन्थानं सन्तु ते शिवाः ।

ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥’

‘अरे सुभग ! तुम्हारे वियोग में वह सुन्दरी भला किस प्रकार रात बितावे ? अथवा
तुम्हारे सरीखे मूर्ख आचरण वाले के आगे कुछ कहने से भी क्या ?’

यहाँ उक्त वस्तुकथन का निषेध स्पष्ट है ।

इन चारों उदाहरणों में विवक्षित वस्तु की ‘विशेषता’ का जो अभिप्राय है जिसके
लिये वक्ष्यमाण अथवा उक्त विषय का निषेध किया गया है वह यह है—पहले अर्थात्
‘स्मरशरशतविधुराया’ आदि में सखी का ‘अवगम्यभावी मरण’ रूप जो अभिप्राय प्रतीत
हो रहा है वह ‘विशेष’ है, दूसरे अर्थात् ‘तव विरहे हरिणाक्षी’ आदि में यह ‘विशेष’
प्रतीत हो रहा है कि ‘उसको दुर्दशा का वर्णन असंभव है’, तीसरे अर्थात् ‘वाल्मीकि’ आदि में
‘दूती’ आदि में ‘दूती होने पर भी यथार्थवादिता’ का अभिप्राय ‘विशेष’ रूप से विवक्षित है
और चौथे अर्थात् ‘विरहे तव तन्वङ्गी’ आदि में जो ‘विशेष’ है वह विरहिणी की ‘दुःख-
पराकाष्ठा’ का अभिप्राय है ।

इन ‘आक्षेप’-सूक्तियों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें जिनका
विधान अथवा प्रतिपादन किया गया है उसका निषेध ही वह वैचित्र्य है जो आक्षेप-अलङ्कार
का स्वरूप है क्योंकि वस्तुतः जिसे ‘आक्षेप’ अलङ्कार कहा करते हैं वह ‘विहित’ के ‘निषेध’
में नहीं अपितु उसके ‘निषेधाभास’ (आपातत निषेध) में रहा करता है ।

अनुवाद—एक प्रकार का ‘आक्षेप’ वह भी है जिसे अनिष्ट अर्थ के ऐसे ‘विघ्नाभास’
अथवा (आपातत विधान) में देखा जाया करता है जिससे किसी विशेष अभिप्राय का
प्रकाशन हुआ करता है ।

यहाँ कारिका में ‘तया’ का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रथम ‘आक्षेप’ प्रकार में विहित
का निषेधाभास एक विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थ अपेक्षित माना गया है वैसे ही इन
‘आक्षेप’-प्रकार में भी अनिष्ट अर्थ का विघ्नाभास एक विशेष अभिप्राय के अवबोधनार्थ
ही अभिप्रेत हुआ करता है ।

जैसे कि—

‘मेरे प्रियनम ! जा रहे हो तो जाओ, तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हों, किन्तु, ईश्वर से
मेरी यही प्रार्थना है कि मैं भी पुनः वहीं जन्म लूँ जहाँ तुम जा रहे हो ।’

अत्रानिष्टत्वाद्गमनस्य विधिः प्रस्खलद्रूपो निषेधे पर्यवस्यति । विशेषश्च गमनस्यात्यन्तपरिहार्यत्वरूपः प्रतीयते ।

यहाँ जो 'अनिष्ट' अर्थ है वह 'प्रियतम का प्रवास'रूप अर्थ है । इस अनिष्ट अर्थ का 'गच्छ गच्छसि चेत्' के रूप में जो विधान है वह अपने आप में असंगत है और अन्ततः ('मा गच्छ' के रूप में) गमन के निषेध का ही अर्थ रहता है जिससे यह विशेष अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है कि 'ऐसी अवस्था में अन्यत्र जाना सर्वथा अनुचित है ।

विमर्श—(क) 'साहित्यदर्पण'कार का 'आक्षेप'-रक्षण आचार्य उद्भट के इस आक्षेप-रक्षण के अनुरूप है—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्तया ।

आक्षेप इति त सन्त दासन्ति कवयः सदा ॥

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स च द्विविध इष्यते ।

निषेधेनेव तद्व्यन्धो विधेयस्य च कीर्तितः ॥' (कान्यालङ्कारसारसंग्रह, २०२-३)

'आक्षेप' में जिस 'अर्थविशेष' की प्रतिपत्ति के लिये विहित का निषेधाभास अथवा अनिष्ट का विध्याभास अपेक्षित रहा करता है वह 'अर्थविशेष' वस्तुतः व्यङ्ग्यरूप अर्थ है । इस व्यङ्ग्यरूप अर्थ के कारण आक्षेप सूक्तियों को 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन सूक्तियों का सौन्दर्य इस 'व्यङ्ग्य'रूप 'विशेष' में नहीं अपितु इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' के प्रतिपादन-वैचित्र्य में रहा करता है । ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—

'आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणो वाच्यस्यैव चारुत्वम् । प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्ति-सामर्थ्यादेव ज्ञायते । तत्र शब्दोपाखण्डरूपो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम् । चारुवोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।' (ध्वन्यालोक, पृष्ठ १११)

अर्थात् वैसे 'आक्षेप' में भले ही व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' प्रतीत हो किन्तु इस अलङ्कार की रूप-रेखा इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' में नहीं अपितु इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' के व्यञ्जक वाच्य-वैचित्र्य में ही रहा करती है । व्यङ्ग्य के सौन्दर्य की अपेक्षा वाच्य का अधिक सौन्दर्य ही 'आक्षेप'रूप काव्यशरीर की भाँति प्रतीत हुआ करना है । इसलिये यहाँ 'ध्वनि' की कोई संभावना नहीं ।

(ख) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'आक्षेप' की यह सुन्दर समीक्षा की है—

'उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः—

इह प्राकरणिकोऽर्थः प्राकरणिकत्वादेव वक्तुमिष्यते, तथाविधस्य विधानार्हस्य निषेधः कर्तुं न युज्यते । स कृतोऽपि बाधितस्वरूपत्वात् निषेधायत इति निषेधाभासः सम्पन्नः । तस्यैतस्य करणं प्रकृतगतत्वेन विशेषप्रतिपत्त्यर्थम् । अन्यथा गजस्ताननुत्पद्य स्यात् । स चाऽभासमानोऽपि निषेधस्तत्रोक्तस्य वा स्यात् आसूत्रिताभिधानत्वेन वक्ष्यमाणस्य वा स्यात् । इत्याक्षेपस्य द्वयी गतिः । तत्रोक्तविषयत्वेन वैयर्थ्यपरमालोचनमाक्षेपः । वक्ष्यमाणविषयत्वेनानयनरूपमागूरणमाक्षेपः । एव चार्थभेदाक्षेपशब्दस्य द्वावाक्षेपाविति वदन्ति । तत्रोक्तविषये यस्यैवेष्टस्य विशेषस्तस्यैवाक्षेपः । वक्ष्यमाणविषये स्विष्टस्य विशेषः । इष्टसम्बन्धिनस्वरूपस्य सामान्यरूपस्य निषेधः । तेनात्र लक्षणभेदः । विशेषस्य चात्र शब्दानुपात्तत्वाद्गम्यत्वम् तत्रोक्तविषय आक्षेपे क्वचिद्वस्तु निषिध्यते क्वचिद्वस्तुकथनमिति द्वौ भेदौ । वक्ष्यमाणविषये तु वस्तुकथनमेव निषिध्यते तच्च सामान्यप्रतिज्ञायां क्वचिद् विशेषनिष्ठत्वेन निषिध्यते क्वचित्पुनरङ्गोक्तावशान्तरगतत्वेनेत्यत्रापि द्वौ भेदौ । तदेवमस्य चत्वारो भेदाः । शब्दसाम्यनिबन्धनं सामान्यविशेषभावमवलम्ब्य चात्र प्रकारप्रकारभाव-कल्पनम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४५-१४६)

अर्थात् 'आक्षेप' का अनिप्राय 'विधि' और 'निषेध' द्वारा 'निषेध' और 'विधि' का उक्ति-वैविध्य है। यदि प्राकरनिक अर्थ 'विधि' रूप है तो उसका 'निषेध' असंगत है। इसी प्रकार यदि प्राकरनिक अर्थ 'निषेध' रूप है तो उसका 'विधान' अनुपपन्न है। इसलिये 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान वास्तविक नहीं अपितु प्राचीनिक अथवा आभासरूप ही सिद्ध होता है। 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान यों ही नहीं किया जाया करता अपितु किसी विशेष अनिप्राय के प्रकाशनार्थ ही किया जाया करता है। नहीं तो जिनका विधान किया जान उसीका निषेध किया जाय अथवा जिसका निषेध किया जाय उसीका विधान किया जाय—यह तब 'गन्तान' (हाथी के नहाने) की भाँति निरर्थक ही है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने दो प्रकार के 'आक्षेप' इस्तेमाल किये थे क्योंकि एक आक्षेपप्रकार ने 'कैमर्प्यर्पालोचन' (क्यों ऐसा किया गया इत प्रश्न) और दूसरे आक्षेपप्रकार ने 'वक्ष्यनागनयनागूरण' (अग्रे कही जानेवाली बात के प्रकाशन) का रहस्य अन्तर्निहित रहा करता है। किन्तु वस्तुतः यहाँ ऐसा है कि उक्तविषयक 'आक्षेप' की ही भाँति 'वक्ष्यनागविषयक' आक्षेप ने भी 'कैमर्प्यर्पालोचन' (क्यों ऐसा किया गया—इत प्रश्न) का ही तात्पर्य रहा करता है। इसलिये प्राचीन आलङ्कारिकों के 'आक्षेप-रक्षण' ने 'आक्षेप' के प्रकारद्वय का कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

वस्तुतः 'आक्षेप' का पृथक् पृथक् लक्षण ही चुचित्युक्त है। जैसे कि 'उक्तविषयक' आक्षेप के लिए यह कहना उचित है कि इसने 'वस्तुनिषेध' और 'वस्तुव्ययनिषेध' हुआ करता है और 'वक्ष्यनागविषयक' आक्षेप ने केवल 'वस्तुव्ययनिषेध' ही 'तानान्यन्त' सूचित के निषेध' और 'एक अर्थ के व्ययपूर्वक अन्य अर्थ के निषेध'—इन दो रूपों ने दिखाई दिया करता है।

(ग) अनिष्ट अर्थ के विध्यामातरूप 'आक्षेप' की 'आक्षेप'प्रकार के रूप ने कलना आचार्य-रूपक ने सर्वप्रथम की है। यह कलना विश्वनाथ कविराज की भी मान्य है। आचार्य-रूपक का इस सम्बन्ध में यह कथन है—

'यथेष्टस्तेष्टत्वादेव निषेधोऽनुपपन्नः एवमनिष्टस्याप्यनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते। तत्क्रियमाणं प्रस्तुतद्रूपस्वान्निषेधं पर्यवस्यति। तत्तत्र विधेरुपकरणोन्मूलो निषेध इति विधानाऽप्यनिषेधोऽनिष्टविशेषपर्यवसायी निषेधागूरणादाक्षेपः।' (अलङ्कारम्बन्ध, पृष्ठ १-२) अर्थात् जैसे इष्ट होने के नाते इष्ट का निषेध अनुपपन्न है वैसे ही अनिष्ट होने के नाते अनिष्ट का भी विधान अनुपपन्न ही है। तब भी यदि 'अनिष्टविधान' किया जाना है तो इसका अनिप्राय अन्तर्गतत्वा निषेधरूप ही निकल सकता है जिसे 'विध्यामात' कहा जा सकता है।

निम्न सूक्तियों 'आक्षेप' की कहां उत्तर सूक्तियाँ हैं—

'ख जीवित स्वमसि मे हृदय द्वितीय ख कौमुदो नयनयोरमृत स्वमद्वे।
हृत्पादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां तानेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥'

(उत्तरानुचरित, ३५ अङ्क)

'नो किञ्चित् कथनीयमस्ति सुभग प्रीता परं त्वादृशाः

पन्थानः कुशला भवन्तु भवतः को मादृशमाग्रहः।

किञ्चित् कथयामि सततरतच्छान्तिश्चिद्वदस्तास्वया

स्मर्त्तव्या शिशिरा सहस्रगतयो गोदावरीवीचय ॥'

(अलङ्कारम्बन्ध : उत्तर)

'रे खलु तव चरितं विदुषामग्रे विविच्य वदशामि।

अलमथवा पापान्मन् कृत्या कथयामि ते, हतया ॥'

(पण्डितराज जगन्नाथ)



(३४—विभावना : भेद-प्रभेद)

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।

उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद्विधा सा परिकीर्तिता ॥ ६६ ॥

विना कारणमुपनिबध्यमानोऽपि कार्योदयः किञ्चिदन्यत्कारणमपेक्षयैव भवितुं युक्तः । तच्च कारणान्तरं कचिदुक्तं कचिदनुक्तमिति द्विधा ।
यथा—

(उक्तनिमित्ता विभावना)

‘अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ ।

अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ॥’

अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तम् ।

(अनुक्तनिमित्ता विभावना)

अत्रैव ‘वपुर्भाति मृगीदृशः’ इति पाठेऽनुक्तम् ।

अनुवाद—‘विभावना’ वह अलङ्कार है जिसे कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन कहा करते हैं । ‘विभावना’ के दो प्रकार हैं—(१) वह, जिसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति का निमित्त प्रतिपादित हो अर्थात् ‘उक्तनिमित्ता’ विभावना और (२) वह, जिसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति के निमित्त का प्रतिपादन न किया जाय अर्थात् ‘अनुक्तनिमित्ता’ विभावना ।

यह निश्चित है कि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो यह अवश्यभावी है कि कोई न कोई ऐसा कारणविशेष अवश्य होगा (जिसकी दृष्टि से कारण के विना भी कार्य संपन्न हो सकता है) । कहीं पर यह कारणविशेष प्रतिपादित हो सकता है (जैसे कि उक्तनिमित्ता विभावना में), और कहीं इसका प्रतिपादन नहीं किया जाया करता (जैसे कि अनुक्तनिमित्ता विभावना में) । वस्तुतः इस कारण अथवा निमित्तविशेष की ‘उक्ति’ और ‘अनुक्ति’ के ही कारण ‘विभावना’ के दो भेद निष्पन्न होते हैं । उदाहरण के लिये—

‘यौवन की अवस्था में इस सुन्दरी को कमर विना आयास-प्रयास के ही कृश हो रही है, इसकी आँखें विना किसी आशका के ही चञ्चलता से भर उठी हैं और इसकी देह विना किसी आभूषण के ही मनोहर लग रही है ।’

यहाँ ‘आयास’, ‘आशङ्का’ और ‘आभूषण’रूप प्रसिद्ध कारणों के अभाव में ही ‘कृशता’, ‘तरलता’ और ‘मनोहरता’रूप कार्यों की उत्पत्ति वर्णित है और ऐसे वर्णन का निमित्त भी प्रतिपादित है जो कि ‘यौवन’रूप निमित्त है (इस प्रकार यहाँ ‘उक्तनिमित्ता’ विभावना की झलक स्पष्ट है) ।

उपर्युक्त ‘अनायासकृशं मध्यम्’ आदि सूक्ति में ही ‘वपुर्वयसि सुभ्रुवः’ के बदले ‘वपुर्भाति मृगीदृशः’ कर देने से ‘अनुक्तनिमित्ता’ विभावना का लक्षण घटित हो जाता है (क्योंकि ‘यौवन’रूप निमित्त के न रहने पर यहाँ की विभावना ‘अनुक्तनिमित्ता’ ही कहो जा सकती है) ।

विमर्श—‘विभावना’ एक प्राचीन अलङ्कार है । आचार्य दण्डी का ‘विभावना’-लक्षण यह है—

‘प्रसिद्धहेतुन्यायवृत्त्या यत्किञ्चित्कारणान्तरम् ।

यस्य स्वरूपनिमित्तं न निमित्तं सा विभावना ॥’ (काव्यादर्श, २, १९९)

(३५—विरोधोक्ति)

सति हेतौ फलाभावे विरोधोक्तिस्तथा द्विधा ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विभावना' का वैचित्र्य प्रसिद्ध कारण के परित्याग के साथ-साथ अप्रसिद्ध कारण की कल्पना में रहा करता है । अलङ्कारसर्वस्वकार का इन्तलिये यह कथन है—

'इह कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य कारणमन्तरेणासंभव । अन्यथा विरोधो दुष्परिहर स्यात् । यदि तु कयाचिद्भङ्गया तथाभाव उपनिवध्यते तदा विभावनात्योऽलङ्कार' । विशिष्टतया कार्यस्य भावनात् । सा च भङ्गिर्विशिष्टकारणाभावोपनिवद्धा (यथा भङ्गया कारणं विनापि कार्यसंभव उपनिवध्यत इत्यर्थ—विमर्शिनी) । अप्रस्तुत कारणं वस्तुतोऽस्तीति विरोधपरिहार ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५७)

अर्थात् जद कि यह तनी जानने हैं कि विना कारण के कार्य नहीं हो सकना तब कारण के अभाव में कार्य का सञ्जाव-वर्णन एक उपपन्न-वस्तु ही बात है । किन्तु कविजन देता वर्णन किया करते हैं । उनके इन प्रकार के वर्णन में एक वैचित्र्य है और वही 'विभावना' अलङ्कार है । 'विभावना' का अर्थ है कार्योत्पत्ति की देती 'भावना' जितने एक विचित्रता है । यह 'विचित्रता' वस्तुतः कारण के अभाव में कार्यसञ्जाव की ही विचित्रता है । जीवलोके में यह विचित्रता समझ नहीं । यह तो एक मात्र काव्यलोक की विशेषता है । 'कारण के अभाव में कार्य का सञ्जाव' क्या है ? प्रस्तुत कारण के परिहार के साथ, अप्रस्तुत कारण की कार्यसञ्जाव ही, कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति—कल्पना है ।

(त) 'विभावना' के मूल में अतिशयोक्ति का बीज पड़ा रहता है । जैसे कि 'अनानासङ्गशून्य' काटि नूति में ही यौवनजन्य 'हृशता' और परिश्रमजन्य 'हृशता' का अनेकाध्ववस्तान स्पष्ट है क्योंकि तनी 'हृशता' के परिश्रमरूप कारण के परिहार और यौवनरूप कारण की भावना की उपपत्ति ठीक बैठती है । 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इन्तलिये कहा है—

'सा (अतिशयोक्ति) च अस्यामव्यभिचारिणीति न तद्वाधेनास्या उत्थानम्, अपि तु तदनुप्राणितत्वेन ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५९)

अर्थात् 'विभावना' में अतिशयोक्ति का अनुप्राणन स्वभाविक है । यहाँ 'अतिशयोक्ति' द्वारा 'विभावना' वाधित नहीं होती अपितु म्बल देना करती है ।

'अलङ्कारसर्वस्व' विमर्शिनीकार को भी यह मन अभिप्रेत है—

'अतश्च ऋचिच्छुद्धस्यापि समवात् सर्वत्रास्यातिशयोक्त्यनुप्राणितत्वमिति न वाच्यमिति यदुक्तं तदयुक्तम् ।'

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने 'विभावना' के लिये सर्वत्र 'अतिशयोक्ति' का अनुप्राणन आवश्यक नहीं माना है—

'मा त्म भूस्पर्शं विभावनायामतिशयोक्तिरनुप्राणिका । आहार्याभेदबुद्धिमात्रमेवानुप्राणकम् । तच्च ऋचिदतिशयोक्त्या, ऋचिश्च रूपक्रेणेति न दोषः ।' (रत्नदाधर, पृष्ठ ५८०)

निम्न 'विभावना' नूति बड़ी सुन्दर है—

'निस्पादानमन्भारमभिलाषेव तन्वते । जगच्चित्र नमस्तस्मै कलाशुधाय शूलिने ॥'

अनुवाद—'विरोधोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे कारण के सञ्जाव में कार्य का अभाव-वर्णन कहा जाया करता है । यह भी दो प्रकार की है—(१) 'उक्तनिमित्ता' विरोधोक्ति और (२) 'अनुक्तनिमित्ता' विरोधोक्ति ।

यहाँ कारिका में 'तथा' का अनिप्राय निमित्त की उक्ति और अनुक्ति के कारण 'विरोधोक्ति' के दो भेदों में विभक्त होने का अनिप्राय है ।

तथेत्युक्तानुक्तनिमित्तत्वात् । तत्रोक्तनिमित्ता यथा—

‘धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।

प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥’

अत्र महामहिमशालित्वं निमित्तमुक्तम् । अत्रैव चतुर्थपादे ‘क्रियन्तः सन्ति भूतले’ इति पाठे त्वनुक्तम् । अचिन्त्यनिमित्तत्वं चानुक्तनिमित्तस्यैव भेद इति पृथङ् नोक्तम् ।

यथा—

‘स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥’

अत्र तनुहरणेनापि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् । इह च कार्याभावः कार्य-विरुद्धसद्भावमुखेनापि निबद्धयते । विभावनायामपि कारणभावः कारणविरुद्ध-सद्भावमुखेन ।

जैसे कि ‘उक्तनिमित्ता’ विशेषोक्ति—

‘वे लोग महामहिमशाली महापुरुष हैं जो धनी होने पर भी निरभिमान, युवा होने पर भी स्थिर बुद्धिवाले और प्रभुत्व रखने पर भी अप्रमत्त हुआ करते हैं ।’

यहाँ ‘धन’, ‘यौवन’ और ‘प्रभुत्व’ रूप कारण के सद्भाव में भी ‘उन्माद’, ‘चञ्चलता’ और ‘अप्रमाद’ रूप कार्य के अभाव का वर्णन है और इसके निमित्तरूप से ‘महामहिम-शालित्व’ का भी प्रतिपादन है जिसमें ‘विशेषोक्ति’ का ‘उक्तनिमित्ता’ होना स्पष्ट है ।

यहाँ यदि ‘महामहिमशालिनः’ इस चतुर्थ चरण के स्थान पर ‘क्रियन्तः सन्ति भूतले’ (‘ससार में ऐसे कितने लोग हैं जो’) कर दिया जाय तो ‘अनुक्तनिमित्ता’ विशेषोक्ति का स्वरूप झलक उठता है ।

(काव्यप्रकाशकार द्वारा प्रतिपादित) विशेषोक्ति का ‘अचिन्त्यनिमित्तक’ रूप वस्तुतः उसका ‘अनुक्तनिमित्तक’ रूप ही है । इसलिये यहाँ ‘अचिन्त्यनिमित्तक’ विशेषोक्ति-भेद का कोई निरूपण अपेक्षित नहीं ।

जैसे कि ‘विशेषोक्ति’ के ‘अचिन्त्यनिमित्तक’ भेद के उदाहरणरूप से उद्धृत यह सूक्ति अर्थात्—

‘बह कुसुमायुध (काम) ही ऐसा है जो अकेला होते हुये भी तीनों लोकों पर विजय पाया करता है क्योंकि तभी तो उसके शरीर का विनाश करने पर भी उसके बल का विनाश भगवान् शङ्कर द्वारा न हो सका ।’

वस्तुतः ‘अनुक्तनिमित्ता’ विभावना का ही निदर्शन प्रतीत होती है क्योंकि शरीर के विनाश में भी बल के विनाश के अभाव का जो वर्णन है उसमें निमित्त का ‘अचिन्त्य’ होना उसके ‘अनुक्त’ होने के ही धरावर है ।

‘विशेषोक्ति’ के संबन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ (कारण के सद्भाव में) कार्य के अभाव का वर्णन किसी कार्य के विरोधी किसी पदार्थ के सद्भाव-वर्णन द्वारा भी किया जा सकता है । ‘विभावना’ में भी यही बात है क्योंकि वहाँ भी (कार्य के सद्भाव में) कारण के अभाव का वर्णन कारण के विरोधी किसी पदार्थ के सद्भाव-वर्णन में संभव है । उदाहरण के लिये ‘यः कौमारहरः’ आदि (पूर्वोद्धृत) सूक्ति पर्याप्त है जहाँ (उत्कण्ठारूप कार्य के सद्भाव में) उत्कण्ठा-कारण ‘वर’ आदि का अभाव-वर्णन उत्कण्ठा-

एवञ्च 'य' कौमारहरः' इत्यादेरुत्कण्ठाकारणविरुद्धस्य निबन्धनाद्विभावना ।
'य' कौमार-इत्यादेः कारणस्य च कार्यविरुद्धाया उत्कण्ठाया निबन्धनाद्विशेषोक्तिः । एवञ्चात्र विभावनाविशेषोक्तयोः सङ्करः । शुद्धोदाहरणं तु नृग्यम् ।

कारण के विरोधी (यथात् 'वर' आदि के सद्भाव) के वर्णन द्वारा किया गया है जिसमें 'विभावना' स्पष्ट झलक रही है । यहीं 'विशेषोक्ति' का भी चमत्कार प्रतीत हो रहा है जिसमें 'वर' आदिरूप कारण के सद्भाव में (उत्कण्ठाभावरूप) कार्य के अभाव का वर्णन (उत्कण्ठाभावरूप) कार्य के विरोधी यथात् उत्कण्ठा के सद्भाव के वर्णन द्वारा किया जा रहा है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'य' कौमारहरः' आदि सूक्ति में 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' का (सदेह) 'सङ्कर' बड़ा सुन्दर लग रहा है ।

वस्तुतः जहाँ भी एक दृष्टि से 'विभावना' है वहाँ दूसरी दृष्टि से 'विशेषोक्ति' का सदेह स्वभाविक है इसलिये 'शुद्ध' विभावना यथा 'शुद्ध' विशेषोक्ति के निदर्शन काव्य-साहित्य में हूँदने पर ही मनबत कहीं मिलें (अन्यथा तो इन दोनों के सदेहसंकर का वैचित्र्य उपलब्ध ही होता है) ।

विनर्श—(क) 'उत्कण्ठासर्वत्व'कार ने विशेषोक्ति का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

'कारणसामग्रये कार्यानुपत्तिर्विशेषोक्तिः—इह समन्तांगि कारणानि नियमेन कार्यमुत्पादयन्ति इति प्रसिद्धम् । अन्यथा समग्रत्वस्यैवाभावप्रसङ्गात् । यत्तु सत्यपि सामग्रये न जनयति कार्यं सा किञ्चिद्विशेषमनित्यकुं प्रयुज्यमाना विशेषोक्तिः ।' (उत्कण्ठासर्वत्व, ६ १६१)
अर्थात् यह तो निश्चय ही है कि एक कोई कारण शायद एक नहीं बल्कि कारण-माननी कार्यजनक है । कारण-माननी के रहने पर भी कार्य का न होना एक विशेष कारण ही कमिन्दु है जो कि 'विशेषोक्ति' रूप लक्ष्यवैचित्र्य के द्वारा ही मनव है । इसलिये 'विभावना' के विरतीन स्वभाववाली 'विशेषोक्ति' एक उत्कण्ठासर्वकार है ।

'विशेषोक्ति' की व्युत्पत्ति यह है—'विशेष कश्चित् प्रतिपादयितुमुक्तिः विशेषोक्तिः' । यह व्युत्पत्ति भी कारण-माननी के सद्भाव में कार्योत्पत्ति के अभाव के निमित्तकार है एक विशेष कारण की कल्पना की निदिष्ट कर रही है ।

(ग) 'य' कौमारहरः' आदि में लक्ष्यप्रकाशकर को 'विभावनाविशेषोक्ति'सङ्कर की स्पष्टता नहीं दिखायी देती किन्तु विश्रुताय अविराज के यहाँ 'विभावनाविशेषोक्ति'सङ्कर का मौल्यमूल्य बलवत् स्पष्ट रूप में देखा है । यहाँ पवित्रताय जाग्रत की यह समीक्षा ध्यान देने योग्य है—

'कारणभावकार्याभावयोर्ध्वं प्रतिगोवितावच्छेदकविशेषवैशिष्ट्येन श्रुत्या प्रतिपादनं तत्र विभावनाविशेषोक्तयोः शाब्दत्वम् । यथा—

'भावाद्वदनामभोज पश्यन्त्या लक्ष्यहर्निशम् । तृष्णाधिकमुदेतिस्म गोपमीमन्तिनीदृश' ॥

लोक ह्यलक्षिकर्षत्वृष्णाकारणम् । तदभावे सन्निकर्षेऽपि तृष्णोपनिबद्धा । तथा सन्निकर्ष-स्त्वसि कारणम् । तन्मिन् सत्यपि तृष्णभावी बोधित । परन्तु कारणभाव-कार्याभावयोर्न प्रागुक्तप्रकारेण प्रतिपादननिश्चयत्वमेव तदुभयमशयसंकरस्य । अनुमेव चार्थं ननमि-कृत्य नन्मन्मन्मै 'य' कौमारहरः' इति पद्यमुदाहरणोक्तम्—'अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कार' इति ।

(रत्नमाला, ३३ - ८८९)

अर्थात् लक्ष्यप्रकाशकर का यह व्यन कि 'य' कौमारहरः' आदि में कोई अलङ्कार स्पष्टरूप से नहीं झलकता, यथा सुनिश्चित है । कारण यह है कि यहाँ विभावनाविशेषोक्ति का 'सदेहसङ्कर'

(३६—विरोधालङ्कार सप्रभेद निरूपण)

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः ॥ ६७ ॥

क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद्द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ।

विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः ॥ ६८ ॥

क्रमेण यथा—

(जाति का जाति से विरोधवर्णन रूप 'विरोध')

'तव विरहे मलयमरुद्वानलः, शशिरुचोऽपि सोष्माण ।

हृदयमलिरुतमपि भिन्ते नलिनीदलमपि निदाघरविरस्याः ॥'

(गुण का गुण से विरोधवर्णनरूप 'विरोध')

'सन्ततमुसलासङ्गाद्बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ॥

द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥'

स्फुटतया नहीं प्रतीत हो सकता । 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' अलङ्कार 'शब्द' और 'आर्थ' रूप से दो प्रकार के हुआ करते हैं । इनका 'शब्द' रूप वह है जहाँ 'कारणाभाव' और 'कार्याभाव' का प्रतिपादन इनके 'प्रतियोगी' के वैशिष्ट्य के प्रतिपादनपूर्वक अर्थात् शब्दतः किया जाया करता है । 'य' कौमारहर ' आदि में ऐसी बात नहीं क्योंकि यहाँ उत्कण्ठारूप कार्य के कारण का अभाव शब्दतः प्रतिपादित नहीं । यहाँ यह कहा गया है कि 'जो वर आदि हैं वे वे ही हैं' । न कि यह कि 'जो वर आदि हैं वे वे नहीं हैं ऐसा नहीं' । इसी प्रकार यहाँ उत्कण्ठाभावरूप कार्य का अभाव शब्दतः प्रतिपादित नहीं क्योंकि यहाँ यह नहीं कहा गया कि 'मन नहीं उत्कठिण्त होता ऐसी बात नहीं' अपितु यह कि 'मन उत्कठिण्त होता है' । इस प्रकार अन्ततः यहाँ आर्थ 'विशेषोक्ति' और आर्थ 'विभावना' का 'सदेहसकर' आर्थ हो सकता है जिसका अभिप्राय यही है कि यहाँ 'विभावना विशेषोक्ति' सकर स्फुट नहीं अपितु अस्फुट है और अस्फुट होने के कारण विचारणीय भी नहीं ।

अनुवाद—'विरोध' वह अलङ्कार है जिसे इन दस रूपों में देखा जाया करता है—

- | | |
|--|---|
| (१) जाति के जाति से विरोधवर्णन में । | (६) गुण के क्रिया से विरोधवर्णन में । |
| (२) जाति के गुण से विरोधवर्णन में । | (७) गुण के द्रव्य से विरोधवर्णन में । |
| (३) जाति के क्रिया से विरोधवर्णन में । | (८) क्रिया के क्रिया से विरोधवर्णन में । |
| (४) जाति के द्रव्य से विरोधवर्णन में । | (९) क्रिया के द्रव्य से विरोधवर्णन में और |
| (५) गुण के गुण से विरोधवर्णन में । | (१०) द्रव्य के द्रव्य से विरोधवर्णन में । |

इस 'दशरूप' विरोधालङ्कार के क्रमशः ये उदाहरण हैं—

'अरे प्रेमी युवक ! तुम्हारे वियोग में उस सुन्दरी की यह दशा है कि मलयानिल दवानल बन रही है, चन्द्रमा की किरणें सतापदायक हो रही हैं, भ्रमरों की गुञ्जर हृदय विदारण कर रही है और नलिनी किसलय ग्रीष्म का सूर्य लग रहा है ।'

'राजन् ! ब्राह्मणों की स्त्रियों के वे हाथ जो अब तक सदा मूसल की कुटार्ई-पिसार्ई और दिन रात घरेलू काम में लगे रहने के कारण कड़े हो रहे थे, आज आप के राजा होते, कमल के समान कोमल दिखायी दे रहे हैं ।'

(क्रिया के साथ गुण-विरोध-वर्णन-रूप 'विरोध')

'अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।

स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥'

(गुण का द्रव्य से विरोध वर्णनरूप 'विरोध')

'वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन विना हरिणचक्षुषः ।

राकाविभावरीजानिर्विषज्वालाकुलोऽभवत् ॥'

(क्रिया के साथ क्रिया का विरोध-वर्णन रूप 'विरोध')

'नयनयुगासेचनक मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।

रूपमिदं मदिराद्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥'

(क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध-वर्णनरूप 'विरोध')

'त्वद्वाजि' इत्यादि ।

(द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध-वर्णनरूप 'विरोध')

'वल्लभोत्सङ्ग'-इत्यादिश्लोके चतुर्थपादे 'मध्यन्दिनदिनाधिप' इति पाठे द्रव्ययोर्विरोधः ।

अत्र 'तव विरह-' इत्यादौ पवनादीनां बहुव्यक्तिवाचकत्वात् जातिशब्दानां दवानलोलोप्सहृदयभेदनसूर्यैर्जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपैरन्योन्यं विरोधो मुखत आभासते, विरहहेतुकत्वात्समाधानम् । 'अजस्य-' इत्यादावजत्वादिगुणस्य जन्म-ग्रहणादिक्रियया विरोधः, भगवतः प्रभावस्यातिशायित्वात्तु समाधानम् ।

'हे परमेश्वर ! आप अजन्मा होकर भी जन्म ग्रहण किया करते हैं, निरीह होकर भी शत्रु-संहार किया करते हैं, योगनिद्रामग्न रहते हुये भी जागरूक रहा करते हैं—आपका यथार्थ स्वरूप भला कौन जान सकता है ?'

'प्रियतम के अङ्ग के सुख-सम्बन्ध के न रहने से उस मृगनयनी सुन्दरी के लिये, अथ पूर्णिमा का चन्द्रमा विप की लपटों से लिपटा प्रतीत हुआ करता है ।'

'उस मदिराचक्षुषा सुन्दरी का वह रूप, जो नयनयुगल के शान्तिदायक और अचिन्तनीय सौन्दर्य का केन्द्र है, मेरे हृदय में पीड़ा भी पहुँचाया करता है और आनन्द भी भरा करता है ।'

'त्वद्वाजिराजिनिर्धूत' आदि पूर्वोद्घृत सूक्ति (जहाँ शिवरूप 'द्रव्य' और 'न धारण करने' की क्रिया का विरोध आभासित हो रहा है) ।

'वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन' आदि पूर्वोद्घृत सूक्ति के चतुर्थ चरण में, 'विषज्वालाकुलोऽभवत्' के स्थान पर, यदि 'मध्यन्दिनदिनाधिप' (पूर्णिमा का चन्द्रमा मध्याह्न का सूर्य हो जाया करता है) कर दिया जाय तब दो द्रव्यों का विरोध आभासित होने लगता है ।

इन उपर्युक्त उदाहरण-सूक्तिओं में 'विरोध' और 'विरोध परिहार' का अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिये—'तव विरहे' आदि सूक्ति में 'मलयसमीर' आदि शब्द जाति-वाचक शब्द हैं क्योंकि इनमें अनेकानेक व्यक्तियों की वाचकता निहित है । यहाँ 'मलय-पवन' आदि का 'दावानल'रूप जाति (क्योंकि 'दावानल' पद जातिवाचक पद है), 'उष्मा'रूप गुण (क्योंकि 'उष्मा' शब्द गुणवाचक शब्द है), 'हृदयभेदन'रूप क्रिया

‘त्वद्वाजि-’ इत्यादौ ‘हरोऽपि शिरसा गङ्गां न घत्ते’ इति विरोधः, ‘त्वद्वाजि-’ इत्यादिकविप्रौढोक्त्या तु समाधानम् । स्पष्टमन्यत् ।

विभावनायां कारणाभावेनोपनिबध्यमानत्वात्कार्यमेव बाध्यत्वेन प्रतीयते, विशेषोक्तौ च कार्याभावेन कारणमेव; इह त्वन्योन्यं द्वयोरपि बाध्यत्वमिति भेदः ।

(क्योंकि ‘हृदयभेदन’ पद क्रियावाचक शब्द है) और ‘सूर्य’ रूप द्रव्य (क्योंकि ‘सूर्य’ शब्द द्रव्यवाचक शब्द है) के साथ विरोध आपाततः अवश्य प्रतीत हो रहा है किन्तु यहाँ इस विरोध के परिहार का हेतु भी उपनिबद्ध है जो कि ‘विरह’ रूप हेतु है (इस प्रकार यहाँ ‘विरोध’ (वस्तुतः विरोधाभास) रूप वाच्य वैचित्र्य की प्रतीति निर्विवाद रूप से हो रही है) । ‘अजस्य गृह्णतो जन्म’ आदि सूक्ति में जो विरोध आभासित होता है जैसे कि ‘अजस्र’ आदि गुण और ‘जन्मग्रहण’ आदि क्रिया का पारस्परिक विरोध, उसका समाधान परमेश्वर की अलौकिक महिमा के द्वारा हो रहा है । ‘त्वद्वाजिराजि’ आदि सूक्ति में जो यह विरोध प्रतीत होता है कि ‘हँ तो भगवान् शङ्कर किन्तु गङ्गा को नहीं धारण कर सकते’ उसका परिहार ‘त्वद्वाजिराजि’ आदि की कविप्रौढोक्ति द्वारा किया जा रहा है । अन्य सूक्तिओं में आपाततः प्रतीत विरोध का उपशमन स्पष्ट है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि (आपाततः विरोध-प्रतीति में समान होने पर भी) ‘विरोध’, ‘विभावना’ और ‘विशेषोक्ति’ पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले अलङ्कार हैं । ‘विभावना’ में कवि जब कारण के अभाव का उपनिबन्ध करके कार्य की उत्पत्ति का वर्णन करता है तो यह स्पष्ट है कि यहाँ ‘कार्योत्पत्ति’ (असंगत से प्रतीत होने के कारण) ‘वाध्य’ रूप की रहा करती है । ‘विशेषोक्ति’ में जो दात है वह इससे ठीक उलटी है क्योंकि वहाँ कार्याभाव के उपनिबन्ध के साथ कारण सद्भाव का जो वर्णन हुआ करता है उसमें ‘कारण’ ही (असंगत प्रतीत होने के कारण) ‘वाध्य’ रूप का लगा करता है । किन्तु ‘विरोध’ में जो वाध्य-वाधक भाव की प्रतीति हुआ करती है वह समान बलवाले पदार्थों की परस्पर ‘वाध्यता’ अथवा ‘विरुद्धता’ की प्रतीति है ।

विमर्श—(क) ‘विरोध’ अलङ्कार का अभिप्राय आपाततः विरोध के प्रत्यायक और इसीलिये अन्ततः विरोध समाधायक वाच्यवैचित्र्य का अभिप्राय है । ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने स्पष्ट कहा है—
‘विरुद्धाभासत्वं विरोधः—

इह जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं तन्मध्य एव सजातीयविजातीयाभ्यां विरोधिभ्यां सम्बन्धे विरोधः । स च समाधान विना प्ररुढो दोषः । सति तु समाधाने प्रमुख एवाभासमानत्वाद्विरोधाभासः’ । (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५४)

अर्थात् जाति-गुण द्रव्य और क्रियारूप चतुर्विध पदार्थ का अपने विरोधी सजातीय अथवा विजातीय पदार्थ से परस्पर सम्बन्ध ही ‘विरोध’ अलङ्कार की कल्पना का मूल है । यदि इस विरोध का समाधान न किया जाय तब तो यह काव्यदोष है किन्तु जब इस विरोध का उपशमन कर दिया जाता है तब आपात में विरोध की प्रतीति का एक नया चमत्कार उत्पन्न हो जाता है और यह ‘विरोध’ (आपाततः प्रतीत विरोध अथवा विरोधाभास) एक काव्य-सौन्दर्य का रूप धारण कर लेता है । विरोध का समाधान होने के कारण ‘विरोध’ को दोषाभाव कहना ठीक नहीं क्योंकि ‘आभासमान विरोध’ एक वैचित्र्यविशेष है जिसके देखने ‘विरोध’ का ‘अलङ्कार’ रूप निर्विवाद सिद्ध है ।

(३७—असङ्गति)

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।

यथा—

पण्डितराज जगन्नाथ का नी यही कथन है—

‘एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकारणासम्बद्धत्वम्, एकाधिकारणासम्बद्धत्वमात्रं वा विरोधः ।

स च प्रलुप्तोऽप्रलुब्धः । प्ररोहश्च बाधबुद्धपनभिन्नतत्त्वम् । तद्वेपरीत्यमप्ररोहः । तत्राद्यो दोषस्य विषयः, द्वितीयश्चाटङ्कारस्य । अत एवेम विरोधाभासमाचक्षते । आ ईपक्षास्त इत्याभासः । विरोधश्चासावाभासश्चेति । आनुक्त एव प्रतीयमानो क्षणिति तापमानाविरोध-बुद्धितिरस्कृत इति यावत् । (रत्नगदाधर, पृष्ठ ५७०)

अर्थात् ‘विरोध’ का अन्विष्ट एव आशय के साथ सम्बद्ध रूप में प्रतिपादित दो पदार्थों के होते परस्पर असम्बन्ध का अन्विष्ट है जो कि उक्त आशय पर उन्हें अमान्यित हुआ करता है । यह विरोध ‘प्रलुब्ध’ अथवा वास्तविक और ‘अप्रलुब्ध’ अथवा भासित, प्रतीत दो रूपों का हो सकता है । इनमें वास्तविक ‘विरोध’ तो एक नशादोष है किन्तु आपादयः प्रतीत ‘विरोध’ अथवा ‘विरोधाभास’ एक अलङ्कार अथवा वैचित्र्य है ।

(ख) ‘विरोध’ का क्षेत्र ‘विभावना’ तथा ‘विशेषोक्ति’ के क्षेत्र से जहाँ अधिक व्यापक है । पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी लिये कहा है—

‘तत्रापि कार्यकारणादिसुद्वयनालीढो विरोधाभासो विरोधाटङ्कारः । तदालीढस्तु विभावनादिर्विषयमाणाः ।’ (रत्नगदाधर, पृष्ठ ५७०)

अर्थात् कार्यकारणभाव के क्षेत्र को छोड़ कर अन्यत्र आनामना विरोधप्रतीति ‘विरोध’ अलङ्कार की उत्पत्ति का मूल है । यह जो ‘विभावना’ और ‘विशेषोक्ति’ का क्षेत्र है जहाँ कार्य-कारणभाव-सम्बद्ध विरोध प्रतीत हुआ करता है ।

अलङ्कारसम्बन्धकार ने भी इसी दृष्टि से कहा था—

‘कारणाभावेन चोपक्रान्तरवाद् चलवता कार्यमेव बाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद् विरोधाटङ्काराद् भेदः । एव विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव बाध्यमानत्वमुन्नेयम् । येन साऽपि विरोधाद् भिन्ना स्यात् ।’

(अलङ्कारसम्बन्ध, पृष्ठ १५८)

अर्थात् ‘विभावना’ और ‘विशेषोक्ति’ विरोधाभासकार में भिन्न अलङ्कार-प्रकार हैं । कारण यह है कि जहाँ ‘विभावना’ और ‘विशेषोक्ति’ में पहले में कारणभाव के द्वारा कार्य ‘बाध्य’ प्रतीत होता है और दूसरे में कार्याभाव के द्वारा कारण, वहाँ ‘विरोधाभास’ में कार्य और कारण दोनों में परस्परिक ‘विरोध’ रहा करता है ।

आचार्य जगन्नाथ ने इसी की दृष्टि में यह परि उद्घृत की है—

‘कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः । विभावनायानामानि विरोधोऽन्योन्यबाधनम् ॥

अतो दूरविमोहोऽस्या विरोधेन व्यवस्थितः ।’ (अलङ्कारसम्बन्धनिर्णयिणी पृष्ठ १५३)

अनुवाद—‘असङ्गति’ वह अलङ्कार है जिसे कार्य और कारण के भिन्न-भिन्न आशय में अवस्थान का वर्णन कहा जाया करता है (जिसका निमित्त कारण-वैचित्र्य हुआ करता है) । जैसे कि—

‘सा बाला, वयमप्रगल्भमनसः, सा स्त्री, वय कातराः

सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते, सखेदा वयम् ।

साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा, गन्तुं न शक्ता वयं

दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥’

‘बाला (थोड़ी अवस्था वाली) तो वह सुन्दरी है और अप्रगल्भता (चञ्चलता) हमारे मन में बसी है, स्त्री तो वह है और कातरता हम में रहा करती है; मामल और उन्नत उरोजों वाली तो वह है और खेद हमें हो रहा है; जघनस्थल के भार से तो वह दबी है और चलने-फिरने में असमर्थ हम हैं । कितना आश्चर्य है कि दूसरे के दोषों से हममें दोष उत्पन्न हो रहे हैं ।’

[यहाँ ‘असङ्गति’ इसलिये है क्योंकि ‘बालत्व’, ‘स्त्रीत्व’ आदि कारणों का आश्रय तो वर्ण्य नायिका है और ‘अप्रगल्भत्व’, ‘कातरत्व’ आदि कार्यों का आश्रय वर्ण्य नायक वन रहा है ।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ‘असङ्गति’ और ‘विरोध’ एक रूप के अलङ्कार नहीं क्योंकि जहाँ ‘असङ्गति’, ‘विरोध’ (रूप उत्सर्ग अथवा नियम) का अपवाद है (क्योंकि ‘असङ्गति’ के लिए कार्य-कारण भाव से संबद्ध दो पदार्थों का, जो कि वस्तुतः ‘समानाधिकरणक’ अथवा एक आश्रय पर अवस्थित हुआ करते हैं, भिन्न-भिन्न अधिकरणों में अवस्थानरूप विरोध अपेक्षित है) वहाँ ‘विरोध’ के लिए भिन्न भिन्न आश्रय वाले दो पदार्थों के आश्रयैकरूप विरोध की अपेक्षा है ।

विमर्श—(क) ‘असङ्गति’ का अभिप्राय है—उचित सङ्गति का अभाव । ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने इसकी यह समीक्षा की है—

‘तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसङ्गतिः ।

तथोरिति कार्यकारणयोः । यद्देशमेव कारणं तद्देशमेव कार्यं दृष्टम् । न हि महान-संस्थो वह्निः पर्वतदेशस्थ धूम जनयति । यदात्वन्यदेशस्थ कारणमन्यदेशस्थ वा कार्यमुप-निवध्यते तदोचितसंगतिनिवृत्तेरसङ्गत्याख्योऽलङ्कारः । (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६४)

अर्थात् कार्यकारण के वैयधिकरण्य वर्णन में ‘असङ्गति’रूप वाच्यवैचित्र्य रहा करता है । लोक में यही देखा जाता है कि जहाँ ‘कारण’ विद्यमान रहता है वहीं वह ‘कार्य’ भी उत्पन्न कर सकता है । ऐसा नहीं हुआ करता कि रसोईघर की आग से पहाड़ पर धुआँ उत्पन्न हो । किन्तु जब कवि कारण और कार्य का स्थान भिन्न-भिन्न बताता है जिसमें उसकी लोकातिक्रान्त प्रतिमा का हाथ स्पष्ट है तब ‘असङ्गति’रूप कान्यवैचित्र्य का निर्देश आवश्यक हो जाता है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने ‘असङ्गति’ में ‘अतिशयोक्ति’ के अनुप्राणन की बात नहीं कही है । वस्तुतः यहाँ ‘अभेदाध्यवसाय’ की अन्तर्गर्भता आवश्यक है । जैसे कि ‘सा बाला’ आदि सूक्ति में जो ‘असङ्गति’ है उसमें अभेद का अध्यवसाय स्पष्ट है क्योंकि बाल्यनिमित्त ‘अप्रगल्भत्व’ आदि और प्रेम-निमित्त ‘अप्रगल्भत्व’ आदि में ‘अभेदाध्यवसाय’ होने से ही (अर्थात् दोनों में एकरूपता की कल्पना के ही कारण) भिन्न भिन्न देश में कार्य और कारण के अवस्थान में जो ‘विरोध’ संभव है उसका समाधान किया जा सकता है । अन्यथा ‘असङ्गति’ का अलङ्कार होना असंभव है । ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने इसीलिये कहा है ।

‘अत्र (सा बाला वयमप्रगल्भमनस इत्यादौ) वाक्यनिमित्तमप्रगल्भवचनत्वमन्य-दन्यश्च स्मरनिमित्तकमित्यनयोरभेदाध्यवसायः । एवमन्यत्र ज्ञेयम् ।’

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६४)

अस्याश्चापवादकत्वादेकदेशस्थयोविरोधे विरोधालङ्कारः ।

(३८—विपमालङ्कार . सप्रभेद निरूपण)

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ॥ ६९ ॥

यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।

विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ॥ ७० ॥

क्रमेण यथा—

और 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी कार ने इनका इसीलिये समर्थन किया है—

'अनेनातिशयोक्तिरस्या अप्यनुप्राणकत्वेन कटाक्षिता । अन्यथा हि विरोधो दुष्परिहरः स्यात् ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६४)

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार, 'असङ्गति' के लिए 'अतिशयोक्ति का अनुप्राणन' उतना आवश्यक नहीं जितना कि यथासम्भव 'अभेदाध्यवसान' का हुआ करता है—

'अस्या च विभावनायामिव कार्याशेऽतिशयोक्त्यनुप्राणनमावश्यकम् । अन्यथा विरोधो दुष्परिहर एव स्यादित्यलङ्कारसर्वस्वकारादीनां मतम् । तच्च—

'दृष्टिर्मृगीदृशोऽत्यन्त श्रुत्यन्तपरिशोलीनी ।

मुच्यन्ते बन्धनात् केशा विचित्रा वैधसी गति ॥'

इत्यस्मिन्निमित्तोदाहरणे व्यभिचारादसङ्गतम् । न हि । 'मुच्यन्ते बन्धनात् केशा' इत्यत्र केशबन्धनमुक्त्यशेऽतिशयोक्तिरस्ति । किन्तु श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसानमात्रम् । तस्माद्येन केनापि प्रकारेण कार्याशेऽभेदाध्यवसानमावश्यकमिति तु सङ्गतम् ।'

(रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५९० ५९१)

(ग) 'असङ्गति' अलङ्कार 'विरोध' का वाधक है न कि 'विरोध' 'असङ्गति' का । 'विरोध' उत्तमरूप है और 'असङ्गति' विरोध का अपवादरूप । उत्तम (निदम) अपवाद का क्षेत्र छोड़कर ही अपना क्षेत्र बनाता है । रसगङ्गाधरकार ने इसीलिये कहा है—

'व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्धयो समानाधिकरणत्वेनोपनिबन्धने विरोधालङ्कारः । समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोर्द्वयोव्यधिकरण्येनोपनिबन्धनेऽसङ्गतिः । इत्थं च स्फुट एव विरोधालङ्कारादसङ्गतेर्भेदः । (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५९२)

अर्थात् 'विरोध' से 'असङ्गति' भिन्न है क्योंकि 'विरोध' में तो उन पदार्थों के समान आधार पर अवस्थान में विरोध आमाहित होता है जिनकी भिन्न भिन्न आधार पर अवस्थिति प्रसिद्ध हैं । किन्तु 'असङ्गति' में, जिन पदार्थों के भिन्न भिन्न आधार पर अवस्थान वर्णन में विरोध की प्रतीति होती है वे ऐसे हुआ करते हैं जिनकी समान आधार पर अवस्थिति प्रसिद्ध रहा कभी नहीं ।

अनुवाद—'विपम' वह अलङ्कार है जिसे निम्न सभावनाओं में देखा जाया करता है—

(१) जब कि कारण और कार्य के गुण अथवा उनकी क्रियायें परस्पर विरुद्ध रूप से वर्णित हों ।

(२) जब कि भारब्ध कार्य की विफलता और साथ ही उसमें अनर्थ की उत्पत्ति का वर्णन हो ।

(३) जब कि दो विरुद्ध पदार्थों की परस्पर संघटना का उपनिबन्ध हो ।

'विपम' अलङ्कार के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(कारणगुण से कार्यगुण के विरोध में 'विषम')

'सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्र रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्विलोकाभरणं प्रसूते ॥'

अत्र कारणरूपासिलतायाः 'कारणगुणा हि कार्यगुणमारभन्ते' इति स्थिते-
विरुद्धा शुक्रयशस उत्पत्तिः ।

(कारण की क्रिया से कार्य की क्रिया के विरोध में 'विषम')

'आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ! ददासि त्वम् ।

विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीर मे ॥'

अत्रानन्दजनकस्त्रीरूपकारणात्तापजनकविरहोत्पत्तिः ।

(आरब्ध कार्य के वैफल्य में अनर्थोत्पत्तिरूप 'विषम')

'अयं रत्नाकरोऽन्भोधिरित्यसेवि धनाशया ।

धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः ॥'

अत्र केवलं काङ्क्षितधनलाभो नाभूत्, प्रत्युत क्षारवारिभिर्वदनपूरणम् ।

(विरूपसंघटना में 'विषम')

'क वनं तरुवल्कभूषणं नृपलक्ष्मीः क महेन्द्रवन्दिता ।

नियतं प्रतिकूलवर्तिनो बत धातुश्चरितं सुदुःसहम् ॥'

'रणस्थली में जगह-जगह पर उस प्रतापी राजा के हाथ का स्पर्श पाकर, कितने आश्चर्य की बात है कि, उसकी तलवार, जो तमालपत्र की भाँति नीली-नीली चमका करती है, ऐसे यश का विस्तार कर देती है जो शरदृश्रुत की चौदनी की भाँति शुभ्र-धवल और ससार का एक अलङ्कार हो जाता है ।' (नवसाहसकाक्षरित)

यहाँ 'विषम' अलङ्कार का सौन्दर्य दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ इस नियम अर्थात् 'कारण के गुण ही कार्य के गुण के उत्पादक हुआ करते हैं' के विरुद्ध यह वर्णन किया गया है कि 'असिलता' रूप कारण का 'नीलत्व' गुण कार्यभूत यश में 'नीलत्व' का उत्पादन न कर 'शुक्लत्व' का उत्पादन कर रहा है ।

'अरी नीलकमल से नयनों वाली ! तू ही मुझे (अपने मिलन में) वह सान्द्र आनन्द दिया करती है और तेरा ही विरह मेरे शरीर को इतना संतप्त किया करता है ।'

(रुद्रट. काव्यालङ्कार-उद्धरण)

यहाँ भी 'विषम' है क्योंकि यहाँ आनन्दजनक 'नायिका' रूप कारण से जिस क्रिया की उत्पत्ति का वर्णन किया जा रहा है वह संतापजनक 'विरह' है जो कि उसके सर्वथा विरुद्ध है ।

'यह समुद्र रत्नाकर है—यह सोचकर धनप्राप्ति की अभिलाषा से उसकी सेवा की गई, किन्तु हुआ क्या ? धन मिलना तो दूर रहा, उल्टे मुँह में खारा पानी आ घुसा ।'

यहाँ 'विषम' है क्योंकि यहाँ यह वर्णन है कि 'आरब्ध कार्य' अर्थात् मनोवांछित धनलाभ तो हुआ नहीं, उल्टे अन्वर्थ अर्थात् चारजल से सुखपूरण हो गया ।'

'कहाँ, तो वन जिसमें पेड़ों की छाल के वस्त्र पहने जाते हैं और कहाँ राजलक्ष्मी, जिसकी देवराज भी उपासना किया करते हैं । ओह ! उस विधाता का चरित, जो सदा प्रतिकूल रहा करता है, कितना दुःखद हुआ करता है ।'

अत्र वनराज्यश्रियोर्विरूपयोः संघटना । इदं सम ।

यथा वा—

‘विपुलेन सागरशायस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।

मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥’

यह विषम सूक्ति स्वरचित सूक्ति है । इसमें दो विरूप पदार्थों अर्थात् ‘वन’ और ‘ज्यश्री’ का एकत्र मेल वर्णित किया हुआ है ।

अथवा (विरूपपदार्थों की संघटना में ‘विषम’ का यह उदाहरण)—

‘जो सागरशायी कृष्ण भगवान्, युगान्तकाल में, अपनी कुक्षि (उदर) में समस्त भुवनों को आत्मसात् कर लिया करते हैं उन्हें द्वारका की एक नागरी ने, कामोन्माद के कारण अधस्तुली अपनी एक आँख में ही भरकर रख लिया ।’ (शिशुपालवध - सर्ग १३)

[यहाँ भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में दो विरूप पदार्थों अर्थात् ‘भुवनों के आत्मसात् करने’ और ‘एक नारी की एक आँख में ही समा जाने’ का वर्णन है जिसमें ‘विषम’ का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है ।]

विमर्श—(क) ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार के शब्दों में ‘विषम’ की समीक्षा यह है—

‘विरूपकार्यान्वयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् । विरोधप्रस्तावेनेह लक्षणम् । तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यत इति प्रसिद्धौ यद्विरूप कार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते तदेकं विषमम् । तथा कचिदर्थं साधयितुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिष्ठम्भो यावदनर्थ-प्राप्तिरपीति द्वितीयं विषमम् । अत्यन्तानुरूपसंघटनयोरविरूपयोश्च संघटनं तृतीयं विषमम् । अनुरूपसंसर्गो हि विषमम् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६५)

अर्थात् ‘विषम’ का अभिप्राय वस्तुतः अनुरूप पदार्थों के परस्पर संसर्ग का वर्णन है । एक ‘विषम’रूप वाच्यवैचित्र्य वह है जिसमें कारणगुण के विरुद्ध कार्यगुण की उत्पत्ति का वर्णन हुआ करता है । दूसरा ‘विषम’रूप वाच्यसौन्दर्य वह है जिसमें आरम्भ अर्थ की अनन्तासि के साथ-साथ अनर्थ की भी प्राप्ति का वर्णन किया जाया करता है और तीसरा ‘विषम’ एक गूँथलक्षण वह है जिसमें अत्यन्त अनुरूप संसर्ग वाले पदार्थों अथवा अनुरूप पदार्थों का परस्पर संसर्ग वर्णित हुआ करता है । ये तीनों ‘विषम’ पृथक् पृथक् हैं । इनमें ‘प्रकार’ और ‘प्रकारी’ (प्रकारप्रकारिभाव) के सम्बन्ध की कोई विवेक्षा नहीं हो सकती (एकमित्याद्यभिदधता ग्रन्थकृता विषमाणां भिन्नत्वमुक्तम्, न प्रकारप्रकारित्वम्, सामान्यलक्षणस्यासम्भवात्—विमर्शिनी, पृष्ठ १६५) ।

(ख) ‘विषम’रूप वाच्यवैचित्र्य में कविप्रतिभा का हाथ नानना आवश्यक है क्योंकि स्वभावतः अनुरूप पदार्थों के संसर्ग अथवा कार्यकारणभाव के स्वभाविक वैरूप्य में ‘विषम’-अलङ्कार नहीं हुआ करता । ‘अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी’कार ने इसीलिये कहा है—

‘यद्यपि ‘गोमयाद्वृश्चिकोरपत्ति’ इतिवत् कार्यकारणयोर्वास्तवं विरूपत्वं सम्भवति, तथापीह कविप्रतिभानिर्वर्तितमेव तद् ग्राह्यम् । तेन—

‘द्राक्षाफलानि शिखरेषु शिलेक्षयानां पीयूषमारसनिर्भरगर्भवन्ति ।

विष्वग्गृहपत्कठिनकायनिगूडशृङ्गमृद्गाटकानि पुनरम्भमि संभवन्ति ॥’

इत्यादौ विषम न वाच्यम् । ईदृश एव कार्यकारणभावस्य वस्तुतः सम्भवात् ।’

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६५)

निम्न लिखित सूक्ति एक वही सुन्दर ‘विषम’सूक्ति है—

(३९—समालङ्कार)

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः ।

यथा—

‘शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं

जलनिधिमनुरूपं जल्लुकन्यावतीर्णा ।

इति समगुणयोगग्रीतयस्तत्र पौराः

श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विचित्रः ॥’

‘अरण्यानी केयं धृतकनकसूत्रं क स मृगं क मुक्ताहारोऽयं क च स पतंगं केयमवला ।
क तत् कन्यारत्नं ललितमहिर्भर्तुः क च वयः स्वमाकृतं धाता निमृतनिमृतं कन्दलयति ॥’
(अलङ्कारसर्वस्व . उद्धरण)

अनुवाद—‘सम’ वह अलङ्कार है जिसे परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग का वर्णन कहा गया है ।

उदाहरण के लिये—

‘यह चांदनी मेघनिर्मुक्त चन्द्रमा से जा मिली, यह जाहूवी अपने योग्य समुद्र के पास जा पहुँची—इस प्रकार इन्दुमती और अज की जोड़ी की प्रशंसा में लगे, परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग में प्रसन्न होने वाले, नगरवासी जन, एक स्वर से, यह सब ऐसे कहने लगे, जिससे अन्य राजगण के कान, ईर्ष्यावश, फटने लगे ।’ (रघुवश सर्ग ६)

[यहाँ परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग वर्णन में ‘सम’ का सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है ।]

विमर्श—(क) ‘सम’ वस्तुतः विरूपसंघटनात्मक ‘विषम’ का विपर्यय है जैसा कि ‘अलङ्कार-सर्वस्व’कार का कथन है—

‘तद्विपर्ययः समम् ।’

‘विषमवैधर्म्यादिह प्रस्तावः । यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं तथापि तच्छब्देन संभवा-
धन्त्यो भेद परामृश्यते । पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलङ्कारत्वात् । अन्त्यभेदविपर्ययस्तु चारु-
त्वासमाख्योऽलङ्कारः । सचाभिरूपानभिरूपविपर्ययत्वेन द्विविधः ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६७)
अर्थात् ‘सम’ अलङ्कार की कल्पना में ‘विषम’ के वैधर्म्य से सबद्ध वाच्यवैचित्र्य के विश्लेषण का ह्रास है । ‘विषम’ के तीन भेदों में, पहले दो भेदों का विपर्यय तो अलङ्काररूप नहीं हो सकता किन्तु तीसरे अर्थात् विरूपसंघटनात्मक ‘विषम’ के विपर्यय में ‘सम’रूप वाच्यवैचित्र्य का दर्शन स्वामाविक है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने समालङ्कार को केवल ‘अनुरूपसंघटनात्मक’ माना है ‘अनुरूप-संघटनात्मक’ नहीं । अलङ्कारसर्वस्वकार ने अनुरूप पदार्थों के परस्पर संसर्ग में भी ‘सम’रूप वाच्यवैचित्र्य देखा है—

‘चित्रं चित्रं वत वत महश्चित्रमेतद् विचित्रं जातो देवाद्बुचितरचनासविधाता विधाता ।
यश्चिन्मानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया यश्चतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥
अत्रानभिरूपाणां निम्बानां काकानां च समागमः आशसितः ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६७)

(ग) पण्डितराज जगन्नाथ की ‘समालङ्कार-समीक्षा दूसरी ही है—

‘अनुरूपसंसर्गः समम् ।

संसर्गः पूर्ववद्विविधः । तत्रोत्पत्तिलक्षणस्य संसर्गस्यानुरूपत्वं कारणात् स्वसमानगुण-
कार्योत्पत्त्या, यादृशगुणकवस्तुसंसर्गस्तादृशगुणोत्पत्त्या, यत्किञ्चिदिष्टप्राप्त्यर्थं प्रयुक्तात्

(४०—विचित्रालङ्कार)

विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत् ॥ ७१ ॥

यथा—

‘प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।

दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥’

कारणात्तत्प्राप्त्या च । सयोगादिलक्षणस्यापि ससर्गिणोरन्यतरगुणस्वरूपानुग्राह्यान्तर-
गुणस्वरूपतयाऽनुरूपत्वम् । एव चानुरूपससर्गत्वेन सामान्यलक्षणेन सर्वे भेदाः सगृहीता
भवन्ति ।’ (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६०३)

यहाँ अलङ्कारसर्वस्व की समीक्षा में यह प्रदर्शित किया गया है कि ‘सम’ भी ‘विषम’ की
भाँति तीन भेदों वाला है क्योंकि ‘अनुरूपससर्गता’ की विशेषता इनके तीनों भेदों में, जो कि
‘विषम’ के तीनों भेदों के विपर्यय रूप हैं, सर्वथा अनुगत प्रतीत होती है ।

अनुवाद—‘विचित्र’ वह अलङ्कार है जिसे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये, उसके
अन्तनुरूप अथवा विरुद्ध कार्य के वर्णन में देखा जाया करता है ।

जैसे कि—

‘सेवक से बढ़कर मूढ़ और कौन है जो कि अपनी उन्नति के लिये प्रणत हुआ करता
है, अपने जीवन के लिये प्राण परित्याग किया करता है और अपनेसुख के लिये दुःख
भोगा करता है ।’

[यहाँ ‘विचित्र’ अलङ्कार है क्योंकि ‘उन्नति’ के लिये ‘प्रणति’ (झुकने), ‘जीवन’ के
लिये ‘प्राणत्याग’ और ‘सुख’ के लिये ‘दुःखभोग’ के कार्य विरुद्ध हैं और इन्हीं का यहाँ
वर्णन किया हुआ है ।]

विमर्श—(क) ‘विचित्र’ अलङ्कार की नवप्रथम कल्पना ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार की कल्पना है
जैसा कि ‘अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी’कार का स्पष्ट निर्देश है—

‘एतद्वि ग्रन्थकृतेवाभिनवत्वेनोक्तम् ।’ (अलङ्कारनवस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १३०) ।

‘अलङ्कारसर्वस्व’कार के अनुसार ‘विचित्र’ का स्वरूप यह है—

‘स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् । यस्य हेतोर्यत्फल तस्य यदा तद्विपरीत
भवति तदा तद्विपरीतफलनिष्पत्त्यर्थं कस्यचित्प्रयत्न उत्पादो विचित्रालङ्कारः । आश्चर्य-
प्रतीतिहेतुत्वात् ।’

अर्थात् ‘विचित्र’ अलङ्कार इसलिये नान्य है क्योंकि यह आश्चर्यप्रतीति का एक हेतु है । यहाँ
आश्चर्यप्रतीति इसलिये हुआ करता है क्योंकि अभीष्टप्राप्ति के लिये, उसके विपरीत क्रिया के
अनुष्ठान का आग्रह, एक आश्चर्यजनक बात है ।

(ख) ‘विचित्र’ और ‘विषम’ परस्पर मिश्र अलङ्कार है । ‘विचित्र’ में जो रस है कि ‘वि-
निषेध की प्रतीति’ के बाद ‘कार्य-वैपरीत्यप्रतीति’ हुआ करता है किन्तु ‘विषम’ में ‘कार्य-
प्रतीति’ के बाद ‘कारणनिषेध’ का अवसर आता है । ‘अलङ्कारनवस्व’कार ने ‘विचित्र’ और
‘विषम’ का यह भेद, इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है—

‘न चायं प्रथमो विषमालङ्कारप्रकारः । स्वनिषेधमुत्वेन विपरीतप्र-
प्रतीत्या तु स्वनिषेधस्तस्य विषमः । यथा—‘तमालनीला नार-
भरण प्रसूते’ इत्यादि । इह स्वन्यया प्रतीति ।’ (अलङ्कारनवस्व, पृष्ठ १)

‘विषम’ और ‘विचित्र’ के परस्पर भेद के संबंध में पण्डितराज
बनार्ह ई—

(४१—अधिकालङ्कार)

आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते ।

आश्रयाधिक्ये यथा—

‘किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरिर्यत्र ।

अज्ञात एव शेते कुशौ निक्षिप्य भुवनानि ॥’

आश्रिताधिक्ये यथा—

‘युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमामत ।

तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विपस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥’

‘न च कारणाननुरूप कार्यमिति विषमभेदोऽयं वाच्यः, विषमे पुरुषकृतेरनपेक्षणात् । कार्यकारणगुणवैलक्षण्येनैव तद्भेदनिरूपणाच्च ।’ (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६०९)

अर्थात् ‘विषम’ और ‘विचित्र’ इसलिये भी परस्पर भिन्न भिन्न अलङ्कार हैं क्योंकि जहाँ ‘विषम’ में, कारण के विरुद्ध कार्य की स्वयं उत्पत्ति का वर्णन हुआ करता है वहाँ ‘विचित्र’ में, विरुद्ध फल की उत्पत्ति के लिये कार्यानुष्ठान में, पुरुष-प्रयत्न का वर्णन हुआ करता है ।

‘अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी’कार ने भी ‘विषम’ और ‘विचित्र’ का यही भेद निर्दिष्ट किया है—

‘यद्यपि विषमे विरूपस्य कार्यस्य स्वयमेवोत्पत्तिरिह (विचित्रे) च तन्निष्पत्तये प्रयत्न इति स्थितोऽप्यनयोः स्फुटो भेदस्तथापि ग्रन्थकृता विशेषपरिपोषयं सूक्ष्मेष्टिकागम्यो भेदोऽयमुक्तः ।’ (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६९)

अनुवाद—‘अधिक’ वह अलङ्कार है जो, आधार और आधेय में से, एक के आधिक्य के वर्णन में देखा जाया करता है ।

जैसे कि आधार के आधिक्य के वर्णन में यह ‘अधिक’ रूप वाच्यवैचित्र्य (अलङ्कार) ।

‘इस सागर की महिमा का इससे अधिक क्या वर्णन किया जाय कि इसमें, कहीं किसी कोने में, अज्ञातरूप से, वे भगवान् विष्णु शयन किया करते हैं जिनकी कुक्षि में (प्रलय के समय) समस्त संसार समा जाया करता है ।’

अथवा

जैसे कि आधेय के आधिक्य के वर्णन में यह ‘अधिक’अलङ्कार—

‘युगान्त में जीवमात्र को अपने में समेट लेनेवाले, जिस कैटभारि कृष्ण के शरीर में सारा ब्रह्माण्ड फैलकर समा जाता है, उसमें तपोधन नारद के शुभागमन की प्रसन्नता न समा सकी ।’ (शिशुपालवध)

विमर्श—‘अधिक’ की समीक्षा ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने इस प्रकार की है—

‘आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम् । विरोधप्रस्तावादिह निर्देशः । अनानुरूप्यस्य विरोधोत्थापकत्वात् । तच्चानानुरूप्यमाश्रयस्य वैपुल्येऽपि आश्रितस्य परिमितत्वाद्वा भवति यद्वाश्रितस्य वैपुल्येऽप्याश्रयस्य परिमितत्वाद्वा स्यात् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६९)

अर्थात् यद्यपि आश्रयाश्रयिभाव की अननुरूपता भी, एक अननुरूप सघटना होने से, ‘विषम’ की ही कल्पना करा सकती है किन्तु यहाँ ‘विषम’ नहीं अर्थात् ‘अधिक’अलङ्कार की रूपरेखा देखी जानी चाहिये । कारण यह है कि जहाँ ‘विषम’ के लिये केवल दो अननुरूप पदार्थों की सघटना का वर्णन अपेक्षित हुआ करता है वहाँ ‘अधिक’ के लिये आश्रयाश्रयिभाव (आधार आधेयभाव) रूप से ही सम्बद्ध दो पदार्थों की अननुरूप सघटना का वर्णन आवश्यक माना जाया करता है । ‘अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी’कार ने इसीलिये कहा है—

(४२—अन्योन्यालङ्कारः)

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः ॥ ७२ ॥

‘त्वया सा शोभते तन्वी तथा त्वमपि शोभसे ।
रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी ॥’

(४३—विशेषालङ्कारः)

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ।

किञ्चित्पञ्चवर्तः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ॥ ७३ ॥

कार्यस्य कारणं देवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः ।

‘एव च परिमितत्वापरिमितत्वयोः सापेक्षत्वात्तथाविधवस्तुद्वयसंघटनयैव तद्व्यगमन-
सद्विरलित्यत्राधाराधेययोस्तसंघटनेनैवानुत्पत्त्यवगम्यते । विषये चानन्यापेक्षत्वेन स्वस-
द्वानुत्पत्त्योः संघटनमित्यनयोर्नहान् भेद इत्यत्र पिण्डार्थः ।’

(अलङ्कारसर्वस्वविनशिनी, पृष्ठ १७०)

उद्गद—‘अन्योन्य’ वह अलङ्कार है जो परस्पर दो पदार्थों के द्वारा की गई एक
क्रिया के वर्णन में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘वह सुन्दरी तुम से सुशोभित होती है और तुम उससे सुशोभित होतے हो । रात से
चन्द्रना की और चन्द्रना से रात को शोभा है ।’

विनर्श—‘अन्योन्य’ की कल्पना ‘विरोध’ की रूपरेखा पर लाफ़िद है । ‘परस्पर क्रियाजनन
का वर्णन ‘अन्योन्य’ अलङ्कार है किन्तु परस्पर वर्णन विरुद्ध बात है, इतका वर्णन ‘अलङ्कार’
जोकर कहा जाय ! इतके मन्वन्त्र में ‘अलङ्कारसर्वस्व’ का यह कथन है—

‘इहानि विरोधप्रस्ताव एव निर्देशकारणान् । परस्परजननस्य विरुद्धत्वात् । क्रियाद्वारकं
यत्र परस्परौत्पत्त्येव (परस्परनिर्गतद्वयत्वेन), न स्वरूपनिबन्धनं, स्वरूपस्य स्यात्त्वो-
क्तिविरोधात्, उक्तान्योन्यात्पञ्चद्वयकारः । यथा—

क्रमेण यथा—

‘दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येपाम ।

रमयन्ति जगन्ति गिरः-कथमिव कवयो न ते वन्द्याः ॥’

‘कानने सरिदुद्देशे गिरीणामपि कन्दरे ।

पश्यन्त्यन्तकसङ्काशं त्वामेकं रिपवः पुरः ॥’

‘गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।

करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां घद किं न मे हृतम् ॥’

(३) जब कि एक कार्य करते हुए, किसी के द्वारा, अन्य अशक्य कार्य का भी दैववश सम्पादन उपनिबद्ध हो ।

इन तीनों संभावनाओं में, तीनों विशेषालङ्कारों के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(बिना आधार के आधेय के वर्णन में ‘विशेष’) ‘उन कवियों की वन्दना क्यों न की जाय जिनकी महनीय गुणमयी कविता, उनके दिवगत हो जाने पर भी, कल्प-कल्पान्तर तक, ससार को आनन्द-निमग्न घनाया करती है ।’

[यहाँ कविता के आधारभूत कविजन के अभाव में भी आधेयभूत कविता की अवस्थिति के वर्णन में ‘विशेष’ का वैचित्र्य स्पष्ट झलक रहा है ।]

(एक वस्तु के, एक समय में, अनेक आधार पर अवस्थान वर्णन में ‘विशेष’)

‘राजन् ! आपके शशुगण, यमराज के समान, आपको, वनों में देखते हैं, नदियों के कछारों पर देखते हैं और पहाड़ों की कन्दराओं में देखते हैं ।’

[यहाँ एक समय में ही एक राजा का ‘कानन’ आदि अनेक स्थानों पर जो अवस्थान-वर्णन है उसमें ‘विशेष’ के दूसरे रूप का चमत्कार-स्पष्ट है ।]

(अशक्य कार्य के दैववश सम्पादन में ‘विशेष’) ‘इन्दुमुखि ! निर्दय मृत्यु ने तेरा हरण करते हुए, मेरी गृहिणी, मेरे सचिव, मेरी सखी, मेरी ललित कलाओं में प्रियशिष्या— मेरे सब कुल का हरण कर लिया ।’ (-रघुवश)

[यहाँ इन्दुमतीहरणरूप एक कार्य में सलभ यम के द्वारा, दैववश, ‘गृहिणी’ आदि अनेक वस्तु-हरण का जो वर्णन है उसमें ‘विशेष’ का तीसरा रूप स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।]

विमर्श—‘अलङ्कारसर्वस्व’कार की ‘विशेष’-परिभाषा यह है—

‘अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः ।

इहाधारमन्तरेणाधेयं न वर्तत इति स्थितावपि यस्तत्परिहारेणाधेयस्योपनिबन्धः स एको विशेषः । यच्चैकं वस्तु परिमितं युगपदानेकधावर्तमानं क्रियते स द्वितीयो विशेषः । यच्च किञ्चिदारभमाणस्यासमाव्यवस्त्वन्तरकरणं स तृतीयो विशेषः । आनुरूप्यपरिहाररूप-विरोधप्रस्तावादिहोक्तिः ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७१)

अर्थात् ‘विशेष’ तीन अलङ्कारों का सवरूप अलङ्कार है । ‘विशेष’ के तीनों रूपों में ‘विशिष्टता’ अनुत्पूत है ।

निम्न ‘विशेष’ सूक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं—

‘अङ्गेषु सान्द्रहरिचन्दनपङ्कजैर्चा मार्गालहारवल्यादि च पान्थवल्गाः ।

योऽभूद्दिवा पतिवियोगविषाददग्धो ज्योत्स्नाभिसारपरिकर्म स नक्तमासीत् ॥’

(४४—व्याघात)

व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम् ॥ ७४ ॥

तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा ।

या—

‘दृशा दग्धं मनसिजम्—’ इत्यादि ।

(व्याघातः प्रकारान्तर)

सौकर्येण च कार्यस्य विरूढं क्रियते यदि ॥ ७५ ॥

(अत्र हरिचन्दनचर्चादिना न केवल पतिवियोगविषाददग्धः कृतो यावदभिसारिका-
रिक्तापि कृतमित्यस्य वस्तुवन्तरकरणात्मैवाय ‘विशेषः’ ।)

‘चङ्गानि चन्दनरसादपि शीतलानि चन्द्रातप वमति घाहुरयं यशोभिः ।

चालुक्यगोत्रतिलक ! क्व वसत्यसौ ते दुर्वृत्तमूपपरितापगुरुः प्रतापः ॥’

(अत्राङ्गादीनामनर्हत्वेनाधारत्वाभावेऽन्याधेयस्य प्रतापस्य स्थितिरिति विशेषा-
लङ्कारत्वम् ।) (अलङ्कारसर्वस्वविनिर्दिनी, पृष्ठ १७२, १७३)

अनुवाद—‘व्याघात’ वह अलङ्कार है जिसे, एक उपाय द्वारा, किसी से सिद्ध की गयी
किसी वस्तु का, उसी उपाय द्वारा, दूसरे से उस (वस्तु) के ठीक विपरीत बना देने के
वर्णन-वैचित्र्य में देखा जाया करता है ।

जैसे कि ‘दृशा दग्धं मनसिजम्’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति (जहाँ यह वर्णन है कि जिस
दृष्टि से शिव ने कामदेव को जला दिया उसी दृष्टि से सुन्दरियों ने उसे जिला दिया) ।

विमर्श—‘व्याघात’ के इत रूप की मीनात्ता ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने इन प्रकार की है—

‘यं कश्चिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनचिन्निष्पादितं वस्तु तत्ततोऽन्येन केनचित् तत्प्रतिद्व-
न्द्विना तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्पादितनवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः ।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७३)

अर्थात् ‘व्याघात’ का तात्पर्य ‘जिज्ञा निष्पादित वस्तु के विधान’ का उपनिबन्ध है ।

‘अलङ्कारसर्वस्वविनिर्दिनी’कार ने इने और भी स्पष्ट का दिया है—

‘अतश्च यत्र न निष्पन्नस्य वस्तुनो व्याहतिरूपनिबध्यते तत्र नायमलङ्कारः । निष्पत्ते
वाप्ररोहाद्व्याघातायोगात् । निष्पन्नवस्तुव्याहतिर्हि व्याघातः । फलं चात्र—व्याहतिकारि
स्तद्वैलक्षण्यम् । अत एव ‘उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः’ इति न सूत्रगीयम् ।
हि व्याघातत्वेनेत्र न स्यात् ।

‘कुलममलिनं भद्रामूर्तिर्मति’ श्रुतिशालिनी

भुजवलमल स्फीता लक्ष्मीः प्रभुन्वमखण्डितम् ।

प्रकृतिभुमगा ह्येते भावा लमीभिरय जने

व्रजति सुतरा दर्पं राजस्त एव तवाङ्कुशाः ॥’

इत्यत्र च कुलादयो यथान्येषां दर्पहेतवो न तथा तव । प्रयुत विनयकारिणः ।
विधगुणविशिष्टेभ्यः पुरुषान्तरभ्योऽस्य वैलक्षण्यमात्रं विवक्षितम् । न तु कुलादिभिर्
तोऽपि तव दर्पो व्याहृत इति येन व्याघातालङ्कारो भवति । ‘...निष्पादितवस्तुस्य
भावात्तद्विवन्धनत्वेन चास्त्योक्तत्वात् । (अलङ्कारसर्वस्वविनिर्दिनी, पृष्ठ १७४)

अनुवाद—दूसरे प्रकार का ‘व्याघात’ वह अलङ्कार है जिसे मौक्य के साथ, f
नग निष्पादित कार्य के अन्यथाकरण (उलट देने) के वर्णन में देखा जाया करता

व्याघात इत्येव ।

‘इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतमहमहोभिः कतिपयैः

समागन्ता कान्ते ! मृदुरसि न चायाससहना ।

मृदुत्वं मे हेतुः सुभग ! भवता गन्तुमधिकं

न मृद्वी सोढा यद्विरहकृतमायासमसमम् ॥’

अत्र नायकेन नायिकाया मृदुत्वं सहगमनाभावहेतुत्वेनोक्तम् । नायिकया च प्रत्युत सहगमने ततोऽपि सौकर्येण हेतुतयोपन्यस्तम् ।

यहाँ पूर्वकारिका से ‘व्याघात’ पद अनुवृत्त समक्षना चाहिये । उदाहरण के लिये—

‘प्रिये ! तू यहीं रह, मैं दो-चार दिनों में ही, बहुत शीघ्र, वापस लौट आऊँगा । तू सुकुमार है, तू मार्ग-कष्ट नहीं सहन कर सकती । (प्रियतमा की उक्ति) प्रियतम ! मैं सुकुमार हूँ इसीलिये तो मुझे तुम्हारे साथ चलने की अधिक आवश्यकता है क्योंकि सुकुमार होने के नाते, तुम्हारे विरह के विषम कष्ट सहने में मैं कैसे समर्थ हो सकूँगी ?’

यहाँ ‘व्याघात’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ, नायक ने, नायिका की जिस ‘मृदुता’ (सुकुमारता) को, अपने साथ न चलने के हेतुरूप से प्रस्तुत किया है वही नायिका द्वारा, उलटे ही, बड़ी सरलता के साथ, सहगमन के प्रबल हेतुरूप में उपन्यस्त कर दी गयी है ।

विमर्श—‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने इस ‘व्याघात’-प्रकार को ‘सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च व्याघातः’ कहा है और इसका तात्पर्य यह बताया है—

‘किञ्चित्कार्यं निष्पादयितुं सम्भाव्यमानः कारणविशेषस्तत्कार्यविरुद्धनिष्पादकत्वेन यत्समर्थ्यते सोऽपि सम्भाव्यमानकार्यव्याहतिनिवन्धनत्वाद् व्याघातः । कार्यविरुद्धकार्य-निष्पत्तिश्च कार्यापेक्षया सुकरा । तस्य कारणस्यात्यन्तं तदानुगुण्यात् । नखत्र कार्याभिमतस्य कार्यत्वाभावः । तद्विरुद्धस्यात्र सौकर्येण कार्यत्वात् । अत एव द्वितीयाद् विषमाद् भेदः । तत्र हि कार्यस्यानुत्पत्तिरनर्थस्य चोद्गमनम् । इह तु कार्यं कार्यमेव न भवति तद्विरुद्धस्यानर्थस्य व्यतिरेकिणोऽप्यत्र सुष्ठुकार्यत्वात् । (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७५)

अर्थात् ‘व्याघात’ का वह एक रूप है जिसे ‘सम्भाव्यमान कार्य की व्याहति’ अथवा विघात कहा जा सकता है । किसी कार्य की निष्पत्ति की अपेक्षा उसके विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति अधिक सुगम हुआ करती है क्योंकि वहाँ जो कारण हो सकता है वह कार्यविरुद्ध कार्य की निष्पत्ति के लिये अधिक उपयुक्त हो सकता है । इस ‘व्याघात’-प्रकार में ‘विषम’ की भाँति ऐसा नहीं कि कार्य की अनुत्पत्ति के साथ-साथ अनर्थ की उत्पत्ति का उपनिबन्ध हो । यहाँ (इस व्याघात-प्रकार में) जो कार्य है वह वस्तुतः प्रस्तुत कार्य का विरोधी होने पर भी कार्यरूप ही है न कि अनर्थरूप ।

दोनों व्याघात-प्रकारों का भेद ‘विमर्शिनी’कार के शब्दों में यह है—

‘अत एवास्य प्रथमाद् व्याघाताद् भेदः । तत्र हि येन केनचिदुपायेन निष्पादितं सद् वस्तु तथैवान्येनान्यथाक्रियते इत्युक्तम् । इह तु किञ्चिन्निष्पादयितुं सम्भाव्यमानस्य कारणस्य तद्विरुद्धनिष्पादकत्वेन समर्थनम् ।’ (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७५)

अर्थात् जहाँ प्रथम व्याघातभेद में एक के द्वारा, किसी कारण से निष्पादित वस्तु का, उसके प्रतिद्वंद्वी द्वारा, अन्यथाकरण विवक्षित रहा करता है, वहाँ द्वितीय व्याघातभेद में किसी कार्य के निष्पादक रूप से सम्भावित, किसी कारण द्वारा, उस कार्य के विरुद्ध कार्य-निष्पादन का समर्थन अपेक्षित हुआ करता है ।

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात्—

यथा—

‘श्रुतं कृतधियां सङ्गाज्जायते विनयः श्रुतात् ।

लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः ॥’

सुत्रवाद—‘कारणमाला’ वह अलङ्कार है जो उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के लिये पूर्व-पूर्व-वर्णित वस्तु की हेतुता के उपनिबन्ध में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘विद्वान् लोगों के संग-साथ से शास्त्रज्ञान मिलता है, शास्त्रज्ञान से विनय की प्राप्ति होती है, विनय से लोगों का प्रेम प्राप्त होता है और जब कि लोगों का प्रेम प्राप्त हो जाय तो प्रेमी कौन वस्तु है जो प्राप्त न हो जाय ?’

[यहाँ पूर्व-पूर्ववर्णित ‘शास्त्रज्ञान’ आदि को उत्तरवर्ण्य ‘विनय’ आदि के कारणरूप से उपनिषद् किया गया है जिसमें ‘कारणमाला’रूप वाच्य-वैचित्र्य स्पष्ट है ।

२२ विमर्श—(क) ‘कारणमाला’ की अलङ्कार-कल्पना में ‘कार्यकारणक्रम’ निमित्तरूप से पड़ा है न कि वस्तुओं का शृङ्खला-रूप से उपनिबन्ध, जैसा कि ‘विनिर्दिशनीकार’ का स्पष्ट कथन है—

‘न पुनः केवलमेव शृङ्खलावन्मिथर्यम् । अतएव कारणमालेत्यस्या अन्वयमभिधानम् ।
‘एवमन्येभ्यः शृङ्खलावन्धोपवित्रितेभ्योऽलङ्कारेभ्योऽस्या विषयविभागः, न हि तेषु कार्य-
गक्रम एव चारुवहेतुः, विशेषणविशेष्यभावादेवान्तरस्य विच्छिन्नविशेषस्य सम्भवात् ।

(अलङ्कारतत्त्वविनिर्दिशनी, पृष्ठ १७७)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ (रत्नगङ्गाधर, पृष्ठ ६००) ने ‘कारणमाला’ को एक और भी भावना निर्दिष्ट की है जिनमें उत्तरोत्तर वर्णित, वस्तु [पूर्वपूर्ववर्णित वस्तु के कारणरूप से अन्यत्वं को गयी होती है—‘तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येका (कारणमाला),
वंपूर्वं कार्यं परपरं कारणमित्यपरा (कारणमाला) ।’

इन ‘कारणमाला’-भेद का उदाहरण यह है—

स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मीर्दानं प्रसूते विपुला ससृद्धिः ।

समृद्धिमत्प्रेतरभागधेयं भाग्यं च शमो ! तव पादभक्तिः ॥’

(ग) ‘कारणमाला’रूप वाच्यवैचित्र्य को निमित्त के लिये पण्डितराज जगन्नाथ की यह विचारधारा ध्यान देने योग्य है—

‘इह च यथादां कारणोक्तिरेव प्रस्तूयते तदा पुनस्तस्य कारणतस्यापि कारणमिति, तत्कस्यचित् कारणं तदपि कस्यचिदिति वा कारणमाला युक्ता । यदा तु कार्योक्तिस्तदा तस्य कार्यं तस्यापि कार्यमिति, तत् कस्यचित् कार्यं तदपि कस्यचिदिति वा युक्ता । सर्वथैव यं शब्द कार्यकारणतोपस्थापक आशौ प्रयुक्तं स एव निर्वाहः । एव कमेन निद-
न्धनमाकांक्षानुरूपवाद्गमनीयम् । अन्यथा तु भग्नक्रम स्यात् । यथा प्राचीनानां पद्यम्—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणाधिके पुंषि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवो हि सम्पदः ॥’

अत्र जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं शुभं जितेन्द्रियत्वमपि किं कारणमिति, विनय-
कस्य कारणमिति वा आकाङ्क्षोदेति । कारणमयैव श्रुतिवशात् पूर्वमुपस्थितेः ।एव च

(४६—मालादीपक)

—तन्मालादीपकं पुनः ॥ ७६ ॥

धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम् ।

यथा—

‘त्वयि सद्गुरसम्प्राप्ते धनुपासादिताः शराः ।

शरैररिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः ॥’

अत्रासादनक्रिया धर्मः ।

(४७—एकावली)

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ॥ ७७ ॥

विनय. कस्य कारणमित्याकांक्षायां ‘गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यत’ इति वाक्यं यद्यपि फलत् परिपूरकं भवति तथापि न साक्षादित्यहदयङ्गमम् ।’ (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६२०)

अनुवाद—‘मालादीपक’ वह अलङ्कार है जो ‘धर्मों’ रूपसे वर्णित अनेक वस्तुओं का, उत्तरोत्तर, एकधर्माभिसम्बन्ध (एक धर्म से सम्बद्ध होना) कहा जाया करता है ।

जैसे कि—

‘राजन् ! जब आप संग्राम में पहुँचे तब आपके धनुष ने बाणों को प्राप्त किया, बाणों ने शत्रु के मस्तक प्राप्त किये, शत्रु के मस्तकों ने (नीचे गिरकर) पृथिवी प्राप्त की पृथिवी ने आपको प्राप्त किया और आपने यश प्राप्त किया ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘आसादन-क्रिया’ (प्राप्त करने की क्रिया) रूप ‘धर्म’ अनेकों धर्मियों के साथ, उत्तरोत्तर, संचर होता हुआ वर्णित किया गया है (जिसमें ‘मालादीपक’ की झलक स्पष्ट दिखायी दे रही है) ।

विमर्श—‘मालादीपक’ की एक पृथक् अलङ्कार रूप में कल्पना इसलिये की गयी है क्योंकि इसमें भी शृङ्खलाबन्ध का एक अतिरिक्त वैचित्र्य दिखायी दिया करता है । आचार्य रूचक ने इसी लिये कहा है—

‘उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली । पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरोत्कर्षनिबन्धनत्वे तु मालादीपकम् । मालात्वेन चारुत्वविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोद्धनेनेह लक्षणं कृतम् । गुणावहत्वमुत्कर्षहेतुत्वम् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७२)

और इसी लिये आचार्य जयरथ ने इसका इस प्रकार समर्थन किया है—

‘मालाशब्देनात्र शृङ्खला लक्ष्यते । तस्या एवोपक्रान्तत्वात् । नचात्र मालोपमावत् मालाशब्दो ज्ञेयः । एकस्योपमेयस्य बहुपमानोपादानाभावात् । अत्र ह्यौपम्यमेव नास्ति । कोदण्डशरादीनां (‘संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते, देवाकर्ण्य येन येन सहसा यद् यत्समासादितम् । कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं, तेन त्वं भवता च कीर्तिरनुला कीर्त्या च लोके भयम्’ इत्यादौ) तस्याविवक्षणात् । अत एवास्य दीपकमेदत्वं न वाच्यम् । औपम्यजीवितं हि तत् (दीपकम्) प्राच्यैः पुनरेनमात्रानुगुण्यात्तदनन्तरं लक्षितम् । शृङ्खलात्वेन तु विशिष्टमस्य चारुत्वमितीह । युक्तम् । एतच्च दीपक एव ग्रन्थकृतोक्तम्—छायान्तरेण तु मालादीपक प्रस्तारे लक्षयिष्यत इति ।’ (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७९)

अनुवाद—‘एकावली’ वह अलङ्कार है जिसे पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के विशेषणरूप से

स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(पूर्व-पूर्ववर्णित के विशेषणरूप से उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के स्थापन में एकावली)

‘सरो विकसितान्भोजमन्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।

भृङ्गा यत्र सप्तङ्गीता सङ्गीतं सत्सरोदयम् ॥’

(पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के विशेषण रूप से उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के अपोहन में एकावली)

‘न तज्जलं यत्र सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनपट्पदम् ।

न पट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यं कलं न गुञ्जितं तत्र जहार यन्मनः ॥’

कचिद्विशेष्यमपि यद्योत्तरं विशेषणतया स्थापितमपोहितं च दृश्यते ।

1—

‘वाप्यो भवन्ति विमलाः स्फुटन्ति कमलानि वापीषु ।

कमलेषु पतन्त्यलयं करोति सङ्गीतमल्लिषु पदम् ॥’

रूपोद्देश्यम् ।

उत्तर वर्ण्य वस्तु का स्थापन कथवा अपोहन (रक्ता लथवा हृदयानां) कहा जाया ना है । इस ‘स्थापन’ और ‘अपोहन’ के भेद से ‘एकावली जलहार के भी दो भेद आ करते हैं । इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

‘सरोवर ऐसा है जिसमें कमल खिले हैं; कमल ऐसे हैं जिन पर अनर बैठे हैं; अनर वे हैं जिनमें संगीत-माधुरी भरी है और नगीत ऐसा है जो कामोद्दीपक प्रतीत हो रहा है ।’

यहाँ पूर्व-पूर्ववर्णित ‘सरोवर’ आदि के विशेषणरूप में उत्तरोत्तर वर्ण्य ‘अन्भोज’ आदि का उपनिबन्ध है जिसमें ‘एकावली’ का रूप स्पष्ट श्लोक रहा है ।

(विधानित्र के साथ चलते राम के मार्ग में) ‘ऐसा कोई सरोवर न था, जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों, ऐसा कोई कमल न था, जिसमें मँरि न छिपे हों, ऐसा कोई मँरि न था, जो मधुर गुंजार न कर रहा हो और ऐसी कोई गुंजार न थी, जो मन को न लुभा रही हो ।’ (मृच्छिका २ : १९) ।

[यहाँ यह स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के लिये, उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु, जो कि विशेषणरूप से उपनिबद्ध है, अपोहित (हटाया जाता) दिखायी दे रही है ।]

‘एकावली में यदा कदा ऐसा भी हुला करता है कि विशेष्य का, उत्तरोत्तर, विशेषण-रूप से स्थापन कथवा अपोहन किया जाया करता है । जैसे कि—

‘जलवापियाँ खूब दीख रही हैं, जलवापियों में कमल खिले हुए हैं, कमलों पर अनर टूट पड़ रहे हैं और अनरों में गुंजार समा रही है ।’

[यहाँ प्रथम चरण में विशेष्यभूत ‘वाप्य’ है जिसके विशेषण रूप में ‘विमला’ का उपादान है किन्तु दूसरे चरण में विशेष्यभूत वापी को ‘कमल’ का विशेषण बना दिया गया है । यही क्रम आगे भी चल रहा है, जिसमें ‘एकावली’ का एक नया रूप श्लोक रहा है ।]

विशेष्य के, विशेषण रूप में स्थापन की भाँति ‘अपोहन’ में भी ‘एकावली’ का यह नया रूप दिखाई दिया करता है । जैसे कि—

(४८—सार)

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ॥ ७८ ॥

यथा—

‘राज्ये सारं वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराहानान्नसर्वस्वम् ॥’

‘पुण्यक्षेत्रं न सर्वत्र ‘पुण्यक्षेत्रे न नास्तिका’ ।

नास्तिकेषु न धर्मोऽस्ति न धर्मं दुःपदेतुता ॥’

विमर्श—(क) ‘एकावली’ में पूर्वपूर्ववर्णित यो उत्तरोत्तर वर्ण्य के ‘विशेषण’ रूप से जो स्थापना हुआ करती है उसमें ‘विशेषण’ का अभिप्राय यह है—

‘स्वरूपमात्रेणावगतस्य वस्तुनो यस्यस्यन्धवलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तद्विशेषणम् ।
यद्वधयति (अलङ्कारसर्वस्वकारः)—‘उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली’ति ।’

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी)

अर्थात् ‘विशेषण’ वह है जो अपने से सम्बद्ध (विशेष्यरूप) वस्तु को विशेषता बताया करता है अथवा उत्कर्षवृद्धि किया करता है ।

(ख) निम्न सूक्ति ‘एकावली’ का एक सुन्दर निदर्शन है—

‘पुराणि यस्यां सवराहानानि वराहाना रूपपुरस्कृताङ्गय ।

रूपं समुन्मीलितसद्विलासमखं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥’

(नवसाहसार्कचरित)

अनुवाद—‘सार’ अलङ्कार वह है जिसे वर्ण्य वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘राज्य में यदि कोई सार है तो वह पृथिवी है; पृथिवी में यदि कोई सार है तो वह नगर है, नगर में यदि कोई सार है तो वह महल है, महल में यदि कोई सार है तो वह पलंग है और पलंग में यदि कोई सार है तो वह है रतिसर्वस्व एक सुन्दरी ।’

[यहाँ ‘राज्य’ आदि वर्ण्य वस्तु का जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन किया जा रहा है उसमें ‘सार’ का वैशिष्ट्य स्पष्ट है ।]

विमर्श—(क) ‘सार’ को ‘अलङ्कारसर्वस्वकार’ ‘उद्धार’ कहते हैं—‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षणमुद्धारः’ । किन्तु ये दोनों नाम एक ही वाच्यवैचित्र्य के नाम हैं । उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन की चतुर्विध सम्भावनायें हैं—(१ ली) एक वस्तु के स्वरूपतः उत्कर्ष के वर्णन की, (२ री) एक वस्तु के धर्मतः उत्कर्ष के वर्णन की, (३ री) अनेक वस्तुओं के स्वरूपतः उत्कर्ष के वर्णन की और (४ थी) अनेक वस्तुओं के धर्मतः उत्कर्ष के वर्णन की । जैसे कि एक वस्तु के स्वरूपतः उत्कर्ष वर्णन में ‘सार’—

‘किं छद्म किं नु रत्न तिलकमथ तथा कुण्डलं कौस्तुभो वा
चक्रं वा वारिजं वेत्यमरयुवतिभिर्यद्वलिद्वेषिदेहे ।
ऊर्ध्वं मौलो ललाटे श्रवसि हृदि करे नाभिदेशे च हृष्टं
पायात्तद्वोऽर्कविम्बं स च दनुजरिपूर्वधर्मानः क्रमेण ॥’

अथवा, जैसे कि एक वस्तु के धर्मतः उत्कर्ष वर्णन में ‘सार’—

‘अतसीकुसुमप्रभं मुखे तदनु त्वक्चमेषकद्युति ।
अथ बालतमालासां सलं प्रसृतं सम्प्रति सर्वतस्तमः ॥’

(५९—अ्यासंख्यलङ्कार)

यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ।

यथा—

'उन्मीलन्ति नखैर्दुर्नीहि वहति क्षौमाञ्जलेनाटुणु

ऋडाज्जनननाविशन्ति वलयकपैः सनुत्तासय ।

इत्थं वल्लुलवसिगानिलकुडूकप्लेषु साङ्केतिक-

व्याजाराःसभग ! त्वग्नीयविरहे तस्याः सखीनां नियः ॥'

(१०—पर्यायलङ्कार)

कचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकशं क्रमात् ॥ ७६ ॥

भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ।

क्रमेण यथा—

(एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय')

'स्थिताः क्षणं पञ्चमु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।

वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे क्रमेण नाभिं प्रथमोदविन्दवः ॥'

(अनेक वस्तुओं के एकत्र क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय')

'विचरन्ति विलासिन्यो यत्र श्रोणिभरालम्बा ।

वृककाकशिवास्तत्र धावन्त्यरिपुरे तव ॥'

अलङ्कार है । तात्पर्य यह है कि 'यथासख्य' अलङ्कार के रूप में जिस वाच्यवैचित्र्य का विरलेषण किया जा सकता है वह वाक्यविधान का एक वैशिष्ट्य है न कि और कुछ—

'उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुद्देशो यथासख्यम् । ऊर्ध्वं निर्दिष्टाः उद्दिष्टाः । पश्चान्निर्दिष्टोऽनुद्देशः । स चार्थादर्थान्तरगत सम्वन्धश्चात्र सामर्थ्यात् प्रतीयते । ऊर्ध्वं निर्दिष्टानां मर्थानां पश्चान्निर्दिष्टैरर्थैः क्रमेण सम्वन्धो यथासख्यमिति वाक्यार्थः । अन्येस्त्विममलङ्कार क्रमसंज्ञयाऽभिदधिर । तच्च यथासख्यं शाब्दमार्थं च द्विधा । शाब्दं यत्रासमस्तानां पदानामसमस्तैः पदैरर्थद्वारकः संवन्धः । तत्र क्रमसम्वन्धस्यातिरोहितस्य प्रत्येयत्वात् । आर्थं तु यत्र समासः क्रियते तत्र समुदायस्य समुदायेन सह सम्वन्धस्य शाब्दत्वादर्थावगमपर्यालोचनया त्ववयवगतः क्रमसम्वन्धः प्रतीयते ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १८८)

अर्थात् पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थों का पश्चान्निर्दिष्ट पदार्थों के साथ क्रम से सम्वन्ध एक प्रकार की वाक्य-शोभा है और यही वाक्य-शोभा 'यथासख्य' अलङ्कार की रूपरेखा है । यदि पहले प्रतिपादित पदार्थ के साथ बाद में प्रतिपादित पदार्थ का सम्वन्ध व्युत्क्रम से हो तब तो वह दोष है । किन्तु 'यथासख्य' अलङ्कार है, 'अपक्रम' रूप दोष का अभावमात्र नहीं । 'यथासख्य' इसलिये 'अलङ्कार' है क्योंकि इस वाच्यवैचित्र्य के निर्माण में कविप्रतिभा का हाथ रहा करता है । 'विमर्शिनी'कार ने इसी लिये कहा है—

'दोषाभावमात्र (अपक्रमरूपदोषपरिहारमात्रमिति) च नालङ्कारत्वम् । अस्य (यथासख्यस्य) कविप्रतिभात्मकविच्छित्तिविशेषत्वेनोक्तत्वात् । तत्त्वे चास्य 'यथासख्य-मनुद्देशः समानाम्' इत्यादिसूत्रोदाहरणानां 'तूदीशालातुरवर्मतीकुचवाराढ्ढकृष्णलब्धकः' इत्यादीनामप्यलङ्कारत्वप्रसङ्गः ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८८)

अनुवाद—'पर्याय' वह अलङ्कार है जिसे एक वस्तु के अनेक में, अथवा अनेक वस्तुओं के एक में, क्रमशः 'अवस्थान' अथवा क्रमशः 'सम्पादन' के वर्णन में देखा जाया करता है । इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'वर्षा की पहली बूँदें, तपस्या में लगी गिरिराज कुमारी (पार्वती) पर जब गिरिं तब पहले, लण भरके लिये पलकों पर टिकीं, तदनन्तर अधरोष्ठ पर रुकीं, बाद में उन्नत उरोजों पर टकरायीं, फिर त्रिवली त कपटुँचीं और तब अन्त में नाभि तक पहुँच गयीं ।' (कुमारसम्भव)

'राजन् ! आपके शत्रु की राजधानी में, जहाँ पहले जघनभार से अलसार्थी विलासिनी रमणियाँ विहार किया करती थीं, जहाँ अब भेड़िये, कौए और गीदड़ दौड़ मचाते दिखायी दे रहे हैं ।'

(एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय')

'विस्मृष्टरागादधरात्रिवर्तितः स्तनाङ्गरागादरुणाश्च कन्दुकात् ।

कुशाङ्कुरादानपरिक्ष्णान्जुलिः कृतोऽश्वसूत्रप्रणयी तथा करः ॥'

(अनेक वस्तुओं के एकत्र संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय')

'ययोरारोपितस्तारो हारस्तेऽरिवधूजनैः ।

निधीयन्ते तयोः स्थूलाः स्तनयोरश्रुविन्दवः ॥'

एषु च कचिदाधारः संहतरूपोऽसंहतरूपश्च । कचिदाधेयमपि । यथा—
'स्थिता क्षणम्—' इत्यत्रोदविन्दवः पञ्चमादावसंहतरूप आधारे क्रमेणाभवन् ।
'विचरन्ति—' इत्यत्राधेयभूता वृकादयः सहनरूपारिपुरे क्रमेणाभवन् । एवमन्यन् ।
अत्र चैकस्थानेकत्र क्रमेणैव वृत्तेर्विशेषालङ्काराद् भेदः । विनिमयाभावा-
त्परिवृत्तेः ।

गिरिराज कुमारी (पार्वती) ने, अपना वह हाथ, जिसे, वह लाङ्गाराग से शून्य अपने
बधरोष्ठ से और स्तनों के अगाराग से रंजित कन्दुक से हटा चुकी थी, तपस्या करते
सनय, बगुलियों के घत-विघत करने वाली कुशों के बकुलों के उखाड़ने में और रङ्गाङ्गी
माला के फेरने में लगा दिया ।' (कुमारनन्द)

'राजन् ! अपनी शत्रुनारिओं ने अपने जिन उरोजों पर पहले विशुद्ध मोतियों के
हार धारण किये थे, अब, उन्हीं पर, वे, अपने नाँसुओं की बड़ी बड़ी बूँदें रखती दिखाई
दे रही हैं ।'

'पर्याय' के उपर्युक्त चारों प्रकारों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि इनमें
जो वस्तु 'आधार'रूप हुआ करती है वह कहीं-कहीं पर तो 'सहत' अथवा मिली-जुली
हुआ करती है और कहीं-कहीं पर 'असहत' अथवा अलग अलग रहा करती है । इसी
प्रकार 'आधेय' रूप वस्तु भी, यहाँ, यत्र तत्र 'सहत' और 'असहत'—दोनों रूपों की
हुआ करती है । जैसे कि 'स्थिता क्षणं पञ्चमसु ताडिनाधरा' आदि (कुमारनन्द)
सूक्ति में, वर्षा की बूँदें, क्रमशः, 'असहत' अलग-अलग 'पलक' आदि रूप आधारों पर
अवस्थित वर्णन की गयी हैं । 'विचरन्ति विलासिन्यः' आदि सूक्ति में ऐसा है कि
'वृक' आदिरूप आधेय वस्तुओं का, 'शत्रुनगर'रूप 'सहत' अथवा सम्मिलित आधार
पर, क्रमशः, अवस्थान उपनिबद्ध किया हुआ है । इसी भाँति 'विस्मृष्टरागादधरात्रिवर्तितः'
और 'ययोरारोपितस्तारोहार' आदि सूक्तिओं में भी, क्रमशः 'सहन' और 'असहत'
आधारों पर, एक और अनेक वस्तुओं के, क्रमशः, संपादन अथवा विधान का वर्णन,
स्पष्ट है ।

'पर्याय' (प्रथम प्रकार के पर्याय) का 'विशेष' अलङ्कार से भेद इसीलिये स्पष्ट है
क्योंकि जहाँ 'पर्याय' के लिये, एक वस्तु के, अनेक स्थानों पर, क्रमशः अवस्थान
अथवा विधान का वर्णन अपेक्षित है वहाँ 'विशेष' (द्वितीय प्रकार के 'विशेष') के
लिये, जो अपेक्षित है, वह, एक वस्तु की, अनेक स्थान पर, एक साथ ही, अवस्थिति
का वर्णन-वेचन्य है ।

'पर्याय' परिवृत्ति से भी निरूपण का अलङ्कार है क्योंकि 'पर्याय' में (एक वस्तु,
अनेक स्थानों पर, क्रमशः अवस्थित अथवा संपादित रूप से वर्णित होती है और)

(११—परिवृत्ति)

परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ॥ ८० ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

('समान' और 'न्यून' वस्तु के साथ विनिमय में 'परिवृत्ति')

‘दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम ।

मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः ॥’

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन, द्वितीयेऽर्धे न्यूनेन ।

(अधिक के साथ 'विनिमय' में 'परिवृत्ति')

‘तस्य च प्रथयसो जटायुपः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ।

येन जर्जरकलेवरव्ययात्कीर्तमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥’

अत्राधिक्येन ।

किसी प्रकार की परस्पर लेन-देन (विनिमय) की कोई बात नहीं होती, किन्तु 'परिवृत्ति' में परस्पर 'विनिमय' का अभिप्राय अन्तर्निहित रहा करता है ।

विमर्श—‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने 'पर्याय' की यह मीमांसा की है—

‘क्रमप्रस्तावादिदमुच्यते । एकमाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यत्तिष्ठति स एकः पर्यायः । नन्वेकमनेकगोचरमिति प्राक्तनेन लक्षणेन विशेषालङ्कारोऽत्रोक्तः । तत्किमर्थमिदमुच्यते ह्यस्यालङ्कारोक्तम्—क्रमेणेति । इह च क्रमोपादानादार्थात्तत्र यौगपद्यप्रतीतिः । तेनास्य ततो विविक्तविषयत्वम् । तथा—

‘एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेय यस्य द्वितीयः पर्यायः’.....। विनिमयाभावात् परिवृत्तेर्वैलक्षण्यम् । तस्या हि विनिमयो लक्षणत्वेन वक्ष्यते । तत्रानेकोऽसंहतरूपः सहतरूपश्चेति द्विविधः । तच्च द्वैविध्यमाधाराधेयगतमिति चत्वारोऽस्य भेदाः ।’

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९०)

जिससे यह स्पष्ट है कि 'साहित्यदर्पण' का पर्याय निरूपण 'अलङ्कारसर्वस्व' का ऋणी है । 'पर्याय' के अलङ्कार माने जाने में 'रसगङ्गाधर' कार की यह युक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘यत्राधाराधेयतत्संबन्धक्रमेषु कचिदपि कविकल्पनापेक्षा तत्रैवायमलङ्कारः । यत्र तु सर्वांशे लोकसिद्धत्वं न तत्र कश्चिदलङ्कारः ।’ (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६४७)

अनुवाद—‘परिवृत्ति’ वह अलङ्कार है जिसे किसी वस्तु के, 'समान', 'न्यून' अथवा 'अधिक' वस्तु से विनिमय-वर्णन में देखा जाया करता है ।

इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

‘उस मृगनयनी सुन्दरी ने, मुझे, अपना कटाक्ष दिया और बदले में, मुझसे, मेरा हृदय ले लिया । मैंने उस सुन्दरी को अपना हृदय दिया और बदले में, उससे कामज्वर ले लिया ।’

यहाँ प्रथमार्ध में 'समान' के साथ और उत्तरार्ध में 'न्यून' के साथ 'विनिमय' में 'परिवृत्ति' का वैचित्र्य स्पष्ट झलक रहा है ।

‘दिग्गामी उस वृद्ध जटायु के लिये क्योंकि शोक मनाया जाय जिसने अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर के मोल, चन्द्रमा की किरणों के समान शुभ्र निर्मल यश खरीद लिया ।’

यहाँ 'अधिक' के साथ 'विनिमय' में 'परिवृत्ति' अलंकार दिखाई दे रहा है ।

(५३—उत्तरालङ्कार)

—उत्तरं प्रश्नस्यान्तरादुन्नयो यत्रि ।

यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥ ८२ ॥

यथा मम—

‘घोक्षितुं न क्षमा श्वश्रूः स्वामी दूरतरं गतः ।

अहमेकाकिनी वाला तवेह वसतिः कुतः ॥’

अनेन पथिकस्य वसतियाचनं प्रतीयते ।

‘का विसमा देवगई कि लद्धव्वं जणो गुणगाही ।

कि सोक्खं सुकलत्त कि दुग्गेव्वं खलो लोओ ॥’

(का विषमा ‘दैवगतिः, कि लब्धव्य जनो गुणग्राही ।

कि सौख्यं । सुकलत्र, कि दुर्गाहं । खलो लोक ॥)

अत्रान्यव्यपोहे तात्पर्याभावात् परिसंख्यातो भेदः । न चेदमनुमानम्, साध्यसाधनयोर्द्वयोनिर्देश एव तस्याङ्गीकारात् । न च काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य प्रश्नं प्रत्यजनकत्वात् ।

‘तीर्थं गङ्गा तदितरदपां निर्मलं संघमात्र

देवौ तस्याः प्रसवनिलयौ नाकिनोऽन्ये वराकाः ।

सा यत्रास्ते स हि जनपदो मृत्तिकामात्रमन्यत्

तां यो नित्यं नमति स बुधो बोधशून्यस्ततोऽन्यः ॥’

अनुवाद—‘उत्तर’ वह अलङ्कार है जो (१) उत्तर द्वारा प्रश्न के उन्नयन (ऊहापोह) में अथवा (२) प्रश्न होने पर अनेक असम्भाव्य उत्तर के वैचित्र्य में देखा जाया करता है ।

उदाहरण के लिये यह स्वरचित सूक्ति—

‘सास देख नहीं पाती, स्वामी परदेश गये हैं, मैं वाला अकेली हूँ, अब भला तुम्हें यहाँ रहने की जगह कैसे मिले ?’

यहाँ (नायिका के) उत्तर से, निवास स्थान की याचना के सम्बन्ध में, पथिक के प्रश्न का उन्नयन-वैचित्र्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।

अथवा

‘सबसे कठोर क्या है ? भाग्य का विधान; किसकी प्राप्तिकामना होनी चाहिये ? गुण-प्राप्ति व्यक्ति की; सुख क्या है ? सुशील साध्वी स्त्री, और किसे वश में करना दुष्कर है ? दुष्ट को’ ।

[यहाँ कई एक प्रश्न हैं जिनके असम्भाव्य (साधारण बुद्धि द्वारा अगम्य) उत्तर दिये गये हैं ।]

‘उत्तर’ और ‘परिसंख्या’ परस्पर भिन्नस्वरूप के अलङ्कार हैं क्योंकि जहाँ ‘परिसंख्या’ में ‘अन्यन्यावृत्ति’ की आवश्यकता है वहाँ ‘उत्तर’ में ‘अन्यन्यावृत्ति’ की अपेक्षा का कोई तात्पर्य नहीं । ‘उत्तर’ को ‘अनुमान’ अलङ्कार से भी गतार्थ करना असंभव है क्योंकि ‘अनुमान’ में ‘साध्य’ और ‘साधन’—दोनों का निर्देश अनिवार्य हुआ करता है (और ‘उत्तर’ में, अर्थात् प्रथम प्रकार के ‘उत्तरालङ्कार’ में केवल उत्तर का ही निर्देश अपेक्षित

(५४—अर्थापत्ति)

दण्डापूर्पिका न्यायार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।

‘भूपिकेण दण्डो भक्षित’ इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणमर्थादायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापततोत्पेप न्यायो दण्डापूर्पिका ।

अत्र च कचित्प्राकरणिकादर्थोदप्राकरणिकस्यार्थस्यापतनं कचिदप्राकरणिकार्थान् प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ ।

है। ‘उत्तरालङ्कार’ को ‘काव्यलिङ्ग’रूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ‘उत्तरालङ्कार’ में जो प्रश्न उपनिबद्ध हुआ करता है वह ‘उत्तर’ का कारक हेतु नहीं हुआ करता (अपितु व्यञ्जक हेतु ही माना जा सकता है) ।

विमर्श—(क) ‘अलङ्कारत्वंस्व’कार को उत्तरालङ्कार’समोक्षा यह है—

‘उत्तरात् प्रश्नोत्तरनमसकृदसंभाव्यमुत्तर चोत्तरम् । यत्रानुपनिबध्यमानोऽपि प्रश्नः । पनिबध्यमानादुत्तरादुत्तरीयते तदेकमुत्तरम् । न चेदमनुमानम् । पक्षधर्मतादेरनुदेशात् । यत्र च प्रश्नपूर्वकसंभावनीयमुत्तरं तच्च न सकृत् तावन्मात्रेण चारुवाप्रतीतेः, अतश्चासकृद्विषये द्वितीयमुत्तरम् । न चैव परिसरया व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकपररवाभावात् ।’

(अलङ्कारत्वंस्व, पृष्ठ २१६)

इसमें यह स्पष्ट है कि उत्तर के द्वारा प्रश्न के उत्तरन अथवा प्रश्न के लिये अनेक बार असंभावनीय उत्तरदान नै, कविप्रतिभा का हाथ आवश्यक है। ‘विमर्शिनो’कार ने इसीलिये ‘असंभावनीय’ उत्तर का अभिप्राय ‘कविप्रतिभाभिर्वर्णित उत्तर’ माना है—(असंभावनीयमिति कविप्रतिभाभिर्वर्णितमित्यर्थः) । (अलङ्कारत्वंस्वविमर्शिनो, पृष्ठ २१६)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ को ‘प्रश्न’ अथवा ‘असंभावनीय उत्तर’ का ‘असकृत्’दान मान्य नहीं। उनके अनुसार एक भी प्रश्न या असंभावनीय उत्तर नै ‘उत्तरालङ्कार’ का वैचित्र्य शल्क जाता है—

‘प्रश्नोत्तरयोराकृतगर्भंवे तावत्तैव चमत्कारात्तासकृदुपादानापेक्ष । साकृन्विरहेत्वसकृदुपादानकृतचमत्कारोऽपेक्षयते निबद्धप्रश्ने । आक्षिप्तप्रश्ने तु प्रश्नात्तैवकृत चमत्कार यदि मन्यन्ते सहदयास्तदा सकृदुपादानेऽप्यलङ्कारत्वमरुत् ।’ (रत्नगङ्गाधर, पृष्ठ ७०३)

अर्थात् यदि प्रश्न अथवा उत्तर देते हों जिनके मोतर एक विशेष अभिप्राय छिपा हो, तब ‘उत्तरालङ्कार’ रूप वाच्य-वैचित्र्य निबद्ध हो हो जाया करता है। इसके लिये ‘असकृत्’ प्रश्न या ‘उत्तर’ को कोई अपेक्षा नहीं मानी जाती ।

(ग) निम्न सूक्तियों ‘उनीत-प्रश्न’ अथवा ‘निबद्ध-प्रश्न’ दोनों रूप के ‘उत्तरालङ्कार’ को सुन्दर सूक्तियों हैं—

‘रोगस्य ते चिक्षिप्तां निदानमालोच्य सुन्दरि करिष्ये ।

मा हन्त कातरा भू रमक्रियायां नितान्तनिपुणोऽस्मि ॥’

‘किमिति कृशामि कृशोदरि किं तव परकीयवृत्तान्तै ।

कथय तयापि मुदे मम, कथयिष्यति, याहि पान्य, तव जाया ॥’

अनुवाद—‘अर्थापत्ति’ वह अलङ्कार है जिसे ‘दण्डापूर्पिका-न्याय’ से अन्य अर्थ की ‘आपत्ति’ अथवा प्रतीति कहा करते हैं ।

यहाँ ‘दण्डापूर्पिका-न्याय’ का अभिप्राय यह है—किमी ने कहा—‘चूहा लकड़ी चबा—’ और इस से बनायास समझ लिया गया ‘चूहा लकड़ी पर रखे मालपूष भी साथ-साथ

क्रमेणोदाहरणम्—

(प्राकरणिक से अप्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति')

'हारोऽय हरिणाक्षीणा लुठति स्तनमण्डले ।

मुक्तानामप्यवस्थेय के वय स्मरकिङ्कराः ॥'

(अप्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति')

'विललाप स बाष्पगद्गद सहजामप्यपहाय धीरताम् ।

अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते केव कथा शरीरिणाम् ॥'

अत्र च समानन्यायस्य श्लेषमूलत्वे वैचित्र्यविशेषो यथोदाहृते—'हारोऽयम्' इत्यादौ । न चेदमनुमानम्, समानन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात् ।

खा गया' । इसी भाँति अर्थवश, एक अर्थ से, अनायास, दूसरे अर्थ की प्रतीति का होना 'दण्डापूर्विका-न्याय' से अर्थप्रतीति का होना है क्योंकि 'चूहे के लकड़ी चबा जाने से उसके मालपूख खा जाने' और 'एक बात से दूसरी बात के अनायास समझ लेने' में एक सी ही बात (समानन्याय) दिखाई देती है । 'अर्थापत्ति' में कहीं तो 'प्राकरणिक' अर्थ से 'अप्राकरणिक' अर्थ की आपत्ति या अनायास प्रतीति दिखाई देती है और कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि—'अप्राकरणिक' अर्थ से 'प्राकरणिक' अर्थ आपन्न या अनायास प्रतीत हो जाय । इस प्रकार इसके दो रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं ।

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'मोती का हार हरिणाक्षी सुन्दरिओं के स्तनमण्डलों पर लोटा करता है ! जब कि 'मुक्तों' या 'मौक्तिकों' (मुक्तानाम् = मौक्तिकानाम् वीतरागाणाञ्च) की यह दशा है तब हमारे सरीखे काम-किङ्कर लोगों की तो बात ही क्या है ?

[यहाँ 'मौक्तिक' और 'वीतराग' रूप वस्तु प्राकरणिक है और 'अवीतरागव्यक्ति' रूप वस्तु अप्राकरणिक है । दोनों में जो समानता है वह 'पुरुषत्व' रूप धर्म की समानता है । यहाँ, जब कि यह कह दिया गया कि 'मुक्ता या मुक्त भी रमणिओं के प्रेम में पागल हैं' तो यह अनायास प्रतीत हो गया कि 'जो स्मर-किङ्कर हो वह तो रमणीजन का क्रीतदास है ही ।]

'महाराज अज, अपनी स्वाभाविक धीरता को छोड़ कर, भाँसू वहा-वहा कर विलाप करने लगे । जब बहुत तपा हुआ लोहा भी मुलायम हो जाता है तब प्राणिओं की तो बात ही क्या ? (रघुवश . ८ ४३)'

यहाँ जो अप्राकरणिक अर्थ है वह 'तपे लोहे का मुलायम पड़ना' है जिससे 'प्राणिओं के शरीर की मृदुता' का प्राकरणिक अर्थ आपन्न अथवा प्रतीत होता वर्णित किया जा रहा है । यहाँ दोनों में जो समानता है वह 'सतप्तता' की समानता है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जबकि 'समानन्याय' (समानता की बात) श्लेषोत्थापित हो, तब 'अर्थापत्ति' अलङ्कार और भी अधिक वैचित्र्यपूर्ण लगने लगता है जैसा कि 'हारोऽयम्' आदि सूक्ति में (जहाँ 'मुक्तानाम्' पद श्लिष्ट है क्योंकि इससे 'मौक्तिक' और 'वीतराग' दोनों अर्थों का अभिधान हो रहा है) स्पष्ट है ।

'अर्थापत्ति' अलङ्कार अनुमानालङ्कार से भिन्न रूप का अलङ्कार हुआ करता है क्योंकि—
→ 'समानन्याय' अपेक्षित है उसमें (व्याप्यव्यापकभाव रूप) सम्बन्ध का कोई विवक्षित नहीं ।

विमर्श—'अर्थापत्ति' मीमांसा-समत एक प्रमाण है—

'प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथाभवेत् ।

अदृष्ट कल्पयेदन्य सार्थापत्तिरुदाहृता ॥' (शेकवार्तिक)

जिसका तात्पर्य 'उपपाद्यज्ञान' से 'उपपादककल्पना' है। जैसे कि जब हम यह कहते या समझते हैं कि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुक्ते' (देवदत्त मोटा है किन्तु दिन में खाना नहीं खाता), तब यह कल्पना कर ली जाती है कि 'देवदत्त रात्रौ भुक्ते' अर्थात् 'रात में देवदत्त अवश्य खाता होगा।' यहाँ देवदत्त को पीनता (मोटाई) 'उपपाद्य' है और इसके ज्ञान से 'उपपादक' अथवा 'रात्रिभोजन' की कल्पना अर्थापत्ति है। इस प्रकार 'अर्थापत्ति' का अभिप्राय 'अर्थस्यापत्तिर्यस्मात्' और 'अर्थस्यापत्ति'—दोनों प्रकार का निकलता है अर्थात् 'उपपाद्यज्ञान', जो कि उपपादक-कल्पना का 'करण' है वह भी अर्थापत्ति है और 'उपपादक-कल्पना', जो कि उपपाद्यज्ञान का फल है वह भी 'अर्थापत्ति' ही है।

मीमांसकों की इस 'अर्थापत्ति' और आलङ्कारिकों की अर्थापत्ति में यह समानता है कि जैसे 'रात्रिभोजन' रूप उपपादक-कल्पना से दिवाभोजन-रहित देवदत्त की 'पीनता' की उपपत्ति हो जाया करती है वैसे ही 'तपे लोहे के मुलायम पड़ने' से, समानन्याय द्वारा, सतप्त प्राणी का 'द्रवीभूत होना, भी अनायास समझ लिया जा सकता है।

किन्तु मीमांसकों की 'अर्थापत्ति' में 'अर्थापत्ति'रूप वाच्यसौन्दर्य का कोई अन्तर्भाव नहीं। पण्डितराज जानाथ ने इसीलिये कहा है—

'नेयं (अर्थापत्तिरूपालङ्कृतिः) वाक्यविरसमतायामर्थापत्तौ निविशते। आपादकस्या-र्थस्यापत्तितमर्थं विनानुपत्तेरत्राभावात्। नाप्यनुमाने। आपत्ततोऽर्थस्यापादकासमाना-धिकरणत्वेन व्याप्यत्वपक्षधर्मत्वयोर्दूरापास्तत्वात्। न च येन कारणेनैकार्थसिद्धिस्तेनैव लिङ्गेनापराधानुमानमिति वाच्यम्। अर्थान्तरसिद्धेरनुमित्यात्मकताविरहात्। यतोऽय-मर्थोऽपि भवितुमर्हतीति बुद्धेराकार, न तु भवत्येवेति। नापि यद्यर्थातिशयोक्तौ। तस्या विपरीतार्थ एव द्वयोर्विश्रान्ते। न चेह तथा, आपादकस्य सिद्धत्वादापत्ततश्च समाव्य-मानत्वाद् यथाश्रुत एव विश्रान्ते, तस्माद् येन न्यायेनकोऽर्थः सिद्धस्तेनैव न्यायेनापरो-ऽप्यर्थः। सेट्टुमर्हतीत्येवरूपेयमर्थापत्तिः। अस्या चार्थान्तर लोकेऽविद्यमानमपि कविना स्वप्रतिमया कल्पयित्वा यदापाद्यते तदालङ्कारत्वम्। यथा—

(लीलालुण्ठितशारदापुरधियामस्मादृशानां पुरो

विद्यामघ्रविनिर्गलत्क्षणमुपो वल्गन्ति चेद् वालिशः।

अथ च) 'फणिना शङ्कुन्तशिशवो' (दन्तावलीना शशा

सिंहानां च सुखेन मूर्धनि पद धास्यन्ति शालावृकाः ॥)

इत्यादौ।' अन्यथा तु केषुतिकन्यायतामात्रम्। यथा—

'उदुम्बरफलानीव (प्रज्ञाण्डान्यत्ति य सदा।

सर्वगर्वापह' कालस्तस्य के मशका वयम् ॥)' इत्यादौ।'।

(रमणदाधर, पृष्ठ ६५४-५५)

अर्थात् आलङ्कारिकों की अर्थापत्ति में 'समानन्याय' ने, एक उपपन्न अर्थ ने, दूसरे उपपाद्यमान अर्थ की जो 'आपत्ति' (प्रतीति) हुआ करती है उसमें कविप्रतिमा का हाथ अवश्य रहा करता है। बिना कविप्रतिमा के जो अर्थ आपादित किना जायगा उसमें 'वैमुक्तिकता' (जब यह घटे हो सकता है तब उसके वैसे होने में क्या हर्ज है) की ही बात रटेंगी, 'कान्यात्मकता' की नहीं। 'वैमुक्तिक-न्याय' ने तत्त्वैकिक अर्थ की आपत्ति अथवा अनादान प्रतीति नहीं हुआ करती। यह तो कवि की 'अर्थापत्ति' है जो कि 'समानन्याय' से लोकोत्तर अर्थों की भी आपत्ति करवाया करती है।

(५५—विकल्पालङ्कार)

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधधातुरीयु(य)तः ॥ ८३ ॥

यथा—

‘नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा ।’

अत्र शिरसां धनुषां च नमनयोः सन्धिविग्रहोपलक्षणत्वात् सन्धिविग्रह-
योश्चैकत्र कर्तुमशक्यत्वाद्विरोधः, स चैकपक्षाग्रयणपर्यवसानः ।तुल्यबलत्वं चात्र धनुःशिरोनमनयोर्द्वयोरपि स्पर्धया सम्भाव्यमानत्वात् ।
चातुर्यं चात्रौपम्यगर्भत्वेन । एवं ‘कर्णपूरीक्रियन्ताम्’ इत्यत्रापि ।

एवं—

‘युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ।’

अत्र श्लेषावष्टम्भेन चारुत्वम् ।

‘दीयतामर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा ।’

इत्यत्र चातुर्याभावाच्चायमलङ्कारः ।

कुमारसम्भव की यह सूक्ति ‘अर्थापत्ति’ का एक सुन्दर निदर्शन है—

‘पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।

कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥’

अनुवाद—‘विकल्प’ वह अलङ्कार है जिसे, एक विचित्रता के साथ, दो समबल वस्तुओं के पारस्परिक विरोध का निरूपण कहा जाया करता है ।

जैसे कि—

‘शत्रुगण या तो अपने सिर झुका दें या धनुष झुका लें, या तो हमारी आज्ञा अपने कानों तक ले आवें या अपने धनुष की प्रत्यक्षा अपने कानों तक ले जाँय’ ।

यहाँ ‘विकल्प’ का चमत्कार दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ संधि के उपलक्षणभूत ‘सिर झुकाने’ (शिरोनमन) और विग्रह के उपलक्षणभूत ‘धनुष झुकाने’ (धनुर्नमन) में इसलिये विरोध स्पष्ट झलक रहा है क्योंकि ये दोनों बातें एक समय में सम्भव नहीं । यह विरोध, अन्ततः, दोनों में से एक पक्ष के अवलम्बन समाप्त होता है । यहाँ ‘सिर झुकाने’ और ‘धनुष झुकाने’ में तुल्यबलता इसलिये है क्योंकि दोनों में परस्पर स्पर्धा सी दिखायी जा रही है । यहाँ (समबल वस्तुओं के विरोध प्रदर्शन में) ‘चातुर्य’ अथवा ‘वैचित्र्य’ का अभिप्राय (दोनों समबल वस्तुओं में) परस्पर ‘औपम्य’ अथवा ‘सादृश्य’-निर्देश का अभिप्राय है (जैसे यहाँ ‘नमयन्तु’ आदि में ‘नमन’ रूप साधारण धर्म ‘सिर’ और ‘धनुष’ दोनों में अनुगत रूप से निर्दिष्ट किया गया है) । यही बात ‘आज्ञा कानों तक ले जाँय या प्रत्यक्षा कानों तक ले जाँय’ आदि में भी लागू है । इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

(‘भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी

ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीति हितप्राप्तये ।

लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदशोस्तन्वती)

‘युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमन नेत्रे तनुर्वा हरेः’ ॥’

कल्प-बन्ध है, उसमें श्लेषनिबन्धन औपम्यगर्भता का वैचित्र्य झलक रहा

है क्योंकि 'आप के पाप सताप की शान्ति भगवान् विष्णु की जाँचें करें या उनकी देह को' की वक्ति में 'आँवों' और 'देह' की समरूपिता स्पष्ट है जिसका कारण 'कुत्तान्' (कृ-परस्मैपद, प्रथमपुरुष, द्विवचनान्त रूप, 'नेत्रे' से किरारूप से सम्बद्ध और 'कृ' आत्मनेपद, प्रथमपुरुष, एकवचनान्त रूप, 'तनु' से किरारूप से सम्बद्धनी के 'वचन-शेष' और 'भक्तिप्रह्विलोक्तप्रणयिनी' आदि विशेषणों के लिङ्ग-श्लेष (प्रणयिन्) नपुंसक लिङ्ग, प्रथमा द्विवचनान्त रूप 'नेत्रे' ने सम्बद्ध और 'प्रणयिनी' से लिङ्ग, प्रथमा एक वचनान्त रूप, 'तनु' ने सम्बद्ध) से 'नेत्र' और 'देह' की सादृश्यगर्भता स्पष्ट दिवायी दे रही है।

इससे यह निष्कर्ष स्वयं निकल पड़ता है कि ऐसी सूक्तिओं जैसे कि—

'जो भी अर्जित धन हो उसे देवों या ब्राह्मणों को दे देना चाहिये।'

आदि में, जहाँ शुद्ध और श्लेषनिबन्धन औपन्यगर्भता का वैशिष्ट्य नहीं, 'विकल्प' अलङ्कार नहीं रहा करता।

विमर्श—(क) विकल्प अलङ्कार 'अलङ्कारवत्त्व' आदि का अलङ्कार की एक देन है। 'अलङ्कारवत्त्व' आदि ने नन्द कहा है—'प्राचीन आलङ्कारिक विकल्प का स्वरूपविवेक नहीं कर पाये थे' (पूर्वैकृतविवेकोद्भूत दर्शित इत्यवगन्तव्यम्—अलङ्कारवत्त्व, पृष्ठ २००)। आचार्य जयरथ ने भी यही माना है कि 'तनुजः' अलङ्कार के प्रतिस्वरूप से 'विकल्प अलङ्कार का अलङ्कार नवप्रथम आचार्य रच्यन की ही अलङ्कार है—

'जनेनास्य (विकल्पालङ्कारस्य) अन्यकृदुपज्ञत्वमेव दर्शितम्'। (विनर्दिनी, पृष्ठ २००)

(ख) 'विकल्प' एक शानप्रकार है। इन शानप्रकार में 'निम्न समय पक्ष का अवलम्बन' स्वभाविक है 'मोहिमियजेत यवैर्वा' आदि वास्तविक विकल्प में कोई अलङ्कार नहीं। अलङ्कार हो उसी 'विकल्प' में सम्मिलित है जो कि कवि-प्रतिभा-निर्गमित हो। इन्हींलिपे 'विकल्प-अलङ्कार' की स्मरणता में शुद्ध औपन्यगर्भता अथवा श्लेषोत्पादित औपन्यगर्भता आवश्यक हुआ करती है। अलङ्कारवत्त्व आदि ने इन्हींलिपे कहा है—

'औपन्यगर्भत्वाच्चात्र वाच्यम्' "कचिच्छ्लेषावलम्बनेनाप्यय दृश्यते'।

(अलङ्कारवत्त्व, पृष्ठ १९८)

र इन्हींलिपे 'विनर्दिनी' आदि का भी जयन है—

'तनु च 'यवैर्वा' हिमिर्वा यजेत' इति वास्तवाद् विकल्पादस्य को विशेष इत्यादाह्व्याह-
तपन्येत्यादि। औपन्य साधारणधननिबन्धनमिति तस्याप्यत्र त्रैषम्। एवं च यन्नेवैप-
यगर्भत्व तत्रैवायमलङ्कारो न स्वल्पमिति भावः। यथा—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा सुवन्तु, लक्ष्मी परापततु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अथैव वा मरणस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्मनः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥'

'तत्रौपन्यगर्भत्वाभावाद् विकल्पमात्रत्वम् (न तु विकल्पालङ्कारः)'।

(अलङ्कारवत्त्व-विनर्दिनी, पृष्ठ १९८)

पटितनाम वाक्या का भी यही मत है—

'अयं (विकल्पालङ्कारः) च समुच्चयस्य प्रतिपन्नतु व्यतिरेक इवोपमायाः। अत्र च विकल्पमानयोरौपन्यमलङ्कारतापीजम्, तदादायैव चमकारस्योपमाया, अन्यथा तु विकल्पमानात्रम्। यथा 'जीवन मरण वास्तु नैव धर्म स्यजाग्यहम्' इत्यादी। अत्र जीवन-मरणयोर्नौपन्यस्य प्रतीतिः।' (रत्नहाथर, पृष्ठ ६-६)

(५६—समुच्चयालङ्कार : सप्रमेद-निरूपण)

समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ।

खलेकपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥ ८४ ॥

गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये ।

यथा मम—

‘हंहो धीरसमीर ! हन्त जननं ते चन्दनदमाभृतो

दाक्षिण्य जगदुत्तरं परिचयो गोदावरीवारिभिः ।

प्रत्यङ्गं दहसीति मे त्वमपि चेदुद्दामदावाग्निव-

न्मत्तोय मलिनात्मको वनचरः किं वच्यते कोकिलः ॥’

अत्र दाहे एकस्मिन्चन्दनदमाभृज्जन्मरूपे कारणे सत्यपि दाक्षिण्यादीनां हेत्वन्तराणामुपादानम् ।

अत्र सर्वेषामपि हेतूनां शोभनत्वात्सद्योगः । अत्रैव चतुर्थपादे मत्तादीनां मशोभनानां योगादसद्योगः ।

अनुवाद—‘समुच्चय’ वह अलङ्कार है जिसे निम्न सम्भावनाओं में देखा जाया करता है—
(१ ली) यदि कोई एक वस्तु किसी कार्य की सिद्धि कर रही हो तो ‘खलेकपोतिका’ न्याय से किसी दूसरी वस्तु का भी, उस कार्य के साधकरूप से, वर्णन किया जाय ।

(२ री) जब दो गुणों या दो क्रियाओं या गुण और क्रिया का एक साथ ही एकत्र उत्पादन अथवा अवस्थान वर्णित हो ।

उदाहरण के लिए यह स्वरचित सूक्ति—

‘अरे मलयमारुत ! तेरा जन्म चन्दनवन से भरे पहाड़ों से हुआ है, तेरा दाक्षिण्य (दक्षिण दिशा से बहना और प्राणिमात्र के लिए अनुकूलता) अलौकिक है, तू गोदावरी की शीतल लहरियों के सम्पर्क से शीतल है किन्तु तब भी धधकती दावाग्नि की भाँति तुझसे मेरे अङ्ग-अङ्ग जलाये जा रहे हैं ! अरे ! अब मैं उस वनचर (जगली) कोयल को क्या उलाहना दूँ जो कि (बाहर और भीतर—दोनों ओर से) काली है (और अपनी कूक से मुझे सतप्त कर रही है) ।’

यहाँ ‘समुच्चय’ स्पष्ट है क्योंकि मलयमारुत में ‘दाह’ के अनौचित्य के प्रदर्शनार्थ ‘चन्दनवन से भरे पहाड़ों से उत्पत्ति’ के कारण के उपनिबद्ध होने पर भी ‘दाक्षिण्य’ आदि अन्य कारणों का उपन्यास किया जा रहा है ।

यहाँ जो ‘समुच्चय’ है उसे ‘सद्योग’ रूप समुच्चय समझना चाहिये क्योंकि यहाँ (चन्दनवनोत्पत्ति, दाक्षिण्य, गोदावरीजलसम्पर्क आदि) शोभनरूप के ही हेतुओं का समुच्चय दिखायी दे रहा है । इस सूक्ति के चतुर्थ चरण में (दाह के औचित्य के प्रदर्शनार्थ) ‘असद्योग’रूप ‘समुच्चय’ माना जा सकता है क्योंकि ‘मत्ता’ ‘मलिनात्मकता’ आदि अशोभनरूप के हेतुओं का ‘खलेकपोत’ न्याय से सद्योग यहाँ स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।

सदसद्योगो यथा—

‘शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षर स्वाकृतेः ।
प्रमुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गनगतः खलो मनसि सप्र शल्यानि मे ॥

इह केचिदाहुः—‘शशिप्रभृतीनां शोभनत्व खलस्याशोभनत्व चेति सदसद्योगः’ इति । अन्ये तु—‘शशिप्रभृतीनां स्वतः शोभनत्व धूसरत्वादीनां त्वशोभनत्वमिति सदसद्योगः ।’ अत्र हि शशिप्रभृतिषु धूसरत्वादेरत्यन्तमनुचितत्वमिति विच्छिद्वित्विशेषस्यैव चमत्कारविधायित्वम् । ‘मनसि सप्रशल्यानि मे’ इति सप्रानामपि शल्यत्वेनोपसहारश्च । ‘नृपाङ्गनगतः खलः’ इति तु क्रमभेदाद् दुष्टत्वमावहति सर्वत्र विशेष्यस्यैव शोभनत्वेन प्रक्रमादिति ।

इसी प्रकार ‘सदसद्योग’रूप समुच्चय, जैसे कि—

‘मेरे मन में ये सात काँटे चुने हुये हैं—वह ‘चन्द्रमा’, जिसकी शोभा दिन के कारण नष्ट हो जाया करती है, वह ‘कामिनी’, जिसका यौवन नष्ट हो चुका होता है, वह ‘सरोवर’, जिसमें कमल नहीं खिलते, वह ‘सुखड़ा’, जो सुन्दर लगता है किन्तु मूर्खता झलकाया करता है; वह ‘राजा’, जो धन का लोलुप है, वह ‘सज्जन’, जो दुर्गति में पड़ा रहता है और वह ‘खल’ जो राजन्दरवार में पहुँच रहा करता है ।’

इस उपर्युक्त ‘शशी दिवसधूसरो गलितयौवना’ आदि सूक्ति के ‘समुच्चय’ के सम्बन्ध में कुछ बालकारिकों का यह कहना है कि ‘यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय इसलिये है क्योंकि शशिप्रभृतिरूप शोभन वस्तुओं और ‘खल’रूप अशोभन वस्तु का एकत्र संयोग दिखायी देता है’ । किन्तु कुछ बालकारिक ऐसा कहते हैं कि ‘यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय इसलिये है क्योंकि शशिप्रभृतिरूप स्वयं शोभन पदार्थों के साथ ‘धूसरत्व’ आदि रूप अशोभन वस्तुओं का संयोग प्रतीत हो रहा है । अब यहाँ यह देखना है कि इस ‘समुच्चय’ में ‘सदसद्योग’ का क्या रहस्य है ? वात वस्तुतः यहाँ यह है कि यहाँ शशिप्रभृति स्वयं शोभन वस्तुओं के साथ (अन्य कारणजन्य) ‘धूसरत्व’ आदि अशोभन वस्तुओं का जो अत्यन्त अनुचित संयोग है उसी में ‘सदसद्योग’ है क्योंकि जो भी वैचित्र्य है वह उसी में है और उसी के चमत्कार के कारण यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय का मौन्दर्य झलक रहा है । साथ ही साथ ‘मेरे मन के ये सात काँटे हैं’ इस उपसंहार से भी यही सिद्ध है कि यहाँ शोभन वस्तु का अशोभन वस्तु के साथ अनुचित संयोग ही ‘सदसद्योग’ का अभिप्राय है (न कि शशिप्रभृति शोभनरूप पदार्थपङ्क्त के साथ ‘खल’रूप अशोभन पदार्थ का संयोग) । वस्तुतः इस सूक्ति में ‘नृपाङ्गनगतः खलः’ की उक्ति तो ‘भग्नप्रक्रमाव’ के दोष से दूषित है (और इसलिये यहाँ परमत्रय में ही ‘सदसद्योग’ के देखते सदसद्योगरूप समुच्चय मानना उचित है) । ‘नृपाङ्गनगतः खलः’ में ‘भग्नप्रक्रमाव’ इसलिये है क्योंकि अन्यत्र तो शोभनरूप वस्तुएँ (जैसे कि शशी, कामिनी आदि) विशेषरूप से उपनिषद् हैं (और अशोभन वस्तुएँ विशेषरूप से, किन्तु यहाँ अशोभनरूप वस्तु जैसे कि ‘खल’ का उपन्यास विशेषरूप से है और शोभनरूप वस्तु जैसे कि ‘नृपाङ्गन’ का उपनिबन्ध विशेषरूप से हुआ है) ।

इह च खलेकपोतवत्सर्वेषां कारणानां साहित्येनावतारः । समाध्यलङ्कारे त्वेकार्यं प्रति साधके समग्रेऽप्यन्यस्य काकतालीयन्यायेनापतनमिति भेदः ।

‘अरुणे च तरुणि नयने तव मलिन च ग्रियस्य मुखम् ।

मुखमानतं च सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे स्मरज्वलनः ॥’

अत्राद्येऽर्थे गुणयोर्यौगपद्यम्, द्वितीये क्रिययोः ।

उभयोर्यौगपद्ये यथा—

‘कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्चि चक्षुः ।

पतितं च महीपतीन्द्र ! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥’

‘धुनोति चासि तनुते च कीर्त्तिम् ।’

इत्यादावेकाधिकरणेऽप्येव दृश्यते ।

न चात्र दीपकप, एते हि गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चयप्रकारानियमेन कार्यकारणकालनियमविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूलाः, दीपकस्य चातिशयोक्तिमूलत्वाभावः ।

यहाँ ‘समुच्चय’ और (आगे प्रतिपादित) ‘समाधि’ का भेद समझ लेना चाहिये— ‘समुच्चय’ में कारणों का एकत्र उपनिपात (उतरना) ‘खलेकपोतन्याय’ से होता है (अर्थात् जैसे खलिहान में दाना चुगने के लिये सभी कघृतर एक साथ उतर पड़ते हैं वैसे ही यहाँ एक कार्य की सिद्धि के लिये सभी कारण एक साथ आ उपस्थित होते हैं) और ‘समाधि’ में ऐसा होता है कि एक हेतु के पर्याप्तरूप से कार्य साधन में समर्थ होने पर अन्य हेतु ‘काकतालीयन्याय’ से अकस्मात् उपस्थित होता दिखायी देता है ।

गुणों के यौगपद्य में ‘समुच्चय’ (तथा क्रियाओं के यौगपद्य में भी) जैसे कि—

‘अरी सुन्दरी ! इधर तेरी आँखें लाल हुईं और उधर तेरे प्रिय का मुँह काला पड़ा । किन्तु जब तेरा सिर (कोप शान्ति के कारण) नीचे झुकेगा तब तेरे प्रिय के हृदय में कामाग्नि जल उठेगी ।’

यहाँ पूर्वार्द्ध में ‘अरुणत्व’ और ‘मलिनत्व’ रूप दो गुणों का युगपदुत्पादन वर्णित है और उत्तरार्ध में ‘आनमन’ और ‘ज्वलन’ रूप दो क्रियाओं का युगपदवस्थान वर्णित है (जिसमें ‘समुच्चय’ का वैचित्र्य स्पष्ट झलक रहा है) ।

गुण और क्रिया के यौगपद्य में समुच्चय, जैसे कि—

‘राजन् ! श्वेत कमल की कान्ति वाले आप के नेत्र जब शशुओं पर कलुषित हुये, तब, उन पर आपदाओं की टेढ़ी निगाहें बरसने लगीं ।’

‘गजन् ! एक ओर तो तुम अपनी तलवार भौंजते हो और दूसरी ओर कीर्ति फैलाते हो ।’

यहाँ, ‘कलुषं च’ आदि में, एक अधिकरण में ही गुण और क्रिया (‘कलुषत्व’ रूप गुण और ‘पतन’ रूप क्रिया) का यौगपद्य है और ‘धुनोति’ आदि में दो क्रियाओं (‘धुनोति’ और ‘तनुते’ रूप क्रियाओं) का युगपदवस्थान है । इससे यह स्पष्ट है कि ‘समुच्चय’ (केवल व्यधिकरण में, ‘गुण-क्रिया’ आदि के युगपत् अवस्थान में ही नहीं अपितु) एकाधिकरण में भी (गुण-क्रिया आदि के यौगपद्य में) रहा करता है । यहाँ ‘दीपक’ की संभावना न होनी चाहिये (यह सोच कर कि ‘धुनोति’ और ‘तनुते’ क्रियायें एक राजरूप कर्ता से संबद्ध हैं) । कारण यह है कि ‘समुच्चय’ के सभी प्रकारों में, जिनमें गुण-क्रिया आदि का यौगपद्य अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, ‘अतिशयोक्ति’ का ही चमत्कार

(५७—समाधि)

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ॥ ८५ ॥

मूलरूप से रहा करता है क्योंकि यहाँ जो भी गुण क्रियादि-योग्य है वह नियमत कारण और कार्य के पौर्वापर्य का विपर्ययरूप ही हुका करता है। जब कि 'दीपक' में 'लतिशयोक्ति' का कोई अन्तर्भाव विवक्षित नहीं तब 'दीपक' को समुच्चय के मूल में मानना निरर्थक है।

विमर्श—(क) 'समुच्चय' में 'खलेकपोत' न्याय अथवा 'खलेकपोतिका' न्याय में गुणों, क्रियाओं अथवा गुण और क्रिया आदि का निम्न लभवा अन्वित अधिकार में युगपदवस्थान विवक्षित हुआ जाता है। 'खलेकपोत' न्याय की परिभाषा यह है—

'खले कपोता इव प्रतिकृति' खलेकपोतिका। धान्यमर्दनस्थले कपोतानां युगपदापतनं तन्म्यायः खलेकपोतिका न्यायः'

अर्थात् खलिदान में एक साथ दाना चुटने के सिद्धे गिरने वाले क्यूरी की भाँति, किसी आधार पर एक साथ अनेकों (गुण कारण आदि) का व्यवहार 'खलेकपोतिका'न्याय व्यवस्था व्यवहार हुआ जाता है। नानान्यायार्थ इतरत्वानो ने भी कहा है—

'अर्थेन प्रधानोपकरणे खलेकपोतवद् युगपत्सन्निपतन्त्यङ्गानि (मीमांसा-सूत्र-भाष्य १. १. १६) ।'

अतः 'समाधि' में 'काकनाल' न्याय में एक कार्य में, एक कारण के होने होने, दूसरा प्रदत्तारण, अस्तित्व, आदि वर्णित है। 'काकनाल' न्याय का अर्थ यह है—

'काकागमनमिव तालपतनमिव काकनाल काकनालमिव काकतालीय तस्य न्याय ।'

अर्थात् जैसा आकस्मिकता ताल के पेड़ पर कौद के आकर बैठने और उसके गिर पर ताल के फल के गिर जाने से सड़की मृत्तु में है वैसी ही आकस्मिकता से, किसी कार्य की सिद्धि के सिद्धे, एक कारण के रहने, दूसरे का उपनिर्गत, 'काकनालीय' न्याय से वर्णित है।

परिहाराव आशय ने भी स्पष्ट कहा है—

'न वास्मिन् वचनमाग-समाध्यत-ह्यारत्वनाशङ्क्यम्, समाधौ हि एकेन कार्ये निष्पाद्यमानेऽप्यन्येनाकस्मिकमापतता कारणेन सौकर्यादिरूपोतिशयो यत्र सपाद्यते स विषयः। अस्मिन् समुच्चयप्रभेदे यत्रैककार्यं सपादयितुं युगपदनेके खले कपोता इवादमह-निक्रिया सपतन्नि, कार्यस्य च न कोऽप्यतिशयः स ।' (रत्नगोधर, पृष्ठ ६९०)

(ख) निम्न मूलियों 'समुच्चय' की छन्द मूलियों हैं—

'दुर्वारा स्मरमार्गगा' श्रियतमो दूरे मनोऽयुक्तुः

गाढ प्रेम नव वयोऽतिक्रान्ता प्राणा कुल निर्मलम् ।

सीत् धैर्यविरोधि मन्मथसुहृद् कालः कृतान्तोऽध्वनो

नो सरदश्चतुरा कथं नु विरह मोदस्य इयं शत्रु ॥'

'सितं ज्योत्स्नाजालंरुणत्वि मण्डाकरभरै-

स्तमलोमैः श्यामच्छवि मण्डलैः पीतमपि च ।

तमो मोटीमीलं रनिरम्य-लीला विहरणे

स्थली धारा चित्र चतुरन्तुना चित्रितमदः ॥'

समुच्चय—'समाधि' वह लक्ष्य है जिसे देववशा उपस्थित किया वस्तु के कारण, किसी कार्य के सौकर्य-वर्गन में देखा जाया करता है। जैसे कि—

यथा—

‘मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मै पतिष्यतः ।

उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥’

(५८—प्रत्यनीक)

प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि ।

तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ॥ ८६ ॥

तस्यैवेति रिपोरेव । यथा मम—

‘जब तक मैं उस मानिनी के मान के निराकरण के लिये उसके पैरों पर पड़ूँ, तबतक, भाग्यवश, मेरी सहायता के लिये, मेघ की गर्जना प्रारम्भ हो गयी ।’

यहाँ ‘समाधि’ इसलिये है क्योंकि ‘मान-निराकरण’ रूप कार्य के लिये ‘पादपतन’ रूप कारण के रहते हुये भी, अकस्मात्, ‘मेघगर्जन’ रूप प्रबल कारण का उपनिपात वर्णित हुआ है जिससे ‘माननिवारण’ के कार्य का सुकरता से सपादन प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श—‘अलङ्कारसर्वस्व’ कार ने ‘समाधि’ की यह परिभाषा की है—

‘कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः । केनचिदारब्धस्य कार्यस्य कारणान्तर-योगात् सौकर्यं यत् स सम्यग्साधनात् समाधिः । समुच्चय-सादृश्यात्तदनन्तरमुपत्तेयः’ ।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०५)

अर्थात् ‘समुच्चय’ के साथ ‘समाधि’ का कुछ सादृश्य है क्योंकि ‘एक के कार्यसाधक रहते दूसरे के कार्यसाधक होने का वर्णन जैसे ‘समुच्चय’ है वैसे ही ‘एक के कार्यकारक रहते, दूसरे के द्वारा कार्य की सुकरता का वर्णन ‘समाधि’ है । किन्तु दोनों में परस्पर वैलक्षण्य भी है जो कि दोनों के भिन्न-भिन्न अलङ्कार होने का कारण है । यह वैलक्षण्य एक में (समुच्चय में) ‘खलेकपोत-न्याय’ से दोनों कारणों का एक साथ उपस्थित होना है और दूसरे में (समाधि में) ‘काकतालीय न्याय’ से एक कारण के रहते दूसरे का आकस्मिक सहयोग-सपादन है । ‘सौकर्य’ का तात्पर्य अन्य कारण के योग से कार्य का ‘सरलता’ से सपादन और ‘सौष्ठव’ से सपादन—दोनों हैं ।

‘मानमस्या’ आदि सूक्ति में सुखपूर्वक अथवा सरलता से कार्य-सपादनरूप ‘समाधि’ है और सौष्ठव के साथ कार्य-सपादनरूप ‘समाधि’ के लिये निम्न सूक्ति देखी जा सकती है—

‘स्त्रेणं लीलाभरणमभितस्त्रोटयित्वा श्रमाम्भः

शक्त्या पत्रावलि-मृगमदन्यक्षितश्मश्रुदेहः ।

केलिस्त्रोमः कुवलयदृशां मान्मये कार्यभावे

पुंवद्भावं घटितमभितः पारिपूर्णं निनाय ॥’

(विमर्शिनी : उद्धरण, पृष्ठ २०६)

अनुवाद—‘प्रत्यनीक’ वह अलङ्कार है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ किसी प्रबल शत्रु के प्रतीकार में, असामर्थ्य के कारण, उसके किसी सबन्धी के प्रतीकार का वर्णन हुआ करता है जिससे अन्ततः उस प्रबल शत्रु का ही उत्कर्ष प्रकट हुआ करता है ।

यहाँ कारिका में ‘तस्यैव’ का अभिप्राय ‘रिपोरेव’ का अभिप्राय है । उदाहरण के लिये यह स्वरचित सूक्ति—

‘मध्येन तनुमध्या मे मध्य जितवतीत्ययम् ।
इमकुम्भौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भतिभो हरिः ॥’

(५९—प्रतीपाट्टहार)

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।

निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥ ८७ ॥

‘इस पतली कमर वाली सुन्दरी ने, अपनी पतली कमर से, मेरी (पतली) कमर की सुन्दरता जीत ली है—यह सोचकर ही वस्तुतः सिंह, इन सुन्दर कुम्भों की भाँति गज-कुम्भों (हाथी के नस्तक के दोनों भागों) को फाड़ डालना चाहता है ।’

विमर्श— क) वाचार्थरूपक ने ‘प्रत्यनीक’ का यह स्वरूप बनाया है—

‘प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य निरस्कारः प्रत्यनीकम् ।

यत्र बलवतः प्रतिपक्षस्य दुर्बलेन प्रतिपक्षेण तिरस्कारं कर्तुं न शक्यते इति तत्सदृश-
निधनो दुर्बलस्य त बाधितुं तिरस्कारः क्रियते तत् प्रत्यनीकम् । त्वनीकस्य सैन्यस्य प्रति-
पक्षि प्रत्यनीकमुच्यते । तत्तुल्यत्वादिदमपि प्रत्यनीकमुच्यते । यथाऽनीकैऽभियोक्तव्ये
।ऽपानम्याव तद्यतिनिधिभूतमन्यदुनियुज्यते, तद्वदिह प्रतिपक्षे विज्ञेये तदीयस्य दुर्ब-
लं तिरस्करणमित्यर्थः । प्रतिपक्षगतत्वेन बलवत्त्वस्यापि प्रयोजनम् ।’

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०६ २०७)

इसमें यह स्पष्ट है कि ‘प्रत्यनीक’ के रूप में जिस वाचवैचित्र्य की कल्पना है उसमें
इस और ‘दुर्बल’ कनीक रूपका सैन्य की गतिविधि की भाँति दो प्रतिपक्षभूत पक्षाओं की
गतिविधि का चित्रण किया हुआ रहता है । ‘प्रत्यनीक’ में प्रबल पक्ष के ‘मन्दग’ दुर्बल पक्ष
के प्रतिकार का जो लक्ष्य है उसमें प्रबल और दुर्बल पक्ष का ‘मन्दग’ सादृश्यानिर्मुक्त हो
सकने लगा होता है (तत्सदृशत्व च सादृश्यादिमन्त्रमूलम्-विमर्शनी, पृष्ठ २०६)
‘प्रत्यनीक’ के प्रयोजन के मन्त्र ने ‘अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शनी’ के यह कल्प है—

‘अत्र ह्यतिरस्कार्यतिरस्करणा(त्)तिरस्करणकर्तुं निन्दाद्वारेण बलवतः प्रतिपक्षस्य प्रती-
कार्त्वात् स्तुतिप्रतिपादने तात्पर्यम् ।’ (विमर्शनी, पृष्ठ २०६)

(ख) निन्दितराज दण्डधर ने ‘प्रत्यनीक’ के हेतुप्रेष में ‘प्रत्यनीक’ नाम का अभिप्राय
युक्त मन्त्र है—

‘हेतुप्रेषयैव गतार्थत्वान्नेद (प्रत्यनीकम्) अलङ्कारान्तरं भवितुमर्हति । अस्मिन्-
लङ्कारे हेतुचिन्तितप्रियमानं, हेतुप्रेषायां तु सभाष्यमानमिष्यति विरोध इति चेत्, प्रतीप-
मानहेतुप्रेषायां अनुप्रेषावापत्तेः । वाचकस्येवादेरभावाद्ध्येतव्यस्य निधीयमानत्वात्
स्तत्रापि (हेतुप्रेषायामपि) बलुं शक्यत्वात् ।

‘यस्य किञ्चिदपकर्तुमन्नं कापनिग्रह-गृहीत-विग्रह ।

कान्तवक्त्रपदशक्तिं कृत्वा राहुनिद्रुमरुणाऽपि बाधते ॥

इत्यलङ्कारसर्वस्वकृतोदाहने प्राचीनरघुपि भगवद्-चेरानुवन्धादिव भगवद्-कर्म-
रानिन्द्रु राहुबाधत इति प्रतीतेरप्रेषैव गम्यमाना । ‘प्रतिपक्षगतत्ववन्मानमगतदु-
र्बलत्वयोः प्रतीतेर्हेतुप्रेषान्तरादस्य वैलक्षण्यम् । नैतावता हेतुप्रेषायां यद्विनिर्मुक्त
(प्रत्यनीकम्) ईष्टे, किन्तु तद्वान्तरविरोधीभवितुम् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०६)

अन्वय—‘प्रतीप’ वह अलङ्कार है जिसे उपमेयत्व में प्रसिद्ध उपमान की कल्पना
कथवा निष्फलता का प्रतिपादन कहा करते हैं ।

क्रमेण यथा—

(प्रसिद्ध उपमान की उपमेय-कल्पना में 'प्रतीप')

‘यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम् ।’ इत्यादि ।

(प्रसिद्ध उपमान की निष्फलता के प्रतिपादन में 'प्रतीप')

‘तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद्व्युतिः;

तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेस्मिन्त का सुधा ? ।

धिकन्दर्पधनुर्ध्रुवौ यदि च ते किं वा बहु व्रमहे

यत्सत्य पुनरुक्तवस्तुविमुखः सगक्रमो वेधसः ॥’

अत्र वक्त्रादिभिरेव चन्द्रादीनां शोभातिवहनात्तेषा निष्फलत्वम् ।

क्रमशः उदाहरण ये हैं—

‘अरी सुन्दरी ! वह नीलकमल जो तेरे नयनों के समान सुंदर और मनोहर था, अब पानी में जा हुआ है ।’ आदि ।

‘यदि सच पूछा जाय तो विधाता की इस सृष्टि में, एक वस्तु के बराबर दूसरी वस्तु नहीं रहा करती क्योंकि यदि वह (सुन्दरी का) मुख है तो चन्द्रमा की चर्चा चलाना व्यर्थ है, यदि वह (सुन्दरी के देह की) कान्ति है तो सोना विचारा किस काम का, यदि वह (सुन्दरी की) आँखें हैं तो नीलकमल तो कहीं के न रहे, यदि वह (सुन्दरी की) मुसकुराहट है तो सुधा कुछ नहीं जँचती और अधिक क्या कहा जाय, यदि वह (सुन्दरी की) भृकुटि है तो कामदेव के धनुष को धिक्कार है ।’

यहाँ ‘मुख’ आदि में ही ‘चन्द्र’ आदि की अपेक्षा अधिक ‘सौन्दर्य’ आदि के होने के कारण चन्द्र आदिरूप प्रसिद्ध उपमानों की निष्फलता का प्रतिपादन स्पष्ट है जिसमें ‘प्रतीप’ का स्वरूप झलक रहा है ।

विमर्श—‘प्रतीप’ की ‘अलङ्कारसर्वस्वकार’ कृत मीमांसा यह है—

‘उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम् । उपमेयस्यैवोपमानभारोद्बहनसामर्थ्यादुपमानस्य कैमर्त्यक्येनाक्षेपः आलोचन कियते, तदेक प्रतीपम्’ उपमानप्रतिकूलत्वादुपमेयस्य प्रतीपमिति व्यपदेशः । यद्युपमानतया प्रसिद्धस्योपमानान्तरप्रतितिष्ठापयिषयाऽनादरणार्थमुपमेयत्वं कल्प्यते, तत्पूर्वोक्तगत्या द्वितीय प्रतीपम् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०७)

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘प्रतीप’ का सामान्यलक्षण नहीं किया गया अपि तु दो प्रकार के ‘प्रतीप’ अलङ्कारों का स्वरूप-निर्देश किया गया है (एक द्वितीयमित्यभिदधता ग्रन्थकृता प्रतीपाख्यमलङ्कारद्वयं पुनः सामान्यलक्षणाभावादेकमेव द्विप्रकारमिदमुक्तम्—विमर्शिनी, पृष्ठ २०८) । ये दोनों प्रकार के ‘प्रतीप’ उपमा के प्रकार-विशेष नहीं अपितु स्वतन्त्र अलङ्कार हैं । कारण यह है कि यहाँ उपमान को आक्षेप और उपमान की उपमेय-कल्पना का वैचित्र्य ऐसा है जो ‘उपमा’ में असम्भव है । इन दोनों प्रतीप प्रकारों का प्राण ‘साधर्म्य’ है जो कि यहाँ अपने विविधरूप में विराजमान रहा करता है । बिना ‘साधर्म्य’ अथवा ‘औपन्य’ के प्रतीप को ये दोनों प्रकार अलङ्कार नहीं कहे जा सकते ।

निम्न सूक्तियों ‘प्रतीप’ की सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

‘मुखेन सखि पीयूषपेलवेन निशासु ते । उपमानतया चन्द्र प्रियेणाशिष्यते ध्रुवम् ॥’

‘किं कर्णपूरैर्यदि साधुवादा मुक्ताफलैः किं यदि वागांबलासाः ।

किं चूर्णयोगैर्यदि रूपशोभा लावण्यमास्ते यदि चन्दनैः किम् ॥’

(प्रतीप . प्रजारान्तर)

उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ।

कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ॥ ८८ ॥

यथा—

‘अहमेव गुरुं सुगुणानामिति हाहाहल ! तात ! ना स्म दृश्यः ।

ननु सन्ति भवान्शानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥’

वत्र प्रथमपादेनोत्कर्षातिशय उक्तः । तदनुक्तौ तु नायमलङ्कारः ।

यथा—

‘ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति’ इत्यादि ।

वृत्तान्त—‘प्रतीप’ का एक रूप वह भी है जिसमें पहले तो किसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का उत्कर्ष वर्णन किया जाया करता है और बाद में उसे, किसी दूसरी वस्तु के उपमान रूप में कल्पित कर दिया जाता है। जैसे कि—

‘वरे कालकूट विप ! तुझे यह घमण्ड क्यों कि तू ही दाह्यतम वस्तुओं के सिरमौर है । वरे ! तुझ सरीखे दाह्य तो दुष्टों के वचन हैं जिनकी इस सत्सार में कोई गणना नहीं हो सकती ।’

यहाँ प्रथम धरण में ‘हाहाहल’ का अत्यधिक उत्कर्ष प्रतिपादित है (जिससे यह स्पष्ट है कि इससे बढ़कर प्राणघातक सत्सार में कुछ भी नहीं किन्तु बाद में दुष्ट वचनों के उपमान रूप में इन्हे कल्पित भी कर लिया गया है जिसमें यह अभिप्राय अभिव्यक्त हो

(६०—मीलित)

मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा ।

अत्र समानलक्षणं वस्तु क्वचिदागन्तुकम् ।

क्रमेण यथा—

(सहज रूप की तुल्यलक्षण वस्तु के द्वारा-गोपन में 'मीलित')

'लक्ष्मीवक्षोजकस्तूरीलक्ष्म वक्षःस्थले हरेः ।

प्रस्तं नालक्षि भारत्या भासा नीलोत्पलाभया ॥'

उत्कृष्ट वस्तु का उपमान नहीं बनाया जाता अपि तु उसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु को किसी दूसरी वस्तु का उपमान बनाया जाता है ।

इस क्षण्डा का निपटारा तभी हो सकता है जब कि यह कहा जाय--'किसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कर्ष वर्णन करके, पीछे, उसे, किसी दूसरी वस्तु का उपमान बना देने पर भी कोई लोग प्रतीपालङ्कार मानते हैं ।

'अलङ्कार-सर्वस्वकार' की यह 'प्रतीप'-समीक्षा भी यही सिद्ध करती है कि स्वतः अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का, पहले अत्यधिक उत्कर्ष-वर्णन करके, पीछे, अन्य वस्तु को उपमानरूप में प्रतिपादन 'प्रतीप' है—

'अनेन न्यायेनोत्कृष्टगुणत्वाद् यदुपमानभावमपि न सहते तस्यैवोपमानभावकल्पने प्रतीपमेव' । (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१०)

'विमर्शिनी' कार भी वस्तुतः इसी अभिप्राय के समर्थक है—

'उपमानभावं यो न सहते तस्योपमानत्वपरिकल्पनेन प्रतिकूलवर्तित्वात् (प्रतीपत्वादिति)' । (अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी, पृष्ठ २१०)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ की मीमांसा देखिये तो 'प्रतीप' नाम का अलङ्कार ही छूमन्तर हो जाता है—

'एव चाद्य प्रतीपं प्रसिद्धोपमावदुपमाविशेष एव, अत एव द्वितीयचूतीयावपि भेदाद्युपमाविशेषावेव । उपमानोपमेययोस्तिरस्कारस्तूपमान्तराद् वैलक्षण्य प्रयोजयेत्, न तूपमासामान्यात्, तदनुस्यूतत्वेनैव तत्प्रतीतेः । न हि द्राक्षा माधुर्यातिशयेन पार्थिवान्तराद् विलक्षणेत्यपार्थिवी भवति । अपि च यद्युपमानोपमेययोस्तिरस्कारोऽलङ्कारताप्रयोजकः स्यात्, पुरस्कारोऽपि तथा स्यात् ।'.....'यवं च फलवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारान्तरत्वं ब्रुवता अस्याप्यलङ्कारान्तरत्वमभ्युपेयं स्यात्' । (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६७०)

अनुवाद—'मीलित' वह अलङ्कार है जिसे किसी समानलक्षण वाली वस्तु से किसी दूसरी वस्तु के गोपन (छिपाने) के वैचित्र्य में देखा जाया करता है ।

यहाँ यह 'तुल्यलक्षण' अथवा 'समानलक्षण' वस्तु (अथवा वस्तु का चिह्नरूप समान धर्म) 'सहज' (स्वाभाविक) और 'आगन्तुक' दोनों रूपों में मान्य है ।

इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'भगवान् विष्णु के वक्षस्थल में लगा, लक्ष्मी के उरोजों के कस्तूरी-लेप का चिह्न, सरस्वती को न पता चला क्योंकि, वह, नीलकमल की कान्ति वाली, विष्णु की देहशोभा से एक रूप का हो गया था ।'

अत्र भगवतः श्यामा कान्तिः सहजा ।

(आगन्तुक रूप की तुल्यलक्षण वस्तु द्वारा गोपन में 'मीलित')

'सदैव शोणोपलङ्कुण्डलस्य चत्त्यां मयूखैररुणीकृतानि ।

कोपोपरत्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शङ्का विदधुर्न यूनाम् ॥'

अत्र माणिक्यकुण्डलस्यारुणिना मुखे आगन्तुकः ।

(६१—तानान्यालङ्कार)

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ॥ ८९ ॥

यथा—

'मल्लिकाचितघन्मिल्लाञ्चारुचन्दनचचिंताः ।

अविभाव्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभिसारिका' ॥'

मीलिते उत्कृष्टगुणेन निवृष्टगुणस्य तिरोधानम् ; इह तूभयोस्तुल्यगुणतया भेदाग्रहः ।

(६२—तद्गुणालङ्कार)

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।

यथा—

‘जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।

नयन् सधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥’

समान गुणों का योग माना जाया करता है जिससे दोनों भिन्न-भिन्न रूप के अलङ्कार सिद्ध होते हैं ।

विमर्श—‘सामान्य’ का ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने यह स्वरूप बनाया है—

‘यत्र प्रस्तुतस्य वस्तुनोऽप्रस्तुतेन साधारणगुणयोगादैकाल्प्य भेदानध्यवसायादेकरूपत्वं निवध्यते तत्समानगुणयोगात् सामान्यम् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१२)

अर्थात् ‘सामान्य’ का अभिप्राय समान गुणयोग के कारण प्रस्तुत और अप्रस्तुत के भेद का अग्रह अथवा अनध्यवसाय है ।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के भेदाग्रह में भी यह अलङ्कार ‘अपह्नुति’रूप नहीं अपितु एक स्वतन्त्र अलङ्कार हुआ करता है—

‘न चेयमपह्नुति’ किञ्चिद्विषय कस्यचिदप्रतिष्ठानात् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१२)

अर्थात् जहाँ ‘अपह्नुति’ में एक के अपह्नुत से दूसरे का आरोप विवक्षित है वहाँ ‘सामान्य’ में अपह्नुत-पूर्वक आरोप का कोई अभिप्राय नहीं रहा करता अपितु सामान्यगुणयोग से उपमेय और उपमान का ‘भेदाग्रह’ अथवा ‘ऐकरूप्य’ हो अभिप्रेत रहा करता है ।

यहाँ भी साधारण गुण का ‘वित्त्व’ अर्थात् अनुगामित्व, शुद्धसामान्यरूपत्व और विमर्शप्रतिविम्बभाव आवश्यक है जैसा कि ‘विमर्शिनी’कार ने कहा है—

‘साधारणगुणानां च त्रिरूपत्वमत्रार्थं सिद्धम् । तेन साधारणगुणस्यानुगामितया यथा—

‘मध्ये जानपदस्यैव मुखानाममलखिपाम् । राहोरलक्ष्यतामेति यत्र पूर्णेन्दुमण्डलम् ॥

‘अत्रामलकान्तिरत्वमनुगामितया सकृद्विदिष्टम्’—आदि ।’

पण्डितराज जगन्नाथ की यह ‘सामान्य’-समीक्षा यहाँ ध्यान देने योग्य है—

‘ननु भेदाग्रह एव मीलित-सामान्य-तद्गुण-साधारण एकोऽलङ्कारोऽस्तु, किमलङ्कारत्रयेण । मीलिते तावत् प्रकृताप्रकृतधर्मिगुणानां भेदाग्रहः : : : : सामान्ये केषांचित्-गुणगुणिभेदाग्रहः, केषाञ्चित्कचिदय कचिज्जातिमात्रभेदाग्रहश्च । तद्गुणेऽपि रक्तगुणे-रञ्जकगुणभेदाग्रहः । न चावान्तरभेदसरवान्नैकालङ्कारत्वमुपपद्यत इति वाच्यम् । लुप्तोप-मादितः पूर्णोपमादे पृथगलङ्कारतापत्तेः । तस्माद् भेदाग्रहस्य त्रयो मीलिताद्योऽवान्तर-भेदा इति युक्तम्, न तु पृथगलङ्कार इति चेत्, उच्यते—एवं तद्व्यभेदोऽप्येकोऽलङ्कारः । तद्वान्तरभेदा रूपकपरिणामाद्यतिशयोक्तिप्रमुखा इत्यपि शक्यते वक्तुम् । विच्छित्ति-भेदस्तु प्रकृतेऽपि तुल्यः ।’ (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६९५)

अनुवाद—‘तद्गुण’ वह अलङ्कार है जिसमें कोई वस्तु अपने गुण का परित्याग करती और (अपने समीपस्थ) उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के गुण का ग्रहण करती निरूपित हुआ करती है । जैसे कि—(शिशुपालवध की यह सूक्ति)

‘बलदेव जब बोले तब ऐसा लगा जैसे वे अपने मुखरूप कमल के चतुर्दिक् उड़ने-वाले भ्रमरों को अपनी उत्कट दन्त-कान्ति से शुकुरूप बना रहे हों ।’

मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाच्छादनम् , इह तु वस्त्वन्तरगुणेना-
क्रान्तता प्रतीयत इति भेदः ।

(६३—श्रतद्गुणालङ्कार)

तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः ॥ ६० ॥

यथा—

‘हन्त ! सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम ।

गुणगौर ! निषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि ॥’

यथा वा—

‘गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुन कज्जलाभमुभयत्र मज्जत ।

राजहस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥’

‘मीलित’ और ‘तद्गुण’ में परस्पर भेद है क्योंकि ‘मीलित’ में तो प्रकृत वस्तु का अन्य वस्तु से आच्छादन विवक्षित रहा करता है किन्तु ‘तद्गुण’ में ऐसा होता है कि एक वस्तु अन्य वस्तु के गुण से आश्रान्त प्रतीत हुआ करती है ।

विमर्श—‘तद्गुण’ की व्युत्पत्ति है—‘तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति तद्गुणः’ अर्थात् ‘तद्गुण’ को इसलिये ‘तद्गुण’ कहा जाता है क्योंकि इसमें उत्कृष्ट गुणवाली ‘अप्रकृत’ वस्तु का गुण ‘प्रकृत’ वस्तु में विद्यमान वर्णित हुआ करता है । ‘अलङ्कारमवस्थ कार ने इसलिये कहा है—

‘यत्र परिमितस्य वस्तुन समीपवतिप्रकृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं न तद्गुणः । तस्यो-
त्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति कृत्वा । न चेद मीलितम् । तत्र हि प्रकृत वस्तु वस्त्वन्तरे-
णाच्छादितत्वेन प्रतीयते । इह त्वनपह्नुतस्वरूपमेव प्रदत्त वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरक्ततया
प्रतीयत इत्यस्त्यनयोर्भेदः । (अलङ्कारमवस्थ, पृष्ठ २४३

अर्थात् ‘तद्गुण’ में अनपह्नुतस्वरूप प्रकृत या अप्रकृत के गुण ने उपरान्त वर्णित है क्योंकि यहाँ अप्रकृत वस्तु से प्रकृत वस्तु के स्वरूप निरोधान की कोश विवक्षा नहीं हुयी कता ।

निम्न ‘तद्गुण’ सूक्तिया बड़ी मन्त्र है—

‘विभिन्नवर्णां गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्या परितः स्फुरन्त्या ।

रत्नैः पुनर्यत्र रुच रचा स्वामानिन्यिर वशकरीरनाले ॥’

‘इन्दुदयक्षन्दनमिन्दुवक्त्रा चन्द्रन्तवेयादि सहायमपत् ।

वपुश्च शृङ्गारमय स मन्ये मन्तापङ्कज हरप्रद्वियागात् ॥’

‘अधरेण समागमाद्भदानामरग्निना पिहिताऽपि गुणभावाः ।

हसितेन सितेन पद्मलाक्षया पुनरहायमपत्र जातपद् ॥’

अनुवाद—‘तद्गुण’ वह अलङ्कार है जिसमें, कारण होने पर भी, प्रकृत वस्तु, अप्रकृत वस्तु के गुण का अनुहार अथवा स्वीकार करती नहीं वर्णित होता । जैसे कि—

‘अरे प्रियतम ! मेरे हृदय में, जो कि प्रगाट राग (प्रेम या लाला) ने भरा हुआ है, रहते हुए भी, तुम, कुछ ऐसे ‘गुणगौर’ अपने गुणों के कारण शुभ्र रूप का कि तुमसे बड़े राग (प्रेम या लाली) समझ नहीं ।’

अथवा—

‘राजहस ! तुम शुभ्र वर्ण के गंगाजल और कज्जल वर्ण के यमुनाजल—दोनों में स्नान किया करते हो किन्तु तुम्हारी शुभ्रता न बढ़ती है और न घटती है अपितु जहाँ की नदी ही रहा करती है ।’

पूर्वत्रातिरक्तहृदयसंपर्कात् प्राप्तवदपि गुणगौरशब्दवाच्यस्य नायकस्य रक्तं न निष्पन्नम्, उत्तरत्राप्रस्तुतप्रशंसायां विद्यमानायामपि गङ्गायमुनापेक्षया प्रकृतस्य हंसस्य गङ्गायमुनयोः संपर्केऽपि न तद्रूपता । अत्र च गुणाग्रहणरूपविच्छित्तिविशेषाश्रयाद्विशेषोक्तेर्भेदः, वर्णान्तरोत्पत्त्यभावाच्च विपमात् ।

(६४—सूक्ष्मालङ्कार)

संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा ।

कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥ ६१ ॥

यहाँ पहले उदाहरण (अर्थात् 'हन्त सान्द्रेण' आदि) में यह स्पष्ट है कि नायिका के प्रगाढ़ राग से भरे हृदय के सम्पर्क से, नायक के हृदय में 'अनुराग' की सभावना के होने पर भी, अनुराग का न होना निर्दिष्ट है क्योंकि 'गुणगौर' शब्द का यही अभिप्राय है कि नायिका के अनुरक्त हृदय में निवास करने पर भी नायक अनुराग शून्य पड़ा है ।

दूसरे उदाहरण (अर्थात् गङ्गामय आदि) में, जहाँ राजहंस के इस प्रकार के वर्णन में एक प्रकार की 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का भी अभिप्राय स्पष्ट है (क्योंकि अप्रस्तुत 'राजहंस' की प्रशंसा से, किसी प्रस्तुत धीरप्रकृति महापुरुष की प्रशंसा का ही भाव प्रकाशित हो रहा है) यह निश्चित है कि गङ्गा और यमुना की अपेक्षा राजहंस अधिक प्रकृतरूप का है और गङ्गाजल तथा यमुना जल के साथ सम्पर्क में भी, उनके गुणों का ग्रहण न करते वर्णित हो रहा है जिसमें 'अतद्गुण' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है ।

'तद्गुण' को 'विशेषोक्ति'रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि जहाँ 'तद्गुण' में गुण के अननुहार अथवा अग्रहण का एक विशेष चमत्कार रहा करता है वहाँ 'विशेषोक्ति' में इस प्रकार का कोई चमत्कार विवक्षित नहीं । (तात्पर्य यह है कि 'हन्त सान्द्रेण' आदि में कवि 'नायिका के प्रेम पगे हृदय में रहते रहने' और 'तब भी अनुरक्त न होने' में कार्यकारणभाव को कोई कल्पना नहीं कर रहा अपितु 'लाल वस्तु के सम्पर्क में भी लाली न पकड़ने' को ही विचित्र कल्पना का आनन्द ले रहा है) ।

'अतद्गुण' में 'विपम' का भी अम नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ 'विपम' में (प्रथम प्रकार के 'विपम' में) कार्य का गुण या क्रियारूप धर्म कारण के गुण या क्रियारूप धर्म से विरुद्ध रूप का वर्णित किया जाया करता है वहाँ 'अतद्गुण' में (कार्यकारण की गुण-क्रिया में परस्पर विरोध का कोई अर्थ अपेक्षित नहीं, अपि तु उपराग-हेतु के होने पर भी) उपराग अथवा अन्य वर्ण की उत्पत्ति का अभाव-वर्णन ही अभिप्रेत रहा करता है ।

विमर्श—'अतद्गुण' तद्गुण का प्रतिपक्षरूप अलङ्कार है—'तस्य प्रकृतस्य गुणा अस्मिन् अप्रकृते न सन्तीति अतद्गुण' अथवा, 'तस्य अप्रकृतस्य गुणा अस्मिन् प्रकृते न सन्तीति अतद्गुण' । 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने भी कहा है—

'तद्गुगप्रस्तावात्तद्विपर्ययरूपोऽतद्गुण उच्यते ।.....'तस्योत्कृष्टगुगस्यास्मिन् गुणा न सन्तीति । यद्वा तस्याप्रकृतस्य रूपाननुहारः सत्यनुहरणहेतौ सोऽतद्गुणः । तस्याप्रकृतस्य गुणा नास्मिन् सन्तीति कृत्वा ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१४)

निम्न सूक्ति में 'अतद्गुण' की बड़ी सुन्दर रचना हुई है—

'धवलोलसि यद्यपि सुन्दर तथापि स्वया मम रक्षित हृदयम् ।

रागभरितेऽपि हृदये सभगं निहितो न रक्तेऽसि ॥'

अनुवाद—'सूक्ष्म' वह अलङ्कार है जिसमें आकार अथवा चेष्टा से पहचान में आनेवाली

सूक्ष्म स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यः ।

अत्राक रेण यथा—

‘वक्त्रस्यन्दिस्त्रेदविन्दुप्रचन्दैर्दृष्टा भिन्नं कुङ्कुम कापि कण्ठे ।

पुस्त्वं तन्मया व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खङ्गलेखां लिलेख ॥’

अत्र कयाचित्कुङ्कुमभेदेन सलक्षित कस्याश्चित्पुरुषायित पाणौ पुरुषचिह्नख-
ङ्गलेखालिखनेन सूचितम् ।

इङ्गितेन यथा—

‘सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रापिताकूत लीलापद्म निमीलितम् ॥’

अत्र विटस्य भ्रूविक्षेपादिना लक्षितः सङ्केतकालाभिप्रायो रजनीकालभाविना
पद्मनिमीलनेन प्रकाशितः ।

सूक्ष्म (सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सवेद्य) वस्तु किसी और युक्ति से प्रकाशित की जाया करती है ।

‘सूक्ष्म’ का अभिप्राय ‘स्थूल बुद्धि द्वारा असलक्ष्य होने’ का अभिप्राय है ।

‘कि आकार द्वारा सलक्ष्य सूक्ष्म वस्तु के, अन्य युक्ति से प्रकाशन में ‘सूक्ष्म’—

हमारी सुन्दरी ने, अपनी किसी सखी के मुख से टपकी पानी की बूँदों की रेखाओं से गले के कुङ्कुम-रेप को दो भागों में बँटे देखकर, मुसकराहट के साथ, उसकी हथेली हथार का एक रेखाचित्र खींच दिया जिससे उसका पुरुषत्व (उसका पुरुषायितत्व) सूचित हो गया ।’

यहाँ ‘सूक्ष्म’ इसलिये है क्योंकि यहाँ किसी सुन्दरी ने अपनी सखी के गले के कुङ्कुम-से उसकी पुरुषायित रति की पहचान तो कर ली है किन्तु उसकी हथेली पर, पुरुष चहचिह्नरेप ‘खङ्ग’ के चित्रण की युक्ति से, उसे (विपरीत रतिविलास को) सूचित कर दिया है ।

इङ्गित अथवा चेष्टाद्वारा सलक्ष्य सूक्ष्म वस्तु के, अन्य युक्ति से प्रकाशन में ‘सूक्ष्म’—

‘जब कि उस चतुर सुन्दरी ने, अपने प्रेमी को प्रेममिलन के समय के जानने के लिये हा उल्लुक् देगा तब उसने अपनी हँसती आँखों से अपना अभिप्राय बताते, अपने हाथ के झोझा कमल की पल्लुबिजों को चन्द कर लिया ।’

यहाँ जो सूक्ष्म अर्थ है वह प्रेममिलन का समय है जिसके जानने के लिये प्रेमी घर उल्लुक् है । यह सूक्ष्मरूप अर्थ प्रेमी द्वारा नायिका की ‘आँखों की हँसी’ से ज्ञात किया गया है (हँसी में आँखें चढ़ हो जाती हैं इसलिये प्रकाश की समाप्ति अर्थात् ‘संख्या’ को प्रेममिलन के समय रूप में जान लिया गया है) किन्तु लीलाकमल के निमीलन की युक्ति इस संख्याकालरूप सूक्ष्म अर्थ को पुनः प्रकाशित किया जा रहा है ।

विनय—‘सूक्ष्म’ का ‘अन्तर्-मार्ग’ का ‘हृत्त मन्त्र’ यह है—

‘सलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशन सूक्ष्मम् ।

इह सूक्ष्म सूक्ष्मनिमित्तमलक्ष्यो योज्यः, यदा कुशाग्रनिभिरिन्द्रितान्तर सलक्ष्यते तदा तस्य सलक्षितस्य विदग्ध प्रति प्रकाशन सूक्ष्ममलक्ष्यम् ।’

(अन्तर्द्वारमार्ग, पृष्ठ

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘सूक्ष्म’ अलक्ष्य का अभिप्राय, इङ्गित अथवा आकार द्वारा सलक्ष्य अर्थ का प्रकाशन है ।

(६५—व्याजोक्ति)

व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।

यथा—

‘शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगृहोत्तस-

द्रोमाञ्चादिविसृष्टुलाखिलविधिव्यासद्गभङ्गाकुलः ।

आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मिन्

शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्द्वैष्टोऽवताद्वः शिवः ॥’

नेयं प्रथमापह्नुतिः, अपह्वकारिणो विषयस्यानभिवानात् । द्वितीयापह्नुतेर्भे-
दश्च तत्प्रस्तावे दर्शितः ।

अनुवाद—‘व्याजोक्ति’ वह अलङ्कार है जिसमें किसी उद्भिन्न अथवा प्रकट हुई भी वस्तु के, किसी चहाने से छिपाने का अभिप्राय अन्तर्भूत रहा करता है । जैसे कि—

‘वे शिव, जो हिमालय द्वारा कन्यादान के समय, पार्वती के करालिङ्गन से उत्पन्न आनन्द-रोमाञ्च से व्यग्र होने के कारण, समस्त विवाह विधि में गृह्यही पैदा करने से व्याकुल हुआ करते हैं और अपने इस प्रेमानिरेक को छिपाने के लिये ‘ओह ! हिमालय के हाथ कितने ठड़े हैं’ कह कहकर मुसकरा दिया करते हैं जिससे हिमालय के अन्तःपुर में विराजमान मातृमण्डल (ब्राह्मी आदि सावृग) भी हँसी से लोटपोट हो जाता है, आप सय का सदा कव्याण करते रहें ।’

यहाँ ‘व्याजोक्ति’ स्पष्ट है क्योंकि शिव के रोमाञ्चित होने से पार्वती के प्रति उनका जो अनुराग उद्भिन्न है उसे हिमालय के हाथों की शीतलता के व्याज से छिपाया जा रहा है ।

‘व्याजोक्ति’ और पहले प्रकार की ‘अपह्नुति’ (वह अपह्नुति, जिसमें उपमेय का निषेध करके, उसके स्थान पर, अन्य की स्थापना की जाया करती है) परस्पर भिन्न भिन्न अलङ्कार हैं क्योंकि ‘व्याजोक्ति’ में छिपाने वाला व्यक्ति, ‘विषय’ का (उपमेय का) निर्देश नहीं किया करता (यह तो पहली अपह्नुति में होता है कि ‘विषय’ का निर्देश किया जाता है और उसके अपह्व के साथ, अन्य की स्थापना हुआ करती है) ।

‘व्याजोक्ति’ और ‘द्वितीय प्रकार की अपह्नुति’ का भेद, पहले ही, अपह्नुति के प्रसङ्ग में, बताया जा चुका है (जिससे यहाँ इसका पुनर्निर्देश अपेक्षित नहीं) ।

विमर्श—‘व्याजोक्ति’ की ‘अलङ्कारसर्वस्वकार’कृत परिभाषा यह है—

‘उद्भिन्नवस्तुनिगूह्यं व्याजोक्तिः’

यत्र निगूह वस्तु कुतश्चिन्निमित्तादुद्भिन्न प्रकटतां प्राप्त सद् वस्त्वन्तरप्रक्षेपे निगूह्यते अपलप्यते सा वस्त्वन्तरप्रक्षेपरूपस्य व्याजस्य वचनाद् व्याजोक्तिः ।’

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१८)

इसमें यह स्पष्ट है कि व्याजोक्ति में ‘उद्भिन्न’ और ‘निगूहित’ (जैसे कि शिव के रतिभाव और शैत्यरूप) वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव का कोई अभिप्राय अपेक्षित नहीं । यहाँ जो ‘व्याज’ है उसका तात्पर्य ‘वस्त्वन्तरप्रक्षेप’ है जैसे कि ‘शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान’ आदि सूक्ति में रतिभाव के निगूहन के लिये ‘शैत्य’रूप वस्तु का प्रक्षेप ।

(२६—स्वन्दोष्टि)

स्वभावोक्तिर्दुस्त्वार्थम्वन्निरूपवर्णनम् ॥ ६२ ॥

। दुस्त्वयो कविनात्रवेद्यो. अर्थस्य द्विभादे स्वयोस्तदेकानययोरचेष्टास्व-
रूपयो ।

यथा नन—

‘ताङ्गुत्तेनाभित्य क्षितितलमसद्वृद्धारयन्नपद्मथा-

नास्मन्प्रेषावलीय द्रुतमथ गगनं प्रेत्यतन् विवमेण ।

सदूर्जद्वृद्धारघोष प्रतिदिगन् खिनाद् द्राघ्यन्तेप जन्तून्

कोपाविष्ट प्रविष्ट प्रतिजननन्गोच्छ्रतचक्रस्तरम् ॥’

अर्थव्यक्तेरिय भेदमियता प्रतिपद्यते । जायमानं प्रियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम् ॥
स्वरूपमाश्रयो हेतुरिति तद्भेदहेतवः । ते सस्यानादयस्तेषु सा विशेषेण शोभते ॥
तत्र स्वरूप संस्थानमवस्थानं तथैव च । वेपो व्यापार इत्याद्यैः प्रभेदैर्बहुधा स्थितम् ॥
मुग्धाङ्गनाभं कश्चिदर्थं नीचपात्राणि चाश्रयः । देनः फालश्च शक्तिश्च साधनानि च हेतवः ॥
(सरस्वतीकण्ठाभरणः ३४८)

अर्थात् 'जाति' का अभिप्राय वस्तु-स्वभाव' है । वस्तु 'स्वभाव' का वह उचित अथवा
वद्वृद्धन, जिसमें कवि-प्रतिभा का साथ रहा करता है जाति अलङ्कार है (कविप्रतिभामात्र-
प्रकाशनीयरूपोद्भूतं जातिरिति लक्षणम्-रसार्पणस्याख्या सरस्वतीकण्ठाभरण, पृष्ठ ३१७) ।
वस्तु 'स्वभाव' में वस्तु-स्वरूप, वस्तु-मल्लान, वस्तु अवस्थान, वेप, व्यापार आदि आदि सभी
अन्तर्भूत हैं । कवि की प्रतिभा दृष्टि में ही वह सामर्थ्य है जिससे वह वस्तु स्वभाव के उल्लेख में
सफल हुआ करता है जैसे कि कहा भी गया है—

'रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः । यत्नं विशेषस्पर्शोऽस्या प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥
सा हि चक्षुर्भगवत्स्वृतीयमिति गीयते । येन साक्षात्कारोऽप्येव भावांस्त्रिलोक्यवर्तिनः ॥'

'जाति' अथवा 'स्वभावोक्ति' का अलङ्कार की शर्मा में इसीलिये स्थान है क्योंकि इसमें वस्तु-
स्वभाव का जो वर्णन हुआ करता है वह कविप्रतिभा-वस्तु होने से चमत्कारपूर्ण लगा करता है ।
चमत्कार शून्य वस्तु वर्णन 'स्वभावोक्ति' नहीं अपितु 'वाचो' अथवा वात चीत है ।

(ख) विश्वनाथ कविराज ने अलङ्कारसर्वस्व की 'स्वभावोक्ति'-मीमांसा का अनुमरण किया
है । 'अलङ्कारसर्वस्व' कार की स्वभावोक्ति-मीमांसा यह है—

'सूक्ष्मवस्तुस्वभाववयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः—

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालङ्कारः । तत्रैव सति सर्वं काव्यमलङ्कारि स्यात् । न
हि तस्मात्काव्यमस्ति यत्र न वस्तुस्वभाववर्णनम् । तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम् । सूक्ष्म-कविस्व-
भात्रस्य गम्यः । अत एव तस्मिन्निमित्त एव यो वस्तुस्वभाववस्तस्य यथावद्वर्णनानतिरिक्त-
त्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २२३)

अर्थात् 'स्वभावोक्ति' (स्वभाव + उक्ति) का तात्पर्य सूक्ष्म अर्थात् कविप्रतिभामात्र से सवेद्य
वस्तु स्वभाव की तदनुरूप उक्ति अथवा वर्णन का तात्पर्य है । केवल वस्तु-स्वभाव वर्णन 'स्वभा-
वोक्ति' अलङ्कार नहीं अपितु कविप्रतिभामात्रवेष वस्तु स्वभाव का यथावद्वर्णन 'स्वभावोक्ति' है ।

वस्तु के सूक्ष्म सुभग स्वभाव वर्णन को 'अलङ्कार' इसलिये माना जाया करता है क्योंकि
इसमें सहज हृदय एक चमत्कार का अनुभव किया करता है । लोक-जीवन की वस्तुओं के
सूक्ष्म धर्मों के चित्रण में सहज हृदय पाठक का जो 'हृदयसंवाद' हुआ करता है वही 'स्वभावोक्ति'
की अलङ्कार-कल्पना का मूल कारण है । 'स्वभावोक्ति' में किम प्रकार का 'हृदयसंवाद' संभव
है—इसका निरूपण आचार्य जयरथ के शब्दों में इस प्रकार है—

'हृदगिद वस्तु इत्यत्र हृदयसंवादः । स च यथा—

यत्र स्तनन्धयान् हस्ते रत्नदीपाग्निघृत्ततः ।

दृष्ट्वा हा हेति सभ्रान्ता धात्री चेद्विहस्यते ॥

अत्र धात्रीणामीदृगय स्वभाव इति वस्तुनिर्दिष्टो हृदयसंवादः ।

यथा वा—

यशस्वाद्यं सीता वितरति तदग्रे स्वगुहिणे

सुमित्रापुत्राय प्रणिहितविशेषं तदनु च ।

यदाम यत्क्षाम यदनन्तरं यच्च विरस

फलं वा मूलं वा रचयति तु तेन स्वमशनम् ॥

(६७—भाविक)

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।

यत्प्रत्यभायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥ ६३ ॥

यथा—

‘मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसन्भवः ।

येनैकचुजुके दृष्टौ दिव्यौ तौ नस्त्यक्छपौ ॥’

यथा वा—

‘आसीदञ्जननत्रेति पश्यामि तव लोचने ।

भाविभूषणसन्भारां साक्षाद्वर्त्ते तवावृतिम् ॥’

न चायं प्रसादाख्यो गुणः, भूतभाविनो ग्रन्थचायमाणत्वे तस्याहेतुत्वात् । न चाद्भुतो रसः, विस्मय प्रत्यक्ष्य हेतुत्वान् । न चातिशयोक्तिरलङ्कारः, अध्य-
वसायाभावात् । न च भ्रान्तिमान्, भूतभाविनो भूतभावितयैव प्रकाशनात् ।

न च स्वभावोक्तिः, तस्य लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मस्वभावस्यैव यथावद्दर्शनं स्वरूपम्; अस्य तु वस्तुनः प्रत्यक्षायमाणस्वरूपो विच्छित्तिविशेषोऽस्तीति ।

यदि पुनर्वस्तुनः क्वचित्स्वभावोक्तावप्यस्या विच्छित्तेः सम्भवस्तदोभयो-
सङ्करः ।

‘अनातपत्त्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्त्रैरिव सर्वतो वृतः ।

अचामरोऽप्येव सदैव वीज्यते विलासवालव्यजनेन कोऽप्ययम् ॥’

अत्र प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनान्नायमलङ्कार, वर्णनावशेन प्रत्यक्षायमाणत्व-
स्यैव स्वरूपत्वात् ।

महर्षि भगवत् का अति प्राचीन रूप प्रत्यक्ष सा दिखाई देने लगता है । इसी प्रकार ‘आसीदञ्जनमत्रेति’ आदि में ‘भाविक’ का जो दर्शन होता है उसमें किसी रमणी की भूतकाल किंवा भविष्यकाल से सञ्चल अलौकिक रमणीयता का स्पष्टतया साक्षात्कार होने लगता है ।

‘भाविक’ एक अलङ्कार है—वाच्यवैचित्र्य अथवा वर्णनवैचित्र्य है । इसे ‘प्रसाद’ गुण में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता क्योंकि ‘प्रसाद’ गुण से भूत और भावी वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति का कोई सन्ध नहीं माना जाया करता । ‘भाविक’ अलङ्कार ‘अद्भुत रस’ नहीं क्योंकि यह विस्मय का हेतु हो सकता है (और अद्भुत रस ऐसा हुआ करता है जिसे अभिव्यक्त विस्मयरूप कहा गया है) । इसे ‘अतिशयोक्ति’ रूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ (भूत अथवा भावी वस्तु में, प्रत्यक्ष वस्तु के) किसी प्रकार के ‘अध्यवसाय’ की कोई सम्भावना नहीं (जब कि ‘अतिशयोक्ति’ में अध्यवसाय अथवा तादात्म्य प्रतीतिरूप अतिशय ही सब कुछ हुआ करता है) । ‘भाविक’ में ‘भ्रान्तिमान्’ की भी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहाँ भूत वस्तु भूत वस्तु के ही रूप में और भावी वस्तु भावी वस्तु के ही रूप में प्रकाशित हुआ करती है (यहाँ ऐसा कभी नहीं होता कि भावी वस्तु में भूतता अथवा भूत वस्तु में भाविता का प्रकाशन हो) ।

‘भाविक’ वस्तुतः ‘स्वभावोक्ति’ से भी भिन्न रूप का अलङ्कार हुआ करता है क्योंकि जहाँ ‘स्वभावोक्ति’ में लौकिक वस्तु के सूक्ष्म धर्म का यथावद् वर्णन अभिप्रेत है वहाँ ‘भाविक’ में वस्तु के ऐसे वर्णन का वैचित्र्य रहा करता है जिससे वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत हुआ करती है । यह दूसरी बात है कि जहाँ तहाँ सूक्ष्म-सुभग वस्तु स्वभाव-वर्णन (स्वभावोक्ति) में ‘भाविक’ (वस्तुस्वभाव की प्रत्यक्षायमाणता) का भी पुट दिया गया हो । किन्तु जहाँ कहीं भी ऐसी बात हो वहाँ ‘स्वभावोक्ति’ नहीं अपि तु ‘स्वभावोक्ति’ और ‘भाविक’ का ‘सङ्कर’ ही मानने योग्य है ।

‘भाविक’ के उपर्युक्त स्वरूप की दृष्टि से यदि निम्नलिखित सूक्ति अर्थात्—

‘राजच्छत्र के बिना भी ये ऐसे लगते हैं जैसे चारों ओर से श्वेत राजच्छत्र से घेरित हों और बिना चँवर के भी ये ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे चतुर्दिक् से चँवरों द्वारा सुशोभित हों—भला ऐसा महापुरुष और कौन है ?’

को देखें, तो यह निःसंदिग्ध है कि यहाँ ‘भाविक’ की कोई सम्भावना नहीं हो सकती ।

यत्पुनरप्रत्यक्षायमाणस्यापि वर्णने प्रत्यक्षायमाणत्वं तत्रायमलङ्कारो भवितुं युक्तः, यथोदाहृते 'आसीदञ्जनम्'—इत्यादौ ।

कारण यह है कि 'भाविक' वहाँ नहीं हुआ करता जहाँ किसी प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने वाली वस्तु का वर्णन किया जाया करता है (जैसा कि यहाँ स्पष्ट है) अपितु वहाँ हुआ करता है जहाँ कवि के वर्णना-वैचित्र्य से भूत अथवा भावी वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति हुआ करती है। कवि की वर्णना-वैचित्र्य से अप्रत्यक्ष वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति में ही 'भाविक' की रूपरेखा रहा करती है जैसा कि 'आसीदञ्जनमत्रेति' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में स्पष्ट है ।

विमर्श—(क) 'भाविक' प्राचीन आल्ङ्कारिक-मान्यता का एक अलङ्कार है । आचार्य मामह ने इसका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

‘भाविकत्वमिति प्राहु प्रबन्धविषय गुणम् । प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथाया स्वभिनीतता । शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतु प्रचक्षते ॥’
(भाष्य - काव्यालङ्कार ३ ५२-५३)

आचार्य मामह की यह मान्यता आचार्य उद्भट्ट द्वारा भी प्रमाणित है—

‘प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः’ । अत्यद्भुता स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम् ॥’
(अलङ्कारसारसंग्रह : ६ १२)

‘भाविक’ के सम्बन्ध में इन विचारधारार्यों का विशदीकरण ‘अलङ्कारसर्वस्व’ कार ने इस प्रकार किया है—

‘अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् । अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरयंयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद् व्यस्तसम्बन्धरहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् । कविगतो भाव आशय श्रोतरि प्रतिविम्बत्वेनास्तीति, भावो भावना वा पुनः पुनश्चेतसि निवेशन सोऽत्रास्तीति । न चैवं भ्रान्तिः, भूतभाविनो भूतभावितयैव प्रकाशनात् । नाऽपि रामोऽभूदिति वस्तुमात्रम् । भूतभाविगतस्य प्रत्यक्षत्वादिगतस्य धर्मस्य स्फुटस्याधिकस्य प्रतिलम्भात् । नापीयमतिशयोक्तिः, अन्यस्यान्यतयाऽप्यवसाया-भावात् । न हि भूतभाव्यभूतभावित्वेनाप्यवसीयते, अभूतभावि वा भूतभावित्वेनापि, प्रत्यक्षमप्रत्यक्षगतत्वेन, अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षत्वेन ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०३ २२४)

अर्थात् ‘भाविक’ की पृथक् अलङ्काररूप में मान्यता इन्हींसे अनिवार्य है क्योंकि यही वह वाच्यवैचित्र्य है जिसमें कवि हृदयगत भाव अथवा अभिप्राय सदृश्य-दृश्य में प्रतिविम्बित हुआ करता है । ‘भाविक’ को इसलिये भी ‘भाविक’ कहा जाया करता है क्योंकि इसी में वह सामर्थ्य है जिसमें सदृश्य हृदय वर्ण्य वस्तु की ‘भावना’ करने में समर्थ हुआ करता है । कवि के हृदयगत अभिप्राय के सदृश्य हृदय में प्रतिविम्बित होने अथवा कवि-वर्णित वस्तु की सदृश्य-दृश्य द्वारा ‘भावना’ किये जाने का जो कारण है वह एक ऐसा वर्णना-वैचित्र्य है जिससे अतीत और अनागत अथवा भूत और भावी वस्तु का ऐसा अनुभव हुआ करता है जो भावनाप्रत्यक्षरूप अनुभव है और एक अलौकिक अनुभव है । सदृश्य-दृश्य में इस अलौकिक अनुभव की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब कि कवि की शब्दार्थ-योजना में प्रमाद हो और कवि-वर्णित वस्तु में विस्मयजनकता की शक्ति हो । भूत अथवा भावी वस्तु की ‘भाविता’ भ्रान्ति नहीं अपितु एक अलौकिक माशालार है जो कवि और सदृश्य के हृदय की एक विशेषता है । ‘भूत अथवा भावी वस्तु में ऐसा कोई विशेषता नहीं जिसमें वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगे ।’ वह तो कवि प्रतिमा है जो अपनी शब्दशक्ति में भूत और भावी वस्तुओं का प्रत्यक्ष कराया करती है और सदृश्य हृदय में समतत्त्वात् सदृश्य

किया करती है। 'भाविक' एक सर्वोत्तीर्ण अलङ्कार है, ऐसा अलङ्कार है जिसका स्वरूप अन्य अलङ्कारों में नहीं देखा जा सकता।

यह 'भावना' क्या है जो 'भाविक' की कल्पना का आधार है—इसके सम्बन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व'-कार ने यह विचार किया है—

'केवलवस्तुप्रत्यक्षत्वे प्रतिपत्तुः सामग्री उपयुज्यते। सा च लोकयात्रायां चक्षुरादीन्द्रिय-स्वभावा, योगिनामतीन्द्रियार्थदर्शने भावना वस्तुगत्याश्रयश्रुतत्वप्रयुक्ता। अत्यश्रुतानां च वस्तूनामादरप्रत्ययेन हृदि सन्धार्यमाणत्वात्'। (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २२५)

अर्थात् 'भाविक' के रूप में कवि का जो वस्तु वर्णन-विविचित्र है वह वस्तुतः कवि की 'भावना' शक्ति के ही कारण है। कवि की 'भावना' की भाँति सहृदय की भी 'भावना' होती है। कवि और सहृदय की 'भावना' एक अलौकिक, अतीन्द्रिय, योगजप्रत्यक्षवत् प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें भूत और भावी वस्तु, अपने-अपने काल से अवच्छिद्य रूप में ही, प्रत्यक्षवत् प्रतीत हुआ करती है। 'भावना' वस्तुमात्र की नहीं हो सकती अपि तु उसी वस्तु की हुआ करती है जिसके प्रति कवि के हृदय में विस्मयावेश उत्पन्न हुआ करता है। विस्मय से आविष्ट कवि-हृदय में जो वस्तु प्रवेश करती है उसमें एक अलौकिक चमत्कार रहा करता है। सहृदय-हृदय जब ऐसी वस्तु की 'भावना' करता है तब उसे भी वह वस्तु चमत्कारजनक लगा करती है और वह उसमें एकनान हो कर रमने लगता है।

वत्रि किसी वस्तु की 'भावना' को ऐसे शब्दों में ही प्रकाशित करने पर 'भाविक अलङ्कार'-की रचना कर सकता है जो कि 'अनाकुल' ही अथवा प्रसाद गुण से पूर्ण हों। 'अलङ्कारसर्वस्व' विमर्शिनीकार ने इसीलिये कहा है—

'यद्यपि वाचामाकुलत्व सर्वत्रैव वर्जनीयम्, तथापि तत्तत्र वैपरयेणार्थाविशेषात् प्रतीते विघ्नमात्रफलम्। इह तु तदाकुलत्वेनातीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वमेव न स्यात् इति प्राधान्येनैतदुक्तम्। एवमनेन हेतुद्वयेन (अलौकिकत्वेन, वाचामनाकुलत्वेन च) अस्यालङ्कारत्वमुक्तम्। इह हि केचिदर्थः कविवचसि सुस्पष्टमधिरूढा वाच्यवाचकयो रामणीयक-मित्युक्तम्। अत एवैकस्यापि रामणीयकहानौ नास्यालङ्कारत्वम्। इह हि केचिदर्थः कविवचसि सुस्पष्टमधिरूढा अपि निजसौभाग्याभावात्तृणशर्करावत् सहृदयानामवज्ञा-स्पदतया नावधानार्हाः। केचिच्च सुभगा अपि दुर्भगशब्दोपारोहितया सहृदयानामना-वर्जका एवेत्युभयमपीहावश्यमाश्रयणीयम्।' (अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी, पृष्ठ २२४)

अर्थात् वेसे तो प्रसादपूर्णता सबत्र अपेक्षित है किन्तु 'भाविक' में इसे अत्यन्त आवश्यक माना गया है। कारण यह है कि प्रसाद के अभाव में भूत और भावी वस्तु का ऐसा वर्णन जिसमें वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत हो उठे, असंभव है। वस्तुन वाणी की अनाकुलता और वर्ण्य वस्तु की विस्मयजनकता ही 'भाविक' की कल्पना का कारण है। जिसे शब्द और अर्थ की रमणीयता कहा करते हैं उसका अभिप्राय कवि-वर्णित वस्तुओं का कवि प्रयुक्त शब्दों में स्पष्टतया झलक उठना है। बहुत सी ऐसी भी वस्तुयें हैं जो कवि की शब्दार्थ योजना में स्पष्ट झलका करती हैं किन्तु उनमें, अपना कोई सौन्दर्य न होने से, सहृदय-हृदय के आवर्जन की शक्ति नहीं रहा करती और इस लिये वे सहृदय का-य-पाठक द्वारा उसी भाँति हीय समझी जाया करती हैं जिस भाँति तिनके में सटी मिश्री। ऐसी वस्तुओं के वर्णन में 'भाविक' की संभावना नहीं हुआ करती। 'भाविक' की संभावना वहाँ भा नहीं है जहाँ वर्ण्य वस्तु तो सुभग-सुकुमार हो किन्तु रचना सौभाग्यहीन हो। इसीलिये, 'भाविक' के लिये दोनों की अपेक्षा है—सूक्ष्म सुभग वस्तु-स्वभाव की और अना-कुल अथवा प्रसादपूर्ण शब्दार्थ योजना की भी।

(६८—उदात्तालङ्कार)

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।

यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥ ९४ ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

(लोकोत्तर वैभव-वर्णनरूप 'उदात्त'

'अध' कृताम्भोधरमण्डलानां यस्यां शशाङ्कोपलकुट्टिमानाम् ।

(ख) साहित्यदपाका ने 'अनातपत्रोडि' आदि ने 'भाविक' की रूपरेखा दी जो अमभावना निर्दिष्ट की है उसे 'अङ्गारमर्वत्' (पृष्ठ २२९ २३०) की इस ठीकी के पर्यालोचन से स्पष्टनया समझा जा सकता है—

'अयं खत्र विचारलेशः सम्भवति—इह कचिद् वर्णनीयस्य वर्णनावशादेव प्रत्यक्षायमाणत्वम्, कचित् प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनम् । आद्यो यथोदाहृतं प्राक् (मुनिर्जयतीत्यत्र) । द्वितीयो यथा—'अनातपत्रेऽप्ययमत्र ' इति । अत्र प्रथमप्रकारविषयोऽयमलङ्कारो न प्रकारान्तरगोचरः । कविमर्मितानां धर्माणां शृङ्खलारत्नात् । न हि माशुलावण्यादीनामिव वस्तुसन्निवेशिनाम् । अपि च 'शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुप्रचक्षते' इति आमहीये, 'वाचामनाकुलत्वेनापि भाविक' मिति चोद्भटलक्षणे व्यस्तसवन्धरहितशब्दमदभंस-मर्पितत्वं प्रत्यक्षायमाणत्वप्रतिपादकं कथं प्रयोजनीयमेव, यदि वस्तुसन्निवेशधर्मिगतत्वेनापि भाविक स्यात् । तस्माद् वास्तवमेव महत्त्वमुत्तरत्र प्रकारविषये वर्णितमिति नायमलङ्कारः । यदि तु वस्तवमेवात्र सौन्दर्यं कविनिश्चय कविनिश्चयवृत्तिवृद्धि वा सकलवस्तुगोचरीभूत स्वभावोक्तिविलङ्कारतया वर्ण्यते तदायमपि प्रकारो नातीव दुःश्लिष्टः । अत एव 'प्रत्यक्षा एव यत्रार्था क्रियन्ते भूतभाविनः । तदभाविन्' इति पूर्वमन्येर्भाविकलक्षण-

व्योत्सन्नानिपातात्क्षरता पयोभिः केलीवन वृद्धिमुरीकरोति ॥'

(अङ्गभूत उदात्तचरित का वर्णनरूप 'उदात्त')

'नाभिप्रभिन्नाम्बुरुहासनेन सस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।

अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः सहस्य लोकान् पुरुषोऽधिगते' ॥'

की बनी फर्श चाँदनी के स्पर्श से जलधारा बहाया करती हैं जिससे क्रोडावन सदा लहलहाते रहा करते हैं ।'

[यहाँ यह स्पष्ट है कि कवि ने वर्ण्य नगरी की ऐसी संपत्ति का वर्णन किया है जिसे लोक में देखना असंभव है । यही उदात्त-वर्णन यहाँ का अलङ्कार है जिसे 'उदात्त' अलङ्कार कहा करते हैं ।]

'सीते ! यही वह समुद्र है जिसमें नाभिकमलयोनि (भगवान् विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से जन्म लेनेवाले) आदि ब्रह्मा द्वारा पूजनीय परमपुरुष (भगवान् विष्णु) जगत् के प्रलय के बाद, योगनिद्रा में निलीन हुये, शयन किया करते हैं ।'

(रघुवंश १३-६)

[यहाँ महाकवि कालिदास ने भगवान् विष्णु का जो वर्णन किया है जो कि एक महनीय किंवा उदात्त चरित-वर्णन है वह समुद्र-वर्णन के अङ्गरूप से रहने के कारण, 'उदात्त' अलङ्कार का एक सुन्दर निदर्शन घन गया है ।

विमर्श—(क) 'उदात्त' शब्द का ही अर्थ समृद्धिमत् वस्तु है और साथ ही साथ महनीय-चरित भी 'उदात्त' ही कहा जाया करता है । जिस वस्तु का वर्णन ऐसा हुआ करता है जिससे उसकी अलौकिक विभूतियों का अभिव्यञ्जन हो, उसमें 'उदात्त' अलङ्कार की मान्यता स्वाभाविक ही है । इसी प्रकार किसी महनीय पुरुष का ऐसा वर्णन जिससे किसी प्रस्तुत वस्तु की महनीयता प्रतीत हुआ करे, 'उदात्त' अलङ्कार की ही रूपरेखा है । 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसी-लिये कहा है—

'स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनम् । तद्विपक्षेनारोपितवस्तुवर्णनात्मन उदात्तस्यावसरः । तत्रासमाध्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्य-लक्षणमुदात्तम् । ..'

'महापुरुषाणामुदात्तचरितानामङ्गिभूतवस्त्वन्तराङ्गभावेनोपनिबध्यमानं चरितं चोदात्तम् । महापुरुषचरितस्योदात्तत्वात् ।' .. (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २३०)

अर्थात् जैसे यथावस्थित वस्तु के एक प्रकार के वर्णन में 'स्वभावोक्ति' और दूसरे प्रकार के वर्णन में 'भाविक' अलङ्कार का अनुसंधान किया जाया करता है वैसे ही कविकल्पित वस्तु के वर्णन में 'उदात्त' की कल्पना स्वाभाविक ही है । अलौकिक समृद्धि से सम्पन्न वस्तु का वर्णन कविप्रतिभोत्थापित ऐश्वर्य का वर्णन है और यही 'उदात्त' अलङ्कार है । उदात्त महापुरुष के वर्णन से यदि किसी अन्य वर्ण्य वस्तु की उदात्तता प्रकाशित हो तो वहाँ भी 'उदात्त' अलङ्कार का ही चमत्कार रहा करता है ।

(ख) 'अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी'कार ने अङ्गभूत महापुरुष-वर्णन में 'उदात्त' का स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट किया है—

'अङ्गिभूतस्य वस्तुनो महापुरुषचरितमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषयाऽङ्गतयोपनिबध्यमानमेतदलङ्काराङ्गम्, न तूपलक्षणपरतयोपात्तमिति तात्पर्यार्थः । तच्च यथोदाहृतम् ('तद्विदमरण्य यस्मिन् दशरथवचनानुपालनम्यसनी । निवसन् बाहसहायश्चकार रघुः क्षयं रामः'

(६९—रसवत्, ७०—प्रेय, ७१—ऊर्जस्वि, ७२—समाहित)

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रथमस्तथा ।

गुणोभूतत्वमायान्ति यदाऽलङ्कृतयस्तदा ॥ ६५ ॥

रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमिति क्रमात् ।

तदाभासौ रसाभासौ भावाभासश्च । तत्र रसयोगाद्रसवदलङ्कारो यथा—
'अयं स रसनोत्कर्षी—' इत्यादि ।

'कश्चिन्नान्नाविरहगुरुणा स्वाधिकाराप्रमत्तः शापेनान्तगमितमहिमा वर्षभोगेण भर्तु ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयात्तानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायात्स्वेषु वसति रानगिर्याश्रमेषु ॥'
अत्राङ्गिनो गिरिविशेषस्य वसतियोग्यत्वादिदर्शनार्थमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषया रामसीता-
दिचरितमुपलक्षणपर तत्र नायमलङ्कारः ।

यथा—

'गोदावर्या करिकुलमदकोदकोदकाया पारे पारे वत वत परामृश्यतामृष्यमृक ।
कङ्कालादौ पिहितगगने दुन्दुभेर्यत्र राम पादाहुष्ट निजमपि भवद्वेषत निर्ममेऽस्तम् ॥'
अत्र पवन प्रति वियोगिन्या उत्कौ रामचरितमुपलक्षणमात्रपरम् । न तद्वन्मूत्रेतादृश
कश्चिद् विशेषो विवक्षितः ।

'अत्रामीतु फणिपाशवन्धनविधिं दाक्षया भवदेवरे
गाढ वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणादिरन्नाहतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापित—
स्तस्याप्यत्र मृगालि । राक्षसपते कृत्ता च द्रष्टाद्यौ ॥'

इत्यत्र तु रामस्य सीताप्रयुक्तापुपलक्षणीभूतदेशविशेषपाशवन्धनाद्येव साक्षाद्विवक्षित-
मिति न महापुरुषचरितस्य वस्त्वन्तरं प्रत्यङ्गभाव इति नायमलङ्कारः ।

(१८ त्वा नरेन्द्रीविमाना, ६४ २३१)

अर्थात् 'अपभ्रूतमहापुष्पवर्ण' रूप उदात्त इत्यादिषु उदात्त वा एक प्रकार माना गता । तद्वि-
रक्तके द्वारा अतिरूप वर्ण्य वस्तु के उदात्त वा प्रकाशन किया जाना करता । 'रस' से
जहाँ कहा ऐसा महापुष्प का वर्णन हो, जो कि वर्ण्य वस्तु का उदात्त प्रकाशन करने पर, उत्तम
उपलक्ष्यमान्य अर्थात् समुच्चलना लगा करे वहाँ 'उदात्त' का बोध सम्भारना नही होता चाहे ।
'कश्चिन्नान्ता' आदि सूत्रों में महापुष्प वर्णन करने के विस्तृत विवरण दिये गए हैं रस का
वैभव प्रकाशन करने के लिए वर्ण्यवस्तु का उदात्त होना । अतः रस सूत्रों में उदात्त
का अनुपपन्न प्रमाण है ।

जिसे उदात्त अलङ्कार का दोषात्मकता का दर्शन करने में हमारे लिये आवश्यक है कि
उस के 'नवम' आदर्शों में श्री महाप्रकाश के द्वारा उदात्त वर्ण्य वस्तु का उदात्त प्रकाशन करने का

अनुवाक—'रसवत्', 'प्रेय', 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' वे अलङ्कारों के चार प्रमाण
'रस', 'भाव', 'रसाभास-भावाभास' तथा 'भावप्रपन्न' को अलङ्कारों में अवस्थित माना जाता
जाया करता है ।

यहाँ कारिका में 'तदाभासौ' का अर्थ प्रायः 'रसाभास' और 'भावाभास' दोनों का है ।
इन चारों अलङ्कारों में, 'रसवत्', जिसमें अलङ्कार में अवस्थित रस रखा जाता है, रस
वृत्ति में स्पष्ट है—

'अयं स रसनोत्कर्षी (रसनरतनाचमदन । नाभ्युज्ज्वलरसदीपिनीदिगमनं पर ॥)

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् । एवमन्यत्रापि । प्रकृष्टप्रियत्वात्प्रेयः ।

यथा मम—

‘आमीलितालसविवर्तिततारकाक्षीं

मत्कण्ठबन्धनदरश्लथबाहुवल्लीम् ।

प्रस्वेदवारिकणिकाचितगण्डविम्बां

संस्मृत्य तामनिशमेति न शान्तिमन्तः ॥’

अत्र संभोगशृङ्गारः स्मरणाख्यभावस्याङ्गम् । स च विप्रलम्भस्य । ऊर्जो बलम्, अनौचित्यप्रवृत्तौ तदत्रास्तीत्यूर्जस्वि ।

यथा—

‘वनेऽखिलकलासक्ता’ परिहृत्य निजबिभ्य’ ।

त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम् ॥’

अत्र शृङ्गाराभासो राजविषयकरतिभावस्याङ्गम् । एवं भावाभासोऽपि । समाहितं परिहारः ।

यहाँ ‘रसवत्’ इसलिये है क्योंकि यहाँ ‘शृङ्गार’ रस ‘करुणरस’ के अङ्गरूप से उपनिबद्ध है (अङ्गरूप से इसलिये क्योंकि यहाँ कवि ‘करुण’ की अभिव्यञ्जना में दत्तचित्त है और उसी की उत्कट उद्दीप्ति के लिये ‘शृङ्गार’ का आधान कर रहा है) ।

इसी प्रकार अन्य रसों की अङ्गता में भी ‘रसवत्’ अलङ्कार यत्र तत्र स्वयं देखा जा सकता है ।

‘प्रेय’, जिसे काव्याचार्यों का अत्यधिक आवर्जक अथवा सहृदय का अत्यधिक मनोरञ्जक अलङ्कार कहा करते हैं, निम्न स्वरचित सूक्ति में दिखायी दे रहा है—

‘अधखुली, अलसायी किं वा कनीनिका की चञ्चलता से भरी आँखों वाली, मेरे द्वारा आलिङ्गित होने पर प्रत्यालिङ्गन में शिथिल भुजलता वाली, कपोलों पर पसीने की धूँदें झलकाती, उस सुन्दरी की जब याद आती है तो मेरा हृदय, रह-रह कर, उद्विग्न हो उठता है ।’

यहाँ ‘प्रेय’ अलङ्कार इसलिये है क्योंकि यहाँ जो ‘संभोगशृङ्गार’ उपनिबद्ध है वह ‘स्मृति’ रूप भाव का अधिकाधिक परिपोषक होने से अङ्गरूप में ही उपनिबद्ध है । और यह ‘स्मृति’ रूप व्यभिचारिभाव, अन्ततोगत्वा, यहाँ के अङ्गिरस ‘विप्रलम्भशृङ्गार’ के उत्कट रूप से उद्दीपक होने के कारण, अङ्गरूप से ही उपनिबद्ध पड़ा है ।

‘उर्जस्वी’, जिसका अभिप्राय वह ‘अलङ्कार’ है जिसमें अनौचित्य प्रवृत्त रस और भाव (रसाभास और भावाभास) रूप ‘ऊर्ज’ अथवा ‘बल’ विद्यमान रहा करता है, इस सूक्ति में दर्शनीय है—

‘राजन् ! जगलों के भील, अपनी-अपनी कलावती स्त्रियों को छोड़ कर, अब आपकी शत्रु-रमणिओं के प्रेम में पागल हो रहे हैं ।’

यहाँ ‘ऊर्जस्वि’ अलङ्कार इसलिये है क्योंकि यहाँ राजविषयक ‘रति’ भाव के अङ्गरूप से अवस्थित ‘शृङ्गाराभास’ का ‘ऊर्ज’ अथवा बल स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । इसी प्रकार राजादिविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से उपनिबद्ध ‘भावाभास’ रूप ‘ऊर्ज’ के कारण जो ‘ऊर्जस्वी’ अलङ्कार हुआ करता है उसका उदाहरण स्वयं देखा जा सकता है ।

यथा—

‘अविरलकरालकन्यनेर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।

ददृशे तव वैरिणा मम स गत कापि तत्रेक्ष्येक्षणात् ॥’

अत्र मगख्यभासस्य प्रथमो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

‘समाहित’, जिसे किसी भाव के परिहार या प्रशमन (भावशान्ति अथवा भाव की प्रशम्यदवस्था) के अङ्गरूप से उपनिबन्ध में देखा जाया करता है, इस सूक्ति में स्पष्ट है—

‘राजन् । आपके शत्रुओं का वह मद जो कि पहले, उनकी तलवारों के चमकाने और मौंहों के तरेरने और तर्जन गर्जनमें दिखाई पड़ता रहा, अब, आपके सामने आने पर, पता नहीं, जगभर में कहाँ गायब हो गया ।’

यहाँ ‘समाहित’ अलङ्कार इसलिये है क्योंकि राजविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से उपनिषद् ‘मद’ की प्रशम्यदवस्था (भावशान्ति) का सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श— क) रसव्यादि अलङ्कारचतुष्टय का निरूपण साहित्यदर्पणकार ने इमालिये किया है जित्तमें ‘काव्यप्रकाशकार’ से उनकी नवानता झलक उठे । काव्यप्रकाशकार ने तो ‘रसवत्’ भादि को अलङ्कार ही नहीं माना है क्योंकि उनकी दृष्टि में रसध्वनिवादी आनन्दवर्धनाचार्य की यह मान्यता सर्वथा शिरोधार्य है कि रस, भाव आदि ‘अलङ्कार्य’ हैं ‘अलङ्कार’ नहीं । रस, भाव आदि की अङ्गरूप से योजना ‘गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य’ का विषय है न कि ‘अलङ्कार’ अथवा वाच्य-वाचक वैचित्र्य का । काव्यप्रकाशकार के अनुसार ‘रसवत्’, ‘प्रेय’, ‘ऊर्जस्वि’ और ‘समाहित’ ‘अपराङ्गव्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य’ के रूप हैं । साहित्यदर्पणकार भी रसध्वनिवादी आचार्य हैं और ‘गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य’ के अपराङ्गव्यङ्ग्य रूप प्रभेद में ‘रसवत्’ आदि को अन्तर्भूत सा भी दिखा चुके हैं जैसा कि इन पंक्तिओं से स्पष्ट है—

‘इतरस्य रसादेरङ्ग रसादिव्यङ्ग्यम् ।

यथा—

‘अथ स रसनोरुर्ध्वं पीनस्तनविमर्दनं । नाभ्यूरुजघनस्पर्शं नीवीविस्रसनं कर ॥’

अत्र शृङ्गार करुणस्याङ्गम्’

किन्तु अलङ्कारनिरूपण के प्रसङ्ग में पुन ‘रसवत्’ आदि का अलङ्काररूप में प्रदर्शन करना कुछ विचित्र सा लगता है । वस्तुतः साहित्यदर्पणकार ने यहाँ अलङ्कारसर्वस्व’ और विमर्शिनी’ की विचारधाराओं का अनुसरण किया है ।

(८) ‘अलङ्कारसर्वस्व’ की विधान्धाता यह है—

‘रसभावतदाभासतत्प्रशमाना नियन्धनेन रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि समाहितानि ।’

‘चित्तवृत्तिविशेषम्बभावकाद्य रसादीनामिह तद्वदलङ्काराणा प्रस्ताव । अत एव चत्वारोऽङ्गहारा युगपद्वर्णिता । तत्र विभावानुभावस्यभिचारिभि प्रकाशिनो रसादि-चित्तवृत्तिविशेषो रस । भावो विभावानुभावस्या सूचिनो निर्वशद्विषयस्त्रिगद्गद् । देशादिविषयश्च रसादिर्भाव । तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च । आभासरसनविषय-प्रवृत्त्यानौचित्यम् । तत्प्रथम उत्तरहाराणा नियतमानत्वेन प्रशम्यदवस्था । तत्रापि रसस्य परविश्रान्तिरूपत्वात् सा न समवति इति परिशिष्टभेदविषयो द्रष्टव्य । एषानुनियन्ध-प्रमेण रसवदादयोऽङ्गहारा । रसो विषये यत्र नियन्धने ध्यापारात्मनि तद्रसवत् । म्रियतर प्रेयो निदन्धनमेव द्रष्टव्यम् । एवञ्च यत्न विचिन्ते यत्र, तदपि नियन्धनमेव । अनौचित्यप्रवृ-त्तत्वाद् यत्र यत्नयोग । समाहित परिहार । स च प्रकृत्यानुकूलभेदविषय प्रशानावरपर्याय ।’

(अलङ्कारसर्वस्व . पृष्ठ २३२ = ३३)

अर्थात् विभावादि द्वारा अभिव्यक्त रत्यादिरूप चित्तवृत्तिविशेष तो 'रस' है और जिसे 'रसवत्' अलङ्कार कहा करते हैं वह कवि की एक विचित्र वर्णना है जिसमें 'रस' रहा करता है। इसी प्रकार 'प्रेय', 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' भी इसीलिये अलङ्कार हैं क्योंकि ये भी कवि के ऐसे वर्णना-वैचित्र्य-रूप हैं जिनमें 'भाव' 'रसामास-भावामास' तथा 'भावप्रशम' रहा करते हैं।

यहाँ सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है, जैसा कि 'विमर्शिनी'कार की इस उक्ति में स्पष्ट है—

‘ननु च परविश्रान्तिरूपस्य काव्यात्मनोऽलङ्कार्यस्य रसस्य कथमलङ्कारत्वं सङ्गच्छते ।’

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृष्ठ २३३)

किं जव कि 'रस' एकघन आत्मविश्रान्तिरूप और काव्य के आत्मनस्वरूप होने के कारण 'अलङ्कार्य' है तब इसे 'अलङ्कार' क्योंकि कहा जा सकता है? इसका उत्तर 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने यह दिया है—

‘तत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलङ्काराः, तत्राङ्गभूतरमादिविषये द्वितीय (महापुरुषचरितेश्वर्यवर्णनरूपः) उदात्तालङ्कारः । यन्मते त्वङ्गभूते रसादिविषये रसवदाद्यलङ्काराः अन्यस्य रसादिध्वनिना व्याप्तत्वात्तत्रोदात्तालङ्कारस्य विषयो नावशिष्यते, तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्तत्वात् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २३३)

अर्थात् 'ध्वन्यमाववाद' और 'ध्वनिवाद' दोनों की दृष्टि से 'रसवत्' अलङ्कार की मान्यता सिद्ध है। 'ध्वन्यमाववाद' में तो 'रसवत्' अलङ्कार वाक्यार्थीभूत अथवा अङ्गीरूप से अवस्थित 'रस' का ही नाम है क्योंकि अङ्गीरूप से उपनिबद्ध रस 'उदात्त' अलङ्कार के क्षेत्र का विषय बन जाता है। 'ध्वनिवाद' की दृष्टि में भा 'रस' के अतिरिक्त 'रसवत्' अलङ्कार की मान्यता आवश्यक है क्योंकि यदि अङ्गीरूप से अवस्थित रस काव्यात्मतत्त्व है, तब अङ्गीरूप से उपनिबद्ध रस को 'रसवत्' अलङ्कार के रूप में माना ही जा सकता है।

'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने उपर्युक्त 'रसवत्'-विमर्श पर यह परामर्श किया है—

‘अङ्गभूतस्य रसादेश्चालङ्कारत्वं युक्तम् । तथा च यावतोपमादीनां सर्वालङ्काराणां प्रकृत-पस्त्परञ्जकत्वमलङ्कारत्वे निबन्धनम्, अङ्गभूतेनापि रसेन तत् क्रियते एव, प्रकृतस्य रसादेस्तदुपस्कृतत्वेन भावात् । अतश्चोपमादीनामलङ्कारत्वे यादृश्येव वार्ता तादृश्येव रसादीनाम्, यद्यपि चोपमादयोऽर्थालङ्कारास्तथापि तस्य वाच्यार्थस्य विभावादिरूप तात्पर्य-पर्यवसनादप्रत्ययवसायित्वमेवेति काव्यात्मनोव्यङ्ग्यस्य रसादेरेव तदलङ्कार्यत्वम् । किं पुन-स्तस्य शब्दमुखेनोपस्कारका शब्दालङ्काराः, अर्थमुखेन त्वर्थालङ्काराः । तत्तदवयवगतैरपि हि कटकादिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनारमना तथालङ्क्रियते । तथा ह्यचेतन शवशरीरादिक कटकाद्यलङ्कृतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात् । अतश्च देह-द्वारेण सर्वत्रात्मैवालङ्कार्यः । एवमस्यापि शब्दार्थशरीरत्वात्तन्मुखेनैवालङ्कार्यत्वम् । तेन 'रसभावादित्तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् । अलङ्कृतीनां सर्वाणामलङ्कारत्वसाधनम् ।’ इति दशा रसाद्याश्रयेणैवालङ्काराणां विनिवेशन जीवितम् । अतश्चेहापि प्रकृतस्य वाक्यार्थीभूतत्वेन प्रधानस्य रसादेरुपस्कार्यस्याङ्गभावेन रसादेरलङ्कारत्व युक्तम् । यदाहुः—

‘प्रधानतां यत्र रसादयो गता रसो रसादिध्वनिगोचरो भवेत् ।

भवन्ति ते यत्र रसादिपोषका रसाद्यलङ्कारदशा हि सा पृथक् ॥’

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २३३)

अर्थात् अङ्गीरूप से विराजमान 'रस' को 'अलङ्कार्य' (काव्यात्मतत्त्व) और अङ्गभूतया अवस्थित 'रस' को 'अलङ्कार' मानना सर्वथा युक्तियुक्त है। जैसे प्रकृत वस्तु की उपरञ्जकता के कारण 'उपमा' आदि को 'अलङ्कार' कहा जाया करता है वैसे ही 'प्रकृत' रस की उपरञ्जकता के कारण अङ्गभूत रस को 'अलङ्कार' कहना उचित ही है। उपमा आदि अलङ्कार अर्थ के अलङ्कार हैं ननु उनके द्वारा जो अर्थ अलङ्कृत किया जाया करता है वह अन्त में रसाभिव्यञ्जक विभावादिरूप

में ही परिणत हो जाया करता है जिससे यह मानना आवश्यक हो जाता है कि उपमादि के द्वारा कान्यात्मभूत रसरूप 'अलङ्कार्य' ही अन्ततः अलङ्कृत किया जाता करता है। शरीर के कटक, कुण्डल आदि अलङ्कारों के सन्बन्ध में भी यही कथा जा नक्ना है कि वैसे तो भले ही उनके द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग अलङ्कृत प्रतीत हों किन्तु अन्ततोगत्वा 'व्यक्तित्व' ही अलङ्कृत हुआ करता है। अलङ्कार का रसापेक्ष होना ही उनका 'अलङ्कारत्व' अथवा वास्तविक स्वरूप है। इस दृष्टि ने वाक्यार्थभूत रस को 'अलङ्कार्य' और उनके उपरजक अथवा उदस्कारक (शोभाभायक) रस को 'अलङ्कार' मानना युक्तिमग्न ही है। तात्पर्य यह है कि प्रधान रस सदा 'अलङ्कार्य' है और रस की 'अलङ्कार' दशा वह है जिसमें एक रस प्रधानतया अभिव्यक्त्यर्थ दूसरे रस के परिपोषण के लिये पड़ा रहता है।

(ग) व्यभिचारी भावों की 'अपना' में उनका 'प्रेम' अलङ्कार होना स्वाभाविक है। व्यभिचारी भावों को तीन श्रेणियाँ हैं—१. वह, जिसमें 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव रसान्नि-
व्यञ्जन के साधनरूप से ही उपनिबद्ध दिखायी दिया जाने हैं, २. वह, जिसमें यदा-तदा 'निर्वेद'
आदि व्यभिचारी भाव स्वयं अभिव्यक्तरूप में प्रतीत हुआ करते हैं और ३. वह, जिसमें
'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव वर्ण्य विषय के अङ्कुर में अवस्थित होने के कारण, 'अलङ्कार'
(प्रेयोत्प्लार) के रूप में देखे जा सकते हैं। इन त्रैविभाग की व्यवस्था ने ही 'प्रेयोत्प्लार'
की मान्यता निर्विवाद सिद्ध है और इन प्रकार की सम्भावनाएँ—

'निर्वेदादीनां सर्वदैवाङ्गभावात् प्रेयोत्प्लारस्तद्व्यपेक्षो न वाच्यः ।
तस्मादेतेषां व्यङ्ग्यताया ध्वनित्वं न प्राधान्यं कापि यस्माद् भजन्ते ॥
एतेन भावप्रशमादयोऽपि व्यङ्ग्याः सदैव ध्वनिता प्रयान्ति ।
ध्वनित्वमिष्टं यदि तर्हि तेषु न लक्षणीयस्तु समाहितादि ॥'

निर्नूल हैं जैसा कि 'विनिर्गन्ती कार का कथन है।

(७३—भावोदय, ७४—भावसन्धि, ७५—भावशबलता)

भावस्य चोदये संधौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः ॥ ९६ ॥

तदाख्यका भावोदयभावसंधिभावशबलनामानोऽलङ्काराः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(भावोदय)

‘मधुपानप्रवृत्तास्ते सुहृद्भिः सह वैरिणः ।

श्रुत्वा कुतोऽपि त्वन्नाम लेभिरे विपमां वशाम् ॥’

अत्र त्रासोदयो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

तब ‘रसवत्’ का क्या अभिप्राय ? इसका अभिप्राय यह है—

‘रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्प्रविधानतः ।

योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्यादनिमित्तः ॥’

‘योऽलङ्कारः स रसवत्’ इत्यन्वयः । यः किल एवस्वरूपो रूपकादि, रसवदभिधीयते । किं स्वभावेन—‘रसेन वर्तते तुल्यम्’ । रसेन शृङ्गारादिना तुल्यं वर्तते, यथा प्राप्नोति वृत्तिरस्यैव । स रसवदलङ्कारः । कस्मात्—‘रसवत्प्रविधानतः’ । रसोऽस्यास्तीति रसवत् काव्यं तस्य भावस्वरूपम् ततः, सरसत्वसंपादनात् । ‘तद्विदाह्यादनिमित्तेश्च’ । तत्तु काव्यं विदन्तीति तद्विदः, तज्ज्ञारतेपामाह्यादनिमित्तेरानन्दनिष्पादनात् । यथा रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्यात् च विदधाति एवमुपमादिरप्युभय निष्पादयन् मिश्रो रस-वदलङ्कारः संपद्यते । यथा—

‘उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।

यथा समरतं तिमिराशुकं तथा पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ॥’

अत्र स्वावसरसमुचितसुकुमारस्वरूपयोनिशाशशिनोर्वर्णनाया” रूपकालङ्कारः समा-
शेषितकान्तवृत्तान्तः कविनोपनिबद्धः । स च श्लेषच्छायायामनेश्विशेषणवक्रभावात्
काव्यस्य सरसतामुल्लासयतद्विदाह्यादमादधानः स्वयमेव रसवदलङ्कारतां समासादि-
त्तवान् ।’ (वक्त्रोक्तिजीवित : ३५ उन्मेष)

अर्थात् ‘रसवत्’ कोई अतिरिक्त अलङ्कार नहीं, अपितु काव्य में रसवत्ता के आधायक उपमा,
रूपक आदि अलङ्कारों का ही एक रमणीय रूपविशेष है । जहाँ ‘उपमा’ काव्य में सरसता का
संपादन करे वहाँ उपमा ही ‘रसवत्’ होगी, जहाँ ‘रूपक’ आदि वहाँ रूपक आदि ‘रसवत्’ होंगे ।

अनुवाद—‘भावोदय’, ‘भावसन्धि’ और ‘भावशबलता’ वे अलङ्कार हैं जिन्हें क्रमशः
भाव की उदयावस्था, सन्ध्यवस्था और मिश्रणावस्था के उपनिबन्ध में देखा जा सकता है ।
यहाँ कारिका में ‘तदाख्यका’ का अभिप्राय भाव के उदय में ‘भावोदय’, सन्धि में
‘भावसन्धि’ और मिश्रण अथवा शबलता में ‘भावशबलता’ नामक अलङ्कारों का
अभिप्राय है ।

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

‘राजन् ! मिश्रगण के साथ मदिरापान में लगे आप के शत्रुगण, कहीं से आप का नाम
सुनते ही, बड़ी छुरी दश में पड़ गये ।’

यहाँ ‘त्रास’ के भाव की उदयावस्था का चित्रण है । यह ‘त्रासोदय’ वर्तुतः यहाँ
(कविनिष्ठ) राजविषयक रतिभाव के अङ्ग अथवा उपरकारवरूप से उपनिबद्ध है
और इसीलिये इसे ‘भावोदय’ अलङ्कार के रूप में देखा जाया करता है ।

(भावसन्धि)

‘जन्मान्तरीणरमणस्याङ्गसङ्गसमुत्सुका ।
सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥’
अत्रौत्सुक्यलज्जयोश्च संधिर्देवताविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

(भावशबलता)

‘पश्येत्कश्चिच्चल चपलः । रे । का त्वराह कुमारी
हस्तालम्बं वितर हहहा ! व्युत्क्रमः कासि चासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्ते
कन्या कश्चित्फलकिसलयान्याददानाभिघत्ते ॥’

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदेन्यविवोधौत्सुक्यानां शबलता राजविषयरति-
भावस्याङ्गम् ।

इह केचिदाहुः—‘वाच्यवाचकरूपालङ्कारणमुखेन रसाद्युपकारका एवालङ्काराः,
रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलङ्कारता भवितु युक्ता’ इति ।

‘भगवती पार्वती हमारा कल्याण करें जो कि अपने जन्मान्तर के पति (भगवान्
शङ्कर) के अङ्ग-स्पर्श के आनन्द के लिये उत्कण्ठित रहा करती हैं और अपने मन्वीचन्द्र
के समीप होने से लज्जित भी हुआ करती हैं ।’

यहाँ ‘औत्सुक्य’ और ‘लज्जा’ के (व्यभिचारी) भावों की जो सन्ध्यवस्था चित्रित
है वह (कविनिष्ठ) पार्वतीविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से ही चित्रित है (जिसमें
‘भावसन्धि’ अलङ्कार का सौन्दर्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है) ।

‘राजन् ! जगल में भगे बाप के किसी दादु राजा की राजकुमारी फल-फूल तोड़ती,
इस प्रकार किसी से बातचीत करती तुनाई पड़ा करती है—अरे ! कोई देख लेगा, व
यहा चचल है, जा परे हट, इनको जल्दो क्या है ? मे तो अभी कुमारी ही हूँ, अरे ! जरा
हाथ का मझारा दे, अरे ! क्या कर रहा है ? निधर चल पड़ा !’

यहाँ शङ्का, असूया, प्रति, नृत्ति, श्रम, दैन्य, विरोध और औत्सुक्य—इन भावों की
घायलता (परस्पर उपमय उपमर्शरूप में अवस्थिति) स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है
कि यह भावशयलता विग्रह यहाँ (कविनिष्ठ) राजविषयक रतिभाव के अङ्ग होने से
‘अलङ्कार’ (‘भावशयलता’ नामक अलङ्कार) के रूप में दिखाई दे रहा है ।

‘रमयत्’ आदि की अलङ्कार रूप में चरना के (लौचिय और अनौचिय के) मन्थन
में कतिपय वाक्यवाच्यों का यह ब्यपन है—

‘जिहें ‘अलङ्कार’ कहा करने हैं वे हमन्थिये ‘अलङ्कार’ हुआ करने हैं क्योंकि उनके
द्वारा वाच्य और वाचक (अर्थ और शब्द) में जोभा का आधान किया जाया करता है
जिसमें रम के उद्गम में मदायता मिला पड़ती है । हम दृष्टि ने देखने यह कैसे कहा
लाय कि ‘रम’ आदि ही, जो कि उगुन शब्द और वाचक में साहित्य वेशिप में भन्तून
किये जाया करते हैं (‘अलङ्कार’ हुआ करते हैं), ‘रमयत्’ आदि भन्तून-रूप में जाने
जा सकते हैं ?’

अन्ये तु—‘रसाद्युपकारमात्रेणोद्भूतलङ्कृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तनप्रसिद्धया-
ङ्गीकाय एव’ इति ।

अपरे च—‘रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कारत्व मुख्यतो रूपकादौ तु वाच्याद्युप-
गमम्, अजागलस्तनन्यायेन’ इति ।

अभियुक्तास्तु—‘स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरङ्गभूतै’ रसादिभिरङ्गिनो
रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्कृतिव्यपदेशो लभ्यते । समा-
सोक्तौ तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालङ्कृतिता, न त्वारवादरय, तस्योक्त-
रीतिविरहात्’ इति मन्यन्ते ।

अत्र एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

अन्य काव्यमर्मज्ञों का यह मत है—

‘रस आदि को ‘रसवत्’ आदि अलङ्कार इसलिये माना जा सकता है क्योंकि प्राचीन
आलङ्कारिकों की यही परम्परा रही है और साथ ही साथ ऐसा भी है कि (जब कि
रूपक’ आदि रस के उपकारक होने से अलङ्कार कहे जाया करते हैं तब) अङ्गभूत ‘रस’
आदि भी, यदि, अङ्गीरूप से अवस्थित रस आदि के उपकारक हों तो उपचारत ‘अलङ्कार’
ही कहे जाने योग्य हैं ।’

कुछ लोगों की विचारधारा यह है—

‘वस्तुतः तो ‘रसवत्’ आदि ही मुख्यतया ‘अलङ्कार’ माने जाने योग्य हैं क्योंकि रस
का उपकार मुख्यतः इन्हीं के द्वारा सम्भव है । इनके अतिरिक्त ‘रूपक’ आदि को जो
अलङ्कार कहा जाया करता है वह इसलिये क्योंकि ये साक्षात् तो वाच्य (अर्थ) आदि
के सौन्दर्याधायक हुआ करते हैं और परम्परया (उपचारत) ‘अजागलस्तनन्याय’ से
(बकरी के गले में लटकता मांस ‘स्तन’ न होने पर भी उसे ‘स्तन’ के आकार का होने
से ‘स्तन’ कहा जाया करता है वैसे ही उपकारकरणरूप आकार-साध्य से) ‘रस’ के
उपकारकारक अथवा उपस्कारक हुआ करते हैं ।

किन्तु प्रामाणिक लोगों की धारणा यह है—

‘अपने-अपने अभिव्यञ्जक वाच्य और वाचक (तथा वाच्य और वाचक के वैचित्र्य)
द्वारा उपस्कृत अथवा उपकृत ‘रस’ ‘भाव’ आदि को ‘रसवत्’ आदि अलङ्कारों का रूप
इसलिये दिया जा सकता है क्योंकि उनका कार्य अङ्गी अथवा प्रधान रूप से अवस्थित ‘रस’
‘भाव’ आदि के अभिव्यञ्जक वाच्य वाचक का उपस्कार अथवा उपकार ही हुआ करता है ।
जैसे ‘समासोक्ति’ में जो ‘अलङ्कारता’ है उसका अभिप्राय नायक नायिकादिगत व्यवहार
का समारोप-मात्र है न कि इस समारोप से उत्पन्न ‘आस्वाद’, क्योंकि यह आस्वाद यदि
हो भी तो, वाच्य वाचक का उपकारक न होने से, वदपि अलङ्काररूप नहीं हो सकता ।
(वैसे ही ‘रसवत्’ आदि में ‘अलङ्कारता’ का अभिप्राय अङ्गभूत रस द्वारा अङ्गी रस का
उपस्कारमात्र है और ‘अङ्ग-रस’ के ‘आस्वाद’ का अभिप्राय (अङ्गीरस के)—क्योंकि ‘रसवत्’
में अङ्गभूत रस भी आस्वाद है—अङ्गी रस के आस्वाद का, उसके अभिव्यञ्जक
वाच्यवाचक के उपस्कार द्वारा, अधिकाधिक उत्कर्षाधान-मात्र है ।’

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने इसलिये कहा है—

‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रत्नाद्य ।

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति ने मतिः ॥’

यदि च रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कृतित्वं तत्र वाचकादिष्वपि तथा प्रस-
ज्येत । एव च यत्र कैश्चिदुक्तम्—‘रसादीनामङ्गित्वे रसवदाद्यलङ्कार, अङ्गत्वे
तु द्वितीयोदात्तालङ्कार’ इति तत्रपि परास्त्वम् ।

‘जहाँ कोई रस, वस्तु अथवा अलङ्कृतिरूप वाक्यार्थ प्रधानतया प्रतीत हो वहाँ यदि
किसी ‘रस’ आदि की अङ्गरूप से अवस्थिति दिखायी पड़े तो इन अङ्गभूत ‘रस’
आदि को ‘अलङ्कार’ अथवा ‘रसवत्’ आदि अलङ्कार मानना उचित ही है ।’

इन दृष्टि से देखते कतिपय काव्याचार्यों का यह कहना कि ‘अलङ्कार’ होने का
अभिप्राय ‘रसादि का उपकारमात्र है वस्तुतः युक्तिसंगत नहीं क्योंकि तब तो ‘वाच्य-
वाचक’ भी ‘अलङ्कार’ कहे जायेंगे क्योंकि इनका कार्य रमादि के उपकारमात्र के अतिरिक्त
और क्या है ? अन्ततोगत्वा अलङ्काराचार्यों का यह कथन भी कि ‘जब रस आदि अङ्गीरूप
से अवस्थित रहा करते हैं तब उन्हें ‘रसवत्’ आदि अलङ्कार कहा जाया करता है और जब
कि वे अङ्गरूप से ही रह जाते हैं तब उन्हें ‘उदात्त का द्वितीय प्रकार माना जाया करता
है’ सर्वथा खण्डित हो सिद्ध होता है ।

विमर्श—(क)। ‘रसवत्’ आदि अलङ्कारवृत्तियों को जहाँ अङ्गोद्देश यदि तीन अलङ्कारों
की मान्यता प्राचीन अलङ्कारवादो परम्परा की मान्यता है । ध्वनिवादो आचार्य रसक और
चन्द्रक ने ध्वन्यभाववाद और ‘ध्वनिवाद’ दोनों को दृष्टि में इन अलङ्कारों की माना है और
इनका लक्ष्य-निरूपण भी किया है । आचार्य रसक ने इन अलङ्कारों की ‘विवक्षितता’ कहा है
और इनका यह स्वरूप निर्दिष्ट किया है—

(उपर्युक्त अलङ्कारों का परस्पर-समिश्रण : १ म प्रकार-संस्पृष्टि)

यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः ।

तदा पृथगलङ्कारौ संस्पृष्टिः सङ्करस्तथा ॥ ९७ ॥

यथा लौकिकालङ्काराणामपि परस्परमिश्रणो पृथक्चारुत्वेन पृथगलङ्कारत्वं तथोक्तरूपाणां काव्यालङ्काराणामपि परस्परमिश्रत्वे संस्पृष्टिसङ्कराख्यौ पृथगलङ्कारौ ।

तत्र—

‘मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थितिः संस्पृष्टिरुच्यते ।

एतेषां शब्दार्थालङ्काराणाम् ।

यथा—

‘देवः।पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः ।

संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिपूदनः ॥’

अत्र पायादपायादिति यमकम्, संसारेत्यादौ चानुप्रास इति शब्दालङ्कारयोः

का सौन्दर्याधायक माना जा सकता है ? यदि अन्नभूत ‘रस’ को अक्षी रस के वाच्यवाचकवर्ग का उपस्कारक अथवा सौन्दर्याधायक मान लिया गया तब तो प्राचीन अलङ्कारवाद की रसविषयक मान्यतायें ही स्वीकार कर ली गयीं ! ‘वाक्य रसात्मक काव्यम्’ के सिद्धान्त के अनुसार, यह कैसे संभव है कि ‘रस’ वाच्यवाचकवर्ग का उपस्कारक अथवा उपरस्कारक भी हो सकता है ? यह एक बड़ी समस्या है । साहित्यदर्पणकार ने इस समस्या पर ध्यान नहीं दिया अपितु ‘विमिश्रिणी’ की मान्यतायें ही अपने शब्दों में वद्धृत कर दीं ।

अनुवाद—उपर्युक्त अलङ्कार ही, जिनका पृथक् पृथक् लक्षण निरूपण किया गया है, परस्पर समिश्र रूप से भी काव्य साहित्य में दिखायी दिया करते हैं और ऐसी अवस्था में इन्हें पृथक् अलङ्कार माना जाया करता है जो कि ‘संस्पृष्टि’ और ‘सङ्कर’ नाम से दो प्रकार का हुआ करता है ।

सावधान यह है कि जैसे लोकप्रसिद्ध (सुवर्ण, मणि आदि निर्मित) अलङ्कार परस्पर मिले-जुले (अर्थात् एक अङ्ग में निविष्ट) होने पर, एक अतिरिक्त ही शोभा रखने के कारण, एक भिन्न प्रकार के अलङ्कार से प्रतीत हुआ करते हैं वैसे ही उपर्युक्त सभी काव्य-प्रसिद्ध अलङ्कार, परस्पर मिले जुले रहने पर, एक और ही शोभा रखा करते हैं और ‘संस्पृष्टि’ तथा ‘सङ्कर’ नाम से पृथक् अलङ्कार के रूप में माने जाया करते हैं ।

इन द्विविध अलङ्कारों में—

‘संस्पृष्टि’ वह अलङ्कार-प्रकार है जिसे परस्परनिरपेक्ष अलङ्कारों की ‘तिलतण्डुलवत्’ एकत्र अवस्थिति कहा करते हैं ।

यहाँ (कारिका में) ‘एतेषाम्’ का अभिप्राय शब्दालङ्कार, अर्थात् अलङ्कार और शब्दार्थालङ्कार—तीनों का अभिप्राय है । जैसे कि—

‘खिले नीलकमल सरीखे नेत्रोंवाले और संसाररूपी अन्धकार के विध्वंस के लिये सूर्य, वे कसनिपूदन भगवान् कृष्ण हमें सभी सकटों से बचाते रहें ।’

यहाँ कई एक अलङ्कार परस्पर संस्पृष्ट हैं । ‘पायादपायात्’ में यमक है और ‘संसार-ध्वान्तविध्वंसहंसः’ में अनुप्रास है । इस प्रकार दो शब्दालङ्कारों की (तिलतण्डुलवत्)

सत्सृष्टि' । द्वितीये पादे उपमा, द्वितीयार्धे च रूपकमित्यर्थालङ्कारयोः संसृष्टिः । एवमुभयोः स्थितत्वाच्छब्दार्थालङ्कारसत्सृष्टि' ।

परस्पर 'सत्सृष्टि' का सौन्दर्य यहाँ स्पष्ट है । इसी प्रकार द्वितीय चरण (अर्थात् स्मेरेन्दीवर-लोचन-स्मेरे विकसिते इन्दीवरे इव लोचने यस्य स) में 'उपमा' और द्वितीयार्ध (अर्थात् 'ससारध्वान्तविध्वंसहम'-ससार एव ध्वान्त तस्य विध्वंस तस्मिन् हम रवि) में 'रूपक'-इन दोनों अर्थालंकारों की 'सत्सृष्टि' अलग अलग कर रही है । साथ ही साथ इस सूक्ति में निरपेक्षता अवस्थित शब्दालंकार और अर्थालंकार की 'सत्सृष्टि' भी पृथक् रूप से ही दर्शनीय है ।

विमर्श—(क) 'सत्सृष्टि' अलंकार की कल्पना एक प्राचीन आलंकारिक कल्पना है । इन कल्पना का आधार लोकप्रसिद्ध अलंकारों की परस्पर संबन्धना से सम्भूत एक विविध सौन्दर्य का दर्शन और विश्लेषण है जैसा कि 'अलंकारसर्वस्व' कार का यह कथन है—

'अधुनेषा सर्वेषामलङ्काराणां सरलेपसमुत्थापितमलङ्कारद्वयमुच्यते । तत्र सरलेप सयो-गन्यायेन समवायन्यायेन च द्विविधः । सयोगन्यायो यत्र भेदस्योक्ततया स्थितिः । समवायन्यायो यत्र तस्यैवानुक्तत्वेनावस्थानम् । तत्रोक्तत्वेन स्थितौ तिलतण्डुलन्यायः । इतरत्र तु क्षीरनीरसादृश्यम् । क्रमेणेतदुच्यते—

'एषा तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं सत्सृष्टि' । तत्र यथा बाह्यालङ्काराणां सौवर्णमणि-मयप्रभृतीनां पृथक्चारुवहेतुत्वेऽपि सघटनाकृत चारुत्वान्तर जायते, तद्वत् प्रकृतालङ्का-राणामपि संयोजने चारुत्वान्तरमुपलभ्यते ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ = ४१)

अर्थात् जैसे सोने और नगि के अलङ्कार अपना-अपना अलग-अलग सौन्दर्य रखा करते हैं और परस्पर सृष्टि होने पर एक और ही सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं वैसे ही शब्द और अर्थ के अलङ्कार भी अलग-अलग सौन्दर्य तो रखा ही करते हैं किन्तु परस्पर सरलेप में एक और ही विविध सौन्दर्य की अलंकार दिखाया करते हैं । अलङ्कारों का परस्पर सरलेप दो प्रकार का हो सकता है—प्रथम वह, जिसे परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का सरलेप कहा जा सकता है और द्वितीय वह जिसे परस्पर आपेक्ष अलङ्कारों का सरलेप कहा सकते हैं । परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का समिन्धा, 'तिल' और 'तण्डुल' के समिन्धा ता होने के कारण, 'सत्सृष्टि' अलङ्कार की पृथक् रूपरेखा का नियामक है ।

(ख) 'सत्सृष्टि' के तीन प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—

'तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती सत्सृष्टिसिद्धाः । शब्दालङ्कारगतत्वेन, अर्थालङ्कारगत-त्वेन, उभयालङ्कारगतत्वेन च ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ = ४४)

विशनाथ कविराज ने यद्यपि स्पष्टतया 'त्रिविध सत्सृष्टि' का उल्लेख नहीं किया है किन्तु हमने कोरं संदेह नहीं कि विशनाथ कविराज के मन में भी सत्सृष्टि का त्रिविध निहित है । शब्दालङ्कार-सत्सृष्टि का एक सुन्दर उदाहरण शिशुनाभ की यह सूक्ति है—

'वदनमौरमलोभपरिभ्रमद्भ्रमरमभ्रनसमृतशोभया ।

चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोऽलदशान्यया ॥'

जहाँ 'अनुनास' और 'वनक'—दो विजातीय अथवा भिन्नस्वरूप के शब्दालङ्कार परस्पर सृष्टि, हुये एक और ही सौन्दर्य की सृष्टि करते दिगादी दे रहे हैं । इसी प्रकार अर्थालङ्कार-सत्सृष्टि के निदर्शन-रूप में 'मृदुलकटिक' की निम्न सूक्ति देखिये—

'छिन्नतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाभ्रन नभः ।

वसतुखरमेवैव रश्मिर्निष्कलतां गता ॥'

जहाँ 'उपमा' और 'उत्प्रेक्षा' की सृष्टि बड़ी मनोरम लग रही है।

'उपमालङ्कार सृष्टि' के निदर्शनार्थ निम्न सूक्ति पर्याप्त है—

'आनन्दमन्थरपुरदरमुक्तमाद्यं मौली हटेन निहितं महिपासुरस्य।

पादाब्जुज भवतु मे विजयाय मञ्जुमञ्जीरशिक्षितमनोहरमम्बिकायाः॥'

जहाँ 'उपमा' और 'अनुप्रास' का तिलतण्डुल योग एक पृथक् ही काव्य-वैचित्र्य सा लग रहा है।

(ग) आचार्य जयरथ ('अलङ्कारसर्वस्व' की 'विमर्शिनी' व्याख्या के रचयिता) ने कतिपय ऐसी सूक्तियाँ उद्धृत की हैं जिनमें 'सृष्टि' और 'सकर' की मान्यता की बड़ी सुन्दर समीक्षा की हुई है—

'अन्योन्यसंवन्धविवर्जितानामलकृतीनां विनिवेशनं चेत् ।

अनन्वितत्वाद्दशदाडिमादिवाक्यादिवद् दूषणमेव तर्हि ॥

अथान्वयोऽस्त्येव परस्परं तद् गुणप्रधानत्वमवश्यमेप्यम् ।

तदा न सृष्टिकथा गुणस्य पराङ्गतायां खलु सकर-स्यात् ॥

एकत्र चेदङ्गिनि सङ्गत स्याद् द्वय तदन्योन्यसमीलनेन ।

न संकरोनापि न वा गुणत्वे कार्यान्तरोत्पादनशक्तियोगात् ॥

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २४६)

अर्थात् परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों की एकत्र योजना तो एक दोष है क्योंकि ऐसे अलङ्कार, जिनमें आपस में कोई संवन्ध नहीं, परस्पर असम्बद्ध पदों के प्रयोग की भाँति ही निरर्थक रहा करते हैं। यहाँ यदि यह कहा जाय कि एकत्र विनिविष्ट अलङ्कारों में संवन्ध रहा करता है तब तो इनमें 'गुणप्रधानभाव' की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। किन्तु 'गुणप्रधानभाव' मानने पर, तिलतण्डुलवत् अलङ्कार सम्मिश्रणरूप 'सृष्टि-अलङ्कार' का मानना निरर्थक हो जाता है क्योंकि 'गुणप्रधानभाव' (अङ्गाङ्गिभाव) में 'सकर' की ही मान्यता युक्तियुक्त हो सकती है। और एक बात यह भी है कि यदि एक अङ्गिरूप काव्य-वाक्य में दो अङ्गभूत अलङ्कार निविष्ट हों तब इन्हें 'सकर' भी मानना असम्भव है क्योंकि जब कि ये दोनों 'अङ्ग' हैं तब इनमें 'अङ्गाङ्गिभाव' की व्यवस्था कदापि युक्तियुक्त नहीं हो सकती।

किन्तु इस युक्ति का खण्डन भी आचार्य जयरथ ने ही किया है जो कि यह है—

'इयमेव हि सृष्टिर्द्वयोर्बहूनां वाऽलङ्काराणां परस्परनिरपेक्षानामपि संसर्गं सति चारुतातिशयप्रतिपत्तिः ।'

'समुदितेषु तु भवति समग्रसन्निधानाख्यस्य धर्मस्य प्रत्यक्षमुपलम्भात्, तथैव भिन्न-कथनाणामलङ्काराणां सघटनाद्यत्वेन पूर्वापरैकीकारेणैकबुद्ध्यधरोहादुपलभ्यत एव कश्चन ससर्गो नाम यस्य संसृष्टिसंकरव्यपदेशार्हत्वम् । अपि च रूपभेदेऽप्यविच्छेदादेकत्वम् । 'चित्रपट्टक' इत्यादिनीत्या चित्रास्तरणादौ यथा स्वरूपस्य रूपान्तराद् व्यावृत्तत्वेऽपि विच्छेदानवभासोदकघटश्लिष्टाकारप्रत्ययः । चित्ररूपमप्येकमेव वस्तुरूपं भासते । तथैव भिन्न-कथनाणामप्यलङ्काराणां सघटमानत्वेन प्रतीतावेकतावसाय इति युक्तमेव संसृष्ट्याद्यलङ्कारान्तरत्वम् । इषवादीनां च माधुर्यस्य भेदेऽपि संमीलनायां पानकादिरसनिष्पत्तावुपलभ्यत एव कश्चिद्वैचित्र्यातिशयस्त्वद्देवामपीति युक्तमलङ्कारान्तरत्वम् । न चास्य चारुतातिशयस्य शपथप्रत्ययत्व वाच्यम् । एकत्रैवैकस्य द्वयोर्बहूनां वालङ्काराणामवगमे यथायथमतिशयोक्त्यस्य स्वसविस्साक्षिकत्वेन वेद्यमानत्वात् ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी : 'सृष्टि' प्रकरण)

अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के अलङ्कारों के संसर्ग में एक अतिरिक्त वैचित्र्य का अनुभव स्वभाविक है। यह अतिरिक्त वैचित्र्य ही 'सृष्टि' अथवा 'सकर' है। यह अतिरिक्त वैचित्र्य शपथ

(अलङ्कार-सन्निधन का २४ प्रकार - सङ्कर)

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।

सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥ ९८ ॥

अङ्गाङ्गिभावो यथा—

‘आकृष्टिवेगविगलद्भुलगेन्द्रभोग-

निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयान्पुराशोः ।

मन्थव्यथान्युपशमार्थमिवाशु यस्य

मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥’

अत्र निर्मोकपट्टापहवेन मन्दाकिन्या आरोप इत्यपङ्कति । सा च मन्दा-
किन्या वस्तुवृत्तेन यत्पादमूलवेष्टनं तच्चरणमूलवेष्टनमिति श्लेषमुत्थापयतीति
तस्याङ्गम् । श्लेषञ्च पादमूलवेष्टनमेव चरणमूलवेष्टनमित्यतिशयोच्चेरङ्गम् । अति-
शयोक्तिश्च ‘मन्थव्यथान्युपशमार्थमिव’ इत्युत्प्रेक्षाया अङ्गम् । उत्प्रेक्षा चान्पुरा-
शिमन्दाकिन्योर्नायकनायिकाव्यवहारं गमयतीति समासोच्चेरङ्गम् ।

लेखर नहीं निन्द किया जाता किन्तु तन्मवेदनमिदं है । एक कल्पनामय में एक कल्पना की
चरणा की अपेक्षा दो कल्पनों की चरणा एक और ही वस्तु है । लौकिक कल्पनों के मन्दा
की ही मन्ति कल्प के कल्पनों का मन्तव्य एक अन्य प्रकार का ही मन्तव्य युक्त कल्प है ।
इन्तिदे ‘सृष्टि’ और ‘सृष्ट’ को शब्द और अर्थ के मन्तव्य कल्पनों की अपेक्षा अन्य कल्पना-
प्रकार मानना मन्तव्य युक्तियुक्त है ।

अनुवाद—‘सङ्कर’ वह अलङ्कार है जिसे (दो या दो से अधिक) अलङ्कारों का ऐसा
सन्निधन कहा करते हैं जिसमें वे (१) या तो अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध से सम्बद्ध रहा करते
हैं, (२) या एकत्र अवस्थित रहा करते हैं, (३) या सदेह के विषय बन जाया करते
हैं । अलङ्कारों की इसी त्रिविध संकीर्णता के कारण ‘सङ्कर’ भी तीन प्रकार का हुआ
करता है—(१) अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर, (२) एकत्रावस्थानरूप सङ्कर और (३)
सन्दिग्धरूप सङ्कर ।

जैसे कि (अनेक अलङ्कारों का) अङ्गाङ्गिभाव रूप सङ्कर—

‘यही वह समुद्र है जिसकी मन्यनव्यथा की शान्ति के लिये, मानो मन्दाकिनी
(गङ्गा) उसके पादमूल (एक देश अथवा चरण) पर पड़ी रहनी है और मन्यन-काल
में, देव और असुरचन्द्र द्वारा, एक दूसरे की ओर खींचा-तानी के कारण हूट कर गिरी
नागराज वासुकि की केंचुल के यहाँ, उसके द्रव के उपचार के लिये, पड़ी पड़ी सी
दिनायी दिया करता है ।’

यहाँ ‘अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर’ स्पष्ट है । पहले तो ‘निर्मोकपट्ट’ (वासुकि की केंचुल) पर
उसके अपहव अथवा अपलाप के साथ, ‘मन्दाकिनी के आरोप में ‘अपहति’ (प्रजन
प्रतिष्ठापनान्मस्यापन स्यादपहति) की रूप रेखा उभर रही है । यह ‘अपहति’ यहाँ के
‘रूप’ की अलङ्कृत सी प्रतीत हो रही है क्योंकि इसी के द्वारा मन्दाकिनी के वास्तविक
‘पादमूलवेष्टन’ (समुद्र के किसी एक भाग के मग्नर्क) और ‘पादमूलवेष्टन’ (चरणों
पर पड़ने) की स्थिति का अभिप्राय निकल रहा है (क्योंकि ‘पादमूल’ शब्द दोनों
स्यों का वाचक है) । यह ‘श्लेष’ भी यहाँ ‘अतिशयोक्ति’ का अङ्ग है क्योंकि इसी के

यथा वा—

‘अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।

अहो ! दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥’

अत्र समासोक्तिर्विशेषोक्तेरङ्गम् ।

सन्देहसङ्करो यथा—

‘इदमाभाति गगने भिन्दानं सन्तत तमः ।

अमन्दनयनानन्दकरं मण्डलमैन्दवम् ॥’

अत्र किं मुखस्य चन्द्रतयाध्यवसानादतिशयोक्तिः, उत इदमिति मुखं निदिश्य चन्द्रत्वारोपाद्रूपकम्, अथवा इदमिति मुखस्य चन्द्रमण्डलस्य च द्वयोरपि प्रकृतयोरेकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता, आहोस्त्रिचन्द्रस्याप्रकृतत्वादी-

द्वारा पादमूलवेष्टन’ (समुद्र के एक देश के ससर्ग) के साथ ‘पादमूलवेष्टन’ (चरण-स्पर्श) के अभेदाध्यवसाय में ‘अतिशयोक्ति’ का चमत्कार उत्पन्न किया जा रहा है। यह ‘अतिशयोक्ति’ भी यहाँ ‘मन्यव्यथा की मानो शान्ति के लिये’ इस ‘उत्प्रेक्षा’ का अङ्ग है और अन्ततोगत्वा यह ‘उत्प्रेक्षा’ भी यहाँ ‘अम्बुराशि’ और ‘मन्दाकिनी’ में ‘नायक’ और ‘नायिका’ के व्यवहार-समारोप की प्रतीति कराती हुई दिखायी दे रही है जिसे देखते-हसे यहाँ की ‘समासोक्ति’ का अङ्ग मानना स्वाभाविक ही है।

अथवा जैसे कि (दोषभलकारों का) यह अङ्गाङ्गिभावसंकर—

‘संध्या अनुराग से भरी है और दिन उसके आगे खड़ा है। किन्तु दैवगति इतनी विचित्र है कि इतना होने पर भी दोनों का परस्पर समागम नहीं हो पाता।’

यहाँ (सन्ध्या और दिन पर नायिका और नायक के व्यवहार-समारोप में) ‘समासोक्ति’ की सुन्दरता दर्शनीय है किन्तु यह ‘समासोक्ति’ यहाँ की ‘विशेषोक्ति’ (सन्ध्या में अनुराग और दिन में संध्या के सम्मुख उपस्थानरूप कारण-सद्भाव में भी समागम-रूप कार्य के अभाव-वर्णन में होने वाली विशेषोक्ति) के अङ्गरूप से अवस्थित है।

इसी प्रकार ‘संदेहसंकर’—

‘सघन अन्धकार को दूर करता, लोकलोचन का आनन्ददायक, यह चन्द्रमण्डल आकाश में सुशोभित हो रहा है।’

यहाँ ‘संदेहसंकर’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ यह निश्चय करना असंभव है कि कौन अलङ्कार है। क्या यहाँ इस दृष्टि से ‘अतिशयोक्ति’ मानी जाय कि (किसी सुन्दरी के) ‘मुख’ का ‘चन्द्र’ रूप से अध्यवसाय हो रहा है (जिसमें उपमेय का स्वरूप निर्गुण पड़ा है)? या इस दृष्टि से ‘रूपक’ माना जाय कि ‘इदम्’ पद के द्वारा निर्दिष्ट ‘मुख’ पर ‘चन्द्र’ का अभेदारोप किया जा रहा है? अथवा, क्या इस दृष्टि से कि यहाँ ‘इदम्’ पद से निर्दिष्ट ‘मुख’ और ‘चन्द्रमण्डल’ रूप दो प्रकृत पदार्थों में (अमन्दनयनानन्दकरत्वं आदि) समानधर्म का सवन्ध सिद्ध है, ‘तुल्ययोगिता’ का दर्शन किया जाय? या यह देखते कि यहाँ (‘इदम्’ पद द्वारा निर्दिष्ट ‘मुख’ प्रकृत है और) ‘चन्द्रमण्डल’ अप्रकृत है (और प्रकृत और अप्रकृत में एक धर्म का अभिसंबन्ध है) ‘दीपक’ की रूपरेखा देखी जाय? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ ‘समासोक्ति’ का सौन्दर्य हो, क्योंकि (नयनानन्दकरत्वं आदि) विशेषण की समता से प्रस्तुतरूप चन्द्रमण्डल द्वारा अप्रस्तुतरूप मुख की प्रतीति

पकम्, किं वा विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य मुखस्य गम्यत्वात्समासोक्तिः, यद्वा प्रस्तुतचन्द्रवर्णनया प्रस्तुतस्य मुखस्यावगतिरित्यप्रस्तुतप्रशसा, यद्वा मन्मथोदीपनकालं स्वकार्यभूतचन्द्रवर्णनामुखेन वर्णित इति पर्यायोक्तिरिति बहूनामलङ्काराणां सन्देहात्सन्देहसङ्करः ।

यथा वा—‘मुखचन्द्रं पश्यामि’ इत्यत्र किं मुख चन्द्र इव इत्युपमा ? उत चन्द्र एवेति रूपकमिति सन्देहः । साधकबाधकयोर्द्वयोरेकतरस्य सद्भावे न पुनः सन्देहः ।

यथा—

‘मुखचन्द्रं चुम्बति’ इत्यत्र चुम्बन मुखस्यानुकूलमित्युपमाया साधकम् । चन्द्रस्य तु प्रतिकूलमिति रूपकस्य बाधकम् ।

‘मुखचन्द्रः प्रकाशते, इत्यत्र प्रकाशाख्यो धर्मो रूपकस्य साधको मुखे उपचरितत्वेन सम्भवतीति नोपमाबाधकः ।

स्वभावतः हो रही है ? या यहाँ ‘अप्रस्तुत प्रशसा’ क्यों न हो जब कि अप्रस्तुतरूप ‘चन्द्रमण्डल’ के वर्णन से प्रस्तुतरूप ‘मुख’ की प्रतीति में कोई सन्देह नहीं ? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ ‘पर्यायोक्ति’ की योजना हो क्योंकि कामोदीपक (रात्रि के) समय का वर्णन यहाँ उसके कार्यरूप से अवस्थित चन्द्रचिन्त्र के वर्णन द्वारा प्रतीत हो रहा है ? इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट है कि इन अनेकानेक अलंकारों के सन्देह में समूह ‘सन्देह-संकर’ का सौन्दर्य अवश्य विराजमान है ।

इसी प्रकार दो अलंकारों का ‘सन्देह संकर’ भी यत्र-तत्र दिखायी ही दिया करता है । जैसे कि ‘मुखचन्द्रं पश्यामि’ इस उक्ति में ही यह सन्देह हो उठता है कि क्या यहाँ इस दृष्टि से ‘उपमा’ मानी जाय कि ‘मुख’ को ‘चन्द्र’ के सदृश कहा गया है ? या इस दृष्टि से ‘रूपक’ माना जाय कि ‘मुख’ को ‘चन्द्ररूप’ कहा गया है (यहाँ यह सन्देह स्वाभाविक है क्योंकि यहाँ न तो ‘उपमा’ का साधक कोई हेतु उपनिबद्ध है जिसमें ‘रूपक’ बाधित हो जाय और न ‘रूपक’ का ही साधक कोई हेतु उपनिबद्ध है जो कि ‘उपमा’ की सम्भावना को दूर हटा सके) ।

अलंकारों में सन्देह की सम्भावना तब नहीं होती जब कि या तो किसी एक का साधक और दूसरे का बाधक हेतु उपनिबद्ध हो या किसी एक के साधक अथवा दूसरे के बाधक हेतु का ही उपनिबन्ध किया गया हो । जैसे कि यदि यह कहा जाय कि ‘वह मुखचन्द्र का चुम्बन कर रहा है’ तब ‘उपमा’ का साधक हेतु मिल जाता है जो कि ‘चुम्बन’ के रूप में उपनिबद्ध है क्योंकि ‘चुम्बन’ ‘चन्द्र’ का नहीं अपि तु ‘मुख’ का ही किया जा सकता है (जिससे ‘मुखचन्द्र इव मुखचन्द्रन्तम् मुखचन्द्रम्’ यह ‘उपमा’ स्पष्ट हो जाती है) । ‘चुम्बन’ का संबन्ध चन्द्रमा से असम्भव है जिसमें यहाँ ‘रूपक’ का बाधित होना निःसन्देह सिद्ध है (इस प्रकार ‘उपमा’ के साधक और ‘रूपक’ के बाधक ‘चुम्बन’ रूप हेतु के उपनिबन्ध में यहाँ ‘उपमा’ और ‘रूपक’ में सन्देह कदापि नहीं हो सकता) ।

किसी एक (अलंकार) के साधक हेतु के उपनिबन्ध में भी दूसरे अलंकार का सन्देह नहीं हुआ करता । जैसे कि यदि यह कहा जाय कि ‘मुखचन्द्रं चमक रहा है’ तब ‘प्रकाश’ के रूप में ‘रूपक’ (मुखमेव चन्द्रः मुखचन्द्रः) का साधक हेतु स्पष्ट दिखायी दे जाता है

‘राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ।’

अत्र योषित आलिङ्गनं नायकस्य सादृश्ये नोचितमिति लक्ष्म्यालिङ्गनस्य राजन्यसंभवादुपमाबाधकम्, नारायणे संभवादूपकम् ।

एवम्—

‘वदनाम्बुजमेणाद्या भाति चञ्चललोचनम् ।’

अत्र वदने लोचनस्य सम्भवादुपमायाः साधकता, अम्बुजे चासंभवादूपकस्य बाधकता । एवं ‘सुन्दरं वदनाम्बुजम्’ इत्यादौ साधारणधर्मप्रयोगे ‘उपमितव्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे’ इति वचनादुपमासमासो न संभवतीत्युपमाया

(जिससे ‘रूपक’ का स्वरूप अलङ्कार उठता है) किन्तु यह हेतु ‘उपमा’ (मुखं चन्द्र इव मुखचन्द्रः) का बाधक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उपचारतः ‘मुख’ में भी ‘प्रकाश’रूप धर्म का सवन्ध संभव है (जिससे यहाँ ‘रूपक’ और ‘उपमा’ का सदेह-संकर कदाचित् असंभव नहीं) ।

इसी प्रकार किसी एक (अलङ्कार) के बाधकहेतु के उपनिबन्ध में भी दूसरे का निश्चय स्वाभाविक है । जैसे कि—

‘लक्ष्मी आप जैसे राजनारायण का घड़े प्रेम से आलिङ्गन करती है ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि जब कि किसी नायिका के लिये नायक के सदृश किसी पुरुष का आलिङ्गन अनुचित है तब लक्ष्मी के द्वारा नारायण के सदृश (राजा नारायण इव राजनारायणस्तम्) राजा का आलिङ्गन भी कोई औचित्य नहीं रखता । इसलिये यहाँ ‘उपमा’ का बाध निर्विवाद सिद्ध है । किन्तु लक्ष्मी के द्वारा नारायण (विष्णु) के आलिङ्गन में कोई अनौचित्य न होने से यहाँ ‘रूपक’ (राजा एव नारायणः राजनारायणस्तम्) की संभावना में कोई आपत्ति नहीं (इसलिये यहाँ ‘उपमा’ और ‘रूपक’ का संकर नहीं माना जा सकता) ।

(इसी प्रकार विशेषण भी जहाँ-तहाँ एक अलङ्कार के साधक और दूसरे के बाधक रूप में प्रयुक्त किया जाया करता है जिससे अलङ्कार-संकर की संभावना दूर हो जाया करती है ।) जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

‘इस सृगनयनी का मुखकमल चञ्चल नेत्र के साथ बड़ा सुन्दर लग रहा है ।’

आदि में, ‘चञ्चललोचन’रूप विशेषण ‘उपमा’ (वदनमम्बुजमिव वदनाम्बुजम्) का तो साधक बन रहा है क्योंकि ‘मुख’ में ‘लोचन’ की स्थिति निर्विवाद सिद्ध है किन्तु इसमें ‘रूपक’ (वदनमेवाम्बुजं वदनाम्बुजम्) की बाधकता भी निःसंदिग्ध रूप से दिखायी दे रही है क्योंकि ‘कमल’ में ‘लोचन’ की सम्भावना असंभव है (इसलिये यहाँ भी सन्वेहसंकर का कोई अवसर नहीं) ।

इसी प्रकार यदि साधारणधर्म भी किसी एक अलङ्कार के बाधक और दूसरे के साधकरूप में प्रतीत हो तो अलङ्कार-साङ्कर्य की संभावना हट जाती है । जैसे कि ‘यह वदनाम्बुज (मुखकमल) सुन्दर है’ आदि उक्तिओं में, जब कि ‘सौन्दर्य’रूप साधारणधर्म के उपादान के कारण, ‘उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे’ (अष्टाध्यायी २-१ ५६)— व्याघ्र आदि उपमानवाचक पदों के साथ उपमेय का समास तभी हुआ करता है जबकि साधारणधर्म का प्रयोग न किया जाय) इस समास-नियम के अनुसार उपमा-समास

वाधकः । एवं चात्र मयूरव्यंसकादित्वाद्रूपकसमास एव । एकाग्रयानुप्रवेशो यथा मम—

‘कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि निरीक्षेत यदि सा
तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहिताशेषविषयः ।
सरोमाञ्चोदञ्चत्कुचकलशानिभिन्नवसनः
परीरम्मारम्भः क इव भविताम्भोरुहदृशः ॥’

अत्र कटाक्षेणापीषत्क्षणमपीत्यत्रच्छेकानुप्रासस्य निरीक्षेतेत्यत्र क्षकारस्मादाय वृत्त्यनुप्रासस्य चैकाग्रयेऽनुप्रवेशः । एवं चात्रैवानुप्रासार्थापत्त्यलङ्कारयोः ।

यथा वा—

‘संसारध्वान्तविध्वंस-’ इत्यत्र रूपकानुप्रासयोः ।

की संभावना हट गयी तब यह स्पष्ट है कि ‘उपमा’ वाधित हो गयी और ‘मयूरव्यंसका-
दयश्च’ (अष्टाध्यायी २.१.७२) इस समास नियम के अनुसार रूपक-समास (वदनम-
म्बुज वदनाम्बुजम्) के सिद्ध हो जाने पर ‘रूपक’ अलङ्कार की मान्यता युक्ति-युक्त बन
गयी (जिससे यहाँ भी ‘उपमा’ और ‘रूपक’ का ‘सदेह सकर’ निर्मूल हो गया) ।

अब ‘एकाग्रयानुप्रवेश’रूप सकर का उदाहरण देखिये—

‘यदि वह सुन्दरी अपनी तिरछी निगाहों से भी, मुझे, षण्भर के लिए देख ले तो
ऐसा अमृत आनन्द मिलने लगता है कि सब कुछ भूल पड़ता हूँ । फिर, उस कमलनयनी
के आनन्द-रोमांच से भरे किंवा अनावृत उन्नत उरोजों के आलिङ्गन का आनन्द कैसा
होगा, यह तो भगवान् ही जाने ।’

इस स्वरचित सूक्ति में ‘कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि’ में (‘क्ष’ के स्वरूपतः और क्रमतः
एक बार साम्य के कारण) ‘द्वैकानुप्रास’ और ‘कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि निरीक्षेत’ में (‘क्ष’ के
स्वरूपतः और क्रमतः तीन बार साम्य के कारण) ‘वृत्त्यनुप्रास’ दोनों स्पष्ट हैं और दोनों
‘क्ष’ रूप व्यञ्जन पर आधारित होने के कारण ‘एकाग्रयानुप्रवेशरूप’ सकर का वैचित्र्य उत्पन्न
कर रहे हैं । यहाँ ‘अनुप्रास’ (द्वैकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास) और ‘अर्थापत्ति’ (‘दण्डापूपिक-
याऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते’ जैसे कि कटाक्ष से देखने पर तो यह हाल है पूरी निगाह
से देखने पर पता नहीं, क्या हो, जरा सा देखने पर तो यह हाल है पूरा देखने पर पता
नहीं क्या हो, षण्भर देखने पर तो यह हाल है देर तक देखने पर पता नहीं क्या हो—
इस त्रिविध अर्थापत्ति) का भी ‘एकाग्रयानुप्रवेश’रूप सकर स्पष्ट प्रतीत हो उठता है
(क्योंकि जो पद ‘अर्थापत्ति’ के उदाहरण हैं उन्हीं में ‘अनुप्रास’ की भी छटा विराजमान है ।)

अथवा ‘एकाग्रयानुप्रवेश’रूप सकर का यह उदाहरण देखिये (जहाँ ‘एकपद’रूप एक
आश्रय में विभिन्न रूप के विविध अलङ्कार अनुप्रविष्ट हैं)—

‘संसारध्वान्तविध्वंसहस ’ । यहाँ ‘रूपक’ (संसार एव ध्वान्त तमस्तस्य विध्वसे
हंसः सूर्य संसारध्वान्तविध्वंसहस) और ‘अनुप्रास’ (‘ध्’ और ‘व्’ व्यञ्जनों के स्वरूपतः
और क्रमतः सप्त बार साम्य के कारण द्वैकानुप्रास) को एकपद में अनुप्रवेश होने से, अर्था-
लङ्कार और शब्दालङ्कार का ‘एकाग्रयानुप्रवेशरूप’ सकर बड़ा सुन्दर लग रहा है ।

यथा वा—

‘कुरवकारवकारणतां ययुः’ इत्यत्र रवका रवका इत्येकं वकारवकार इत्येक-
मिति यमकयोः ।

यथा वा—

‘अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु णिअहेसु ।
रहसपंसारिअगीआणं णच्चिजं मोरविन्दाणम् ॥’

[अभिनवपयोदरसितेषु पथिकमामाजिकेषु दिवसेषु ।

रमसप्रसारितग्रीवाणां नित्यं मयूरवृन्दानाम् ॥

अथवा

अभिनवपयोदरसितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु ।

रमसप्रसारितग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम् ॥]

अत्र ‘पहिअसामाइएसु’ इत्येकाश्रये पथिकश्यामायितेत्युपमा, पथिकसामा-
जिकेष्विति रूपकं प्राविष्टमिति ।

अथवा ‘एकाश्रयानुप्रवेश’ रूप संकर का यह उदाहरण (जिसमें समान रूप के एक
से अधिक अलंकार अनुप्रविष्ट हैं)—

(‘विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषका ।

मधुलिहां मधुदानविशारदाः) कुरवकारवकारणतां ययुः ॥’

यहाँ (रघुवंश ९. २९ की सूक्ति में) ‘रवकारवका’ का यमक और ‘वकावका’ का
‘यमक’ दोनों एकपाद-रूप एक आश्रय में अनुप्रविष्ट होकर ‘एकाश्रयानुप्रवेश’ रूप संकर
की सृष्टि करते स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं ।

अथवा ‘एकाश्रयानुप्रवेश’ रूप संकर का यह उदाहरण—

नये-नये ‘मेघों की (मृदङ्ग सरीखी) गर्जना से शब्दायमान किंवा (पथिकश्यामायि-
तेषु, पथिकसामाजिकेषु वा) विरहव्याकुलप्रेमी जन के दुःखदायी अथवा विरहव्याकुल प्रेमी-
जनरूपी सामाजिक वृन्द को उत्सुक बनाने वाले, इन वर्षा के दिनों में, गर्दन ऊँची किये,
मयूरों का नृत्य कितना सुन्दर लग रहा है ।’

यहाँ ‘पहिअसामाइएसु’ इस एक प्राकृत पद में, (जहाँ ‘पथिकश्यामायितेषु’ और
‘पथिकसामाजिकेषु’ दोनों छाया पाठसंभव हैं) ‘पथिकश्यामायितेषु’ (पथिकान् वियोगिनः
तान् प्रति श्यामा रात्रय इवाचरन्तीति क्यङ् तेषु) की ‘उपमा’ और ‘पथिकसामाजिकेषु’
(पथिका एव सामाजिकास्तेषु) के ‘रूपक’-दोनों का अनुप्रवेश स्पष्ट है (जिसमें ‘एकानु-
प्रवेश’ रूप संकर का एक अतिरिक्त वैचित्र्य दिखाई दे रहा है) ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण का ‘संकर’विवेचन अलंकारसर्वस्व के ‘संकर’निरूपण का
एक मण्डन है । ‘अलंकारसर्वस्व’ के अनुसार ‘संकर’ का स्वरूप यह है—

(ग्रन्थ-समाप्ति)

श्रीचन्द्रगोखरमहाकविचन्द्रसूनु-

श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम् ।

साहित्यदर्पणमसुं सुधियो विलोक्य

साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥ ६९ ॥

'क्षीरनीरन्यायेन तु सकर'-

मिश्रत्व इत्येव । अनुक्तभेदत्वमुक्तभेदत्व च सकरः । तत्र मिश्रत्वमद्वाङ्मिभावेन, सशयेन, एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिषाभवत् संकर त्रिभेदमुत्पापयति ।'

(अलंकारतत्त्व, पृष्ठ २४८)

अर्थात् अलंकारों का पानो और दूध का मिश्रण 'नकर' अलंकार की रूपरेखा का जनक है । यह मिश्रण तीन प्रकार का है—अद्वाङ्मिभावरूप, सशयरूप और एकवाचकानुप्रवेशरूप । और शनौलिये 'लकर' अलंकार के भी ये तीन प्रकार हैं—

(ख) अलंकारतत्त्वकार ने एक वाचकानुप्रवेशरूप 'सकर' में शब्दालंकार और अर्थालंकार, दोनों को सन्तुर्गता स्वीकार की है जोकि काव्यप्रकाशकार की मान्य नहीं । काव्यप्रकाशकार को 'सुकार' 'एकवाचकानुप्रवेश' सकर शब्दालंकार और अर्थालंकार का सकर हुका करना है—

'स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम् ।

स्यवस्थित च'

उदाहरणम्—

'स्पष्टोहसत्किरणकेसरसूर्यविम्ब-विस्तीर्णकणिकमयो दिवसारविन्दम् ।

स्निग्धाष्टदिग्दलकलापमुत्तावतार-वद्धान्धकारमधुपावलि सजुकोच ॥'

यत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।'

(काव्यप्रकाश 'सकर-प्रकरण')

लितु साहित्यदर्पणकार ने 'एकवाचकानुप्रवेश' सकर में दो शब्दालंकारों के सकर, एक शब्दालंकार और एक अर्थालंकार के सकर तथा दो अर्थालंकारों के सकर की सम्भावना की है और उदाहरणद्वारा इसे प्रदर्शित भी किया है । वस्तुतः साहित्यदर्पणकार 'अलंकारतत्त्व' के 'एकवाचकानुप्रवेशरूप' सकर के विवेचन से प्रभावित हैं । अलंकारतत्त्वकार ने 'एकवाचकानुप्रवेश' रूप सकर के मन्वन् में स्पष्ट करा है—

'तृतीयस्तु प्रकार एकवाचकानुप्रवेशलक्षणः । यत्रैकस्मिन् वाचकेऽनेकालंकारानुप्रवेशः, च सदेह' । यथा—

सुरारिनिर्गता नून नरकप्रतिपन्थिनी । तवापि नृभिर्गन्धेव चक्रधारा पतिप्यति ॥

अत्र सुरारिनिर्गतेति साधारणविशेषणहेतुका उपमा, नरकप्रतिपन्थिनीति स्निग्धविशेषण-समुत्पक्षेपमात्रप्रतिभोत्पत्तिहेतु-श्लेषश्चैकस्मिन्नेव शब्देऽनुप्रविष्टौ, तस्योभयोपकारित्वात् ।

(अलंकारतत्त्व, पृष्ठ २०५)

साहित्यदर्पणकार, इन विवेचन की दृष्टि से, काव्यप्रकाश के मतपर्यन्त नहीं हो सकते ।

अनुवाद—काव्य-साहित्य के सुदिनान् पाठक, महाकवि श्री चन्द्रगोखर के पुत्र

यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीनारायणस्याङ्गमलङ्करोति ।

तावन्मनःसंपदयन् कवीनामेप प्रचन्द्यः प्रथितोऽस्तु लोके ॥१००॥

इत्यालङ्कारिकचक्रवर्तिसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकृते

साहित्यदर्पणे दशमः परिच्छेदः ।



श्री कविराज विश्वनाथ की कृति, इस 'साहित्यदर्पण' का अवलोकन करें और काव्य-साहित्य के तत्त्वों का अनायास ज्ञान प्राप्त करें—यही अन्तिम निवेदन है ।

यह 'साहित्यदर्पण', आशा है, जब तक प्रसन्नचन्द्रवदना लक्ष्मी नारायण के अंक में सुशोभित है, तब तक, कविजन और रसिक-समाज के हृदय में आनन्द का सञ्चार करता रहेगा और साहित्य-जगत् में, अपनी अनश्वर कीर्ति में विराजमान घना रहेगा ।

अन्तमङ्गलम्

साहित्यस्य विमर्शं यत् स्वात्मविश्रान्तिजं सुखम् ।

विश्वनाथस्य समभूत सर्वेषा तद् भवेत् सदा ॥

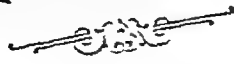
साहित्यदर्पणः दशम परिच्छेद समाप्त



समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः



उदाहृतश्लोकानुक्रमणिका



विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
अ		वनेन चिद्वन्दता नातु	५८९
लकलङ्कं सुख तस्या		वनेन पर्याप्तयतातु	७१७
लक्ष्मादेव तन्वही		वन्तःपुरीमि रनेषु	६९८
लङ्गानि खेदयसि	७३०	वन्तरिद्विद्राणि भूयासि	७२३
लवला लवला वा स्युः	१९२	वन्तिक्कगतमपि नानिय	११५
लज्जत्य गृह्णो जन्म	४८७	वन्त्यदेवाइलावग्यम्	८५३
लजायत रतिस्तस्या	६०२	वन्त्यासु तावदुपनर्दनहासु	२२३
लतिगाडगुणायाश्च	८१९	वन्त्यास्ता गुणरत्नरोहण	५८४
लना पृथ गिनच्छ	६११	लप्रधान विधिप्र	५६७
लस्युद्धतत्तत्तयुगा	७७१	लप्रियाणि करोत्वेष	४४४
लत्रान्तरे किमपि वाक्	१८	लन्तुन्ता पुरस्तादवगाता	४७३
लत्रासीकनिपाश	३१५	लमिन सनित प्रातः	२९०
लत्रात्तार्यलुपाध्याय	१८४	लनु कन्कवगांन्	३०९
लथ तत्र पाण्डुतनयेन	४९८	लनुका भवता नाथ !	५६७
लथ प्रचण्डसुमदण्ड	६२७	लत्रि ! नयि नानिनि !	५८३
लथापि देहि देहेही	२२२	लयमुदयति सुद्रा	६६२
लथापि स्तनशैलदुर्गविपने	५२५	लय नात्तण्ड किम् ?	७२९
लथ कृतान्मोषरमण्ड	४९९	लय रत्नाकरोऽम्नोधि	८२४
लथर कितवराण	५९७	लय ल रत्नालोक्षपी	३२१
लथरे करज । त मृगाधराः	८७१	लय सर्वाणि शान्ताणि	६७७
लथामितु तव चिरा	४७२	लरविन्दनिद्रं वादय	७१३
लनश्मद्भुव	६०५	लरानिविक्रमालोक	७०३
लनपुरगन्मगिनेखलम्	५२४	लदने च न्दनि ।	२०६
लनलहनेऽपि सुन्दर ।	६४२	लम्यनव्यमिति	३८३
लनन्यमाधारगर्भाष्टना	७१३	लननतननिनात्र	३६९
लनन्वने च शब्देक्य	३०५	लत न्यावा न्नगानेऽस्तिम्	२७९
लनातपत्रोऽप्ययमत्र	७११	लत पलुनन	७२८
लनायामहृग मध्यम्	८१८	लतिक्कनन्तुक्केदी	७३३
लन्यान्त्या जनातीतम्	८१४	लविद्रिनगुनापि नानिनि	८७५
लनरागवर्ता मन्त्या	७७६	लविरलकरवाल कन्वने	६७७
लनुरागवन्मनि	८८६	लन्तु- न्ननन्तपानि	२७७
लनुलेरनानि कुतुमानि	६२०	लन्तुवद् नन्दुमधोत	७१८
लनेन लोकगुणा	७५८	लन्तुत्तयेन सुद	४३१
	७२६	लस्यना एन इति	

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
असमाप्तजिगीपस्य	७७७	इत्थमाराध्यमानोऽपि	८००
असावन्तश्चच्चद्विकच	४८३	इदं किलान्याज	४८०
असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टे	१८०	इदं वयत्र साक्षात्	७२५
असशयं चित्रपरिग्रहचमा	२१९	इदमाभाति गगने	८८६
अस्माकं सखि वाससी	१४४	इन्दुर्लस इवाञ्जनेन	७९०
अस्य वज्रः क्षणेनैव	४९५	इन्दुर्विभाति कर्पूर	५८७
अस्याः सर्गाविधौ	७५४	इन्दुर्विभाति यस्तेन	५७४
अहमेव गुरुः सुदारुणानाम्	८५७	इन्द्रजिघृक्षुर्दवीर्योऽसि	४९५
अहमेव मतो महीपतेः	१५२	इयं स्वर्गाधिनाथस्य	४७८
अहिणभपभोभर	८९०	इह पुरोऽनिलकम्पित	७३९
आ		इहैव ख तिष्ठ द्रुतम्	८३५
आकृष्टिवेगविगलद	८८५	ईक्षसे यत् कटाक्षेण	५८८
आक्षिपन्त्यरविन्दानि	४७५	उ-ऊ	
आचरति दुर्जनो यत्	६३३	उभं निघ्नलं निष्पन्दा	८१
आज्ञा शक्रशिखा	६०६	उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्	२६
आत्मा जानाति यत् पापम्	५७२	उत्तिष्ठत् करकङ्कणद्वय	१७
आदाय वकुलगन्धान्	६६८	उत्तिष्ठ दूति यामो	१७
आदित्योऽयं स्थितो मूढाः	३०९	उत्फुल्लकमलकेसर	५०
आनन्दममन्दमिमम्	८००	उत्साहातिशय वरस	४१
आनन्दयति ते नेत्रे	५७१	उदन्वच्छिन्ना भूः	५९
आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुना	५७२	उदेति सविता ताम्रः	५९
आनन्दाय च विस्मयाय च	४६१	उदेति पूर्वं कुसुम ततः	४८
आनन्दितस्वपक्षोऽसौ	६०९	उद्यमोत्कलिका	३८
आपतन्तममु दूराद्	२९२	उद्यत्कमललौहिर्यैः	५१
आपातसुरसे भोगे	६०८	उद्यमितैकभ्रूलत-	४१
आमीलितालसविवर्ति	८७४	उन्मज्जलकुक्षरेन्द्र	६१
आवर्त्त एव नाभिस्ते	६०७	उन्मीलन्मधुगन्धलुब्ध	६
आशीःपरम्परां वन्द्याम्	५६३	उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि	८
आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैः	२१२	उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते	
आसमुद्रचित्तीशानाम्	५६६	उपदिशति कामिनीनाम्	
आसादितप्रकटनिर्मल	३७३	उर्व्यासावत्र तर्वाली	
आसीदञ्जनमग्नेति	८६७	उवाच मधुरा वाचम्	
आहवे जगद्गुण्ड !	७१७	उवाच मधुरं धीमान्	
आहारे विरतिः समस्त	३१३	ऊरुः कुरङ्गकदशः	
आहूतस्याभिषेकाय	१५४	ए-ऐ	
आहूतेषु विहङ्गमेषु	६२०	एकं ध्याननिमीलनात्	
इ-ई		एकः कपोतपोतः	
ति गदितवती रुषा	१७५	एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया	
ति यावत्कुरङ्गाक्षी	५४८	एकस्यैव विपाकोऽयम्	

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
एकत्रासनसंस्थितिः	१६४	कार्त्तार्थ्यं यातु तन्त्रज्ञी	५३०
एतद्विमाति चरमाचल	७३५	कालरात्रिकरालेय	४९२
एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः	५९३	कालान्तकजरालास्य	४३७
एववादिनि देवर्षी	३१६	काले कोकिलवाचाले	६०४
एष दुश्चरन् नौमि	६४०	काले चारिधराणाम्	७३६
एष मूक्तो यथा धर्मः	६१६	कालो मधु कुपित एष च	८८
एषा कुडिलवर्णेण	२२२	का विसमा देवगई	८४४
एसो ससहरविग्रो	६२८	किङ्करोपि करोपान्ते	५४८
ऐन्द्र धनु पाण्डु	७८२	किं रुद्र प्रियया कया	१७४
ऐशस्य धनुषो भङ्गम्	६०६	किं शीकरं बलम्	४८१
ओ-औ		किं तारुण्यतरोरियम्	७१९
ओवट्ट उल्लट्ट	५८०	किं तावत् सरसि	११
औस्तुज्येन कृतस्वरा	६३५	किं भूषण सुहृदमत्र	८४२
क		किमधिकमस्य द्रूम	८२८
कटाक्षेणापीपत्	८८९	किमाराध्य सदा पुण्यम्	८४२
कटिस्ते हरते मनः	५६२	किरणा हरिणाङ्गस्य	६७६
कथमीक्षे कुरङ्गाक्षी	२३४	किसलयमिव मुग्ध	२२४
कथमुपरि कलापिनः	७१४	कुञ्ज हन्ति कुरोदरी	५७७
कदली कदली करभ	२८२	कुपिताऽसि यदा तन्निव ।	८०८
कदा वाराणस्यामिह	२६६	कुमारस्ते नरार्थीश	६०३
कपोलफलकावस्याः	७४१	कुर्यां हरत्त्रापि विनाकपाणे	५८२
कपोले जानक्या	६३९	कुर्वन्वासा हताना	४४०
कमलालिङ्गितस्तार	६१७	कूजन्नि कोकिलास्ताले	६९१
कमले चरणाघातम्	५६३	कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे	५७०
कमलेग विभक्तिपूज	२२४	कृन्मनुमत दृष्ट वा	२५६
कमलेव मतिर्मतिरिव	७१७	कृत्वा दीननिपीडना	२०३
कमुदयमहोदरस्तनाग्रे	१९९	कृष्टा केनेषु भार्या	४३८
करिहस्तेन संग्राधे	६२३	के द्रुमास्ते क वा ग्रामे	१००
कर्त्ता द्यूतच्छलाना	५२३	के युय स्थल एव	६७४
कर्पूरखण्ड हव राजति	६१५	केचूरायितमद्भदे	७२९
कलयति कुवलयमाला	७६६	केन ज्ञातस्तवद्विनाम	६७०
कलुपञ्च तत्राहितेऽप्यकस्मात्	८७७	कोऽत्र भूमिजलदे	७६१
कस्म व ण होद् रोसो	३४७	कोकिलोऽहं भवान् काव	७२३
कानने सरिद्वेरो	८३०	कूरप्रह म केतु	३०८
काम प्रिया न सुलभा	३६६	कचित्तामृतान्न	१९१
कान्तास्त एव भुञ्जन्	२७३	क वन तन्त्रज्ञानभूषणम्	८७५
कान्ते तथा कथमपि	१५९	क चूर्णमभयो वन	७३८
काप्यभिग पातचोरापीड्	६१८	काजार्द्र दयानन्दन	
कामः प्रिया न सुलभा	४२२	कायधर्मादिपञ्च	
		किञ्चिन् मुख एवम्	

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
क्षिप्तो हस्तावलग्नः	६३७	चरणानतकान्तायाः	५९२
क्षीणः क्षीणोऽपि शशी	७७२	चलण्डामरचेष्टितः	५८६
क्षीरोदजावसति जन्मभुवः	५६५	चलापात्रां दृष्टि स्पृशामि	३११
क्षेम ते ननु पद्मलक्षि	२५०	चारुणा स्फुरितेनायं	४९३
ख		चिन्तयन्ती जगत्	३०६
खड्गः क्षमासौविदलः	७२२	चिन्ताभिः स्तिमितं मनः	२४४
ग		चिररतिपरिग्रेदप्राप्त	२११
गङ्गाभ्रमसि सुरत्राण !	७४१	चित्र चित्रमनाकाशे	६२५
गच्छ गच्छसि चेत् कान्त !	८११	चिरं जीवतु ते सूनुः	६१८
गच्छामीति ययोक्तया	७९१	ज	
गता निशा हमा बाले	५८१	जह सहरज्जह	४८२
गमनमलस शून्या दृष्टिः	४५९	जक्षुर्विंसं घृनविकाशि	५८३
गर्दभति श्रुतिपरुषम्	७०२	जगाद वदनछद्म	८६०
गाङ्गमग्नौ सितमग्नौ	८६१	जघनस्थलनक्षत्रवल्ली	२७४
गाढकान्तदशनक्षतव्यथा	२९३	जनस्थाने भ्रान्त	३२१
गाढालिङ्गनवामनीकृतकुच	६३१	जन्मेन्दोर्विमले कुले	४३९
गाण्डीवी कनकशिला	५७७	जन्मान्तरीणरमण	८७९
गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि	७३४	जन्मेदं वन्ध्यतां नीतम्	७६७
गीतेषु कर्णमादत्ते	५१४	जलफेलितरलकरतल	३५३
गुरुजनपरतन्त्रतया वत	८९	जस्सरणन्ते उरग	७७९
गुरुतरकलनूपुरानुनाद	१८८	जाता लज्जावती मुग्धा	६१२
गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य	२५२	जानीमहेऽस्या हृदि	८०६
गृहिणी सचिवः सखी	८३०	जीयन्ते जयिनोऽपि	४६४
गृहीत येनासी-	६०३	जुगोपात्मानमन्त्रस्तः	५६८
गृह्यतामर्जितमिदं	४३१	ज्ञातिप्रीतिर्मनसि	४३९
ग्रन्थानि काव्यशशिनम्	६११	ज्ञाने मौन क्षमा शक्तौ	७४०
घ		ज्योत्स्ना इव सिता कीर्त्तिः	६१८
घटितमिवाञ्जनपुञ्जै	७४५	ज्योत्स्नाचयः पयःपूरः	५८८
घोरो वारिमुखा रवः	५९५	ज्वलतु गगने रात्रौ	१८३
च		ण	
चकोर्य एव चतुरा	७६३	णवरिष त जुञ्जु मल .	२०९
चक्राधिष्ठिता चक्री	६२१	त	
चक्षुर्भुजभ्रमित	४१६	ततश्चचार समरे	६०५
चण्डाल इव राजाऽसौ	६१५	तत्परयेयमनङ्गमङ्ग	४९४
चण्डीशचूडाभरण	६०९	तदङ्गमाह्वं द्रष्टुः	७५८
चन्द्र मुख कुङ्कालि !	५९८	तद्वितथमवादीर्यन्मम	१६२
चन्द्रमण्डलमालोक्य	६११	तदप्राप्तिमहादुःख	३०६
द्रायते शुक्लरुचापि	७०९	तद्वच्छ सिद्धये कुरु	५७५
णपतनप्रत्याख्यानात्	२७७	तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता	८५६

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
तद्विन्देदृशस्य	६२१	दशाननकिरीटभ्य	२९४
तद्वेशोऽसदृशोऽन्याभिः	६१९	दान वित्तादत वाच.	७५९
तनुस्पर्शादस्यादर	२०२	दासे कृपागमि भव	७२१
तन्वद्गया स्तनयुग्मेन	७४२	दिङ्मातङ्गवटाविभक्त	६३४
तव किं व किमाहितै	१७५	दिन मे र्वयि सम्प्राप्ते	५६४
तव विरहे मलयमस्तु	८१८	दिवमप्युपयातानाम्	८३०
तव विरहे हरिणास्त्री	८१०	दिवाकराद्भवति यो	६१६
तवास्मि गीतरानेन	३७४	दिवि वा भुवि वा	२७१
तस्य च प्रदयसो जटायुष.	८७०	दिशि मन्दायते	२९२
तस्या मुखेन सदृशम्	७०१	दीर्घावेवीङ्मम. कश्चित्	६२७
तस्यास्तद्रूपसौन्दर्य	५२९	दीपयन् रोवसीरन्ध्र	३२४
तह ते झति पञ्चता	१७९	दीयतामन्ति वित्तम्	८४८
सां जानीथा परिमितकथां	१७३	दीर्घाच्च दारदिन्दुकान्ति	१२४
तामिन्दुसुन्दरमुखीम्	५७३	दुर्गालङ्घितविग्रहो	८०
तामुद्वीच्य कुरङ्गाक्षीं	६११	दुल्लहजणाणुराओ	४२४
तारुण्यस्य विलास	१८१	दूर समागतवति	७६०
तिष्ठेत् कोपवशात्	६३२	दूरागतेन कुशल	१८९
तीर्थे तदीये गजसेतु	५९६	दुसारिविजये राजन् !	५६१
तीर्णे भीष्ममहोदधौ	४४२	दृशा दग्ध मनसिजम्	६६९
तीव्राभिपङ्गप्रभवेण	२११	दृश्यते तन्वि ! यावेतौ	४८८
वृष्णापहारी विमलो	४८३	दृष्टा दृष्टिमधो ददाति	१५७
ते हिमालयमामन्त्र्य	५९४	दृष्टि हे प्रतिवेदिनि !	२९२
त्याग' सप्तसमुद्र	२५७	दृष्टिस्तृणीकृतजगद्य	१५३
प्रत्यन्ती चलशफरी	१९२	दृष्ट्या केशवगोपराग	३२८
त्रिभागशेषास्तु निशास्तु	२३४	दृष्ट्यासनसंस्थिते	१६५
त्वया तपस्विचाण्डाल	४९३	देव. पायादपायाद्य	८८२
त्वद्वाजिराजिनिर्भूत	२७१	देश. सोऽयमराति	५००
त्वया सा शोभते तन्वी	८२९	देहि मे वाजिन	६००
त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्या.	७६४	दोर्दण्डाग्रितचन्द्र	२६२
त्वयि सङ्गरसम्प्राप्ते	८३४	द्वय गत सम्प्रति शोच	५९०
त्वामस्मि वत्सि विदुषा	३०२	द्वीपादन्यस्मादपि	३७३
त्वामामनन्ति प्रकृतिम्	६२४	ध	
त		धनिनोऽपि निरुन्मादा	८१६
दक्षे साहसमन्धर भुवि	१५७	धन्य' स एव तरंगो	३०२
दत्त्वा कटाक्षमेजाक्षी	८४०	धन्यामि या कथयमि	१६०
दत्त्वाभय सं'ऽतिरथो	४८६	धन्याऽपि उदभि ! गुणे	७६२
दध'द्विपुल' 'मित्र	४४९	धन्या मलु वने वाता.	७९२
दन्तप्रभापुष्पचिन्ता	५८०	धम्मिहमर्धमुक्त	१९१
दलति हृदय गाढोद्देगो	४४१	धम्मिहमर्ध न हस्य	५७१
दलिने दत्तवते पुने	५८५	धम्मिहमर्ध नचमहिना	६९४

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
धवल्यति शिशिररोचिषि	६१२	प	
धातुमत्तां गिरिर्धत्ते	५७५	पणभकुविभाणं दोण्हवि	२३९
धिन्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छद	३१६	पशोदयदिनाधीशः	७१७
धीरो वरो नरो याति	५८१	पन्थिअ ण एत्थं सत्थर	२८९
धुनोति चासिम्	८५२	पन्थिअ पिभासिभो	१९६
धृतायुधो यावदहं	२१३	परापकारनिरतैः	८०३
न		परिपदियमृषीणां	४२९
न खलु वयममुष्य दान	१७५	परिरफुरन्मीनविष	२२०
न च मेऽवगाच्छति	१६९	परिहरति रतिं मतिं	६१३
न चेह जीवितः	३०९	पर्वतभेदिपवित्रं जैत्रम्	६२३
न तज्जल यज्ञ सुचारु	८३५	पल्लवोपमिति साम्य	१८७
न तथा भूपयत्यङ्गम्	२१४	पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी	५८१
न धत्ते शिरसा गङ्गाम्	८०४	पश्यन्त्यसख्यपथगां	३०६
न धूते परुषा गिरं	१८३	पश्यामि शोक	४९२
नमयन्तु शिरासि	८४८	पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे !	८७९
न मे क्षमयिता कोऽपि	५७४	पाणि पल्लवपेलवः	५७६
नयनज्योतिषा भाति	६१७	पाणिरोधमविरोधित	१८६
नयनयुगासेचनकम्	८१९	पाण्डवानां सभामध्ये	६९१
नवजलधरः सन्नद्धोऽयम्	५६८	पाण्डु घामं वदन हृदय	२३५
नवनखपदमङ्ग	२४१	पादाघातादशोकरते	६०५
नवपलाशपलाशवनम्	६७३	पादाहत यदुधाय	७८९
नष्ट वर्षवरैर्मेनुष्यगणना	१४९	पान्तु वो जलदश्यामाः	७१७
नाभिप्रभिक्षाम्बुरुहासनेन	८७२	पारेजल नीरनिधेरपश्यन्	७४९
नाशयन्तो घनध्वान्तं	५८७	पुण्या ब्राह्मणजातिरन्वय	४६५
नाह रवो न भूतो	४४३	पुंस्त्वादपि प्रविच	७९२
निजनयनप्रतिविम्बैः	६५५	पूरिते रोदसी ध्वनैः	६३०
निरर्थकं जन्म गतं	७७६	पूर्यन्तां सलिलेन	४४३
निर्माणकौशलं धातुः	७२१	पृथुकार्तस्वरपात्रम्	६२६
निर्वाणवैरदहनाः	३७८	पृथ्वि ! स्थिरा भव	७९९
निर्वार्य गुरुशपभाषित	४८६	प्रज्वलज्वलधारावत्	६१५
नि.शेषच्युतचन्दन	८८	प्रणमयुजतिहेतोः	८२७
निसर्गसौरभोद्भ्रान्त	७८०	प्रणयिसखीसलील	२१०
निश्वासान्ध ह्वादर्शः	२८३	प्रतिकूलतामुपगते	६७६
निहताशेषकौरव्यः	४३८	प्रधानैकव त्रिधैर्यत्र	५६८
नीतानामाकुलीभावम्	६७८	प्रयागे तव राजेन्द्र !	७६६
नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिज	१५९	प्रवर्त्तयन् क्रियाः साध्वीः	७८८
नेत्रैरिवोत्पलैः	७०८	प्रविद्ध यद्वैर मम खलु	४१५
नेदं नभोमण्डलमम्बु	७३५	प्रससार शनैर्वायुः	५६१
न चाटु श्रवणं कृत न च	१७१	प्रसाधय पुरीं लङ्कां	४८९
प्रकारो ह्ययमेव मे	५	प्रसाधिकाळम्बितमग्र	१९१
		प्रस्थानं चलथैः कृतं	२४४

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
प्रागेव हरिणाक्षीणाम्	७५५	मधनामि कौरवशत	३२३
प्राणप्रयाणदुःखान्तं	४९९	मधु द्विरेफ कुसुमकपात्रे	२७
प्राणेशेन प्रहितनखरे	२१८	मधुपानप्रवृत्तास्ते	८७८
प्रातिभ त्रिसरकेण गताना	२०९	मधुर सुधावदधरः	६९६
प्रासावेकरधारुडौ पृच्छन्तौ	४३६	मधुरया मधुबोधित	६६१
प्रायश्चित्त चरिष्यामि	२१५	मधुरवचने सञ्भ्रमर्हः	१६१
प्रायेणैव हि दृश्यन्ते	४७९	मध्य नवमरोजात् ।	७३०
प्रिय इति गोपत्रधूमि	७३२	मध्यस्य प्रथिमानमेति	१५७
प्रियजीवितताकौर्य	५२२	मध्येन तनुमप्या मे	८५१
प्रेमाद्रा प्रणयस्पृश	२३३	मन प्रकृत्यं च ल	४३२
प्रोचलज्जलनज्जाला	५८५	मनोजराजस्य सितातपत्र	७१८
व		मन्यायस्ताणवाम्भ	६६३
वलमार्त्तभयोपशान्तये	८४३	मन्द हसन्तः पुलक	६७०
वलावलेपादधुनापि	७६०	मन्य शङ्के भुव प्रायः	७४२
वालज ! जाह दूदी	८१०	मया नाम जित	४२६
वाले ! नाथ ! विमुख	१६३	मयि सकृपट किञ्चित्कापि	२१८
वृहत्समहाय कार्यान्तम्	७९९	महदे सुरसन्धग्मे	६७९
ब्राह्मणातिक्रमयागो	३२५	महिकाचित्तधग्मिहा	८५९
भ		महिकामुकुले चपिड !	२९६
भक्तिर्भवे न विभवे	८४३	महामतर्हीषु वनान्तरंषु	२७५
भग्न भीमेन भवतो	३८८	महिलासहस्रभरिषु	२९६
भम धम्मिज वीसखो	२८४	मा गर्वमुद्रह कपोलतले	१८९
महापवर्जितैस्तेषाम्	७८७	मात किमप्यस	४९७
भातिकर्णावतसस्ते	६३१	मान मा कुरु तन्वहि !	६१२
भाति पद्म सरोवरे	५६२	मानमस्या निराकर्तुम	८५४
भानुः सङ्कटयुक्तनुरङ्ग	६०२	मानंजता प्रणयिनौ	३२१
भिन्नो ! मासनिवेपण	५२४	मामाकादाप्रगिहितभुज	२१२
भिसिगीजलसज्जणीषु	२३५	मारमा नुपमा चार	६८८
भुक्तिमुक्तिवृद्धेकान्त	३०४	मुकीकर शङ्क्युक्ति	७३९
भुजङ्गकुण्डलीव्यक्त	६६६	मुञ्च चन्द्र ह्वाभाति	६१८
भुजलता जडतामवलज्जन	६७१	मुख तव कुरङ्गादि !	७३१
भूतयेऽस्तु भवानीश	५६५	मुखनिन्दुयया पाति	६९७
भूमी तिस शरीर	४४६	मुखमेर्गाहनां भानि	७३१
भूय परिभवरेलान्ति	६२०	मुग्धा दुग्धवाधया	७३०
भो लङ्केश्वर ! दीयता	२५८	मुख मान हि मानिनि !	५३७
आतद्विरेफ भवता	२१७	मुनिर्जगनि गोमान्	८६७
अनन्ते रचितेऽपि दृष्टि	२३०	मुनिगुणिसन्तुषोष्ट	३१२
म		मुहुर्परमितामिया	१७५
मन्त्रगतपरिपूत	४४१	मृग्याभुदमान	६२२
मञ्जुलनमिर्जरे	६७५	मृगन्ध परिम्यज्य	४९१
मया लोकमदानार	८८४	मृगात्प्यालज्या	१८४

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
मृत्कुम्भवालुकारन्ध्र	२०५	योगेन दलिताशयः	५६२
त्रियते त्रियमाणे या	४९४	यो यः शस्त्र विभक्तिं	४३२
य		र	
यः कौमारहरः स एव	१४	रक्तोऽफुल्लविशाललोल	२७५
यः स ते नयनानन्दकरः	५७२	रक्षास्यपि पुरःस्थातुम्	५६६
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य	५७३	रजनीपु विमलभानोः	२९४
यत्र ते पतति सुभ्रु !	५६६	रक्षिता नु विविधास्तरु	७५१
यत्र पतत्यवलाना इष्टिः	८०६	रतिकेलिकलः किञ्चित्	४८८
यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानां	३३१	रतिलीलाश्रम भिन्ते	५१२
यस्वस्त्रेन समानकान्ति	८०२	रथ्यान्तश्चरतस्तथा	२६३
यस्सत्यव्रतभङ्ग	४१८	रमणे चरणप्रान्ते	५९८
यथारुचि यथार्थित्वं	७३२	राजते मृगलोचना	७८५
यदाह धास्या प्रथमोदित	२६७	राजनारायण लक्ष्मीः	८८८
यदि मध्यवर्तिता इष्टिः	५८२	राजन् ! राजसुता	७९७
यदि समरमपास्य	५००	राजानः सुतनिर्विशेष	४५१
यदि स्यान्मण्डले	७५५	राजीवमिव राजीवम्	७११
यदेतच्चन्द्रान्तर्जलद	७५२	राज्यं च वसु देहश्च	२०८
यद्यद्विरहदुःखं मे	५७४	राज्ये सार वसुधा	८३६
यद्वीर्यं कूर्मराजस्य	४८४	राममन्मथशरेण ताडिता	२१४
यद्वैद्यतमिव	४८१	रामो मूर्ध्नि निधाय	३७३
यमुनाशम्भरमम्भरम्	५६४	रावणस्यापि रामास्तः	७४३
ययातेरिव शर्मिष्ठा	४९०	रावणावप्रहृक्लान्तम्	७१९
ययोरारोपितस्तारः	८३९	रोलम्बाः परिपूरयन्तु	२३६
यशसि प्रसरति भवतः	७०५	ल	
यशोऽधिगन्तुं सुखलि	५९४	लङ्केश्वरस्य भवने	३८०
यस्य न सविधे दयिता	६७१	लक्ष्मणेन सम रामः	७७४
यस्यालीयत शङ्कसीम्नि	२७	लक्ष्मीवचो जकस्तूरी	८५८
यां विनामीधृया प्राणा	५८८	लग्नं रागावृताङ्गया	६१०
या जयश्रीर्मनोजस्य	५८७	लज्जापञ्चतपसाहणाद्	१५६
यामः सुन्दरि ! याहि	२४४	लताकुञ्ज गुञ्ज	६४५
यासां सत्यपि सद्गुणा	१८५	लतेव राजसे तन्वि !	६१८
यान्ति नीलनिषोलिन्धः	६०७	लाङ्गुलेनाभिहस्य	८६५
थावद्व्यपदां वाचम्	७९९	लाङ्गागृहानलविषाक्त	४१५
युक्तः कलाभिस्तमसां विबुद्धयै	६२४	लावण्य तदसौ कान्ति	३०३
युगान्तकालप्रतिसङ्गतात्मन	८२८	लावण्यमभुभिः पूर्णम्	७२०
युष्माकं कुरुता भवार्तिशमनम्	८४८	लिम्पतीव तमोऽङ्गानि	७४६
युष्मान् हेषयति क्रोधाक्षोके	४१७	लीलागतैरपि तरङ्गयतो	४३४
येन ध्वस्तमनोभवेन	६७९	व	
यैरेकरूपमखिलास्वपि	७८५	वक्ष्यस्यन्दिस्वेद्विन्दुप्रबन्धैः	८६३
योऽनुभूतः कुरङ्गाचयाः	७६८	वासस्य मे प्रकृति	४९६

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
वदन मृगशावाध्या	७०२	व्यतिक्रमत्व क मे	५९२
वदनमिद न मरोजम्	७३८	व्यपोहितु लोचनतो	१९२
वदनाम्बुजमेगाध्या	८८८	व्यवहारोऽथवा तत्र	७८३
वनेऽखिलकलामृता	८७४	व्याजस्तुतिस्तव पयोद !	७९५
वनेचराणा वनितासखा	७२७	व्याधूय यद्वसनम्	७७७
वर्ष्यते किं महासेन	५७६	श	
वर्षयेतदहर्पतिर्न तु	६०१	शठान्यस्या	१४४
वह्नभोरसङ्गसङ्गेन	८१९	शशिनमुपगतेयम्	८२६
वसन्तलेखैकनियद्वभावं	७६४	शशी दिवसधूमर	८५१
वाचमुवाच कौरव	५८२	शिरीषमृद्धी गिरिषु	७१४
वाणीरकुडङ्गुलीणसठणि	३२७	शिखरिणि क नु नाम	२९५
वाप्यो भवन्ति विमला	८३५	शिरसि घनसुरापणे	३७०
वारिजेनेव सरसी	७०९	शिरामुखै स्यन्दत	२५८
वासवामामुखे भाति	५८६	शीताशुर्मुखमुत्पले	४३४
विकसन्नेत्रनीलाब्जे	६७७	शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु	४८२
विकसितसहकार भार	५८३	शून्य वासगृहं	२६
विकसितमुग्धी रागा	७७८	शूरा भमरता यान्ति	५६१
विक्रासिनीलोत्पल	७४९	शैफालिका विदलितौ	२३६
विचरन्ति विलासिन्य	८३८	शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजा	८६४
विदधे मधुपश्रेणीमिह	७२४	शोण वीक्ष्य मुप	१४३
विदूरे केयूरे कुरु	१७३	श्रवणै पेयमनेकै	३६७
विधवति मुखाब्जमस्या	७०३	श्राद्धभोजनशीलो हि	५६९
विनयति सुदृशो दृशो	२४१	श्रीरेपा पाणिरप्यस्या	४२७
विना जलदकालेन	७७५	श्रीहर्षो निपुण कवि	३७४
विपिने क जटानिघनघन	२५४	धृत कृतधिया म	८३३
विपुलेन सागरशयस्य	८२५	श्रुताप्मरोगीतिरपि	१५४
विभाति मृगशावाध्या	५७४	शुखा यान्त यद्दि	१८८
विमल एव रविविशद	७६२	श्रामान् मुञ्चति भूतले	१९०
विरहे तव तन्वद्गी	८११	न	
विराजति व्योमवपु	८३१	मकेतकालमनस	७०
विललाप म वाष्पगद्गदम्	८४६	सर्धौ सर्वम्बहरण	३२६
विशोक्तेनेनेव तवामुना	२७१	मगमविरहविकल्पे	७३१
विलोक्य विनते व्योम्नि	५९९	मग्रांने निहता शूरा	५७६
विबुधवती शैलमुनापि	१७९	सततमुपलाम्नाव	८१८
विषयस्यानुपादाने	७५३	न प्रकृतिं जयति	८१६
विमृज सुन्दरि !	४५९	स एव नुरभि काल	१७८
विमृष्टरागादधराग्नित्तित	८३९	मकलकल पुरमेतव	६८३
वीजितु न एना श्वश्रू	८४४	मज्जने दुर्गता मग्न	६०६
वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुष	३७१	मज्जेहि मुरहिमामो	२९३
वृद्धोऽन्धः पतिरेपमदक	२०७	मतीनापि ज्ञानिकुरु	४९६

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
सत्पत्ता मधुरगिरा'	६८६	सैपा स्थली यत्र	७४३
सदा चरति खे भानुः	६०२	सौजन्याम्बुमरुस्थली	७२५
सदाशिवं नौमि	५८१	सौरभमम्भोरुहवत्	६९५
सदैव शोणोत्पलकुण्डलस्य	८५९	स्तनयुगमुक्ताभरणाः	७९५
सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रम्	८२४	स्तोकेनोन्नतिमायाति	६८२
सद्यः पुरीपरिसरेऽपि	२०८	स्थिताः क्षण पक्षमसु	८३८
सद्यो मुण्डितमत्तहूण	६५५	स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता	१४२
सद्वशसम्भवः शुद्धः	४७६	स्निग्धस्यामलकान्ति	७०
सममेव नराधिपेन सा	७७४	स्पृष्टास्ता नन्दने शङ्खाः	७९६
सममेव समाक्रान्तम्	७५५	स्मरशरशतविधुरायाः	८१०
समय एव करोति	५९०	स्मरार्थ्यन्धः कदा लप्स्ये	५७०
समाश्लिष्टाः समाश्लेपैः	१८१	स्मितेनोपायनं दूरात्	७२६
समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात्	२२१	स्मेरं विधाय नयनम्	७९८
सम्प्रति सन्ध्यासमयः	६२८	स्मेरराजीवनयने	६७१
सरसिजमनुविद्ध शैवले	१८२	सगियं यदि जीवितापहा	६७१
सरागया स्तुतघनघर्म	६३६	स्वपीहि त्वं समीपे मे	६००
सरोविकसिताभोजम्	८३५	स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनविधौ	५६६
सर्वचित्तिभृतां	५२२	स्वच्छाम्भः स्नयनविधौ	१८५
सर्वस्वं हर सर्वस्य	६७८	स्वामिन् भंगुरयालकं	१६१
स व. शशिकलामौलिः	५७३	स्वामी निःश्वसिते	१६६
सहकारः सदाभोदः	७९१	स्वामी मुग्धतरो वनं	२७३
सह कुमुदकदम्बः	७७४	स्वेच्छोपजातविषयोपि	६८३
स हत्वा बालिनं वीर'	५७३	ह	
सहभृत्यगण सवान्धव	४८४	हंसश्चन्द्रह्वाभाति	७१०
सहसा विजनैः खिग्ध'	६१६	हंहो धीर समीर ! हन्तजननम्	८५०
सहसा विदधीत	६०४	हते जरतिगाङ्गेये	४८८
सहाधरदलेनास्या	७५४	हन्मदाधैर्यशसामया	७७२
सान्द्रानन्दमनन्त	५४७	हन्त ! सततमेतस्याः	५८४
सा पर्यु' प्रथमापराध	१५८	हन्त सान्द्रेण रानेण	८६१
सा बाला वधमप्रगात्भमनसः	८२२	हन्त हन्त गतः क्रान्तः	६२५
साय स्नानमुपासित	३०५	हन्तुमेव प्रवृत्तस्य	६०१
सार्थकानर्थकपक्वं	२१५	हरन्ति हृदय यूनाम्	६००
सार्धं मनोरथशतैः	१६३	हरवज्जीलकण्ठोऽयम्	६१५
सुचरणविनिविष्टैः	६५०	हरस्तु किञ्चित्	२७१
सुतनु ! जहिहि कोपं	२७६	हसति परितोपरहितं	४८१
सुधेव विमलश्चन्द्रः	६१८	हा पूर्णचन्द्रमुखि !	४४२
सुनयने नयने निधेहि	६२५	हारोऽय हरिणाक्षिणाम्	८४६
सुभगा ! स्वत्कारम्भे	१८७	हिताज्ञ य सशृणुते	५९६
सुभगे ! कोटिसंख्यस्वमुपेत्य	२९५	हिममुक्तचन्द्र	२९१
सूचीमुखेन सकृदेव	६४८	हीरकाणां निधेरस्य	६०९
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य	४८७	हृदि विसलताहारः	७३८